पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास

(प्लेटो से मार्क्स)

History of Western Political Thought

(From Plato to Marx)

आभार

हिन्दी-भाषा में छपी सुरुचिपूर्ण और श्रेष्ठ पुस्तकों को भी, अंग्रेजी के माहौल में, उपेक्षा की दृष्टि से देखा जा रहा है और यहाँ तक कि कई पुस्तकालयों में एक प्रति का भी बिक पाना टेढ़ी खीर है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी प्रस्तुत पुस्तक ने अपना नाम और स्थान कमाया है, यह सभी हिन्दी-प्रेमियों के लिए उत्साहवर्द्धक है।

इस पुस्तक के नवीन संस्करण ने आज जो रूप धारण किया है उसमें हमें सर्वश्री न्यायमूर्ति डॉ. नागेन्द्रसिंहजी, श्री टी. एन. चतुर्वेदी, डॉ ए अवस्थी, डॉ. आर के अवस्थी, डॉ. पी. एन. मसलदान, प्रो ए बी. लाल, डॉ के वी राव, डॉ वी एस. बुद्धराज, डॉ. वी पी. वर्मा, डॉ. हरद्वार राय, डॉ आर एन त्रिवेदी, डॉ आर सी. प्रसाद, डॉ. सुभाष काश्यप, डॉ. बी. आर. पुरोहित, डॉ एम डी मिश्रा, डॉ. एल पी सिन्हा, डॉ. वीरकेश्वर प्रसाद सिंह, डॉ वी एन. श्रीवास्तव, डॉ एम एम. पुरी, डॉ. ए डी पन्त, डॉ जे एम बेन्स, डॉ रघुवीरसिंह, डॉ डी. एन. पाठक, डॉ आर पी श्रीवास्तव, डॉ एन. आर. देशपाण्डे, डॉ लक्ष्मणसिंह, डॉ वी एन सेठ, डॉ हरि मोहन जैन, डॉ आर एन शर्मा, डॉ आर सी दुबे, डॉ एल. डी. ठाकुर, डॉ एस एस सोधी, डॉ एस सी तिवाड़ी, डॉ. आर एस. गौतम, डॉ एन एम झा, डॉ एन एन श्रीवास्तव, डॉ बी सी शाह, डॉ पी एल जोशी, डॉ रणबीर शर्मा, डॉ मुरलीधर भगत, डॉ डी पी. सिंह डॉ. आई एन. तिवाड़ी, डॉ. ओ पी. गोयल एवं अन्य विद्वानों से आशीर्वाद एवं सक्रिय सहयोग प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्राप्त हुआ है, हम उनके हृदय से आभारी हैं।

प्रकाशक

पाश्चात्य राजनीतिक विचारों

का

इतिहास

(प्लेटो से मार्क्स)

(विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत पाठ्य-पुस्तक)

डॉ. प्रभुदत्त शर्मा

एम. ए. (राजनीति एवं इतिहास), पी एच. डी. (अमेरिका)

एम. पी. ए. (अमेरिका), स्वर्ण-पदक विजेता

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्राक्कथन

प्रो. ए. बी. लाल

भूतपूर्व कुलपति

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

कॉलेज बुक डिपो

83, त्रिपोलिया बाजार (आतिश गेट के पास)

जयपुर-2 (राजस्थान)

TOPICS FOR STUDY

1 The Ancient view of Politics, the Philosophical idealism of Plato, the scientific realism of Aristotle, and the Roman Law and Stoics

2 The Christian Doctrine—St. Augustine, The Medieval Schools—Thomas Acquinas and his Scholasticism—Marsiglio of Padua—The Conciliar Movement

3 Political Thought in the Modern Age—Renaissance and Reformation—Machiavelli, Bodin and Grotius, Age of Social Contract—Hobbes, Locke and Rousseau

4 Utilitarians—Bentham, J. S. Mill, The Historical Empiricists—Burke and Hume.

5 Idealist Tradition—Hegal, Kant, Green, Bradley and Bosanquet, Karl Marx and Scientific Socialism.

ISHERS
s Reserved with the Publishers
by College Book Depot, 83, Tripolia Bazar, Jaipur-2
t S. L. Printers, Jaipur.

प्राक्कथन

पश्चिम के राजनीतिक विचारकों ने आज की सभ्यता के मूल्यों और राजनीतिक व्यवस्थाओं को जन्म दिया है। इन महान् चिन्तकों की दार्शनिक उपलब्धियाँ आज के बुद्धि-जगत् को सुरक्षित रखती हैं।

माध्यम की कठिनाई के कारण आज की युवा पीढ़ी इस ज्ञान-भण्डार का उपयोग करने में अपने को अशक्त पा रही है। विश्वविद्यालयों के शिक्षकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे द्विभाषी होने के कारण संक्रमण की इस समस्या का अच्छी स्तरीय पाठ्य-पुस्तकों द्वारा हल करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी माध्यम से इसी दिशा में एक अच्छा प्रयास है। लेखक का परिश्रम सफल रहा है। उनकी शैली पुस्तक को बोधगम्य बनाती है। आशा है डॉ. प्रभुदत्त शर्मा का यह प्रयास हिन्दी माध्यम के नए लेखकों को प्रेरणा दे सकेगा।

कुलपति
राजस्थान विश्वविद्यालय

ए. बी. लाल

संशोधित संस्करण की भूमिका

'पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास' (प्लेटो से मार्क्स) अपने संशोधित नए संस्करण में आपके सामने प्रस्तुत है। गत दशक में इस पुस्तक का जो स्वागत हुआ है और इससे लाभान्वित होने वाले जिन विद्यार्थियों और शिक्षकों ने हमें जो भी प्रतिक्रियाएँ और सुझाव दिए है, उन्हें सामने रखकर पुस्तक में कितने ही आमूलचूल परिवर्तन एवं संशोधन किए गए हैं। कहना न होगा कि विचारों के इतिहास में मूल विचार तो नहीं बदलते, किन्तु उन पर चलता रहने वाला विचार-मन्थन और व्याख्याएँ युग और काल के साथ-साथ नए रूप ग्रहण करती रहती हैं। इस संस्करण में हमारा यह प्रयास रहा है कि भारतीय विद्यार्थी को आज की समस्याओं पर सोचने और समझने के लिए एक आधुनिक विचारभूमि प्रदान की जाए। गत दशक में जो नई शोध सामग्री इस क्षेत्र में प्रकाशित हो सकी है उसे भी यत्रतत्र सर्वत्र छात्रोपयोगी ढंग से इस नए संस्करण में समाहित कर लिया गया है।

कागज के अभूतपूर्व अभाव और छपाई की आकस्मिक महँगाई की प्रतिकूल परिस्थितियों में भी हम अपने नए संस्करण को उसी कलेवर में प्रकाशित कर सके हैं, इसके लिए हमारे प्रकाशक-बन्धु विशेष बधाई के पात्र हैं।

गतिशीलता एवं निरन्तरता विचारों की दुनिया की एक सहज विशेषता है। अतः आगामी संस्करण के लिए आपके विचार एवं सुझाव सादर आमन्त्रित हैं।

प्रभुदत्त शर्मा

दो शब्द

'प्लेटो से मार्क्स' पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास एक लम्बी बुद्धिवादी कहानी है, जिसकी पृष्ठभूमि में यूरोप की जनतान्त्रिक सभ्यता विकसित एवं वर्द्धित हुई है। प्लेटो और अरस्तू जैसे गम्भीर चिन्तक, आगस्तीन, थॉमस और लूथर जैसे धर्मवादी तथा मैकियावली, बोदाँ, ग्रोशियस और हॉब्स जैसे नीति निरपेक्ष दार्शनिकों और विचारकों ने पश्चिम के राजनीति-दर्शन में उन सभी तत्वों का सन्निवेश किया है जो किसी भी दर्शन को गतिशील, व्यावहारिक एवं आदर्श बनाते हैं। लॉक, रूसो, ह्यूम, बर्क, बेन्थम, मिल, कॉण्ट, हीगल, ग्रीन, ब्रैडले, बोसांके एवं मार्क्स आदि इस इतिहास के इतिवृत्त केवल नायक मात्र नहीं हैं वरन् उनके विचारों की द्वन्द्वात्मकता ही मानव विचारों के बौद्धिक विकास की वह आत्मा है जिसमें समूचा युग अपनी समग्र परिस्थितियों के साथ प्रतिबिम्बित एवं प्रतिध्वनित होता सुनाई पड़ता है। पश्चिम के राजनीतिक विचारों का यह इतिहास बुद्धिवादी इन्सान की एक बौद्धिक तीर्थ-यात्रा है और पश्चिम की सभ्यता, संस्कृति, राजनीतिक संस्थाएँ एवं राष्ट्रीय चरित्र इन्हीं विचारों के परिप्रेक्ष्य में जन्मे और मर-मर कर जीये हैं।

प्रस्तुत रचना पाश्चात्य राजनीतिक विचारों के इतिहास को विद्यार्थियों के हित की दृष्टि से संक्षेप में प्रस्तुत करने के लिए तैयार की गई है। बहुत थोड़े में स्पष्ट ढंग से वे सभी मूल बातें कहने का प्रयास किया गया है जिनका आधार लेकर एक गम्भीर विद्यार्थी अपना अध्ययन अपने आप चला सकता है। भाषा, शैली एवं विवेचना की दृष्टि से भी सरलता, स्पष्टता और बोधगम्यता की ओर विशेष रूप से सचेष्ट रहा गया है।

आशा है विद्यार्थी-जगत् इसे उपयोगी पाएगा और इसके अनुशीलन से लाभान्वित हो सकेगा।

प्रभुदत्त शर्मा

अनुक्रमणिका

1 राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप और महत्त्व 1
(Nature and Importance of Political Thought)
राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख समस्याएँ 2
राजनीतिक परिस्थितियाँ और राजनीतिक विचारक 6
राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की उपयोगिता और महत्त्व 7
यूरोपीय एवं अयूरोपीय विचार 10

2 राजनीति का प्राचीन दृष्टिकोण : प्लेटो का दार्शनिक आदर्शवाद 12
(The Ancient View of Politics : The Philosophical Idealism of Plato)
प्लेटो : जीवन-परिचय 14
प्लेटो के ग्रन्थ 16
प्लेटो की शैली तथा अध्ययन-पद्धति 17
प्लेटो पर सुकरात का प्रभाव 19
'रिपब्लिक' : स्वरूप एवं विषय-वस्तु 21
'रिपब्लिक' मे न्याय-सिद्धान्त 26
'रिपब्लिक' मे शिक्षा-सिद्धान्त 42
'रिपब्लिक' मे साम्यवाद का सिद्धान्त 55
'रिपब्लिक' मे आदर्श-राज्य 73
आदर्श राज्य का पतन और शासन प्रणालियो का वर्गीकरण 85
कानून का निषेध 87
'रिपब्लिक' मे लोकतन्त्र की आलोचना 88
प्लेटो और फासीवाद 90
प्लेटो : 'स्टेट्समैन' तथा 'लॉज' 94
'स्टेट्समैन' मे आदर्श शासक एवं कानून सम्बन्धी विचार 95
'स्टेट्समैन' मे प्लेटो का राज्य-वर्गीकरण 101
'स्टेट्समैन' व 'रिपब्लिक' के राजनीतिक विचारो मे अन्तर 103
'लॉज' 104
'लॉज' मे प्रतिपादित मुख्य सिद्धान्त 107
'लॉज' का मूल्यांकन तथा देन 120
प्लेटो की रचनाओं मे यूनानी तथा सार्वभौम तत्त्व 121

3 अरस्तू का वैज्ञानिक यथार्थवाद 125
(The Scientific Realism of Aristotle)
'पॉलिटिक्स' : एक अपूर्ण कृति 128
अरस्तू पर 'लॉज' का ऋण 131
अरस्तू के राज्य सम्बन्धी विचार 132
अरस्तू के दास-प्रथा सम्बन्धी विचार 143
अरस्तू के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार 150
अरस्तू के परिवार सम्बन्धी विचार 154
अरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना 155
अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचार 158
अरस्तू के कानून सम्बन्धी विचार 163
अरस्तू की न्याय सम्बन्धी धारणा 167
अरस्तू के शिक्षा सम्बन्धी विचार 170
अरस्तू एव प्लेटो के शिक्षा सम्बन्धी विचारो की तुलना 177
सविधान का अर्थ और सविधानो का वर्गीकरण ... 178
सर्वोत्तम सविधान 186
आदर्श राज्य 190
अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार 196
अरस्तू और प्लेटो 204
अरस्तू मे यूनानी एव सार्वभौम तत्त्व और उसका प्रभाव 208
अरस्तू का प्रभाव : अरस्तू राजनीति का जनक 211
4 रोमन कानून 215
(Roman Law)
रोम का सांविधानिक विकास 216
रोमन राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएँ 218
रोमन राजनीतिक विचारक—पोलिबियस 220
सिसरो का राजनीतिक दर्शन 224
सेनेका 232
रोमन कानून 235
रोमन प्रभुशक्ति की धारणा 239
रोमन राजदर्शन का योगदान 241
5 स्टोइक्स . 243
(Stoics)
प्राकृतिक विधियाँ ... 243
सार्वभौम विश्व-जनित राज्य के सिद्धान्त 245
मानव-स्वभाव 246

	स्टोइक दर्शन की आलोचना	....	246
	स्टोइक दर्शन का प्रभाव	....	248
	राजनीतिक विचार के क्षेत्र मे यूनान की देन	....	248
6	ईसाई सिद्धान्त : सन्त ऑगस्टाइन एव अन्य (The Christian Doctrine : St Augustine and Others)	....	251
	ईसाई धर्म का अभ्युदय और विकास	....	251
	ईसाइयत की विजय के परिणाम	....	252
	ईसाई धर्म का प्रारम्भिक राजनीतिक चिन्तन	....	256
	ईसाई आचार्यों का राजनीतिक दर्शन	....	260
	सन्त अम्ब्रोज	....	261
	सन्त ऑगस्टाइन	....	263
	ग्रेगरी महान्	....	269
	दो तलवारो का सिद्धान्त	....	271
	ईसाइयत की देन	....	274
7	मध्यकालीन स्कूल : टॉमस एक्वीनास और उसका विद्यानुराग, मार्सीलियो ऑफ पेडुआ आदि (The Medieval School : Thomas Acquinas and his Scholasticism, Marsilio of Padua etc.)	....	276
	मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि	....	276
	ट्यूटन (जर्मन) जातियो के राजनीतिक विचार	....	277
	सामन्तवाद	....	279
	पोप की शक्ति का विकास	....	283
	पवित्र रोमन साम्राज्य	....	287
	राष्ट्रीयता की भावना का विकास	....	290
	मध्य युग का अनुदाय और उसकी विशेषताएँ	....	290
	चर्च और राज्य के मध्य सघर्ष का युग	....	297
	14वी शताब्दी के विवाद की विशेषताएँ	....	308
	चर्च तथा राज्य द्वारा अपने-अपने पक्ष मे प्रस्तुत दावे	....	309
	मध्यकाल के कुछ विचारक	....	311
	जॉन ऑफ सेलिसबरी	....	311
	सन्त टॉमस एक्वीनास	....	315
	एजिडियस रोमेनस	....	328
	दाँते : आदर्श साम्राज्य	....	331
	जॉन ऑफ पेरिस	....	334
	मार्सिलियो ऑफ पेडुआ	....	337
	विलियम ऑफ ओकम	....	346

8 परिषदीय आन्दोलन 349
(The Conciliar Movement)
सिद्धान्त, प्रादुर्भाव के कारण एवं उद्देश्य 349
परिषदें 355
आन्दोलन की असफलता 359
आन्दोलन का महत्त्व 360
परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख विचारक 362
(जॉन वाइक्लिफ, जॉन हस, जॉन गर्सन, निकोलस ऑफ क्यूसा)
9 पुनर्जागरण 369
(Political Thought in the Modern Age : Renaissance)
पुनर्जागरण : अर्थ एवं परिभाषा 369
पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि 370
पुनर्जागरण के कारण 371
पुनर्जागरण का प्रारम्भ और प्रसार : इटली का पथ-प्रदर्शन 375
यूरोप के अन्य भागों में पुनर्जागरण 377
पुनर्जागरण के सामान्य प्रभाव 378
10 धर्म सुधारक : लूथर 380
(Reformation : Luther)
परिचयात्मक : धर्म-सुधार आन्दोलन का स्वरूप 380
सुधार आन्दोलन के प्रमुख नेता और उनके राजनीतिक विचार.... 383
(मार्टिन लूथर, मेलॉकथॉ, ज्विंगली, काल्विन, जॉन नॉक्स)
सुधार आन्दोलन में निरंकुशतावाद और प्रजातन्त्र के बीज 397
धर्म सुधार आन्दोलन की देन और उसका महत्त्व 399
11 मैकियावली 401
(Machiavelli)
मैकियावली : जीवनी, अध्ययन-पद्धति एवं कृतियाँ 401
मैकियावली युग-शिशु के रूप में 405
मानव स्वभाव : सार्वभौम अहंवाद 408
मैकियावली के धर्म और नैतिकता सम्बन्धी विचार 412
मैकियावली के राज्य सम्बन्धी विचार 417
अन्तर्दृष्टि और त्रुटियाँ 427
मैकियावली आधुनिक युग का पिता, उसकी देन और प्रभाव 429
12 जीन बोदाँ एवं ह्यूगो ग्रोशियस 434
(Jean Bodin and Hugo Grotius)
जीन बोदाँ : जीवनी, रचनाएँ एवं पद्धति 434
बोदाँ के राज्य और परिवार सम्बन्धी विचार 437

	बोदाँ के प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचार	....	440
	बोदाँ के सुव्यवस्थित राज्य सम्बन्धी अन्य विचार	....	446
	बोदाँ और मैकियावली की आधुनिकता के अग्रदूत के रूप में तुलना		450
	ह्यूगो ग्रोशियस	....	453
	ग्रोशियस के प्राकृतिक कानून सम्बन्धी विचार	....	455
	ग्रोशियस का अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विचार	....	458
	ग्रोशियस के प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचार	....	460
	ग्रोशियस की देन और उसका महत्त्व	....	463
13	**सामाजिक अनुबन्ध का युग : टॉमस हॉब्स**	....	**464**
	(Age of Social Contract : Thomas Hobbes)		
	जीवन-चरित्र, कृतियाँ एवं पद्धति	....	465
	हॉब्स का वैज्ञानिक भौतिकवाद	....	466
	हॉब्स के मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचार	....	473
	प्राकृतिक अवस्था के विषय में हॉब्स के विचार	....	475
	प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम	....	477
	आत्म-रक्षा की प्रकृति और बुद्धिसगत आत्म-रक्षा	....	481
	राज्य की उत्पत्ति तथा उसका स्वरूप	....	482
	प्रभुसत्ता	....	485
	नागरिक कानून पर हॉब्स के विचार	....	488
	राज्य तथा चर्च	....	490
	हॉब्स का व्यक्तिवाद	....	492
	हॉब्स के विचारों की आलोचना और मूल्यांकन	....	494
14	**जॉन लॉक**	....	**500**
	(John Locke)		
	जीवनी, कृतियाँ एवं पद्धति	....	500
	मानव-स्वभाव, प्राकृतिक अवस्था एवं प्राकृतिक अधिकार	....	502
	लॉक की सामाजिक संविदा	....	510
	सरकार के कार्य और उसकी सीमाएँ	....	515
	लॉक के कुछ अन्य विचार	....	518
	लॉक की असंगतियाँ	....	522
	लॉक का महत्त्व और प्रभाव	....	524
15	**जीन जैक्स रूसो**	....	**528**
	(Jean Jacques Rousseau)		
	जीवनी, कृतियाँ एवं पद्धति	....	528
	मानव-स्वभाव तथा प्राकृतिक अवस्था पर रूसो के विचार	....	530
	रूसो की सामाजिक संविदा सम्बन्धी धारणा	....	534

	रूसो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी धारणा	....	539
	रूसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा	....	550
	रूसो के शासन सम्बन्धी विचार	....	552
	रूसो के कुछ अन्य प्रमुख विचार	....	554
	रूसो का मूल्यांकन एवं प्रभाव	....	558
16	ऐतिहासिक अनुभववादी : ह्यूम और बर्क (The Historical Empiricists : Hume and Burke)	....	561
	डेविड ह्यूम की जीवनी और कृतियाँ	....	561
	ह्यूम का संशयवाद	....	562
	ह्यूम के राजनीतिक विचार	....	564
	प्राकृतिक विधि का विनाश	....	567
	ह्यूम का प्रभाव	....	570
	एडमण्ड बर्क	....	571
	बर्क की समकालीन परिस्थितियाँ और उनका प्रभाव	....	572
	बर्क के राज्य अथवा समाज और सामाजिक संविदा सम्बन्धी विचार	....	573
	संविधान, संसदीय प्रतिनिधित्व और राजनीतिक दल	....	577
	अधिकार, सम्पत्ति, क्रान्ति आदि पर बर्क के विचार	....	580
	बर्क का मूल्यांकन एवं प्रभाव	....	582
17	उपयोगितावादी : जर्मी बेन्थम (The Utilitarians : Jeremy Bentham)	....	586
	उपयोगितावाद का विकास	....	586
	उपयोगितावाद के सिद्धान्त	....	587
	जर्मी बेन्थम	....	590
	बेन्थम का उपयोगितावाद एवं सुखवादी मापक यन्त्र	....	593
	बेन्थम का राजदर्शन	....	598
	बेन्थम के सिद्धान्तों की आलोचना	....	612
	बेन्थम की राजनीतिक चिन्तन को देन	....	616
18	जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill)	....	620
	मिल के उपयोगितावादी विचार	....	625
	मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा	....	632
	मिल की राज्य सम्बन्धी धारणा	....	644
	शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली	....	647
	मिल की प्रतिनिध्यात्मक शासन-सम्बन्धी धारणा	....	647

	जॉन स्टुअर्ट मिल एक असन्तुष्ट प्रजातन्त्रवादी के रूप मे—वेपर के विचार	....	656
	जॉन स्टुअर्ट मिल का राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था का सिद्धान्त	....	660
	मिल का योगदान (देन) और स्थान	....	662
19	आदर्शवादी परम्परा : इमेनुअल कॉण्ट (Idealist Tradition : Immanual Kant)	....	666
	आदर्शवाद का अभिप्राय और उसकी ऐतिहासिक परम्परा	....	666
	आदर्शवाद का सिद्धान्त	....	668
	जर्मन आदर्शवादी कॉण्ट	....	672
	कॉण्ट के पूर्ववर्ती विचारधारा	....	675
	कॉण्ट के दार्शनिक विचार	....	676
	कॉण्ट के नैतिक इच्छा तथा नैतिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार	....	680
	कॉण्ट के राजनीतिक विचार	....	682
	कॉण्ट के दर्शन की आलोचना और उसका मूल्यांकन	....	692
20	जार्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिक हीगल (George Wilhelm Friedrich Hegel)	....	695
	जीवन-परिचय एव रचनाएँ	....	695
	हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति	....	698
	हीगल का व्यक्तिवाद तथा राज्य का सिद्धान्त	....	708
	हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा	....	726
	हीगल के दर्शन की आलोचना	....	733
	हीगल का प्रभाव एव मूल्यांकन	....	739
21	टॉमस हिल ग्रीन (Thomas Hill Green)	....	743
	ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	....	743
	ग्रीन (जीवन-परिचय एव रचनाएँ)	....	745
	ग्रीन के विचार-दर्शन के स्रोत	....	747
	ग्रीन का आध्यात्मिक सिद्धान्त	....	750
	ग्रीन का स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त	....	754
	ग्रीन की अधिकार सम्बन्धी धारणा	....	758
	प्राकृतिक कानून पर ग्रीन के विचार	....	764
	सम्प्रभुता पर ग्रीन के विचार	....	765
	प्रतिरोध का अधिकार	....	768
	'सामान्य इच्छा' पर ग्रीन के विचार	....	771
	राज्य के कार्यों पर ग्रीन के विचार	....	774
	राज्य और समाज	....	778

	विश्वबन्धुत्व एवं युद्ध पर ग्रीन के विचार		779
	दण्ड पर ग्रीन के विचार	....	782
	सम्पत्ति पर ग्रीन के विचार	....	785
	ग्रीन के दर्शन का मूल्यांकन	....	788
22	ब्रैडले एवं बोसांके (Bradley and Bosanquet)	....	796
	फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले	....	796
	ब्रैडले के राजनीतिक विचार	....	796
	ब्रैडले के विचारो की आलोचना	....	798
	बर्नार्ड बोसांके	....	800
	बोसांके का इच्छा सिद्धान्त	....	801
	बोसांके का संस्था सिद्धान्त	....	803
	बोसांके का राज्य सिद्धान्त	....	804
	राज्य एवं व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक कार्यों पर बोसांके के विचार		807
	बोसांके के दण्ड सम्बन्धी विचार	....	809
	बोसांके के दर्शन की आलोचना और मूल्यांकन	....	810
	ग्रीन और बोसांके	....	813
23	कार्ल मार्क्स और वैज्ञानिक समाजवाद (Karl Marx and Scientific Socialism)	....	815
	मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद	....	822
	द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद	....	822
	द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का मार्क्स का सारांश	....	828
	द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना	....	830
	इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या	....	833
	वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त	....	845
	मार्क्स का मूल्य एवं अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त	....	861
	मार्क्स का राज्य सिद्धान्त	....	866
	मार्क्स का मूल्यांकन	....	870

प्रश्नावली
(University Questions)

1 राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप और महत्व

(Nature and Importance of Political Thought)

मानव-सभ्यता की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, आदि सभी संस्थाओं के स्वरूपों को समझना, उनसे सम्बन्धित समस्याओं का मनन और समाधान करना एक गम्भीर बौद्धिक चुनौती है। मनुष्य आदिकाल से ही इस चुनौती को झेलते हुए आगे बढ़ता रहा है। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में, विश्व की हर सभ्यता ने अपने शैशवकाल से ही राज्य और विविध राजनीतिक संस्थाओं के विभिन्न पहलुओं पर न्यूनाधिक चिन्तन किया है। वर्तमान में भी यह प्रक्रिया निरन्तर चल रही है। राज्य सम्बन्धी मौलिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श एवं मीमांसा करना ही राजनीतिक चिन्तन है और यह चिन्तन उतना ही पुराना है जितना स्वयं राज्य। वेपर के अनुसार—"राजनीतिक चिन्तन वह चिन्तन है जिसका सम्बन्ध राज्य, राज्य के आकार, राज्य के स्वभाव तथा राज्य के लक्ष्य से है। इसका मुख्य कार्य 'समाज में मानव का नैतिक पर्यवेक्षण' करना है। इसका उद्देश्य राज्य के अस्तित्व, स्थिरता तथा निरन्तरता के लिए विवरण प्रस्तुत करना ही नहीं है, वरन् राज्य क्या है और किसी को राज्याज्ञा का पालन क्यों करना चाहिए, राज्य का कार्य-क्षेत्र क्या है और कोई राज्याज्ञा का उल्लंघन कब कर सकता है, तथा राज्य के बिना अपूर्ण मानव की शक्ति क्या रह जाती है, आदि का उत्तर देने के लिए भी यह चिरकाल से प्रयत्नशील है।"[1]

वस्तुतः राज्य, समाज और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध राजनीतिक चिन्तन के विशेष अंग हैं। ये सुदूर, अज्ञात अतीत से मानव-जीवन को प्रभावित करते रहे हैं। 'मनुष्य की प्रकृति और उसके कार्य, शेष विश्व से उसका सम्बन्ध जिसमें कि सम्पूर्ण जीवन का विवेचन अन्तर्निहित है और इन दोनों बातों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाली मनुष्य की अपनी सह-जातियों से सम्बन्ध की समस्या ही राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख विषय है और इसके अन्तर्गत राज्य का स्वरूप, प्रयोजन तथा उसके कार्यों का विवेचन—सभी समाविष्ट हैं।"[2]

1 वेपर : राजदर्शन का स्वाध्ययन (हिन्दी) पृ. 1
2 *Phyllis Doyle* : A History of Political Thought, p. 15.

राजनीतिक चिन्तन की विषय-सामग्री का स्पष्ट आभास मिलता है, लेकिन राज्य और उसके संस्थानो तथा उनके विभिन्न पहलुओ से सम्बन्धित प्रश्नों का कोई भी निश्चित अथवा सर्वसम्मत उत्तर प्राप्त नही होता क्योंकि राजनीतिक जीवन के उद्देश्य सामान्य जीवन के उद्देश्य से अलग नही हैं। "अत राजनीतिक चिन्तन तथा राजनीतिक सिद्धान्त के प्रश्नोत्तर, अन्त मे, हमारे उचित और अनुचित की धारणाओ के धर्मकाँटे पर ही तोले जाते हैं। राजनीतिक चिन्तन नैतिक दर्शन (Ethical Theory) की एक शाखा है। इसके मौलिक सिद्धान्तो के विषय में सदा मतभेद रहा है और सम्भवत. सदा-सर्वदा रहेगा।"[1] राजनीतिक चिन्तन इतना विस्तृत और जटिल है कि युगो से इस पर चिन्तन चला आ रहा है और इसका कोई छोर नजर नही आता। विस्तार का आभास प्राचीन, मध्यकालीन एवं अर्वाचीन विचारको की रचनाओ मे प्राप्त होता है और प्रत्येक विचारक की मान्यताएँ उसकी अपनी दार्शनिक धारणाओ से प्रभावित हैं। इन कृतियो मे तत्कालीन युग और उसकी प्रमुख समस्याएँ मुखरित हुई हैं।

राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख समस्याएँ
(Major Problems of Political Thought)

राजनीतिक समस्याओ पर विचार-विमर्श और मीमांसा करना ही राजनीतिक चिन्तन है। इन समस्याओ पर विभिन्न युगो मे और एक ही युग मे विभिन्न विचारको ने विभिन्न मत प्रकट किए हैं। ये प्रमुख समस्याएँ निम्न-लिखित हैं –

(1) राज्य की उत्पत्ति की समस्या—राज्य की उत्पत्ति के विषय मे इतिहास के पृष्ठो को उलटने पर हमे कोई निश्चित सूचना नही मिलती अत· अनुमान और अन्वेषण का आश्रय लेकर ही हम इस मार्ग पर अब तक बढ पाए हैं। राज्य की उत्पत्ति के विषय मे आधुनिक युग के आरम्भ मे दो प्रमुख सिद्धान्तो—दैवी-उत्पत्ति सिद्धान्त और सामाजिक संविदा सिद्धान्त का विशेष प्रचलन था। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार राज्य ईश्वरकृत है और द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यकृत। 18वी शताब्दी मे संविदा-सिद्धान्त यूरोप मे निरकुश दैवी राजसत्ता के नियन्त्रण के लिए बडा सहायक सिद्ध हुआ, किन्तु 19वी शताब्दी मे ऐतिहासिक ज्ञान मे वृद्धि हुई। ऐतिहासिक अनुशीलन मे आलोचनात्मक पद्धति का विकास हुआ, और विकासवाद के सिद्धान्तो के प्रसार को बल मिला। फलस्वरूप संविदा सिद्धान्त को काल्पनिक और अमान्य समझा जाने लगा एव विकासवादी सिद्धान्त को लोकप्रियता मिली। यह विकासवादी सिद्धान्त ही वर्तमान मे राज्य की उत्पत्ति का सर्वाधिक मान्य, उचित और तर्क-सम्मत सिद्धान्त है। गार्नर के अनुसार, "राज्य न तो ईश्वर की कृति है, न किसी दैवी शक्ति का परिणाम, न किसी प्रस्ताव अथवा संविदा की सृष्टि है और न ही परिवार का विस्तार मात्र कहा जा सकता है। यह विकास और

1 बेकर : उपरोक्त, पृ 1

उन्नति की एक धीमी सतत प्रक्रिया है। यह अकस्मात् नहीं बना। अपनी प्रारम्भिक अवस्था से धीरे-धीरे विकसित होकर इसने अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया है।" राज्य का प्रादुर्भाव शनैः-शनैः मानव-समाज में व्यवस्था और संरक्षण की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हुआ समझा जाता है।

(2) **राज्य के स्वरूप और उसके आदेश के पालन की सीमा की समस्या**—राज्य के स्वरूप के विषय में विभिन्न विचारकों में मतैक्य का अभाव रहा है। उन्होंने विभिन्न युगों में और यहाँ तक कि एक ही युग में भी विभिन्न एवं परस्पर विरोधी विचार प्रकट किए हैं। प्लेटो के पूर्वगामी सोफिस्टों ने राज्य को कृत्रिम व्यवस्था की संज्ञा दी थी। उनके अनुसार मनुष्यों ने राज्य को एक ऐसे लक्ष्य की पूर्ति के लिए बनाया है जिसे हम प्राकृतिक व्यवस्था के अनुकूल नहीं मान सकते। कुछ उग्रवादी एवं क्रान्तिकारी विचारकों ने तो राज्य को प्रकृति के ही विरुद्ध बताया है। वे कहते थे कि अपनी शक्ति के अनुसार दूसरों को अधीन बनाना तथा उनके ऊपर शासन करना प्रकृति का धर्म है। राज्य सबल का निर्बल पर शासन सम्भव बना देता है क्योंकि राज्य का लक्ष्य है बहुमत की सेवा तथा सुरक्षा और बहुमत सदैव निर्बल व्यक्तियों का रहा है। क्रान्तिकारी सोफिस्टों का यह तर्क एक आदर्श जनतन्त्री राज्य पर कुठाराघात करते हुए अत्याचारी राज्यों का समर्थन करता है और इसीलिए प्लेटो (Plato) ने सोफिस्ट-सिद्धान्तों पर करारा प्रहार करते हुए राज्य को एक स्वाभाविक संगठन माना है। प्लेटो और अरस्तू (Aristotle) का यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य की सामाजिक भावना से ही राज्य की उत्पत्ति हुई है। राज्य का विकास सर्वथा स्वाभाविक है और व्यक्ति राज्य में रहते हुए ही अपने विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है। राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए अरस्तू ने कहा है—"राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ और जीवन को श्रेष्ठ व सम्पन्न बनाने के लिए आज तक जीवित है।"

राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में और भी अनेक धारणाएँ हैं। कुछ विचारकों के अनुसार राज्य दैविक सृष्टि होने के कारण स्तुत्य है, तो कुछ अन्य दार्शनिकों के मत में यह एक ऐसा शोषण-यन्त्र है जो धनिक और सम्पन्न वर्ग के हाथ में खेलते हुए आर्थिक रूप से निर्बल व्यक्तियों का शोषण करता है। समझौतावादियों के विचारानुसार राज्य मनुष्यों के आपसी समझौते का परिणाम है और राजसत्ता द्वारा अपने दायित्वों का पालन न होने पर यह समझौता खण्डित हो जाता है, और प्रजा राजसत्ता के आदेशों के अनुपालन के लिए बाध्य नहीं रहती। इतिहास में ऐसे विचारक भी मिलते हैं जो राज्य को मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों जैसे—स्वतन्त्रता, समानता और सम्पत्ति को सीमित करने वाला यन्त्र समझते हैं। यही नहीं बल्कि कुछ अन्य चिन्तक राज्य को एक अनावश्यक पाप मानते हैं और इसीलिए इसके उन्मूलन पर बल देते हुए अराजकतावाद का समर्थन करते हैं। अराजकतावादियों की यह मान्यता है कि केवल मात्र राज्यविहीन समाज में ही मानव-जीवन का सर्वोत्तम विकास सम्भव है। इसके एकदम विपरीत उपयोगितावादी विचारक राज्य को

कल्याणकारी संस्था के रूप मे स्वीकार करते हैं। वे उपयोग के आधार पर राजसत्ता के आदेशों का पालन आवश्यक बतलाते हैं। उनकी मान्यता है कि राज्य अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का व्यवस्थापक है और उसकी आज्ञा का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है।

स्पष्ट है कि इन पारस्परिक विरोधी धारणाओं में से सत्य की माप करना एक कठिन कार्य है। राजनीतिक चिन्तन का इतिहास इस विषय मे प्रकट किए गए नाना विचारो एवं मत-मतान्तरो का दिग्दर्शन ही प्रस्तुत कर सकता है।

(3) राज्य के लक्ष्य की समस्या—राज्य के बारे मे अधिकतर उठता रहने वाला एक अन्य मौलिक प्रश्न यह भी है कि राज्य का लक्ष्य क्या है? राज्य की उत्पत्ति क्यो हुई और वह आज तक क्यों जीवित है? राज्य की कार्य-सीमा क्या है? कुछ दार्शनिक राज्य को मानव की सर्वोच्च कल्याणकारी सर्वोत्कृष्ट मानवीय संस्था मानते हैं तो इसके विपरीत अराजकतावादी राज्य को मानव-विनाशक संस्था मानते हुए इसकी शीघ्रातिशीघ्र समाप्ति चाहते हैं। वे राज्य को "मानव-मस्तिष्क पर एक घोर कलंक और उसके वक्ष-स्थल पर एक भारी भार" समझते हैं। उनका यह विश्वास है कि राज्य का जितना जल्दी उन्मूलन कर दिया जाएगा समाज के लिए वह उतना ही श्रेयस्कर होगा। इन दो परस्पर विरोधी ध्रुवो के बीच कुछ ऐसे मध्यमार्गी भी हैं जो राज्य को बुरा मानते हुए भी उसके अस्तित्व को आवश्यक समझते हैं किन्तु ये लोग उसके कार्य-क्षेत्र को सीमित कर देना चाहते हैं। ये लोग जनपालक के रूप मे राज्य की समाप्ति चाहते हैं, किन्तु जनरक्षक के रूप में उसे आवश्यक मानते हैं। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास से हमे इस समस्या पर विद्वानो द्वारा प्रकट विचारो का ज्ञान मिलता है। राजनीतिक चिन्तन की आज भी वह एक प्रमुखतम समस्या बनी हुई है कि राज्य का लक्ष्य क्या है या क्या होना चाहिए?

(4) राज्य के आकार की समस्या—राजदर्शन का चौथा प्रश्न राज्य के आकार का है। प्राचीन यूनानी विचारक राज्य के सीमित आकार और उसकी सीमित जनसख्या के पक्ष मे थे। प्लेटो ने 'लॉज' मे अपने आदर्श नगर-राज्य के निवासियो की संख्या 5040 निश्चित की थी। यूनानी युग मे छोटे-छोटे नगर-राज्य होते थे जिनमें आवागमन के साधन अविकसित थे और वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली का अभाव था। शायद इसीलिए यूनानी विचारको ने राज्यो की जनसख्या को कम निश्चित करने का प्रयत्न किया। रोमन साम्राज्य की स्थापना के बाद छोटे राज्यो का स्थान विशाल साम्राज्य ने ले लिया। मध्य युग के अन्त मे राष्ट्रीय राज्यो का जन्म हुआ और महाविनाशक बमो एव राकेटो से भयाक्रान्त विश्व के अनेक बुद्धिशील विचारक आज विश्व-राज्य की स्थापना पर बल दे रहे हैं पर यह स्वप्न कभी साकार होगा, इसमे सन्देह है। विश्व के राज्य अपनी सम्प्रभुता का त्याग सम्भवतः कभी नही करेंगे।

(5) सर्वोच्च प्रभुसत्ता सम्बन्धी समस्या—राजनीतिक चिन्तन का एक महत्वपूर्ण प्रश्न सर्वोच्च प्रभुसत्ता से भी सम्बन्धित है। मध्यकालीन यूरोप मे निरंकुश

राजसत्ता (Absolute Monarchy) का बोलबाला था, अतः उस समय राजा को सर्वोच्च सम्प्रभु माना गया। लुई 14वाँ कहा करता था—"राज्य क्या है ? मैं ही तो राज्य हूँ (L'Etar C'est moi)।" उस समय राज्य की सम्पूर्ण प्रभुसत्ता को राजा में निहित समझा जाता था। रूसो ने इस विचार पर कठोर प्रहार करते हुए सर्वजनवासिनी लोकप्रिय प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने इस भाँति यह मान्यता प्रकट की कि प्रभुसत्ता राजा मे नहीं अपितु राज्य की सम्पूर्ण जनता में निहित है। 19वीं शताब्दी मे लिखित संविधानों के प्रचलन के फलस्वरूप राज्य के विभिन्न अंगों मे शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को जब बल मिला तब विचारको ने इस प्रश्न पर चिन्तन आरम्भ किया कि राज्य के किस अंग मे प्रभुसत्ता का निवास है। आस्टिन ने अविभाज्य प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो बहुलवादियो (Pluralists) ने उस पर कठोरतम आघात करते हुए राज्य की प्रभुसत्ता के अस्तित्व को अस्वीकार्य बतलाया। लास्की ने तो यहाँ तक कह डाला कि "प्रभुत्व-कल्पना को त्याग देना राज्य विज्ञान के लिए स्थायी रूप से उपयोगी होगा।" क्रेब (Krabbe) ने भी लास्की के साथ सहमत होते हुए कहा है कि "राज्य प्रभुत्व का सिद्धान्त राजनीति शास्त्र से समाप्त कर दिया जाना चाहिए।"

(6) सरकार सम्बन्धी समस्या—सरकार सम्बन्धी प्रश्न भी राजनीतिक चिन्तन का विशेष केन्द्र रहा है और आज भी है। सरकार राज्य के कार्यों की पूर्ति का यन्त्र है। यह वह मशीन है जो राज्य की इच्छा को कार्यान्वित करती है। यह राज्य का क्रियात्मक रूप है और उसकी आत्मा मानी जा सकती है। ये प्रश्न विचारको के मन-मानस को सदैव से मथते रहे हैं। सरकार का संगठन कैसा होना चाहिए ? सरकार के तीनो अंग कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एव न्यायपालिका मे परस्पर कौन से सम्बन्ध वांछनीय हैं ? सरकार की शक्ति का केन्द्रीकरण एक उपयुक्त स्थिति है अथवा उसका विकेन्द्रीकरण किया जाना लाभदायक होगा ? ये सभी प्रश्न आज पहले की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण बन गए हैं।

(7) कानून के स्वरूप की समस्या—राज्य-व्यवस्था को संचालित करने के लिए कानून का निर्माण किया जाता है। कानून राज्य की ध्येय-पूर्ति और उसके कार्य पालन हेतु एक अनिवार्य संस्थान है। कानून के सम्बन्ध मे उठने वाले विभिन्न प्रश्नो मे विशेष ये हैं कि कानून का स्वभाव क्या है ? कानून बनाने का अधिकार किसे होना चाहिए ? कानून शासक की इच्छा की अभिव्यक्ति है या जनता की सामान्य इच्छा की ? कानून का स्वतन्त्रता एव व्यक्ति से क्या सम्बन्ध है ? कानून को नागरिको के अधिकारो एवं कर्त्तव्यो के सन्दर्भ मे किस प्रकार मूल्यांकित किया जाए ?

भारतीय विचारको ने कानून के मूल स्रोत धर्मशास्त्रो की व्यवस्था एवं रीति-रिवाजो को माना है। रोमन विचारक भी रीति-रिवाज को कानून का प्रधान स्रोत मानते थे। 13वीं शताब्दी से यहाँ इस नवीन विचार का आरम्भ हुआ कि कानून राजा द्वारा प्रजा के प्रतिनिधियो के साथ परामर्श करके बनाई गई व्यवस्था है।

वर्तमान काल की राजनीतिक व्यवस्थाएँ कानून को राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति मानती हैं जिसका निर्माण सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा होना चाहिए और जिसमें सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप समयानुकूल संशोधन होने की गुंजाइश आवश्यक है। स्पष्ट है कि यह विचार आधुनिक लोकतन्त्रात्मक विकास का फल है।

(8) नागरिकता के अधिकार एवं कर्त्तव्यों की समस्या—कानून से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित विषय है 'नागरिकता के अधिकार एवं कर्त्तव्य,' नागरिक के प्रमुख अधिकार कौन-कौन से हैं ? नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के श्रेष्ठ साधन क्या होने चाहिए ? आदि महत्त्वपूर्ण प्रश्न राजनीतिक चिन्तन की विशेष सामग्रियाँ हैं।

(9) राज्य के विभिन्न प्रकारों की समस्या—राजनीतिक चिन्तन का एक अन्य प्रमुख प्रश्न राज्य के विभिन्न प्रकारों का है। प्लेटो और अरस्तू के समय से ही पाश्चात्य विद्वान् राजतन्त्र, लोकतन्त्र आदि शासन के विविध प्रकारों की विवेचना करते रहे हैं। भारतीय ग्रन्थों में भी विविध प्रकार की शासन-प्रणालियों का उल्लेख मिलता है।

संक्षेप में, राजनीतिक चिन्तन की समस्याएँ बहुमुखी और अगणित हैं। एक प्रमुख समस्या के साथ अनेक प्रमुख उप-समस्याएँ और फिर उनकी भी उप-समस्याएँ जुड़ी हुई हैं। इसके अतिरिक्त समस्याओं पर युग-विशेष के साथ चिन्तन का स्वरूप बदलता रहा है। मध्यकाल में यदि राज्य और चर्च के बीच प्रभुत्व का विवाद सबल था तो पिछली दो शताब्दियों में राजतन्त्रीय और लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन में अधिक रुचि रही और अब राज्य का बढ़ता हुआ कार्यक्षेत्र विशेष महत्त्वपूर्ण बन गया है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ और राजनीतिक विचारक
(Political Conditions and Political Thinkers)

राजनीतिक चिन्तन के विकास पर सामाजिक वातावरण एवं राजनीतिक परिस्थितियों तथा अनुभवों का गहरा प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक विचारकों ने केवल बौद्धिक स्तर पर ही विचार नहीं किया है बल्कि अपनी समकालीन परिस्थितियों के निरीक्षण एवं अनुभव के आधार पर भी गम्भीर चिन्तन करके कुछ परिणाम निकाले हैं। ये परिणाम परिवर्तनशील परिस्थितियों से निरन्तर रूप में प्रभावित होते रहते हैं और साथ ही नवीन परिणामों को जन्म भी देते हैं। एथेन्स के लोकतन्त्र द्वारा सुकरात को विषपान का दण्ड दिए जाने की घटना ने प्लेटो को बड़ा मर्मान्तक आघात पहुँचाया था। इसलिए उसने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में तत्कालीन लोकतन्त्र की कटु आलोचना की और एक ऐसी आदर्श नगर-व्यवस्था प्रस्तुत की जिसमें शासनगण एक सुनियोजित एवं निश्चित ढंग से प्रशिक्षित दार्शनिकों का कुलीन वर्ग होगा। इसी प्रकार कार्ल-मार्क्स की विचारधारा के अनेक सिद्धान्त उसके अपने व्यक्तिगत कटु अनुभवों से जन्मे हैं। उसने स्वयं औद्योगिक युग के पूंजीपतियों द्वारा निर्धन श्रमिकों का असहनीय शोषण देखा था। यदि उसने यह सब कुछ न देखा होता अथवा उसका जन्म कुछ शताब्दियों पूर्व हुआ होता तो अनवरत वर्ग-संघर्ष के

विवादपूर्ण सिद्धान्त पर सम्भवतः वह नहीं पहुँच पाता। अतः यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत है कि राजदर्शन की रूपरेखा और उसके विकास पर बाह्य जगत् की गहरी छाप पड़ती रही है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि सामान्यतः राजनीतिक विचारकों के विचार अपनी समकालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के कारण सीमाबद्ध रहे हैं, किन्तु कुछ विचारकों ने इन सीमाओं को तोड़ने का भी प्रशंसनीय प्रयास किया है। उन्होंने कुछ ऐसे सिद्धान्तों एवं विचारों का प्रतिपादन किया है जिनका महत्त्व एवं प्रभाव सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है। गांधी के सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्त इसी श्रेणी में आते है।

राजनीतिक सिद्धान्त सदैव परिस्थितियों की उपज ही नहीं होते अपितु ये नवीन राजनीतिक परिस्थितियों को भी जन्म देते है। रूसो ने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति को उत्प्रेरित किया। उसने अपनी पुस्तक 'Social Contract' में सामाजिक संविदा-सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा फ्रांस की राजसत्ता के विरुद्ध व्याप्त असन्तोष को वाणी दी जो फ्रांस की राज्य-क्रान्ति में विस्फोटित हुई।

इस विचार-वैविध्य का एक प्रमुख कारण परिस्थितियाँ तो है ही, किन्तु एक अन्य प्रधान कारण भावात्मकता भी कहा जा सकता है। विचारकों के बौद्धिक स्तर में विभिन्नता होना एक स्वाभाविकता है। परिस्थितियों व वातावरण को समझकर सही परिणाम निकालने की क्षमता भी अलग-अलग होती है। साथ ही व्यक्तिगत रुचि एवं संस्कार भी एक से नहीं होते, अतः वस्तु-परक अन्तर न होते हुए भी विचारकों में भावात्मक अन्तर की विद्यमानता एक सहज अनिवार्यता है। परिणामस्वरूप एक ही वस्तु-स्थिति अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग एवं परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाओं के रूप में प्रस्फुटित होती है।

उपर्युक्त कारणों के फलस्वरूप राजनीतिक चिन्तन कभी किन्हीं प्रश्नों के अन्तिम उत्तर प्रस्तुत नहीं कर सकता। राजनीतिक चिन्तन अपने आप में सदैव सापेक्ष और अपूर्ण होता है। आज के समाधान अथवा निष्कर्ष कल की नवीन परिस्थितियों में अपूर्ण एवं भ्रान्त सिद्ध हो सकते हैं। साथ ही समस्याओं के सापेक्षिक महत्त्व में भी अन्तर आ जाता है। ऐसी अवस्था में यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि फिर राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की उपयोगिता क्या है।

राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की उपयोगिता और महत्त्व
(Utility and Significance of Political Thought)

राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की उपयोगिता पर विचार करते समय सर्वप्रथम ऐसे विचारक सामने आते हैं जो इसे एकदम निरर्थक, अनावश्यक और हानिकारक मानते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ प्रमुख मत उल्लेखनीय माने जाते हैं—

(1) "राजनीतिक चिन्तन भगवान् को अर्पित की हुई कुमारी के समान बाँझ है।"[1]

—बेकन (Bacon)

1 "Like a virgin consecrated to God, it is barren."—*Bacon*, Quoted from Wayper, op. cit., p. 3.

(2) "वे देश सौभाग्यशाली हैं, जिनके पास कोई राजनीतिक दर्शन नहीं है। राजदर्शन या तो अभिनव क्रान्ति की सन्तान है या भावी क्रान्ति का द्योतक।"

—लेस्ली स्टीफेन (Leslie Stephen)

(3) "लोगो मे राजनीतिक सिद्धान्त बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो तो यह कुशासित राज्य का एक निश्चित लक्षण है।" —बर्क (Burke)

(4) "राजनीतिक तत्त्व-चिन्तन करने वाले दार्शनिक उन व्यक्तियो के समान हैं जो पहले तो पैरो से धूल उडाते हैं और फिर यह शिकायत करते हैं कि उन्हे कुछ दिखाई नही देता।" —बर्कले (Berkley)

राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन के ये आलोचक अपने पक्ष मे अनेक युक्तियाँ देते हैं। इनका कहना है कि यह दर्शन कोरा विचारात्मक और काल्पनिक है। यह वस्तु-स्थिति की उपेक्षा करता है। इसके द्वारा जटिल प्रश्नो के कोई अन्तिम और पूर्ण उत्तर नही दिए जा सकते। समाज की परिस्थितियो मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं और इस कारण इन पुराने राजनीतिक विचारों की उपयोगिता घटती रहती है अत. कोई भी दर्शन हमारा सही मार्गदर्शक नही हो सकता। राजनीतिक चिन्तन की इस प्रकृति पर बार्कर ने इन शब्दो मे व्यग किया है—"राजनीतिक विचार का प्रत्येक प्रोफेसर यह अनुभव करता है कि उसके अतिरिक्त अन्य सभी प्रोफेसर कुछ सन्देहप्रद बातो को स्वय-सिद्ध तथ्य मानकर उनके आधार पर तर्क कर रहे हैं, उनके युक्तिक्रम की सत्यता सन्देहप्रद है—और उनके द्वारा इनसे निकाले जाने वाले परिणाम निश्चित रूप से गलत हैं।"

उपर्युक्त तर्कों मे सत्य का पर्याप्त अश विद्यमान होते हुए भी यह कहना सत्य से कतराना होगा कि राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की उपयोगिता और महत्त्व आधुनिक युग मे घट रहा है। पक्ष के तर्कों को सक्षेप मे निम्नलिखित सकेतो मे प्रगट किया जा सकता है—

(i) राजनीतिक विचार मानव-इतिहास पर गहरा प्रभाव डालते हैं। ये व्यक्ति को सामाजिक क्रान्तियाँ करने की प्रेरणा देते हैं। 18वी शताब्दी की फ्रेंच राज्य-क्रान्ति और 20वी सदी की बोल्शेविक क्रान्ति इसके सुन्दर उदाहरण हैं। इस प्रकार की क्रान्तियाँ मानव-समाज को आगे बढाने वाली सिद्ध हुई हैं। इनसे आधुनिक जीवन मे स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की भावनाओ को बल मिला है।

(ii) राजनीतिक चिन्तन का अध्ययन करते समय राज्य एव सरकार पर विचार-विमर्श किया जाता है। राजकीय नियमो द्वारा आज अधिकाश कार्य नियन्त्रित होते हैं। समाज मे अनुशासन और व्यवस्था बनाए रखने का सर्वोत्तम यन्त्र आज सरकार है जो राज्य का एक अनिवार्य अंग है।

(iii) इस दर्शन के चिन्तन से हमे भूतकालीन बौद्धिक वातावरण का ज्ञान होता है। अतीत की राजनीतिक घटनाओ और आन्दोलनो के कारणो तथा परिणामों का पता लगता है और हम उन विचारो को जान पाते हैं जिनसे इन घटनाओं की

प्रेरणा मिली थी। इन विचारों को समझे बिना इतिहास का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और अतीत की घटनाओं और आन्दोलनों की सही व्याख्या भी सम्भव नहीं बनती। इतिहास को पूर्ण रूप से देखते समय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास की उपेक्षा करना एक आत्मविरोधी कार्य होगा।

(iv) राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन द्वारा दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली राजनीतिक परिभाषाओं का ज्ञान मिलता है। साथ ही राजनीतिक शब्दों के यथार्थ स्वरूप का भी बोध होता है। हम लोकतन्त्र, साम्यवाद, राष्ट्रीयता, सम्प्रभुता आदि शब्दों के सही अर्थों को जान पाते हैं। हमें पता लगता है कि इन विभिन्न परिभाषाओं एवं अवधारणाओं के पीछे कौन-कौनसी भावनाएँ रही हैं और इनमें कब, कैसे एवं किन अर्थों में कितने परिवर्तन होते रहे हैं तथा वर्तमान काल में इनका क्या अर्थ लिया जा सकता है।

(v) राजनीतिक परिभाषाओं और शब्दों के यथार्थस्वरूप को जानने का एक और भी बड़ा लाभ है। इनके द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में हमारा ज्ञान परिपक्व होता है। जनतन्त्र के युग में यह ज्ञान राजनीतिक वक्ताओं के भ्रामक प्रचार से नागरिकों की रक्षा करता है।

(vi) राजदर्शन के अध्ययन में हम प्राचीन राजनीतिक दार्शनिकों की विचारधाराओं को जानने का प्रयास करते हैं। इनको जानकर चाहे हम अधिक विद्वान्, कुशल और दूरदर्शी न बन सकें, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये हमें अनेक गलतियों से बचाने में सहायक अवश्य सिद्ध होती हैं। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास का यह ज्ञान हमें सचेत करता रहता है और नए ढंग से समस्याओं को देखने, समझने एवं सुलझाने की प्रेरणा देता है।

(vii) इस दर्शन के अध्ययन से वर्तमान इतिहास की घटनाओं और समस्याओं के समझने में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। वर्तमान समस्याएँ अतीत की परिस्थितियों से उत्पन्न होती हैं इसलिए अतीत के राजनीतिक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करके ही हम वर्तमान को भली प्रकार समझ सकते हैं। इन्हें ठीक प्रकार से न समझ पाने पर हमें आधुनिक समस्याओं का समुचित समाधान नहीं मिलता। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास द्वारा हमें विभिन्न देशों के विभिन्न मन्तव्यों और विचारों का बोध होता है। हम इनके अध्ययन द्वारा अपने देश की राजनीतिक व्यवस्था में कुशलता ला सकते हैं और अपने समाज के उज्ज्वल भविष्य के निर्माण का प्रयत्न कर सकते हैं। अन्य देशों के आदर्शों, विचारों और सिद्धान्तों को समझकर उन्हें अपने अनुरूप ढाल सकते हैं। उन्हें नवीन रूप से अपने संविधान में स्थान देकर हम अपने उपयोग में ला सकते हैं। *उदाहरणार्थ, भारतीय संविधान के चौथे भाग* की धारा 39-45 में उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिनके अनुसार भविष्य में राज्य की नीति का संचालन किया जाएगा। इनमें से अधिकांश सिद्धान्त पश्चिम की राजनीतिक विचारधारा से अनुप्राणित हैं।

(viii) राज-दर्शन का ज्ञान हमारी राज्य सम्बन्धी जिज्ञासा को शान्त करने मे भी बहुत कुछ सहायक हो सकता है। राज्य की उत्पत्ति, उसका विकास, लक्ष्य और प्रयोजन आदि के प्रश्न हमे सदैव चिन्तनशील रहने के लिए चुनौती देते हैं। इनके उत्तर सोचना राजनीतिक जागरण का एक चिह्न है और यह चिन्तन हमारे बौद्धिक विकास एव आनन्द के लिए अनिवार्य है। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास को पढने से हमें राजनीतिक प्रश्नो को समझने और उनका समाधान करने की दिव्यदृष्टि मिलती है।

सार रूप मे यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि राजनीतिक चिन्तन का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। मैक्सी ने ठीक ही कहा है कि—"राजनीतिक दर्शन मानव-व्यवहार के पीछे आज भी महत्त्वपूर्ण चालक शक्तियाँ हैं और अतीत मे सदैव रही हैं।"[1]

यूरोपीय एवं अयूरोपीय विचार

(European and Non-European Thought)

विभिन्न देशो मे समय-समय पर विविध राजनीतिक विचारधाराओ का उदय हुआ है, फिर भी राजदर्शन के अध्ययन का आरम्भ प्राचीन यूनानी विचारको से किया जाता है। यूरोप के अतिरिक्त प्राचीन भारत, मिस्र, चीन, बेबीलोन, ईरान, सीरिया आदि देशो मे भी राजनीतिक विचारो का किसी न किसी रूप मे अभ्युदय हुआ है। इन देशो की महान् और प्राचीन जातियाँ राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध थी। उदाहरणार्थ, भारतीय ग्रन्थो (रामायण, महाभारत, शुक्रनीति आदि) मे ऐसे कितने ही राजनीतिक विचार पाए जाते है जिनकी तुलना किसी भी श्रेष्ठतम यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन से की जा सकती है। यह ठीक ही कहा जाता है कि—"भारत में भी ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं जिनकी पैरीक्लीज, सीजर, जस्टीनियन, शालीमेन, फ्रेडरिक और बैरोसा के साथ आसानी से तुलना की जा सकती है और जो अपने गुणो के बल पर अपने यूरोपीय समकालीनो एव समकक्षो को चुनौती दे सकते हैं।" वास्तव मे प्राचीन भारत मे राजदर्शन पर विचार करने वाले आचार्यों की सख्या कम नही है। महाभारत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुशीलन से यह भली-भाँति स्पष्ट है कि प्राचीनकाल मे इस विषय पर विशाल ग्रन्थो और महत्त्वपूर्ण शास्त्रो का निर्माण किया गया था। किन्तु यूरोपीय विद्वानो ने अन्य प्राचीन जातियो के राजनीतिक चिन्तन की अवहेलना की और यह विश्वास व्यक्त किया कि *राजनीतिक दर्शन का प्रादुर्भाव प्राचीन यूनान मे हुआ और विकास केवल पश्चिमी* जगत् मे।

भारतीय एवं अन्यान्य प्राचीन जातियो के राजनीतिक चिन्तन की जो अवहेलना यूरोपीय लेखको ने की है, उसके दो कारण हो सकते है—

(i) पूर्वी दार्शनिको के विचार यूनानी विचारो की भाँति यूरोपीय सभ्यता के अग नहीं बने।

1 *Maxey* : Political Philosophies, pp. 1-2.

(ii) पूर्व के देशों मे और वह भी विशेष रूप से भारत मे राजनीतिक विचारधाराओ को यूनानियो की भाँति स्वतन्त्र रूप से लेखबद्ध नही किया गया। प्राचीन भारत मे इस तरह का जो महत्वपूर्ण साहित्य था उसका अधिकांश भाग आज भी प्राप्त नहीं है।

राजनीतिक चिन्तन के वर्तमान अध्ययन की परम्परा पाश्चात्य अथवा यूरोपीय राजनीतिक विचार तक ही सीमित है जिसे तीन भागो मे विभाजित किया जाता है–

(1) प्राचीन राजनीतिक राजदर्शन (प्रारम्भ से 5वी शताब्दी तक)।

(2) मध्ययुगीन राजनीतिक राजदर्शन (5वी शताब्दी से 15वी शताब्दी तक)।

(3) अर्वाचीन (आधुनिक) राजनीतिक राजदर्शन (15वीं शताब्दी से आज तक)।

इनमे से प्रत्येक युग की अपनी विशेषताएँ हैं। प्राचीन राजदर्शन का केन्द्र-बिन्दु नगर-राज्य था। इसे सामाजिक सगठन का सर्वोत्तम एव पूर्ण रूप समझा जाता था। इस समय राजदर्शन का चरित्र आचार-प्रधान था। नगर-राज्यो के लोप होने पर इस युग का अन्त हुआ। बाद मे रोमन-साम्राज्य एवं ईसाई धर्म के अभ्युदय ने एक नवीन सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया।

मध्य युग के दर्शन का आधार सार्वभौमवाद (Universalism) रहा। इस समय विश्व-राज्य की कल्पना की गई और राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु आचार न होकर धर्म बन गया। राज्य एव चर्च के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या इस युग के विचारकों के मन-मानस का मन्थन करती रही।

मध्यकालीन युग को आधुनिक रूप देने का काम पुनर्जागरण (Renaissance) एव सुधार (Reformation) आन्दोलनो ने किया एवं सार्वभौमवाद का स्थान शनै-शनैः राष्ट्रीय राज्य ने ग्रहण कर लिया जो आधुनिक चिन्तन का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु है।

2 राजनीति का प्राचीन दृष्टिकोण : प्लेटो का दार्शनिक आदर्शवाद

(The Ancient View of Politics : The Philosophical Idealism of Plato)

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र को विश्व की सभ्यताएँ हर युग मे प्रभावित करती रही हैं। राज्य, समाज और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध राजनीतिक चिन्तन के विशेष अंग हैं जो सुदूर अतीत से मानव-जीवन और उसके चिन्तन को प्रभावित करते रहे हैं। राज्य और विविध राजनीतिक संस्थानों के विभिन्न पक्षों तथा उनसे सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नो की मीमांसा राजनीतिक चिन्तन की अध्ययन-सामग्री है।

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन को मोटे रूप मे तीन युगो मे विभाजित किया जा सकता है—प्राचीन युग, मध्य युग और आधुनिक युग। प्राचीन युग के अन्तर्गत 300 ईसा पूर्व तक के काल की गणना होती है। प्लेटो और अरस्तू इस युग के महान् यूनानी राजनीतिक चिन्तक थे। मध्य युग के अन्तर्गत 300 ईसा पूर्व से मोटे तौर पर 1500 ई का काल सम्मिलित किया जाता है। इस युग की सबसे प्रधान समस्या राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच सम्बन्ध निर्धारण की थी। राजा और पोप का संघर्ष चला जिसमे अन्ततः पोप का पराभव हुआ। इस युग के प्रमुख विचारको मे सन्त अम्ब्रोज, सन्त आगस्टाइन, सन्त टामस एक्वीनास, दांते, मार्सिलियो ऑफ पेडुआ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। तत्पश्चात् आधुनिक युग का सूत्रपात माना जाता है जिसका प्रथम विचारक मैकियावली था। उसे 'आधुनिक राजनीति का जनक' (Father of Modern Political Thought) कहा जाता है। मैकियावली ने अपनी कृतियो मे मध्ययुगीन विचारो पर तीक्ष्ण प्रहार किए तथा मध्ययुग की मान्यताओं और परम्पराओ का खण्डन कर राजनीति को नवीन व्यावहारिक रूप प्रदान किया। उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन यह थी कि उसने राजनीति को धर्म और नैतिकता से पृथक् किया। मैकियावली के बाद बोदाँ, ग्रोशियस, हॉब्स, लॉक, रूसो, माण्टेस्क्यू, बर्क, बेंथम, जे एस मिल, टी एच ग्रीन, कॉट, हीगल, कार्ल मार्क्स, लेनिन, गाँधी, लास्की, कोल, रसेल आदि इस युग के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचारक माने जाते हैं।

राजनीति के प्राचीन दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व हमे यूनानी राजनीतिक चिन्तन मे मिलता है। जिस प्रकार भारत मे वेदों को ज्ञान का मूल स्रोत माना गया

प्लेटो : जीवन-परिचय
(Plato : Life-sketch)

पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन के मूर्धन्य विद्वान एवं मनीषी प्लेटो का जन्म ईसा से 427 वर्ष पूर्व एथेन्स के एक कुलीन परिवार मे हुआ था।[1] पाश्चात्य जगत मे सर्वप्रथम आदर्श राज्य (Utopia) की काल्पनिक योजना प्रस्तुत करने वाले इस विद्वान् दार्शनिक की माता का नाम परिक्टियनी और पिता का नाम एरिस्टोन था। उसके पिता एथेन्स के अन्तिम राजा कॉड्रस (Cordus) के वशज थे जबकि उसकी माता सोलन (Solan) वश मे उत्पन्न हुई थी। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद प्लेटो सुकरात के चरणो मे बैठ कर आठ वर्ष तक उसका शिष्य रहा। बचपन से ही उसे सगीत एव व्यायाम मे रुचि थी। उसका पारिवारिक नाम अरिस्तोक्लीज (Aristoclese) था, किन्तु उसके सुडौल, सुन्दर और पुष्ट शरीर को देख कर उसके अध्यापक उसे 'Platon' कहा करते थे। युवावस्था मे ही अरिस्तोक्लीज, जिसे उसके समकालीन उसके उपनाम प्लेटो से जानते हैं, क्रान्तिकारी विचारो से ओतप्रोत था। वह समझता था कि उसका जन्म सक्रिय राजनीति के लिए ही हुआ है, किन्तु समय और परिस्थितियो ने उसे एक कुशल राजनीतिज्ञ के स्थान पर एक महान् राजनीतिक चिन्तक बना दिया।

एथेन्स की जनतन्त्रीय सरकार ने उसके शिक्षक सुकरात की हत्या की। इस दुर्घटना से प्लेटो को मार्मिक आघात पहुँचा। राजनीति-विज्ञान से प्रेम होने के कारण उसे सक्रिय राजनीति से घृणा हो गई। प्रजातन्त्र के तथाकथित प्रेमी एथेन्सवासियो ने सुकरात जैसी महान् आत्मा को केवल इसलिए विषपान के लिए बाध्य किया कि वह ज्ञान और न्याय के नए पथ ढूँढता रहता था। उस पर यह अभियोग था कि उसने एथेन्स के नवयुवको को नया ज्ञान देकर उन्हे मार्ग भ्रष्ट किया है। राजनीतिज्ञो के अपने क्षुद्र स्वार्थो के कारण इस देवता स्वरूप महान् विभूति की निर्मम हत्या को प्लेटो ने स्वय अपनी आँखो से देखा था। अतः यह स्वाभाविक था कि प्रजातन्त्र एव सक्रिय राजनीति, दोनो से उसका विश्वास उठ गया।

सुकरात के प्राणदण्ड के बाद वह अपने कुछ मित्रो के साथ एथेन्स के निकटवर्ती नगर मेगरा (Megara) मे चला गया। इसके बाद उसके जीवन का बारह वर्ष का इतिहास अज्ञात-सा है। यद्यपि इस सम्बन्ध मे एक अनुश्रुति है कि इस काल मे वह लगातार इटली, यूनान और मिस्र के विभिन्न नगरो मे घूमता रहा और यहाँ तक कि उसने गगा के तट तक भारत की यात्रा भी की।[2] इन बारह वर्षो मे प्लेटो ने देश-देशान्तरों मे विभिन्न मत-मतान्तरो का अध्ययन भी किया। एथेन्स वापस लौटने पर 386 ई.पू. के लगभग उसने वहाँ अपना एक शिक्षणालय खोला। यही

1 बार्कर आदि कुछ विद्वानों ने प्लेटो का जन्म 428 ई पू के लगभग माना है। देखिए बार्कर: पूर्वोक्त, पृ. 167.

2 *Will Durant*: Story of Philosophy, p. 20.

प्लेटो की वह सुप्रसिद्ध अकादमी (Academy) थी, जिसे यूरोप का प्रथम विश्वविद्यालय होने का गौरव प्राप्त हुआ। अपनी आयु के चालीसवें वर्ष मे प्लेटो ने इस अकादमी की स्थापना की थी और उसकी आयु के अगले चालीस वर्ष यहाँ पर अध्ययन-अध्यापन कार्य मे व्यतीत हुए। यह विद्यापीठ 529 ई मे रोमन सम्राट् जस्टीनियन द्वारा बन्द कर दिए जाने तक लगभग 900 वर्ष तक ज्ञान के प्रसार का कार्य करता रहा। इसी के कारण एथेन्स समूचे यूनान का ही नही बल्कि सारे यूरोप का बौद्धिक केन्द्र बन सका। इस अकादमी मे गणित-शास्त्र, खगोल-शास्त्र आदि भौतिक विज्ञानो की शिक्षा को विशेष प्रधानता दी जाती थी। कहा जाता है कि प्रवेश-द्वार पर यह वाक्य अंकित था कि "गणित के ज्ञान के बिना यहाँ कोई प्रवेश पाने का अधिकारी नही है।" किन्तु साथ ही यहाँ राजनीतिज्ञ, कानून-वेत्ता तथा दार्शनिक शासक बनने की शिक्षा भी दी जाती थी।

जब प्लेटो साठ से सत्तर वर्ष की अवस्था के बीच था तब वह अपने जीवन के आदर्शों को व्यवहार मे लाने की दिशा मे अग्रसर हुआ। उसने एक तीस वर्षीय तरुण शासक डायोनिसियस (Dionysius) द्वितीय के पथ-प्रदर्शन मे अपने मित्र दियोन (Dion) की सहायता करने के लिए सिराक्यूज (Syracuse) की यात्रा की। दियोन की प्रेरणा से डायोनिसियस द्वितीय दार्शनिक शासक बनने के लिए तैयार हो गया। प्रारम्भ मे प्लेटो उक्त शासक को दार्शनिक बनाने की प्रक्रिया मे कुछ सफल भी हुआ किन्तु अन्तत: वह स्वेच्छाचारी शासक उसके परामर्श को स्वीकार करने तथा उचित रूप से अध्ययन कर राज-काज चलाने से मुकर गया। साथ ही कुछ चाटुकारो ने डायोनिसियस को दियोन के विरुद्ध भडका दिया जिसका परिणाम यह निकला कि दियोन को निर्वासित कर दिया गया और उसकी सम्पत्ति जब्त करं ली गई। उसकी पत्नी का दूसरे पुरुष के साथ विवाह कर दिया गया। इन परिस्थितियो से निराश होकर प्लेटो ने एथेन्स लौटना ही श्रेयस्कर समझा। 361 ई पू मे डायोनिसियस ने प्लेटो को एक बार फिर सिराक्यूज आने का निमन्त्रण दिया और उसके उपदेशो पर चलने का आश्वासन भी। यद्यपि अपने पिछले कटु अनुभवों के कारण प्लेटो सिराक्यूज की तीसरी यात्रा करने को उत्सुक नही था, किन्तु तारेन्तम (Tarentum) के दार्शनिक शासक अर्शीतास (Archytas) की प्रेरणा से आखिर वह वहाँ चला ही गया। प्लेटो ने डायोनिसियस को दर्शन-शास्त्र के अध्ययन सम्बन्धी कठिनाइयाँ बतलाई। साथ ही उसने उसे यह परामर्श भी दिया कि वह दियोन (Dion) के विरुद्ध किए गए अन्यायो का प्रतिकार करे। फलस्वरूप दोनो मे गम्भीर मतभेद एवं व्यक्तिगत वैमनस्य उत्पन्न हो गया। प्लेटो की स्थिति एक प्रतिष्ठित बन्दी जैसी हो गई और अन्तत: तारेन्तम के शासक की सहायता और सामयिक हस्तक्षेप के द्वारा वह किसी तरह सकुशल एथेन्स लौट सका। उक्त प्रयोग की असफलता ने प्लेटो की सम्पूर्ण आदर्शवादी विचार श्रृंखला को तोडकर रख दिया। वह व्यावहारिकता की ओर मुड़ा और अपने जीवन का शेष समय उसने अपने अन्तिम ग्रन्थ 'Laws' को लिखने मे व्यतीत किया।

81 वर्ष की आयु में प्लेटो अपने किसी शिष्य के अनुरोध पर एक रात्रि विवाह-समारोह में सम्मिलित हुआ। उसके शोरगुल से परेशान होकर वह विश्रामार्थ एक दूसरे कमरे में चला गया। प्रातःकाल जब वर ने गुरु से आशीर्वाद लेने के लिए उसके कमरे में प्रवेश किया तो प्लेटो चिर-निद्रा में विलीन हो चुका था। वह "दार्शनिकों का राजा और राजाओं को दार्शनिक बनाने वाला, मृत्यु की रिपब्लिक में पहुँच चुका था।"

प्लेटो के ग्रन्थ
(Works of Plato)

प्लेटो के ग्रन्थों की संख्या 36 या 38 के आसपास मानी जाती है, किन्तु इनमें से प्रामाणिक ग्रन्थ केवल 28 हैं। उसके सभी प्रामाणिक ग्रन्थों का बर्नेट (Bernat) द्वारा सम्पादित एवं ऑक्सफोर्ड द्वारा प्रकाशित यूनानी संस्करण 2662 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। इनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं—

1. The Republic (386 B C)
2. The Statesman (360 B C)
3. The Laws (347 B C)
4. Apology
5. Crito
6. Charmides.
7. Laches
8. Enthydemus
9. Protagoras
10. Gorgias

प्लेटो के सभी ग्रन्थ सम्वाद अथवा कथोपकथन (Dialogue) शैली में हैं तथा सभी में अन्तिम सिद्धान्त-पक्ष रखने वाला व्यक्ति सुकरात (Socrates) नामक एक पात्र है। प्लेटो ने इन गूढ़ दार्शनिक सम्वादों को इतने सजीव एवं नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है कि इनके अनुशीलन में उपन्यासों जैसी रोचकता एवं नाटकों जैसी प्रभावशीलता अनुभव होती है।

प्लेटो ने अपने सम्वादों में राजनीतिक-दर्शन से सम्बद्ध गूढ़ विषयों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं लेकिन राज्यशास्त्र का विशद विवेचन उसकी तीन कृतियों 'रिपब्लिक, स्टेट्समैन और लॉज' में अधिक गहन एवं सुस्पष्ट है। उसके राजनीतिक सिद्धान्तों को इन तीन पुस्तकों के आधार पर मूल्यांकित किया जा सकता है। इन तीनों ग्रन्थों के रचनाकाल की निश्चित तिथियों के बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। जॉर्ज एच. सेबाइन (G.H. Sabine) का अग्रलिखित उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है—

"प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक की रचना अपने विद्यालय की स्थापना के एक दशक की अवधि के अन्दर की थी। इस समय तक उसके विचार परिपक्व हो चुके थे, यद्यपि उसकी अवस्था परिपक्व नहीं थी। प्लेटो का विचार उसकी अपनी रिपब्लिक को एक समग्र-ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करना था। रिपब्लिक के सर्वश्रेष्ठ आलोचकों का भी यही विचार है, तथापि तथ्य यह है कि 'रिपब्लिक' की रचना कई चरणों में हुई। शैलीगत आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रथम अध्यायों में न्याय सम्बन्धी विवेचना प्रारम्भिक काल की रचना रही होगी। प्लेटो ने 'लॉज' (Laws) नामक ग्रन्थ की रचना वृद्धावस्था में की थी। अनुश्रुति तो यहाँ तक कहती

है कि जब 347 ई.पू. में प्लेटो की मृत्यु हुई, उस समय भी वह इसी ग्रन्थ के प्रणयन मे तल्लीन था। इस प्रकार, 'रिपब्लिक' और 'लॉज' के रचनाकाल मे तीस वर्ष या इससे भी अधिक समय का अन्तर लगता है। 'रिपब्लिक' मे हमें प्लेटो के अदम्य उत्साह के दर्शन होते हैं। इसी समय पर उसने अपने विद्यालय की स्थापना की थी और उसकी अवस्था भी अपेक्षाकृत कम रही होगी। 'लॉज' मे प्लेटो की निराशा अभिव्यक्त होती मिलती है। सिराक्यूज मे मिली असफलता ने सम्भवत: उसे हतोत्साहित कर दिया था। 'स्टेट्समैन' की रचना उपरोक्त दोनो के बीच मे हुई है। सम्भवत: यह 'रिपब्लिक' की अपेक्षा 'लॉज' के रचनाकाल के अधिक निकट प्रणीत हुई होगी।"[1]

प्लेटो की शैली तथा अध्ययन-पद्धति
(Plato's Style and Method)

प्लेटो की शैली सम्वाद अथवा वार्तालाप शैली है। वह घटनाओ के आधार पर सिद्धान्तो का नियमीकरण नहीं करता बल्कि किसी विचार-विशेष को लेकर उसका विश्लेषण एवं परीक्षण करता है और इस प्रकार के परीक्षण से प्राप्त विभिन्न विचारों की बार-बार परीक्षा करके अन्त मे सत्य की प्रतिस्थापना करता है। उसकी इस अध्ययन विधि को रचनात्मक पद्धति (Constructive Method) कहा जा सकता है जो बौद्धिक दृष्टि से सृजनात्मक थी। उसने पूर्णत: न तो आगमन-विधि (Inductive Method) या निगमन विधि (Deductive Method) को अपनाया और न ही अरस्तू की भाँति किसी वैज्ञानिक विधि (Scientific Method) को कोई प्रश्रय दिया। प्लेटो की रचनाओं का रूप-विधान आरम्भ से लेकर अन्त तक सम्वादो का है। व्याख्याता और शिक्षक होने के साथ ही प्लेटो एक महान् लेखक भी था अत: जब उसने कागज और कलम का सहारा लिया तो स्वभावत: उसने वही लेखन-शैली अपनायी जो अकादमी मे छात्रो के साथ वाद-प्रतिवाद की शैली के अनुरूप थी। एक सच्चे शिक्षक की भाँति प्लेटो की भी इच्छा थी कि लोग उसकी शिक्षा के आधार पर चिन्तन करना सीखें। लेखक होने के नाते प्लेटो का विचार था कि यदि पाठक लेखक के अपने मन की प्रक्रिया का अनुसरण करने लगे तो उनमे विचारो की ज्योति प्रखरता से जाग सकेगी।[2] प्लेटो के सम्वादो मे सुकरात एक प्रमुख अधिवक्ता है जो स्वय प्लेटो के विचारो को अभिव्यक्त करता है। अपने सम्वादो के पात्रो का चुनाव प्लेटो ने बहुत सोच-समझकर किया है। अपने पात्र विशेषो के द्वारा वह केवल उन्ही विचारो की उद्घोषणा करता है जो वास्तव मे उस पात्र विशेष के माने जाते हैं। वस्तुत:, प्लेटो ने अपना व्यक्तित्व अपने शिक्षक सुकरात मे इतना अधिक निमज्जित कर दिया है कि आज यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कौन-कौन से विचार मूलत: प्लेटो के हैं और कौन-कौन से सुकरात के।

1 *Sabine, G. H.* : The History of Political Philosophy.
2 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 179.

प्लेटो ने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि दृष्टान्तों से की है। उसने जिन दृष्टान्तों का प्रयोग किया उन्हें कहीं तो कलाओं से लिया है और कहीं प्रकृति से। उदाहरणार्थ राज-काल के मामलों में ज्ञान और कौशल के महत्त्व को बतलाते हुए उसने डॉक्टरों और यान-सचालकों की उपमाएँ दी हैं तो पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी सरक्षक के रूप में कार्य करने के विचार के समर्थन में वह कुत्तों का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। रखवाली करने वाले कुत्तों की तुलना कर प्लेटो इस निश्चय पर पहुँचता है कि पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी सरक्षक होनी चाहिए। पशुओं में जिस तरह प्रजनन होता है, उसी को अपनी युक्ति का आधार मानकर उसने विवाह के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। प्लेटो की रचनाओं में कलाओं के क्षेत्र के लिए ये उदाहरण प्रमुख रूप से मिलते हैं जिनका प्रयोग सुकरात किया करता था। जब सोफिस्टों ने चिकित्सा शास्त्र की भाँति राजनीति की शिक्षा को एक विषय बनाने का प्रयत्न किया, तब उन्होंने राजनीति को एक कला माना था। सुकरात ने भी इसे ज्ञान के प्रति अपने आग्रह का आधार बनाया। प्लेटो ने भी इस विषय पर जो कुछ कहा है, उस सब पर राजनीति को कला मानने के विचार की छाप है। राजनीति को कला के रूप में ग्रहण करते हुए उसका आग्रह है कि अन्य कलाओं की भाँति इसमें भी ज्ञान की आवश्यकता है। प्लेटो के सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन की यह सम्भवत सबसे बड़ी विशेषता है और 'रिपब्लिक' के मूल में भी यही माँग निहित है कि अन्य सभी कलाकारों के समान राजमर्मज्ञ अथवा राजनेता को भी यह ज्ञात होना चाहिए कि वह जिस वस्तु की साधना कर रहा है वह क्या है? जनीति की यह सकल्पना प्लेटो को और आगे ले जाता है। अपनी कला की साधना में कलाकार को विधि-विधानों के बन्धनों से मुक्त होना चाहिए—इस विचार को ग्रहण करते हुए प्लेटो की मान्यता है कि आदर्श स्थिति तो यह है कि राजमर्मज्ञ विधि के नियन्त्रण से भी स्वतन्त्र हो। इसी आधार पर उसने निरपेक्ष शासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और अन्त में इसी सकल्पना के बल पर उसने यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रत्येक शासक सामूहिक हित के निमित्त शासन करना चाहता है क्योंकि प्रत्येक सच्चे कलाकार की यह कामना होती है कि अपनी कला की उन्नति के लिए वह अपने आपको समर्पित कर सके।

प्लेटो ने दृष्टान्त दिए हैं, पर चूँकि दृष्टान्तों का प्रयोग कठिन होता है और सामान्यत सतही दृष्टान्त देना सरल होता है, अतः प्लेटो ने भी भूलें की हैं। पशु-जगत के जिन दृष्टान्तों का उपयोग उसने किया है उन्हें पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि इन दृष्टान्तों से कुछ अधिक सिद्ध नहीं होता। मनुष्य भावना-रूप है और एक भावनामय जीवन के लिए पशु-जगत से ऐसे नियम ग्रहण नहीं किये जा सकते जो पाशविक हों। कलाओं के क्षेत्र से प्लेटो ने जो उपमायें और रूपक ग्रहण किए हैं उनके प्रयोग पर भी आक्षेप किए जा सकते हैं। आखिर एक राजनीतिज्ञ चिकित्सक की तरह नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति अपना कार्य पाठ्य-पुस्तक के प्रतिबन्धों के बिना ही कर सकता है तो उसका यह अभिप्राय नहीं

कि दूसरे को भी विधि-नियम के बिना ही कोई कार्य करना चाहिए। शरीर के उपचार मे जिन बातो की ओर ध्यान देना आवश्यक है, आत्मा के उपचार मे उनके अतिरिक्त और भी अनेक बातें देखनी पडती हैं।[1]

प्लेटो ने, जो एक उत्तम कवि, नाटककार और साहित्यकार भी था, अपने गूढ़ दार्शनिक सम्वादो को भी बहुत ही सजीव, रोचक, सरस और प्रभावशाली स्वरूप मे चित्रित किया है। प्लेटो की पद्धति के बारे मे एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि वह एक कल्पनावादी दार्शनिक था। पाश्चात्य ससार के कल्पनावादियो मे उसका स्थान सम्भवत. प्रथम और सर्वोच्च है। इतिहास-सिद्ध वास्तविक राज्यो के वर्णन से उसका अधिक सम्बन्ध नही वरन् उसका अभीष्ठ तो एक 'आदर्श' की खोज है। प्लेटो का कल्पित आदर्श राज्य, राज्य का एक सम्पूर्ण और आदर्श चित्र है तथा तुलना और समालोचना के माध्यम से प्लेटो उसकी खोज करना चाहता है। 'रिपब्लिक', 'स्टेट्समैन' तथा 'लाज' के पात्र परस्पर मे जो सम्वाद प्रस्तुत करते हैं उसका उद्देश्य है—आदर्श राज्य की खोज। प्लेटो एक ऐसे आदर्श नगर राज्य की वास्तविक प्रकृति का अन्वेषक है जिसका यथार्थ से बहुत कम सरोकार है। वह, एक ऐसे ससार के चित्रण मे प्रयत्नशील लगता है जो मानव-जीवन के सच्चे एव स्थायी आदर्श सिद्धान्तो पर आधारित है। यह सब कुछ एक ऐसे कल्पनालोक का चित्र है जिसका इस दुनिया की यथार्थता से कोई निकट का सम्बन्ध नही है।

प्लेटो पर सुकरात का प्रभाव
(Influence of Socrates on Plato)

प्लेटो पर अपने समकालीन विचारको का प्रभाव है जिनमें पाइथागोरस और सुकरात मुख्य है। प्लेटो सुकरात का तो वर्षों तक शिष्य रहा और शायद ही उसका कोई ऐसा विचार हो जिस पर उसके अपने शिक्षक का प्रभाव न हो। इसलिए मैक्सी (Maxey) ने लिखा है, प्लेटो के दिल और दिमाग ने अपने शिक्षक के विचारो और भावो को पूर्ण रूप से आत्मसात किया है। वास्तव मे प्लेटो की दृष्टि से अपने आचार्य की महती आकृति कभी ओझल नहीं हुई। सुकरात के जिन विचारों का उस पर अधिक गम्भीर रूप से प्रभाव पड़ा उनमे से कुछ का विवेचन यहाँ उपयुक्त होगा।

(i) **सद्गुण और ज्ञान में अभेदता**—सुकरात सद्गुण (Virtue) एव ज्ञान (Knowledge) को अभिन्न मानता था। मेयर (Mayor) के शब्दो मे, "यदि हम ज्ञान तथा आचरण को एक ही मान सकें तो आचरण का एक स्थाई मापदण्ड बन सकता है। जिस ज्ञान का आचरण से कोई सम्बन्ध न हो और जो ज्ञान केवल ज्ञान के लिए ही अर्जित किया जाए, ऐसे ज्ञान का इस यूनानी दार्शनिक की दृष्टि मे कोई विशेष अर्थ नही था। ज्ञान केवल कुछ सूचनाओ का सकलन-मात्र

1 बार्कर: पूर्वोक्त, पृष्ठ 181-82.

नही है। व्यक्ति के चरित्र-निर्माण के साथ उसका गहरा सम्बन्ध है। ज्ञान, बुद्धि के माध्यम से ही समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। यह इच्छा-शक्ति और भावनाओं का निर्माण है। साहस, संयम, न्याय आदि सभी सद्गुणों (Virtues) की उत्पत्ति ज्ञान से ही होती है। साहसी व्यक्ति वही बन सकता है जो भय तथा निर्भीकता का ज्ञान रखता हो।" प्लेटो ने सुकरात के इन्हीं विचारों को स्वीकार किया।

प्लेटो की 'रिपब्लिक' का केन्द्रीय विचार यही है कि 'सद्गुण ही ज्ञान है' (Virtue is Knowledge)। इसका अभिप्राय यह है कि संसार में कुछ सत्य वस्तु-परक है और उनका ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यह ज्ञान किसी आन्तरिक अनुभूति अथवा कल्पना मात्र से प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत बुद्धि-संगत एवं तर्क-संगत अनुसन्धान से ही मिल सकता है। यही सत्य वास्तविक है चाहे इसके बारे में कोई व्यक्ति कुछ भी क्यों न सोचे। इसकी अनुभूति केवल इसलिए नही होनी चाहिए कि लोग उसे चाहते हैं बल्कि इसलिए कि वह एक अन्तिम एवं ध्रुव सत्य है। दूसरे शब्दों में यहाँ पर इच्छा गौण है। व्यक्ति क्या चाहते हैं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे सत्य का कितना अंश देख पाते हैं लेकिन कोई वस्तु अथवा विचार केवल इसलिए ही सत्य नहीं हो सकता कि लोग उसे ऐसा चाहते या मानते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वह आदमी जो ज्ञानी है, जिसका नाम दार्शनिक, विद्वान् या वैज्ञानिक कुछ भी हो सकता है, उसे शासन में निर्णायक शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। उसका ज्ञान ही उसे इस शक्ति का अधिकारी बनाता है। 'रिपब्लिक' का यही मूल विचार है जो उसके प्रत्येक पक्ष पर छाया हुआ है।

(ii) सद्गुण के स्वरूप—गुण या भलाई (Virtue) के स्वरूप के सम्बन्ध में भी प्लेटो सुकरात का ऋणी है। सद्गुण के लिए मूल यूनानी शब्द 'अरेती' (Arete) है जिसका हिन्दी शब्दार्थ होगा—उत्कृष्टता। सुकरात की भाँति प्लेटो की भी यही मान्यता थी कि प्रत्येक वस्तु की भलाई या गुण इसी बात में है कि उसमें वह गुण हो जिसकी सम्पूर्ति के लिए उसका जन्म हुआ है। चाकू का गुण काटना है। इसका अच्छा या बुरापन इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितनी अच्छी या बुरी तरह काट सकता है। ठीक इसी प्रकार एक मनुष्य भी केवल अन्य मनुष्यों की तुलना में ही अच्छा या बुरा हो सकता है। उसकी यह अच्छाई अथवा बुराई दो प्रकार की होती है—एक अपनी वृत्ति तथा दूसरी उसके व्यवसाय सम्बन्धी। कोई व्यक्ति अच्छा या बुरा चित्रकार, मूर्तिकार, डॉक्टर या वकील हो सकता है परन्तु वास्तव में मनुष्य वही अच्छा हो सकता है जिसमें दूसरे मनुष्य को अच्छा बनाने वाले गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान हों। सुकरात की भाँति प्लेटो के मत में भी अच्छे व्यक्ति में अग्रलिखित चार गुणों का होना आवश्यक है—विवेक, साहस, संयम और न्याय। ये चारों ही गुण संयुक्त-रूप से मानवीय गुण (Human Virtue) अथवा उत्कृष्टता (Goodness) का निर्माण करते हैं।[1]

1 *E.M. Foster*: Masters of Political Thought, p. 38.

(iii) शासन संचालन—प्लेटो ने सुकरात से यह विचार भी लिया कि शासन-संचालन डॉक्टरी अथवा नौका-संचालन की भाँति एक विशिष्ट कला है। शासन का ज्ञान रखने वाले विशेषज्ञों को ही शासन-संचालन का अधिकार दिया जाना चाहिए। जैसे प्रत्येक व्यक्ति एक कुशल मूर्तिकार अथवा निपुण संगीतज्ञ नहीं हो सकता, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति योग्य शासक भी नहीं बन सकता। शासक की उपमा डॉक्टर से देते हुए सुकरात ने कहा था, "जनता बीमार है, इसीलिए हमें अपने स्वामियों का इलाज कराना चाहिए।"[1] प्लेटो ने भी यह स्वीकार किया है कि जनता बीमार रोगी के समान होती है और शासक एक सामाजिक डॉक्टर की तरह। जिस प्रकार डॉक्टर को मरीज ठीक करने के लिए कड़वी दवाइयाँ देनी पड़ती हैं ठीक उसी प्रकार आवश्यकता पड़ने पर शासक को भी कठोर एवं निर्दयतापूर्ण कदम उठाने पड़ते हैं।

(iv) प्लेटो की दार्शनिक पद्धति का आधार सुकरात का सत्ता का सिद्धान्त है।[2] सुकरात के इस सिद्धान्त का अर्थ यह था कि यथार्थता (Reality) वस्तुओं के विचारों में अन्तर्निहित होती है। वह पूर्ण स्थाई एवं अपरिवर्तनशील-सत्ता है जो इन्द्रियों से अनुभव होने वाले पदार्थों के मूल में निवास करती है। प्लेटो ने अपने इस विचार को अपने राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र भी बनाया है।

इस तरह प्लेटो के दर्शन पर सुकरात का प्रभाव स्पष्ट है। सुकरात के विचारों को उसने बीज-रूप में ग्रहण करते हुए अपने चिन्तन द्वारा उन्हें पुष्पित और पल्लवित करने की चेष्टा की है। बर्नेट के शब्दों में, "प्लेटो का दर्शन सुकरात के ज्ञान के जीवाणुओं का वह विकास है जो प्लेटोनिक निष्कर्षों के रूप में 'रिपब्लिक' में उद्भूत हुआ है।" दूसरे शब्दों में मूल मान्यतायें सुकराती हैं पर उनका तार्किक निष्कर्ष प्लेटोवादी कहा जा सकता है। सुकरात को जनतन्त्र का विरोधी और शत्रु तक कहा जाता है चूँकि वह सत्य ज्ञान (True Knowledge) के शासन में विश्वास करता था। बार्कर ने ठीक ही लिखा है कि यदि "सत्य ज्ञान के सिद्धान्त को तार्किक दृष्टि से आगे ले जाते हुए व्यावहारिक राजनीति पर उसे लागू किया जाय तो उसका सहज परिणाम 'जाग्रत निरंकुशता' (Enlightened Despotism) निकलेगा। प्लेटो ने यही प्रयास किया और फलतः दार्शनिक राजा (Philosophic King) का जन्म हुआ और इस कारण प्लेटो को भी जनतन्त्र विरोधी, अधिनायकों का पितामह तथा पहला फासीवादी लेखक तक कहा जाता है।

रिपब्लिक : स्वरूप एवं विषय-वस्तु

(The Republic : Nature and Subject-Matter)

विश्व के लगभग सभी विद्वान् 'रिपब्लिक' को प्लेटो की महानतम एवं सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं। इस ग्रन्थ में प्लेटो का विचार एवं व्यक्तित्व उसके अपने पूर्णतम एवं सुन्दरतम स्वरूप में प्रकट हुआ है। उसने लगभग चालीस वर्ष की अवस्था

1 *Barker* : Greek Political Theory, p. 140.
2 *Coker* : Readings in Political Philosophy, p. 1.

मे इस ग्रन्थ की रचना की थी। प्लेटो का यह ग्रन्थ विचारों की विविधता एव शैली की दृष्टि से भी अनुपम कृति है। प्लेटो की सम्पूर्ण रचनाओं का प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद करने वाले बैंजामिन जोवेट ने लिखा है कि "प्लेटो के अन्य ग्रन्थो मे अन्यत्र कहीं भी इससे अधिक तीखा व्यग, परिहास, परिकल्पनाएँ एव नाटकीयता नही मिलती।" इस ग्रन्थ की सम्वादात्मक शैली मे जहाँ विचारो का स्थिर स्वरूप स्पष्ट हुआ है, वहाँ किस-किस प्रक्रिया के सहारे कौन-कौन से विचार उत्पन्न हुए हैं, इसकी भी अभिव्यजना देखी जा सकती है। सवाद शैली के द्वारा प्लेटो ने अपने गूढ विचारो को शनै:-शनै प्रकट करने मे एक विशेष सहजता एव कुशलता दिखलाई है।

रिपब्लिक मे प्लेटो के दार्शनिक विचारो की समग्रता के दर्शन होते हैं। इसमे अनेक विषयो का वर्णन है। "प्रारम्भिक और उच्च-शिक्षा का इसमे विशद् विवेचन है। मानव की कर्मानुसार सामाजिक एव राजनीतिक स्थिति का भी इसमे उल्लेख है। इतिहास का दर्शन भी इसमे दिया गया है। राज्यो के उत्थान और पतन की चक्रात्मक व्याख्या द्वारा उनके पीछे वर्तमान आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कारणो की मीमासा भी मिलती है। इस ग्रन्थ मे शील की विशिष्टता बडी उत्कृष्ट शैली मे प्रतिपादित कर प्लेटो ने मानव-जीवन को एक उच्च धरातल पर ले जाने का प्रयास किया है। दार्शनिक तत्त्वो का पर्याप्त ऊहापोह भी इसमे दृष्टव्य है। इन सभी विषयो को एक सूत्र मे गठित एव सयोजित करने वाली प्लेटो की 'रिपब्लिक' दर्शन की एक आध्यात्मिक कृति है।"

'रिपब्लिक' एक ऐसी पुस्तक है, जिसका वर्गीकरण नही किया जा सकता। वह आधुनिक सामाजिक-ज्ञान अथवा विज्ञान की किसी भी श्रेणी मे नही आती। इस पुस्तक मे प्लेटो के दर्शन के विभिन्न पहलुओ पर विचार कर उन्हे विकसित किया गया है। इसकी विषय-वस्तु इतनी व्यापक है कि वह सम्पूर्ण मानव-जीवन का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करती है। 'रिपब्लिक' का केन्द्रीय विषय अच्छे-मनुष्य और उसके अच्छे-जीवन की समस्याओ पर विचार करना है। प्लेटो की दृष्टि मे अच्छा-मनुष्य और अच्छा-जीवन केवल अच्छे राज्य मे ही सभव है। 'रिपब्लिक' मे यह भी बतलाया गया है कि इन वस्तुओ को किस प्रकार जाना और पाया जा सकता है। यह समस्या अपने आप मे इतनी व्यापक है कि व्यक्ति तथा समाज के जीवन का कोई भी अग इससे अछूता नही बचता। इस प्रकार 'रिपब्लिक' किसी प्रकार की प्रबन्ध-पुस्तक (Treatise) विशेष नही है। वह राजनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान किसी एक विषय मात्र से सम्बन्ध नही रखती। उसमे इन सबका तो समावेश है ही बल्कि कला, शिक्षा और दर्शन के प्रश्न भी सन्निहित हैं। 'रिपब्लिक' मे जीवन की अनेक जटिल समस्याओ पर विचार-मन्थन है। विषय-वस्तु की विशदता के होते हुए भी 'रिपब्लिक' का राजनीतिक-दर्शन एकीकृत है और उसकी तर्क-पद्धति प्रखर और प्रभावशाली है।

'रिपब्लिक' का आरम्भ आचार-शास्त्र और नैतिक दर्शन की समस्याओ से होता है। इसके आरम्भ मे ही यह प्रश्न उठाया गया है कि न्याय क्या है? "न्याय

एवं मानव-आत्मा के नैतिक गुणों का विवेचन करने के कारण इसे आचार-शास्त्र का ग्रन्थ भी कहा गया है।" इस ग्रन्थ मे बतलाया गया है कि नैतिक गुणों का विकास केवल शिक्षा द्वारा ही सम्भव है और उत्तम-शासन के लिए शासको की शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य है। रिपब्लिक मे शिक्षा समस्याओं का विशद् एव सम्यक् विवेचन है। इसके शिक्षा अध्याय को पढ़ कर ही फ्रेंच दार्शनिक रूसो (Rousseau) ने कहा था कि "रिपब्लिक राजनीति शास्त्र का ग्रन्थ न होकर शिक्षा शास्त्र पर कभी भी लिखा गया एक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।" यह अध्यात्म-शास्त्र का भी एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमे विचारो के सिद्धान्त तथा ज्ञान के यथार्थ-स्वरूप को प्रतिपादित किया गया है। इसे इतिहास के दर्शन का ग्रन्थ भी इसलिए कहा जा सकता है कि इसमे यह बतलाया गया है कि ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया से किसी भी राज्य का पतन निरकुश या भ्रष्ट-शासन मे किस प्रकार होता रहता है।

'रिपब्लिक' की विषय-वस्तु और उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियो ने जो विभिन्न मत व्यक्त किए हैं, उनमे से कुछ को नीचे उद्धृत किया जा रहा है। इनके प्रकाश मे 'रिपब्लिक' के बारे मे व्यक्त किए गए विभिन्न विचारो का मूल्यांकन किया जाना उपयुक्त होगा।

"यह मानव के समग्र जीवन दर्शन (Complete Philosophy of Life) के प्रस्तुतीकरण का प्रयास है। क्रियाशील-मानव (Man in-action) या मनुष्य के कार्य ही इसके विषय हैं अतः इसका सम्बन्ध नैतिक और राजनीतिक जीवन की समस्याओं से है। मानव एक समष्टि है, उसके कार्य उसके विचारो को जाने बिना समझे नही जा सकते अतः 'रिपब्लिक' मनुष्य के विचारों एव उसके द्वारा निर्मित कानूनों की भी विवेचना करती है। इस दृष्टि से 'रिपब्लिक' मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन का एक चूडान्त दर्शन है।"[1]

'रिपब्लिक' मे मानव-आत्मा के उत्थान और पतन का आदर्श चित्र है। इसमे यह बतलाया गया है कि वह किस प्रकार अपने विकास के चरम-शिखर पर पहुँच कर भी पतन के सबसे गहरे गड्ढे मे भी गिर सकती है। ऐसा समझाते हुए इसमे मानव-आत्मा का और उसकी समूची प्रकृति का विश्लेषण किया गया है।"[2]

"इस ग्रन्थ मे उसके (प्लेटो के) अध्यात्म-शास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और कला सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। इसमें आधुनिक समस्याएँ विश्लेषित हैं, जैसे साम्यवाद, समाजवाद, नारी स्वातन्त्र्य, गर्भ निरोध, सुप्रजनन आदि। नीत्शे द्वारा बतलाई गई नैतिक और कुलीनतन्त्र की समस्याएँ तथा बर्गसाँ और फ्रॉयड के मनोविश्लेषण के साथ इसमें सभी कुछ है।[3]

"रिपब्लिक ,केवल एक दार्शनिक-कृति मात्र न होकर सामाजिक और राजनीतिक सुधारो पर लिखा गया एक प्रबन्ध भी है। यह उस व्यक्ति की रचना है जो

1 *Barker's* Greek Political Theory, p. 145.
2 *Nettleship* : Lectures on the Republic of Plato, p. 5.
3 *Will Durant* : Story of Philosophy, p. 22.

मानव-जीवन पर केवल चिन्तन ही नही करता बल्कि उसे क्रान्तिकारी ढंग से सुधारने को भी उतना ही उत्सुक है ।"[1]

विषय-वस्तु की दृष्टि से 'रिपब्लिक' को पाँच खण्डो मे विभाजित किया जा सकता है—

(i) Book I—इसमे मानव-जीवन, न्याय की प्रकृति एवं नैतिकता के अर्थ समझाए गए हैं।

(ii) Books II to IV—इसमे राज्य के सगठन तथा शिक्षा पद्धति का वर्णन है। यहाँ प्लेटो एक आदर्श मानव-समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। मानव स्वभाव के तीनो तत्त्वो तथा मानव-समाज के तीनो वर्गों का समाज मे स्थान इस खण्ड मे विवेचित किया गया है।

(iii) Books V to VII—इस भाग का प्रमुख विषय दर्शन है। इसमे राज्य के उस सगठन का पुनः वर्णन किया गया है जो साम्यवाद पर आधारित होकर दार्शनिक राजा द्वारा शासित होगा। यहाँ पर प्लेटो के दर्शन मे अच्छाई का आदर्श (The Idea of good) सामाजिक एव राजनीतिक गुणो का स्थान ले लेता है।

(iv) Books VIII and IX—यहाँ पर मनुष्यो तथा राज्य के विकृत हो जाने पर जो अव्यवस्था उत्पन्न होती है, उस पर प्लेटो ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। साथ ही निरकुशता एव आनन्द की प्रवृत्ति का भी इन पृष्ठो मे वर्णन एव विवेचन है।

(v) Book X के दो भाग हैं। एक मे दर्शन से कला का सम्बन्ध बतलाया गया है और दूसरे भाग मे आत्मा की क्षमता पर विचार-विमर्श मिलता है।

'रिपब्लिक' का उद्देश्य

'रिपब्लिक' की रचना करते समय प्लेटो के कुछ उद्देश्य थे। वह इस महान् ग्रन्थ की रचना एक निश्चित एव व्यावहारिक उद्देश्य को सामने रख कर करना चाहता था। सोफिस्टों द्वारा प्रतिपादित आत्म-तृप्ति के सिद्धान्त को जिसे उस युग के भ्रष्टाचारी जनतन्त्री राज्यों ने अपना रखा था झुठलाने और खण्डित करने की उसकी दार्शनिक आकाक्षा थी। सोफिस्टों के उच्छृङ्खल व्यक्तिवाद का विरोध कर राज्य के जैविक-स्वरूप (Organic Nature) को प्रतिष्ठित करना प्लेटो का मन्तव्य था। वह यह बतलाना चाहता है कि राज्य और व्यक्ति के हितो मे कोई अन्तर्विरोध नही है तथा न्याय-प्रिय एव बुद्धिमान शासक वही है जो जन-कल्याण के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने मे उच्च कोटि के आनन्द की अनुभूति करता हो। हिंसात्मक व्यक्तिवादी की प्रवृत्ति तथा अज्ञान से उद्भूत गृहवाद के विरुद्ध प्लेटो इस ग्रन्थ द्वारा प्रबल विरोध को सगठित करना चाहता था। बार्कर के शब्दों मे, "प्लेटो के राजनीतिक दर्शन का लक्ष्य एक ऐसे शासनाधिकार की स्थापना करना था जिसमे

1 *Nettleship*: Lectures on the Republic of Plato.

न तो अमीर गरीब पर और न गरीब अमीर पर शासन कर सकें वल्कि शासक ऐसे व्यक्ति हों जो दोनो से ऊपर हो अथवा कम से कम वे दोनों ही शासन मे भागीदार हों।"

प्लेटो पर सबसे गम्भीर प्रभाव सुकरात की मृत्यु का था जिसके कारण ही उसे अपने समाज और उसकी राजनीतिक स्थिति मे अन्तर्विरोधो का अहसास हुआ। जो समाज एक सत्य-भाषी दार्शनिक के साथ न्याय न कर सकता हो, जहाँ सद्गुण को ज्ञान न मानकर राज्य की दार्शनिक विभूति को तुच्छ समझा जाता हो, उस समाज के प्रति प्लेटो के हृदय मे श्रद्धा नही रही। समाज की इन बुरी व्यवस्थाओ को दूर करने की दृष्टि से ही उसने अपनी अकादमी (Academy) खोली और एक ऐसे ग्रन्थ की रचना की जिसमे 'सद्गुण ही ज्ञान है' (Virtue is Knowledge) का आधार लेकर उन सब तथ्यो की पुष्टि की गई जिन्हे तत्कालीन यूनानी-राज्य और समाज हीनता तथा निरादर की भावना से देखता था।

इस ग्रन्थ की रचना मे प्लेटो का एक उद्देश्य यह भी था कि वह तत्कालीन ग्रीक-प्रजातन्त्र मे प्रचलित 'लॉटरी द्वारा नियुक्ति की व्यवस्था' को उन्मूलित करना चाहता था। इस व्यवस्था के अनुसार "प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक पद के लिए योग्य समझा जाता था तथा विभिन्न पदो पर नियुक्तियाँ लॉटरियो द्वारा की जाती थीं।" क्षमता और कुशलता के लिए घातक इस प्रथा ने एथेंस के तत्कालीन जनतन्त्र को अयोग्य व्यक्तियों के हाथो मे कठपुतली बना दिया था। अतः प्लेटो ने एक ऐसे शासन-तन्त्र का निर्माण करने की चेष्टा की, जिसमे 'स्वार्थपरता' के स्थान पर सर्वोदय का भाव हो, पारस्परिक फूट के स्थान पर एकता हो और अनुभवहीन शासको की अकुशलता की जगह ज्ञान आधारित क्षमता और योग्यता का शासन हो। इसी राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने अपनी 'रिपब्लिक' लिखी जिसमे दो साधनो का अनुमोदन किया गया—(1) विशेषीकरण (Specialisation) और (2) एकीकरण (Unification)। 'रिपब्लिक' के 'आदर्श राज्य' मे विशेषीकरण लाने की दृष्टि से प्लेटो ने राज्य की जनसख्या को तीन वर्गों मे विभाजित किया है—(i) आर्थिक वर्ग, (ii) सैनिक वर्ग, और (iii) शासक वर्ग। इसमे से प्रत्येक-वर्ग को अपने-अपने निर्धारित कार्य मे तत्पर रहने की स्थिति को उसने न्याय बतलाया है। अर्नेस्ट बार्कर ने 'रिपब्लिक' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि समझाते हुए लिखा है कि प्लेटो के एथेन्स मे प्रत्यक्ष जनतन्त्र के दो आत्मघाती दुर्गुण अपनी चरमता पर पहुँच चुके थे। एक को उसने ऐसा अज्ञान बतलाया है जो झूठे ज्ञान के वेश मे सर्वव्यापी हो चुका था (Ignorance masquarading in the guise of knowledge)। दूसरी दुर्बलता वह गुटवन्दी की सकीर्णता थी जिसने नगर राज्यो का विभाजन कर उन्हें गृहयुद्ध की स्थिति में ला दिया था (Factionalism dividing City States)। इन दोनो दुर्गुणो का निदान केवल दो ही हो सकते थे—पहला सच्चा ज्ञान का शासन और दूसरे राज्य की जैविक एकता का विकास। राजनीतिक दर्शन की भाषा में इन्हें प्लेटोनिक 'जस्टिस' और 'रिजीम ऑफ फिलॉसफी' कहा जाता है। न्याय के माध्यम

से जिस त्रिकोणात्मक राज्य समाज का चित्र प्लेटो अंकित कर रहा है वह एक ऐसी स्थिति है जिसमें हर व्यक्ति अपने-अपने कार्य का विशेषज्ञ है, केवल एक ही कार्य पर अपने को केन्द्रित करता है और तीनों वर्गों को एकतापूर्ण समन्वय एवं एकता का उद्देश्य दार्शनिक राजा के सशक्त शासन से पूरा किया जाता है। राज्य मे जिसकी वैसी ही स्थिति है जैसी कि मस्तिष्क की शरीर मे। न्याय का दर्शन और फिलासफर किंग की अवतारणा तत्कालीन यूनान के अज्ञानी समाज और उसमें व्यक्त विघटनवाद के प्रभावी निदान के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि प्लेटो का अपनी 'रिपब्लिक' के प्रणयन मे सारभूत उद्देश्य यह था कि वह तत्कालीन राज-व्यवस्था एवं समाज में व्याप्त जगली स्वार्थपरता, वर्ग-संघर्ष तथा अज्ञान-जनित कुशासन जैसे रोगों का उपचार करना चाहता था। "प्लेटो को यह आशा थी कि राजनीतिक शक्ति को नि.स्वार्थ एव जन-हित की भावना से पूर्ण ज्ञानी और त्यागी व्यक्तियों के हाथों मे सौंपने से ही वर्ग-संघर्ष तथा राजनीतिक स्वार्थपरता के रोग दूर हो सकेंगे। उसका यही विचार उसकी दार्शनिक राजाओं के शासन की प्रसिद्ध अवधारणा में अभिव्यक्त हुआ।"

'रिपब्लिक' में न्याय सिद्धान्त
(Theory of Justice in 'Republic')

न्याय की व्याख्या और सम्प्राप्ति 'रिपब्लिक' का केन्द्रीय प्रश्न है। 'रिपब्लिक' ग्रन्थ का मूल शीर्षक था Dikaiosune जिसे अनुवाद की दृष्टि से 'न्याय प्रबन्ध' अथवा 'न्याय से सम्बन्धित' (Concerning Justice) ग्रन्थ कहना 'रिपब्लिक' की भावना के अधिक समीप होगा।

प्लेटो के आदर्श 'रिपब्लिक' की स्थापना तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण समाज मे सुव्यवस्था, सगठन और एकता हो। प्लेटो एक ऐसे मनोविज्ञान आधारित राजनीतिक सिद्धान्त की आवश्यकता अनुभव करता है जो मनुष्यों मे कर्त्तव्य-परायणता की भावना भर सके, समाज को सगठित बनाए रख सके और जिसका अनुसरण कर सभी व्यक्ति अपने पृथक्-पृथक् कार्यों को करते हुए भी एकता के सूत्र मे गुंथे रहें और दूसरों को हानि पहुँचाए बिना अपने-अपने व्यक्तित्व के विकास की पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त कर सकें। प्लेटो के मत में ऐसा सिद्धान्त है 'न्याय'। उसके अनुसार न्याय-सिद्धान्त एक ऐसी औषधि है जो समाज से अशान्ति, अव्यवस्था, कर्त्तव्य-विमुखता तथा बुद्धिहीनता आदि व्याधियों को जो एक आदर्श समाज के स्वास्थ्य के लिए घातक हैं दूर कर सकती है। प्लेटो चाहता था कि हर व्यक्ति सन्तोषपूर्वक अपना-अपना निर्दिष्ट कार्य करता रहे। उसकी दृष्टि मे यही सामाजिक न्याय है जिसे दूसरे शब्दों में समाज-जीवन का सच्चा सिद्धान्त कह सकते हैं। प्लेटो की 'रिपब्लिक' का प्रयोजन न्याय के उन सभी झूठे विचारों को जिन्हें जन-साधारण के अज्ञान के कारण सोफिस्टों की पिछली शिक्षा ने कपटपूर्वक फैला रखा था तिरोहित कर सच्ची न्याय-धारणा को प्रतिष्ठित करना था। "प्लेटो चाहे सोफिस्टों के सिद्धान्त से लोहा ले रहा हो अथवा समाज की प्रचलित प्रथा के सुधार के लिए प्रयत्नशील

हो, उसके चिन्तन की केवल एक ही धुरी है और उसके विवेचन का केवल एक ही मन्त्र है और वह है न्याय।"[1]

न्याय की परिभाषा देते हुए प्लेटो ने लिखा है कि—"समाज में प्रत्येक व्यक्ति को वह उपलब्ध होना चाहिए जो उसको प्राप्य है।" सेबाइन (Sabine) के शब्दों में, "व्यक्ति के लिए प्राप्य क्या है, इससे उसका अभिप्राय यही है कि व्यक्ति को उसकी योग्यता, क्षमता एवं शिक्षा-दीक्षा के अनुरूप व्यवहार का पात्र समझा जाए। इसमें यह भावना भी अन्तर्निहित है कि योग्यता के अनुसार व्यक्ति को जो भी कार्य सौंपे जाएँगे उन्हें वह पूरी ईमानदारी के साथ सम्पादित कर सकेगा।"[2] पाठक के लिए न्याय की यह परिभाषा विचित्र है, चूँकि किसी भी दृष्टि से यह एक न्यायाधीश अथवा वकील की परिभाषा से मेल नहीं खाती। "आधुनिक पाठक की समझ में इसमें वह भाव आता ही नहीं जो लेटिन (Latin) के मूल शब्द Jus या अंग्रेजी के पर्यायवाची Right से प्रतिध्वनित होता है। इन दोनों शब्दों के अर्थ उन ऐच्छिक कार्यों की क्षमताएँ हैं जिनके प्रयोग में कानून एक रक्षक का कार्य करता है और राज्य-सत्ता उसे सशक्त बनाती है। प्लेटो की न्याय-सकल्पना में इस धारणा का अभाव स्पष्ट है। उसके विचार से न्याय का अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि सार्वजनिक शान्ति और व्यवस्था को बनाए रखने मात्र से 'समुचित' या सही स्थिति की प्राप्ति ही सामाजिक न्याय है। समाज की बाह्य व्यवस्था तो उस समरसता का जिससे राज्य निर्मित होता है, एक बहुत छोटा-सा अंश मात्र है। राज्य नागरिकों के लिए केवल स्वतन्त्रता और जीवन-रक्षा की व्यवस्था मात्र ही नहीं करता वरन् उन्हें सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों के विकास के वे सभी अवसर प्रदान करता है जो सभ्य जीवन की आवश्यकताओं और सुविधाओं की उपलब्धि के लिए पूर्व स्थितियाँ हैं। इस प्रकार के राज्य में अधिकार भी होते हैं और कर्त्तव्य भी। लेकिन, वे किसी अर्थ विशेष में व्यक्ति विशेषों को प्राप्त नहीं होते। उन्हें व्यक्तियों द्वारा निष्पादित कार्यों अथवा सेवाओं में ही निहित देखा जा सकता है। प्लेटो के इस विवेचन का आधार यह है कि राज्य पारस्परिक आवश्यकताओं और अन्तर्निर्भरताओं का आधार लेकर बना है। यह विश्लेषण सेवाओं पर अधिक बल देता है, शक्तियों पर नहीं। शासक भी इसके अपवाद नहीं हैं और उन्हें भी अपने ही आदेशानुसार विशेष प्रकार के कार्य करने चाहिए। बाद का रोमन दृष्टिकोण मजिस्ट्रेटों में सत्ता अथवा प्रभुत्व शक्ति निहित मानता है। प्लेटो या अन्य किसी भी यूनानी विचारक के राजदर्शन में ऐसा विचार नहीं मिलता। प्लेटो के राज्य सिद्धान्त की सामान्य रूपरेखा भी यही पूरी होती है। वह व्यवस्थित अध्ययन द्वारा 'अच्छाई' का ज्ञान प्राप्त करना एक वाञ्छनीयता मानता है और इसी एक सूत्र पर उसका समग्र राज दर्शन पूर्णतः आधारित है।"

1 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 299.
2 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 53.

रिपब्लिक का प्रारम्भ और अन्त न्याय के वास्तविक स्वरूप की मीमांसा से होता है—उसके सवादो मे भाग लेने वाले पात्र प्लेटो के दो बड़े भाई ग्लाकों (Glaucon) और अदेमातस (Adeimantus) हैं। सेफेलस (Cephalus) और उसका बेटा पॉलीमार्कस् (Polymarchus), लिसियास, कॅल्सीडोन (Chalchedon) अलकारशास्त्री थ्रेसीमेक्स (Thrasymachus) तथा सुकरात राज्य दर्शन के गूढ़ विषयो पर एक परिचर्चा कर रहे हैं। सेफेलस् ने अपने इन सभी साथियों को अपने घर पर बेंदीस देवी उत्सव की रात्रि पर सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया है। जब ये मित्र उसके घर पहुँचते हैं तो सेफेलस् इनका स्वागत करता है। अपने विगत जीवन पर दृष्टिपात करते हुए वह महाकवि पिंडार के शब्दों को उद्धृत करते हुए कहता है कि—"जब कोई मनुष्य अपना जीवन न्याय और श्रद्धा के साथ व्यतीत करता है तो उसके हृदय को आह्लादित करने के लिए तथा वृद्ध-अवस्था मे उसे सहारा देने के लिए 'आशा' एक सगिनी की भाँति नित्य उसके साथ रहना चाहती है।" इस पर सुकरात एक प्रश्न करता है कि क्या यह सब न्यायपूर्ण है? और यही मौलिक प्रश्न 'रिपब्लिक' की विचार-भूमि बन, सत्य अन्वेषण के अभ्यास का आधार बनता है।

अपने न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए अपने पात्रों के सम्वादो के माध्यम से प्लेटो ने पहले तो उन मतों का खण्डन किया है जिनका तत्कालीन यूनान में युग-धर्म के रूप मे प्रचलन था। इस तर्क-युद्ध मे प्लेटो अपनी समकालीन न्याय मान्यताओं का खण्डन करता है। उसने अपने समकालीन जिन न्याय-सिद्धान्तो की धज्जियाँ उड़ाई हैं, उनमे से तीन उल्लेखनीय हैं—

1. न्याय का परम्परावादी अथवा सेफेलस का सिद्धान्त
   (Traditional Theory of Justice)
2. न्याय का उग्रवादी अथवा थ्रेसीमेकस का सिद्धान्त
   (Radical Theory of Justice)
3. न्याय का व्यवहारवादी अथवा ग्लाकों का सिद्धान्त
   (Pragmatist Theory of Justice)

(1) परम्परावादी सिद्धान्त (Traditional Theory of Justice)—'रिपब्लिक' के प्रथम अध्याय मे ही सेफेलस एवं उसका पुत्र पॉलीमार्कस न्याय के ऐतिहासिक तथा परम्परावादी सिद्धान्त का आशय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। सेफेलस् का मत है कि "अपने वक्तव्यो और कार्यों मे सच्चा होना तथा देवताओं और मनुष्य के प्रति अपने ऋण को चुकाना न्याय है।" इस युक्ति द्वारा विवाद की बात उठाते हुए सेफेलस अपने धार्मिक कार्य करने के लिए बाहर चला जाता है और उसका पुत्र पॉलीमार्कस न्याय के परम्परावादी सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करता है। यूनानी परम्पराओं को पवित्रता को समझाते हुए वह कहता है, "मित्रो के साथ भलाई तथा शत्रुओं के साथ बुराई करना ही सच्चा न्याय है।" न्याय एक ऐसी

कला है जो मित्रों का हित और शत्रुओ का अहित करने मे ही देखी और पहिचानी जा सकती है।

न्याय की इस परिभाषा को अपूर्ण एवं अशुद्ध सिद्ध करने के लिए सुकरात मच पर आता है। वह परम्परावादियो से पूछता है कि यदि एक अपराधी किसी शासक का मित्र हो और दूसरा अपराधी उसी शासक का शत्रु तो इस सिद्धान्त के अनुसार क्या उस शासक को दोनों अपराधियो के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का बर्ताव करना चाहिए ? यदि हाँ, तो यह न्याय न होकर अन्याय होगा। चूँकि यदि एक व्यक्ति के साथ एक व्यवहार न्याय-पूर्ण है तो दूसरे के साथ भी वही व्यवहार न्याय-पूर्ण होना चाहिए। न्याय की दृष्टि मे सभी समान होते हैं फिर शत्रु और मित्र में यह भेदभाव क्यो ? प्लेटो के सुकरात ने (जो 'रिपब्लिक' मे प्लेटो के विचारों का प्रवक्ता है) परम्परावादी न्याय सिद्धान्त का खण्डन करते वक्त इस सिद्धान्त के निम्नलिखित दोष बतलाए हैं—

(क) यदि न्याय भलाई और बुराई करने वाली एक कला है तो अन्य कलाओं की भाँति यह भी दो विरोधी प्रकार के कार्य कर सकती है। डॉक्टर अपनी चिकित्सा कला से रोगी को स्वस्थ तथा स्वस्थ व्यक्ति को रोगी बना सकता है। यह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर करता है कि वह अपनी इस चिकित्सा-कला का प्रयोग भलाई के लिए करता है अथवा बुराई के लिए। यदि न्याय को भी इसी तरह कला के रूप मे लिया जाए तो उसके स्वरूप और आत्मा की हत्या हो जाएगी। ऐसा करना स्वेच्छाचार होगा, जिसे न्याय नहीं माना जा सकता।

(ख) फिर न्याय को कला मानना अनुचित है चूँकि यह अनुभव द्वारा अर्जित नही किया जा सकता। अनुभव द्वारा न्याय का अर्जन इसलिए भी सम्भव नही है कि न्याय अल्प ज्ञान (Lesser Knowledge) का विषय न होकर वृहत्तर ज्ञान (Greater Knowledge) का विषय है। न्याय इसलिए भी कला नही है कि इसे स्वेच्छा से दो विरोधी दिशाओं मे से किसी एक दिशा मे प्रयोग नही किया जा सकता। न्याय कोई प्रविधि अथवा तकनीक (Technique) भी नही है यह तो व्यक्ति की आत्मा का गुण है, जिसे उसके मन का स्वभाव भी कहा जा सकता है।

(ग) मित्रो के हित और शत्रुओ के अहित की बात करना तो सरल है, किन्तु किसी मित्र अथवा शत्रु की पहिचान करना एक कठिन कार्य है। अनेक व्यक्ति ऊपर से मित्रता का स्वाँग रचते रहते हैं किन्तु हृदय से वे शत्रु हो सकते हैं। क्या ऐसे व्यक्तियो के साथ भलाई का व्यवहार किया जाना उचित होगा ? यदि हाँ, तो ऐसा करना भलाई करने वाले के लिए अहितकर होगा; और यदि नही, तो न्याय मित्रो के हित और शत्रुओ के अहित का सिद्धान्त नही हो सकता।

(घ) किसी भी व्यक्ति की बुराई करने से वह बुरा व्यक्ति और अधिक बुरा हो जाएगा और इस प्रकार किसी भी व्यक्ति की स्थिति को पहले की अपेक्षा अधिक खराब करना सच्चे न्याय का उद्देश्य नही हो सकता।

(च) मित्रों के हित और शत्रुओं के अहित का विचार व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। यह विचार दो व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध को स्पष्ट करता है और व्यक्ति को केन्द्र मानते हुए उसके हित अथवा अहित का प्रश्न उठाता है; किन्तु सच्चा न्याय तो सदैव हितसाधक और कल्याणकारक ही होता है। न्याय तो एक सामाजिक विचार है जिसमें समष्टि की हित चिन्तना ही सर्व-प्रधान है और होनी भी चाहिए।

(छ) परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार न्याय देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है किन्तु सच्चे न्याय को तो सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होना चाहिए। देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार अपराध की मान्यताएँ बदल सकती हैं, दण्ड-विधान भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परन्तु न्याय सिद्धान्त को तो सदैव और सर्वत्र समान ही होना चाहिए।

उपरोक्त विरोधाभासों को दर्शाते हुए प्लेटो सुकरात के माध्यम से न्याय के परम्परावादी सिद्धान्त को अमान्य ठहराता है। उसकी सारी तर्कना पॉलीमार्कस की अवधारणा की अबौद्धिकता प्रकट करती है। वार्तालाप द्वारा सुकरात यह सिद्ध करने की चेष्टा कर रहा है कि *परम्परागत धारणाएँ "एक सीमा तक और आंशिक रूप से* तो उपयोगी हो सकती हैं और यदि हम उनकी गहराइयों में जाएँ तो कठिनाइयाँ और परस्पर में विरोधी तत्त्व उभरकर हमारे सामने स्पष्ट होते हैं।" प्लेटो यह कहकर अपनी तर्क-शृंखला का अन्त करता है कि न्याय की परम्परागत परिभाषा पेरियांडर[1] जैसे किसी अत्याचारी शासक अथवा ज्रेरेक्जस[2] जैसे किसी ऐसे निरंकुश सम्राट् द्वारा दी गई होगी—'जिसे अपनी शक्ति का बड़ा गर्व' रहा होगा।[3] प्लेटो की दृष्टि में न्याय कोई कला नहीं है अपितु एक ऐसी क्षमता अथवा अच्छाई है जो मानव की विशिष्ट क्षमताओं पर अंकुश लगा कर उसे ऐसे कार्य करने से रोकता है जिन्हें करने की उसमें इच्छा भी होती है और योग्यता भी।[4]

(2) उग्रवादी सिद्धान्त (Radical Theory of Justice)—जिस समय पॉलिमार्कस और सुकरात के मध्य न्याय पर संवाद चल रहा था, थ्रेसीमेकस नामक सोफिस्ट बीच में ही एक नया प्रश्न उठाता है। वह पाँचवीं शताब्दी की एक नई आलोचनात्मक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। प्लेटो ने उसे एक उग्रवादी सोफिस्ट (Radical) के रूप में प्रस्तुत किया है। एक सोफिस्टवादी ढंग से

1 पेरियांडर यूनान का एक सन्त था जिसने 625 ई. पू. से 585 ई पू. तक कोरिन्थ पर आरम्भ में उदारतापूर्ण और बाद में निरंकुश, अन्यायपूर्ण और बर्बर शासन किया।
2 ज्रेरेक्स 485 ई. पू. से 465 ई पू तक फारस का एक शक्तिशाली सम्राट था जिसने मिस्र आदि को अधीन करने के बाद यूनान पर भयंकर हमला किया। प्रारम्भ में उसे सफलता मिली किन्तु बाद में वह पराजित हुआ।
3 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 231.
4 फोस्टर : पूर्वोक्त, पृ. 42.

थ्रेसीमेकस सुकरात पर केवल "शाब्दिक आडम्बर और वाक्-जाल का सहारा लेने का आरोप लगाता है और सुनिश्चित एवं स्पष्ट तर्क देने का आग्रह करता है।" उसकी न्याय सम्बन्धी धारणा उसी के शब्दो मे इस प्रकार है—

"विभिन्न प्रकार की सरकारें जैसे जनतन्त्री, कुलीनतन्त्री तथा आततायीतन्त्री ऐसे कानून बनाती हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य केवल उनकी अपनी स्वार्थ-सिद्धि होता है। इन कानूनो को, जिनका पालन वे अपनी प्रजा द्वारा करवाती हैं, वे न्याय की संज्ञा देती हैं और जो व्यक्ति उनकी अवहेलना करते हैं उन्हे अन्यायी और कानून के शत्रु कह कर दण्डित किया जाता है। मेरे ऐसा कहने का अर्थ केवल यही है कि सभी राज्यों मे न्याय का केवल एक ही सिद्धान्त है और वह है सरकार का हित। चूंकि सरकार के हाथ मे शक्ति होती है इसलिए यह कहना उचित अनुचित नही होगा कि न्याय सिद्धान्त सर्वत्र एक ही है और वह है सबल का हित और शक्तिशाली का स्वार्थ।"

अपनी उपरोक्त परिभाषा मे थ्रेसीमेकस ने न्याय सिद्धान्त के बारे मे दो प्रस्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं—

(i) उसने पहली बात यह रखी कि न्याय शक्तिशाली का लाभ अथवा स्वार्थ है (It is the interest of the stronger)। इस अवधारणा के अनुसार सत्य और शक्ति एक ही बात हुई। शक्तिशाली व्यक्ति अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए जो भी कानून बनाता है वही न्याय है। दूसरे शब्दो मे बाहुबल उचित है। थ्रेसीमेकस बतलाता है कि व्यवहार मे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' और 'राजा करे सो न्याय' का सिद्धान्त सदैव चलता रहा है। सभी प्रकार की शासन-व्यवस्थाएँ अपने-अपने कानून अपने शासको के हित मे बनाती रही हैं। शासक भी अपने स्वार्थों की रक्षा ही सबसे पहले और सदैव करते हैं। प्रजा को उनके द्वारा निर्मित कानूनो का अनुसरण करना पड़ता है। जो उनका उल्लंघन करते हैं वे अपराधी घोषित किए जाते हैं और दण्डित होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक राज्य मे न्याय शक्तिशाली का हित ही लगता है। शासक-गण जो सबसे अधिक बलवान होते हैं, जो भी व्यवस्था देते हैं उसे न्याय कहा जाता रहा है। थ्रेसीमेकस का यह सिद्धान्त कुछ अंशों मे हॉब्स (Hobbes) और स्पिनोजा (Spinoza) द्वारा प्रकट की गई न्याय सम्बन्धी अवधारणाओं से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। एक सीमा तक कार्ल-मार्क्स भी इसे पूंजीवादी न्याय मानने को तैयार होगा।

(ii) थ्रेसीमेकस के कथन का दूसरा निहितार्थ यह है कि अन्याय करना न्याय करने से अधिक अच्छा है (Injustice is better than Justice)। प्रत्येक व्यक्ति अपना हित चाहता है। अतः न्याय का अर्थ यदि केवल शक्तिशाली व्यक्ति की इच्छा या लाभ मात्र माना जाए तो व्यक्ति को सुख नही मिल सकेगा। इसके स्थान पर जो अन्यायी होगा वह अधिक सुखी रहेगा। इस स्थिति मे अन्याय अधिक शक्ति तथा प्रसन्नता देने वाला बन जाता है। बुद्धिमान व्यक्ति अपने हित मे कार्य करेगा दूसरो के हित मे नही, इसलिए वह अन्यायी हो जाएगा। फलतः अन्यायी

व्यक्ति न्यायी व्यक्ति से अधिक अच्छा हुआ। लौकिक अथवा व्यावहारिक उदाहरणों से अपने मत को पुष्ट करता हुआ थ्रेसीमेक्स कहता है कि "पारस्परिक व्यवहार का ही उदाहरण ले लो। जब कभी न्यायी और अन्यायी व्यक्ति किसी व्यापार में साझा करेंगे तो साझे की समाप्ति पर तुम कभी ऐसा नहीं देखोगे कि न्यायी मनुष्य को अन्यायी मनुष्य से अधिक धन मिला हो। बल्कि न्यायी व्यक्ति को सदा कम ही मिला है। फिर राज्य से इन व्यक्तियों का जो सम्बन्ध है उसे देखो। जहाँ प्रत्यक्ष कर देने का प्रश्न आता है वहाँ इसी तरह सम्पत्ति पर न्यायी मनुष्य अधिक कर देता है और अन्यायी कम। जब राज्य की ओर से धन वितरण होता है तो अन्यायी आगे बढ़कर हाथ मारता है और न्यायी के पल्ले कुछ नहीं पड़ता।" सरकारी पदों पर आरूढ़ होने वाले अन्यायी (Unjust) व्यक्ति ही अधिक लाभ उठाते हैं और न्यायी (Just) व्यक्ति न केवल स्वयं ही लाभ नहीं उठाते, अपितु वे अपने मित्रों और परिचितों तक को हानि पहुँचाते हैं। अपने अन्यायपूर्ण आचरण द्वारा वे उन्हें लाभान्वित नहीं करते। छोटे-छोटे पैमाने पर चोरी, डकैती, तथा देव मन्दिरों की लूट करने वाले चोर तथा डाकू कहलाते हैं। राज्य द्वारा पकड़े जाने पर वे दण्डित होते हैं किन्तु जब कोई राजा किसी अन्य देश के नागरिकों की सम्पत्ति हरण कर उसे अपनी बना लेता है तो वह महान् विजेता और प्रतापी और पुण्यवान नरेश कहलाता है; उसके शौर्य की गाथाएँ गाई जाती हैं। "अतः हे सुकरात पर्याप्त रूप से बड़े पैमाने पर किया गया अन्याय, न्याय की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली, स्वच्छन्द तथा अधिक अधिकारपूर्ण कार्य है।"[1]

थ्रेसीमेक्स के इन दोनों मतों को खण्डित कर, प्लेटो उन्हें निरस्त करता है। पहली प्रस्थापना का खण्डन करते हुए प्लेटो मानता है कि शासन यदि एक कला है तो किसी भी कला का उद्देश्य अपनी पदार्थ-वस्तु को सम्पूर्णता प्रदान करना होना चाहिए। कला पदार्थ के दोषों को दूर करती है न कि कलाकार की स्वार्थ-सिद्धि। सुकरात के मुख से इस सम्बन्ध में प्लेटो ने अनेक उदाहरण दिलवाए हैं। डॉक्टर मरीज का इलाज अपने लिए नहीं बल्कि मरीज के रोगों को दूर कर उसे स्वस्थ बनाने के लिए करता है। सच्चा शिक्षक अपने विद्यार्थी के चरित्र के दोषों को दूर कर उसे विद्वान् और बुद्धिमान् बनाता है, जो उसका अपना हित साधन नहीं कहा जा सकता। आदर्श डॉक्टर और आदर्श शिक्षक केवल वे ही व्यक्ति हो सकते हैं जो रोगी एवं शिष्य के कल्याण को ध्यान में रख सकें। इसी प्रकार कोई भी शासन, शासक की स्वार्थ-सिद्धि का साधन मात्र नहीं है। वह जनता के कल्याण-कार्य करने के लिए है। शासन एक उच्च कला है और शासक एक विशुद्ध कलाकार की भाँति अपने क्षुद्र-स्वार्थों के पोषण के लिए न होकर जन-कल्याण के लिए जीता है। सच्चे शासक अपने स्वार्थ न देखकर जन-सेवा में लीन रहते हैं। अतः यह तर्क कि न्याय शक्तिशाली का लाभ या हित है, उनका मांस-भक्षण नहीं। इसी प्रकार एक शासक

1 *Conford:* The Republic, p. 24–25.

व्यवहारवादी मत के अनुसार न्याय का जन्म शक्तिशाली व्यक्तियों की स्वार्थी आकांक्षाओं से दुर्बलों की रक्षा करने के लिए हुआ अतः न्याय एक कृत्रिम-वस्तु है और वह भय की सतान है। कानून और न्याय दोनों ही अप्राकृतिक हैं क्योंकि वे शक्तिशाली व्यक्तियों के स्वाभाविक हितों के विरोध में होते हैं और दुर्बल व्यक्तियों के हितों का समर्थन करते हैं। स्वयं ग्लाकों के शब्दों में, "आम लोगों की राय यह है कि न्याय वास्तविक अच्छाई के रूप में कभी भी स्वीकृत और पसन्द नहीं किया जा सकता, बल्कि वह एक ऐसी वस्तु माना जाता है जिसकी स्वीकृति अन्याय करने की अक्षमता के कारण उत्पन्न होती है। कोई भी ऐसा व्यक्ति जो अन्याय करने की सामर्थ्य रखता है और पुरुष कहलाने योग्य है वह कदापि किसी व्यक्ति के साथ अन्याय न करने और उसे न सहने का समझौता नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो समझ लो कि वह पागल है।" इस तरह ग्लाकों निर्बल व्यक्ति को न्याय सिद्धान्त को जन्म देने वाला मानता है। वह इसका आधार शक्तिशाली की इच्छा न बतला कर दुर्बल व्यक्तियों की भय-भावना मानता है। *थ्रेसीमेक्स का यह विचार है कि "न्याय बलवान का स्वार्थ है" ग्लाकों को अमान्य* है। वह इसे दूसरे रूप से प्रस्तुत करता है। व्यवहारवादी न्याय बलहीन के लिए एक आवश्यक स्थिति है। इन दोनों विचारधाराओं के मध्य जो अन्तर है उसे स्पष्ट करते हुए *बार्कर* ने लिखा है—"*थ्रेसीमेक्स न्याय को बल एवं शक्ति पर* आधारित शक्तिशाली व्यक्तियों का हित बतलाता है। ग्लाकों उसे भय की भावना में स्थापित कर दुर्बलों के लाभ के लिए एक आवश्यक स्थिति मानता है।" लेकिन एक बिन्दु जिस पर थ्रेसीमेक्स और ग्लाकों दोनों सहमत हैं, वह यह है कि "न्याय कृत्रिम है, परम्परागत है और समयानुसार आवश्यकता विशेष की पूर्ति के लिए उत्पन्न हुआ है। यह अपने-आप में कोई नित्य या शाश्वत *नैतिक सिद्धान्त* नहीं हो सकता।"

प्लेटो न्याय के व्यवहारवादी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। वह कानून और न्याय को समझौते पर आधारित किसी भी प्रकार की कोई बाह्य वस्तु नहीं मानता। उसके अनुसार न्याय किसी अप्राकृतिक, कृत्रिम या बाह्य-शक्ति द्वारा समाज पर लादी गई कोई व्यवस्था मात्र नहीं है। न्याय का जन्म भय के कारण नहीं हो सकता। वह तो व्यक्ति की अन्तर-आत्मा की एक ऐसी आवाज है जो सबल और दुर्बल दोनों के ही हित में है। किसी भी समाज में न्याय का अनुपालन किसी भय या पाशविक शक्ति के कारण न होकर मनुष्य के स्वभाव के अनुरूप होता है। सर्व-सामान्य के लिए होता है, किसी वर्ग-विशेष के लिए नहीं।

प्लेटो का मत है कि न्याय मानव-आत्मा का एक आन्तरिक गुण है। सनातन काल से यह आत्मा का धर्म होने के कारण एक ऐसी आन्तरिक-वस्तु है जिसे समझने के लिये मनुष्य को अपनी सहज प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है। मानव प्रकृति अपने आप में बड़ी जटिल है जिसके सूक्ष्म और विराट् दोनों ही स्वरूप व्यक्ति तथा राज्य दोनों के स्तर पर देखे जा सकते हैं। न्याय को उसके यथार्थ रूप में

जानने के लिए उसे उसके विराट् रूप मे ढूँढा जा सकता है किन्तु न्याय का यह स्वरूप किसी वास्तविक ऐतिहासिक राज्य का न होकर प्लेटो के आदर्श राज्य का है।

इस प्रकार प्लेटो अपनी 'रिपब्लिक' मे न्याय सम्बन्धी परम्परावादी, उग्रवादी एवं व्यवहारवादी—तीनो सिद्धान्तो का बडे तार्किक ढग से खण्डन करता है। प्लेटो के अनुसार न्याय के ये उपरोक्त तीनो ही सिद्धान्त गलत हैं। अतः प्रश्न यह उठता है कि—"सही न्याय क्या है ?" और सुकरात इसे समझाता हुआ 'रिपब्लिक' का मूल आधार स्पष्ट करता है।

'रिपब्लिक' मे न्याय-सिद्धान्त का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हुआ है। प्लेटो का विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज का अधिकतम हित साधन कर सकता है। उसका न्याय सिद्धान्त यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य के ढूंढने और उसकी अनुपालना मे अपने सर्वस्व को लगा देना चाहिए। साथ ही दूसरो के कार्यों मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप भी नही करना चाहिए। सुकरात के शब्दो मे, "न्याय प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे रहता है और यदि वह अपने कर्त्तव्य को उचित ढग से कहता है तो उसका आचरण स्वय उसकी न्याय-प्रियता का परिचायक है।"[1] प्लेटो की न्याय-भावना व्यक्ति की आन्तरिक इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र है। ई. एम. फोस्टर (E. M. Foster) के मत मे, "जिसे हम नैतिकता कहते हैं वही प्लेटो के लिए न्याय है।"[2] प्लेटो ने प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा मे तीन नैसर्गिक प्रवृत्तियो का निवास माना है—1. ज्ञान (Reason), 2. साहस (Spirit), और 3. भूख (Appetite)।

मनुष्य की आत्मा के ये तीनो तत्त्व अपने-अपने कार्य-क्षेत्रो की सीमाओं मे रहते हुये अपने-अपने कार्य सम्पादित करते रहते है जो मानव-व्यक्तित्व मे एकता की स्थापना करते हैं। यदि इन तीनो तत्त्वो को किसी एक व्यक्ति की आत्मा मे समन्वित किया जा सके तो वह व्यक्ति-न्यायी बन जायेगा। जिन व्यक्तियो मे ज्ञान की प्रधानता होती है, वे शासन-कार्य का सचालन कुशलतापूर्वक कर सकते हैं। इसी प्रकार जिन व्यक्तियो मे भूख या क्षुधा की प्रधानता रही है वे उत्पादन कार्य अच्छे ढग और सरलता से कर सकते हैं। यदि दार्शनिक-शासक अपना कार्य निष्पक्ष ढग से सम्पादित कर सके तो सैनिक लोग भी युद्ध-क्षेत्र मे उत्साहित होकर आत्म-त्याग के लिये तैयार रह सकेंगे। इसी प्रकार उत्पादक वर्ग द्वारा कठोर श्रम करने पर यदि उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन अधिक हो तो समाज मे सतुलन और समन्वय जन्म लेगा। यही आदर्श राज्य की स्थापना है। प्लेटो की मान्यता है कि जब उत्पादको, सैनिको एवं शासको के तीनो वर्ग सुचारु रूप से अपना-अपना कार्य करें तो एक दूसरे के कार्यों मे हस्तक्षेप नहीं होगा और सम्पूर्ण समाज मे

न्याय का स्थापना हो सकेगा। वह राज्य को व्यक्ति का विस्तार मानता है और इस कारण व्यक्तिगत न्याय और सामाजिक न्याय को दो भिन्न-भिन्न स्थितियाँ न मान कर एक ही स्थिति के दो स्तर बतलाता है। 'रिपब्लिक' की अवतारणा राज्य में इसी न्याय को ढूँढने का प्रयत्न है।

'रिपब्लिक' का सुकरात न्याय की प्रकृति तथा उसके निवास पर अन्तिम विवेचना प्रस्तुत करता है। नगर-राज्यों की सामाजिक एवं राजनीतिक बुराइयों को दूर करने के लिए यह न्याय को एक प्रभावशाली साधन मानता है। उसके आदर्श-राज्य को उसके न्याय सिद्धान्त से पृथक् नहीं किया जा सकता। न्याय राज्य का एक आवश्यक गुण है जो अन्य अस्थाई गुणों से भिन्न है। प्लेटो के आदर्श-राज्य में यह राज्य-रूपी शरीर का आत्मा-रूपी तत्त्व है।

सामाजिक न्याय की चर्चा करते हुए प्लेटो ने लिखा है कि राज्य के अन्तर्गत शासक, रक्षक और कृषक—इन तीनों ही वर्गों को अपने-अपने कार्य बिना एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप किए करते रहना चाहिए क्योंकि एक व्यक्ति एक समय पर एक ही कार्य अच्छाई से और अधिक मात्रा में कर सकता है। ऐसा करने से नागरिकों की आवश्यकताएँ पूरी हो सकेंगी और राज्य भी आत्म-निर्भर बन सकेगा। वर्ग विभेद होते हुए भी उनमें विग्रह नहीं होगा और समरसता की स्थापना हो सकेगी। प्लेटो के इस न्याय-सिद्धान्त के सामाजिक स्वरूप को सेबाइन ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"न्याय वह बन्धन है जो मानव-समाज को एकता के सूत्र में बाँधता है। यह उन व्यक्तियों के पारस्परिक ताल-मेल का नाम है, जिनमें से प्रत्येक ने अपनी-अपनी शिक्षा-दीक्षा एवं प्रशिक्षण के अनुसार अपने-अपने कर्त्तव्यों को चुन लिया है और उनकी अनुपालना भी करते हैं। यह एक व्यक्तिगत सद्गुण है और सामाजिक सद्गुण भी, क्योंकि इसके द्वारा राज्य तथा इसके सदस्यों का समान रूप से हित-साधन होता है।"[1] बार्कर ने इसी विचार को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—"समाज में विभिन्न प्रकार के व्यक्ति होते हैं (जैसे शासक, सैनिक तथा उत्पादक) जो एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक समाज में संगठित होकर तथा स्वधर्म का पालन करते हुए समाज को एक ऐसी इकाई में गूँथते हैं जो अपने-आप में पूर्ण है। यह सम्पूर्ण मानव-मानस की उपज है जिससे उसी का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। सामाजिक जीवन के इसी मूलभूत सिद्धान्त को प्लेटो ने न्याय की संज्ञा दी है।"[2] स्पष्ट है कि प्लेटो के अनुसार जो व्यक्ति स्वधर्म का पालन करता है वह न्यायप्रिय है, और जिस समाज में विभिन्न वर्गों के सदस्य अपने-अपने कार्य अपनी-अपनी योग्यता एवं रुचि के अनुसार चुनते हैं और करते हैं, वह समाज या राज्य न्याय-परायण या न्यायनिष्ठ है।

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 5
2 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 27

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विशेषताएँ

प्लेटो की न्याय सम्बन्धी अवधारणा यूनानी राजनीतिक जीवन के सन्दर्भ में कुछ ऐसी विशेषताएँ रखती है, जो उसके स्वरूप एवं प्रकृति को स्पष्ट करती हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

1. प्लेटो का न्याय वाह्य जगत् की वस्तु न होकर आन्तरिक स्थिति है। वह किसी बाह्य-शक्ति द्वारा किसी पर आरोपित नहीं किया जाता, यह व्यक्ति की आत्मा की प्रतिध्वनि है जिसे आत्मा का एक विशेष-समन्वयात्मक गुण (Architectonic quality of the soul) कहा जा सकता है।

2. न्याय अहस्तक्षेप के सिद्धान्त (The Principle of Non-interference) से संयुक्त है। आदर्श-राज्य में प्रत्येक वर्ग के कार्य निर्धारित हैं और सामाजिक न्याय प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा करता है कि वह दूसरे सदस्य के कार्यों में हस्तक्षेप न करे।

3. प्लेटो का सामाजिक न्याय कार्य विशेषीकरण (Specialisation of Functions) का सिद्धान्त है। मनुष्य की तीन प्रवृत्तियों—ज्ञान, साहस एवं भूख के आधार पर प्लेटो ने समाज को शासक, सैनिक एवं उत्पादकों के तीन वर्गों में बाँटा है। इन तीनों वर्गों को विशिष्ट कार्य सौंपकर हुआ प्लेटो चाहता था कि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपना ही कार्य करे तथा उस कार्य विशेष में चरम-सीमा की दक्षता प्राप्त करके दिखलाए।

4. प्लेटो के आदर्श-राज्य में न्याय की स्थापना दार्शनिक शासन द्वारा की गई है। योग्य-शासन के लिए सैनिक एवं शासक-वर्ग में सम्पत्ति तथा नारी के साम्यवाद की व्यवस्था है जो निःस्वार्थ समाज-सेवा की परिस्थिति का निर्माण कर सकेगी।

5. प्लेटो का सामाजिक न्याय सामाजिक एकता का सिद्धान्त है। कार्यों और गुणों के आधार पर विभाजित समाज के तीनों वर्ग भिन्न होते हुए भ सामाजिक एकता के प्रतीक हैं। इन व्यक्तियों और वर्गों में एकता और सामञ्जस्य स्थापित करना ही सामाजिक न्याय की स्थिति है।

6. व्यक्ति एवं समाज दोनों ही के स्तर पर न्याय-गुण की सम्प्राप्ति के लिए प्लेटो एक व्यवस्थित शिक्षाक्रम प्रस्तुत करता है (जिसकी चर्चा उसने आदर्श-राज्य में की है) जिसके अभाव में आदर्श-शासक एवं आदर्श-राज्य की स्थापना सम्भव नहीं हो सकेगी।

7. प्लेटो का राज्य एक नैतिक इकाई है अतः उसका न्याय सिद्धान्त भी एक नैतिक मान्यता है, जो कानूनी नहीं है।

8. प्लेटो का न्याय मानव-जीवन की समग्रता को लेकर चलता है और वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का गुण और समाज की सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति का दूसरा नाम है।

9. व्यक्तिगत स्तर पर न्याय व्यक्ति की अपनी आत्मा में बुद्धि के शासन द्वारा समन्वय की स्थापना है। सामाजिक स्तर पर यह व्यक्तियों द्वारा अपने-अपने

कार्य करते हुए दूसरो के कार्यों मे बिना हस्तक्षेप किए सामाजिक एकता को बनाए रखना है।

इस तरह न्याय 'रिपब्लिक' का आधार-स्तम्भ है और प्लेटो की सारी तर्क-शृंखला का उद्देश्य न्याय के इसी स्वरूप को उद्घाटित करना है। प्लेटो ने सिद्धान्ततः जिस व्यक्तिवाद का विरोध किया था, न्याय की अवधारणा उसी का अन्तिम और चरम उत्तर है। इसके अनुसार व्यक्ति कोई अलग इकाई नही है वल्कि एक ऐसी व्यवस्था का अग है, जिसका उद्देश्य एकाकी आत्मा के सुखो की सिद्धि मात्र न होकर उस व्यवस्था मे एक नियत स्थान की पूर्ति करना अधिक है। न्याय राज्य के सद्गुणो का भी आधार है क्योंकि जब तक नागरिक अपने कर्त्तव्य-क्षेत्रो पर ध्यान केन्द्रित नही करेंगे, तब तक वे अपने सद्गुणो का परिचय भी नही दे सकेंगे। 'रिपब्लिक' मे न्याय को समाज-जीवन का सच्चा सिद्धान्त ठहराया गया है। इसीलिए 'रिपब्लिक' को 'न्याय मीमांसा का ग्रन्थ' भी कहा जा सकता है।

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की आलोचना

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को आदर्शवादी तथा राज्य के नैतिक सिद्धान्त को आत्मविरोधी तक कहा जाता है। बौद्धिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ सक्षेप मे इस प्रकार है—

1. बार्कर (Barker) के मतानुसार, इसका सबसे बडा दोष यह है कि "प्लेटो का न्याय वस्तुत न्याय ही नही है। वह मनुष्यो को अपने कर्त्तव्यो तक सीमित करने वाली एक भावना मात्र है। यह कोई ठोस कानून नहीं है।" आज के न्याय की परिभाषा मे न्याय कानून का पालन कराने वाला अस्त्र है, किन्तु प्लेटो का न्याय केवल एक कर्त्तव्य-भावना है। नैतिक-कर्त्तव्य तथा कानूनी-बाध्यता (Legal Obligation) को मिलाकर प्लेटो ने एक अस्पष्ट स्थिति उत्पन्न की है जो उसके न्याय को अव्यावहारिक बनाती है।

2. प्लेटो का न्याय निष्क्रिय है। न्याय के बल पर व्यक्ति अधिकारो के लिए सघर्ष करता आया है। किन्तु प्लेटो की 'रिपब्लिक' मे वह इतना आत्म-सयमी और मर्यादित कर दिया गया है कि वह सामाजिक उत्थान की प्रक्रिया मे कोई सक्रिय भूमिका नही निभा सकता।

3. प्लेटो के सामाजिक न्याय सिद्धान्त मे कर्त्तव्यो को प्रधानता दी गई है, व्यक्तिगत अधिकारो को नही। फलतः उसके न्याय सिद्धान्त मे व्यक्ति का केवल पाक्षिक स्वरूप ही स्पष्ट हो पाया है। न्याय की प्राप्ति के लिए राज्य मे व्यक्ति का विलीनीकरण हो गया है जो उसके विकास के लिए हानिप्रद है। सच्चे न्याय की अवधारणा मे कर्त्तव्य और अधिकार दोनो का समावेश होना चाहिए जिसकी प्लेटो उपेक्षा करता है।

4. प्लेटो के अनुसार न्याय का अर्थ है—प्रत्येक व्यक्ति का अपनी प्रकृतिदत्त योग्यतानुसार कार्य करना और उसका विशेषीकरण प्राप्त करना। लेकिन इस प्रकार के विशेषीकरण से व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक जीवन मे बाधा उत्पन्न हो जाएगी

और उसका सर्वांगीण विकास सम्भव नही हो सकेगा। समाज के तीन वर्गों को मानव व्यक्तित्व के तीन गुणों के आधार पर बनाना अतार्किक है। यह आवश्यक नहीं कि किसी व्यक्ति मे तीनों मे से कोई एक ही गुण अधिक हो। फिर एक ही व्यक्ति साहसी, बुद्धिमान् एवं क्षुधा-प्रधान भी हो सकता है। प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास तिहाई और एकांगी होगा। इसी प्रकार प्लेटो द्वारा किया गया श्रम-विभाजन भी गलत है। वह मनुष्य-स्वभाव की प्रवृत्तियो के अनुसार समाज को तीन वर्गों मे बाँटता है, जबकि इन प्रवृत्तियो के आधार पर यह वर्ग-विभाजन सम्भव नही हो सकता। ये सभी आन्तरिक तत्त्व हैं जो मनोविज्ञान की दृष्टि से अन्योन्याश्रित एवं अविभाज्य हैं।

5. प्रो० सेबाइन (Sabine) का आरोप है कि "प्लेटो की न्याय-कल्पना जड, आरम-परक, निष्क्रिय, अनैतिक, अव्यावहारिक एव अविश्वसनीय है।"[1] उन्हें प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त अनावश्यक सामान्य ज्ञान का सिद्धान्त लगता है। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति अथवा वर्ग किसी प्रवृत्ति विशेष से सचालित होता भी है तो उसे यह बतलाने की क्या आवश्यकता है कि वह केवल अपना एक ही कार्य करे।

सामाजिक न्याय का यह सिद्धान्त स्थायित्व की ओर झुका हुआ है जो व्यक्ति को उसके स्वभाव के साथ बाँध कर पारस्परिक सघर्ष मिटाने के स्थान पर अपनी न्याय-व्यवस्था से वर्ग-संघर्ष की स्थिति पैदा कर सकता है।

6 प्लेटो की रिपब्लिक मे कार्य विशेषीकरण एवं वर्ग-विभाजन की न्यायिक स्थिति जाति एवं वर्ण-व्यवस्था का-सा रूप धारण कर लेती है जो राज्य मे एकता के स्थान पर विषमता उत्पन्न करती है। एक ओर तो वह कहता है कि समाज का कोई भी वर्ग किसी दूसरे वर्ग के कार्यों मे हस्तक्षेप नही करेगा, किन्तु दूसरी ओर उसने अपने शासक वर्ग को राज्य पर निरकुश शासन करने का सम्पूर्ण अधिकार दिया है जो दूसरे वर्गों के कार्य मे घोर हस्तक्षेप कहा जा सकता है। शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए यदि शासक-वर्ग उत्पादक-वर्ग के कार्यों मे हस्तक्षेप करता है तो यह न्याय के सिद्धान्त के विरुद्ध होना चाहिए, किन्तु यदि वह ऐसा नही करता है तो आदर्श राज्य मे शासन व्यवस्था सुचारु रूप से नही चल सकेगी।

अपने न्याय सिद्धान्त की क्रियान्विति के लिए प्लेटो ने दार्शनिक शासको को इतनी अधिक शक्तियाँ प्रदान की हैं कि वे निरकुश शासक बन गए है। शक्ति के एकाधिकार अथवा सम्पूर्ण शक्ति की निरकुशता के कारण प्लेटो के विवेकी शासको के पथभ्रष्ट हो जाने की पूरी-पूरी सम्भावना बनती है जो अन्याय को जन्म देगी। इस सिद्धान्त मे केवल सैनिक एव शासक वर्ग को ही अति महत्त्व दिया गया है जिसके कारण जन-साधारण महत्वहीन हो गया है। यह प्रजातन्त्र के विरुद्ध है। न्याय का यह सिद्धान्त प्लेटो को फासीवादी और अधिनायकवादी बनाता है।

1 "Plato's conception of Justice is too static, subjective, demoralising, unpsychological and unrealisable." —*Sabine*

7. प्लेटो के अनुसार राज्य के शासक एवं सैनिक वर्ग पारिवारिक सुख तथा सम्पत्ति से वंचित कर दिए जाएँगे। उसका यह विचार मानव-स्वभाव एवं नारी-मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। सुख, सम्पत्ति एवं परिवार से विलग रहकर राज्य के संरक्षक अपने कार्यों की पूर्ति नहीं कर सकते।

प्लेटो की न्याय धारणाओं पर तत्कालीन एथेन्स की राजनीति का गम्भीर प्रभाव है। इस व्यवस्था मे तीन मुख्य दोष थे—(अ) पहला दोष तो यह था कि राज-काज को समझे बिना ही जन-साधारण उसमें भाग लेता था और हस्तक्षेप करता था। इस दोष को मिटाने का एकमात्र उपाय यही हो सकता था कि सभी को अपने काम का विशेषज्ञ बनाया जाए और प्लेटो का न्याय यही करने की कोशिश है। (ब) दूसरा दोष था—स्वार्थपरता और भ्रष्ट राजनीति। एथेन्सवासी अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि मे लगे थे। किसी को इस बात की चिन्ता नहीं थी कि राज्य पर उसका क्या दुष्प्रभाव पड़ने जा रहा है। प्लेटो ने व्यक्ति का राज्य मे विलय कर इस अन्याय से लड़ने का प्रयास किया है। (स) तीसरे, नागरिको का ऐसे दो प्रमुख गुटो मे विभाजन जो एक-दूसरे के विनाश पर तुले थे। इसके परिणामस्वरूप एथेन्स राज्य की एकता नष्ट प्रायः हो चुकी थी। अपने न्याय के सिद्धान्त के द्वारा प्लेटो एकता स्थापित करने की पूरी-पूरी कोशिश करता है। उसके अनुसार, "राज्य पर सभी वर्गों का अधिकार है और प्रत्येक वर्ग का राज्य के प्रति एक ऐसा आत्मारोपित कर्त्तव्य है जो उसकी एकता और अखण्डता को अक्षुण्ण रख सके।"

इस प्रकार प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त संयम, सन्तुलन, समन्वय और कर्त्तव्य-परायणता का पर्यायवाची है। व्यक्तिगत स्तर पर न्याय-परायण व्यक्ति वह है जो अपनी आत्मा मे बुद्धि, साहस और भूख के तीनों तत्त्वों को संयमित कर बुद्धि के तत्वावधान मे अपने व्यक्तित्व का समन्वय उपस्थित करता है। न्यायी व्यक्ति एक ऐसा सन्तुलित व्यक्तित्व है जो अपने व्यक्तित्व के विभिन्न गुणो और क्षमताओं की मर्यादा भली-भाँति पहचानता है। वह केवल गुणवान ही नहीं वरन् विभिन्न गुणो को यथास्थान और यथाअवसर प्रदर्शित करना भी जानता है। प्लेटो का यह व्यक्तिगत न्याय एक ऐसी शैल्पिक विशेषता (Architechtonic quality) है जो अन्य गुणों और क्षमताओ को एक दूसरे के साथ समन्वित कर दुर्गुण बनने से रोकती है। एक गुण या क्षमता विशेष (Departmental Excellence) यदि अति को प्राप्त कर ले तो वह व्यक्तित्व का दुर्गुण बन जाती है अतः बुद्धि के विवेकपूर्ण नियन्त्रण मे गुणो के मर्यादित रहने पर ही व्यक्तित्व की कोई भी क्षमता गुण की सीमा मे रह सकती है। आत्मा की यही सन्तुलनकारी एवं विवेक-सम्मत क्षमता वह न्याय है जो व्यक्ति को उसके कर्त्तव्यों अथवा दायित्वों के प्रति जागरूक बनाती है।

सामाजिक स्तर पर न्याय की उपलब्धि व्यक्तिगत स्तर के न्याय की विद्यमानता को अनिवार्य मान कर चलती है। प्लेटो यह मानता है कि व्यक्तिगत

न्याय द्वारा स्थापित समरसता एवं व्यक्तित्व-सन्तुलन के बावजूद भी राज्य के सभी नागरिक एक-सा जीवन नहीं जी सकते। उन्हें बुद्धि, साहस और मौलिक तत्वों की प्रधानता के आधार पर अपनी रुचि के अनुसार अपना कार्यक्षेत्र एवं व्यवसाय चुनना होगा। अपने इस रुच्यनुकूल कार्य को वे जानें, करें और करते समय यह न सोचें कि अन्य व्यक्ति भी इसी प्रकार का अपना कर्त्तव्य कर रहे हैं या नहीं। प्लेटो मानता है कि इस आत्मारोपित कर्त्तव्यपरायणता और व्यावसायिक-दक्षता से समाज के विभिन्न वर्गों में कार्य-कुशलता एवं सामाजिक एकता की स्थापना हो सकेगी। दूसरे शब्दों में, विशिष्ट कार्यों को विशेषज्ञों की योग्यता से करते हुए समाज में एकता की भावना का अभ्युदय और सम्प्राप्ति ही सामाजिक न्याय है।

कुल मिलाकर प्लेटो का न्याय तत्कालीन एथेन्स की प्रमुख समस्याओं का उत्तर है—ज्ञान, व्यावसायिक ज्ञान और विशेषज्ञों का विशिष्ट ज्ञान मिलकर अज्ञान को नष्ट कर सकेंगे और सामाजिक चेतना प्रदीप्त हो सकेगी। जब इस प्रकार के नागरिक अपना-अपना कार्य करते हुए ज्ञानी और दार्शनिक शासकों की अधीनता में रहेंगे तो समाज में जैविक एकता और कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना जागेगी, जिससे क्षुद्र, स्वार्थ और सकीर्णताएँ मिटेंगी तथा एक 'सामाजिक एकीकरण' (Social Integration) या भावनात्मक एकीकरण (Emotional Integration) सम्भव हो सकेगा। न्याय के द्वारा राज्य के एकीकरण का विचार आज के युग के जनतन्त्रात्मक राज्यों के लिए भी पर्याप्त रूप से उपयोगी है। अज्ञान को मिटाने के लिए जिस व्यावसायी विशेषीकरण का प्रश्न प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक में उठाया है, उसे आज के बड़े राज्य भी निरर्थक और गौण नहीं मान सकते। न्याय की यह कल्पना आज के विघटनशील और अज्ञानी शासकों द्वारा शासित जनतन्त्रों के लिए उतनी ही बड़ी चुनौती है जितनी कि सुकरात के हत्यारे एथेनियन जनतन्त्र के समक्ष रही होगी। मानव-प्रकृति की मूल दुर्बलता और मौलिक क्षमता, जिसके अध्ययन के आधार पर प्लेटो अपनी वर्गवादी व्यवस्था में समरसता, सन्तुलन एवं एकीकरण लाना चाहता है, जनतन्त्र के शाश्वत प्रश्नों पर प्रकाश डालती है। व्यक्ति और समाज दोनों के लिए न्याय के नाम पर जिस निष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता और राज्य-हित के लिए त्याग और बलिदान की अपेक्षा और आवश्यकता प्लेटो ने प्रतिपादित की है उसे सभी शासक और विचारक स्पृहणीय मानते हैं। यह दूसरी बात है कि इनकी उपलब्धि और खोज में अनुशासन को आवश्यकता बतलाते हुए प्लेटो स्वयं अपनी सीमाओं से बहुत दूर चला गया है।

इस प्रकार प्लेटो की न्याय-व्यवस्था व्यक्ति और समाज के स्तरों पर अज्ञान और स्वार्थ-आधारित सकीर्णताओं से निपटने का एक राजनीतिक अभ्यास है। व्यक्तिगत न्याय की अवधारणा द्वारा प्लेटो यह प्रतिपादित करना चाहता है कि सच्चे ज्ञान के आलोक से आलोकित व्यक्ति अपने कर्त्तव्य पालन में व्यर्थ की वाह्य बाधाओं को अवरोध नहीं मानेगा। ज्ञान, गुण होने के कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व में समरसता, सन्तुलन एवं जैविक एकता उत्पन्न होगी जिसके फलस्वरूप क्षुद्रताएँ

एवं संकीर्णताएँ विलुप्त होकर समग्रता एवं एकत्व का भाव जागेगा। इसी तरह सामाजिक न्याय समाज के व्यक्तित्व मे एकत्व की स्थापना है जो उसके त्रिवर्गात्मक स्वरूप की स्वीकृति एवं दार्शनिक शासक की अधीनता मे एकता लाने का प्रयास है। मानव व्यक्तित्व की भाँति आदर्श राज्य अपने विभिन्न वर्गों द्वारा विशेषीकृत कार्य करने की अपेक्षा करेगा और सामाजिक न्याय इस बहुवर्गी समाज को दार्शनिक राजा के नेतृत्व मे एकता मे बाँधे रहेगा। जिस तरह व्यक्ति के स्तर पर न्याय-व्यक्तित्व को समरसता रखना है, वह मस्तिष्क का आज्ञा-पालन है। इसी प्रकार सामाजिक न्याय अपने कर्त्तव्य-बोध और कर्त्तव्यपरायणता के द्वारा समाज मे दार्शनिक शासन के माध्यम से सामाजिक एकता की एक ऐसी उपलब्धि है जो गुणात्मक जीवन की साझेदारी को सम्भव बना सकेगी।

बार्कर ने लिखा है कि "न्याय रिपब्लिक की आधारशिला है और रिपब्लिक न्याय की मूल अवधारणा का संस्थागत स्वरूप है।" उक्त कथन यह स्थापित करता है कि प्लेटो ने न्याय की अवधारणा पहले विकसित की और जब वह उसे संस्था का रूप देने लगा तो रिपब्लिक बन गई। दूसरे शब्दो में यदि न्याय विचार है तो रिपब्लिक उसका संस्थागत स्वरूप। न्याय की अवतारणा एक आदर्श राज्य का बीज रूप है जो विकसित होकर दार्शनिक राजा की रिपब्लिक के रूप में मूर्तमान हुआ है। न्याय की अवधारणा एकीकृत शरीर की जैविक कल्पना है, जिसमे विभिन्नताएँ एवं विभिन्न स्तर पर किए गए कार्यों मे एकरूपता अथवा समरसता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि समाज का प्रत्येक वर्ग हाथ, पैर, आँखो की भाँति अपना-अपना कार्य करे लेकिन जिस तरह शरीर की जैविक एकता मस्तिष्क के शासन पर निर्भर करती है, उसी प्रकार एक आदर्श राज्य की एकता दार्शनिक राजाओ के शासन द्वारा ही सम्भव है। फिर जिस प्रकार शरीर पर मस्तिष्क का शासन तानाशाही प्रक्रिया से शरीर के हित मे चलता है, उसी प्रकार अपने आदर्श राज्य के सामूहिक हित एवं एकता के लिए प्लेटो विवेकशील एवं जाग्रत दार्शनिको का अधिनायकवादी प्रतिमान प्रस्तुत करता है। ये दार्शनिक राजा केवल एक उदारतावादी एवं राज्य द्वारा संचालित शिक्षा प्रणाली से ही पैदा हो सकते हैं और वे सदैव अपनी इस प्रबुद्ध राजनीतिक मस्तिष्क की स्थिति मे बन रह सकें, इसके लिए प्लेटो सम्पत्ति एवं परिवार का साम्यवाद निर्धारित करता है। अतः न्याय की अवतारणा व्यावहारिक तभी बन सकती है, जब एक शिक्षा पद्धति और साम्यवादी *व्यवस्था दार्शनिक राजाओ की प्रबुद्ध आदर्श संस्था* को जन्म दे सके जिसे प्लेटो रिपब्लिक कहता है। दूसरे शब्दो मे यदि न्याय रिपब्लिक की आधारशिला है तो रिपब्लिक मे जो भी व्यवस्था बनी है वह न्याय का व्यावहारिक एवं मूर्तिमान रूप है।

रिपब्लिक में शिक्षा सिद्धान्त

(The Scheme of Education in the Republic)

प्लेटो के राज्य की आत्मा न्याय है और यदि न्याय से हटकर उन साधनों पर विचार किया जाए जिनके द्वारा उसकी सिद्धि हो सकती है तो इसके लिए

प्लेटो ने दो संस्थाओं की संरचना का सुझाव दिया है—एक है, राज्य द्वारा सचालित की जाने वाली सामान्य शिक्षा प्रणाली, और दूसरी, साम्यवादी समाज-व्यवस्था। बार्कर ने टिप्पणी की है कि सामान्य शिक्षा प्रणाली द्वारा विशिष्ट कार्य का वह प्रशिक्षण प्राप्त होगा और उसे पूरा करने मे नि:स्वार्थ भाव से जुटे रहने की वह सहज प्रवृत्ति जाग्रत होगी जो न्याय की दृष्टि से आवश्यक है। समाजवादी समाज-व्यवस्था से इस प्रकार के प्रशिक्षण के लिए आवश्यक समय मिल सकेगा, क्योकि इस व्यवस्था मे लोग आजीविका कमाने की आवश्यकता से बहुत-कुछ मुक्त हो जाएँगे। इससे भी बड़ी बात यह होगी कि इसके द्वारा उस दृष्टिकोण का विकास होगा जिसके अनुसार व्यक्ति 'पूर्ण अथवा समग्र' का अग बनता है और जो प्लेटो की न्याय-अवधारणा मे सन्निहित है।[1] प्लेटो की दृष्टि में शिक्षा वह भावात्मक साधन है जिसके द्वारा शासक समरसतापूर्ण राज्य की स्थापना के लिए मानव-प्रकृति को सही दिशा की ओर उन्मुख कर सकता है।[2] प्लेटो ने रिपब्लिक मे शिक्षा का इतना विस्तार से विवेचन किया है और शासको की शिक्षा को इतना महत्त्व दिया है कि रूसो ने तो रिपब्लिक को शिक्षा पर सर्वोत्कृष्ट कृति की सज्ञा दी है। उसके शब्दो मे, "रिपब्लिक केवल राजनीति पर लिखी गई पुस्तक मात्र ही नही वरन् शिक्षा पर लिखी गयी एक ऐसी उत्कृष्ट रचना है जो इससे पहले कभी नही लिखी जा सकी।"[3] रिपब्लिक की शिक्षा-योजना जीवन के समूचे दृष्टिकोण को बदल कर बुराई की जड पर प्रहार करने और जीवन-यापन के गलत ढग मे सुधार करने की एक चेष्टा है। यह एक मानसिक रोग को ठीक करने का एक ऐसा मानसिक निदान है जिससे सामाजिक पवित्रता तथा सत्य की अनुभूति मिलती है। शिक्षा का उद्देश्य—आत्मा को उस परिवेश मे लाना है जो उसके विकास की प्रत्येक अवस्था मे उसके उन्नयन के लिए सबसे अधिक अनुकूल हो। साम्यवाद का अर्थ है—राजनीति के परिवेश से उन तत्वो को हटा देना जो आत्मा के समुचित विकास मे बाधक हो सकते हैं।[4]

प्लेटो ने शिक्षा को एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया माना है जिसके द्वारा समाज के घटक एक सामाजिक चेतना से अनुप्राणित होकर समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यो का पालन करना सीखते हैं। एक अच्छे जीवन मे आने वाली बाधाओ को शिक्षा द्वारा दूर किया जा सकता है। शिक्षा एक ऐसा अभिकरण है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपना समुचित स्थान बना पाता है और उसके अनुसार अपने को ढालता रहता है। सच्ची शिक्षा को सही ढग से ग्रहण करके मन और चेतना को सुसस्कृत बनाया जा सकता है। प्लेटो शिक्षा द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों मे राजनीतिक चेतना और

1 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 273
2 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 57.
3 "The Republic is not a work upon politics but the finest treatise on education that was ever written." —*Rousseau*
4 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 273

कर्त्तव्य-परायणता की भावना के संचार का आकांक्षी है। उसकी दृष्टि में शिक्षा वह प्रकाश है जो व्यक्ति के मस्तिष्क पर छाए हुए अज्ञान रूपी अन्धकार को मिटा कर ज्ञान की ज्योति जगाता है। इस ज्योति से सभी वर्गों के कर्त्तव्य-पथ आलोकित हो सकते हैं और राज्य में एकता तथा व्यवस्था बनी रह सकती है। प्लेटो की शिक्षा-योजना का एक समाजशास्त्रीय लक्ष्य भी है और वह है राज्य के महत्व का ज्ञापन। यूनानियों के चिन्तन में राज्य एक सजीव संस्था थी और जिसके साथ उनका एक रागात्मक सम्बन्ध था। सोफिस्टो द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिवाद का खण्डन कर प्लेटो समूह का महत्व प्रतिपादित करना चाहता है। राज्य द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध उसे अभीष्ट है चूंकि उसकी शिक्षा का प्रयोजन भी यही है कि समाज के वर्ग अपने-अपने कार्य पूरी शक्ति और आस्था से पूरे करें। शिक्षा के सामाजिक पहलू पर बल देते समय प्लेटो ने उसके व्यक्तिगत पक्ष को भी नहीं भुलाया है। उसके लिए शिक्षा केवल समाज-सेवा का ही एक साधन मात्र न होकर व्यक्ति के लिए भी एक सत्य-शोधक यन्त्र है। मानव-मस्तिष्क में ज्ञान को सतत प्रवाहित कर शिक्षा व्यक्ति को उस अन्ध-कूप से निकालती है, जिससे वह अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर सके।

प्लेटो ने शिक्षा को जो महत्व दिया है, उसका एक स्वाभाविक परिणाम यह भी निकलता है कि शिक्षा को व्यक्तिगत मांग और पूर्ति के व्यापारिक सिद्धान्त पर नहीं छोड़ा जा सकता।[1] अतः, प्लेटो की दृष्टि में राज्य का सबसे पहला और सबसे महत्वपूर्ण कार्य है शिक्षा देना। इस सम्बन्ध में प्लेटो अरस्तू से सहमत है और इस दृष्टि से वे दोनों ही यूनानी परम्परा के सच्चे प्रतिनिधि हैं। शिक्षा का अस्तित्व ही इसलिए है कि राज्य नागरिकों को अपने राज्य के नैतिक जीवन की शिक्षा दे और विलोमतः राज्य में शासन-व्यवस्था का अस्तित्व इसलिए होता है कि वह शिक्षा का प्रबन्ध करे।[2] प्लेटो की योजना एक राज्य-नियन्त्रित और अनिवार्य शिक्षा-प्रणाली को लेकर चली है। प्लेटो तो यह भी मानता है कि राज्य पहला और सबसे ऊँचा शिक्षण-संस्थान है।[3]

तत्कालीन यूनानी-पद्धतियां

अपनी शिक्षा-योजना को प्रस्तुत करते समय प्लेटो ने तत्कालीन यूनानी शिक्षा-पद्धतियों का भी दिग्दर्शन किया है। उसके समय के यूनान में दो शिक्षा-पद्धतियां प्रमुख रूप से प्रचलित थीं—एक एथेन्स में प्रचलित शिक्षा-पद्धति और दूसरी स्पार्टा में प्रचलित शिक्षा-पद्धति।

इन दोनों ही शिक्षा-प्रणालियों के अपने-अपने प्रकार के गुण दोष थे। एथेन्स में शिक्षा की कोई सार्वजनिक राजकीय व्यवस्था नहीं थी। शिक्षा एक व्यक्तिगत

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 57.
2 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 274.
3 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 57.

व्यवसाय था जो राज्य का कर्त्तव्य न होकर परिवार का उत्तरदायित्व माना जाता था। राज्य की ओर से शिक्षा संस्थाओं को कोई सहायता नहीं मिलती थी। रोमन साम्राज्य के समय तक यूरोप में राज्यों की ओर से कोई शिक्षा संस्थान नहीं बने थे। सोलन (Solan) के एक कानून द्वारा माता-पिता को यह आदेश था कि वे अपने लड़कों को अक्षरों का ज्ञान कराएँ। लड़कियों के विषय में सोलन का यह कानून मौन था। शिक्षा का पाठ्यक्रम तीन अवस्थाओं में बँटा हुआ था—(1) प्राथमिक, (2) माध्यमिक तथा (3) उच्च। शिक्षा के मुख्य विषय (जो साक्षरता के बाद पढ़ाये जाते थे)—पढ़ना, लिखना, प्राचीन कवियों के साहित्य का अध्ययन, व्यायाम, खेलकूद और संगीत आदि थे। साहित्य के माध्यम से धर्म एवं आचारशास्त्र की शिक्षा का भी अध्ययन करवाया जाता था। प्राथमिक शिक्षा 6 से 14 वर्ष की अवस्था तक और माध्यमिक शिक्षा 14 वर्ष से 18 वर्ष तक की अवस्था तक चलती थी। प्राथमिक शिक्षा के बाद आगे अध्ययन की इच्छा रखने वाले शिक्षार्थी सोफिस्टो या आइसेक्रेटो के विद्यालयों में शुल्क से माध्यमिक शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। चूँकि यह शिक्षा खर्चीली थी अतः प्रायः धनी लोग ही इसका लाभ उठा पाते थे। सोफिस्ट अलंकारशास्त्र, भाषण-कला, राजनीति, व्याकरण आदि विषयों का अध्यापन करते थे। शिक्षा की तीसरी अवस्था 18 से 20 वर्ष तक की थी। दो वर्ष की इस अवधि में विद्यार्थियों को सैनिक शिक्षा दी जाती थी जिससे नागरिक-उत्तरदायित्वों को निभाने की क्षमता प्राप्त करते थे।

स्पार्टा में शिक्षा व्यवस्था राज्याधीन थी। सम्पदा और विकास की दृष्टि से एथेंस की तुलना में काफी पिछड़ा हुआ स्पार्टा (Sparta) प्लेटो के युग में अविकसित स्थिति में था। युद्ध की वहाँ की राजनीति में विशेष भूमिका थी। इस सैनिक राज्य में प्राचीनकाल से ही राज्य की ओर से कठोर प्रशिक्षण की व्यवस्था विद्यमान थी। यहाँ शिक्षा में परिवार का कोई उत्तरदायित्व नहीं था। 7 वर्ष की अल्पायु से ही बालक राज्य को सौंप दिए जाते थे। राज्य उनकी प्रतिभा, योग्यता तथा अभिरुचि के अनुसार उन्हें शिक्षा देता था, किन्तु शिक्षा का स्वरूप प्रमुख रूप से सैनिक शिक्षा (Military Education) था जिसका एकमात्र उद्देश्य था अच्छे लड़ाकू-रक्षक पैदा करना। कला अथवा सूक्ष्म-बौद्धिक विकास की इस व्यवस्था में कोई सम्भावनाएँ नहीं थीं। बड़ी-बड़ी व्यायामशालाएँ (Gymansium), रहने एवं सोने-खाने के लिए बड़े-बड़े सामान्य कक्ष और युद्ध-क्षेत्र—ये ही स्पार्टा की प्रमुख शिक्षण-संस्थाएँ थीं। स्पार्टा में, आरम्भ से उच्च शिक्षा तक राज्य का नियन्त्रण था। प्रत्येक शिक्षार्थी को इसलिए सैनिक शिक्षा दी जाती थी जिससे कि वह उस स्पार्टन सैनिक परम्परा की रक्षा कर सके, जिस पर वह जीवित था। स्पार्टा में विभिन्न प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं और परीक्षाओं के द्वारा विद्यार्थियों को सुदृढ़ बनाया जाता था। स्त्रियों के लिए शारीरिक शिक्षा अनिवार्य थी। प्लूटार्क ने स्पार्टा के प्रसिद्ध नियम-निर्माता लाइकार्गस (Lycargus) की जीवनी में लिखा है कि यहाँ बालक-बालिकाएँ एक साथ नग्नावस्था में नाना

प्रकार के व्यायाम करते थे।[1] "युवतियों का शरीर दौड़, कुश्ती, बर्छी, भाला फेंकना आदि विभिन्न व्यायामों द्वारा सम्पुष्ट बनाया जाता था ताकि उनकी सन्तानें भी पुष्ट और बलिष्ठ हो।" स्त्रियों और पुरुषों को एक निश्चित प्रकार का बनाया जाता था। परिवार मे वैवाहिक प्रेम को कोई स्थान नही था। 20 वर्ष की अवस्था के बाद नागरिको को विवाह करने की स्वतन्त्रता थी, लेकिन 30 वर्ष तक उन्हें राजकीय पुरुषघरों (Men's House) मे रहना पड़ता था। पारिवारिक जीवन को राजकीय आवश्यकताओं के सम्मुख गौण समझा जाता था। विवाह एक गुप्त और अवैध सम्बन्ध था। पति-पत्नी वैवाहिक तथा पारिवारिक जीवन का उपभोग नही कर सकते थे। स्पार्टा की सामाजिक व्यवस्था भी राज्य की सैनिक आवश्यकताओं के अनुरूप थी। सभी नागरिक सामूहिक-भोजनालयों मे भोजन करते थे। लोहे की मुद्रा प्रचलित थी। स्पार्टा का शासन कुलीन व्यक्तियों के हाथ मे था। वे आर्थिक एवं पारिवारिक चिंताओं से मुक्त रह कर अपना सम्पूर्ण समय राज्य के कार्यों तथा राज्य द्वारा निर्धारित प्रशिक्षण मे लगाते थे। स्पार्टा की इस शिक्षा-प्रणाली को यूनानी जगत् मे इतनी ख्याति प्राप्त थी कि एथेन्स के युवक शिक्षा प्राप्ति हेतु वहाँ जाया करते थे।

प्लेटो ने एथेन्स और स्पार्टा की दोनों ही शिक्षा-प्रणालियों का अध्ययन किया। उसने दोनो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण और दोष पाए। उसके मत मे एथेन्स की शिक्षा जहाँ युवकों का उचित मानसिक और शारीरिक विकास करती थी। वहाँ उसका गम्भीर दोष यह था कि वह राज्य द्वारा न दी जाकर परिवार द्वारा दी जाती थी। एथेन्स में शिक्षा का मुख्य केन्द्र राज्य नही बल्कि परिवार था। ऐसी शिक्षा राज्य के हितों की दृष्टि से निरर्थक हो सकती थी। इससे केवल विचारक और सुधारक पैदा हो सकते थे, अच्छे नागरिक नही। प्लेटो का विचार था कि शिक्षा के द्वारा ही शासक व्यक्तियो के चरित्र का निर्माण कर सकता है और उन्हें निःस्वार्थ भाव से समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए उत्प्रेरित भी कर सकता है अतः ऐसे महत्त्वपूर्ण साधन राज्य के पास होने चाहिए न कि व्यक्ति के हाथो मे। एथेन्स मे राज्य व्यक्ति को नागरिक होने की शिक्षा नहीं देता था और इसका परिणाम यह होता था कि राज्य के अधिकारी अयोग्य और निकम्मे होते थे। वे अज्ञानी शासक थे जो स्वार्थ-सिद्धि को ही अपना प्रधान लक्ष्य मानते थे। स्पार्टा की शिक्षा-प्रणाली मे प्लेटो ने देखा कि उसका पाठ्यक्रम बहुत ही संकुचित एवं एकांगी था। वह शारीरिक विकास एवं सैनिक शिक्षा पर ही मुख्यतः केन्द्रित था और मानसिक विकास से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। बहुत कम स्पार्टावासी लिखना-पढ़ना जानते थे। अधिकांश लोगो को तो यूनान के इतिहास तक का भी ज्ञान नहीं था। मानसिक एवं बौद्धिक प्रशिक्षण की उपेक्षा के कारण स्पार्टन शिक्षा मनुष्य को पूर्ण बनाने मे असमर्थ थी।

1 *Fussel*: History of Western Philosophy, p. 116.

प्लेटो की शिक्षा-पद्धति की विशेषताएँ

प्लेटो ने अपनी शिक्षा-योजना मे एथेन्स और स्पार्टा दोनों की शिक्षा-प्रणालियो के गुणों को समन्वित किया और दोनो के दोषों को मिटाने की कोशिश की। दूसरे शब्दों मे यह कहना चाहिए कि उसने एथेन्स की बौद्धिक शिक्षा के साथ स्पार्टा का सयमित शारीरिक शिक्षण जोड़ा और इस तरह शिक्षा को व्यक्तित्व और राष्ट्र दोनों के विकास का माध्यम माना। एथेन्स से शिक्षा का वैयक्तिक रूप लिया गया जिसके अनुसार व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास वांछनीय माना गया और स्पार्टा से उसका सामाजिक स्वरूप लिया गया जिसके अनुसार शिक्षा राज्य के नियन्त्रण एव निर्देशन में होनी चाहिए जिससे वह अच्छे नागरिक उत्पन्न कर सके। राज्य नियन्त्रित अनिवार्य उदारतावादी शिक्षा प्लेटो का एक नवीन आविष्कार थी जो एथेन्स मे पहले कभी नही पाई गई। सेबाइन (Sabine) के शब्दो मे, "हम इसे उस जनतन्त्री प्रथा की एक ऐसी समालोचना कह सकते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने बच्चो के लिए एक ऐसी शिक्षा खरीदने की स्वतन्त्रता देता है जो या तो उसे अच्छी लगती हो या जो तत्कालीन बाजार में उपलब्ध हो।" उसकी यह प्रणाली स्पार्टा का आदर्शीकरण था जहाँ राज्य इसका प्रबन्ध करता था कि प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त हो सके जो उसे अपने कर्त्तव्यो का पालन करने के लिए प्रेरणा दे सके।

एथेन्स की तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली में प्लेटो ने एक दूसरी नवीन विशेषता यह जोड़ी कि उसने स्त्री एवं पुरुषो के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा का समर्थन किया। उसने अपने आदर्श राज्य मे दोनो को समान रूप से प्रत्येक पद का अधिकारी माना। उसके अनुसार राष्ट्र के निर्माण मे पुरुषों का भी उतना ही साथ है या होना चाहिए जितना कि नारियो का। नारी-जाति की उपेक्षा करके कोई भी राज्य आदर्श एवं शक्तिशाली नही बन सकता अतः स्त्रियों को भी आवश्यक रूप से शिक्षा मिलनी चाहिए। प्लेटो का कहना था कि स्त्रियो और पुरुषो मे शारीरिक बनावट के अतिरिक्त मानसिक बुद्धि और दक्षता की दृष्टि से कोई भी अन्तर नही है, अतः उन्हें भी पुरुषो जैसी शिक्षा अनिवार्य रूप से मिलनी ही चाहिए।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्लेटो स्त्रियों और पुरुषों को समान शिक्षा की वकालत करते हुए भी उत्पादक और श्रमिक वर्ग को उच्च शिक्षा से वंचित रखना चाहता है। वह सभी के लिए अनिवार्य शिक्षा की योजना रखता है किन्तु, "सभी से उसका तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जो शिक्षा प्राप्त करने के योग्य हैं और जिनमे उच्च शिक्षा प्राप्त करने की पात्रता है। प्लेटो उत्पादक और श्रमिक वर्ग के व्यावसायिक विशेषीकरण (Functional Specialisation) की तो बातें करता है किन्तु उन्हें किसी प्रकार की उदारतावादी (Liberal) उच्च शिक्षा देने का प्रावधान नहीं करता। व्यावसायिक शिक्षा को वह शिक्षा नहीं मानता और कुशल से कुशल विशेषज्ञ या उत्पादक को वह शासक बनने का अधिकार नहीं देता। इस सम्बन्ध मे सेबाइन ने लिखा है, "राज्य में शिक्षा के इतने महत्त्व को ध्यान मे रखते हुए यह

आश्चर्यजनक मालूम पड़ता है कि प्लेटो उत्पादकों की शिक्षा के सम्बन्ध में कहीं विचार नहीं करता। वह यह भी नहीं बताता कि उन्हें प्राथमिक शिक्षा भी देनी है या नहीं। इससे ज्ञात होता है कि प्लेटो के निष्कर्ष कितने असम्बद्ध और साधारण हैं। प्लेटो यह चाहता है कि श्रमिकों और उत्पादकों के होनहार बच्चों की शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध हो लेकिन यह उस समय तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि प्रतियोगी शिक्षा-प्रणाली (Competitive Educational System) द्वारा चुनाव न किया जाए।"[1] प्लेटो ने इस बारे में विस्तार से नहीं लिखा। जेलर (Zeller) के अनुसार, स्वयं अभिजात वर्ग का व्यक्ति होने के कारण प्लेटो शिल्पियों से घृणा करता था। उसका सामान्य शिक्षा में कम विश्वास था। वह अधिक प्रतिभा-सम्पन्न युवकों के लिए चुनी हुई शिक्षा-पद्धति का समर्थक था। उसकी शिक्षा-प्रणाली का आधार दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक था और उसने शिक्षा को दार्शनिक दृष्टिकोण से ही देखा है।

प्लेटो की शिक्षा का दार्शनिक आधार—

प्लेटो ने शिक्षा को दार्शनिक दृष्टिकोण से देखते हुए माना है कि मानवीय आत्मा या मन एक क्रियाशील शक्ति है। इसके सामने विषय प्रस्तुत नहीं किए जाते, बल्कि यह स्वयं विषयों की ओर आकृष्ट होता है। आत्मा एक अनुकरणशील पदार्थ है जो अपने-आपको अपने परिवेश के अनुरूप स्वाभाविक रूप से ढालता रहता है। मानव-मस्तिष्क या मन चेतनायुक्त और जिज्ञासामय है। इस जिज्ञासा और आकर्षणवृत्ति से मन का झुकाव जाना जाता है। शिक्षक को इसके साथ किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उसका काम केवल इतना ही है कि वह अपने शिक्षार्थी के मानसिक नेत्रों के सामने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करे जिससे वह वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देख सके। मनुष्य के ज्ञान-चक्षु परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अपने आप खुल सकें और वे अन्तरात्मा से सच्चे ज्ञान की प्रकाशमयी किरणें बिखेर सकें, वही वास्तविक शिक्षा है।

शिक्षा, इस तरह, बाह्य वातावरण के आत्मा या मन पर पड़ने वाले प्रभाव की प्रतिक्रिया है। वातावरण का आत्मा के सुसंस्कारों के निर्माण में भारी हाथ होता है। जिस तरह शरीर पर भोजन का प्रभाव पड़ता है, उसी तरह आत्मा पर भी परिवेश अथवा वातावरण का प्रभाव निरन्तर और प्रत्येक स्थिति में पड़ता रहता है अतः शिक्षा का क्रम आजीवन होता है। हाँ, उसके साधन, अधिकरण और माध्यम अवस्थानुसार अवश्य बदलते रहते हैं, अवस्थानुसार मनुष्य पर बाह्य वातावरण की प्रतिक्रियाएँ भी बदलती रहती हैं। अतः मनुष्य की शिक्षा के विषयों में भी अन्तर आते रहना स्वाभाविक है। बाल्यावस्था में आत्मा पर कल्पना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, अतः प्रारम्भिक शिक्षा का काम कल्पना को परिमार्जित बनाना और भावनाओं को परिष्कृत करना है। किशोरावस्था में दर्द का उदय होता

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 58.

है और आत्मा तर्क द्वारा ग्राह्य बनता है अतः इस अवस्था मे शिक्षा-विज्ञान और दर्शन के माध्यम से तर्क-शक्ति के आधार पर दी जानी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों से परिचित कराना तथा उनको पालन करने की दीक्षा देना है। आगे चलकर शिक्षा का यह सामाजिक पहलू कुछ धूमिल-सा पड़ जाता है। अब शिक्षा मुख्यत. सत्य, साधना तथा ब्रह्म-दर्शन का एक साधन बन जाती है।

प्लेटो का विचार है कि विकास सम्पूर्ण मानव-मस्तिष्क को एक समग्र प्रक्रिया है। सिद्धान्त और व्यवहार दोनो ही मस्तिष्क की उपज है और मस्तिष्क का दोनो से ही सम्पर्क बनाना आवश्यक है। राज्य मस्तिष्क के विकास का एक आवश्यक तत्त्व है अतः राज्य और व्यक्ति परस्पर सम्बन्धित हैं। प्लेटो का यह कहना है कि "मस्तिष्क केवल एक ही आदर्श की ओर जाता है और वह है सद्गुण की प्राप्ति। मस्तिष्क का दूसरा कार्य ज्ञान की खोज करना है। ज्ञान के द्वारा विश्व की एकता का पता लगता है अत ज्ञान का उद्देश्य भी अच्छाई (Good) की खोज है। प्लेटो की धारणा है कि सत् ही समस्त चीजों का आधार है। शिक्षा का उद्देश्य दार्शनिक आधार है। बार्कर की दृष्टि मे "यही मानव के उस दर्शन की चरम सीमा है जिसका 'रिपब्लिक' मे प्रतिपादन हुआ है।"

शिक्षा का पाठ्यक्रम

प्लेटो ने अपनी शिक्षा-योजना तथा शिक्षा के कार्यक्रम को दो भागो मे विभाजित किया (क) प्रारम्भिक शिक्षा, एव (ख) उच्च शिक्षा। यह विभाजन दो आधारो पर किया गया है—पहला अवस्था के आधार पर और दूसरा वर्ग के आधार पर। प्रारम्भिक शिक्षा एक ओर तो बाल्यकाल से युवावस्था तक के लिए है और दूसरी ओर सैनिक वर्ग के लिए है। इसी प्रकार उच्च शिक्षा एक ओर तो युवावस्था से प्रौढावस्था तक है और दूसरी ओर शासक-वर्ग के लिए है। प्रारम्भिक शिक्षा का ध्येय भावनाओ का परिमार्जन कर चरित्र-निर्माण करना है। उच्च शिक्षा का उद्देश्य विज्ञान और ज्ञान द्वारा बुद्धि का परिष्कार करके विवेक की सृष्टि एव दिव्य दृष्टि को जन्म देना है। प्लेटो की शिक्षा का यह दोहरा कार्यक्रम निम्नलिखित तत्त्वो पर बल देता है—

(1) शिक्षा राज्य द्वारा दी जानी चाहिए। (2) शिक्षा का उद्देश्य उत्तम नागरिक बनाना एवं उन्हें अपने कर्त्तव्यो का ज्ञान देना होना चाहिए। (3) शिक्षा देने वाले परिवारों को समाप्ति की जानी चाहिए। (4) शिक्षा द्वारा ज्ञानी शासक अर्थात् दार्शनिक राजा तैयार किए जाने चाहिए। इस भाँति एक आदर्श राज्य का निर्माण किया जाना चाहिए।

(क) प्रारम्भिक शिक्षा (Elementary Education)—प्रारम्भिक शिक्षा को प्लेटो तीन भागों में विभाजित करता है—(1) प्रारम्भिक [illegible] वर्ष तक की शिक्षा, (2) 6 वर्ष से 18 वर्ष तक की शिक्षा, (3) 18 से 30 वर्ष तक की अवस्था तक की शिक्षा।

प्रारम्भिक शिक्षा मे प्लेटो शारीरिक, साहित्यिक और संगीतात्मक शिक्षा को सम्मिलित करता है। इस अवस्था मे शिशुओ और किशोरो को निर्मल, स्वस्थ एव नैतिकता का सन्देश देने वाली कहानियाँ सुनाई जानी चाहिए। प्लेटो चाहता है कि सगीत द्वारा बालक-बालिकाओ की आत्मा को निर्मल तथा व्यायाम द्वारा उनके शरीर को स्वस्थ बनाया जाए। सगीत से प्लेटो का तात्पर्य केवल गाना-बजाना ही नही है। उसकी दृष्टि मे तो सगीत वह कला है जो मानव मन को झकृत करदे। सगीत काव्य की शिक्षा साहित्य, गीत, नृत्य, मूर्ति चित्र आदि सभी ललितकलाओ की प्रतीक है। प्लेटो के अनुसार सर्वश्रेष्ठ शिक्षा, "आत्मा के लिए संगीत और शरीर के लिए आवश्यक व्यायाम है।" बार्कर के शब्दो मे, "इसका उद्देश्य तरुण आत्मा को उन समस्याओ के बारे मे (जिन्हे उसे सुलझाना है) । सही अनुभूति की प्रेरणा तथा सामर्थ्य देना है और फिर उस अनुभूति को इतना प्रबल बनाना है कि वह अपने और कर्त्तव्यों का पालन बिना किसी शका के नैसर्गिक अभ्यास के रूप मे करती रहे।"

इसी प्रकार व्यायाम से तात्पर्य केवलमात्र शरीर को पुष्ट करने वाली अखाड़े की कसरत नहीं है। व्यायाम एक ऐसे शरीर का निर्माण करता है जिसमे एक स्वस्थ और शुद्ध मन विकसित होता है और उसमे साहस तथा धैर्य के गुण पनपते हैं। इस प्रकार के व्यायाम के अन्तर्गत भोजनशास्त्र और औषधिशास्त्र भी सम्मिलित हैं। प्लेटो की इच्छा यह है कि शारीरिक शिक्षण से शरीर इतना स्वस्थ हो जाना चाहिए कि वह बीमार न हो। प्लेटो के मत मे रोग आलस्य और विलासिता का परिणाम है। वह डॉक्टरो को रोग का इलाज करने वालो के स्थान पर उन्हें बढाने वाला मानता है और इसीलिए अपने आदर्श राज्य मे वह उन्हे कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही देता। उसकी यह दृढ धारणा है कि सगीत की उचित शिक्षा द्वारा व्यक्तियो मे नैतिकता तथा व्यायाम द्वारा स्वास्थ्य का निर्माण किया जा सकता है। नैतिकता की विद्यमानता से समाज मे न तो कानून और न्यायाधीशो की आवश्यकता होगी और स्वस्थ होने से न ही डॉक्टरो की।

प्लेटो ने चरित्र पर बुरा प्रभाव डालने वाले साहित्यिक अशो एवं कला-कृतियो पर राज्य द्वारा कठोर प्रतिबन्ध (Censorship) लगाने की व्यवस्था की है। उसका विचार है कि "साहित्य से इस प्रकार के सभी अशो को निकाल देना चाहिए, जो देवताओ की प्रकृति के प्रतिकूल हो, उनसे बुरा काम कराते हो, छात्रों के साहस को कम करने वाले हो, और असयम तथा भोग-विलास के आनन्दो को उत्पन्न करने वाले हो। वह उसी सगीत को अभीष्ट मानता है जो चरित्र का संशोधन करें। वह, आयोनिया और लिडिया के सगीत को बहिष्कृत करता है। केवल डोरिया और फ्रिजिया के सगीत का जो दृढता, शक्ति, ईश्वर-भक्ति और मानसिक स्थिरता का समर्थन करते हैं, वह अनुमोदन करता है।" सेबाइन ने भी लिखा है—"प्लेटो ने प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत काव्य तथा साहित्य के उच्च रूपो को सम्मिलित किया

था। फिर भी, यह नही कहा जा सकता कि प्लेटो इन कृतियों का सौन्दर्यपरक समालोचन चाहता था। वह इन्हे नैतिक और धार्मिक शिक्षा का साधन मानता था, कुछ-कुछ इसी तरह जैसे कि ईसाई बाइबिल को समझते हैं। इस कारण वह न केवल भूतकाल के कवियो की रचनाओं के आपत्तिजनक अंशो को हटा देना चाहता था बल्कि यह भी चाहता था कि भविष्य के कवियों पर राज्य के शासक प्रतिबन्ध लगा दें जिससे युवको के हाथो मे खराब तथा अनैतिक असर डालने वाली कोई चीज न पड़ने पाए।"[1]

प्लेटो की प्रारम्भिक शिक्षा-योजना मे 6 वर्ष तक के बालक को नैतिक और धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। 9 से 12 वर्ष तक शारीरिक एवं बौद्धिक शिक्षा तथा साथ ही संगीत तथा व्यायाम पर बल दिया गया। 18 से 20 वर्ष तक कठोर सैनिक-शिक्षा-व्यवस्था की गई है। 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने प्रारम्भिक शिक्षा की जो योजना प्रस्तुत की है वह तत्कालीन प्रणाली का सुधार है, यह किसी नई व्यवस्था की योजना नही है। इस सुधार मे एथेन्स के नागरिक के लडके को मिलने वाली शिक्षा का स्पार्टा के तरुणो को मिलने वाली राजनीतिक शिक्षा के साथ समन्वय कर दिया गया था और दोनो की ही विषय-वस्तु को काफी बदल दिया गया था।

(ख) उच्च शिक्षा (Higher Education)—'रिपब्लिक' का सबसे मौलिक और महत्त्वपूर्ण सुझाव उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था के सम्बन्ध मे है। प्लेटो चाहता था कि इस शिक्षा के द्वारा चुने हुए विद्यार्थियो को 20 और 35 वर्ष की अवस्था के बीच मे संरक्षक वर्ग के उच्चतम पदो के लिए तैयार किया जाए। प्लेटो ने उच्च शिक्षा मे दो स्तरो को कायम किया–20 से 30 वर्ष तक का शिक्षण और 30 वर्ष से 35 वर्ष तक का शिक्षण। 20 वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् जो विद्यार्थी परीक्षा मे योग्य एवं बुद्धिमान् प्रमाणित होंगे, उनके लिए ही इस उचित शिक्षा की व्यवस्था है। दूसरे शब्दो मे यह शिक्षा 20 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होगी और केवल उन्ही कुशाग्र-बुद्धि युवक-युवतियो को दी जायेगी जो भविष्य मे आदर्श शासक बन सकने की प्रतिभा रखते हो। उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम इन विद्यार्थियो मे उच्च ज्ञान का संचार कर उन्हें मेधावी बनाएगा। प्लेटो की मान्यता थी कि जिस प्रकार एक सैनिक का विशेष गुण साहस अथवा शौर्य है, उसी प्रकार एक शासक का आवश्यक गुण ज्ञान अथवा विवेक है। इसको प्राप्त करने के लिए प्लेटो ने उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम मे केवल उन्ही वैज्ञानिक विषयो को चुना जो मस्तिष्क को विकसित करते हैं। ये विषय थे—गणित, ज्योतिष और तर्क-शास्त्र। प्लेटो का यह अटल विश्वास था कि ये यथार्थ विचाएँ दर्शन के अध्ययन के लिए उचित भूमिका है। उसे आशा थी कि दार्शनिक अपने इस अध्ययन मे उसी प्रकार यथार्थ और शुद्ध निष्कर्ष निकाल सकेंगे जैसा कि गणित, ज्योतिष अथवा तर्कशास्त्र के अध्ययन मे सम्भव होता है। यही कारण है कि आदर्श राज्य की रूपरेखा मे

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 59.

उसने सबसे अन्त मे शिक्षा की यह योजना प्रस्तुत की। इस शिक्षा के अन्तर्गत इन सभी विद्याओ का पठन-पाठन होगा, नई-नई शोधें की जाएँगी और शासको को नई जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

10 वर्ष तक अर्थात् 20 वर्ष से 30 वर्ष की अवस्था तक इन विषयों का अध्ययन करने के उपरान्त एक परीक्षा होगी। उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियों को 35 वर्ष की आयु तक द्वन्द्ववाद (Dialectics) की शिक्षा दी जाएगी, क्योकि द्वन्द्ववाद ही वह साधन है जिसके द्वारा विशुद्ध तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। तत्त्व सम्बन्धी समस्त विचारो मे सर्वोच्च विचार 'सत्' या शुभ (Good) की समीक्षा है जो समस्त प्राण का कारण और ज्ञान का लक्ष्य है। प्लेटो मे 'शुभ' सम्बन्धी विचार का वही स्थान है जो वेदान्त मे ब्रह्म का है। जो परम शुभ को जान लेता है वही सच्चा ज्ञानी है और इसलिए प्लेटो के अनुसार केवल वही शासन करने का अधिकारी है।

प्लेटो की शिक्षा का औपचारिक कार्यक्रम चाहे केवल 35 वर्ष की अवस्था मे ही समाप्त हो जाता हो, किन्तु इतनी लम्बी अवधि के इतने गम्भीर शिक्षण के बाद भी वह अपने संरक्षको के शिक्षण को अपूर्ण मानता है क्योकि अभी तक उन्हे कोरी बौद्धिक शिक्षा ही मिली है, उन्हे ससार का व्यावहारिक अनुभव नही है। अतः प्लेटो ने अगले 15 वर्ष की अवधि तक सैद्धान्तिक शिक्षा के स्थान पर एक ऐसी व्यवस्था की है कि ये बुद्धिजीवी दार्शनिक संसार की पाठशाला मे 'तूफानी थपेडे और धक्के खाकर' व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त कर सकें। इस तरह "50 वर्ष की आयु तक सासारिक जीवन की कठोर परीक्षाओ मे खरे उतरने वाले और लोक-व्यवहार और शास्त्रो का गम्भीर ज्ञान रखने वाले दार्शनिक ही प्लेटो की सम्मति मे शासक बनने के अधिकारी हैं।" प्लेटो का यह भी कहना है कि 50 वर्ष के बाद भी उन्हे स्वाध्याय करते रहना चाहिए।

प्लेटो की शिक्षा योजना के गुण

1. इसका सबसे बडा गुण यह है कि वह उचित आयु मे उचित शिक्षा की व्यवस्था करती है। प्लेटो ने शिक्षा का पाठ्यक्रम बालको, किशोरो, युवको तथा प्रौढो सभी के लिए पृथक्-पृथक् बनाया है।

2 प्लेटो की शिक्षा का पाठ्यक्रम कुछ विषयो तक ही सीमित न होकर मानव-जीवन के सम्पूर्ण अनुभव तक फैला हुआ है और शिक्षा की अवधि भी इसी तरह जीवन-पर्यन्त व्यापक है।

3. इस शिक्षा-योजना मे प्रत्येक वर्ग को वही शिक्षा दी जाती है जो उसके लिए आवश्यक है, उदाहरणार्थ सैनिक वर्ग के लिए दर्शन की कोई आवश्यकता नही है और उत्पादको को केवल व्यावसायिक विशेषीकरण पर ही छोड दिया गया है।

4. इसका एक बडा गुण संगीत का सदुपयोग है। प्लेटो बतलाता है कि संगीत की महान् शक्ति का विकृत रूप सम्पूर्ण समाज को भ्रष्ट कर सकता है और

उनका सदुपयोग समाज को नैतिक उन्नति के शिखर पर ले जा सकता है अत वह कला एव सगीत पर राज्य के नियन्त्रण का पक्षपाती है।

5. प्लेटो ने अपनी शिक्षा-योजना मे स्त्री एव पुरुषो मे किसी प्रकार का भेदभाव नही रखा है। उस युग मे एथेन्स मे स्त्रियो का कार्य-क्षेत्र केवल घर की चार दीवारी तक ही सीमित था। ऐसी स्थिति मे प्लेटो द्वारा स्त्रियो को शिक्षा देने की योजना बनाना और उन्हे पुरुषो के समकक्ष मानना निश्चय ही एक क्रान्तिकारी कदम था।

6. प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य शरीर और मस्तिष्क दोनो का विकास करना है। वह मननशील जीवन को व्यावहारिक जीवन से अलग करने के पक्ष मे है।

7. वह दर्शनशास्त्र तथा बौद्धिक शिक्षा द्वारा आदर्श शासको को उत्पन्न करना चाहता है, क्योकि उसकी धारणा है कि—"जब तक दार्शनिक राजा नही होगे और राजा दार्शनिक नही होगे तब तक इस समाज की बुराइयाँ समाप्त नही होगी।" वह उचित शिक्षा द्वारा ऐसे शासको का निर्माण करना चाहता है जिसके द्वारा "आदर्श शासको का राज्य विद्वान् सतो का राज्य हो जाए।" वास्तव मे प्लेटो विशेष योग्यता और शिक्षा की आवश्यकता द्वारा उन्हे सद्गुणी एव योग्य शासक बनाना चाहता था।

प्लेटो की शिक्षा-योजना की आलोचना—प्लेटो की शिक्षा-योजना मे अनेक गुण हैं और उससे आधुनिक युग मे भी लाभ उठाए जा सकते हैं तथापि वह बहुत से महत्त्वपूर्ण दोषो से ग्रसित है। इसका प्रमुख कारण यही है कि प्लेटो ने आदर्शों के निर्माण मे व्यावहारिकता को स्थान न देकर सैद्धान्तिक बातो को ही अधिक स्थान दिया ताकि उसका राज्य आदर्श बन सके। उसकी शिक्षा-योजना अधोलिखित आधारो पर आलोचित की जा सकती है—

1. सर्वाधिक महत्वपूर्ण दोष यह है कि इसमे उत्पादक वर्ग की शिक्षा को कोई विशेष स्थान नही दिया गया है। इसका क्षेत्र सकुचित है। यह केवल सरक्षको (सैनिको) तथा शासको के लिए है। उसने राज्य की अधिकांश जनसख्या-कृषक, कारीगर, मजदूर आदि वर्गों के लिए शिक्षण की कोई व्यवस्था नही की। यदि शिक्षा सामाजिक जागरण और सत्य की अनुभूति का साधन है तो उत्पादक वर्ग को उन साधनो से वचित रखना उचित नही कहा जा सकता। प्लेटो की यह व्यवस्था, निश्चय ही अप्रजातान्त्रिक है जिसे उदारतावादी नही माना जा सकता।

2. प्लेटो अपने पाठ्यक्रम मे गणित को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता है और तुलनात्मक दृष्टि से साहित्य की उपेक्षा करता है।

3. प्लेटो ने कवि और कलाकारो को राज्य के शिकजे मे जकड़ने का प्रयत्न किया है। उसने सगीत एव ललितकलाओ के प्रशिक्षण मे चरित्र पर बुरा प्रभाव डालने वाले साहित्यिक अंशों तथा कलाकृतियो पर राज्य द्वारा कठोर प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की है। वह चाहता है कि, न केवल भूतकाल के कवियो की रचनाओ के आपत्तिजनक अंशो को ही हटा दिया जाए बल्कि भविष्य के कवियो पर

भी राज्य के शासक प्रतिबन्ध लगा दें। प्लेटो द्वारा इस प्रकार का नियन्त्रण कला के स्वतन्त्र विकास में बाधक है। 'कला की सृजनात्मकता' के लिए स्वाधीनता पहली शर्त है। बार्कर के शब्दों में "नैतिक उपदेशों के पाश में जकड़ी हुई कला मानव-हृदय का स्पर्श नहीं कर सकती और जो कला विशुद्ध कला के रूप में मानव-हृदय को नहीं गुदगुदा सकती, वह उसके आचार-विचारों को भी प्रभावित नहीं कर सकेगी।"

4. प्लेटो की शिक्षा-योजना में विविधता नहीं है। मानव-रुचि वैविध्यपूर्ण होती है और उसमें साहित्य और कला के साथ-साथ दर्शन तथा विज्ञान के प्रति एक जिज्ञासा का पाया जाना स्वाभाविक है। प्लेटो की शिक्षा योजना में विविधता पर तो ध्यान दिया गया है, किन्तु रुचि की विविधता पर नहीं। उसने ऐसी व्यवस्था की है कि जिससे सबको एक सी शिक्षा दी जाएगी और सब नागरिक अपने कर्तव्य-पालन के योग्य बनाए जाएँगे। यहाँ पर लगता है कि प्लेटो ने राज्य की एकता के लिए व्यक्तित्व की विविधता की बलि चढ़ा दी है।

5 प्लेटो की शिक्षा राज्य द्वारा संचालित होती है। उसकी शिक्षा-योजना वास्तव में व्यक्ति के विकास के लिए न होकर राज्य के विकास के लिए है। उसकी शिक्षा-पद्धति का मुख्य ध्येय न्याय के द्वारा आदर्श राज्य की प्राप्ति करना है। उसमें व्यक्ति को बहुत कम महत्त्व दिया गया है तथा राज्य की उन्नति हेतु उसकी अवहेलना ही नहीं बल्कि अपमान किया गया है।

6. प्लेटो की शिक्षा का क्रम बड़ा लम्बा है। 35 वर्ष तक की अवस्था तक चलने वाली शिक्षा बड़ी व्यय-साध्य है और उसका लाभ उठाने का उत्साह अधिकांश व्यक्तियों में नहीं हो सकता। प्लेटो यह भूल जाता है कि एक विशेष अवस्था के पश्चात् कोई भी शैक्षणिक ज्ञान मानव मस्तिष्क को सन्तुष्ट रखने में समर्थ नहीं हो सकता। इसके साथ ही लम्बे अर्से तक शिष्य बने रहने वाले शासकों में गुरु पर अवलम्बित रहने की भावना इतनी प्रबल हो जाएगी कि वे आत्म-निर्भरता तथा स्वतन्त्र कार्य-संचालन की क्षमता को खो बैठेंगे।

7. प्लेटो स्त्रियों और पुरुषों दोनों के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा देने की व्यवस्था करता है। इस तरह वह स्त्रियों और पुरुषों की प्रकृति और भावनाओं के अन्तर के महत्त्व को गौण मानता है। स्त्री और पुरुष में बौद्धिक समानता होते हुए भी भावनात्मक व्यक्तित्वों का अन्तर है जो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

8. प्लेटो का जीवन-दृष्टिकोण निराशा उत्पन्न करने वाला है। वह 'स्थित प्रज्ञ' की भाँति जीवन बिताने का आदेश देता है। उसकी शिक्षा-पद्धति उच्च वर्ग के दार्शनिक शासकों को ही लाभ पहुँचाती है।

प्लेटो की शिक्षा-प्रणाली में चाहे जो भी दोष निकाले जाएँ पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसका शिक्षा सम्बन्धी विचार एक प्रशसनीय, शिक्षा-दर्शन एवं शासकोपयोगी शिक्षा-योजना है। उसने शिक्षा पर जो बल दिया है तथा शिक्षा का जो व्यापक महत्त्व बतलाया है उसके लिए संसार उस महान् शिक्षा-शास्त्री का सदैव ऋणी रहेगा। जोवट (Jowett) का यह कथन सारगर्भित है कि "प्लेटो

पहला लेखक है जो स्पष्ट रूप से कहता है कि शिक्षा का क्रम आजीवन चलना चाहिए। उसके अन्य शैक्षिक विचारो की अपेक्षा यह विचार आधुनिक जीवन मे प्रयोग किए जाने की माँग करता है।"[1]

'रिपब्लिक' में साम्यवाद का सिद्धान्त
(The Theory of Communism in 'The Republic')

प्लेटो की शिक्षा-पद्धति का मूलमन्त्र व्यक्ति को राज्य के अनुरूप बनाना था। उसने शिक्षा के द्वारा मानसिक उपचार की व्यवस्था की किन्तु प्लेटो को इस बात की आशका थी कि कही सामाजिक वातावरण राज्य के सरक्षकों एव सैनिको को कर्त्तव्य-पथ से विचलित न कर दे। अतः अपने आदर्श राज्य मे 'न्याय' को बनाए रखने के लिए शिक्षा-पद्धति के साथ-साथ उसने एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का भी चित्रण किया जिसे प्लेटो के साम्यवाद के सिद्धान्त (Platonic Theory of Communism) के नाम से जाना जाता है। इस सामाजिक व्यवस्था के प्रतिपादन मे उसका मुख्य ध्येय यही था कि न्याय और शिक्षा-व्यवस्थाओ के होते हुए भी बाह्य आकर्षण और सांसारिक दुर्बलताएँ उसके सरक्षक वर्ग के मार्ग मे बाधा न बनें और वे निष्पक्षता एव त्याग-भावना से अपना कर्त्तव्य-पालन कर सकें। इन बाह्य दुर्बलताओ के निराकरण के लिए उपयुक्त सामाजिक वातावरण ही प्लेटो का साम्यवाद है।

प्लेटो चाहता था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वातावरण की सकीर्णता से ऊपर उठ कर विराट सामाजिकता का एक महत्वपूर्ण एव सक्रिय अंग बन सके। राज्य के वे वर्ग जिनके हाथ मे सत्ता हो, व्यष्टि तथा समष्टि का ऐसा समन्वय प्रस्तुत कर सकें जिसमे ममता भरे स्वार्थ और क्षुद्र प्रलोभनो को कोई स्थान न मिल सके। इस तरह उसने राज्य के सत्तारूढ वर्ग को निर्लेप भाव से कार्य करने के लिए अनुकूल वातावरण की एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का चित्रण किया है जिसमे राज्य के सरक्षको के पास न तो निजी सम्पत्ति होगी और न ही वे पत्नी और सन्तान के पारिवारिक बन्धनो मे बँध सकेंगे। प्लेटो एक आदर्श शासक चाहता था और उसकी यह मान्यता थी कि यदि ससार की दुर्बलताएँ उसके शासको को अपने पथ से विचलित कर देंगी तो आदर्श राज्य का विनाश हो जाएगा। वह नही चाहता था कि विशेष नियन्त्रण के अभाव मे राज्य के रक्षक ही भक्षक बन जाएँ। अत उसने उनकी कमजोरियो के मूल पर प्रहार कर उन्हे जन्म देने वाली सस्थाओ, परिवार और सम्पत्ति को ही राज्य-हित मे नियमित कर डाला। सम्पत्ति और परिवार दोनो को मनुष्य की मूल दुर्बलताओ, संकीर्णताओ और क्षुद्रताओ को जन्म देने वाली इकाइयां मान कर अपने शासक वर्ग के लिए सम्पत्ति का अन्त करना चाहा है और परिवार का समूहीकरण।

1 *Jowett* : The Republic of Plato.

प्लेटो की साम्यवादी विचारधारा पूर्णतया नवीन अथवा मौलिक नहीं थी। प्लेटो के जन्म से पूर्व भी यूनानियों को साम्यवादी व्यवस्था का अनुभव था और इसका व्यावहारिक रूप यूनान के नगर-राज्यों में उपलब्ध भी था। उदाहरण के लिए, स्पार्टा में स्त्रियों को राज्य-हित की दृष्टि से उधार दिया जाता था। बालकों को 7 वर्ष की अल्पायु के बाद ही राज्य द्वारा ले लिया जाता था और उनके भरण-पोषण का सम्पूर्ण भार राज्य ही वहन करता था। स्पार्टा में सार्वजनिक जल-पान-गृह तथा भोजनालयों की व्यवस्था थी जिनमें स्त्री, पुरुष, बच्चे—सभी को समान रूप से सामूहिक भोजन प्राप्त होता था। क्रीट नामक नगर राज्य में सहकारी खेती की व्यवस्था थी। एथेंस में भी 5वीं सदी में इसी प्रकार की साम्यवादी व्यवस्था का प्रचलन था। पाइथागोरस का मत था, "मित्रों की सम्पत्ति पर सबका समान रूप से अधिकार है।" उसके इस विचार में साम्यवाद की गन्ध थी। यूरिपाइड्स ने भी प्लेटो के 'रिपब्लिक' की रचना से बहुत पूर्व नारी-साम्यवाद के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था अतः ऐसी दशा में यह कहना कि प्लेटो ने साम्यवादी विचारों को मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं है। प्लेटो ने इन विचारों को संकलित कर अपने आदर्श राज्य की नींव को सुदृढ़ किया। इस सम्बन्ध में नेटलशिप (Nettleship) के विचारानुसार "प्लेटो का साम्यवाद उसकी शिक्षा-पद्धति द्वारा उत्पन्न की गयी विचारधारा को प्रभावशाली बनाने तथा उसे नवजीवन एवं नवशक्ति प्रदान करने वाला एक अनुपूरक यन्त्र है।"

तत्कालीन ऐतिहासिक वास्तविकता होने के साथ-साथ प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक एवं दार्शनिक आधार भी हैं। इन आधारों की विवेचना इस व्यवस्था की राजनीतिक उपादेयता एवं दार्शनिक तार्किकता भी सिद्ध करती है।

(i) **मनोवैज्ञानिक आधार**—प्लेटो राज्य को एक 'सम्पूर्णता' (Whole) मानता है और व्यक्ति को उसकी एक इकाई (Unit)। उसके अनुसार राज्य के बाहर मानव का कोई अस्तित्व नहीं है तथा उसका वैयक्तिक एवं मानसिक विकास राज्य में ही रह कर सम्भव है। प्लेटो का साम्यवाद अपने आप में कोई साध्य नहीं है अपितु वह उसके आदर्श राज्य के न्याय तत्व की पूर्ति का एक साधन मात्र है। अपने आदर्श राज्य के तीन वर्गों में से प्रथम और द्वितीय वर्ग के लोगों को प्लेटो व्यक्तिगत सम्पत्ति से इसलिए दूर रखना चाहता है कि यह संरक्षक वर्ग निःस्वार्थ रूप से राज्य की सेवा कर सके; दार्शनिक शासक भ्रष्टाचार, प्रतिद्वन्द्विता, प्रलोभन तथा वैयक्तिक सम्पत्ति की लालसा से दूर रह सके, इसलिए प्लेटो का साम्यवाद उन्हीं दो वर्गों के लिए है जिन पर शासन का भार होगा। मानव मनोविज्ञान बतलाता है कि सम्पत्ति और परिवार की दो संस्थाएँ मनुष्य की उदारवृत्तियों को संकीर्ण बनाती हैं और उनसे वंचित हुए बिना शासक वर्ग राज्य के वृहत्तर उद्देश्य के साथ अपने को एकीकृत नहीं कर सकेगा।

(ii) **राजनीतिक आधार**—प्लेटो के सम्पत्ति साम्यवाद का एक आधार

यह भी है कि यदि राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियाँ एक हाथ मे केन्द्रित रहेंगी तो इसका दुष्परिणाम निकलेगा। इसलिए राजनीतिक विशुद्धता को कायम करने के लिए वह राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियो को अलग-अलग हाथो मे स्थापित करना नितान्त आवश्यक समझता है। अपने आदर्श राज्य मे राजनीतिक सत्ता उसने पूर्णतः संरक्षक वर्ग के हाथो मे सौंप दी है अतः उसकी यह मान्यता है कि यदि इनके हाथ मे आर्थिक शक्ति भी और सौंप दी गई तो उसका परिणाम घातक होगा और उसके सरक्षक भ्रष्टाचार के शिकार बन जाएँगे। इस प्रकार उसने अपनी नवीन सामाजिक व्यवस्था को केवल शासक वर्ग तक ही सीमित रखा है। उसकी इस व्यवस्था का उत्पादक वर्ग से कोई सम्बन्ध नही है। यह वर्ग बिना किसी प्रतिबन्ध के उत्पादन करते हुए अपनी निजी सम्पदा का स्वामी बना रह सकेगा।

(iii) **दार्शनिक आधार**—इस आधार पर प्लेटो ने अपने साम्यवाद को विशेष कार्य (Specific Function) के सिद्धान्त द्वारा पुष्ट किया है। उसके अनुसार जिन व्यक्तियो को शासन का महत्त्वपूर्ण एव विशेष कार्य सौंपा गया हो, उन्हे अपने कार्य मे बाधा अथवा विघ्न डालने वाले सभी सांसारिक तत्त्वो से इसी प्रकार बचना चाहिए जैसे ईश्वर की भक्ति मे लगे एक साधक या सन्यासी को घर, पत्नी, बच्चे, सम्पत्ति या सांसारिक माया-मोह से दूर रहना चाहिए।

प्लेटो के साम्यवाद की व्याख्या

प्लेटो अपने साम्यवाद को, राज्य के दो अल्पसंख्यक वर्गों-शासको तथा सैनिको तक ही सीमित रखता है। वह तृतीय बडे वर्ग के लिए साम्यवादी व्यवस्था की कोई आवश्यकता महसूस नही करता। प्लेटो की यह साम्यवादी योजना दो भागो मे विभाजित है—

(1) सम्पत्ति का साम्यवाद, एवम्

(2) परिवार अथवा स्त्रियो का साम्यवाद।

(1) **सम्पत्ति का साम्यवाद (Communism of Property)**—प्लेटो शासको और सैनिकों के लिए सम्पत्ति का निषेध करता है। वह इन दोनो वर्गों को सामूहिक रूप से राज्य के अभिभावक वर्ग (Guardian class) के नाम से सम्बोधित करता है। उसका विश्वास है कि सम्पत्ति एक बहुत बड़ा आकर्षण है जो किसी भी व्यक्ति को अपने पद से विचलित कर सकती है। सम्पत्ति पर शासको का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त किया जाना चाहिए जिससे उनके मन और मस्तिष्क से सम्पत्ति के प्रति मोह को मिटाया जा सके। वह शासकों के लिए धन या सम्पत्ति को अनैतिक बतलाते हुए कहता है कि एक व्यक्ति के हाथ मे सम्पत्ति और शासन की शक्ति केन्द्रित रहने से वह पथ-भ्रष्ट होकर भीषण परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है। अत सम्पत्ति की शक्ति को शासक की सम्पत्ति से अलग रखना ही श्रेयस्कर है। शासक तथा सैनिक वर्ग निजी सम्पत्ति के अधिकारी नही बन सकते। वैयक्तिक या सामूहिक रूप से इनका एक इन्च भूमि पर भी स्वामित्व नही होना चाहिए। भूमि तथा उसकी पैदावार के केवल उत्पादक ही अधिकारी हैं। अभिभावक वर्ग के पास

अपने निजी घर भी नहीं होने चाहिए। प्लेटो इनके लिए ऐसे शिविरों में रहने की व्यवस्था करता है जो सदैव खुले एवं सार्वजनिक हों। अपनी 'रिपब्लिक' में शासकों की जीवनचर्या का वर्णन करते हुए उसने लिखा है—

"प्रथम तो जितनी कम से कम व्यक्तिगत सम्पत्ति नितान्त आवश्यक है, उससे अधिक सम्पत्ति उनमें से किसी को भी नहीं रखनी चाहिए। दूसरे, किसी के पास ऐसा घर अथवा भण्डार (कोष) नहीं होना चाहिए, जो सबके स्वेच्छापूर्वक प्रवेश के लिए नित्य खुला न रहता हो। उनकी भोज्य सामग्री इतनी मात्रा में और ऐसी होनी चाहिए जो कि संयमी एवं साहसी योद्धा, भटों के लिए उपयुक्त हो। यह उनको नागरिकों द्वारा सुनिश्चित एवं सुनिर्धारित ढंग से उनकी सरक्षकता वृत्ति के रूप में इतनी मात्रा में मिलनी चाहिए कि न तो वर्ष के अन्त में आवश्यकता से अधिक बच रहे और न कमी ही पड़े। युद्ध शिविर में रहने वाले योद्धाओं के समान उनका भोजन एवं रहना सामूहिक होना चाहिए। रही सोने-चाँदी की बात तो इसके विषय में हम उनसे कहेंगे कि सोना और चाँदी तो उनको अपने देवताओं (ईश्वर) द्वारा नित्य ही अपनी आत्मा के भीतर प्राप्त है अतः उनको मर्त्यलोक की निम्न कोटि की धातु की कोई आवश्यकता नहीं है। मर्त्यलोक की धातु के मिश्रण द्वारा अपने को अपवित्र करना उन्हें सहन नहीं होना चाहिए।......सारे नगर निवासियों में से केवल इन्हीं के लिए सोने-चाँदी को हाथ में लेना अथवा स्पर्श करना, या उनके साथ एकत्र एक छत के नीचे रहना या आभूषणों के रूप में उनको अपने अंगों में धारण करना अथवा सोने-चाँदी के पात्रों का पीने के लिए उपयोग करना प्रवैध होगा। इस प्रकार रहते हुए वे अपनी भी रक्षा कर सकेंगे और अपने नगर की भी परन्तु जब कभी भी वे अपनी भूमि, घर और धन उपार्जित कर लेंगे तब वे अपने अन्य नागरिक जनों के सहायक बने रहने की अपेक्षा उन पर द्वेषपूर्ण अत्याचार करने वाले शासक (Tyrant) बन जाएँगे। उनके जीवन के सारे दिन नागरिकों से घृणा करने में और उनके द्वारा घृणा किए जाने में, उनके विरुद्ध कुचक्र रचने में, उनके द्वारा रचे कुचक्रों का पात्र बनने में तथा बाह्य वैदेशिक शत्रुओं की अपेक्षा आन्तरिक शत्रुओं के भय से त्रस्त रहने में ही बीतेंगे और इस प्रकार अन्त में वे अपने तथा अपने राष्ट्र के सर्वनाश का मार्ग प्रशस्त करेंगे।"

प्लेटो के उपरोक्त कथन में सम्पत्ति के साम्यवाद के राजनीतिक तथा व्यावहारिक आधार पर जोर दिया गया है। इससे उसकी यह मान्यता प्रकट होती है कि आर्थिक और राजनीतिक दोनों प्रकार की शक्तियों की प्रभुता शासक वर्ग को भ्रष्ट करती है। दूसरे शब्दों में शासन की स्वच्छता तथा कुशलता के लिए कोई चीज इतनी घातक नहीं होती जितनी कि राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति का एकत्रीकरण। सम्भवतः इसी धारणा ने माण्टेस्क्यू (Montescque) के शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers) की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने का कार्य किया है। वेपर ने लिखा है कि एक ही हाथों में राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों के एकीकरण ने विश्व में अनेक कष्टों को जन्म दिया है। यही वह सिद्धान्त है जिस पर

बल देते हुए मार्क्स ने कहा है कि वह आर्थिक बल जिसके हाथ मे राजनीतिक शक्ति होती है, अपने स्वार्थ के लिए अन्य वर्गों का शोषण करता है। राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यो को अलग-अलग रखते हुए प्लेटो चाहता है कि आर्थिक क्रियाओ मे लगे हुए व्यक्ति राजनीतिक शक्ति मे कोई भाग न लें और जो राजनीतिक सत्ता के स्वामी हो वे कोई आर्थिक हित न रखें।

प्लेटो के साम्यवाद के राजनीतिक उद्देश्य को सेबाइन ने निम्न शब्दो मे इस तरह प्रस्तुत किया है—

"प्लेटो की यह दृढ मान्यता थी कि शासन पर धन का बहुत खराब प्रभाव पड़ता है। इस बुराई को दूर करने का प्लेटो को यही उपाय सूझा कि जहाँ तक सिपाहियो और शासको का सम्बन्ध है, धन का ही अन्त कर दिया जाए। शासकों के लोभ को दूर करने का एकमात्र यही उपाय है कि उनके पास कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहने दी जाए। वे किसी वस्तु को अपनी न कह सकें। शासक अपने नागरिक कर्त्तव्यो के प्रति निष्ठावान रहें। इस क्षेत्र मे उनका कोई व्यक्तिगत प्रतिद्वन्द्वी नही है। स्पार्टा के नागरिको को धन के उपयोग या व्यापार करने का अधिकार नही था। स्पार्टा के इस उदाहरण का प्लेटो के ऊपर प्रभाव पड़ा है तथापि इस सम्बन्ध मे प्लेटो की युक्तियो पर सावधानी से विचार होना चाहिए। प्लेटो धन की विषमताओ को इसलिए दूर नही करना चाहता था कि वे व्यक्तियों की एकता के लिए अन्यायकारी होता है। प्लेटो का उद्देश्य राज्य मे अधिकतम एकता की स्थापना करना था। व्यक्तिगत सम्पत्ति इस एकता के मार्ग मे बाधा थी। यह महत्त्व ग्रीक विचारधारा की विशेषता है। अरस्तू ने साम्यवाद की आलोचना इस आधार पर नही की कि वह अन्यायपूर्ण है, प्रत्युत इस आधार पर की कि साम्यवाद से वांछित एकता स्थापित नही हो सकेगी अत. प्लेटो के साम्यवाद का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक है। प्लेटो के साम्यवाद का प्रेरक तत्त्व आज के समाजवादी काल्पनिक राज्यो (Utopias) के प्रेरक तत्त्व से बिलकुल विपरीत है। प्लेटो आर्थिक समानता प्राप्त करने के लिए शासन का उपयोग नही करता। वह शासन के एक विक्षोभकारी तत्त्व को हटाने के लिए आर्थिक समानता स्थापित करना चाहता है।"[1]

अभिभावक वर्ग के लिए ऐसे अपरिग्रह का विधान बनाने का एक कारण अन्य भी है। प्लेटो केवल उन्ही व्यक्तियो को रक्षा और शासन की बागडोर सौंपना चाहता है जो साहस और बुद्धि से भरपूर हो। दूसरे शब्दो मे बुद्धि की श्रेष्ठता को शासन में भाग लेने की एकमात्र योग्यता मानता है। उसका विचार है कि यदि राज्य मे सम्पत्ति-संग्रह की प्रत्येक को खुली छूट दे दी जाए तो यह सम्भव है कि राजनीतिक पदो के लिए चुनाव का आधार ज्ञान या सद्गुण (Virtue) न रह कर सम्पत्ति हो जाएगी। उसकी दृष्टि मे "निजी सम्पत्ति का विनाश इस बात की गारण्टी है कि सरकारी पदो पर लोग अपने गुणो के कारण आयेंगे न कि अपनी शक्ति के

1 सेबाइन: पूर्वोक्त, पृष्ठ 55-56.

आधार पर।" इसी युक्ति को सेबाइन (Sabine) ने इस तरह व्यक्त किया है "सरकार के ऊपर धन के भयानक प्रभाव का प्लेटो को इतना दृढ विश्वास था कि उसे दूर करने के लिए उसे स्वय सम्पत्ति का ही विनाश करना पड़ा।" हारमॉन (Harmon) ने भी लिखा है कि प्लेटो अपने जीवन में आर्थिक विषमता के दुष्परिणामों को देख चुका था और वह भी देख चुका था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत आर्थिक लाभ राजनीतिक शक्ति के लिए संघर्ष के आधारभूत कारण हैं, अतः उसने शासक और सैनिक वर्ग के लिए सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना प्रस्तुत की ताकि उनमें राजनीतिक शक्ति-प्राप्ति के लिए कोई प्रतिद्वन्द्विता न रहे।[1]

(2) **परिवार अथवा पत्नियों का साम्यवाद (The Communism of Family or Wives)**—प्लेटो ने अभिभावकगण के लिए निजी सम्पत्ति का निषेध करने के साथ-साथ उन्हें निजी परिवार का त्याग कर सारे राज्य को अपना वृहद् परिवार मानने के लिए कहा है। इसमें प्लेटो का उद्देश्य यह था कि शासन और सैनिक वर्ग कचन के समान कामिनी के मोह से भी मुक्त होकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। वे इनके कारण प्रलोभनों एव आकर्षणों के वशीभूत होकर अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा न करे। प्लेटो का मत है कि परिवार का मोह धन के मोह से अधिक प्रबल होता है और मनुष्य इसके लिये अनेक प्रकार के अनुचित और अनैतिक कार्य करने के लिये भी तैयार हो जाता है। सेबाइन के शब्दों में "सम्पत्ति की भाँति ही प्लेटो विवाह का भी उन्मूलन करता है। यहाँ भी उसका यही उद्देश्य है। प्लेटो का विचार है कि मोह पारिवारिक स्नेह-बन्धनों के कारण जन्मता है। यदि शासक परिवार के प्रति अनुरक्त होंगे, तो वे राजकाज की ओर पूरा ध्यान नहीं दे सकेंगे। सन्तान सम्बन्धी चिंता व्यक्ति को स्वार्थी एवं सकीर्ण बनाती है। यह सम्पत्ति सबधी आकांक्षा से भी अधिक घातक है। घरो पर बच्चो की शिक्षा-दीक्षा का पूरा प्रबन्ध नहीं हो सकता। घरों की शिक्षा बच्चों को इस योग्य नहीं बना सकती कि वे राज्य की पूरी निष्ठा के साथ सेवा कर सकें।"[2] पुन सेबाइन के ही शब्दों में, "विवाह के सम्बन्ध में प्लेटो का एक और भी उद्देश्य था। पुरुष प्राय बड़ी लापरवाही से सभोग करते हैं। इस तरह की लापरवाही घरेलू जानवरों तक में भी नहीं पाई जाती। किसी भी जाति की उन्नति तभी हो सकती है जब कि उसके स्त्री-पुरुषों की सभोग-क्रिया नियन्त्रित हो और केवल कुछ चुने हुये स्त्री-पुरुषों को सभोग करने और सन्तान उत्पन्न करने की अनुमति दी जाए।"

परिवार के उन्मूलन के पक्ष में प्लेटो का एक तर्क और है और वह है नारी-जाति की विमुक्ति। प्लेटो के समय में यूनान में नारी-जाति की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उन्हें घर की चाहरदीवारी से बाहर नहीं निकलने दिया जाता था। उनका कार्य-क्षेत्र मकान की दीवारों और परिवार की जजीरों से जकड़ा-हुआ था।

1 *Harmon* : Political Thought from Plato to the Present, p. 39.
2 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 57.

प्लेटो की यह मान्यता थी कि नारी-जाति के उत्थान के लिये उनका कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक और विस्तृत होना चाहिये। यह तभी सम्भव है जबकि परिवार अथवा विवाह व्यवस्था को ही समाप्त कर दिया जाए। प्लेटो ने विवाह के अन्त की व्यवस्था कर एथेन्स मे स्त्रियो की स्थिति की आलोचना की है, जिनके कार्य-कलाप केवल घरो को चलाने और बच्चो का पालन-पोषण करने तक ही सीमित थे। प्लेटो के विचार मे यह अनुचित था। इसके कारण राज्य अपने आधे भावी सरक्षकों की सेवाओ से वचित हो जाता था। प्लेटो स्त्री एवं पुरुषो मे कोई आधारभूत भेद भी स्वीकार नही करता। उसके विचार से स्त्रियो मे इतनी योग्यता है कि वे राजनीतिक तथा सैनिक कार्य तक मे भाग ले सकती हैं। सरक्षक वर्ग की महिलाएँ पुरुषो का सारा काम कर सकती हैं। इसके लिए जरूरी है कि उन्हे पुरुषो की सी शिक्षा मिले और वे सारे घरेलू कामो से छुट्टी पा सके।

उपरोक्त धारणाओ के आधार पर प्लेटो परिवार या पत्नियो के साम्यवाद की योजना बनाता है। आगे इस सिद्धान्त का स्वरूप बतलाते हुए उसने कहा है—"सरक्षक स्त्री-पुरुषो मे कोई भी अपना निजी घर (परिवार) नही बनायेगा। कोई भी किसी के साथ व्यक्तिगत रूप मे सहवास नही कर सकेगा। शासक स्त्रियाँ सब शासक पुरुषो की समान रूप से पत्नियाँ होगी, इनकी सताने भी समान रूप से सबकी होगी और न तो माता-पिता अपनी सन्तान को जान सकेंगे और न सन्तान माता-पिता को।" (रिपब्लिक, पृष्ठ 133) स्पष्ट है कि प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था के अनुसार अभिभावक वर्ग के व्यक्तियों को विवाह करके स्थाई रूप से परिवार बसाने की आज्ञा नही है। सुन्दर, स्वस्थ और बलशाली व्यक्ति ही राज्य की आवश्यकतानुसार सतानोत्पादन के लिए अस्थायी रूप से विवाह कर सकेंगे और उनसे पैदा होने वाले शिशु राज्य के सरक्षण मे पाले जायेंगे। वास्तव मे प्लेटो, सर्वोत्कृष्ट नारियो को राज्य की सेवा के लिए भरती करने और उन्हे उच्चतम शिक्षा प्रदान करने के लिए गृहस्थ जीवन की चाकरी से स्वतन्त्र करना चाहता था। इस प्रकार उसके द्वारा विवाह-सस्थान का उन्मूलन नारी अधिकारो के समर्थन का एक जबरदस्त दावा था। उसने नारी को पुरुष के स्तर पर उठाया और उसके विवेक-प्रधान स्वभाव को स्वीकार किया।

सार रूप मे कहा जा सकता है कि प्लेटो ने अपने परिवार या पत्नियो के साम्यवाद की योजना तीन कारणों से प्रस्तावित की थी—

1. वह परिवार के घातक एव सकीर्णतावादी क्षुद्र प्रभावो से अभिभावक वर्ग को मुक्त रखना चाहता था।

2. वह नारी की मुक्ति तथा समानाधिकार का पक्षपाती था।

3 उत्तम सतान-प्राप्ति के लिए प्रजननशास्त्र की दृष्टि से प्लेटो को यह व्यवस्था वाञ्छनीय प्रतीत होती थी।

उत्तम संतान पाने के लिए स्त्री-पुरुष का यौन सम्बन्ध विकसित यौवनकाल में होना चाहिए। अतः प्लेटो ने यह व्यवस्था की है कि "स्त्रियाँ 20 वर्ष की अवस्था से लेकर 40 वर्ष की अवस्था तक राष्ट्र के लिए संतान उत्पन्न करेंगी और पुरुष पूर्ण यौवन को प्राप्त कर लेने के बाद 25 वर्ष की अवस्था से लेकर 55 वर्ष की अवस्था तक राष्ट्र के लिए सन्तान पैदा करेंगे।" इस अवस्था से पहले सन्तान उत्पन्न करने वालों का कार्य अवैधानिक, अधार्मिक और अन्यायपूर्ण होगा। इस निर्धारित प्रजनन अवस्था के पश्चात् "पुरुषों को पुत्री और माता तथा उनके प्रत्यक्ष पूर्वज अथवा संतान को छोड़कर तथा स्त्रियों को पुत्र तथा पिता आदि को छोड़कर अन्य किसी के साथ मर्यादित सहवास की स्वतन्त्रता होगी, किन्तु इस अवस्था में गर्भ को जन्म न लेने देने की व्यवस्था भी की जाएगी।" (रिपब्लिक, पृष्ठ 158)

माता-पिता का ज्ञान न होने पर पिता-पुत्र आदि वर्जित सम्बन्धों का ज्ञान कैसे हो सकेगा—इसका समाधान प्लेटो ने यह कह कर किया है कि—"पुरुष वर बनने के बाद सातवें मास से लेकर दसवें मास तक के मध्य में उत्पन्न हुए बच्चों को नर होने पर पुत्र और मादा होने पर पुत्री कहेगा और वे संतानें उसको पिता कहेंगी और इसी प्रकार वह इनकी संतानों को पौत्र कहेगा और वे उनके समुदाय की स्त्रियों एवं पुरुषों को दादा-दादी कहेंगे तथा वे सब बच्चे जो कि एक माता-पिताओं के समुदाय के प्रजनन काल में उत्पन्न हुए हैं, एक दूसरे को भाई-बहिन मानेंगे।" (रिपब्लिक, पृष्ठ 158)। प्लेटो का विचार है कि इस व्यवस्था से उत्पन्न सन्तानें स्वस्थ एवं सम्पन्न होंगी और राज्य एक विशाल कुटुम्ब का रूप धारण करके एकता की ओर बढ़ सकेगा।

प्लेटो के साम्यवाद की विशेषतायें

प्लेटो के साम्यवाद की सम्पूर्ण योजना के अन्तर्गत, चाहे वह साम्यवाद सम्पत्ति का हो या परिवार अथवा विवाह का, यह धारणा सन्निहित है कि आध्यात्मिक बुराइयों को दूर करने की दिशा में बहुत कुछ किया जा सकता है। प्लेटो की चिकित्सा में आध्यात्मिक आहार-संयम पहला और मुख्य उपचार है, पर भौतिक पदार्थों की निर्मम शल्य क्रिया भी उसका एक साधन है। चूँकि आध्यात्मिक बुराइयों के साथ भौतिक दशाएँ गुँथी होती हैं, अतः प्लेटो को लगता है कि भौतिक दशाएँ आध्यात्मिक बुराइयों के कारण हैं, और इसीलिए वह जीवन की भौतिक दशाओं के आमूल-सुधार का पोषक है।[1] प्लेटो का विश्वास है कि साम्यवादी व्यवस्था में आत्मिक जीवन के लिए सबसे अनुकूल परिस्थितियाँ होती हैं। शिक्षा-योजना की भाँति प्लेटो के साम्यवाद का उद्भव भी न्याय के नाम पर हुआ है और यहाँ भी प्लेटो का चरम लक्ष्य है—आध्यात्मिक उत्कर्ष।

प्लेटो का साम्यवाद 'एक साध्य नहीं अपितु साधन है'। "उसका साम्यवाद केवल संरक्षक एवं शासक-वर्ग के लिए है तथा उसका उद्देश्य उन रुकावटों और प्रलोभनों को दूर करना है जिनके द्वारा राज्य में न्याय की स्थापना में बाधा पड़ती है।" साम्यवाद प्लेटो के लिए उसकी न्याय-धारणा का अनिवार्य परिणाम है।

1 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 317.

उसके आदर्श राज्य के तीन वर्गों मे से दो वर्ग शासक और सैनिक साम्यवादी शासन मे रह कर ही बुद्धिमत्तापूर्वक अपना काम कर सकते हैं और उसके नि.स्वार्थ भाव से लगे रह सकते हैं। राज्य से जीवन मे मन के जिन भागो अथवा तत्त्वो की वे अभिव्यक्ति करते हैं वे हैं विवेक और उत्साह। यदि उन्हें इन तत्त्वो के कार्य-विशेष को पूरा करने मे जुटाना हो तो उस वासना अथवा क्षुधा तत्त्व से छुटकारा पाना होगा जिसका प्रतिनिधित्व तीसरे वर्ग के लोग अर्थात् किसान करते हैं, वे नही। अत: यह आवश्यक है कि वे जीवन के आर्थिक पक्ष का परित्याग करें क्योकि जीवन का यह पक्ष वासना अथवा क्षुधा तत्त्व की ही बाह्य अभिव्यक्ति है। इस प्रकार, मन के उच्चतर तत्त्वो की राज्यों मे जो उचित स्थिति है, उससे साम्यवादी जीवन का अनिवार्य सम्बन्ध है। यहाँ साम्यवादी जीवन का अर्थ उस जीवन से है जो आर्थिक प्रेरणाओ से मुक्त हो। दार्शनिक प्रकृति का साधन, जिसमे विवेक-तत्त्व का प्राधान्य है—वह विशेषतः आवश्यक शर्त है। साम्यवाद के विवेक या तो निद्रा मे निश्चल निपस्द पड़ा रहेगा और यदि वह सक्रिय भी हुआ तो वासना अथवा क्षुधा उसके काम मे रुकावट डालेगी और उसे स्वार्थ-पूर्ति के कामो मे प्रवृत्त करेगी। साम्यवाद विवेक के शासन की आवश्यक शर्त ही नही है, वरन् विवेक का प्रकटीकरण ही साम्यवाद के रूप मे होता है। विवेक का अर्थ है निस्वार्थता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो व्यक्ति विवेक से अनुप्राणित होगा वह आत्म-परितोष को ही अपना लक्ष्य बना कर नहीं चल सकता अपितु अपने आप को वृहत्तर इकाई के कल्याण साधनो मे लगाते हुए चलना होगा।" प्लेटो ने व्यक्ति की स्वार्थ-रहित और परोपकारी भावना को श्रेष्ठता देने के लिए केवल सम्पत्ति को ही नही अपितु स्त्रियो और बच्चो तक को साम्यवाद के अन्तर्गत ले लिया ताकि सरक्षक वर्ग परिवार के सुख-बन्धन मे न पड़कर देश-सेवा मे रत रह सकें। प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था का उद्देश्य राज्य का हितसाधन है, न कि उससे सम्बन्धित वर्गों का।

प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक आधार पर आधारित है जिसका उद्देश्य मानव-प्रकृति को विकृति की ओर से ले जाने वाली बाह्य सस्थाओ और उनके भौतिक सुखों का निषेध करना है। उसकी विवाह-व्यवस्था का ध्येय धार्मिक अथवा प्रेम एव आकर्षण आदि न होकर केवल राज्य के लिए स्वस्थ सतानोत्पत्ति है। विवाह के स्थान पर वह स्वतन्त्र सेक्स सम्पर्क पर बल देता है। प्लेटो ने अपने साम्यवाद मे स्पष्ट किया है कि केवल पुरुष ही शासन के अधिकारी नहीं हैं बल्कि स्त्रियाँ भी इस क्षेत्र मे पुरुषो के समकक्ष हैं। उसने स्त्रियो तथा पुरुषो की आयु को भी निश्चित किया है और उसी अवस्था के मध्य यौनाचार से उत्पन्न हुए बच्चो को वैध माना है।

प्लेटो के साम्यवाद की आधुनिक साम्यवाद से तुलना

मैक्सी ने लिखा है कि "प्लेटो सम्यवादी विचारों का मुख्य प्रेरणा-स्रोत है और रिपब्लिक मे सभी साम्यवादी और समाजवादी विचारो के मूल बीज मिलते

है।"[1] किन्तु यह धारणा पूर्णतः सत्य नही है। वास्तव मे दोनों विचारो एवं व्यवस्थाओ मे समानता बहुत कम है और असमानता बहुत अधिक। प्लेटो के साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद की समानताओ और असमानताओ का तुलनात्मक चित्रण वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करने मे उपयोगी होगा।

समानतायें

1. प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की तुलना मे व्यक्ति के अस्तित्व को महत्व न देते हुए यह माना है कि मनुष्य राज्य मे रहकर ही अपने उद्देश्यो की पूर्ति सरलता से कर सकता है। आधुनिक साम्यवाद मे भी व्यक्ति राज्य रूपी मशीन का एक पुर्जा मात्र है जिसे राज्य द्वारा निर्दिष्ट कार्य करने होते हैं।

2. प्लेटो ने अनियमित आर्थिक प्रतियोगिता को कोई महत्व नही दिया है। मार्क्सवाद-साम्यवाद भी अनियमित आर्थिक प्रतियोगिता मे कोई स्थान नही देता।

3. प्लेटो ने अपने साम्यवाद मे व्यक्ति के अधिकारो पर ध्यान न देकर उसके कर्त्तव्यो पर अधिक बल दिया है। आधुनिक साम्यवाद भी व्यक्ति पर इतने कर्त्तव्य आरोपित करता है कि वह अपने अधिकारो से वंचित-सा हो जाता है।

4 प्लेटो के साम्यवाद की योजना काल्पनिक और अव्यावहारिक है। मार्क्सवादी योजना का भी यदि गहराई और विस्तार से विश्लेषण करें तो वह अव्यावहारिक ठहरती है। प्लेटोवादी और आधुनिक दोनो ही साम्यवाद सीमित क्षेत्र मे ही सफल हो सकते हैं, व्यापक क्षेत्र मे नहीं।

5. प्लेटो ने मानव की स्वार्थ-भावना पर ध्यान न देकर उसकी मूल प्रवृत्तियो का बहिष्कार किया है तथा उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की उपेक्षा की है। मार्क्स ने भी व्यक्ति का बहुत-कुछ अव्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हुए उसकी स्वार्थी वृत्ति पर ध्यान नही दिया है। दोनो ही साम्यवाद व्यक्ति के काम, संचय आदि मूल प्रवृत्तियो की उपेक्षा करते हैं।

6. प्लेटो का साम्यवाद एकांगी है क्योकि वह मानव-स्वभाव के केवल एक पक्ष को महत्व देता है—नैतिकता और आध्यात्मिकता के पहलू को ही स्पष्ट करता है। आधुनिक साम्यवाद भी अधूरा है क्योकि उसमे भौतिकवाद तथा आर्थिकवाद को ही प्रधानता दी गई है।

7. प्लेटो उच्च दो वर्गों के निजी सम्पत्ति रखने पर प्रतिबन्ध लगाता है, आधुनिक सम्यवाद भी व्यक्तिगत का विरोधी है।

8. प्लेटो का साम्यवाद दार्शनिक राजा के अधिनायकवाद मे विश्वास रखता है, आधुनिक साम्यवाद का विश्वास भी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद मे है।

9. प्लेटो के साम्यवाद का एक मुख्य उद्देश्य ऊँच-नीच तथा वर्ग-भेदो को मिटाकर एकता को स्थापना करना है। आधुनिक साम्यवाद भी पूँजीवाद के शव पर

1 *Maxey* : Political Philosophies, p. 55.

सबको समान आर्थिक स्तर प्रदान करना चाहता है ताकि राज्य में एकता और एकरूपता स्थापित हो सके।

10 दोनों ही साम्यवाद राज्य को सुसंगठित और सुदृढ़ बनाना चाहते हैं।

11. दोनों ही साम्यवाद स्त्रियों और पुरुषों की स्वतन्त्रता तथा उनके समान अधिकारों के समर्थक हैं।

असमानतायें

1. प्लेटो के साम्यवाद का दृष्टिकोण आध्यात्मिक, निराशावादी और विरक्तिमूलक है जिसमें मानव-मस्तिष्क तथा नैतिक पहलुओं पर ही आग्रह है। यह अभिभावक वर्ग नि.स्वार्थ रूप से राज्य की रक्षा और एकता के लिए कार्य करेंगे। शासकों और सैनिकों को सम्पत्ति और परिवार से वंचित इसलिये किया गया है कि उनका जीवन उत्कृष्ट और श्रेष्ठ हो।

2. इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद का दृष्टिकोण भौतिकवादी, क्रान्तिकारी तथा प्रगतिशील है। यह मानवता को आशावाद का सन्देश देता है और द्वन्द्वात्मक और भौतिकवाद में विश्वास रखता है, किसी आध्यात्मिक सत्ता में नहीं। यह क्रान्ति द्वारा सर्वहारावर्ग की तानाशाही का पोषक है। वर्गहीन और जाति-विहीन समाज की स्थापना इसका अपना प्रगतिशील लक्ष्य है।

3. प्लेटो का साम्यवाद शासक और सैनिक वर्ग पर ही लागू होता है, उत्पादक वर्ग पर नहीं। उत्पादन के साधनों पर उत्पादक वर्ग का एकाधिकार स्थापित किया गया है, किन्तु उपभोग की वस्तुओं के वितरण का अधिकार शासक-वर्ग के पास है। प्लेटो के साम्यवाद में बौद्धिक अभिजात्य-तन्त्र को प्राथमिकता प्राप्त है, साम्यवादी विचारधारा को नहीं। इस विचारधारा को दूसरी रक्षा-शक्ति के रूप में प्रस्तावित किया गया है और पूंजीपति वर्ग सुरक्षित है।

आधुनिक साम्यवाद में किसान और मजदूर वर्ग के लिए ही साम्यवादी योजना प्रस्तावित है। उत्पादन के साधनों और वितरण तथा उपभोग की व्यवस्था पर भी राजकीय नियन्त्रण रखा गया है, किसी वर्ग विशेष का नहीं। इस प्रकार वर्तमान साम्यवादी व्यवस्था किसी वर्ग-विशेष के लिए न होकर सारे समाज के लिए है— ऐसे समाज के लिए जो वर्ग-विहीन और जाति-विहीन होगा। आधुनिक साम्यवाद में साम्यवादी विचारधारा को सर्वोच्चता प्रदान की गई है।

4. प्लेटो के साम्यवाद में वर्ग निहित हैं और साथ ही इसमें राज्य का भी लोप नहीं होता। आधुनिक साम्यवाद में वर्ग-विहीन समाज की व्यवस्था है, इसमें सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के बाद राज्य के लोप हो जाने का विधान है।

5. प्लेटो के साम्यवाद में सामाजिक परिवर्तन तार्किक ढंग से होता है जबकि आधुनिक साम्यवाद में सामाजिक परिवर्तन एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है।

6. प्लेटो का साम्यवाद एक दार्शनिक अथवा राजनीतिक साम्यवाद है। जिसका प्रधान लक्ष्य राज्य की हित-साधना है। इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद आर्थिक साम्यवाद है जिसका मूल लक्ष्य शोषण का उन्मूलन है। अराजकता प्लेटो

के साम्यवाद के जन्म का कारण है जबकि आधुनिक साम्यवाद आर्थिक असमानता की उपज है।

7 प्लेटो के साम्यवाद की प्राप्ति का मार्ग नकारात्मक है जबकि आधुनिक साम्यवाद की प्राप्ति का मार्ग क्रान्ति और प्रचार है। आधुनिक साम्यवाद प्लेटो की भाँति आत्म-संयम और आत्म-नियन्त्रण के साधनों का उद्घोष नहीं है।

8. प्लेटो के साम्यवाद में राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों को पृथक्-पृथक् हाथों में सौंपा गया है। इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद में दोनों शक्तियों को पृथक् नहीं माना गया है। यह राजनीति तथा अर्थ को पर्यायवाची मानता है।

9 प्लेटो के साम्यवाद में सम्पत्ति और परिवार दोनों पर सामूहिक स्वामित्व की व्यवस्था है। आधुनिक साम्यवाद केवल पूँजी के ही सामूहिक स्वामित्व का आयोजन करता है। इसमें पत्नियों के समूहीकरण जैसी कोई बात नहीं है।

10 प्लेटो का साम्यवाद उच्च वर्गों को प्रधानता देता है, आधुनिक साम्यवाद निम्न और श्रमिक वर्गों का पहला कुलीन तन्त्र का पोषक है, दूसरा कुलीन तन्त्र का विरोधी और तथाकथित 'जनतन्त्र' का पोषक।

11 प्लेटो का साम्यवाद सुधारवादी है। यह न्याय की स्थापना द्वारा सुधार का आकांक्षी है। आधुनिक साम्यवाद क्रान्ति के माध्यम से परिवर्तन का पोषक है।

12 प्लेटो का साम्यवाद एक राज्य तक ही सीमित है जो यूनान नगर-राज्य की पृष्ठभूमि में ही सम्भव है। उसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद सम्पूर्ण विश्व का कायाकल्प करना चाहता है, यह अन्तर्राष्ट्रीय है।

13 प्लेटो का साम्यवाद विभिन्न वर्गों में सामञ्जस्य और एकता स्थापित करता है जबकि आधुनिक साम्यवाद वर्ग-संघर्ष को अनिवार्य मानते हुए उसके द्वारा ही वर्ग-विहीन समाज की स्थापना का हामी है।

14 प्लेटो के साम्यवाद में कार्य के विशेषीकरण पर बल दिया गया है और विभिन्न वर्गों में कार्य का विभाजन किया गया है। आधुनिक साम्यवाद का आग्रह सामूहिक कार्य पर है।

अतः हम देखते हैं कि प्लेटो के प्राचीन और मार्क्स के वर्तमान साम्यवाद में मौलिक अन्तर है। टेलर (Taylor) ने यह सत्य ही लिखा है—"रिपब्लिक के समाजवाद और साम्यवाद के सम्बन्ध में बहुत कहा जाने के बावजूद भी वस्तुतः इस ग्रन्थ में न तो समाजवाद पाया जाता है और न कहीं साम्यवाद मिलता है।"[1]

प्लेटो के साम्यवाद की अरस्तू द्वारा आलोचना

प्लेटो की साम्यवादी योजना की एक ओर अरस्तू ने आलोचना की है, तो

1 *Taylor* : Plato, p. 276.

दूसरी ओर वर्तमान दृष्टिकोण से भी उसके अव्यावहारिक एवं अमनोवैज्ञानिक पक्ष सामने आए हैं। अरस्तू के प्रमुख आलोचना-बिन्दु इस प्रकार हैं—

1. प्लेटो की सम्पत्ति विषयक साम्यवाद की योजना समाज में संघर्ष और फूट की प्रवृत्ति को बढ़ाने वाली है। वैयक्तिक सम्पत्ति में व्यक्तिगत स्वार्थ का एक क्षेत्र अलग होता है अतः पारस्परिक कलह का एक प्रमुख कारण स्वतः ही दूर हो जाता है लेकिन प्लेटो के साम्यवाद में इस तरह के वैयक्तिक क्षेत्र की अनिश्चितता के कारण विवादों को बढ़ावा मिलेगा। इससे समाज की उन्नति को धक्का पहुँचेगा। समाज की वास्तविक प्रगति सम्पत्तिशाली व्यक्तियों द्वारा विकसित विविध रुचियों द्वारा ही हुआ करती है।

2. प्लेटो का साम्यवाद विविधता का शत्रु है और बिना विविधता के बौद्धिकता का विकास नहीं हो सकता। एकता में अनेकत्व आवश्यक है, यदि निर्जीव एकरूपता स्थापित की गई तो वह हानिकारक तथा घातक होगी।

3 प्लेटो ने सम्पत्ति के गुणों की अवहेलना की है। सम्पत्ति को एक बुराई, एक अवगुण तथा पथभ्रष्ट करने वाली एवं दुर्बलता मात्र बताना भ्रामक है। सम्पत्ति तो एक गुण, एक प्रेरणाशक्ति और एक स्वाभाविक आवश्यकता है। सम्पत्ति परिवार का एक आवश्यक अंग है जिसके बिना स्वस्थ और सुखी जीवन सम्भव नहीं हो सकता। सम्पत्ति ग्रहण करने का भाव ही व्यक्तियों को गौरव की अनुभूति देता है।

4. प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था से उत्पादन और वितरण में एक-सा अनुपात हीन रहता। वे व्यक्ति जो कठोर श्रम के द्वारा अधिक उत्पादन करते हैं उतना ही प्राप्त करेंगे जितना कि कम श्रम करने वाला व्यक्ति, यह अनुचित है।

5. प्लेटो का सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद ऐतिहासिक आधार पर भी दोषपूर्ण है। यदि सम्पत्ति का साम्यवाद एक श्रेष्ठ व्यवस्था होती तो समाज इसे स्वीकार करता और इतिहास उससे अवगत होता। जिस व्यवस्था को समाज ठुकराता है, उसकी अपूर्णता स्पष्ट है।

6. प्लेटो जिन बुराइयों को दूर करने के लिए साम्यवादी व्यवस्था का आयोजन करता है, वे बुराइयाँ सम्पत्ति पर स्वामित्व को समाप्त करने से नहीं मिटेंगी। इस व्यवस्था से मनुष्य के मन से ईर्ष्या, द्वेष, संघर्ष, लालच और शोषण आदि की भावनाएँ समाप्त नहीं हो पाएँगी। इन मानसिक रोगों का उपचार तो मानसिक ही होना चाहिये।

7. प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद अव्यावहारिक है जिसे लागू करने से अनेक नवीन और अधिक भीषण समस्याओं का जन्म होगा। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व को समाप्त कर उसे एक स्वचालित यन्त्र मात्र बना देगा।

8. व्यक्तित्व और परिवार को कुचल कर एकता की स्थापना के प्रयत्नों को उचित नहीं कहा जा सकता। यह व्यवस्था तो राज्य के अस्तित्व को ही खतरा

पहुँचाती है। राज्य समस्त सस्थाग्रो की एक सस्था है और परिवार ऐसी राज्य रूपी सस्था की एक इकाई है।

9. प्लेटो की स्त्रियो के सामूहिक स्वामित्व की योजना से यौन-क्षेत्र मे अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। एक सुन्दर स्त्री को प्राप्त करने की कामना अनेक पुरुष करेगे ग्रौर तब स्वभावत- सघर्षो ग्रौर विवादो का जन्म होगा। पत्नियो के साम्यवाद के कारण राज्य घृणा ग्रौर द्वेष का घर बन जाएगा।

10. प्लेटो का परिवार या स्त्री संबन्धी साम्यवाद मानव नैतिकता ग्रौर पवित्रता पर भीषण ग्राघात करने वाला है। पिता को पुत्री, माता को पुत्र ग्रौर भाई को बहिन का ज्ञान न होने से कोई किसी के भी साथ सहवास कर सकता है जिससे पशु-जगत मे पाई जाने वाली नैतिक अराजकता जन्म लेगी।

11. प्लेटो द्वारा सार्वजनिक रूप से बच्चो के भरण पोषण ग्रौर शिक्षा की व्यवस्था की ग्रालोचना करते हुए अरस्तू का कहना है कि ग्रनाथालय के बालकों के समान ही सार्वजनिक रूप से न तो बच्चो को उच्च शिक्षा-दीक्षा दी जा सकेगी ग्रौर न ही उनमे नागरिको के गुणो को भरा जा सकेगा।

12. प्लेटो के साम्यवाद मे उत्पादक वर्ग की उपेक्षा की गई है, जो जन-सख्या का अधिकांश भाग होता है। साथ ही यदि यह व्यवस्था अच्छी है तो इसे पहले श्रमिक वर्ग पर ही लागू किया जाना चाहिए था जो अभिभावक वर्ग की अपेक्षा कम ज्ञानी ग्रौर कम शिक्षित होता।

13. राज्यो को वर्गो मे विभक्त करके प्लेटो स्वय ही उसकी एकता को ग्रस्त-व्यस्त करता है।

14. व्यावहारिकता की दृष्टि से भी परिवार सबधी साम्यवाद अनुचित है। परिवार तो ग्रात्मा की ग्रभिव्यक्ति का उत्तम स्थान ग्रौर यौन सबधो के नियमानुसार सचालन की एक ग्रनुशासित सस्था है। जिस समाज मे, जिसमे ग्रपने तथा ग्रन्य व्यक्तियो के समस्त प्राकृतिक ग्रौर सामाजिक सबधो का ज्ञान होता है, ग्रपराध कम होते हैं परन्तु उस समाज मे, जहाँ सबध होगे ही नहीं, घटनाएँ ग्रौर ग्रपराध बहुत ग्रधिक हो जाएँगे।

15 प्लेटो का साम्यवाद प्रतिक्रियागामी है। वह समाज को प्रगति की ग्रोर न ले जाकर पीछे की ग्रोर ले जाता है। विवाह की जिस प्रकार की व्यवस्था की गई है, वह प्राचीनकाल की बर्बर जातियो की प्रथाग्रो का ध्यान दिलाती है।

16. राज्य द्वारा श्रेष्ठ स्त्री-पुरुषों के समागम की योजना सर्वथा ग्रव्याव-हारिक है। पशु-जगत के उदाहरणों को मानव समाज पर लागू करना न उपयोगी हो सकता है ग्रौर न ही वांछनीय।

प्लेटो के साम्यवाद की ग्राधुनिक ग्रालोचना

(1) प्लेटो के साम्यवाद की वर्तमानान ग्रालोचनाएँ भी बहुत कुछ वही हैं जो ग्ररस्तू ने की हैं। वास्तव मे प्लेटो ने मानव-प्रकृति का बड़ा ग्रव्यावहारिक ग्रौर

अमनोवैज्ञानिक अर्थ लिया है। उसने इस तथ्य की उपेक्षा कर दी है कि राज्य की तरह व्यक्ति का भी व्यक्तित्व है। राज्य व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने का एक साधन है और इसे व्यक्ति की प्रकृति तथा आवश्यकताओं का ध्यान रखना चाहिए। व्यक्ति उद्देश्य है जबकि राज्य इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन है किन्तु प्लेटो ने तो राज्य को साध्य बना दिया है।

(2) प्लेटो ने मनुष्य की मूल प्रवृत्ति का भी बिलकुल विपरीत पक्ष लिया है। उसका सम्पत्ति एवं परिवार सम्बन्धी साम्यवाद कोरा काल्पनिक है, जो यथार्थ के धरातल पर खरा नहीं उतरता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और सबसे अधिक सामाजिकता का प्रारम्भ उसे अपने परिवार में ही प्राप्त होता है। यदि व्यक्ति को पारिवारिक सुख से वंचित रखा जाएगा तो उसमें उदासीनता और कटुता घर कर लेगी और वह स्नेह, करुणा आदि के भावों के प्रति विरक्त हो जाएगा। उसमें ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का विकास होगा कि वह निराशामय और विरागी हो जाएगा जिसे अन्याय, दुराचार एवं अनुचित कार्य करने में कोई संकोच नहीं होगा।

(3) प्लेटो के विवाह-सुधार योजना के अनेक पक्ष हैं, अनेक प्रयोजन हैं। वह अच्छी सन्तान पैदा करने की योजना है, वह स्त्रियों के उद्धार की योजना है, वह परिवार के राष्ट्रीयकरण की योजना है। उसका उद्देश्य है कि सन्तति सुधरे, स्त्रियों को और साथ ही पुरुषों को भी अधिक स्वतन्त्रता मिले ताकि वे अपनी क्षमताओं का अधिकतम विकास कर सकें। ये उद्देश्य ऐसे हैं जिनसे हम आसानी से सहमत हो सकते हैं, पर उसके साधन स्वीकार करना कठिन है। स्त्रियों के उद्धार की योजना से बहुतों को सहानुभूति हो सकती है, पर योजना के मूल में जो तर्क हैं वे सन्देह पैदा करते हैं। आखिर, स्त्री-पुरुष में सिर्फ यही भेद नहीं है कि पुरुष बीज डालता है और स्त्री गर्भ धारण करती है। स्त्री का स्त्रीत्व कोई अलग-थलग चीज नहीं होती कि बस केवल इसी नाते वह पुरुष से भिन्न है। स्त्री तो अपनी प्रकृति से परिवार का प्राण होती है और इस बात को भूलने का अर्थ है परिवार का प्राणान्त। विचित्र बात है कि प्लेटो यह मूल्य चुकाने को तत्पर है। प्लेटो भूल जाता है कि प्रकृति से ही स्त्री का अपना एक विशिष्ट कार्य है और यह कार्य शिशु पालन-केन्द्र को सौंपना उसे कभी स्वीकार न होगा। उसके बच्चों को बड़ा होने में लम्बा समय लगता है, पालन-पोषण के बिना उनका काम नहीं चल सकता, अतः यह काम स्त्री को जिन्दगी भर तक करना होगा। अविवाहिता नारी संसार के उन्मुक्त कर्म-क्षेत्र में उतर सकती है, विवाहिता स्त्री का जीवन-कर्म उसके लिए तैयार रहता है और निश्चय ही किसी भी राज्य की सच्ची नीति यह कभी नहीं हो सकती कि मातृत्व का अन्त कर दिया जाए। राज्य का तो यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह मातृत्व को एक विशिष्ट कार्य माने, समाज के प्रति एक देन स्वीकार करे। इसी में न्याय की सिद्धि है।[1]

1 बार्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 337.

(4) प्लेटो की अस्थाई और राज्य नियन्त्रित विवाहों की योजना भी अव्यावहारिक है। माँ-बच्चे के सम्बन्ध की तरह पति-पत्नी के सम्बन्ध का भी आजीवन महत्त्व होता है और यह असम्भव है कि स्त्री-पुरुष बस सम्भोग के लिए एक दूसरे से मिलें और फिर अपनी-अपनी राह चल दें। उनके मिलन का मुख्य प्रयोजन केवल यही नहीं होता, अपितु वे 'जीवन-मैत्री' के लिए एक दूसरे से मिलते हैं, दोनों के समान हित ही उनके परिणय-सूत्र का आधार बनते हैं। जीवन को सही दिशा में डालने वाले जो अनेक प्रभाव हैं उनमें से एक है—सच्चे विवाह की मैत्री अथवा स्थाई आध्यात्मिक संयोग। वस्तुतः, प्लेटो ने विवाह-सूत्र के सच्चे स्वरूप के प्रति न्याय नहीं किया है और न ही उसने परिवार के नैतिक मूल्य, महत्त्व एवं आवश्यकता को ही समझा है।

(5) यह एक अव्यावहारिक और प्रेरणात्मक बात है कि व्यक्ति निजी सम्पत्ति पर अधिकार न रखें और राज्य द्वारा निर्मित बैरेक्स में भोजन करें। यह तो उनके साथ एक प्रकार के कैदियों और दासों का सा व्यवहार होगा और उनकी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रहेगी। ऐसा साम्यवाद असन्तोष को पैदा कर विप्लवों को जन्म देगा।

(6) प्लेटो के साम्यवाद का एक गम्भीर दोष यह है कि वह जिस सच्ची आत्म-भावना को जगाना चाहता है, उसी के आधार की नष्ट करके वह उसकी कल्पना का अन्त कर देता है। वह व्यक्ति की सोचने, समाज के सदस्य के रूप में काम करने और सामाजिक इच्छा की अभिव्यक्ति करने का अधिकार अर्थात् आवश्यक परिस्थितियाँ नहीं देता। प्लेटो व्यक्ति के लिए उस मत्र का निषेध कर देता है जो उसके चिन्तन और कर्म-क्षेत्र की तथा किसी भी इच्छा की अभिव्यक्ति की आवश्यक परिस्थिति है।

(7) प्लेटो की माँग है कि व्यक्ति राज्य से निचले स्तर की किसी व्यवस्था अथवा योजना से अपने आपको अभिन्न नहीं करेगा। यह मान्यता इतनी ऊँची है कि मनुष्य उस तक नहीं पहुँच सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को एक अपेक्षाकृत निचली योजना और संकुचित व्यवस्था से अभिन्न कर लेता है और वैसा किए बिना रह नहीं सकता। यह व्यवस्था या योजना है—परिवार।

(8) स्त्रियों और बच्चों का साम्यवाद एक और दृष्टि से भी अव्यावहारिक है। केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही दार्शनिक शासक मैथुनाचार करे, यह सम्भव नहीं जंचता। प्रथम तो यह आवश्यक नहीं है कि किसी विशेष अवस्था के पुरुष के साथ केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही मिले, और यदि ऐसा हुआ तो, शनैः शनैः एक अवस्था ऐसी आ जाएगी जबकि वे परिवार बसाने लग जाएँगे। फिर जो दार्शनिक अपने बच्चों को पहचानने लगेंगे तो अवश्य ही पक्षपात भी होगा और इस प्रकार इस व्यवस्था के जो ध्येय प्लेटो ने रखे हैं वे प्राप्त नहीं हो सकेंगे।

(9) प्लेटो का साम्यवाद प्रजातान्त्रिक न होकर अभिजनतान्त्रिक (Aristocratic) है। उसके राज्य में केवल दार्शनिक राजा-रानियाँ ही शासन

करेंगे । उसके साम्यवाद का सिद्धान्त राज्य के तृतीय उत्पादन वर्ग पर नही लागू होता क्योकि वे निजी सम्पत्ति का उपभोग कर सकेंगे एव परिवार के साथ रह सकेंगे । इसी प्रकार प्लेटो साम्यवाद की योजना करते समय नागरिको के बहुसख्यक को इस व्यवस्था से अछूता रखता है । उसका सम्पति सम्बन्धी साम्यवाद केवल सरक्षक तथा शासक वर्ग के लिए ही है और इससे राज्य मे दो वर्ग उत्पन्न होकर समाज तथा समानता की स्थापना को आघात पहुँचेगा ।

प्लेटो के साम्यवाद का रूप : अर्द्ध-साम्यवाद

प्लेटो के साम्यवाद का रूप है, उस रूप मे उसे साम्यवाद कहा गया है । इस सन्दर्भ मे प्रो. बार्कर ने अपना विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है—

"प्लेटो का साम्यवाद सम्पूर्ण सामाजिक इकाई की सस्था नही है । जिस समाज मे उसकी स्थापना होगी, उसके आधे से कम लोगों पर और आधे से कही कम पदार्थों पर उसका असर पडेगा । इसमें व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनो कठिनाइयाँ उठ खडी होती हैं । पहली व्यावहारिक कठिनाई यह है कि साम्यवाद की जो व्यवस्था समाज के एक भाग पर लागू होनी है, उसका व्यवहार मे व्यक्तिगत सम्पत्ति की उस व्यवस्था के साथ कैसे समन्वय हो सकेगा जो समाज के शेष हिस्सो पर लागू होती है ? यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति फूट का कारण है तो तीसरे वर्ग के सदस्यो मे भी उसे क्यो रहने दिया जाए ? उसके कारण इस वर्ग मे फूट की प्रवृत्ति पनपेगी और चूँकि सरक्षक भौतिक साधनो से वचित होगे, अत हो सकता है कि वे उस वर्ग के लड़ाई-झगडे रोकने मे असमर्थ रहे जिसके पास सम्पत्ति का बल होगा । यह बात भी आसानी से समझ मे नही आती कि आध्यात्म-पथ के जो पथिक सम्पत्ति से और उसके स्वामित्व से जनित प्रेरणाओ से भी वचित होंगे, वे सामान्य लोगो के कर्मों और उनकी प्रेरणाओ को कैसे समझेंगे और कैसे उन्हे वश मे रखेंगे ? इस व्यावहारिक कठिनाई से ही प्लेटो की योजना की सैद्धान्तिक कठिनाई प्रस्फुटित होती है । प्रश्न उठता है कि क्या अर्द्ध-साम्यवाद की पद्धति प्लेटो की अपनी मूल स्थापनाओ का तर्कसगत निष्कर्ष है और क्या राज्य के सभी वर्गों पर लागू होने वाली सामान्य साम्यवाद की व्यवस्था उन मूल स्थापनाओ के अधिक अनुरूप नही होती ? स्पष्ट है कि इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर भी निर्भर है कि प्लेटो की मूल स्थापनाओ का वास्तविक स्वरूप क्या है ? प्लेटो मान लेता है कि मानव-मन के तीन तत्त्वो के अनुरूप ही राज्य मे तीन वर्ग पाए जाते हैं । वह यह भी मान लेता है कि जिस प्रकार मन के प्रत्येक तत्त्व को अपने नियत काम तक ही सीमित रहना चाहिए, उसी प्रकार राज्य के तीनो वर्गों को भी मन के जिस-जिस तत्त्व के अनुरूप हो, उसी तत्त्व के कार्य-कलापो की सीमा को अपनी सीमा समझना चाहिए । इस तरह, प्लेटो शासक और योद्धा वर्गों के लिए तो साम्यवादी पद्धति की व्यवस्था करता है और उत्पादक वर्ग के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति की पद्धति भी । इसका आधार यह है कि शासक और योद्धा वर्ग विवेक तथा उत्साह के जिन तत्त्वो का प्रतिनिधित्व करते हैं उनके क्रियान्वयन के लिए तो आवश्यकता है साम्यवाद की और उत्पादक

वर्ग जिस वासना या क्षुधा तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है उसके लिए जरूरत है व्यक्तिगत सम्पत्ति की। यदि हम यह मूल सिद्धान्त स्वीकार कर लेते हैं और इस प्रकार त्रि–वर्ग–व्यवस्था की धारणा लेकर चलते हैं जिसमें प्रत्येक वर्ग मन के एक भिन्न तत्त्व की अभिव्यक्ति करता हो, तो हम अर्द्ध-साम्यवाद की उसी व्यवस्था पर जा पहुँचेंगे जिस पर प्लेटो पहुँचा था। हम सामान्य साम्यवाद की व्यवस्था तभी पा सकेंगे जब हम भिन्न स्थापना से आरम्भ करें। हम कह सकते हैं कि यदि व्यक्तियों के रूप में हम सब के मन में तीन तत्त्व होते हैं तो समाज के अंग-भूत सदस्य होने के नाते भी हम सब में तीन तत्त्व होते हैं—यद्यपि यह सम्भव है कि किसी में एक तत्त्व की प्रबलता होती है तो किसी में दूसरे की, और हम यह भी कह सकते हैं कि यदि हम सब में तीन तत्त्व हैं तो हमें छूट होनी चाहिए कि हम उन तीनों से काम लें और इसके लिए जो परिस्थितियाँ आवश्यक हों वे हमें मिलें। इसका परिणाम एक ओर तो यह होगा कि संरक्षकों में क्षुधा अथवा वासना सक्रिय होगी जिसके फलस्वरूप संरक्षक आर्थिक गतिविधि में भाग लेंगे और विशिष्ट साम्यवाद का त्याग कर देंगे जो उन्हें इस गतिविधि से रोकता है, और दूसरी ओर यह होगा कि उत्पादक वर्ग में विवेक सक्रिय होगा जिसके फलस्वरूप उसके भी सद्विवेक का विकास होगा और यदि हम विकास के लिए साम्यवाद आवश्यक शर्त है तो वह भी सामान्य साम्यवाद में भागीदार बनेगा। यदि हम इस ढंग से तर्क करें, यदि हम मान लें कि विवेक सब में पाया जाता है और सभी में इसे सक्रिय होना चाहिए, और यदि हम यह भी मान लें कि सबमें विवेक के सक्रिय होने के लिए साम्यवाद आवश्यक है, तो हम अपनी मूल स्थापनाओं से उस पूर्ण साम्यवाद का निष्कर्ष निकाल सकते हैं जो प्लेटो अपनी मूल स्थापनाओं से नहीं निकाल सका, पर हम तर्क-शृंखला की मूल स्थापनाओं को बदल कर ही यह परिणाम निकाल सकते हैं। हमने प्लेटो की व्याख्या नहीं की, उसका पुनरालेखन किया है।"

बार्कर के अनुसार, उपरोक्त विवेचन के प्रकाश में, "इस बात की व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं है कि प्लेटो सामान्य साम्यवाद की व्यवस्था तक क्यों नहीं पहुँचा। सीधी सच्ची बात यह है कि इस तरह की व्यवस्था न तो उसके सामान्य सिद्धान्तों के अनुरूप ही है और न वह उन सिद्धान्तों का निष्कर्ष ही हो सकती है। यह ठीक है कि प्लेटो ने एकता पर जोर दिया है और एकता की वेदी पर स्त्री-पुरुष के भेद को न्योछावर कर दिया है, किन्तु भेद और विशेषीकरण पर भी उसका कोई कम आग्रह नहीं रहा है और उन्हीं के लिए उसने वर्ग–भेद बना रहने दिया है, बल्कि उसे और भी गहरा कर दिया है। सद्–विवेक ज्ञान अनूठा होता है, इसका उसे दृढ़ विश्वास है। जो लोग इस ज्ञान के योग्य होते हैं उनमें और शेष मानव-जाति में अन्तर होता है—यह भी उसका दृढ़ विश्वास है। चूँकि प्लेटो साम्यवाद को उनके पूर्ण उत्कर्ष के लिए आवश्यक समझता है, अतः वह साम्यवाद को उन्हीं के ऊपर और सिर्फ उन्हीं के ऊपर लागू करता है।"

रिपब्लिक में आदर्श राज्य
(The Ideal State in 'The Republic')

प्लेटो के समय यूनान मे जो राजनीतिक अराजकता व्याप्त थी, उसी की प्रतिक्रियास्वरूप उसने एक 'आदर्श राज्य' की कल्पना कर उसे 'रिपब्लिक' मे प्रस्तुत किया है। प्लेटो चाहता था कि उसके राजनीतिज्ञ ऐसे हो जो अच्छा जीवन क्या है और 'सत्' क्या है—इसे समझ पाएँ और तत्पश्चात् यह समझें कि राज्य का सगठन किस प्रकार किया जा सकता है। प्लेटो का 'आदर्श राज्य' सभी आने वाले समय और सभी स्थानो के लिए एक आदर्श का प्रस्तुतीकरण है। उसने वास्तविकता पर ध्यान न देकर आदर्श की कोरी कल्पना अपने इस ग्रन्थ मे की है और इसी आदर्श के हेतु उसने राज्य के सभी पहलुओं पर विचार किया है। उसके 'आदर्श राज्य' की कल्पना वस्तुत. एक उस चित्रकार की तरह है जो अपने चित्र को सुन्दर रूप देता है, किन्तु चित्र बनाते समय यह नही सोचता कि उसका चित्र वास्तविक है या केवल आदर्श मात्र। वह उसमे, आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। प्लेटो ने भी अपने 'आदर्श राज्य' की कल्पना करते समय उसकी व्यावहारिकता की उपेक्षा की है।

यद्यपि प्लेटो के विचारो मे व्यावहारिकता की कमी है लेकिन हमे उस पृष्ठ-भूमि को नही भूलना चाहिए, जिसने उसके मस्तिष्क मे 'आदर्श राज्य' की कल्पना जाग्रत की। प्लेटोकालीन यूनानी समाज मे जो अराजकता व्याप्त थी, उसी के निराकरण हेतु उसने एक आदर्श राज्य की कल्पना की। उसने सभी उपस्थित बुराइयो का निराकरण करने का प्रयास किया। अपने देश मे व्याप्त तत्कालीन दोषो को देखकर ही उनको दूर करने के लिए उसने आदर्श राज्य की रूपरेखा तैयार की और वह राजनीति से दर्शन की ओर उन्मुख हुआ। उसने राज्य के लिए यह आवश्यक समझा कि शासन का अधिकार केवल ज्ञानी दार्शनिको को ही होना चाहिए जिन्हे 'अच्छे' या 'शुभ' का विस्तृत ज्ञान है।

राज्य का स्वरूप—राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध

प्लेटो व्यक्ति और राज्य मे जीवाणु और जीव का सम्बन्ध मानता है। उसका विश्वास है कि जो गुण और विशेषताएँ अल्प मात्रा मे व्यक्ति मे पाई जाती है वे ही विशाल रूप मे राज्य मे पाई जाती है। राज्य मूलत मनुष्य की आत्मा का बाह्य स्वरूप है, अर्थात् आत्मा (चेतना) अपने पूर्ण रूप मे जब बाहर प्रकट होती है तो वह राज्य का स्वरूप धारण कर लेती है। राज्य व्यक्ति की विशेषताओ का विराट रूप है। व्यक्तियो की चेतना और गुण ही राज्य की चेतना का निर्माण करते हैं। व्यक्ति की सस्थाएँ उसके विचार का सस्थागत स्वरूप हैं। उदाहरण के लिए राज्य के कानून व्यक्ति के विचारो से उत्पन्न होते हैं, न्याय उनके विचार से ही उद्भुत हैं। ये विचार ही विधि-सहिताओ और न्यायालयो के रूप मे मूर्तिमान होते हैं।

प्लेटो ने यह बतलाया है कि मनुष्य की आत्मा मे तीन तत्त्व होते हैं—विवेक, उत्साह और क्षुधा (Reason, Spirit and Appetite)। आत्मा में भूख, क्षुधा

अथवा बुभुक्षा (Appetite) का जो अबौद्धिक तत्त्व होता है, उससे व्यक्ति में राग, द्वेष, प्रेम, वासना अपने शरीर को सुखी और सन्तुष्ट करने की नाना इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और अभिलाषाएँ उत्पन्न होती हैं। दूसरा तत्त्व विवेक अथवा बुद्धि (Reason) का है। इसके दो कार्य हैं—इसके कारण मनुष्य ज्ञान प्राप्त करना चाहता है और उसके द्वारा अपने वातावरण को समझता है। वह मनुष्यों को बतलाता है कि उन्हें कौन-से कार्य करने चाहिए और कौन-से नहीं। यह प्रेम कराने में सहायक होकर मनुष्य को एकता के सूत्र में बाँधता है, अतः ये तत्त्व राज्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों तत्त्वों के बीच में 'साहस' अथवा 'उत्साह' (Spirit) का गुण या तत्त्व है, दूसरे शब्दों में इसे 'शूरता' भी कह सकते हैं। इसका कार्य मनुष्यों को युद्ध की प्रेरणा देना है। महत्त्वाकांक्षा और प्रतिस्पर्द्धा की भावनाएँ इसी से उत्पन्न होती हैं। यह गुण विवेक का स्वाभाविक साथी है। इसके कारण मनुष्य अन्याय से घृणा करता है और न्याय का साथ देता है। प्लेटो ने इसे बुद्धि या विवेक (Reason) का सहगामी कहा है। आत्मा के संघर्ष में यह विवेक का पक्ष लेता है। मनुष्यों में अन्याय का प्रतिशोध करने तथा न्याय को स्वीकार करने की यह भावना उत्पन्न करता है।

प्लेटो का कहना है कि मानवीय आत्मा में पाए जाने वाले ये तीनों गुण अथवा तत्त्व राज्य में भी पाए जाते हैं। इन्हीं के आधार पर राज्य का निर्माण होता है। जिस प्रकार व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले सारे कार्य आत्मा से प्रेरणा लेते हैं उसी प्रकार राज्य के सभी कार्यों का उद्भव उन्हें निर्मित करने वाले मनुष्यों की आत्माओं से होता है। प्लेटो के शब्दों में, "राज्यों का जन्म वृक्षों या चट्टानों से नहीं, अपितु उनमें बसने वाले व्यक्तियों के चरित्रों से होता है।" वीर व्यक्तियों का राज्य भी वीर होगा और नपुंसकों का नपुंसक। जिस राज्य के लोग ही नैतिक दृष्टि से गिरे हुए हों वह राज्य नैतिक दृष्टि से पूर्ण नहीं हो सकता। व्यक्ति तथा राज्य की वीरता या नपुंसकता एक ही चेतनता में निवास करती है जिसमें भेद नहीं किया जा सकता। यदि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत साहस का परिचय सड़क पर गुण्डे का मुकाबला करके दे सकता है तो वह युद्ध-भूमि में राज्यों की सामूहिक वीरता का भी परिचय दे सकता है। राज्य अनेक मस्तिष्कों की चेतना है, अतः यह अधिक स्पष्ट और व्यापक है।

प्लेटो का विचार है कि ये उपरोक्त तीनों गुण सभी लोगों में एक समान नहीं होते। कुछ व्यक्तियों में क्षुधा या वासना की प्रधानता होती है, कुछ में साहस की और कुछ में विवेक की। इसी आधार पर राज्य अथवा समाज में तीन वर्ग देखने को मिलते हैं—उत्पादक वर्ग, सैनिक वर्ग और दार्शनिक वर्ग। पहले वर्ग में वे लोग आते हैं जो पूरी तरह से बुभुक्षा या वासनाओं अथवा इच्छाओं के वशीभूत होकर कार्य करते हैं। इसमें श्रमिक, शिल्पकार, कृषक, व्यवसायी आदि शामिल हैं। उन्हें वासनाओं का अनुगमन करने में ही अधिक आनंद मिलता है। दूसरा वर्ग उन लोगों का होता है जिनमें साहस या उत्साह की प्रधानता रहती है। इन्हें योद्धा या सैनिक कहा जा सकता है।

इन्हें युद्ध और समाज से प्रेम होता है। तीसरा वर्ग उन लोगो का होता है जो विवेक-प्रधान होते हैं। विवेक के कारण वे सच्चे अर्थ मे तत्त्व-वेत्ता अथवा दार्शनिक होते हैं और उन्हें समाज की सेवा करने मे सर्वाधिक आनन्द आता है इसलिए वे समाज का शासन चलाने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होते हैं। बार्कर के शब्दो मे "प्लेटो मानव-मन के तीन-तत्त्वो (वासना, उत्साह, विवेक) को लेकर निम्नतम से उच्चतम तक बढता है और यह प्रदर्शित करता है कि इसमे से प्रत्येक तत्त्व अपने-अपने ढग से राज्य के निर्माण में किस तरह से योग देता है। वह मन के विभिन्न तत्त्वो का, जो किसी भी समय उस सृष्टि का निर्माण करते हैं, जिसे हम राज्य कहते हैं, तर्कसगत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जब वह बारी-बारी से एक तत्त्व को लेता है और क्रम से निम्नतम से उच्चतम की ओर बढ़ता है तो उसकी राज्य-रचना मे ऐतिहासिक वृद्धि का आभास होता है किन्तु, यह सिर्फ आभास है। प्लेटो को सदैव ध्यान रहता है कि उसने प्रत्येक तत्त्व मे जो विशेषताएँ आरोपित की हैं, वे उसके समय के एथेन्स से ली गई हैं।"

इस तरह अपने उपरोक्त विचारो द्वारा प्लेटो यह स्पष्ट करता है कि राज्य व्यक्ति का विराट रूप है।

प्लेटो के आदर्श राज्य का निर्माण

जिस प्रकार मन अथवा मानवीय आत्मा का निर्माण वासना, साहस और विवेक के तीन तत्त्वो से हुआ है, उसी प्रकार राज्य को उत्पन्न करने मे भी तत्त्व सहायक होते हैं—

(1) आर्थिक तत्त्व (The Economic Factor)
(2) सैनिक तत्त्व (The Military Factor)
(3) दार्शनिक तत्त्व (The Philosophic Factor)

आर्थिक तत्त्व–जब प्लेटो अपने आदर्श राज्य का निर्माण करता है तो सबसे पहले उस आर्थिक सगठन पर विचार करता है जो उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक है। वह वासना अथवा क्षुधा तत्त्वों को राज्य का प्रारम्भिक आधार मानकर अपना विवेचन शुरू करता है और फिर यह दिखाता है कि उसमे किसी न किसी रूप में साहचर्य निहित होता है। वासना अर्थात् आर्थिक तत्त्व से अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओ को एकाकी रूप मे पूर्ण नहीं कर सकता। इसके लिए उसे अनेक व्यक्तियो के सहयोग की अपेक्षा होती है और इससे समाज मे श्रम-विभाजन तथा कार्यों का विशेषीकरण उत्पन्न होता है। मानव-जाति के भोजन, वस्त्र, आवास आदि की विभिन्न आवश्यकताएँ राज्य को आवश्यक बनाती हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक-दूसरे को सहयोग देकर आर्थिक सघो का निर्माण करता है। कुछ व्यक्ति कृषि का कार्य करते हैं, कुछ वस्त्र तैयार करते हैं तो कुछ घर बनाते हैं। उत्पादनो का विनिमय होता है। विभिन्न वस्तुओ का उत्पादन सरलता से हो जाता है और माल का स्तर भी ऊँचा रहता है। मानव की आवश्यकताओ

की वृद्धि के साथ-साथ आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले लोगों के वृत्त का भी विस्तार होने लगता है। समाज में बढई, सुनार, लुहार, व्यापारी, वकील, चिकित्सक आदि वर्ग उत्पन्न होते हैं। पारस्परिक अन्योन्याश्रितता और आदान-प्रदान की यह आवश्यकता ही समाज का आधार है। इसी के ऊपर सारा सामाजिक जीवन टिका है और इसकी प्रक्रिया स्वय श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है।

जब कार्य विभाजन (Division of Labour) तथा विशेषीकरण (Specialisation) के प्रति रुचि रखते हुए लोग अपने कार्यों का कुशलतापूर्वक सम्पादन कर वस्तुओं का अधिकाधिक उत्पादन करते हैं तब शनैः-शनैः ऐसी स्थिति हो जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति केवल एक कार्य में ही रुचि रखने लगता है और वह भी ऐसे कार्य मे जिसमे उसकी योग्यता अधिकतम हो। ऐसी स्थिति मे 'एक व्यक्ति एक कार्य' (One man one job) का सिद्धान्त व्यापक हो जाता है। सेवाओं के आदान-प्रदान से सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो पाती है। प्लेटो का कथन है कि आदर्श राज्य की स्थापना के लिए आवश्यकताओं की सर्वोत्तम तुष्टि और सेवाओं के समुचित आदान-प्रदान की एक महती आवश्यकता है। चूँकि राज्य एक जैविक इकाई और नैतिक समग्रता है अत प्रत्येक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपना-अपना काम ठीक ढंग से करे, अधिकतम योग्यता के साथ करे और इसके प्रति सदैव सजग रहे। प्लेटो के मतानुसार यही न्याय (Justice) है और इसी न्याय-भावना के अनुसार कार्य करते रहने पर राज्य की आवश्यकताएँ भली-भाँति पूर्ण होती हैं। प्लेटो के शब्दो म, "प्रत्येक व्यक्ति सदैव उसकी प्रकृति के अनुकूल एक ही कार्य में लगाया जाए, प्रत्येक व्यक्ति एक ही व्यवसाय करे, अनेक कार्य न करे, तभी सारा नगर राज्य एक ही होगा।"

सैनिक तत्त्व—राज्य निर्माण करने वाला दूसरा वर्ग 'सैनिक' वर्ग है। आर्थिक तत्त्व राज्य के सगठन का सबल तत्त्व नही कहा जा सकता। "केवल आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करने वाला राज्य तो ग्लॉकन के शब्दो मे, केवल अपना पेट भरने मात्र से सन्तुष्ट होने वाला शूकर-राज्य (A City of Swine) होगा।"[1] एक राज्य मे सभी नागरिकों का चरित्र, प्रधानत आर्थिक नही होता। सभी लोग स्थूल जीवन से सतुष्ट होने वाले नही होते। अनेक लोग जीवन की ललित, सुरम्य और कलात्मक वस्तुओं के लिए लालायित रहते हैं। इस प्रकार आवश्यकतायें बढती और जटिलतर होती जाती हैं। तब राज्य आत्मनिर्भर नही रह पाता और उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अधिक भू-भाग की जरूरत पडती है। ऐसी स्थिति मे वह अपने पडोसी राज्यों के भू-भाग को ओर ताकने लगता है, जिसका परिणाम होता है—युद्ध। इस तरह लालसा युद्ध का मूल है और राज्य का एक प्रधान कार्य पर्याप्त भू-क्षेत्र को प्राप्त करना और उसे अपने अधिकार में बनाए रखना है। इस कार्य हेतु तथा युद्ध की सभावना और उससे रक्षण की आवश्यकता के फलस्वरूप

1. *Cornford* : The Republic, p. 59.

राज्य मे उत्साह (Spirit), साहस या शूरवीरता के तत्त्व का उदय होता है। इससे सैनिक वर्ग का प्रादुर्भाव होता है जिसे युद्ध का सर्वाधिक आनन्द आता है। इस वर्ग को समाज से भी प्रेम होता है और इसलिए यह उसकी रक्षा के लिए तत्पर रहता है। विशेषीकरण के सिद्धान्त के अनुसार राज्य मे संरक्षको का सैनिक दल बनाया जाता है। इस दल के द्वारा राज्य एक ओर अपनी रक्षा करता है और दूसरी ओर अपने प्रदेश का विस्तार। प्लेटो का मत है कि सैनिक वर्ग मे केवल ऐसे ही लोगो को लिया जाना चाहिए जो उत्साही हो और युद्ध मे रुचि रखते हो। इनके प्रशिक्षण का भी विशेष प्रबन्ध किया जाना चाहिए। यहाँ प्लेटो का 'रिपब्लिक' मुखी योद्धा की शिक्षा का ग्रन्थ बन जाता है।[1]

दार्शनिक तत्त्व—राज्य-निर्माण का तीसरा आधार दार्शनिक तत्त्व है जिनका सम्बन्ध आत्मा के विवेक या बुद्धि (Reason) से है। प्लेटो का कहना है कि उत्साह विवेक की सहायता से अन्याय का विनाशक और न्याय का रक्षक होता है। सैनिक राज्य का सरक्षक होता है और उसका स्वभाव घर के रखवाले कुत्ते के समान घरेलू व्यक्तियो के साथ प्रेम करने का और चोरो के प्रति शत्रुता रखने का होता है। कुत्ते मे यह ज्ञान होता है कि वह किसके प्रति प्रेमपूर्ण और मृदु व्यवहार करे तथा किसके प्रति रूक्ष एव कठोर।" ठीक इसी भाँति रक्षक भी ज्ञान और विवेक द्वारा शत्रु एव मित्र को पहचानता है तथा उनके साथ योग्य व्यवहार करता है। दूसरे शब्दो मे प्लेटो का मत है कि राज्य के रक्षक मे विवेक का गुण विद्यमान होना अनिवार्य है ताकि वह विभिन्न वर्गों की क्रियाओ को भली प्रकार नियन्त्रित और सम्बद्ध कर सके। प्लेटो के अनुसार सैनिक योद्धा मे सामान्यत. 'विवेक' का यह गुण मिलता है, किन्तु विशेष रूप से यह पूर्ण सरक्षक (Perfect Guardian) या शासक मे ही पाया जाता है। उसके मत मे ये सरक्षक दो प्रकार के होते हैं—(क) सहायक या सैनिक सरक्षक (Auxiliary Guardians), तथा (ख) दार्शनिक सरक्षक (Philosopher Guardians)। सैनिक या सहायक सरक्षको का विशेष गुण शौर्य होता है जबकि दार्शनिक सरक्षको का विवेक। वास्तव मे दार्शनिक ही राज्य के सच्चे सरक्षक होते हैं। वे विश्व और जीवन की वास्तविकता को समझते हैं। समाज-सेवा मे इन्हें सर्वाधिक आनन्द महसूस होता है और समाज का शासन चलाने के लिए ये ही सबसे अधिक उपयुक्त होते हैं। शासक का विवेक इसी मे निहित है कि वह बुद्धिमान् हो, शासितो से प्रेम करे और राज्य की एकता बनाए रखे।

प्लेटो विवेक को राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानता है अत उसके अनुसार विवेक सम्पन्न दार्शनिक को ही राज्य का शासक बनाया जाना चाहिए। प्लेटो का अभिमत है कि विवेक सम्पन्न दार्शनिक प्रकृति केवल इने-गिने लोगो मे ही मिल सकती है। 'समूचा राष्ट्र दार्शनिको का राष्ट्र नहीं हो सकता' अत सच्चे शासक की अन्तिम परीक्षा उसकी दार्शनिक शक्ति की बौद्धिक परीक्षा है। दार्शनिक

1 बार्कर: पूर्वोक्त, पृष्ठ 251.

शासक को 'न्याय, सौन्दर्य और संयम के सार' का ज्ञान होना चाहिए ताकि वह अपने शासितों के चरित्र इन्हीं गुणों के अनुरूप ढाल सके। प्लेटो ने विवेक के दो गुण माने हैं—प्रथम, विवेक से व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरे, विवेक व्यक्ति को प्रेम करना सिखाता है। यह अपेक्षित है कि दार्शनिक शासक विवेकशील और पर्याप्त मात्रा में स्नेहशील हो। उसमें विवेक और बुद्धि के गुण की पराकाष्ठा हो। दार्शनिक राजा (Philosopher King) का विचार प्लेटो के राज्य सम्बन्धी विचारों का स्वाभाविक और तर्क-संगत परिणाम है जैसा कि बार्कर ने लिखा है, 'जब राज्य का गठन उसके एक-एक मानसिक तत्त्व को लेकर होता है तो उसकी परिणति सिर्फ इसी धारणा में हो सकती है कि वह न केवल आर्थिक संगठन होने के नाते अन्ततः उसका संचालन ऐसे ऊँचे विवेक द्वारा होना चाहिए जो मनुष्य के लिए संभव हो। दार्शनिक नरेश कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे यों ही बाद में अथवा बीच में जोड़ दिया गया हो, यह उस सम्पूर्ण पद्धति का तर्क संगत परिणाम है जिसके आधार पर प्लेटो के राज्य का निर्माण हुआ है।"

आदर्श-राज्य में वर्ग

राज्य के निर्माण के उपरोक्त तीन तत्त्वों के आधार पर अथवा कार्यगत विशेषीकरण (Functional Specialisation) तथा श्रम-विभाजन (Division of Labour) के आधार पर प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य का विभाजन तीन वर्गों में किया है। ये तीन वर्ग हैं—

1 संरक्षक (Guardian) वर्ग—यह वर्ग 'विवेक' गुण का प्रतिनिधित्व करने वाला है। इस वर्ग के लोगों का कार्य सहायक-संरक्षक वर्ग तथा उत्पादक वर्ग के बीच सतुलन बनाए रखना है। यह वर्ग ज्ञान-प्रेमी होगा और इसलिए इसका मुख्य कार्य समाज का सामान्य कल्याण करना है। इस वर्ग के लोग जब दार्शनिक होंगे तब ही वे सामान्य कल्याण के कार्य को पूर्ण कर पाएँगे।

2. सहायक संरक्षक या सैनिक वर्ग (Auxiliary Guardians)—इस वर्ग का मुख्य कार्य उत्पादक वर्ग की सुरक्षा एवं राज्य की भूमि को सुरक्षित रखना है। यह वर्ग 'उत्साह तत्त्व' का प्रतिनिधित्व करने वाला है। उत्पादक वर्ग के लिए वृहत्तर प्रदेश की पूर्ति भी इसी वर्ग के द्वारा की जाएगी और इस हेतु यह वर्ग पड़ोसी राज्यों से युद्ध करने के लिए सदैव सन्नद्ध रहेगा।

3. उत्पादक वर्ग—यह वर्ग 'वासना' या 'क्षुधा' तत्त्व की पूर्ति करने वाला है। इसमें कृषक, कारीगर, शिल्पकार, व्यापारी आदि आते हैं। इसका मुख्य कार्य राज्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।

प्लेटो के आदर्श राज्य के निर्माण करने वाले तत्त्वों और वर्गों को एक दृष्टि से निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. क्षुधा	(Appetite)	आर्थिक तत्त्व	उत्पादक-वर्ग
2. साहस	(Spirit)	सैनिक तत्त्व	सैनिक-वर्ग
3. विवेक	(Reason)	दार्शनिक तत्त्व	शासक-वर्ग

दार्शनिक-राजाओं का शासन (The Rule of Philosopher Kings)

प्लेटो का कहना है कि राज्य तभी आदर्श स्वरूप प्राप्त कर सकता है जब राज्य का शासन ज्ञानी एवं निःस्वार्थ दार्शनिक शासकों द्वारा हो। इसी तत्त्व को ध्यान में रख कर वह राज्य के उच्च शिखर पर दार्शनिक को नियुक्त करता है।

दार्शनिक राजा के शासन का यह सिद्धान्त प्लेटो का एक प्रमुख और मौलिक सिद्धान्त है। उसकी धारणा थी कि आदर्श राज्य में शासक-कार्य परम बुद्धिमान् व्यक्तियों के हाथों में रहना चाहिए। उसकी यह धारणा उसके न्याय, शिक्षा आदि सिद्धान्तों का स्वभाविक परिणाम है। शासन की इस धारणा का प्रतिपादन हमें प्लेटो के इस अवतरण में मिलता है—"जब तक दार्शनिक राजा नहीं होते, अथवा इस संसार के राजाओं में दर्शन शास्त्र के प्रति भावनापूर्ण भक्ति नहीं जागती और राजनीतिक महानता तथा बुद्धिमत्ता एक ही व्यक्ति में नहीं मिलती और वे साधारण मनुष्य, जो इनमें से केवल एक गुण को (दूसरों की पूर्ण रूप से अवहेलना करते हुए) प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, अलग हट जाने के लिए विवश नहीं कर दिए जाते, तब तक नगर-राज्य बुराइयों से मुक्त नहीं हो सकते और न ही (जैसा कि मेरे, विश्वास है) सम्पूर्ण मानव-जाति को शान्ति प्राप्त हो सकती है।"

प्लेटो के मतानुसार सैनिक वर्ग के लोगों में सामान्यतः उत्साह तथा विवेक दोनों पाए जाते हैं किन्तु इनमें कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनमें उत्साह की अपेक्षा विवेक अधिक पाया जाता है। ऐसे लोगों को प्लेटो ने आदर्श राज्य के दार्शनिक शासक माना है। बार्कर (Barker) के शब्दों में—"संरक्षक वर्ग दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, सैनिक संरक्षक हैं जिनकी विशेषता साहस है और जिन्हें 'सहायक' (Auxiliaries) का नाम दिया गया है और दूसरे, दार्शनिक संरक्षक जिनकी विशेषता विवेक बुद्धि है और जो अपनी श्रेष्ठता के कारण प्लेटो के राज्य के संरक्षक हैं। प्लेटो ने विवेक के दो गुण माने हैं—प्रथम, विवेक से व्यक्ति को ज्ञान होता है। द्वितीय, विवेक ही व्यक्ति को प्रेम करना सिखाता है। अतः प्लेटो के अनुसार शासक को विवेकशील होना चाहिए और उसमें पर्याप्त स्नेहशीलता भी होनी चाहिए। प्लेटो का दार्शनिक न केवल विवेकी और स्नेहशील है बल्कि साम्यवाद की व्यवस्था के कारण स्वर्ण और सुन्दरी के व्यक्तिगत मोह से मुक्त वीतराग, निःस्वार्थ और कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति है जिसके शासन से संसार के कष्टों का अन्त हो सकता है। राज्य का निर्माण करने वाले तीनों वर्गों में दार्शनिक शासक का स्थान सर्वोच्च है क्योंकि वही राज्य के लोगों को एकता के सूत्र में बाँधे रख सकता है और उन्हें परस्पर में स्नेह करना सिखा सकता है। उसमें सुन्दर आत्मा के सभी गुण हैं। वह मृत्यु से नहीं डरता। उसे न्याय, सौन्दर्य, संयम तथा परम 'सत्' के विचार (Ideas of Good) तथा मानवीय जीवन के अन्तिम प्रयोजन का ज्ञान शिक्षा-पद्धति द्वारा होता है।"

आदर्श राज्य के प्रथम दो वर्गों की भाँति दार्शनिक शासक वर्ग भी विशेष क्षमता-सम्पन्न वर्ग होना चाहिए। जितनी अधिक आवश्यकता कार्य विशेषीकरण की

इस वर्ग के लिए है, उतनी अन्य दो वर्गों के लिए नही और चूंकि 'सभी व्यक्ति दार्शनिक वर्ग के नही हो सकते,' अत. राज्य का सूक्ष्म भाग ही इस वर्ग की सदस्यता प्राप्त कर सकेगा।

प्लेटो के विचार से मनुष्य की चिंताओ और कष्टो का कारण यह है कि उसके मार्गदर्शक और नेता अज्ञानी होते हैं। "राज्य रूपी नौका को खेने के लिए ज्ञानी, कुशल और निःस्वार्थ नाविक की आवश्यकता है जो शासन चलाने योग्य हो, आकर्षणो से अविचलित रहे, यह जानता हो कि वास्तविक सुख क्या है और श्रेष्ठ जीवन का क्या तात्पर्य है। ऐसा शासक एक दार्शनिक व्यक्ति हो ही सकता है। प्लेटो के आदर्श राज्य का दार्शनिक शासक साधारण दार्शनिक से भिन्न है। उसे समझने मे तीव्र, जानने को उत्सुक, बुद्धि मे अद्वितीय, बाह्य आकर्षणो के प्रति उपेक्षित, वीर, साहसी, आत्म-संयमी तथा न्याय और सत्य का मित्र होना चाहिए।"

'रिपब्लिक' मे वर्णित आदर्श राज्य में सरकार नियमो द्वारा न होकर दार्शनिक शासकों द्वारा निर्मित होगी। राज्य मे सर्वाधिक महत्त्व दार्शनिक शासक को मिला है। उस पर कानून आदि का बंधन नही है। वह राज्य की आत्मा के 'विवेक' गुण से सचालित होता है। उसे 'शुभ' का ज्ञान है, अत. वह कानून के नियन्त्रण से मुक्त है और केवल अपनी अन्त प्रेरणा के प्रति उत्तरदायी है। उससे समाज के अहित होने की कल्पना भी नही की जा सकती क्योंकि वह समस्त श्रेष्ठ गुणो का आगार, ज्ञान और प्रेम से परिपूर्ण तथा राज्य के प्रति उत्कृष्ट श्रद्धा से ओतप्रोत है। प्लेटो उसे विवेक का प्रेमी और नगर (राज्य) का सच्चा तथा अच्छा सरक्षक मानता है। वह सर्वकाल तथा सर्वसत्ता का दृष्टा है।

ऐसे दार्शनिक शासक को प्लेटो आदर्श राज्य की बागडोर सौपना चाहता है। इस श्रेष्ठ और निपुण मांझी के नेतृत्व मे आदर्श राज्य की नौका आंधी और तूफान के झझावातो से बचती हुई अपनी मजिल तक अवश्य पहुंच जाएगी। प्लेटो दार्शनिक शासक के कार्य मे किंचित मात्र भी रुकावट उपस्थित नही करना चाहता। उसके मतानुसार इस राज्य के लिए कानून आवश्यक ही नही अपितु हानिकारक भी हैं। शासन सचालन मे विशेष योग्यता रखने वाले तथा ज्ञानयुक्त शासक के हाथ-पैर कानून की बेडियो मे जकड़ देने से आदर्श राज्य के नागरिको का अहित होगा। प्लेटो तर्क प्रस्तुत करता है कि जिस प्रकार अच्छे चिकित्सक को चिकित्सा-शास्त्र की पुस्तको से अपना उपचार-पत्र (Prescription) बनाने को बाध्य करना उचित नही होगा। कानून प्राकृतिक न होकर रूढिगत है। रूढिजन्य कानून को एक सर्वज्ञाता एव शासन विशेषज्ञ पर थोपना उचित नही है। इस प्रकार प्लेटो का दार्शनिक राजा निरकुश है।

आदर्श राज्य मे जनसाधारण का कोई भाग नही है। उन्हे चुपचाप शासक वर्ग की आज्ञाओ का पालन करना पडता है। नागरिको को दार्शनिक राजा के सामने ठीक उसी प्रकार समर्पण कर देना चाहिए जिस प्रकार एक रोगी अपना उपचार करने वाले वैद्य के सामने कर देता है।

दार्शनिक राजा गुण-सम्पन्न है। वह लिखित कानून और जनमत के बन्धनों से स्वतन्त्र हो सकता है, किन्तु संविधान के मूलभूत सिद्धान्तों से स्वतन्त्र नहीं है। वह अपने साध्य और उसे प्राप्त करने के उपयुक्त साधनों को जानता है। उसे सत्य से प्रेम है। उसमें वास्तविक तथ्य के लिए तीव्र उत्कंठा और प्रत्येक जानने योग्य वस्तु को जानने की इच्छा निहित है। सच्ची दार्शनिक प्रकृति वाले मनुष्य में पूर्ण आत्म-संयम होगा और उसका हृदय घृणा, द्वेष, क्षुद्रता आदि अवगुणों से सर्वथा रहित होगा। वह न्यायप्रिय होगा। ऐसा मनुष्य वास्तव में शासन करने योग्य है, इसके प्रति आधीनता एक निरंकुश आततायी के अधीन होना नहीं है।

बार्कर ने दार्शनिक राजा की चार मर्यादाएँ बतायी हैं—

(1) उसे अपने राज्य में सम्पन्नता या निर्धनता नहीं बढ़ने देनी चाहिए क्योंकि इससे समाज कलह, संघर्षों एवं अपराधों का घर बन सकता है। धन आलस्य और भोगवृत्ति पैदा करके राज्य की एकता समाप्त करता है।

(2) राजा राज्य का आकार इतना न बढ़ने दे कि व्यवस्था रखना कठिन हो जाए। आकार इतना छोटा भी न हो कि नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में कठिनाई अनुभव हो।

(3) वह ऐसी न्याय-व्यवस्था का आयोजन करे कि प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यवसाय नियमित रूप से भली प्रकार करता रहे।

(4) वह शिक्षा पद्धति में परिवर्तन न करे क्योंकि "जब संगीत की तानें बदलती हैं तो उनके साथ राज्य के मौलिक नियम भी बदल जाते हैं।"

आदर्श राज्य के मौलिक सिद्धान्त
(Fundamental Principles of the Ideal State)

(क) न्याय—न्याय आदर्श राज्य का प्राण है जिसका कार्य उत्पादक, सैनिक और शासक वर्गों में सन्तुलन रखकर उन्हें एकता के सूत्र में बाँधे रखना है ताकि राज्य के सभी अंग अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहें।

(ख) राज्य व्यक्ति का विराट् रूप है—व्यक्ति की सभी विशेषताएँ राज्य में पाई जाती हैं।

(ग) विशेष कार्य का सिद्धान्त—राज्य या समाज में श्रम-विभाजन होना चाहिए ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने विशेष कार्य को पूर्ण दक्षता और योग्यता से पूरा करे और राज्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

(घ) शिक्षा—'न्याय' का ज्ञान ही शिक्षा है। श्रेष्ठ नागरिकों, स्वस्थ सैनिकों व दार्शनिक शासकों के निर्माण के लिए उन्हें उचित शिक्षा दी जाए। प्लेटो राज्य द्वारा नियन्त्रित अनिवार्य शिक्षा की विस्तृत योजना प्रस्तुत करता है।

(च) नागरिकों के तीन वर्ग—प्लेटो आत्मा के तीन तत्त्वों (वासना, उत्साह और विवेक) के आधार पर राज्य के नागरिकों को उत्पादक, सैनिक और संरक्षक नामक तीन वर्गों में बाँटता है।

(छ) दार्शनिक राजा का शासन—आदर्श राज्य में दार्शनिक राजा का शासन होगा। जब तक राजा दार्शनिक और दार्शनिक राजा नहीं होंगे तब तक राज्यों में शान्ति और सुशासन स्थापित नहीं हो सकता।

(ज) साम्यवाद—प्लेटो ने व्यवस्था की कि सैनिक और शासक वर्ग वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार न रखें। ये कंचन और कामिनी के मोह से मुक्त होकर अपना कर्त्तव्य पालन करें। यह साम्यवाद उत्पादक वर्ग पर लागू नहीं होता।

(झ) नर-नारियों का समान अधिकार—प्लेटो अपने आदर्श राज्य में नारियों को घर की चाहरदीवारियों से बाहर निकाल कर शिक्षा, शासन आदि सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार देने की व्यवस्था करता है।

(ट) राज्य का लक्ष्य विशुद्ध, आध्यात्मिक और नैतिक है—प्लेटो दृश्यमान जगत् को अवास्तविक और उसके विचारों को वास्तविक मानता है। राज्य उत्तम जीवन बिताने के लिए है।

(ठ) राज्य का हित प्रधान एवं सर्वोपरि है। व्यक्ति उसका अंग मात्र है।

आदर्श राज्य और दार्शनिक राजा की आलोचना
(Criticism of the Ideal State and Philosopher King)

प्लेटो के आदर्श राज्य और दार्शनिक राजा की कटु आलोचना की गई है जो प्रमुख रूप से इस प्रकार है—

(1). आदर्श राज्य की धारणा अतिशय कल्पना-प्रधान और अव्यावहारिक है। प्लेटो ने बाद में स्वयं ही अनुभव किया था कि आदर्श राज्य पृथ्वी पर सम्भव नहीं है।

(2) मानवीय आत्मा के तीन तत्त्वों के आधार पर राज्य के नागरिकों का वर्ग-विभाजन करना वास्तविकता से भिन्न है। व्यक्ति और राज्य में इस तरह की अभेदता स्थापित करके उसने नैतिकता और राजनीति का विचित्र सम्मिश्रण कर दिया है।

(3) जिन तीन तत्त्वों के आधार पर व्यक्ति और राज्य की तुलना की गई है, उनको समझना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन है।

(4) आदर्श राज्य का वर्ग-विभाजन न तो स्वाभाविक है और न वैज्ञानिक ही। यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य में केवल तीन प्रवृत्तियाँ हों। वह एक साथ ही वासना-प्रधान, साहस-प्रधान और बुद्धि-प्रधान भी हो सकता है, वह एक अच्छा विजेता भी हो सकता है और साथ ही उतना अच्छा शासक भी। यह भी जरूरी नहीं कि एक ही प्रवृत्ति का आधिक्य मनुष्य में जीवन भर बना रहे। एक सैनिक युद्ध-काल में अत्यन्त साहसी और शान्तिकाल में प्रमोदी एवं कामी हो सकता है। इस तरह प्लेटो का वर्ग-विभाजन, अस्वाभाविक, अव्यावहारिक और अवैज्ञानिक है।

(5) आदर्श राज्य में सामूहिकता पर अधिक बल देते हुए व्यक्ति की अवहेलना की गई है। राज्य को दी गई अनुचित महत्ता ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता और

अधिकारो को कुचल दिया है। हीगल (Hegel) के अनुसार, "प्लेटो के राज्य मे व्यक्ति की स्वाधीनता को कोई स्थान नही है।"

(6) आदर्श राज्य मे उत्पादक वर्ग की उपेक्षा की गई है। उसे दासो के समान बना दिया है। दूसरी ओर तत्कालीन दास प्रथा के सम्बन्ध मे मौन रखा गया है। यह स्थिति सर्वथा अप्रजातान्त्रिक है। इसे हम न्यायपूर्ण योजना नहीं कह सकते।

(7) न्याय सिद्धान्त दोषपूर्ण और एकांगी है। उसमें कर्त्तव्यो को गिनाया गया है और अधिकारो की उपेक्षा की गई है। उसमे अन्तर्विरोध है। एक ओर कहा गया है कि न्याय के अनुसार सभी वर्ग अपना-अपना कार्य करेंगे और कोई किसी अन्य के कार्यों मे हस्तक्षेप नही करेगा। दूसरी ओर यह माना है कि शासक वर्ग शान्ति और व्यवस्था के लिए उत्पादक वर्ग के कार्यों मे हस्तक्षेप कर सकता है।

(8) साम्यवादी व्यवस्था मानव-समाज के मूल तत्वो और मानव-स्वभाव के विपरीत है। वह समाज के लिए अहितकर है। यदि सम्पत्ति और परिवार मनुष्य को पथभ्रष्ट करते हैं तो क्या वे उत्पादक वर्ग को विचलित नही करेंगे? इसी प्रकार अभिभावक वर्ग के लिए पत्नियो के साम्यवाद की व्यवस्था करके वह स्त्रियो की कोमल भावनाओ और परिवार के पवित्र सम्बन्धो का निरादर करता है।

(9) शिक्षा को राजकीय नियन्त्रण मे रखने से व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नही हो सकता।

(10) आदर्श राज्य के निर्माण के लिए प्लेटो यह नही बताता कि राज्य के अधिकारियो की नियुक्ति, अपराधियो की दण्ड-विधि तथा न्यायालयो की स्थापना आदि की व्यवस्था किस प्रकार की जाएगी।

(11) प्लेटो का आदर्श सावयवी (Organic) होते हुए भी प्रगतिशील नही है। आदर्श होने के कारण वह दूरदर्शी नही हो सकता।

(12) प्लेटो अपने राज्य मे कानूनो की आवश्यकता नहीं मानता। व्यवहार के उचित नियमो का निर्धारण किए बिना किसी भी राज्य मे न तो व्यवस्था रह सकती है और न शान्ति ही। इस दोष का अनुभव प्लेटो ने स्वय किया, इसलिए उपादर्श राज्य मे कानून को ही आधार बनाकर नए राज्य की रचना की गई।

(13) प्लेटो ने विवेक को इतना महत्त्व दिया है कि वह विवेक को ही दार्शनिक शासक मान बैठा है। उसने इस सम्भावना पर विचार नही किया कि उसके दार्शनिक शासक का भी पतन हो सकता है अथवा सत्ता उसे भ्रष्ट कर सकती है। एक व्यक्ति चाहे कितना ही बुद्धिमान् हो लेकिन वह स्वय 'विवेक' (Reason) नही हो सकता। विवेक गलत नही हो सकता, किन्तु दार्शनिक शासक सांसारिक जीव है और इसलिए वह गलती कर सकता है। बार्कर ने लिखा है, "प्लेटो की गलती मस्तिष्क के पृथक्करण तथा विवेक के निरकुश सिद्धान्त मे है।"

(14) प्लेटो के दार्शनिक शासक को अमर्यादित अधिकार देकर निरकुश शासन का समर्थन किया है तथा राज्य के अन्य व्यक्तियो को मशीन के पुर्जे माना

है। उसने नागरिको से विचार एवं भाषण की स्वतन्त्रता छीन कर उनकी स्थिति राजनीति के मूक दर्शको की बना दी है। उनकी दशा उस भेड़ के समान है जो हर समय राजा रूपी गड़रिये के निर्देशन मे चलेगी।

(15) अत्यधिक चिन्तन और दर्शन के अध्ययन से शासक प्राय: झक्की और सनकी हो जाते हैं। वे व्यवहार-शून्य होकर शासन के अयोग्य बन जाते हैं तब यह भय निराधार नही है कि प्लेटो का दार्शनिक शासक सनकी बन जाएगा।

(16) दार्शनिक राजा स्वय को सर्वगुण-सम्पन्न मानकर जनता से परामर्श नहीं लेता। इसमे जनता की मनोवृत्ति और आकांक्षाओं को समझने की प्रवृत्ति नही होती। अपने विचारो और सुधारों के उत्साह मे क्रान्तिकारी परिवर्तनो को प्रस्तावित करके यह समाज मे विक्षोभ और अशान्ति उत्पन्न कर देगा। जॉविट (Jowett) के शब्दों मे, "दार्शनिक राजा दूरदर्शी होता है या अतीत की ओर देखता है; वर्तमान से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।" प्लेटो स्वयं प्रयत्न करके भी सिराक्यूज के डायोनिसियस को दार्शनिक राजा नही बन सका।

दार्शनिक राजा की धारणा मे मौलिक सत्य
(The fundamental truth lying behind the conception of Philosopher King)

फोस्टर (Foster) का कथन है कि "प्लेटो का सम्पूर्ण राजनीतिक विचार मे दार्शनिक राजा की धारणा मौलिक है।" उसके सिद्धान्त मे नि:सन्देह एक आधार-भूत सत्य है जिसे हर देश और हर काल मे ग्रहण किया जा सकता है। प्लेटो के इस कथन से कोई इन्कार नही कर सकता कि शासन एक कठिन कला है और इसके लिए विशेष शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता होती है। यदि शासन ऐसे व्यक्तियों के हाथों मे चला जाए जिन्हे प्रशासनिक समस्याओ का वैज्ञानिक ज्ञान न हो और न उन समस्याओ को सुलझाने की योग्यता ही हो, तो शासन-तन्त्र बिगड़ जाएगा, अशान्ति और अव्यवस्था फैल जाएगी तथा प्रजातन्त्र विफल हो जायेगा। अत: इस सत्य का प्रतिपादन करना प्लेटो की महान् दूरदर्शिता थी कि सत्ता सदैव बुद्धिमान् व्यक्तियों के हाथो मे होनी चाहिए। हमारे वर्तमान सकटो और विनाश का प्रधान कारण प्लेटो के सन्देश से विमुख होना ही है। हमारे शासक जनता की उतनी हिमायत नही करते जितनी स्वय की। उनके द्वारा बनाए गए अनेक कानून उनकी अव्यावहारिकता और विवेकशून्यता प्रदर्शित करते हैं। नित्य बदलते कानून जनता के कष्टो को बढ़ाते हैं, साथ ही जनता मे शासन के प्रति अविश्वास के भाव भी पैदा करते हैं। सत्ताधिकारियो की सनक और विवेकशून्यता के कारण ही अनेक राष्ट्रों की शान्तिप्रिय जनता को युद्धो मे फँसना पड़ता है और आर्थिक सकटो का सामना करना पड़ता है अत: प्लेटो का मूल सिद्धान्त कि बुद्धि को ही शासन करने का अधिकार है, सही है।

दार्शनिक राजाओं का शासन वर्ग-संघर्ष को समाप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। इसका उदय तभी होता है जब शासक वर्ग स्वार्थपूर्ति के लिए राजनीतिक शक्ति

का दुरुपयोग करने लगे। वर्ग-संघर्ष वहाँ नहीं पाया जा सकता जहाँ शासकगण स्वयं को तन, मन, धन से समाज की सेवा में अर्पित कर दें। दार्शनिक शासक निजी सुखों से उठ कर स्वयं को सामान्य हित की साधना में लीन करने वाले हैं और उन्हें इसमें परम आनन्द की प्राप्ति होती है। सार्वजनिक हित की आड़ में स्वार्थों की पूर्ति करना सम्भव नहीं है। यदि वर्तमान सत्ताधारी भी त्याग, समाज-सेवा और निःस्वार्थता के भावों से संचालित हों तो इसमें संशय नहीं कि जनता के कष्ट समाप्त हो जाएँगे। इस प्रकार प्लेटो शासकों को त्याग और समर्पण का सन्देश देते हैं। निश्चय ही यह सन्देश राज्य और समाज के लिए महान् कल्याणकारक है।

प्लेटो समाज के प्रत्येक वर्ग से बलिदान चाहता है। आर्थिक वर्ग को राजनीतिक शक्ति का त्याग करना पड़ता है जबकि दो वर्गों को आर्थिक शक्ति से वंचित कर दिया जाता है। यदि जनता का प्रत्येक वर्ग त्याग की भावना से प्रेरित हो तो भारत के संकट शीघ्र ही मिट जाएँगे।

आदर्श राज्य की कल्पना में अनेक तत्त्वों का महान् और स्थाई मूल्य है। सपने और आदर्श न हो तो "मनुष्य घोर स्वार्थ और पशुता में डूबा रहेगा।" यह उसे ऊँचा उठाने और अपनी ओर बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। बार्कर के मतानुसार—"यह कहना आसान है कि 'रिपब्लिक' काल्पनिक है, बादलों में नगर है, एक सूर्यास्त के दृश्य के समान है जो साथ एक घण्टे के लिए रहता है, तत्पश्चात् अन्धकार में विलीन हो जाता है, परन्तु 'रिपब्लिक' 'कहीं नहीं- का नगर' नहीं है। यह यथार्थ परिस्थितियों पर आधारित और वास्तविक जीवन को मोड़ने या कम से कम प्रभावित करने के लिए है।"[1]

आदर्श राज्य का पतन और शासन प्रणालियों का वर्गीकरण
(Decline of the Ideal State and Classification of Government)

'रिपब्लिक' में जिस आदर्श राज्य की कल्पना है। यदि वह स्थापित हो जाए तो भी स्थायी नहीं रहेगा, क्योंकि यहाँ सभी कुछ परिवर्तनशील है। प्लेटो भी आदर्श राज्य को धरती पर व्यावहारिक और स्थायी नहीं मानता इसीलिए 'रिपब्लिक' आठवीं तथा नवीं पुस्तक में वह आदर्श राज्य के पतन और अन्य शासन प्रणालियों के बारे में विचार करता है।

प्लेटो का आदर्श राज्य इसलिए आदर्श है क्योंकि वह आदर्श सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है अतः आदर्श राज्य का पतन भी उन सिद्धान्तों की कमी से होगा। प्लेटो का विश्वास है कि शासक के पतन से राज्य का पतन बहुत शीघ्र होता है। विरोध की उत्तरोत्तर वृद्धि से भी आदर्श राज्य शनैः-शनैः पतन की ओर चला जाता है। प्लेटो इस पतन के निश्चित क्रम को पाँच शासनों में बाँटता है—

(1) राजतन्त्र (Monarchy)—प्लेटो ने यह कल्पना की कि जब सरकारों का पतन होने लगता है वे विकृत-अवस्थाओं में होकर गुजरती हैं और अन्त में अपने

1 *Barker* : Greek Political Theory, p. 239.

सर्वोत्तम रूप को त्याग कर निकृष्टतम रूप धारण कर लेती हैं। प्लेटो के अनुसार राजतन्त्र मे जनता को सर्वाधिक सुख प्राप्त होता है क्योंकि इसमे न्याय-भावना से अनुप्राणित विवेकसम्पन्न दार्शनिक राजा शासन करता है।

(2) कीर्तितन्त्र (Timocracy)—बाद मे साम्यवाद के परित्याग और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय से इस शासन प्रणाली का पतन होने लगता है। संरक्षक वर्ग सारी भूमि को हथिया कर परस्पर बाँट लेता है। समाज आर्थिक वर्गों मे बँट जाता है और एक राज्य के स्थान पर अनेक पैदा हो जाते हैं। इसमे सारी शक्ति जमीदार योद्धाओं के हाथ मे आ जाती है। 'विवेक' की प्रधानता के स्थान पर उत्साह का भाव बढ़ जाता है। शासक शिक्षा पर ध्यान नहीं देते। फलत: शासक का भार योग्यतम व्यक्ति नहीं सम्हालते और समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। प्लेटो के अनुसार यह शासन प्रणाली कीर्तितन्त्र (Timocracy) है क्योंकि इसमे योद्धा अपनी कीर्ति और महत्त्वाकांक्षा बढ़ाने की दृष्टि से राज्य का संचालन करते हैं। यह राजतन्त्र का पहला विकार है।

(3) अल्पतन्त्र (Oligarchy)—कीर्तितन्त्र शनैः-शनैः अल्पतन्त्र (Oligarchy) में परिणत हो जाता है। कीर्तितन्त्र का प्रधान तत्त्व 'उत्साह' होता है किन्तु अल्पतन्त्र का 'काम' है। इसमें सम्पूर्ण सम्पत्ति कुछ व्यक्तियों और कुलों के हाथ मे आ जाती है। आर्थिक बल पर वे शासन की बागडोर हथिया लेते हैं तथा व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से राज्य का संचालन करते हैं। इस शासन में धनिकों एव निर्धनों के बीच खाई गहरी होती जाती है और संघर्ष बढ़ता जाता है।

(4) लोकतन्त्र (Democracy)—अल्पतन्त्र मे दरिद्र जनता मे तीव्र असंतोष और विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है। फलत वे सत्ता को अपने कब्जे में कर लोकतन्त्र की स्थापना करते हैं। लोकतन्त्र मे सभी को स्वतन्त्रता और समानता प्राप्त हो जाती है अत अनुशासन और आज्ञापालन का भाव लुप्त हो जाता है। जनता स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर जनतन्त्र ला देती है।

(5) निरंकुशता (Tyranny)—इसका अन्त करने के लिए जनता मे एक नेता उठ खड़ा होता है। वह जनता को बड़े मोहक आश्वासन देता है और उसके कष्टों का अन्त करने का वायदा करता है। जनता उस पर विश्वास कर उसे राज्य-सत्ता और सैनिक शक्ति प्रदान करती है, किन्तु वह जनता की आकांक्षाओं को पूरा नहीं करता। अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए राज्य में दमन करता है और बाहर युद्ध लड़ता है। वह स्वेच्छाचारी शासन स्थापित कर लेता है। यही निरंकुश तन्त्र (Tyranny) है। यह तानाशाही उन्हीं लोगों का खून पीती है जो अपनी मेहनत से उसे भोजन देते हैं। 'काम' तत्त्व का सर्वाधिक पाशविक रूप निरंकुशतन्त्र या तानाशाही में देखने को मिलता है। यह सबसे निकृष्ट शासन प्रणाली है।

सिन्क्लेयर ने सरकारों के पतन की इस क्रिया को आगे दिए चार्ट द्वारा व्यक्त किया है—

सर्वोत्तम	'मनुष्यों में ईश्वर' द्वारा शासन जो कानून के अधीन नहीं है।		
निकृष्ट	वैध शासन		अवैध कानून का शासन
क्रम संख्या निकृष्टता को सीढ़ी की भाँति स्पष्ट करती है।	1. एक व्यक्ति का शासन (राजतन्त्र) 2 कुछ का शासन (धनी) (कुलीनतन्त्र) 3 बहुतों (निर्धनों) का शासन (लोकतन्त्र)	4 5 6	बहुतों (निर्धनों) का शासन—लोकतन्त्र कुछ (धनिक) का प्रशासन—गुटतन्त्र (Oligarchy) एक का शासन—निरंकुशतन्त्र (Tyranny)

कानून का निषेध
(The Omission of Law)

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त, शिक्षा योजना, आदर्श राज्य आदि के विवेचन के प्रसंग में इस बात पर भी विचार करना उपयोगी है कि उसने अपनी 'रिपब्लिक' में कानून और लोकमत के प्रभाव को बिलकुल छोड़ दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि 'रिपब्लिक' राजनीति सम्बन्धी इनी-गिनी पुस्तकों में एक बहुत ही सम्बद्ध और सुसंगत पुस्तक है जिसके विचार बहुत अधिक मौलिक, प्रेरणास्पद और साहसी है, तथापि आधुनिक पाठकों को 'रिपब्लिक' का यह पक्ष खटकता है कि उसमें कानून का निषेध है। इस सन्दर्भ में प्रो सेबाइन ने बड़ा तार्किक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि—"यह त्रुटि (कानून और लोकमत के प्रभाव का निषेध) बिलकुल ठीक है क्योंकि यदि प्लेटो के प्रभाव को मान लिया जाए तो उसका तर्क लाजवाब है। यदि शासक केवल अपने उच्च ज्ञान के कारण योग्य है जो उनके कार्यों के सम्बन्ध में लोकमत का निर्णय बिलकुल अप्रासंगिक है अथवा उनसे विचार-विमर्श या परामर्श करना केवल एक ऐसी राजनीतिक चाल है जिससे कि जनता के असन्तोष को नियन्त्रण में रखा जाता है। इसी प्रकार, दार्शनिक शासक के हाथों को कानून के नियमों में बाँध देना भी उसी तरह मूर्खतापूर्ण है जिस तरह किसी योग्य चिकित्सक को इस बात के लिए विवश करना कि वह अपने नुस्खे चिकित्सा सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकों में से नकल करके दे दे लेकिन यह तर्क हमारी समस्या का समाधान नहीं करता। यह तर्क इस बात को मान लेता है कि लोकमत कुछ नहीं है। शासक को लोकमत के सम्बन्ध में पहले से ही अधिक ज्ञान रहता है। इसी प्रकार इस तर्क की एक अन्य त्रुटि यह है कि वह कानून को भी कोई महत्त्व नहीं देता। इस सम्बन्ध में अरस्तू का यह कहना ठीक है कि व्यावहारिक ज्ञान विशेषज्ञ के ज्ञान से भिन्न होता है। लोकमत इस बात को प्रकट करता है कि शासक के विभिन्न क्रिया-कलापों का जनता के ऊपर क्या प्रभाव पड़ रहा है और जनता उनके बारे में क्या सोच रही है। इसी प्रकार कानून भी केवल औसत नियम नहीं होता। वह यथार्थ मामलों के सम्बन्ध में बुद्धि के प्रयोग का परिणाम होता है। वह एकसे मामलों के साथ आदर्श समयायुक्त व्यवहार करता है। प्लेटो ने लोकमत और कानून की उपेक्षा करके दोनों के साथ अन्याय किया है।"[1]

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 61.

कुछ भी हो, 'रिपब्लिक' का आदर्श राज्य नगर राज्य के राजनीतिक विश्वास का निषेध करता है। नगर राज्य के नागरिक स्वतन्त्र थे जिनसे आशा की जाती थी कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्तियों की सीमाओं के भीतर शासनाधिकारों और कर्त्तव्यों में भाग ले सकता है। यह आदर्श इस विश्वास पर आधारित था कि कानून की अधीनता और किसी अन्य व्यक्ति की अधीनता के बीच (चाहे वह अन्य व्यक्ति बुद्धिमान् और प्रबुद्ध शासक ही क्यों न हो) एक अमिट नैतिक अन्तर होता है। अन्तर यह है कि कानून की अधीनता तो स्वतन्त्रता और गौरव की भावना के अनुकूल है किन्तु व्यक्ति की अधीनता नहीं है। कानून की अधीनता में स्वतन्त्रता का भाव नगर राज्य में एक ऐसा तत्त्व था जिसे यूनानी लोग सर्वाधिक नैतिक महत्त्व देते थे। उनकी दृष्टि में यही तत्त्व यूनानियों और बर्बरों के बीच सबसे बड़ा अन्तर उपस्थित करता था। यूनानियों का यही विश्वास आगे चलकर अधिकांश यूरोपीय शासन प्रणालियों के नैतिक आदर्शों में सन्निहित हो गया। यह आदर्श इस सिद्धान्त में प्रकट हुआ कि "सरकारें अपनी न्याययुक्त शक्तियाँ शासितों की सहमति से प्राप्त करती हैं।" सहमति शब्द का अर्थ स्पष्ट है तथापि यह कल्पना करना कठिन है कि इस आदर्श का लोप हो जाएगा। इसी कारण, प्लेटो के आदर्श राज्य से कानून के निषेध का अभिप्राय केवल यही हो सकता है कि प्लेटो अपने उस समाज (जिसे वह सुधारना चाहता था) के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नैतिक पक्ष को नहीं समझ सका। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि प्लेटो कानून को राज्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में उस समय तक शामिल नहीं कर सकता था जब तक कि वह उस सम्पूर्ण दार्शनिक पद्धति का पुनर्निर्माण नहीं कर लेता जिसका कि राज्य एक भाग है। यदि वैज्ञानिक ज्ञान लोकमत से श्रेयस्कर है, जैसाकि प्लेटो मानता है, तो फिर कानून को ऐसा सम्मान कैसे दिया जा सकता है कि वह राज्य में सम्प्रभु शक्ति (Sovereign Power) बन जाए।

प्लेटो को 'रिपब्लिक' की मान्यताओं में सन्देह बना रहा। "इस सन्देह ने ही कि 'रिपब्लिक' का सिद्धान्त समस्याओं की जड़ तक नहीं पहुँच सका है, प्लेटो को अपने जीवन के उत्तर-काल में इस बात की प्रेरणा दी कि वह राज्य में कानून को उचित स्थान दे। फलस्वरूप उसने अपने 'लॉज' (Laws) नामक ग्रन्थ में एक दूसरे राज्य का निर्माण किया जिसमें ज्ञान नहीं प्रत्युत कानून ही प्रशासी शक्ति है।"

रिपब्लिक में लोकतन्त्र की आलोचना
(Criticism of Democracy in Republic)

प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में लोकतन्त्र की कठोर आलोचना की है। उसके मानस पर अपने गुरु सुकरात को विषपान कराने वाले एथेन्स के लोकतन्त्र का बड़ा बुरा असर था। यूनानी लोकतन्त्र के इस अन्यायी और निर्मम रूप ने उसके हृदय की कोमल भावनाओं को झकझोर दिया। 'रिपब्लिक' में उसने लोकतन्त्र के निम्नलिखित गम्भीर दोष बताए—

1. इसमें सत्ताधारी राजनीतिज्ञ और अधिकारी अज्ञानी तथा अक्षम होते हैं। शिल्पियों को अपने-अपने व्यवसाय की जानकारी होती है, किन्तु राजनीतिज्ञों को कुछ भी नहीं आता।

2. शासन की शक्ति वोट (Vote) बटोर सकने वाले स्वार्थी एवं अक्षम लोगो के हाथ मे चली जाती है। प्रत्येक राजनीतिक दल अपनी स्वार्थ-सिद्धि मे लगा रहता है और उसे राज्य के स्वार्थ से ऊपर समझता था है। शासक अपने पद पर बने रहने के लिए जनता की चापलूसी करते हैं। लोकतन्त्र वास्तव मे भीडतंत्र है। भीड़ अपनी इच्छानुसार शासकों से कानून बनवा लेती है। प्रत्येक व्यक्ति शासक बन कर मनमानी करता है। वास्तव मे प्लेटो ने लोकतन्त्र का बडा ही व्यंगपूर्ण चित्र खींचा है।

3 लोकतन्त्र के स्वतन्त्रता और समानता के दोनो आधार गलत हैं। प्लेटो की मान्यता है कि इनसे समाज मे अव्यवस्था, अनुशासन-हीनता और उच्छृंखलता का प्रसार होता है। उसी के शब्दो मे "पुत्र पिता के तुल्य बन जाता है और अपने माता पिता के प्रति आदर और भय की भावना नही रखता। अध्यापक अपने शिष्यो से डरता है और उनकी चापलूसी करता है। विद्यार्थी अपने उपाध्यायो का तिरस्कार करते हैं—ऐसे राष्ट्र मे सार्वजनिक स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा तब होती है, जबकि क्रीत दास और दासियां भी उनको मूल्य देकर मोल लेने वाले स्वामियों के बराबर स्वतन्त्र हो जाते हैं।" लोकतन्त्र का घोर उपहास करते हुए प्लेटो अयस्खिलस (Aeschylus) के कथन को उद्धृत करते हुए आगे कहता है "इस राष्ट्र मे रहने वाले पशु स्वतन्त्र होगे। कुत्तियां भी लोकोक्ति को अक्षरश: चरितार्थ करती हुई अपनी स्वामिनी के समान हो जाती है और इसी प्रकार घोड़े और गधे भी मार्ग मे अत्यधिक स्वतन्त्रता के साथ चलने के अभ्यासी हो जाते हैं। जो भी उनके सामने जाकर उनके लिए रास्ता नही छोडता वे उसी पर झपट पडते हैं और इसी प्रकार सब चीजें सर्वत्र समानता की भावना से फट पड़ने को तैयार हो जाती हैं।"

4 लोकतन्त्र प्लेटो के 'न्याय' के विचार के अनुकूल नहीं हैं। प्लेटो की 'न्याय' की परिभाषा है—'प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य उपलब्ध होगा।' उसकी न्याय-व्यवस्था कार्य विशेषीकरण तथा श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है। उसकी मान्यता है कि किसी कार्य को करने के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित होना आवश्यक है लेकिन तत्कालीन एथेन्स की जनतन्त्रीय व्यवस्था मे 'लॉटरी' प्रणाली द्वारा कोई व्यक्ति किसी भी पद के लिए चुना जा सकता था। दूसरे शब्दो मे लोकतन्त्र मे एक ही व्यक्ति अनेक कार्य कर सकता है। प्लेटो लोकतन्त्र की इस व्यवस्था को अक्षमता मानकर उसका उपहास करता है।

5. प्लेटो की दृष्टि मे लोकतन्त्र अराजकता (Anarchy) है। यह बहुतन्त्र (Polyarchy) है जिसमे अनेक तत्वो और अनेक व्यक्तियो का शासन चलता है। ऐसे शासन मे 'अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग' वाली कहावत चरितार्थ होती है जो अराजकता और अव्यवस्था की प्रतीक है।

प्लेटो अपनी बाद की अवस्था मे लोकतन्त्र का इतना कठोर आलोचक नहीं रहा था। स्टेट्समैन (Statesman) मे उसने लोकतन्त्र को अल्पतन्त्र (Oligarchy) से अधिक श्रेष्ठ स्वीकार किया है जबकि रिपब्लिक मे लोकतन्त्र को अल्पतन्त्र से

नीचा स्थान दिया है। बार्कर के शब्दों में "यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। अब भी उसमें उन दिनों की स्मृति बची हुई है जब लोकतन्त्रात्मक राज्य ने ज्ञानी दार्शनिक (सुकरात) को मारा था, किन्तु अब यह स्मृति उतनी तीखी नहीं रही, जितनी 'गॉर्जियास' (Gorgias) तथा 'रिपब्लिक' लिखते समय थी।"[1] अपनी अन्तिम रचना लॉज (Laws) में उसने लोकतन्त्र को ऊँची स्थिति प्रदान की है।

प्लेटो और फासीवाद
(Plato and Fascism)

बहुधा यह कहा जाता है कि प्लेटो इतिहास में प्रथम फ़ासिस्ट हुआ है। उसे फासिस्टों का अग्रगामी कहा जाता है।

फासीवाद की विशेषतायें

1. फासीवाद से तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है जहाँ तानाशाही हो और व्यक्ति का कोई स्थान न हो। इसमें एक दल के विरुद्ध किसी दल का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता। यह सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) है जो व्यक्ति के जीवन पर सीमा लगाता है। इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व की शान और योग्यता के पूर्णतः इन्कार किया जाता है और व्यक्ति राज्य रूपी पहिए की मशीन के लिए केवल एक पुर्जा मात्र रहा जाता है।

2 फासीवाद राज्य व्यक्ति की असमानता में विश्वास करता है। फासिस्ट तर्क देते हैं कि जन साधारण प्रत्येक देश तथा काल में अज्ञानी, अंधविश्वासी तथा भावात्मक होते हैं, इस कारण उनमें राष्ट्र का नेतृत्व करने की क्षमता नहीं हो सकती। विशाल राष्ट्र में सदैव कुछ ही ऐसे योग्य, अनुभवी एवं कार्यकुशल व्यक्ति होते हैं जो राष्ट्र के हित को भलि-भाँति पहिचान कर उसकी रक्षा कर सकते हैं।

3 फासीवाद प्रजातन्त्र विरोधी है। यह संसदीय प्रजातन्त्र को मूर्खतापूर्ण भ्रष्ट, धीमी, काल्पनिक तथा अव्यावहारिक प्रणाली मानता है। प्रजातन्त्र अप्राकृतिक है और जनसाधारण अपने आप पर शासन करने के लिए कभी भी योग्य नहीं हो सकता।

4. फासिस्ट राज्य की पूजा करते हैं। उनका मत है कि राष्ट्र का अपना व्यक्तित्व, अपनी इच्छा तथा स्वतन्त्र उद्देश्य होता है। राष्ट्र कोई व्यक्तियों की भीड़ का नाम नहीं है वरन् उसका स्वरूप सगठनात्मक है, केवल एक निश्चित भू-भाग पर रहने वाले व्यक्ति ही मिलकर राष्ट्र कहे जा सकते हैं। अतः राज्य तथा समाज का एक जैविक स्वरूप (Organic form) है जिससे पृथक् करने पर व्यक्ति एक अस्तित्वहीन भावात्मकता मात्र रह जाएगा। राष्ट्र के इस रूप की फासिस्ट उपासना करते हैं और इसे जनता के भाग्य का एकमात्र तथा अन्तिम निर्णय करने वाला मानते हैं।

1 *Barker* : Greek Political Theory, p. 291.

5 फासीवादी समष्टिवादी हैं। इनका कहना है कि "राष्ट्र का सामूहिक हित इतनी बहुमूल्य वस्तु है कि उसकी तृप्ति के लिए कुछ व्यक्तियों का बलिदान कोई महत्व नहीं रखता। राज्य की सेवा में ही व्यक्ति का कल्याण तथा उन्नति है। राज्य से पृथक् व्यक्ति का अपना कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं हो सकता। राज्य के विरुद्ध उसके कोई अधिकार नहीं हो सकते।"

फासीवाद के उपरोक्त विचारो के संदर्भ मे आलोचको का कहना है कि प्लेटो द्वारा समर्थित आदर्श राज्य पृथक् फासीवादी राज्य है क्योंकि प्लेटो ने दार्शनिक तथा तार्किक रीति से स्वयं यही निष्कर्ष निकाला कि दार्शनिक शासक सब पर शासन करेंगे, वे कानून के बन्धन से पूर्णत मुक्त होगे और स्वेच्छानुसार शासन करने की उन्हे पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। मुसोलिनी ने भी यही बातें कही हैं। दोनो के विचारो में निश्चित ही अनेक समानताएँ हैं। यदि 'रिपब्लिक' का अध्ययन गम्भीरतापूर्वक किया जाए तो उससे यही निष्कर्ष निकलेगा कि प्लेटो का राज्य सर्वाधिकारवादी है। प्लेटो के आलोचक उसे मुसोलिनी का 'आध्यात्मिक पूर्वज' कहते हैं। फासीवाद और प्लेटो के विचारो मे अनेक समानताएँ बताई जाती हैं।

फासीवाद और प्लेटो के विचारों में समानतायें

1. प्लेटोवादी तथा फासीवादी दोनो अपने देश को सुन्दर बतलाते हैं। प्रो जी सी केटलिन लिखते हैं—"प्लेटो नवयुवको को यह पाठ पढाता है कि उनके देश से सुन्दर देश दूसरा नहीं है। यहाँ प्लेटो, ऐसी विचारधाराओ का कि इटली सुन्दर है और मुसोलिनी सर्वत्र ठीक है, रूस की कोई समानता नही है और स्टालिन सही है, ब्रिटेन लहरो पर शासन करता है— पूर्णरूपेण समर्थक तथा अनुमोदक प्रतीत होता है।"

2. दोनो ही प्रजातन्त्र विरोधी हैं। प्लेटो ने प्रजातन्त्र को अज्ञानियो का शासन कहा है, उसके अनुसार "प्रजातन्त्र के कानून मृत रहते हैं, इसकी स्वतन्त्रता अराजकता है, इसकी समानता असमानो की समानता है।" फासिज्म भी प्रजातन्त्र को अव्यावहारिक और भ्रष्ट शासन का रूप मानता है। दोनो ही समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा करते हैं और उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। व्यवसाय पर आधारित कुलीनता के दोनो समर्थक हैं। प्लेटो व्यावहारिक दृष्टि से मानवीय समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए उत्पादक-वर्ग को एक मे, सैनिक एव शासक वर्ग को दूसरी कोटि मे रखता है। दूसरे वर्ग के लिए वह शिक्षा और साम्यवाद की योजना रखता है। वह ज्ञानियो एवं अज्ञानियो मे अन्तर करता है। फासिज्म भी मनुष्य की समाना को मान्यता नही देता।

3 दोनो मे स्वतन्त्रता का कोई स्थान नही है। प्लेटो के आदर्श राज्य मे नागरिक के सभी कार्यों पर राज्य का पूर्ण एव कठोर नियन्त्रण है। इसी प्रकार फासिस्टवादी व्यवस्था मे भी मनुष्य का राज्य के बाहर कोई अस्तित्व नही है।

4 दोनों विचारधाराओं में राज्य को सर्वोपरि माना गया है। राज्य के हितों के लिए व्यक्ति के हितों की आहुति देने को उचित ठहराया गया है। प्लेटो ने दार्शनिक शासक के निरंकुश नेतृत्व को स्वीकार किया है। फासीवाद भी एक नेता, एक दल की निरंकुशता स्थापित करता है। दोनों का रूप अधिनायकवादी है।

5. फासिस्टो ने भी प्लेटो के समान नेता को सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान तथा सबसे अधिक बुद्धिमान् माना है और नेता की आज्ञा का अक्षरशः पालन करना जनता का परम-धर्म बताया है।

6. प्लेटोवाद और फासीवाद दोनो का कुलीनतन्त्र मे विश्वास है। प्लेटो बुद्धि का शासन स्थापित करने के लिए थोड़े से संरक्षको को सम्पूर्ण शासन सौंपना चाहता है। फासीवाद भी एक दल को शासक बनाने का इच्छुक है। इस प्रकार दोनो मे राज्य की शक्ति कुछ लोगो के पास ही रहती है।

7. दोनो विचारधाराएँ मनुष्य के कर्त्तव्यो का उल्लेख करती हैं अधिकारो का नही। प्लेटो के अनुसार मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए तथा दूसरो के कार्य मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। फासिज्म मे भी अधिकारो को कोई महत्त्व नही दिया गया है और सैनिक की भांति "Not to reason why but to do and die" वाला कथन चरितार्थ होता है।

8 शिक्षा के बारे में दोनो के समान विचार हैं। दोनो राज्य द्वारा संचालित योजना प्रस्तुत करते हैं। दोनो शिक्षण का विशेष पाठ्यक्रम देते हैं। दोनो का उद्देश्य नेतृत्व की शिक्षा देना है।

9 दोनों के युग में राज्य का सर्वोत्तम स्थान था, यद्यपि राज्यो का रूप भिन्न-भिन्न प्रकार था। प्लेटो के समय नगर-राज्य थे जबकि बीसवीं सदी में इटली राष्ट्र-राज्य था।

उपरोक्त समानताओ के आधार पर ही कहा जाता है कि प्लेटो फासिज्म का पिता था। बार्कर ने भी प्लेटो के शासन को योग्य व्यक्ति की निरंकुशता बताया है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने उसके शासक की आलोचना करते हुए कहा है कि वह एक तानाशाह अथवा सर्वाधिकारवादी शासक बन गया है।

फासीवाद तथा प्लेटो के विचारों में असमानता

प्लेटो को फासिज्म का अग्रगामी कहना अनुचित है। वस्तुत. प्लेटोवाद और फासिज्म में बडी असमानता है। जो निम्नलिखित है—

(1) फासीवाद जहाँ तर्कवाद और बुद्धिवाद के प्रति एक विद्रोह है वहाँ प्लेटो के बुद्धिवाद का फासिस्टो के प्रज्ञावाद (Intutionism) से सीधा विरोध है। फासिस्टो के अनुसार बुद्धि (Reason) कभी सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की समस्याओं को नहीं सुलझा सकती जबकि प्लेटो के लिए यही एकमात्र मार्ग-दर्शक है जो मनुष्य को सामाजिक बुराइयों से दूर हटा सकती है।

(2) प्लेटो की विचारधारा प्रादर्शवादी है जबकि फासिस्ट विचारधारा यथार्थवादी है। प्लेटो ने जिस राज्य की विवेचना की, वह केवल कल्पना के लोक मे ही स्थापित हो सका, व्यावहारिक जगत् मे नही। इसके सर्वथा विपरीत फासीवादी विचारों मे प्रादर्श को कोई स्थान नहीं है। फासिस्ट प्रादर्श मे नही यथार्थ मे, योजना मे नही, कार्य मे विश्वास करते हैं और उन्होंने अपने विचारो के प्रयोग इटली और जर्मनी मे किये।

(3) फासीवाद भावनाम्रो तथा प्रवृत्तियो को बुद्धि से ऊँचा स्थान देता है जबकि प्लेटो मे भावनाएँ भी बुद्धि का रूप ग्रहण करती प्रतीत होती हैं। यह धारणा कि फासिस्ट अपने खून से सोचते हैं (Fascists think with their blood), प्लेटो के दर्शन के लिए एकदम महत्त्वहीन कही जा सकती है।

(4) प्लेटो ने दार्शनिक प्राधार पर एक राजनीतिक रूपरचना तैयार की। फासिस्टो ने राजनीतिक रूपरचना के प्राधार पर एक दर्शन बनाया प्रत: दोनो मे मौलिक प्रन्तर है।

(5) प्लेटो ने राजनीति पर नहीं वरन् नैतिक पक्ष पर अधिक बल दिया। उसने राजनीति को नीति की दासी बना दिया लेकिन फासिस्टो ने नीति को राजनीति की अनुगामिनी बनाया है।

(6) फासीवाद की सत्य एव नैतिकता की धारणा व्यावहारिक है जबकि प्लेटो की अव्यावहारिक है। फासीवाद के अनुसार नैतिक मापदण्ड तथा सत्य केवल सापेक्षिक सिद्धान्त (Relative concepts) हैं। जब तक वे मनुष्य के उद्देश्यो व कार्यों को प्राप्त करने मे सहायता दें तभी तक इनका मूल्य है। प्लेटो ने इस विचारधारा का अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' मे खण्डन किया है। उसका कहना है कि सत्य और न्याय न तो सापेक्ष हैं और न ही कुछ समय के लिए वे बाहरी छल-कपट होकर मनुष्य के बौद्धिक स्तर के प्रान्तरिक उत्साह के रूप मे सामने आते हैं। न्याय, नैतिकता तथा सत्य अन्तिम रूप से लाभदायक होते हैं लेकिन यह आवश्यक नही कि प्रत्येक चीज जो लाभदायक है वह न्यायसगत भी है। सत्य, नैतिकता तथा न्याय के बारे मे प्लेटो का सिद्धान्त फासीवाद की व्यावहारिकता के विरुद्ध सीधा प्राक्रमण है।

(7) प्लेटो साम्राज्यवाद की कल्पना भी नही करता था जबकि फासिस्ट विचारधारा इससे ओतप्रोत है। मुसोलिनी का नारा था—"इटली का या तो विस्तार हो अथवा अन्त हो जाए।" फासिस्ट विस्तार ही मे अपना जीवन समझते है। प्लेटो के अनुसार साम्राज्यवाद नगर राज्यो के विकास के लिए एक अभिशाप था। वह स्वशासित तथा प्रात्म-निर्भर नगर राज्यो की कल्पना प्रस्तुत करता है। फासीवाद के सैनिक राष्ट्रवाद के सिद्धान्त (Theory of Militant Nationalism) का प्लेटो के विचारो मे कोई स्थान नहीं है। साम्राज्यवादी विस्तार, सघर्ष यदि फासिस्टो के लिए उत्साह और साहस के परिचायक हैं किन्तु प्लेटो के लिए ये

बीमारियाँ हैं। उसके आदर्श राज्य में आत्म-रक्षा के अलावा युद्ध की अपेक्षा नहीं की जा सकती। प्लेटो के लिए युद्ध-शक्ति उदारता एवं साहस का साधन न होकर राजनीतिक बीमारी का एक चिह्न है और राज्य के आन्तरिक कुप्रबन्ध के लिए उत्तरदायी है। युद्ध के स्थान पर एकता प्लेटो के लिए मनुष्य और राज्य का भाग्य है जबकि फासीवादी विचारधारा की नींव ही युद्ध पर खड़ी है। युद्ध उसके लिए मनुष्यत्व का जन्मजात लक्षण है।

(8) प्लेटो साम्यवादी सिद्धान्त प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार शासक वर्ग को सम्पत्ति एवं परिवार से विरक्त रहना आवश्यक है किन्तु फासिस्ट साम्यवादी विचारों के पक्के शत्रु हैं। वे इसका पूर्णतः उन्मूलन चाहते हैं। वे प्लेटो के समान सम्पत्ति और परिवार को शासकों के लिए त्याज्य नहीं मानते।

प्लेटोवाद और फासीवाद की समानताएँ और विषमताएँ देखने पर यही प्रतीत होता है कि प्लेटो न तो फासिस्ट है और न उसका अग्रगामी। उसने जिस विचारधारा को रखा वह अपने युग की माँग थी। प्लेटो के विचार 4 शताब्दी ई. पू. की तत्कालीन स्थिति के अनुसार थे जबकि फासिस्ट विचारधारा 20वीं सदी के प्रथम महायुद्ध के बाद की देन है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि फासिस्टों की भाँति प्लेटो ने भी यह घोषणा की थी कि राज्य एक नैतिक सत्ता है जिसके प्रति व्यक्ति का आज्ञापालन व सेवा का प्रथम कर्त्तव्य है, किन्तु प्लेटो का यह विचार फासिस्ट साम्राज्यवाद और युद्ध-लिप्सा से भिन्न था। फासिस्टों की भाँति प्लेटो ने यह भी कहा था कि शासन करने का विशेषाधिकार कुछ विशेष बुद्धिमान् और ज्ञानी व्यक्तियों को ही है, लेकिन जहाँ उसके ये 'कुछ बुद्धिमान' व्यक्ति कठोर, नैतिक और बौद्धिक परीक्षाओं के पश्चात् सत्ता-प्राप्ति तक पहुँचते हैं वहाँ फासीवाद में कुछ व्यक्ति छल, कपट एवं झूठ आदि उपायों से सत्ता हथियाने में विश्वास करते हैं। इसी तरह जहाँ फासिस्ट लोगों ने शक्ति के दर्शन को जन्म दिया है वहाँ प्लेटो बुद्धि के दर्शन का हामी है। प्लेटो का आदर्श राज्य अपने आप में योग्य और एकतापूर्ण है किन्तु फासीवादी राज्य बिखरे हुए समाज का प्रतिनिधित्व करता है।

वास्तव में प्लेटोवाद एवं फासीवाद में समानताएँ अनावश्यक, तुच्छ एवं बाह्य हैं। सच्चाई तो यही है कि इन दोनों का अन्तर कभी न भरने वाली खाई (Unbridgeable Gulf) की तरह है। प्लेटो को प्रथम फासिस्ट बताना न केवल अनुचित है बल्कि उपहास्य भी है।

प्लेटो : 'स्टेट्समैन' तथा 'लॉज'

(Plato : The 'Statesman' & the 'Laws')

प्लेटो का उत्तरकालीन राजनीतिक दर्शन 'पालिटिक्स' (Politicus) अथवा 'स्टेट्समैन' (Statesman) तथा 'लॉज' (Laws) नामक ग्रन्थों में निहित है। इनकी रचना 'रिपब्लिक' के अनेक वर्षों बाद हुई। इन दोनों कृतियों में पर्याप्त साम्य दिखायी देता है। इनके सिद्धान्त 'रिपब्लिक' के सिद्धान्तों से बहुत भिन्न हैं। ये दोनों कृतियाँ नगर-राज्य की समस्याओं के सम्बन्ध में प्लेटो के चिन्तन के अन्तिम परिणाम प्रस्तुत करती हैं।

स्टेट्समैन
(The Statesman)

प्लेटो की यह रचना सम्भवतः 367-361 ई. पू. के मध्य उस समय लिखी गई जबकि सिराक्यूज में डायोनिसियस द्वितीय सुधार में लगा हुआ था या इसके तुरन्त बाद के वर्षों में।[1] इसका रचनाकाल 367 और 361 ई पू. के बीच रखना ही सम्भवतः अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इस काल में प्लेटो की एक ओर तो सिराक्यूज के राजतन्त्र से बड़ी-बड़ी आशाएँ बँध रही थी और दूसरी ओर विधि (कानून) में भी उसकी अभिरुचि उत्पन्न हो गई थी और वह डायोनिसियस द्वितीय के साथ विधियों की प्रस्तावनाएँ तैयार करने में लगा हुआ था।[2] सिन्क्लेयर (Sinclair) के अनुसार रिपब्लिक की रचना के लगभग 12 से 15 वर्ष बाद 362 ई. पू. में प्लेटो ने 'स्टेट्समैन' की रचना की होगी।[3] इस ग्रन्थ को ग्रीक भाषा में 'पॉलिटिकस' (Politicus) कहा जाता है। इसकी मान्यता मुख्यत इसलिए है क्योंकि इसमें प्लेटो ने कानून पर एक नए दृष्टिकोण से विचार किया है और जनतन्त्र की उतनी भर्त्सना नहीं की है जितनी 'रिपब्लिक' में की थी। इसमें मिश्रित संविधानों (Mixed Constitutions) का संकेत मिलता है जिसका पूर्ण विकास 'लॉज' में हुआ है। इन दोनों ग्रन्थों में प्लेटो को हम 'रिपब्लिक' के काल्पनिक आदर्शवादी के स्थान पर व्यावहारिक आदर्शवादी (Practical Idealist) के रूप में देखते हैं। उसके विचार यहाँ 'रिपब्लिक' की अपेक्षा अधिक तर्कपूर्ण और सुनिश्चित हैं। 'पॉलिटिक्स' का शब्दार्थ है 'राजपुरुष' या 'राजनीतिज्ञ' (Statesman)। इस संवाद में थियोडोरस सुकरात और एक विदेशी परस्पर आदर्श राजनीतिज्ञ के स्वरूप एवं कर्त्तव्यों के विषय में वार्तालाप करते हैं। इस वार्तालाप अथवा परिसंवाद के दौरान 'रिपब्लिक' में प्रतिपादित आदर्शों पर पुनर्विचार किया जाता है और विभिन्न प्रकार की शासन पद्धतियों के चक्र तथा उनके गुणावगुणों का विवेचन किया जाता है।

स्टेट्समैन में आदर्श शासक एवं कानून सम्बन्धी विचार
(Views on Perfect Ruler and Law in Statesman)

'स्टेट्समैन' कोई राजनीतिक कृति नहीं है। इसमें अधिकतर परिभाषाओं पर विचार किया गया है और इसका मुख्य विषय आदर्श शासक अथवा राजनेता या राजमर्मज्ञ (Statesman) है। 'रिपब्लिक' में यह मान लिया गया था कि राजनेता अथवा आदर्श शासक एक कलाकार है और उसे शासन करने का अधिकार है, क्योंकि वह 'सद्' को जानता है। 'स्टेट्समैन' से इसके समर्थन में प्रमाण जुटाए गए हैं और 'रिपब्लिक' की धारणा की विस्तृत व्याख्या की गई है। 'स्टेट्समैन' का निष्कर्ष भी यह है कि राजनेता एक प्रकार का कलाकार होता है जिसकी मुख्य योग्यता ज्ञान ही है। प्लेटो ने राजनेता की तुलना गडरिए से की है, क्योंकि गडरिए द्वारा पशु-

1 बार्कर : पूर्वोक्त, पृ 406
2 *Sinclair* : A History of Greek Political Thought, p. 173.
3 सेबाइन : वही, पृ. 68.

समूह की भाँति राजनेता भी मानव-समुदाय का नियन्त्रण और व्यवस्थापन करता है। राजनेता परिवार के उस मुखिए की भाँति है जो परिवार को इस प्रकार चलाता है कि उसके सब सदस्यों का हित हो।

'स्टेट्समैन' में प्लेटो ने राजनेता अथवा प्रशासक को सर्वोच्च सत्ता का अधिकारी माना है और राजनीतिक नेतृत्व को सभी विज्ञानों में प्रधान बतलाया है। यद्यपि उसके अन्वेषण का उद्देश्य राजनेता के स्वरूप को समझने की अपेक्षा यह अधिक है कि सामान्य-विवेक शक्ति का विकास किया जाए।[1] पर तर्क नियमोंके मेघजाल में प्लेटो के राजनीतिक उत्साह की किरणें बार-बार चमक उठती हैं और 'स्टेट्समैन' का संवाद निरपेक्ष राजनेता अथवा आदर्श शासक के वास्तविक स्वरूप का अध्ययन बन गया है। तर्क-शृंखला में पहली कड़ी तो यह निश्चित करने की है कि राजनीतिज्ञता अथवा राजमर्मज्ञता (Statesmanship) का सम्बन्ध किस चीज से है। प्लेटो ने आरम्भ में ज्ञान को व्यवहार से पृथक् माना है तथा राजनीतिज्ञता को या 'राजनीति-विज्ञान' को ज्ञान के क्षेत्र में रखा है। तर्क-शृंखला में दूसरी कड़ी है—ज्ञान का दो शाखाओं में विभाजन। एक आलोचनात्मक (Critical) ज्ञान है और दूसरा आदेशात्मक (Imperative) ज्ञान। आलोचनात्मक ज्ञान में निर्णय ही नहीं होता बल्कि निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए आदेश भी दिए जाते हैं। राजनीतिज्ञता (Statesmanship) आदेशात्मक ज्ञान के अन्तर्गत आती है, राजनीति विज्ञान का स्वर आदेशात्मक होता है। इसका अगला कदम यह है कि आदेशात्मक ज्ञान को दो भागों में बाँटा गया है—प्रधान अथवा सर्वोपरि भाग या जाति और द्वितीय गौण या अधीन भाग अथवा जाति। कुछ लोग जो आदेश दे सकते हैं वे प्रभुता सम्पन्न होते हैं, *उनसे ऊँचा कोई नहीं होता और उनके आदेशों का स्रोत वे* स्वयं ही होते हैं। दूसरे लोग अधीनस्थ होते हैं और वे उन्हीं आदेशों को जारी कर देते हैं जो उन्हें दिए जाते हैं। राजनेता अथवा प्रशासक की गणना पहली श्रेणी के लोगों में होती है जिनका ज्ञान केवल आदेश देने का ज्ञान नहीं होता बल्कि परम-आदेश देने का ज्ञान होता है। प्लेटो ने विस्तार से इस बात को सिद्ध किया है कि एक राजनेता वक्ता, सेनापति तथा न्यायाधीश से इसलिए बढ़कर है कि प्रभुता सम्पन्न होने के कारण वही यह निर्णय करता है कि वे अपनी शक्तियों का कब और किन *कामों में प्रयोग करें। प्लेटो की दृष्टि में, जिन विज्ञानों का सम्बन्ध कर्म से है, उनमें* राजनीतिज्ञता अथवा राजमर्मज्ञता (Statesmanship) सबकी सिरमौर है।

'स्टेट्समैन' इस मूलभूत प्रश्न पर विचार करता है कि "आदर्श राज्य में नागरिकों को अपने शासकों पर किस सीमा तक निर्भर रहना चाहिए? क्या वे उन पर उसी प्रकार निर्भर रहें जिस प्रकार बालक अपने माता-पिता पर निर्भर रहता है अथवा वे स्वयं अपने नियन्ता बनें? 'स्टेट्समैन' में बताया गया है कि यदि

1 बार्कर : पूर्वोक्त, पृ 406.

शासक वास्तव मे कलाकार है और अपने कार्य को अच्छी तरह करता है तो उसे पूरी निरकुशता प्राप्त होनी चाहिए।"[1] "शासन प्रणालियो मे वही शासन प्रणाली सबसे श्रेष्ठ है और वही वास्तविक शासन प्रणाली है जिसमे शासकों के पास आभासी नही, प्रत्युत वास्तविक ज्ञान होता है। वे कानून द्वारा शासन करते हैं अथवा नही, उनके प्रजाजन राजी है या नही, इसका कोई महत्त्व नही है।"[2] प्लेटो बतलाता है कि राजनेता या प्रशासक अपनी आदेश शक्ति का प्रयोग भरण-पोषण के लिए करता है और जिन्हें सहारा देने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है वे समूहो या समुदायों के रूप मे संगठित मानव होते हैं। राजनेता मानव-समूह के भरण-पोषण के लिए नियुक्त चरवाहा है। 'भरण-पोषण' शब्द मे यह अर्थ निहित है कि घर-गृहस्थी के प्रबन्ध या राजनीति विज्ञान के बीच कोई खाई नही है। किसी बड़े परिवार और किसी छोटे राज्य मे केवल मात्रा का अन्तर होता है, प्रकार का नही।[3]

प्लेटो ने एकमात्र सच्चा राज्य उसे ही माना है जिसमे ऐसे राजनेता अथवा प्रशासक हो जो ज्ञान-रूप है। राज्य तब तक राजनीतिक समाज नही हो सकता जब तक कि वह ज्ञान पर आधारित राजनेताओ को समन्वयकारी शक्ति के माध्यम से एक इकाई के रूप मे संगठित न हो जाए। इस ज्ञान तक केवल इने-गिने व्यक्तियों की ही पहुँच हो सकती है अर्थात् सच्चे राजनेता इने गिने लोग ही हो सकते हैं।

प्लेटो ने राजनेता या प्रशासक की निरकुशता अथवा निरपेक्षता का निम्नलिखित आधारो पर पोषण और संशोधन किया है—

(क) राजनीतिक नम्यता के तर्क के आधार पर निरकुशता का पोषण,

(ख) सामाजिक सामञ्जस्य के तर्क के आधार पर निरकुशता का पोषण, एव

(ग) विधि-शासन के विचार के आधार पर निरकुशता का संशोधन।

(क) राजनीतिक नम्यता के तर्क के आधार पर निरकुशता को न्यायोचित ठहराते हुए प्लेटो ने लिखा है कि राजनीतिज्ञता मूलत: आदेशात्मक विज्ञान है जिसमे नियन्त्रण की सर्वोच्च शक्ति निहित होती है। राजनीतिज्ञता कला है और प्रत्येक कला का सार यह है कि कलाकार स्वय एक राजा की भाँति कार्य करता है और अपनी कार्य-पद्धति के बारे मे किसी भी नियमावली के बन्धन से स्वतन्त्र होता है। कलाकार जिस वस्तु पर कार्य करता है उसे अपने ज्ञान के अनुसार अच्छे से अच्छा रूप देने का प्रयत्न करता है। कलाकार के नाते राजनेता अथवा प्रशासक को भी यह छूट होती है कि वह जैसे भी ठीक समझे अपनी प्रजा का हित करे। इसका अभिप्राय यह है कि राजनेता को अपनी प्रजा की सहमति की कोई आवश्यकता नही होती। यात्री और रोगी को कोई अधिकार नही कि चालक या चिकित्सक की कला के अभ्यास के बारे मे आरम्भ मे अपनी स्वीकृति या सहमति दे। इसके विपरीत दोनो ही अपने को चालक या चिकित्सक के ज्ञानमय मार्गदर्शन पर छोड़ देते है। चालक

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृ. 68
2 स्टेट्समैन, सेबाइन से उद्धृत, पृ 68.
3 बार्कर : उक्त, पृ 408

या चिकित्सक ज्ञान का प्रयोग किस तरह करेंगे""इस बारे मे यात्री या रोगी किसी तरह के हस्तक्षेप का दावा नही करते। वह तो मौन स्वीकृति का विषय है, सहमति का नहीं। यदि चिकित्सक और चालक अपनी कलाओं में पारगत होंगे तो निश्चय ही रोगी और यात्री का भला करेंगे और उन्हें उनकी मौन स्वीकृति भी निश्चित रूप से मिल जाएगी। यही बात राजनेता के सन्दर्भ मे लागू होती है। यदि राजनेता किसी नागरिक को अधिक न्यायपूर्ण, अधिक अच्छा और उच्च कार्य करने के लिए बाध्य करता है तो इसमें उस नागरिक का लाभ ही है, हानि नहीं और नागरिकों की भलाई का काम करने का अधिकार हर व्यक्ति को है—फिर चाहे वह नागरिकों की इच्छा के अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल। स्पष्ट है कि प्लेटो प्रबुद्ध स्वेच्छाचारिता (Enlightened Despotism) के सिद्धान्त की वकालत कर रहा है।

सच्चे राजनेता को कलाकार के रूप मे ग्रहण करने की धारणा का प्लेटो ने दूसरा निष्कर्ष यह निकाला है कि उसकी कला के लिए विधि अर्थात् कानून अनावश्यक है—यहाँ तक कि हानिकारक है। पर यह दृष्टिकोण 'रिपब्लिक' से कुछ भिन्न है। 'रिपब्लिक' मे प्लेटो का तर्क था कि जब दार्शनिक शासक को शिक्षा द्वारा सच्चा एव जीवन्त ज्ञान प्राप्त हो चुका है तो उसके लिए कानून की कोई आवश्यकता नही। 'स्टेट्समैन' में भी प्लेटो ने कानून को एक बुराई माना है, पर उसके विरोध का स्वर विनम्र है। 'स्टेट्समैन' मे कानून को अधिकांशतः इस आधार पर बुरा समझा गया है कि कानून [illegible] होता है शासक के ज्ञान के स्वतन्त्र प्रयोग पर प्रतिबन्ध और बन्धनों का आरोपण। कानून के नियम कठोर और स्थायी होते हैं। कानून उस दुराग्रही और अज्ञानी निरकुश शासक की तरह होता है जो अपना निश्चय कभी नहीं बदलता। कानून की स्थिति उस चिकित्सक की तरह है जो पुस्तक पढ़-पढ़कर इलाज करता है और इस बात की ओर कोई ध्यान नहीं देता कि जिस रोगी का वह इलाज कर रहा है उसका शरीर-विधान कैसा है, उसके रोग की क्या स्थिति है, उसमें क्या परिवर्तन हो रहे हैं आदि। किन्तु इस विरोध के बावजूद प्लेटो स्वीकार करता है कि कानूनों का अस्तित्व होता है और यद्यपि उनमें कमियाँ होती हैं फिर भी वे सब को समान रूप से अपनी सीमा में बाँध लेते हैं। मनुष्य मनुष्य और कार्य-कार्य के भेदों के अनुरूप कानूनों अथवा विधियों का निर्माण हो सके इसके लिए विधायक (शासक) अपनी स्वतन्त्र बुद्धि का उपयोग करने से कतराते हैं, जनसाधारण के लिए ऐसे सामान्य नियम बना देते हैं जो स्थूल दृष्टि से वैयक्तिक स्थितियों के अनुकूल होते हैं। प्लेटो राजनीतिक नमनीयता के आधार पर निरकुशता का पोषण करते हुए कहता है कि व्यावहारिक दृष्टि से कानून का अस्तित्व उचित माना जा सकता है तथापि आदर्श की माँग है कि राजनेता या प्रशासक की शक्तियों में लचीलापन रहे और यदि राज्य अपने शासकों को कानून के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य कर देता है तो शासक अपनी शक्तियों के लचीलेपन से वंचित हो जाता है। बार्कर की यह टिप्पणी सही है कि प्लेटो सम्भवतः विधि अथवा कानून की कठोरता से बहुत डरता था। तत्कालीन यूनानी विधि

जीवन्त विकासशील काया न होकर सूत्रों का ढाँचा मात्र थी और यूनानियों में उस स्थिर संहिता का पालन करने की प्रवृत्ति थी। नई उद्भावनाओं से उन्हें भय लगता था। एथेन्स तक में विधि (कानून) को बदलना मुश्किल था। विधान परिवर्तन के लिए विशेष उपायों का आश्रय लेना पड़ता था। प्लेटो में अभी भी रिपब्लिक की धारणा प्रबल थी। उसकी दृष्टि में राजनीति एक कला थी और एक कलाकार राजनेता में ही उसकी आस्था थी। उसका विश्वास था कि नियमों और रूढ़ियों की जकड़ में कला और कलाकार का दम घुट जाता है।

(ख) प्लेटो सामाजिक सामञ्जस्य के तर्क के आधार पर भी निरंकुशता अथवा निरपेक्षता का पोषण करता है। उसकी दृष्टि में राजनेता अथवा शासक को मध्यम मार्ग खोजना आवश्यक है। उसका कर्त्तव्य है कि विभिन्न स्वभावों के व्यक्तियों को सामञ्जस्य के साथ रखे। जिस तरह बुनकर ताने-बाने को इस तरह मिलता है कि उनमें उचित सामञ्जस्य बना रहे, उसी प्रकार राजनेता के लिए भी आवश्यक है कि वह मानव-प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों में एकता की स्थापना करे। जिस तरह संगीतकार तीव्र स्वर और मन्द स्वर का सामञ्जस्य ढूँढ निकालता है, उसी तरह राजनेता को भी मानवता के करुण संगीत में सामञ्जस्य की खोज करनी चाहिए। मानव जीवन के संगीत में तीव्र स्वर भी है और मन्द स्वर भी। कुछ लोगों में पुरुषोचित उत्साह का उन्माद छाया रहता है तो कुछ में मर्यादित संयम की अतिशय भीरुता। जो स्थिति व्यक्तियों की है, वही स्थिति राज्य में वर्गों की होती है। राज्य में सैनिक वर्ग अपने साहस के उन्माद के कारण सैन्यवाद का विकृत चोला पहन लेता है तो दूसरी ओर शान्तिप्रिय लोगों का वर्ग संयम की अति के कारण शान्तिवाद की गोद में सोता रहता है। जीवन में लगता है कि एक सद्गुण दूसरे सद्गुण से न केवल भिन्न है वरन् परस्पर प्रतिकूल भी है। एक प्रकार का मनुष्य दूसरे प्रकार के मनुष्य के विरुद्ध होता है। राज्य में भी एक वर्ग का दूसरे वर्ग से छह और तीन का रिश्ता होता है, परस्पर विरोध होता है। यहीं राजनेता का प्रवेश आवश्यक है, यहीं उसे अपने कर्त्तव्य-कर्म के दर्शन होंगे। उसे मध्यम मार्ग खोजना होगा, विभिन्न प्रकृतियों का मिश्रण कर सामञ्जस्य बैठाना होगा। राजनेता ऐसी प्रकृतियों को समाप्त कर देगा जो किसी काम की न हों। जिन लोगों में न संयम है, न साहस है और न अन्य कोई सद्गुण है, उन्हें वह या तो मौत के घाट उतार देगा या निर्वासित कर देगा, और जो लोग अज्ञानी व नीच हैं उन्हें वह दासवृत्ति में लगा देगा। परीक्षाओं द्वारा चुन लेने और प्रशिक्षण द्वारा तैयार कर लेने के बाद शेष लोगों को वह उसी तरह एकान्वित कर देगा जिस तरह बुनकर ताने और बाने को समन्वित कर देता है।

प्लेटो के अनुसार राजनेता अथवा प्रशासक दो उपायों से यह सामञ्जस्य लाने का प्रयत्न करेगा। एक उपाय आध्यात्मिक होगा तो दूसरा भौतिक, अथवा एक अलौकिक होगा तो दूसरा लौकिक। राजनेता का सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण काम यह होगा कि वह सभी सद्गुणों में समन्वय स्थापित करे ताकि हर व्यक्ति अथवा वर्ग अपनी विशिष्ट अति या अपने विशिष्ट अभाव से मुक्त हो जाय

और एक व्यापक सामञ्जस्य प्राप्त कर सके। उदाहरणार्थ, राजनेता समान गुण धर्म वाले स्त्री-पुरुषों का विवाह करने की जगह विभिन्न प्रकार के गुणों का प्रतिनिधित्व करने वाले स्त्री-पुरुषों को विवाह द्वारा परस्पर मिलाएगा जिसका परिणाम यह होगा कि उन स्त्री-पुरुषों का मिलन (जिनकी प्रकृति एक दूसरे से भिन्न है) भी एक दूसरे का पूरक बन जाएगा। इस प्रक्रिया से सम्पूर्ण समाज सामञ्जस्य के सौरभ से महक उठेगा। इसी प्रकार प्लेटो का सुझाव है कि रिक्त पदों की पूर्ति में भी सामञ्जस्य का यही सिद्धान्त लागू होगा। जब किसी पद के कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता हो तो अधिक सन्तुलित कार्य और समुचित सामञ्जस्य लाने की दृष्टि से यह उचित है कि विभिन्न प्रकार के साहसी और कर्मठ, विनम्र और सज्जन लोगों को चुना जाए।

(ग) प्लेटो ने अधिक व्यावहारिक धरातल पर उतरते हुए, अपने चिन्तन के अगले चरण में विधि-शासन के आधार पर निरंकुशता अथवा निरपेक्षता का संशोधन किया है। निरपेक्ष या निरंकुश शासन के सम्बन्ध में प्लेटो के मन में सम्भवतः अनेक प्रश्न उठे होंगे। उसने सोचा होगा कि क्या किसी अति बुद्धिमान व्यक्ति के लिए भी यह सम्भव है कि मानव-जीवन के साथ निरद्वन्द्व होकर खिलवाड़ करे? उसने सोचा होगा कि क्या मानव-प्रकृति को, जो अपने सामूहिक रूप में इतनी जटिल है, इतनी सरलता से ढाला जा सकेगा? उसने स्वयं से यह प्रश्न भी पूछा होगा कि मानव इच्छाएँ रूढ़ियों और पक्षपातों के जिन अजेय दुर्गों से घिरी हुई है, क्या इन सारे दुर्गों को धराशायी किया जा सकेगा। बार्कर ने लिखा है कि अपने जीवन की सन्ध्या में प्लेटो ने जब सम्भवतः ऐसे प्रश्नों पर विचार किया और जब उसने इनका समाधान किया तो उसने अपने राजनीतिक चिन्तन के एक नए दौर में प्रवेश किया। इस नए दौर में प्लेटो ने यथार्थ के साथ समझौता किया और स्वीकार किया कि राजनीतिक जीवन में सहमति, विधि या कानून, संविधानवाद और मानव के वस्तु जगत् की नश्वर अवैज्ञानिक रीतियों के लिए भी स्थान या अवकाश होता है। यूनानी लोगों का विधि (कानून) की प्रभुता में विश्वास था, और विश्वास था कि उस स्वतन्त्र साहचर्य में जिसके अन्तर्गत कोई भी एक व्यक्ति एक ही व्यक्ति गिना जाता है, प्रत्येक का अपना स्वर होता है और 'सब बराबर तथा एक जैसे' होते हैं। अब तक प्लेटो ने अपने देशवासियों के इन प्रचलित और प्रिय विश्वासों का विरोध ही किया था, किन्तु जीवन के अन्तिम प्रहर में, जबकि वह लगभग जीवन के 70 बसन्त देख चुका था, उसे तत्कालीन प्रचलित विश्वासों और पुरातनपोषी सिद्धान्तों की महिमा का भान हो उठा। उसने अब यह स्वीकार कर लिया कि निरपेक्ष या निरंकुश शासक सब राज्यों के लिए नहीं होता। वह भी मनुष्यों के बीच देवता की भाँति है जिसका आविर्भाव कभी-कभी ही होता है। इस प्रकार, अपनी वृद्धावस्था में, प्लेटो रिपब्लिक के नगर के शुद्ध आदर्शवाद को छोड़कर मानव के यथार्थ नगरों के अनुसन्धान का राही बन गया, उसने इन्हें समझने-बूझने का प्रयत्न किया। प्लेटो ने यह मान लिया कि विधियों अथवा

कानूनों, निर्वाचनों और अपूर्णताओं के बावजूद यथार्थ राज्यों का भी इस नाते कुछ महत्त्व होता है कि वे आदर्श के निकट होते हैं और उसकी प्रतिच्छाया प्रस्तुत करते हैं। प्लेटो राजनीतिक काल की अद्भुत प्राण-शक्ति की प्रशंसा करते हुए कहता है कि जहाँ अन्य कोई भी कला नियमों के बन्धन से घुट जाती है वहाँ सच्ची राजनीतिक कला विधियों के अस्तित्व से समाप्त नहीं होती। यदि सच्चे राजनेता प्रशासक के 'ज्ञान' के स्थान पर 'कानून' रख दिया जाए तो भी राज्य कायम रहेगा और समाज का संगठन भी बना रहेगा। प्लेटो यह भी कहता है कि राजनीतिक कला में यह सम्भावना भी अधिक है कि कलाकार अर्थात् शासक प्रजाजनों के हित के स्थान पर अपने हित को देखने लगे। अतः यह आवश्यक है कि प्रजाजन के पास शासक के विरुद्ध रक्षा का उपाय हो। प्लेटो यह स्वीकार कर लेता है कि कानून अनुभव और बुद्धिमान व्यक्तियों की उपज है। यद्यपि कानून स्वतन्त्र बुद्धि से नीचा होता है, तथापि यह है बुद्धि का ही रूप। इसका स्वाभाविक परिणाम है कि कानून पर आधारित राज्य आदर्श राज्य का ही एक रूप है। जब एक बार कानून पर आधारित राज्य (Law State) बन जाय तो जनता को उस कानून का पालन ही करना चाहिए जिस पर कि राज्य आधारित है। जब कोई विधि अथवा कानून हो ही नहीं तो कानून के बिना कार्य करना एक बात है, लेकिन जब कोई कानून हो तो उसके विरुद्ध कार्य करना एक दूसरी बात है। विधि-राज्यों में विधि-शासन के पालन द्वारा सच्चे ज्ञान के शासन के अधिकाधिक निकट पहुँचा जा सकता है। प्लेटो विधि-शासन के विचार के आधार पर निरपेक्षता का संशोधन अवश्य कर लेता है तथापि उसके हृदय में अभी भी यह बात गूंजती रहती है कि विधि राज्य आदर्श शासक और राजनीति की आदर्श कला में अविश्वास का परिणाम है जिसमें सुख नहीं, दुःख ही दुःख है, जिसमें चिन्तन स्वतन्त्र नहीं होता, योग्यता का सम्मान नहीं होता और अधिकार अपने आसन पर प्रतिष्ठित नहीं होता।

निष्कर्ष रूप में, प्लेटो जीवन की वास्तविकताओं के सामने झुक जाता है। कानून को उचित स्थान पर प्रतिष्ठित कर देता है। 'स्टेट्समैन' में कानून को स्थान देते हुए प्लेटो मानता है कि दार्शनिक शासक इस भूतल पर प्राप्त नहीं होगा, अतः समुचित शासन व्यवस्था को कानूनों की सार्वभौमिकता मानना आवश्यक है। यह सार्वभौमिकता जनता की परम्पराओं पर आधारित होगी। इसके बाद 'लाज' में वह कानून के उचित स्थान पर प्रतिष्ठित कर देता है।

'स्टेट्समैन' में प्लेटो का राज्य-वर्गीकरण
(Classification of States (or Govts.) in 'Statesman')

प्लेटो ने 'स्टेट्समैन' में राज्यों का वर्गीकरण किया और इसका यह वर्गीकरण कानून को शासन के लिए आवश्यक मानने के कारण, 'रिपब्लिक' के वर्गीकरण से कुछ भिन्न है। सेबाइन के अनुसार इसमें दो ध्यान देने योग्य बातें ये हैं—पहली बात तो यह है कि आदर्श राज्य सम्भवतः राज्यों के वर्ग से पृथक् रखा

गया है और दूसरी बात यह है कि लोकतन्त्र को 'रिपब्लिक' में जो स्थान दिया है उससे महत्वपूर्ण स्थान उसे स्टेट्समैन में दिया गया है। 'रिपब्लिक' में राज्यों के वर्गीकरण का विशेष प्रयत्न नहीं किया गया है। उसमें आदर्श राज्य को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है और वास्तविक राज्यों को एक के बाद एक करके शासन का विकृत रूप माना गया है। उदाहरण के लिए सैनिक राज्य (Timocracy) आदर्श राज्य का विकृत रूप है। अल्पतन्त्र या धनिकतन्त्र (Oligarchy) सैनिक शासन का विकृत रूप है। लोकतन्त्र धनतन्त्र का विकृत रूप है और अत्याचारी शासन (Tyranny) जो सूची में सबसे नीचे है, लोकतन्त्र का विकृत रूप है। 'स्टेट्समैन' में राज्यों का अधिक विस्तृत वर्गीकरण किया गया है। आदर्श राज्य या दार्शनिक शासक के द्वारा शासित विशुद्ध राजतन्त्र दैवीय होता है कि मनुष्य उसके लायक नहीं होते। यह वास्तविक राज्यों से इस अर्थ में भिन्न होता है कि इसमें ज्ञान का शासन चलता है और कानून की कोई जरूरत नहीं होती। यह रिपब्लिक का राज्य है। इस अब स्वर्ग में स्थित आदर्श मान लिया गया है। मनुष्य इसकी नकल कर सकते हैं, लेकिन इसे प्राप्त नहीं कर सकते। दो वर्गीकरणों को एक दूसरे से काट कर वास्तविक राज्यों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। राज्यों के परम्परागत त्रि-मुखी विभाजन को 'स्टेट्समैन' में अब 6 भागों में बाँट दिया गया है। इस विभाजन को सारिणी रूप में निम्नवत् रखा जा सकता है—

राज्यों के प्रकार	शासकों की संख्या	शासन के रूप
(1) कानून-प्रिय या कानून से संचालित राज्य	(i) एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र (Monarchy)
	(ii) कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)
	(iii) बहु-व्यक्तियों का शासन	प्रजातन्त्र (Democracy)
(2) कानून द्वारा संचालित न होने वाले राज्य	(i) एक व्यक्ति का शासन	निरंकुशतन्त्र (Tyranny)
	(ii) कुछ व्यक्तियों का शासन	अल्पतन्त्र (Oligarchy)
	(iii) बहु-व्यक्तियों का शासन	अतिवादी प्रजातन्त्र (Extreme Democracy)

इस वर्गीकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(1) राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ शासन-पद्धति है क्योंकि कानून द्वारा शासित राज्य की इस व्यवस्था में प्रजा का अधिकतम कल्याण होता है।

(2) निरंकुशतन्त्र शासन का निम्नतम रूप है क्योंकि एक व्यक्ति का शासन अनियन्त्रित होने पर प्रजा का महान् अपकार कर सकता है।

(3) प्लेटो की दृष्टि मे प्रजातन्त्र कानून पर आधारित शासनो मे सबसे बुरा और कानून रहित शासनो मे सबसे अच्छा है। कारण यह है कि प्रजातन्त्र मे जहाँ कानून द्वारा शासन होता है वहाँ शासक प्रशासन कला मे उतने प्रवीण और ज्ञानी नही होते जितने राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र मे होते हैं। इसलिए यह कानून पर आधारित इन दोनो शासनो से निकृष्ट है, लेकिन जिन राज्यो मे कानून द्वारा शासन नही होता, उनमे प्रजातन्त्र ही ऐसा शासन है जिसमे प्रजा का सबसे कम अहित होता है क्योकि यहाँ अहितकारी शासन को जनता मिटा देती है। अत. ऐसी व्यवस्था मे प्रजातन्त्र श्रेष्ठ है। सेबाइन (Sabine) ने लिखा है—"प्लेटो ने पहली बार लोकतन्त्र के दो रूप स्वीकार किए है—सौम्य रूप और अतिवादी रूप। इससे भी ज्यादा आश्चर्यजनक बात यह है कि प्लेटो ने लोकतन्त्र को कानून-विहीन राज्यो मे सबसे अच्छा और कानून निष्ठ राज्यो मे सबसे खराब माना है। प्रकारान्तर से प्लेटो यह मान लेता है कि वास्तविक राज्य मे जनता की स्वीकृति और सहयोग की उपेक्षा नही की जा सकती।"[1]

'स्टेट्समैन' व 'रिपब्लिक' के राजनीतिक विचारों मे अन्तर

प्लेटो के इन दोनो ग्रन्थो की भाषा और विधि एक-सी है, किन्तु विचारो मे पर्याप्त अन्तर है, जो इस प्रकार है—

(1) 'रिपब्लिक' आदर्शवादी है जबकि 'स्टेट्समैन' यथार्थवादी दृष्टिकोण लिए है। बार्कर के शब्दों मे, "आदर्शवाद तिरोहित होता सा बहुत दूर है, किन्तु वास्तविक राजनीति के प्रति एक अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ इसका अस्तित्व है और उसमे ज्ञान, सद्गुण या आदर्श का एक नवीन विचार रखा गया है जो उसके द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य मे प्राप्त होगा।"

(2) 'स्टेट्समैन' मे प्रजातन्त्र को हेय दृष्टि से नही देखा गया है जबकि 'रिपब्लिक' मे इसकी कटु आलोचना और निन्दा हुई है।

(3) 'रिपब्लिक' मे उत्पादक वर्ग की उपेक्षित रखा गया है जबकि 'स्टेट्समैन' मे उन्हे ग्रीक नगर-राज्य का नागरिक स्वीकार किया गया है और नागरिकता से सम्बन्धित सुविधाएँ प्रदान की गई है।

(4) 'स्टेट्समैन' मे राजनेता का कार्य शासको को प्रशिक्षित करना है जबकि 'रिपब्लिक' मे ऐसी कोई व्यवस्था नही है।

(5) 'रिपब्लिक' मे दार्शनिक-शासको को सम्प्रभुता दी गई है जबकि 'स्टेट्समैन' मे सर्वज्ञ राजपुरुष या राजनेता का महत्त्व प्रतिपादित है।

(6) 'रिपब्लिक' मे प्लेटो कानून का जिक्र नही करता। उसमे कानूनो को महत्त्व नही दिया गया है। 'स्टेट्समैन' मे प्लेटो ने कानून को महत्ता प्रदान की है। उनके अनुसार, "कानून सचित ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते है और भविष्य के अच्छे मार्गदर्शक हैं।"

1 *Sabine* : A History of Political Theory, Part I (Hindi Trans.), Page 70.

(7) दोनो ग्रन्थो मे शासन का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न है। 'रिपब्लिक' मे आदर्श राज्य के पतन मे परिवर्तन-चक्र का वर्णन किया गया है। 'स्टेट्समैन' मे कानून के आधार पर कुछ एक और अनेक व्यक्तियों के शासन की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

(8) 'स्टेट्समैन' मे प्लेटो के प्रौढ विचारो का दर्शन होता है, क्योंकि यह 'रिपब्लिक' के वर्षो बाद अनुभवों के आधार पर बाद मे लिखी गई है। सेबाइन के अनुसार "ये दोनो रचनाएँ ('स्टेट्समैन' तथा 'लॉज') नगर राज्य की समस्याओ के सम्बन्ध मे प्लेटो के चिन्तन के अन्तिम परिणाम प्रकट करती है।"

'स्टेट्समैन' की आलोचना
(Criticism of the 'Statesman')

'रिपब्लिक' की भाँति 'स्टेट्समैन' की भी पर्याप्त आलोचना की गई है। इसमे आदर्श शासक को बहुत अ शो तक निरकुश माना गया है। उसके द्वारा शासित राज्य जनता के लिए तो है, किन्तु जनता द्वारा नही है। साथ ही प्लेटो लचीलेपन का आश्रय लेता हुआ कानून को सर्वोपरि स्थान नही देता। वह राजनीतिज्ञ पर कानून का बन्धन नही मानता। इसके परिणामस्वरूप वे अपनी स्वार्थ-सिद्धि मे लग सकते है। प्लेटो का शासन का वर्गीकरण भी दोप-रहित नही ह। यह आवश्यक नही है कि एक या कुछ योग्य व्यक्तियो का शासन जनता की अपनी इच्छानुसार चला जाए। एक आलोचना यह की जाती है कि प्लेटो ने 'रिपब्लिक' के अनुसार स्टेट्समैन मे प्रजातन्त्र का विरोध नही किया वरन् उसका स्वरूप ठीक से नही समझा है और न ही उसे उचित महत्ता प्रदान की है।

'लॉज'
(The 'Laws')

'लॉज' प्लेटो का अन्तिम ग्रथ है जिसका प्रकाशन उसकी मृत्यु के एक वर्ष बाद सम्भवतः 347 ई. पू. मे हुआ। आकार की दृष्टि से यह प्लेटो का सबसे बडा ग्रथ है। समाज-शास्त्रीय और बौद्धिक विश्लेपण की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। जहाँ तक साहित्यिक सौदर्य और दार्शनिक विशेपता का प्रश्न है, 'रिपब्लिक' और 'लॉज' मे *कोई तुलना ही नही है।* सेबाइन (*Sabine*) के शब्दो मे "रिपब्लिक' को सम्पूर्ण दार्शनिक साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ कृति माना जाता है, दूसरी ओर 'लॉज' एक नीरस रचना है।" इसमे असम्बद्धता काफी है। यह कृति भी सवाद के रूप मे लिखी गई है। इसमे शब्दाडम्बर तथा पुनरावृत्ति का बहुत दोप है। कहा जाता है कि प्लेटो इसका अन्तिम पुनर्निरीक्षण नही कर सका था। 'लॉज' मे कुछ श्रेष्ठ अवतरण भी हैं, उसकी किसी भी कृति से टक्कर ले सकते हैं। यद्यपि लॉज' मे 'रिपब्लिक' की कल्पना से मुक्त विहार का अभाव है फिर भी इस ग्रथ मे प्लेटो ने राजनीतिक वास्तविकताओ का जिस ढग से सामना किया है, वैसा उसने 'रिपब्लिक' मे नही किया था। 'लॉज' मे श्रम न होने का एक कारण यह है कि उसकी रचना किसी एक विचार को लेकर नही हुई वरन् जटिल विषय-वस्तु के आधार पर हुई है।

'रिपब्लिक' प्लेटो ने 40 वर्ष की अवस्था मे लिखा था, 'लॉज' उसकी वृद्धावस्था की रचना है। सांसारिक वास्तविकता को इसमे अधिक स्वीकार किया गया है। इसमे मानव विकास की क्रमिक अवस्थाओ का वर्णन है। राज्यो का सविधान, उनका राजनैतिक सगठन, मिश्रित राज्य का सिद्धान्त जैसे विशिष्ट राजनीतिक प्रश्नो के सैद्धान्तिक पक्षो पर लॉज मे प्रकाश डाला है। 'लॉज' मे प्लेटो एक ऐसी शासन-प्रणाली का आयोजन करता है जिसमे कानून की प्रभुता होगी, किन्तु शासन का सचालन ज्ञान और दर्शन ही करेंगे। ग्रथ के नाम से ही स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य एक कानूनी राज्य की रचना है।

'लॉज' के सवाद-पात्र तीन हैं। एक बिना नाम का एथेन्सवासी मुख्य वक्ता है। दूसरा मेगिलस (Megillus) है जो स्पार्टा का है। तीसरा क्रीट का निवासी क्लीनियस (Clinias) है। एथेन्सवासी प्लेटो का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है क्योकि उसने वैधानिक सगठित दर्शन के आधार पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। 'लॉज' बारह भागो मे विभक्त है। प्रथम दो भागो मे सगीत तथा नृत्य का शिक्षा-पद्धति मे महत्त्व बताया गया है। तीसरे मे राज्य के ऐतिहासिक विकास और चौथे मे राजनीतिशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तो का विवरण है। पाँच से आठ तक के भागो मे राज्य के कानूनो, शासन-विधान, पदाधिकारियो, राज्य की जनसख्या, शिक्षा पद्धति आदि का विवरण है। नवें से ग्यारहवें भाग तक फौजदारी और दीवानी नियम सहिताओ (Codes) की चर्चा की गई है। ये भाग लॉज के सर्वोत्तम रूप को प्रकट करते है, क्योकि इनमे प्लेटो कवि और दार्शनिक के रूप में ही नही वलिक उत्तम कानून निर्माता तथा राजनीतिज्ञ के रूप म भी निखर उठता है। बारहवें भाग का विषय सार्वजनिक कानून है। इसमे कर्तव्यच्युत सरकारी अधिकारियो के लिए दण्ड की व्यवस्था है और साथ ही नैश परिषद् (Nocturnal Council) का वर्णन है जिसकी सभाओ का आयोजन सदैव रात को होता है। इस परिषद् द्वारा लोगो के नैतिक जीवन के निरीक्षण और नियन्त्रण की व्यवस्था है।

'लॉज' मे प्लेटो ने अपने उप-आदर्श राज्य (Sub-Ideal State) अथवा द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य (Second Best State) का चित्र खीचने मे 'रिपब्लिक' की सी स्वतन्त्र, तर्क-प्रधान एव कल्पनात्मक पद्धति को ग्रहण नही किया है। इस बार वह एक ऐसे राज्य की रचना करना चाहता है जो इस भूतल पर ही प्राप्त किया जा सके। वह अपने अनुभव से जान चुका था कि आदर्श शासक और आदर्श राज्य का होना कितना असम्भव है। अत यह ग्रन्थ भावनाओ की अपेक्षा अनुभवो पर आधारित है। 'लॉज' मे प्लेटो वास्तविकताओ से जूझा है, स्वच्छन्द कल्पनाओ के पखो पर नही उडा है। वास्तव मे, "जब प्लेटो ने लॉज की रचना आरम्भ की, तब तक उसके विचारो मे आधारभूत परिवर्तन हो चुका था और इसका आभास हमे पुस्तक के शीर्षक से ही मिल जाता है। अब तक प्लेटो का विश्वास ऐसी वैयक्तिक बुद्धि के उन्मुख शासन मे था जिसे अपने कार्य का उचित प्रशिक्षण मिला हो, पर जो विधियो (कानूनो) की मर्यादा से स्वतन्त्र सत्ता का उपयोग करती हो। किन्तु सिराक्यूज में

असफलता ने उसे व्यवहारवादी बना दिया। हिम्मत न हारते हुए वह दूसरी राह की तलाश में जुट गया। यदि वह ऐसे दार्शनिक शासक को प्रशिक्षित न कर सका जो विधि के बिना और विधि के बजाय शासन करता, तो क्या यह सम्भव न था कि वह विधि को ही दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित कर देता और सभी राज्यों के पालन के लिए एक दार्शनिक संहिता का प्रस्थापन करता? प्लेटो अब भी दर्शन का व्यावहारिक उपयोग करना चाहता था। यह विचार उसे सबसे प्रिय था। यदि दर्शन शासकों का शिक्षक नहीं हो सकता तो वह कम से कम राज्यों का विधिकर्त्ता तो हो ही सकता था। यदि राज्य का शासन निर्वैयक्तिक दार्शनिक विधि-संहिता के माध्यम से दर्शन के द्वारा परोक्ष रीति से हो सकता तो द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य की सिद्धि हो सकती थी। इस तरह के राज्य में भी विधि की व्यवस्था के लिए किसी न किसी तरह के व्यक्ति शासन की आवश्यकता होगी, प्लेटो इस बात से परिचित था। दार्शनिक राजतन्त्र के अलावा इसे पाने का एक ही उपाय उसकी दृष्टि में उचित था और वह था—राजा-प्रजा, अमीर-गरीब, के उन विभिन्न तत्त्वों का समन्वय या सम्मिश्रण जो वास्तविक यथार्थ राज्यों में राजनीतिक सत्ता हथियाने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। प्लेटो की दृष्टि में यह विकल्प अन्य सारे विकल्पों को पीछे छोड़ देता है। परन्तु, प्लेटो के जीवन के उत्तर काल का प्रमुख राजनीतिक विचार था—मिश्रित संविधान से युक्त विधि-राज्य। यह मानव-विचार और वास्तविकता के बीच की चीज है, यह उप-आदर्श राज्य है जो वास्तविक जीवन की परिस्थितियों के इतने निकट है कि अस्तित्व वास्तविक जीवन में खप सकता है।"[1]

प्लेटो के विचारों में यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन है जो उसके राजनीतिक सिद्धान्त को दो प्र रग मनग अर्द्धांगों में बाँट देता है। 'एक ओर तो 'रिपब्लिक' का सरक्षक है जो विधि की बेड़ियों से स्वतन्त्र है तो दूसरी ओर विधि का सरक्षक है जो उसका सेवक है और जिसे उसका दास तक कहा गया है। किन्तु परिवर्तन के बावजूद प्लेटो के इस चिन्तन में संगति बनी रहती है। ये दोनों आदर्श एक दूसरे के पूरक है, विरोधी नहीं। पहला आदर्श सदा ही प्लेटो का निरपेक्ष आदर्श रहा था और अब भी है। दूसरा गौण या सापेक्ष आदर्श है—वह गौण है 'रिपब्लिक' के आदर्श की तुलना में और सापेक्ष है, इस दृष्टि से कि उसे वास्तविक जीवन की आवश्यकताओं के अनुकूल ढाला गया है। यह बात भी नहीं है कि प्लेटो में यह परिवर्तन आकस्मिक अथवा बिना किन्हीं संगत कारणों के हुआ हो। 'पॉलिटिक्स' अथवा 'स्टेट्समैन' में पहले ही यह प्रकट हो गया है कि प्लेटो यह स्वीकार करने के लिए तैयार है कि वास्तविक राज्यों में विधि का होना विधि के न होने से अधिक अच्छा है। 'स्टेट्समैन' से प्रकट हो गया है कि प्लेटो शिक्षा, सामाजिक जीवन और शासन में किसी समुदाय के विभिन्न तत्त्वों के सम्मिश्रण का महत्त्व स्वीकार करने को तैयार है। ताने-बाने में एक सूतना नाने वाले बुनकर की कला पर आधारित रूपक का 'स्टेट्समैन' और 'लॉज' दोनों में प्रयोग हुआ है। प्लेटो के राजनीतिक सिद्धान्त के

1 बार्कर: पूर्वोक्त, पृष्ठ 441–42

विकास पर वास्तविक जीवन की जिन घटनाओं का प्रभाव पड़ा था उनमें सिराक्यूज के इतिहास-प्रवाह का प्रभाव सबसे सशक्त था और पॉलिटिक्स अथवा 'स्टेट्समैन' में जिस परिवर्तन का संकेत मिलने लगा था उसे पूरा करने में सिराक्यूज के घटना-क्रम ने मदद दी। सिराक्यूज की घटनाओं के फलस्वरूप प्लेटो के विचार मिश्रित संविधान और निर्वैयक्तिक विधि संहिता की ओर उन्मुख होने लगे।

'लॉज' में प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्त
(Main Theories Propounded in the 'Laws')

(1) आत्म-संयम का महत्त्व (Importance of Self-Control)

'रिपब्लिक' में प्लेटो ने न्याय को आदर्श राज्य का आधार माना है। लॉज में वह न्याय की व्यवस्था को स्थापित करने के लिए आत्म-संयम (Self-Control) को आवश्यक मानता है। इसलिए वह उत्पादकों पर ज्ञानी दार्शनिकों के नियन्त्रण को स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि ऐसा करने से समाज में विवेक, उत्साह और न्याय की प्रतिष्ठा होती है। आत्म-संयम के कारण विवेक अबाधित रूप से अपना कार्य करता है। यह राज्य की आधारशिला है। आत्म-संयम पर आधारित न होने वाला राज्य अपूर्ण एवं दोषपूर्ण है। यदि व्यवस्थापक ऐसे कानूनों का निर्माण करता है जिससे लोग आत्म-संयमी बनें तो उससे तीन आदर्शों की प्राप्ति होती है— स्वतन्त्रता, एकता और सूझ-बूझ। आत्म संयम ही राज्य को पूर्ण और दोषहीन बना सकता है।

स्पष्ट है कि 'लॉज' में प्रतिपादित राज्य 'रिपब्लिक' के राज्य या नगर से भिन्न होगा। 'आत्म-संयम' के कार्यों से निरपेक्ष विभेदीकरण की कल्पना नहीं रह जाती। फलस्वरूप लॉज में शासकों के पास राजनीतिक और सामाजिक दोनों तरह के अधिकार रहते हैं और शासितों के पास भी। शासक के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिवार बना रहता है, साम्यवाद का परित्याग कर दिया जाता है। हालांकि भोजन-व्यवस्था कायम रखी जाती है और शासकों के निर्वाचन में शासितों का भी हाथ होता है, उन्हें अपना मत व्यक्त करने का अधिकार होता है। इस तरह के राज्य में वह एकता सम्भव नहीं है जो विभिन्न तत्त्वों के सहयोग से उत्पन्न होती है, जिसमें प्रत्येक तत्त्व सम्पूर्ण या समग्र के जीवन में अपने विशिष्ट कर्म द्वारा योग देता है, पर चूँकि उसमें आत्म संयम व्याप्त है अतः उसमें सहानुभूतिमय एकता अवश्य होगी चूँकि आत्म-संयम सहानुभूति के रूप में प्रकट होता है, अतः वह हमें 'रिपब्लिक' से एक भिन्न वातावरण में पहुँचा देता है जो दुर्लभ कम है पर मानवीय अधिक। वह उतना निर्मल नहीं होता, पर साथ ही उसमें वैसा रूखापन भी नहीं होता।

(2) कानून-विषयक सिद्धान्त (Theory of Law)

प्लेटो ने 'लॉज' में कानून की पुनर्प्रतिष्ठा की है। उसने कानून के स्वरूप, आवश्यकता, स्वभाव आदि पर प्रकाश डाला है और राज्य में कानून की प्रभुता स्थापित की है। 'रिपब्लिक' का आदर्श राज्य एक ऐसा शासन है जो कुछ विशेष

ऐसे प्रशिक्षित व्यक्तियो द्वारा सचालित होता है जिन पर किन्ही सामान्य विनियमो का कोई अकुश नही होता है जबकि 'लॉज' के राज्य मे कानून की स्थिति सर्वोच्च है तथा शासक और शासित दोनों ही उसके अधीन रहते हैं।

प्लेटो द्वारा कानून की पुनर्स्थापना निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। वह समझ चुका था कि दार्शनिक राजा अथवा आदर्श शासक का धरती पर मिलना दुर्लभ था। इसलिए समाज मे व्यवस्था बनाए रखने के लिए किसी ऐसे स्वर्णिम सूत्र (Golden Cord) की आवश्यकता है जो मनुष्यों को एकता के सूत्र मे बाँध सके और उन्हे कर्त्तव्यो का भान कराता रहे। प्लेटो ने कानून को ही यह 'स्वर्णिम सूत्र' माना। उसने कानून की पुनर्स्थापना व्यावहारिकता की दृष्टि से की थी, अन्यथा उसके पूर्वविश्वासो मे कोई अन्तर नही आया था। सेबाइन के शब्दो मे "कानूनो के बिना आदमी की स्थिति बर्बर पशुओ की तरह हो जाती है लेकिन यदि योग्य शासक हो तो कानूनो की जरूरत नही पड़ेगी क्योकि कोई भी कानून या अध्यादेश ज्ञान से बढकर नही है। इसलिए प्लेटो का अन्त तक यह विश्वास बना रहा कि वास्तविक आदर्श राज्य मे विशुद्ध विवेक का शासन चलना चाहिए। कानून द्वारा शासित राज्य मानव प्रकृति की दुर्बलता के प्रति एक रियायत थी। प्लेटो उसे अपने आदर्श राज्य के समान स्वीकार करने को तैयार नही था। यदि दार्शनिक शासको का निर्माण करने के लिए आवश्यक ज्ञान उपलब्ध नही होता, तो कानून पर आधारित शासन मे विश्वास करना ठीक है।"

प्लेटो ने कानून की पुनर्स्थापना की है, वह आज के कानून से भिन्न है। कानून से तात्पर्य मानव व्यवहार के ऐसे सिद्धान्तो से है जो बुद्धि ग्राह्य हों। उसके अनुसार कानून का ध्येय शासन एव समाज की दृढ़ता के लिए व्यावहारिक आधार प्रदान करता है। वह कानून या शासन इसलिए स्थापित करना चाहता है क्योकि कानून दर्शन तथा ज्ञान का साकार रूप है। मनुष्य को दो कारणो से कानून की आवश्यकता होती है—(1) प्रत्येक व्यक्ति मे सामाजिक हितो को समझने की क्षमता नही होती, (2) यदि वह समझ भी जावे तो अपने वैयक्तिक स्वार्थों और वासनाओ के कारण उनके अनुकूल आचरण नही करता।

इस प्रकार सामाजिक हितों की सिद्धि के लिए कानूनो का अस्तित्व आवश्यक है। समाज के लिए क्या श्रेयस्कर है इसका सही उत्तर व्यक्ति सदा नही दे सकते, अतः उन्हे कानून का सहारा लेने की जरूरत है, क्योंकि "कानून समस्त समाज के ज्ञान और अनुभव तथा मानवता के अपने आपको पशुता से ऊपर उठाने के युग-युगान्तरकारी प्रयास की अभिव्यक्ति है।" मनुष्य वासनाओ के वशीभूत होकर सामाजिक हितो के विरुद्ध कार्य करता है। कानून मनुष्य को ऐसे कार्य करने से रोकता है अतः बुद्धि के इस पवित्र बन्धन का सदैव पालन होना चाहिए। प्लेटो 'लॉज' के उपादर्श राज्य मे कानून को वही स्थान देता है जो उसने 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य मे बुद्धि को दिया था। "लॉज के राज्य मे बुद्धि कानून का मूर्तरूप धारण करती है। उसमे आदर्श राज्य की भाँति व्यक्ति और राज्य का पूरी तरह

सामञ्जस्य तो नही हो पाता, लेकिन फिर भी कानून द्वारा बनाए गए नियम प्राय सन्तोषजनक ही होते हैं। फलतः इस प्रकार के राज्य में सबसे बडा गुण आत्म-सयम है। इसका अभिप्राय यह है कि नागरिक कानून का पालन करते हैं अथवा राज्य की संस्थाओं के प्रति उनके मन मे आदर का भाव रहता है और वे कानून की शक्तियो की प्रधीनता स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं।"[1]

प्लेटो के अनुसार 'कानून' से व्यक्ति सबकी भलाई, व्यक्ति की भलाई की पूर्व शर्त को अपना कर्तव्य मानता है। कानून मस्तिष्क की अभिव्यक्ति है जिसका जन्म क्रमशः हुआ है। पुराने प्रचलित रीति-रिवाजो मे जो सर्वमान्य एव योग्यता तथा सद्गुण सम्पन्न थे वे धीरे-धीरे कानून बन गए। युद्ध के परिणाम, आर्थिक दशाएँ आदि कानून के निर्माता है। मनुष्य आवश्यकता के समय उपयोगी रीति-रिवाजो एव अभिसमयो को कानून का स्वरूप देकर उसकी सार्वभौमिकता को मान लेता है।

प्लेटो ने बताया कि कानून का निर्माण, एक कानून-निर्मायक या सहिताकार द्वारा होना चाहिए। जब समाज मे विद्यमान सभी वर्गों के नियमो और कानूनो मे सघर्ष होता है, तो इस सघर्ष को दूर करने हेतु सहिताकार कानून बनाता है। उन्हे कार्यान्वित करने का भार किसी नवयुवक शासक को दिया जाना चाहिए। प्लेटो ने बताया कि शासक को कानून के अनुसार शासन करना चाहिए। उसका विचार है कि—"राज्य को कानून के अनुसार होना चाहिए, न कि कानून राज्य के अनुकूल हो। सरकार को कानून के सेवक और दास की भाँति राज्य का सचालन करना चाहिए।" सरकार कानून मे अपनी इच्छानुसार परिवर्तन नही कर सकती। जब तक सरकारी अधिकारी, जनता और देववाणियाँ प्रस्तावित परिवर्तन का समर्थन न कर दें तथा यह विशेष रूप से आवश्यक न हो तब तक कानून मे परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए। इस तरह प्लेटो कानून की स्थिरता (Rigidity) और ठोसता मे विश्वास रखता है। प्रारम्भ मे कानूनो मे परिवर्तन हो सकता है, परन्तु जब कानूनो की उपयोगिता निश्चित हो जाती है तो उनमे किसी के हित मे परिवर्तन या रद्दोबदल नही होना चाहिए।

प्लेटो प्रत्येक नए कानून के साथ उसकी प्रस्तावना को आवश्यक मानता है। कानूनो को स्थायी होने के साथ सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए, ताकि सभी व्यक्तियो का कानून मे विश्वास हो अत: प्रस्तावना द्वारा लोगो को यह बता दिया जाना चाहिए कि कानून उन बातो की अभिव्यक्ति है जिनमे उनकी निष्ठा है। ऐसा होने पर लोग स्वतः ही कानून की पालना मे प्रस्तुत होंगे। इसके लिए बल-प्रयोग की आवश्यकता नही होगी। प्लेटो का कहना है कि कानून को क्रियान्वित करने के लिए लोगो का बौद्धिक विकास अत्यन्त आवश्यक है अतः राज्य को कानून पालन की नागरिको को उचित शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए।

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 71.

(3) इतिहास की शिक्षाएँ (Lessons of History)

'लॉज' में प्लेटो ने बताया कि हमें भूतकालीन अनुभवों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। अपने इस ग्रन्थ में वह इतिहास के आधार पर एक निश्चित शासन प्रणाली का समर्थन करता है जिसमें राज्य की सत्ता और जनता की सहमति को स्वीकार करता है। इतिहास के उदाहरणों के आधार पर उसने कानून के नियम और मिश्रित संविधान की व्यवस्था को पुष्ट किया है। इतिहास से उदाहरण देते हुए ही वह बताता है कि राज्यों के आत्म-संयमी न रहने और सत्ता के एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो जाने के कारण ही आरगोस (Argos) एवं मैसिना (Messina) जैसे राज्यों का उसी तरह पतन हो गया जिस तरह अधिक पालों वाले जहाज तथा अधिक माँस वाला शरीर नष्ट हो जाता है। एथेन्स के लोकतन्त्र में आत्म-संयम के अभाव के कारण ही उसका पतन हुआ।

(4) मिश्रित राज्य (The Mixed State)

प्लेटो ने 'लॉज' में जिस उपादर्श राज्य (Sub-Ideal State) की विवेचना की है उसकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता मिश्रित संविधान (The Mixed Constitution) अथवा मिश्रित राज्य (The Mixed State) का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का उद्देश्य शक्तियों के सन्तुलन द्वारा समरसता प्राप्त करना है। यह सिद्धान्त विरोधी प्रवृत्ति के प्रतिकूल सिद्धान्तों का कुछ इस तरह संयोग करता है जिससे वे एक दूसरे को निराकृत करदें। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन के परवर्ती इतिहास में स्वीकृत हुआ है। जिन विचारकों ने राजनीतिक संगठन की समस्याओं पर चिन्तन किया, उनमें से अधिकांश ने इसे स्वीकार कर लिया। अरस्तू तथा पोलिबियस के लेखों में इसका उल्लेख मिलता है। इसे मॉन्टेस्क्यू (Montesquie) के शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का पूर्वज माना जा सकता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार 'लॉज' में वर्णित उपादर्श राज्य के निर्माण के लिए राजा और प्रजा, धनी और निर्धन, बुद्धिमान और शक्तिशाली सभी व्यक्तियों और वर्गों का सहयोग आवश्यक है। 'लॉज' में वर्णित प्लेटो का उपादर्श राज्य राजतन्त्रात्मक, कुलीनतन्त्रात्मक और जनतन्त्रात्मक है। सेबाइन के शब्दों में, "लॉज में प्लेटो का मिश्रित राज्य राजतन्त्रात्मक शासन की बुद्धि और लोकतन्त्रात्मक शासन की स्वतन्त्रता का समन्वय है।" यह नहीं कहा जा सकता कि प्लेटो मिश्रित संविधान के आदर्श के प्रति सदैव निष्ठावान रहा। उसकी निष्ठा बुरी तरह से खण्डित थी और अन्त में वह अपनी उस विचार पद्धति पर आ गया जिसका 'रिपब्लिक' में विकास किया था। फिर भी प्लेटो ने मिश्रित राज्य के सिद्धान्त का जिस ढंग से समर्थन किया है, वह बाद के अध्ययन में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्लेटो अपने सिद्धान्त के पक्ष में राज्य एवं सभ्यताओं का सहारा लेता है। वह 'रिपब्लिक' की तार्किक पद्धतियों को छोड़ कर वास्तविक राज्यों की ओर उन्मुख होता है। उसके अनुसार मानव सभ्यता के विश्लेषण द्वारा राजनीतिक स्थिरता के नियमों का अनुसंधान किया जा सकता है और बुद्धिमान राजनेता मानव-समाज के परिवर्तनों को उचित दिशा में निर्देशित करने हेतु नियमों का उपयोग कर सकता है।

सेबाइन ने लिखा है कि मिश्रित संविधान के निर्माण के सम्बन्ध में प्लेटो के दो विशेष उद्देश्य हैं—एक आनुषंगिक और दूसरा प्रधान। इन उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—"प्लेटो ने आनुषंगिक रूप से स्पार्टा की आलोचना की है। उसने स्पार्टा के पतन का एकमात्र कारण वहां के सैनिक संगठन को ठहराया है। उसका कथन है कि "राज्यों का विनाश अज्ञान के कारण होता है। लेकिन प्लेटो का मुख्य उद्देश्य यह बताना है कि राजतन्त्र और अत्याचारी शासन की स्वेच्छाचारी शक्ति फारस की भाँति किस प्रकार पतन का कारण बनती है तथा अनियन्त्रित लोकतन्त्र स्वतन्त्रता की अतिशयता (अधिकता) के कारण एथेन्स की भाँति किस प्रकार अपने हाथों से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारता है। यदि ये दोनों मध्यम-मार्गी (Moderate) रहते, शक्ति का बुद्धि के साथ और स्वतन्त्रता का व्यवस्था के साथ सम्बन्ध बनाए रखते, तो दोनों की तरक्की होती। दोनों दशाओं में अतिवाद विनाशक सिद्ध हुआ।" स्पष्ट है कि प्लेटो के मतानुसार यदि राज्यों के पतन को रोकना है तो विरोधी शक्तियों का एक दूसरे के साथ सामञ्जस्य स्थापित किया जाना चाहिए। मिश्रित राज्य के सिद्धान्त द्वारा इन शक्तियों का सम्मिश्रण होगा तथा स्थिरता की स्थापना होगी।

(5) राज्य की भौगोलिक स्थिति व जनसंख्या (Geography and Population)

प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की काल्पनिक भौगोलिक रूपरेखा खींची है। उसका मत है कि राज्य सागर-तट से पर्याप्त दूर रहना चाहिए, क्योंकि सागर-तट के निकट होने से विदेशी व्यापारियों की उस पर सदैव ही गिद्ध-दृष्टि लगी रहेगी और रक्षा के लिए राज्य को बहुत सैनिक व्यय करना पड़ेगा। नगर का समुद्र तट के निकट होना विदेशी वाणिज्य के भ्रष्टाचार को प्रश्रय देना है। राज्य चारों ओर से सुरक्षित सीमाओं से घिरा हुआ हो ताकि अन्य राज्य उस पर सुगमतापूर्वक आक्रमण न कर सकें। राज्य में जहाज़ बनाने वाली लकड़ी भी नहीं होनी चाहिए ताकि वहाँ के निवासी जहाज का निर्माण करके दूसरे देशों के साथ व्यापार न करें। प्लेटो सामुद्रिक व्यापार का इसलिए निषेध करता है क्योंकि यह लोगों को व्यापारिक वृत्ति का बना देता है, वे सौदेबाजी में पड़ जाते हैं, दोहरा व्यापार करना सीख जाते हैं और बेवफा हो जाते हैं। यह राज्य को भी बेवफा और मित्र-रहित बना देता है। वास्तव में सामुद्रिक राज्य की निन्दा व्यापारी राज्य की निन्दा थी। प्लेटो नौ अथवा जल सैनिकवाद को स्थल सैनिकवाद से भी खराब मानता था जबकि अरस्तू प्लेटो के इस विचार का समर्थन न करते हुए सामुद्रिक राज्य के पक्ष में था।

प्लेटो के मतानुसार राज्य कृषि-प्रधान होना चाहिए क्योंकि राज्य को आत्म-निर्भर रखना आवश्यक है। राज्य की जनसंख्या 5040 होनी चाहिए। यह जनसंख्या सोच-समझ कर अनेक कारणोंवश निश्चित की गई थी—

(1) पाइथागोरस के प्रभाव से प्लेटो कुछ संख्याओं के महत्त्व में बहुत विश्वास रखता था। 5040 की ऐसी जनसंख्या है जिसके अनेक भाग किए जा

सकते हैं, जैसे $1 \times 2 \times 3 \times 4 \times 5 \times 6 \times 7 = 5040$ अथवा $7 \times 8 \times 9 \times 10 = 5040$। इस तरह यह सख्या 1 से 10 तक सभी सख्याओ मे बाँटी जा सकती है और 1 से 7 तक की तथा 7 से 10 तक की सभी संख्याओ का गुणनफल है।

(2) ऐसी सख्या युद्ध एव शांतिकाल मे उपयोगी होती है। युद्ध मे इस सख्या वाले नागरिको की व्यूह-रचना प्रत्येक प्रकार से सम्भव है क्योकि इसका अनेक भाजको में विभाजन हो सकता है। साथ ही नागरिकों में भूमि-वितरण और कर आदि वसूल करने की दृष्टि से भी यह संख्या सुविधाजनक है।

(3) इस संख्या का मुख्य भाजक 12 है। प्लेटो ने अपने उपादर्श राज्य को भी 12 जातियो मे बाँटा है और वर्ष के 12 महीनों में काम करने के लिए राज्य परिषद् की 12 समितियाँ बनाई हैं। उसके राज्य की मुद्रा, नाप-तोल आदि की व्यवस्था भी 'द्वादशात्मक' थी।

(4) प्लेटो की दृष्टि मे गणित का इतना महत्त्व था कि वह इसे आध्यात्मिक विद्या की सीढी समझता था।

(5) प्लेटो गणित के आधार पर स्थापित राज्य को आध्यात्मिक क्षेत्र तक ऊपर उठाना चाहता था। वह राज्य को 12 भागो मे विभाजित कर, उनका वर्ष के महीनो के साथ सम्बन्ध जोड कर उन महीनो मे होने वाली भगवान की कृपाओ के साथ इन भागो को सयुक्त करने का इच्छुक था।

प्लेटो के मतानुसार राज्य को ऐसे नियम बनाने चाहिए कि जनसख्या न तो 5040 से अधिक हो और न ही इससे कम। उपादर्श राज्य की भूमि उपजाऊ और उसका क्षेत्रफल काफी अधिक होना चाहिए ताकि जनता स्वस्थ और सुखी रहे।

(6) सामाजिक और राजनीतिक सस्थाएँ
(Social and Political Institutions)

प्लेटो सामाजिक क्षेत्र मे भी मिश्रित व्यवस्था को ही पसन्द करता है। यह विभिन्न तत्त्वो के सामजस्य का पक्षपाती है। उसके अनुसार विवाह विभिन्न वर्गों और चरित्रों का मिलन होना चाहिए और सम्पत्ति निजी स्वामित्व एव सार्वजनिक नियन्त्रण मे होनी चाहिए। धनिको की स्वेच्छा से अपने धन का कुछ भाग निर्धनो को देना चाहिए ताकि नागरिको मे सघर्ष उत्पन्न न हो।

(क) सम्पत्ति एवं आर्थिक व्यवस्था (Property and Economic Structure)—वास्तव मे सामाजिक सस्थाओ मे राजनैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सस्था सम्पत्ति का उपयोग और स्वामित्व रहा है। 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने सर्वोत्तम अथवा आदर्श (The Best or Ideal) राज्य की कल्पना की है, इसमे उसने सम्पत्ति के साम्यवाद को स्वीकार करते हुए व्यवस्था रखी है, "मित्रो का सब वस्तुओ पर समान अधिकार होता है, भू-सम्पत्ति, स्त्रियाँ एव बच्चे सबके समझे जाते हैं, तथा वैयक्तिक सम्पत्ति बिलकुल न होने के कारण मेरे-तेरे का भाव मिटकर सम्पूर्ण राज्य तन-मन से एकता का अनुभव करता है।" 'लॉज' मे मानवीय दुर्बलताओ को ध्यान

में रखते हुए प्लेटो अपने आदर्श या द्वितीय श्रेष्ठ (Sub-Ideal or the Second Best) राज्य में व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिवार, दोनों की अनुमति दे देता है। उसकी सम्पत्ति व्यापार से प्राप्त न होकर भूमि से प्राप्त होने वाली है। वह इस सम्पत्ति में मकान और भूमि को गिनता है। इन पर निजी स्वामित्व की अनुमति देते हुए भी वह सम्पत्ति के प्रयोग और उसकी मात्रा को निश्चित कर देता है। इस सम्बन्ध में स्पार्टा की तत्कालीन व्यवस्था का अनुसरण करते हुए वह राज्य की जनसंख्या 5040 निश्चित करता है और चाहता है कि भूमि का सभी नागरिकों में समान वितरण हो। प्लेटो भूमि को बराबर के कई टुकड़ों में बाँट देता है जिन्हें न विभाजित किया जा सकता है और न ही हस्तांतरित। भूमि की पैदावार सार्वजनिक भोजनागार में पचायती ढंग से काम में लाई जाती है। इस प्रकार भूमिगत सम्पत्ति का सामाजीकरण हो जाता है।

सम्पत्ति के सामाजीकरण के साथ-साथ प्लेटो सम्पत्ति की असमानता को स्वीकार करके उसकी सीमा निश्चित कर देता है। अपनी इस नवीन आर्थिक व्यवस्था के अनुसार वह समाज में चार वर्गों और आर्थिक स्तरों की व्यवस्था करता है। पहला वर्ग उन व्यक्तियों का होगा जिनके पास उनकी दैनिक आवश्यकताओं के भरण-पोषण मात्र के लिए सम्पत्ति हो। दूसरे वर्ग के पास इससे दुगुनी, तीसरे वर्ग के पास तिगुनी और चौथे वर्ग के पास चार गुनी सम्पत्ति होगी। इस तरह अत्यधिक आर्थिक असमानता के प्रति अपने विरोधी विचारों को प्रकट करते हुए वह आर्थिक दृष्टि से समाज में अधिक से अधिक एक और चार तक के अनुपात का अन्तर मानने को तैयार है। उसका उद्देश्य अमीरों और गरीबों की अत्यधिक विषमताओं को दूर करना है। यूनान के अनुभव से यह प्रकट हो गया था कि आर्थिक भेद-भाव ही नागरिक कलह का मूल कारण होता है।

प्लेटो ने सम्पत्ति के प्रयोग पर कठोर प्रबन्ध लगा दिए हैं। कोई व्यक्ति अपनी भूमि न बेच सकता है और न गिरवी रख सकता है। नागरिक किसी तरह का उद्योग धन्धा, व्यापार वाणिज्य या दस्तकारी नहीं कर सकते। वे सारे कार्य 'निवासी विदेशियों' (Resident Aliens) के हाथों में होते हैं। स्वतन्त्र लोग (Free Man) होते हैं; नागरिक नहीं होते। यदि किसी वर्ग के व्यक्ति के पास उनकी निश्चित सीमा से अधिक भूमि होगी तो राज्य उसको जब्त कर लेगा, क्योंकि नागरिकों को धन कमाने में नहीं पड़ना चाहिए। ये कार्य मनुष्य को सत्पथ से विचलित कर देते हैं और उसकी मृदु प्रकृति को नीचता में बदल देते हैं। नागरिकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि जो कुछ उसका है वह अन्ततः सभी का है। सम्पत्ति विषयक अधिकार समाज प्रदत्त अधिकार है, इसलिए उसका प्रयोग समाज के हित को ध्यान में रखते हुए ही किया जा सकता है। यही कारण है कि यदि स्वामित्व निजी है तो उपभोग सामूहिक है। जो कुछ भूमि से उत्पादित हो उसका सभी के द्वारा उपभोग किया जाना चाहिए।

सम्पत्ति विषयक उपरोक्त व्यवस्था को निर्बाध गति से चलाने के लिए प्लेटो राज्य की जनसंख्या को 5040 पर ही स्थाई बनाए रखने की आवश्यकता पर बल देता है। यदि जनसंख्या इससे अधिक होने लगे तो जन्म-निरोध के साधनों को अपनाकर या नए उपनिवेश बसाकर इसे नियन्त्रित करना चाहिए। यदि जनसंख्या कम होने लगे (प्लेटो के समय स्पार्टा में ऐसा ही हो रहा था) तो निश्चित संख्या (5040) बनाए रखने के लिए अविवाहित पुरुषों को दण्डित और विवाहित व्यक्तियों को पुरस्कृत किया जाना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति के कोई सन्तान नहीं है जो उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकार प्राप्त कर सके तो उसे दूसरे का बालक गोद ले लेना चाहिए।

राज्य के पास केवल प्रतीक मुद्रा होती है। वह शायद स्पार्टा की लौह मुद्रा के समान होती है। ऋणों के लिए ब्याज नहीं लिया जा सकता। सोना और चाँदी भी अपने पास नहीं रखा जा सकता। प्लेटो नागरिक के सम्पत्ति सम्बन्धी स्वामित्व पर हर प्रकार की पाबन्दी लगा देता है।

(ख) श्रम-विभाजन (Division of Labour)—प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में श्रम-विभाजन के सिद्धान्त को सम्पूर्ण समाज का मूल सिद्धान्त ठहराया था। 'लॉज' में वर्णित समाज व्यवस्था के विश्लेषणों से पता चलता है कि उसने उस सिद्धान्त को छोड़ा नहीं है। श्रम का नवीन विभाजन पूर्वापेक्षा अधिक विस्तृत है। इसके अन्तर्गत राज्य की सम्पूर्ण जनसंख्या आ जाती है। उपादर्श राज्य में आर्थिक रचना के आधार पर कार्यों का वर्गीकरण तीन भागों में किया गया है—

(1) विदेशियों अथवा फ्रीमेन (Resident aliens) के लिए व्यापार एवं उद्योग।

(2) दासों अथवा गुलामों के लिए खेती।

(3) नागरिकों के लिए शासन प्रबन्ध अर्थात् राजनीतिक कार्य।

इस प्रकार श्रम-विभाजन सारी जनसंख्या तक विस्तृत होने के साथ-साथ वर्जनशील भी है। बार्कर का कथन है—"रिपब्लिक की पुरानी भावना 'लॉज' के पृष्ठों में भी समाविष्ट है, और यदि 'लॉज' में वर्णित वर्ग व्यवस्था 'रिपब्लिक' में वर्णित व्यवस्था से आधारभूत रूप में भिन्न है तो भी मौलिक अथवा आधारभूत सिद्धान्त वही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना विशेष कार्य करना चाहिए।"

(ग) सरकार का संचालन (Working of the Government)—प्लेटो राज्य में सर्वोच्चता सरकार को न देकर कानून को देता है। उसके अनुसार सभी राजनीतिक संस्थाएँ कानून के अधीन हैं। वह राज्य की शासन पद्धति के बारे में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ करता है—

(i) साधारण सभा—राज्य का शासन चलाने के लिए एक लोकप्रिय साधारण सभा (General Assembly) होगी। राज्य में सभी नागरिक (5040) इसके सदस्य होंगे। सभा की बैठक वर्ष में कम से कम एक बार अवश्य होगी। इसका प्रमुख कार्य राज्य की अन्य संस्थाओं के सदस्यों को चुनना होगा। यह सभा सेना

के अधिकारियो का चुनाव करेगी। कानूनों में परिवर्तन और न्याय करना भी इसका कार्य होगा।

(ii) सलाहकार बोर्ड—राज्य मे एक सलाहकार बोर्ड (Advisory Board) भी होगा। इसके सदस्यो की सख्या 37 होगी जिनका चुनाव साधारण सभा करेगी। इन सदस्यो की आयु 50 से 70 वर्ष के बीच होगी। सदस्यो का चुनाव होगा। उसके लिए तिहरी चुनाव-प्रणाली की व्यवस्था (Triple Ballot System) है। इसके अनुसार 5040 सदस्यो की लोकप्रिय साधारण सभा मे पहले 300 उम्मीदवार चुने जाएँगे। उन 300 मे से फिर 100 चुने जाएँगे और तत्पश्चात् उन 100 मे से 37 चुने जाएँगे। ये कानून के सरक्षक होगे। सलाहकार बोर्ड का कार्य-परामर्श देना होगा।

(iii) प्रशासनिक परिषद्—राज्य मे सलाहकार बोर्ड के आदेशो को क्रियात्मक रूप देने वाली और वास्तविक रूप मे शासन करने वाली एक अन्य सस्था प्रशासनिक परिषद् (Administrative Council) होगी। इसके 360 सदस्य होगे। इसमे सम्पत्ति के आधार पर 4, 3, 2 या 1 भूखण्ड रखने वाले निश्चित चार वर्गों मे से प्रत्येक वर्ग से प्रतिवर्ष 90 सदस्य चुने जाएँगे। इन विभिन्न वर्गों के सदस्य अलग-अलग तरीको से निर्वाचित होगे। पहले और दूसरे वर्ग अर्थात् 4 और 3 भूखण्ड वाले सदस्यो के चुनाव मे सब वर्गों के लोगो को आवश्यक रूप से मत देना पडेगा। मत न देने वाले पर जुर्माना किया जाएगा। 2 भूखण्ड रखने वाले सदस्यो के चुनाव मे पहले 3 वर्गों को मत (Vote) देना आवश्यक होगा, न देने पर अर्थ दण्ड दिया जाएगा। 1 भूखण्ड वालो को वोट देने या न देने की स्वतन्त्रता होगी। इस प्रकार चुनाव का पहला दौर पूरा होगा।

इसके बाद दूसरा चुनाव होगा। इस चुनाव मे भाग न लेने पर सामान्य जुर्माना से दुगुना अर्थदण्ड दिया जाएगा। इस चुनाव मे, प्रत्येक वर्ग से 180-180 उम्मीदवार चुने जाएँगे। इसके बाद तीसरी अवस्था मे, प्रत्येक वर्ग के लिए इन 180 मे से लाटरी द्वारा 90 सदस्य चुन लिए जाएँगे। 360 सदस्यो की प्रशासनिक परिषद् की इस तिहरी जटिल निर्वाचन पद्धति मे प्रथम दो वर्गों को उम्मीदवारो के चुनाव मे अधिक महत्त्व दिया गया है। इसके साथ ही उम्मीदवारो के प्रारम्भिक निर्वाचन मे सभी वर्ग सम्मिलित हो सकते हैं। इनके छाँटने की प्रक्रिया मे सबको शामिल होना पडता है तथा अन्तिम अवस्था मे लॉटरी का उपयोग सबको समानाधिकार देने वाला है। बार्कर (Barker) के अनुसार निर्वाचन की इस जटिल पद्धति मे सार्वभौमिक मताधिकार (Universal Sufferage) तथा वर्ग मताधिकार (Class Sufferage) का सावधानी पूर्ण समन्वय है। यह यूनानियो की कुलीनतन्त्रीय मतदान प्रणाली तथा लॉटरी की लोकतन्त्रीय प्रणाली का सामञ्जस्य है। इस चुनाव प्रणाली का मुख्य आधार प्लेटो की यह मान्यता है कि "सच्ची समानता सबको एक जैसे अधिकार देना नहीं अपितु उन्हें उनकी योग्यता और गुणों के अनुसार अधिकार देना है। अधिक योग्यता वालो को अधिक अधिकार प्रदान करना है।

उनके साथ न्याय करना है और इसी से राज्य मे सन्तोष एवं एकता का प्रसार हो सकता है।"

प्रशासनिक परिषद् के प्रमुख कार्य ये हैं—(i) पहले दो वर्गों में स्थानीय एव बाजार की देखभाल करने वाले अधिकारियों की नियुक्ति, (ii) सैनिक वर्ग द्वारा तीन सेनापतियो का चुनाव, (iii) राज्य को हानि पहुँचाने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध मुकदमे सुनना, (iv) यदि कोई कानून बदलने की आवश्यकता हो तो सहमति देना, (v) विदेशियो को सामान्य निर्धारित अवधि (20 वर्ष) से भी अधिक रहने की अनुमति देना।

शासन की सुविधा की दृष्टि से प्रशासनिक परिषद् 12 भागों में विभक्त होगी और इसका प्रत्येक भाग, एथेंस की तरह एक महीने के लिए शासन करेगा। प्रशासनिक परिषद् का कार्यकाल 20 वर्ष होगा। इसका अध्यक्ष शिक्षा विभाग का अध्यक्ष भी होगा और उसका निर्वाचन 5 वर्ष के लिए किया जाएगा।

उपरोक्त प्रशासनिक संस्थाओ के अतिरिक्त प्लेटो ने स्थानीय शासन के लिए अनेक सस्थाओ, पदाधिकारियो एव उनके कार्यों का उल्लेख किया है।

(घ) न्याय का प्रशासन (Administration of Justice)—प्लेटो उपादर्श राज्य में न्याय-प्रशासन के लिए 4 प्रकार के न्यायालयों का वर्णन करता है—

(i) स्थाई पचायती न्यायालय—ये न्यायालय आपसी झगडो का निपटारा करेंगे।

(ii) क्षेत्रीय न्यायालय—राज्य के 12 क्षेत्रों के लिए क्षेत्रीय लोगो में से चुने जाने वाले ये न्यायालय अपने-अपने क्षेत्र के निवासियो के व्यक्तिगत झगडों का फैसला करेंगे।

(iii) विशेष चुने हुए न्यायाधीशो का न्यायालय-इसके न्यायाधीश प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा चुने जाएँगे। ये सम्पूर्ण राज्य के व्यक्तिगत झगड़ो के बारे मे फैसला कर सकेंगे।

(iv) सम्पूर्ण जनता का न्यायालय—साधारण सभा स्वय इस न्यायालय का कार्य करेगी। राज्य के प्रमुख तथा राज्य सम्बन्धी सभी झगडो का अन्तिम निर्णय यही होगा।

इस सम्पूर्ण न्याय विभाग का सरक्षक शिक्षा मत्री होगा। वही व्यक्ति प्रधान मत्री और विधि-सरक्षको तथा परामर्श सभा (Law Guardians and Advisory Board) का अध्यक्ष होगा।

(ङ) स्थानीय शासन (Local Government)—अपने 5040 की जनसख्या वाले राज्य मे प्लेटो स्थानीय शासन को व्यवस्था करते हुए बताता है कि नगरो मे दो प्रकार के अधिकारी होंगे—नगर-निरीक्षक (City Inspectors), एव बाजार-निरीक्षक (Inspectors of the Market Square)। देहातो के लिए वहाँ के लोगो द्वारा दो वर्ष के लिए चुने गए ग्रामीण इन्सपेक्टर होंगे। 5 इन्सपेक्टर क्षेत्रीय लोगो द्वारा चुने जाएंगे। प्रत्येक इन्सपेक्टर 12 नवयुवकों का चुनाव करेगा।

इस तरह 5 × 12 = 60 लोगो का यह दल राज्यो मे भ्रमण किया करेगा। नगर मे तीन निरीक्षक होगे जो शासक वर्ग मे से होगे। 5 मार्केट निरीक्षक भी प्रथम दो वर्गों मे से चुने जाएँगे।

(7) विवाह तथा परिवार विषयक विचार

(View about Marriage and the Family)

'रिपब्लिक' की भाँति 'लॉज' मे भी यह स्वीकार किया गया है कि स्त्रियों एव पुरुषो को समान शिक्षा पाने एव समस्त कार्य करने का अधिकार होना चाहिए। किन्तु इस ग्रन्थ मे 'रिपब्लिक' के स्त्रियो के साम्यवाद को समाप्त कर दिया गया है। वह इस विचार को त्याग देता है कि स्त्रियाँ सबकी सम्पत्ति होनी चाहिए। प्लेटो स्त्रियो को घर की चाहरदीवारी और पर्दे से बाहर निकाल कर उनको राज्य मे उन सभी पदो पर नियुक्त किए जाने का समर्थन करता है जिनका सम्बन्ध विवाह-सम्बन्धी प्रश्नो और स्त्रियों के जीवन से है। वह कहता है कि स्त्रियो को पुरुषों की भाँति शस्त्र-सचालन, युद्ध एवं घुड़सवारी करना भी सिखाया जाना चाहिए ताकि मौका आने पर वे भी पुरुषो की भाँति युद्ध मे जूझ सकें और स्वय को राष्ट्रीय सेवा मे अर्पण कर सकें। वह स्त्रियो को पुरुषो के समान शिक्षा देकर इतना साहसी बनाना चाहता है कि शत्रुओ का आक्रमण होने पर वे रोएँ या छिपें नही बल्कि उनसे लोहा लें।

विवाह के सम्बन्ध मे प्लेटो ने 'लॉज' मे जो व्यवस्था दी है वह बडी रोमाँचकारी और रोचक है। वह प्रतिमास ऐसी धार्मिक सभाओ का आयोजन करना चाहता है जिनमे उचित आयु मे शालीनता के नियमो का पालन करते हुए नृत्यो मे युवक अपनी भावी पत्नियो से परिचय प्राप्त करें। प्लेटो यह भी व्यवस्था करता है कि विवाह से पहले भावी पति-पत्नी एक दूसरे को नग्नता मे देखें और स्वास्थ्य का प्रमाण-पत्र लें। विवाह सदैव विरोधी चरित्रो के मध्य होना चाहिए ताकि उनमें साम्य पैदा हो सके। तत्त्वो मे साम्य की स्थापना से राज्य मे एकता और सुदृढ़ता आएगी। प्लेटो का मत है कि विवाह का उद्देश्य वैयक्तिक आनन्द नही अपितु राज्य का हित होना चाहिए। विवाह के बाद पति-पत्नी को यह कभी नही भूलना चाहिए कि उनका कर्त्तव्य राज्य के लिए सन्तान उत्पन्न करना है। इसके लिए प्लेटो पति-पत्नी को विवाह के प्रथम 10 वर्ष तक राज्य के निरीक्षको की देख-रेख मे रखने की व्यवस्था करता है। जब उसने राज्य की जनसख्या 5040 स्थिर की है तो इस प्रकार का नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। प्लेटो राज्य की जनसख्या 5040 ही स्थिर रखने के लिए तीन सुझाव पेश करता है—(1) महिला निरीक्षक डाट-फटकार द्वारा पति-पत्नी को अधिक सन्तान पैदा करने के लिए प्रोत्साहित करें। (2) अधिक सन्तान पैदा करने वाले माता-पिता को राजकीय सम्मान और विशेषाधिकार दिया जाए। (3) 35 वर्ष अथवा इससे अधिक आयु वाले अविवाहित या सन्तानहीन व्यक्तियों पर कर लगाया जाए। प्लेटो के अनुसार सन्तान पैदा करना केवल भौतिक और राजकीय आवश्यकता ही नही बल्कि नैतिक आवश्यकता भी है।

अतः अविवाहित रहना अधर्म है। अमरत्व प्राप्त करने के लिए पुत्र पैदा करना चाहिए।

प्लेटो की परिवार सम्बन्धी व्यवस्थाएं आज शायद कोई स्वीकार नहीं करेगा। यह किन्हीं दशाओं में उचित हो सकता कि भावी वर-वधू की डॉक्टरी परीक्षा हो, किन्तु दोनों नग्न रूप में विवाह के पूर्व ही एक-दूसरे को देखें, यह मानवीय शालीनता की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। साथ ही विरोधी गुण अथवा तत्त्वों वालों का विवाह होने पर दाम्पत्य जीवन के सुखमय होने की आशा नहीं की जा सकती। दाम्पत्य जीवन के वास्तविक सुख और पति-पत्नी के हृदयों का सुन्दर मिलन तभी हो सकता है जब दोनों में अनुकूल स्वभाव और प्रवृत्तियां हों। प्लेटो की योजना में तृतीय गम्भीर दोष यह है कि वह जनसंख्या को सदा ही 5040 पर स्थिर रखना चाहता है। जनसंख्या को सदैव के लिए निश्चित कर देना न तो सम्भव है और न मान्य ही। इतिहास भी ऐसा कोई उदाहरण देने में असमर्थ है। इस विषय में प्लेटो का विचार गतिशील (Dynamic) न होकर अगतिशील एवं जड़ (Static) है।

(8) शैक्षणिक और धार्मिक संस्थायें

(Educational and Religious Institutions)

'लॉज' में प्लेटो ने शिक्षा की ओर भी काफी ध्यान दिया है। पाठ्यक्रम की सामान्य रूपरेखा 'रिपब्लिक' की भांति है। सेबाइन के कथनानुसार, "पाठ्यक्रम में संगीत और व्यायाम को महत्त्व दिया गया है। प्लेटो को कवियों पर अब भी विश्वास नहीं है और वह साहित्य और कला पर कठोर प्रतिबन्ध लगाने के पक्ष में है। स्त्रियों को पुरुषों के समान ही शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। समस्त नागरिकों के लिए शिक्षा अनिवार्य है। 'लॉज' में प्लेटो ने ज्यादा ध्यान शिक्षा के संगठन की ओर दिया है।"

प्लेटो ने 'लॉज' में धर्म और राज्य के सम्बन्ध का चित्रण किया है। वह धर्म को संस्थागत रूप देना चाहता है। जहाँ 'रिपब्लिक' में धर्म की अत्यन्त संक्षिप्त चर्चा की गई थी वहाँ 'लॉज' की दसवीं पुस्तक में प्लेटो ने धार्मिक विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। वह शिक्षा की भाँति धर्म को भी राज्य के नियन्त्रण में रखना चाहता है। वह धार्मिक कर्मकाण्डों का राज्य की देखभाल में होना अनिवार्य मानता है। उसने कहा है कि नागरिकों को किसी प्रकार के व्यक्तिगत धार्मिक उत्सव नहीं करने चाहिए। धार्मिक उत्सवों को सार्वजनिक मन्दिरों अथवा देवालयों में अधिकृत पुरोहितों द्वारा किया जाना चाहिए। सेबाइन (Sabine) के अनुसार, प्लेटो की इस विचारधारा के दो कारण हैं—(1) प्लेटो धर्म के कुछ अव्यवस्थित रूपों को पसन्द नहीं करता था। उसने एक स्थान पर यह लिखा भी है कि उन्मादग्रस्त लोग विशेषकर स्त्रियाँ व्यर्थ के धार्मिक पचड़ों में बहुत पड़ती हैं। (2) प्लेटो का विचार था कि यदि नागरिकों का व्यक्तिगत धर्म होगा तो वह उन्हें राज्य की निष्ठा से वञ्चित कर देगा।

प्लेटो धर्म नियन्त्रण को उत्सवों तक ही सीमित नहीं रखता। वह यह विश्वास

प्रकट करता है कि धार्मिक विचारों का नैतिक व्यवहार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ विश्वास निश्चय ही ऐसे हैं जो अनैतिक प्रवृत्ति के होते हैं। अतः यह आवश्यक है कि धर्म का रूप निश्चित कर दिया जाए और राज्य को यह शक्ति प्रदान की जाए कि धर्म के प्रति श्रद्धाहीन व्यक्तियों को वह दण्डित कर सके।

प्लेटो की धार्मिक विचारधारा जटिल न होकर सुगम है। वह नास्तिकता का निषेध करता है। उसने नास्तिकता के तीन भेद बताए हैं—(क) देवताओं के अस्तित्व में अविश्वास, (ख) यह धारणा कि देवता मानव आचरण से सम्बन्ध नहीं रखते, एवं (ग) यह धारणा कि यदि कोई पाप किया जाए तो उसका आसानी से प्रायश्चित हो सकता है।

प्लेटो ने नास्तिकता के लिए दण्ड की व्यवस्था रखी है। इस अपराध के लिए वह कारावास और कुछ अवस्थाओं में प्राणदण्ड तक का समर्थन करता है। प्लेटो की यह व्यवस्था निश्चय ही सराहनीय नहीं है। इससे तो 'लॉज' की गणना उन पुस्तकों में हो जाती है जिनमें धार्मिक उत्पीड़न का प्रतिपादन किया गया हो।

'लॉज' के अन्त में एक नवीन संस्था का उल्लेख है जिसे नौक्टरनल कौंसिल (Nocturnal Council) के नाम से पुकारा गया है। प्लेटो की यह संस्था उसके द्वारा प्रतिपादित अन्य संस्थाओं से कोई मेल नहीं खाती। साथ ही राज्य की उस व्यवस्था से भी कोई सम्बन्ध नहीं रखती जिसमें कानून सर्वोच्च हो। यह संस्था प्लेटो के मूल दर्शन के अनुरूप नहीं है। उससे इसका कोई मेल नहीं दिखाई देता। इस परिषद् में कानून के 37 संरक्षकों में से 10 वरिष्ठ संरक्षक होते हैं। शिक्षा संचालक एवं अपने वरिष्ठ गुणों के कारण चुने हुए पुरोहित आदि इसके विशेष सदस्य होते हैं। यद्यपि यह परिषद् कानून से बाहर होती है किन्तु उसे राज्य की वैधानिक संस्थाओं का नियमन और नियन्त्रण करने की शक्ति प्राप्त है। प्लेटो का अन्तिम निष्कर्ष यही है कि पहले परिषद् का निर्माण किया जाना चाहिए और फिर राज्य को उसके हाथों में सौंप देना चाहिए। प्लेटो का विश्वास है कि इस परिषद् के सदस्य ज्ञानवान होते हैं, और वे राज्य का हित कर सकते हैं। स्पष्ट है कि नौक्टरनल अथवा नैश परिषद् 'रिपब्लिक' के दार्शनिक राजा के स्थान पर है और इसलिए 'लॉज' के उपादर्श राज्य पर एक प्रहार है। "यह परिषद् पूरी तरह दार्शनिक शासक नहीं है। चूंकि उसका वर्णन नास्तिकता के विरोधी और अधिकृत पुरोहितों के द्वारा किया गया है, इसलिए इसमें पुरोहितवाद की कुछ गन्ध है। प्लेटो ने उसके सदस्यों को धार्मिक दृष्टि से ज्ञानवान माना है, यह तथ्य उसके पुरोहितवाद को स्पष्ट कर देता है।"

प्लेटो के उपादर्श राज्य का सर्वाङ्ग रूप
(The Whole Picture of Plato's Sub-Ideal State)

प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'लॉज' में उपादर्श राज्य का जो सम्पूर्ण चित्र खींचा है उसकी संक्षेप में अग्रलिखित विशेषताएँ हैं—

(1) आत्म-संयम का महत्त्व।
(2) कानून का सिद्धान्त।
(3) मिश्रित संविधान।
(4) राज्य की भौगोलिक स्थिति एवं जनसंख्या।
(5) सामाजिक और राजनैतिक संस्थाएँ-इसमें सम्पत्ति एवं आर्थिक व्यवस्था, श्रम-विभाजन, शासन प्रणाली, न्याय व्यवस्था और स्थानीय शासन को सम्मिलित किया जा सकता है।
(6) विवाह एवं परिवार विषयक विचार।
(7) शिक्षा और धार्मिक संस्थाएँ।

उपरोक्त विचारों के अतिरिक्त प्लेटो ने शांति एवं युद्ध, ऐतिहासिक शिक्षा, अपराध एवं दण्ड आदि का भी चिन्तन किया है।

'लॉज' का मूल्यांकन तथा देन
(Evaluation and Contribution of the 'Laws')

प्लेटो के ग्रन्थों में सबसे प्रभावशाली ग्रन्थ 'रिपब्लिक' है, किन्तु 'लॉज' भी कम महत्त्वपूर्ण कृति नहीं है। यह प्लेटो की एक मूल्यवान देन है और जहाँ इसका प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ा था, वहाँ बाद के दार्शनिकों पर भी इसका यथेष्ट प्रभाव है। 'लॉज' की देन को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

(1) प्लेटो का शिष्य अरस्तू 'लॉज' से अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने कानून की प्रभुसत्ता, मिश्रित संविधान, राज्य के विकास, कृषि-व्यापार तथा शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में 'लॉज' की व्यवस्थाओं का अनुसरण किया है या इनसे प्रेरणा ली है।

(2) प्लेटो ने 'लॉज' द्वारा विभाजित राजसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार राजसत्ता यदि एक हाथ में केन्द्रित होगी तो उत्तम शासन की स्थापना नहीं हो सकती अतः राजसत्ता का विभाजन वांछित है। वह लोकतन्त्र एवं राजतन्त्र के मिश्रित सिद्धान्तों को लेकर मिश्रित संविधान का समर्थन करता है। इसलिए उसे आधुनिक संविधानवाद (Modern Constitutionalism) का पिता कहा जाता है। मॉण्टेस्क्यू का 'शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त' (Theory of Separation of Powers) भी इसी पर आधारित है।

(3) 'लॉज' में शिक्षा की विशद् योजना प्रस्तुत की गई है और शिक्षा को राज्य द्वारा संचालित माना गया है। प्लेटो एक अनिवार्य तथा सामान्य शिक्षा का रूप प्रस्तुत करता है। वर्तमान काल में लगभग सभी सरकारें शिक्षा को राज्य का कर्त्तव्य मानती हैं।

(4) प्लेटो ने 'लॉज' में बताया है कि बाट एवं तोल का स्तर एक होना चाहिए। वर्तमान में सभी यह आवश्यक मानते हैं कि राज्यों में एक बाट व तोल चलें।

(5) प्लेटो के 'लॉज' एवं उसकी अकादमी ने रोमन कानून के विकास को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। न्यायिक व्यवस्थाओं को उसकी देन से रोमन कानून अत्यधिक प्रभावित है।

(6) 'लॉज' में प्लेटो ने ईश्वरवादी आस्तिक विचारो का प्रतिपादन किया है। इन विचारों का ईसाईयत के आरम्भिक प्रवर्तकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

(7) मध्य काल मे मोर(More) की 'यूटोपिया' एव रूसो(Rousseau) की कृतियो पर भी 'लॉज' का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

(8) प्लेटो 'लॉज' मे धर्म के बारे मे एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। उसने धर्म की महत्ता को भी शिक्षा की भाँति महत्त्व दिया है। यह दृष्टिकोण मनुष्यों को उदारवृत्ति और सदाशयता अपनाने की प्रेरणा देता है।

अन्त मे, जैसा कि सेबाइन (Sabine) ने लिखा है, "लॉज मे प्लेटो ने, वास्तविक संस्थाओ का सावधानी से विश्लेषण किया और इतिहास से उनके सम्बन्ध का संकेत किया। उसने संतुलन सिद्धान्त अर्थात् एक संवैधानिक राज्य का निर्माण करने के लिए एक उचित साधन के रूप मे विभिन्न हितो एव दावो के निर्वाह का सुझाव दिया है। यह वह बिन्दु है जहाँ से अरस्तू ने अपना विचार आरम्भ किया। 'रिपब्लिक' के सामान्य सिद्धान्तो का त्याग किए बिना ही उसने लगभग प्रत्येक मामले मे 'लॉज' के सुझावो को अपनाया। अपने अधिक परिश्रम तथा अनुभवसिद्ध और ऐतिहासिक तथ्यो के अधिक विस्तृत विश्लेषण से उन्हें अधिक सम्पन्न बना दिया।"

प्लेटो की रचनाओं में यूनानी तथा सार्वभौम तत्त्व
(The Hellenic and the Universal Elements in Plato's Works)

प्लेटो की विचारधारा का राजदर्शन के इतिहास मे पर्याप्त महत्त्व है। उसकी राजनैतिक विचारधारा मे दो तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं—यूनानी (Hellenic), एवं सार्वभौम (Universal)। यूनानी तत्त्व से तात्पर्य है कि प्लेटो के दर्शन मे तत्कालीन परिस्थितियो और वातावरण का प्रभाव है। सार्वभौम तत्त्व से अर्थ यह है कि प्लेटो के चिन्तन मे कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जो सदैव, सब स्थानो और कालो मे पाए जाते हैं। मैक्सी (Maxey) ने कहा है कि प्लेटो की रचनाओ मे बहुत कुछ क्षणभंगुर और अस्थाई है, किन्तु उसके राजनैतिक दर्शन की मध्य नाड़ी (Mid rib) अनन्त एव सार्वभौम है। पेरीक्लीज के परवर्ती युग के यूनानी की भाँति वह साम्राज्य विस्तार का विरोधी, प्रजातन्त्र का आलोचक, दास-प्रथा की उपेक्षा करने वाला, व्यापारवाद का शत्रु तथा स्पार्टा के सैनिकवाद का समर्थक था। किन्तु सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओ के विश्लेषणकर्त्ता तथा आदर्श के अन्वेषक के रूप मे वह परवर्ती युग मे उत्पन्न होने वाले अस्थिरीय अनैतिक राजनैतिक दर्शनो, पुनर्निर्माण विषयक राजनीतिक सिद्धान्तो और क्रान्तिकारी राजनीतिक योजनाओ का अग्रगामी और प्रेरक रहा है।[1]

प्लेटो के विचारों में यूनानी तत्त्व (Hellenic Elements in Platos' Ideas)—प्लेटो ने अपने समय के स्पार्टा व एथेन्स जैसे प्रसिद्ध राज्यो की विभिन्न परिस्थितियो का अध्ययन किया। उसके सिद्धान्तो मे हमे बहुत कुछ यूनानी प्रभाव अथवा तत्त्व मिलते हैं। इनमे से मुख्य अग्रांकित हैं—

1 *Maxey* : Political Philosophies, p. 55.

1. प्लेटो अपने उपादर्श राज्य की जनसंख्या 5040 स्थिर करता है जो उस काल के नगर राज्यो के अनुकूल है। उस समय के यूनानी राज्यो की संकुचित सीमाओ से ऊपर दृष्टि उठा कर राज्य की सीमाओ के बारे मे आधुनिक ढग से वह नही सोच सकता था।

2. दास-प्रथा तत्कालीन यूनानी समाज का आवश्यक अंग थी। यूनानी लोग दास-प्रथा को अपनी सभ्यता का प्रतीक मानते थे। प्लेटो ने भी दास-प्रथा को महत्त्व दिया है। 'लॉज' मे कृषि सम्बन्धी समस्त कार्य वह दासों पर ही छोड़ता है।

3. प्लेटो शासक वर्ग के लिए सार्वजनिक भोजनालयो मे भोजन की व्यवस्था करता है। उसकी यह योजना तत्कालीन यूनानी राज्य स्पार्टा से प्रभावित है। शासक वर्ग को सम्पत्ति से अलग रखना और उन्हे केवल शासन का कार्य देना स्पार्टा की शासन प्रणाली का ही अनुकरण है।

4 वह नर-नारियो के समान शारीरिक शिक्षण की व्यवस्था करता है। वह सैनिक शिक्षा पर बल देता है। उसकी इन व्यवस्थाओ पर भी स्पष्टतः स्पार्टा की छाप है।

5. उसने एथेन्स मे स्त्रियो की हीन अवस्था और स्पर्टा मे उनकी पुरुषों के बराबर स्थिति को देखा था अत उसने अपनी रचनाओ मे स्त्री-पुरुषो को समान अधिकार देने के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया।

6. प्लेटो ने अपने उपादर्श राज्य मे एथेन्स के संविधान का अनुकरण किया है। भू-सम्पत्ति के आधार पर नागरिको का 4 वर्गों मे विभाजन, असेम्बली तथा प्रशासनिक परिषद् की व्यवस्थाएँ एथेन्स से ग्रहण की गई हैं। प्लेटो ने अपनी रचनाओ मे एथेन्स से व्यष्टिवाद और उदारता को लिया है तो स्पार्टा से विशेषीकरण तथा निरकुश सत्तावाद को ग्रहण किया है।

7. उसकी शिक्षा-योजना स्पार्टा और एथेन्स की शिक्षा-पद्धति का बहुत कुछ सम्मिश्रण है। उसका पाठ्यक्रम एथेन्स के ढग का है तो सगठन स्पार्टा के अनुसार है जहाँ शिक्षा राज्य द्वारा सचालित होती थी। प्लेटो ने एथेन्स की बौद्धिक शिक्षा के साथ स्पार्टा का सम्मिलित शारीरिक शिक्षण जोड़कर शिक्षा को व्यक्तित्व और राष्ट्र दोनो के विकास का माध्यम बना दिया है।

8. प्लेटो ने धन एव परिवार के साम्यवाद की जो योजना प्रस्तुत की है उस पर स्पार्टा एव क्रीट का स्पष्ट प्रभाव है।

9. प्लेटो राज्य को सर्वोच्च स्थान देता है और व्यक्ति को गौण। यह भी स्पार्टा की व्यवस्था से प्रभावित तत्त्व है जहाँ समाज को मुख्य एव व्यक्ति को गौण समझा जाता था।

प्लेटो के दर्शन में सार्वभौम तत्त्व (Universal Elements in Plato's Philosophy)—उपरोक्त सामयिक यूनानी तत्त्वो के होते हुए भी प्लेटो के दर्शन मे अनेक ऐसे शाश्वत् और सार्वभौम तत्त्व हैं जिनके कारण प्लेटो सदा के लिए अमर बन गया। इन तत्त्वो के कारण ही उसे 'सब प्राणियो एवं कालो का द्रष्टा' कहा जाता है। उसके दर्शन के उपयोगी एवं प्रमुख सार्वभौम तत्त्व अग्रांकित हैं—

(1) प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त मानव समाज के लिए सदैव आवश्यक एवं उपयोगी है। वह न्याय का अर्थ अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करना तथा दूसरे के कामों मे हस्तक्षेप न करना बताता है। नि.सन्देह यह एक सार्वभौम तत्त्व है।

(2) प्लेटो भी सुकरात की भाँति कहता है कि "सद्गुण ही ज्ञान है (Virtue is knowledge)।" वह बुद्धिमान् एवं विवेकी लोगों को शासन में प्रमुख स्थान देता है। कोई व्यक्ति शासकों के अविवेकी होने का कभी समर्थन नहीं करेगा। वर्तमान नागरिक और सैनिक सेवाओं मे प्रतियोगिता से आए हुए व्यक्तियों के शासन को हम बुद्धिवादियों का शासन कह सकते हैं।

(3) प्लेटो वह पहला व्यक्ति था जिसने स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष अधिकार देने की आवाज उठाई। आज स्त्री-पुरुषों के समान अधिकारों के जिस सिद्धान्त को विश्व के लगभग सभी सभ्य संविधान स्वीकार करते हैं, प्लेटो ने हजारों वर्ष पहले उसी को लोगों के सामने रख दिया था।

(4) प्लेटो 'लॉज' में कानून की प्रभुसत्ता को सर्वोपरि स्थान देता है। आज भी कानून ही राज्य में सर्वोच्च है। प्लेटो के न्याय-शास्त्रीय सिद्धान्त, दीवानी और फौजदारी कानूनों में अन्तर, दण्ड के सुधारात्मक सिद्धान्त, कानूनों के प्रारम्भ में प्रस्तावनाएँ जोड़ने का विचार आज भी अनुकरणीय आदर्श माने जाते हैं।

(5) भू-सम्पत्ति के सब अधिकारों की राज्य द्वारा रजिस्ट्री किए जाने और इनके राजकीय सर्वेक्षण (Survey) के विचार वर्तमान काल के सभी राज्यों में आवश्यक माने जाते हैं।

(6) प्लेटो ने स्वतन्त्रता के लिए मिश्रित संविधान का समर्थन किया, समष्टि के हित को व्यक्ति के हित से अधिक प्रधानता दी, सन्तानोत्पादन में प्रजनन-शास्त्र के नियमों को महत्त्वपूर्ण समझा। राज्य की एकता और ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन किया। उसके ये सब विचार आज भी अनुकरणीय आदर्श बने हुए हैं।

ये उदाहरण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि प्लेटो ने कतिपय ऐसे शाश्वत् और सार्वभौम तत्त्वों पर बल दिया जिनसे प्राचीन और अर्वाचीन सभी युगों के दार्शनिक, विचारक, विद्वान् और लेखक प्रभावित होते रहे हैं। कोई उसे आदर्शवाद का पिता कहता है तो कोई क्रान्तिकारी बतलाता है कोई कल्पनावादी कहता है तो कोई यथार्थवादी, कोई साम्यवादी कहता है तो कोई उसे फासिस्ट मानता है। वास्तव में यह प्लेटो के दर्शन के सार्वभौम प्रभाव का ही फल है कि सभी उसे अपने ढंग से देखते हैं। प्लेटो की महानता इस बात में है कि उसने राजनीति विज्ञान के वे मौलिक प्रश्न उठाए जिनकी प्रकृति शाश्वत् है। उदाहरणार्थ, प्लेटो ने इस बात पर विचार किया कि राज्य और व्यक्ति का क्या सम्बन्ध होना चाहिए तथा राज्य और नैतिकता में क्या सम्बन्ध है। ये दोनों ही मौलिक समस्याएँ प्लेटो से लेकर आधुनिक युग तक के विचारकों के लिए विशिष्ट चिन्तन-सामग्री रही हैं। राजनीतिक विचारधाराएँ बहुत-कुछ इन दोनों समस्याओं के इर्द-गिर्द घूमती रही हैं। प्लेटो ने राजनीति और नैतिकता के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए उनकी ही प्रतिध्वनि

गाँधीवादी दर्शन, और सर्वोदयी दर्शन में गूँज रही है। राजनीति नैतिकता के अधीन है, राजनीति और नैतिकता में चोली-दामन का साथ है, राजनीति और नैतिकता में परस्पर विरोध है—इस प्रकार की समस्याओं पर चिन्तन की सामग्री हमें प्लेटो के दर्शन से मिलती है। यदि हम प्लेटो के विचार से सहमत हैं तो राजनीति और नैतिकता को विच्छिन्न नहीं कर सकते, राजनीति को नैतिकता के अधीन मानकर चलना होगा। यदि हम प्लेटो से असहमत हैं तो हम राजनीति और नैतिकता में विरोध बता सकते हैं। पर हम प्लेटो से सहमत हों या असहमत, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्लेटो ने एक ऐसी मौलिक समस्या प्रस्तुत की जो उसके समय से अब तक हमारे चिन्तन के एक महत्त्वपूर्ण पहलू का आधार बनी हुई है।

प्लेटो की महानता एक 'आदर्शोन्मुखी विचारक अथवा दार्शनिक' के रूप में है। प्लेटो ने अपने समकालीन समाज और राज्य को ही नहीं देखा वरन् भविष्य में भी झाँका और भावी आदर्श के सूत्र प्रस्तुत किए। आदर्श ही हमें यथार्थ की कमियों को सुधारने और आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। अतः प्लेटो मानव-जाति के लिए एक प्रेरक शक्ति के रूप में है और यदि प्लेटो के चिन्तन को हम सही दृष्टिकोण से लें, प्लेटो की अन्तरात्मा की आवाज को पहचानने का प्रयत्न करें तो हमें समाज-सुधार, शासन-सुधार आदि के बारे में प्लेटो के हृदय में वही पीड़ा दिखायी देगी जो हमारे हृदय में या अन्य किसी के भी हृदय में हो सकती है। यहाँ हम प्लेटो को हजारों वर्ष पूर्व उत्पन्न दार्शनिक के रूप में नहीं, बल्कि वर्तमान में हमारे बीच उपस्थित दार्शनिक के रूप में पाते हैं। प्लेटो ने व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही स्तरों पर बुराई से लड़ने का सन्देश दिया, दोनों ही स्तरों पर अज्ञानता और अन्याय को मिटाने के लिए संघर्ष किया। उसकी भावना थी कि अज्ञान से संघर्ष करने के लिए शिक्षा और ज्ञान का विकास आवश्यक है। उसने कहा कि शिक्षा और ज्ञान के विकास से ही न्याय की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। प्लेटो ने जो कुछ कहा, उससे हम आज भी असहमत नहीं हो सकते। यह बात अलग है कि प्लेटो ने एक बात जिस ढंग से कही उसी बात को हम दूसरे ढंग से कह डालें लेकिन व्यक्तिगत और सामाजिक न्याय के क्षेत्र में प्लेटो की मूल प्रतिस्थापनाओं से किसी भी विवेकशील व्यक्ति का असहमत होना कठिन है।

प्लेटो का महत्त्व इस बात में भी है कि उसने अपने विचारों को बड़े तार्किक रूप में रखा, उसने एक व्यवस्था-निर्माण का दर्शन (System-building Philosophy) प्रस्तुत किया। यदि हम प्लेटो के एक विचार को मान लेते हैं तो हमें उसके सभी विचारों को मानना होगा, अर्थात् उसका एक विचार दूसरे विचार की ओर और दूसरा विचार तीसरे विचार की ओर ले जाता है। दूसरे शब्दों में, उसके चिन्तन अथवा दर्शन के सभी पहलू एक दूसरे से आबद्ध हैं, एक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत हैं। इन सभी बातों के आधार पर प्लेटो को एक 'आरम्भिक अथवा आदि दार्शनिक' की संज्ञा देने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

3 अरस्तू का वैज्ञानिक यथार्थवाद

(The Scientific Realism of Aristotle)

सरस्वती के अनन्य उपासक और दर्शन के प्रकाश-स्तम्भ अरस्तू (Aristotle) का जन्म यूनान के स्टेगिरा (Stagira) नामक नगर मे ई. पू. 384 मे हुआ। उसके पिता निकोमेकस (Nicomachus) मेसीडोनिया के राजा के दरबार मे चिकित्सक रह चुके थे। राजवंश से सम्बन्धित होने के कारण अरस्तू का जीवन सम्पन्न और सुखमय रहा।

पिता से चिकित्सा की शिक्षा प्राप्त करने के कारण अरस्तू को विज्ञान के प्रति रुचि जाग्रत हुई, किन्तु यह रुचि उस युवक अरस्तू को अधिक समय तक बाँधे न रह सकी। उसमें मानव-मस्तिष्क की चिकित्सा करने के प्रति एक विचित्र उमंग थी। इसलिए 18 वर्ष की आयु मे वह एथेन्स आकर प्लेटो की विश्व प्रसिद्ध 'अकादमी' में भर्ती हुआ और 347 ई पू मे प्लेटो के देहावसान तक 20 वर्ष वही रहा। अपने महान् शिक्षक की मृत्यु के बाद अरस्तू ने भी 'अकादमी' को त्याग दिया, क्योंकि उसे वहाँ उपयुक्त स्थान नही दिया गया। 'अकादमी' मे प्लेटो के स्थान पर प्लेटो के एक निकट सम्बन्धी को आचार्य बनाया गया जिसे अरस्तू सहन नही कर सका।

एथेन्स छोड देने के बाद अगले 12 वर्षों मे अरस्तू ने विभिन्न कार्य किए। 346 ई. पू मे वह मकदूनिया के राजकुमार सिकन्दर का शिक्षक बना। वह सिकन्दर के परामर्शदाता और चिकित्सक के रूप मे भी कार्य करता रहा। कतिपय इतिहासकारो की यह धारणा है कि विश्व-विजय के लिए प्रस्थित सिकन्दर के साथ-साथ अरस्तू भी घूमता रहा और भारतीय वैभव के भी उसने दर्शन किए। सिकन्दर के साथ आवास-काल में 342 ई पू. मे उसके मित्र हर्मियास (Harmias) को एक ईरानी सेनापति ने धोखे से पकड लिया और सूसा लेजाकर उसकी हत्या कर दी। अरस्तू को इस घटना से मर्मान्तिक दुःख हुआ। उसने हर्मियास पर एक गीत-काव्य लिखा। इस घटना से उसकी यह धारणा बनी कि विदेशी बर्बर जातियाँ यूनानियो के शासन मे ही रहनी चाहिए। अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' मे उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

अरस्तू ने सिकन्दर को यूनानियों का नेता और बर्बर जातियों का स्वामी बनने की शिक्षा दी तथा सिकन्दर ने भी उसे 'पिता' तुल्य आदर दिया। सिकन्दर के साथ अरस्तू चाहे भ्रमण करता रहा हो या नहीं किन्तु यह निश्चित है कि उसने लम्बे समय तक विदेश भ्रमण अवश्य किया था। इस भाँति ज्ञानवर्धन करने के बाद 335 ई. पू. में अरस्तू एथेंस लौटा और उसने वहाँ अपना विद्यालय स्थापित किया। एथेंस में उसने हर्मियास की भतीजी पिथियास (कुछ विद्वानों के अनुसार भानजी) से विवाह किया और सुखमय दाम्पत्य जीवन बिताया।

एथेंस में लीसीयम (Lyceum) नाम से विख्यात उसका विद्यालय चार बड़े दार्शनिक विद्यालयों में से दूसरे नम्बर पर था। वह 12 वर्षों तक उसका प्रधान रहा और इस मध्य उसे सिकन्दर की सहायता मिलती रही। अपने स्पष्ट, उग्र और निर्भीक विचारों के कारण अरस्तू को विरोधियों के षड्यन्त्र का सामना करना पड़ा। इस कारण वह एथेंस के बाहर कैलियस (Chelies) नगर में कुछ समय के लिए चला गया। चूंकि अरस्तू के महान् शिष्य सिकन्दर की 322 ई. पू. में मृत्यु हो गई थी इसीलिए उसे एथेंस से यहाँ पलायन करना पड़ा। सिकन्दर की मृत्यु के बाद एथेंस में मकदूनिया विरोधी उपद्रव होने लगे। ई. पू. 322 में ही अरस्तू की भी कैलियस नगर में ही मृत्यु हो गई। एथेंस में अरस्तू पर आरोप लगाया गया था कि उसने 20 वर्ष पूर्व हर्मियास की मृत्यु पर शोककाव्य लिख कर बहुत बड़ा अपराध किया था क्योंकि हर्मियास को देवता तुल्य बताना देवत्व का अपमान करना था। यह सौभाग्य की ही बात थी कि यूनान की जनता द्वारा सुकरात की भाँति दण्डित होने से पूर्व ही अरस्तू एथेंस से भाग निकला और इस तरह एथेंस निवासी 'दर्शन के विरुद्ध दूसरा अपराध' करने से बच गए।

अरस्तू यूनान का सूर्य और एक महान् विचारक था। केवल राजनीति में ही नहीं अपितु सभी विषयों में पारंगत था। आधुनिक राजनीति शास्त्र के प्रणेता के रूप में उसकी ख्याति अमर है। नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र, मनोविज्ञान जन्तुविज्ञान, शरीर विज्ञान, तर्कशास्त्र, राजनीति आदि विषयों का क्रमबद्ध वैज्ञानिक अनुशीलन सर्वप्रथम अरस्तू ने ही किया और इसीलिए उसे वर्तमान वैज्ञानिक विचार-परम्परा का जनक माना जाता है। सुकरात, प्लेटो तथा अन्य पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विचार का उस पर स्थायी प्रभाव था। अन्तर केवल यही है कि यूनान का दर्शन जो बीज की तरह सुकरात में आया, लता की भाँति प्लेटो में फैला और पुष्प की भाँति अरस्तू में खिल उठा। दाँते (Dante) के शब्दों में यह कहना उपयुक्त ही है कि "अरस्तू बुद्धिमानों का गुरु है।"

अरस्तू की रचनायें

अरस्तू सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का विलक्षण व्यक्ति था जिसने अपने समय में लगभग सभी विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे। अरस्तू द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या 400 के लगभग बताई जाती है। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से यह समूचा ग्रन्थ-संग्रह 3500 पृष्ठों के 12 खण्डों में प्रकाशित हुआ है। उसका सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ

'पॉलिटिक्स' (Politics) है। उसके द्वारा विभिन्न विषयो पर लिखे गए प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

1. राजनीति पर—Politics, The Constitution.
2. साहित्य मे—Eudemus or Soul, Protepicus, Poetics तथा Rhetoric आदि।
3. तर्क शास्त्र व दर्शन पर—Physics, De-Anima, The Prior Metaphysics, Categories, Interpretation, The Posterior Analytics तथा The Topics आदि।
4. भौतिक विज्ञान पर—Meterpology (चार भाग) तथा अन्य ग्रन्थ।
5. शरीर विज्ञान पर—Histories of Animals तथा दस अन्य ग्रन्थ।

अरस्तू की पद्धति (Aristotle's Method)

अरस्तू पहला राजनीति वैज्ञानिक है। आदर्श राज्य और उसके संस्थानो की रचना करने में जहाँ प्लेटो ने कल्पना-प्रधान पद्धति को अपनाया था वहाँ अरस्तू ने अपनी 'पॉलिटिक्स' की रचना करने से पूर्व लगभग 158 संविधानो का अध्ययन कर अपने विचारो को ससार के समक्ष रखा। इस तरह उसने एक वैज्ञानिक पद्धति का अनुकरण किया। अरस्तू ने सर्वप्रथम राजनीति शास्त्र को अन्य सामाजिक शास्त्रो से पृथक् कर एक स्वतन्त्र शास्त्र का स्थान प्रदान किया। उसने इस शास्त्र के अध्ययन मे आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method) का प्रयोग किया न कि निगमनात्मक पद्धति (Deductive Method) का। विशेष घटनाओ से सामान्य नियम निकालने की पद्धति को आगमन पद्धति कहा जाता है और इसके विपरीत पहले कुछ सामान्य नियम निश्चित कर उनके आधार पर विशेष सिद्धान्त बनाने की पद्धति निगमन पद्धति कहलाती है। अरस्तू को इस बात का श्रेय है कि उसने सर्वप्रथम राजनीति शास्त्र मे प्रथम प्रकार की पद्धति अपनाई। इसके साथ-साथ उसने विश्लेषणात्मक पद्धति (Analytical Method) का भी प्रयोग किया। अरस्तू की विचार पद्धति का दूसरा मुख्य गुण संश्लिष्टता है। अरस्तू प्लेटो के समान आदर्शवादी या कल्पनाशील न होकर पर्यवेक्षणशील (Observational) था। उसने पहले कुछ तत्वो का अध्ययन किया और फिर उन्हीं तथ्यो से निष्कर्ष निकाला। इतिहास और घटनाओ का विश्लेषण और विवेचन करने के बाद उसने किन्ही निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न किया। अरस्तू की ख्याति का मुख्य आधार यह है कि उसने राजनीतिक घटनाचक्र के अध्ययन मे तुलनात्मक पद्धति को अपनाया और भूतकाल के संचित अनुभव और बुद्धिमत्ता का सम्मान किया। इसलिए वह क्रान्तिकारी न होकर एक सुधारक बना और सिद्धान्त तथा व्यवहार का संघर्ष उसके मार्ग मे प्लेटो की अपेक्षा कही अधिक कठिन समस्याएँ उत्पन्न करता रहा। अरस्तू ने प्लेटो की संवाद-शैली को नहीं अपनाया।

जहाँ तक अरस्तू की कृतियो की भाषा एवं शैली का प्रश्न है, उनमें न तो कविता का माधुर्य है और न अलंकारो की छटा ही। उसकी शैली निश्चित है,

यथार्थता और व्यावहारिकता पर बल देती हुई है, किन्तु अस्पष्टता और दुरूहता के भार से दबी हुई भी है।

'पॉलिटिक्स' : एक अपूर्ण कृति

('Politics' : An Incomplete Work)

अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' राजनीति शास्त्र पर लिखा गया एक बहुमूल्य ग्रन्थ है, जिसमें पहली बार राजनीति को एक वैज्ञानिक रूप दिया गया। उसने तत्कालीन समाज-व्यवस्था तथा राजनीतिक स्थिति का विशद् अध्ययन करने के बाद अपने विचार निश्चित किए थे और इस ग्रन्थ में, उन्हें वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया।

किन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि इस महान् ग्रन्थ के विषय में आज अनेक विरोधी मान्यताएँ और विचार विद्यमान हैं। न इसका काल निर्धारित हो पाया है और न ही इसका स्वरूप। जो 'पॉलिटिक्स' आज हमें उपलब्ध है वह एक अपूर्ण कृति लगती है। कुछ लोगों का सन्देह है कि इसको वर्तमान रूप स्वयं अरस्तू ने नहीं दिया बल्कि उसके कई सम्पादकों ने उसकी पाण्डुलिपियों के आधार पर सम्पादित किया है। 'पॉलिटिक्स' एक एकीकृत, सुगठित एवं क्रमवार रचना नहीं मालूम पड़ती। इस ग्रन्थ की पुस्तक 7 में अरस्तू ने आदर्श राज्य की रचना प्रस्तुत की है। यह पुस्तक 3 के अन्त से प्रारम्भ होती हुई मालूम पड़ती है। पुस्तकें 4, 5 और 6 आदर्श राज्यों का नहीं, प्रत्युत वास्तविक राज्यों का वर्णन करती हैं। ये अपने में एक वर्ग का निर्माण करती हैं। इसलिए 7 वीं और 8 वीं पुस्तकों को पुस्तक तीन के अन्त में और चौथी, पाँचवीं तथा छठी पुस्तकों को उनके बाद के क्रम में रखा जाना चाहिए। तीसरी पुस्तक के अन्त में राजतन्त्र का और चौथी पुस्तक में लोकतन्त्र तथा धनिक तन्त्र का वर्णन किया गया है। जहाँ तक पुस्तक के पढ़ने का सम्बन्ध है चाहे कोई भी क्रम क्यों न रखा जाए काफी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

प्रो. बाउल(Bowl) का कहना है कि 'पॉलिटिक्स' सर्वाधिक प्रभावशाली और गहन ग्रंथ है तथा उसका गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है। डॉ. टेलर (Taylor). का मत है कि इतने बड़े विषय का निरूपण जितने साधारण ढंग से इस ग्रंथ में मिलता है उतना अरस्तू की किसी अन्य कृति में नहीं है।[1] 'पॉलिटिक्स' में इस उलझन का कारण यही है कि उसमें कहीं-कहीं तो किसी विषय का उल्लेख इस प्रकार किया गया है जैसे उसका विवेचन पहले ही हो चुका हो जबकि पहले उसकी ओर संकेत तक नहीं मिलता और कहीं-कहीं उन बातों का उल्लेख कर दिया गया है जिनका विवेचन आगे चल कर हुआ है। सारा ग्रंथ अव्यवस्था एवं विषय-परिवर्तनों से भरा पड़ा है। 'पॉलिटिक्स' की अव्यवस्था और कृति सम्बन्धी समस्या का सेबाइन (Sabine) के मतानुसार सर्वश्रेष्ठ समाधान वर्नर जेगर (Werner Jaeger) ने प्रस्तुत किया है। जेगर का समाधान अरस्तू के राजनीतिक दर्शन के विकास की काफी युक्तिसंगत व्याख्या करता है। जेगर के अनुसार 'पॉलिटिक्स' अरस्तू की ही कृति

1 *Taylor* ; Aristotle, p. 85.

है, किसी सम्पादक की नहीं लेकिन इस ग्रंथ की रचना दो कालों में हुई थी, इसलिए इसके दो भाग हैं। पहला भाग आदर्श राज्य और तत्सम्बन्धी पूर्वकालीन सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखता है। इसमें दूसरी पुस्तक भी शामिल है। इसमें पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का ऐतिहासिक अध्ययन किया गया है और प्लेटो की आलोचना की गई है। तीसरी पुस्तक में राज्य और नागरिकता के स्वरूप का अध्ययन किया गया है। यह आदर्श राज्य के सिद्धान्त की भूमिका है। सातवीं और आठवीं पुस्तकों में आदर्श राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। जेगर के अनुसार उन चार पुस्तकों की रचना अरस्तू ने प्लेटो की मृत्यु के उपरान्त एथेंस से विदा लेने के कुछ समय बाद की थी। दूसरे भाग में अध्याय 4, 5, 6 आते हैं। इनमें अरस्तू ने वास्तविक राज्यों का, विशेषकर लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र का अध्ययन किया है। उसने यह भी बताया है कि इन राज्यों के पतन के क्या कारण हैं तथा राज्यों को किस प्रकार स्थायित्व दिया जा सकता है। जेगर का विचार है कि इन पुस्तकों की रचना अरस्तू ने अपने विद्यालय की स्थापना के बाद की होगी। उसके विचार से अरस्तू इस बीच में ही 158 संविधानों की जाँच-पड़ताल कर रहा था। अरस्तू ने चौथी, पाँचवीं और छठी पुस्तकें मूल प्रारूप के बीच में रख दी हैं। परिणामस्वरूप आदर्श राज्य सम्बन्धी रचना बहुत बड़ी हो गई है और वह राजनीति शास्त्र का एक सामान्य ग्रन्थ बन गई लगती है। जेगर का विचार है कि पहली पुस्तक सबसे अन्त में लिखी गई थी। यह इस वृहद्-ग्रन्थ की सामान्य भूमिका है। इस प्रकार जेगर के अनुसार 'पॉलिटिक्स' एक वैज्ञानिक ग्रन्थ है लेकिन उसको दुबारा नहीं लिखा गया। फलत: इसके विभिन्न भाग एक दूसरे से असम्बद्ध से मालूम पड़ते हैं। इसकी पूरी रचना में प्रायः 15 वर्ष लगे थे।[1]

'पॉलिटिक्स' की अव्यवस्था के बारे में कुछ लोगों का कहना है कि यह उन Notes का संग्रह मात्र है जो अरस्तू के व्याख्यानों से उसके शिष्यों ने तैयार किए थे। कुछ लोग कहते हैं कि ये नोट स्वयं अरस्तू ने ही अपने शिष्यों को पढ़ाने के लिए तैयार किए थे जिन्हें बाद में उसने एक ग्रन्थ के रूप में संकलित कर दिया। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि 'पॉलिटिक्स' की रचना अरस्तू ने नहीं बल्कि लीसियम में उसके शिष्यों ने की थी। लेकिन इन मतों की अपेक्षा सन्तोषजनक विचार यह प्रतीत होता है कि पॉलिटिक्स के विभिन्न अनुच्छेद वे नोट्स हैं जिन्हें अरस्तू ने समय-समय पर अपने व्याख्यानों के लिए तैयार किया होगा। यह भी सम्भव है कि उनमें से कुछ उसके उन अधिक विस्तृत ग्रन्थों के भाग हों जो अब उपलब्ध नहीं हैं।

'पॉलिटिक्स' आठ भागों में विभाजित है जिन्हें विषय की दृष्टि से बार्कर (Barker) के अनुसार तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(1) पहले वर्ग में पहली, दूसरी तथा तीसरी पुस्तकें हैं। पहली पुस्तक में राज्य की प्रकृति, राज्य के उद्गम और आन्तरिक संगठन तथा दास-प्रथा का वर्णन

1 सेबाइन, पूर्वोक्त, पृष्ठ 84.

है। दूसरी पुस्तक मे प्लेटो जैसे विचारकों द्वारा प्रतिपादित आदर्श-राज्य एवं स्पार्टा, क्रीट, कार्थेज आदि तत्कालीन राज्यों की समीक्षा है। तीसरी पुस्तक मे राज्यों का वर्गीकरण, नागरिकता और न्याय के स्वरूप का विवेचन है।

(2) दूसरे वर्ग मे चौथी, पाँचवीं और छठी पुस्तकें हैं। चौथी पुस्तक मे विभिन्न प्रकार की वास्तविक शासन-प्रणालियो का, पाँचवी पुस्तक मे विभिन्न शासन-प्रणालियो मे होने वाले वैधानिक परिवर्तनो और क्रान्ति के कारणो का प्रतिपादन है तथा छठी पुस्तक मे वे उपाय दर्शाए गए हैं जिनसे लोकतन्त्रो और अल्पतन्त्रो (*Oligarchies*) को सुस्थिर बनाया जा सकता है।

(3) तीसरे वर्ग मे सातवी और आठवी पुस्तकें हैं। इनमे आदर्श राज्य और उसके सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है।

सेबाइन का विचार है कि 'पॉलिटिक्स' हमे अरस्तू की राजनीतिक विचारधारा के दो चरणो को प्रकट करती है जो एक दूसरे से काफी दूर हैं। इनसे यह भी पता चलता है कि अरस्तू ने प्लेटो के प्रभाव से मुक्त होने का प्रयास किया है या इसी बात को अधिक अच्छी तरह मे यो कहा जाए कि "अरस्तू ने अपनी स्वतन्त्र विचारधारा के निर्माण का प्रयास किया है।" प्रथम यह कि अरस्तू 'स्टेट्समैन' और 'लॉज' के अनुकरण पर एक आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहता है और इसे ही राजनीतिक दर्शन का मुख्य ध्येय समझता है। 'राजनीति शास्त्र' के बारे मे प्लेटो के समान ही उसकी भी नैतिक रुचि है। श्रेष्ठ व्यक्ति और श्रेष्ठ नागरिक उसके लिए भी एक ही हैं। उसके मत मे भी राज्य का उद्देश्य उच्चतम नैतिक मनुष्य का निर्माण करना है। यह स्वीकार नही किया जा सकता कि अरस्तू ने इस दृष्टिकोण को जानबूझ कर छोड़ दिया है। इसका कारण यह है कि अरस्तू ने आदर्श राज्य सम्बन्धी प्रबन्ध को 'पॉलिटिक्स' का एक महत्वपूर्ण अंश रहने दिया था। लेकिन, लीसियम (Lyceum) की स्थापना के कुछ समय बाद ही उसने एक व्यापक आधार पर राजनीति के विज्ञान अथवा कला की कल्पना की। उसका विचार था कि नए विज्ञान का क्षेत्र सामान्य होना चाहिए। उसमे यथार्थ और वास्तविक दोनो प्रकार की शासन-प्रणालियो का विवेचन होना चाहिए तथा शासन की कला और राज्यो का संगठन करने की शिक्षा का विधान भी राजनीति का यह नया विज्ञान केवल अनुभव-सापेक्ष और विवरणात्मक ही नहीं था। कुछ दृष्टियो से नैतिकता मे उसका कोई सम्बन्ध नही था क्योंकि राजनेता के लिए यह आवश्यक है कि वह बुरे राज्य का शासन करने मे भी निपुण हो। नए राजनीति विज्ञान मे सापेक्ष और निरपेक्ष दोनो प्रकार के राजनीतिक हितों की जानकारी सम्मिलित थी। इसमे उस राजनीतिक व्यवस्था की भी जानकारी सन्निहित थी जिसका बुरे उद्देश्य के लिए प्रयोग होना है। राजनीति दर्शन की परिभाषा मे यह विस्तार अरस्तू की एक मुख्य देन है।

वास्तव मे अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' मे आदर्श राज्य की स्थापना तथा यथार्थ का विश्लेषण एक ही साथ कर अरस्तू ने एक नवीन राजनीति विज्ञान को जन्म दिया है। उसने यह मत प्रतिपादित किया कि यथार्थ आदर्श से कितना भी दूर क्यों

न हो, अवहेलना नही होनी चाहिए। राजनीतिक विज्ञान के अच्छे बुरे सभी प्रकार के राज्यो का शासन एव सगठन करने की कला शासको को सिखानी चाहिए। अरस्तू के राजनीति के इस नवीन और व्यापक विज्ञान मे न केवल राज्य का नैतिक उद्देश्य शामिल है, वरन् उसमे उसके सामाजिक तथा राजनीतिक तत्वों, वास्तविक सविधानो, उनके सम्मिश्रण और तद्जनित परिणामो का एक अनुभवगम्य अध्ययन भी शामिल है। निरपेक्ष एव सापेक्ष राजनीतिक श्रेय और भले-बुरे सभी प्रकार के राजनीतिक ध्येय के लिए आवश्यक राजनीतिक यन्त्र का ज्ञान नवीन विज्ञान का एक भाग है। राजनीतिक विज्ञान की परिभाषा और क्षेत्र को इतना विस्तृत करना इस विषय मे अरस्तू की सबसे बडी देन है। जेलर (Zeller) के शब्दो मे, "अरस्तू की पॉलिटिक्स प्राचीनकाल से विरासत मे प्राप्त होने वाली एक सर्वाधिक मूल्यवान विधि है और राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र मे प्राप्त होने वाला महानतम योगदान है।"[1]

अरस्तू पर 'लॉज' का ऋण

बार्कर ने अरस्तू पर 'लॉज' के ऋण का बडा शोध-पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है।[2] अरस्तू का जन्म ई पू 384 के लगभग हुआ था और वह ई पू 367 के लगभग एक विद्यार्थी के रूप मे एथेन्स आया था। उस समय प्लेटो 'लॉज' की रचना मे लगा हुआ था और निश्चित है कि अरस्तू पर प्लेटो का प्रभाव पडा था। बार्कर के अनुसार अरस्तू के ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' तथा प्लेटो के 'लॉज' मे अनेक सादृश्य हैं—

(1) प्लेटो की भाँति अरस्तू ने भी विधि की प्रभुता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है और शासको को 'विधि के सरक्षक' तथा उसका 'सेवक' माना है।

(2) 'पॉलिटिक्स' का वह सुप्रसिद्ध अवतरण जिसमे अरस्तू ने कहा है कि राज्य और उसकी विधि से रहित मनुष्य या तो पशु है या देवता, विचार और अभिव्यक्ति दोनो मे 'लॉज' के एक सुन्दर अवतरण के अनुरूप है (874E-875D 766 A से तुलना कीजिए)। लगता है कि यह अश लिखते समय अरस्तू के सामने 'लॉज' का उपर्युक्त अवतरण था।

(3) अरस्तू ने परिवार से राज्य के विकास का और प्रारम्भिक राज्यो के पैतृक स्वरूप का जो वर्णन किया है उसमे वह उसी लीक पर चला है जिस पर प्लेटो 'लॉज' के तीसरे खण्ड मे चला है। प्लेटो ने साइक्लोप्स के बारे मे होमर का जो उद्धरण दिया है वही अरस्तू ने दिया है।

(4) अरस्तू ने प्लेटो की इस युक्ति को दोहराया है कि युद्ध का लक्ष्य शान्ति की स्थापना करना होता है, वह अपने आप मे साध्य नही होता।

(5) अरस्तू ने, 'एथिक्स' मे भी और 'पॉलिटिक्स' के सातवें खण्ड के उन अध्यायो मे भी जिनमे शिक्षा का विवेचन किया गया है—स्वभाव-निर्माण पर जोर दिया है। इसका सादृश्य 'लॉज' के दूसरे खण्ड मे उपलब्ध होता है।

1 E. Zeller : Aristotle & the Earlier Peripatetics, Eng. Trans. Vol. II, p. 288.
2 बार्कर : पूर्वोक्त, पृ. 580-82.

(6) मिश्रित संविधान की कल्पना 'पॉलिटिक्स' और 'लॉज' दोनों ग्रन्थों में समान रूप से पाई जाती है और दोनों में ही स्पार्टा को इसका उदाहरण बनाया है।

(7) अरस्तू ने कृषि के महत्त्व और खुदरे व्यापार तथा सूद-खोरी के बारे में जो विचार व्यक्त किए हैं वे प्रायः उन विचारों से अभिन्न हैं जिनका प्लेटो ने 'लॉज' के आठवें खण्ड के अन्त में और ग्यारहवें खण्ड के प्रारम्भ में उल्लेख किया है। इसी प्रकार, प्लेटो ने नगर-कलह को रोकथाम के लिए 'लॉज' में विचार प्रकट किया है कि अमीरों को चाहिए कि वे स्वेच्छा से गरीबों को भी धन-सम्पदा में हिस्सेदार बनाएँ। इस विचार की अभिव्यक्ति 'पॉलिटिक्स' में भी हुई है।

(8) अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' के सातवें और आठवें खण्डों में अपने आदर्श राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उसके आदर्श राज्य के अवतरणों और 'लॉज' के तत्सम्बन्धी अवतरणों में बहुत अधिक समानताएँ हैं। अरस्तू अपने सर्वश्रेष्ठ राज्य का चित्रण करते समय प्लेटो के द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य का अनुसरण करे—यह बात विचित्र भी है और अर्थगर्भित भी।

निष्कर्ष यह है कि "अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' के दूसरे खण्ड के प्रारम्भ में 'रिपब्लिक' तथा 'लॉज' दोनों की आलोचना तो की है, पर वास्तव में उसकी 'लॉज' में अधिक अभिरुचि थी और जहाँ उसके सामान्य राजनीति-सिद्धान्त पर 'लॉज' का ऋण काफी था वहाँ उसके आदर्श राज्य के चित्र पर 'लॉज' का ऋण सबसे अधिक था। यह ठीक है कि 'पॉलिटिक्स' की रचना अरस्तू ने की थी और उसने ग्रन्थ की विषय-वस्तु का आयोजन अपने दर्शन तथा सिद्धान्तों के सन्दर्भ में किया था, पर इस विषय-वस्तु का अधिकांश भाग प्लेटो का था।"

अरस्तू के राज्य सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Conception of State)

'पॉलिटिक्स' की प्रथम पुस्तक में अरस्तू ने राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन किया है। उसने राज्य के स्वरूप, जन्म और लक्ष्य का सुन्दर प्रतिपादन किया है। उसके राज्य सम्बन्धी विचार इतने सुव्यवस्थित हैं कि अरस्तू के ढाई हजार वर्ष बाद आज भी उनकी प्रामाणिकता को स्वीकार किया जाता है। उसके राज्य सम्बन्धी इन सिद्धान्तों के कारण ही उसे राजनीति के नवीन विज्ञान का प्रतिपादक माना जाता है। अपने गुरु प्लेटो के समान ही उसका लक्ष्य भी सोफिस्टों के इस मत का खण्डन करता है कि राज्य एक परम्पराजनित संस्था है जिसका अपने सदस्यों की आस्था पर कोई वास्तविक अधिकार नहीं। अरस्तू यह सिद्ध करना चाहता है कि राज्य का जन्म विकास के कारण हुआ है। यह एक स्वाभाविक संस्था है। इसके उद्देश्य और कार्य नैतिक हैं तथा यह सभी संस्थाओं में श्रेष्ठ और उच्च है।

(1) **राज्य का प्रादुर्भाव**—अरस्तू के अनुसार राज्य का निर्माण व्यक्ति या व्यक्ति-समूह ने जानबूझ कर और सोच-विचार कर किसी भी काल में कभी नहीं किया। राज्य एक प्राकृतिक संस्था है जिसका जन्म और विकास प्राकृतिक रूप से हुआ है। वह कहता है कि "मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है जो अपने स्वभाव से ही

राजकीय जीवन के लिए बना है ।" अपनी स्वभाव-जन्य भौतिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए स्वामी तथा दास और स्त्री एवं पुरुष एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं। इस प्रकार उनके संयोग तथा मेल से परिवार का जन्म होता है। परिवार प्रकृति द्वारा स्थापित मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने वाली संस्था है। जब परिवारों का एकत्रीकरण हो जाता है और इस संगठन का उद्देश्य दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति से कुछ अधिक हो जाता है, तब एक ग्राम का अस्तित्व बनता है। सबसे अधिक प्राकृतिक ग्राम वही है जहाँ एक ही माता के दूध से पले बच्चे और बच्चों के बच्चे रहते हों। शनैः-शनैः अनेक ग्राम एकत्रित और संगठित होकर एक समाज के रूप में इतने बड़े हो जाते हैं कि वे अपनी आवश्यकताओं के बारे में लगभग आत्म-निर्भर हो जाते हैं, तब नगर अथवा राज्य का जन्म होता है। इस प्रकार राज्य का जन्म मनुष्य की भौतिक मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है और वह इसीलिए कायम रह पाता है कि उसमें व्यक्तियों का श्रेष्ठ जीवन सम्भव है अतः समाज या राज्य के जन्म के अकुर सर्वप्रथम परिवार में देखने को मिलते हैं। इन्हीं कारणों के शनैः-शनैः विकसित एवं प्रस्फुटित होने से अन्त में राज्य का उदय होता है। स्पष्ट है कि "राज्य प्रकृति की उपज है और व्यक्ति स्वभाव से ही राजनीतिक प्राणी है। जो व्यक्ति अपनी प्रकृति से (न कि संयोग से) बिना किसी राज्य के जीता है-वह मनुष्य की श्रेणी से या तो ऊपर है या नीचे।"[1]

अरस्तू के उपरोक्त विचार से उसका यह मत स्पष्ट हो जाता है कि राज्य विकास का परिणाम है और इस विकास का क्रम परिवार से प्रारम्भ हुआ है। यौन सम्बन्ध एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण नर-नारी इकट्ठे रहते हैं। भौतिक पदार्थों को जुटाने के लिए दासों को काम पर लगाया जाता है, जिससे स्वामी-सेवक के सम्बन्धों की उत्पत्ति होती है। इस तरह प्रजनन (यौन सम्बन्धी) एवं अन्य-भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्त्री-पुरुष, स्वामी-सेवक आदि के साथ साथ रहने से बना परिवार एक स्वाभाविक संस्था है। यह मनुष्य की अन्त प्रकृति और इच्छा का स्वाभाविक परिणाम है। मानव की राजनीतिक यात्रा में दूसरा पड़ाव आता है ग्राम। परिवारों का समुदाय या समूह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ग्राम का रूप धारण करता है। एक दूसरे के लाभ के लिए बढ़ती हुई आर्थिक समस्याओं की पूर्ति के लिए तथा रक्त सम्बन्ध के पारस्परिक प्रेम के कारण एक दूसरे पर निर्भर रहते हुए परिवार ग्राम को जन्म देते हैं। विकास का यह क्रम चलता रहता है और अनेक ग्रामों के सम्मिलन से नगर-राज्य का जन्म होता है। बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही अनेक ग्राम समूह बन कर नगर-राज्य के रूप में एकत्रित हो जाते हैं। इस नगर-राज्य में परिवार और ग्राम की आवश्यकताएँ पूर्ण होने के साथ-साथ कुछ अन्य आवश्यकताएँ भी पूरी होती हैं।

1 *Aristotle* : Politics (Barker's Trans.), p. 5.

राज्य सैनिक सगठन बनाकर विदेशी आक्रान्ताओं से अपने निवासियो की रक्षा करता है। ग्राम पचायत की तुलना मे अधिक कुशलतापूर्वक, न्याय का कार्य करता है। विद्याओ और कलाओ का विकास करता है तथा मनुष्य की बौद्धिक एवं नैतिक शक्तियो को विकसित करने की आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। इस तरह राज्य का विकास तीन स्थितियो से होकर गुजरता है। अरस्तू के शब्दो मे "राज्य एक पूर्ण और आत्म-निर्भर परिवारो और ग्रामो का एक समूह है जिसका तात्पर्य एक सुखी और सम्मानपूर्ण जीवन से है।"

राज्य के विकास की उपरोक्त तीनो स्थितियो और उद्देश्यों को प्रस्तुत निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है[1]—

1. कुटुम्ब अथवा गृहस्थी	प्रजनन तथा अल्पतम भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति=क
2. ग्राम	क+न्याय के लिए ग्राम पचायत तथा धार्मिक उत्सव आदि=ख
3 नगर-राज्य (पोलिस)	क+ख+न्याय तथा सैनिक संरक्षण, विद्या तथा कलाओ का विकास=ग

(2) राज्य एक स्वाभाविक संस्था (The State : A Natural Association)—प्लेटो की भाँति अरस्तू का भी यह मानना है कि राज्य किसी समझौते का परिणाम नही है, अपितु एक प्राकृतिक समुदाय है। प्लेटो एव अरस्तू से पहले सोफिस्ट मानते थे कि राज्य एक परम्पराजनित सस्था (कृत्रिम समुदाय) है जिसे मनुष्यो ने आपस मे समझौता (Contract) करके बनाया है। इसी आधार पर उनका कहना था कि राज्य का अपने सदस्यो की निष्ठा पर कोई वास्तविक अधिकार नही है। वे राज्य की आज्ञाओ अथवा कानूनो का पालन केवल दण्ड के भय अथवा पुरस्कार की आशा से करते हैं किन्तु अरस्तू का कहना है कि राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ है और सुखी जीवन के लिए वह जीवित है। मनुष्य एक बुद्धिमान् प्राणी है। नैतिक कारणों से ही वह कानून का पालन करता है। यदि उसे कानून का पालन करना अपने हितो के विरुद्ध प्रतीत होता है तो वह केवल दण्ड-भय के कारण ही उनका उल्लंघन करने से नहीं रुकेगा। अरस्तू के अनुसार राज्य इसलिए स्वाभाविक है कि उससे अलग और बाहर रहकर मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है और प्रकृति ने उसे राज्य के सदस्य के रूप मे रहने के लिए ही बनाया है। अरस्तू के अनुसार बुद्धिमान् मनुष्य बुद्धि द्वारा अपने हितो की वृद्धि करना अपना नैतिक दायित्व समझता है। इन हितो की पूर्ति राज्य मे ही हो सकती है और इसीलिए उसके द्वारा राज्य के नियमो का पालन किया जाता है।

अरस्तू राज्य को एक 'कायनोनिया' (Koinonia) अर्थात् ऐसा समुदाय मानता है जिसके बिना मनुष्य का जीवन सम्भव नहीं है। राज्य एक बन्धुत्व है, एक

1 भोलानाथ शर्मा : अरस्तू की राजनीति (Hindi Trans. of 'Politics'), p. 90.

जाति है। यह उन लोगो का सगठन है जो एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी सामान्य आवश्यकताएँ रखते हैं और वस्तुओ एव सेवाओ के पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति से प्रेरित होते हैं। अरस्तू के शब्दो मे "जो व्यक्ति राज्य के बाहर रहता है वह या तो पशु है अथवा देवता।"

राज्य को प्राकृतिक मानने के पक्ष मे अरस्तू निम्नलिखित कारण प्रस्तुत करता है—

(i) अरस्तू का कहना है कि "यदि जिन संस्थाओ पर राज्य आधारित है वे सस्थाएँ स्वाभाविक हैं तो निश्चय ही उन स्वाभाविक सस्थाओं का विकसित रूप भी स्वाभाविक होगा।"[1] कोई भी विचारक, यहाँ तक कि सोफिस्ट भी परिवार को मनुष्य पर थोपी हुई कृत्रिम व्यवस्था नही मानते। परिवार स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक प्रवृत्तियो का परिणाम है। यह मानव के भावनात्मक जीवन की अभिव्यजना है, इसीलिए वह स्वाभाविक है और मानव-विकास के मार्ग में बाधक न होकर साधक है। "यह एक घोसले के सदृश है, पिंजड़े की तरह नहीं।"[2] यदि परिवार एक स्वाभाविक सस्था है तो राज्य और भी अधिक स्वाभाविक हुआ क्योंकि परिवार की इस स्वाभाविक व्यवस्था से ही राज्य का विकास हुआ है।

(ii) अरस्तू के अनुसार राज्य एक स्वाभाविक सस्था इसीलिए भी है कि राज्य का जन्म मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति और उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए हुआ है। उसके शब्दो मे, "मानवीय आवश्यकताओ पर आधारित मानव समुदाय के बढते हुए घेरे की चरम परिणति राज्य है।"[3] सामाजिकता मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है। इसी गुण के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति सामाजिक स्तर पर करना चाहता है। परिवार और ग्राम मानव विकास के लिए आवश्यक समस्त सुविधाओ, साधनो या आवश्यकताओ की पूर्ति नही करते, अत. वे मिलकर नगर राज्य मे परिणत होते हैं जिसमे मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो पाती है। आत्म-निर्भरता (Self-sufficiency) प्लेटो और अरस्तू के अनुसार केवल राज्य मे ही प्राप्त हो सकती है। 'आत्म-निर्भरता' से तात्पर्य केवल आर्थिक स्वपर्याप्तता से ही नही है, बल्कि प्लेटो और अरस्तू का इससे अभिप्राय यह है कि राज्य उन सम्पूर्ण स्थितियो और वातावरण की पूर्ति भी करता है जो व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक है। समाज के ग्राम जैसे निम्नतर रूप अपर्याप्त केवल इसलिए नही हैं कि वे मनुष्य की समस्त इन्द्रियपरक आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकते, बल्कि इसलिए हैं कि वे उसकी बौद्धिक आवश्यकताओ की समुचित रूप से पूर्ति नही कर पाते। इनकी पूर्ति केवल एक

1 *Aristotle* : "If the earlier forms of society are natural so is the state, for it is the end of them and the nature of a thing is end."

2 "Therefore it does not thwart human growth but fosters it. It is like a nest not like a cage." —*Foster* : Masters of Political Thought, p 1[illegible]

3 *Aristotle* : "The state is the culmination of widening circles of human association on human wants."

राजनीतिक समाज में, जो कि आर्थिक समाज से भिन्न है, हो सकती है। मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति का पूर्ण विकास राजनीतिक क्रिया में ही सम्भव है जो कि आर्थिक क्रिया से भिन्न है।"[1]

(iii) मनुष्य की प्रकृति में विकास के अंकुर निहित हैं। विकास उसका स्वभाव है। मनुष्य की यह विकासवादी प्रकृति एक शक्ति है जो उसे सदैव किसी विशेष लक्ष्य की ओर प्रेरित और गतिमान बनाती है और यह लक्ष्य राज्य ही है।

इस प्रकार अरस्तू की मान्यता है कि राज्य एक सर्वथा स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक संस्था है। मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है और राज्य एक स्वाभाविक संस्था। ये दोनों कथन एक दूसरे में निहित हैं। राज्य मनुष्य का स्वाभाविक लक्ष्य है। यहाँ एक उल्लेखनीय बात यह है कि मनुष्य को राजनीतिक प्राणी बनाने वाली शक्ति उसकी भाषण-शक्ति है। अन्य पशु यूथचारी (Gregarious) हैं, किन्तु केवल मनुष्य ही राजनीतिक प्राणी है क्योंकि उसका स्वाभाविक लक्ष्य राज्य है और केवल उसे ही भाषण-शक्ति प्राप्त है। अपनी इस शक्ति के कारण ही मनुष्य शुभ और अशुभ एवं न्याय और अन्याय में भेद करने में सक्षम है। भाषा के वरदान से ही वह एक दूसरे के सुख-दुःख की वेदना का अनुभव कर सकता है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्रवृत्तियों की दृष्टि से तो मनुष्य और अन्य पशु में कोई अन्तर नहीं है। मनुष्य की विलक्षणता उसके विवेक और उसकी भाषण-शक्ति में है। राज्य में ही मनुष्य को पशुओं से पृथक् करने वाले बौद्धिक एवं नैतिक गुणों की प्राप्ति का अवसर मिलता है। व्यक्ति विकसित होकर राज्य में ही उस चरम शक्ति तक पहुँचता है और उन कार्यों को भली प्रकार सम्पादन कर सकता है जिनके लिए प्रकृति ने उसका निर्माण किया है। ऐसी स्थिति वास्तविक अथवा स्वाभाविक होती है और इसीलिए राज्य स्वाभाविक संस्था है। अन्य प्राकृतिक संगठनों से राज्य की भिन्नता इसी में है कि जहाँ राज्य के सदस्य राजनीतिक जीवन बिताते हैं वहाँ अन्य प्राकृतिक संगठनों के जीव राजनीतिक जीवनयापन नहीं कर सकते और न उनमें मनुष्यों की भाँति विवेक, बुद्धि-सम्पन्नता और भाषण-शक्ति पाई जाती है।

(3) **राज्य सर्वोच्च समुदाय के रूप में है (The State as the Supreme Association)**—अरस्तू राज्य को समुदायों का समुदाय ही नहीं अपितु सर्वोच्च समुदाय मानता है (The State is not merely an association of associations, it is the supreme association)। राज्य सर्वोच्च समुदाय इसलिए है कि वह सब के ऊपर है और अन्य सब इसके अंग में लिपटे हुए हैं। विभिन्न प्रकार के समुदाय मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। उदाहरणतः मनोरंजन संस्थाएँ मनुष्य की भावनाओं को सतुष्टि करती हैं तो आर्थिक संस्थाएँ उसकी उदर-पूर्ति के साधन जुटाती हैं। अन्य सामाजिक संस्थाएँ उसकी अन्य आवश्यकताओं को यथा धर्म, शिक्षा आदि को पूरा करती हैं। लेकिन राज्य इन सबमें बड़ी और ऐसी

1 *Foster* : Masters of Political Thought, page 129.

संस्था है जिसमे सामाजिक विकास का चरम रूप निहित है, जो मनुष्य की बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसके विकास में शेष संस्थाओं का विकास निहित है। राज्य इसलिए सर्वोच्च समुदाय है कि इसका लक्ष्य ही सर्वोत्तम है और वह है-अपने सदस्यों के जीवन को शुभ बनाना। राज्य अपने नागरिकों को सद्गुणी जीवन की प्राप्ति के लिए तैयार करता है। जहाँ अन्य संस्थाएँ मनुष्य को आंशिक रूप से आत्मनिर्भर बनाती हैं, वहाँ राज्य उसे पूर्ण रूप से स्वावलम्बी बनाता है। प्रत्येक अन्य समुदाय का उद्देश्य किसी विशेष एवं निम्नतर शुभ की प्राप्ति करना है जबकि राज्य का उद्देश्य परम शुभ और सम्पूर्ण विकास को प्राप्त करना है। सद्गुणी जीवन की प्राप्ति के लिए अन्य संस्थाओं में कम अवसर मिलते हैं जब कि राज्य में इस सुखी जीवन की प्राप्ति सम्पूर्ण रूप से होती है। शुभ जीवन के अन्तर्गत मानव की नैतिक और बौद्धिक क्रियाएँ सम्मिलित हैं। इन्हे तृप्त करने का अन्य समुदायों की अपेक्षा राज्य में अधिकतम क्षेत्र है अतः निश्चय ही राज्य सर्वोच्च एवं सर्वोत्तम संस्था है।

(4) **राज्य मनुष्य से पहले (The State is prior to the individual)**—अरस्तू का यह भी कहना है कि राज्य मनुष्य से पहले है। सतही तौर पर अरस्तू का यह कथन विचित्र सा प्रतीत होता है क्योंकि राज्य का जन्म मनुष्यों के द्वारा हुआ है। व्यक्तियों के अभाव मे राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब केवल मनुष्य के हित के लिए ही राज्य का जन्म हुआ है तब राज्य मनुष्य से पहले कैसे आया? यह भी अरस्तू स्वयं बतला चुका है कि ऐतिहासिक विकास की दृष्टि मे आरम्भ में व्यक्तियों से मिलकर परिवार बने, परिवारों से ग्राम और ग्रामों से राज्य। इस तरह काल-क्रम की दृष्टि से व्यक्ति पहले है और राज्य सब से अन्त मे है। तब यह मानना कि राज्य 'मनुष्य से पहले है या व्यक्ति का पूर्वगामी है'—इससे क्या तात्पर्य हो सकता है?

वास्तव में अरस्तू के उपरोक्त कथन को ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं लिया जाना चाहिए। वह मनोवैज्ञानिक एवं तर्क-सम्मत सम्बन्ध की दृष्टि से राज्य को व्यक्ति का पूर्ववर्ती मानता है। उसका तर्क है कि राज्य एक समग्रता (Whole) है और व्यक्ति उसका अंग है अर्थात् राज्य और व्यक्ति का वही सम्बन्ध है जो शरीर का उसके अंगों से होता है। चूँकि समग्र पहले आता है और अंग बाद में। इसलिए इस सादृश्य के आधार पर राज्य पहले का हुआ। अरस्तू ने कहा कि यदि शरीर नष्ट कर दिया जाए तो हाथ अथवा पैर का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। पत्थर या काष्ठ का हाथ अथवा पैर हम भले ही बना लें लेकिन सम्बन्ध एवं कार्यों की दृष्टि से उसे वास्तव में हाथ या पैर नहीं कहा जा सकता। किसी भी वस्तु की परिभाषा उसके कार्यों से की जाती है। स्पष्ट है कि शरीर अथवा अवयवों के बिना उसके विभिन्न अंगों का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। व्यक्ति के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। यदि व्यक्ति को राज्य से विलग कर दिया जाए तो वह स्वावलम्बी नहीं हो सकता। व्यक्ति का राज्य से पृथक् कोई महत्त्व नहीं है जो व्यक्ति राज्य

अथवा समाज के बिना रह सकता है और अकेला होने पर भी स्वावलम्बी हो सकता है वह अरस्तू की शब्दावली में, या तो पशु है या देवता। इस तरह अरस्तू कहना चाहता है कि जीव के विचार की दृष्टि से अवयव अंग से पहले होना चाहिए, क्योंकि अवयवों के अभाव में उसके अंगों की कल्पना नहीं की जा सकती। राज्य एक जैविक इकाई है, अतः उसकी अवयवी समग्रता व्यक्ति से पूर्ववर्ती होनी चाहिए। अंग की व्याख्या समग्र के बिना नहीं की जा सकती। समस्त अंग समग्र के अंग होते हैं और समग्र की धारणा के बिना अंग महत्त्वहीन हैं। अंग के अस्तित्व के लिए समग्र का पूर्ववर्ती रूप में उपस्थित होना अनिवार्य है। यही बात व्यक्ति और राज्य के बारे में है। व्यक्ति की परिभाषा और महत्त्व के लिए समग्र अथवा राज्य होना ही चाहिए। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्य व्यक्ति से पहले आया है और प्राकृतिक है।

(5) राज्य अन्तिम एवं पूर्ण संस्था (State as the final and perfect form of human association)—अरस्तू की सीमा तत्कालीन अवस्था में उपलब्ध नगर-राज्य तक थी। वह नगर-राज्य को मानव-समाज का सर्वोत्तम समुदाय और मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मानता है। परिवार और ग्राम के बाद राज्य में मानव के विकास-लक्ष्य की प्राप्ति होती है। अरस्तू के अनुसार नगर-राज्य के बाद राज्य का कोई अन्य कार्य नहीं रह जाता। उसकी दृष्टि में वह सामाजिक विकास का चरम रूप है। परिवार में आरम्भ होने वाला विकास नगर राज्य के रूप में परिपूर्णता को प्राप्त करता है। यद्यपि अरस्तू के सामने ही यूनान के नगर राज्यों को ध्वस्त करके फिलिप (Philip) ने अपने साम्राज्य की स्थापना कर ली थी किन्तु नगर-राज्य की वैचारिक दुनिया में विचरने वाला अरस्तू सम्भवतः इस परिवर्तन के महत्त्व को नहीं आंक सका। बाद में जन्म लेने वाले राष्ट्रीय राज्यों का स्वप्न वह नहीं देख सका। आधुनिक युग के विशालतम राज्यों तक उसकी दृष्टि तत्कालीन अवस्था में नहीं पहुँच सकी। उसने नगर को ही सामाजिक विकास का चरम रूप मानते हुए उसे मनुष्य के राजनीतिक विकास का अन्तिम लक्ष्य स्वीकार किया।

(6) राज्य का जैविक स्वरूप (Organic Nature of the State)—अरस्तू अपनी लक्ष्य प्रधान मीमांसा के कारण यह प्रतिपादित करता है कि राज्य का स्वरूप जैविक है अथवा दूसरे शब्दों में राज्य की प्रकृति एक सावयवी जीवधारी के समान है। प्रत्येक सावयवी जीव का विकास स्वाभाविक रूप से होता है। उसके कार्य उसके विभिन्न अंगों द्वारा किए जाते हैं। सावयवी के विभिन्न अंगों में कार्यों का वितरण होता है और वे उन कार्यों को करने के लिए शरीर पर आश्रित होते हैं। यदि शरीर का कोई अंग अनुपात से घट बढ़ जाता है तो परिणामस्वरूप समस्त शरीर निर्बल हो जाता है। ठीक ये ही बातें राज्य पर भी लागू होती हैं। राज्य का भी स्वाभाविक रूप से विकास हुआ है। उसके भी समस्त कार्य उसके अंगों (व्यक्तियों) द्वारा किए जाते हैं। विभिन्न घटकों में कार्यों का वितरण होता है

और ये समस्त घटक राज्य के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अपने-अपने कार्य करते हैं। जिस तरह नाना प्रकार के अंगो से मिलकर सावयवी जीव का निर्माण होता है, उसी तरह राज्य भी नाना प्रकार के अगो (व्यक्तियो, समुदायो) से मिलकर बना हुआ एक सम्मिश्रण अथवा सम्पूर्ण (Compound of whole) है। जिस तरह समस्त अगो का महत्त्व और उनकी उपयोगिता उनकी जैविक एकता से है उसी तरह व्यक्तियो और समुदायो का मूल्य और महत्त्व भी राज्य की सजीवनी शक्ति के कारण है। राज्य के विभिन्न घटक अपने अस्तित्व के लिए राज्य पर आश्रित हैं। राज्य के अभाव मे उनका विनाश एक स्वाभाविकता होगी।

राज्य के जैविक स्वरूप मे इस प्रकार आस्था रखते हुए भी अरस्तू राज्य को पूरी तरह जीव नही मानता। हीगल (Hegel) और उसके अनुयायियो की भाँति वह राज्य को अतिप्राणी (Super being) भी स्वीकार नही करता। वह व्यक्ति को राज्य के पूर्णतः अधीन नहीं बनाता। व्यक्ति से राज्य को केवल ऊपर मानते हुए वह कहता है कि राज्य के बिना व्यक्ति की कोई कल्पना सम्भव नही है क्योंकि राज्य ही मे मानव-व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। अरस्तू राज्य को केवल व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के लिए आवश्यक मानता है। उसके अनुसार राज्य का अपना कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं। उसका उद्देश्य केवल नागरिको का सुखवर्धन एव नैतिक विकास ही है। इस तरह राज्य के स्वरूप को जैविक बताते हुए भी अरस्तू अराजकतावादी व्यक्तिवाद और निरकुशतावाद (Anarchic Individualism and Absolutism) दोनो के दोषो से मुक्त है।

(7) **राज्य का आत्म-निर्भर (Self-sufficient) होना**—अरस्तू राज्य की एक बहुत बडी विशेषता यह मानता है कि वह आत्म-निर्भर इकाई है। आत्म-निर्भरता का सामान्यतः अर्थ यह होता है कि अपनी आवश्यकताओ को स्वयं ही पूरा कर लेना लेकिन अरस्तू ने पारिभाषिक अर्थ मे इसका प्रयोग किया है। वह अपने 'आचार शास्त्र' मे लिखता है कि "आत्म-निर्भरता वह गुण है जिसके द्वारा स्वतः जीवन वांछनीय बन जाता है, तथा उसमे कोई अभाव नही रह जाता।"[1] आत्म-निर्भर' से उसका तात्पर्य केवल रोटी, कपडा और मकान की समस्या सुलझाने मात्र से नही है। 'आत्म-निर्भर' का अर्थ है—कोई कमी न होना। राज्य मे, अरस्तू के अनुसार, मनुष्य केवल अपनी आर्थिक आवश्यकताओ की ही पूर्ति नही करता बल्कि सच्चा जीवन बिताता है। उसका शारीरिक, बौद्धिक एव मानसिक विकास होता है। राज्य मे मनुष्य सुखी एव सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। नगर राज्य को 'आत्म-निर्भर' कहने से अरस्तू का यही अभिप्राय है कि नगर राज्य उन समस्त स्थितियो और वातावरणो की पूर्ति करता है जो व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक है। पेट भरने का कार्य तो पशु भी करते हैं। मनुष्य का मनुष्यत्व इसी मे है कि वह अपने विशेष गुणो का विकास करे और यह केवल 'आत्म-निर्भर' राज्य

1 *Foster* : Masters of Political Thought, p. 129.

में ही सम्भव है। इसीलिए अरस्तू का कहना है कि "राज्य की उत्पत्ति जीवन की आवश्यकता मात्र के कारण हुई, किन्तु उसकी सत्ता अच्छे जीवन की सम्प्राप्ति के लिए बनी हुई है।" अरस्तू के 'आत्म-निर्भर' राज्य के विचार को स्पष्ट करते हुए फोस्टर ने लिखा है—"समाज का एक ग्राम सरीखा निम्न रूप केवल इसीलिए अपर्याप्त नहीं है कि वह मनुष्य की इन्द्रियपरक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता बल्कि इसलिए कि वह उसकी बौद्धिक आवश्यकताओं की भी समुचित पूर्ति नहीं कर पाते इनकी पूर्ति केवल एक राजनीतिक समाज में ही (जो कि आर्थिक समाज से भिन्न है) हो सकती है। मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति का पूर्ण विकास राजनीतिक क्रिया में ही सम्भव है जो कि आर्थिक क्रिया से भिन्न है।"[1]

(8) **राज्य का एकत्व और बहुत्व (Unity and Plurality of the State)**—प्लेटो ने आदर्श राज्य की एकता बनाए रखने के लिए एकत्व (Unity) पर बहुत बल दिया है। 'राज्य नागरिक की सभी बातों को नियमित तथा नियन्त्रित करे' यह प्लेटोवाद का निष्कर्ष है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने सम्पत्ति और स्त्रियों के साम्यवाद तक का समर्थन किया है। राज्यों में अवयवी शरीर (Organism) की भांति एकता होनी चाहिये। जिस तरह पैर में कांटा चुभने पर सारे शरीर को उसकी अनुभूति होती है, उसी प्रकार की एकता की अनुभूति सारे राज्य और उसके नागरिकों में होनी चाहिए परन्तु अरस्तू ने राज्य की एकता को कायम रखने के लिए इसके विपरीत सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उसका सिद्धान्त है कि राज्य नागरिकों की कुछ बातों का नियन्त्रण एवं नियमन करे तथा अन्य कुछ बातों के लिए वह उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करे। वह राज्य की चरम एकता का पक्षपाती नहीं है। उसने राज्य में विभिन्नता में एकता (Unity in Diversity) का समर्थन किया है। उसकी दृष्टि में एकत्व ही राज्य का आदर्श स्वरूप नहीं है। यदि राज्य में प्लेटो के विचारों के अनुरूप एकता होगी तो वह राज्य, राज्य नहीं रहेगा। अरस्तू के अनुसार वस्तुतः राज्य का स्वरूप बहुत्व (Plurality) में है।[2] उसके मत में राज्य विभिन्न प्रकार के तत्त्वों से मिलकर बनता है। यदि उनकी भिन्नता का अन्त करके एकता स्थापित की जाएगी तो राज्य का प्राणान्त हो जाएगा। जिस प्रकार एक चित्र विभिन्न रंगों से मिलकर बना है तथा जिस प्रकार संगीत की रचना रागों व तालों के मेल में होती है, उसी प्रकार से राज्य की एकता उसके विभिन्न अंगों के समुचित संगठन पर निर्भर करती है। अरस्तू अपने विभिन्नता में एकता के विचार के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करता है—

(क) राज्य एक समुदाय है। समुदाय के निर्माण के लिए विभिन्न प्रकार के सदस्यों का होना अनिवार्य है। विभिन्नता में एकता से उच्च श्रेणी की सभ्यता का आभास होता है। यदि राज्य की एकता इस सीमा तक बढ़ाई जाए कि उसको

1 *Foster*: Masters of Political Thought, p. 129.
2 *Barker*: Politics, p. 40-42.

विभिन्नता समाप्त हो जाए तो राज्य एक बहुत ही निम्न श्रेणी का समुदाय हो जाएगा। राज्य वास्तव में एक सर्वोच्च समुदाय है और इसकी सर्वोच्चता तथा एकता तभी स्थिर रह सकती है जब विभिन्नता में एकता के सिद्धान्त का पालन किया जाए।

(ख) प्रत्येक संस्था के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि उस संस्था का अस्तित्व बना रहे। इसलिए राज्य के लक्ष्य की पूर्ति के लिए राज्य का कायम रहना अनिवार्य है। अरस्तू के मतानुसार यदि राज्य की पूर्ण एकता स्थापित करने का प्रयास किया जाएगा तो उसका परिणाम यह होगा कि अन्ततः वह विभिन्नताओं से विहीन होकर एक व्यक्ति का राज्य रह जाएगा।

(ग) राज्य का ध्येय अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। इस हेतु राज्य में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का रहना आवश्यक है। राज्य को पूर्णरूपेण एकता से उस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होगी क्योंकि इससे विभिन्नताओं का लोप हो जाएगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि न तो राज्य स्वपर्याप्त हो पाएगा और न राज्य में इसके सदस्यों की आवश्यकताओं की तुष्टि हो सकेगी।

अरस्तू के मत का सार यही है कि राज्य में एकता होनी चाहिए किन्तु यह प्लेटो के विचारानुसार व्यक्तियों के विभिन्न भेदों का अन्त करके स्थापित नहीं होनी चाहिए, अपितु विभिन्न प्रकार के समुचित संगठन द्वारा स्थापित होनी चाहिए।

(9) राज्य के उद्देश्य और कार्य (The Aims and Functions of the State)—अरस्तू का विश्वास है कि मनुष्य का उद्देश्य जीवन ही नहीं अपितु एक आदर्श और श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति है और इस श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति कराना राज्य का उद्देश्य है। राज्य सद्गुणी जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्यों का एक नैतिक संगठन है अतः उसका लक्ष्य अपने सदस्यों की अधिकतम भलाई करना है। मनुष्य की प्रकृति अवश्य अच्छी है और राज्य का कर्त्तव्य उसकी अच्छी प्रवृत्तियों को व्यवहार रूप में बदलना है। राज्य को चाहिए कि वह मनुष्य को भला और सद्गुणी बनाने तथा उसके नैतिक और बौद्धिक गुणों के विकास का प्रयत्न करे। अरस्तू का स्पष्ट मत है कि "राज्य की सत्ता उत्तम जीवन के लिए है न कि केवल जीवन व्यतीत करने के लिए।"[1]

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित राज्य के कार्य उसकी राज्य की इस परिभाषा में ही निहित हैं—"राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक पूर्ण एवं स्वपर्याप्त संगठन है जिसके द्वारा हम *सुखी एवं सम्मानपूर्ण जीवन की प्राप्ति करते हैं।"* अतः उसके अनुसार राज्य को ऐसे कार्य करने चाहिए जिससे मनुष्य को उच्च मूल्यों की प्राप्ति हो। अरस्तू, लॉक एवं स्पेंसर जैसे आधुनिक व्यक्तिवादियों की भाँति राज्य के कार्यों को अपने सदस्यों के अधिकारों की रक्षा करना और न्याय प्रदान करने तक ही सीमित नहीं

1 "The end of the State is not mere life; it is, rather a good quality of life."
—*Aristotle* : Politics (Barker's Trans.), p. 118.

करता और न ही वह राज्य को अन्याय से बचाने वाला संगठन मात्र मानता है। उसकी दृष्टि में राज्य के कर्त्तव्य सकारात्मक और रचनात्मक (Positive and Constructive) हैं। वह श्रेष्ठ जीवन को नकारात्मक तथा विध्वंसात्मक नहीं मानता। वह चाहता है कि राज्य मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए आवश्यक कार्य करे, मानव-जीवन को नैतिक और धर्मसंगत बनाये। अरस्तू के विचार में यदि राज्य केवल इतना ही कार्य करता है कि उसके सदस्य एक दूसरे के विरुद्ध कोई अपराध न करें, एक दूसरे को कोई हानि न पहुँचाएँ तो इससे राज्यों के कार्यों की समाप्ति नहीं होती। ऐसी संस्था को राज्य तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक वह मनुष्यों को अच्छा, भला और सद्गुणी बनाने के प्रधान कर्त्तव्यों को पूरा न करे। अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' की तीसरी पुस्तक के नवें अध्याय में उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य को नागरिकों की भलाई के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए और उन्हें सच्चरित्र और सद्गुणी बनाना चाहिए। राज्य यदि दूसरे के अधिकारों के अपहरण करने वाले कार्यों को रोकता है और अन्य बुरे कार्यों को नहीं रोकता तो वह अपने कर्त्तव्य का पूरा पालन नहीं करता। राज्य का सम्बन्ध अपने नागरिकों के उन्हीं कार्यों से नहीं है जो दूसरों के लिए अहितकर हों, बल्कि उसका वास्तविक और गहरा सम्बन्ध अपने नागरिकों को सच्चरित्र बनाने में है ताकि वे बुरे काम कर ही न सकें। अपराधी को केवल दण्ड के भय से ही अपराध से विरत नहीं करना चाहिए, किन्तु राज्य को उसे ऐसा सच्चरित्र बना देना चाहिए कि वह अपराधों की ओर प्रवृत्त हो न हो।

अरस्तू के अनुसार मनुष्य गुण और दोष दोनों का समन्वय है। यदि उसके दोषों पर अंकुश न रखा जाए तो मनुष्य भी सबसे बड़ा पशु है। अतः समाज में न्याय-व्यवस्था स्थापित करना और व्यक्ति में से उसके दोषों को दूर कर उच्च जीवन की सुविधाएँ प्रदान करना राज्य का कर्त्तव्य है। राज्य मनुष्य के नैतिक जीवन में एक आध्यात्मिक संस्था है। उसका कर्त्तव्य नागरिकों के अच्छे जीवन का विकास करना है।

अरस्तू की राज्यों के कर्त्तव्य सम्बन्धी इस व्याख्या से स्पष्ट है कि उसने राज्यों के कार्य क्षेत्र को अत्यधिक व्यापक बतलाया है—इतना व्यापक कि ग्रीन जैसा आदर्शवादी भी इस सम्बन्ध में उससे बहुत पीछे रह जाता है ग्रीन के अनुसार राज्यों के कार्यों का स्वरूप निषेधात्मक है अर्थात् राज्य का कार्य सुखी जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाना है, मनुष्य को अच्छा बनाना नहीं। आधुनिक समाजवाद और आदर्शवादी प्लेटो तथा अरस्तू की बात का समर्थन नहीं करते हैं कि राज्य का कार्य मनुष्य को एक सच्चा और श्रेष्ठ व्यक्ति बनाना है तथा जो राज्य धर्म का पोषण नहीं करता वह सच्चा राज्य नहीं है। राज्य मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाकर नैतिक जीवन के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है किन्तु नैतिक बनने के लिए उन्हें विवश नहीं कर सकता।

(10) राज्य और शक्ति का सम्बन्ध—अरस्तू ने व्यक्ति और राज्य में गहरा सम्बन्ध बतलाते हुए राज्य और व्यक्ति की तुलना कई दृष्टिकोणों से की है। एक व्यक्ति के समान राज्य को भी साहस, आत्म-नियन्त्रण तथा न्याय के गुण प्रदर्शित करने होते हैं। राज्य भी व्यक्ति के समान आत्म निर्भर और नैतिक जीवन व्यतीत करता है। राज्य भी नैतिक नियमों का पालन करता है और व्यक्ति के समान ही अपने सदस्यों को नैतिक विधि मानने के लिए बाध्य करता है। उसके अनुसार मानव मस्तिष्क को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—जड़ अवस्था (Vegetative Soul), पशु अवस्था (Animal Soul) एवं बौद्धिक अवस्था (Intellectual Soul)। प्रथम अवस्था में वह केवल जाति को आगे बढ़ाता है, दूसरी अवस्था में उसमें गतिशीलता है और तीसरी अवस्था में उसकी बुद्धि का विकास होता है। अरस्तू राज्य के विकास में मानव मस्तिष्क के उपरोक्त तीनों तत्त्वों से तुलना करता है जो परिवार, ग्राम तथा राज्य के स्वरूप से मिलते-जुलते हैं। राज्य के विकास की तीनों अवस्थाएँ मानव मस्तिष्क की अवस्थाओं की परिचायकाएँ हैं।

अरस्तू के दास-प्रथा सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Views on Slavery)

जबकि प्लेटो की परम्पराओं में आस्था नहीं थी उसके शिष्य अरस्तू की उनमें बहुत श्रद्धा थी। अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' में स्पष्ट लिखा है कि "हमें याद रखना चाहिए कि युग-युग के प्रभाव की उपेक्षा करना हमारे लिए हितकर नहीं हो सकता। यदि ये चीजें अच्छी होतीं तो पिछली अगणित शताब्दियों में वे अज्ञात न रही होतीं।" उसके दासता सम्बन्धी विचार उसकी इसी रूढ़िवादिता के प्रमाण हैं।

दास-प्रथा तत्कालीन यूनानी जीवन का एक विशेष अंग थी। यूनान का आर्थिक ढाँचा इस प्रकार का था कि भूमि का स्वामित्व कुलीन परिवारों के हाथ में था जो परिश्रम नहीं कर सकते थे। उत्पादन के लिए उनके अधीन श्रमिकों का एक बड़ा दल जी-तोड़कर परिश्रम करता था। इन श्रमिकों में अधिकांश दरिद्र व्यक्ति तथा युद्ध बन्दी सैनिक आदि थे। बाहरी देशों से पकड़कर भी इन्हें लाया जाता था। दासों की यह विशाल सेना वास्तव में राष्ट्रीय सम्पत्ति मानी जाती थी क्योंकि इनके परिश्रम पर ही सारा देश जीता था। यूनानी संस्कृति के भव्य प्रासाद की नींव में दासों के श्रम का महत्त्वपूर्ण भाग था। दास-प्रथा यूनानियों के लिए उचित, आवश्यक तथा उपादेय थी और उनकी सभ्यता की प्रतीक भी। कुछ लोगों ने मानवता के नाम पर इस प्रथा का विरोध किया। एण्टीफोन (Antiphon) ने कहा कि यूनानियों तथा बर्बर जातियों की प्राकृतिक बातों में कोई भेद नहीं था किन्तु अरस्तू ने राष्ट्र की मर्यादा अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए इस दास-प्रथा का अनुमोदन किया। नगर-राज्यों की आर्थिक और राजनैतिक आधारशिला दास-प्रथा ही थी जिसे अरस्तू ध्वस्त करना नहीं चाहता था। वह स्वयं कई दासों का स्वामी था। एक यथार्थवादी तथा व्यावहारिक विचारक होने के नाते वह केवल भावनाओं के

तीव्र स्वर से घवड़ाकर राष्ट्र का उत्पादन कम करने अथवा जटिलता बढ़ाने का भी पक्षपाती न था। वह जिनोफोन (Xenophon) के इस विचार का भी समर्थक था कि "मानव-मात्र का यह शाश्वत नियम है कि विजित राज्यों के निवासियों की देह तथा सम्पदा पर विजेताओं का अधिकार होता है।" दास के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' में लिखा है—"स्वामी केवल दास का स्वामी है, वह (स्वामी) उसका दास नहीं है जबकि दास केवल अपने स्वामी का दास ही नहीं बल्कि पूर्ण रूप से उसी का है। जो अपनी प्रकृति से ही अपना नहीं है बल्कि दूसरे का है और फिर भी मनुष्य है, वह निश्चय ही स्वभाव से दास है। वह दूसरे की सम्पत्ति है या उसका कब्जा है और एक कब्जे की परिभाषा यह है कि वह कार्य करने का केवल एक साधन है जो कब्जा करने वाले से पृथक् है।"

अरस्तू का कहना है कि जिस प्रकार मनुष्य सम्पत्ति रखता है उसी प्रकार वह दास भी रखता है। उसके मतानुसार सम्पत्ति दो प्रकार की होती है—

1. सजीव (Animate), 2. निर्जीव (Inanimate)

निर्जीव सम्पत्ति में मकान, खेत और अन्य अचल सम्पत्ति आती हैं जबकि सजीव सम्पत्ति में हाथी, घोड़े अन्य पशु एवं दास आदि सम्मिलित हैं। किसी भी परिवार की सफलता और उसके कल्याण के लिए इन दोनों ही प्रकार के उपकरणों का होना आवश्यक है।

अरस्तू दास को एक पारिवारिक' सम्पत्ति मानता है। उसकी दृष्टि में परिवार के लिए दास अधिक आवश्यक है, क्योंकि वह एक सजीव सम्पत्ति है जो परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक है। "सम्पत्ति वास्तव में सजीव और निर्जीव उपकरणों का समूह है। दास सम्पत्ति का सही उपकरण है और जिस प्रकार कुछ उपकरण अन्य उपकरणों से बढ़े-चढ़े होते हैं उसी प्रकार दास, जो कि सजीव उपकरण हैं, अन्य निर्जीव उपकरणों की तुलना में अग्रणी है। निर्जीव उपकरणों से तभी काम लिया जा सकता है जब उनसे पहले सजीव उपकरण विद्यमान हों।"[1] दास के सम्बन्ध में अरस्तू के विचारों को प्रकट करने वाला बार्कर का यह कथन उल्लेखनीय है कि "उत्पादन और कार्य करने में जो अन्तर है, उसका आधार अरस्तू की वह विचारधारा है जिसके अनुसार उत्पादन व्यक्ति के उस कारण का परिणाम है जो उसे उस कार्य की समाप्ति के पश्चात् मिलता है। किन्तु यह कार्य जब सेवा के रूप में किया जाता है तो उसका परिणाम काम के समाप्त होने पर, काम की सफलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। जीवन भी हमारा एक काम है न कि काम का एक परिणाम, अतः एक दास काम के वातावरण के मध्य केवल एक सेवक है।"

दास प्रथा के आधार

अरस्तू ने दास प्रथा के नैतिक और भौतिक दोनों पक्षों का समर्थन करते हुए उसके औचित्य को निम्नानुसार सिद्ध किया है—

1 *Aristotle* : Politics (Barker's Trans.), pp. 10-11.

1. **दास प्रथा एक स्वाभाविक व्यवस्था है**—अरस्तू के मतानुसार दास प्रथा प्राकृतिक है। "प्रकृति ने मनुष्यों को मोटे रूप मे दो समूहो मे बाँटा है, जिनकी आत्माओं मे प्रकृति ने शासन करने व आज्ञा मानने का सिद्धान्त जमाया है। जो मनुष्य आज्ञा मानने के लिए पैदा हुए है वे प्रकृति के दास है और ऐसे मनुष्यो को अधीनता मे रखना न्यायपूर्ण है।.........और चूंकि कुछ व्यक्ति प्रकृति से दास होते हैं और दूसरे स्वतन्त्र होते हैं, अतः स्पष्ट है कि जहाँ किसी व्यक्ति के लिए दासता लाभप्रद हो वहाँ उसे दास बनाना न्यायपूर्ण है।[1] अरस्तू का कहना है कि प्रकृति मे सर्वत्र ही यह नियम दृष्टिगोचर होता है कि उत्कृष्ट निकृष्ट पर शासन करता है। मनुष्य मे स्वाभाविक रूप से असमानता होती है। सभी मनुष्य एक सी बुद्धि, योग्यता अथवा कौशल लेकर उत्पन्न नही होते। कुछ व्यक्ति श्रेष्ठतम परिस्थितियों मे भी मूर्ख और अकुशल रहते हैं। दासता इसी प्राकृतिक असमानता का परिणाम है। मूर्ख और बुद्धिहीन व्यक्ति दास बनने के योग्य हैं और कुशल तथा बुद्धिमान् व्यक्ति स्वामी बनने के। अरस्तू कहता है कि विषमता प्रकृति का नियम है, कुछ व्यक्ति जन्म से स्वामी तो कुछ अन्य जन्म से दास होते हैं। कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए पैदा होते हैं तो कुछ शासित होने के लिए। कुछ आज्ञा देने के लिए जन्म लेते हैं और कुछ आज्ञा पाने के लिए। आज्ञा देने वाला स्वामी और आज्ञा पाने वाले दास होते हैं। शासक और शासित या स्वामी और सेवक का यह अन्तर सारी जड़ चेतन प्रकृति मे व्याप्त है। प्रकृति ने जिन्हे स्वामी बनाया है उनमे बौद्धिक बल की और जिन्हे दास बनाया है उनमे शारीरिक बल की प्रधानता होती है। अरस्तू के शब्दो मे "प्रकृति स्वतन्त्र पुरुष और दास के शरीरो मे भेद करना चाहती है, अत. वह एक (दास) के शरीर को आवश्यक सेवा-कार्यों के लिए बलवान बनाती है तथा स्वतन्त्र पुरुष के शरीर को सरल और सीधा बनाती है, चूंकि वह शारीरिक श्रम के लिए बेकार होता है।" इस तरह बौद्धिक असमानता और शारीरिक क्षमता के आधार पर यह दास-स्वामी सम्बन्ध प्रारम्भ हुआ।

2 **दास प्रथा दोनों पक्षों को लाभकारी**—अरस्तू दास प्रथा को इस दृष्टि से भी न्यायोचित ठहराता है कि यह न केवल स्वामी के लिए अपितु दास के लिए भी उपयोगी और लाभकारी है। बुद्धिमान और विवेकी-स्वामियो को राजकार्य एव अन्य गुप्तचर कार्य चलाने के लिए तथा अपने बौद्धिक और नैतिक गुणों के विकास के लिए समय और विश्राम की आवश्यकता होती है। यह अवकाश उन्हे तभी मिल सकता है जब उनकी आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु दास श्रम करे। यदि स्वामियो को शारीरिक और क्षुद्र काम स्वय करना पड़े तो उनकी नैतिक और बौद्धिक उन्नति कभी नही हो सकती। राज्य की उन्नति के नियमो का निर्धारण और सचालन तथा सस्कृति के निर्माण के लिए स्वामियो को पर्याप्त समय चाहिए। दास उनके खेतो मे कार्य कर और उनके अन्य घरेलू कार्यों को निपटा कर उनके

1 *Doyle* : History of Political Thought, p. 39-40.

कार्य के बोझ को हल्का करते है तथा उन्हें विकास और उन्नति के लिए आवश्यक समय और विश्राम प्रदान करते है। वास्तव में जिस प्रकार एक संगीतज्ञ संगीत यन्त्रों के अभाव में उत्तम संगीत की निष्पत्ति नहीं कर सकता, उसी प्रकार एक गृहस्थ अर्थात् स्वामी दासो के बिना सुखी एवं सुसंस्कृत जीवनयापन नहीं कर सकता। अत स्वामी के दृष्टिकोण से दास-प्रथा उचित है।

स्वामी के साथ-साथ दास के दृष्टिकोण से भी यह प्रथा उतनी ही उपयोगी है। दास निर्बुद्धि और अयोग्य होते है जिनमें समझ और विवेक का अभाव होता है। वे संयम और ज्ञान से परिचित नही होते अत उनका कल्याण तभी सम्भव है जब वे योग्य तथा संयमी एवं विवेकपूर्ण स्वामियो के संरक्षण मे रहे। अरस्तू के मत मे दास की स्थिति एक बच्चे के समान है। यदि माता-पिता बच्चे पर ध्यान न दें तो उसका समुचित विकास नहीं हो सकता। उचित निर्देशन के अभाव मे बच्चा अधिक या अभक्ष्य (न खाने योग्य) भक्षण से या अनुचित कार्यों से अपने को हानि पहुँचा सकता है। ठीक उसी प्रकार दास भी अविवेकशील प्राणी होने के कारण अपना अहित कर सकता है अत यह उचित और आवश्यक है कि दास स्वामी के संरक्षण मे रहते हुए उससे प्रेरणा और मार्ग-दर्शन पाता रहे। इस प्रसंग मे अरस्तू पालतू जानवरों का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। उसका कथन है कि मानवीय अनुशासन मे रहने के कारण ही वन्य पशु भी अनेक अच्छी बातें सीख जाते हैं और यही बात दासों पर भी लागू होती है।

इस तरह अरस्तू के अनुसार दास के बिना स्वामी और स्वामी के बिना दास निरुपाय, असहाय तथा संत्रस्त रहेंगे इसलिए दास-प्रथा अनिवार्य है। शारीरिक पृथक्त्व (Physical sep iration) होने पर भी दास स्वामी के शरीर का एक अंग या जीवांश है।[1]

3 अरस्तू नैतिक दृष्टि से भी दास-प्रथा को आवश्यक मानता है। उसका मत है कि स्वामी तथा दासों के नैतिक स्तर मे पर्याप्त मात्रा मे भेद होता है। स्वामी गुणी और दास गुणहीन होते है। अत स्वामी का कर्तव्य है कि वह दासो के प्रति स्नेहपूर्ण और दयालु रहे तथा दास का काम है कि वह स्वामी की आज्ञा का पालन करे। दासो मे गुणो की सृष्टि होना तभी स्वाभाविक है जबकि स्वामी और दास दोनो का सम्पर्क हो एवं स्वामी दास का सम्बन्ध हो। प्रकृति से दास मे संयम के सच्चे गुण (True Virtue of Temperance) का अस्तित्व कभी नही हो सकता अर्थात् उसमें इतनी क्षमता नही होती कि वह अपने विवेक से अपनी वासनाओं या क्षुधाओ को शासित कर सके। परन्तु वह एक संयमी स्वामी के अधीन रह कर उसके आदेशों का पालन करते हुए एक प्रकार का संयम (Derivative Temperance) प्राप्त कर सकता है। उसके सामने मानव-गुणो के पूर्ण और

1 "A slave is animated part of master's body though physically separate."
—*Aristotle*

निम्नतर रूपों के बीच चयन या छांट का प्रश्न नहीं है अपितु उसके सामने तो गुणों के निम्नतर रूप अथवा उसके अभाव में चयन या छांट का प्रश्न है।

दासता के प्रकार

अरस्तू दास-प्रथा पर विचार करते हुए दासता के दो प्रकार बताता है

1. स्वाभाविक दासता (Legal Slavery)
2. वैधानिक दासता (Natural Slavery)

जो व्यक्ति जन्म से ही मन्दबुद्धि, अकुशल एवं अयोग्य होते हैं वे स्वाभाविक दास (Legal Slavery) होते हैं। किसी भी राज्य में इस प्रकार की दासता स्वाभाविक दासता है। इसके अतिरिक्त युद्ध में अन्य राज्य को पराजित कर लाए गए बन्दी भी दास बनाए जा सकते हैं। युद्ध-बन्दियों की इस प्रकार की दासता वैधानिक दासता कहलाती है किन्तु इस प्रकार की दासता को अरस्तू यूनान निवासियों पर लागू नहीं करता। उसके अनुसार यूनान निवासी युद्ध में पराजित होने के बाद भी दास नहीं बनाए जा सकते क्योंकि प्रकृति ने उन्हें दास नहीं बल्कि स्वामी बनने के लिए पैदा किया है। तर्कशास्त्र के पण्डित अरस्तू का यह तर्क रूढ़िवाद से टकरा कर यहाँ देश-काल की परिस्थिति के बाहर कुतर्क-सा लगता है। अरस्तू ने सैद्धान्तिक रूप से वैधानिक दासता को अमान्य ठहराया है। वह विजित देशों को बलपूर्वक सामूहिक दास बनाने के विधि-सम्मत अधिकार का इस आधार पर विरोध करता है कि युद्ध में ऐसे व्यक्ति भी पकड़े जा सकते हैं जो नैतिक और बौद्धिक गुणों की दृष्टि से उत्कृष्ट हों। ऐसे व्यक्ति दास नहीं बनाए जाने चाहिए फिर कई बार युद्ध अन्यायपूर्ण कारणों से भी आरम्भ किए जाते हैं अतः ऐसे युद्ध में बन्दियों को दास बनाना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।

दास-प्रथा के बारे में अरस्तू की मानवीय व्यवस्था

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दास-प्रथा का पक्ष पोषक होने पर भी अरस्तू इस सम्बन्ध में कुछ ऐसी मानवीय व्यवस्थाएँ करता है जिनके कारण दास-प्रथा द्वारा होने वाले अन्यायों और दोषों का कुछ अंशों तक प्रतिकार हो जाता है—

(क) अरस्तू की पहली व्यवस्था यह है कि स्वामी और दास के हित समान हैं और दास-प्रथा का उद्देश्य दोनों का ही हित साधन है अतः स्वामियों को अपने अधिकारों का दुरुपयोग न करते हुए दासों के प्रति स्नेह एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखना चाहिए। अरस्तू क्रूर दास-प्रथा का समर्थक नहीं है। वह दास और स्वामी के सम्बन्ध को माधुर्यपूर्ण और सहयोगियों के रूप में देखना चाहता है। उसके अनुसार स्वामी का कर्त्तव्य है कि दास की भौतिक और शारीरिक सुविधाओं का ध्यान रखे।

(ख) अरस्तू दासों की संख्या बढ़ाने के पक्ष में नहीं है। वह उनकी संख्या आवश्यकतानुसार सीमित करना चाहता है।

(ग) अरस्तू की तीसरी व्यवस्था उसकी यह धारणा है कि दासता प्राकृतिक गुणों के कारण होती है उसका कोई कानूनी पक्ष नहीं है अतः इसे वंश-परम्परागत होने का रूप नहीं दिया जाना चाहिए। दास की सन्तान सदैव ही दास नहीं होती।

यदि उसमें विवेक-शक्ति है तो वह दास नहीं है। दास को योग्य और बुद्धिमान सन्तान को मुक्त कर दिया जाना चाहिए।

(घ) अरस्तू का मत है कि समस्त दासों को अपने सम्मुख स्वतन्त्रता प्राप्ति का अन्तिम ध्येय रखना चाहिए।

अरस्तू की दास-प्रथा की धारणा की आलोचना
(Criticism of Aristotle's Conception of Slavery)

अरस्तू ने दास-प्रथा सम्बन्धी जो विचार प्रकट किए हैं, उनका समर्थन करना बड़ा अप्राकृतिक और अनुचित-सा लगता है। दास-प्रथा को आवश्यक मानना, समानता और स्वतन्त्रता के वर्तमान मौलिक अधिकारों के प्रतिकूल अनुभव होता है। मानवता के आधार पर किसी भी रूप में दास-व्यवस्था समर्थनीय नहीं है। फिर, अरस्तू द्वारा प्रतिपादित दासता का सिद्धान्त स्वयं अनेक त्रुटियों से भरा है। अरस्तू की दास-प्रथा सम्बन्धी समग्र धारणा की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जा सकती है—

(1) अरस्तू की दासता की परिभाषा के अनुसार कुछ व्यक्ति आज्ञा देने के लिए तथा कुछ आज्ञा मानने के लिए पैदा होते हैं। कुछ शासन करने के लिए जन्म लेते हैं तो कुछ शासित होने के लिए। ये शासित और आज्ञा-पालक व्यक्ति अरस्तू के मत में दास हैं। यदि इस धारणा को स्वीकार कर लिया जाए तो आज के औद्योगिक युग में अधिकांश व्यक्ति दास की स्थिति में आ जाएँगे जबकि वास्तव में ऐसा है नहीं।

(2) दास-प्रथा प्राकृतिक नहीं है। मनुष्य में विभिन्नता तथा बुद्धि की कुशाग्रता में अन्तर होते हुए भी, एक प्राकृतिक समानता होती है जिसकी अवहेलना करना मानव व्यक्तित्व का अपमान करना है। 'पॉलिटिक्स' में दास-प्रथा के वर्णन को देख कर मैक्सी (Maxey) ने ठीक ही कहा है कि इस पुस्तक को भी अवैध घोषित कर दिया जाना चाहिए।[1]

(3) अरस्तू के मत में दास वर्ग को शारीरिक शक्ति अधिक प्राप्त होती है लेकिन इसके साथ ही उसने यह भी सम्भव माना है कि कभी-कभी यह शारीरिक शक्ति भी नहीं होती है।

(4) रॉस (Ross) के अनुसार अरस्तू का मानव-जाति को विवेक और गुणों तथा शासक और शासित के आधार पर दो वर्गों में विभाजित करने के विचार का समर्थन नहीं किया जा सकता। यह वर्गीकरण सर्वथा कृत्रिम और अस्वाभाविक है। शासित व्यक्ति वस्तुतः बुद्धि-शून्य नहीं होते। आज्ञापालन करने वाले मूर्ख नहीं कहलाए जा सकते। फिर अरस्तू स्वयं यह स्वीकार करता है कि दासों में स्वामी के आदेश को समझने और पालन करने की बुद्धि होनी चाहिए। साथ ही वह यह भी

[1] "For his subversive hereby the Politics of Aristotle, probably deserves to be placed among forbidden books." —Maxey

कहता है कि दासो के साथ दासो जैसा नही अपितु मनुष्य की तरह मैत्रीपूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए। जब अरस्तू दास को मनुष्य मानता है तो उसे सभी दृष्टियो से मनुष्य ही मानना चाहिए। बार्कर ने ठीक ही लिखा है—"यदि दास को किसी दृष्टि से भी मनुष्य समझा जाता है तो उसे सभी दृष्टियों से मानव मानना होगा और यदि उसे मनुष्य मान लिया जाए तो, यह उसे पूर्णरूपेण बुद्धि-शून्य दास मानने की उस धारणा का खण्डन करना होगा जिसके आधार पर अरस्तू ने उसके दास बनाए रखने को न्यायोचित ठहराया है।"

(5) अरस्तू चाहता है कि दास अपने व्यक्तित्व को स्वामी के व्यक्तित्व मे लीन कर दे किन्तु मनोवैज्ञानिक आधार पर यह सर्वथा असम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी कुछ अनुभूतियाँ होती हैं, कुछ इच्छाएँ और भावनाएँ होती हैं, तब भला दास द्वारा अपने व्यक्तित्व का स्वामी के व्यक्तित्व मे सम्पूर्ण विलय किस प्रकार किया जा सकता है। किन्ही विशेष परिस्थितियो के अन्तर्गत वह अपना शारीरिक समर्पण भले ही करदे, लेकिन मानसिक-स्तर से वह किसी के समक्ष अपना समर्पण नही कर सकता।

(6) अरस्तू यह सिद्ध करने मे सर्वथा असफल रहा है कि स्वामित्व प्राप्त करने का अधिकारी कौन है और दासता का कौन? जब तक यह स्पष्ट न हो जाए कि दासता तथा स्वामित्व के तत्व किस मे हैं और किस मे नहीं, तब तक स्वामी और दास का निर्णय नही किया जा सकता। पुन यह भी स्पष्ट नही है कि इस बात का निर्णय कौन करेगा कि कौन योग्य है और कौन अयोग्य? यदि 'योग्य का अयोग्य पर शासन' का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय तो यह निर्णय करना प्रायः असम्भव होगा कि कौन किस पर शासन करे, क्योंकि योग्यता और बुद्धिमत्ता की दृष्टि से सभी मे कुछ-न-कुछ अन्तर होता है। प्रत्येक व्यक्ति योग्यता मे किसी से कम तथा किसी अन्य से अधिक होगा।

(7) अरस्तू एक ओर तो दासता को प्राकृतिक बताता है और दूसरी ओर कहता है कि दासता से मुक्ति भी मिल सकती है। अरस्तू के ये परस्पर विरोधी विचार हैं। वह यह बताने का कष्ट भी नही करता कि जब किसी को प्रकृति द्वारा ही दास बनाकर इस ससार मे पैदा किया गया है तो उसकी दासता से मुक्ति कैसे हो सकती है।

(8) दास-प्रथा के समर्थन द्वारा अरस्तू समानता और स्वतन्त्रता के मानवीय सिद्धान्तो पर भीषण आघात करता है। उसका यह विचार अन्यायपूर्ण है कि जो व्यक्ति राज्य की प्राथमिक और भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं उन्हीं को राज्य द्वारा प्रदत्त अन्य सुविधाओ से वचित कर दिया जाय। अरस्तू दासो की उत्पत्ति स्वाभाविक बतलाकर समाज मे दो विरोधी दल बना देता है जो अशान्ति करने मे बहुत हद तक सहायक होते हैं।

(9) अरस्तू के दास-प्रथा सम्बन्धी विचार अवैज्ञानिक हैं। वह मनुष्यों पर पशुओ के उदाहरण ढालता है। कोई भी प्रथा जो मनुष्य को पशु-तुल्य समझते हुए

उसका मान-नीय कर। जो अनुमति देती हो, कभी भी वैज्ञानिक नहीं हो सकती। दासों का जीवन पशु-तुल्य बताते हुए स्वामी के साथ पारस्परिक दायित्व का निरूपण भी अपने आप में विरोधाभास है।

उपरोक्त सभी तथ्यों के आधार पर अरस्तू की दास-प्रथा सम्बन्धी धारणा कटु आलोचना की पात्र है और अन्याय है। इसमें प्रकट होता है कि उस जैसा महान् दार्शनिक भी अपनी समकालीन संस्थाओं और उन्हें तर्क-सगत सिद्ध करने वाले पूर्वाग्रहों से ग्रस्त था।[1] अरस्तू के पक्ष में केवल यही कहा जा सकता है कि दासों को तत्कालीन सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए आवश्यक मानते हुए भी उसने इस प्रथा में सुधार करने के बहुत प्रयत्न किए। उसने परम्परागत दास-प्रथा का विरोध किया और केवल उन्हीं व्यक्तियों को दास बनाने के योग्य माना जो प्रकृति द्वारा इस योग्य हों। उन्हें दासता से छुटकारा पाने के लिए भी सैद्धान्तिक स्पष्टता का परिचय दिया। क्रूर दास-प्रथा का विरोध करके उसने नैतिकता का ध्यान रखा, चाहे इस नैतिकता और मानवीयता का अनुपात कितना ही क्यों न हो।

अरस्तू के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Views on Property)

अरस्तू ने सम्पत्ति की परिभाषा करते हुए उसे राज्य के प्रथक् प्रयोग में लाए जाने वाले साधनों का सामूहिक नाम बताया है। बिना सम्पत्ति के कोई भी परिवार अपने जीवन को व्यवस्थित तथा आनन्दपूर्वक व्यतीत नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में साध्य और सुसंस्कृत परिवार की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सम्पत्ति सम्बन्धी विचार व्यक्त करते हुए अरस्तू ने लिखा है कि सम्पत्ति परिवार का एक आवश्यक अंग है जिसके बिना दैनिक-जीवन सम्भव नहीं है। मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिवार की भाँति सम्पत्ति की आवश्यकता भी स्वाभाविक है। सम्पत्ति, जो परिवार का आवश्यक अंग है, उसका स्वामित्व जरूरी है। सम्पत्ति और परिवार मानव को प्रकृति-दत्त हैं। मनुष्य को क्षुधा शान्त करने को भोजन चाहिए, निवास के लिए मकान एवं प्रकृति द्वारा प्रवस्थित सर्दी-गर्मी से बचने के लिए वस्त्र। ये सब सम्पत्ति के ही भाग हैं। अरस्तू ने प्लेटो के सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद की कटु आलोचना की है। उसका मत है कि "प्लेटो ने सम्पत्ति के महत्त्व और गुणों की अवहेलना की है तथा उसने मानव-प्रकृति का सही अध्ययन नहीं किया है।

अरस्तू ने सम्पत्ति को दो भागों में विभक्त किया है—

1. निर्जीव (Inanimate)—इस सम्पत्ति में धन, मकान, खेत, खलिहान आदि आवश्यक जड़ वस्तुओं का संग्रह है।

2. सजीव (Animate)—इस सम्पत्ति में दास, सेवक आदि आते हैं। उपरोक्त दोनों प्रकार की सम्पत्ति परिवार के लिए उपयोगी है।

1 Ebenstein · Great Political Thinkers, p. 73

अरस्तू ने सम्पत्ति, परिवार तथा संविधान सम्बन्धी सभी क्षेत्रों में उग्र मार्ग न अपनाते हुए मध्य-मार्ग अपनाया है। एक ओर सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व का समर्थन करता है, तो दूसरी ओर वह अत्यधिक सम्पत्ति-संचय का भी समर्थन नहीं करता। अरस्तू सम्पत्ति को कुछ सीमाओं के अन्तर्गत रखना चाहता है। सम्पत्ति साधन है, व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी करता है अतः उसका उत्पादन उसी सीमित मात्रा तक होना चाहिए जहाँ तक हमारी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। ई. एम. फोस्टर के शब्दों में, "अपना कार्य करने के लिए हथौड़ा भारी होना चाहिए, परन्तु हथौड़ा बनाने वाला उस हथौड़े को अधिक से अधिक भारी बनाने का इच्छुक नहीं होगा। जिस कार्य के लिए हथौड़े में भार की आवश्यकता होती है, वही कार्य उस भार को सीमित कर देता है। एक लुहार उस सीमा का पालन करेगा।"[1] अरस्तू का कहना है कि सम्पत्ति का महत्त्व उसके उद्देश्य द्वारा निश्चित किया जाता है। अतः उसका संग्रह उतना ही होना चाहिए जितना एक श्रेष्ठ जीवन के लिए अपेक्षित हो। सम्पत्ति के पीछे पागलों की भाँति भागना किसी भी समाज के पतन का कारण हो सकता है। सम्पत्ति एक साध्य नहीं, साधन है अतः साधन का उपभोग साध्य को ध्यान में रख कर उसी के अनुरूप होना चाहिए।

अरस्तू सम्पत्ति के लिए दो विशेषताएँ बताता है—

(1) समाज में उसकी प्रतिष्ठा स्थापित हो अर्थात् नागरिकों की दृष्टि में वह स्वीकृति प्राप्त कर चुकी हो।

(2) राज्य की ओर से सम्पत्ति के संरक्षण की उचित व्यवस्था हो।

उपरोक्त दोनों बातें सम्पत्ति के मापदण्ड हैं। अरस्तू उस सम्पत्ति को व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं मानता जिस पर केवल व्यक्ति का अधिकार हो। सामाजिक नियन्त्रण रहित उस पर न रहे किन्तु समाज द्वारा ऐसी व्यवस्था कर दी गई हो कि कोई भी नागरिक अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रयोग अपने व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित के लिए कर सके।

सम्पत्ति का उपार्जन (Acquisition of Property)

सम्पत्ति जीवन के नैतिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए है अतः उसकी प्राप्ति भी नैतिक तथा उचित उपायों द्वारा की जानी चाहिए। उसके अनुसार सम्पत्ति के उपार्जन के दो ढंग हैं—

(1) **मानवीय एवं प्राकृतिक ढंग**—इस प्रकार के सम्पत्ति-उपार्जन में प्रकृति की सहायता लेकर मनुष्य अपने परिश्रम द्वारा अग्रसर होता है। भूमि में अनाज पैदा करके अथवा पशु चरा कर मनुष्य इस सम्पत्ति का उपार्जन करता है। कृषि के अन्तर्गत सभी खाद्य फसलें और अन्न या औद्योगिक फसलें आती हैं। सम्पत्ति का यह उत्पादन जीवन के साथ-साथ होता रहता है और भौतिक जगत में जो भी वस्तुएँ हम देखते हैं ये सब इसी श्रेणी में आती हैं। मनुष्य के जीवन में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है और वह प्राचीनकाल से ही इस सम्पत्ति का उत्पादन करता चला आ रहा है।

(2) **दानवीय अथवा अप्राकृतिक ढंग**—इस उपार्जन में प्रकृति का कोई हाथ नहीं होता पर लाभ के लालच में मनुष्य की सहायता से प्राप्त किया जाता है। ऋण दे कर ब्याज कमाना, व्यापार में लाभ कमाना आदि ऐसे रूप हैं जो सम्पत्ति-अर्जन के दानवीय रूप के उदाहरण हैं। इस प्रकार की सम्पत्ति से उत्पादन में मनुष्य अपनी मानवीयता का परित्याग करके दानवीय रूप ग्रहण कर सकता है। यहाँ पर उसके समक्ष धर्म की भावना विद्यमान नहीं रहती। जब लक्ष्य केवल धन कमाना और अपरिमित सम्पत्ति का संग्रह करना हो तो यह नितान्त अप्राकृतिक एवं निन्दनीय हो जाता है। अरस्तू सूदखोर को हेय दृष्टि से देखता है, क्योंकि इसमें धन द्वारा दूसरों की विवशता, दरिद्रता और दुर्बलता का लाभ उठाकर अधिक धन पैदा किया जाता है। अरस्तू के ही शब्दों में—"वित्तोपार्जन का सबसे अधिक घृणित उपाय सूद लेना है और इसका निकृष्ट होना नितान्त युक्तिसंगत है क्योंकि इस पद्धति में मुद्रा का उपयोग करने वाली विनिमय पद्धति से लाभ कमाने की अपेक्षा स्वयं मुद्रा से ही लाभ कमाया जाता है। मुद्रा का प्रचलन विनिमय के साधन के रूप में हुआ था, न कि सूद खाकर धन बढ़ाने के लिए।"""""अतएव धन कमाने के उपायों में सूद लेना सबसे अधिक अप्राकृतिक उपाय है।"[1] अरस्तू के अनुसार अत्यधिक सम्पत्ति किसी भी दशा में मानव-हितकारी नहीं बन सकती।

सम्पत्ति का विनिमय (Exchange of Property)

अरस्तू के अनुसार सम्पत्ति के विनिमय के दो रूप हैं नैतिक (Moral Exchange) और अनैतिक (Immoral Exchange)। सम्पत्ति का विनिमय न्याय सिद्धान्त को ध्यान में रख कर ही होना चाहिए। न्याय-सिद्धान्त यह है कि सम्पत्ति के विनिमय से अधिकाधिक मनुष्यों को लाभ हो। अरस्तू का आग्रह है कि न केवल सम्पत्ति के उपार्जन में ही वरन् उसके विनिमय में भी सदैव नैतिकता का ध्यान रहना चाहिए और वस्तुओं के आदान-प्रदान का आधार समान मूल्य होना चाहिए। एक वस्तु का उतना ही मूल्य होना चाहिए जितना एक व्यक्ति अपनी वस्तु का मूल्य दूसरे से प्राप्त करता है। किसी की विशेषताओं से अनुचित लाभ उठा कर विनिमय करना नितान्त हेय है। इस प्रकार के विनिमय के परिणामस्वरूप समाज में एक बिचवनिया वर्ग पैदा हो जाता है। यह वर्ग लोगों की अतिरिक्त वस्तुओं के क्रय-विक्रय से अच्छा लाभ कमा लेता है। इस तरह समाज में व्यापार का विनिमय इने-गिने लोगों के हाथ का क्रीडा-कन्दुक बन जाता है। ऐसा विनिमय अनैतिक है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अनैतिक विनिमय पर कठोर नियन्त्रण रखे। राज्य की सत्ता शुभ जीवन के लिए है, "विनिमय में सुविधा प्रदान करने तथा आर्थिक सम्पर्क में वृद्धि करने के लिए नहीं।"[2]

1 *Barker* The Politics of Aristotle, p. 28–29.

2 "It is not the end of the State to ease exchange and promote economic intercourse" —*Aristotle* : Politics, p. 118.

सम्पत्ति का वितरण

अरस्तू के अनुसार सम्पत्ति-विभाजन के तीन प्रकार हैं—

1 सार्वजनिक अधिकार और सार्वजनिक प्रयोग
(Common ownership & Common use)
2. सार्वजनिक अधिकार और व्यक्तिगत प्रयोग
(Common ownership & Individual use)
3. व्यक्तिगत अधिकार और सार्वजनिक प्रयोग
(Individual ownership & Common use)

दूसरी प्रकार के विभाजन को तो कोई भी विचारक स्वीकृत नही करेगा इसीलिए अरस्तू ने पहले और तीसरे प्रकार के विभाजनो की परीक्षा की है और पहले का खण्डन करके तीसरे प्रकार के विभाजन का समर्थन किया है। अरस्तू ने प्रथम प्रकार का खण्डन यह कह कर किया है कि जो वस्तु सभी की है, वह किसी की नही है, क्योंकि जिस सम्पदा के सभी स्वामी होते है उसकी ओर सभी लापरवाही करते हैं, और जिस कार्य मे मनुष्य अपनत्व दिखाता है, वह काम अधिक उत्साह, तत्परता तथा कुशलता से किया जाता है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक स्वामित्व मे कलह तथा संघर्ष उत्पन्न होने की बडी आशंका रहती है।

अरस्तू ने सम्पत्ति के तीसरे विभाजन को व्यावहारिक तथा लाभदायक बताते हुए कहा है कि व्यक्तिगत स्वामित्व से सम्पत्ति का उत्पादन बढेगा। उसमे उदारता, दानशीलता तथा आतिथ्य-सत्कार जैसे सद्गुणो का अभ्युदय होगा।" अरस्तू मनुष्य की नैतिक इच्छाओ की पूर्ति के लिए भी निजी सम्पत्ति का होना अनिवार्य मानता है। वह कहता है कि जिस नागरिक के पास कुछ भी निजी सम्पदा नहीं है और जो राज्य को कुछ भी दे नही सकता, उसके लिए एक सम्पूर्ण नागरिक जीवन व्यतीत करना असम्भव ही नही है वरन् वह उससे वंचित ही रहता है। उसके अनुसार निजी सम्पत्ति वह दर्पण है जिसमे व्यक्ति अपना स्वय का प्रतिबिम्ब देखता है। इस प्रकार अरस्तू सम्पत्ति के व्यक्तिगत आधिपत्य के सिद्धान्त का समर्थन करता है। साथ ही वह निजी सम्पत्ति के सिद्धान्त द्वारा मनुष्य को अधिक से अधिक नैतिक बनाना चाहता है और सार्वजनिक कल्याण के लिए उसके उपभोग पर बल देता है। यहाँ एक बात और भी है कि अरस्तू न केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति की ही स्वीकृति देता है अपितु उसके वितरण मे कुछ हद तक असमानता को भी आवश्यक मानता है क्योकि उसके विचार मे धन का असमान वितरण जनसेवा का अवसर प्रदान करता है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी वह निजी सम्पत्ति को मर्यादित ही रखना चाहता है, इस भय से कि अत्यधिक असमानता से कही वर्ग-संघर्ष न उत्पन्न हो जाए।

अरस्तू का सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और सार्वजनिक उपयोग गांधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का स्मरण कराता है जिसमे एक व्यक्ति सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी पूर्णत उसके उपभोग का अधिकारी नही होता। परन्तु व्यावहारिकता की कसौटी पर, प्लेटो के साम्यवाद का आलोचक यथार्थवादी अरस्तू यह भूल गया

कि अनजाने ही वह आदर्श के मार्ग पर चल रहा है क्योंकि सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और उसका सामूहिक उपभोग लगभग अव्यावहारिक है। अरस्तू के सम्पत्ति सिद्धान्त पर डनिंग की टिप्पणी है कि उसने उत्पादन और विनिमय के प्रारम्भिक विचारों को उचित ढंग से प्रस्तुत किया है तथा सम्पत्ति के प्रयोग और विनिमय के महत्त्व के अन्तर को भी समझाने में वह सफल हुआ है, वह पूँजी के महत्त्व का मूल्यांकन करने में पूर्णतः असफल हुआ है और इसीलिए सूद (*Interest*) के बारे में उसके विचार अतिप्राचीन और असंगत (*Very primitive and absurd*) है।[1]

अरस्तू के परिवार सम्बन्धी विचार
(*Aristotle's Views on Family*)

अरस्तू ने सम्पत्ति और परिवार को व्यक्तिगत विशेषताएँ माना है। उसने सम्पत्ति को परिवार के लिए आवश्यक बताया है, अतः सम्पत्ति पर विवेचना करने के उपरान्त उसके परिवार सम्बन्धी विचारों की व्याख्या करना आवश्यक है।

अरस्तू के अनुसार परिवार सामाजिक जीवन का प्रथम सोपान है। यह वह आधारशिला है जिस पर सामाजिक जीवन का विशाल भवन स्थिर रहता है। यहीं से व्यक्ति का जीवन प्रारम्भ होता है। परिवार नागरिकों की प्रथम पाठशाला है। परिवार में बालक माता की गोद और पिता के संरक्षण में पालित-पोषित होकर नागरिकता की प्रथम शिक्षा ग्रहण करता है और यहीं पर उसे जीवन-संग्राम से लड़ने के लिए तैयार किया जाता है। परिवार में की गयी तैयारी ही उसकी भावी सफलता या विफलता का कारण बनती है। अपने जन्म के समय से ही व्यक्ति समाज के सूक्ष्म भाग परिवार का अंग बन जाता है। वास्तव में परिवार एक छोटा समाज है जहाँ मनुष्य के जीवन को शिक्षित होने का अवसर मिलता है। व्यक्तित्व का विकास परिवार रूपी समाज में प्रस्फुटित होता है।

जहाँ प्लेटो परिवार को प्रगति के मार्ग में एक व्यवधान, एक बाधा मानता है, वहाँ अरस्तू परिवार को उचित, आवश्यक और प्रेरणा का स्रोत समझता है। उसकी दृढ़ मान्यता है कि आत्मरक्षा, आत्माभिव्यक्ति और मनुष्य की यौन-भावनाओं की सन्तुष्टि के कारण परिवार सर्वथा स्वाभाविक और आवश्यक है। मनुष्य का स्नेह, ममता, वात्सल्य और प्रेम की गंगा में स्नान करना परिवार में रहकर ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं। विकास और प्रगति के मार्ग को प्रशस्त करने वाली सबसे पहली संस्था इस परिवार का जन्म, भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा अन्य भावनाओं की सन्तुष्टि के लिए हुआ है।

अरस्तू के अनुसार परिवार एक त्रिकोणात्मक सम्बन्धों का स्वरूप है। "पति और पत्नी, स्वामी और दास तथा माता-पिता और सन्तान—इन तीन सम्बन्धों के परस्पर नियमानुसार व्यवहार का नाम ही परिवार है।" परिवार के वृहत्तर रूप को ही हम राज्य कह सकते हैं क्योंकि राज्य एक ऐसा समुदाय है जिसमें अनेक परिवार

1 *Dunning* : History of Political Theories, Ancient & Medieval, p. 61.

होते हैं। मनुष्य की राजनीतिक यात्रा में परिवार पहली सीढ़ी है। परिवारों से मिलकर ग्राम और ग्रामों से मिलकर नगर राज्य बनता है। परिवार अथवा राज्य के अभाव में न व्यक्ति का विकास हो सम्भव है और न उसकी कोई सत्ता ही है। परिवार की सदस्यता नैसर्गिक है। व्यक्ति जन्म से ही परिवार का सदस्य हो जाता है अतः इसकी सदस्यता के लिए विचार करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अरस्तू के अनुसार परिवार का स्वरूप पैतृक है और परिवार के समस्त सदस्यों का कार्य अलग अलग होता है। पुरुष परिवार का संचालक और शासक है। वह स्त्री की अपेक्षा अधिक गुणवान और समर्थ होने के कारण परिवार पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। दास निर्बुद्धि और विवेकशून्य होता है अतः उस पर स्वामी का शासन आवश्यक है। सन्तान अनुभवहीन होने के कारण मार्ग से भटक सकती है या अपना अहित कर सकती है, अतः उस पर पिता का नियन्त्रण होना आवश्यक है। इस प्रकार अरस्तू के अनुसार परिवार का वयोवृद्ध पुरुष ही परिवार का मुखिया होना चाहिए।

अरस्तू का कहना है कि परिवार के सदस्यों में परस्पर पूर्णतः मित्रता का वातावरण होना चाहिए। परिवार 'एक जीवनपर्यन्त मित्रता' का नाम है। मुखिया के पूर्ण अनुशासन और नियन्त्रण के साथ ही परिवार का वातावरण मधुरता और स्नेह से परिपूर्ण रहना चाहिए। परिवार के सदस्य पारस्परिक सहयोग द्वारा अपनी नैतिक और भौतिक आवश्यकताओं की सरलता से पूर्ति कर सकते हैं। परिवार के किसी भी सदस्य को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए। अरस्तू का कहना है कि कभी-कभी परिवार का आवश्यकता से अधिक मोह उसको मार्ग से विचलित कर देता है। अतः राज्य का कर्त्तव्य है कि वह परिवार को नियन्त्रण में रखने के लिए यदा-कदा नियम बनाता रहे।

इस तरह अरस्तू यहाँ भी 'मध्यम मार्ग' का अनुसरण करता है। एक ओर वह परिवार का दिल खोलकर समर्थन करता है और दूसरी ओर परिवार को पूर्ण स्वतन्त्रता भी प्रदान नहीं करना चाहता। वह चाहता है कि जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए राज्य को सभी सम्भव उपाय करने चाहिए।

अरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना

(Aristotle's Criticism of Plato's Communism of Property & Family)

प्लेटो ने अपने आदर्श-राज्य में अभिभावक-वर्ग के लिए साम्यवादी व्यवस्था का आयोजन किया है, जिसके अनुसार उन्हें पथ-विमुख करने वाले दोनों आकर्षण-सम्पत्ति और परिवारों का सामूहीकरण होना आवश्यक है। किन्तु अरस्तू प्लेटो की धारणा का खण्डन करते हुए उसे व्यावहारिकता, बौद्धिकता, सामाजिकता और मानव-स्वभाव की कसौटी पर खरा उतरने वाला नहीं मानता।

सम्पत्ति के साम्यवाद की आलोचना

अरस्तू ने प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की आर्थिक और नैतिक आधार पर आलोचना की है। उसके प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं—

(1) प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद मे उत्पादन और वितरण एक ही अनुपात में रहे हैं। कठोर श्रम के द्वारा अधिक उत्पादन करने वालों को भी उतना ही प्राप्त करने की व्यवस्था है जितना कम श्रम करने वाले को है परन्तु यह अनुचित है। इस व्यवस्था से समाज मे सघर्ष और कलह की उत्पत्ति होने का डर है क्योंकि अधिक और कठोर श्रम करने वाले व्यक्ति कम श्रम करने वाले व्यक्ति के समान ही फल प्राप्त करने के कारण असतुष्ट रहेंगे।

(2) सामूहिक उपभोग एवं सामूहिक उत्पादन के साथ-साथ सामूहिक सम्पत्ति से विभिन्न नवीन समस्याओ को जन्म मिलेगा और अनेक झगड़े होंगे। अरस्तू के शब्दो में, "मनुष्यो के साथ रहने और सब प्रकार के मानवीय सम्बन्धो को परस्पर समान रूप से बरतने मे सदा ही कठिनाइयाँ आती हैं पर ये विशेष रूप से तब आती हैं जब सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार होता है।"[1]

(3) मनुष्य तभी अधिक परिश्रम, क्षमता और रुचि के साथ कार्य करता है जब उसे व्यक्तिगत लाभ की प्राप्ति की सभावना होती है। सामूहिक लाभ की वृष्टि के किए जाने वाले कार्यों म साधान्यत. व्यक्ति को कोई दिलचस्पी नही होती और न ही वह इसके लिए सच्चे दिल से परिश्रम करना चाहता है।

(4) प्लेटो ने सम्पत्ति के गुणो की अवहेलना की है। सम्पत्ति तो एक प्रेरणाशक्ति और स्वाभाविक आवश्यकता है जिसके बिना स्वस्थ और सुखी जीवन सभव नही है। मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सम्पत्ति एक आवश्यक साधन है।

(5) व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्य को आत्म-सम्मान का आनन्द प्रदान करती है। वह उसके व्यक्तित्व के विकास मे सहायक है।

(6) समाज मे कलह और सघर्ष वास्तव मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण जन्म नही लेते अपितु मानवीय प्रकृति की दुष्टता के कारण ही वे उत्पन्न होते हैं। यदि शिक्षा द्वारा मानवीय प्रकृति को सुधार दिया जाए तो ये झगडे पैदा नही होंगे।

(7) ऐतिहासिक दृष्टि से भी प्लेटो की सम्पत्ति के साम्यवाद की व्यवस्था गलत है। इतिहास म ऐसी व्यवस्था का कोई प्रमाण नही मिलता है। यदि यह कोई श्रेष्ठ व्यवस्था होती तो विभिन्न देशों मे इसे अपना‴ जाता। अश्रेष्ठ और मानव प्रकृति के एकदम प्रतिकूल होने के कारण हजारो वर्षों के इतिहास मे इसे किसी ने नही अपनाया। अरस्तू का मत है कि जिस व्यवस्था को समाज ठुकराता है, वह आवश्यक रूप से दोषपूर्ण होगी।

(8) अरस्तू के मतानुसार जिन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए साम्यवादी व्यवस्था का आयोजन किया गया है, इसके द्वारा उन उद्देश्यो की प्राप्ति नहीं हो सकती। ईर्ष्या, द्वेष, सघर्ष, लोभ, शोषण आदि की भावनाएँ मानसिक रोग हैं।

1 "There is always difficulty in men living together and having things in common, but specially in their having common property." —*Aristotle*

सम्पत्ति का साम्यवाद इनका उपचार नहीं है। इनका उपचार तो मानसिक होना चाहिए।

(9) यदि सम्पत्ति का साम्यवाद श्रेष्ठ व्यवस्था है तो इसे सैनिक और शासक वर्ग तक ही सीमित क्यों रखा गया है। इसे उत्पादक वर्ग पर भी लागू किया जाना चाहिए।

(10) प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद समाज को दो भागों में बाँट देता है। एक भाग में सरक्षक और सैनिक होंगे तो दूसरे भाग में कृषक, शिल्पी और साधारण नागरिक। इस प्रकार के विभाजन से समाज में एकता के स्थान पर विपरीत भाव उत्पन्न होगा। अरस्तू के शब्दों में, "एक राज्य में आवश्यक रूप से दो राज्य बन जाएँगे और ये दोनों परस्पर विरोधी होंगे।"

परिवार के साम्यवाद की आलोचना

अरस्तू ने प्लेटो के परिवार सम्बन्धी विचारों की तीव्र आलोचना में ये तर्क प्रस्तुत किए हैं—

(1) व्यक्तित्व और परिवार को कुचल कर न एकता की स्थापना की जा सकती है और न यह उचित ही है। परिवार के अस्तित्व के शव पर राज्य में निरपेक्ष एकता स्थापित करने की कामना केवल कल्पना है और वह भी ऐसी कल्पना जिससे राज्य के अस्तित्व को ही खतरा पहुँचता है क्योंकि राज्य सब समुदायों का एक समुदाय है और समुदाय के रूप में राज्य की इकाई परिवार है।

(2) स्त्रियों के साम्यवाद से समाज नैतिक पतन की ओर अग्रसर होगा। इस साम्यवादी व्यवस्था में एक स्त्री एक समय में एक पुरुष के और दूसरे समय में दूसरे पुरुष के साथ सहवास कर सकती है। इस तरह कोई पुरुष एक समय में एक स्त्री का तो दूसरे समय में दूसरी स्त्री का पति हो सकता है। साथ ही यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें पिता पुत्री, माता-पुत्र और भाई-बहिन एक दूसरे के साथ सहवास कर सकेंगे। इससे यौन क्षेत्र में अराजकता उत्पन्न हो जाएगी और समाज से पवित्रता एवं नैतिकता का नाम उठ जाएगा।

(3) कंचन और कामिनी तो सभी के लिए आकर्षण और लोभ की वस्तुएँ हैं। इन पर सामूहिक स्वामित्व समाज में घृणा और द्वेष फैलाएगा। एक सुन्दर स्त्री प्राप्त करने की अनेक पुरुष कामना करेंगे तो स्वाभाविक रूप से उनमें संघर्ष उत्पन्न हो जाएगा।

(4) परिवार नैतिक गुणों की पाठशाला है जिसमें रह कर व्यक्ति, उदारता नि स्वार्थता, परोपकार और सयम आदि के सद्गुणों का विकास करता है। यह नागरिकता की प्रथम पाठशाला है। अतः ऐसी उपयोगी संस्था का विनाश करना प्रत्येक दृष्टि से अनुचित है।

(5) प्लेटो के अनुसार परिवार की साम्यवादी व्यवस्था से उत्पन्न बच्चे राज्य की सन्तानें होंगी। सभी लोगों को बच्चों को अपना पुत्र समझना चाहिए,

लेकिन वस्तु-स्थिति इससे भिन्न होगी। सबकी सन्तान किसी की भी सन्तान नहीं हो पाएगी। कोई भी व्यक्ति किसी भी बच्चे को अपना पुत्र नहीं समझेगा। बच्चे को वह स्नेह और ममतामय वातावरण नहीं मिलेगा जो व्यक्तिगत परिवार-व्यवस्था से मिलता है। वास्तव में सामूहिक उत्तरदायित्व का अर्थ है, किसी का भी उत्तरदायित्व न होना।

(6) अरस्तू यह कह कर भी प्लेटो की परिवार सम्बन्धी व्यवस्था की आलोचना करता है कि यदि यह व्यवस्था अच्छी है तो इसे केवल अभिभावक वर्ग पर ही क्यों लागू किया है। इसे तो सबसे पहले उत्पादक वर्ग पर लागू किया जाना चाहिए क्योंकि इस वर्ग के लोगों की संख्या ही अधिकतम है।

(7) परिवार आत्माभिव्यक्ति और यौन सम्बन्ध के नियमानुसार संचालन के लिए एक अनुशासित संस्था है। यह एक भौतिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकता का परिणाम है अतः व्यावहारिकता की दृष्टि से परिवार का साम्यवाद अनुचित है।

(8) प्लेटो समझता है कि जब सम्पूर्ण राज्य एक परिवार बन जाएगा तो मेरे-तेरे के सब झगड़े मिटकर निवासियों में एकता और प्रेम का प्रसार होगा। किन्तु अरस्तू इस विचार की खिल्ली उड़ाते हुए कहता है कि प्रेम का क्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत होता है, उसकी गहराई और प्रगाढ़ता की मात्रा उतनी ही कम हो जाती है। इस तरह का प्रेम-प्रसार उस बालुई दीवार की तरह होगा जो कभी भी लड़खड़ा कर गिर सकती है।

(9) परिवार की कल्पना राज्य की कल्पना में निहित है। परिवारों के संयोग से राज्य का निर्माण होता है, व्यक्तियों के मेल से नहीं।

(10) साम्यवादी व्यवस्था में परस्पर सम्बन्ध न होने से चोरी, हत्या एवं अन्य अपराधों को और भी अधिक प्रोत्साहन मिलेगा। "उस समाज में जिसमें अपने तथा अन्य व्यक्तियों के मध्य प्राकृतिक और सामाजिक रिश्तों का ज्ञान है, ऐसे अपराध कम होते हैं। परन्तु उस समाज में, जहाँ सम्बन्ध होंगे ही नहीं, ऐसी घटनाएँ और ऐसे अपराध बहुत अधिक हो जाएँगे।"

प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था की अरस्तू ने जो आलोचना की है, उसका समर्थन मध्य युग में लॉक आदि उदारवादियों ने भी किया था और वर्तमान में भी किया जाता है। सम्पत्ति और परिवार सम्बन्धी प्लेटो की व्यवस्था में आस्था न रखते हुए भी अरस्तू के इस कथन की सत्यता का प्रतिवाद नहीं किया जाना चाहिए कि सम्पत्ति और परिवार पर राज्य का आवश्यक नियन्त्रण होना चाहिए क्योंकि अत्यधिक जनसंख्या और अत्यधिक आर्थिक असमानता किसी भी राज्य के विनाश का कारण बन सकती है।

अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Conception of Citizenship)

अरस्तू ने अपनी कृति 'पॉलिटिक्स' की तीसरी पुस्तक में राज्य एवं नागरिकता सम्बन्धी विचार प्रकट किए हैं। उसने नागरिकता की परिभाषा देने का कोई

विशेष प्रयत्न नहीं किया है। नागरिकता का प्रश्न तो राज्य की परिभाषा देने से स्वतः ही उठ खड़ा हुआ है। अरस्तू प्रश्न करता है कि—"राज्य क्या है?" इसके उत्तर में वह स्वयं ही कहता है कि—"राज्य (Polis) बाह्य दृष्टि से नागरिकों (Politai) का एक समुदाय (Koinonia) है।" राज्य नागरिकों के मेल से बनता है। इसके बाद प्रश्न स्वतः ही यह उठता है कि—"नागरिक कौन है" एवं "नागरिकता से क्या तात्पर्य है" अरस्तू ने इन प्रश्नों का उत्तर निश्चयात्मक रूप से नहीं दिया है, अपितु इन शब्दावलियों की व्याख्या निषेधात्मक रूप से की है। उसने सर्व-प्रथम यह बतलाया है कि कौन नागरिक नहीं हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में उसने नागरिकता की तत्कालीन प्रचलित मान्यताओं का खण्डन किया है। उसने किसी मनुष्य के राज्य में निवास करते हुए भी नागरिक न होने की निम्नलिखित चार दशाएँ बतलाई हैं—

1. राज्य के किसी स्थान-विशेष में निवास करने मात्र से नागरिकता नहीं मिल सकती, क्योंकि स्त्री, बच्चे, दास और विदेशी जिस राज्य में रहते हैं, उन्हें वहाँ का नागरिक नहीं माना जाता।

2. किसी पर अभियोग चलाने का अधिकार रखने वाले व्यक्ति को भी नागरिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि सन्धि द्वारा यह अधिकार विदेशियों को भी दिया जा सकता है।

3. उन व्यक्तियों को नागरिक नहीं माना जा सकता जिनके माता-पिता किसी दूसरे राज्य के नागरिक हैं क्योंकि ऐसा करने से हम नागरिकता निर्धारण के किसी सिद्धान्त का निर्माण नहीं करते।

4. निष्कासित तथा मताधिकार से वंचित व्यक्ति भी राज्य के नागरिक नहीं हो सकते।

नागरिकता की परिभाषा

उपरोक्त निषेधात्मक व्याख्या के परिणामस्वरूप स्वाभाविक प्रश्न उठता है—नागरिक कौन है? उसका उत्तर देते हुए अरस्तू कहता है—"नागरिक वही है जो न्याय-व्यवस्था एवं व्यवस्थापिका के एक सदस्य के रूप में भाग लेता है—दोनों में या एक में, क्योंकि वह दोनों ही प्रभुसत्ता के मुख्य कार्य हैं।"[1] अरस्तू की इस परिभाषा से नागरिक और अनागरिक में भेद स्पष्ट होता है। यह परिभाषा नागरिकों की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर इंगित करती है—

1. नागरिक राज्य का क्रियाशील सदस्य होते हुए न्यायिक प्रशासन और सार्वजनिक कार्यों में भाग लेता है।

2. वह साधारण सभा का सदस्य होने के नाते विधायी-कार्यों में भाग लेता है।

[1] "A citizen is one who participates in the administration of Justice and Legislation as a member of Deliberative Assembly, either or both these being essential functions of State." —*Aristotle*

उपरोक्त एक अथवा दोनों कार्य करने वाला व्यक्ति ही नागरिक हो सकता है। अरस्तू के मत मे, नागरिक वह व्यक्ति है जो न्याय अथवा राज्य के विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्यों में भाग ले। न्याय क्षेत्र में न्यायाधीश अथवा जूरर (Juror) के रूप मे कार्य करके एक व्यक्ति राज्य के न्यायिक कार्यों मे भाग लेता है। अरस्तू का युग 'नगर राज्य का युग' था। एथेन्स मे न्याय प्रशासन आधुनिक राज्यो मे पाई जाने वाली न्याय-प्रणाली से भिन्न था। वहाँ थोडी-थोडी अवधि के लिए न्यायाधीशों और जूररो को क्रमशः चुना जाता था एवं प्रत्येक नागरिक को यह पद प्राप्त हो सकता था। उस समय राज्य के सभी नागरिक साधारण सभा के सदस्य होते थे और यह सभा वर्ष मे कम से कम एक बार अवश्य समवेत होकर राज्य के पदाधिकारियो का निर्वाचन करती तथा विधि-निर्माण सम्बन्धी अन्य कार्य करती थी। एथेन्स मे यह सर्वोच्च सत्ता होती थी और सभा के सदस्य के नाते प्रत्येक एथेन्स निवासी राजसत्ता या सर्वोच्च शक्ति मे भाग लेता था। फिर भी, किसी नगर-राज्य मे सभी व्यक्ति न साधारण सभा के सदस्य होते थे और न ही वे न्याय प्रशासन मे भाग लेते थे। यूनान के किसी भी राज्य में विदेशियो, दासो, स्त्रियो तथा बच्चो को नागरिकता के अधिकार प्रदान नहीं किए गए थे। यूनानी नागरिकता आधुनिक नागरिकता की अपेक्षा बहुत अधिक सकुचित थी। इसी दृष्टि से अरस्तू ने भी स्वाभाविक रूप से राज्य के सभी निवासियों को नागरिक स्वीकार नहीं किया।

अरस्तू ने श्रमिको और दासो को नागरिकता की परिधि से बाहर क्यों रखा—इसका कारण उसके अनुसार यह है कि नागरिकता एक विशेष गुण है जिसके लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। नीति-निर्धारण और न्यायिक कार्यों मे भाग लेने के लिए एक ऊँचे नैतिक और बौद्धिक स्तर की आवश्यकता होती है। यह गुण प्रत्येक निवासी मे नहीं पाया जाता। स्त्रियों, बालकों, दासो, मिस्त्रियो या श्रमिको के पास शासन करने और राजनीतिक कार्यों मे भाग लेने लायक नैतिक और बौद्धिक स्तर नही होता है। इसके अतिरिक्त यह योग्यता उन्ही व्यक्तियो के पास हो सकती है जिसके पास अवकाश (Leisure) हो। बेचारे दासों और श्रमिको के पास अवकाश कहाँ ? अरस्तू छुट्टी या आराम के क्षणो को अवकाश नहीं कहता। उसी के अनुसार, "जिन कार्यों को करने के लिए मनुष्य अपनी आर्थिक तथा भौतिक आवश्यकताओ के कारण विवश है, उनके अतिरिक्त लगभग सभी क्रियाएँ अवकाश के अन्तर्गत आती हैं। शासन करने की राजनीतिक क्रिया, सार्वजनिक सेवा, युद्ध करना जिसमे साहस के गुण का प्रस्फुटन होता है; अपने साथी नागरिको के साथ निर्वाह करना जिसके लिए सयम, उदारता, विशाल-हृदयता तथा साहचर्य के गुण आवश्यक हैं; खेल-कूद व नाट्यकला मे भाग लेना, और अन्त मे विज्ञान एवं दर्शन को प्राप्त करने का प्रयत्न इस (अवकाश) में सम्मिलित है।" अरस्तू की अवकाश की व्याख्या का स्वाभाविक अर्थ यही निकलता है कि दास और श्रमिक, अवकाश के क्षण नही पाते, इसलिए वे नागरिकता के आवश्यक गुणों से वंचित रह जाते हैं और नागरिक नहीं हो सकते।

अरस्तू ने अच्छे मानव और अच्छे नागरिक मे अन्तर बताया है। अच्छे मानव का लक्षण सब राज्यो मे एक समान है। उसके गुण निरपेक्ष हैं किन्तु अच्छा नागरिक कौन है, इस बात का निरूपण हम विशेष नगर-राज्य को ध्यान मे रखकर ही कर सकते हैं। इसलिए यह विदित होता है कि अच्छे नागरिक के गुण सापेक्ष हैं। अरस्तू ने बताया है कि राजपुरुषो और उन लोगो के जो राज-कार्य का सचालन करते हैं, गुण न केवल अच्छे नागरिक के अपितु अच्छे मानव के भी होने चाहिए।

"अच्छे मानव का शील ज्ञान पर आधारित है, किन्तु अच्छे नागरिक का शील मत पर आधारित है। तात्पर्य यह हुआ कि अच्छा मानव जिस शील का आचरण करता है उसमे यह वृद्धि निष्ठ है और उसके दार्शनिक आधार का उसे ज्ञान है। किन्तु अच्छा नागरिक सामाजिक परम्परा को देखते हुए ही अच्छा बनने का प्रयत्न करता है, अपने आचरण की विचारात्मक उत्पत्ति उसे मालूम नही।"[1]

नागरिकता पर प्लेटो और अरस्तू के विचारों में अन्तर

नागरिकता सम्बन्धी विचार प्लेटो की तुलना मे अरस्तू के संकुचित प्रतीत होते हैं—(1) 'प्लेटो अपने ग्रन्थ रिपब्लिक' मे दासो और नागरिको मे कोई अन्तर नही रखता। वह अपने आदर्श राज्य मे अशिक्षित तथा अराजनीतिक व्यक्तियो के समूहो को भी राज्य मे निवास करने के कारण नागरिकता का अधिकार प्रदान कर देता है। परन्तु इसके विपरीत अरस्तू एक सर्वोच्च राज्य मे अशिक्षित, अराजनीतिक, दासो तथा श्रमिको को नागरिकता के अधिकार से वंचित कर देता है। (2) प्लेटो की मान्यता है कि एक अच्छा व्यक्ति ही अच्छा नागरिक है, जबकि अरस्तू इस मत से सहमत नही है क्योंकि उसके अनुसार एक नागरिक और एक अच्छे मनुष्य के गुण समान हों, यह आवश्यकता नही है। एक अच्छे व्यक्ति के गुण सदा समान रहते हैं, किन्तु एक अच्छे नागरिक के गुण सविधान के स्वरूप के अनुसार बदल सकते हैं। (3) प्लेटो शासक वर्ग के लिए व्यावहारिक शासन-योग्यता के स्थान पर उसके ज्ञान की ओर बल देता है, लेकिन अरस्तू के अनुसार नागरिक मे शासन-योग्यता होनी चाहिए। इस तरह जहाँ अरस्तू व्यवहार को महत्त्व देता है, वहाँ प्लेटो अपेक्षाकृत सिद्धान्त को। (4) नागरिकता के क्षेत्र मे दोनो मे इस बात से भी अन्तर प्रकट होता है कि जहाँ प्लेटो के अनुसार शासन की योग्यता कुछ मे ही सम्भव है वहाँ अरस्तू इसको थोड़ा विस्तृत रूप देता है।

उपरोक्त कुछ अन्तरो के होते हुए भी यह कहना होगा कि अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचार प्लेटो से अधिक उदार नही हैं। प्लेटो भी उत्पादक वर्ग को राज्य के न्याय और विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्यों से मुक्त रखता है तथा अरस्तू भी। जो व्यक्ति अरस्तू के अनुसार नागरिक बनने के अधिकारी हैं वे वास्तव मे प्लेटो के अभिभावक वर्ग के सदस्य ही हैं।

1 डॉ. विश्वनाथप्रसाद वर्मा : पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा का इतिहास।

अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों की आलोचना

आधुनिक युग मे अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारो की अत्यधिक आलोचना की गई है—

1. अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचार अत्यन्त अनुदार और अभिजाततंत्रीय (Aristocratic) हैं। ये यूनानियो के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र वाले छोटे राज्यों के लिए भले ही लागू होते हों किन्तु वर्तमान प्रतिनिधि सत्तात्मक विशाल राज्यों पर लागू नही हो सकते।

2. प्लेटो और अरस्तू ने श्रमिको को नागरिकता से वंचित कर दिया एवं उसे समाज के उच्च वर्गों तक ही सीमित रखा है। इस तरह उन्होने समाज के बहुत बड़े भाग को नागरिकता से प्राप्त होने वाले उन्नति के अवसरों से अलग कर दिया है। यह बड़ा अप्रजातान्त्रिक और अमानवीय दृष्टिकोण है। आधुनिक राज्यो मे प्रत्येक नागरिक को नागरिकता का अधिकार है और इसलिए प्रत्येक को उन्नति का अवसर मिलता है। "बहुजन सुलभ नागरिकता का निम्न आदर्श प्लेटो और अरस्तू के उस भव्य आदर्श से कहीं अधिक मूल्यवान है जो मुट्ठीभर लोग ही प्राप्त कर सकते हैं।"[1] अरस्तू द्वारा स्त्री, दास, बालक आदि नागरिक नहीं माने गए हैं जो वर्तमान राजनीतिक दृष्टि से ठीक नही है। वर्तमान मे सभी व्यक्तियो को समान स्वतन्त्रता का अधिकार है और सभी वयस्क नागरिक कहलाने के अधिकारी हैं। वे अपनी योग्यता द्वारा सत्ता मे भाग ले सकते हैं।

3 अरस्तू ने नागरिक और अनागरिकों मे ही भेद नही किया है बल्कि अनागरिकों को राज्य का सदस्य भी नही माना है। उनको केवल सजीव उपकरण (Instrument) माना है। उसके अनुसार नागरिकों की एक अलग श्रेणी बन गई है जो प्लेटो के सरक्षकों या अभिभावको की श्रेणी के समान ही दिखाई देती है। अरस्तू की नागरिकता सम्बन्धी यह धारणा समाज मे एकता को कमजोर बनाने वाली और असन्तोष को जन्म देने वाली है।

4. अरस्तू के अनुसार नागरिक न्यायाधीश भी है तथा विधि-निर्माण करने वाला भी। आधुनिक शासन-प्रणालियो मे प्रत्येक व्यक्ति न्यायाधीश और विधि-निर्माता नही हो सकता। वह कवल अपने प्रतिनिधियो के निर्वाचन मे भाग लेता है। साथ ही अरस्तू का वह विचार इस दृष्टि से भी स्वीकार्य नही है कि न्यायिक और विधायी शक्तियाँ एक ही हाथ मे रहना शासन और स्वतन्त्रता की दृष्टि से अश्रेयस्कर हैं।

5. अरस्तू ने नागरिकता की अत्यन्त सकुचित परिभाषा दी है। केवल विधि-निर्माण और न्याय सम्बन्धी कार्यों मे भाग लेने वाले व्यक्ति ही यदि नागरिक हों तो राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र मे नागरिको की संख्या कितनी कम होगी?

1 *Barker*: The Politics of Aristotle, Page 11.

6. अरस्तू ने नागरिकों के कर्त्तव्यों पर अधिक ध्यान दिया है, उनके अधिकारों का स्पष्टीकरण उसने नहीं किया है। नागरिक शब्द रूपी सिक्के के दो समान पहलू हैं—एक तरफ कर्त्तव्य की छाप है तो दूसरी ओर उसे अधिकारों का मुकुट पहनाया गया है। अरस्तू ने नागरिकों की परिभाषा देते समय इस दूसरे पक्ष की अवहेलना की है।

7. अरस्तू ने नागरिकता सम्बन्धी अपने विचारों से राज्यों में कई वर्ग उपस्थित कर दिए हैं जिनसे राज्य की आन्तरिक स्थिति सुसंगठित और शान्तिमय नहीं रह सकती है।

8. राज्य का उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियों को लाभ पहुँचाना है—इसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि अधिकाधिक मनुष्यों के अनुभवों और उनके पारस्परिक अन्तरों से लाभ उठाना चाहिए। यदि नागरिकता केवल उन्हीं व्यक्तियों को प्रदान की जाती है जिनके पास धन होने के कारण पर्याप्त अवकाश है और ऐसे ही व्यक्ति शासन-कार्यों में भाग लेते हैं, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे कानून अधिकतम संख्या में बनेंगे जो धनी वर्ग के पक्ष में हों। इसका फल यही निकलेगा कि जनतन्त्रीय शासन के स्थान पर वर्गतन्त्रीय शासन स्थापित हो जाएगा, धनवान व्यक्ति अधिक धनवान होते जाएँगे तथा दरिद्र व्यक्ति और अधिक दरिद्र बन जाएँगे। अरस्तू की इस व्यवस्था में शासन-शक्ति अल्पसंख्यक नागरिकों तक सीमित होकर बहुसंख्यक जनता के शोषण का साधन बन सकती है।

9 अरस्तू का नागरिकता सम्बन्धी यह विचार उसके राज्य के जैविक स्वरूप सम्बन्धी सिद्धान्तों के भी विपरीत है। अवयव विभिन्न अंगों से मिलकर बनता है, दूसरे शब्दों में राज्य व्यक्तियों और समुदायों से मिलकर बना है। अरस्तू एक प्रमुख वर्ग को नागरिकता से वंचित कर उसे काट कर फेंक देता है अथवा कार्य शून्य बना देता है।

उपरोक्त दोषों के होते हुए भी अरस्तू का नागरिकता का विचार इस दृष्टि से उपयोगी है कि वह प्रत्येक नागरिक के लिए शासन में भाग लेना आवश्यक समझता है। यथार्थवादी होने के नाते वह मानता है कि नागरिकों के गुणों का निश्चय शासन-प्रणाली द्वारा होता है। लोकतन्त्र के उत्तम नागरिक के गुण अल्पतन्त्र (Oligarchy) के नागरिक के गुणों से भिन्न होते हैं।

अरस्तू के कानून सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Conception of Law)

प्लेटो ने आदर्श दार्शनिक शासक प्राप्त न होने की दशा में अपने ग्रन्थ 'लॉज' में कानून को सर्वोच्च स्थान देते हुए इसका विस्तृत प्रतिपादन किया है। अरस्तू ने भी अपने ग्रन्थ 'पालिटिक्स' में कानून को राज्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए इसके स्वरूप की मीमांसा की है।

"राज्य में सर्वोत्तम शासन का इस बात से घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वह सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा शासित हो अथवा सर्वश्रेष्ठ कानूनों द्वारा क्योंकि वह शासन

अपने प्रजाजनों की भलाई के लिए कानून के अनुसार भी होता है। इसलिए, अरस्तू ने कानून की सर्वोच्चता को श्रेष्ठ शासन का एक चिह्न माना है, केवल एक अभाग्यपूर्ण आवश्यकता ही नहीं। प्लेटो ने 'स्टेट्समैन' में बुद्धिमान शासक के शासन और कानून के शासन को वैकल्पिक माना है। अरस्तू के विचार से प्लेटो की यह भूल है। बुद्धिमान से बुद्धिमान शासक भी कानून के बिना अपना काम नहीं चला सकता। इसका कारण यह है कि कानून निर्वैयक्तिक होता है। किसी आदमी में, चाहे वह कितना ही भला क्यों न हो यह निर्वैयक्तिकता नहीं आ सकती। प्लेटो चिकित्सा शास्त्र और राजनीति में अक्सर तुलना किया करता था। अरस्तू इस तुलना को गलत मानता है। अरस्तू के विचार से यदि राजनीतिक सम्बन्धों में स्वतन्त्रता की भावना रहती है तो राजनीतिक सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का होना चाहिए कि प्रजाजन अपने निर्णय और दायित्व को न छोड़ दें। यह उसी समय सम्भव है जबकि शासक और शासित दोनों की कानूनी स्थिति हो। कानून के उद्देश्य से रहित सत्ता मजिस्ट्रेट का स्थान नहीं लेती। लेकिन वह मजिस्ट्रेट की सत्ता को नैतिक महत्त्व अवश्य प्रदान करती है। मजिस्ट्रेट की सत्ता को यह नैतिक महत्त्व इसके बिना प्राप्त नहीं हो सकता। सवैधानिक शासन प्रजाजनों के गौरव को कायम रखता है। व्यक्तिगत या निरंकुश शासन उनका गौरव कायम नहीं रखता। अरस्तू ने एकाधिक स्थलों पर कहा है कि सवैधानिक शासक इच्छुक प्रजाजनों के ऊपर शासन करता है। वह सहमति के द्वारा शासन करता है और अधिनायक से बिलकुल भिन्न होता है। अरस्तू जिस यथार्थ नैतिक विशेषता की बात करता है वह उतनी ही छलनामयी है जितनी कि आजकल के सिद्धान्तों में शासितों की सहमति। लेकिन, इसकी वास्तविकता के ऊपर सन्देह नहीं किया जा सकता।"[1]

अरस्तू के विचार से सवैधानिक शासन में तीन मुख्य तत्त्व हैं—(1) यह शासन जनता अथवा सर्वसाधारण की भलाई के लिए होता है, किसी वर्ग अथवा व्यक्ति विशेष की भलाई के लिए नहीं। (2) यह एक विधि-सम्मत शासन होता है अर्थात् यह शासन सामान्य विनियमों के अनुसार चलता है, मनमानी या स्वेच्छाचारी आज्ञप्तियों के अनुसार नहीं। साथ ही यह शासन प्राचीन रीति-रिवाजों और सविधानिक रूढ़ियों का भी तिरस्कार नहीं करता। (3) यह इच्छुक प्रजाजन का शासन है। यह केवल शक्ति द्वारा समर्थित निरंकुश शासन नहीं होता। उल्लेखनीय है कि यद्यपि अरस्तू ने सविधानिक शासन की इन विशेषताओं का स्पष्ट रीति से उल्लेख किया है तथापि उसने इनकी व्यवस्थित रूप से कहीं परीक्षा नहीं की है क्या यह सूची पूर्ण है। उसने इस बात की भी परीक्षा नहीं की है कि इन तीनों में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। हाँ, अरस्तू इस बात से परिचित था कि हो सकता है कि शासन में इन तीनों में से एक विशेषता न हो। उदाहरणार्थ, अत्याचारी शासक निरंकुशता से अपनी प्रजा की भलाई का कार्य कर सकता है अथवा विधि-सम्मत

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृ 87-88

शासन अनुचित रूप से किसी एक वर्ग के साथ पक्षपात कर सकता है। अरस्तू ने सवैधानिक शासन पर इतना जोर इसीलिए दिया कि वह लॉज के इस सुझाव से सहमत था कि कानून को एक अस्थायी व्यवस्था नही प्रत्युत नैतिक और सभ्य जीवन की एक अपरिहार्य व्यवस्था मानना चाहिए।

कानून की सम्प्रभुता के समर्थक अरस्तू की कानून की परिभाषा व्यापक एव सकारात्मक है। उसने कानून को उस समस्त बन्धनो का सामूहिक नाम दिया जिसके अनुसार व्यक्तियो से कार्यों का नियमन होता है। वह कानून तथा विवेक-बुद्धि (Reason) को समान तथा पर्यायवाची मानता है। उसके अनुसार विवेक-बुद्धि मानव-कार्यों के नियमन के लिए एक आध्यात्मिक बन्धन है। इस प्रकार एक तरह से नीति और कानून की समानार्थक सज्ञाएँ हैं। अरस्तू के मत मे नीति (Morality) के समान कानून का भी एक निश्चित लक्ष्य होता है जिसकी प्राप्ति के लिए राज्य के नागरिक प्रयत्नशील रहते हैं। उसकी मान्यता है कि नैतिक जीवन का उद्देश्य सद्गुणी जीवन को पाना है, कानून के अनुकूल जीवन का लक्ष्य न्याय को पाना है। इस तरह न्याय और सद्गुण दोनो एक ही हैं।

कानून के मूल-स्रोत के विषय मे चर्चा करते हुए अरस्तू का कहना है कि इस सम्बन्ध मे सहिताकार (Law-maker) का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो लिखित कानूनो को घोषित करने के साथ-साथ अलिखित प्रथाओं तथा रीति-रिवाजो को भी चलाता है। इस तरह वह बताता है कि कानून का मूल स्रोत राजा न होकर सहिताकार है। यद्यपि दार्शनिक आधार पर वह इसमे परिवर्तन करने के पक्ष मे है। वह कानून द्वारा मानव हृदय को सुधारना चाहता है और इसके लिए ऐसे शिक्षा के सिद्धान्तो का निर्धारण करता है जिससे नागरिको मे स्वत. कानून के अनुकूल आचरण करने के भाव उत्पन्न हो जाएँ। अरस्तू कानून द्वारा बाह्य आचरण को बदलने या परिवर्तन अथवा क्रान्ति का समर्थक नही है अपितु वह कानूनो के स्थायी तथा अपरिवर्तनशील होने के पक्ष मे है। उसके अनुसार यदि मनुष्य स्वाभाविक रूप से बुरे कानूनो के अनुकूल आचरण करते हैं तो उनका स्थान उन अच्छी विधियो से उच्चतम हो जाता है, जिनकी आशा की जाती है। उसका विश्वास है कि परिवर्तनो द्वारा राज्य मे अस्थिरता तथा अराजकता पैदा हो जाती है।

कानून के स्वरूप को बताते हुए अरस्तू का आगे कथन है कि आदर्श कानून प्राकृतिक (Natural) होते हैं। राज्य एक नैतिक समुदाय है। इसका मुख्य लक्ष्य सद्गुणी जीवन को पाना है। अत- उसके लिए प्राकृतिक तथा स्थायी व अपरिवर्तनशील विधियों की आवश्यकता है। जहाँ एक वास्तविक राज्य का प्रश्न है उसमे अरस्तू के अनुसार कानून प्राकृतिक न होकर सविदा तथा लोकाचार पर आधारित होते हैं, परन्तु अरस्तू सविदा तथा लोकाचार पर आधारित कानूनो को प्राकृतिक विधियो तथा नियमो से सर्वथा भिन्न नहीं मानता। उसका कथन है कि लोकाचार पर आधारित कानूनो के अन्तःस्थल मे प्राकृतिक नियम सदैव छिपे रहते हैं तथा उनको पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार एक सर्वोत्तम राज्य के लिए अरस्तू

प्राकृतिक तथा लोकाचार पर आधारित नियमों को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। सेबाइन के शब्दों में, "अरस्तू लिखित कानून से तथागत कानून को अधिक अच्छा समझता है और यहाँ तक मानने को तैयार है कि यदि केवल लिखित कानून का ही प्रश्न हो तो कानून को समाप्त करने की प्लेटो की योजना को स्वीकार किया जा सकता है लेकिन, अरस्तू स्पष्ट रूप से इस बात को असम्भव मानता है कि सर्वाधिक बुद्धिमान शासक का ज्ञान तथागत कानून से बेहतर होता है। सुकरात और प्लेटो ने प्रकृति और रूढ़ि के बीच भारी अन्तर माना था और इसी कारण वे बुद्धिवाद अथवा तर्कवाद के भी कट्टर समर्थक बन गए थे। अरस्तू ने इस अन्तर को दूर कर दिया। एक श्रेष्ठ राज्य में राजनेता के विवेक को उस विवेक से अलग नहीं किया जा सकता जो उसके द्वारा शासित समाज के कानून और प्रथा दोनों में निहित होता है।" कानून को नैतिक और सभ्य जीवन की एक अपरिहार्य व्यवस्था मानने सम्बन्धी दृष्टिकोण तब तक असम्भव है जब तक यह न मान लिया जाए कि अनुभव के साथ-साथ विवेक का भी विकास होता है और यह सामाजिक ज्ञान कानून और रूढ़ियों दोनों में निहित होता है

अरस्तू के मतानुकूल संविधान तथा सरकार एक है और वह संविधान के लिए कानूनों की आवश्यकताओं पर बल देता है अर्थात् वह विधियों को संविधान के लिए आवश्यक मानता है। अरस्तू चाहता है कि सरकार कानून की सम्प्रभुता (Sovereignty of Law) के अन्तर्गत रहे। सरकार चाहे एक व्यक्ति की हो या अनेक की, उसे स्वार्थ-हित रखने के लिए विधियों का होना अनिवार्य है। अरस्तू आदर्श राजा या देवत्व प्राप्त व्यक्ति को कानून के अधीन नहीं करना चाहता। परन्तु साथ ही किसी व्यक्ति को शासन-विधि के प्रभाव से पूर्णत: मुक्त भी नहीं रखना चाहता। आदर्श राज्य में जब समस्त कार्य बुद्धि विवेक से करने पड़ेंगे तो वे कानून के अनुसार ही होंगे क्योंकि कानून और बुद्धि विवेक एक है। यही कारण है कि अरस्तू के अनुसार एक व्यक्ति की सरकार को विधि की सम्प्रभुता को स्वीकार करना चाहिए और उस व्यक्ति को कानून की कमियों तथा कमजोरियों को दूर करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। परन्तु अरस्तू इस मत पर स्थिर न रहते हुए इसके विपरीत एक दूसरे मत का प्रतिपादन करता है। इस दूसरे मत के अनुसार वह कमियों तथा कमजोरियों को दूर करने का अधिकार एक व्यक्ति को न देकर अनेक व्यक्तियों को देता है। अपने इस मत के पक्ष में उसका कहना है कि व्यक्ति चाहे कितना ही योग्य एवं सद्गुणी क्यों न हो, लेकिन वह यह गारंटी नहीं दे सकता कि उसका पुत्र अथवा उत्तराधिकारी भी योग्य एवं सद्गुणी होगा और यही ध्यान में रखते हुए अरस्तू कानून की सम्प्रभुता स्थापित करता है तथा राज्य की सर्वोच्च सत्ता को कानून में मर्यादा-रेखा के अन्तर्गत बाँधता है।

अरस्तू का मत है कि कानून मानव को पूर्ण बनाने के लिए आवश्यक है क्योंकि कानून युगों के संचित अनुभवों तथा बुद्धिमत्ता का साकार रूप है। उसके ही शब्दों में "सामाजिक बुद्धिमत्ता का बढ़ता हुआ संग्रह कानून और परम्परा में निहित है।"

कानून मे एक ऐसा निराकार गुण है जिसे बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी प्राप्त नही कर सकता। कानून का शासन केवल भगवान और बुद्धि का शासन है, किन्तु मनुष्य के शासन मे कुछ अंशो मे पशु (पाशविक भावनाओं) का भी शासन है। कानून सब प्रकार की वासना से रहित विवेक है और इस प्रकार का विवेक सामाजिक प्रथाओ मे भी राशिभूत हो जाता है। जो नैतिक आवश्यकताएँ कानून को अनिवार्य बनाती हैं, वे राज्य के नैतिक आदर्शों के रूप मे भी मान्य होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि सच्चे राजनीतिक शासन मे प्रजाजन को कानून की अधीनता स्वीकार करनी चाहिए, उनमे स्वतन्त्रता की भावना होनी चाहिए और शासन उनकी सहमति पर आधारित होना चाहिए।

अरस्तू की न्याय सम्बन्धी धारणा
(Aristotle's Conception of Justice)

अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' मे न्याय सम्बन्धी अपने विचारो का वर्णन किया है। यूनान के प्राय: सभी विचारक न्याय की महत्ता को स्वीकार करते थे और अरस्तू भी उन विचारो से अछूता नही बच सका है। प्लेटो के समान वह भी न्याय को राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण स्वीकार करता है। वह भी न्याय का अर्थ "नेक कार्यों का व्यवहार रूप मे प्रकट करना" बताता है, लेकिन दोनो के न्याय के स्वरूप मे कुछ भिन्नता है।

अरस्तू के अनुसार सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान का उद्देश्य लोक कल्याण है। न्याय समस्त गुणों का समूह है। वह न्याय का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए इसके दो भेद करता है—(1) सामान्य न्याय (General Justice), (2) विशेष न्याय (Particular Justice)।

सामान्य न्याय से उसका आशय पड़ोसी के प्रति किए जाने वाले भलाई के सभी कार्यों से है। सामान्य न्याय मे नैतिक गुण एव अच्छाई के सब काम आ जाते है। अच्छाई के सभी कार्यों—सभी सद्गुणो (Virtues) तथा समग्र साधुता (Righteousness) को ही अरस्तू सामान्य न्याय समझता है।

विशेष न्याय से अरस्तू का तात्पर्य भलाई के विशेष रूपो से है। इस न्याय को वह आनुपातिक समानता के अर्थ मे लेता है। इसका अर्थ यह है कि जिस व्यक्ति को जो मिलना चाहिए उसकी प्राप्ति इस कोटि मे आती है। विशेष न्याय को अच्छी तरह से समझाने की दृष्टि से अरस्तू इसे पुनः दो उपभेदो मे बाँटता है। ये निम्नलिखित हैं—

(क) वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice)—राज्य को चाहिए कि वह अपने नागरिको मे राजनीतिक पदो, सम्मानो तथा अन्य लाभो और पुरस्कारो का बँटवारा या वितरण न्यायपूर्ण रीति से करे। अरस्तू निरपेक्ष समानता के पक्ष मे नही है। उसके अनुसार जो योग्य हैं उनको ही वह पद, स्थान या सम्मान मिलना चाहिए। सम्माननीय पदो पर किसी वर्ग विशेष की बपौती नही होनी चाहिए। राजकीय पदों को वर्ग विशेष को ही दिया जाना राज्य मे गम्भीर दोष उत्पन्न

करने की भूमिका तैयार करना है। अतः अरस्तू इन्हें आनुपातिक समानता के आधार पर (On the basis of proportionate equality) वितरित करना चाहता है।

राज्यों में जो अन्तर पाया जाता है उसका एकमात्र आधार शासक वर्ग का स्वरूप ही नहीं होता वरन् राज्यों में पदों एवं अधिकारों के वितरण का उपरोक्त सिद्धान्त भी होता है। अरस्तू के इस विभाजित या वितरणात्मक सिद्धान्त को सामान्यतः इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—मान लीजिए, अ, ब, स, व आदि अपनी व्यक्तिगत सेवा एवं गुण द्वारा राज्य के हित में अपनी देन देते हैं। अतः राज्य की ओर से उन्हें दिया जाने वाला पुरस्कार अर्थात् पद एवं सम्मान भी उनकी देन के अनुपात में होना चाहिए। यदि इनका योगदान असमान है तो पुरस्कार भी असमान होना चाहिए, अर्थात् 'अ' राज्य के लिए जिस मात्रा में योगदान देता है यदि 'ब' और 'स' उसके समान या उससे कम या उससे अधिक योगदान देते हैं तो 'अ' को प्राप्त होने वाले पुरस्कार के समान या उससे कम या उससे अधिक मात्रा में उचित अनुपात को ध्यान में रखते हुए 'ब' और 'स' को भी पुरस्कार मिलने चाहिए।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि अरस्तू के 'वितरक' न्याय का सम्बन्ध राज्य के पदों और पुरस्कारों के वितरण से है। अरस्तू प्रत्येक व्यक्ति को ये पद और पुरस्कार उस मात्रा के अनुपात में देना चाहता है जिस मात्रा में उसने अपनी योग्यता और धन से राज्य को लाभ पहुँचाया है। अरस्तू का मत है कि यह एक ऐसी न्यायपूर्ण व्यवस्था है जो समाज में संघर्ष और कलह को घटाने वाली है। सिन्क्लेयर के शब्दों में अरस्तू की इस भावना को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—"चूँकि न्याय और मैत्री राज्य के नैतिक आधार हैं, अतः अन्याय और कुइच्छा, असन्तोष एवं अस्थिरता के सर्वाधिक प्रभावशाली कारण हैं। आनुपातिक समानता और निष्पक्ष व्यवहार की अनुपस्थिति न्याय के अभाव की ओर ले जाने वाली है और नगर को टुकड़ों-टुकड़ों में बिखेर देती है। जब समाज के एक पक्ष को यह विश्वास हो जाता है कि उसके अधिकारों को इन्कार किया जा रहा है और उसके प्रति न्याय नहीं किया जा रहा है तो कोई मैत्री भावना नहीं रह सकती।"[1]

अरस्तू के अनुसार वितरणात्मक न्याय का सिद्धान्त सब राज्यों में समान नहीं होता। इस सिद्धान्त के औचित्य को सामान्य रूप से सभी व्यक्ति मान लेंगे लेकिन व्यक्तिगत गुण और राज्य के हित में योगदान के मापदण्ड के विषय में मतभेद होंगे। भिन्न प्रकार के शासन न्याय को मापने हेतु भिन्न मापदण्ड का प्रयोग करते हैं। अरस्तू ने विभिन्न शासनों के अन्तर्गत अपनाए जाने वाले मापदण्डों का इस प्रकार वर्णन किया है—

1. अभिजाततन्त्रवादियों की धारणा है कि सदाचारी व्यक्ति अपने सदाचार द्वारा राज्य का कल्याण करते हैं, अतः राज्य के पद एवं शक्ति उनको ही मिलनी चाहिए।

1 सिन्क्लेयर : यूनानी राजनीतिक विचारधारा, पृ. 307.

2. धनिकतन्त्रवादियों का कहना है कि धनिक व्यक्ति ही राज्य को सबसे अधिक योगदान देते हैं, अतः वे ही राज्य के पद एवं शक्ति के अधिकारी हैं।

3. समूहतन्त्रवादियों का दावा है कि स्वतन्त्रता एवं समानता को आधार मानकर राज्य के पदों का वितरण होना चाहिए।

अरस्तू का विचार है कि न्याय के इस सिद्धान्त के आधार पर किसी शासन प्रणाली को उत्कृष्ट या निकृष्ट माना जा सकता है। उसने इस आधार पर सर्वोच्च स्थान राजतन्त्र को दिया क्योंकि इसमें सर्वोच्च सदाचार का पालन होता है। उसके अनुसार दूसरा क्रम अभिजाततन्त्र (Aristocracy) का है जिसमें उच्च सदाचार का पालन किया जाता है और तीसरे क्रम पर प्रजाराज्य या मध्यमवर्गीयतन्त्र (Polity) आता है जिसमें साधारण सदाचार को मानकर पदों का वितरण किया जाता है। शासन के विकृत स्वरूपों में वह समूहतन्त्र (Democracy) को सर्वोच्च मानता है। इसके बाद उसकी दृष्टि में धनिकतन्त्र और निरंकुश राजतन्त्र (Oligarchy and Tyranny) हैं।

अरस्तू का कहना है कि न्याय के अनुसार, धन, स्वतन्त्रता एवं समानता आदि को आधार न मानकर सद्गुण (Virtue) को आधार मानना चाहिए। उसकी मान्यता है कि हम एक गुणशाली व्यक्ति से हर प्रकार के गुण प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त हमें यह भी देखना चाहिए कि व्यक्ति ने समाज के लिए क्या किया है। इस सिद्धान्त के द्वारा सद्गुणी व्यक्ति को सरलता से खोजा जा सकता है जिसमें नैतिक, बौद्धिक एवं सैनिक आदि सभी तत्त्व मिल जाएँगे। इस तरह राज्य के पदों को गुणों के आधार पर विभक्त करना चाहिए और यही सच्चा वितरणात्मक न्याय है।

बहुत कुछ तर्क-वितर्क के बाद अरस्तू इस विचार की ओर झुकता है कि सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथ में होनी चाहिए। वह 'पॉलिटिक्स' में लिखता है—"यही सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य है कि सर्वोच्च शक्ति कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में न होकर जनता के हाथ में होनी चाहिए।" यह सिद्धान्त यद्यपि आपत्तियों से मुक्त नहीं है, फिर भी इसमें एक सत्य का अंश निहित है। अरस्तू का मत है कि ऐसा करने से राज्य को स्थायित्व प्रदान किया जा सकेगा। शक्ति जनता के हाथों में न होने पर जन-साधारण में असन्तोष उत्पन्न होने का भय बना रहेगा। अतः क्रान्ति से बचने के लिए सर्वोच्च शक्ति को जनता के हाथ में सौंपना उपयुक्त है। इस सिद्धान्त का समर्थन करके अरस्तू सार्वजनिक सार्वभौमिकता के सिद्धान्त का समर्थन करता है। इस तरह एक आधुनिक विचार के निकट आते हुए वह कहता है कि प्रत्येक वर्ग समाज एवं राज्य की कुछ-न-कुछ सेवा अवश्य करता है, अतः हमें उस सेवा का मूल्यांकन करके उसी अनुपात में पदों को बाँट देना चाहिए। अरस्तू का मुख्य ध्येय राज्य को स्थायित्व प्रदान करना है और इसलिए उसने न्याय के वितरणात्मक सिद्धान्त की रचना की है।

(ख) संशोधनात्मक या सुधारात्मक न्याय (Rectificatory or Corrective Justice)—सुधारात्मक न्याय एक नागरिक के दूसरे नागरिक के सम्बन्ध को नियन्त्रित करता है। यह मुख्य रूप से अभावात्मक (Negative) है। राज्य के विभिन्न सदस्यो के पारस्परिक व्यवहार मे उत्पन्न होने वाले दोषो को ठीक करके उनमे यह संशोधन करता है।

संशोधनात्मक न्याय का परिष्कारक न्याय भी दो प्रकार का है—

(1) प्रथम प्रकार के न्याय को ऐच्छिक कह सकते हैं, जिसमे विभिन्न सन्धियाँ समझौते के द्वारा एक व्यक्ति दूसरे से करता है। उनके तोड़ने पर न्यायालय उनको ठीक करता है।

(2) दूसरे प्रकार का न्याय अनैच्छिक होता है, जबकि कोई नागरिक किसी दूसरे को कष्ट पहुँचाने की कोशिश करता है, तो राज्य कष्ट उठाने वाले व्यक्ति की सुनवाई करता है, अपराधी को दण्ड देता है।

अरस्तू के संशोधनात्मक न्याय के द्वारा राज्य का वह सामञ्जस्य पुनर्स्थापित हो जाता है जो नागरिको के अनाधिकार आचरण के कारण बिगड़ जाता है।

अरस्तू व प्लेटो के न्याय सम्बन्धी विचारो की तुलना

(1) जहाँ प्लेटो के अनुसार न्याय का अर्थ है व्यक्तियो द्वारा अपनी योग्यता के अनुसार राज्य मे अपने निश्चित कार्य करना, वहाँ अरस्तू के वितरक न्याय के सिद्धान्त से आशय है—राज्य की सेवा मे लगाई गई या राज्य को दी गई अपनी व्यक्तिगत योग्यता या धनराशि के आधार पर राज्य से पद या पुरस्कार प्राप्त करना।

(2) प्लेटो के न्याय सिद्धान्त मे कर्तव्य को अधिक महत्त्व दिया गया है जबकि अरस्तू के सिद्धान्त मे अधिकारो का पुट ज्यादा है। प्लेटो समाज को श्रम-विभाजन एवं कार्य के विशेषीकरण के अनुसार बाँटता है, अरस्तू आनुपातिक समानता को लेकर चलता है।

(3) अरस्तू सामान्य न्याय व विशिष्ट न्याय मे भेद करता है। प्लेटो इस प्रकार के किसी भेद को नही मानता। 'रिपब्लिक' मे चित्रित आदर्श राज्य मे प्लेटो का न्याय अरस्तू के पूर्ण न्याय या सामान्य न्याय के समान है। उसमे विशिष्ट न्याय की कल्पना को जोड़कर अरस्तू ने न्याय की व्याख्या को अधिक विस्तृत कर दिया है।

(4) अरस्तू की न्याय कल्पना प्लेटो की न्याय कल्पना से अधिक स्पष्ट विशद् और वैज्ञानिक है।

कुछ विद्वानो ने अरस्तू के वितरणात्मक न्याय की आलोचना की है। वे आधुनिक दृष्टि से इसे व्यावहारिकता नही मानते। यद्यपि आजकल वितरणात्मक न्याय के आधार पर पद नही दिए जाते किन्तु फिर भी सिद्धान्त के अन्तर मे छिपी हुई सत्यता और न्याय भावना मे सन्देह महत्त्वपूर्ण है।

अरस्तू के शिक्षा सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Conception of Education)

शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियो का

विकास होता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति मे निहित पाशविक वृत्तियो का शुद्धिकरण एव परिमार्जन होता है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति की आत्मा को पवित्र बनाया जा सकता है। वह राज्य मे अपने अधिकारो और कर्त्तव्यो को जान पाता है।

यूनान के प्रायः समस्त दार्शनिको ने शिक्षा को बड़ा महत्त्व दिया है। यूनान की सभ्यता और सस्कृति मे इसका एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्लेटो और अरस्तू जैसे महारथियो ने शिक्षा-व्यवस्था पर बड़े मनोयोग से विचार करके अपने मत प्रकट किए हैं।

अरस्तू ने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारो का विवेचन 'पॉलिटिक्स' की पाँचवी पुस्तक में किया है। प्लेटो के अनुसार वह भी, नागरिको के चरित्र निर्माण के लिए शिक्षा को आवश्यक मानता है। उसके अनुसार शिक्षा सर्वोत्तम अथवा आदर्श राज्य के लिए एक अनिवार्य तत्त्व है। आदर्श राज्य के निर्माण और स्थायित्व के लिए उपयुक्त शिक्षा-पद्धति परम आवश्यक है। अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य नागरिको को सविधान के अनुकूल बनाना है ताकि राज्य और उनमे किसी प्रकार का विभेद न रह जाए और नागरिको के मानसिक-स्तर की भी उन्नति हो जाए। इसी दृष्टि से उसके अनुसार शिक्षा व्यक्तिगत क्षेत्र मे न होकर राज्य के क्षेत्र मे होनी चाहिए।

शिक्षा के तीन मूल सिद्धान्त

(1) राज्य के निवासियो को इस प्रकार की शिक्षा से शिक्षित करना है जिससे राज्य के निवासी स्वय को राज्य का योग्यतम सदस्य बनाकर स्वय का और राज्य का विकास कर सकें। वह सब नागरिक के लिए एक जैसी शिक्षा की व्यवस्था करता है।

(2) अरस्तू के अनुसार शिक्षा राजनीति का एक अग है, अतः इसका एक राजनैतिक उद्देश्य है, जिसकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब शिक्षा राज्य के नागरिको को चरित्रवान् और नैतिक बनावे।

(3) शिक्षा नागरिको को सविधान के अनुकूल बनाए।

अरस्तू की शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार

अरस्तू का कहना है कि शिक्षा का उद्देश्य सर्वांगीण विकास होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे उसने भी प्लेटो की भाँति मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को आधार बनाकर शिक्षा का विश्लेषण किया है। शिक्षा का परम उद्देश्य आत्म-विकास है और अरस्तू के अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मानव-आत्मा के इस विकास के तीन सोपान हैं। ये तीनो सोपान अधोलिखित हैं—

(1) प्राकृतिक गुणो का सोपान (Stage of Natural Endowment)—प्रथम सोपान के अन्तर्गत प्राकृतिक या कुछ वश-परम्परागत विशेषताओ की बहुलता रहती है। वस्तुत शिक्षा प्रणाली प्राकृतिक गुणो मे शायद ही परिवर्तन ला सकती है, किन्तु अरस्तू अपनी शिक्षा योजना द्वारा इन गुणो मे परिवर्तन लाने के लिए प्रयत्नशील है। उसका मत है कि नवजात शिशुओ की आनुवशिक प्रवृत्तियों की

गतिविधि को सर्वोत्तम राज्य के गुणों के अनुकूल मोड़ा जा सकता है। यदि विवाह सम्बन्ध और जनसंख्या पर नियन्त्रण रखा जाए तो निश्चय ही कुछ अंशों में इसे प्रभावित किया जाना सम्भव है।

(2) स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सोपान (Stage of Innate Tendencies)—प्रारम्भ-विकास के दूसरे सोपान में स्वाभाविक प्रवृत्तियों को प्रधानता रहती है। उसका विचार है कि इस स्तर पर शिक्षा-व्यवस्था का उपयोग करके उससे अच्छे परिणाम निकाले जा सकते हैं, अर्थात् इन प्रवृत्तियों को शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत सरलता से लाया जा सकता है। यह सोपान भावना-प्रधान और जीवन का सुकोमल काल होता है। इस काल में विवेक अपनी शैशवावस्था में रहता है। बुद्धि इतनी परिपक्व नहीं होती कि वह कोई उचित निर्णय ले सके। किशोर व्यक्ति के समक्ष असंख्य इच्छाएँ और भावनाएँ रहती हैं जिनमें बह कर उसके पथ से विचलित हो जाने का भय रहता है। अतः यह उचित है कि शिक्षा द्वारा उसकी भावनाओं और इच्छाओं को नियन्त्रित किया जाय। किशोरों को विवेकशील व्यक्तियों के नियन्त्रण में रखा जाना उपयुक्त है। उपयुक्त शिक्षा द्वारा उनके मनमानस में ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जा सकता है जिसमें उनमें साहस, संयम आदि सद्गुणों का विकास हो सके तथा उसकी इच्छाओं पर अंकुश स्थापित हो जाए। अरस्तू का विश्वास है कि इस काल में दी गई उपयुक्त शिक्षा किशोरों को सुमार्ग पर चलने को प्रेरित करेगी, उसकी बुद्धि को प्रखरता प्रदान करेगी। अरस्तू चाहता है कि इस स्तर पर शिक्षक अपनी आदर्श शिक्षण पद्धति द्वारा किशोरों में कुछ ऐसी विशेषताएँ उत्पन्न कर दें कि उनकी छाप जीवन-पर्यन्त बनी रहे।

(3) बौद्धिक आत्म-निर्णय का सोपान (Stage of Rational Self-determination)—इस अवस्था में मनुष्य कोई कार्य आवेश या आवेग के वशीभूत होकर नहीं करता है, वरन् अपनी बुद्धि एवं तर्क का अवलम्बन लेता है। इस समय शिक्षा द्वारा व्यक्ति के विवेक और तर्क को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए और मनुष्य को अपनी विवेक और तर्क-शक्ति से परिचित कराकर इनका उपयोग करने के लिए तत्पर करना चाहिए। अरस्तू की मान्यता है कि इस स्तर पर समुचित शिक्षा द्वारा सत्य की महत्ता से परिचित होकर व्यक्ति उसको पाने के लिए प्रयत्नशील हो उठता है। यदि व्यक्ति अपने शाश्वत सत्त् साधना पथ पर अग्रसर रहता है तो अन्ततः उसे जीवन की पूर्णता प्राप्त होती है। अरस्तू का विचार है कि जिस तरह राज्य अपने विकास की विभिन्न मंजिलों को पार करके अपने आदर्श रूप या अपनी पूर्णता को प्राप्त होता है, उसी भाँति मानव-आत्मा भी विकास के विभिन्न सोपानों को पार करके अपने आदर्श रूप को प्राप्त करती है अर्थात् अपने शिखर पर पहुँचती है।

अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य

जहाँ प्लेटो के आदर्श राज्य की शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य 'सद्गुण की प्राप्ति' था वहाँ अरस्तू का किंचित् भिन्न दृष्टिकोण है। अरस्तू की सम्मति में

शिक्षा का उद्देश्य यही है कि व्यक्ति की भावनात्मक शक्तियों को इतना जाग्रत कर दिया जाए जिससे बुद्धि अथवा विवेक को विकास का अवसर मिल सके। अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य लोगों को उत्तम नागरिक बनाना है। नागरिकों को आज्ञा-पालन करने और शासन करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। अरस्तू चाहता है कि राज्य मे शिक्षा की ऐसी व्यवस्था की जाय कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विवेक को विकसित करने का अवसर मिले। यदि व्यक्ति के विवेक का पूर्ण विकास होगा तो उसमे सद्गुण उत्पन्न हो जाएंगे। व्यक्ति का यह विवेक तत्त्व उसे जीवन मे शान्ति की प्राप्ति कराएगा और उसे सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की ओर अग्रसर करेगा। सार रूप मे कहना चाहिए कि अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य व्यापक एव सार्वभौमिक है।

शिक्षा का राज्य द्वारा नियन्त्रण

अरस्तू के विचार से शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य पर होना चाहिए, क्योंकि (1) इससे राज्य की शासन-व्यवस्था को हानि पहुँचने की सम्भावनाएँ धूमिल हो जाएँगी और वह शिक्षा द्वारा नागरिको को अपनी शासन-व्यवस्था के लिए अनुकूल साँचे मे ढाल सकेगा, तथा (ii) राज्य अपनी शिक्षा-व्यवस्था द्वारा श्रेष्ठ नागरिकता का विकास कर सकेगा और इस प्रकार अपने विशिष्ट लक्ष्य की पूर्ति की दिशा मे बढ सकेगा। अरस्तू शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण चाहता है क्योंकि शिक्षा को अपने अधिकार में लेकर ही राज्य सभी नागरिको को समान मानते हुए उनके विकास मे भी समानता का निर्देशन कर सकता है। राज्य की दृष्टि मे उसके सभी सदस्य समान हैं, अत राज्य अपने सदस्यो के लिए जो कुछ भी व्यवस्था करेगा वह सबके लिए होगी, उसका उद्देश्य भी एक ही होगा। व्यक्तिगत सस्थाओ द्वारा शिक्षा का ऐसा आयोजन सम्भव नही है, क्योंकि उनके उद्देश्यो मे विभिन्नता होती है। अरस्तू राज्य मे प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए एक ही प्रकार की शिक्षण-व्यवस्था को आवश्यक मानता है और यह केवल तभी सम्भव है जब शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण हो। नागरिक अपनी भावनाओ और इच्छाओ के स्वामी नही है अपितु वे तो राज्य के अधीन तथा राज्य की वस्तु है। इसलिए उन्हे राज्य द्वारा ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

अरस्तू यह भी चाहता है कि शिक्षा नि.शुल्क, अनिवार्य और सार्वभौमिक हो, क्योंकि अशिक्षित मनुष्य राज्य के लिए भार हैं, अशिक्षित स्त्रियाँ सकट के समय भय का कारण बन जाती है और अशिक्षित बालक अपनी नैतिक एव मानसिक शक्तियों का विकास नहीं कर पाते। अरस्तू इस पक्ष मे भी है कि राज्य द्वारा नियन्त्रित शिक्षण-व्यवस्था मे नैतिक प्रशिक्षण को मुख्य स्थान दिया जाए। व्यक्ति और नागरिक मे कोई अन्तर नही होता, 'अच्छा व्यक्ति ही अच्छा नागरिक होता है। नैतिक प्रशिक्षण द्वारा व्यक्ति को अच्छा बनाए जाना आवश्यक है क्योंकि तभी वह स्वय अच्छा जीवन व्यतीत करेगा और राज्य को अच्छा बनाने मे योग देगा।

अरस्तू की शिक्षा का स्वरूप या उसकी रूपरेखा

प्लेटो और अरस्तू दोनों को ही इस बात का भारी क्षोभ था कि जहाँ स्पार्टा मे बालको और युवको की शिक्षा के लिए बडी उत्तम योजना थी वहाँ एथेन्स इस

दृष्टि से पिछड़ा हुआ था। इसलिए इन दोनों महान् दार्शनिकों ने अपने नगर राज्य के बालकों और युवकों की शिक्षा के लिए अति लाभप्रद योजनाएँ प्रस्तावित की और महत्त्वपूर्ण उपाय सुझाए। रावर्ट यूलिच (Robert Ulich) के अनुसार, प्लेटो और अरस्तू ने ऐसे उपायों का सुझाव दिया जिनका अभिप्राय बालकों और युवकों की शिक्षा तथा उनके पालन-पोषण में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना था।[1]

अरस्तू ने अपनी शिक्षा-योजना का श्रीगणेश तभी से किया है जब से बालक अपनी माँ की गोद में रहता है। यह बच्चे का जन्म होने के बाद से ही उसकी शारीरिक और नैतिक शिक्षा की विस्तृत व्यवस्था करता है। वह इसका एक विशेष कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। अरस्तू की शिक्षा योजना सप्तवर्षीय परिवर्तन (Cycle of Seven Years) के साथ है। उसकी शिक्षा योजना को तीन भागों में बाँटा जा सकता है जो इस प्रकार है—

(1) जन्म से सात वर्ष तक—यह शैशव काल है। इसकी पहली दशा में अरस्तू बालक के भोजन, अंग-सचालन और ठण्ड का अभ्यासी बनाने पर बल देता है। इसमें उसका उद्देश्य यह है कि वह कष्ट-सहिष्णु बन सके। शैशव की दूसरी अवस्था 5 वर्ष तक की है जिसमें बच्चों के शारीरिक गठन की ओर विशेष ध्यान देना बताया जाता है। अरस्तू का कहना है कि इस समय बालकों पर पढ़ाई का बोझा नहीं डालना चाहिए बल्कि विभिन्न मनोरंजक खेलों की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि बच्चों का उचित अंग-सचालन हो सके। अरस्तू के अनुसार उन्हें ऐसी कहानियाँ सुनानी चाहिए और ऐसे खेल खिलाए जाने चाहिए जो उन्हें भावी जीवन के लिए तैयार करने में सहायक हों। वह बच्चों को कुसंगति से बचाने पर पर्याप्त बल देते हुए कहता है कि बच्चों को न तो गालियाँ सुनने देनी चाहिए और न ही अश्लील चित्रों को देखने देना चाहिए। शैशव की तीसरी अवस्था 5 से 7 वर्ष तक की है जिसमें भी बालकों की अश्लील एवं बुरी वस्तुओं के प्रभाव से रक्षा करनी चाहिए। अरस्तू के अनुसार राज्य को चाहिए कि वह अश्लील चित्रों और नाटकों पर प्रतिबन्ध लगा दे तथा ऐसा प्रबन्ध करे कि कहीं भी अश्लील और अशोभनीय कार्यों की अनुकृति करने वाली मूर्तियाँ व चित्र न हों। वह केवल परिपक्व अवस्था (Matured) के स्त्री पुरुषों की पूजा के लिए बने हुए देव मन्दिरों को केवल इसका अपवाद मानता है। अरस्तू का यह भी कहना है कि 7 वर्ष तक बालक की शिक्षा परिवार में ही माँ-बाप के पास होनी चाहिए। इसी काल में उसकी बौद्धिक शिक्षा प्रारम्भ कर देनी चाहिए।

(2) 8 से 14 वर्ष तक—शिक्षा के इस द्वितीय सोपान में अरस्तू ने शरीर गठन पर विशेष ध्यान देने के लिए बल दिया है। उसका विचार है कि छात्रों को जिम्नास्टिक द्वारा अपने शरीर को वैसा ही बनाना चाहिए जैसा कि स्पार्टा के लोगों का था किन्तु इस काल में कठोर शारीरिक शिक्षा के पक्ष में नहीं है। उसका यह भी कहना है कि इस आयु में तर्क को कम महत्त्व देते हुए किशोरों के नैतिक विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। साथ ही पढ़ाई-लिखाई, चित्रकला, संगीत आदि की

शिक्षा को महत्त्व देना चाहिए। अरस्तू इस अवधि मे, सगीत की शिक्षा भी प्रदान करता है। नैतिक जीवन की उन्नति की दृष्टि से वह सगीत को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान देता है।

(3) 15 से 21 वर्ष तक—यह अवधि शिक्षा की तीसरी सीढ़ी है। इस अवधि मे छात्रो को उस सरकार के स्वरूप के अनुरूप प्रशिक्षित किया जाना चाहिए जिसकी अधीनता मे उन्हे रहना है। इसके अतिरिक्त छात्रो के मानसिक एव शारीरिक विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। अरस्तू ने छात्रो के अधिकतम मानसिक विकास के लिए अवधि के प्रारम्भिक तीन वर्षों मे निरन्तर गम्भीर अध्ययन की व्यवस्था की है। इस अवधि मे छात्रो के मस्तिष्क के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए और अध्ययन विषयो मे पढना, लिखना, ड्राइग, चित्रकला, संगीत, अंकगणित, रेखा गणित आदि अवश्य होने चाहिए। इन तीन वर्षों की अवधि के उपरान्त छात्रो से शेष अवधि के दौरान कठिन परिश्रम और व्यायाम कराया जाना चाहिए। उनको सैनिक प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए।

शिक्षा के इस तीसरे सोपान मे अरस्तू ने शैक्षणिक या मानसिक एवं शारीरिक सगठन सम्बन्धी दोनो ही प्रकार की शिक्षा पर पर्याप्त बल दिया है। मानसिक और शारीरिक प्रशिक्षण को दो अलग-अलग भागो मे रखने का कारण बताते हुए अरस्तू ने कहा है कि 'मस्तिष्क और शरीर से एक ही समय मे कार्य किया जाना उपयुक्त नही। दो विभिन्न प्रकार के कार्य स्वाभाविक रूप से विभिन्न और विरोधी परिणाम उत्पन्न करते हैं। शारीरिक कार्य मस्तिष्क को कुण्ठित बनाता है तो मानसिक कार्य शारीरिक वृद्धि को रोकता है। अरस्तू की इस शिक्षा का कार्यक्रम 21 वर्ष की अवस्था पर समाप्त हो जाता है लेकिन अरस्तू इसका अर्थ यह नही लेता कि शिक्षा की अवधि 21 वर्ष तक की ही होनी है। उसके अनुसार शिक्षा जीवन का एक क्रम है जो जन्म से प्रारम्भ होकर जीवन के अन्त तक चलता रहता है।

प्लेटो की सम्पूर्ण शिक्षा योजना एक सुनियोजित, अनिवार्य शिक्षा प्रणाली को प्रस्तुत करती है। शिक्षा की दृष्टि से भी वह मध्यम मार्ग को ही महत्त्व देता है। वह न केवल शरीर का ही विकास चाहता है और न केवल मन का ही, परन्तु दोनो का सतुलन चाहता है।

अरस्तू के शिक्षा सिद्धान्त की मुख्य विशेषतायें

(1) शिक्षा की एक सुन्दर परिपाटी के द्वारा अरस्तू व्यक्ति को सुयोग्य शासक बनाने का प्रयास करता है।

(2) अरस्तू की शिक्षा योजना का मनोवैज्ञानिक आधार है जिसके अनुसार बच्चो को उनकी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियो के अनुसार शिक्षा प्रदान की जाती है। उसमे प्राकृतिक, स्वाभाविक अनुकरण आदि प्रवृत्तियो का समावेश है।

(3) अरस्तू के अनुसार शिक्षा का उपयोग व्यक्ति का चारित्रिक विकास करने के साथ-साथ उसकी 'इच्छा' (Will) का शिक्षण करना है इसलिए वह

अपनी शिक्षा मे संगीत एवं कला को विशेष स्थान देता है। स्पष्ट है कि अरस्तू की शिक्षा पद्धति का राजनीतिक तथा नैतिक महत्त्व होने के साथ ही साथ कलात्मक महत्त्व भी है।

(4) अरस्तू की शिक्षा योजना व्यवसायवाद से मुक्त है क्योंकि अरस्तू व्यवसायवाद को स्वतन्त्रता के लिए घातक समझता है।

(5) अरस्तू ने अपने शिक्षा-क्रम मे नैतिकता को राज्य की सुस्थिरता का महत्त्वपूर्ण अंग स्वीकार किया है।

अरस्तू के शिक्षा सिद्धांत की आलोचना

(1) अरस्तू ने संगीत को अनावश्यक एवं अत्यधिक विशेषता प्रदान की है। इस तरह शिक्षा के एकपक्षीय महत्त्व को अधिक प्रकाश मे लाया गया है। बार्कर (Barker) ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि संगीत शिक्षा पर महत्त्व देते हुए वह अपने गुरु प्लेटो से भी चार कदम आगे बढ़ गया है।

(2) अरस्तू की शिक्षा योजना अव्यवस्थित है। साहित्य के अध्ययन पर उसने बहुत ही कम महत्त्व दिया है जबकि साहित्य किसी भी राज्य एवं समाज के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

(3) अरस्तू की शिक्षा प्रणाली मे बौद्धिक विकास के लिए व्यवस्था बड़े विलम्ब से प्रारम्भ की गई है। 14 वर्ष तक बालकों के लिए ऐसी किसी भी शिक्षा का उपबन्ध नही है जिससे उसका बौद्धिक विकास हो सके। इस अवधि तक वह बालकों को शारीरिक शिक्षा ही प्रदान करता है। उनके अनुसार तो 21 वर्ष की अवस्था प्राप्त युवक भी बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न नही हो पाता।

(4) शिक्षा का पूर्ण राज्यीयकरण सर्वथा अलोकतान्त्रिक है जिसका कभी समर्थन नही दिया जा सकता है।

(5) अरस्तू शिक्षा योजना केवल नागरिकों के लिए रखता है। इस तरह कृषक एवं शिल्पी-वर्ग, जो नागरिकता के अन्तर्गत नही आता, शिक्षा योजना से वंचित रह जाता है। यह सर्वथा अप्रजातान्त्रिक है।

अरस्तू की शिक्षा-योजना का महत्त्व

त्रुटियों के बावजूद अरस्तू की शिक्षा योजना कतिपय दृष्टियों से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। उसमे व्यक्ति की चित्त वृत्तियों, स्वभाव, अनुकरण की क्रियाओं और वंश परम्परागत विशेषताओं के लिए स्थान है। उसकी यह शिक्षा मानव जीवन को परिष्कृत करने पर बड़ा बल देती है और उसे 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की ओर प्रेरित करती है। अरस्तू का शिक्षा सिद्धान्त शिक्षा जगत् को एक बड़ी देन है और आज भी शिक्षा के अनेक अंगों पर अरस्तू के प्रभाव की छाप दिखाई देती है। यूलिच ने पाँच महत्त्वपूर्ण प्रभावों की ओर संकेत किया है—प्रथम, अरस्तू ने शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान कर उसके प्रति समूचे दृष्टिकोण में ही परिवर्तन ला दिया है। द्वितीय, अरस्तू के पाठ्यक्रम-निर्माण के सिद्धान्तों की बहुत सी बातों को आज भी सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है, तृतीय आज उदारवादी शिक्षा के

समर्थन पर अरस्तू का प्रभाव स्पष्ट है, चतुर्थ, अरस्तू द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्द आधुनिक शिक्षा दर्शन और विज्ञान मे देखने को मिलते हैं एव पचम्, अरस्तू ने ज्ञान का जो वर्गीकरण किया उसके आधार पर आज भी यूरोप के बहुत से पुस्तकालय अपनी विभिन्न विषय-पुस्तको का वर्गीकरण करते हैं।[1]

कुछ विद्वानो का तर्क है कि अरस्तू की शिक्षा का ध्येय व्यक्तित्व का विकास करना नहीं अपितु सविधान के अनुकूल नागरिकों का चरित्र निर्माण करना है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह अपनी यह शिक्षा-योजना प्रस्तावित करता है और इसमे राज्य को महत्त्वपूर्ण स्थान देकर वह व्यक्ति को उसके आधीन बना लेता है लेकिन आधुनिक शिक्षा शास्त्री शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास करना मानते हैं। वे व्यक्ति को राज्य के लिए विलयित नहीं होने देते। उनके अनुसार राज्य व्यक्ति के विकास के लिए साधन के रूप के कार्य करता है।

अरस्तू एवं प्लेटो के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों की तुलना

समानताएँ

(1) दोनों मानव आत्मा के प्रशिक्षण मे विश्वास रखते हैं। अन्तर केवल यही है कि प्लेटो के अनुसार मानव आत्मा पूर्व शिक्षित होती है तथा शिक्षा का उद्देश्य केवल 'नेत्रो को प्रकाशोन्मुख कर देना है' जबकि अरस्तू इसके प्रशिक्षण को शृंखलित क्रम के अनुसार करता है।

(2) दोनो की शिक्षा योजना राज्य द्वारा नियन्त्रित है।

(3) दोनो शिक्षा के नैतिक ध्येय मे विश्वास करते हैं। दोनो ने ही चरित्र तथा स्वेच्छा से प्रशिक्षण पर जोर दिया है।

(4) शिक्षा योजना को कार्यान्वित करनेमे दोनो ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों का सहारा लिया है। दोनो का यही विचार है कि पाठशाला एक ऐसा स्थल है जहाँ 'अच्छे' के प्रति प्रेम तथा 'बुरे' के प्रति घृणा की भावनाएँ पैदा होती हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दोनो ही ने सगति का सहारा लिया है।

(5) दोनो ने शिक्षा व्यवस्था का उपयोग राज्य की सुस्थिरता के लिए किया है।

(6) दोनो ही ने शिक्षा का एक निश्चित कार्यक्रम निर्धारित किया है।

(7) दोनो विचारक स्पार्टा की शिक्षा पद्धति से प्रभावित हैं और इसलिए शारीरिक गठन, व्यायाम आदि पर बल देते हैं।

(8) दोनो ने ही शिक्षा के माध्यम से विवाह और सन्तति-नियम का प्रयास किया है।

असमानताएँ

(1) अरस्तू की शिक्षा का अन्त विवेक की श्रेष्ठता या सर्वोपरिता में होता है, जबकि प्लेटो की शिक्षा का अन्त 'सद्गुण' को प्राप्ति के रूप मे होता है।

1 *Ulich* : Op. Cit., pp. 42-43.

(2) अरस्तू अपने शिक्षा पाठ्यक्रम मे साहित्य की उपेक्षा करता है। प्लेटो साहित्य के अध्ययन पर बल देता है। वह केवल साहित्य के अश्लील अगो पर प्रतिबन्ध लगाता है।

(3) सगीत के स्वरूप के सम्बन्ध मे दोनो दार्शनिको के विचार समान नही हैं।

(4) शिक्षा के क्षेत्र मे अरस्तू की शिक्षा व्यवस्था इतनी क्रमबद्ध नही है, जितनी प्लेटो की दिखलाई पड़ती है। अरस्तू की शिक्षा का कार्यक्रम भी प्लेटो से भिन्न है। प्लेटो की शिक्षा योजना जहाँ वृद्धावस्था तक के लिए शिक्षा का कार्य प्रस्तुत करती है वहाँ अरस्तू की शिक्षा योजना मे 21 वर्ष की आयु तक के लिए शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अरस्तू और प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था जहाँ अनेक पक्षो मे समान है, वहाँ उसमे असमानता भी कम नही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्लेटो का शिष्य होते हुए भी अरस्तू ने पूर्ण रूप से अपने गुरु के विचारो का अनुसरण नही किया है, बल्कि अपनी मौलिकता का परिचय देने की सफल चेष्टा की है।

संविधान का अर्थ और संविधानों का वर्गीकरण
(Meaning of the Constitution and Classification of Constitution)

'सविधान' के लिए अरस्तू द्वारा प्रयुक्त यूनानी शब्द है 'पॉलिटिया' (Politeia) जिसका अग्रेजी रूपान्तर है 'कॉन्स्टीट्यूशन' (Constitution)। पर यह अग्रेजी रूपान्तर 'पॉलिटिया' शब्द मे निहित वास्तविक भाव को व्यक्त नही करता क्योकि अरस्तू ने इसका प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ मे किया है। अरस्तू के अनुसार, "सविधान राज्य के पदो की वह व्यवस्था है, जिसमे यह निर्धारित किया जाता है कि राज्य का कौनसा पद विशेषकर सर्वोच्च पद, किसे मिले।"[1] राज्य का निर्माण सविधान ही करता है तथा शासक वर्ग का स्वरूप सविधान के स्वरूप का निर्धारण करता है। इस तरह राज्य एव सविधान एक ही बात है। यदि किसी राज्य के सविधान मे परिवर्तन कर दिया जाता है तो उस राज्य मे भी परिवर्तन हो जाता है। इसमे यह बात भी निहित है कि राज्य और दल एक बात है। यदि कोई नया दल शक्ति प्राप्त कर लेता है तो वह सविधान को परिवर्तित कर देता है और इस तरह राज्य मे भी तदनुरूप परिवर्तन आ जाता है। आधुनिक युग मे हमे अरस्तू की उपरोक्त धारणा गलत प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि हमारी दृष्टि मे अरस्तू के अनुरूप सविधान का व्यापक महत्व नही है। अरस्तू सविधान को राज्य का एक अग और उसके ढाँचे को एक कानूनी आधार मात्र नही मानता। उनके

1 "The Constitution is an arrangement of a state determining their distribution, the residence of sovereignty and the ends of political association."

—*Aristotle*

लिए तो संविधान स्वयं राज्य है, वह सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यंजना है। अरस्तू के मतानुकूल यही वह ध्येय है जिसे पाने के लिए नागरिकों ने स्वयं को एक राज्य के रूप में संगठित किया है। वास्तव में संविधान के प्रति यूनानी दृष्टिकोण आधुनिक दृष्टिकोण की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक था। उसकी दृष्टि में संविधान में परिवर्तन हो जाने का तात्पर्य केवल मात्र पद-व्यवस्था में परिवर्तन हो जाना ही नहीं था अपितु जनता के नैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक मूल्यों का पलट जाना भी था। उसके लिए यह स्थिति एक तरह की क्रान्ति थी।

अरस्तू की संविधान सम्बन्धी उपरोक्त धारणा यूनान के तत्कालीन इतिहास के प्रकाश में बनी थी। उस समय प्राय: प्रत्येक नगर-राज्य में वर्गतन्त्रियों एवं जनतन्त्रियों में संघर्ष रहता था। किसी भी एक दल की जीत का अर्थ केवल यही नहीं था कि उसके नेता सरकार बना लें, बल्कि उस जीत से यह निर्णय भी होता था कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति कुछ इनेगिने व्यक्तियों के हाथों में रहे अथवा शासन की बागडोर सर्वसाधारण के हाथ में चली जाए। यदि जनतन्त्रियों की विजय होती थी तो राज्य में प्रभुता या सर्वोच्च सत्ता का एक सामाजिक वर्ग में निहित होना था और वर्गतन्त्रियों की विजय का अर्थ था—राज्य में एक दूसरे वर्ग का प्रधान होना। इस तरह यूनान में संविधान आधुनिक युग के सर्वमान्य के समान दलगत संघर्ष से ऊपर नहीं होता था। उनके लिए तो संविधान संघर्ष-बिन्दु था। अरस्तू की दृष्टि में राजनीति में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति जिस सामाजिक वर्ग के हाथ में है, उसका स्वरूप क्या है।

अरस्तू के इन विचारों से उसके द्वारा इंगित राज्य और सरकार का भेद सुन्दरता से स्पष्ट हो जाता है। जहाँ राज्य नागरिकों का समुदाय है वहाँ सरकार उन नागरिकों का समूह है जिनके हाथों में राजनीतिक शक्ति और शासन-संचालन का कार्य हो। उच्च राजनीतिक पदों वाले व्यक्तियों में परिवर्तन आने पर सरकार में भी परिवर्तन आ जाता है, परन्तु राज्य में तभी परिवर्तन आते हैं, जब इसके संविधान में परिवर्तन हों।

संविधान का वर्गीकरण (Classification of Constitution)

अरस्तू द्वारा संविधान का वर्गीकरण राजनीति शास्त्र को कोई मौलिक देन नहीं है। उसने प्लेटो द्वारा 'स्टेट्समैन' में किए गए राज्यों के वर्गीकरण को ही अपना आधार बनाया है।

अरस्तू ने संविधानों का अपना वर्गीकरण दो सिद्धान्तों के आधार पर किया है—

(1) संख्या (Number) अर्थात् शासन सत्ता कितने व्यक्तियों में निहित है?

(2) लक्ष्य या उद्देश्य (Purpose) अर्थात् राज्य का उद्देश्य सार्वजनिक हित है या स्वार्थ साधन?

उद्देश्य की दृष्टि से अरस्तू ने राज्यों अथवा संविधानों को दो भागों में वर्गीकृत किया है—(1) स्वाभाविक रूप (Normal Form), तथा (2) विकृत रूप (Perverted Form)। जब राज्य शक्ति का प्रयोग जनसाधारण के हित में किया जाता है तो उसे अरस्तू राज्य का स्वाभाविक रूप बतलाता है, किन्तु जब उसका दुरुपयोग स्वार्थ सिद्धि के लिए किया जाता है तो वह उसे राज्य का विकृत रूप बतलाता है।

अपने पहले सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए अरस्तू ने लिखा है कि "राज्य एकतन्त्र उस समय होता है जबकि एक व्यक्ति जिसके हाथ में सर्वोच्च सत्ता है, उस सत्ता का प्रयोग सर्वसाधारण के हित के लिए करता है। वह राज्य जिसका शासन एक व्यक्ति से अधिक, किन्तु कुछ व्यक्तियों के हाथों में हो वह कुलीनतन्त्र या श्रेणीतन्त्र (Aristocracy) कहलाता है। जब राज्य की सत्ता समस्त जनता में निहित हो और वह सबके कल्याण की दृष्टि से अपना शासन स्वयं चला सके तो उसे लोक राज्य या संयत प्रजातन्त्र या समाजतन्त्र (Polity) कहते हैं।"

संविधान के उपरोक्त तीनों रूप (एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र और संयत प्रजातन्त्र) कानून-प्रिय हैं। ऐसी अवस्था में राज्य शुद्ध और जनहितकारी होता है परन्तु कानून विरोधी हो जाने के कारण उपर्युक्त तीनों संविधान भ्रष्ट हो जाते हैं। उनमें शासकों की संख्या वही रहने पर भी उनका उद्देश्य बदल जाता है। इस भ्रष्ट शासन का वर्गीकरण निरंकुशतन्त्र, धनिकतन्त्र और अतिवादी लोकतन्त्र या भीड़तन्त्र के रूप में होता है। अरस्तू ने निकृष्ट रूप के संविधानों की व्याख्या करते हुए कहा है कि "निरंकुश तन्त्र एक प्रकार का राजतन्त्र है जिसके सामने केवल राजा का ही हित होता है। गुट तन्त्र या धनिक तन्त्र में केवल धनिक लोगों का हित होता है और कुलीनतन्त्र या अतिवादी लोकतन्त्र में जरूरतमन्दों का। इनमें से किसी में भी सबका सामान्य हित नहीं होता है।"

अरस्तू द्वारा संविधान के उपरोक्त सम्पूर्ण वर्गीकरण को निम्नांकित चार्ट द्वारा और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—

संविधान का रूप या शासकों की संख्या	सामान्य राज्य जो सार्वजनिक कल्याण की चेष्टा करते हैं	भ्रष्ट राज्य जो सार्वजनिक कल्याण की उपेक्षा करते हैं
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र (Monarchy) या एकतन्त्र	निरंकुश शासन (Tyranny)
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	अल्पतन्त्र या स्वार्थी व (Oligarchy)
अनेक व्यक्तियों का शासन	संयत प्रजातन्त्र (Polity or Moderate Democracy)	अतिवादी लोकतन्त्र (Democracy)

वर्गीकरण की व्याख्या—अरस्तू का उपरोक्त वर्गीकरण एकदम स्पष्ट है। इसकी प्रमुख व्याख्या निम्नानुसार है—

(1) राजतन्त्र (Monarchy)—अरस्तू के अनुसार राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है जिसमें राज्य का शासन एक व्यक्ति के हाथ में होता है। वह

व्यक्ति 'शुभ' को जानता है एवं उसी 'शुभ' को क्रियान्वित करने वाले कानूनों का निर्माण करता है। अरस्तू का राजतन्त्र प्लेटो के आदर्श शासक द्वारा शासित राज्य से भिन्न नहीं है, अतः उसके मत में यह सर्वश्रेष्ठ शासन है लेकिन साथ ही उसका यह मत भी है कि आदर्श शासक सुलभ नहीं है। इसीलिए वह राजतन्त्र को अप्राप्य मानता है। उसका यह भी कहना है कि यदि सौभाग्यवश सर्व सद्गुणसम्पन्न शासक मिल जाये तो यह आवश्यक नहीं है कि उसका उत्तराधिकारी भी इसी प्रकार का गुणसम्पन्न व्यक्ति होगा।

(2) निरंकुश (Tyranny)—चूंकि राजतन्त्र शासन प्रणाली सर्वोत्तम होने पर भी सदैव क्रियात्मक नहीं है अतः वह विकृत होकर तानाशाही या निरंकुश शासन में बदल जाती है। राजतन्त्र परिस्थितियों के कारण स्वेच्छाचारी तन्त्र में परिणत हो जाता है या आदर्श शासक ही भ्रष्ट हो जाता है या उसका उत्तराधिकारी भ्रष्ट निकलता है। इस शासन का लक्ष्य सार्वजनिक भलाई न होकर स्वार्थ-सिद्धि होता है। इसमें शक्ति, धोखा-धड़ी और स्वार्थ-लिप्सा का साम्राज्य होता है। ऐसा शासन सर्वथा त्याज्य है।

(3) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)—जिस राज्य में शासन सत्ता कुछ व्यक्तियों के हाथ में हो और जहाँ शासन-सत्ता का प्रयोग सामान्य लोकहित के लिए तथा कानून के अनुसार हो, उसे कुलीनतन्त्र कहा जाता है। कुलीनतन्त्र वंशानुगत भी हो सकता है और आयु के अनुसार भी। अरस्तू के आदर्श राज्य में आयु पर आधारित कुलीनतन्त्र ही अपनाया गया है अतः प्रौढ़ व्यक्तियों को ही शासन-संचालन का अधिकार दिया गया है। यद्यपि कुलीनतन्त्र भी बुद्धि और गुण द्वारा सचालित कानूनप्रिय शासन प्रणाली है, लेकिन यह भी स्थाई नहीं है। कालक्रम से इसका भी पतन हो जाता है।

(4) धनिक वर्गतन्त्र (Oligarchy)—कुलीनतन्त्र या अभिजात तन्त्र दूषित होकर धनिकतन्त्र या अल्पतन्त्र या गुटतन्त्र में परिणत हो जाता है। इसमें कुछ धनी व्यक्ति कानून की अवहेलना करके अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए शासन करने लगते हैं। ये धनिक शासक भ्रष्टाचार का सहारा लेकर शेष जनता की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण करने लगते हैं। सम्पूर्ण शासनतन्त्र कुछ स्वार्थी धनी व्यक्तियों द्वारा स्वहित में प्रयोग करना राज्य के लिए अभिशाप है अतः अरस्तू धनिकतन्त्र को सर्वथा अस्थायी, त्याज्य तथा घृणित मानता है।

(5) संयत प्रजातन्त्र (Polity)—संयत प्रजातन्त्र या सर्व जनतन्त्र का अर्थ सारी जनता का और सारी जनता के हित के लिए किया जाने वाला शासन है। सम्पूर्ण जनता अपनी इच्छा से, 'शुभ' के ज्ञान के आधार पर कानून के अनुसार शासन का सचालन करती है। इस शासन में न तो किसी वर्ग विशेष का सम्पत्ति पर आधिपत्य होता है और न ही शेष वर्गों का शोषण। अरस्तू का यह सयत प्रजातन्त्र धनिकतन्त्र एवं भ्रष्ट प्रजातन्त्र या भीड़तन्त्र के बीच का मार्ग है। अपने इस स्वर्णिम मध्यमार्ग (Golden mean) द्वारा अरस्तू एक ऐसे संविधान को स्वीकार करना

चाहता है जो निरंकुश तन्त्र और धनिकतन्त्र के दोषों से मुक्त हो और जिसमे सम्पूर्ण जनता की अराजकता भी न हो।

(6) प्रजातन्त्र या भीड़तन्त्र (Democracy)—अरस्तू के अनुसार निर्धनों की संख्या अधिक होने से संयत प्रजातन्त्र दूषित होकर भीड़तन्त्र या अतिवादी प्रजातन्त्र में बदल जाता है। इस शासन का अर्थ है केवल निर्धनों के हित के लिए जनता का शासन। ऐसे राज्य में शासन का संचालन कानून के अनुसार न होकर सभी की अपनी-अपनी इच्छानुसार होता है।

राज्यों का परिवर्तन-चक्र (Theory of Cyclic Change)—अरस्तू का मत है कि राज्यो मे संविधान के स्वरूप एक निश्चित क्रम से बदलते रहते हैं। जिस प्रकार ऋतुएँ स्वाभाविक रूप में बदलती रहती हैं, उसी प्रकार राज्यों में भी परिवर्तन का चक्र चलता रहता है। राज्य का सर्वप्रथम रूप राजतन्त्र है किन्तु जब राजा जन-हित को ठुकराकर स्वार्थ साधन में लग जाता है तो राजतन्त्र भ्रष्ट होकर निरंकुश राज्य या अन्यायी शासन मे परिणत हो जाता है और फिर धीरे-धीरे इस अन्यायी शासन के विरुद्ध क्रान्ति होती है। कुछ गुणी तथा योग्य व्यक्ति मिलकर जन-हित के लिए अन्याई शासन को समाप्त कर देते हैं और एक नए प्रकार की शासन व्यवस्था का निर्माण करते हैं जिसे कुलीनतन्त्र कहा जा सकता है। समय के साथ-साथ कुलीनतन्त्र भी पतन के रास्ते पर जाने लगता है और शासन निजी स्वार्थ-सिद्धि के लिए होने लगता है तब इसका रूप धनिकतन्त्रात्मक या गुट-तन्त्रात्मक बन जाता है। जनता इस अत्याचार को जब नही सह पाती तो सार्वजनिक विद्रोह के बाद इसका संयत प्रजातन्त्र ले लेता है जिसे सर्व जनतन्त्र, बहुजनतन्त्र या समाजतन्त्र के नाम से भी पुकारा जाता है परन्तु जैसा कि अन्य शासनो के साथ होता है, कालान्तर मे संयत प्रजातन्त्र भी सड़ने लगता है। अरस्तू इसके विकृत रूप को भीड़तन्त्र या अतिवादी प्रजातन्त्र के नाम से पुकारता है। इस अन्धकार के बाद पुनः कोई योग्य व्यक्ति अपनी शक्ति से कानून और व्यवस्था स्थापित करता है और इस तरह राजतन्त्र की फिर से स्थापना हो जाती है। इस प्रकार राज्य का वह चक्र पूरा हो जाता है और पुनः नए सिरे से इसी चक्र का फिर से प्रारम्भ होता है। राजतन्त्र, निरंकुश तन्त्र, कुलीनतन्त्र, धनिकतन्त्र, संयत प्रजातन्त्र तथा भीड़तन्त्र एक के बाद एक, पहिए की तरह क्रम से आते और बदलते हैं। संविधानों या राज्यों (सरकारों) का यह परिवर्तन चक्र निरन्तर चलता रहता है।

इस परिवर्तन चक्र के बारे में अरस्तू के स्वयं के शब्दों को यहाँ उल्लिखित करना सर्वथा उपयुक्त होगा। अरस्तू ने लिखा है कि—"पहले-पहल देशों में राजतन्त्र स्थापित हुए थे, जिनका कारण सम्भवतः यह था कि प्राचीन युग मे नगर छोटे थे और चरित्रवान कुशल व्यक्ति बहुत कम थे। ये व्यक्ति राजा बने, चूँकि ये परोपकारी थे और परोपकार केवल सज्जन व्यक्ति ही कर सकते हैं। परन्तु, जब एक से गुणों वाले अनेक व्यक्ति पाये जाए और वे एक ही व्यक्ति को प्रधान तथा प्रतिष्ठित मानने से कतराने लगे, तो उन्होंने राज्य को सभी का राज्य (Commonwealth) बनाने

और संविधान निश्चित करने की इच्छा प्रकट की। इससे शासक-वर्ग का पतन हुआ और जन-कोष से धन उड़ाकर वे धनवान बनने लगे। धन-सम्पत्ति सम्मान का साधन बनी और इस प्रकार कुछ व्यक्तियों के शासन (Oligarchies) की स्थापना स्वाभाविक बनी। यह शासन धीरे-धीरे अत्याचारी शासन में बदल गया और अन्त में, अत्याचारी शासन ने प्रजातन्त्रीय शासन का रूप धारण कर लिया, क्योंकि शासक-वर्ग की धन-लोलुपता ने अपनी संख्या को सदैव कम से कम रखने की चेष्टा की इससे सर्वसाधारण का बल बढ़ा और उन्होंने अन्त में अपने स्वामियों को दबोच लिया जिनका फल निकला भ्रष्ट जनतन्त्र की स्थापना।"

अरस्तू के वर्गीकरण के अन्य आधार

(1) पहला आधार आर्थिक है। धनिकतन्त्र में धनिकों का और जनतन्त्र में गरीबों का शासन होता है।

(2) वर्गीकरण का दूसरा आधार विभिन्न प्रकार के मौलिक गुण या तत्त्व हैं, जैसे जनमत में समानता एवं स्वतन्त्रता के तत्त्व पर, धनिकतन्त्र में धन पर, कुलीनतन्त्र में गुणों पर और संयत जनतन्त्र (या सर्व जनतन्त्र) में धन व स्वतन्त्रता के तत्त्व पर बल दिया जाता है।

(3) वर्गीकरण का तीसरा आधार शासन सम्बन्धी कार्य-प्रणाली है। कहीं पर ऊँचे पदों का निर्वाचन अधिक सम्पत्ति वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं तो कहीं पर मामूली सम्पत्ति वाले भी राज्य कार्य में भाग ले सकते हैं।

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना

(1) गार्नर का कहना है कि अरस्तू राज्य और सरकार में भेद नहीं कर पाता, फलस्वरूप उसके द्वारा किया गया वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण न होकर सरकारों का वर्गीकरण है। परन्तु राज्य तथा सरकार का यह भेद आधुनिक युग की देन है और अरस्तू जैसे यूनानी दार्शनिक के लिए राज्य तथा सरकार का एक समान वर्गीकरण कर बैठना कोई असंगत बात नहीं माननी चाहिए। बर्गेस का विचार है कि अरस्तू के शासन का वर्गीकरण वैज्ञानिक और ठोस है—यदि हम उसके 'राज्य' और 'सार्वभौमिकता' शब्दों के स्थान पर 'सरकार' और 'शासन' शब्दों का प्रयोग करें।

(2) सिन्क्लेयर की दृष्टि में अरस्तू के वर्गीकरण की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं ठहरती क्योंकि उसने अपना वर्गीकरण संविधानों की कार्य-विधि के निरीक्षण के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं किया है।[1]

(3) अरस्तू ने कुलीन-तन्त्र और वर्ग-तन्त्र में भेद माना है किन्तु वर्तमान में इन दोनों शब्दों में कोई अन्तर नहीं माना जाता। आज का युग प्रजातन्त्र का युग है और कुछ व्यक्तियों का शासन इस युग में अमान्य है।

1 सिन्क्लेयर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 297.

(4) सिनक्लेयर के अनुसार, अरस्तू ने अपने वर्गीकरण मे अमीर और गरीब के अन्तर को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। उसने इस अन्तर को संख्या के अन्तर से भी कही अधिक महत्त्वपूर्ण समझा है। विचित्र विडम्बना है कि अरस्तू बहुसंख्यक शासन के लिए भी अल्पतन्त्र (Oligarchy) का प्रयोग करने को तैयार है, यदि अमीर संख्या मे गरीबों से अधिक हो जाएँ।

(5) सीले का कहना है कि अरस्तू ने अपने समय के नगर राज्यो का वर्गीकरण किया था जो आज के राष्ट्रीय एवं बहु-राष्ट्रीय तथा विशालकाय राज्यो पर लागू नही होता। वर्तमान मे राजतन्त्र तथा बहुतन्त्र जैसा शासन नही पाया जाता। इंगलैंड जैसे राज्य मे राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और बहुतन्त्र का ताना-बाना पाया जाता है। इसके अतिरिक्त इग्लैंड और अमेरिका दोनो मे ही प्रजातन्त्र है, किन्तु इग्लैण्ड मे राजसत्ता स्वीकार की गई है जबकि अमेरिका मे ऐसा नहीं है। इसी भाँति फ्रांस और स्विट्जरलैंड दोनो मे लोकतन्त्र होते हुए भी दोनो राज्यो मे भेद है। फ्रांस केन्द्रात्मक राज्य है तो स्विट्जरलैण्ड सघात्मक।

(6) आलोचको का यह भी कहना है कि अरस्तू का वर्गीकरण किसी गुणवाचक आधार पर आधारित न होकर केवल सख्या पर आधारित है, अतः यह सर्वथा गलत है। किन्तु यह आलोचना मान्य नहीं है। यह ठीक है कि अरस्तू ने प्रजा की राजनीतिक जागृति के विकास की अपनी मजिलो की उपेक्षा की है, फिर भी शासन का रूप चाहे राजतन्त्रीय हो, अमीर-उमरावों या थोड़े से बुद्धिमानो का हो या सगठित राज्य हो उसकी परीक्षा और कसौटी का आधार आध्यात्मिक तथा मानसिक है। उसके राजनीतिक दर्शन मे अपने गुरु से भले ही मतभेद हो, फिर भी प्लेटो की तरह, उसने भी एक सु-शासन की परीक्षा का आधार आध्यात्मिक तथा आचारशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान ही माना है। विभाजन को निश्चित करने वाला हेतु एक के, थोड़ों के तथा बहुतो के चरित्र पर आश्रित है। बर्गेस (Burgess) ने ठीक ही कहा है—"अरस्तू का विभाजन आध्यात्मिक है, सख्यावाचक नही।"

(7) अरस्तू द्वारा किए गए विश्लेषण को यदि पूरी तरह लागू किया जाए तो सविधानो के रूपो का योग एक बहुत बडी सख्या होगी। डनिंग के अनुसार, "इस बात मे सन्देह नहीं कि 'पॉलिटिक्स' में एक रूप का दूसरो से स्पष्ट रूप मे अन्तर नही किया गया है।"[1] सेवाइन ने भी अरस्तू के वर्गीकरण की इस आधार पर अग्रांकित आलोचना की है। अरस्तू ने राज्य का दो रीतियो से विश्लेषण किया है। एक तो उसने राज्य को राजनैतिक साधन माना है। दूसरे, उसने राज्य को आर्थिक हितों की समानता के आधार पर वर्ग के रूप मे देखा है। यदि अरस्तू इन दोनो को अलग-अलग रखता और दोनो की एक दूसरे के ऊपर क्रिया-प्रतिक्रिया का निरूपण न करता, तो अरस्तू के विश्लेषण को समझने मे आसानी होती। जब अरस्तू लोकतन्त्र (Democracy) और धनिकतन्त्र (Oligarchy) के भेदो का

1 *Dunning : op. cit., p. 75-76.*

वर्णन करता है, तो यह समझ में नहीं आता कि वह वर्गीकरण के किस सिद्धान्त पर चल रहा है। वह हरेक की दो-दो सूचियाँ देता है और यह नहीं बताता कि इसमें क्या अन्तर है। यह अवश्य प्रतीत होता है कि एक में तो वह राजनैतिक संविधान के बारे में सोच रहा है तथा दूसरी में आर्थिक संविधान के बारे में। अरस्तू अपने वर्गीकरण में एक और उलझन डाल देता है। वह कानूनरहित और कानूननिष्ठ सरकारों के बीच भी भेद मानता है। यह भेद धनिकतन्त्र के ऊपर बिलकुल ही लागू नहीं होना चाहिए। इस भेद का आधार यही हो सकता है कि पदों या वर्गों की क्या व्यवस्था है। यद्यपि अरस्तू का यह विवेचन योजनाबद्ध नहीं है, लेकिन उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अरस्तू को ग्रीक नगर-राज्यों के आन्तरिक कार्यकरण का पूरा ज्ञान था। अरस्तू के पश्चात् किसी भी शासन-प्रणाली के बारे में ऐसे आतंरिक ज्ञान का परिचय बहुत कम राज-वेत्ताओं ने दिया है। अरस्तू की विचारधारा का साराश यह है। "मतदाता की अर्हता (Qualification) और पद की पात्रता जैसे कुछ राजनैतिक विनियम (Political Regulations) हुआ करते हैं। इन विनियमों में से कुछ लोकतन्त्र की विशेषताएँ होती हैं और कुछ धनिकतन्त्र की। इसके साथ ही कुछ आर्थिक विशेषताएँ भी होती हैं, जैसे कि धन किस प्रकार बँटा हुआ है या राज्य में किस आर्थिक वर्ग का प्राधान्य है। आर्थिक विशेषताएँ भी यह प्रकट करती हैं कि राज्य लोकतन्त्र है या धनिकतन्त्र है तथा उसमें कौन-सा राजनैतिक संविधान अधिक सफल हो सकता है। राजनैतिक और आर्थिक दोनों व्यवस्थाओं में मात्रा का अन्तर होता है—कोई अधिक अतिवादी होता है तथा कोई कम अतिवादी। लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के तत्त्वों के मेल से भी अनेक प्रकार के राज्यों की रचना हो सकती है। उदाहरण के लिए सभा (Assembly) का सगठन लोकतन्त्रात्मक हो सकता है और न्यायपालिका धन-सम्बन्धी योग्यताओं के आधार पर चुनी जा सकती है।"[1]

(8) ब्लटशली (Bluntschli) का मत है कि अरस्तू के वर्गीकरण में हमें केवल लौकिक राज्यों का ही वर्णन मिलता है पारलौकिक का नहीं। उसके वर्गीकरण में धर्म तथा राजनीति के सिद्धान्तों को कोई स्थान नहीं दिया जाता; परन्तु यह आलोचना न्याय संगत नहीं है। अरस्तू के युग का यूनान पूर्णतः लौकिक था, अतः वह धर्म और राजनीति के सम्बन्धों की कल्पना नहीं कर सकता था।

(9) अरस्तू के वर्गीकरण के अनुसार प्रजातन्त्र सबसे निष्कृष्ट शासन व्यवस्था है जबकि आधुनिक युग में प्रजातन्त्र को सर्वोत्तम शासन व्यवस्था माना जाता है।

(10) अनेक आलोचकों का कहना है कि किसी राज्य में सर्वोच्च सत्ता का वास्तविक स्थान कहाँ है, यह पता लगाना दुष्कर ही नहीं, बल्कि असंभव कार्य है। आजकल के राज्यों में यह और भी कठिन हो गया है। उदाहरणार्थ युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका में सर्वोच्च सत्ता के वास्तविक स्थान का पता लगाना अत्यन्त ही

[1] सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 297.

कठिन है। वर्तमान मे ऐसे राज्य शून्य के समान हैं जहाँ सर्वोच्च सत्ता एक अथवा कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित हो। इस दृष्टि से अरस्तू का वर्गीकरण उचित नही ठहरता।

अरस्तू के वर्गीकरण का औचित्य

इतनी आलोचना के बाद भी उपयोगिता और औचित्य की दृष्टि से अरस्तू का वर्गीकरण आज भी महत्त्वपूर्ण है। प्रथम, इस वर्गीकरण मे राज्यो के नैतिक आधार पर बड़ा बल दिया गया है जो लोक-कल्याण की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अरस्तू ने सामान्य और विकृत स्वरूप मे नैतिकता और विशेषज्ञता के आधार पर जोर देते हुए अन्तर स्पष्ट किया है। द्वितीय, अरस्तू का परिवर्तन-चक्र भी आधुनिक युग मे दृष्टिगोचर होता है। जनरल नजीब द्वारा मिस्र का शासन सम्भाल लिया जाना, पाकिस्तान मे सड़े-गले प्रजातन्त्र को नष्ट करके जनरल अयूब द्वारा शासन को हथिया लेना, आदि अरस्तू की दूरदर्शिता के प्रमाण हैं। तृतीय अरस्तू ने सरकारों के वर्गीकरण को ही राज्यो का वर्गीकरण बताया है, यह कहना उचित नही है। सरकार ही राज्य की इच्छा को प्रकट करती है अत. सरकार का वर्गीकरण ही सार रूप में राज्यों का वर्गीकरण है। वास्तव मे इससे इन्कार नही किया जा सकता कि अरस्तू के विचारो के उपरोक्त अंशो से हमे बहुत कुछ सीखना है। अरस्तू ने बड़ी सुदृढ़ता के साथ यह कहा है कि चूंकि किसी भी राज्य विशेष के समस्त नागरिको का उद्देश्य निश्चित ही अपनी संस्था की सुरक्षा होनी चाहिए, अतएव उस संविधान को बनाए रखने के लिए, जो कि उस सुरक्षा का आधार है, प्रत्येक बात को त्याग दिया जाना चाहिए और किसी नागरिक का संविधान की सीमा से बाहर का कोई भी कार्य (चाहे वह तत्कालीन सरकार के द्वारा किया गया कोई भी असंविधानिक कार्य हो अथवा गैर-राजनीतिक संस्था द्वारा की गई कोई भी तथाकथित सीधी कार्यवाही हो) एक क्षण के लिए भी सहन नही किया जाना चाहिए। यह एक ऐसा तर्क है जिसका अरस्तू के प्राचीन पोलिटी (प्रजातन्त्र) के समय की अपेक्षा आधुनिक लोकतन्त्र मे अधिक महत्त्व है। इसके अतिरिक्त इस तर्क का प्रतिवाद करना कठिन है कि अरस्तू के समय के पश्चात् के विश्व-इतिहास ने ह्रास तथा क्रान्ति के चक्र के उदाहरण प्रस्तुत किए जो उसके विश्लेषण की पुष्टि करते हैं।

सर्वोत्तम संविधान
(Best Polity)
अथवा
सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक राज्य
(The Best Practicable State)

अरस्तू ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि ऐसी कौनसी शासन प्रणाली है जो अधिकांश राज्यो के लिए सर्वश्रेष्ठ है। वह किसी खास मामले की विशेष परिस्थितियो को छोड़ देता है। वह राज्यो मे सामान्य सद्गुण अथवा नैतिक

कौशल की अपेक्षा रखता है इस प्रकार का राज्य किसी भी प्रकार आदर्श नहीं है। वह सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक औसत राज्य है। यह राज्य लोकतन्त्र तथा धनिकतन्त्र की उन अतियो को छोड़ देता है जो अनुभव से भयानक सिद्ध हुई हैं। इस शासन प्रणाली को अरस्तू सविधान (Polity) अथवा सवैधानिक शासन (Constitutional Govt) कहता है। अरस्तू ने तीसरी पुस्तक मे उसका नाम सयत लोकतन्त्र (Moderate Democracy) रखा है। अरस्तू उन अवस्थाओं मे जहाँ सविधान लोक शासन से इतना अलग हो कि उसे सौम्य लोकतन्त्र न कहा जा सके, अभिजाततन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र कहने के प्रतिकूल नही है।

अरस्तू ने सर्वोत्तम सविधान अथवा सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक राज्य पर विचार करते हुए एक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। वह यह मानकर चला है कि इस प्रसग मे ऐसी किसी आदर्श शासन प्रणाली का विचार नहीं करना चाहिये, जो कभी क्रियात्मक और व्यावहारिक रूप धारण ही न कर सकती हो। इसके विपरीत ऐसी श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था एव जीवन-पद्धति पर विचार करना चाहिये, जो अधिकतम राज्यो एव व्यक्तियो के लिए व्यावहारिक रूप से सम्भव हो। किसी विशेष प्रकार की योग्यता से ही जो शासन व्यवस्था चल सकती हो उसमे अधिकाश मनुष्य भाग नहीं ले सकते अतः उत्तम शासन-प्रणाली वही हो सकती है जो विभिन्न अथवा अनेक राष्ट्रो मे समान रूप से चल सके।

अरस्तू का मत है कि एक आदर्श व्यवस्था मे शासन सर्वोत्तम व्यक्तियो के हाथो मे रहना चाहिए। यदि किसी राज्य को प्लेटो के आदर्श राज्य का दार्शनिक शासक मिल सके तो राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था है लेकिन ऐसे दार्शनिक शासक का मिलना इस भूतल पर दुर्लभ है। इसी भाँति कुलीनतन्त्र में भी शासन सत्ता योग्य व्यक्तियो के हाथो में रहती है किन्तु इस तरह के योग्य शासक-वर्ग भी व्यवहार मे पाए नहीं जाते। यदि सौभाग्यवश कभी दार्शनिक शासक या योग्य शासक वर्ग उपलब्ध भी हो जाएँ तो वे इस यथार्थवादी और स्वार्थी विश्व मे पनप नहीं सकते और न ही यह आवश्यक है कि उनके उत्तराधिकारी भी वैसे ही निकलें। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र—ये दोनो शासन-प्रणालियाँ व्यावहारिक एव क्रियात्मक रूप से नही पाई जाती और इसलिए ऐसी शासन व्यवस्था की खोज करना उपयुक्त है जो आदर्शवाद के धरातल पर ही न टिकी हो बल्कि जो व्यावहारिक रूप मे व्यक्तियो द्वारा कार्यान्वित की जा सकती हो और किसी समाज की विद्यमान परिस्थितियो मे सर्वोत्तम हो।

अरस्तू की मान्यता है कि वही शासन उत्तम है जो अधिक राज्यो मे संभव हो और जिसमे अत्यधिक अमीर या गरीब न हो। समाज मे अत्यधिक सम्पन्नता और निर्धनता दोनो का होना अवांछनीय है क्योकि ये दोनो ही स्थितियाँ समाज मे दोषो को जन्म देते हैं। इससे जहाँ धनिको मे अहंकार और अवज्ञा के दोष पनपते हैं वहाँ निर्धनो मे दास मनोवृत्ति को बल मिलता है। इसके अतिरिक्त जहाँ जनता का विभाजन सम्पन्न और निर्धन—इन दो वर्गों में होता है, वहाँ शान्ति और सौहार्द

को स्थान नहीं मिल सकता। बिना सौहार्द के संगठन या समुदाय का बनाना भी संभव नहीं है।

चूंकि सम्पन्नता और विपन्नता—दोनों ही का प्रचुरता में होना शुद्ध शासन के लिए हानिप्रद है, अतः अरस्तू मध्यम मार्ग (Golden Mean) अपनाता है। उसकी दृष्टि में आदर्श शासन-प्रणाली की प्रधान विशेषता मध्यममार्गी होना है। अरस्तू के शब्दों में "मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाला जीवन ही अनिवार्यतः श्रेष्ठ जीवन है और यह मध्यम मार्ग भी ऐसा है, जिसको प्राप्त कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सभव है।" उसके अनुसार सभी नगर राज्यों मे तीन वर्ग पाए जाते हैं—अत्यधिक सम्पन्न, अत्यधिक निर्धन और इन दोनों के बीच का मध्यम वर्ग। अरस्तू मध्यम-वर्ग की स्थिति को ही सर्वोत्तम मानता है क्योंकि "जो मनुष्य ऐसी स्थिति में होते हैं, वे विवेक की आज्ञा का सरलतापूर्वक पालन करने वाले होते हैं।" इस तरह अरस्तू उसी शासन व्यवस्था को श्रेष्ठ मानता है जिसमे मध्य वर्ग का प्राधान्य हो।

शासन प्रणाली के मध्यम-मार्गी होने की उपयोगिता को दर्शाते हुए अपने पक्ष मे वह निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करता है—

1. अत्यधिक सम्पन्न, सुन्दर और शक्तिमान व्यक्ति बलात्कार तथा गम्भीर अपराधों की ओर अधिक प्रवृत्त होते हैं; तो अत्यधिक निर्धन और अशक्त व्यक्ति धूर्तता तथा तुच्छ अपराधों के प्रति आकर्षित होते हैं। इस प्रकार ये दोनो ही वर्ग विवेक मार्ग पर नहीं चलते और जिस किसी शासन मे इनकी प्रधानता होती है दोषपूर्ण होता है।

2. सम्पन्न और शक्तिमान अवज्ञा-वृत्ति रखते हैं तथा राज्य के आदेशों की अवहेलना करने मे नही हिचकते। दूसरी ओर, दीन हीन एवं निर्बल व्यक्तियों मे दास-मनोवृत्ति पनपती है, वे शासक नहीं हो सकते। अत. किसी राज्य मे केवल यही दो वर्ग होगे तो वह राज्य स्वतन्त्र मनुष्यों का राज न रह कर केवल दासों व स्वामियों का नगर या राज्य मात्र रह जायेगा।

3. इस भाँति निर्धन पक्ष से राज्य मे ईर्ष्या भाव बढ़ेगा और सम्पन्न से घृणा भावना पनपेगी.। स्वभावत. ऐसा राज्य ईर्ष्या और घृणा के सागर मे उतरेगा-डूबेगा। वहाँ मित्रता एवं सामाजिक भावना नही रहेगी।

4. राज्य का लक्ष्य तो यही होना चाहिए कि यथासम्भव समाज मे विषमता का अन्त हो और बराबर तथा समान मनुष्यों का समाज बन सके। मध्यम वर्ग के लोगों मे ही ऐसा होना सर्वाधिक सम्भव है।

5. मध्यम वर्ग की श्रेष्ठता के पक्ष मे अरस्तू एक प्रमाण यह भी देता है कि सोलन (Solan), लाइकर्गस (Lycurgus) आदि श्रेष्ठ नियम-निर्माताओं का जन्म मध्यम वर्ग मे ही हुआ था।

6. मध्यम वर्ग को अरस्तू एक और दृष्टि से भी उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण मानता है। धनी और निर्धन—दोनों ही मध्यम वर्ग पर समान रूप से विश्वास करते हैं किन्तु धनी और निर्धन परस्पर एक दूसरे पर विश्वास नहीं करते।

उपरोक्त सब कारणों से ही अरस्तू मध्यम वर्ग की शासन व्यवस्था को श्रेष्ठ, व्यावहारिक और अनुकरणीय मानता है। उसके अनुसार जब ऐसा वर्ग नहीं होता तभी धनिकतन्त्र या लोकतन्त्र का प्रादुर्भाव होता है और ये शीघ्र ही निरकुश शासन मे बदल जाते हैं। अधिकांश राज्य लोकतन्त्र या धनिकतन्त्र इसीलिए होते हैं क्योंकि इनमे मध्यम वर्ग की सख्या कम होती है। मध्यम वर्ग की प्रधानता होने से समाज मे पारस्परिक सघर्ष कम होते हैं और एकता या सुदृढता को बल मिलता है। अरस्तू इसका कारण स्पष्ट करते हुए लिखता है—"केवल वही सरकार सुदृढ़ हो सकती है जिसमे मध्यम वर्ग अन्य दोनो (धनी तथा निर्धन) वर्गों से अधिक सख्या मे हो। इस अवस्था मे इस बात की सम्भावना नहीं होती कि शासको का विरोध करने मे धनी वर्ग निर्धन वर्ग के साथ मिल जाएगा। इनमे से कोई भी एक वर्ग दूसरे की सेवा करने की इच्छा नही रखता। यदि वे अपने दोनो वर्गों के लिए कोई अधिक उपयुक्त शासन-प्रणाली ढूँढना चाहे तो इससे अधिक अच्छी कोई दूसरी व्यवस्था नहीं हो सकती क्योंकि धनी और निर्धन एक दूसरे पर विश्वास नही करते और वे बारी-बारी से शासक और शासित बनना पसन्द नही करेंगे।"[1] मैक्सी ने अरस्तू की इस श्रेष्ठता के विचार पर कहा है—"यद्यपि मध्यम वर्ग के लोगो मे बुद्धि की प्रखरता नहीं होती, वे राज्य की स्थापना के लिए आदर्श नही हो सकते, फिर भी इतिहास मे राज्यो मे होने वाले परिवर्तनो को देखते हुए सुदृढता की दृष्टि से अरस्तू की शासन-व्यवस्था उचित प्रतीत होती है।"[2]

अरस्तू इस तरह व्यावहारिक दृष्टि से सयत जनतन्त्र (Polity of Moderate Democracy) को प्रमुखता देता है, जो मध्यम वर्ग के द्वारा चलती है, जहाँ न अधिक अमीरी है और न अधिक गरीबी। मध्यम-वर्ग सुरक्षा सुव्यवस्था की दृष्टि से भी सुन्दर है।

अरस्तू ने अपने सर्वोत्तम अथवा आदर्श सविधान का कोई वास्तविक उदाहरण नहीं दिया है। हां, उसने इतना अस्पष्ट निर्देश अवश्य किया है कि केवल एक ही व्यक्ति ऐसा हुआ है जिसने इस तरह की शासन-प्रणाली की स्थापना के लिए स्वय को सहमत होने दिया।[3] लेकिन रॉस (Ross) का विचार है[4] कि अरस्तू सम्भवत. 411 ईसा पूर्व मे एथेन्स मे स्थापित होने वाले सविधान को श्रेष्ठ स्वीकार करता था। इसमे शासन-सत्ता 5040 व्यक्तियो की असेम्बली मे निहित थी, ये अपने व्यय से शस्त्र एव भारी कवच रखते थे। इनको असेम्बली की बैठको मे शामिल होने के लिए दिया जाने वाला भत्ता बन्द कर दिया था। इस विधान के निर्माण का श्रेय थेरामिनेस (Theramenes) नामक यूनानी राजनीतिज्ञ को है। बार्कर का विचार है कि "अरस्तू का अभिप्राय यहाँ सम्भवतः सिकन्दर के यूनानी प्रतिनिधि और उसके

1 *Barker* : Politics, p. 182.
2 *Maxey* : Political Philosophies, p. 72-73.
3 *Barker* : Politics, p. 183.
4 *Ross* : Aristotle, p. 259-60.

मित्र प्रन्टिमपातेर के उस सविधान से है, जिसमें शासन सत्ता 9000 नागरिकों को सत्या को सौंपी गई।"[1]

विभिन्न शासन प्रणालियों में श्रेष्ठता का क्रम—उपरोक्त वर्णन से यह प्रकट हो चुका है कि प्ररस्तू के अनुसार मध्य वर्ग की प्रभुता वाली शासन व्यवस्था, सर्वश्रेष्ठ है और इसे उसने सर्व-जनतन्त्र या सयत-जनतन्त्र (Polity of Moderate Democracy) कहा है, किन्तु यह श्रेष्ठता केवल व्यावहारिक दृष्टि से है अन्यथा प्रादर्श की दृष्टि से तो राजतन्त्र ही श्रेष्ठ है। श्रेष्ठता की दृष्टि से अरस्तू ने शासन-प्रणालियों अथवा सविधान या राज्यों का जो क्रम निश्चित किया है, वह डनिंग (Dunning) के अनुसार इस प्रकार है[2]—

(1) आदर्श राजतन्त्र (Ideal Royalty)
(2) विशुद्ध कुलीन तन्त्र (Pure Aristocracy)
(3) मिश्रित कुलीनतन्त्र (Mixed Aristocracy)
(4) सयत जनतन्त्र (Polity)
(5) अधिकतम उदार जनतन्त्र (Most Moderate Democracy)
(6) अधिकतम उदार धनिकतन्त्र (Most Moderate Oligarchy)
(7) जनतन्त्र तथा धनिकतन्त्र के बीच के दो प्रकार
(8) प्रति-जनतन्त्र (Extreme Democracy)
(9) प्रति-धनिकतन्त्र (Extreme Oligarchy)
(10) निरकुशतन्त्र (Tyranny)

अरस्तू के क्रमानुसार उत्तम सविधानों की जो यह सूची दी है, उसमे चतुर्थ सयत जनतन्त्रीय सविधान (Polity) ही सबसे उत्तम सविधान है।

आदर्श राज्य
(Ideal State)

अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' की सातवीं व आठवी पुस्तक मे आदर्श राज्य (The Ideal or the Best State) का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है, किन्तु स्पष्ट नहीं है कि उसने एक आदर्श राज्य का चित्रण किया है या एक ऐसे राज्य का चित्रण किया है जो सबसे उत्तम प्राप्य राज्य हो। वह आदर्श को व्यावहारिकता के साथ मिश्रित कर देता है। उसने राज्य का विवरणात्मक वर्णन नही दिया है अपितु सर्वाधिक लाभदायक तत्वो का वर्णन किया है। राज्य का वास्तविक उद्देश्य क्या होना चाहिए इस निर्णय को वह सर्वोत्तम राज्य के सम्बन्ध मे भी अपनाता है।[3]

1 *Barker*: Politics, p. 184.
2 *Dunning*: op. cit., p. 80.
3 "In this sense, democracy is best when the poor greatly exceed the rich in number, oligarchy, where the superiority of the rich in resources and power more than compensates for their inferiority in numbers, polity where the middle class is clearly superior to all the rest."
—*Dunning*: A History of Political Theory, p. 80.

अरस्तू की दृष्टि मे व्यवहार मे आ सकने वाला सर्वोत्तम सविधान या राज्य तो मध्यवर्ग को प्रधानता देने वाला 'पोलिटी' या सर्व जनतन्त्र है। लेकिन इसका विकास सभी राज्यो मे सम्भव नही है और इसके लिए कुछ विशेष परिस्थितियो की आवश्यकता होती है। अत: जिस राज्य मे ये परिस्थितियाँ सम्भव हो, वह सर्वोत्तम आदर्श राज्य (Best Ideal State) है।

अरस्तू का यह दृढ विश्वास है कि शुभ जीवन की प्राप्ति के लिए राज्यो मे विशेष परिस्थितियो का होना अत्यन्त आवश्यक है और इन परिस्थितियो तक राज्यो की पहुँच होनी चाहिए। इस तरह अरस्तू शुभ जीवन के लिए कुछ आदर्शों की स्थापना करता है जिन्हें प्राप्त किया जा सकता है। उसके ये ही आदर्श एक आदर्श राज्य का निर्माण करते हैं। सेबाइन के शब्दो मे, "अरस्तू आदर्श राज्य पर ही नहीं बल्कि राज्य के आदर्शों पर पुस्तक लिखता है।"[1]

न चाहते हुए भी अरस्तू जिस आदर्श राज्य का चित्रण कर बैठा है वह उसके गुरु की 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य से बहुत भिन्न है क्योकि प्लेटो जहाँ एक क्रान्तिकारी आदर्शवादी के रूप मे स्वय को प्रस्तुत करता है वहाँ अरस्तू हमारे सामने एक अनुदार यथार्थवाद के रूप मे उपस्थित होता है। मैक्सी (Maxey) के शब्दों में, "प्लेटो एक नवीन जगत पर उड़ने वाले वायुयान मे बैठा हुआ वह व्यक्ति है जो मेघो के परे जाकर उस भू-भाग के पर्वतो, समुद्र तटो आदि की सीमा-रेखाओ को आँकता है जबकि अरस्तू ऐसा इन्जीनियर है जो वहाँ जाकर नए मार्गों का निर्माण करता है।"

अरस्तू ने आदर्श राज्य के लिए आवश्यक भौतिक एवं मानसिक स्थितियों का वर्णन किया है। उसने राज्य की जनसख्या, उसके आकार तथा चरित्र, क्षेत्र तथा उसकी स्थिति और स्वरूप आदि के विशिष्ट विवरण भी दिए हैं। भूगोल, जलवायु, भूमि के निवासियो के स्वाभाविक गुण, राज्य के ढाँचे आदि का विस्तृत विवरण देते हुए अरस्तू इस परिणाम पर पहुँचा है कि जनसख्या और क्षेत्र के दृष्टिकोण से आदर्श राज्य को न अधिक बडा होना चाहिए और न अधिक छोटा। अरस्तू के आदर्श राज्य को प्रो. मैकलवेन (McIlwain) ने इन शब्दो मे वर्णन किया है—"अरस्तू का सर्वश्रेष्ठ राज्य वह है जिसमे अनुकूल स्थितियो के होते हुए तीसरे प्रकरण मे प्रतिपादित सिद्धान्त अधिक से अधिक लागू होते हैं। अरस्तू के अनुसार ऐसा राज्य न तो अमीर होगा और न अधिक गरीब। वह बाहरी आक्रमण से सुरक्षित होगा, अधिक धन सग्रह तथा व्यापार या क्षेत्र के प्रसार की इच्छा से वह रहित होगा, वह एकताबद्ध, धर्मशील, सुसंस्कृत, सरक्षणीय होगा, वह महत्त्वाकाक्षाओ से परे होगा, वह स्वपर्याप्त होगा, किन्तु दूसरो पर आक्रमण नहीं करेगा, वह महान् होगा किन्तु विस्तृत नही। वह एक सुसगठित छोटा तथा स्वतन्त्र

1 "What he does is to write a book not on an Ideal State, but upon the ideals of the State." —*Sabine*

नगर होगा जिसमे सर्वोच्च शक्ति एक अभिजात्य वर्ग के हाथ में होगी जिसके सदस्य अपने जीवन को भौतिक चिन्ताओं से मुक्त रखने मे तथा सर्वोत्कृष्ट धर्म तथा संस्कृति के प्राप्त करने मे और सबके कल्याण तथा आनन्द की खोज करने मे लगे हुए बारी-बारी से शासन करेंगे तथा दूसरो का शासन मानेंगे। राज्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति वे लोग करेंगे जो धर्माभाव के कारण उच्चतर जीवन तथा राजनीतिक कार्यों के लिए अयोग्य हैं किन्तु अपने से नैतिक, बौद्धिक तथा इसलिए राजनीतिक रूप मे श्रेष्ठतर व्यक्तियों की देखरेख तथा निर्देशन में रहकर शारीरिक कार्य करने के लिए असमर्थ नहीं हैं। ये निम्नतर वर्ग राज्य के जीवन का आवश्यक अंग हैं, परन्तु राजनीतिक रूप से और जैविक दृष्टिकोण से वे उसके भाग नही समझे जा सकते, चाहे कानूनी रूप से स्वाधीन हो या दास।"

अरस्तू का आदर्श राज्य स्पष्टतः प्लेटो के 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य से बहुत भिन्न है किन्तु 'लॉज' मे वर्णित आदर्श राज्य से काफी मिलता-जुलता है। इसे सेबाइन (Sabine) के शब्दो में हम यों कह सकते हैं कि "अरस्तू जिसे आदर्श राज्य मानता है, वह प्लेटो का उपादर्श या द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य है।"[1] उसने 'लॉज' के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त—"श्रेष्ठ राज्य मे कानून ही अन्तिम सम्प्रभु होना चाहिए"—को आधार बनाया। अरस्तू के आदर्श राज्य की विशेषता है—"कानूनो की प्रभुता तथा एक समुचित और सन्तुलित मात्रा मे सम्पत्ति एवं निजी पारिवारिक जीवन का उपबन्ध।" 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य को ठुकराते हुए अरस्तू ने कहा है कि जो शासन अपनी प्रजा की भलाई के हेतु होता है, वह कानून के अनुसार होता है, उसका आधार मानव प्रकृति के स्वरूप पर होता है और इसीलिए ऐसे शासन की प्राप्ति के लिए आवश्यक शर्तें असम्भव तथा असाध्य नहीं होनी चाहिए। प्लेटो का एक बड़ा दोष यह रहा है कि उसने एक ओर मानव-स्वभाव की जड़ों मे जमी हुई बातो का उन्मूलन करना चाहा है तो दूसरी ओर सर्वथा अव्यावहारिक या क्रियान्वित न कर सकने योग्य शर्तें जोड दी हैं। प्रो. मैक्सी के अनुसार, "प्लेटो का राज्य अमूर्त विचारो का एक ढाँचा है जिसे यथार्थ रूप एक दार्शनिक राजा देगा जो अपने सामने वर्तमान समस्त सस्थाओं को जड से उखाड फेंकेगा और सन्तति शास्त्र तथा शिक्षा द्वारा एक निर्दोष सामाजिक व्यवस्था मे मनुष्यों की एक नवीन तथा श्रेष्ठतर जाति उत्पन्न करेगा। अरस्तू का भवन उस सामग्री से बना है जो पहले से ही मौजूद है, जिसे अच्छी तरह परखा जा चुका है, अच्छी तरह समझा जा चुका है और जिसे कोई भी बुद्धिमान राजनीतिक प्रयोग कर सकता है। तो भी दोनो विचारको मे एक सा ही नैतिक योग है, एक सी ही व्यवस्था की चाह, एक सा ही सन्तुलन का प्रेम, एक सी ही न्याय तथा बुद्धि के प्रति आस्था, एक सा ही शिक्षा मे विश्वास, एक सी ही मानवता मे आस्था तथा शुभ जीवन की प्राप्ति के लिए एक सी चिन्तना दिखाई पड़ती है।"

1 "What Aristotle calls the Ideal State is always Plato's Second Best (or deal) State." —*Sabine* : A History of Political Theory, p. 91.

अरस्तू का आदर्श राज्य प्लेटो के उपादर्श राज्य का ही संशोधित रूप है। प्लेटो जब स्वयं अपने आदर्श राज्य को ठुकरा कर ऐसे उपादर्श राज्य की स्थापना करता है जो निर्मित किया जा सकता है तो अरस्तू के यथार्थवादी मन को प्लेटो की योजना पसन्द आ जाती है। यह एक तथ्य है कि जीवन के अन्तिम काल मे प्लेटो जिन आदर्शों की स्थापना करता है, वे अरस्तू को स्वीकार्य हैं। सिन्कलेयर (Sinclair) के शब्दो मे, "अरस्तू वहाँ से आरम्भ करता है जहाँ प्लेटो छोड देता है।"

अरस्तू के आदर्श राज्य की विशेषताएँ

(1) **जनसंख्या (Population)**—अरस्तू के अनुसार राज्य मे जनसख्या न बहुत अधिक और न बहुत कम होनी चाहिए। जनसख्या का इतना अधिक होना अनुचित है कि राज्य मे व्यक्तियो को न व्यवसाय मिले और न रहने के लिए स्थान। इसी प्रकार जनसख्या इतनी कम नही होनी चाहिए कि शनैं-शनैं राज्य का अस्तित्व ही खतरे मे पड जाए। इस सम्बन्ध मे अरस्तू एक जहाज का उदाहरण देते हुए कहता है कि 6 इञ्च लम्बा और 1200 फीट लम्बा, दोनो ही बेकार हैं। इसी तरह राज्य की जनसख्या भी बहुत कम या बहुत अधिक होना ठीक नही है। अरस्तू प्लेटो की भाँति राज्य की कोई निश्चित जनसख्या नही देता। उसके अनुसार एक अच्छे राज्य मे इतनी जनसंख्या होनी चाहिए कि प्रत्येक नागरिक एक दूसरे को जानता हो जिससे वह विभिन्न स्थानो के लिए उपयुक्त व्यक्तियो का निर्वाचन कर सके। राज्य की इतनी जनसंख्या होनी चाहिए जो राज्य को आत्म-निर्भरता प्रदान करे और उसकी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्याप्त हो। इस तरह अरस्तू का सकेत नगर-राज्य की ओर ही है, क्योकि वर्तमान राज्यो मे तो यह असम्भव-सा लगता है कि नागरिक एक दूसरे से परिचित हों।

अरस्तू का कहना है कि राज्य को चाहिए कि वह ऐसा हर-सम्भव प्रयत्न करे जिससे जनसख्या न तो आवश्यकता से अधिक बढे और न ही उससे कम हो। राज्य आवश्यकता पडने पर विवाह आदि के नियम निर्धारित करे। विवाह के लिए कम से कम और अधिक से अधिक आयु निश्चित की जाए। साथ ही ऐसी माता को सन्तान उत्पन्न नही करने दिया जाए जो अस्वस्थ या विकृत हो। विकृत अग वाले बच्चो को राज्य नष्ट भी कर सकता है।

(2) **प्रदेश (Territory)**—राज्य का क्षेत्र भी आवश्यकतानुसार होना चाहिए। वह न इतना छोटा होना चाहिए कि आजीविका कठिन हो जाए और न इतना बडा हो कि लोग विलासिता का जीवन बिताएँ। राज्य की भूमि इतनी होनी चाहिए जिससे जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकें और उस पर निवास करने वाली जनता 'सयम और उदारता से समन्वित अवकाशपूर्ण जीवन' बिता सके। राज्य का प्रदेश और उसकी सीमाएँ ऐसी होनी चाहिए कि राज्य बाह्य आक्रमण से सुरक्षित हो तथा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो। अरस्तू का यह विचार है कि राज्य की भूमि समुद्र के समीप होनी चाहिए ताकि आवश्यक सामग्री का आयात हो सके।

भूमि का इतना छोटा होना उचित है कि किसी ऊँचे स्थान या ऊँची चोटी से भली प्रकार देखा जा सके, क्योकि ऐसी भूमि की रक्षा सरलता से हो सकती है। इसके साथ ही राज्य की भूमि का ऐसे स्थान पर होना उत्तम है जहाँ जल और स्थल दोनो भागो से सरलता से पहुँचा जा सके। इस सम्बन्ध में प्लेटो के विचार अरस्तू से भिन्न हैं। वह अपने आदर्श राज्य को समुद्र से दूर रखना चाहता है ताकि अवांछनीय विदेशी और व्यापारी तत्वों का आगमन न हो सके। अरस्तू तो राज्य की सुरक्षा के लिए एक शक्तिशाली जल सेना और राज्य के चारो ओर एक सुदृढ़ परकोटे की भी व्यवस्था करता है।

अरस्तू का यह भी मत है कि राज्य की भूमि दो भागो मे बाँटी हुई होनी चाहिए—सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत। पूजा-गृह एव राज्योपयोगी भूमि सार्वजनिक तथा शेष व्यक्तिगत होगी।

(3) जनता का चरित्र (Character of the People)—अरस्तू के अनुसार आदर्श राज्य के नागरिको का चरित्र और उनकी योग्यता यूनानी विशेषताओ के अनुरूप होनी चाहिए जिसमे उत्तरी जातियो का उत्साह और एशियन लोगो का विवेक-दोनो का मिश्रण पाया जाता है। अरस्तू की धारणा है कि आदर्श राज्य मे मनुष्य और नागरिक गुण समान होने से सभी अच्छे मनुष्य ही अच्छे नागरिक होगे।

(4) राज्य में आवश्यक वर्ग (Classes in the State)—अरस्तू के आदर्श राज्य मे 6 प्रकार की आवश्यकताएँ मुख्य हैं—भोजन, कला-कौशल, शस्त्र, सम्पत्ति, सार्वजनिक देव पूजा और सार्वजनिक हित का निर्धारण। इन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आदर्श राज्य मे 6 प्रकार के वर्ग होने चाहिए-कृषक, शिल्पी, योद्धा, सम्पत्तिशाली वर्ग, पुरोहित और प्रशासक। इन 6 वर्गों मे से प्रथम दो वर्गों अर्थात् कृषक और शिल्पियो को अरस्तू नागरिकता के अधिकार नहीं देता। शेष अन्य चार वर्गों को वह यह अधिकार देता है।

अरस्तू के इस सामाजिक वर्गीकरण की एक विशेषता यह है कि यह जन्मजात अथवा जातिगत या कर्म के आधार पर व्यक्तियो को विभिन्न वर्गों मे नही बाँटता। वह यह वर्गीकरण आयु के अनुसार करता है। उसकी व्यवस्था यह है कि नागरिक युवावस्था मे योद्धा के रूप मे कार्य करें, प्रौढावस्था मे शासन सम्बन्धी विषयो का चिन्तन करें और वृद्धावस्था मे सार्वजनिक देव पूजा और पुरोहितो का काम करें। इनका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि प्रत्येक वर्ग का दूसरा वर्ग आदर करेगा क्योकि सभी व्यक्ति किसी न किसी आयु मे सभी वर्ग मे रह चुकेंगे।

अरस्तू की उपर्युक्त सामाजिक व्यवस्था से प्रकट होता है कि वह अवस्थानुसार प्रत्येक नागरिक को तीन कार्य देता है जबकि प्लेटो एक व्यक्ति को एक ही काम देने के पक्ष मे है।

अरस्तू की इस वर्ग-व्यवस्था मे कृषकों और शिल्पियो को नागरिकता से वंचित रखना आदर्श राज्य के मस्तक पर एक कलंक लगाना है। अरस्तू द्वारा आदर्श राज्य मे दासो की जो व्यवस्था की गई है उसे उचित नहीं कहा जा सकता।

आखिर यह कैसा आदर्श राज्य है जिसमें लगभग आधे व्यक्तियों को नागरिक ही न समझा जाए ?

(5) शिक्षा (Education)—प्लेटो की भाँति ही अरस्तू भी आदर्श-राज्य में शिक्षा पर बहुत महत्त्व देता है। आदर्श राज्य का उद्देश्य एक शुभ जीवन की प्राप्ति है और शुभ जीवन के लिए व्यक्ति का चरित्रवान, स्वस्थ तथा कर्त्तव्य-परायण होना अनिवार्य है। यह कार्य शिक्षा द्वारा ही हो सकता है। शिक्षा ही मनुष्य का भौतिक, मानसिक और नैतिक विकास करती है। अरस्तू अवकाश प्राप्त वर्गों के लिए एकसी अनिवार्य और सार्वजनिक शिक्षा प्रस्तावित करता है। उसके अनुसार शिक्षा बाल्यकाल से राज्य की देख-रेख में प्रारम्भ होनी चाहिए। 7 से 14 वर्ष की अवस्था तक स्वास्थ्य और नैतिक विकास सम्बन्धी शिक्षा तथा 14 से 21 वर्ष की आयु तक बौद्धिक शिक्षा और बाद में व्यापार सम्बन्धी शिक्षा पर बल दिया गया है। प्लेटो की भाँति अरस्तू भी अनिवार्य सैनिक शिक्षा की व्यवस्था करता है और गणित तथा संगीत को विशेष स्थान देता है।

(6) अन्य विशेषताएँ (Miscellaneous Characteristics)—अरस्तू अपने आदर्श राज्य के लिए अन्य विशेषताओं का भी वर्णन करता है, जैसे बाह्य आक्रमणों से बचाने के लिए रक्षा के अच्छे साधन हों, राज्य में पानी, सड़कों, किलों आदि की सुन्दर व्यवस्था हो। आदर्श राज्य में वह शासन की तीन संस्थाओं का भी उल्लेख करता है। उसके अनुसार सोचने का कार्य करने के लिए समस्त नागरिकों की एक लोकप्रिय सभा (Popular Assembly) होनी चाहिए जिसके समक्ष शासन के अन्तिम निर्णय प्रस्तुत किए जाएँ। दूसरा अंग मजिस्ट्रेटों का तथा तीसरा अंग न्यायपालिका का होना चाहिए।

अरस्तू और प्लेटो के आदर्श राज्य : एक तुलना

(1) अरस्तू प्लेटो की तरह राज्य की एकता पर अत्यधिक बल न देते हुए इसे स्थापित करने के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिवार की व्यवस्था का उन्मूलन नहीं करता।

(2) अरस्तू का नागरिक प्लेटो के नागरिक की भाँति राज्य में पूर्णतः विलीन नहीं होता। वह तो राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्य निभाता हुआ अपने ध्येय को प्राप्त करता है।

(3) प्लेटो की तरह आदर्श के पंखों पर न उड़ते-हुए अरस्तू अपने आदर्श राज्य को व्यावहारिक और क्रियात्मक रूप देना चाहता है।

(4) प्लेटो अपने आदर्श राज्य का निर्माण निरपेक्ष अथवा निरंकुश शासन के सिद्धान्त पर करता है जबकि अरस्तू 'लॉज' के इस सिद्धान्त को अपनाता है कि 'एक श्रेष्ठ राज्य में अन्तिम प्रभुता विधि या कानून की होनी चाहिए।'

(5) अरस्तू प्लेटो से हर बात में सहमत नहीं है, उदाहरणार्थ वह अपने आदर्श राज्य के लिए समुद्र-तट के निकटवर्ती स्थान को अधिक पसन्द करता है।

(6) जैसा कि मैक्सी ने लिखा है "प्लेटो का आदर्श राज्य अमूर्त विचारों का ढाँचा है जिसे दार्शनिक नरेश द्वारा यथार्थ स्वरूप प्रदान किया जाता है। दार्शनिक राजा सभी वर्तमान संस्थाओं का उन्मूलन करके और शिक्षा एवं सन्तति शास्त्र द्वारा निर्दोष सामाजिक व्यवस्था स्थापित करके एक नवीन और श्रेष्ठतर मानव जाति उत्पन्न करता है। इसके विपरीत, अरस्तू का आदर्श राज्य उस सामग्री से बना है जो पहले से मौजूद है, जिसे भली-भाँति परखा और समझा जा चुका है तथा जिसे हर बुद्धिमान राजनीतिज्ञ प्रयोग में ला सकता है।"

इन असमानताओं के बावजूद, यह स्वीकार करना होगा कि अपने-अपने आदर्श राज्य के चित्रण में प्लेटो और अरस्तू जिन विचारों से निर्देशित हुए हैं उनमें पर्याप्त समानता है। दोनों दार्शनिकों ने लगभग एक-सी भावनाओं से प्रेरित होकर अपने आदर्श राज्य का शिलान्यास किया है। मैक्सी के शब्दों में, "दोनों विधायें एक सा ही नैतिक उत्साह, व्यवस्था के लिए एकसी इच्छा, संयम के लिए समान प्रेम, न्याय और विवेक के प्रति समान निष्ठा, शिक्षा में समान विश्वास, मानवता में समान आस्था और शुभ जीवन की प्राप्ति के लिए समान चिन्ता व्यक्त करते हैं।"

अरस्तू के क्रांति सम्बन्धी विचार
(Aristotle's Conception of Revolution)

राज्यक्रांतियाँ किसी भी राज्य और समाज के लिए सदैव महान् समस्याएँ बनी रही हैं और उनके पीछे कोई न कोई कारण रहे हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व में जब तक होने वाली सभी क्रांतियाँ मनुष्य के मस्तिष्क से उत्पन्न हुई चाहे वे कुशासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप हुई हों और चाहे कुछ महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों के स्वार्थ की भावना से उत्पन्न हुई हों। सिंकलेयर (Sinclair) ने लिखा है कि "न्याय एवं मैत्री राज्य के आधार हैं, अन्याय एवं घृणा राज्य के पतन और अस्थिरता के स्पष्ट चिह्न हैं। राज्य में समानता और न्याय के कारण द्वेषभाव एवं फूट की भावनाएँ पैदा होती हैं। जिस राज्य में नागरिक अनुभव करें कि उन्हें समान अधिकार नहीं दिए जा रहे हैं और उनके साथ न्याय नहीं किया जा रहा है, उनमें कभी भी सहयोग एवं एकता की भावनाएँ उन्नति नहीं कर सकतीं।"[1]

अरस्तू के समय यूनान के राज्यों में राज्य के स्वरूप और संविधानों में शीघ्र परिवर्तन होने लगे थे। यह अस्थिरता और नित्य नई परिवर्तनशीलता यूनानी राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता बन चुकी थी। लगभग प्रत्येक नगर राज्य विभिन्न शासन प्रणालियों—राजतन्त्र, धनिकतन्त्र, जनतन्त्र, निरंकुशतन्त्र आदि में से गुजर चुका था अतः अरस्तू के लिए यह स्वाभाविक था कि राजनीतिक स्थिरता के उपाय खोजता।

अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' की पाँचवीं पुस्तक में क्रान्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इनके कारणों पर प्रकाश डाला है और इनके समाधान करने के महत्त्वपूर्ण

1 *Sinclair* : History of Greek Political Thought, p. 229.

उपाय सुझाए हैं। मैटेल का कहना है—'पॉलिटिक्स' राजनीतिक दर्शन का क्रमबद्ध प्रध्ययन ही नहीं वरन् शासन की कला पर एक ग्रन्थ है जिसमें अरस्तू द्वारा यूनानी-नगर-राज्यों में प्रचलित बुराइयों और उनके राजनीतिक संगठन के दोषों का विश्लेषण किया गया है और ऐसे व्यावहारिक सुझाव दिए गए हैं जिनसे आपत्तिसूचक भयों का निराकरण किया जा सकता है। क्रान्तियों के प्रति अरस्तू के यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण ही पोलॉक (Polock) और अन्य विचारक मानते हैं कि अरस्तू ही प्रथम दार्शनिक है जिसने राजनीति को नीतिशास्त्र से पृथक् किया है। यहाँ वह मैकियावली (Machiavelli) के निकट आ जाता है।

अरस्तू के अनुसार क्रान्ति का अर्थ

क्रांति सम्बन्धी अरस्तू की धारणा वर्तमान क्रान्ति सम्बन्धी धारणा से भिन्न है। अरस्तू के अनुसार क्रांति से तात्पर्य किसी विशेष युग और देश से सम्बन्धित क्रांतियों से नहीं है। वह क्रांति का अर्थ उस अर्थ में नहीं लेता है जिस अर्थ में हम फ्रांस की क्रांति, रूस की क्रांति, इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रांति को लेते हैं। उसके मत में किसी राज्य में जनता या जनता के किसी भाग द्वारा सशस्त्र विद्रोह का नाम भी क्रांति नहीं है। उसके अनुसार क्रांति का अर्थ है संविधान में हर छोटा-बड़ा परिवर्तन। यह आवश्यक नहीं है कि संविधान में पूर्णतः परिवर्तन होता है या आंशिक, सशस्त्र होता है या बिना किसी विशेष घटना के। संविधान में पूर्ण परिवर्तन के परिणामस्वरूप राज्य का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक स्वरूप पूर्णतः परिवर्तित हो जाता है—इसे हम पूर्ण क्रांति की संज्ञा दे सकते हैं किन्तु जब संविधान में परिवर्तन के फलस्वरूप उसके किसी एक भाग में थोड़े बहुत भाग में परिवर्तन होता है तो इसे आंशिक क्रांति कहा जाना चाहिए। संविधान में परिवर्तन, निर्वाचन द्वारा, धोखे से, सशस्त्र विद्रोह से अथवा अन्य रक्तहीन उपायों द्वारा हो सकता है।

अरस्तू ने इस विषय में क्रांति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए क्रांति के अग्रलिखित मुख्य प्रकार बताए हैं—

(1) **आंशिक और पूर्ण क्रान्ति**—यदि सम्पूर्ण संविधान बदल दिया जाता है तो वह पूर्ण क्रांति है और जब केवल कोई महत्त्वपूर्ण भाग बदला जाता है तो वह आंशिक क्रांति है।

(2) **रक्तपूर्ण और रक्तहीन क्रान्ति**—सशस्त्र विद्रोह एवं रक्तपात द्वारा किया जाने वाले संविधान में परिवर्तन रक्तपूर्ण क्रान्ति है, अन्यथा उसे रक्तहीन क्रांति कहा जाएगा।

(3) **व्यक्तिगत और गैर-व्यक्तिगत क्रान्ति**—जब किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को हटाकर संविधान में परिवर्तन किया जाए तो वह व्यक्तिगत क्रान्ति कहलाएगी किन्तु बिना शासक को बदले संविधान में किए जाने वाला परिवर्तन गैर-व्यक्तिगत क्रान्ति होगी।

(4) वर्ग विशेष के विरुद्ध क्रान्ति—धनिकतन्त्र या अन्य किसी वर्ग विशेष के विरुद्ध क्रान्ति करके किया जाने वाला सर्वधानिक परिवर्तन इस प्रकार की क्रान्ति की कोटि मे आएगा।

(5) वैचारिक क्रान्ति—जब किसी राज्य मे कुछ वक्तागण अपने भाषणो या शब्दजाल द्वारा राज्य मे क्रान्ति ला दें तो इसे वैचारिक या वाग्वीरो की क्रान्ति (Demogogic Revolution) कहा जाएगा।

क्रान्ति के कारण

अरस्तू ने क्रान्तियो के कारणो की चर्चा करते हुए उन्हे तीन भागो मे विभाजित किया है—

1. क्रान्तियो के मूल कारण,
2. क्रान्तियो के सामान्य कारण एवं
3. विशिष्ट शासन-प्रणालियो मे क्रान्ति के विशेष कारण।

(1) क्रान्तियों के मूल कारण—अरस्तू क्रान्ति का कारण समानता की भावना को मानता है। यह समानता दो प्रकार की होती है—सख्यात्मक समानता और योग्यता सम्बन्धी समानता। *योग्यता सम्बन्धी समानता से अरस्तू का अभिप्राय* आनुपातिक समानता (Proportionate Equality) से है। अरस्तू का मत है कि सभी मनुष्य प्राय. इस बात पर सहमत हो जाते हैं कि निरपेक्ष (Absolute Justice) योग्यता के अनुपात मे होनी चाहिए, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र मे योग्यता के प्रश्न पर उनमे मतभेद होता है। वे सोचते हैं कि जब मनुष्यता की दृष्टि से सभी समान हैं तो फिर अधिकारो, धन-सम्पत्ति आदि मे भी किसी प्रकार की विषमता न होकर समानता होनी चाहिये। जन वर्ग सदा अपनी समानता की तुलना दूसरो से करता है। जब वह देखता है कि एक ही प्रकार से जन्म होने पर भी उसे कम अधिकार प्राप्त हैं तो उसमे असन्तोष जाग्रत होता है और यही असतोष विकराल रूप धारण करके क्रान्ति मे परिणत हो जाता है। अरस्तू समानता की इच्छा को राज्य क्रान्ति का जन्मदाता होन के पक्ष मे अनेक उदाहरण देता है। उसके अनुसार जनतत्री (Democrats) कहते हैं कि मनुष्य प्रकृति से ही स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है, अतः राजनैतिक दृष्टि से उन्हें पूर्णरूप से समान होना चाहिए। अयोग्य धनतन्त्री कहते हैं कि व्यक्ति किसी विशेष बात मे असमान हैं, अतः वे सभी बातो मे असमान रहेंगे। अरस्तू के अनुसार समानता की इन विरोधी विचारधाराओ के सघर्ष से क्रान्तियाँ जन्म लेती हैं। अधिकारो की विषमता समानता के सिद्धान्तो मे विश्वास रखने वाली जनता को सहन नहीं होती। विषमता का अन्त करके समानता स्थापित करने की भावना से एक वर्ग दूसरे वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति करता है। वास्तव मे क्रान्ति का सबसे बडा कारण न्याय का यह एकाङ्गी दूषित दृष्टिकोण ही है। जब कभी जनता का कोई भाग यह अनुभव करता है कि उसके साथ अन्याय हो रहा है तो राज्य मे क्रान्ति के बीज पैदा हो जाते हैं।

(2) **क्रान्तियों के सामान्य कारण**—(क) **शासकों की धृष्टता और लाभ की लालसा**—जब शासक या शासक-वर्ग धृष्टतावश जनहित की चिन्ता नही करता अथवा सार्वजनिक कल्याण की भावना को छोड़कर अपना घर भरने की फिक्र मे लग जाता है तो जनता मे उसके विरुद्ध असन्तोष भडक उठता है जो उग्र होकर क्रान्ति का रूप ले लेता है।

(ख) **सम्मान की लालसा**—सम्मान पाने की इच्छा सभी को होती है; लेकिन जब शासक-वर्ग किसी को अनुचित ढग से सम्मान देता है या किसी को अनुचित ढग से अपमानित करता है तो शनैः-शनैः जनता के लिए शासक वर्ग का यह रवैया असह्य हो उठता है और वह उसके विरुद्ध आवाज उठाती है।

(ग) **श्रेष्ठता की भावना**—जब समाज मे कुछ लोग अन्य लोगो से अपने को श्रेष्ठ समझने लगते हैं और अपने धन और अपनी कुलीनता के आधार पर शासन को हथियाने का प्रयत्न करते हैं, तो वे जनता मे क्रान्ति के बीजो को बोते हैं। कालान्तर में राज्य के प्रति निष्ठा न रहने की भावना का विस्फोट हो जाता है और वह क्रान्ति के रूप मे प्रकट होती है।

(घ) **घृणा और परस्पर विरोधी विचारधाराएँ**—घृणा और विरोधी विचारधाएँ भी राज्य-क्रान्ति को जन्म देती हैं। राज्य मे जब एक वर्ग सत्ता को ग्रहण किए हुए रहता है तो दूसरा वर्ग उससे घृणा करने लगता है। जब यह घृणा पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तो क्रान्ति उग्र रूप धारण कर लेती है। इसी तरह परस्पर विपरीत विचारधाराएँ समाज मे विरोधी राजनैतिक वर्गों को जन्म देती हैं। ये वर्ग एक दूसरे की सत्ता और महत्ता को स्वीकार नही करते फलत क्रान्ति हो जाती है। अरस्तू की क्रान्ति सम्बन्धी यह धारणा वास्तविकता के अत्यन्त निकट है आज भी पूँजीवाद और साम्यवाद इन दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं और इसके मध्य की घृणा ने ससार को आधुनिक क्रान्तियों का रगस्थल बना रखा है।

(ङ) **भय**—अरस्तू के अनुसार भय दो प्रकार से व्यक्तियों को क्रान्ति के लिए बाध्य करता है—(i) अपराधी दण्ड-भय से बचने के लिए विद्रोह कर देते हैं, (ii) कुछ व्यक्तियो को यह भय होता है कि उनके साथ अन्याय होने वाला है, अत इसके प्रतिकार स्वरूप से विद्रोह कर बैठते हैं। कभी-कभी यह भय कि अमुक वर्ग या अमुक दल द्वारा राज्य मे क्रान्ति न हो जाए, दूसरे वर्ग को क्रान्ति की प्रेरणा दे देता है। अविश्वास भय को जन्म देता है और भय क्रान्ति को।

(च) **द्वेष-भावना**—राज्याधिकारियो के पारस्परिक वैमनस्य के परिणाम स्वरूप भी क्रान्तियो का जन्म होता है। उनके अशिष्ट व्यवहार और स्वार्थसाधन से पीडित व अपमानित होकर लोग विद्रोह का झण्डा खडा कर देते हैं। साथ ही पारस्परिक द्वेष-भाव के कारण अधिकारीगण भी एक दूसरे के विरुद्ध क्रान्ति का बीजारोपण करने से नही चूकते। वर्तमान काल मे अनेक राज्यो म होने वाली क्रान्तियो के पीछे शासन और देश के महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों का जितना हाथ रहता है वह राजनीति मे और विश्व के सामान्य समाचारो म रुचि रखने वाले किसी भी सामान्य जन के लिए एक खुली पोथी है।

(छ) जातियों की विभिन्नता—अरस्तू के मत मे क्रान्ति का एक कारण जातियो की विभिन्नता भी है। विभिन्न जातियो के लोग सरलता से राज्य के अनुकूल नहीं बनाए जा सकते। जाति-विभिन्नता समाज मे एकता की भावना का अभ्युदय नहीं करती। इसके कारण राज्य मे द्वेष, कलह, फूट आदि के बीज विद्यमान रहते हैं जो कभी-कभी क्रान्ति को जन्म दे देते हैं।

(ज) राज्य के किसी अंग की अनुपात से अधिक असाधारण वृद्धि—यह भी क्रान्ति का एक मुख्य कारण है। यदि देश की भौगोलिक अवस्था अच्छी होती है अथवा राज्य के किसी अंग, प्रदेश, वर्ग आदि मे विशेष वृद्धि होती है तो इससे दूसरे प्रदेशों तथा वर्गों मे चिन्ता और द्वेष हो जाना स्वाभाविक है। इसका परिणाम कभी कभी क्रान्ति के रूप मे सामने आता आता है। इस प्रकार की क्रान्ति का उदाहरण भी अरस्तू ने दिया है—"480 ई.पू. के पश्चात् तरेन्तम का सर्वजनतन्त्र (Polity) लोकतन्त्र मे परिणत हो गया क्योंकि इयापिगियन जाति के आक्रमणो के कारण इस नगर के अनेक गण्यमान पुरुषो के मारे जाने से साधारण जनता की सख्या मे वृद्धि हो गई। एथेन्स मे लोकतन्त्र के प्रबल होने का कारण पैलोपोनेशियन युद्ध (431-404 ई. पू.) मे प्रतिष्ठित नागरिको का बड़ी सख्या मे मारा जाना था।" लोकतन्त्र मे निर्धनो की सख्या अधिक बढ़ जाने पर कालान्तर मे यह वर्ग, अभाव, असन्तोष आदि से ग्रसित होकर सत्तारूढ वर्ग के विरुद्ध विद्रोह कर बैठता है।

(झ) निर्वाचन सम्बन्धी षड्यन्त्र—निर्वाचन सम्बन्धी षड्यन्त्र भी बड़े-बड़े विस्फोट करते हैं। निर्वाचन सम्बन्धी बुराइयो को समाप्त करने के लिए कभी-कभी शासक के रूप को ही लोग बदल डालते हैं।

(ञ) अल्प-परिवर्तनों की उपेक्षा—राज्य क्रान्ति अल्प-परिवर्तनो की उपेक्षा से भी होती है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। सभी वस्तुओ मे परिवर्तन होता रहना है। हम या तो इन अल्प-परिवर्तनो को समझ नही पाते हैं या इनकी उपेक्षा करते हैं। कालान्तर मे ये क्रान्ति के कारण बन जाते हैं। उदाहरणार्थ राज्य मे वर्ग विशेष किसी न किसी प्रकार असन्तोष और परिवर्तन की भावना को उत्पन्न किए रहते हैं। यदि समय पर इन परिवर्तनो पर प्रतिबन्ध नही लगाया जाता है तो ये गम्भीर रूप धारण करके राज्य क्रान्ति का रूप धारण कर लेते हैं। छोटी सी बात कभी विकराल रूप धारण कर क्रान्ति को जन्म देती है। उदाहरणार्थ अम्ब्रासिया (Ambrasia) मे मताधिकार की शर्तों मे सामान्य परिवर्तन करने से ही शासन मे क्रान्ति हो गई थी।

(ट) विदेशियों को आने की खुली छूट—जब राज्य अपनी स्थापना के समय या बाद मे विदेशियों को बसने की आज्ञा देता है तो एक प्रकार से वह क्रान्ति का सकट आमन्त्रित करता है। वास्तव मे यह सही भी है। यदि भारतीय शासक अंग्रेजों, पुर्तगालियो आदि विदेशियो को भारत मे न बसने देते तो सम्भवतः भारत का इतिहास ही दूसरा होता।

(ठ) पारिवारिक विवाद—पारिवारिक संघर्ष भी क्रान्ति का सूत्रपात करते हैं। अनेक बार दो राजकुमारो के प्रणय का कलह क्रान्ति का कारण बन जाता है।

(ड) शासक वर्ग की असावधानी—कभी-कभी शासक वर्ग की अज्ञानता और असावधानी के कारण राजद्रोहियो को महत्त्वपूर्ण पदो पर नियुक्त कर दिया जाता है। समय और अवसर पर मिलने पर ये व्यक्ति शासन का तख्ता उलट देते हैं।

(ढ) मध्यम वर्ग का अभाव—मध्यम वर्ग समाज मे संतुलन बनाए रखने मे सहायक होता है। इसके अभाव में धनिको और निर्धनो के मध्य खाई बहुत गहरी हो जाती है अतः इस वर्ग की समाप्ति पर क्रान्ति शीघ्र सभव है।

(ण) शक्ति-सन्तुलन—राज्य मे परस्पर विरोधी वर्गों मे शक्ति मे संतुलन होना भी क्रान्ति को जन्म देता है। बहुधा निर्बल पक्ष प्रबल पक्ष के साथ लड़ाई मोल नहीं लेगा लेकिन सम-शक्ति सतुलन होने पर दोनो ही को सफलता की सम्भावना रहती है और कोई भी एक पक्ष विद्रोह कर बैठता है।

(3) विभिन्न शासन प्रणालियों में क्रान्ति के विशेष कारण—(i) एकतन्त्र में क्रान्ति—एकतन्त्र मे क्रान्ति को जन्म देने वाले प्रमुख कारण पारिवारिक झगड़े पारस्परिक द्वेष-भाव, घृणा, शासक द्वारा जनता पर अत्याचार आदि हैं। अत्यधिक सताए जाने पर जनता विद्रोह कर बैठती है। स्वेच्छाचारी राजतन्त्र मे शासक की निरकुशता ही क्रान्ति का कारण बन जाती है।

(ii) कुलीनतन्त्र में क्रान्ति—इस शासन मे भाग लेने वाले व्यक्तियो की सख्या सीमित होती है। सीमित लोगो को पद एव प्रतिष्ठा की प्राप्ति और अन्य लोगो के प्रति शासको की उपेक्षा तथा शासक वर्ग द्वारा धृष्ठता का मार्ग ग्रहण करना आदि ऐसे कारण हैं जिनसे जनता मे असन्तोष घर कर जाता है और सम्पूर्ण जनता या उसका कोई वर्ग क्रान्ति कर देता है। विभिन्न वर्गों मे उचित सामजस्य का अभाव ही कुलीनतन्त्र की जड़ें खोदता है।

(iii) प्रजातन्त्र में क्रान्ति—प्रजातन्त्र मे लोकनेताओ की अधिकता के कारण क्रान्ति पैदा होती है। ये नेता निर्धनो का प्रतिनिधित्व लेकर धनी वर्ग के विरुद्ध जनमत स्थापित करते हैं। परिणामतः धनी वर्ग क्रान्ति की शरण लेता है। कॉस (Coss), रोड्स (Rhodes) और मेगर (Megara) के नगर राज्यो मे जनतन्त्र के विनष्ट होने का भी यही कारण था। जनतन्त्र मे इस कारण भी क्रान्ति होती है कि भाषण वीर (Bemogogues) सत्य असत्य का सहारा लेकर जनता को भड़काते है, अपने पक्ष मे करते है और तब सत्ता हथिया कर तानाशाही के रास्ते पर चल पड़ते हैं। उच्च जनतंत्र मे क्रान्ति उस समय होती है जब सर्व साधारण मनुष्य को शासको के समान सद्गुणी समझने लगते हैं।

यदि हम अरस्तू द्वारा बतलाए गए क्रान्ति के उपरोक्त कारणो पर विचार करें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि संसार की प्रत्येक क्रान्ति के पीछे अरस्तू द्वारा वर्णित कोई न कोई कारण अवश्य रहा है।

क्रान्तियों से बचने के उपाय (Means for Preventing Revolutions)

अरस्तू ने राज्य क्रान्ति के कारणों पर व्यापक प्रकाश डालने के साथ-साथ क्रान्तियों को रोकने के उपायों पर भी प्रकाश डाला है। डनिंग (Dunning) के शब्दों में, "अरस्तू क्रान्तियों को उत्पन्न कराने वाले कारणों की विस्तृत सूची देने के पश्चात् उसके समान ही प्रभावोत्पादक उनको रोकने वाले उपायों की सूची भी देता है।" अरस्तू की इस महत्त्वपूर्ण देन के बारे में मैक्सी (Maxey) का मत है कि, "आधुनिक राजनीतिक विचारक शायद ही क्रान्ति को रोकने का, अरस्तू के उपायों के अतिरिक्त कोई अन्य ठोस उपाय बता सकें।"

अरस्तू द्वारा क्रान्ति के जो विरोधात्मक उपाय बताए गए हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(i) शक्ति पर नियन्त्रण—राज्य में किसी भी वर्ग के हाथ में अधिक शक्तियाँ नहीं देनी चाहिए, क्योंकि एक व्यक्ति के हाथ में शक्तियों का केन्द्रीकरण होने से विद्रोह की सम्भावना अधिक होती है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि "शक्ति भ्रष्ट करती है और पूर्ण शक्ति पूर्णतः भ्रष्ट करती है (Power corrupts, absolute power corrupts absolutely)।" अतएव शक्ति का विभाजन होना चाहिए। शक्ति का बाहुल्य तो राज्य में असन्तोष का जनक होता है।

(ii) जनता में संविधान के प्रति आस्था बनाए रखना—जनता में न्याय और संविधान के प्रति आस्था बनाए रखना क्रान्ति से बचने का महत्त्वपूर्ण उपाय है। शासक वर्ग को इस बात का हर सम्भव उपाय करना चाहिए कि राज्य के समस्त नागरिकों के हृदय में कानूनों के प्रति आस्था और प्रतिष्ठा की भावना जाग्रत हो जाए ताकि वे विधि-विधान का उल्लंघन न करें और फलतः क्रान्ति को जन्म न दें। चूँकि नागरिकों में सुव्यवस्थित शिक्षा के द्वारा ऐसी भावना का विकास किया जा सकता है, अतः अरस्तू नागरिकों की समुचित शिक्षा पर विशेष बल देता है।

(iii) सम्मान, पदों आदि का न्यायपूर्ण वितरण—अरस्तू का कहना है कि पदों में असमानता और सम्मान में अतिक्रमता के कारण राज्य में क्रान्ति की सम्भावना रहती है अतः पद, लाभ, सम्मान, पुरस्कार आदि निष्पक्ष दृष्टि से अधिक से अधिक लोगों को दिए जाने चाहिए जिससे सन्तुष्ट वर्गों की सृष्टि हो। राज्य में कोई भी व्यक्ति यह न समझे कि राजनीतिक पदों को प्राप्त करना असम्भव है, बल्कि उसमें यह भावना बैठ जानी चाहिए कि योग्यतानुसार कोई भी व्यक्ति इन पदों को प्राप्त कर सकता है। निम्न पदों की कार्यावधि दीर्घ समय के लिए कर दी जानी चाहिए। किसी भी अजनबी व्यक्ति को राजनीतिक पदों पर आसीन नहीं किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त किसी भी नागरिक को राजनीतिक पदों पर एकाधिकार न करने देना क्रान्ति को रोकने में बड़ा सहायक है।

(iv) राज्य को परिवर्तनों के प्रारम्भ में बचाना—क्रान्ति का अर्थ 'परिवर्तन' है अतः जहाँ तक हो सके, राज्य को परिवर्तनों के प्रारम्भ से बचाना चाहिए।

इन परिवर्तनों के मूल मे ही क्रान्ति के बीज निहित रहते हैं। राज्य को क्रान्ति की ओर अग्रसर करने वाली शक्तियो पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सन्नद्ध रहना चाहिए।

(v) आर्थिक असमानता कम करना—समाज मे अत्यधिक आर्थिक असमानता क्रान्ति की जनक होती है। अरस्तू का मत है कि राज्य की ओर से निरन्तर यह प्रयत्न होना चाहिए कि समाज मे आर्थिक विषमता कम से कम हो। यह वांछित है कि धन का वितरण इस प्रकार हो जिससे न तो वर्ग-विशेष अत्यधिक सम्पन्न बन जाए और न दूसरा वर्ग अत्यन्त निर्धन।

(vi) समाज में मध्यम वर्ग को बढ़ावा—क्रान्तियो से बचने का एक महत्वपूर्ण उपाय यह है कि समाज मे स्वस्थ मध्यम वर्ग को जन्म दिया जाए। यह मध्यम वर्ग, धनियो और निर्धनो के बीच सन्तुलन का कार्य करेगा।

(vii) दो विरोधात्मक प्रवृत्ति के लोगों के हाथ मे सत्ता—क्रान्ति को नियन्त्रित करने वाला एक अन्य उपाय यह है कि राज्य की सत्ता दो विरोधात्मक प्रवृत्ति के लोगो के हाथ मे होनी चाहिए। प्रतिभाशाली गुणी व्यक्तियो और धनियो के मध्य एक सामजस्य की स्थापना की जानी चाहिए। राज्य का सगठन धनी और निर्धनो के बराबर प्रतिशत के आधार पर किया जाना चाहिए ताकि असमानता का नाश हो और क्रान्तिकारी दल का उदय न हो पाए।

(viii) धनोपार्जन की भावना का दमन—सरकार का सगठन इतना दृढ होना चाहिए कि राजनीतिक पदाधिकारी अपने पदो का अनुचित लाभ उठाकर धन-सचय न कर सकें। रिश्वतखोरी और इसी तरह के अन्य अनियमित कार्यों को करने से उन्हे रोकना चाहिए। राज्य मे एक ऐसा सामाजिक वातावरण पैदा किया जाना चाहिए कि राज्य के पदाधिकारी अथवा शासनाधिकारी पद-लिप्सा और अपनी स्वार्थपूर्ण कुत्सित अभिलाषाओ की ओर आकर्षित न हो सकें।

(ix) अरस्तू का विचार है यदि राज्याधिकारियो की अवधि कम रखी जावेगी तो क्रान्ति का प्रतिकार किया जा सकता है। वह चाहता है राज्य मे ऐसी व्यवस्था स्थापित की जाए जिसके अनुसार किसी भी अधिकारी वर्ग को छः माह से अधिक की अवधि शासन करने के लिए न दी जावे। इसका बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि वंचित वर्ग के मनुष्य भी बारी-बारी से पद प्राप्त कर सकेंगे अर्थात् उन्हें भी शासन करने का अवसर मिल जाएगा और उनकी महत्त्वाकांक्षा या भावी मनोकामना की पूर्ति हो जावेगी।

(x) क्रान्ति को रोकने के लिए एक मनोवैज्ञानिक उपाय का अरस्तू सुझाव देता है कि राज्य को चाहिए कि वह भावी सकटो से नागरिको को आतंकित रखे। राज्य नए-नए सकटो से उन्हे आबद्ध कर दे ताकि क्रान्तिकारी कदम उठाने का उन्हें समय ही न मिल सके। अरस्तू के ही शब्दो में—"शासक जो राज्य की चिन्ता करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे नए खतरो का अन्वेषण करें, दूर के भय को समीप लाएँ ताकि जनता पहरेदार की भाँति अपनी रक्षा के लिए सदैव सचेत और तत्पर रहे।"

(xi) अरस्तू क्रान्तियो को रोकने का सर्वोत्तम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण

उपाय 'शिक्षा' को बताता है। शिक्षा द्वारा राज्य के नागरिकों में राज्य के प्रति निष्ठा की भावना उत्पन्न की जा सकती है, उन्हें क्रान्तियों के दोष से अवगत कराया जा सकता है। शिक्षा से उनमें कर्त्तव्य-भावना जाग्रत की जा सकती है। अरस्तू के मतानुसार शिक्षा की व्यवस्था और कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिससे युवकों में संविधान के प्रति श्रद्धा और सामाजिक रीतियों के प्रति आस्था बनी रहे।

(xii) अरस्तू निरकुंश राजतन्त्र में क्रान्ति के कारणों को रोकने के लिए दो साधन बतलाता है—(क) प्रथम साधन शक्ति का है जिसके द्वारा अत्याचारी शासन राज्य के बड़े लोगों को समाप्त करके सब पर समान रूप से शासन कर सकता है। वह विदेशी सेनाओं का प्रदर्शन कराके लोगों को भयभीत कर सकता है। इन उपायों से नागरिकों का नैतिक अधःपतन हो जाएगा और वे निरंकुश शासन के विरुद्ध क्रान्ति करने का साहस नहीं करेंगे। (ख) दूसरा साधन यह है कि अत्याचारी या निरंकुश शासन एक ऐसा आवरण रखे जिससे नागरिकों की सद्भावना और उनका प्रेम प्राप्त किया जा सके। यह आवरण मध्यवर्ती मार्ग होना चाहिए। इसके द्वारा एक ओर तो नागरिकों की नैतिक एवं धार्मिक भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचानी चाहिए और दूसरी ओर श्रेष्ठ नागरिकों को पुरस्कृत करना चाहिए ताकि लोगों में यह भावना व्याप्त हो जाए कि यह राज्य का संरक्षक है।

(xiii) मनुष्य अपने वैयक्तिक जीवन की परिस्थितियों के फलस्वरूप भी क्रान्तिकारी बन जाते हैं। अतः एक ऐसा राजकीय अधिकारी नियुक्त किया जाना चाहिए जो इस बात पर सदैव चौकन्नी दृष्टि रखे कि लोग अपना आचरण शासन-व्यवस्था के अनुरूप रख रहे हैं तथा शासनतन्त्र की नीति के अनुसार ही जीवनयापन कर रहे हैं।

(xiv) क्रान्ति को रोकने के सभी कारणों में अरस्तू राज्य की सुरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करता है। उसका कहना है कि विविध प्रकार के संविधानों को क्रान्ति से बचाने और उनमें स्थिरता लाने के लिए उनमें से ऐसे सभी तत्त्वों का निवारण कर दिया जाना चाहिए जिनके द्वारा क्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हों। राज्य की सुरक्षा के लिए वह आवश्यकता पड़ने पर व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन तक में राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन करता है। उसका तो यहाँ तक विचार है कि यदि राज्य में पारस्परिक विवाद एवं मित्रता के कारण क्रान्ति होती है तो राज्य को उसमें भी हस्तक्षेप करना चाहिए।

अरस्तू और प्लेटो
(Aristotle and Plato)

कुछ विचारकों ने इन दोनों गुरु-शिष्यों को एक-दूसरे का पूर्णतः विरोधी बताया है। यह विचार केवल आंशिक रूप से ही सत्य है क्योंकि अरस्तू पर उसके गुरु प्लेटो का प्रभाव स्पष्टतः देखने को मिलता है। इ. एम. फोस्टर के शब्दों में, 'अरस्तू सभी प्लेटोवादियों में महान् है।'[1] अरस्तू बीस वर्ष तक प्लेटो का शिष्य

1 "Aristotle is the greatest of Platonists." —*E. M. Foster*

रहा। प्लेटो अपने इस महान् शिष्य को अपनी अकादमी (Academy) का मस्तिष्क कहा करता था और सम्भवतः वह उसे ही अपना उत्तराधिकारी बनाना भी चाहता था। इस सम्बन्ध में सेबाइन ने कहा है—"इसके बाद दार्शनिक लेखों का प्रत्येक पृष्ठ इस सम्बन्ध में गवाह है।"[1] वास्तव में अरस्तू पर अपने गुरु का प्रभाव बड़ा व्यापक है। उसके विचारों की नींव प्लेटो के सम्पर्क पर टिकी है।

असमानताएँ

अरस्तू और प्लेटो की पद्धति में, विचारों और दृष्टिकोण में पाई जाने वाली गम्भीर असमानताएँ ये हैं—

(1) प्लेटो आदर्शवादी, कल्पनावादी और हवाई योजनाएँ बनाने वाला है तो अरस्तू यथार्थवादी, क्रियात्मक, व्यावहारिक और इस धरती की वास्तविकताओं से बँधा हुआ है। प्लेटो का राजदर्शन 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' पर आधारित है, जब कि अरस्तू व्यावहारिकता पर ध्यान देते हुए कोरे विचारों का सिद्धान्त (Conception of the ideas) को मान्यता नहीं देता। वह प्लेटो के विपरीत कल्पना के स्थान पर वास्तविकता को महत्त्व देता हुआ, ठोस, प्राकृतिक और व्यावहारिक तथ्यों के आधार पर अपने राजशास्त्र का निर्माण करना चाहता है। फ्रेडरिक पोलॉक (Fredrick Polock) के शब्दों में, "प्लेटो गुब्बारे में बैठकर नए प्रदेशों में घूमता हुआ कभी-कभी नीहारिका के आवरण को चीर कर किसी दृश्य को अत्यन्त स्पष्टता से देख सकता है, किन्तु अरस्तू एक श्रमजीवी उपनिवेशवादी की भाँति उस क्षेत्र में जाता है और मार्ग का निर्माण करता है।"

(2) प्लेटो की पद्धति निगमनात्मक (Deductive) है, जबकि अरस्तू की उद्गमनात्मक (Inductive)। इस तरह जहाँ प्लेटो सामान्य से विशेष नियमों की कल्पना करता है वहाँ अरस्तू विशेष घटनाओं व परिस्थितियों के आधार पर सामान्य नियमों का पालन करता है। प्लेटो 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' आदि अमूर्त विचारों का विश्लेषण करते हुए सूक्ष्म से स्थूल की ओर बढ़ता है, अरस्तू वास्तविक पदार्थों पर विचार करते हुए उनके आधार पर स्थूल की ओर चलता है। इसलिए प्लेटो की बनिस्पत अरस्तू के विचार अधिक स्पष्ट, व्यावहारिक, क्रमबद्ध और तर्क-संगत है।

(3) प्लेटो दार्शनिक शासक या शासकों के राज्य को सर्वश्रेष्ठ मानता है, किन्तु अरस्तू के मतानुसार यह आवश्यकता और परिस्थिति पर निर्भर है। जहाँ प्लेटो दार्शनिक राजाओं द्वारा आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहता है वहाँ अरस्तू ऐसा शास्त्र बनाना चाहता है जिसमें निर्धारित किए गए नियमों पर चलते हुए आदर्श राज्य की ओर अग्रसर होना सम्भव है। मैक्सी (Maxey) के अनुसार, "प्लेटो ऐसे अतिमानव (Superman) की खोज में है, जो आदर्श राज्य की सृष्टि

1 "Every page of his later philosophical writing bears witness to the connection." —Sabine

करे, अरस्तू ऐसे प्रतिविज्ञान (Super-Science) की खोज करना चाहता है जो राज्य को अच्छे से अच्छा बना सके।"

(4) प्लेटो 'रिपब्लिक' में दार्शनिक शासक को निरकुश-सा बना देता है। केवल 'लॉज' में वह कानून की प्रधानता मानता है। अरस्तू प्रारम्भ से ही कानून की प्रभुता को स्वीकार करता है।

(5) अरस्तू जिस राज्य को आदर्श मानता है, वह प्लेटो के उपादर्श राज्य के समान है, आदर्श राज्य के समान नहीं।

(6) प्लेटो के राज्य की एकता तर्क पर टिकी हुई है जिसमें वह व्यक्ति को पूर्ण रूप से विलीन कर देता है। इसकी स्थापना के लिए वह निजी सम्पत्ति और निजी परिवार को भी समाप्त कर देता है। यद्यपि 'लॉज' में वह निजी सम्पत्ति और परिवार रखने की व्यवस्था करता है लेकिन इस अधिकार को अनेक प्रतिबन्धों से बड़ा सीमित किया गया है। अरस्तू भी यद्यपि राज्य की एकता स्थापित करना चाहता है, किन्तु वह व्यक्ति को उसमें पूर्णतः विलीन नहीं करता। वह तो राज्य को 'समुदायों का समुदाय' मानता है। वह बहुत्व में ही राज्य के स्वरूप और अस्तित्व को मानता है। निजी सम्पत्ति और निजी परिवार को राज्य में स्थान देते हुए वह प्लेटो के साम्यवाद को अनुचित ठहराता है।

(7) प्लेटो राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओं के फलस्वरूप मानता है। उसके अनुसार व्यक्ति अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहयोग करने को बाध्य होता है और यही राजनीतिक व सामाजिक जीवन का आधार है। उसकी दृष्टि में मनुष्य में रुचि एवं कार्य करने की योग्यता भी भिन्न होती है। इन विभिन्न योग्यताओं और कार्यों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए राजनीतिक सगठन की आवश्यकता पड़ती है। ऐसा सामञ्जस्य केवल राज्य द्वारा ही सम्भव है। प्लेटो के इन विचारों के विपरीत अरस्तू राज्य को परिवार के समान एक प्राकृतिक संस्था स्वीकार करता है। उसका कहना है कि आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्त्री-पुरुष, स्वामी-दास मिलकर परिवार में सगठित हो जाते हैं, परिवार मिलकर ग्राम बनते हैं और ग्रामों के सयुक्त होने पर राज्य का निर्माण होता है।

(8) प्लेटो राज्य को व्यक्ति का वृहद् रूप मानता है, जबकि अरस्तू इसे परिवार का वृहद् रूप समझता है।

(9) *प्लेटो के विचार राज्य में परिवर्तन की दृष्टि से क्रान्तिकारी (Radical)* हैं, जबकि अरस्तू के रूढ़िवादी (Conservative) हैं। प्लेटो अपने आदर्श राज्य की स्थापना में सामाजिक रीति-रिवाजों में आमूलचूल परिवर्तन करता है जबकि अरस्तू की मान्यता है कि हमें युगों से चले आने वाले अनुभवों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। वास्तव में प्लेटो जहाँ अतिवादी (Extremist) है, वहाँ अरस्तू मध्य मार्ग (Golden mean) का अनुसरण करने वाला है। इस बारे में विल ड्यूरेंट (Will Durent) ने कहा है कि "प्लेटो के क्रान्तिकारी विचारों का एक कारण यह था कि उसके समय में राजनीतिक वातावरण प्रायः शान्त था, अतः सामाजिक

व्यवस्था मे परिवर्तन के प्रस्ताव सरलता से प्रस्तुत किए जा सकते थे, लेकिन अरस्तू का युग राजनीतिक दृष्टि से अशान्ति का युग था, अत उसने समाज मे मौलिक परिवर्तनों का विरोध किया।"[1]

(10) अरस्तू ने राजनीतिक विचारो को नैतिक विचारो से पृथक् किया है। प्लेटो दोनो विचारो का मिश्रण करते हुए राजनीति को नीतिशास्त्र का अग मानता है। वह भलाई (Goodness) को सार्वभौम अमूर्त विचार मात्र स्वीकार करता है, लेकिन अरस्तू भलाई को निरपेक्ष वस्तु न मानकर उसका वस्तुओ और परिस्थितियो से निर्धारित होना मानता है। उसकी दृष्टि मे व्यक्ति का अधिकतम कल्याण राज्य मे ही सम्भव है, अत. इसका विवेचन राजनीति-शास्त्र का काम है। इस तरह वह राजनीति-शास्त्र को नीति-शास्त्र से पृथक् करके एक स्वतन्त्र विज्ञान बनाता है।[2]

प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक विचारो मे पाए जाने वाले उपर्युक्त अन्तर उनकी मौलिक प्रवृत्तियो क भेद के कारण है। इसलिए कहा जाता है—"प्लेटो राजनैतिक दर्शन के आदर्शवादियो, स्वप्नदर्शियो (Romantists), क्रान्तिकारियो, कल्पनावादियो (Utopians) का पिता है और अरस्तू यथार्थवादियो, वैज्ञानिको, व्यवहारवादियो (Pragmatists) तथा उपयोगितावादियो का जनक है।"[3]

समानताएँ

उपरोक्त अन्तर के होते हुए भी इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि अरस्तू पर उसके आध्यात्मिक पिता प्लेटो का बडा प्रभाव है। यद्यपि वह अपने गुरु के प्रति अन्धभक्त नही है, किन्तु वह उसकी महान् दार्शनिकता और योग्यता के प्रभाव से ओत-प्रोत अवश्य है। दोनो विचारको मे गम्भीर अन्तरो के साथ-साथ महान् सादृश्य या समानताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ अरस्तू ने अपनी कृतियो मे प्रत्येक मोड पर प्लेटो का खण्डन किया है, वहाँ प्रत्येक पृष्ठ पर वह उसका ऋणी भी है। इन दोनो महान् विचारको के राजदर्शन मे पाए जाने वाली कुछ समानताएँ इस प्रकार हैं—

1. दोनो ही यूनान के राजनैतिक जीवन की अस्थिरता और नैतिक अव्यवस्था को आशका की दृष्टि से देखते थे। दोनो ही उसका उपाय श्रेष्ठ जीवन को स्वीकार करते थे। दोनो ही की मान्यता थी कि—"छोटे से नगर-राज्य मे ही सर्वोत्तम सुखी जीवनयापन किया जा सकता है। उसे प्राप्त करने मे वे व्यक्ति ही समर्थ हो सकते हैं जिनके पास शिक्षा और साधन हैं।" दोनो ही नगर-राज्य के स्वशासित और आत्म-निर्भर होने के पक्ष मे हैं।

2. दोनो ही दार्शनिको ने दास-प्रथा का समर्थन किया है। यद्यपि प्लेटो ने इसका स्पष्ट रूप से पक्षपोषण नही किया है किन्तु विरोध भी नहीं किया है।

1 *Will Durent* : Story of Philosophy, P. 91.
2 *Dunning* : A History of Political Theories, Part I, pp. 49-51.
3 *Maxey* : Political Philosophies, P. 78.

3. दोनो विचारक राज्य के लिए शिक्षा को आवश्यक मानते हुए उसे राज्य के नियन्त्रण में रखने के पक्ष में हैं। वे स्वस्थ और सुन्दर जीवन तथा कर्त्तव्य-पूर्ति के लिए शिक्षा को बड़ा महत्त्व देते हैं।

4. यदि प्लेटो 'लॉज' मे व्यावहारिकता के धरातल पर उतरता हुआ कानून को उच्च स्थान प्रदान करता है जो अरस्तू भी 'पॉलिटिक्स' मे कानून की प्रभुता को स्वीकार करता है।

5. दोनो ही विचारक नागरिकता को सीमित बनाए रखते हैं। दोनो का ही मत है कि समस्त शारीरिक श्रम दासो तथा अनागरिको को ही करना चाहिए।

6 दोनो ही चिन्तक एक मिश्रित सविधान मे विश्वास करते हैं यद्यपि इनके वर्गीकरण मे कुछ अन्तर है।

7 दोनो ही विचारक व्यक्तिगत धर्म को महत्त्व नहीं देते।

8 दोनो ही राज्य के एक नैतिक एव आध्यात्मिक स्वरूप को मान्यता देते हैं। दोनो ही नगर-राज्य का अध्ययन नैतिकता के आधार पर करते हैं। इस तरह दोनो के राजनैतिक विचार नैतिक विचारो से प्रभावित हैं।

9 दोनो प्रजातन्त्र के विरोधी हैं और पूर्ण समानता मे विश्वास नही करते।

10 दोनो ही विचारको की दृष्टि मे राजनीति एक व्यावहारिक विज्ञान है। "जिस तरह किसी राजनीतिज्ञ के लिए प्लेटो के 'रिपब्लिक' और 'लॉज' महत्त्वपूर्ण हैं उसी प्रकार अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' भी उसके लिए एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सिद्ध हो सकता है।"

स्पष्ट है कि दोनो विचारको मे अनेक मौलिक समानताएँ और असमानताएँ हैं। प्रो० मैक्सी की टिप्पणी है कि—"प्लेटो का राज्य अमूर्त विचारो का एक ढाँचा है जिसे यथार्थ रूप एक दार्शनिक राजा देगा जो अपने सामने वर्तमान समस्त सस्थाओ को जड़ से उखाड फेंकेगा और सतति शास्त्र तथा शिक्षा द्वारा एक निर्दोष सामाजिक व्यवस्था मे मनुष्यो की एक नवीन तथा श्रेष्ठतर जाति उत्पन्न करेगा; अरस्तू का भवन उस सामग्री से बना है जो पहले से ही मौजूद है, जिसे अच्छी तरह परखा जा चुका है, अच्छी तरह समझा जा चुका है और जिसे कोई भी बुद्धिमान राजनीतिज्ञ प्रयोग कर सकता है जो कि आदर्श से मिलता-जुलता नमूना तैयार करना चाहे। तो भी दोनो विचारको मे एक-सा ही नैतिक जोश है, एक-सी ही व्यवस्था की चाह, एक-सा ही सन्तुलन का प्रेम, एक-सी ही न्याय तथा बुद्धि के प्रति आस्था, एक-सा ही शिक्षा मे विश्वास, एक-सी ही मानवता मे आस्था तथा शुभ जीवन की प्राप्ति के लिए एक-सा चिन्तना दिखाई पडती है।"

अरस्तू में यूनानी एवं सार्वभौम तत्त्व और उसका प्रभाव
(The Hellenic and Universal Elements in Aristotle and His Influence)

अरस्तू के राजनैतिक चिन्तन मे कुछ ऐसे वर्णन हैं जिनमे यूनानी (Hellenic) तत्त्व दिखलाई पड़ते हैं तो कुछ ऐसे हैं जो सार्वभौमिक महत्त्व रखते हैं।

यूनानी तत्त्व (Hellenic Elements)

अरस्तू पर तत्कालीन यूनानी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक था। इस प्रभाव के कारण ही उसकी विचारधारा उस समय के अनेक यूनानी तत्त्वों से मर्यादित है। डनिंग के शब्दों में, "यद्यपि राजनीति शास्त्र की सामग्री के लिए अरस्तू की ऐतिहासिक खोज ने यूनानियों (Hellens) के प्रादेशिक क्षेत्र की सीमाओं का अतिक्रमण किया था, लेकिन उसने जिस पद्धति का निर्माण किया उसके आवश्यक अंशों का निर्धारण यूनानी क्षेत्र की सीमाओं में विद्यमान परिस्थितियों से हुआ।"[1] अरस्तू के राजदर्शन में मिलने वाले प्रमुख यूनानी तत्त्व ये हैं—

1. अरस्तू के आदर्श राज्य की कल्पना नगर-राज्य तक सीमित है। यद्यपि उसकी आँखों के सामने अनेक नगर-राज्य नष्ट हो गए थे किन्तु उसकी दृष्टि नगर-राज्यों से ऊपर नहीं उठ सकी। स्पष्टतः यह उस पर व्याप्त यूनानी प्रभाव ही था।

2. अरस्तू ने यूनान में प्रचलित दास-प्रथा का अनुमोदन किया है। अरस्तू स्वयं कितने ही दासों का स्वामी था।

3. शिक्षा के जिस रूप का वर्णन अरस्तू ने किया है वह बहुत अंशों तक तत्कालीन यूनानी प्रथा के अनुकूल है। शिक्षा को आवश्यक और राज्य द्वारा संचालित मानना उन दिनों यूनान का आम रिवाज था।

4. अरस्तू का जाति अभिमान और यूनानियों को अन्य बर्बर जातियों से उत्कृष्ट मानना यूनानी प्रभाव का सूचक है।

5. श्रमिकों, कारीगरों और कृषकों को नागरिकों के अधिकारों से वंचित करना भी तत्कालीन यूनान की सामाजिक दशा के अनुरूप है।

6. अरस्तू द्वारा व्यापार से घृणा और सूदखोरी का विरोध करना भी यूनानी तत्त्व ही है।

अरस्तू के राजदर्शन में पाए जाने वाले इन यूनानी तत्त्वों में से एक को भी वर्तमान काल में सत्य स्वीकार नहीं किया जाता है। अरस्तू के युग में इनका महत्त्व भले ही रहा हो किन्तु युग के साथ-साथ ये तत्त्व भी नष्ट हो गए हैं और आज इन्हें मात्र अस्वाभाविक, अप्रगतिशील और असत्य धारणाएँ माना जाता है।

सार्वभौम तत्त्व (Universal Elements)

अरस्तू के राजदर्शन का गम्भीर अनुशीलन करने पर उसमें कुछ ऐसे तत्त्व मिलते हैं जिनका चरित्र विश्व-व्यापक है, जो आज भी उतने ही सही हैं जितने कि अरस्तू के युग में थे। उसके विचारों में उपलब्ध ये सार्वभौम तत्त्व मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

1. "मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है"—यह एक स्वयं-सिद्ध सत्य है। अरस्तू ही वह सबसे प्रथम विचारक है जिसने बड़े ही व्यावहारिक, वैज्ञानिक और बलशाली ढंग से इसे व्यक्त किया है।

1 *Dunning* : A History of Political Theory, P 93

2. "राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ और शुभ तथा सुखी जीवन के लिए वह जीवित है"—इस सिद्धान्त को ऐतिहासिक अभिव्यक्ति अरस्तू ने ही दी है, यद्यपि प्लेटो के विचार इसका आधार है।

3. अरस्तू ही वह प्रथम विचारक है जिसने सर्वप्रथम यह अनुभव किया है कि राज्य की अन्तिम समस्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य की सत्ता में सामञ्जस्य स्थापित करना है। कानून की प्रभुता, कानून को विशुद्ध बुद्धि समझना आदि की जो धारणा अरस्तू ने व्यक्त की है उनमें स्वतन्त्रता और सत्ता का सामञ्जस्य निहित है। अरस्तू का यह कथन भी एक सार्वकालिक सत्य है कि जनता ही सरकार के आचरण पर अन्तिम निर्णय करने की अधिकारिणी है। आज के लगभग सभी प्रगतिशील राज्यों में इसे निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है।

4. अरस्तू जनमत को विद्वानों या विशेषज्ञों की राय से अधिक महत्त्व देता है। आज भी संसार के अधिकांश फैसले जनता के रुख को देखकर दिए जाते हैं।

5. अरस्तू का संविधानवाद पर बल देना एक महत्त्वपूर्ण सार्वभौमिक तथ्य है। संविधानवाद के इस एक शब्द में वह सब कुछ समाया हुआ है जो यूरोप एवं वर्तमानकालीन विश्व के विचार को अरस्तू के ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ है। वास्तव में कानून को सम्प्रभु बनाकर और शासन को कानून के अधीन स्वीकार करके अरस्तू ने समग्र संसार के संविधानवादियों का पिता होने की ख्याति प्राप्त कर ली है। सन्त टॉमस का कानून के प्रति सम्मान और उनका संविधानवाद प्रमुखतः अरस्तू द्वारा ही प्रेरित है। बार्कर के शब्दों में, "अरस्तू ने सन्त टॉमस को सिखाया, सन्त टॉमस के द्वारा उसने कैथोलिक यूरोप को सिखाया, सन्त टॉमस के द्वारा उसने रिचार्ड हूकर को भी सिखाया जिसके कानून तथा सरकार के सिद्धान्त का उद्गम यही है ··· ·······न्यायप्रिय हूकर लॉक के शिक्षकों में से एक था·········लॉक का सिद्धान्त बर्क को मिला। अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' तथा 17वीं तथा 19वीं शताब्दी के अंग्रेजी राजनैतिक विचार के वातावरण में न केवल दृष्टान्त का साम्य है बल्कि एक हद तक संयोग भी है।"

6 अरस्तू का मध्यम मार्ग (Golden Mean) का विचार वर्तमान राजनीति के नियन्त्रण एवं सन्तुलन (Checks and Balances) के विचार का जनक है। केटलिन (Catlin) के शब्दों में, "कन्फ्यूशियस के बाद, सामान्य ज्ञान और मध्यम मार्ग का सर्वोच्च सुधारक अरस्तू ही है।"[1]

7. अरस्तू के दर्शन का सातवाँ शाश्वत तत्त्व उदार लोकतन्त्र (Liberal Democracy) का समर्थन है। अरस्तू ने यद्यपि अतिवादी लोकतन्त्र (Extreme Democracy) और भीड़ द्वारा शासन करने वाले लोकतन्त्र का विरोध किया, लेकिन साथ ही सब तरह के अधिनायकों अथवा तानाशाहों के शासन का भी वह उग्र-विरोधी है।

1 "After Confucious, Aristotle is the supreme apostle of commonsense and of golden means." —Catlin

8. अरस्तू के दर्शन का आठवाँ शाश्वत तत्त्व राज्य के सम्बन्ध में यह उदार विचार है कि राज्य बुद्धि द्वारा शासित होता है तथा उसका उद्देश्य उत्तम जीवन है न कि प्रदेश का विस्तार करना। राज्य का सर्वोपरि प्रयोजन नागरिकों में सद्गुण की वृद्धि, न्याय का वितरण और ज्ञान का प्रसार करता है। राज्य के विषय में अरस्तू के इस उदात्त विचार की सत्यता से कोई इन्कार नहीं कर सकता।

9. आधुनिक शक्तियों के विभाजन या पृथक्करण का सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers) अरस्तू के शक्ति-विभाजन सिद्धान्त पर ही बहुत कुछ आधारित है। वर्तमान में राज्य की शक्ति व्यवस्थापिका, न्यायपालिका तथा कार्यपालिका में बँटी होती है। अरस्तू इन तीनों विभाजनों को विचारात्मक (Deliberative), विधि-निर्माण करने वाली (Legislative) तथा न्याय कार्य करने वाली (Judicial) का नाम देता है। इस तरह शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का मूल अरस्तू के दर्शन में देखने को मिलता है।

10. अरस्तू को आधुनिक व्यक्तिवाद का पिता कहा जाता है। उसका दर्शन प्लेटो से अधिक व्यक्तिवादी है। वह कृत्रिम समानता का विरोधी है और लोगों की क्षमता सम्बन्धी असमानता को स्वीकार करता है। निजी सम्पत्ति को वह प्राकृतिक मानता है। आज प्रत्येक राज्य निजी या व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्यता देता है।

11. अरस्तू के राजदर्शन में एक अन्य उल्लेखनीय विश्व-व्यापी तत्त्व यह है कि उसने राजनीतिक और अर्थशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धों को पहचान कर राजनीतिक सगठन और क्रियाओं पर होने वाले आर्थिक प्रभाव को बड़ा महत्त्व दिया है। राजनीति और अर्थ-व्यवस्था का गहरा सम्बन्ध बताते हुए वह कहता है कि शासन की अनेक समस्याओं का कारण धनियों और निर्धनों का सघर्ष है। उसने सरकारों का जो वर्गीकरण किया और धनिकतत्र और जनतत्र के जो बहुत से विभाग किए हैं उनका अन्तिम आधार आर्थिक ही है। अरस्तू की यह मान्यता कि यदि राज्य में अत्यधिक गरीब और अत्यधिक अमीर होंगे तो स्थिरता और समृद्धि नहीं पनप सकती, आज भी सत्य है। वर्तमान की अधिकांश राजनीतिक उथल-पुथल आर्थिक कारणों से ही होती है।

12. अन्त में, अरस्तू उपयोगितावादी विचारों का प्रेरक भी है। दास प्रथा के सिद्धान्त को वह उपयोगिता के आधार पर ठीक मानता है। 'उपयोगिता' को महत्त्व देने के कारण हम उसे उपयोगितावादियों का अग्रज मान सकते हैं।

अरस्तू का दर्शन निश्चित ही अनेक शाश्वत सिद्धान्तों का भण्डार है। उसका ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' 'गागर में सागर' है।

अरस्तू का प्रभाव : अरस्तू राजनीति का जनक
(Influence of Aristotle : Aristotle as the Father of Political Science)

अरस्तू के इन दोनों अध्यायों में उसकी पद्धति और उसके दर्शन में सार्वभौमिक तत्त्वों के विवेचन में यह स्पष्ट है कि वह राजदर्शन के क्षेत्र में वस्तुतः प्रथम वैज्ञानिक

विचारक (First Political Scientist) था। उसे यदि 'राजनीति विज्ञान का जनक अथवा पिता' (The Father of Political Science) की संज्ञा दी जाय तो इससे कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अरस्तू न केवल राजनीति विज्ञान का जन्मदाता था वरन् उसका विकासकर्त्ता भी था। उसने राज्य, क्रान्ति आदि के बारे में जो कहा उसमें से अनेक बातें आज भी सही हैं। राजनीति विज्ञान का क्षेत्र लगभग उन्हीं मूल बिन्दुओं के इर्द-गिर्द घूमता है जिनका विवेचन अरस्तू हजारों वर्ष पूर्व कर चुका था। राजनीति विज्ञान का ढाँचा लगभग उसी प्रकार का है जिसकी कल्पना अरस्तू ने सहस्त्रों वर्ष पूर्व कर ली थी।

अरस्तू ने जो भी निष्कर्ष निकाले वे वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर निकाले। उदाहरणार्थ उसने लगभग 158 संविधानों का विस्तृत अध्ययन, विश्लेषण आदि करने के उपरान्त अपने कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उसने हर राज्य की राजनीतिक स्थितियों का विश्लेषण करके अपने निष्कर्ष निकाले और उनके आधार पर राज्य के सिद्धान्तों का निरूपण किया। उसने पाश्चात्य जगत में सर्वप्रथम राज्य का सांगोपांग सिद्धान्त प्रस्तुत किया। राज्य के जन्म और विकास से लेकर उसके स्वरूप, संविधान की रचना, सरकार का निर्माण, नागरिकता, कानून की सम्प्रभुता, क्रान्ति आदि विभिन्न महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर उसने इतने सुगठित, सुव्यवस्थित विचार प्रस्तुत किए कि उन्हें आज भी ठुकराना कठिन है। उसने कहा कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था है और वही संविधान सबसे अच्छा है जो सबसे अधिक स्थायी रहता है। अरस्तू का यह निष्कर्ष उसके अपने समय में भी उतना ही सत्य था जितना कि आज है। नागरिकता और संविधान की व्याख्या में अरस्तू के विचार लगभग आधुनिकतम हैं, चाहे अरस्तू का राज्य केवल एक नगर-राज्य रहा हो। अरस्तू की इस बात से आज भी असहमत होना कठिन है कि व्यक्ति के लिए जो आदर्श और श्रेयस्कर है वही राज्य के लिए है। "मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है" इस कथन की औपचारिक अभिव्यक्ति अरस्तू ने ही की और यह वाक्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सदैव एक स्वयंसिद्धि के रूप में स्वीकार किया जाता रहेगा। क्रान्ति के कारणों की जो विशद् व्याख्या अरस्तू ने की, उसके प्रति हम आज भी अरस्तू के ऋणी हैं। उदाहरणार्थ अरस्तू का यह अभिमत वैज्ञानिक निष्कर्ष की भांति प्रामाणिक है कि आर्थिक विषमता क्रान्तियों के लिए गम्भीर रूप से उत्तरदायी होती है। अरस्तू के इस विचार को नहीं ठुकराया जा सकता कि किसी भी सरकार की सुदृढ़ता के लिए राज्य की आर्थिक समृद्धि नितान्त आवश्यक है। अरस्तू के इस समाधान से हमें उसके वैज्ञानिक चिन्तन पर गर्व होता है कि यदि सम्पत्ति पर तो व्यक्तिगत स्वामित्व रहे पर उसका उपभोग सार्वजनिक हो अर्थात् व्यक्तिगत स्वामित्व और सार्वजनिक उपभोग के बीच समुचित ताल-मेल बैठाया जा सके तो राज्य की अनेक समस्याएँ आसानी से सुलझ सकती हैं। अरस्तू का यह विचार भी उसके वैज्ञानिक चिन्तन की सूझ-बूझ है कि जब तक एक राज्य में सुदृढ़ और विशाल मध्यम वर्ग न होगा अर्थात् राज्य में न तो अधिक पूंजीपति हों और न अधिक गरीब वरन् मध्यम वर्ग के लोगों का बाहुल्य हो, तब

तक राज्य आत्म-निर्भरता की ओर समुचित रूप मे अग्रसर न होगा। अरस्तू के इस विचार की उपेक्षा करना कठिन है कि विकास के मार्ग मे सबसे बड़ा अवरोध असन्तुलन है, चाहे वह असन्तुलन राजनीतिक हो या सामाजिक या आर्थिक। क्रान्तियो के एक बडे कारण को मिटाने के लिए इस असन्तुलन को समाप्त करके और 'अतियो' को दूर करके मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जाय—यह अरस्तू का एक वैज्ञानिक उपचार ही माना जाएगा।

अरस्तू ने स्वतन्त्रता और सत्ता के समन्वय की बात की, और आज भी यह एक सबसे बडी राजनीतिक समस्या है। यह अरस्तू की वैज्ञानिक दूरदर्शिता थी कि उसने 'अनेकता मे एकता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सत्ता और स्वतन्त्रता के बीच स्वाभाविक सामञ्जस्य लाने का प्रयत्न किया। उसे अपने प्रयत्नो मे चाहे सफलता न मिली, पर 'अनेकता मे एकता' का आदर्श आज भी राजनीतिक-सामाजिक समस्याओ के हल का एक अनुकरणीय आदर्श है—इससे इन्कार नही किया जा सकता। यह समस्या अरस्तू के समय भी जीवित थी और आज भी जीवित है। अरस्तू ने कानून की सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और यह सम्प्रभुता आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का एक प्रमुख विषय है। बोदाँ, ग्रेशियस, बेन्थम, हॉब्स, ऑस्टिन, लॉस्की आदि ने सम्प्रभुता की समस्या पर विचार किया और आज भी वैधानिक सम्प्रभुता की व्याख्या का मुख्य आधार अरस्तू का विश्लेषण ही है। ऑस्टिन और हॉब्स की सम्प्रभुताएँ आधुनिक युग की होकर भी अरस्तू की व्याख्या की आधुनिकता को नही पा सकी हैं। अरस्तू की विशेषता इस बात मे भी है कि सरकार के तीन-अंगो-नीति निर्धारक, प्रशासकीय और न्यायिक—का बडे वैज्ञानिक ढग से निरूपण किया। अरस्तू का यह निरूपण चाहे सरकार के आधुनिक अगो के निरूपण के बिलकुल अनुरूप न हो, लेकिन बहुत कुछ उसके समान ही है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि अरस्तू की यह खोज ही भविष्य मे शक्ति-पृथक्करण, नियन्त्रण एव सन्तुलन के सिद्धान्त का एक आधार बनी। अरस्तू ने नागरिकता की जो व्याख्या की वह भी एक आधुनिक विचार है। आज भी अरस्तू की व्याख्या ही न्यूनाधिक शाब्दिक हेर फेर के अतिरिक्त बहुत कुछ प्रामाणिक बनी हुई है। अरस्तू द्वारा प्रतिपादित मिश्रित शासन का आदर्श आज भी अनुकरणीय है और ब्रिटेन की शासन-व्यवस्था, राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र का एक सुन्दर मिश्रण अथवा समन्वय है।

सार रूप मे, अरस्तू प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक था, राजनीति विज्ञान का जन्मदाता था। उसने न केवल आगमनात्मक विधि का अनुसरण कर राजदर्शन के क्षेत्र मे वैज्ञानिक पद्धति की नीव डाली वरन् राजनीति और गैर-राजनीतिक तत्त्वो को अलग-अलग करके राजनीति के विषय-क्षेत्र को पहली बार स्पष्ट किया और साथ ही उन सभी महत्त्वपूर्ण पहलुओ को अपने चिन्तन के कलेवर मे समेटा जो आज भी हमारी चिन्तन की सामग्री बने हुए हैं। इस प्रकार राजनीति विज्ञान का जन्मदाता भी था और विकासकर्त्ता भी। अरस्तू के चिन्तन ने भविष्य पर विशेष प्रभाव डाला।

इस प्रभाव को सारगर्भित रूप मे डॉ. विश्वनाथप्रसाद वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा' मे निम्नानुसार प्रकट किया है—

"यूरोप की विचारधारा पर अरस्तू का काफी प्रभाव रहा। पोलिबियस का मिश्रित सरकार का सिद्धान्त अरस्तू के 'पॉलिटिक्स' के आधार पर ही निर्मित किया गया है। सन् 529 ई. मे सम्राट जस्टिनियन ने अरस्तू के ग्रन्थो का अध्यापन करने वाले विद्यालयों को बन्द कर दिया। बोयेथियस ने अरस्तू के दो ग्रन्थों–'कैटिगोरिज' और 'डि एमेंडेशियोने' का लेटिन मे अनुवाद कर मध्ययुगीन दर्शन पर उसके तर्क–शास्त्र के प्रभाव के लिए मार्ग प्रशस्त किया। बारहवी सदी के अन्त तक अरस्तू के सम्पूर्ण तर्क शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ हो गया। अलबर्ट महान् (1193–1280) ने अरस्तू के दार्शनिक विचारो को ईसाईयन के धर्मशास्त्र के समर्थन मे लगाने की चेष्टा की। एक्वीनास के आदर्श से विलियम ऑफ मोयर्बेक ने अरस्तू के अनेक ग्रन्थो का अनुवाद किया। अरस्तू ने मानव को राजनैनिक प्राणी माना। इस मन्तव्य का एक्वीनास और मासिलियो की परिभाषाओ पर प्रभाव पडा। दांते की 'मोनार्की' पर भी अरस्तू के तर्कशास्त्र का असर है यद्यपि मध्ययुगीन विचारको की विचार–धारा 'दिव्य प्लेटो' के 'हाटमियस' से ही अतिशय प्रभावित थी तथापि यूरोपीय पुनरुत्थान पर अरस्तू के बौद्धिक निष्पतिवधता के अनुमोदन का अच्छा असर रहा। अरस्तू के अनुसार अन्तर्हित विराट् प्राणदायिनी शक्ति का नाम प्रकृति है और अंशतः यह कल्पना भौतिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित प्रकृति की कल्पना के सदृश ही है। अरस्तू द्वारा समर्थित संयमशील मध्यम प्रतिपदा का नैतिक सिद्धान्त, आचारशास्त्रियों को प्रभावित करता रहा। ग्रीन, वाल्पेस, हावहाउस ने समष्टिक कल्याण तथा तर्कसंगत कल्याण का प्रस्ताव उपस्थित किया जो यूनानी दर्शन की धारा से काफी प्रभावित है। न्याय का द्विविध वर्गीकरण–रेखागणितात्मक (विभाजनात्मक) तथा अंकगणितात्मक (विपर्ययात्मक) जो अरस्तू ने प्रणीत किया है उस शब्दावली को 'सिटिजन' नामक ग्रन्थ मे हॉब्स ने भी स्वीकृत किया है।"

4

रोमन कानून

(ROMAN LAW)

रोम ने यूनान की तरह प्लेटो और अरस्तू जैसे महान् एवं मौलिक विचारकों को जन्म नही दिया और न ही राजदर्शन को नवीन विचारों से समृद्ध बनाया, फिर भी पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा मे उसका अपना विशेष स्थान है। राजनीतिक संगठन तथा कानून के क्षेत्र मे रोम ने जो योग दिया वह उल्लेखनीय है। मैक्सी (Maxey) के कथनानुसार, "रोमन सभ्यता राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे अपने विचारो की मौलिकता के कारण प्रसिद्ध नही है। रोम के विचारक राजनीतिक विचारो को उत्पन्न करने वाले नही थे, किन्तु इनकी व्याख्या और इनका (यूनान से मध्यकालीन तथा अर्वाचीन यूरोप तक) वहन करने वाले थे।"[1] इसमें कोई संशय नही की मौलिकता का अभाव होते हुए भी रोमन लेखक और विचारक अनेक शताब्दियो तक प्राचीन यूनानी विचारधारा के प्रसार के शक्तिशाली साधन और माध्यम बने रहे। उनके विचार स्टोइक विचारधारा से बड़े प्रभावित थे अत: रोमन कानून और न्याय-शास्त्रो को विकास का अच्छा अवसर मिला। यह तथ्य भी नहीं भुलाया जा सकता कि जहाँ यूनानी सभ्यता पर आधुनिकता की छाप नही थी वहाँ रोमन सभ्यता मे आधुनिक सभ्यता की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त रोमन लोगो ने यूनानियो के विचारो को व्यावहारिक रूप प्रदान करते हुए उनमे भिन्न विचारधारा को भी अस्तित्व दिया। जहाँ यूनानी विचार मे व्यक्ति के महत्व को राज्य के अन्तर्गत माना जाकर उसके व्यक्तित्व का लोप राज्य मे कर दिया गया वहाँ रोमन विचारको ने व्यक्ति और राज्य को पृथक् करते हुए दोनो के अधिकारो और कर्त्तव्यो को अलग-अलग माना तथा राजनीतिक चिन्तन मे व्यक्ति को केन्द्र बनाया। राज्य के सम्बन्ध मे उनका विचार था कि यह एक वैधानिक व्यक्ति है। उन्होने नागरिको के अधिकारो की सुरक्षा की दृष्टि से व्यक्तिगत कानूनो का विकास किया। राज्यो को उन्होने एक स्वाभाविक संस्था माना और वैधानिक सिद्धान्तो मे आस्था प्रकट की। शासक की इच्छा को अन्तिम मानते हुए उन्होंने यह मत रखा कि कानून शासक और शासितो का समझौता है।

1 *Maxey* : Political Philosophies, p. 80.

करोम के राजनीनि को अधिकविचारों विस्तार से समझने के लिए यह युक्तिसगत होगा कि उसके सांविधानिक विकास को जान लिया जाए।

रोम का सांविधानिक विकास
(Cons itutional Development of Rome)

इतिहास में रोम का आविर्भाव एक राजतन्त्रात्मक नगर राज्य के रूप में हुआ जिसने गणराज्य के रूप में महत्ता प्राप्त की और अपने पतन काल में वह निरकुश और साम्राज्यवादी रहा।

रोम की स्थापना (लगभग 753 ई. पू.) से 510 ई. पू. तक राजसत्तात्मक काल रहा। उस समय राज्य का अध्यक्ष राजा अथवा रेक्स होता था। रोमन राज्य में तीनों तत्त्वों का सम्मिश्रण था—राजा एक साथ ही (1) जनता का वशगत और पितृसत्तात्मक मुखिया, (2) समुदाय का मुख्य पुरोहित, और (3) राज्य का निर्वाचित शासक होता था। राजा की सहायता के लिए उसके द्वारा चुने हुए 300 सदस्यों की एक सीनेट थी। राजा की मृत्यु पर इन्टररेक्स (अन्तरिम राजा) की नियुक्ति करना उसका विशेषाधिकार था। सीनेट सर्वोपरि सस्था नहीं थी क्योंकि राजा के चुनाव पर समुदाय के अनुसमर्थन की आवश्यकता थी और राजा उसके परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य न था। इस राजतन्त्रात्मक काल में समुदाय के केवल एक भाग पैट्रीशियन (Patrician), जो उच्च एवं कुलीन परिवार था, को ही राजनीतिक अधिकार दिए गए थे। शेष, जिनके पास राजनीतिक अधिकार न थे, प्लेबियन (जन-साधारण) के नाम से प्रसिद्ध थे। राज्य के सभी बड़े पद पैट्रीशियन लोगों के पास थे। बाद में राजाओं के समय में शासन में साझेदारी के लिए प्लेबियनों का दबाव बढ़ गया और कमेटिया सेंचुरियाटा (Comitia Centuriata) नामक नई सभा बनाई गई जिसमें प्लेबियन और पेट्रीशियन दोनों का स्थान था।

सन् 510 ई. पू. में रोम के अन्तिम राजा टार्क्विनियस सुपर्बस (Tarquinius Superbus) के निष्कासन के साथ ही राजतन्त्रात्मक युग की समाप्ति हो गई और गणतन्त्र युग का प्रारम्भ हुआ। अब राजा के नागरिक और सैनिक दोनों ही प्रकार के अधिकारों को कॉन्सल्स (Consuls) नाम के दो पदाधिकारियों को सौंप दिया गया किन्तु रोम के इस गणतन्त्र में अभी तक जनता को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त न थे। प्लेब्स (Plebs) या जन-साधारण की तीन प्रकार की अयोग्यताएं थीं—राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक अत. स्वाभाविक था कि वे अपनी इस अन्यायपूर्ण स्थिति का विरोध करते हुए दूसरे सम्पन्न एवं समर्थ वर्ग के समकक्ष होने का प्रयास करते। आखिर पैट्रीशियनों के साथ लगभग दो शताब्दियों के संघर्ष में शनैः-शनैः उन्हें कुछ अधिकार प्राप्त हुए। उनकी एक एसेम्बली या जनपरिषद् (Concilium Plebis) बनी जो उनके लिए कानून बनाती थी और विभिन्न पदों के लिए व्यक्तियों का चुनाव करती थी। प्रमुख पद विशेष रूप से चुने गये चार ट्रिब्यूनों (Tribunes) का जन-न्यायाधीशों के थे जिनका मुख्य कार्य

प्लॉबियनो के अधिकारो की रक्षा करना था। शनैः-शनैः साधारण जनता को सभी राजकीय पदो पर चुने जाने का अधिकार मिला और चौथी शताब्दी ई. पू. से दो मे से एक कॉन्सल (Consul) जनता का होने लगा। अब प्लॉबियनो (साधारण जनता) को सीनेट मे भी प्रवेश का अवसर प्राप्त हुआ।

इस तरह स्पष्ट है कि (गणतन्त्रीय) शासन के तीन तत्त्व थे जो एक दूसरे पर नियन्त्रण रखने वाले और आपस मे सन्तुलन रखने वाले समझे जाते थे। प्रथम तत्त्व—एकतन्त्रीय तत्त्व (प्रारम्भिक राजाओ से स्थानान्तरित) था, जो दो कॉन्सलो के रूप मे प्रकट हुआ। दूसरा तत्त्व, अभिजाततन्त्रीय सीनेट मे समाविष्ट था। तीसरा, अर्थात् लोकतन्त्रीय तत्त्व भूमि या जनता के विभागो के अनुसार तीन प्रकार की जनसभाओ (क्यूरीज, सेंच्यूरीज एव ट्राइब्ज) मे विद्यमान था।

किन्तु लगभग दूसरी शताब्दी ई. पू. के मध्य से रोम मे गणतन्त्रात्मक सस्थाएँ बदनाम होने लगी। 113 ई. पू. के बाद बार-बार विस्तृत कार्यकारी शक्ति एक ऐसे व्यक्ति के हाथो में केन्द्रित की जाने लगी जिसको जनमत विशेष रूप से मनोनीत करता था। गणतन्त्र शनैः-शनैः साम्राज्य के रूप मे परिवर्तित होने लगा और शासन का जो रूप नगर राज्य के लिए स्वीकार किया गया था—वह साम्राज्य के शासन के लिए अनुपयुक्त पाया गया। गणतन्त्र एक प्रभावशाली निरकुशतन्त्र मे बदलने लगा। जूलियस सीजर 48 ई. पू. मे अनिश्चित काल के लिए तानाशाह बना दिया गया। ऑगस्टस के प्रेन्सीपेट काल मे यह निरकुशता और एकतन्त्रवाद और भी स्पष्ट हो गया। सीनेट यद्यपि जीवित रही और नाम मात्र को उसको और भी अधिकार मिल गए किन्तु यह सब केवल प्रदर्शन ही था, क्योकि सीनेट जो कुछ भी करती थी, वह सब प्रिन्सेपो की आज्ञा से ही करती थी। जनप्रिय सभाएँ भी जीवित रही, किन्तु उसकी शक्ति अत्यल्प रह गई।

ऑगस्टस के समय मे रोम को एक विशाल साम्राज्य का प्रबन्ध करना पडता था। इस साम्राज्य पर शासन करने के लिए रोमन लोगो ने किसी नई पद्धति का आविष्कार नही किया, अपितु प्रान्तो के प्रशासन हेतु सविधान को ही अनुकूल बना लिया। रोम का प्रजा-समुदाय प्रान्तो मे विभाजित था, प्रान्तो के प्रशासन के लिए राज्यपाल उत्तरदायी होते थे जिन पर अनेक प्रतिबन्ध थे, किन्तु जो व्यवहार मे अनियन्त्रित थे। रोम के शासक-वर्ग को केवल अपने लाभ के लिए प्रान्तो का शोषण करने मे दिलचस्पी थी। साम्राज्यकाल मे इस शासन-पद्धति मे सुधार का प्रयत्न किया गया। राज्यपाल की कार्यावधि बढा दी गई और उन्हे नियमित वेतन दिया जाने लगा। लूट-मार करने पर रोक लगा दी गई। चौथी और पाँचवी शताब्दियो मे बर्बरो के प्रबल आक्रमणों से रोमन राजनीतिक व्यवस्था भग हो गई।

इस तरह रोमन सविधान का आरम्भ "एकतन्त्रात्मक, अभिजाततन्त्रात्मक और लोकतन्त्रात्मक तत्त्वो के एक सम्मिश्रण के रूप मे और उसका अन्त एक अनुत्तरदायी निरकुशता के रूप मे हुआ।" रोमन सविधानवाद के मूल मे राष्ट्रीय भावना का बिलकुल ही अभाव था।

रोमन संविधानवाद का प्रभाव

सी. एफ. स्ट्रांग (C. F. Strong) ने इस प्रभाव को निम्नवत् प्रकट किया है—

"सबसे पहले तो रोमन विधि का महाद्वीपीय यूरोप के विधि-इतिहास पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पश्चिमी साम्राज्य के ट्यूटन जातीय आक्रमणकारियों द्वारा लाई गई रूढ़ियाँ और निधियाँ रोमन संहिता में जो उन्हें वहाँ मिली, घुलमिल गई, और इस सम्मिश्रण ने उन विधि प्रणालियों को जन्म दिया जो आज पश्चिमी यूरोप महाद्वीप में प्रचलित है।

दूसरे, रोमनों का व्यवस्था और एकता का प्रेम इतना प्रबल था कि मध्य युग के लोग विघटनकारी शक्तियों के होते हुए भी विश्व की राजनीतिक एकता की धारणा से आविष्ट थे। आधुनिक विश्व के उदार विचारक आज जो यह स्वप्न देख रहे हैं कि शायद अन्त में युद्ध के निवारण के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय अथवा अतिराष्ट्रीय सत्ता की स्थापना की जा सकेगी —उसका मूल एकता के लिए रोमनों के उत्कट प्रेम और मध्यकाल में एक आदर्श के रूप में बनी हुई उसके प्रति निष्ठा में पाया जा सकता है।

तीसरे, सम्राट के प्रभुत्व के बारे में दुहरी धारा—एक ओर यह कि नरेश की खुशी ही विधि का बल रखती है और दूसरी ओर यह कि उसकी शक्तियाँ अन्ततः जनता से प्राप्त होती है—कई शताब्दियों तक बनी रही, और इसने शासक और शासितों के सम्बन्ध के बारे में दो पृथक् मध्यकालीन विचारधाराओं को जन्म दिया। मध्यकाल के प्रारम्भ में इसके फलस्वरूप लोगों ने सत्ता को आँख मूँदकर स्वीकार कर लिया, किन्तु उस काल के अन्तिम दिनों में इस विचारधारा का जन्म हुआ कि प्रारम्भ में सम्राट को शक्ति सौंपने वाली जनता उसे उचित रूप से पुनः अपने हाथ में ले सकती है। जिस लोकतन्त्र से आधुनिक युग का समारम्भ हुआ, उसका दार्शनिक आधार यही तर्क था।"

रोमन राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएँ

(Characteristic Features of the Roman Political Thought)

रोमन राजनीतिक विचारकों पर आने से पूर्व रोमन राजनीतिक चिन्तन की कतिपय प्रमुख विशेषताओं पर दृष्टि डाल लेना साथ ही यूनानी राजनीतिक चिन्तन से उसकी भिन्नता को समझ लेना युक्तिसंगत होगा—

1. यूनानी सैद्धान्तिकवाद और दार्शनिकवाद की तुलना में रोमन चिन्तन विशेष रूप से यथार्थवादी था। रोमन विचारकों और विधिवेत्ताओं ने राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन की अपेक्षा उसके व्यावहारिक पक्ष के विकास में अर्थात् राजनीतिक संस्थाओं, कानून, प्रशासन आदि के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इसलिए जॉन बॉउले ने लिखा है कि "रोमन मस्तिष्क दार्शनिक नहीं था अपितु व्यावहारिक, सैनिक और विधानवादी था।" एबन्सटीन के मतानुसार, "पाश्चात्य

जगत मे शासन और राजनीति की अवधारणाओं तथा व्यवहारो की विधि और प्रशासन के क्षेत्र मे रोम ने महान् योगदान किया।"[1]

2. यूनानी राजनीतिक चिन्तन मे कतिपय अपवादो (स्टोइक, एपीक्यूरियन और सिनिक विचारधाराओ) को छोड़कर आरम्भ से अन्त तक व्यक्ति को राज्य की दया पर आश्रित किया गया और राज्य की इकाई के रूप मे ही उसके महत्त्व को स्वीकार किया गया जबकि रोमन चिन्तन मे व्यक्ति को राज्य के व्यक्तित्व से मुक्त करके उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को मान्यता दी गई। रोम निवासियो को यह कभी रुचिकर नही हुआ कि राज्य को व्यक्ति का विशालतर स्वरूप मानकर राज्य मे उसे विलीन कर दिया जाय। उन्हें यह स्टोइक और एपीक्यूरियन विचार ही श्रेयस्कर लगा कि व्यक्ति राज्य से पृथक् रहकर भी अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सकता है।

3. यूनानी राजनीतिक चिन्तन की भांति रोमन राजनीतिक चिन्तन मे राज्य को कोई नैतिक इकाई नही माना गया। रोमन राजनीति यथार्थवादी थी जिसमे राज्य को वास्तविकता से अधिक ऊँचा स्थान देना रुचिकर न था। प्रख्यात रोमन विचारक सिसरो ने राज्य को एक ऐसी सस्था बतलाया जिसका निर्माण लोगो की सहमति से हुआ है। उसने राज्य की प्रभावशीलता के लिए सम्पूर्ण जनता के समर्थन को आवश्यक माना।[2] आज का लोकतान्त्रिक युग सिसरो के इन विचारो की ही पुष्टि करता है। प्रो० मैकलवेन के शब्दो मे, "एक यूनानी राजनीतिक दार्शनिक के लिए राज्य या तो धनिकतन्त्र था अथवा स्वय राजा जबकि एक रोमन न्यायशास्त्री की दृष्टि मे राज्य प्रशासको की समुचित कार्यवाही था।"[3] सिसरो ने राज्य को एक वैधानिक साझेदारी (Juris Societies) कहा और रोमन न्यायशास्त्रियो ने राज्य को एक वैधानिक व्यक्ति की सज्ञा दी।

4. रोमन राजदर्शन मे राजतन्त्र, वर्गतन्त्र और जनतन्त्र की शक्तियो का एक सन्तुलित और सामञ्जस्यपूर्ण मिश्रण प्रस्तुत किया गया। यह माना गया कि शक्तियो के सन्तुलित और सामञ्जस्यपूर्ण मिश्रण की स्थिति ही राज्य के उत्कर्ष का आधार हो सकती है। रोम सरकार के राजनीतिक ढाँचे मे चार प्रमुख इकाइयो—ट्रिब्यून, सीनेट, साधारण सभा (कमेटिया प्लेबिस) और कौंसिल की स्थापना की गई और सरकार मे नियन्त्रण एव सन्तुलन का व्यावहारिक सिद्धान्त अपनाया गया।

5. रोमन राजदर्शन की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रभुसत्ता या राजसत्ता (Sovereignty) के विचार का विकास था जिसे उन्होने 'इम्पीरियम' (Imperium) का नाम दिया। रोमन इम्पीरियम ने आगे चलकर दो गम्भीर प्रभाव डाले—प्रथम, इसका अर्थ निरपेक्ष स्वेच्छाचारी शक्ति के लिए लगाया और द्वितीय, इसका अर्थ लोकमत द्वारा समर्थित राजसत्ता से भी लिया गया। मध्य युग

1 *Ebenstein* : Great Political Thinkers, p. 121.
2 *John Bowle* ; Western Political Thought, p. 117.
3 *McIlwain* : The Growth of Political Thought, pp. 12-13.

ने अपनी निरपेक्ष सत्ता का स्रोत रोमन इम्पीरियम में पाया तो आधुनिक युग ने लोकमत की सम्प्रभुता के दर्शन उसमे किए।

6 रोमन राजनीति की सबसे बडी विशेषता सवैधानिक तर्कवाद (Legalistic Argumentation) थी जहाँ यूनानी राजनीतिक चिन्तन में प्रारम्भ से अन्त तक आदर्श पर आग्रह रहा वहाँ रोमन चिन्तन और व्यवहार की यथार्थवादिता मे कानून की व्यावहारिक पद्धति के निर्माण और उसकी व्याख्या पर बल दिया गया। यूनानी विचारको ने कानून के स्रोत का अध्ययन किया, स्वय कानून का नही। उन्होने कानून के निर्माण, कानून के सहिताकरण, कानून की तार्किक व्याख्या और व्यावहारिकता के क्षेत्र मे कोई योगदान नही किया। वैधानिक तर्कवाद यूनानी चिन्तन के लिए एक दूर की बात थी।

7. जहाँ यूनानियो ने राज्य और समाज के बीच अन्तर नही किया और नैतिकता और राजनीति को प्राय. एक ही वस्तु माना, वहाँ रोमन राजनीतिक चिन्तन मे राज्य और समाज मे, नैतिकता और राजनीति मे अन्तर किया गया—दोनो का निरूपण अलग-अलग हुआ। सिसरो ने स्पष्ट रूप से कहा कि समाज राज्य से प्राचीन और अधिक सुविस्तृत वस्तु है। यह कहा गया कि व्यक्ति को राज्य का अभिन्न अग नही माना जा सकता, वह राज्य से अपना एक पृथक् अस्तित्व रखे हुए है और राज्य का नागरिक होने से पूर्व समाज का सदस्य है। यूनानी चिन्तन मे दासो को मनुष्य की श्रेणी म न गिनकर घरेलू चल सम्पत्ति के रूप मे देखा गया जबकि रोमन वैधानिक पद्धति मे दासो को मानवोचित व्यवहार पाने का अधिकार मिला। सेनेका ने दासता को एक बाह्य सयोग की वस्तु बतलाया, जिसका केवल ऐतिहासिक औचित्य हो सकता था। रोमन चिन्तन ने इस विचार को अगीकार किया कि प्राकृतिक रूप से सभी व्यक्ति स्वतन्त्र उत्पन्न होते हैं।

रोमन राजनीतिक विचारक : पोलिबियस
(Roman Political Thinkers : Polybius)

रोम के राजनीतिक चिन्तन के जन्मदाता महान् यूनानी इतिहासकार पोलिबियस (Polybius) का जन्म यूनान मे 204 ई. पू. मे हुआ था। इस यूनानी राजनीतिज्ञ को रोमन लोगो ने यूनान विजय के बाद पहले तो 16 वर्ष (167 ई. पू. से 151 ई पू तक) अपने यहाँ एक राजनीतिक बन्धक के रूप मे रखा किन्तु बाद मे उसके ज्ञान और अनुभव को देखकर उसे आश्रय प्रदान किया। पोलिबियस ने भी इस अवसर से लाभ उठाया। रोम मे रहते हुए उसने वहाँ के बौद्धिक तथा सैनिक नेताओ से सम्बन्ध स्थापित किए और रोमन चरित्र तथा रोमन सस्थाओ के बारे मे ज्ञान प्राप्त किया। पोलिबियस ने रोमन सविधानो का गम्भीर अध्ययन किया। वह रोमन राजनीतिक स्वरूप का परम प्रशसक और समर्थक बन गया। उसने रोम के बारे मे अपने विशाल ज्ञान की उपयोगिता को अमर बनाने की दृष्टि से रोमन गणतन्त्र का इतिहास लिखना आरम्भ कर दिया तथा 'रोम का इतिहास' नामक अपने इस ग्रन्थ मे रोमन लोगों की अद्‌भुत असफलताओ के कारणो का

अनुमान लगाने का सफल प्रयास किया। उसने इसका कारण रोम की असाधारण रूप से सगठित और स्थिर शासन प्रणाली को माना।

'रोम का इतिहास' लिखने मे उसने राज्य के उद्भव से प्रारम्भ किया। 40 खण्डो मे लिखे गए रोमन इतिहास की छठी पुस्तक मे उसने शासनतन्त्रो के विविध प्रकारो पर विचार किया। उसने शासन प्रणालियो के उत्थान और पतन के क्रम का तथा रोम के सविधान के विभिन्न अगो का सुन्दर विश्लेषण करते हुए उनके स्थायित्व के कारणो की विवेचना की। पोलिबियस ने जिन प्रमुख राजनीतिक विचारो का वर्णन किया उन्हे हम निम्नांकित शीर्षको मे प्रकट करेंगे—

पोलिबियस के अनुसार राज्य का प्रादुर्भाव और शासन-प्रणालियो का परिवर्तन-चक्र

राज्य की उत्पत्ति के बारे मे पोलिबियस ने मनुष्य की ऐसी स्थिति का चित्रण किया जिसमे सभ्यता और सामाजिकता का सर्वथा अभाव था, पर साथ ही उसने मनुष्यो मे स्वाभाविक व्यवस्था के लक्षण को स्वीकार किया। उसके अनुसार यही लक्षण मनुष्यो को राज्य का निर्माण करने के लिए प्रेरित करता है। जब बाढ, अकाल, महामारी आदि के कारण मानव-जाति की सख्या बहुत थोड़ी रह जाती है तो ये थोड़े से व्यक्ति सहज प्रवृत्ति और व्यवस्था के कारण एक दूसरे की ओर आकृष्ट होकर एकत्र होते है और पशुओ की भाँति अपने ऊपर सबसे शक्तिशाली व्यक्ति का शासन स्थापित होने देते है। पोलिबियस ने सविदा या समझौते (Contract) के स्थान पर शक्ति को राज्य की उत्पत्ति का आधार माना है जिसके अनुसार सबसे पहले राजतन्त्र की स्थापना होती है।

पोलिबियस ने आगे बतलाया कि "बुद्धि और अनुभव के विकास के साथ न्याय और कर्त्तव्य के विचार को प्रधानता मिलती है और राजतन्त्र नैतिकता पर आधारित माना जाने लगता है। इस तरह प्राकृतिक स्वेच्छाचार (Natural Despotism) राजत्व मे परिणत होता है।" लेकिन शनै-शनै राजा न्याय और नैतिकता का परित्याग करने लगता है। इस तरह राजतन्त्र अत्याचारतन्त्र (Tyranny) मे बदल जाता है अर्थात् राजा निरकुश तानाशाह (Tyrant) बन जाता है। जनता इस कष्टपूर्ण स्थिति को सहन नही कर पाती और कुछ सद्गुणी व्यक्ति इस स्थिति का अन्त करने के लिए प्रकट होते हैं। राज्य के ये सद्गुणी (Virtuous) एव प्रतिभाशाली नेता निरकुश तानाशाह को हटाकर अभिजाततन्त्र (Aristocracy) की स्थापना करते हैं। कालान्तर मे यह शासन भी भ्रष्ट हो जाता है और कुछ मुट्ठी भर व्यक्तियो के अन्यायपूर्ण और अनैतिक धनिकतन्त्र (Oligarchy) मे परिणत हो जाता है। अन्तत जनता ऐसे शासको के उत्पीडन से असन्तुष्ट होकर विद्रोह करके सत्ता अपने हाथ मे ले लेती है। अब लोकतन्त्र की स्थापना होती है जिसमे शासन का सचालन सभी लोगो के कल्याण की दृष्टि से किया जाता है। दुर्भाग्यवश कुछ समय बाद यह शासन भी विकृत होने लगता है। विवादो और सघर्षो का जन्म होता है तथा धनिकवर्ग निर्धनो का शोषण करने

लगता है। लोकतन्त्र अपने इस दूषित रूप में 'भीड़तन्त्र' या भीड़ के शासन (Ochlocracy) में बदल जाता है। अब समाज की दशा वैसी ही हो जाती है, जैसी शक्ति पर आधारित राजतन्त्र के पूर्व थी। शीघ्र ही भीड़तन्त्र की अव्यवस्था का विरोध करने के लिए किसी साहसी नेता का प्रादुर्भाव होता है। वह जन-समर्थन प्राप्त करके पुनः राजतन्त्र की स्थापना करता है। इस तरह विभिन्न शासन-प्रणालियों के परिवर्तन का एक क्रम या चक्र पूरा होने पर पुनः दूसरा चक्र चलने लगता है। प्राकृतिक कष्टों द्वारा इस प्रकार की परिस्थितियाँ बार-बार उत्पन्न होती रहती हैं और उपयुक्त चक्र के अनुसार सरकारों का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है।

पोलिबियस के अनुसार सरकारों का वर्गीकरण
(Classification of Governments)

शासन-प्रणालियों के उपरोक्त परिवर्तन चक्र से पोलिबियस द्वारा निरूपित शासनतन्त्रों का वर्गीकरण स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अरस्तू की भाँति वह भी शासनतन्त्र के तीन विशुद्ध (Pure) रूप और फिर उनके तीन विकृत (Perverted) रूप मानता है। ये इस प्रकार है—

विशुद्ध रूप	विकृत रूप
(1) राजतन्त्र (Monarchy)	निरंकुशतन्त्र (Tyranny).
(2) अभिजाततन्त्र (Aristocracy)	धनिकतन्त्र (Oligarchy)
(3) प्रजातन्त्र (Democracy)	भीड़तन्त्र (Ochlocracy)

पोलिबियस कहता है कि राज्यों में शासन के ये भेद शुद्ध एवं विशुद्ध रूप में सदा बने रहते हैं अर्थात् प्रत्येक शासन में, अपनी उन्नति के साथ-साथ अवनति के बीज छिपे रहते हैं। पोलिबियस के ही शब्दों में, "राजतन्त्र से अत्याचार की ओर, अत्याचार से निरंकुशवाद की ओर, निरंकुशवाद से एकतन्त्र की ओर, एकतन्त्र से प्रजातन्त्र की ओर, प्रजातन्त्र से भीड़तन्त्र की ओर, और भीड़तन्त्र की तानाशाही से पुनः राजतन्त्र की ओर राजसत्ता का, मेरे विचारानुसार विकास होता है।"

पोलिबियस का मिश्रित संविधान
(Mixed Constitution)

पोलिबियस ने शासन में स्थिरता लाने और परिवर्तन-चक्र को रोकने के लिए नियन्त्रण और सन्तुलन सहित मिश्रित संविधान की व्यवस्था की। उसने बतलाया कि *विभिन्न शासन-प्रणालियों के उत्कृष्ट तत्वों का सम्मिश्रण किया जाए और इनके* द्वारा शासन में ऐसे निरोध एवं सन्तुलन (Checks and Balances) स्थापित किए जाएँ जिनसे वे सभी तत्त्व दूर रह सकें जो शासन-प्रबन्ध में कमी लाकर उनके स्वरूप को बदल देते हैं। वस्तुतः पोलिबियस की मिश्रित संविधान की यह कल्पना मौलिक नहीं थी। लाइकरगस (Lycurgus) ने भी एक ऐसे ही संविधान की कल्पना स्पार्टा के लिए की थी परन्तु उसको स्पार्टा में व्यावहारिक रूप प्रदान नहीं किया जा सका जबकि रोम में पोलिबियस के मिश्रित संविधान को प्रयोग में लाया गया। लाइकरगस

के बाद प्लेटो और अरस्तू ने भी मिश्रित संविधान की कल्पना की थी, किन्तु उन्होंने इस संविधान को साधारण शासन-स्वरूप का स्थान दिया था। उन्होंने इसमें जटिलता नहीं आने दी थी। वह पोलिबियस ही था जिसने सर्वप्रथम दृढ़ता के साथ मिश्रित संविधान का समर्थन किया। उसके विचार से रोमन शासन की स्थिरता का कारण उसका मिश्रित चरित्र ही था। यह राजतन्त्री, कुलीनतन्त्री तथा जनतन्त्री तत्त्वों का एक सुन्दर समन्वय था। राजतन्त्री तत्त्व का प्रतिनिधित्व कौंसल्स (Consuls) कुलीनतन्त्री तत्त्व का प्रतिनिधित्व सीनेट (Senate) और जनतन्त्री तत्त्व का प्रतिनिधित्व जनता की सभाओं (Popular Assemblies) द्वारा होता था। इन तीनों अंगों में सामञ्जस्य स्थापित करना और तुल्यभारिता बनाना ही रोमन संविधान की सफलता का रहस्य था। पोलिबियस के अनुसार रोमन संविधान से अच्छा दूसरा संविधान प्राप्त करना असम्भव था। लाइकरगस-प्रणीत स्पार्टा के संविधान में भी उसे इसी मिश्रित सरकार प्रणाली के बीज दिखाई दिए थे। स्वयं जन्म की दृष्टि से यूनानी होने के कारण राजनीतिक शासन प्रणालियों की चक्रात्मक व्याख्या और उनके अवश्यम्भावी पतन में विश्वास करते हुए भी पोलिबियस यह मानता था कि पतन की प्रक्रिया को अच्छा संविधान रोक सकता था। यदि प्राकृतिक कारणों से संविधान का उद्भव और विकास होता है तो यह मानना ही पड़ता है कि प्राकृतिक कारणों से ही उसका पतन भी होगा; पर साथ ही यह मानना कि मिश्रित संविधान की पद्धति से इस प्राकृतिक पतन को रोका जा सकता है, नियतिवाद की उस कल्पना का विरोध करना है जो साधारणतः हमें पोलिबियस के दर्शन में मिलती है। किन्तु यह भी ध्यान में रखना होगा कि प्रभावपूर्ण पोलिबियस यह कदापि नहीं कहता कि राजनीतिक माध्यम से प्रकृति-नियत पतन को सर्वदा के लिए रोका जा सकता है। उसकी दृष्टि में यही कहना युक्तिसंगत है कि मिश्रित शासन-व्यवस्था राजनीतिक पतन को रोकने का एक साधन है। पोलिबियस ने स्पष्टतः कहा कि एक उत्तम राजनीतिक व्यवस्था में सभी वर्गों के हितों का स्वरूप बना रहना चाहिए। इसीलिए उसने अपनी मिश्रित संविधान की कल्पना में सभी वर्गों के हितों को स्थान प्रदान किया और एक दूसरे के स्वार्थों अथवा हितों पर नियन्त्रण भी स्थापित किया।

शासनों के वर्गीकरण में प्लेटो और अरस्तू की शब्दावली को यद्यपि पोलिबियस ने स्वीकार किया किन्तु यह उल्लेखनीय है कि जहाँ अरस्तू सिर्फ धनिकतन्त्र और जनतन्त्र के मिश्रण का हिमायती था, वहाँ पोलिबियस राजतन्त्र, अभिजात्यतन्त्र या कुलीनतन्त्र के मिश्रण का समर्थक था। साथ ही वह इस सम्मिश्रण को 'निरोध और सन्तुलन' के सिद्धान्त पर आधारित होने का समर्थन करता था। उसने रोमन संविधान में इसी भाँति का मिश्रण देखा था। प्लेटो और अरस्तू शासन की अस्थिरता को दूर करने के लिए विभिन्न शासन प्रणालियों के तत्त्वों का मिश्रण करना चाहते थे, वहाँ पोलिबियस इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शासन के तीन अंगों के पारस्परिक विरोध को भी आवश्यक मानता था। उसके राज्य

के तीनों प्रगों में शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त का मध्यकालीन विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा और आधुनिक विचारधारा भी इस प्रभाव से अछूती नहीं है। एक्वीनास, लॉक और मॉन्टेस्क्यू ने यदि इस सिद्धान्त का समर्थन किया तो संयुक्त राज्य अमेरिका के राजनीति-विशारद जैफरसन और एडम्स भी पोलिबियस के सिद्धान्त से अप्रभावित न थे। अमेरिकन संविधान में 'निरोध और सन्तुलन' के सिद्धान्त को जो महत्त्व दिया गया है वह किसी से छिपा नहीं है।

सिसरो
(Cicero)

रोम का दूसरा प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक मार्कस जूलियस सिसरो (Cicero)। मध्ययुग की चिन्तन धारा पर प्रभाव डालने वाला और विश्व के परम प्रसिद्ध वक्ताओं में गिना जाने वाला यह सफल गद्य-लेखक और विफल राजनीतिज्ञ ऐसे समय हुआ जब पोलिबियस द्वारा प्रशासित रोमन गणराज्य पतन की ओर अग्रसर था।

सिसरो का जन्म 106 ई.पू. में हुआ। 64 ई.पू. में वह कौंसल (Consul) नियुक्त हुआ। कुछ समय तक वह मिलोसिया का राज्यपाल रहा ई पू. 58-57 तक सिसरो रोम से निर्वासित रहा। रोम के सैनिकों की गैर-कानूनी ढंग से जान लेने का उस पर अभियोग था। ई पू 57 में उसे निर्वासन से वापिस बुला लिया गया। सिसरो ने अपनी प्रसिद्ध वक्तृताओं द्वारा गणराज्य को और पुरानी संस्थाओं को सुरक्षित बनाए रखने के लिए जूलियस सीजर और मार्क एन्टनी का विरोध किया। ई. पू 44 में सीजर की हत्या हुई। ई. पू 43 में सिसरो पर अभियोग लगाकर उसे प्राण दण्ड दिया गया। जब अपने प्राण बचाने के लिए वह भाग रहा था तभी वह मार डाला गया। वास्तव में सिसरो ने समय की परिवर्तनशीलता का ध्यान न रखकर ही अपनी मौत को बुलाया था। सेबाइन (Sabine) ने सही लिखा है—"वह घड़ी की सुई को आगे की ओर न बढ़ाकर पीछे की ओर चलाना चाहता था।"

सिसरो की रचनाएँ—सिसरो प्लेटो की कृतियों से पूर्णतः परिचित था और उसने अपनी कृतियों के नाम भी प्लेटो की कृतियों से मिलते-जुलते रखे। उसने निम्नलिखित दो ग्रन्थों की रचना की—

1. डि रिपब्लिका (De Republica)—इसमें सिसरो ने आदर्श राज्य की कल्पना की, यद्यपि यह प्लेटो के आदर्श राज्य से भिन्न है। सिसरो का आदर्श राज्य वास्तविकता के सन्निकट है। इसमें सिसरो ने संवाद शैली को अपनाया है।

2. डि लेजिबस (De Legibus)—इसमें सिसरो ने उपरोक्त ग्रन्थ के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया है। उसने बतलाया है कि नागरिक तथा सांविधानिक विधियों का आधार प्राकृतिक विधियों को ही होना चाहिए। वे समस्त विधियाँ, जो प्राकृतिक विधियों तथा विवेक बुद्धि पर आधारित नहीं होती, अवैध हैं।

सिसरो का राजनीतिक दर्शन
(The Political Philosophy of Cicero)

सिसरो के राजदर्शन में कोई मौलिकता नहीं है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता

यही है कि उसने प्लेटो एवं अरस्तू के विचारों को, स्टोइक सम्प्रदाय के प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त को, राज्य का स्वरूप और नैतिक उद्देश्यों को तथा मानवीय समानता के मन्तव्य को अपने व्यक्तित्व की छाप लगाकर अति ओजपूर्ण और धारा-प्रवाही शैली में इस तरह प्रकट कर दिया कि मध्यकालीन राजदर्शन और ईसाईयत के सिद्धान्तों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा।

सिसरो के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचार

अरस्तू की भांति सिसरो भी मनुष्य को सामाजिक प्रवृत्तियों से पूर्ण मानता है पर जहाँ अरस्तू मानव स्वभाव को असमान मानता है वहाँ सिसरो उसमें समानता के दर्शन करता है जिसका तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई समाज नहीं होता जो सर्वथा गुणहीन हो या गुणों को प्राप्त करने की क्षमता नहीं रखता हो। इसी आधार पर वह दासता को अस्वाभाविक और कृत्रिम बतलाता है। इसी मानव स्वभाव की समानता के आधार पर उसने विश्व-एकता और विश्व-बन्धुत्व के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए हैं। सिसरो के ही शब्दों में—"कोई भी वस्तु किसी दूसरी वस्तु के साथ संसार में इतना गहरा सादृश्य नहीं रखती जितनी एक मनुष्य के साथ मनुष्य को पशुओं से ऊँचा उठाने वाली बुद्धि सबमें समान रूप से पाई जाती है। यह इसका पर्याप्त प्रमाण है कि मनुष्य में कोई अन्तर नहीं होता।"

सिसरो के राज्य सम्बन्धी विचार

सिसरो के अनुसार राज्य का निर्माण इसलिए नहीं हुआ कि जन-समूह के लोग अपने आपको निर्बल समझते थे वरन् इसलिए हुआ कि अपनी इस स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति के कारण वे साथ-साथ रहना चाहते थे। राज्य की उत्पत्ति जनता की स्पष्ट सहमति तथा मानव की समाज-निष्ठा के कारण हुई न कि समझौते अथवा शक्ति द्वारा।

सिसरो ने राज्य को 'जनता का मामला' कहा। उसके ही शब्दों में, "तब फिर राज्य जनता का मामला है। जनता मनुष्यों का प्रत्येक समूह नहीं होती, जिसका जिस ढंग से चाहे संगठन कर लिया जाए। जनता का निर्माण उस समय होता है जब मनुष्य पर्याप्त संख्या में एक दूसरे के नजदीक आएँ। इन मनुष्यों में कानून और अधिकारों के बारे में कुछ समझौता होना चाहिए और उनमें यह इच्छा भी होनी चाहिए कि वे एक दूसरे के लाभ के लिए कार्य कर सकें।"[1] सिसरो के विचारों का विश्लेषण करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि उसके चिन्तन का मूल तत्त्व है कि न्याय एक अन्तर्भूत सद्गुण है और जब तक राज्य नैतिक प्रयोजनों द्वारा समाज न हो और नैतिक बन्धनों से न बंधा हो तब तक वह कुछ नहीं है। इस स्थिति में, जैसा कि आगे चलकर ऑगस्टाइन ने कहा, वह एक बड़े पैमाने पर खुली डाकेजनी है। नैतिक कानून अनैतिकता को असम्भव नहीं बनाता। राज्य भी अत्याचारी हो सकता है और प्रजा पर बलपूर्वक शासन कर सकता है, लेकिन जिस

1 सेबाइन से उद्धृत, पृ 153

सीमा तक राज्य इस प्रकार की स्थिति पैदा करता है उस सीमा तक वह अपने वास्तविक स्वरूप से वंचित हो जाता है।[1]

सेबाइन ने आगे लिखा है कि इस प्रकार, सिसरो की दृष्टि में, राज्य एक सामूहिक संस्था है जिसकी सदस्यता के द्वार सभी सदस्यों के लिए खुले हुए हैं और जिसका उद्देश्य अपने सदस्यों को पारस्परिक सहायता तथा न्यायपूर्ण शासन के लाभ प्रदान करना है। इस विचार के तीन परिणाम निकलते हैं—

प्रथम, चूँकि राज्य और उसका कानून जनता की समान सम्पत्ति है इसलिए उसकी सत्ता का आधार जनता की सामूहिक शक्ति है। जनता अपना शासन अपने आप पर कर सकती है। उसमें अपनी रक्षा करने की शक्ति है।

द्वितीय, राजनीतिक शक्ति जनता की सामूहिक शक्ति उसी समय होती है जब कि उसका न्यायपूर्ण और वैधानिक ढंग से प्रयोग हो। जो शासक राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करता है, वह अपने पद के कारण करता है। उसका आदेश कानून है और वह कानून की सृष्टि है।

तृतीय, स्वयं राज्य और उसका कानून ईश्वरीय कानून, नैतिक कानून अथवा प्राकृतिक कानून के अधीन है। यह कानून उच्चतर कानून है और मनुष्य की इच्छा व मनुष्य की संस्थाओं से परे है। राज्य में बल का प्रयोग बहुत कम होना चाहिए और अनिवार्य होने पर उसका प्रयोग उसी समय होना चाहिए जब न्याय और औचित्य के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए यह अपरिहार्य हो।

सिसरो द्वारा राज्य को जनता की सम्पत्ति और जनता का संगठन मानने का स्वाभाविक अर्थ निरंकुशतन्त्र का तिरस्कार करना है। सिसरो की यह मान्यता कि राज्य की स्थापना न्याय को चरितार्थ करने के लिए हुई है एक ओर तो प्लेटो का स्मरण कराती है तथा वह दूसरी ओर आगस्टाइन के विचारों पर अपना प्रभाव दर्शाती है। सामूहिक कल्याण को प्राप्त करना ही राज्य का उद्देश्य है। सिसरो के अनुसार जनहित का प्रसाधन केवल तभी सम्भव है जब समस्त प्रजा राज्य-कार्य में हिस्सा ले। राज्य के समस्त लोगों का 'भाग' या 'हिस्सा' मानने का विचार आगे चलकर बर्क द्वारा भी अपनाया गया। सिसरो यह नहीं मानता कि राज्य रक्षा प्रदान करने वाला अनुबन्धजनित (समझौते से उत्पन्न) तत्त्व है। सामूहिक परमार्थ का साधन ही उसकी दृष्टि में श्रेयस्कर है। शुद्ध निजी स्वार्थों का पोषण राज्य के विघटन का प्रारम्भ है। वास्तव में राज्य सम्बन्धी सिसरो की यह धारणा स्टोइक दर्शन से प्रभावित है।

सिसरो का प्राकृतिक कानून का विचार

सिसरो की विचारधारा में सबसे प्रमुख बात 'प्रकृति की एक सार्वभौमिक विधि' के सम्बन्ध में है। इस विधि के दो स्रोत हैं—

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 153.

1. ईश्वर का संसार पर दयापूर्ण शासन, और

2. मनुष्य की बौद्धिक तथा सामाजिक प्रकृति।

अपनी बौद्धिक एवं सामाजिक प्रकृति के कारण मनुष्य ईश्वर के निकट है। विश्व राज्य का यही संविधान है जो अपरिवर्तनशील है और सभी मनुष्यों एवं राष्ट्रों पर लागू होता है। इसका उल्लंघन करने वाला कोई भी विधान विधि (कानून) की संज्ञा पाने का अधिकारी नहीं हो सकता। किसी भी शासक और राष्ट्र में यह शक्ति नहीं है कि वह गलत बात को सही बना सके। अपने इस प्राकृतिक कानून को सिसरो ने इन शब्दों में बड़ी ही सुन्दरता से स्पष्ट किया है—

"वस्तुतः केवल एक ही कानून है वह सही विवेक है। वह प्रकृति के अनुसार है, वह सब मनुष्यों के ऊपर लागू होता है और परिवर्तनशील तथा शाश्वत है। यह कानून अपने मनुष्यों को आदेश देता है कि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। यह कानून मनुष्य को गलत काम करने से रोकता है। इसके आदेश और प्रतिबन्ध अच्छे आदमियों पर असर डालते हैं, लेकिन उनका बुरे आदमियों पर कोई असर नहीं पड़ता। कानून को मानवीय विधान द्वारा अवैध करना नैतिक दृष्टि से कभी सही नहीं है। इसके संचालन को सीमित करना भी उचित नहीं है। इसको पूरी तरह रद्द कर देना सम्भव है। सीनेट या जनता हमें यह छूट नहीं दे सकती कि हम इसके पालन के दायित्व से बच जाएँ। इसकी व्याख्या करने के लिए किसी सैक्सटस ऐलियस की जरूरत नहीं है। वह ऐसा नहीं करता कि एक नियम तो रोम में बनाए और दूसरा एथेन्स में। वह ऐसा भी नहीं करता कि आज एक नियम बनाए और कल दूसरा। सिर्फ एक कानून होता है जो शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। वह सब कालों में सब मनुष्यों के ऊपर बन्धनकारी है। मनुष्यों का केवल एक समान स्वामी और शासक है—वह ईश्वर है। वही इस कानून का निर्माता, व्याख्याता और प्रयोक्ता है। जो व्यक्ति इस कानून का पालन नहीं करता वह अपने उत्कृष्ट स्वरूप से वंचित हो जाता है। जो व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप से वंचित होगा उसे कठोरतम दण्ड मिलेगा। यह दूसरी बात है कि वह व्यक्ति ऐसे कुछ परिणामों से बच जाए जिन्हें लोग साधारणतः दण्ड कहते हैं।"

सिसरो की इस निश्चित शब्दावली में यह आग्रह किया गया है कि शाश्वत कानून के अनुसार सभी मनुष्य समान हैं। "वे विद्या-बुद्धि में समान नहीं हैं। राज्य के लिए भी यह उचित नहीं है कि वह उनकी सम्पत्ति बराबर कर दे लेकिन जहाँ तक विवेक का सम्बन्ध है,- मनुष्यों की वैज्ञानिक रचना का सम्बन्ध है, उनकी उत्तम और अधम सम्बन्धित धारणाओं का सम्बन्ध है, सभी मनुष्य समान हैं। सिसरो का कहना है कि जो चीज मनुष्य की समानता में बाधा डालती है, वह भूल है, खराब आदत है और झूठी राय है। सभी मनुष्य और मनुष्यों की सभी जातियाँ एक से अनुभव की क्षमता रखती हैं और उचित तथा अनुचित के बीच भेद करने की भी उनमें समान क्षमता है।"

जहाँ अरस्तू का विचार था कि "स्वतन्त्र नागरिकता केवल समान व्यक्तियों के बीच ही रह सकती है, लेकिन चूँकि मनुष्य समान नहीं है अतः नागरिकता केवल थोड़े से और सावधानी से चुने हुए व्यक्तियों तक ही सीमित रहनी चाहिए,।" वहाँ सिसरो का विचार है कि "सभी मनुष्य कानून के अधीन हैं, अतः वे साथ ही नागरिक हैं और उन्हें एक अर्थ में समान होना चाहिए।"

सिसरो के 'रिपब्लिका'[1] की तीसरी पुस्तक में बार-बार प्राकृतिक कानून का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—"सच्चा कानून प्रकृति के साथ आनुकूल्य रखने वाली सद्बुद्धि है। यह सार्वभौमिक अपरिवर्तनशील और सदैव बना रहने वाला है। यह अपने आदेशों से कर्त्तव्य की प्रेरणा देता है और निषेधों द्वारा व्यक्तियों को बुरे कार्यों से बचाता है।.........इस कानून को बदलना पाप है।.........इसका पूर्णरूप से उन्मूलन करना असम्भव है। सीनेट अथवा जनता द्वारा हम इसके बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकते।....यह शाश्वत, अपरिवर्तनशील कानून सब राष्ट्रों और कालों के लिए वैध है।....हम सबका एक स्वामी और शासक भगवान इस नियम का निर्माता, घोषणा करने वाला तथा इसे लागू करने वाला न्यायधीश।"[2] एक अन्य स्थान पर उसने लिखा है कि—"कानून उच्चतम बुद्धि अथवा विवेक (Highest reason) है। यह प्रकृति में प्रतिष्ठित है और हमें करने योग्य कार्यों का आदेश देता है तथा न करने योग्य कार्यों से रोकता है।....कानून बुद्धिमत्ता है। इसका स्वाभाविक कार्य यही है कि हमें उचित आचरण करने का आदेश दे तथा अनुचित कार्य करने से रोके।"[3]

सिसरो प्राकृतिक कानून को राज्यों के भिन्न कानूनों से प्राचीन बताता है, क्योंकि उसके मतानुसार—"यह ध्रुवलोक और पृथ्वीलोक के रक्षक भगवान का समकालीन (Coeval) है अतः ईश्वर का मान, बुद्धि के अभाव में नहीं रह सकता और ईश्वरीय बुद्धि में सत्-असत् के विवेक की शक्ति रहना आवश्यक है।"[4] अतः "प्राकृतिक नियम राष्ट्रों के लिखित कानूनों से बहुत पहले का, उसी समय से विद्यमान है, जब से इस संसार में ईश्वर की सत्ता है। वह वास्तविक कानून[5] (Law) प्राकृतिक नियमों को ही मानता है, विभिन्न राज्यों में जनता द्वारा बनाए गए स्थानीय नियमों को केवल शिष्टाचारवश ही कानून कहा जाता है। मानव समाज में बुद्धिमान व्यक्ति भी अपनी बुद्धि द्वारा यह आदेश देते हैं कि कौन-से कार्य कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य हैं।

सिसरो की धारणा है कि समस्त ब्रह्माण्ड का शासन करने वाला एक ही कानून है। यह कानूनी व्यवस्था ब्रह्माण्ड की दृष्टि से प्रत्येक जड़ चेतन, बुद्धिपूरक अथवा अबुद्धिपरक वस्तु पर लागू होती है। कानून मनुष्यों को राज्यरूपी माला में गूँथने वाला सूत्र है। यह उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं कानून। यह

1 Re-ublica Book III, P. 22. Trans. by Sabine and Smith.
2 *Sacine* : A History of Political Theory, Pt. 1.
3-4-5 *Foster* : Masters of Political Thought, Page 189.

स्वय राज्य का स्रोत है। सिसरो के ही शब्दो मे कानून, 'प्रकृति' सम्मत विवेकपूर्ण बुद्धि है, जो सब मनुष्यो मे प्रसारित है, जो नित्य और शाश्वत है, जो अपनी आज्ञा द्वारा कर्त्तव्य का पालन कराता है और निषेधाज्ञा द्वारा छलछिद्र से रोकता है। सभी वस्तुओ का व्यवहार यद्यपि इसी के अनुसार चलना है, लेकिन इसका पालन करने के सभी के अपने-अपने अथवा भिन्न-भिन्न ढग होते हैं। जड जगत प्राकृतिक आवश्यकतावश उससे बंधा हुआ है, पशु अपनी विवेकहीन सहज प्रवृत्तियो के कारण उसके निर्देशन मे रहते हैं, वे उसका पालन तो करते हैं किन्तु वे नही जानते कि वह क्या है ? मनुष्य और केवल मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा उस कानून को जानने की सामर्थ्य रखता है और चेतनापूर्वक उसके अनुसार काम करता है। दूसरे शब्दो मे, हम यह भी कह सकते हैं कि भौतिक वस्तुएँ तथा निम्नतम प्राणी प्रकृति के कानून के अनुसार व्यवहार करते हैं, किन्तु मनुष्य उस कानून के सम्बन्ध मे अपनी धारणा के अनुसार आचरण करता है।

उपरोक्त व्याख्या का अर्थ यह हुआ कि प्राकृतिक कानून का सिसरो का अर्थ आधुनिक वैज्ञानिक मत से भिन्न है। गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त (Law of Gravitation) मानव प्राणियो और पत्थरो पर समान रूप से लागू होता है, लेकिन मनुष्य की शारीरिक क्रियाओ का उसके अनुसार होने के लिए यह जरूरी नही है कि वह उससे अवगत हो एवं उसके अनुसार आचरण करे। कोई व्यक्ति उसका उल्लघन भी नही कर सकता है। सिसरो का प्राकृतिक कानून मनुष्यों और मानव-व्यापार पर स्वयमेव लागू नहीं होता, अपितु मनुष्य स्वचेतना द्वारा उसे ग्रहण करके स्वेच्छा से ही तदनुरूप आचरण करते हैं। दूसरे शब्दो मे जहाँ गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त जड या चेतन पदार्थों पर अनिवार्यत: स्वय ही लागू हो जाता है, वहाँ प्राकृतिक कानून को मनुष्य स्वय अपने ऊपर लागू करता है और इसीलिए इसका पालन करने हेतु कोई व्यक्ति विवश नहीं है, यद्यपि उचित और श्रेष्ठ यही है कि प्रत्येक व्यक्ति उसका पालन करे। इस प्रकार सिसरो का प्राकृतिक कानून भौतिक नियमो से भिन्न है। इसका स्वरूप नैतिक सिद्धान्त जैसा है और इसे ईश्वरीय कानून ही कहना उपयुक्त है।

चूँकि प्राकृतिक कानून नित्य एव अपरिवर्तनीय है अतः यह स्वय राज्य का स्रोत है। किसी भी राज्य विशेष द्वारा निर्मित कानून प्राकृतिक कानून अथवा शुद्ध बुद्धि के अनुसार होने चाहिए और नागरिक उनका पालन करने के लिए उसी सीमा तक बाध्य है जिस सीमा तक वे प्राकृतिक कानून के अनुसार हैं। इस तरह सिसरो यह मान्यता प्रकट करता है कि यदि राज्य निर्मित कानून उसके अनुकूल न हो तो नागरिक के लिए उनको मानना अनिवार्य नही। जो चीज स्वय गलत है उसे कोई भी शासक मोहर लगा कर सही नही कर सकता।

उपरोक्त विवरण से प्रकट है कि सिसरो के अनुसार मनुष्य दो कानूनो के अधीन है—1. प्राकृतिक कानून, और 2 राज्य निर्मित कानून। प्राकृतिक कानून का पालन करने का उनका कर्त्तव्य निरपेक्ष और अशर्त है। राज्य निर्मित कानून के प्रति उनकी भक्ति सशर्त है। प्राकृतिक कानून के विरुद्ध होते ही राज्य के कानून

अपनी क्षमता खो बैठते है। सिसरो का विश्वास है कि, "स्वयं राज्य और उसका कानून-ईश्वरीय कानून, नैतिक कानून या प्राकृतिक कानून के अधीन है। यह कानून उच्चतर कानून है और मनुष्य की इच्छा एवं मनुष्य की संस्थाओं से परे है। राज्य में बल का प्रयोग बहुत कम होना चाहिए और अनिवार्य होने पर उसका प्रयोग उसी समय किया जाना चाहिए जब न्याय और औचित्य के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए यह अपरिहार्य हो।"[1]

सिसरो ने प्राकृतिक कानून को रोमन इतिहास के दो प्रसिद्ध उदाहरणों द्वारा पुष्ट किया है। पहला उदाहरण उस समय का है जब रोम पर एट्रस्कन लोगों का आक्रमण हुआ। उस समय होरेशस कॉकल्स (Horatious Cocles) ने अपने दो अन्य साथियों के साथ एक पुल पर सम्पूर्ण शत्रु सेना को उस समय तक रोके रखा, जब तक शत्रुओं के नगर-प्रवेश को रोकने के लिए रोमन सेना ने इस पुल को नष्ट नहीं कर दिया। सिसरो के अनुसार होरेशस को पुल पर शत्रुओं के विरोध के लिए कानून द्वारा कोई लिखित आदेश नहीं मिला था। यह उसे अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए प्रकृति से मिला हुआ आदेश था सिसरो दूसरा उदाहरण उस समय का प्रस्तुत करता है जब रोमन राजा टारक्विनियस के बेटे सेक्सटस द्वारा ल्यूक्रेशिया का सतीत्व भंग किया गया। सिसरो का कहना है कि रोम में उस समय तक बलात्कार के विरुद्ध कोई लिखित कानून न था। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि उस समय ऐसे किसी नियम का सर्वथा ही अभाव था। उसने अपने इस कार्य द्वारा बलात्कार न करने के शाश्वत अथवा ईश्वरीय या प्राकृतिक नियम को भंग किया था।

सिसरो के विचारों का राजनीतिक दर्शन में महत्त्व

सिसरो के विचारों में मौलिकता न होते हुए भी उनका राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में असाधारण महत्त्व है जिसे सेबाइन ने बड़े ही तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया है—

"सिसरो के राजनीतिक दर्शन के दो विचार प्रमुख थे। सिसरो इन विचारों को बहुत महत्त्व देता था लेकिन उसके युग में इन विचारों का केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही रह गया था। ये विचार थे—"मिश्रित संविधान की श्रेष्ठता में विश्वास और संविधानों के ऐतिहासिक चक्र का सिद्धान्त"। सिसरो ने इन दोनों विचारों को पोलिबियस से और सम्भवतः पनोटियस से ग्रहण किया था। हाँ, उसने इन विचारों को रोमन इतिहास के सम्बन्ध में अपने ज्ञान के सन्दर्भ में संशोधित करने की अवश्य कोशिश की। वास्तव में सिसरो की योजना बहुत अच्छी थी लेकिन इस योजना को कार्य रूप में परिणत करने के लिए उसके पास दार्शनिक क्षमता नहीं थी। सिसरो का उद्देश्य एक पूर्ण राज्य (मिश्रित संविधान) के सिद्धान्त का निरूपण करना था। वह इसके सिद्धान्तों को रोमन संविधान (चक्र सिद्धान्त के अनुसार) के विकास के सन्दर्भ में स्थापित करना चाहता था। सिसरो का विचार था कि रोम का संविधान

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 174.

सबसे अधिक स्थायी और पूर्ण - संविधान था। इस संविधान का निर्माण विभिन्न व्यक्तियों ने, विभिन्न परिस्थितियों में ज्यों-ज्यों राजनीतिक समस्याएँ उठती गई थीं, उनके समाधान के लिए किया था। राज्य के विकास का वर्णन कर और उसके विविध अंगों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध बताने से राज्य के एक सिद्धान्त का निर्माण सम्भव है, जिसमें कल्पना का पुट कम से कम रहे ' लेकिन दुर्भाग्यवश सिसरो में रोमन अनुभव के अनुसार एक ऐसा नया सिद्धान्त निकालने की क्षमता नहीं थी जो उसके यूनानी स्रोतों की अवहेलना करता हो। संविधान के चक्र के सम्बन्ध में पोलिबियस ने भी एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। उसका कहना था कि अच्छा और बुरा संविधान बारी-बारी से चलता रहता है। राजतन्त्र के बाद अत्याचारी शासन आता है; अत्याचारी शासन के बाद कुलीनतन्त्र, कुलीनतन्त्र के बाद अल्पजनतन्त्र, अल्पजनतन्त्र के बाद सौम्य-प्रजातन्त्र और फिर सौम्य-प्रजातन्त्र के बाद भीड़ का शासन आता है। तर्क दृष्टि से यह चक्र ठीक था, तथापि यह विचार मुख्यतः नगर राज्यों के अनुभव के ऊपर आधारित था। सिसरो को यह अच्छी तरह ज्ञात था कि यह विचार रोम के इतिहास के सम्बन्ध में उसके विचारों से मेल नहीं खाता। फल यह हुआ कि वह संविधानों के चक्र के सिद्धान्त की प्रशंसा तो करता रहा तथापि उसने उसकी तार्किक सुन्दरता को भी नष्ट कर दिया। इसी तरह सिसरो मिश्रित संविधान के गुणों की प्रशंसा करता था। उसका ख्याल था कि रोम की कौनसी संस्थाएँ मिश्रित संविधान के किस तत्त्व को प्रकट करती हैं ? इस सम्बन्ध में उसका विवरण टाइसिटस के इस व्यंग्योक्ति को सच्चा सिद्ध कर देता है कि मिश्रित संविधान की प्रशंसा करना उसको कार्यान्वित करने की अपेक्षा आसान है। रोम की संस्थाओं के इतिहास के सन्दर्भ में राज्य के एक सिद्धान्त को प्रस्तुत करना बहुत श्रेष्ठ कार्य था। लेकिन इसे एक ऐसा व्यक्ति नहीं कर सकता था जिसने अपना सिद्धान्त यूनानी लोगों से बना बनाया ले लिया और उसे रोम के इतिहास के विवरण पर लागू किया।"

राजनीतिक दर्शन के इतिहास में सिसरो का वास्तविक महत्त्व यह है कि उसने स्टोइकों के प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त की ऐसी व्यवस्था की जो उसके समय से उन्नीसवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप में सबको ज्ञात रही। यह व्याख्या सिसरो के पास से रोम के विधि-वेत्ताओं के पास गई और वहाँ से चर्च के संस्थापकों के पास। इस व्याख्या के महत्त्वपूर्ण अंशों को सम्पूर्ण मध्य युग में अनेक बार दोहराया गया। यह ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि "रिपब्लिका की मूल पुस्तक 12वीं शताब्दी के बाद खो गई थी और उसका पता केवल 19वीं शताब्दी में ही चला, उसके महत्त्वपूर्ण अंश ऑगस्टाइन और लैक्टान्टियम की पुस्तकों में समाविष्ट हो गए थे। इस तरह से सबको ही उसकी जानकारी हो गई थी। यद्यपि सिसरो के विचार मौलिक नहीं थे लेकिन सिसरो ने उन्हें उत्कृष्ट साहित्यिक शैली में प्रस्तुत किया था। सिसरो की रचनाएँ लेटिन साहित्य की अक्षय निधि है। पश्चिमी यूरोप में सिसरो के विचारों के प्रसार का एक प्रमुख कारण उसकी साहित्यिकता भी है।

जो कोई भी व्यक्तिवाद की शताब्दियों के राजनीतिक दर्शन का अध्ययन करना चाहता है, उसे सिसरो के श्रेष्ठ अवतरणों को अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए।"

पुन सेबाइन महोदय का कथन है कि—"शासन के ये सामान्य सिद्धान्त कि सत्ता का आधार जनहित होना चाहिए, उसका प्रयोग कानून के अनुसार होना चाहिए और उसका औचित्य केवल नैतिक आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है—सिसरो के रचना काल के कुछ समय बाद ही सर्वत्र स्वीकार कर लिए गए। ये कई शताब्दियो तक राजनीतिक दर्शन के सामान्य सिद्धान्त रहे। सम्पूर्ण मध्ययुग में इन सिद्धान्तो के बारे मे कोई मतभेद न था। ये राजनीतिक विचारको की समान सम्पत्ति बन गए थे। यह अवश्य सम्भव है कि इन सिद्धान्तो के प्रयोग के बारे मे, लोगों में, उन लोगो में भी जिनकी इन सिद्धान्तो मे दृढ आस्था थी, कुछ मतभेद रहा हो। उदाहरण के लिए इस बात से भी सहमत है कि अत्याचारी तिरस्कार के योग्य होता है। उसका अत्याचार जनता के ऊपर भारी अत्याचार है लेकिन सिसरो यह स्पष्ट नही कर पाता कि लोग अत्याचारी शासन की स्थिति मे क्या करें या लोगो की ओर से कौन व्यक्ति कार्य करे या यह अत्याचारी कितना निकृष्ट होना चाहिए जब कि इसके खिलाफ कोई कार्यवाही की जाए। सिसरो यह अवश्य मानता था कि राजनीतिक शक्ति जनता से प्राप्त होनी चाहिए लेकिन, उसके इस कथन का अभिप्राय वे राजनीतिक धारणाएँ नही थी जो आजकल प्रचलित की गई है। सिसरो ने हमें यह नही बताया है कि जनता का कौन प्रतिनिधि है, वह जनता का प्रतिनिधि कैसे बन जाता है, वह वह जनता ही कौन है जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है। ये सारे प्रश्न व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिक सत्ता की स्रोत जनता है—आधुनिक प्रतिनिधि शासन प्रणालियो को समझने के लिए इस प्राचीन सिद्धान्त का प्रयोग, एक पुराने विचार का नई स्थिति मे ग्रहण करना भर था।"

सेनेका
(Seneca)

सेनेका ने सिसरो के प्राय एक शताब्दी के बाद रोमन साम्राज्य के प्रारम्भिक दिनो मे रचनाएँ की। वह स्टोइक विचारो एव सिद्धान्तो का बहुत बडा प्रचारक और रोमन सम्राट नीरो (54–68 ई) का गुरु था। सेनेका का आविर्भाव ऐसे समय हुआ था जब रोम मे निरकुश सम्राटो का बोलबाला था और उनके अत्याचार दिन-प्रतिदिन बढते जा रहे थे। सेनेका के समय राज्य जनता के नैतिक विकास का साधन नही रहा था, अपितु स्वार्थ, लाभ और भ्रष्टाचार का घर बन गया था। नागरिक सद्गुणो का अभाव हो गया था। राज्य निरकुश हो चुका था तथा जनता भी उतनी ही पतित हो चुकी थी, जितना कि शासक। राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन से साधुता मिटती जा रही थी। सेनेका को राजनीतिक और सामाजिक जीवन के इस नैतिक पतन को देखकर निराशा होती थी। यही कारण है कि हमें उसके लेखो में उस समय आच्छादित निराशावाद का प्रतिबिम्ब स्पष्टत देखने को मिलता है। यह एक नई तान है जो हमें सिसरो मे नही सुनाई पडती। जहाँ सिसरो ने

इस नैतिक उद्देश्य को लेकर रचनाएँ की थी कि रोमनों के परम्परागत नागरिक सद्गुणों को पुनर्जीवन मिले, वहाँ सेनेका इसे स्वप्न मानता हुआ यह अनुभव करता था कि एक श्रेष्ठ व्यक्ति किसी सार्वजनिक पद पर बैठकर देशवासियों का अधिक हित नहीं कर सकता।

सेनेका 8 वर्ष तक सम्राट नीरो का परामर्शदाता रहा, लेकिन जब नीरो के अत्याचार बढ़ते गए तो सेनेका ने इस पर असन्तोष प्रकट किया। परिणाम यह हुआ कि नीरो ने अपने गुरु सेनेका पर षडयन्त्र रचने और राजद्रोह का कुचक्र चलाने का आरोप लगाया। उसने रियायत केवल यही की कि गुरु की पहली सेवाओं को ध्यान में रखते हुए गुरु को (सेनेका को) स्वयं आत्महत्या करने का दण्ड दिया। सेनेका ने भी स्टोइक सिद्धान्तों का पालन करते हुए बड़े धैर्य से अपनी नाड़ियाँ यह कहते हुए काट डालीं, "मेरी परवाह मत कीजिए। मैं सांसारिक सम्पत्ति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान सद्गुणी जीवन का उदाहरण आपके लिए छोड़कर जा रहा हूँ।"[1]

सेनेका के राजनीतिक विचार
(Political Philosophy of Saneca)

सेनेका इस उक्ति का समर्थक था कि—"सरकार के रूप के लिए केवल मूर्ख झगड़ते हैं, सर्वोत्तम सरकार वही है जो सर्वोत्तम ढंग से चलाई जाए।" इस सम्बन्ध में सेबाइन सेनेका के विचारों को प्रकट करते हुए लिखते हैं—"सेनेका ने विभिन्न शासन-प्रणालियों के अन्तरों को महत्त्वहीन माना है। ये शासन-प्रणालियाँ प्रायः एकसी अच्छी-बुरी हैं। कोई भी शासन-प्रणाली विशेष कार्य नहीं कर सकती फिर भी सेनेका का यह दृष्टिकोण कदापि नहीं है कि बुद्धिमान व्यक्ति समाज से विरक्त हो जाए। सिसरो की भाँति उसने भी इस बात का आग्रह किया कि श्रेष्ठ व्यक्ति को किसी न किसी क्षमता में अपनी सेवाएँ अवश्य प्रदान करनी चाहिए। सिसरो की भाँति सेनेका ने भी एपीक्यूरिन विचारकों के इस दृष्टिकोण को अस्वीकार कर दिया है कि व्यक्ति को सार्वजनिक हितों की उपेक्षा कर अपने व्यक्तिगत सन्तोष का प्रयत्न करना चाहिए, लेकिन सिसरो के विपरीत और अपने से पहले के समस्त सामाजिक और राजनीतिक विचारकों के विपरीत, सेनेका ने एक ऐसी सामाजिक सेवा की कल्पना की है जिसके अनुसार न तो राज्य में कोई पद धारण करना ही आवश्यक है और न कोई राजनीतिक कार्य करना ही आवश्यक है।" स्पष्ट है कि आदिकालीन 'सिनिक्स' तथा 'स्टोइक्स' की भाँति सेनेका ने सामाजिक जीवन का परित्याग करने की सलाह नहीं दी। स्टोइकों का प्राचीन सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक व्यक्ति दो राज्यों का सदस्य होता है—सिविल राज्य का जिसकी यह प्रजा होती है तथा वृहत्तर राज्य का जो समस्त बुद्धिमान व्यक्तियों से मिलकर बनता है। व्यक्ति इस राज्य का सदस्य अपनी मानवता के कारण होता है। सेनेका ने स्टोइकों के इस प्राचीन सिद्धान्त को एक नवीन रूप देते हुए बताया कि "वृहत्तर

1 *Bertrand Russell : History of Western Philosophy*, p. 283.

राज्य एक राज्य नहीं, प्रत्युत् एक समाज है। इस समाज के बन्धन नैतिक अथवा धार्मिक हैं, कानूनी अथवा राजनीतिक नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धिमान और श्रेष्ठ व्यक्ति अपने हाथ में राजनीतिक शक्ति रखने पर ही मानवता की सेवा करता है। वह अपने साथियों के साथ नैतिक सम्बन्ध होने के कारण या केवल अपने दार्शनिक चिन्तन के द्वारा ही करता है। अपने सद्-विचारों के कारण मानव-जाति का शिक्षक होने वाला व्यक्ति राजनीतिक शासक की अपेक्षा अधिक भद्र और अधिक प्रभावशाली होता है। ईसाई विचारकों का कहना है कि मनुष्य की उपासना ही ईश्वर की सच्ची सेवा है। सेनेका का भी इसी सिद्धान्त में विश्वास था।"

उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि सेनेका के हाथ में जाकर स्टोइकवाद ने एक धार्मिक दर्शन का रूप ग्रहण कर लिया। सेबाइन महोदय का भी लिखना है कि "एक शताब्दी बाद मारकस आरेलियस (Marcus Aurelius) के स्टोइसिज्म की भांति सेनेका का स्टोइसिज्म भी एक धार्मिक विश्वास था। उसने इस संसार में शक्ति और संतोष प्रदान करने के साथ-साथ आध्यात्मिक चिंतन का भी द्वार उन्मुक्त किया। ईसाई धर्म मूर्तिपूजक समाज में विकसित हुआ था। उसमें सांसारिक और आध्यात्मिक स्वार्थों को अलग माना जाता था। उसका विचार था कि 'शरीर आत्मा के लिए जंजीर और अंधकार है' अतः 'आत्मा को शरीर के भार से निरंतर संघर्ष करते रहना चाहिए।' आध्यात्मिक संतोष की बढ़ती हुई आवश्यकता ने धर्म को मनुष्य के जीवन में उच्चतर स्थान दिया और इसे लौकिक स्वार्थों से अलग रखा। उन्होंने इसे ऊँची वास्तविकताओं से सम्बन्ध स्थापित करने का एकमात्र साधन माना। अब प्राचीन काल के लौकिक जीवन की एकता टूट रही थी। धर्म निरन्तर स्वतन्त्र स्थान प्राप्त करता जा रहा था। उसका महत्त्व राजनीतिक जीवन से अधिक था। धर्म के अर्थ उसकी अपनी एक संस्था में व्यक्त होने लगे थे। वह पृथ्वी पर ऐसे अधिकारों और कर्त्तव्यों को प्रकट करता था जिनका मनुष्य को स्वर्गिक नगर का सदस्य होने के नाते पालन करना पड़ता था। यह संस्था मनुष्य की निष्ठा पर अधिकार रखती थी। इस सम्बन्ध में वह राज्य का हस्तक्षेप करने की बिलकुल अनुमति नहीं देती थी। दो राज्यों के सम्बन्ध में सेनेका की यह व्याख्या ईसाइयों के सिद्धान्तों से मिलती-जुलती है। सेनेका और ईसाई विचारकों में और भी कई बातों में साम्य है। इन समानताओं के कारण प्राचीन काल में यह कल्पना की जाने लगी थी कि सेनेका तथा सन्तपाल (St. Paul) के बीच पत्र-व्यवहार हुआ था. लेकिन यह बात गलत है।"

सेनेका की विचारधारा के दो पक्षों का उसके दर्शन के धार्मिक तत्त्व से सम्बन्ध था—एक ओर तो उसकी मान्यता थी कि मनुष्य तत्त्वतः पापी है अथवा उसकी प्रकृति में ही पाप भरा हुआ है। दूसरी ओर उसका नीति शास्त्र मानववाद की प्रकृति लिए था। सेनेका का विश्वास था कि बुद्धिमान व्यक्ति आत्म-निर्भर होता है किन्तु मानव दुष्टता का भाव उसे बारम्बार अशान्त बनाता है। इस दुष्टता की प्रवृत्ति से कोई भी व्यक्ति बच नहीं सकता। सेबाइन के ही शब्दों में, "सेनेका का विश्वास था कि वास्तविक सद्वृत्ति मुक्ति को प्राप्त करने में नहीं, प्रत्युत् मुक्ति के

लिए अनन्त संघर्ष करने में है।" पुनश्च: "सेनेका ने पाप और दुःख की चेतना की सार्वदेशिक अनुभूति के कारण ही मानवी सहानुभूति और उदारता को बहुत महत्त्व दिया।"

पाप और दुःख को देख कर ही सेनेका ने एक 'स्वर्णिम युग' (Golden Age) की कल्पना की, जिसमे मनुष्य नागरिक समाज का आविर्भाव होने से पहले रहता था। स्वर्णिम युग से मनुष्य आनन्दपूर्ण, सरल एवं निष्पाप जीवन यापन करते थे। उनमें एक अच्छा व्यक्ति उनका शासक था। शासन की बागडोर बुद्धिमान व्यक्तियों के हाथ में थी जो निर्बलों की शक्तिशालियों से रक्षा करते थे, प्रजा की सब आवश्यकताओं की पूर्ति तथा संकटों का निवारण करते थे। कोई व्यक्ति किसी प्रकार का बुरा कार्य नहीं करता था किन्तु मनुष्यों में लोभ उत्पन्न होने से इस स्वर्ण युग का अन्त हो गया। सेनेका का स्वर्ण युग का वर्णन वास्तव में नीरो के शासन काल में रोमन समाज के पतन के सम्बन्ध में उसके विचारों की अभिव्यक्ति मात्र है। सेनेका के अनुसार स्वर्ण युग का अन्त मनुष्य स्वभाव में स्वार्थ-भावना आने से हुआ। स्वार्थ की प्रवृत्ति ने सम्पत्ति की भावना को पैदा किया सम्पत्ति को लेकर विवाद और संघर्ष हुए जिनके परिणामस्वरूप राज्य का जन्म हुआ। इस तरह राज्य की उत्पत्ति मनुष्य में आने वाली बुराइयों के कारण हुई। सेनेका ने कहा कि राज्य का प्रथम कर्त्तव्य निषेधात्मक या प्रतिबन्धात्मक है अर्थात् यह देखना है कि कोई व्यक्ति किसी के अधिकारों को छीने नहीं, किसी की सम्पत्ति को हड़पे नहीं और किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करे। सेनेका के ये विचार मौलिक नहीं थे। स्टोइक्स इन्हें पहले ही कह चुके थे। इन्हीं को लेकर ईसाई पादरियों ने राज्य की उत्पत्ति का विवेचन किया और उसे एक आवश्यक बुराई बताया।

सेनेका का राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त बहुत अधिक विकसित नहीं है। उसकी मूल और आरम्भिक प्रवृत्तियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उसने राज्य की उत्पत्ति के परम्परागत सिद्धान्त का ही विवेचन किया था। कोई मौलिक विचार न देने के कारण ही उसे महत्त्वपूर्ण विचारक नहीं समझा जाता।

रोमन कानून
(The Roman Law)

'रोमन कानून' (Roman Law) राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में रोम की एक महान् देन है। रोमन लोगों ने प्राचीन विश्व में सर्वाधिक तर्कसम्मत और पूर्ण कानूनी पद्धति (Legal Sysem) का विकास किया था। "राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए रोम का अर्थ, कानून और विधिशास्त्र है।"[1]

रोमन कानून की विशेषताएँ

(1) भावात्मक कानून का विचार (The Idea of Positive Law)—रोमन लोगों ने यूनानियों के समान आकाश में उड़ान नहीं की। उन्होंने कानून को

1 *Maxey*: Political Philosophies, p. 88.

आकाश से धरती पर लाकर उसे लौकिक (Secular) रूप दिया। यूनानी कानून की भावात्मक (Positive) व्याख्या नही करते थे। वे नैतिक दृष्टिकोण से विचार करते हुए उसे ईश्वर की आज्ञा मानते थे लेकिन रोमन विचारको ने कानून पर व्यावहारिक एव रचनात्मक दृष्टिकोण से विचार करते हुए उसे धर्म एव राजनीति के बन्धन से मुक्त किया। रोम एक विशाल साम्राज्य था जिसमे विभिन्न धर्मों के अनुयायी रहते थे, अत. रोमन लोगों के लिए यह सम्भव न था कि वे इनमे से किसी एक के धर्म और नीतिशास्त्र के साथ कानून का समन्वय करते।

रोमन विचारधारा मे कानूनो को सार्वभौमिक मान कर उनकी रचना की गई। कानूनो को शासक और शासितो का समझौता माना गया। साम्राज्य के नागरिक कानूनो का पालन करने के लिए बाध्य थे, पर इसलिए नही कि कानून न्यायसगत, धर्मसंगत अथवा उचित थे, वरन् इसलिए कि वे जनता की इच्छा को प्रकट करने वाली सर्वोच्च राजनीतिक शासन-सत्ता के आदेश थे।

स्मरणीय है कि भावात्मक कानून के इस विचार का विकास धीरे-धीरे हुआ। शुरू में कानून का आधार धर्म शास्त्र और रीति-रिवाज रहे। लगभग 450 ई पू मे रोमन रीति-रिवाजों पर आधारित कानूनो को सहिताबद्ध किया गया। यह काम 12 पट्टिकाओ (Twelve Tables) मे हुआ। इनमे न केवल प्रचलित रीति-रिवाजो को लिखित रूप दिया गया बल्कि कुछ नवीन कानूनी तत्वों का भी समावेश हुआ। अब 'राज्य के विरुद्ध अपराधो को देवताओं के विरुद्ध किया गया पाप समझने का और कानून के धार्मिक होने का विचार समाप्त हो गया।' 12 पट्टिकाओ के रूप मे सहिताबद्ध कानून मे सशोधन जनता की इच्छा से ही हो सकता था और सीनेट, कन्सुलेट तथा शासको के सविधानों मे जनता की इच्छा प्रकट होती थी अब रीति-रिवाज कानून का स्रोत नही रहे थे। कानून को राज्य की इच्छा समझा जाने लगा था। कानून के इस विकास-क्रम मे अन्त मे आकर यह सिद्धान्त दृढतापूर्वक स्थापित हो गया कि कानून राजकीय आदेश के अतिरिक्त कुछ नही है। इसे राज्य द्वारा ही बनाया जाता है और राज्य द्वारा ही उसका पालन कराया जाता है।

(2) **वैयक्तिक अधिकारों का सिद्धान्त और राज्य को कानूनी रूप प्रदान करना**—रोमन लोगो ने अपने नागरिकों को कानून के सामने समानता का अधिकार दिया। कानूनी अधिकारो की प्रतिष्टा धीरे-धीरे राज्य की ओर से की गई। इनका निर्धारण कौसलो (Consuls), न्यायाधीशो (Practors), ट्रिब्यूनों (Tribunes), सीनेट के सदस्यो एव अन्य राजकीय उच्च अधिकारियो ने किया यूनानी 'अधिकारो' को कानून से स्वतन्त्र और पूर्ववर्ती समझते थे। उनके अनुसार 'अधिकार' मे दो बातें सम्मिलित थी—भलाई का विचार और किसी व्यक्ति या समूह से सम्बन्ध रखने वाले विशेषाधिकार। रोमन लोगों ने दूसरे विचार को अधिक महत्त्व दिया और अधिकार को कानून का वंशवर्ती बना दिया। अब प्रत्येक व्यक्ति के कुछ विशेष अधिकारो कोस्वीकार किया जाने लगा तथा राज्य और व्यक्ति की पृथक्ता रखते हुए दोनो के अधिकार और कर्तव्य बतलाए गए। रोमन लोगो ने राज्य के स्थान

पर व्यक्ति को अपने कानूनी विचारों का केन्द्र बनाया। राज्य की सत्ता का मुख्य प्रयोजन व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा का माना गया। "इस प्रकार राज्य सुनिश्चित सीमाओं के भीतर ही अपनी सत्ता का प्रयोग कर सकता था और नागरिक भी ऐसे अधिकार रखने वाला व्यक्ति माना जाता था, जिनकी रक्षा अन्य व्यक्तियों से तथा सरकार के अवैध अपहरण (Encroachment) से की जानी चाहिए।"[1]

(3) **प्रभुसत्ता का विचार (The Idea of Sovereignty)**—रोम मे काफी पहले से यह मान्य था कि राज्य की सर्वोच्च व अन्तिम सत्ता का स्रोत जनता है, और निरंकुश सम्राट को भी सत्ता जनता से ही प्राप्त है। कौंसुल या सम्राट अपनी सत्ता का प्रयोग जनता की ओर से ही करते हैं। रोमन विचारों की इस मान्यता से ही लोकप्रिय सम्प्रभुता (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त को महत्ता मिली, जो आज के लोकतन्त्रीय राज्यों की आधारशिला है। रोमन लोगो ने यह भी कहा कि जनता की यह सर्वोच्च शक्ति असीमित और अनिश्चित है जिस पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं हो सकता।

(4) **विभिन्न प्रकार के कानूनों का विकास**—रोम मे शनै:-शनै: तीन प्रकार के कानूनों के विचार का विकास हुआ—

(1) जस सिविली (Jus Civili),
(2) जस जेन्शियम (Jus Gentium), एव
(3) जस नेचुरली (Jus Naturalae)।

'जस सिविली' रोम का दीवानी कानून था जो 12 पट्टिकाओं पर आधारित था। यह दीवानी अथवा म्युनिसिपल कानून (Civil or Municipal Law) रोमन नागरिको के पारस्परिक कानूनी सम्बन्धों को नियन्त्रित करता था। यह केवल उन विवादों मे ही लागू किया जाता था जहाँ विवाद के पक्ष रोम के नागरिक हों।

रोमन साम्राज्य का विस्तार होने पर एक अधिक व्यापक कानून की आवश्यकता हुई। न्यायिक समस्याएँ बढ़ जाने से नागरिक या दीवानी कानून (Jus Civili) अपर्याप्त अनुभव किए जाने लगे। विदेशियो मे संघर्ष होने की स्थिति पर उनके विवादों का दीवानी कानून से निर्णय करना उचित नहीं समझा गया अतः विदेशियों के मामलो पर विचार एव निर्णय करने के लिए न्यायाधीश कानून के ऐसे सिद्धान्तो का विकास करने लगे जो रोमन लोगो और विदेशियो पर सामान्य रूप से लागू किए जा सकें। इस प्रकार नव विकसित कानून को 'जस जेन्शियम' अर्थात् सार्वभौमिक कानून का नाम दिया गया जिसका आशय उन सिद्धान्तो से है जो विभिन्न जातियो के कानून तथा परम्पराओं के लिए सामान्य थे और इसलिए जो साधारणतः सभी को मान्य थे। 'जस जेन्शियम' कानून को विकसित करने का प्रधान श्रेय न्यायाधीश प्रेटिनिस को दिया जाता है।

'जस जेन्शियम' रोम के दीवानी कानून अर्थात् जस सिवली से कई बातो मे भिन्न था। "यह जातियो के सामान्य आचरणों और परम्पराओं पर आधारित नियमो

[1] *Gettell*: History of Political Thought, p. 68.

का संग्रह था, यह निरा रोमन न था जैसा कि नागरिक कानून था, इसलिए यह सम्पूर्ण मानव जाति के लिए सामान्य था। इसका निर्माण किसी व्यवस्थापिका द्वारा नहीं होता था और न ही इसका आधार जनसाधारण की इच्छा थी। इसकी रचना न्यायिक और प्रशासनिक पदाधिकारियों द्वारा होती थी। यह वास्तव में निराकार न्याय के सिद्धान्तों का साकार रूप था।" विख्यात रोमन कानून-वेत्ता गेयस (Gaius) के अनुसार, "यदि किसी जनता ने अपने लिए कोई कानून निश्चित किया है और वह केवल उसी तक सीमित है तो उसे जस सिविली (Jus Civili) या उस राज्य का विशेष कानून कहेंगे। दूसरी ओर जिसे प्राकृतिक बुद्धि ने सब मनुष्यों में प्रतिष्ठित किया है और जिसका पालन समान रूप से सब देशों (जनताओं) में होता है उसे जस जैन्शियम (Jus Gentium) कहा जाएगा।" 'जस जैन्शियम' का एक भाग वास्तव में स्टोइक दर्शन से लिया गया था। इस कानून में प्रमुखतः इन नियमों का समावेश था—राष्ट्र की सीमाओं एवं युद्ध सम्बन्धी नियम, खेतों, घरों, यातायात, क्रय-विक्रय, किराए पर वस्तुओं के देने-लेने के नियम आदि।

कानून का तीसरा और सबसे प्रमुख प्रकार प्राकृतिक कानून (Jus Naturalae) है। इसका विकास भी धीरे-धीरे ही हुआ। साम्राज्य के विशाल होने के साथ-साथ कानूनी विवाद भी बढ़ते गए और सम्राट के पास सभी प्रदेशों से जटिल कानूनी प्रश्नों के निर्णयों के लिए अपीलें आने लगीं। सम्राट ऐसे मामलों में कानूनी विशेषज्ञों से सलाह लेता था जिनसे यह आशा की जाती थी कि वे ऐसे सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रतिपादन करें जिन्हें सम्पूर्ण साम्राज्य पर लागू किया जा सके। इन विधि शास्त्रियों ने कानून, अधिकारों और न्याय की सूक्ष्म मीमांसा करके सब देशों एवं जातियों और सम्पूर्ण प्रकृति में पाए जाने वाले सामान्य तत्त्वों के आधार पर प्राकृतिक कानून की कल्पना को जन्म दिया। विख्यात कानूनवेत्ता उलिपयन (Ulpian) ने प्राकृतिक कानून के स्वरूप को दर्शाते हुए लिखा है कि "यह प्रकृति द्वारा सब प्राणियों को दी जाने वाली शिक्षा है। यह कानून मनुष्यों पर ही नहीं अपितु पृथ्वी, आकाश और समुद्र में पाए जाने वाले सभी प्राणियों पर भी समान रूप से लागू होता है। इसी से नर-नारी का संयोग, सन्तान का उत्पादन, पालन और प्रशिक्षण होता है क्योंकि हम देखते हैं कि मनुष्य तथा पशु इस कानून से परिचित हैं।

स्पष्ट है कि जहाँ जस नेचुरली सभी पर लागू होता है वहाँ जस जैन्शियम केवल मनुष्यों पर लागू होता है, किन्तु इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि प्राकृतिक कानून अर्थात् जस नेचुरली की दृष्टि में दास प्रथा अनुचित है जबकि सार्वभौमिक कानून अर्थात् जस जैन्शियम की दृष्टि में यह प्रथा प्रचलित थी। प्राकृतिक कानून का विकास हो जाने पर इसे किसी देश विशेषों के कानूनों से श्रेष्ठ समझा जाने लगा। उसे वह कसौटी समझा गया जिस पर वास्तविक राज्यों के कानूनों को कसा जाना चाहिए और जिसके अनुसार उनकी आलोचना होनी चाहिए।

जस्टीनयन द्वारा रोमन कानून का संकलन—रोमन कानून के सकलन, वर्गीकरण और स्पष्टीकरण का महत्त्वपूर्ण कार्य करने की दिशा में रोमन सम्राट् जस्टीनियन (Justinian) ने छठी शताब्दी में महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नियत किए गए कानून-शास्त्रियो ने कानूनो का जो विशाल सग्रह किया वह विधि सहिता (Code) या जस्टीनियन की सहिता (Code of Justinian) कहलाता है। रोमन कानून का यह प्रामाणिक सकलन है जिसने परवर्ती राजनीतिक विचारधारा पर एक व्यापक प्रभाव डाला है। आज के विश्व का कोई भी राष्ट्र रोम के इस अनुदाय से अछूता नही रहा है। जस्टीनियन सहिता के प्रमुख अग ये है—

(क) **डाइजेस्ट (The Digest)**—इसमे रोम के प्रसिद्ध कानून विशेषज्ञो के विचार दिए गए है। इसमे विभिन्न विषयो पर उन लोगो के विस्तृत उद्धरण हैं। ऐसा कहा जाता है कि इसे 16 कानून विशेषज्ञो ने तीन वर्ष मे तैयार किया था। इसमे तीसरी से छठी शताब्दी तक के रोमन विचारो का सुन्दर परिचय मिलता है।

(ख) **इन्स्टीट्यूट्स (The Institutes)**—इसमे रोमन कानून के सिद्धान्तो का संक्षेप मे वर्णन किया गया है। विद्यार्थियो की सुविधा की दृष्टि से यह रोमन कानून के सिद्धान्तो की सुन्दर सक्षिप्त मीमांसा है।

(ग) **नोवेली (The Noveili)**—यह सम्राट जस्टीनियन के कानूनो का सग्रह है।

रोमन प्रभु-शक्ति की धारणा
(The Roman Concept of Imperium)

यूनानी विचारक प्रभुत्व की धारणा से अपरिचित थे। रोमन लोग ही वे पहले विचारक थे जिन्होने इस धारणा को जन्म दिया। उनमे पहले से यह विश्वास चला आया था कि लगभग प्रत्येक समुदाय मे ऐसी अलघनीय एव जन्मजात शक्ति निहित रहती है जिसके द्वारा वह अपने सदस्यो को आदेश देता और उनसे आज्ञा पालन करवाता है। इस आदेश देने और आदेश का पालन करने के लिए बाध्य करने की सत्ता को वे इम्पीरियम (Imperium) कहते थे, जिसका अर्थ लगभग वही था जो आजकल प्रभुसत्ता या प्रभुत्व (Sovereignty) का है। रोमन लोगो ने इम्पीरियम के सिद्धान्त का यद्यपि सुव्यवस्थित ढग से परिवर्द्धन नही किया, फिर भी इसके आधार पर उन्होंने विधि-व्यवस्था का भव्य महल अवश्य खडा कर दिया। रोम मे राजतन्त्र के आरम्भ से ही यह माना जाता था कि प्रभु-शक्ति जनता मे निहित है और किसी व्यक्ति को शासन करने का अधिकार वश-परम्परा या दैवीय विशेषताओं के कारण नही बल्कि जनता द्वारा निर्वाचन से प्राप्त होता है और एक बार अधिकार प्राप्त कर लेने पर वह शासक आजीवन उसका उपभोग करता है। उस शासक की मृत्यु पर यह अधिकार वापस जनता के पास लौट आता है जो नए राजा को चुनती है। रोमन गणराज्य मे यही सिद्धान्त दृढ हुआ कि अन्तिम सत्ता जनता के हाथ मे है जिसे वह अपनी इच्छा से किसी एक अथवा बहुत से लोगो को दे सकती है।

गणतन्त्रीय व्यवस्था के समाप्त होने पर जब राज्य की शक्ति सम्राटों के हाथों में आई उस समय भी इम्पीरियम या प्रभुसत्ता का सिद्धान्त चलता रहा, यद्यपि व्यवहारतः उसका कोई महत्त्व नहीं था। सम्राट अपनी इच्छानुसार आदेश जारी करते और आज्ञा का पालन करवाते थे। साम्राज्यवाद के इस युग में लोग दैवीय अधिकारों पर आधारित निरंकुशवाद का समर्थन करते थे लेकिन साथ ही इस परम्परागत सिद्धान्त के अनुयायी भी थे कि अन्तिम रूप से सत्ता सम्पूर्ण जनता में निवास करती है। गेयस (Gaius) ने दूसरी शताब्दी ई० में लिखा था कि सब प्रकार की कानूनी सत्ता का स्रोत जनता (Populus) है। रोमन साम्राज्य स्थापित हो जाने के बाद भी गणराज्य का पुराना ढाँचा और आवरण बना रहा था। सम्राट के (जिसे प्रथम नागरिक कहा जाता था) शासन सम्बन्धी अधिकारों के बारे में रोमन कानून शास्त्रियों का यह विचार था कि अपने एक विशेष कानून (Lex regia) द्वारा जनता सम्राट को सर्वोच्च शासन शक्ति (Imperium and Protesta) प्रदान करती है। उनके मतानुसार सम्राटों को अपनी सत्ता नागरिकों से मिलती थी और वे उन्हीं के प्रति जवाबदेह माने जाते थे। सम्राट को विशेष कानून (Lex regia) द्वारा जीवन-काल तक के लिए ही प्रभु-शक्ति दी जाती थी। सम्राट के मरने के बाद उसके वंशजों को स्वतः ही कोई अधिकार प्रदान नहीं किया जाता था लेकिन यह सब कुछ केवल सैद्धान्तिक था। व्यवहार में सम्राट निरंकुश शासक बन गए थे। उपरोक्त मत को मानने वाले भी यह स्वीकार करते थे कि सम्राट की इच्छा में वही शक्ति है जो कानून में है। सम्राट अपनी आज्ञप्तियों द्वारा जनता के कार्यों को रद्द कर सकता था। वही एक मात्र विधि-कर्त्ता था।

जनता की सहमति द्वारा शक्ति या इम्पीरियम के हस्तान्तरण का आधार संविदा का विचार था। रोमन विधिशास्त्री राज्य की उत्पत्ति इस समझौते से मानते थे, किन्तु उनके राजनीतिक चिन्तन में उस सामाजिक समझौते सिद्धान्त का कोई स्थान न था जिसके अनुसार लोगों ने अपने प्राकृतिक अधिकारों को त्याग कर एक राज्य की स्थापना की थी। रोमन विचारकों ने जिस सरकारी संविदा के सिद्धान्त का विकास किया, उसके अनुसार जनता ने अपनी सत्ता अधिकारों को सौंप दी थी। इस समझौते के सम्राट को एक बार अधिकार मिलने के बाद इसका अपहरण नहीं हो सकता था। जब एक बार जनता ने किसी अधिकारी या शासक को चुन लिया तो अपने कर्त्तव्यों की वैध परिधि के भीतर उस अधिकारी या शासक की शक्ति पूर्ण थी। फिर जनता को यह अधिकार नहीं रह जाता था कि वह दी हुई शक्तियों को वापिस ले। वास्तव में रोमन विचारकों ने सम्राटों के स्वेच्छाचारी शासन को न्यायसंगत ठहराने के लिए ही इस संविदा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। रोमन विचारकों ने क्रान्ति के अधिकार को स्वीकार नहीं किया था। उनका सरकारी संविदा का यह सिद्धान्त हॉब्स के मत से सादृश्य रखता था न कि लॉक के मत से। इस सिद्धान्त से स्पष्टतः यही अर्थ निकलता था कि एक बार जनता द्वारा सम्राट को प्रभु-शक्ति देने के बाद अब वह किसी के प्रति

उत्तरदायी नही रहा था। अब उसकी स्थिति कानून से ऊपर हो गई थी। वास्तव मे यह एक विचित्र और मनोरंजक विरोधाभास है कि एक ओर तो रोमन कानून सम्राट की निरकुश राजसत्ता का समर्थन करता है और उसकी इच्छा को ही कानून मानता है तथा दूसरी ओर यह भी जानता है कि सम्राट को इम्पीरियम अथवा प्रभुशक्ति जनता द्वारा मिलती है।

रोमन राजदर्शन का योगदान
(Contribution of Roman Political Thought)

यूनानी चिन्तन के विपरीत रोमन राजदर्शन मे हमे राजनीतिक चिन्तन की अनेक आधुनिक विशेषताओ की झलक मिलती है। रोमन लोगो ने इहलौकिक समृद्धि पर बल दिया और वैधानिक उपलब्धियो को अधिक प्राथमिकता दी। उन्होने व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान नही किया वरन् उसे राज्य से अलग रह कर भी अपना पूर्णत्व प्राप्त करने को प्रोत्साहित किया। राज्य को नैतिकता की दृष्टि से उन्होने उतना ऊँचा नही उठाया कि वह अयथार्थ बन जाए। इसके अतिरिक्त उन्होने राजतन्त्र, वर्गतन्त्र और जनतन्त्र की शक्तियो का एक सन्तुलित तथा सामञ्जस्यपूर्ण मिश्रण प्रस्तुत किया। शक्तियो के क्षेत्र मे उन्होने नियन्त्रण और सन्तुलन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। रोमन लोगो ने ही पहली बार राज्य और समाज मे अन्तर प्रकट किया। उन्होने विश्व को केवल कानून ही नही दिया बल्कि कानूनवाद भी दिया। वैधानिक तर्कवाद की शिक्षा देकर उन्होंने कानूनवेत्ताओ को कानून की गहराई तक पहुँचने की प्रेरणा दी। दासता की प्रथा पर भी प्रहार किया गया। कम से कम सैद्धान्तिक रूप मे दासो को मनुष्यो की श्रेणी मे मान लिया गया और उन्हे समानता का अधिकारी भी स्वीकार किया। सिसरो, पालिबियस तथा सेनेका ने स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के लोकतन्त्रीय तत्वो का प्रसार किया। इस प्रकार रोमन राजनीतिक चिन्तन मे जो कुछ प्रकट हुआ उसका अधिकांश मामूली हेर-फेर के साथ आज के राजदर्शन मे भी समाहित है।

आधुनिक लोकतान्त्रिक प्रणाली मे द्वि-सदनीय व्यवस्था बहुत कुछ रोमन सीनेट और कमेटिआ की ही नकल कही जा सकती है। प्रिन्सेप्स का पद अधिक वैधानिक रूप मे ब्रिटिश सम्राट और निर्वाचित प्रिन्सप्स अन्य देशो मे राज्य का प्रमुख माना जा सकता है। विधि-निर्माण का अधिकार लगभग सभी देशो मे दोनो सदनो को प्राप्त है और व्यवहार मे प्राथमिकता (अमेरिकन व्यवस्था को छोड़कर) लोकसभा अथवा प्रतिनिधि सदन को दी जाती है। रोमन शासन के गणतन्त्रात्मक युग मे 'कमेटिआ' का स्थान आज के प्रतिनिधि सदन जैसा ही था। जब रोम मे पुनः राजतन्त्र की स्थापना हुई तब भी सम्राट स्वयं को निर्वाचित अधिकारी और जनता का अपना अधिकारी कहलाना ही पसन्द करता रहा। इस प्रकार निरकुश होते हुए भी सम्राट ने जनता की सत्ता के प्रति असम्मान प्रकट नहीं किया और औपचारिक रूप से सीनेट द्वारा उसे सत्ता का हस्तान्तरण होता रहा। जनता को शक्ति का स्रोत स्वीकार करने की यह मान्यता बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात थी जो आधुनिक लोकतन्त्र की आधारशिला बन चुकी है।

रोमन प्रशासन के स्वरूप ने भी विरासत में बहुत कुछ छोड़ा। रोमन साम्राज्य लगभग एक हजार वर्ष से भी अधिक समय तक सम्पूर्ण यूरोप और पश्चिमी एशिया पर छाया रहा। रोमन सम्राट ने कठोर तथा व्यापक नौकरशाही-व्यवस्था द्वारा विशाल प्रशासन यन्त्र को सगठित और सक्षम बनाए रखा। जब रोमन साम्राज्य विनष्ट हो गया तब भी यह नौकरशाही परम्परा के रूप में यूरोप के राज्य में चलती रही और आज नौकरशाही का प्रशासन के क्षेत्र में जो स्थान है वह किसी से छिपा नहीं है। रोमन कानून-वेत्ताओं ने कठोर परिश्रम से कानून की जिस क्रमबद्ध और वैज्ञानिक प्रणाली का निर्माण किया उससे आधुनिक विश्व ने बहुत-कुछ सीखा और मार्ग-दर्शन प्राप्त किया है। कानून की जटिलताओं को सुलझाने के लिए रोमन विधि-शास्त्रियों के प्रयास अति मूल्यवान सिद्ध हो रहे हैं। कानून के समान ही एक सुदृढ न्याय-व्यवस्था का सगठन भी रोमन लोगों की महत्त्वपूर्ण देन है। रोम की इस देन को भुलाया नहीं जा सकता कि उसने नागरिकों को कानून के समक्ष समता (Equality before Law) का अधिकार दिया।

'इम्पीरियम का सिद्धान्त' (Theory of Imperium) भी रोमन राजनीति की एक बहुत ही आधुनिक और महत्त्वपूर्ण देन है। इसका वर्तमान नाम सम्प्रभुता का सिद्धान्त है। रोमन विचारकों ने बतलाया था कि राज्य की वास्तविक सत्ता जनता में निहित है और प्रशासक तथा न्यायाधीश सभी जनता की इस शक्ति के आधार पर ही अपने पदों पर जनता की ओर से कार्य करते हैं। रोमन विचार के यह तत्त्व आधुनिक लोकतन्त्रों में बहुत ही विकसित रूप में विद्यमान हैं।

रोम ने राज्यीय और औपनिवेशिक प्रशासन के बहुमूल्य सिद्धान्त (Principles of Colonial and Municipal Administration) प्रदान किए। साम्राज्य के अन्तर्गत प्रान्तों को पर्याप्त मात्रा में सुशासन का अधिकार दिया गया और रोम की इस व्यवस्था से आगे की पीढियों ने बहुत कुछ सीखा। पुनश्च, रोम का सार्वभौम शक्ति तथा स्टोइक-ईसाई लोगों के सब मनुष्यों के भ्रातृत्व के विचार ने आधुनिक दृष्टिकोण की नींव रखी। यह आदर्श रोम के पतन के बाद भी जीवित रहा। पुनर्जागरण में इन्हें नवजीवन मिला और फ्रेंच क्रान्ति के दिनों में बनाई गई राजनीतिक संस्थाओं में इन्हें मूर्तरूप प्राप्त हुआ।

वस्तुत रोमन साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है किन्तु रोम की देन आधुनिक विश्व-राज्यों के लिए आज भी वरदान है।

5 स्टोइक्स
(Stoics)

पाश्चात्य राजनीतिक विचारो के विकास मे एपीक्यूरियनवाद की अपेक्षा स्टोइकवाद ने अधिक महत्त्वपूर्ण योग दिया। यह विचारधारा सिनिक और एपीक्यूरियन दोनो से न केवल अधिक प्रबल सिद्ध हुई वरन् इसका प्रभाव भी सबसे बाद तक पड़ा। इसका प्रवर्तन 300 ई. पू. मे जीनो (Zeno) ने किया जो एक फोनेशियन (Phonnician) था। उसके माता-पिता मे से एक सेमिटिक (Semitic) था। सिसरो, सेनेका (Seneca), मार्कस औरिलियस (Marcus Aurelius) तथा एपिकटटिस,जैसे विचारक इस विचारधारा के समर्थक थे। इसको क्रमबद्ध रूप क्रिसिपस स्टोआ (Chrpsiypus-the Stoa) ने दिया जिसके कारण इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। स्टोइकवाद अनेक शताब्दियो तक मानव विचारो को प्रभावित करता रहा। दूसरी शताब्दी के शिक्षित रोम निवासी इससे अत्यधिक प्रभावित हुए।

जिस प्रकार एपीक्यूरियन दार्शनिको का विश्वास जीवन मे अधिकाधिक सुख एव आनन्द की प्राप्ति था, उसी प्रकार स्टोइक दार्शनिको का लक्ष्य भी आनन्द की प्राप्ति था, किन्तु इनका आनन्द और उसको प्राप्त करने की प्रक्रिया एपीक्यूरियन विचारो से भिन्न थी। स्टोइक्स दर्शन के प्रणेता जीनो के बारे मे कहा जाता है कि वह 'सिनिक' (Cynic) मण्डली के नेता क्रेटीज (Cratics) का शिष्य था। अतः स्टोइकसवाद सिनिकवाद (Cynicism) का ही एक विकसित रूप कहा जा सकता है। सिनिकवाद की मूल धारणाएँ पूर्ण आत्मसयम, प्रकृति के अनुकूल जीवन, पूर्ण आत्म-निर्भरता, परिस्थितियो से स्वतन्त्रता और स्वपर्याप्तता हैं। ये तत्व अथवा मूल धारणाएँ ही स्टोइकवाद का आरम्भ-बिन्दु भी हैं, किन्तु जहाँ सिनिकवाद के सिद्धान्त निषेधात्मक और शून्यवादी हैं वहाँ स्टोइकवाद उपरोक्त मूल धारणाओ की एक विधेयात्मक और रचनात्मक व्याख्या करता है।

स्टोइकवादी दर्शन के मुख्य विचारो को हम निम्नलिखित रूप मे प्रकट कर सकते है—

(1) प्राकृतिक विधियाँ
(Laws of Natore)

स्टोइक दार्शनिको के विचार का केन्द्र प्रकृति है। उनके लिए प्रकृति ही जीवन की अधिष्ठात्री है और यही समस्त कार्यों की प्रेरक है। स्टोइक्स के मत मे

"प्रकृति के अनुसार जीवन का आशय यह है कि जीवन को ईश्वर की इच्छा पर छोड़ दिया जाए, मानवी शक्ति से परे की एक ऐसी शक्ति पर भरोसा किया जाए जो न्यायपूर्ण है तथा मन को ऐसे रखा जाए जो ससार की श्रेष्ठता और औचित्य में विश्वास रखने मे उत्पन्न होता है।"[1] प्रकृति को सर्वोत्कृष्ट निर्देशक मानते हुए उनका कहना है कि "प्रकृति उस एक एव अविभाज्य शक्ति की प्रतीक है जो इस विश्व के प्रत्येक भौतिक पदार्थ में उपस्थित और जिसके द्वारा समस्त पदार्थ एक दूसरे से सम्बन्धित है और जिनका आधार समुचित विवेक बुद्धि है।" स्टोइक दर्शन का केन्द्र बिन्दु 'प्रकृति' उनकी उपास्य देवी है। यह उनकी समस्त कामनाओं का लक्ष्य है, उनकी समस्त क्रियाओं का स्रोत है।[2] उनकी मान्यता है कि "मानव जीवन का चरम लक्ष्य प्रकृति के साथ तदाकार हो जाना है, उसी मे अपना विलय कर देना है। प्रकृति में जीवन और विकास के सम्बन्ध में हम, जिन नियमों और विधियों का अनुसरण देखते हैं, वही मानव के भी जीवन-रक्षक हैं और यदि सर्वोत्कृष्ट जीवन को प्राप्त करना है तो 'प्रकृति' के सकेतों के अनुसार आचरण करना पड़ेगा। क्रिसिपस ने अपनी कृति 'ऑन दि लॉ' (On the Law) मे प्राकृतिक विधि का वर्णन करते हुए लिखा है—"यह विधि देवताओं और मनुष्यों दोनों के सभी कार्यों की नियामक है। क्या सम्मानीय है और क्या अधम है—इस सम्बन्ध में यह विधि ही हमारी पथ-प्रदर्शक है। यह विधि विश्व की निदेशक, सचालक और मार्ग-दर्शक शक्ति है तथा न्याय और अन्याय का मापदण्ड है। जो प्राणी प्रकृति से सामाजिक हैं उन्हें यह विधि इस बात का उपदेश देती है कि वे क्या करें और क्या न करें।"

स्टोइक दार्शनिकों की मान्यता है कि प्रकृति और कुछ नहीं है, केवल उस असीम विराट सत्ता की अभिव्यक्ति मात्र है। विवेक को प्राकृतिक नियमों से पुष्टि मिलती है अत मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उस असीम विराट सत्ता के प्रतिकूल कोई आचरण न करे। प्रकृति के नियम सुनिश्चित, सामान्य, सार्वभौम और दैवी बुद्धि पर आधारित हैं। ये अटल और अपरिवर्तनशील हैं जिन्हें मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा जान सकता है अतः मनुष्य को सदा विवेक का सहारा लेकर प्राकृतिक नियमों अथवा विधियों का पालन करना चाहिए। स्टोइक्स का विश्वास है कि प्रकृति आकस्मिक घटित होने वाली घटनाओं का जमघट नहीं है वरन् एक बुद्धिसगत व्यवस्था है जिसमें विप्लव नहीं बल्कि क्रमबद्धता है। प्रकृति में देव और मानव दोनों सम्मिलित हैं। इस पर दैविक बुद्धि शासन करती है। 'प्रकृति' सार्वभौमिक कानून का साकार रूप है। 'प्रकृति' के अनुकूल जीवन का अर्थ है—बुद्धि के अनुसार जीवन। चूंकि बुद्धि कानूनों के अनुसार कार्य करती है अत- प्रकृति के अनुसार जीवनयापन का स्पष्ट अर्थ हुआ—कानून के अनुसार जीवन। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपना जीवन प्राकृतिक नियमों के अनुसार बिताए। "प्रकृति सर्वोच्च

1 मदाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 137.
2 *Phyllis Doyle op cit. p. 41.*

सार्वभौम कानून का मूर्त रूप है तथा आदर्श जीवन इस सार्वभौम कानून का अनुसरण करता है।"

(2) सार्वभौम विश्व जनित राज्य का सिद्धान्त अथवा सार्वदेशिकता या विश्व नागरिकता (World State or Cosmopolitanism)

स्टोइक दर्शन का दूसरा प्रमुख विचार सार्वदेशिकता अथवा विश्व नागरिकता का था। सर्वप्रथम सिनिक दार्शनिको ने कहा था कि वे किसी नगर विशेष के नागरिक न होकर विश्व के नागरिक हैं, लेकिन तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में यह विचार पनप नही सका। बाद मे मैसिडोन और रोम का साम्राज्य स्थापित होने पर राजनीतिक परिस्थितियाँ विश्व नागरिकता के विचार के अनुकूल हो गई इसलिए जब स्टोइक दर्शन के जन्मदाता जीनो ने विश्व नागरिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो यह बडा लोकप्रिय हुआ। डनिंग (Dunning) के अनुसार "जब यूनानी और बर्बर जातियो को पृथक् करने वाली दीवार टूट गई, एथेन्स, थ्रेस, एशिया और मिस्र मे रहने वाले व्यक्ति वस्तुतः एक राजनीतिक पद्धति के सदस्य बन गए तो विश्व की नागरिकता का विचार चिन्तनशील मनुष्यों के लिए ग्राह्य हो गया।"[1]

स्टोइक दार्शनिको का विचार था कि "मानव-मानव मे कोई अन्तर नही है अर्थात् मानव प्रवृत्ति मे समानता है। बुद्धि सार्वभौमिक है अर्थात् एक ही बुद्धि सर्वत्र व्याप्त है और उसका प्रत्येक वस्तु पर नियन्त्रण है। स्पष्ट है स्टोइक विचारक सम्पूर्ण विश्व पर एक ही सार्वभौम सत्ता का शासन मानते हुए इस परिभाषा पर पहुँचे कि विभिन्न जातियो और राष्ट्रीयताओ के होते हुए भी मनुष्य समान है, अत उन्हे पृथक्-पृथक् राज्यो मे रहना छोड़कर एक ही प्रभु के शासन का अग बनना चाहिए।'

सेबाइन महोदय के अनुसार स्टोइक लोगों का विचार था कि "ससार के समस्त प्राणियो मे अकेला मनुष्य ही सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकता है। उसके लिए सामाजिक जीवन आवश्यक भी है। मनुष्य ईश्वर के पुत्र हैं, अत वे एक दूसरे के भाई हैं। स्टोइकस की दृष्टि मे ईश्वर मे विश्वास रखने का अर्थ सामाजिक प्रयोजनो मे और इस बात मे कि मनुष्य का इन सामाजिक प्रयोजनो के प्रति कुछ कर्त्तव्य है, विश्वास रखना है। इस विश्वास ने स्टोइकवाद को एक नैतिक और सामाजिक शक्ति बना दिया है।"[2] स्टोइक्स के इन विचारो का विश्लेषण करते हुए सेबाइन ने आगे लिखा है कि "स्टोइक्स के अनुसार एक विश्व-राज्य है। ईश्वर और व्यक्ति दोनो ही इसके नागरिक है। इसका एक सविधान है जो उचित विवेक है। यह व्यक्ति को इस बात की शिक्षा देता है कि क्या करना चाहिए और क्या नही। उचित विवेक प्राकृतिक कानून है और वह हर जगह उचित तथा न्यायपूर्ण;

1 *Dunning* : A History of Political Theory, ■ 104-105
2 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृ 137

उसके सिद्धान्त अपरिवर्तनशील हैं। वह सब मनुष्यों, शासकों और शासितों पर समान रूप से लागू होता है।

स्टोइक्स का मत था कि प्राकृतिक कानून का पालन करने का भाव सब व्यक्तियों को एक महान् समाज में संगठित करता है। उन्हें उन सभी लोगों को एक विश्व-नगर राज्य का सदस्य मानना चाहिए जिनका एक ही जीवन मार्ग है और एक ही व्यवस्था है। स्टोइक्स ने यूनानी और बर्बर, कुलीन और जनसाधारण, दास और स्वतन्त्र, अमीर और गरीब सबको समान बतलाया और उनकी सार्वदेशिकता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त द्वारा उन्होंने व्यक्ति को नगर-राज्य की संकीर्ण सीमाओं से ऊँचा उठा कर विश्व-नागरिक बना दिया। स्टोइकवाद ने न केवल व्यक्तियों के बीच सामाजिक भेद-भावों को कम किया बल्कि राज्यों के बीच एकता का विकास किया।

(3) मानव-स्वभाव
(Human Nature)

मानव-स्वभाव के बारे में स्टोइक्स का विचार था कि मानवता को यदि सामूहिक रूप में देखा जाए तो ऐसा प्रतीत होगा कि वह अदूरदर्शी, स्वार्थी और वासनाओं की दास है। पर यदि मानव स्वभाव का व्यक्ति के अनुरूप विश्लेषण किया जाए तो अन्तिम तत्त्व यही निकलेगा कि वह स्वहिताकांक्षी है, वह अपनी भलाई का इच्छुक है तथा वह अपना स्वार्थ पूरा करना चाहता है। स्टोइक यह मानते थे कि मानव-स्वभाव स्वतः दुष्ट है क्योंकि वह अपनी वासनाओं की पूर्ति में लगा रहता है।

स्टोइक विचारों का यह भी कहना था कि मनुष्य को व्यक्तिगत आनन्द और अपनी सुख-लालसा की पूर्ति के लिए समाज से सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए। वस्तुतः स्टोइक दार्शनिकों का धर्म व्यक्ति का धर्म है, समाज या लोक धर्म नहीं। वे व्यक्तियों को श्रेष्ठतर स्थिति में पहुँचा कर उसके स्वभाव को समाज की समस्त गतिविधियों के प्रति तटस्थ बनाना चाहते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति ही इकाई है और उसका स्वभाव अपनी मंगल-कामना का है। अपनी हित कामना के इस स्वभाव से प्रेरित होने के कारण ही मनुष्य स्वयं ही समाज में अपने व्यक्तिगत विकास तथा उन्नति की ओर अधिक ध्यान देता है।

समाज और राज्य के प्रति व्यक्ति के सम्बन्धों का विवेचन करते हुए स्टोइक दार्शनिकों ने बताया कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता यद्यपि आवश्यक है किन्तु फिर भी व्यक्ति समाज से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए उस समाज को और कालान्तर में राज्यों को भी एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

स्टोइक दर्शन की आलोचना

स्टोइक दर्शन की अनेक आधारों पर कटु आलोचना की गई है। कार्नेडीज (Carneades) के अनुसार यह दर्शन अप्राकृतिक और अमानवीय है क्योंकि उसकी असम्भव है। मनुष्य में भावुकता और इच्छा-पूर्ति की लालसा एक ऐसी

भूख होती है जिसकी तृप्ति स्टोइक दार्शनिकों की काल्पनिक चरित्र-निष्ठा और आत्म-सयम मे सम्भव नही है। कार्नेडीज की दूसरी आलोचना के अनुसार स्टोइक दर्शन द्वारा प्रतिपादित सार्वभौमिक विधि स्वय मे एक कल्पना के सिवाय और कुछ नही। इस भौतिकवादी जगत् मे व्यक्ति के विश्वासो और कार्यों मे बड़ा अन्तर है। न्याय व्यक्ति के स्वार्थपूर्ण कार्यों की एक 'सम्मानित उपाधि' है। यदि इस ससार मे प्राकृतिक न्याय होता तो हमें न्याय और अन्याय म इतना बडा अन्तर नही दिखाई देता।

प्रो. सेबाइन के मतानुसार स्टोइक दर्शन राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त की भूमिका तैयार करने वाला सिद्ध हुआ। रोमन युग के स्टोइक विचारको ने मूल दर्शन म सशोधन करके रोमन साम्राज्य के प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया और अन्ततोगत्वा सम्राट पूजा (Worship of Emperors) को स्टोइक दर्शन मे शामिल किया जाने लगा। लोगो की एकता राजा द्वारा सम्भव मानी जाने लगी। स्टोइक विचारको ने राजा की शक्ति को दैविक शक्ति की सज्ञा दी, अत धरती पर राजा को इस शक्ति का प्रतिनिधि स्वीकार किया जाने लगा और शनैः-शनैः राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त ने जोर पकड लिया। प्रो. सेबाइन का यह भी आरोप है कि स्टोइक दर्शन बहुत ही अस्पष्ट है क्योकि कभी तो वह विरक्त जीवन का उपदश देता है और कभी अत्यन्त क्रियाशील जीवन का निर्माण करना चाहता है। हम यह स्पष्ट नही कर पाते कि स्टोइक दार्शनिक साधुवाद चाहते हैं या कर्म की प्रधानता के इच्छुक हैं। इतना ही नहीं स्टोइक विचारधारा मे सिनिक दर्शन की अपूर्णताओं का भी मेल है।

प्रो. डनिंग ने प्रारम्भिक स्टोइक दर्शन (The Early Stoicism) को अव्यावहारिक और निरर्थक बतलाया है जिन्ह प्लेटो के रिपब्लिक के अनुसार ही कल्पनाओं का ससार बसा है। उसका विश्व-नागरिकता का विचार केवल एक पाखण्ड है। डनिंग ने यह भी कहा है कि स्टोइक दर्शन का सार्वभौमिकतावाद (Cosmopolitism) वर्ग तान्त्रिक है। विश्व नागरिकता के सिद्धान्त मे भौतिक शक्ति क विरुद्ध एक बौद्धिक प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है।[1]

प्रो. टायनबी (Toynbee) के मत मे स्टोइक दर्शन वास्तव मे असफल रहा क्योकि जीवन के प्रति उसमें कोई उत्साह नही था।

यद्यपि स्टोइक दर्शन की उपर्युक्त सभी आलोचनाएँ तथ्यपूर्ण हैं तथापि इस बात की उपेक्षा नही करनी चाहिए कि स्टोइक दर्शन भारतीय दर्शन के सन्निकट है जो अनुभवगम्य है तथा आनुभूतिक होने के कारण व्यक्तिगत है जबकि पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार जिस तत्त्व मे सुखवाद अथवा बहुमतवाद न हो वह अप्राकृतिक है। स्टोइक दर्शन वस्तुतः आध्यात्मिक दर्शन था जिसका लक्ष्य राजनीतिक नहीं वरन् आनन्दमय जीवन की प्राप्ति था। चूंकि किसी भी दर्शन का प्रसार बिना राजकीय

संरक्षण के सम्भव नहीं हो पाता, अत स्टोइक विचारकों ने भी रोमन साम्राज्य का सहारा लिया और तत्कालीन राजनीति से लाभ उठाने की चेष्टा की। यदि इस वस्तु स्थिति को ध्यान में रखा जाए तो स्टोइक दर्शन की आलोचना कुछ शिथिल अवश्य पड़ जाएगी।

स्टोइक दर्शन का प्रभाव

जो भी आलोचना की जाए, हम इससे इन्कार नहीं कर सकते कि स्टोइक दर्शन ने कतिपय क्षेत्रों में अपनी विशेष छाप छोड़ी। इस बात से समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व के आदर्शों को बल मिला तथा प्राकृतिक नियम के स्पष्ट विचार सामने आए। बुद्धि, न्याय और प्राकृतिक नियम पर स्टोइक विचारकों ने पर्याप्त बल दिया। उन्होंने मानव-प्रकृति को सुधारने तथा उसका विकास करने में काफी सहयोग दिया। सार्वभौमिक प्राकृतिक कानून, सार्वदेशिकता, मानव की प्रकृति समानता, सार्वभौमिक नागरिकता आदि के आदर्शों का प्रतिपादन करके इस विचारधारा ने परवर्ती दार्शनिकों को बड़ा प्रभावित किया। इस दर्शन का प्रभाव प्राचीन यूरोप के उन लोगों पर पड़ा जिनके हाथ में शासन शक्ति थी। ऑन बाउल के शब्दों में "इसने कर्त्तव्य-निष्ठा की भावना को बढ़ाकर उस अनुपात में राजनीति पर प्रत्यक्ष प्रभाव डाला जिसने कितने ही रोमन प्रशासकों के नैतिक उत्साह को बढ़ाया तथा रोमन कानून की आत्मा को ऊँचा उठाया। सिसरो जैसा रोमन दार्शनिक इस सिद्धान्त से विशेष रूप से प्रभावित हुआ। पाल और उल्पियन (रोमन साम्राज्य के प्रधान विधिशास्त्री) ने प्राकृतिक कानून तथा सब मनुष्यों के साथ समान रूप से न्याय करने के सिद्धान्तों को मूर्त रूप दिया।" इसी प्रकार डनिंग के शब्दों में "ईसाईयत ने रोमन साम्राज्य में सिद्धान्त और व्यवहार की दृष्टि से स्वीकार किए जाने वाले इन विचारों को ग्रहण किया और गम्भीरतम परिणामों के साथ इन्हें वर्तमान युग को प्रदान किया।"

राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में यूनान की देन
(Contribution of the Greeks to Political Thoughts)

(1) **स्वतन्त्रता का विचार**—यूनानियों को स्वतन्त्रता से बड़ा प्यार था। जब ससार पारसियों के शोषण से दबा हुआ था तब भी मुट्ठी भर यूनानियों ने ससार के सामने स्वतन्त्रता का आदर्श प्रस्तुत किया और स्वशासन की संस्थाओं को जीवित रखा। प्रत्येक यूनानी का आग्रह था कि नगर-राज्य की स्वतन्त्रता और नगर-राज्य के भीतर स्वय की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे। एथेन्सवासियों को इस बात का गर्व था कि उनका कोई राजा या स्वामी नहीं है लेकिन गौरवमय होते हुए भी यूनानियों की स्वतन्त्रता की यह भावना दोषरहित नहीं थी। यह इतनी उग्र थी कि प्रत्येक नगर-राज्य की 'अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग' की स्थिति थी। अपने इस अनियन्त्रित स्वातन्त्र्य प्रेम के कारण यूनानी परस्पर सगठित न रह सके और उन्हें पराधीन हो जाना पड़ा। यूनानियों की स्वतन्त्रता आवश्यकता से अधिक उग्र होने के साथ ही संकीर्ण भी थी। एथेन्स भी जो कि एक सर्वश्रेष्ठ नगर-राज्य था, दासों

से भरा हुआ था। राज्य के अल्पसंख्यक वर्ग को ही स्वतन्त्रता प्राप्त थी। बहुसंख्यक दास और विदेशी व्यापारी इससे वंचित थे। स्त्रियों को तथा अधीन नगर-राज्यों को स्वतन्त्रता नहीं थी। एथेन्स के पराभव का यह भी मुख्य कारण था कि वह दूसरे नगर-राज्यों का निरंकुश शासक बनना चाहता था। इस तरह गेटेल के शब्दों में यह कहना उचित होगा कि "यूनान ने वर्तमान जगत को स्वतन्त्रता का विचार मात्र ही प्रदान किया है।"[1]

(2) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता—यूनानियों की दूसरी देन विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है जिसे एथेन्स ने सदा ही प्रोत्साहन दिया। सुकरात ने अपना बलिदान देकर भी इस अधिकार का समर्थन किया और यह शिक्षा दी कि व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा के अनुसार स्वतन्त्र विचार रखने एवं तदनुसार आचरण करने का अधिकार है।

(3) समानता—यूनान की स्टोइक विचारधारा ने मनुष्यों की समानता और समान अधिकारों पर बल दिया। स्टोइक दार्शनिकों ने प्राकृतिक नियम तथा विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्तों का पोषण किया। समानता के इस विचार को लेकर ही भविष्य में रूसो और अन्य दार्शनिकों ने समानता के अधिकार को विशेष महत्व दिया जो वर्तमान राजदर्शन का भी यह एक प्रमुख लोकतान्त्रिक तत्त्व है।

(4) कानून की सर्वोच्चता—यूनानी कानून का बहुत अधिक सम्मान करते थे। प्लेटो ने 'लॉज' में और अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' में कानून की सर्वोच्चता का पाठ पढ़ाया। प्लेटो ने अपने दार्शनिक सम्राट के दूसरे नम्बर पर राज्य के कानूनों को स्थान दिया। अरस्तू ने मानव प्रभुता के ऊपर कानून की प्रभुता को रखा। वास्तव में कानून ही यूनानी नगर-राज्य के ढाँचे को जमाने वाला सीमेण्ट रहा। सुकरात ने कानून की रक्षा के लिए ही हँसते-हँसते जीवन की बलि दे दी। आज भी विश्व के सभी सभ्य राज्यों में कानून की सर्वोच्चता की यूनानी परम्परा को सुनिश्चित मान्यता दी गई है।

(5) लोकतन्त्र का विचार—यूनान के नगर-राज्यों में उनकी भौगोलिक स्थिति और जनसंख्या के कारण प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय प्रणाली प्रचलित थी। पाश्चात्य जगत लोकतन्त्र के इस दान के लिए यूनानियों का ऋणी है। यूनानियों का यह विश्वास आज भी मान्य है कि राज्य के कार्यों में प्रत्येक व्यक्ति को भाग लेना चाहिए।

(6) नीतिशास्त्र और राजनीति का सुन्दर मिश्रण—यूनानियों की छठी महत्त्वपूर्ण देन राजनीति और नीतिशास्त्र का समन्वय है। प्लेटो न्याय और नैतिकता के उच्च आदर्शों में विश्वास रखता था। अरस्तू भी जीवन को पूर्ण बनाना ही राज्य का लक्ष्य मानता था। इन दोनों ही महान् दार्शनिकों ने नीतिशास्त्र और राजनीति के गठबन्धन द्वारा राज्य को आध्यात्मिकता के उच्च स्तर पर लाने का प्रयत्न किया। आज भी राज्य के अधिकाधिक व्यक्तियों के कल्याण सम्बन्धी सिद्धान्त निरन्तर प्रमुखता पाते जा रहे हैं।

1 *Gettel* : A History of Political Thought, p. 61.

(7) देशभक्ति—नगर-राज्यों के प्रति अपने अगाध प्रेम द्वारा यूनानियों ने देशभक्ति के आदर्श का प्रसार किया। उन्होंने राज्य को अत्यधिक महत्त्व दिया। इस अभाव में व्यक्ति के जीवन की कल्पना ही इनके लिए कठिन थी। आज भी राज्य का यह सर्वस्पर्शी स्वरूप हमारे समक्ष दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है।

(8) राज्य और व्यक्ति की एकता—यूनानियों ने राज्य और व्यक्ति की एकता तथा राज्य के जैविक सिद्धान्त (Organic Theory) का प्रतिपादन किया। प्लेटो एवं अरस्तू दोनों ने बड़े बलशाली ढंग से यह बताया कि राज्य व्यक्ति का विराट रूप है और इन दोनों के हितों में किसी प्रकार का भेद नहीं हो सकता। अरस्तू ने यह घोषणा की कि यदि कोई व्यक्ति राज्य के बिना रहता है तो वह या तो देवता होगा या पशु। यूनानी विचारकों की राज्य और व्यक्ति की एकता की यही धारणा आधुनिक फासिस्टों और आदर्शवादियों ने स्वीकार की है।

(9) मध्यवर्ती मार्ग का विचार (Theory of Golden Means)—यूनानी दार्शनिकों ने मध्यवर्ती मार्ग का बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादन किया। प्लेटो और अरस्तू ने इस सत्य को बारम्बार दोहराया कि सम्पत्ति की अत्यधिक असमानता अकल्याणकारी है तथा अति सम्पन्न और अति विपन्न व्यक्तियों वाला राज्य शान्त एवं स्थिर नहीं रह सकता। यह क्रान्तियों को जन्म देता है। यूनानियों की यह धारणा आज भी जितनी सत्य और स्पष्ट है, उसे लिखने की आवश्यकता नहीं। इसके अतिरिक्त प्लेटो और अरस्तू का मिश्रित संविधान का सिद्धान्त भी आधुनिक विश्व को एक महत्त्वपूर्ण देन है।

स्पष्ट है कि यूनानी राजदर्शन की आधुनिक चिन्तन को अनेक बहुमूल्य देन हैं। प्लेटो और अरस्तू जैसे यूनानी दार्शनिक जितने आधुनिक अपने समय में थे, उतने ही आधुनिक आज भी हैं और कल भी रहेंगे।

6 ईसाई सिद्धान्त : सन्त ऑगस्टाइन एवं अन्य

(The Christian Doctrine : St. Augustine and Others)

ईसाई धर्म का अभ्युदय और विकास
(The Rise and Growth of Christianity)

पश्चिमी यूरोप के इतिहास मे, राजनीति और राजनीतिक दर्शन दोनो की दृष्टियो से, ईसाई धर्म का अभ्युदय सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस धर्म का अभ्युदय रोम साम्राज्य मे हुआ था। रोमन सम्राट ऑगस्टस (29 ई पू से 14 ई तक) के समय, जब रोमन साम्राज्य चरम उत्कर्ष पर था, रोमन प्रान्त पैलेस्टाइन के यहूदियो मे 4 ई पू. मे महात्मा ईसा का जन्म हुआ। 30 वर्ष की अल्प अवस्था मे ही महात्मा ईसा ने तत्कालीन यहूदी धर्म मे प्रचलित बुराइयो को दूर करने के लिए विभिन्न प्रदेशो मे घूमते हुए प्रचार प्रारम्भ किया। इस प्रचार से क्षुब्ध होकर यहूदियो ने उन्हे पकडवा कर रोमन राज्यपाल पाइलेट के सामने प्रस्तुत किया। राजद्रोह का अभियोग लगा। 29 ई. मे इस महात्मा को जेरुसलेम की एक पहाडी पर सूली पर चढा दिया गया। महात्मा ईसा के बलिदान ने सुधार आन्दोलन मे नए प्राण फूंक दिए। ईसा के 12 शिष्यो (Apostles) ने अपने गुरु की शिक्षाओ का प्रचार जारी रखा और रोमन साम्राज्य के पतन के साथ-साथ ईसाई धर्म का अभ्युदय तेजी से होने लगा।

ईसाई धर्म का ध्वज फहराने मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य टारसन निवासी सन्त पॉल (लगभग 16–64 ई.) ने किया। सन्त पॉल पहले यहूदी थे और ईसाइयत के घोर विरोधी थे। किंवदन्ती के अनुसार एक बार दमिश्क के पास दोपहर के समय उन्हें आकाश में अत्यन्त तीव्र दिव्य प्रकाश मे महात्मा ईसा के दर्शन हुए और यह आकाशवाणी सुनाई दी कि ईसाई धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है अतः उसे सब जातियो और देशों मे फैलाया जाए। सन्त पॉल ने अब यह मानते हुए कि ईसाई धर्म से ही विश्व का कल्याण हो सकता है, अपने साथियो के साथ 20 वर्ष तक रोमन साम्राज्य के विभिन्न भागों मे इस धर्म का प्रसार किया। सन्त पॉल ने कहा कि ईसा की दृष्टि मे सब व्यक्ति समान हैं। उन्होने विभिन्न स्थानो पर चर्च स्थापित किए और

इनका एक सुदृढ़ संगठन बनाया। उनके अथक् प्रयत्नों के फलस्वरूप ईसाई धर्म बड़ा व्यापक हो गया। रोमन साम्राज्य की परिस्थितियों ने ईसाई धर्म के प्रसार में काफी सहायता दी। एक तरफ तो साम्राज्य भर में फैली सड़कों ने ईसाई प्रचारकों को सर्वत्र आने-जाने की सुविधापूर्ण परिस्थितियाँ प्रदान कीं और दूसरी तरफ रोम के पुराने प्रतिमापूजक धर्म (Paganism) के वाह्य आडम्बर और कर्म काण्ड ने सामान्य जनता को सरल एवं सुबोध ईसाई मत की ओर आकर्षित किया। रोमन शासन के करों से लदी और आर्थिक पीड़ा से ग्रस्त जनता के लिए यह सम्भव न था कि ईसाई धर्म जैसे सुन्दर, स्पष्ट और समानता के पोषक धर्म को सामने पाकर भी वह व्यय-साध्य और आडम्बरप्रधान उपासनाओं से चिपकी रहती। ईसाई धर्म के सरल और सुगम सिद्धान्तों ने दलित तथा निम्न वर्गीय समाज में नवीन आशा का संचार किया। यह समाज बड़ी तेजी से इस धर्म को स्वीकार करने लगा। चौथी शताब्दी में बहुत बड़ी संख्या में रोमन सैनिकों ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया और उन्होंने सम्राट की उपासना करने से इन्कार कर दिया। इस जटिल राजनीतिक समस्या और संकट से उबरने के लिए विवश होकर सम्राट कांस्टेंटाइन (Constantine) ने नवीन धर्म (ईसाई धर्म) को स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार राजनीतिक कारणों से दबकर 380 ई. में रोम सम्राट थियोडोसिस (Thiodosis) ने ईसाइयत को साम्राज्य का एक मात्र कानून-निहित धर्म घोषित कर दिया। इस तरह ईसाई धर्म ने अन्य धर्मों एवं सम्प्रदायों को हराकर अपनी विजय-पताका फहरा दी तथा भविष्य में महान् शक्ति और सम्मान पाने का मार्ग प्रशस्त कर लिया।

ईसाई धर्म की इस अनुपम सफलता के मूल में प्रसिद्ध ऐतिहासिक गिब्बन (Gibbon) के अनुसार मुख्यतः ये कारण थे[1]—(1) ईसाई प्रचारकों का अदम्य उत्साह, (2) भावी जीवन का सिद्धान्त, (3) चर्च के आरम्भ के व्यक्तियों की चमत्कारपूर्ण शक्तियाँ, (4) ईसाइयों का सुन्दर एवं पवित्र आचरण, तथा (5) ईसाइयों की एकता, अनुशासन और चर्च का मजबूत संगठन।

ईसाइयत की विजय के परिणाम
(The Effects of Triumph of Christianity)

ईसाई धर्म द्वारा अन्य प्रतिद्वन्दी धर्मों को पराजित कर देना और साम्राज्य का एकमात्र राजकीय धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो जाना वास्तव में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी। ईसाई धर्म की इस ऐतिहासिक विजय के बड़े दूरगामी परिणाम हुए। इसने साम्राज्य तथा स्वयं ईसाई धर्म में गम्भीर परिवर्तन किए।

(1) **ईसाई धर्म में जटिलता और कट्टरता आ जाना**—ईसाई धर्म अपने अभ्युदय काल में जितना सरल और पवित्र था अब वैसा नहीं रहा, उसमें जटिलता और कट्टरता आ गई। राजकीय धर्म के रूप में अपना लिए जाने पर ईसाई धर्म को मानना एक फैशन हो गया, पर लोगों का यह धर्म-परिवर्तन केवल बाहरी था।

1 *Gibben* : Decline and Fall of Roman Empire, Chapter 15.

उन्होने ईसाई धर्म को इसलिए ग्रहण किया था क्योंकि उसे राजनीतिक संरक्षण प्राप्त था। इस तरह उनका धर्म-परिवर्तन किसी हृदय-परिवर्तन का परिणाम नही था और उनमे ईसाई धार्मिक सिद्धान्तो के प्रति कट्टर निष्ठा या तो थी ही नही या इसका बहुत कम प्रभाव था। उनके मन और मस्तिष्क मे प्रधानत. गैर-ईसाई विचार और व्यवहार घर किए हुए थे जिससे ईसाई धर्म की मौलिक सरलता और पवित्रता को प्रबल आघात लगा। अब व्यवहार मे ईसाई धर्म का वह स्वरूप नही रहा जो ईसा और उनके शिष्यो ने जनता के सामने प्रस्तुत किया था। विजय उस ईसाई धर्म की नही हुई जिसका प्रसार ईसा तथा उनके शिष्यो ने किया था, बल्कि उस ईसाई चर्च की हुई जो मैक्सी (Maxey) के शब्दो मे—"एक भानुमती का कुनबा था जिसमे ईसाइयत के कुछ शेष तत्त्व उन सभी गैर-ईसाई धर्मों मे से उधार ली हुई बातों के साथ मिले हुए थे जिन्हे इसने पराभूत कर दिया था।"

(2) **ईसाई धर्म का एक धार्मिक–राजनीतिक शक्ति बन जाना**—ईसाई धर्म अब एक व्यापक धार्मिक आन्दोलन न रह कर एक धार्मिक-राजनीतिक शक्ति बन गया। जब यह राज्य-धर्म बन गया तो अनेक परिस्थितियो ने इसके विचारों और संगठन अर्थात् ईसाई मठो (Christian Churchs) को शक्ति प्रदान की। रोम के मठ न केवल ईसाई धर्म के प्रणेता रहे बल्कि उनका संगठन भी रोमन साम्राज्य के राजनीतिक संगठन से साम्य रखने लगा क्योंकि रोम के राजनीतिक संगठन व इन मठो के संगठन का आधार प्रजातान्त्रिक ही था। इन मठो के प्रधान और राजनीतिक संस्थाओ के प्रधान का चुनाव बहुमत द्वारा होता था।

राजकीय धर्म बन जाने पर मठो अथवा चर्चों का सम्मान बढ गया। राज्य मे प्रवेश करने के उपरान्त चर्च केवल धार्मिक परिधि तक ही सीमित न रहा बल्कि राजनीति के सभी मामलो मे हस्तक्षेप करने लगा। इसका कारण यह था कि राज्य के उत्तराधिकारी निर्बल एवं शक्तिहीन शासक थे जबकि इन मठो के नेता योग्य थे। राजनीतिक सत्ता की दुर्बलता का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि धार्मिक नेता सत्ता पर अधिकार की चेष्टा करने लगे। चर्च राज्य का एक विभाग बन गया और उसके प्रमुख सदस्य अर्थात् बिशपगण सरकार के माने हुए अधिकारी बन गए। चर्च के ये अधिकारी अधिकाधिक मात्रा मे राजनीतिक शक्ति को अपनाने लगे। सामन्त प्रणाली (Feudal System) मे भूमिपति होने के नाते बिशप, एबट एवं न्याय पादरीगण राज्य के सेवक बन गए। चर्चों ने विशाल सम्पत्ति प्राप्त कर ली। पादरी लोग तत्कालीन राजनीति के तूफान मे इतना फँस गए कि साम्राज्य के उत्तराधिकारी के प्रश्न उठ खड़े होने पर वे शाही चुनाव के षड्यन्त्रों और दावपेचों से भी अछूते नही रहे। अब राजसत्ता के साथ-साथ बल्कि उससे भी बढ कर ईसाई चर्च ही रोमन विचारो का प्रतिनिधित्व करने लगे। इस तरह ईसाई मत का स्वरूप धार्मिक आन्दोलन का नही रहा बल्कि उसमे धार्मिक और राजनीतिक शक्तियो का समन्वय हो गया।

(3) रोम के पोप की सत्ता अथवा पोपशाही (Popacy) का विकास—ईसाइयत के राजधर्म बनने से रोम के पोप की सत्ता का तेजी से विकास होने लगा। पहले ईसाई चर्च का सगठन स्थानीय एवं लोकतन्त्रात्मक था। उसमे ऐसी कोई केन्द्रीय शक्ति नहीं थी जो स्थानीय एवं प्रान्तीय शाखाओं पर नियन्त्रण रखती। रोमन साम्राज्य के सभी बड़े शहरों मे चर्च स्थापित थे जिनके विशपों को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। नगर मे चर्च के विशप का प्रान्तीय विशपो पर अवश्य कुछ नियन्त्रण था किन्तु स्वय नगरीय विशपो मे सभी का दर्जा लगभग बराबर-सा था, अर्थात् कोई एक-दूसरे के अधीन न था।

ईसाइयत के राजधर्म बन जाने पर चर्च के स्वरूप मे बड़ा अन्तर आने लगा। अब रोम का विशप सम्राट के धार्मिक सलाहकार के रूप मे कार्य करने लगा। साथ ही सम्राट के वैधानिक सलाहकार के रूप मे भी उसका सम्मान बढ़ने लगा। वही ऐसा माध्यम बन गया जहाँ से सभी प्रकार के धर्म एव चर्च सम्बन्धी मामले सम्राट के पास सुनवाई के लिए जाते थे। लोगो के इस विश्वास से भी कि रोम के चर्च की स्थापना महात्मा ईसा के प्रमुख शिष्य संत पीटर द्वारा हुई थी, रोम के चर्च का आदर अन्य चर्चों से अधिक होने लगा और उसका बिशप ईसामसीह का साक्षात उत्तराधिकारी समझा जाने लगा। चौथी शताब्दी में एक कौंसिल बुलाई गई जिसने निश्चय किया कि विशप सम्बन्धी विवादो मे न्याय की सुनवाई का सर्वोच्च अधिकारी रोम का बिशप होगा। 5वी शताब्दी मे रोम के पोप की प्रभुता मे और भी वृद्धि हुई। पश्चिम के रोमन सम्राट वेलेनटाइनियन अथवा वेलेन्शियन तृतीय (425–455 ई) ने रोम के विशप को चर्च का सर्वोच्च अधिकारी बना दिया और यह घोषणा की कि रोम का विशप अन्य विशपो के ऊपर है। अब रोम का विशप साम्राज्य के सभी भागो से आने वाले धार्मिक विवादो की अपीलें सुनने वाले सर्वोच्च कानूनी न्यायालय के कर्त्तव्य निभाने लगे। इस प्रकार उसे एक बडी सीमा तक अन्य विशपो पर प्रभुता प्राप्त हो गई। रोम ईसाई धर्म का केन्द्रीय स्थान बन गया। चर्च का सगठन पहले लोकतन्त्रात्मक था किन्तु अब केन्द्रीयकरण की दिशा मे तेजी से बढने लगा।

कालान्तर मे रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम से हटकर कुस्तुन्तुनियाँ (Constantinople) जा पहुँची। तदनन्तर रोमन साम्राज्य दो भागों में बँट गया। पूर्वी भाग की राजधानी कुस्तुन्तुनियाँ बनी। पश्चिमी भाग का केन्द्रीय स्थान रोम बना रहा। ईसाइयत को राजधर्म बनाने वाले कॉन्सटेन्टाइन के शासन से 476 ई तक पश्चिम में रोमन साम्राज्य के पतन तक के लगभग 150 वर्षों मे अनेक कारणों से रोम के विशप की प्रभुता बढती रही। बर्बर जातियो के आक्रमणो का प्रतिरोध करने मे दुर्बल और अयोग्य रोमन सम्राटो की अपेक्षा इन्नोसेंट प्रथम (402–417 ई) एव लिओ प्रथम (440–461 ई.) जैसे पोपो ने विलक्षण योग्यता और साम[illegible] का परिचय दिया। पोप लिओ प्रथम का हूणो पर अच्छा प्रभाव था। [illegible] ही 452 ई मे हूण नेता एटिला (Attila) ने रोम की शाश्वत

नगरी (Eternal City) को अपने आक्रमणों से अछूता रखा और केवल इटली में विनाश का तांडव मचा कर वापस हूणरी लौट गया। इससे सारे सभ्य जगत पर पोप का प्रभाव छा गया। इसके अतिरिक्त रोमन चर्च ने संत एम्ब्रोज, जेरोम और ऑगस्टाइन जैसे योग्य और विलक्षण महापुरुषों को जन्म दिया। एम्ब्रोज ने अनेक बार सम्राट के आदेशों का सफल प्रतिरोध करके, जेरोम ने ईसाई भिक्षुओं के आदर्श नियमों को स्थापित करके और ऑगस्टाइन ने 'ईश्वर की नगरी' (City of God) में चर्च की सर्वोच्च सत्ता का प्रतिपादन करके पोपशाही को अधिक प्रभाव-सम्पन्न बनाया। 476 ई. में सम्राट ऑगस्टस (Augustus) के गद्दी से उतारे जाने के बाद रोम का पश्चिमी साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और रोम के बिशप की प्रभुता में बहुत वृद्धि होने लगी। इस समय पश्चिम के बर्बर राज्यों में वही एकमात्र सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक रह गया। रोमन साम्राज्य का राजधानी कुस्तुन्तुनियाँ से बहुत दूर होने के कारण रोम का बिशप नगर में सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकारी रह गया। फलस्वरूप उसे अपनी स्वतन्त्र सत्ता विकसित करने का स्वर्ण अवसर मिला। अन्ततः पूर्वी चर्च और पश्चिमी चर्च (जो क्रमशः यूनानी कैथोलिक चर्च और रोमन कैथोलिक चर्च के नाम से विख्यात हुए) एक-दूसरे से पृथक् हो गए जिसमें रोमन बिशप पश्चिमी चर्च का सर्वेसर्वा हो गया। इस तरह पोपशाही का जन्म हुआ। 6ठी शताब्दी में इटली पर लम्बार्ड जाति के आक्रमण में इटली की रक्षा करने में सम्राट के असमर्थ होने पर पोप ग्रेगरी प्रथम (590–604 ई.) ने सम्राट की ओर से लम्बार्डों के साथ समझौता किया। इसी समय से पहले रोम का और बाद में इटली का राजनीतिक प्रभुत्व वस्तुतः पोपों के हाथ में आ गया। धार्मिक क्षेत्र में पोपशाही के एक स्वाधीन धार्मिक संस्था के रूप में प्रतिष्ठित होने में अधिकांश पूर्वी सम्राटों की असमर्थता ने बड़ी सहायता दी।

राजनीतिक रूप से पर्याप्त शक्तिशाली हो जाने पर भी पोप रावेन्ना (Ravenna) में स्थित सम्राट के सीमावर्ती प्रदेशों के शासक (Exarch) की नाममात्र की प्रभुता स्वीकार करते रहे। लेकिन 7वीं सदी में रोम से उनका प्रभाव विलुप्त-सा हो गया क्योंकि उन्हें अपनी सम्पूर्ण शक्ति रोम पर हुए इस्लामी आक्रमण का सामना करने में लगानी पड़ी। इसी समय रावेन्ना विजय के लिए लम्बार्ड जाति ने इटली पर पुनः आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। चूंकि रोमन सम्राट से पोप सहायता मिलने की कोई आशा न थी अतः इटली की ओर अपनी रक्षा के लिए सन्त पीटर के नाम पर पोप ने शक्तिशाली फ्रैंक जाति के नेता चार्ल्स मार्टेल से प्रार्थना की जिसने लम्बार्डों को भगाकर इटली का एवं रोम का शासन पोप को दे दिया। पोप ने इसके बदले में पेपिन (Pepin) को, जो चार्ल्स मार्टेल का पुत्र था, फ्रैंक जाति का वैध राजा स्वीकार किया। बाद में पेपिन के पुत्र शार्लमेन (Charlmagne) अथवा चार्ल्स महान् (768–814 ई.) द्वारा अधिकांश पश्चिमी यूरोप का जीत लेने पर पोप लियो तृतीय (795–816) ने उसे पुराने रोमन सम्राटों का उत्तराधिकारी मानने का निश्चय किया और 800 ई. में रोम के सेंट पीटर के

गिर्जे मे क्रिसमस के दिन उसके सिर पर सम्राट का मुकुट रख दिया। इस प्रकार अब उस पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) का प्रारम्भ हुआ जिसके बारे मे 18वी शताब्दी मे वाल्टेयर ने यह लिखा था कि "वह न तो पवित्र है, न रोमन है और न साम्राज्य है।" पोप लिओ तृतीय द्वारा चार्ल्स महान् का अभिषेक किया जाना वास्तव मे एक-दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करने का नाटक था, क्योंकि चार्ल्स अपनी शक्ति से साम्राज्य जीत चुका था। लेकिन इस घटना से आगे चल कर यह सिद्धान्त विकसित हुआ कि पोप द्वारा शासन-सत्ता सम्राट को प्रदान की गई है, अतः पोप के आदर्शों का पालन करना सम्राट का कर्त्तव्य है। बाद मे जब सम्राटो द्वारा सिद्धान्त को अस्वीकार किया जाने लगा तो पोपो और सम्राटो के मध्य तीव्र संघर्ष का उदय हुआ। इन भावी घटनाओ का उल्लेख यथास्थान किया जाएगा। यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि पोप पाश्चात्य ससार मे सर्वोच्च धर्मगुरु बन गया। धार्मिक मामलों मे राजा भी उसके अधीन हो गया। इटली मे पोप का सुदृढ शासन स्थापित हो गया और शत्रुओ से रक्षा के लिए उसे सम्राट जैसा मित्र भी अस्थायी तौर पर मिल गया।

(4) **पश्चिम के विकास को प्रभावित करना**—ईसाई धर्म की विजय का अन्तिम उल्लेखनीय परिणाम यह हुआ कि इसने अनेक शताब्दियो तक पश्चिम के विकास को प्रभावित किया। साम्राज्य का एकमात्र और कानूनी धर्म बन जाने पर विभिन्न धर्मों के सहअस्तित्व के उदार दृष्टिकोण से ईसाई धर्म विमुख हो गया और इसने साम्राज्य के भीतर अन्य धर्मों को सहन करने से इन्कार कर दिया। अब मुख्यत इस आधार पर गैर-ईसाई धर्मों का नियमित एव क्रमबद्ध उत्पीडन प्रारम्भ हुआ कि ईसाई धर्म ही परमात्मा द्वारा स्थापित एकमात्र सच्चा धर्म है, अत. राज्य का पावन कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक ऐसे धर्म को कुचल दे जो मनुष्य को परमात्मा से विमुख करने वाला है। इस सिद्धान्त की आड मे राज्य द्वारा गैर-ईसाइयो को कुचलने की प्रवृत्ति लगभग एक हजार वर्ष तक प्रबल रही। इस लम्बी अवधि मे "मानव-बुद्धि कट्टरता की जजीरो मे जकडी रही और दर्शन-शास्त्र ईसाई चर्च के हाथ की कठपुतली बना रहा।" यही कारण है कि मध्य युग को अन्धकार-युग तक कह दिया जाता है, क्योंकि उस युग के मानसिक वातावरण में ज्ञान की उन्मुक्त क्रीडा का प्रश्न ही नहीं था।

ईसाई धर्म का प्रारम्भिक राजनीतिक चिन्तन
(Early Political Ideas of Christianity)

सेबाइन ने लिखा है कि "पश्चिमी यूरोप के इतिहास मे राजनीति और राजनीतिक दर्शन दोनो की दृष्टियो से ईसाई चर्च का अभ्युदय सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी।"[1] ईसाई मत के प्रारम्भिक राजनीतिक दर्शन की सुन्दर झलक हमें 'न्यू टैस्टामेंट' (New Testament) एव महात्मा ईसा के 12 शिष्यो (Apostles)

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 166.

की शिक्षाओं में मिलती है। ईसाइयत आरम्भ में कोई राजनीतिक सिद्धान्त या आन्दोलन न होकर केवल एक धार्मिक आन्दोलन था। दर्शन अथवा राजनीतिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में ईसाइयों के विचार पैगनों (Pagons) से मिलते-जुलते थे। स्टोइकों की भाँति ईसाई विचारक भी प्राकृतिक-विधि (Law of Nature), संसार के ईश्वरीय शासन, न्याय के सम्बन्ध में विधि और शासन के दायित्व तथा ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्यों की समानता में विश्वास रखते थे। इस प्रकार के विचार ईसाई धर्म के उदय के पूर्व ही व्यापक रूप से प्रचलित थे। 'न्यू टैस्टामेंट' के अनेक अवतरणों से ज्ञात होता है कि ये विचार ईसाई धर्म में एकदम से समाविष्ट कर लिए गए थे। प्राकृतिक विधि, मानव समानता और राज्य में न्याय की आवश्यकता के सम्बन्ध में चर्च के संस्थापक सिसरो (Cicero) और सेनेका से सहमत थे। यह सही है कि पैगन लेखक उस अन्त:प्रेरित विधि से अपरिचित थे, जो ईसाइयों के विचार से यहूदी या ईसाई धर्मग्रन्थों में निहित है, लेकिन अन्त:प्रेरणा का विश्वास इस विश्वास से असंगत नहीं था कि प्राकृतिक विधि ईश्वरीय विधि है। ईसाई धर्म के संस्थापकों ने ईसाइयों के लिए यह भी आवश्यक ठहरा दिया था कि वे विहित सत्ता का आदेश शिरोधार्य करें।

ईसाइयत ने स्टोइक आदर्शों से समानता रखने वाले मानवीय समानता, विश्व-बन्धुत्व, सार्वभौम, प्राकृतिक नियम, राज्य के प्रादुर्भाव आदि के सम्बन्ध में जो अपने संक्षिप्त राजनीतिक विचार रखे वे रोमन साम्राज्य के उच्चवर्ग में पहले ही मान्य हो चुके थे और निम्न वर्ग में इनका प्रचार होने पर ये सर्वमान्य हो गए।

इस संक्षिप्त भूमिका के बाद यह देखना उपयुक्त होगा कि 'न्यू टैस्टामेंट' में ईसाइयत के किस प्रारम्भिक चिन्तन के दर्शन होते हैं—

(1) प्राकृतिक नियम का विचार—ईसाई धर्म के नेताओं ने प्रकृति के नियम का विचार स्टोइकों से लिया था। ईसाइयों ने राज्य द्वारा निर्मित नियम और प्राकृतिक नियम में भेद स्थापित किया और बतलाया कि प्राकृतिक नियम मानव की निष्पक्ष बुद्धि के द्वारा प्रदर्शित होता है। यह निश्चित एवं अपरिवर्तनीय है। प्राकृतिक नियम को ही ईश्वरीय नियम (Divine Law) समझा जाना चाहिए।

(2) समानता और दासता सम्बन्धी विचार—ईसाई धर्म ने मानव समानता और विश्व-भ्रातृत्व में आस्था प्रकट की लेकिन दास-प्रथा के उन्मूलन का समर्थन नहीं किया। दासता की जड़ें तत्कालीन समाज में इतनी गहरी घुसी हुई थीं कि ईसाई धर्म के प्रारम्भिक समर्थक 'दासता' की संस्था के विरुद्ध प्रचार करने का साहस नहीं कर सके। ईसाई धर्म के ठेकेदारों ने यह घोषित करके ही आत्म-सन्तोष कर लिया कि वास्तविक जीवन आन्तरिक था जबकि दास-प्रथा केवल भौतिक बन्धनों को प्रदर्शित करती थी। सन्त पीटर और सन्त पॉल जैसे नेताओं को भी यह विश्वास नहीं था कि समाज की रग-रग में व्याप्त दास-प्रथा का उन्मूलन किया जा सकता है। अत: उन्होंने इसे प्राकृतिक नियम के विरुद्ध घोषित नहीं किया वरन् केवल यही प्रचार

किया कि दासों के साथ दया का व्यवहार किया जाए। सन्त पॉल ने कहा कि दास प्रथा दो कारणों से उचित है—(i) इस प्रथा का उद्देश्य समाज में बुराई का विरोध करना है। मनुष्य अपने पापों के कारण दास बनता है। कोई भी पापी समाज को हानि न पहुँचा सके, इसलिए उसे अपने स्वामी के अधीन रहना चाहिए। (ii) स्वतन्त्रता अथवा बन्धन मन एवं आत्मा की आन्तरिक दशाएँ हैं। दासता केवल भौतिक बन्धन है। यदि आत्मा शुद्ध है तो यह बन्धन महत्वहीन है। इस बन्धन का यह मानकर स्वागत किया जाना चाहिए कि परमात्मा आत्मा की परीक्षा ले रहा है।

(3) राज्य का स्वरूप एवं औचित्य—ईसाई मत के राज्य सम्बन्धी विचार ईसाई सन्तों द्वारा रोमनों को लिखे गए पत्रों (Epistles to the Romans) में दिए गए हैं। इनके अनुसार राज्य की शासन-व्यवस्था ईश्वर द्वारा की गई है। सन्त पॉल द्वारा रोमनों को लिखे गए एक पत्र के अनुसार —

"प्रत्येक आत्मा को उच्चतर शक्तियों के अधीन होना चाहिए। ईश्वर के अतिरिक्त कोई शक्ति नहीं है। जो शक्तियाँ हैं वे ईश्वर से ही निकलती हैं। जो कोई शक्ति का विरोध करता है वह ईश्वर के आदेश का विरोध करता है। जो विरोध करता है उसे दण्ड मिलेगा। शासक अच्छे काम के लिए आतंक नहीं हैं। वे सिर्फ बुरे कामों के लिए ही आतंक हैं। क्या आप शक्ति से नहीं डरेंगे? आप अच्छा कार्य कीजिए। उसके लिए आपकी प्रशंसा होगी। अच्छे काम के लिए वह ईश्वर का मन्त्री है लेकिन यदि आप बुरा काम करते हैं तो आप डरिए। उसकी पास तलवार व्यर्थ के लिए नहीं है, वह ईश्वर का मन्त्री है। जो लोग खराब काम करते हैं, उन्हें वह दण्ड देता है इसलिए आपको उसके अधीन रहना चाहिए, केवल क्रोध के कारण नहीं, परन्तु अन्तरात्मा के कारण। इस कारण आप उन्हें भेंट भी दीजिए। वे ईश्वर के मन्त्री हैं। वे हमेशा यही कार्य करते रहते हैं। उनका जो कुछ भी प्राप्य हो उन्हें दीजिए। जिन्हें भेंट चाहिए उन्हें भेंट दीजिए। जिन्हें शुल्क चाहिए उन्हें शुल्क दीजिए। जिन्हें डर चाहिए और उन्हें डर दीजिए। जिन्हें इज्जत चाहिए उन्हें इज्जत दीजिए।"[1]

इस तरह ईसाई धर्म के अनुसार राज्य का उद्देश्य न्याय करना है। न्याय सिद्धान्त पवित्र होने के कारण जो भी संस्था न्याय को लागू करती है वह भी पवित्र है, अतः राज्य के अधिकारियों की आज्ञा मानी जानी चाहिए। प्रारम्भिक ईसाइयों द्वारा राज्य की इस दैवी व्यवस्था का प्रतिपादन करना आवश्यक भी था क्योंकि यदि वे ऐसा न करते तो राज्य शुरू में ही उन्हें कुचल देता। लेकिन साथ ही यह भी है कि राजकीय आज्ञा-पालन के कर्त्तव्य को इससे अधिक बल और प्रभावशाली भाषा में व्यक्त भी नहीं किया जा सकता। ईसाई धर्म की उपर्युक्त आज्ञा में वस्तुतः एक क्रान्तिकारी परिणाम निहित है। इसमें यह बतलाया गया है

1 डनिंग : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 167.

कि मनुष्य का कर्त्तव्य दोहरा है—एक राज्य के प्रति है तो दूसरा ईश्वर के प्रति। दोनों में संघर्ष की स्थिति में एक सच्चे ईसाई का धर्म ईश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्य को निभाना है। राज्य-भक्ति पर सैद्धान्तिक रूप में बल देने के बावजूद इस शिक्षा में एक ऐसे तत्त्व के दर्शन होते हैं जो राज्य की निरंकुश सत्ता का विरोधी है। ईसाई धर्म का यह कथन है कि "लौकिक विषयों में राजा की और पारलौकिक विषयों में ईश्वर की आज्ञा का पालन करो"—यूनानी दार्शनिकों के इस सिद्धान्त पर करारा प्रहार है कि "व्यक्ति जीवन के समस्त मूल्यों की प्राप्ति राज्य की सदस्यता द्वारा ही कर सकता है।"

(4) **सम्पत्ति-विषयक विचार**—'न्यू टैस्टामेन्ट' में ईसाई धर्म की सम्पत्ति की साम्यवादी विचारधारा मिलती है, परन्तु यह प्लेटो की साम्यवादी विचारधारा से भिन्न है। इसमें केवल यह कहा गया है कि सम्पत्ति का बँटवारा अधिक समानता के आधार पर होना चाहिए। इसमें मनुष्य को बाध्य करने या राज्य की शक्ति द्वारा सम्पत्ति पर राज्य द्वारा अधिकार करने की भावना नहीं है बल्कि यह दर्शाया गया है कि धनिकों के हृदय में समानता के भाव दान और दया के भावों पर आधारित होने चाहिए। ईसा ने अपनी शिक्षाओं में धनिकों की घोर निन्दा करते हुए कहा था कि "यह सम्भव है कि ऊँट सूई की नोक में से निकल जाए किन्तु यह असम्भव है कि धनिक स्वर्ग के द्वार में से निकलकर उसमें प्रविष्ट हो सके।" चूँकि महात्मा ईसा का सन्देश सर्वप्रथम निर्धनों में ही फैला था, अतः उनके शिष्यों ने प्रारम्भ में वैयक्तिक सम्पत्ति से रहित साम्यवादी समाज की कल्पना और सम्पत्ति पर सामूहिक स्वामित्व की कामना की थी। पर वे इसकी अव्यावहारिकता को समझते थे इसीलिए उनका कहना था कि धनी व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि वे निर्धनों को सम्पत्ति का दान करें। उन्होंने अपने सिद्धान्त को राज्य के माध्यम से लागू करवाने का प्रयत्न नहीं किया। ईसाइयों का यह प्रारम्भिक सिद्धान्त तब नए स्वरूप में बदल गया जब धीरे-धीरे पाँचवीं सदी तक चर्च के पास विशाल सम्पत्ति एकत्रित होने लगी।

(5) **दोहरी प्रकृति (Dualistic Nature) का विचार**—जहाँ यूनानी और रोमन विचारकों ने धर्म एवं राजनीति में कोई भेद नहीं किया तथा राज्य के आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के कार्य बतलाए वहाँ ईसाई मत ने इसमें भेद माना। ईसाइयों ने धार्मिक कार्यों के लिए चर्च का राज्य से पृथक् एवं स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया। उन्होंने चर्च को राज्य से उत्कृष्टता प्रदान की और यह विश्वास प्रकट किया कि पाप की ओर प्रवृत्त मनुष्यों का उद्धार करने के लिए भगवान पैगम्बरों को भेजता रहा है तथा ईसामसीह भी ऐसे ही एक पैगम्बर थे। अब उनके बाद यह कार्य उनके द्वारा स्थापित किए चर्च से हो रहा है।

(6) **परिवार और पैतृक अधिकार को पुनर्जीवित करना**—प्रारम्भिक ईसाइयों ने परिवार तथा पैतृक अधिकार को भी पुनर्जीवित किया क्योंकि इसमें उस नवीन सामाजिक व्यवस्था को एक दृढ़ आधार मिलता था जो उस समय जन्म ले

रही थी। रोमन साम्राज्य के समय सन्तान पर पिता का नियन्त्रण राज्य के दबाव के कारण नष्ट प्राय हो गया था। साथ ही विवाह को एक कानूनी समझौता माना जाने लगा था जिसे दोनो पक्ष स्वेच्छा से कभी भी तोड सकते थे। प्रारम्भिक ईसाइयो ने मिटते हुए पैतृक अधिकार और दुर्बल होते हुए पारिवारिक बन्धन को सम्बल प्रदान किया। उन्होंने दोनो को पुनर्जीवित करने का सफल प्रयास किया। एक तरफ उन्होंने पिता के सन्तान पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के अधिकार को मान्यता दी और दूसरी तरफ विवाह को ऐसा संस्कार माना जिसे भग नही किया जा सकता। स्थिति यह हो गई कि "परिवार के ऊपर परिवार के प्रधान का अधिकार राज्य के अधिकार का प्रतिद्वन्दी बन गया। अब प्रत्येक ईसाई पुरुष राजनीतिक शक्ति को चुनौती दे रहा था क्योंकि उसका दृढ विश्वास था कि विवाह एक पवित्र संस्कार है और ईश्वर ने उसे परिवार का प्रधान बनाया है। इस पद पर अपने को ईश्वर द्वारा नियुक्त समझते हुए वह सरकारी अधिकारियो की ओर से कोई हस्तक्षेप सहन करने के लिए तैयार न था। प्रारम्भिक ईसाइयों द्वारा परिवार इकाई को पुनर्जीवित करना राजनीतिक समाज की एक नवीन व्यवस्था के निर्माण की ओर उनका पहला महत्वपूर्ण कदम था।"[1]

ईसाई आचार्यों का राजनीतिक दर्शन

(Political Philosophy of the Fathers of the Church)

'न्यू टेस्टामेन्ट' के बाद ईसाइयत के राजनीतिक विचार हमे ईसाई धर्म के प्रमुख आचार्यों की शिक्षाओ और कृतियो मे मिलते हैं। इन्हे ईसाई पिता (Church Fathers) कहा जाता है। रोमन कैथोलिक चर्च मे पाँच व्यक्ति प्रधान रूप से ऐसे आचार्य (Fathers) माने जाते हैं—

1. सन्त एथनेशियस (लगभग 293–373 ई),
2. सन्त अम्ब्रोज (लगभग 340–397 ई.),
3. सन्त जेरोम (लगभग 340–420 ई),
4. सन्त ऑगस्टाइन (लगभग 354–430 ई) एवं
5. सन्त ग्रेगरी (लगभग 540–604 ई)।

इन आचार्यों ने पहली शताब्दी से लेकर सातवी शताब्दी तक विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न राजनीतिक विचार प्रकट किए। ये विचार हमे ईसाई धर्म के प्रारम्भिक सिद्धान्तो मे परिवर्तन के दर्शन कराते हैं। अत. उचित होगा कि प्रमुखतम आचार्यों के विचारो पर पृथक् प्रकाश डालने से पूर्व पहले सक्षेप मे इन सभी चर्च पिताओ द्वारा व्यक्त प्रमुख विचारो को जान लिया जाए—

(1) राज्य—ये चर्च पिता सैद्धान्तिक रूप से सन्त पॉल के अनुसार ही विश्वास करते थे कि राज्य एक ईश्वरीय संस्था है तथा राजा को ईश्वर से शक्ति मिलती है। पर राज्य को दैवी संस्था मानते हुए भी ये आचार्य सरकार को आदम

1 *Doyle* : A History of Political Thought, p. 58.

(Adam) के उस आदिम पाप (Original sin) का परिणाम मानते थे जिसके कारण मनुष्य मे आसुरी प्रवृत्तियां उत्पन्न हुई और जिनके निरोध के लिए सरकार की स्थापना की गई। इस विचार के फलस्वरूप चर्च को राज्य से अधिक उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण मानने की प्रवृत्ति बढी और बाद मे पोप यह दावा करने लगा कि उसके कुछ अधिकार तो इतने पूर्ण हैं कि उनमे सम्राट हस्तक्षेप नही कर सकता। धीरे-धीरे स्थिति इतनी बदल गई कि दो पृथक् शासन-सत्ताओ का अस्तित्व माना जाने लगा—चर्च की सत्ता का और सम्राट की सत्ता का। दोनों ही सत्ताएँ अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के प्रयत्न मे सघर्ष-रत हुई। यह सघर्ष अथवा विवाद मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन का एक प्रमुख विषय बना। मध्ययुग मे पोप का निरन्तर यही प्रयास रहा कि राज्य चर्च के अधीन बना रहे।

(2) **सम्पत्ति**—चर्च के प्रारम्भिक दिनो मे सम्पत्ति के सम्बन्ध मे साम्यवादी विचार प्रचलित थे, किन्तु शनै:-शनै: चर्च-पिता यह स्वीकार करने लगे कि जब तक सम्पत्ति का प्रयोग अपने ईसाई भाइयो के लाभ हेतु किया जाए तब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति अधिकार मे रखना वैध तथा न्यायोचित है। सन्त एम्ब्रोज ने कहा कि स्वार्थ एव लोभ के कारण मनुष्य वस्तुओ पर व्यक्तिगत स्वामित्व स्थापित कर लेते है। यदि सम्पत्ति का उपयोग मानव-समाज के कल्याण के लिए हो तो इस पर व्यक्तिगत स्वामित्व न्यायसगत है। सन्त ऑगस्टाइन का विचार था कि ईश्वर ने व्यक्ति पर विश्वास करके उसे सम्पत्ति का स्वामी बनाया है अत इसका प्रयोग वैध रीति से करना चाहिए।

(3) **दासता**—दासता के सम्बन्ध मे ईसाई आचार्यों ने सिसरो (Cicero) तथा सन्त पॉल (St Paul) का मार्ग ग्रहण किया। उन्होने घोषित किया कि प्रकृति ने मनुष्य को स्वतन्त्र बनाया है और सभी मनुष्य प्रकृति से समान हैं। पर दास प्रथा के सम्बन्ध मे उनकी मान्यता अलग ही रही। दास प्रथा के औचित्य को स्वीकार करते हुए उन्होने केवल यही उपदेश दिया कि स्वामियो का अपने दासो के प्रति व्यवहार बहुत क्षमापूर्ण और उदार होना चाहिए। उन्होने दास प्रथा को पाप का दण्ड और इलाज बतलाया। सन्त अम्ब्राज (St Ambrose), सन्त इसाडोर (St. Isadore) तथा ग्रेगरी (Gregory) ने यद्यपि दास प्रथा का खण्डन किया, किन्तु वे इस प्रथा से मुक्त होने का कोई उचित साधन नही सुझा सके, अत उन्हे भी इस प्रथा को सहन ही करना पडा।

वास्तव मे ईसाई मत का विकास मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन मे एक विस्फोट था जिसने चिन्तन की दशा मे एक धमाका-सा ला दिया।

सन्त अम्ब्रोज

(St. Ambrose, 340–397 A D)

मिलान का यह सन्त ईसाई विचारधारा के निर्माणकारी युग का व्यक्ति था। उसने चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे ईसाई चर्च की बढ़ती हुई आत्मचेतना एव शक्ति को अभिव्यक्त किया। उसने ऐसे विचारो को व्यक्त किया जो ईसाई वि-

के आवश्यक अंश थे और जो चर्च एवं राज्य के सम्बन्धों के विषय में ईसाई विचारधारा के एक अभिन्न अङ्ग बन गए। सन्त अम्ब्रोज ने आध्यात्मिक मामलों में चर्च की स्वतन्त्रता पर बल दिया। उसने स्पष्ट रूप से कहा कि "आध्यात्मिक मामलों में चर्च का सभी ईसाइयों के ऊपर, सम्राट के ऊपर भी अधिकार है। अन्य किसी ईसाई की भांति सम्राट भी चर्च का ही पुत्र है। वह चर्च के अन्दर है, चर्च के ऊपर नहीं।"[1]

चर्च की स्वतन्त्रता और नैतिक बल की प्रभुता को प्रतिपादित करने के किसी अवसर को सम्भवतः सन्त अम्ब्रोज ने हाथ से नहीं जाने दिया। जब सम्राट वेलेंटिनियन (Emperor Valentinian) ने किसी व्यक्ति पर मामले का विचार अम्ब्रोज के न्यायालय से हटा कर सम्राट के न्यायालय में भेजने की आज्ञा दी तो अम्ब्रोज ने इसका तीव्र प्रतिवाद करते हुए कहा "धर्म के विषय में बिशपों के लिए यह स्वाभाविक है कि सम्राटों का निर्णय किया करें, न कि सम्राट बिशपों का।" उसने एक अन्य अवसर पर सम्राट को लिखा था कि, "कुछ मामलों में सम्राट को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। सम्राट कर ले सकता है, चर्च की भूमि ले सकता है, किन्तु वह भगवान का मन्दिर या गिर्जा नहीं ले सकता। महलों पर सम्राट का स्वामित्व है, चर्च पर बिशपों का। जो वस्तु भगवान की है, वह सम्राट की शक्ति के अधीन नहीं हो सकती।"

सन्त अम्ब्रोज ने यह कभी नहीं कहा कि नागरिक सत्ता का आदेश नहीं मानना चाहिए। पर उसने यह अवश्य कहा कि धर्माचार्यों का यह अधिकार और कर्त्तव्य है कि वे आचारों के सम्बन्ध में लौकिक शासकों का नियमन करते रहें। उसने इस व्यवस्था की न केवल शिक्षा दी बल्कि इसका पालन भी किया। एक अवसर पर उसने सम्राट थियोडोसियस (Emperor Theodosius) की उपस्थिति में यूक्तारिस्ट (Eucharist) का समारोह करने से इसलिए इन्कार कर दिया कि सम्राट ने थेसालोनिका (Thessalonica) में हत्याकाण्ड करवाया था। अम्ब्रोज ने सम्राट को एक पत्र लिख कर उसके अमानुषिक कार्य के लिए कड़ी निन्दा करते हुए उसे प्रायश्चित करने की प्रेरणा दी। सम्राट ने अम्ब्रोज के परामर्श को स्वीकार करते हुए अपनी राजकीय पोशाक उतारी और मिलान के गिर्जे में सार्वजनिक रूप से प्रायश्चित किया।[2] वास्तव में यह नैतिक बल की विजय थी और इस कथन का सर्वोत्तम क्रियात्मक प्रदर्शन था कि "कुछ विषयों में राज्य को चर्च के सम्मुख नतमस्तक होना चाहिए।"

सन्त अम्ब्रोज ने यह कभी नहीं माना कि सम्राट के आदेशों का बलपूर्वक विरोध किया जाए। वह तर्क करने और आग्रह करने के लिए तैयार था लेकिन उसने जनता को विद्रोह करने के लिए कभी प्रेरित नहीं किया। उसने चर्च के अधिकार की रक्षा के लिए भी आध्यात्मिक साधनों का समर्थन किया, प्रतिरोध का

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ 173
2 *Bertrand Russell* : History of Western Philosophy, p. 360.

नहीं। रसैल ने अम्ब्रोज का मूल्यांकन करते हुए लिखा है, "वह सन्त जेरोम की अपेक्षा घटिया दर्जे का विद्वान और सन्त आगस्टाइन की अपेक्षा घटिया दर्जे का दार्शनिक था। किन्तु चर्च की शक्ति को चतुराई और साहस के साथ सुदृढ़ करने वाले राजनीतिक के रूप में वह प्रथम श्रेणी का व्यक्ति था।"[1] डनिंग के अनुसार उसने यद्यपि धार्मिक विषयों में चर्च के प्रभुत्व का प्रभावशाली समर्थन किया लेकिन अभी तक उसका क्षेत्र बड़ा सीमित था। अभी राज्य को ही अधिक महत्वपूर्ण माना जाता था।[2]

सन्त ऑगस्टाइन
(St Augustine, 354–430 A D.)

इसी समीक्ष्य युग का सबसे महत्त्वपूर्ण ईसाई विचारक अम्ब्रोज का महान् शिष्य सन्त ऑगस्टाइन था। उसका जन्म 354 ई. में अफ्रीका में टैगस्टे (Tagaste) नामक नगर में हुआ था। उसके पिता का नाम पेट्रोसियस (Patritius) तथा माता का नाम मोनिका (Monica) था। जीवन के प्रारम्भिक बारह वर्षों तक उसने घर पर ही शिक्षा प्राप्त की। उसके बाद सर्वप्रथम उसे मदौरा (Madaura) नामक एक ग्रामर स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा गया। लगभग पाँच वर्ष अध्ययन करने के उपरान्त अलंकार शास्त्र (Rhetoric) की शिक्षा प्राप्त करने हेतु वह कार्थेज (Carthage), गया जहाँ पर वह मैनिकियन (Manichaeon) सम्प्रदाय का सदस्य बन गया और लगभग नौ वर्ष तक इसी के चक्कर में फँसा रहा। जब उसे कोई तथ्य नहीं दिखाई दिया तो वह इसकी सदस्यता त्याग कर रोम चला गया जहाँ काफी कठिनाइयों के बाद मिलान में वह अलंकारशास्त्र का अध्यापक नियुक्त हुआ। यहीं उसकी भेंट सन्त अम्ब्रोज से हुई जिसकी शिक्षाओं के फलस्वरूप उसने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् सन्त ऑगस्टाइन ने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें उसने अपने धार्मिक और आध्यात्मिक विचार प्रकट किए। 400 ई. में उसने सुप्रसिद्ध 'आत्मकथा' (Confessions) का प्रणयन किया और 412–427 ई. तक 'ईश्वर का नगर' (The City of God) नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। मध्य काल के इस महान् राजनीतिक विचारक की सन् 430 ई. में मृत्यु हो गई।

सन्त ऑगस्टाइन का दर्शन—सन्त ऑगस्टाइन का दर्शन मुख्यतः उसके ग्रन्थ 'De Civitate Dei' में निहित है जिसका अंग्रेजी अनुदित नाम 'दि सिटी ऑफ गॉड' (The City of God) है। ऑगस्टाइन के विचारों के प्रतिष्ठापन के मुख्यतः तीन ध्येय थे—प्रथम, यह स्पष्ट करना कि रोमन साम्राज्य का पतन ईसाई धर्म को अपनाने के कारण नहीं हुआ था, द्वितीय, ईसाई संघ को शक्तिशाली बनाना और उसका राज्य स्थापित करना, तथा तृतीय, ईसाई धर्म के विरुद्ध लगाए जाने वाले आरोपों का खण्डन करना और उसके विरोधियों से रक्षा करना। उसने अपने दर्शन

1 *Bertrand Russell* - History of Western Philosophy p. 350
Dunning . A History of Political Theories, Part I, p. 150.

'दी सिटी ऑफ गॉड' की रचना मुख्यतः इन्ही उद्देश्यो की पूर्ति के लिए की और प्रसगवश अपने सभी दार्शनिक विचारो का विकास किया। यह ग्रन्थ 22 खण्डो मे विभाजित है जिनमे सन्त के धार्मिक, सामाजिक एव राजनीतिक सभी प्रकार के विचार निहित हैं। ग्रन्थ की प्रथम 10 पुस्तको मे ईसाई धर्म की पैगनो की आलोचना के विरुद्ध रक्षा की गई है और शेष 12 पुस्तको मे ईश्वर की नगरी के स्वरूप की व्याख्या मिलती है। इस पुस्तक मे ऑगस्टाइन ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि ईसाइयत रोम को नष्ट किए जाने से नही बचा सकी तो कम से कम लोगो के कष्टो को कम करने मे उसने अवश्य ही सहायता दी और युद्ध के भयानक कृत्यो को कम करने का प्रयत्न किया। ऑगस्टाइन ने यह भी कहा कि रोम पर आक्रमण ईश्वर की मर्जी से हुआ था, ताकि ईश्वर की नगरी की बुनियाद रखी जा सके। अग्रिम पक्तियो मे सर्वप्रथम ऑगस्टाइन के इस ईश्वरीय नगर की ही चर्चा की गई है।

दो नगरों का सिद्धान्त (सांसारिक नगर तथा ईश्वरीय नगर)—ऑगस्टाइन ने अपने ग्रन्थ मे दो प्रकार के नगरो का विवरण दिया है—1. सांसारिक नगर, एवं 2. आध्यात्मिक या ईश्वरीय नगर। उसके अनुसार, "मानव प्रकृति के दो रूप हैं—आत्मा और शरीर। इसलिए मनुष्य इस ससार का नागरिक है और ईश्वरीय नगर का भी। मानव-जीवन का आधारभूत तत्त्व मानव हितो का विभाजन है। मनुष्य के लौकिक हित उसके शरीर से सम्बन्ध रखते हैं। मनुष्य के पारलौकिक हित उसकी आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं।"[1] इस तरह ऑगस्टाइन ने यह बताया कि मानव प्रवृत्ति द्विमुखी है अर्थात् सांसारिक और आध्यात्मिक दोनो। मानव के हित और स्वार्थ सांसारिक तथा आध्यात्मिक दोनो तरह के होते हैं अर्थात् उसमें भौतिक एव आध्यात्मिक दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो का समावेश होता है। इसी कारण मनुष्य सांसारिक तथा ईश्वरीय दोनो नगरो का नागरिक होता है। सांसारिक नगर का नागरिक व्यक्ति जन्म के कारण होता है। सांसारिक नगर का सम्बन्ध शरीर से होता है और ईश्वरीय नगर का आत्मा से। सांसारिक नगर मनुष्य की वासनाओ पर आधारित है और उसमें शैतान का शासन होता है। इसके विपरीत ईश्वरीय नगर मे क्राइस्ट का शासन होता है। यह नगर उस समाज की अभिव्यक्ति करता है जिसका वर्णन बाइबिल मे मिलता है। यह नगर और इसकी सत्ता सर्वोत्कृष्ट है।

सन्त ऑगस्टाइन के उपरोक्त विचारो पर श्री जी. एच. सेबाइन ने बड़ा ही तार्किक विश्लेषण प्रकट किया है जिसे उन्ही के शब्दो मे उद्धृत करना उपयुक्त होगा—

"सन्त ऑगस्टाइन ने इस (उपरोक्त) भेद को मानव इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने की कुञ्जी मान लिया है। मानव समाज सदैव ही दो समाजो के सघर्ष द्वारा नियन्त्रित होता है। एक ओर ससार का नगर है। यह मनुष्य की अधोमुखी प्रकृति

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ 175.

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि के ऊपर आधारित है। दूसरी ओर ईश्वर का नगर है। वह स्वर्गीय शान्ति और आध्यात्मिक मुक्ति की आशा के ऊपर आधारित है। पहला शैतान का राज्य है। इसका इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है जब से शैतान ने देवदूतों की अवज्ञा प्रारम्भ कर दी। इसके मूल तत्व असीरिया और रोम के पैगन साम्राज्यों में विशेष रूप से पाए जाते हैं। दूसरा साम्राज्य ईसा का है। वह पहले राष्ट्र में और फिर बाद में चर्च में तथा ईसाई धर्म को अंगीकृत करने वाले साम्राज्य में निहित रहा है। इतिहास इन दो समाजों के संघर्ष की नाटकीय कथा है। अन्त में विजय ईश्वरीय नगर की ही होगी। शान्ति केवल ईश्वरीय नगर में ही सम्भव है। केवल आध्यात्मिक राज्य ही स्थाई है। रोम के पतन के सम्बन्ध में ऑगस्टाइन की यह व्याख्या है: सभी सांसारिक राज्यों का नाश होना जरूरी है। सांसारिक शक्ति नश्वर और क्षणभंगुर है। यह मानव प्रकृति के उन पक्षों पर आधारित है जिनके कारण निश्चित रूप से लड़ाई तथा साम्राज्य विस्तार की लिप्सा उत्पन्न होती है।

तथापि इस सिद्धान्त की व्याख्या करते समय और विशेष रूप से इसे ऐतिहासिक तथ्यों के ऊपर लागू करते समय एक सावधानी की आवश्यकता है। ऑगस्टाइन का यह मन्तव्य नहीं था कि सांसारिक नगर को अथवा ईश्वरीय नगर को वर्तमान मानव-संस्थाओं के साथ ठीक ढंग से समीकृत किया जा सकता है। चर्च एक दृश्यमान मानव संगठन था। लेकिन वह ईश्वर का राज्य नहीं था। लौकिक शासन में तो बुराई की शक्तियों के साथ और भी काम समीकृत किया जा सकता था। धार्मिक राजनीतिज्ञ जो नास्तिकता के दमन के लिए साम्राज्य की शक्ति का सहारा लेता था, शासन को शैतान के राज्य का प्रतिनिधि नहीं बता सकता था। समस्त ईसाइयों की भाँति ऑगस्टाइन का भी यह विश्वास था कि 'समस्त शक्तियाँ ईश्वर की दी हुई हैं।' उसका यह भी विश्वास था कि शासन में बल का प्रयोग पाप के कारण आवश्यक हो जाता है और यह पाप का ईश्वर की ओर से निर्धारित उपचार है। इसी कारण ऑगस्टाइन ने दोनों नगरों को देखने में अलग-अलग नहीं माना। सांसारिक नगर शैतान का और सभी दुष्ट मनुष्यों का राज्य है। स्वर्गीय नगर इस लोक में और परलोक में मुक्त आत्माओं का संगम है। सांसारिक जीवन में ये दोनों समाज एक दूसरे से मिले हुए हैं। वे केवल अन्तिम निर्णय के अवसर पर ही अलग होंगे।"[1]

उपरोक्त सन्दर्भ में सन्त ऑगस्टाइन के ईश्वरीय राज्य अथवा नगर और चर्च का पारस्परिक सम्बन्ध कुछ अधिक स्पष्ट रूप से उल्लेखनीय है। ऑगस्टाइन चर्च को ईश्वरीय राज्य का प्रतिनिधि समझता था, 'ईश्वरीय राज्य' नहीं। 'ईश्वरीय राज्य या नगर' में देवगण और वे स्वर्गीय आत्माएँ भी सम्मिलित हैं जो इस पृथ्वी को छोड़ चुकी हैं। अतः इस दृष्टि से चर्च की अपेक्षा 'ईश्वरीय नगर'

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 175-76.

की सदस्यता अधिक व्यापक है। यद्यपि ये दोनों एक रूप नहीं है, फिर भी इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि 'ईश्वरीय राज्य या नगर' का सदस्य सामान्यतः चर्च की शिक्षाओं का पालन करके ही बना जा सकता है। पुन 'ईश्वरीय राज्य' एक अमूर्त कल्पना है, वह कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं है, ईसाई चर्च को उसका साकार रूप समझा जा सकता है। चर्च और ईश्वरीय राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध को फोस्टर ने इस भाँति प्रकट किया है—"चर्च 'ईश्वरीय नगर' का वह भाग है जिसमें वे सब सदस्य सम्मिलित हैं, जो अभी अपनी विश्व-यात्रा ही कर रहे हैं और जिसमें वे सब (या लगभग सब), जो ईश्वरीय राज्य के सदस्य है, गुजर चुके है।"[1]

ऑगस्टाइन का 'ईश्वरीय राज्य' शाश्वत है। यह कभी भी नष्ट नहीं होता। इसके विपरीत सांसारिक राज्य अवश्य ही नश्वर है।

ईश्वरीय नगर की विशेषताएँ (न्याय एवं शान्ति)—सन्त ऑगस्टाइन के 'ईश्वरीय नगर' की उपरोक्त व्याख्या से प्रकट है कि इसकी दो प्रमुख विशेषताएँ है—(क) धर्म या न्याय (Justice), एव (ख) शान्ति (Peace)।

ऑगस्टाइन के मत मे धर्म एक ऐसा प्रतिफल है जो व्यक्ति को अपने कर्तव्य पालन के उपरान्त मिलता है। जो व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन भली प्रकार करता है वही धर्मवान कहलाता है। ऑगस्टाइन धर्म अथवा न्याय को व्यवस्था (Order) का पर्यायवाची मानता है। उसके अनुसार धर्म या न्याय एक व्यवस्थित एव अनुशासित जीवन का निर्वाह करने मे निहित है। ऑगस्टाइन का यह धर्म सिद्धान्त किसी काल या स्थान विशेष की सीमाओं से बँधा हुआ नहीं है। वह धर्म का क्षेत्र परिवार, समाज एव राज्य तक व्यापक बताता है।

ऑगस्टाइन ने अपने सार्वभौमिक समाज को शान्ति के साम्राज्य का प्रतीक माना है। नगर मे शान्ति का साम्राज्य होता है। उसने शान्ति के दो रूप माने है—सांसारिक शान्ति और आध्यात्मिक शान्ति। सांसारिक शान्ति से तात्पर्य नियमित ढग से जीवन का व्यवस्थापन है; अर्थात् सांसारिक व्यवहार मे सामञ्जस्यता का होना है, परन्तु आध्यात्मिक शान्ति का लक्ष्य ईश्वर एव ईश्वर में समाये हुए मनुष्यों के साथ सामजस्य स्थापित करना होता है। ऑगस्टाइन की मान्यता है कि आध्यात्मिक शान्ति सांसारिक शान्ति से अवश्य ही उच्च है। सांसारिक शान्ति का क्षेत्र सकुचित है जबकि आध्यात्मिक शान्ति का क्षेत्र विश्व-व्यापक है। सांसारिक शान्ति की प्राप्ति हेतु व्यक्ति को अपने विचार-स्वातन्त्र्य पर ताला लगाना पडता है जबकि आध्यात्मिक शान्ति से वह स्वत ही क्रियाशील रहता है। सांसारिक वस्तुओं द्वारा शान्ति प्राप्ति का अनवरत प्रयत्न चलता रहता है। इसमे केवल सांसारिक शान्ति ही प्राप्त नहीं होती बल्कि आध्यात्मिक शान्ति का सुख भी प्राप्त होता है और शरीर की शुद्धि के बाद ही आत्मिक शुद्धि की प्राप्ति हो सकती है। यह आत्मिक शुद्धि मानव को दिव्यता की ओर अग्रसर करती है। ऑगस्टाइन की शान्ति सम्पूर्ण विश्व की एक ईश्वरीय व्यवस्था है क्योंकि सभी मनुष्य ईश्वर के अधीन है।

1 *Foster* · Masters of Political Thought, Vol. 1, p. 203.

राज्य तथा सरकार के विषय में ऑगस्टाइन के विचार—सन्त ऑगस्टाइन इस परम्परागत ईसाई विचार को स्वीकार करता है कि राज्य को ईश्वर ने मनुष्य के पाप के उपचार के रूप में स्थापित किया है अतः उसकी आज्ञा का पालन होना चाहिए। मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियों के विरोध के लिए ही भगवान द्वारा इसका निर्माण किया गया है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु दैवीय उत्पत्ति वाला न होने पर भी यह शैतान का राज्य है और इसकी सृष्टि का रहस्य यही है कि इसमें रहते हुए नागरिक कर्त्तव्य-पालन द्वारा अपने-आप की पाप-कालिमा से रक्षा कर सकें। इस तरह ऑगस्टाइन के अनुसार राज्य मनुष्य को पाप से मुक्ति दिलाने का एक प्रमुख साधन है। ऑगस्टाइन दैवीय उत्पत्ति के कारण राज्य की आज्ञाओं को मानने का समर्थन करते हुए यह मत भी प्रकट करता है कि यदि वे आज्ञाएँ धर्म-विरुद्ध हो तो उनका पालन नहीं होना चाहिए।

यूनानी दार्शनिकों और सिसरो आदि के इस विचार से ऑगस्टाइन ने असहमति प्रकट की है कि 'राज्य का आधार न्याय है।' सांसारिक राज्य पर शैतान का स्वामित्व होने से उसमें न्याय नहीं रह सकता। सांसारिक राज्य अन्याय पर प्रतिष्ठित है, अन्य राज्यों के अधिकारों का अपहरण करने वाला है और ईश्वरीय अधिकारों का उल्लघन करता है। ऑगस्टाइन के अनुसार राज्य गैर-ईसाई भी हो सकता है, जबकि न्याय केवल ईसाई राज्य में ही मिलता है। अतः न्याय वास्तव में राज्य का गुण नहीं है अपितु चर्च का गुण है। चर्च की सत्ता राज्य की सत्ता से श्रेष्ठ है।

प्रारम्भिक चर्च पिताओं (Church Fathers) के समान सन्त ऑगस्टाइन राज्य को अनावश्यक बुराई नहीं मानता। राज्य चर्च के लिए अनावश्यक है क्योंकि चर्च की भूमि और भवन की पूर्ति तो राज्य द्वारा ही की जाती है।

ऑगस्टाइन के सम्पत्ति एवं दासता सम्बन्धी विचार—अन्य चर्च पिताओं की भाँति सन्त ऑगस्टाइन द्वारा भी सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों का समर्थन किया गया है। वह सम्पत्ति को एक स्वाभाविक संस्था न मानकर परम्परागत संस्था मानता है। उसकी मान्यता है कि सम्पत्ति के अधिकारों की प्राप्ति केवल राज्य द्वारा ही हो सकती है और सम्पत्ति के अभाव में व्यक्ति सांसारिक एवं आध्यात्मिक कर्त्तव्यों का ठीक ढंग से पालन नहीं कर सकता। शान्ति और व्यवस्था की रक्षा के लिए निजी सम्पत्ति आवश्यक है; किन्तु साथ ही उसकी यह भी धारणा है कि मनुष्य को केवल उतनी ही सम्पत्ति रखने का अधिकार है जितनी उसके लिए आवश्यक है। आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का प्रयोग जन-कल्याण के लिए होना चाहिए।

सन्त ऑगस्टाइन दासों को निजी सम्पत्ति का ही एक रूप समझता है और इसीलिए यूनानी विचारकों की भाँति ही उसने भी दास-प्रथा का अनुमोदन किया है। लेकिन दास-प्रथा के ऑगस्टाइन और अरस्तू द्वारा समर्थन के कारण एकदम भिन्न है। ऑगस्टाइन अरस्तू के समान दास-प्रथा को स्वाभाविक नहीं मानता है। उनका यह विश्वास नहीं है कि स्वभावतः कुछ मनुष्य स्वामी और कुछ दास होते है।

उसके मत में दासता मनुष्य के पाप कर्मों का वह फल होता है जो मनुष्य को ईश्वर द्वारा प्रदान किया जाता है। दासता को वह पाप का दैविक प्रतिकार समझता है। मनुष्य जो पाप करता है उसी के प्रतिकार स्वरूप उसे दासवृत्ति करनी पड़ती है। यदि मनुष्य पाप न करता तो ईश्वर दासता की व्यवस्था न करता। वास्तव में मनुष्य के पतन ने उसे उस समानता से वंचित कर दिया जो भगवान प्रारम्भ में स्थापित करना चाहता था। ऑगस्टाइन के अनुसार जहाँ दासता मनुष्य के पापों का ईश्वरीय उपचार है, वहाँ वह उनके लिए दण्ड भी है। मनुष्य जो कुछ अपराध करता है उसके लिए दासवृत्ति दण्ड के साधन के रूप में उसे झेलनी पड़ती है। स्वामी की शुद्ध हृदय से सेवा करके व्यक्ति दासता से मुक्त हो सकता है।

ऑगस्टाइन के दासता सम्बन्धी उपरोक्त विचार तर्क-संगत प्रतीत नहीं होते। एक स्थान पर तो वह सम्पूर्ण जाति को पापी घोषित करता है तो दूसरे स्थान पर इस बात को ध्यान में न रखकर दास-प्रथा को पाप का दण्ड घोषित करता है। ऑगस्टाइन कहता है कि मनुष्य को पाप का शोध करने के लिए दासता करनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि अपने प्रथम पापाचार के कारण सम्पूर्ण समाज को दासवृत्ति करनी चाहिए। परन्तु प्रत्यक्ष रूप में यह सम्भव नहीं है।

संत ऑगस्टाइन का प्रभाव—संत ऑगस्टाइन की पुस्तक 'दि सिटी ऑफ गॉड' तथा उसकी विचारधारा अनेक शताब्दियों तक यूरोप के विचारकों को प्रभावित करती रही। सेबाइन के शब्दों में, "समीक्ष्य युग का सबसे महत्त्वपूर्ण ईसाई विचारक अम्ब्रोज का महान् शिष्य संत ऑगस्टाइन था। उसका दर्शन केवल थोड़ा-सा ही व्यवस्थित था। लेकिन, उसने प्राचीनकाल के ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात् कर लिया था। यह ज्ञान-विज्ञान उसके द्वारा ही मध्य युग में पहुँचा। उसकी रचनाएँ विचारों की खान थीं जिसे बाद के कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट विचारकों ने खोदा है। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण विचार एक ईसाई राज्य का सिद्धान्त है। उसने इतिहास के एक विशिष्ट दर्शन का भी प्रतिपादन किया है। इस दर्शन के अनुसार यह राज्य मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का चरमोत्कर्ष है। ऑगस्टाइन की प्रामाणिकता के कारण यह सिद्धान्त ईसाई विचारधारा का एक अविच्छेद्य-अंग बन गया। वह सिद्धान्त मध्ययुग में तो चला ही चला, आधुनिक काल तक चलता आया है। इस विषय पर रोमन कैथोलिक ही नहीं, प्रत्युत् प्रोटेस्टेंट भी सन्त ऑगस्टाइन के विचारों से प्रभावित रहे हैं।"

संत ऑगस्टाइन ने शार्लमेन तथा ओटो महान् (Charlemagne and Otto the Great) के विचारों को आधार प्रदान किया जिसके ऊपर पवित्र रोमन साम्राज्य का भव्य भवन बना। उसने सार्वभौमिक सत्ता को मानकर सकीर्ण राज्य सत्ता सम्बन्धी सीमा को लाँघा। आज का सार्वभौमिक समाज उसके विचारों से विशेष रूप से प्रेरित है। ऑगस्टाइन ने अप्रत्यक्ष रूप से चर्च की श्रेष्ठताओं का स्पर्श किया और साथ ही राज्य एवं चर्च में पारस्परिक सहयोग पर बल दिया। वास्तव में रचनात्मक धर्म के इस महान् प्रणेता ने नवीन युग का प्रवर्तन किया।

मध्ययुग की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। किन्तु दरअसल उसकी सर्वोत्तम परिभाषा यही है कि 'यह ऑगस्टाइन के विचारो के साथ प्रारम्भ होता है और इनकी समाप्ति के साथ ही इसका अन्त हो जाता है।'[1] ऑगस्टाइन की रचनाएँ और उसके विभिन्न विचार विद्वानो के लिए चिन्तन और प्रेरणा के स्रोत बने रहे। विख्यात पोप ग्रेगरी सप्तम (1073–1085 ई.), इन्नोसैंट तृतीय (1161–1216) तथा बेनीफेस अष्टम (1294–1303) ने उसके विचारो का अनुसरण किया। टॉमस एक्वीनास (1225–1274 ई.), दान्ते (1265–1321 ई.), विक्लिफ (1327–1384 ई.), एव प्रेशियस आदि प्रसिद्ध विचारक बड़ी सीमा तक ऑगस्टाइन के ऋणी हैं। इसीडियस, कोलोना, मार्टिन लूथर एव अन्य विद्वान भी किसी न किसी रूप मे ऑगस्टाइन के विचारो से प्रभावित हुए थे। 19वी शताब्दी मे भी ग्लेडस्टोन (Gladstone) ने कहा था कि राज्य की भी आत्मा होती है जो झूठ और सच मे अन्तर बताती है। ऑगस्टाइन के प्रभाव को दर्शाते हुए गेटल (Gettell) ने लिखा है–"ऑगस्टाइन के कार्य का महत्त्व यह था कि उसने चर्च को उसके इतिहास के एक घोर संकट मे एक सुनिश्चित और व्यवस्थित विचारधारा प्रदान की, उसके अस्तित्व को स्पष्टता और अपनापन दिया और उसके उद्देश्य को आत्म चेतना मूलक बनाया। जब चर्च ने अपने प्रशासकीय ढाँचे को विकसित करके सांसारिक कार्यों की ओर अधिक ध्यान दिया तो उसके लिए शक्ति के उस शिखर पर पहुँचना निश्चित हो गया जिसका प्रतिनिधित्व आगे चलकर पोप ने किया।"[2]

ग्रेगरी महान्
(Gregory the Great, 540–604 A. D.)

ग्रेगरी महान् चर्च-पिताओं की कोटि मे अन्तिम था। संत अम्ब्रोज और संत ऑगस्टाइन ने चर्च की स्वायत्त स्वाधीनता पर जोर दिया था, पोप ग्रेगरी महान् ने भी उस परम्परा को कायम रखा। रोम के बिशप पद की शक्ति और सम्मान को अत्यन्त ऊँचा उठाने का श्रेय पश्चिमी रोमन चर्च के इसी दिग्गज धर्माचार्य को है। रोम के अत्यन्त सम्भ्रान्त और सम्पन्न-कुल मे जन्म लेने तथा कानून से सुशिक्षित होने के कारण आरम्भ मे उसे रोम का प्रधान शासक (Prefect) बनने का सौभाग्य मिला। लेकिन अपने पिता की मृत्यु के बाद वह ईसाई साधु हो गया और उसने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति और भूमि 7 मठो (Monasteries) को स्थापित करने हेतु दे दी। 590 ई मे वह पोप चुना गया। उस समय इटली एवं पश्चिमी रोमन साम्राज्य की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। इटली मे लम्बार्ड लोग उत्पात मचा रहे थे और सम्राटो की दुर्बलता तथा मूरो के हमलो के कारण अफ्रीका अराजकता का स्थल बना हुआ था। इंग्लैण्ड का सेक्सन-आक्रमणो के कारण बुरा हाल था। वहाँ ईसाइयत मिटती-सी जा रही थी। बिशप नैतिक पतन के शिकार हो गए थे। फ्रांस भी उत्तरी एव दक्षिण राजाओ के सघर्ष का क्रीडास्थल बना हुआ था।

1 *Murray* : The History of Political Science from Plato to the Present.

2 *Gettell* : History of Political Thought, p. 103.

ऐसी विकट घड़ियों में ग्रेगरी 13½ वर्ष तक रोम का कर्णधार बना रहा। सन्त ग्रेगरी ने लम्बार्डों के खिलाफ इटली की रक्षा करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की। पश्चिमी यूरोप एवं उत्तरी अफ्रीका में न्याय तथा सुशासन के समर्थक के रूप में उसकी ख्याति बहुत अधिक फैली। उसके प्रभाव के फलस्वरूप रोमन चर्च की प्रतिष्ठा बढ़ गई।

लौकिक शासकों की दुर्बलता ने ग्रेगरी महान् को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वह राजनीतिक शासकों के कर्त्तव्यों को धारण करे। उसने मध्य इटली का शासन वास्तविक रूप से अपने हाथ में ले लिया तथा अपने पत्रों द्वारा इटली के पादरियों को धैर्य के साथ अनेक लोक कल्याणकारी कार्यों को करने का प्रभावकारी परामर्श दिया। इटली में सम्राट के राज्यपाल (Exarch) की प्रेरणा से रावेन्ना के आर्क बिशप ने पहले ग्रेगरी के आदेशों को नहीं माना लेकिन कुछ समय बाद उसे यह लिखना पड़ा—"मैं उस पवित्रतम पोप का विरोध करने का साहस कैसे कर सकता हूँ जो सार्वभौम चर्च को अपनी आज्ञाएँ देता है।" वास्तव में ग्रेगरी ने रोम के पोप की प्रभुता और सत्ता का क्षेत्र बड़ा ही विशाल और सर्वमान्य बना दिया। ग्रेगरी के हाथ में एक बहुत बड़ी लौकिक एवं धार्मिक शक्ति थी तथापि उसने राज्य को चर्च के अधीन नहीं किया बल्कि राजाज्ञा-पालन के कर्त्तव्य का समर्थन किया। सैबाइन का कहना है कि "धर्माचार्यों में एकमात्र ग्रेगरी ही ऐसा विचारक है जो राजनैतिक शक्ति के आदेशों का सविनय भाव से पालन करने पर जोर देता है। ग्रेगरी का यह विचार मालूम पड़ता है कि दुष्ट शासक की आज्ञा का भी मूक होकर सविनय भाव से पालन करना चाहिए। इस बात को तो अन्य ईसाई लेखक भी स्वीकार कर लेते कि दुष्ट शासक की आज्ञा का पालन होना चाहिए लेकिन वह आज्ञापालन चुपचाप निष्क्रिय भाव से हो, इसको कोई स्वीकार नहीं करता। ग्रेगरी ने अपने 'Pastoral Rule' नामक ग्रन्थ में इस बात पर विचार किया है कि बिशप अपने अनुयायियों को किस प्रकार की शिक्षा दें ? इस पुस्तक में इसने यह भी जोर देकर कहा है कि प्रजाजनों को न केवल अपने शासकों की आज्ञाओं का पालन ही करना चाहिए प्रत्युत् उन्हें अपने शासकों के जीवन की न तो आलोचना ही करनी चाहिए न उनके सम्बन्ध में कोई निर्णय ही देना चाहिए।"[1]

"यदि शासकों के कार्य दोषपूर्ण हो तब भी उन्हें मुँह की तलवार से काटना नहीं चाहिए। यदि कभी गलती से जबान उनकी आलोचना भी करने लगे तो हृदय को पश्चाताप की भावना से नत हो जाना चाहिए ताकि जबान भी अपनी गलती मान ले। यदि जबान अपने ऊपर की शक्ति की आलोचना करती है तो उसे उस ईश्वर के निर्णय से भय मानना चाहिए जिसने उस शक्ति को स्थापित किया है।"[2]

ग्रेगरी के द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त विचार आज की परिस्थितियों में बड़ा ही अस्वाभाविक लगता है। किन्तु शासन की पवित्रता का यह सिद्धान्त तत्कालीन युग

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 178.

2 *Carlyle* : A History of Mediaeval Political Theory in the West, Vol I, p. 152.

की उन घड़ियों में अस्वाभाविक नहीं था जब सम्राटों द्वारा चर्च के नियन्त्रण की अपेक्षा अराजकता एक अधिक बड़े खतरे के रूप में मुँह बाए खड़ी थी। फिर भी ग्रेगरी प्रत्येक परिस्थिति में कोरा मूक दार्शनिक बनना स्वीकार नहीं करता। वह उन कार्यों का विरोध करता है जिन्हें वह अधार्मिक समझता है। लेकिन वह आज्ञा का पालन करने से मुँह नहीं मोड़ता। "उसका विचार यह प्रतीत होता है कि सम्राट का अवैध कार्य करने का भी अधिकार है बशर्ते कि वह निन्दा करने के लिए तैयार हो। शासक की शक्ति ईश्वर की शक्ति है। सम्राट से बड़ा केवल ईश्वर है और कोई नहीं। शासक के कार्य अन्तिम रूप से ईश्वर तथा उसकी अन्तरात्मा के बीच में है।"[1]

दो तलवारों का सिद्धान्त
(The Theory of Two Swords)

यूनानी और रोमन विचारकों ने व्यक्ति के जीवन की एकता पर बल देते हुए भौतिक और आध्यात्मिक-जीवन को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया था और न ही यह कहा था कि दोनों प्रकार के जीवन की पूर्णता के लिए दो अलग-अलग ढंग के सामाजिक संगठन होने चाहिए। उनका विचार था कि राज्य प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण और पर्याप्त संस्था है जिसके द्वारा मनुष्य का भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार का जीवन पूर्ण हो सकता है। ईसाई चर्च की स्थापना से राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति हो गई। चर्च के संस्थापकों के युग में ईसाई विचारकों ने एक दोहरे संगठन की आवश्यकता प्रकट की। यह दोहरा संगठन दो प्रकार के मूल्यों की रक्षा के लिए आवश्यक था—लौकिक मूल्यों या हितों के लिए और आध्यात्मिक मूल्यों अथवा हितों के लिए। उन्होंने कहा कि आध्यात्मिक हित और शाश्वत मुक्ति चर्च के विषय हैं और वे धर्माचार्यों की शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं। सांसारिक अथवा लौकिक हित तथा शान्ति, व्यवस्था और न्याय की रक्षा नागरिक शासन के विषय हैं और शासकों द्वारा इन उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास किया जाता है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि मनुष्य की दोहरी प्रकृति है और उसका दोहरा जीवन-लक्ष्य है। अपने शारीरिक एवं भौतिक हितों तथा सांसारिक शान्ति एवं समृद्धि का उपभोग करने के लिए मनुष्य को राज्य का शासन स्वीकार करना चाहिए, अपनी आत्मिक उन्नति एवं मोक्ष प्राप्त करने के लिए उसे चर्च के अनुशासन में रहना चाहिए।

स्पष्ट है कि ईसाई विचारकों ने बतलाया कि मनुष्य दो विभिन्न शक्तियों के अधीन है, दो तलवारों के अधीन है क्योंकि तलवार शासन-शक्ति का प्रतीक है। इन प्रारम्भिक चर्च पिताओं ने कहा कि परमात्मा ने, जो समस्त शक्तियों का स्रोत है एक तलवार सम्राट को दी है और दूसरी पोप को। इससे प्रभु ईसा ने यह प्रदर्शित किया है कि संसार में दो प्रकार की सत्ताएँ या शक्तियाँ हैं—राज्य और चर्च। इन दोनों सत्ताओं के मध्य पारस्परिक सहायता का भाव रहना चाहिए।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 178

किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि यदि चर्च मे भ्रष्टाचार आ जाए तो राज-सत्ता हस्तक्षेप नही करे और .यदि अराजकता उत्पन्न हो तो चर्च हस्तक्षेप नही करे। वैसे सामान्यतः दोनो क्षेत्राधिकारो को अलग-अलग रहना चाहिए और उन्हे एक दूसरे की मर्यादा की रक्षा करनी चाहिए। ईसा की इस उक्ति से कि 'लौकिक विषयो मे राजा का एव आत्मिक विषयो मे ईश्वर के आदेश का पालन करो' यह स्पष्ट है कि राज्य और चर्च मे किसी प्रकार के सघर्ष की आशका नही की जानी चाहिए और यह विश्वास किया जाना चाहिए कि दोनो मे पूर्ण शान्ति और सहयोग रहे।

दो तलवारो अथवा सत्ताओ के उपर्युक्त सिद्धान्त को सन्त ऑगस्टाइन के बाद पाँचवी शताब्दी के अन्त मे पोप गिलेशियस प्रथम (Pope Gelasius I, 492-496) ने अत्यन्त प्रभावशाली और कानूनी भाषा मे प्रतिपादित किया। उसने इस सिद्धान्त का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया। उसकी धारणा थी कि धर्म-सिद्धान्त के विषय मे सम्राट को अपनी इच्छा चर्च के आदेश के अधीन रखनी चाहिए। धार्मिक मामलो मे सम्राट का कर्त्तव्य बिशपो से कुछ सीखना है, उन्हे सिखाना नही। जहाँ तक सांसारिक विषयो का सम्बन्ध है बिशपो को सम्राट द्वारा बनाए हुए कानूनो का पालन करना चाहिए। गिलेशियस ने सम्राट अनस्टेसियस (Anastasius) को जो शब्द लिखे, उनमे उसका मन्तव्य एकदम स्पष्ट हो जाता है—"महान् सम्राट, इस ससार पर दो शक्तियाँ—बिशपगण तथा राजाओं का शासन है। इन दोनो मे पादरियो का उत्तरदायित्व अधिक भारी है, क्योकि उन्हे स्वयं राजाओ के कार्यों के लिए भी ईश्वर को हिसाब देना है......तुम्हे श्रद्धापूर्वक बिशपगण के सामने सिर झुकाना चाहिए जो धार्मिक विषयो के सचालन के लिए उत्तरदायी हैं; मुक्ति मार्ग पर चलने के लिए तुम्हें उनकी शरण मे जाना चाहिए और समस्त धार्मिक सस्कारो की प्राप्ति तथा प्रशासन मे, तुम्हें यह स्वीकार करना चाहिए कि तुम्हारा धर्म आदेश देना नहीं बल्कि उनके आदेशो का पालन करना है......ऐसे समस्त विषयो मे तुम्हें उनके निर्णय पर निर्भर करना चाहिए और उनसे अपनी इच्छा का पालन कराने का तुम्हे कोई अधिकार नहीं है......समस्त लौकिक व्यवहार मे धर्माधिकारीगण तुम्हारे कानूनो का पालन करते हैं क्योकि वे जानते हैं कि तुम्हे अपनी शक्तियाँ ऊपर से मिली हुई हैं।" गिलेशियस ने आग्रह किया कि जहाँ आध्यात्मिक मामलो का सम्बन्ध हो, धर्माचार्यों के लिए धार्मिक अदालतो मे मुकदमा चलना चाहिए, लौकिक अदालतो मे नही।

सेबाइन का कहना है कि "इस व्यावहारिक निष्कर्ष के पीछे जो दार्शनिक सिद्धान्त था, वह सन्त ऑगस्टाइन की शिक्षा के अनुसार था। सन्त ऑगस्टाइन के मत से आध्यात्मिक शासन और लौकिक शासन का भेद ईसाई धर्म का एक आवश्यक अग था। फलस्वरूप ईसाई धर्म का अनुसरण करने वाले प्रत्येक शासन के लिए यह एक नियम था। आध्यात्मिक और लौकिक सत्ता का एक ही हाथ मे सम्मिश्रण ईसाई धर्म के विरुद्ध है। ईसा के अवतार के पूर्व तो यह सम्भवतः विधि सम्मत हो

सकता था, लेकिन अब यह स्पष्ट रूप से शैतान का कार्य है। मनुष्य की दुर्बलता और प्राकृतिक अभिमान तथा अहकार को, कुचलने के लिए ईसा ने दोनो शक्तियो को अलग-अलग कर दिया था। ईसा मसीह ने स्वय राजकीय और आध्यात्मिक शक्ति का एक साथ प्रयोग नही किया। ईसाई धर्म के अनुसार एक व्यक्ति का एक ही समय मे राजा और पादरी होना गैर-कानूनी है। हाँ, यह अवश्य है कि दोनो शक्तियो को एक दूसरे की जरूरत है।"[1]

इस तरह स्पष्ट है कि सार-रूप मे दो तलवारो के सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण मानव जाति एक समाज है, किन्तु उसकी दो प्रकार की (आध्यात्मिक एवं भौतिक) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ईश्वर ने दो सत्ताओ का सृजन किया है—एक आध्यात्मिक सत्ता का और दूसरी लौकिक सत्ता का। दोनो का अपना अलग-अलग क्षेत्र है और अपने-अपने क्षेत्र मे दोनों स्वतन्त्र हैं; किन्तु दोनों को एक दूसरे की सहायता करनी चाहिए और यह उचित है कि दोनो एक दूसरे के अधिकारो का सम्मान करें। हाँ, असाधारण परिस्थिति मे एक सत्ता, दूसरी सत्ता के क्षेत्र मे हस्तक्षेप कर सकती है।

मध्य युग मे अनेक शताब्दियो तक इस सिद्धान्त की स्थिति इसी रूप मे बनी रही और राज्य तथा चर्च मे कोई पारस्परिक सघर्ष नही हुए। किन्तु शनैः-शनैः राज्य और चर्च के प्रति दोहरी निष्ठा के कारण अनेक विवाद उत्पन्न होने लगे। ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तर-काल मे पवित्र रोमन सम्राट हेनरी चतुर्थ और पोप ग्रेगरी सप्तम् के मध्य अनेक विवाद उत्पन्न हो गए, जिनके मूल मे दो तलवारो का सिद्धान्त ही था। चूंकि चर्च और राज्य दोनो एक ही समाज पर शासन करते थे, और दोनो के क्षेत्र पूर्णत. सुरक्षित नही थे, इसलिए झगडे अनिवार्य हो गए। झगडा बिशपों की नियुक्ति को लेकर हुआ। पहले से ही बिशपो की नियुक्ति लौकिक शासक करते आए थे। बिशप लोग चर्च की भूमि का प्रबन्ध किया करते थे। उनकी स्थिति राजा के सामन्तों के बराबर समझी जाती थी। लेकिन ग्रेगरी सप्तम् ने यह मत स्थिर किया कि चर्च एक स्वतन्त्र सस्था है, अतः बिशपो की नियुक्ति भी पोप द्वारा ही होनी चाहिए। यह विवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया—इतना कि पोप ने पवित्र रोमन सम्राट को ईसाई समाज से बहिष्कृत कर दिया और उसके ईसाई न रहने की घोषणा भी कर दी।

इस स्थिति का बडा ही अनर्थकारी परिणाम हुआ। सारी प्रजा ईसाई धर्म को मानने वाली थी; लेकिन अब वह गैर-ईसाई सम्राट की आज्ञाओ का पालन करने के लिए बाध्य नही थी। अब यदि वह ईसाई धर्म से बहिष्कृत सम्राट के आदेशो की अवहेलना कर देती तो भी इसे पाप नही समझा जाता। सम्राट ने इस स्थिति का विरोध किया और यह घोषणा की कि मुझे मेरी सत्ता ईश्वर से मिली है, इसलिए मैं स्वतन्त्र हूँ। पोप मेरे अधिकार क्षेत्र मे हस्तक्षेप नही कर सकता।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 180

राज्य ग्रौर चर्च के मध्य विवाद बढ़ता ही गया। चूंकि पोप ग्राध्यात्मिक जीवन का नियामक था, ग्रतः वह सम्राट को उसके ग्रवंध कार्यों के लिए धार्मिक दण्ड दे सकता था। इस ग्रधिकार की ग्राड लेकर पोप के समर्थको ने एक कदम ग्रौर ग्रागे वढाया। उन्होने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि राजा की सत्ता का ग्रन्तिम स्रोत चर्च है ग्रौर दोनो तलवारें वास्तव मे चर्च की ही हैं। उन्होने कहा कि चर्च ने ही ग्रपनी तलवार (शक्ति) राज्य को ग्रपनी ग्रोर से प्रयोग करने के निमित्त दे रखी है जिसे जब चाहे तब वह राज्य से पुनः वापिस ले सकता है। पोप के ग्रनुयायियो ने यह भी घोषणा की कि चर्च की सम्पत्ति राज्य के ग्रधिकार क्षेत्र मे नही है। जब फ्रांस के राजा ने चर्च की सम्पत्ति पर कर लगाना चाहा तो पोप के समर्थको ने न केवल उपर्युक्त मत ही प्रकट किया, वल्कि यह भी कहा कि राजा की सम्पत्ति पर भी पोप का पूरा-पूरा ग्रधिकार है ग्रौर राजा द्वारा उसका प्रयोग करने के लिए पोप की स्वीकृति प्राप्त करना ग्रावश्यक है। इस विवाद मे ग्रौर वाद मे जाकर बवारिया के लुई एवं पोप के मध्य उठने वाले विवाद के दौरान राज्य की ग्रोर से यह तर्क उपस्थित किया गया कि चर्च का सम्बन्ध केवल ग्राध्यात्मिक जीवन से है। ग्रत. उसे केवल धर्म सम्बन्धी कार्यों तक ही ग्रपने ग्रधिकारो का प्रयोग करना चाहिए। इस सिद्धान्त का सर्वोत्तम प्रतिपादन ग्रथवा पोपए मार्सिलियो ने किया, जिसकी चर्चा ग्रागे यथास्थान की जाएगी।

वास्तव मे दो तलवारो के सिद्धान्त ने मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन पर तो गहरा प्रभाव डाला ही, लेकिन यूरोप की राजनीतिक विशेषताग्रो को निर्धारित करने मे भी बड़ा योग दिया। "मध्य युग मे मुख्य प्रश्न दोनो सत्ताग्रो के ग्रापसी सम्बन्ध का था लेकिन इसका प्रभाव सुदूर व्यापी हुग्रा। ग्राध्यात्मिक स्वतन्त्रता के विश्वास ग्रौर ग्राध्यात्मिक स्वतन्त्रता के ग्रधिकार ने ही ग्राधुनिक काल के व्यक्ति-ग्रधिकार ग्रौर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विचारो को जन्म दिया।"[1]

ईसाइयत की देन
(The Contribution of Christianity)

(1) पाश्चात्य विचार एवं संस्कृति को ईसाइयत की प्रमुखतम देन यह है कि इसने मनुष्य के भौतिक एवं ग्राध्यात्मिक हितो मे एक स्पष्ट विभाजन किया है। इसके ग्रनुसार मनुष्य का दो तत्त्वो से निर्माण हुग्रा है—शरीर ग्रौर ग्रात्मा। शरीर का हित ग्रात्मा के हित से भिन्न होता है। शरीर के रूप मे मनुष्य—इन्द्रिय सुख, सांसारिक शक्ति एव समृद्धि ग्रादि की कामना करता है। ग्रात्मा के रूप में वह पाप से मुक्ति ग्रौर मोक्ष की प्राप्ति चाहता है। प्रथम को वह भौतिक ग्रथवा लौकिक समाज का सदस्य होकर एवं उसके ग्रादेशों का पालन करके पा सकता है, जबकि दूसरे को ईसाई चर्च की सदस्यता एव ईश्वर की ग्रनुकम्पा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि दोनो के प्रति निष्ठा रखना व्यक्ति का कर्त्तव्य है, किन्तु

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 181.

कभी-कभी भक्ति और राज्य-भक्ति मे सघर्ष की स्थिति हो जाती है। ऐसे सघर्ष मे चर्च की भक्ति अथवा पारलौकिक हित का स्थान प्रथम होना चाहिए। सार यह है कि "रोमन साम्राज्य के केन्द्र बिन्दु पर ही एक दैविक चर्च की स्थापना करके ईसाई धर्म ने एक नई बात उत्पन्न की। उसने एक ऐसे और सर्वथा नवीन समाज की धारणा को जन्म दिया जो राज्य के सामने खड़ा हुआ उससे स्वतन्त्र रह कर कार्य करने का दावा कर रहा था।"

(2) ईसाइयत ने जीवन के आध्यात्मिक मूल्यो की प्राप्ति को राज्य के कार्य-क्षेत्र से पृथक् कर दिया। ईसाइयत ने राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित करते हुए कहा कि उसका कार्य केवल लौकिक या भौतिक कार्यकलापो की देखभाल करना है, मनुष्य की आत्मिक उन्नति से उसका कोई सम्बन्ध नही है। इस क्षेत्र मे उसकी सहायता के लिए धर्म है।

(3) ईसाइयत ने मानव के भौतिक हितो की अपेक्षा उसके आत्मिक कल्याण पर अधिक महत्त्व देते हुए यह शिक्षा दी कि आध्यात्मिक हितो की पूर्ति किए बिना जीवन को शुभ नही कहा जा सकता।

(4) परमात्मा के पितृत्व और मनुष्य के भ्रातृत्व के अपने सिद्धान्त द्वारा ईसाइयत ने मानव-समानता के स्टोइक सिद्धान्त को साकार रूप दिया। उसने मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्मान करने का सन्देश देते हुए माँग की कि उसे साध्य समझा जाना चाहिए, साधन नही। ईसाइयत का प्रेम-सिद्धान्त स्टोइकवाद तथा मानवतावाद दोनो का अतिक्रमण कर गया। उसका करुणाशील तथा समता प्रधान दृष्टिकोण तभी से पाश्चात्य सस्कृति का एक अभिन्न अग बना हुआ है।

अन्ततः सेबाइन के शब्दो मे कहा जा सकता है कि, "ईसाई चर्च का एक ऐसी सस्था के रूप मे जिसे मनुष्य के आत्मिक विषयो के ऊपर राज्य से स्वतन्त्र रह कर शासन करने का अधिकार हो, अभ्युदय होना पाश्चात्य यूरोप के इतिहास मे, राजनीति और राजनीतिक दर्शन के दृष्टिकोण से, एक क्रान्तिकारी घटना थी।"

7 मध्यकालीन स्कूल : टॉमस एक्वीनास और उसका विद्यानुराग, मार्सीलियो ऑफ़ पेडुआ, आदि

(The Medieval School : Thomas Aquinas and his Scholasticism, Marsilio of Padua, etc.)

मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि

(The General Background of Medieval Political Thought)

रोमन साम्राज्य की गोधूलि पर यूरोपीय इतिहास मे जिस नवीन अध्याय का आरम्भ हुआ, राजनीतिक विचार की दृष्टि से उसे मध्ययुग (Medieval Period) कहा जाता है। मध्यकाल के आरम्भ होने की तिथि विवादास्पद है। यहाँ हमारे लिए इतना जानना काफी है कि प्राचीनकाल के अन्त और मध्यकाल के आरम्भ की सूचना देने वाली घटना जर्मन एव ट्यूटन जातियो की पश्चिमी रोमन साम्राज्य पर विजय है। मध्ययुग के 'प्रारम्भ' की अनिश्चितता के समान ही उसके 'अन्त' का भी ठीक-ठीक निश्चय नही हो पाया है, क्योकि इस युग की भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न समय पर समाप्ति हुई थी। फिर भी राजनीतिक विचार की दृष्टि से इसका अन्त सामान्यतः मैकियावेली (1469–1527) के साथ माना जाता है। मैकियावेली को राजदर्शन के विद्वान् मध्यकाल के अन्तिम और आधुनिक काल के प्रथम राजनीतिक विचारक की दृष्टि से स्वीकार करते हैं। ईसा के जन्म से मैकियावेली तक फैला हुआ लगभग 1500 वर्ष के इस युग का राजदर्शन के इतिहास मे अपना विशेष महत्त्व है। प्रस्तुत प्रसग मे सर्वप्रथम हम उन प्रधान तत्त्वो का उल्लेख करेंगे जिन्होंने मध्ययुगीन राजनीतिक विचारो पर अपना प्रभाव डाला। ये तत्त्व निम्नलिखित थे—

1 ट्यूटन (जर्मन) जातियो के विचार।
2 सामन्तवाद।
3 पोप की शक्ति का विकास।
4 पवित्र रोमन साम्राज्य।
5. राष्ट्रीयता की भावना का अभ्युदय।

1. ट्यूटन (जर्मन) जातियों के राजनीतिक विचार
(The Political Ideas of the Teutonic People)

दुर्दान्त ट्यूटन जाति ने न केवल अस्त होते हुए रोमन साम्राज्य के सूर्य को पूर्णत अस्त कर दिया बल्कि पाश्चात्य जगत् को नवीन राजनीतिक विचार भी प्रदान किए। ट्यूटन जाति अपने साथ जो कुछ लाई और रोमनो से उसे जो कुछ उत्तराधिकार मे मिला, उन दोनो की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण ही उस सामन्तवाद का जन्म हुआ जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। रोमन साम्राज्य को पदाक्रान्त करने के बाद ट्यूटन जातियो ने जहाँ-कही भी शासन-सत्ता स्थापित की वही ये अपनी राजनीतिक परम्पराएँ और सस्थाएँ लेते गए। इन ट्यूटन जातियो मे प्रमुख फ्रैंक, सैक्सन, एगल तथा जूट, अलैमन तथा बर्गण्डियन, वडाल, सुएव तथा लम्बार्ड जातियाँ थी। पाश्चात्य यूरोप मे जो वर्तमान राज्य पाए जाते हैं, उनमे से अधिकांश के निर्माण मे इन्ही जातियो का विशेष भाग रहा है और आज भी इन पर उनके राजनीतिक विचारो की स्पष्ट छाप परिलक्षित है।

ट्यूटन जातियो ने जिन प्रमुख राजनीतिक विचारो को पुष्पित किया वे सक्षेप मे निम्नलिखित हैं—

(1) वैयक्तिक स्वतन्त्रता–ट्यूटन (जर्मन) लोग राज्य की तुलना मे व्यक्ति को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि वे लोग योद्धा थे और उनके लिए यह सम्भव नही था कि वे व्यक्ति की शौर्य-भावना का अनादर करें। प्राइम्स के शब्दो मे, "उनके हृदय मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और राज्य की तुलना मे व्यक्ति के मूल्य और महत्त्व का बहुत बड़ा सम्मान था।" वैयक्तिक महत्त्व का यह भाव उनकी न्याय-व्यवस्था मे भी स्पष्टत अभिव्यक्त होता था। वे अपराधी को सजा देने का कार्य राज्य का नही मानते थे। वे अपराधी को उस व्यक्ति को सौंप देते थे जिसके प्रति अपराध किया गया हो। इस तरह केवल वही व्यक्ति अपराधी को दण्ड देता था जिसे क्षति पहुँचती थी। यह विचार उस समय भी प्रचलित रहा जब अपराधी को दण्ड देना राज्य का धर्म माना गया, अर्थात् ट्यूटनो ने अपराधियो को दण्डित करने का कार्य अपने हाथो मे ले लिया। उस समय भी अपराधी को दिए जाने वाले अर्थदण्ड का एक अश उस व्यक्ति को दिया जाता था जिसे अपराधी ने पीडित या क्षतिग्रस्त किया हो।

ट्यूटन जातियो की समस्त प्रारम्भिक सरकारो मे लोकतन्त्र के तत्त्व मौजूद थे। सामाजिक जीवन की इकाई व्यक्ति था, राज्य नहीं। ईसाइयत भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और व्यक्ति के मूल्य पर बल देती थी। अत उस समय यह आशा करना स्वाभाविक था कि इन दोनो विचारधाराओ मे ताल-मेल बैठ जाएगा। लेकिन यह आशा फलीभूत नही हुई क्योंकि व्यक्ति के महत्त्व और मूल्य के विचार आश्चर्यजनक रूप से शीघ्र ही लुप्त हो गए। मध्ययुग के निगम, श्रेणी, समुदाय अथवा धार्मिक संघ की सदस्यता के जीवन ने व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर दिया। परन्तु फिर भी सामन्ती व्यवस्था के राजनीतिक संगठन मे व्यक्तिगत अधिकारो को

कुछ अंशों तक सुरक्षित रहने का सौभाग्य मिला। इस तरह व्यक्ति की महत्ता के विचार का समूल लोप नहीं हो पाया। 'पुनरुत्थान' (Renaissance) तथा 'सुधार' (Reformation) के दो महान् आन्दोलनों से व्यक्ति की महत्ता के विचार को पुनर्जीवन मिला। फलस्वरूप यह सिद्धान्त आधुनिक युग तक आ पहुँचा।

(2) प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का विचार—यूरोप में प्रतिनिधि शासन-प्रणाली (Representative Government) के विचार को पुष्ट करने का श्रेय भी वास्तव में ट्यूटन जाति को ही है। प्रारम्भ में ट्यूटन लोगों में दो प्रकार की सभाएँ थीं—राष्ट्रीय सभा और स्थानीय प्रतिनिधि सभा। राष्ट्रीय सभा में जन-जाति के समस्त स्वतन्त्र सदस्य होते थे। यह सभा मुखियाओं का निर्वाचन करती थी, अपने सम्मुख पेश किए गए प्रस्तावों पर निर्णय देती थी और कभी-कभी विशेष मुकदमों की सुनवाई तथा उन पर निर्णय देने का कार्य भी करती थी। किन्तु राजतन्त्रों के स्थापित होने पर इस सभा का लोप हो गया। स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में, स्थानीय क्षेत्रों में, स्थानीय प्रतिनिधि सभाएँ होती थीं। ये सभाएँ स्थानीय प्रश्नों का विचार तथा विवादों का निर्णय करती थीं। ये संस्थाएँ यूरोप में मध्ययुग के अन्त तक मौजूद रहीं। पुनर्जीवित रोमन कानून के ऊपर आधारित एक नवीन न्याय प्रणाली ने इन्हें समाप्त कर दिया, किन्तु स्थानीय प्रतिनिधि सभाओं का विचार विद्यमान रहा। इंगलैंड में लोकसभा का विकास इसी प्रकार की सभाओं का आदर्श लेकर हुआ। परिवर्तन केवल इतना ही किया गया कि स्थानीय प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को सम्पूर्ण राष्ट्र की लोकसभा के लिए स्वीकार किया गया। ट्यूटनों की स्थानीय प्रतिनिधि सभाओं ने ही जिला (Borough) और ग्राम (County) परिषद् जैसी स्थानीय संस्थाओं की स्थापना के लिए आधार प्रदान किया।

(3) वैध शासन—जर्मन जातियों में प्रारम्भ में राजा के निर्वाचन की व्यवस्था थी। बाद में यह पद वंशानुगत बन गया तथापि सैद्धान्तिक रूप से राजा के चुनाव के विचार को स्वीकार किया जाता रहा। अनेक शताब्दियों तक सम्राट का निर्वाचन मण्डल द्वारा होता रहा। फ्रांस और इंगलैंड में राजतन्त्रात्मक शासन होने पर भी यह विचार बना रहा कि जनता राजा को अपना कर्त्तव्य पालन न करने पर हटा सकती है। 1688 की क्रान्ति तथा हेनोवर वंश के सिंहासनारूढ होने पर यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से स्थापित हो गया कि जनता के प्रतिनिधियों को सिंहासन प्रदान करने का अधिकार है। इस प्रकार नाममात्र का राजतन्त्र वास्तव में गणतन्त्र में परिवर्तित हो गया। स्पष्ट है कि निर्वाचित राजतन्त्र के ट्यूटोनिक सिद्धान्त ने वर्तमान वैध शासन प्रणाली के सिद्धान्त को विकसित करने में बड़ा सहयोग दिया।

(4) कानून का विचार—ट्यूटन लोगों की मान्यता थी कि कानून का निर्माण अथवा संशोधन सम्पूर्ण जनता की इच्छा से होता है, अतः जनता की सहमति से ही इसे लागू किया जाना चाहिए। व्यक्ति को कानूनी अधिकार केवल व्यक्ति होने के नाते प्राप्त हैं न कि राज्य का सदस्य होने के नाते। कानून सम्बन्धी

यह धारणा रोमन कानून की धारणा से भिन्न थी। रोमन साम्राज्य मे कानून-निर्माण की शक्ति जनता मे निहित न होकर सम्राट मे केन्द्रित थी। रोमन कानून का आधार क्षेत्रीय था जिसे साम्राज्य के अधीन सब लोगो पर लागू किया जाता था ट्यूटोनिक कानून का आधार वैयक्तिक था। ट्यूटन कानून प्रणाली मे प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह अपने कानून के आधार पर न्याय प्राप्त करे। ट्यूटन अथवा जर्मन जाति कानून को एक कबीले विशेष की वस्तु मानती थी। कानून कबीले विशेष का एकता-सूत्र था जो कबीले के साथ-साथ भ्रमण करता था। वास्तव मे ट्यूटन कानून रीति-रिवाजो पर आधारित होता था। राजा प्रायः प्रचलित रीति-रिवाजो को सहिताबद्ध कराके उन्हे कानून का रूप देता था और स्वय को उनसे बँधा हुआ अनुभव करता था। वह अपनी इच्छा से किसी कानून मे परिवर्तन नही करता था। ट्यूटन शासन मे कानून का पता लगाना, उसकी परिभाषा और उद्घोषणा करना न्यायालयो का कार्य था, जो स्थानीय सार्वजनिक सभाएँ होती थी।

जब ट्यूटन लोग रोम मे बस गए तो वे रोमन कानून के अधीनस्थ नही हुए बल्कि उन्होने अपने कानून और उसके अनुसार शासित होने के अधिकार को बनाए रखा। उन्होंने यूरोप मे यह विचार सुदृढ किया कि कानून का मुख्य आधार जनता मे प्रचलित रीति-रिवाज है और कानून का अन्तिम स्रोत जनता है। उन्होने वैयक्तिक कानून के विचार भी पुष्ट किए।

इस तरह हमने देखा कि प्रतिनिधि स्थानीय सभाएँ, निर्वाचित राजतन्त्र तथा एक सामान्य कानून की प्रणाली—ये तीन लोकतन्त्री सस्थाएँ ट्यूटन जाति द्वारा ससार को दी गई, जिन्होने यूरोप मे स्वतन्त्र सांविधानिक शासन के भावी विकास पर गहरा प्रभाव डाला।

2. सामन्तवाद
(Feudalism)

मध्ययुगीन राजनीतिक विचारो पर प्रभाव डालने वाला दूसरा प्रधान तत्त्व सामन्तवाद था। यह प्राचीन रोमन व्यवस्था और नवीन ट्यूटोनिक सस्थाओ की एक दूसरे के ऊपर क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम था। सेबाइन के अनुसार, "सामन्तवादी सस्थान मध्ययुग पर उतने ही पूर्ण रूप से छाए हुए थे जितने नगर-राज्य प्राचीन काल पर।"

सामन्त प्रथा ने केवल यूरोप के सामाजिक जीवन को ही प्रभावित नही किया, बल्कि जापान, भारत आदि देशो मे भी यह खूब विकसित हुई। शार्लमेन (Charlemann) द्वारा स्थापित रोमन साम्राज्य की समाप्ति पर जो अराजकता पैदा हुई उसमे 9वी से लगभग 13वीं शताब्दी तक सामन्तवाद विकसित होता रहा। इसके बाद व्यापार की उन्नति के कारण यह पतन की ओर बढ चला। वस्तुत: जब यूरोप मे किसी सर्वमान्य सत्ता का अभाव था तब सामन्ती प्रथा ने शान्ति बनाए रखने और जन-जीवन को सुरक्षित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सी. एफ. स्ट्रॉग

के शब्दों में, "सामन्तवाद एक प्रकार का मध्यकालीन संविधानवाद था, क्योंकि यह कुछ हद तक सामाजिक और राजनीतिक संगठन के साधारणतः स्वीकृत रूप में व्यवस्थित था। इसका मूल लक्षण भूमि का छोटी इकाइयों में विभाजन था, जिसका सामान्य सिद्धान्त यह था—प्रत्येक व्यक्ति का एक स्वामी होना चाहिए।"

सामन्तवाद का विकास पूर्व मध्यकालीन युग की अव्यवस्था और आधुनिक राज्य की व्यवस्था की मध्यवर्ती खाई को पाटने के लिए एक अनिवार्य पुल के रूप में हुआ था। यह शासन-प्रणाली कहीं-कहीं राजतन्त्र में (उदाहरणार्थ इंगलैंड में) परिवर्तित हो गई। पहले स्वेच्छाचारी राजतन्त्र और फिर वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई। केन्द्रीयकरण के सबसे बड़े प्रयत्न यूरोप के पश्चिमी छोर में हुए—विशेषकर इंगलैंड एवं फ्रांस में। कुछ प्रयत्न स्पेन में भी हुए। राजाओं द्वारा विशाल सामन्तिक जागीरों को नियन्त्रित और समाप्त करके अपने हाथों में शक्ति का केन्द्रीयकरण करने की नीति के प्रभावशील प्रयत्न ग्यारहवीं शताब्दी से अपनाए गए।

सामन्तवादी पिरामिडाकार संगठन में शीर्ष पर राजा का स्थान था और उसके नीचे प्रधान सामन्त, उप-सामन्त आदि होते थे। प्रधान सामन्तों में ड्यूक काउन्ट, मार्गेन, आर्कबिशप, बिशप आदि उच्च पदासीन व्यक्ति थे। ये अपनी अधिकांश भूमि को उन्हीं शर्तों के आधार पर काउन्ट, वाई काउन्ट आदि उप-सामन्तों (Sub-Vassals) में बाँट देते थे जिन शर्तों पर राजा उन्हें अपनी भूमि विभाजित करता था। ये उप-सामन्त भी इसी प्रकार की शर्तों पर अपनी भूमि नाइट्स कहलाने वाले छोटे सामन्तों में विभाजित कर देते थे।

इस प्रकार सामन्तवाद के प्रमुखतः दो प्रचलित रूप थे—एक राजनीतिक, दूसरा आर्थिक। ये दोनों रूप अलग-अलग रहते हुए भी अपनी परिपक्व अवस्था में एकीकृत हो गए। राजनीतिक सामन्तवाद विकेन्द्रीकरण के रूप में प्रकट हुआ जिसके अन्तर्गत सुरक्षा, न्याय, सैनिक शक्ति की व्यवस्था आदि के महत्त्वपूर्ण कार्य राजा नहीं बल्कि उसके सामन्त करते थे। सामन्तवाद के इस शिखरोन्मुखी (Hierarchy) रूप में व्यक्ति अपने से ऊपर वाले स्वामियों के और ये स्वामी अपने से उच्चतर स्वामियों के अधीनस्थ थे। इस क्रम में अन्त में उच्चतम स्वामी राजा का सेवक होता था। सामन्तवादी व्यवस्था में राजा का जनता से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता था, जनता की स्थिति सेवक की-सी थी जिसका प्रमुख कार्य अपने उच्च अधिकारी के आदेशों का पालन करना था। आर्थिक सामन्तवाद का अर्थ भूमि अधिकरण (Land Tenure) की ऐसी प्रणाली से था जिसके अन्तर्गत भूमि जोतने वाले लोग उस भूमि को किसी दूसरे से जागीर (Fief) के रूप में प्राप्त करते थे। वे उस भूमि के वास्तविक स्वामी नहीं होते थे किन्तु उनके हित वैसे ही होते थे जैसे स्वामियों के थे। जब तक भूमिधर शर्तों और कर्त्तव्यों का पालन करते थे तब तक भूमि पर उनका अधिकार बना रहता था, अन्यथा भूमि उनसे वापिस छीनी जाकर दूसरों को दे दी जाती थी। शर्तों का पालन किया जाने पर भूमिधरों से भूमि का अधिकार उनके उत्तराधिकारियों को हस्तान्तरित कर दिया जाता था। वैसे भूमि

का सर्वोच्च स्वामी राजा होता था जो अपने प्रत्यक्ष अभिवेक्षण में स्वयं सम्पूर्ण भूमि पर खेती कराने में असमर्थ होने से भूमि को अनेक टुकडो मे विभक्त करके बहुत से व्यक्तियो (सामन्तो आदि) मे बांट देता था। ये सामन्त उन्ही शर्तों पर अपने से छोटे उप-सामन्तो और ये उप-सामन्त अपने से भी छोटे अन्य व्यक्तियो मे उन्ही शर्तों पर भूमि विभाजित कर देते थे। इस तरह भू-खण्डो के विभाग, उप-विभाग होते चले जाते थे।

सम्राट तथा सामन्त का सम्बन्ध

सामन्तवादी प्रथा मे राजा या अधिपति और उसके सामन्तो का सम्बन्ध बराबर का नही था। सामन्त को अधिपति अर्थात् राजा या सम्राट के प्रति निष्ठावान रहना पडता था और उसकी आज्ञा भी माननी पड़ती थी। सामन्त का कर्त्तव्य था कि वह आवश्यकतानुसार अधिपति की सैनिक सेवा करे। वह अधिपति के दरबार मे हाजिर होता था और उसे अधिपति को भेंट देनी पड़ती थी। उसे अनेक प्रकार के भुगतान करने पडते थे। उसके ये विशिष्ट कर्त्तव्य निश्चित और सीमित थे। उदाहरणार्थ, यह तय था कि किस सामन्त को कितनी और किस प्रकार की सैनिक सेवा करनी है? अधिपति को भी अपने सामन्तो की सहायता और रक्षा करनी पडती थी। वह उन आचारो अथवा चार्टरो का पालन करता था जो सामन्तो के अधिकारो और सुविधाओ की व्याख्या करते थे।

सैद्धान्तिक रूप से सामन्त अपनी काश्त को छोडकर अधिपति के प्रति अपनी पराधीनता से मुक्ति पा सकते थे। लेकिन, व्यवहार मे प्राय ऐसा बहुत ही कम होता था। यदि अधिपति सामन्त को उसके अधिकारो से वंचित करता तो सामन्त जमीन को अपने अधिकार मे रखते हुए अपने दायित्वो को निभाने से इन्कार कर सकता था। सेबाइन के शब्दो मे वस्तुत: "इस सामन्ती व्यवस्था मे पारस्परिकता ऐच्छिक कार्य-सम्पादन और गर्भित संविदा एक ऐसा भाव था जो आधुनिक राजनीतिक सम्बन्धो से पूरी तरह लुप्त हो गया है। यह स्थिति कुछ ऐसी थी कि जब तक नागरिक की स्वतन्त्रताएँ मान्य न हो, वह एक निश्चित सीमा से आगे कर देना अस्वीकार कर दे, निश्चित समय से परे सैनिक सेवा न करे या दोनो चीजो से इन्कार कर दे। इस दृष्टि से राजा की स्थिति सिद्धान्त मे तो दुर्बल थी ही, वह व्यवहार मे दुगुनी कमजोर थी। सामन्ती राजतन्त्र आधुनिक राज्य की तुलना मे बहुत अधिक विकेन्द्रित प्रतीत होता है। दूसरी ओर सामन्ती भूमि व्यवस्था के अन्तर्गत कभी-कभी राजा या विशेष रूप से कोई परिवार बेदखली जैसे विधियुक्त उपायो द्वारा अपनी शक्ति मे वृद्धि कर सकता था। फ्रांस मे कैपेटियन वंश (Capetian Dynasty) की शक्ति स्वयं सामन्त के क्रियान्वयन के कारण ही शीघ्र ही बढ़ गई थी।"[1]

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 200.

सामन्ती दरबार (The Feudal Court)

• अधिपति और उसके सामन्तों का दरबार एक विशिष्ट सामन्ती संस्था थी। यह ऐसी परिषद् थी जो सामन्ती-व्यवस्था के विभिन्न विवादों का निर्णय करती थी। अधिपति अथवा सामन्त जब कभी यह अनुभव करते थे कि उनके अधिकार का अतिक्रमण हुआ है तो वे दरबार के अन्य सदस्यों से उचित निर्णय की अपील करते थे। वह युग ऐसा था जब चार्टरों और परम्परागत अधिकारों की कठोरतापूर्वक रक्षा की जाती थी। ऐसा नहीं था कि राजा या अधिपति अपनी इच्छानुसार ही निर्णय कर ले।

सामन्ती दरबार सैद्धान्तिक रूप से प्रत्येक सामन्त को गारन्टी देता था कि विशेष करारों या चार्टरों और कानून के अनुसार उसके मामले की सुनवाई की जाएगी। दरबार द्वारा किए जाने वाले प्रत्येक निर्णय को दरबार के सदस्यों की सम्मिलित शक्ति द्वारा लागू किया जाता था। जहाँ अधिकांशतः निर्णय सामन्तों के विवादों के सम्बन्ध में दिए जाते थे, वहाँ कुछ मामलों में निर्णय राजा के विरुद्ध भी हो जाते थे। मैग्नाकार्टा की 61वीं धारा में राजा जॉन (John) के 25 बैरनों की एक समिति को चार्टर लागू करने का अधिकार दिया गया था। "यह समिति राजा के ऊपर आरोपित विवशता को वैध रूप देने की एक चेष्टा थी।"

वास्तव में आदर्श सामन्ती संगठन में राजा 'समकक्षों में प्रथम' (Primus Interpares) था। 'एसाइजेज ऑफ जेरुसलम' (Assizes of the Jerusalem) ने यह स्पष्ट रूप से निश्चित कर दिया था कि सामन्तगण अपनी उन न्यायपूर्ण स्वतन्त्रताओं की रक्षा के लिए अधिपति को बाध्य कर सकते हैं जो दरबार द्वारा निर्धारित कर दी गई हों। दरअसल में दरबार स्वयं या राजा और दरबार दोनों मिलकर संयुक्त शासन करते थे जिसमें आधुनिक राज्यों के विधायी, कार्यकारी तथा न्यायिक—सभी प्रकार के कार्य सम्मिलित थे।

सामन्तवाद और राज्य (Feudalism and Commonwealth)

मध्ययुग में राजतन्त्र के बारे में दो विचार थे। प्रथम विचार के अनुसार राजा का अपने सामन्तों के साथ संविदागत सम्बन्ध था। राजा स्वयं इसमें एक पक्ष था। द्वितीय विचार के अनुसार राजा राज्य का प्रधान था। लेकिन ये दोनों ही विचार परस्पर घुल-मिल गए थे। एक ओर तो यह माना जाता था कि विधि से राजा का निर्माण हुआ है और वह विधि के अधीन है। दूसरी ओर यह भी माना जाता था कि राजा के विरुद्ध न तो कोई आदेश ही निकाला जाएगा और न उसे अपनी अदालतों की सामान्य प्रक्रिया द्वारा बाध्य किया जाएगा। सम्भवतः इन दोनों विचारों के समन्वय ने ही सामन्ती दरबार को एक ऐसा स्रोत बना दिया जिससे उत्तर मध्ययुग के संविधानिक सिद्धान्त और संस्थाएँ विकसित हुईं।

सामन्त प्रथा का मध्ययुगीन राजनीतिक विचारों पर प्रभाव

(1) राजा का नियन्त्रण—सामन्त-प्रथा के कारण राजा को प्रजा पर 16वीं, 17वीं शताब्दियों के यूरोपियन राजाओं की भाँति निरंकुश अधिकार प्राप्त

नही थे । उनकी शक्ति यथार्थतः बहुत सीमित तथा नियन्त्रित थी । राज्य के अनेक कार्य सामन्तो द्वारा किए जाते थे । सेना की दृष्टि से राजा सामन्तो पर निर्भर था। सामन्तो का प्रभाव राजा के अस्तित्व तक को खतरे में डाल सकता था। राज्याभिषेक के समय सामन्त राजा से जनता के कानूनो और रीति-रिवाजो की रक्षा की प्रतिज्ञा करवाते थे। राजा की निरकुशता पर एक नियन्त्रण मध्यकालीन कानून की वह धारणा थी जिसके अनुसार राजा रिवाज के रूप में चले आने वाले कानूनो के पालन के लिए बाध्य था और अपनी इच्छा से किसी कानून को नही बदल सकता था।

(2) **अधिकार कर्त्तव्य का सिद्धान्त या सविदा का विचार**—सामन्ती व्यवस्था की एक बड़ी विशेषता अधिकारो एव कर्त्तव्यो का उभयपक्षी होना था, अर्थात् स्वामी तथा सेवक के सम्बन्ध समझौते से निश्चित होते थे। स्वामी के अधिकार सेवक के कर्त्तव्य थे तो इसी प्रकार सेवक के अधिकार स्वामी के कर्त्तव्य थे। राजा भी इन बन्धनो मे बँधा था। कुछ विद्वानो के अनुसार इसी का विकसित रूप 'सामाजिक समझौते का सिद्धान्त' हुआ।

(3) **सत्ता का विकेन्द्रीकरण**—सामन्त पद्धति मे शासन-सत्ता राजा से निम्न वर्ग तक के सामन्तो और सरदारो में विभाजित थी जो अपने-अपने स्थानीय प्रदेश म सर्वोच्च अधिकारी होते थे। ऐसी दशा में सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) के विचार को कोई स्थान न था।

(4) **स्वामी-भक्ति का महत्त्व**—इस व्यवस्था म स्वामी-भक्ति को बहुत उच्च स्थान दिया जाता था। सामन्तो म, चाहे व छोटे हो या बडे, आज्ञापालन तथा कर्त्तव्यपरायणता के भाव विद्यमान थे। इससे वर्तमान राष्ट्रीय राज्यो के विकास म बड़ी सहायता मिली। राजा न सामन्तो की वफादारी का लाभ उठाकर विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। युद्ध एव शान्ति के दोनो ही समयो मे सामन्तो को समुदाय और राजा की सेवा करनी पड़ती थी। अत इस विचार को बल मिला कि प्रत्येक व्यक्ति का राज्य एव समाज के प्रति कुछ कर्त्तव्य है जिसका पालन किया जाना चाहिए।

3. पोप की शक्ति का विकास
(Growth of the Papal Power)

मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव पोप एव उसके चर्च का पडा। आक्रान्ता बर्बरो मे ईसाई धर्म, चर्च पिताओ और चर्च परम्पराओ के प्रति श्रद्धा थी। चर्च ने भी विजेता जातियो की ईसाई धर्म के प्रति श्रद्धा का पूरा लाभ उठाया। उसने इन्हे ईसाई धर्मावलम्बी बना दिया और उनमे सभ्यता के अकुर बोए। सकट की घडियो मे साहसपूर्वक डटे रहने के कारण ही चर्च न केवल जीवित रहा प्रत्युत उसने अपने को और भी अधिक सबल बनाया। चर्च की शक्ति का इतना विकास हुआ कि मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा निश्चित करने मे यह सबसे अधिक प्रभावपूर्ण साधन बन गया। लोग इसे पवित्र कैथोलिक चर्च (The Holy Catholic Church) कहकर पुकारने लगे। चर्च एक महान् धार्मिक सगठन

के रूप मे विकसित हुआ। उसके प्रधान तथा ईश्वर के प्रतिनिधि पोप की छत्रछाया मे सम्पूर्ण पश्चिमी ईसाई ससार एकता के सूत्र मे बँध गया।

पोप ग्रेगरी महान् ने अपनी योग्यता, राजनीतिज्ञता और दूरदर्शिता से चर्च के प्रभाव को बढाया। उसने पश्चिमी जगत के शासको को श्रेष्ठ उपदेश और चेतावनी देने वाले पत्रो द्वारा अपना प्रभाव फैलाना शुरू किया। उसने लम्बार्डों के खिलाफ इटली की रक्षा करने मे अपूर्व सफलता प्राप्त की। मध्य एवं दक्षिणी इटली मे शासन का कार्य क्रियात्मक रूप से उसने अपने हाथ मे ले लिया। उसने बिशपो को चर्च की जागीरो मे सुशासन स्थापित करने और धार्मिक कार्यों के साथ-साथ लोक-कल्याणकारी राजनीतिक कार्य करने को कहा। इस तरह ग्रेगरी ने रोम के पोप की प्रभुता के क्षेत्र को विशाल और सर्वमान्य बनाने का प्रयत्न किया। उसने पादरियो के नियमो के सम्बन्ध मे एक पुस्तक (A Book of Pastoral Rules) द्वारा भी पोपशाही के प्रभाव का विस्तार किया।

कुछ समय बाद लम्बार्डों ने इटली पर पुन: आक्रमण कर दिया। इस समय रोमन सम्राट इस्लामी आक्रमण का सामना करने में व्यस्त था। अत: पोप ने फ्रैंकिश राजा चार्ल्स मार्टल (The Frankish King Charles Martel) से सहायता मांगी। उसने और उसके पुत्र पेपिन ने लम्बार्डों को मार भगाया। जो प्रदेश उन्होंने लम्बार्डों से वापिस छीने और जिस पर पहले इटली के पूर्वी सम्राट का अधिकार था, वे उन्होंने पोप को दे दिए। इस तरह अब पोपशाही के हाथ मे सैद्धान्तिक दृष्टि से भी वह राजनीतिक शक्ति आ गई जो व्यावहारिक रूप से उसके पास पहले से ही थी। पोप ने इस उपहार के बदले मे 754 ई मे पेपिन को फ्रैंको का वैध राजा स्वीकार किया।

पोप की शक्ति मे वृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण अवसर पोप लियो तृतीय के समय आया। फ्रैंकिश राजा पेपिन के पुत्र शार्लमैन (768–814 ई.) ने यूरोप के अधिकांश भाग को जीत लिया। उस समय पोप लियो तृतीय और उसके राजनीतिक विरोधियों के मध्य चल रहे विवाद का शार्लमैन ने सफल निर्णय किया। इसके उपलक्ष मे एक धार्मिक उत्सव का आयोजन किया गया। जब शार्लमैन रोम के सेंट पीटर गिर्जे मे प्रार्थना करते हुए नतमस्तक हुआ, तभी (800 ई. क्रिसमिस का दिन) पोप लियो तृतीय ने उसके सिर पर सम्राट का मुकुट रख दिया। यह घटना महत्त्व की दृष्टि से बड़ी ही असाधारण सिद्ध हुई। इसके तीन परिणाम निकले—प्रथम, यह घटना इस बात की सूचक हुई कि बर्बरो के आक्रमण से खण्डित सार्वभौमिकता राज्य को पुन: मिल गई है; द्वितीय, इस घटना के बाद यह सिद्धान्त निकाला गया कि पोप ने इस विधि द्वारा शासन-सत्ता सम्राट को प्रदान की है और सम्राट को पोप के आदेशो का पालन करना चाहिए; तृतीय, यह घटना लौकिक विषयो मे पोप के हस्तक्षेप का प्रारम्भ बिन्दु बन गई। अब पोपशाही को आध्यात्मिक संस्था का राजनीतिक क्षेत्र मे अधिकाधिक पदार्पण होने लगा।

मध्ययुग मे पोप और चर्च की सर्वोच्च सत्ता का समर्थन करने के लिए कुछ झूठे प्रमाण-पत्र गढ़े गए जिनका उद्देश्य "बिशपो की स्थिति को मजबूत करना, विशेषकर लौकिक शासको द्वारा उनकी पदच्युति और सम्पत्ति की जब्ती को रोकना, अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आने वाले पादरियो के ऊपर अपने नियन्त्रण को दृढ़ करना, और उनको अपनी परिषदो (Synods) के अतिरिक्त अन्य किसी निरीक्षण से स्वतन्त्र करना था। इन उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए वे आर्कबिशपो की सत्ता को कम करना (क्योंकि आर्कबिशप लौकिक शासको के अभिकर्ता हो सकते थे) और पोपो की शक्ति को बढ़ाना चाहते थे। इन आज्ञप्तियों ने बिशपो को यह अधिकार दे दिया कि वे अपने मामले की रोम मे अपील कर सकते थे और जब तक निर्णय न हो जाता, वे अपनी पदच्युति और सम्पत्ति की हानि से बच सकते थे। पोप का दरबार किसी भी धार्मिक मामलो का निर्णय बड़ी ही शक्तिशाली भाषा मे करता था। इसलिए, नवी शताब्दी की ये झूठी धर्माज्ञप्तियाँ इस प्रवृत्ति को प्रकट करती थी कि चर्च को फ्रैंकिश क्षेत्र मे पोप की गद्दी मे केन्द्रित किया जाए, बिशप को चर्च के शासन की एक इकाई बनाया जाए, उसे सीधे पोप के प्रति उत्तरदायी बनाया जाए और आर्कबिशप की स्थिति को पोप और बिशप के बीच एक मध्यम की सी रहने दिया जाए। स्थूल रूप मे रोमन चर्च मे यही शासन-प्रणाली प्रचलित हो गई। जब 11वीं शताब्दी मे लोग इन झूठी धर्माज्ञप्तियों को सच्चा मानने लगे, उस समय इनके आधार पर ऐसे अनेक तर्क उपस्थित किए गए कि चर्च को लौकिक नियन्त्रण से स्वतन्त्रता प्राप्त हो, तथा धार्मिक शासन मे पोप ही सर्वसर्वा रहे।"[1] अनेक शताब्दियो तक पोप इन आज्ञप्तियो को अपने अधिकारो के समर्थन का पुष्ट प्रमाण मानते रहे। यद्यपि 1439 ई. मे लोरेंजो वाल्ला (Lorenzo Valla) ने इनका भंडाफोड कर दिया, लेकिन फिर भी मध्ययुग मे इन्हे पोप के प्रभुत्व का महत्त्वपूर्ण प्रमाण समझा जाता रहा।

शार्लमैन के सिर पर पोप द्वारा मुकुट सुशोभित करने के बाद से पोपशाही का राजनीतिक महत्त्व तेजी से बढने लगा। पर साथ ही पोप-पद का निर्वाचन सघर्षमय और कटुतापूर्ण बन गए जिनमे कभी-कभी तो हिंसात्मक घटनाएँ तक होने लगी। 10वी शताब्दी मे पोपो का नैतिक और व्यक्तिगत चरित्र इतना गिर गया कि चर्च सुधार का आन्दोलन शुरू हुआ और पोप के निर्वाचन का अधिकार कार्डिनलो (Cardinals) के मण्डल को हस्तान्तरित कर दिया गया (इससे पूर्व यह अधिकार पादरियो तथा रोम निवासियो को था)। सुधार-आन्दोलन का प्रारम्भ यद्यपि 910 ई. मे क्लूनी के मठ (The Monastery of Cluny) की स्थापना से हुआ लेकिन सुधार तब तक नही हो सके जब तक हिल्डेब्रैण्ड (Hildebrand) पोप ग्रेगरी सप्तम् के रूप मे 1073 ई. मे पदासीन नही हो गया। उसने 1075 ई. मे बिशपों के चुनाव मे लौकिक शासको का हस्तक्षेप बिलकुल बन्द कर दिया। अगले वर्ष सम्राट हेनरी चतुर्थ (Emperor Henry IV) ने ग्रेगरी को पदच्युत करने का

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ 206

प्रयत्न किया लेकिन बदले में पोप ग्रेगरी ने ही सम्राट को धर्म-बहिष्कृत घोषित कर दिया। उसने सामन्तों को सामन्ती शपथ भी नहीं दिलवाई। ग्रेगरी और सम्राट में सघर्ष बढ़ता गया। 1080 ई. में सम्राट हैनरी ने ग्रेगरी की जगह एक दूसरे पोप को पदासीन करने के लिए रोम पर चढ़ाई कर दी। ग्रेगरी ने भागकर एक किले में शरण ली। हैनरी की आज्ञा से पोप के राजप्रसाद में बुलाई गई चर्च की एक परिषद् ने ग्रेगरी को पदच्युत करते हुए गुइबर्ट को क्लेमेंट तृतीय के नाम से पोप बनाया (24 मार्च, 1084 ई.)। इधर ग्रेगरी ने दक्षिण इटली के नार्मन लोगों को अपनी सहायतार्थ बुलवाया। हैनरी जर्मन भाग गया। रोमवासियों को नार्मन लोगों ने बुरी तरह लूटा। इससे वे लोग ग्रेगरी से रुष्ट हो गए। अन्त में आत्मरक्षा के लिए ग्रेगरी वहाँ से भागकर सलेर्नो में नार्मन लोगों की शरण में चला गया, जहाँ 25 मई, 1085 ई. को उसकी मृत्यु हो गई।

ग्रेगरी सप्तम् ने चर्च की स्वतन्त्रता और प्रभुत्व के बारे में जो नीति अपनाई उसके प्रमुख उद्देश्य थे—चर्च पर पोप के प्रभुत्व की सम्पूर्ण स्थापना, पादरियों को वैवाहिक बन्धन, पदों को खरीदने के आर्थिक बन्धन और राजनीतिक अधिकारियों द्वारा पद प्रदान करने के सामन्तवादी बन्धन से मुक्ति प्रदान करना। उसके द्वारा इस नीति को, जो 'जस्टीसिया' (Justicia) कहलाई, क्रियान्वित करने के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही चर्च और राज्य के मध्य का विख्यात विवाद प्रारम्भ हुआ।

सुधार आन्दोलन से चर्च में नवीन शक्ति का सचार हुआ। पोप की प्रभुता के सिद्धान्त और पोप के अधिकार की धारणा को कालान्तर में पोपों तथा लेखकों ने अधिक सुनिश्चित रूप दिया। ग्रेगरी सप्तम् के योग्य उत्तराधिकारियों ने 12वीं तथा 13वीं शताब्दियों में इसे और आगे बढ़ाया। पोप स्पष्टतः इस बात का दावा करते थे कि राजा से बिना कोई परामर्श किए ही उन्हें यह अधिकार है कि वे बिशपों को नियुक्त या पदच्युत् करें, उनका एक चर्च से दूसरे चर्च में स्थानान्तरण करें और अपने प्रतिनिधियों द्वारा स्थानीय प्रशासन के दोषों को दूर करें। ये दावे चर्च और साम्राज्य के मध्य चले आ रहे सघर्ष में चर्च का पक्ष अधिक सबल बनाने के लिए प्रस्तुत किए गए थे, किन्तु इनसे स्वयं चर्च के भीतर पोप के हाथ भी अधिक मजबूत हुए। इन्हीं दावों के आधार पर आगे चल कर पोप के प्लेनीट्यूडो प्रोटेस्टेटिस (Plenitudo Protestatis) के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया जिसका सुन्दरतम भाव है—राजसत्ता या प्रभुता। सर्वप्रथम पोप इन्नोसेन्ट चतुर्थ तथा एजिडियस कोलोना ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त में पोप की शक्ति की तीन प्रमुख बातें निहित थीं—

1. चर्च की मौलिक शासन शक्ति का स्वामी तथा अन्य सभी अधिकारीगण की शक्ति का स्रोत पोप है।

2. पोप को सभी मानवीय कानूनों एवं प्रशासकीय आदेशों को बनाने व बिगाड़ने का अधिकार है।

3. कोई सांसारिक शक्ति पोप को चुनौती नही दे सकती। किसी भी भौतिक शक्ति को यह अधिकार नही है कि वह पोप की आज्ञा एव निर्णयो की अवहेलना करे। पोप परमात्मा का प्रतिनिधि है, अत उसका निर्णय परमात्मा का निर्णय है। यह अन्तिम निर्णय है जिसके विरुद्ध कोई अपील नही हो सकती।

पोप उपर्युक्त दावो से भी एक कदम आगे बढ गए और राज्याधिकारियो पर भी नियन्त्रण रखने का दावा करने लगे। पोप इन्नोसेन्ट तृतीय ने तो यह भी घोषित किया कि उसे यह निर्णय करने का अधिकार है कि निर्वाचित सम्राट योग्य है या अयोग्य। उसने यह भी दावा किया कि सम्राट के विवादग्रस्त निर्वाचन को रद्द करने का भी उसे अधिकार है। पोप के दावो का यही अन्त न था। वह यह भी दावा करने लगा कि—(i) वह युद्ध एव शान्ति का एकमात्र अभिभावक है, (ii) वह शासको के मध्य समझौतो तथा सन्धियो को पुष्ट करने और उनका निर्णय करने का अधिकारी है, (iii) वह विरोधियो को दण्डित करने एव विधवाओ तथा नाबालिगो का सरक्षक होने और शासको को नैतिक अनुशासन मे बाँधे रखने का अधिकार रखता है, और (iv) राजकीय न्यायालयो से इच्छानुसार मुकदमे अपने पास मँगवा सकता है।

इन सभी दावो की पुष्टि के लिए यह तर्क दिया गया कि ईसा ने पीटर को चर्च का पहला अध्यक्ष बनाया था और रोम के बिशप पीटर के सच्चे उत्तराधिकारी होने के कारण पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। अत सभी ईसाइयो पर चाहे वह राजा हो या रक पोप की सर्वोच्च सत्ता है। पोपो ने भोली-भाली जनता के हृदय मे यह विश्वास बैठा दिया कि चर्च के आशीर्वाद के अभाव मे मोक्ष प्राप्ति नही हो सकती। केवल चर्च की अनुकम्पा ही नारकीय यातनाओ से छुटकारा दिला सकती है।

पोपो की शक्ति के विकास मे निम्नलिखित तीन कारणो ने भी योग दिया—

1. कैनोनिस्ट्स (Canonists) पोप के हाथो मे शक्ति के केन्द्रीकरण में सहायक सिद्ध हुए क्योकि ये लोग ही धार्मिक कानूनो की व्याख्या करते थे और उन्हें लागू करते थे।

2. रोमन साम्राज्य के पतन के समय महत्त्वाकांक्षी और मेधावी व्यक्तियो ने चर्च को अपनी सेवाएँ अर्पित की। उस समय चर्च मे इसके लिए पर्याप्त क्षेत्र था।

3. शिक्षा और विद्या पर अपना एकाधिकार होने के कारण भी चर्च को अपने हाथो मे शक्ति के केन्द्रीकरण मे सहायता मिली।

4. पवित्र रोमन साम्राज्य
(*Holy Roman Empire*)

सामन्त प्रथा और पोप के अभ्युदय के अतिरिक्त पवित्र रोमन साम्राज्य के विकास ने मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन पर गहरा प्रभाव डाला। इस साम्राज्य का उदय फ्रैंकिश राजतन्त्र मे से हुआ जिसकी स्थापना क्लोविस (Clovis) ने की

क्लोविस के द्वारा फ्रैंक जाति ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। फ्रैंक जाति का एक अन्य महान् नेता चार्ल्स मार्टेल हुआ था। इटली पर लम्बार्ड जाति के आक्रमण होने पर पोप ग्रेगरी प्रथम की प्रार्थना पर चार्ल्स मार्टेल और उसके पुत्र पेपिन ने लम्बार्डों को इटली से भगाकर वहाँ का शासन पोप को दे दिया। इससे प्रसन्न होकर पोप ने पेपिन को फ्रैंक का वैध शासक स्वीकार किया। पेपिन के बाद उसका पुत्र शार्लमैन शासक बना। शार्लमैन ने अधिकांश पश्चिमी यूरोप जीत लिया। वह रोम आया तब सेंट पीटर के गिर्जे में प्रार्थना करते हुए घुटने टेकने पर पोप लियो तृतीय ने 800 ई. में क्रिसमस के दिन उसके सिर पर सम्राट का मुकुट रखा। यहीं से पवित्र रोमन साम्राज्य का आरम्भ हुआ, यद्यपि इसकी वास्तविक स्थापना बाद में ही हुई जिसका वर्णन हम आगे कर रहे हैं।

शार्लमैन की मृत्यु के बाद 843 ई. में उसका साम्राज्य फ्रांस, जर्मनी और इटली तीन राज्यों में विभक्त हो गया, किन्तु साम्राज्य का विचार लुप्त नहीं हुआ। सम्राट की उपाधि का आकर्षण बना रहा जिसने विभिन्न दावेदारों में संघर्ष की स्थिति पैदा की। अन्त में सफलता जर्मन राजा ओटो प्रथम (ओटो महान्) को मिली। 10वीं शताब्दी में इटली की अराजकता का अन्त करने के लिए पोप जॉन 12वें ने ओटो प्रथम को निमन्त्रित करके पवित्र रोमन सम्राट बनाने का प्रलोभन दिया। तदनुसार ओटो ने इटली पर आक्रमण कर दिया और रोम तथा सैवाइन प्रदेश को छोड़ कर शेष इटली को अपने राज्य में मिला लिया। 962 ई. में पोप जॉन बारहवें ने उसका पवित्र रोमन सम्राट के रूप में अभिषेक किया। यहीं से पवित्र रोमन साम्राज्य का वास्तविक सूत्रपात हुआ। ओटो प्रथम ने ही पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना की। इसी समय से यह मत व्यक्त किया गया कि सम्राटों तथा पोप के चर्च में घनिष्ठ सम्बन्ध रहना चाहिए। ओटो महान् ने रोम के डची तथा सैवाइन प्रदेश पर पोप का प्रभुत्व रहने दिया और केन्द्रीय तथा उत्तरी इटली को अपने शासन में रखा। जर्मन सम्राट इटली को अपना प्रदेश समझने लगे। वे पोपों के निर्वाचन में गहरी दिलचस्पी लेने लगे। पोप यह मानने लगे कि कोई व्यक्ति उनसे अभिषेक कराए बिना रोमन सम्राट नहीं बन सकता। ओटो स्वयं को पुराने रोम सम्राट सीज़र, ऑगस्टस आदि के उत्तराधिकारियों में मानने लगा। ईसाई समाज में भी यह विश्वास जम गया कि धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चर्च आवश्यक है जिसका सर्वोच्च अधिकारी पोप है और राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक साम्राज्य आवश्यक है जिसका सर्वोच्च अधिकारी सम्राट होना चाहिए। ओटो मुख्यतः जर्मनी का शासक था, अतः उसके बाद जर्मन के राजा ही पवित्र रोमन साम्राज्य के शासक बनने लगे। पोप भूतल पर आध्यात्मिक विषयों में और सम्राट लौकिक विषयों में भगवान का प्रतिनिधि समझा जाने लगा। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र और सार्वभौम थे, पर दोनों एक दूसरे को परस्पर आवश्यक और सहायक समझते थे। इस तरह सभी ईसाई 'रहस्यात्मक द्वित्व' (Mystic dualism) में विश्वास रखते हुए द्वैध शासन में रहते थे।

उपर्युक्त स्थिति अधिक समय तक नही रह सकी। शीघ्र ही राज्य और चर्च मे तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गए। पोप और चर्च को अनैतिकता को रोकने तथा भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए सम्राट हस्तक्षेप करने लगे जो पोपो को स्वीकार नही हुआ। ओटो प्रथम के समय से ही जर्मन सम्राट पोपो के निर्वाचन और निष्कासन मे गहरी रुचि लेने लग गए। अब ओटो प्रथम को मालूम हुआ कि 962 ई. मे रोमन सम्राट के रूप मे उसका अभिषेक करने वाला पोप जॉन द्वादश चरित्रहीन है तो उसने एक धार्मिक परिषद् मे उस पर अनैतिकता का अभियोग चलवा कर उसे पोप-पद से हटवा दिया। अब लियो अष्टम् पोप बना। लेकिन जैसे ही ओटो वापिस जर्मनी लौटा, जॉन द्वादश ने पुनः पोप की गद्दी पर अधिकार कर लिया। 964 ई. मे पोप जॉन द्वादश की मृत्यु हो गई। उसके स्थान पर बेनी डिक्ट को पोप बनाया गया। बेनी डिक्ट पद पर बना नहीं रह सका क्योंकि ओटो ने इटली आकर पुनः लियो को पोप बना दिया। लियो ने यह घोषित किया कि पोप बनने के लिए जर्मन सम्राट की सहमति आवश्यक है।

जर्मन सम्राटो के लिए पोप के निर्वाचनों मे इस तरह बार-बार आकर हस्तक्षेप करना सुविधाजनक न था, क्योकि वे दूर देश के वासी थे। अब पोपो का चुनाव संघर्ष सामन्तवादी प्रवृत्तियो के चक्कर मे उलझता गया। सामन्तीय परिवार इन चुनावो मे रुचि लेकर संघर्ष को बढ़ाने मे सहायक हुए। सामन्तवादी प्रवृत्तियां इतनी शक्तिशाली थीं कि ओटो-वंशियो का शासन-अधिकार जर्मनी और इटली से आगे नहीं बढ़ पाया और न ही सम्राट का अधिकार वास्तविक राजसत्ता का रूप ले सका।

हेनरी तृतीय (1039–56) के समय पोप के पद के लिए जो तीन उम्मीदवार खड़े हुए, वे सभी भ्रष्टाचारी थे। हेनरी तृतीय एक धार्मिक व्यक्ति था। अतः उसने रोम पर चढ़ाई करके 1046 ई. मे बुलाए गए धर्म सम्मेलन द्वारा एक दूसरे ही व्यक्ति क्लेमैंट द्वितीय को पोप बनाया। पोप क्लेमैंट द्वितीय के बाद पोप लियो नवम् (1048–54) ने सुधारवादी आन्दोलन को आगे बढ़ाया। उसने धार्मिक पदो के क्रय-विक्रय को बन्द करने का भरसक प्रयत्न किया। इस समय सम्राट और पोप के सम्बन्ध सहयोगपूर्ण रहे और पोप सम्राट का वशवर्ती बना रहा।

उपर्युक्त स्थिति भी बनी नही रह सकी। हेनरी तृतीय और उसके द्वारा समर्थित पोप की मृत्यु के बाद रोम वालो ने साम्राज्य के घोर विरोधी फ्रेडरिक को पोप चुन लिया जिसने स्टीफन नवम् का नाम धारण किया। उसने अपने निर्वाचन पर स्वीकृति लेने के लिए अपने दूतो को जर्मन रानी एग्नेस (जो बालक हेनरी चतुर्थ की संरक्षिका थी) के पास भेजा। रानी ने निर्वाचन पर अपनी सहमति प्रदान कर दी। यह बाहर से साधारण बात होते हुए भी अपने-आप मे एक महत्त्वपूर्ण घटना थी, क्योकि इसके द्वारा ओटो प्रथम व हेनरी तृतीय द्वारा स्थापित यह परम्परा टूट गई कि पोप बनने वाले व्यक्ति को पहले सम्राट से मनोनीत होना चाहिए और बाद में उसका निर्वाचन किया जाना चाहिए। इस घटना से प्रोत्साहित

होकर सन् 1059 ई. में पोप निकोलस द्वितीय ने घोषणा कर दी कि भविष्य में पोप "रोम की जनता और पादरियो द्वारा नहीं बल्कि कार्डिनल विशपों अर्थात् रोम के चर्चों के पादरियों द्वारा निर्वाचित होंगे।" इस घोषणा द्वारा पोप के निर्वाचन पर न तो सामन्तो और न सम्राट का ही कोई नियन्त्रण रहा। साम्राज्ञी एग्नेस ने निकोलस की आज्ञा को रद्द करने के लिए जर्मन विशपो का सम्मेलन बुलाया और दूसरी तरफ निकोलस ने फ्रांसीसी राजा फिलिप प्रथम टस्कनी के गढफे को तथा दक्षिणी इटली के नॉरमन लोगो को अपना मित्र बनाया। नॉरमन नेता रॉबर्ट गिस्कार्ट ने वचन दिया कि वह जर्मन सम्राट से पोप की रक्षा करेगा। इसके बदले पोप ने उसे ड्यूक बनाना और कॅलेब्रिया तथा एपुलिया के प्रदेश देना स्वीकार किया जो स्पष्ट ही सम्राट विरोधी कार्य था और साथ ही अवैधानिक भी, क्योंकि उस समय इटली की स्थिति जर्मन साम्राज्य के एक भग के रूप में थी, अतः सम्राट के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को साम्राज्य के प्रदेश का सौदा करने का अधिकार न था। सम्राट और पोप के बीच बढ़ता हुआ यह संघर्ष पोप ग्रेगरी सप्तम् के समय चरम सीमा पर पहुँच गया। पोप ग्रेगरी सप्तम् और उसके उत्तराधिकारियो ने जर्मनी और इटली को संयुक्त करने के साम्राज्य के प्रयत्नों का घोर विरोध किया। ओटो तृतीय की मृत्यु के बाद साम्राज्य को इटली तक विस्तृत करने के विचार को त्याग दिया गया क्योंकि जर्मनी मे अनेक रियासतें बन गईं जिन्होने जर्मन राजा से अपनी स्वाधीनता की माँग की और जर्मन राज्य को झकझोर दिया। यह पवित्र रोमन साम्राज्य अनेक संघर्षों का सामना करता हुआ कुछ समय तक चलता रहा। सन् 1806 ई. मे नेपोलियन ने इसका अन्तिम संस्कार कर दिया और पवित्र रोमन सम्राट के पद को मिटा दिया।

5. राष्ट्रीयता की भावना का विकास

मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन को राष्ट्रीयता की भावना के विकास ने भी प्रभावित किया। उस समय शक्तिशाली सामन्त विभिन्न स्थानों पर अपने राज्य स्थापित कर रहे थे। उन प्रदेशो मे, जहाँ भाषा और संस्कृति की समानता थी, राजनीतिक शासन की स्थापना द्वारा राष्ट्रीय राज्यो के अंकुर फूटने लगे। 1300 ई. तक इङ्गलैण्ड और फ्रांस मे राष्ट्रीय राज्य स्थापित होकर पोप की सत्ता को चुनौती देने लगे। इन देशो की जनता रोम के चर्च को विदेशी मानती थी, अतः अपने राजाओ का पूर्ण समर्थन करते हुए वह पोप के प्रभाव से मुक्त होने को प्रयत्नशील होने लगी। इस प्रकार पोपशाही का सूर्य तेजी से अस्त होने लगा।

मध्ययुग का अनुदाय और उसकी विशेषताएँ
(Contribution & Chief Features of the Medieval Period)

मध्ययुग अराजनीतिक था
(Medieval Period was Unpolitical)

मध्यकाल के छठी शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक के लगभग एक हजार वर्ष के लम्बे युग मे सभ्यता की कोई ऐसी उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई जैसी

उसके पूर्ववर्ती और उत्तर काल में हुई। इस युग में प्राचीन कला की प्रगति रुक गई। बर्बर जर्मन जातियों ने यूनानी-रोमन सभ्यता, कला और ज्ञान के एक बड़े भाग को नष्ट कर दिया क्योंकि उनमें यूनानी-रोमन सभ्यता को समझने तथा उसका मूल्यांकन करने की क्षमता नहीं थी। जर्मन शासकों ने आवागमन के साधनों के प्रति भी घोर उपेक्षा प्रदर्शित की, फलतः सड़कें, पुल आदि नष्ट हो गए और वाणिज्य तथा व्यापार को गम्भीर क्षति पहुँची। असभ्य और अनपढ़ जर्मन शासक, जो रोमनों के राजनीतिक उत्तराधिकारी बने, कानूनी और प्रशासकीय योग्यता की दृष्टि से कोरे थे, अतः उनके शासनकाल में अशान्ति और अराजकता का प्रसार होता रहा। चिन्तन, साहित्य और कला भी शुष्क हो गई। केवल कैरोलिंगियन्स (Carolingians) के अल्पकालीन शासनकाल में स्थिति कुछ ठीक रही, अन्यथा ग्यारहवीं शताब्दी तक यूरोपीय चिन्तन कोई प्रगति नहीं कर सका। बौद्धिक जीवन पुराने लेखकों की रचनाओं की पुनरावृत्ति तक ही सीमित रहा। डॉयल (Doyle) के सारगर्भित शब्दों में—"शिशुओं की भाँति नवीन राष्ट्र बौद्धिक वर्णमाला का ज्ञान अर्जित कर रहे थे तथा श्रमपूर्वक प्राचीन गुरुओं की रचनाओं को समझने को प्रयत्नशील थे।"[1] इस बौद्धिक सुषुप्तावस्था और अप्रगति की लम्बी अवधि को देख कर ही विद्वानों ने मध्ययुग को 'अन्धकार युग' (Dark Age) तक की संज्ञा दे डाली है और डनिंग (Dunning) ने इसे 'अराजनीतिक' (Unpolitical) कह कर पुकारा है।

'मध्ययुग अराजनीतिक था'—इस कथन का अर्थ मूलतः इस सन्दर्भ में लिया जाता है कि इस युग में राजनीति-शास्त्र और दर्शन को अन्वेषण एवं शोध का स्वतन्त्र विषय नहीं समझा जाता था। इस युग का अपना कोई विशेष राजदर्शन न था। राजनीतिक दर्शन का अन्वेषण होना तो दूर रहा, राजनीतिक अराजकता ही अधिक छाई रही थी। लेखकों के दर्शन का स्रोत एक तत्त्व पर आधारित न होकर अनेक तत्त्वों पर आधारित था। कुछ लोगों ने बाइबिल को आधार बनाया, कुछ ने रोमन कानून पर विचार किया, तो दूसरों ने अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' को साधन बताया। यह युग धार्मिक अन्धविश्वास में अधिकाधिक डूबता गया और राजनीतिक तत्त्व गौण होते चले गए। इसके अतिरिक्त समाज पर दोहरा शासन, और वह भी अस्त-व्यस्त रूप में चलता रहा। एक शासन राज्य का रहा तो दूसरा चर्च का। इस शासन के कारण राज्य चर्च हो गया और चर्च राज्य बन गया। इसमें भी चर्च, राज्य का नियन्त्रक रहा क्योंकि चर्च को आत्मा तो राज्य को शरीर की संज्ञा दी गई। राज्य-सत्ता एक प्रकार से धर्म-सत्ता का शान्ति रखने वाला विभाग बन गया। ऐसी परिस्थिति में न तो स्वतन्त्र राजनीतिक चिन्तन ही हो सका और न राजदर्शन ही पनप सका। ईसाई धर्म-ग्रन्थों का अन्ध-विश्वास भोली जनता में इस तरह जमा दिया गया कि उसके विरुद्ध न

1 *Doyle* : A History of Political Thought, p. 67.

तो कोई बात कही जा सकती थी, न लिखी। कोपरनिकस ने 25 वर्ष तक अपने वैज्ञानिक सत्य को प्रकट नहीं किया क्योंकि वह सत्य धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध पड़ता था। ब्रूनो और गैलीलियो को अपने वैज्ञानिक मत प्रकट करने के दण्डस्वरूप कारावास की हवा खानी पड़ी और बाद मे एक को तो जीवित ही जला दिया गया। अपराध केवल यही था कि उन्होंने पृथ्वी के घूमने के वैज्ञानिक सत्य को प्रकट किया था।

इस युग में जो अस्त-व्यस्त राजनीतिक सिद्धान्त प्रचलित थे वे भी अस्थिर और अनिश्चित थे। पोपो ने सत्य के शोध एवं अध्ययन तथा भाषणों पर प्रतिबन्ध लगा रखा था। जो भी राजनीतिक विचार प्रकट किए जाते थे उनमे राजनीति की बात अति गौण और धर्म की छाप बड़ी गहरी होती थी। इस युग के विचारकों को सम्प्रभुता और विधि की श्रेष्ठता जैसी किसी कल्पना का ज्ञान न था, अन्यथा राजसत्ता धर्मसत्ता के अधीन नही रखी जा सकती थी और बाइबिल एवं धर्मग्रन्थों से न्याय कार्यों मे सहायता नहीं ली जा सकती थी। मध्ययुग मे निरीक्षणात्मक पद्धति का अभाव था, अतः समस्याओं का हल धार्मिक आदर्शों के अनुसार निकाला जाता था। उनकी पुष्टि के लिए इतिहास से उदाहरण लिए जाते थे और धर्मान्धता के आगे व्यावहारिकता को ताक पर रख दिया जाता था। मध्ययुगीन चिन्तको की अनिरीक्षणात्मक, अवैज्ञानिक और आलोचनात्मक अध्ययन पद्धति के कारण इस युग मे कोई स्थिर तथा क्रमबद्ध राजनीतिक सिद्धान्त नही बन सका। इसीलिए डनिंग का यह कहना स्वाभाविक है कि मध्ययुग 'अराजनीतिक' (Unpolitical) था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मध्ययुग मे शृंखलित निरीक्षण बुद्धि-सम्पन्न तथा सुसगठित चिन्तन का अभाव था तथापि सूक्ष्म अध्ययन करने पर पता चलता है कि अनेक अवरोधों और क्षीण विचारों के होने पर भी इस युग की राजनीति को सबल मिला। इस युग मे अनेक व्यापक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया, धार्मिक क्षेत्र में सुधार हुए, दास-प्रथा का अन्त हुआ, अनेक उच्च सस्थाओं का विकास हुआ और ये सब बातें परवर्ती दार्शनिक विकास के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। मध्ययुग सर्वथा निष्फल नहीं रहा। उसने यूरोपीय सभ्यता के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया और आधुनिक युग का शिलान्यास किया। प्रो. आडम्स के शब्दो मे, 'मध्य युग का कार्य प्राथमिक रूप से प्रगति नहीं था, बल्कि विभिन्न जातीय (Heterogeneous) तथा प्राय: परस्पर विरोधी तत्त्वो मे से, जो इसे प्राचीन काल से मिले थे, एक जैविक रूप से एकता-बद्ध तथा सजातीय (Homogeneous) ससार का निर्माण करता था। इस प्रकार इसने उस उन्नति और प्रगति के लिए आवश्यक स्थितियाँ पैदा कीं जो प्राचीनकाल वालों के लिए सम्भव नहीं थीं।"[1]

1 *Adams* : Civilization During the Middle Ages, p. 14.

मध्ययुग की विशेषताएँ (Chief Features of the Medieval Period)

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के बाद मध्ययुग की विशेषताओं को अलग-अलग शीर्षकों मे निम्नवत् प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा—

(1) **सार्वभौमिकतावाद और विश्ववाद (Universalism)**—यह मध्ययुगीन राजदर्शन की एक प्रमुख विशेषता थी। प्रो. बार्कर के अनुसार—"समस्त मध्यकालीन विचार की शान है उसकी सार्वभौमिकता अर्थात् उसका विश्ववाद। यह एक ही सार्वभौमिक समाज को मान कर चलता है जो अपने लौकिक पक्ष मे प्राचीन रोमन साम्राज्य की विरासत और निरन्तरता है, तथा धार्मिक पक्ष मे एक दृष्टव्य चर्च मे ईसा का साकार रूप है।"[1]

प्रारम्भिक ईसाई विचारकों का मत था कि सारी मानव जाति एक बिरादरी है, सब मनुष्य भाई-भाई हैं। साथ ही उनकी यह भी मान्यता थी कि ईसा की शरण मे ही मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है, और चूंकि ईसा ही चर्च का वास्तविक संस्थापक है, अतः मानव जाति को ईसाई धर्म के अधीन आना चाहिए। सन्त ऑगस्टाइन ने विश्ववाद के इस विचार को और भी स्पष्ट करते हुए कहा कि सब मनुष्य एक ही नस्ल के हैं और ईसाई चर्च मनुष्यो के लिए है। चर्च पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य का प्रतीक है। ईसाइयो ने राज्य की नागरिकता और चर्च की सदस्यता को एक ही वस्तु के दो पहलू बतलाया।

जहाँ चर्च ने सम्पूर्ण जीवन को तथा उसके राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक तथा आर्थिक सभी स्वरूपो को एक ईसाई सिद्धान्त की अधीनता मे नियन्त्रित करने का 'वीरतापूर्ण प्रयास' किया और सबको चर्च के अधीन बना कर सार्वभौम चर्च का विचार स्थापित किया, वहाँ सार्वभौम राज्य का विचार भी साथ ही चला। सम्पूर्ण मध्य-युग मे सार्वभौम राजनीतिक एकता का आदर्श प्रचलित रहा और इसी आधार पर दो तलवारो के सिद्धान्त का उदय हुआ, जिसका आशय था कि सम्पूर्ण मानव समाज एक सगठन है, किन्तु मानव जीवन के दो पहलू हैं—एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। आध्यात्मिक जीवन की पूर्ति के लिए एक चर्च और भौतिक जीवन की पूर्ति के लिए एक राज्य होना चाहिए। यद्यपि बर्बरो के आक्रमणो ने, पश्चिमी यूरोप मे अनेक स्वतन्त्र राज्यो ने, और नए ईसाइयो द्वारा अलग-अलग स्थानीय चर्चों की स्थापना मे सार्वभौमिक साम्राज्य एव चर्च की एकता को भग कर दिया, किन्तु शार्लिमैन ने अपना साम्राज्य स्थापित करके राजनीतिक क्षेत्र मे सार्वभौमिकवाद की पुनर्स्थापना कर दी। ओटो प्रथम (Otto I) ने पवित्र साम्राज्य की स्थापना करके यह क्रम बनाए रखा। आध्यात्मिक जगत् मे हिलब्रैंड ने पोप के सार्वभौमिक चर्च की स्थापना करके सार्वभौमिकतावाद को पुनः प्रतिष्ठित किया। इस तरह लौकिक अथवा राजनीतिक एव आध्यात्मिक दोनो ही क्षेत्रो मे सार्वभौमिकवाद का पुनः उदय हो गया। लेकिन तत्कालीन परिस्थितियो मे इस तरह की दो समानान्तर शक्तियाँ साथ-

1 *Barker* : Social & Political Ideas of the Middle Ages, p. 12.

साथ नही निभ सकती थीं, ग्रत: पोप ग्रौर सम्राट दोनों मे ग्रर्थात् चर्च ग्रौर राज्य मे, तीव्र विवादो ग्रौर सघर्षो ने जन्म ले लिया जिन्होने मध्ययुगीन सामाजिक तथा राजनीतिक दशाग्रो ग्रौर चिन्तन को झकझोर दिया।

(2) चर्च की सर्वोपरिता (Supremacy of the Church)—मध्ययुग मे धर्म का स्थान इतना प्रबल हो गया कि यूनान तथा रोम की व्यापक सस्कृति को भी धर्म के रूप मे देखा जाने लगा। इस युग के ग्रधिकांश भाग मे राजसत्ता चर्च मे केन्द्रित हो गई। उसकी स्थिति धर्मसत्ता के 'शान्ति-विभाग' जैसी बन गई। धर्म एक जादू का सा कार्य करने लगा। व्यक्ति का द्वि-मुखी शासन ग्रौर पारलौकिक जीवन ईश्वर से सम्बन्धित समझा जाने लगा जिसके फलस्वरूप राजा चर्च के नियन्त्रण मे हो गया। चर्च ने ग्रपने समर्थन मे 'दो तलवारो का सिद्धान्त' ग्रौर कान्सटेन्टाइन के दान-पत्र का ग्राधार प्रस्तुत किया। धार्मिक-सत्ता की स्थापना से राजसत्ता पगु हो गई। लेकिन 13वी सदी के तीसरे चरण मे धार्मिक परिवर्तन हुग्रा ग्रौर राजकीय सत्ता को पुन. समर्थन मिलने लगा। यह विचार बल पकड़ने लगा कि धर्म व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु है। फिर भी 14वी शताब्दी तक यूरोप में पोप एक ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण शक्ति बना रहा।

(3) राजतन्त्रात्मक सरकार की प्रधानता—मध्ययुग में एकत्व के सिद्धान्त पर बड़ा बल दिया जाता था। चर्च ग्रौर राज्य मे राजतन्त्र की प्रणाली सर्वोत्तम समझी जाती थी। गीर्के (Gierke) के शब्दो मे, "मध्ययुग के विचारक यह मानते थे कि सामाजिक सगठन का मूल तत्त्व एकता है ग्रौर यह शासन करने वाले ग्रग मे होना चाहिए ग्रौर यह उद्देश्य तभी ग्रच्छी तरह पूरा हो सकता है जब शासक ग्रग स्वयमेव एक इकाई तथा परिणामत एक व्यक्ति हो।"[1] मध्ययुगीन दार्शनिको का विचार था कि सावयवी सत्ता का एक केन्द्र होता है ग्रौर चूँकि समाज एक सावयव है, ग्रत: ग्रवश्य ही इस सत्ता का एक केन्द्र होना चाहिए। इस सिद्धान्त के ग्राधार पर जहाँ कुछ व्यक्तियो ने इस सत्ता का केन्द्रीकरण पोप के हाथो मे सौंपा, वहाँ दूसरो ने राज्य की सत्ता के केन्द्रीकरण का समर्थन किया। पर व्यवहारत. प्रवृत्ति राजतन्त्रात्मक सरकार की ग्रोर ही रही।

(4) राजसत्ता पर प्रतिबन्ध—मध्ययुग मे राजसत्ता निरकुश नहीं थी। उस पर ग्रनेक प्रतिबन्ध थे। उदाहरणार्थ पहला प्रतिबन्ध राज्याभिषेक के समय की जाने वाली प्रतिज्ञा थी, दूसरा प्रतिबन्ध सामन्ती व्यवस्था थी ग्रौर तीसरा प्रतिबन्ध यह था कि राजा रीति-रिवाजो के रूप मे चले ग्राने वाले कानूनो के पालन के लिए बाध्य था।

(5) शरीर ग्रौर ग्रात्मा का सिद्धान्त—मध्ययुगीन धर्म-वेत्ताग्रों ने राज्य को शरीर ग्रौर चर्च को ग्रात्मा का प्रतीक माना। राज्य एक बाहरी ग्रवयव माना गया जबकि चर्च को एक नियन्त्रक के रूप मे प्रस्तुत किया गया। यह कहा गया कि

1 *Gierke* : Political Theories of the Middle Ages, p. 31-32.

यद्यपि चर्च आध्यात्मिक मामलों मे और राज्य केवल नागरिक तथा राजनीतिक मामलो मे हस्तक्षेप करता है लेकिन राज्य रूपी शरीर का अस्तित्व आत्मा के शुद्धिकरण पर निर्भर है। चर्च-आत्मा, राज्य-शरीर दोनों एक हैं, अलग नहीं; केवल इनका क्षेत्राधिकार अलग-अलग है। आत्मा से सम्बन्धित विषय चर्च के अधीन हैं, और शरीर से सम्बन्धित विषय राज्य के।

(6) **समाज का ग्राम्यीकरण तथा केन्द्रीय सत्ता का अभाव**—रोमन साम्राज्य बर्बर जातियों के आक्रमण से धराशाही हुआ और यूरोप टुकड़ो मे बँट गया जिनका शासन स्थानीय सामन्तों के हाथों मे चला गया। सामन्तवादी व्यवस्था के कारण एक तो केन्द्रीय सत्ता का अभाव हो गया, दूसरे, यूरोप मे ग्राम्य समाज तथा सम्यता का विकास हुआ। इस विकास मे आवागमन के साधनो की कमी ने बड़ी सहायता की। आक्रमणो के फलस्वरूप आवागमन के साधनो की समाप्ति के बाद नगरो का भी पतन हो गया। ग्राम्यीकरण मे शिक्षा-व्यवस्था के प्रश्न ने भी सहायता प्रदान की। लोग निरक्षर हो गए। उनका दृष्टिकोण सीमित होता चला गया। ईसाई पादरियो ने साक्षरता-प्रसार के यथाशक्ति प्रयत्न किए और अधिक सफलता प्राप्त न कर सकने पर भी यूनानी और रोमन सभ्यता की प्राण-ज्योति को बुझने नही दिया।

(7) **लोक-सत्ता का विचार**—मध्यकाल मे अनेक विचारको ने राजतन्त्र का समर्थन करते हुए राजा के दैविक अधिकारो का प्रतिपादन किया था। शनैः-शनैः विचार परिवर्तन हुआ और उन्होने एक अन्य लोक-शक्ति की कल्पना की। यह मत प्रकट किया गया कि सिंहासन पर आसीन होने का अधिकार दैवी अवश्य है, किन्तु राजा को शक्ति समाज से ही प्राप्त होती है। अतः राजा सामाजिक सीमाओं का अतिक्रमण नही कर सकता। उधर पोप-समर्थको का भी यह विश्वास था कि राजा और राजसत्ता दैवी होने के साथ-साथ मानवकृत भी है।

(8) **सामूहिक जीवन की प्रवृत्ति**—मध्य-युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति सामुदायिक जीवन बिताने की थी। यह विभिन्न प्रकार के धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक समूहो मे व्यतीत किया जाता था। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति व्यक्ति समुदाय मे रह कर ही पूरी कर पाता था। समुदायों या समूहो के प्रधान-रूप ईसाई मठ, परिव्राजक सम्प्रदाय (Monastic Orders), आर्थिक श्रेणियाँ (Guilds), कम्यून और नगर थे। सामुदायिक जीवन की प्रधानता के कारण ही इस युग मे व्यक्ति के अधिकार उपेक्षित रहे। वैयक्तिक अधिकार और स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार पोप तथा राजा की प्रभुता के सामने ठहर नहीं सकते थे। सामूहिक जीवन की प्रवृत्ति इतनी व्यापक थी कि धार्मिक, आर्थिक सामाजिक आदि कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नही बचा था।

(9) **निगम सम्बन्धी सिद्धान्त**—मध्ययुग मे सामुदायिक जीवन की प्रधानता होने के कारण निगमो के सिद्धान्त (Theo.y of Corporations) का विकास हुआ। इस सिद्धान्त का उद्देश्य कुछ विशिष्ट सस्थाओ के विशेष महत्त्व को स्थिर

करना था। समर्थकों का कहना था कि, "जिन संस्थाओं का उद्देश्य आध्यात्मिक तथा लौकिक जीवन का विकास करना है उन्हें अपना कार्य उचित रूप से चलाने के लिए इस प्रकार सत्ता-सम्पन्न कर दिया कि उनके कार्यों में किसी बाह्य शक्ति को हस्तक्षेप करने का अवसर न मिले तथा वे राजनीतिक झगड़ों से दूर रहते हुए अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकें।" मध्ययुग में निगमों के मुख्य रूप ईसाई-संघ या चर्च, चर्च की परिषद्, विश्व-विद्यालय, स्वतन्त्र नगर कम्यून आदि थे। लोगों का कहना था कि नगर, चर्च, विश्व-विद्यालय और उनकी प्रबन्धकारिणी समितियाँ एक ओर तो समाज के अङ्ग हैं तथा दूसरी ओर वे अपने-आप में पूर्ण भी हैं। उनके स्वरूप, कार्य, उनकी भावनाएँ और इच्छाएँ तथा व्यक्तित्व परस्पर भिन्न हैं। उनके अपने कुछ निश्चित उद्देश्य भी हैं जिन्हें प्राप्त करने को वे सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। अतः उन्हें अपना शासन-कार्य स्वयं करने का पूर्ण अधिकार मिलना चाहिए। उदाहरणार्थ चर्च या आर्थिक श्रेणी को अपने सदस्यों के लिए नियम बनाने और उन पर अनुशासन करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए।

मध्ययुग के इस निगम सिद्धान्त द्वारा एक ही राज्य में स्वशासन, स्वतंत्र और अधिकार सम्पन्न अनेक सगठन उत्पन्न हो गए जिनका राजनीतिक चिन्तन पर विशेष प्रभाव पड़ा। इसी सिद्धान्त के आधार पर भविष्य में यूरोप के अनेक देशों, विशेषकर इग्लैण्ड में स्वशासित सस्थाओं का विकास हुआ। आधुनिक युग के प्रारम्भ में पनपने वाला बहुलवाद (Pluralism) मध्ययुगीन निगम-सिद्धान्त पर ही आधारित है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व और सामूहिक इच्छाधारी इन सगठनों के सिद्धान्त ने निरङ्कुश राजतन्त्र को पीछे धकेल कर लोकप्रिय प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) के विचार को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इस सिद्धान्त के आधार पर उस समय यह स्वीकार किया जाने लगा कि शासकों को समस्त सत्ता जनता द्वारा दी जाती है तथा चर्च की परिषद् सम्पूर्ण ईसाई सघ का सामूहिक प्रतिनिधित्व करती है। मध्ययुग में राज्य का सावयवी मानने के पहले से ही प्रचलित विचार में निगम-सिद्धान्त के निगमित व्यक्तित्व (Corporate Personality) के नवीन विचार का समावेश किया जिससे प्रतिनिधित्व के परिषदीय सिद्धान्त (Conciliar Theory of Representation) का विकास हुआ।

(10) प्रतिनिधि शासन प्रणाली का सिद्धान्त—मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन में प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली के बीज विद्यमान थे। धर्मतन्त्र तक में इसका प्रवेश था। पोप ईसाइयों का प्रतिनिधि था। पादरी उसका निर्वाचन करते थे और सम्मिलित रूप से अकर्त्तव्यपरायणता और धर्मभ्रष्टता का आरोप लगा कर उसे पद से हटा भी सकते थे। धर्म सम्बन्धी बातों में भी उसका निर्णय अन्तिम नहीं था। अन्तिम निर्णय का अधिकार पादरियों की सयुक्त परिषद् को था।

प्रतिनिधि शासन को राजनीतिक क्षेत्र में भी लाने का प्रयास किया गया था। सम्राट का निर्वाचन करने वाले व्यक्ति सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों के समान थे। प्रतिनिधि के सिद्धान्त को बढ़ाने में चर्च और राजा के मध्यवर्ती सघर्ष ने बड़ी

सहायता पहुँचाई। निकोलस, जॉन ऑफ पेरिस और मार्सिलियो जैसे विचारको ने इसे सम्बल प्रदान किया।

निकोलस चर्च तथा राज्य दोनो मे प्रतिनिधि शासन और विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त का पक्षपाती था। उसका विचार था कि चर्च के सुधार एव शासन के सचालन के लिए सब प्रान्तो से प्रतिनिधियो का निर्वाचन किया जाना चाहिए। प्रतिनिधियो की सभा ही चर्च और राज्य की केन्द्रीय शक्ति होनी चाहिए। जनता ही इस शक्ति का अन्तिम स्रोत होना चाहिए। राजा को प्रजा की इच्छा-पर्यन्त ही शासक का पद ग्रहण करना चाहिए। उसने सुझाव दिया कि जर्मन साम्राज्य को बारह भागो मे बाँटा जाए और सम्राट एक स्थायी परिषद् के परामर्श से कार्य करे।

जॉन ऑफ पेरिस ने कहा कि चर्च की बडी सभा पोप को अपदस्थ कर सकती है। उसने यह भी सुझाव दिया कि यदि चर्च के लिए सर्वश्रेष्ठ सरकार का निर्माण करना है तो सब प्रान्तो से प्रतिनिधियो का निर्वाचन किया जाना चाहिए। उसने कहा कि राजतन्त्र को भी प्रतिनिधित्व द्वारा नम्र बनाना चाहिए।

मार्सीलियो निर्वाचित राजतन्त्र का समर्थक था। उसने शासक को अपने समस्त कार्यों के लिए विधायिका के प्रति उत्तरदायी ठहराया। उसके विचार मे सबसे बडी विधायिका-शक्ति जनता थी और राजा कार्यकारिणी का प्रधान था जिसे अनुकूल कार्य करते हुए न पाने पर जनता हटा सकती थी। कानून-निर्माण का अधिकार जनता का था और राजा का प्रमुख कार्य उनकी व्याख्या करना था। मार्सीलियो प्रजातन्त्र का प्रबल समर्थक था। उसका विचार था कि राज्य की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका सभाओ का निर्वाचन नागरिको द्वारा किया जाना चाहिए। चर्च का सगठन भी प्रजातन्त्रात्मक होना चाहिए। उसमे भी अन्तिम सत्ता बडी सभा मे होनी चाहिए जिसका निर्माण धार्मिक तथा लौकिक प्रतिनिधियो द्वारा किया जाना चाहिए। वह इस बात का पक्षपाती था कि जनता ही सभा द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से पोप का निर्वाचन करे और वही आवश्यकता पड़ने पर पोप को अपदस्थ करने मे भी सक्षम हो।

चर्च और राज्य के मध्य संघर्ष का युग
(The Era of Conflict Between the Church and the State)

मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन का प्रधान विषय चर्च और राज्य का सघर्ष था। मध्ययुग के आरम्भ होने के पहले से ही यह धारणा प्रचलित थी कि ईश्वर ने मानव समाज के शासन के लिए दो सत्ताओ को नियुक्त किया है—पोप और सम्राट पोप आध्यात्मिक शासन का प्रधान था तो सम्राट लौकिक शासन का। यह माना जाता था कि दोनो अपनी सत्ता का प्रयोग दैवी तथा प्राकृतिक विधि के अनुसार करते हैं और कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक एवं लौकिक-सत्ता का एक साथ प्रयोग नहीं कर सकता। दोनो सत्ताओ मे कोई सघर्ष नही होना चाहिए और दोनो को एक दूसरे की सहायता करनी चाहिए।

ग्यारहवी शताब्दी से पूर्व तक धर्म और राजनीति के सम्बन्ध, मामूली उतार चढावो को छोड़कर, सामान्य से बने रहे। दसवी शताब्दी मे, पोपो के व्यक्तिगत चरित्र के बहुत नीचे गिर जाने पर और पोपशाही के बदनाम हो जाने पर, सम्राटो ने सुधार के लिए कुछ कदम उठाए और पोपो को उनके पद से उतारा। ग्यारहवीं शताब्दी तक सामान्य रूप से पोपशाही पर सम्राट का ही अधिक स्पष्ट नियन्त्रण रहा, यद्यपि इस व्यवहार के अनेक अपवाद भी थे। सन्त अम्ब्रोज सरीखे शक्तिशाली बिशप सम्राट की उन आज्ञाओं का पालन करने से इन्कार कर देते थे जो उनकी दृष्टि मे अन्यायपूर्ण होती थी। धार्मिक परिषदें और व्यक्तिगत धर्माचार्य अत्याचारो के लिए राजाओ की भर्त्सना करने में अम्ब्रोज के दृष्टान्त का अनुसरण करते थे। शासको के चुनने और अपदस्थ करने में बिशपो का भी बड़ा हाथ रहता था। चर्च का इस तरह का विशेष महत्त्व शक्तिशाली पोपो के समय ही स्थापित होता था अन्यथा साधारणतः सम्राट का पोप पर नियन्त्रण अधिक वास्तविक था। दोनो सत्ताओं के सम्बन्ध कुछ इस प्रकार के थे यदि एक सत्ता अपनी बात पर अड़ जाती थी तो दूसरी उसके सामने झुक जाती थी और इस तरह उनमे सघर्ष होने की नौबत नही आती थी।

ग्यारहवी शताब्दी मे स्थिति ने पल्टा खाना शुरू किया और चर्च तथा राज्य के सघर्ष की प्रसिद्ध कहानी का सूत्रपात हो गया। निकोलस द्वितीय (1059-1061 ई.) के समय पोप की निर्वाचन-प्रणाली मे परिवर्तन की घोषणा की गई और सम्राट हैनरी चतुर्थ की नाबालगी का लाभ उठाते हुए पोप जर्मन सम्राटो के प्रभुत्व से स्वतन्त्र हो गया। जब हैनरी चतुर्थ ने पुराने सम्राटो के अधिकारो का प्रयोग करना चाहा तो हठी और महत्त्वाकांक्षी पोप ग्रेगरी सप्तम (1073-1085) के साथ उसका सघर्ष छिड़ गया। 11वी शताब्दी से शुरू होने वाला चर्च और राजसत्ता का यह सघर्ष लगभग 4 शताब्दियो तक चलता रहा। शुरू मे इसमे पोप की विजय हुई, पर बाद मे सत्ता का पासा प्रबल हो गया। मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन के इस सघर्षपूर्ण पहलू पर टिप्पणी करते हुए गैटल ने लिखा है—"पोपो की लौकिक शक्ति का उदय और पराभव तथा राजाओ और सम्राटो के साथ उनका सघर्ष—ये ही मुख्य विषय थे जिनके चारो ओर मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन चक्कर काटता रहा।"[1]

चर्च और राजसत्ता के बीच सहयोग के सूत्र समाप्त होकर विरोध प्रारम्भ होने का सबसे मुख्य कारण यही था कि लौकिक और धार्मिक कार्यों के अन्तर का कोई स्पष्टीकरण नही किया था। अत. अवसर का लाभ उठाते हुए चर्च और राज्य दोनो ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि उनके क्षेत्रो का एक दूसरे के द्वारा अतिक्रमण किया जा रहा है। विवाद उठाकर अपने हितो का सवर्द्धन करना ही

1 "The rise and decline of the secular power of the popes, and their contests with emperors and kings were the issues about which medieval political theory revolved." —*Gettle* : History of Political Thought, p. 111.

दोनों पक्षों का लक्ष्य था। धर्म-सत्ता और राजसत्ता के संघर्ष के कुछ और भी कारण थे जिन्हें मैक्सी ने इस प्रकार व्यक्त किया है[1]—(1) राज्याधिकारियों द्वारा बिशपों का पद-स्थापन अर्थात् उनकी नियुक्ति किया जाना, (2) चर्च की सम्पत्ति पर राजा को करारोपण का अधिकार, (3) लौकिक स्वामियों के अधीनस्थ पादरियों द्वारा सिक्के ढालने और टैक्स जमा किए जाने जैसे नागरिक कार्यों का किया जाना, एवं (4) जागीर रखने वाले पादरियों द्वारा अपने स्वामियों के प्रति कर्त्तव्यों का अनुपालन। इन विभिन्न कारणों से सम्बन्धित विवादों का चर्च और राजसत्ता के संघर्ष का और इसमें निहित राजनीतिक विचारों के विकास का वर्णन क्रमबद्ध रूप से प्रकाशित शीर्षकों में करना उपयुक्त होगा—

राज्याधिकारियों द्वारा बिशपों की नियुक्ति
(Lay Investiture)

सन् 1073 ई. में ग्रेगरी सप्तम् के पोप बनने के बाद ही चर्च एवं राजसत्ता के महान् विवाद का श्रीगणेश हो गया। प्रारम्भ में यह विवाद बिशपों के पद-ग्रहण के अर्थात् उच्च धर्माचार्यों के चुनाव में लौकिक शासकों के भाग से सम्बन्ध रखता था। मध्ययुग में राजाओं और सामन्तों ने चर्च को विशाल भू-सम्पत्ति दान की थी। राजाओं को धर्म का रक्षक समझा जाता था, अतः उनका दावा था कि उनके प्रदेश में रहने वाले चर्च के सभी उच्चाधिकारी उनके वशवर्ती हैं। तत्कालीन प्रथा के अनुसार प्रत्येक नए बिशप और मठाधीश को नियुक्त करते समय उसके धार्मिक कार्यों के प्रतीक स्वरूप उसे एक अंगूठी और छड़ी (Ring and Stick) यह कहते हुए दी जाती थी कि इस चर्च को ग्रहण करो (Accipeecclesium)। बिशपों की इस नियुक्ति को अभिषेक विधि (Investiture) कहा जाता था। राजा और सामन्तों का यह दावा था कि बिशपों को नियुक्त करने का अधिकार उनका है क्योंकि पद का धार्मिक स्वरूप लौकिकस्वरूप से कम महत्वपूर्ण है। राजा और सामन्त किसी मठाधीश या बिशप की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति अपने अधिकार में ले लेते थे और उसके उत्तराधिकारी की नियुक्ति स्वेच्छा से किया करते थे। राजा घोषणा कर देता था कि अमुक व्यक्ति को बिशप बनाने की उनकी इच्छा है। यदि ईसाई पादरी अथवा राजा जनता द्वारा समर्थित व्यक्ति को चुन लेते थे तो राजा रिक्त-स्थान पर विधिपूर्वक उस व्यक्ति को पदासीन कर देता था। ऐसा न होने पर वह निर्वाचित व्यक्ति के रिक्त पद पर न तो नियुक्ति ही करता था और न उसे भू-सम्पत्ति ही प्रदान करता था। राजाओं का दावा था कि उनके प्रदेश में भू-सम्पत्ति रखने वाले बिशपों एवं मठाधीशों को भू-सम्पत्ति तथा धर्म चिह्न (अंगूठी और छड़ी) राजा से ग्रहण करनी चाहिए। चर्च इस व्यवस्था का विरोधी था। वह धर्माचार्यों की नियुक्ति सम्बन्धी शक्ति राजा और सामन्तों से छीनना चाहता था। ऐसा साहसिक कदम कोई शक्तिशाली पोप ही उठा सकता था। सौभाग्यवश ग्रेगरी

1 *Maxey* : Op. cit; p. 111.

सप्तम् के रूप में चर्च को ऐसा पोप मिल गया। उसने 1075 में विशपों के चुनाव में लौकिक शासकों का हस्तक्षेप बन्द कर दिया। उसने राज्य के अधिकारियों द्वारा बिशपों की नियुक्ति (Lay Investiture) को अवैध घोषित करते हुए राजा के 4 प्रमुख बिशपों को चर्च से निकाल दिया। उसने एक प्रत्यादेश द्वारा बिशपगण का राज्याधिकारियों के हाथों से पद-ग्रहण करना निषिद्ध ठहराते हुए घोषणा की कि इसका उल्लंघन करने वाले दोनों पक्षों को धर्म बहिष्कार का दण्ड दिया जा सकता है। स्पष्ट ही सम्राट हेनरी चतुर्थ को यह एक खुली चुनौती थी।

ग्रेगरी सप्तम् और सम्राट हेनरी चतुर्थ का संघर्ष

सेबाइन के अनुसार, "ग्रेगरी की दृष्टि में पोप सम्पूर्ण चर्च का प्रभुसत्ताधारी प्रधान था। वह बिशपों को नियुक्त और अपदस्थ कर सकता था। उसका धार्मिक प्रतिनिधि (Legate) बिशपों तथा चर्च के अन्य अधिकारियों से उन्नततर स्थिति का उपभोग करता था। वही जनरल कौंसिल की बैठक बुला सकता था और आज्ञप्तियों को लागू कर सकता था। पोप की आज्ञप्तियों को कोई रद्द नहीं कर सकता था। यदि कोई मामला एक बार पोप की अदालत में आता था तो उस पर अन्य कोई सत्ता निर्णय नहीं दे सकती थी। संक्षेप में, ग्रेगरी का चर्च शासन सम्बन्धी सिद्धान्त राजतन्त्रात्मक था। यह सामन्ती राजतन्त्र नहीं था, प्रत्युत् साम्राज्यिक रोम की परम्परा में राजतन्त्र था। ईश्वर तथा दैवी-विधान के अधीन पोप सर्व-शक्तिशाली था। पोपशाही का यह पैट्राइन सिद्धान्त (Patrine Theory) आगे चलकर स्वीकार अवश्य हो गया था, लेकिन उस समय को देखते हुए यह एक नई चीज थी और ग्यारहवीं शताब्दी में इसकी सर्वत्र मान्यता नहीं थी। इस सिद्धान्त के कारण कभी-कभी ग्रेगरी और उसके बिशपों में गलतफहमी पैदा हो जाती थी।"[1] सदाचार सम्बन्धी प्रश्नों के बारे में चर्च का अधिकार मान्य था। ग्रेगरी ने इसका प्रतिवादी विकास किया। वह धर्मपद-विक्रय के अपराध के बारे में केवल अपराधी धर्माचार्यों के विरुद्ध ही कार्य नहीं करता था बल्कि लौकिक शासक के विरुद्ध भी कार्य करता था। 25 वर्ष तक पोप के अधीन कार्य करते हुए ग्रेगरी सप्तम् के नाम में पोप बनने वाले हिल्डेब्राण्ड (Hildebrand) का यह दृढ़ संकल्प था कि वह चर्च की तीन बड़ी बुराइयों का अर्थात् पदों के क्रय-विक्रय (Simony), पादरियों के विवाह करने तथा राज्याधिकारियों द्वारा बिशपों की नियुक्ति करने का उन्मूलन करेगा।

बिशपों के चुनाव में लौकिक शासकों का हस्तक्षेप बन्द कर देने की कार्यवाही से क्षुब्ध होकर सम्राट हेनरी चतुर्थ ने जब ग्रेगरी को 1076 में पदच्युत् करने का प्रयास किया तो बदले में ग्रेगरी ने सम्राटों को धर्म बहिष्कृत घोषित कर दिया और उसके सामन्तों को सामन्ती शपथ नहीं दिलाई। ग्रेगरी ने अपनी आज्ञप्ति को धर्म बहिष्कार के दण्ड के साथ लागू करने का प्रयास किया। यह कोई नई चीज नहीं थी। लेकिन ग्रेगरी ने इसके साथ यह बात भी जोड़ दी कि धर्म-बहिष्कृत राजा

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ 213.

ईसाई समाज से बाहर होने के कारण अपने प्रजाजनो की सेवाओ और निष्ठा का अधिकारी नही होता।

ग्रेगरी ने अपने इस कार्य का आधार चर्च का यह अधिकार बतलाया था कि वह ईसाई समाज के प्रत्येक सदस्य पर नैतिक अनुशासन का प्रयोग कर सकता है। सन्त अम्ब्रोज की भांति उसका भी तर्क था कि लौकिक शासक स्वय ईसाई होता है, अतः नैतिक तथा आध्यात्मिक मामलो मे वह चर्च के नियन्त्रण मे रहता है। इसका अर्थ यह था कि धर्म-बहिष्कृत करने के अधिकार के साथ-साथ अपदस्थ करने का अधिकार भी जुड़ा था। चर्च नागरिको से कह सकता था कि वे सम्राट के प्रति निष्ठा रखें। इसका ध्वनितार्थ यह निकलता था कि चर्च ऐसा अन्तिम न्यायालय हो गया था जिसके निर्णय पर शासक की वैधता निर्भर थी।

हम नही कह सकते कि ग्रेगरी अपनी नीति के ध्वनितार्थों के बारे मे और उसके पक्ष मे दी गई युक्तियो के बारे मे स्वय कहाँ तक स्पष्ट था। सम्भवतः ग्रेगरी सिर्फ यह चाहता था कि चर्च को नैतिक अनुशासन स्थापित करने का अधिकार होना चाहिए। वह चर्च की कानूनी उच्चता स्थापित करने मे कोई दिलचस्पी नहीं रखता था। उसका उद्देश्य गेलाशियन सिद्धान्त मे कल्पित दोहरी व्यवस्था के अन्तर्गत चर्च की स्वतन्त्रता की रक्षा करना था।

ग्रेगरी ने अपने एक पत्र मे लिखा कि शासन की उत्पत्ति पाप से हुई है, पर यथार्थतः वह राजपद पर इस प्रकार का आक्षेप नही करना चाहता था। वह तो राजा पर केवल ऐसा अनुशासन थोपना चाहता था जैसा पोप के रूप मे किसी इकाई के ऊपर। ग्रेगरी का यह भी विश्वास था कि "पोप यूरोप के सदाचारो का निर्णायक हो सकता था और कोई दुराग्रही शासक उसके आध्यात्मिक तथा नैतिक नियन्त्रण को नही रोक सकता था।" धर्माचार्यों को यूरोपीय विषयो मे क्या भूमिका अदा करनी चाहिए? इस विषय मे 1080 मे रोम की एक कौंसिल मे उसने ये विचार प्रकट किए थे—

"पवित्र धर्माचार्यों! आपको इस प्रकार का आचरण करना चाहिए, जिससे ससार को यह ज्ञात हो जाए कि यदि आपको यह शक्ति प्राप्त हो जाए कि आप किसी व्यक्ति को स्वर्ग मे बन्धन मे डाल सकते हैं, तो आपको पृथ्वी पर यह भी शक्ति प्राप्त है कि आप मनुष्य को उनकी योग्यतानुसार साम्राज्य, राज्य प्रिंसिपेल्टियाँ ड्यूकडम, काउटियाँ तथा अन्य सम्पत्तियाँ प्रदान कर सकते हैं। ससार के समस्त राजाओं और शासकों को यह बात ज्ञात होनी चाहिए कि आप कितने महान् हैं और आपकी शक्ति कितनी विशाल है। इन छोटे आदमियो को आपके चर्च के आदेशो की अवज्ञा करने से डरना चाहिए।"[1]

ग्रेगरी के विचारो की इस सक्षिप्त चर्चा के बाद हम पुन. उसके और सम्राट के मध्यवर्ती सघर्ष की कहानी पर लौट आते हैं। सम्राट हेनरी द्वारा पोप ग्रेगरी और

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ 215–16

ग्रेगरी द्वारा सम्राट हैनरी की पदच्युति की घोषणाओं द्वारा और चर्च और राजसत्ता के मध्य उठ खड़े हुए गम्भीर विवादो से सम्पूर्ण यूरोप स्तब्ध रह गया। धार्मिक जनता ने पोप का साथ दिया। पोप ने एक प्रतिद्वन्द्वी राजा को हैनरी के सिंहासन का दावा करने के लिए भी उकसाया। हैनरी के विरोधी सरदारो ने भी इसे विद्रोह करने और स्वतन्त्र होने का स्वर्ण अवसर समझा। तब परिस्थितियो से हताश हैनरी पोप से क्षमा माँगने हेतु कैनोसा (Canossa) दुर्ग के दरवाजे पर पहुँचा जहाँ पोप सुरक्षा की दृष्टि से ठहरा हुआ था। उसने पोप से सन्धि करनी चाही। ग्रेगरी ने उसे बड़ा अपमानित और प्रताड़ित किया। 25 जनवरी, 1077 ई. के दिन दुर्ग के द्वार पर पहुँचने वाला सम्राट हैनरी भयकर सर्दी मे और कड़ाके की बर्फ मे तीन दिन तक नगे पाँव खड़ा रहकर प्रायश्चित और क्षमा-याचना करता रहा। अन्त मे ग्रेगरी ने दया दिखाई। उसने बहिष्कार का दण्ड वापिस लेकर हैनरी को पुनः पवित्र चर्च की शरण मे ले लिया।

अपनी कूटनीतिक चाल द्वारा सिंहासन की सुरक्षा कर लेने के बाद हैनरी ग्रेगरी से प्रतिशोध लेने का अवसर खोजता रहा। जब उसका सिक्का जम गया और उसने रोम को जीत लिया तो उसकी आज्ञा से बुलाई गई चर्च परिषद् ने पोप ग्रेगरी को पदच्युत् एव धर्म-बहिष्कृत करते हुए गुई बर्ट को क्लेमैंट तृतीय के नाम से पोप बनाया (24 मार्च, 1084 ई) जिसने हैनरी का पवित्र रोमन सम्राट के पद पर अभिषेक किया। ग्रेगरी ने दक्षिण इटली के नार्मन लोगो को अपनी सहायता के लिए बुलाया। लगभग 36,000 सैनिको की विशाल नार्मन फौजो के आने पर हैनरी जर्मनी भाग गया। इस फौज ने रोमनो पर अत्याचार किए और रोम को लूटा। परिणामस्वरूप इन्हे निमन्त्रित करने वाले ग्रेगरी का रोम मे रहना असुरक्षित हो गया। वह प्राण-रक्षा के लिए सलेनो मे नार्मन लोगो की शरण मे भाग गया जहाँ 25 मई, 1085 ई. को उसकी मृत्यु हो गई। कुछ समय बाद हैनरी चतुर्थ भी चल बसा। इन दोनो मुख्य अभिनेताओ की मृत्यु तक राज्य द्वारा बिशपो के पद ग्रहण कराने के प्रश्न का कोई अन्तिम निर्णय नही हो पाया।[1] प्रमुख घटना यह हुई कि हैनरी पचम और पास्चल द्वितीय (Paschal II) के मध्य इस आधार पर एक समझौता हो गया कि धर्माचार्य अपने समस्त राजनीतिक कार्यों को त्याग दें। लेकिन व्यवहार में यह असम्भव प्रमाणित हुआ। जो भी हो, 1122 ई. मे वार्म्ज (Worms) के समझौते (Concordate) के साथ विवाद का पहला चरण समाप्त हो गया। सेबाइन के शब्दो मे, "इस समझौते के अनुसार सम्राट ने मुद्रा और छड़ी (Ring and Stick) जो आध्यात्मिक सत्ता के प्रतीक थे, के साथ पद ग्रहण कराने का तकनीकी अधिकार त्याग दिया। लेकिन, उसने राज्याधिकार देने और बिशपो के चुनाव मे आवाज रखने के अधिकार को कायम रखा। किन्तु इस तारीख के बाद भी यह वाद-विवाद समय-समय पर बारहवीं शताब्दी के अन्त तक प्रायः

1 *Harmon*: Op. cit., p. 118.

उसी ढग से चलता रहा। ग्रेगरी के लगभग 100 वर्ष बाद पोप इन्नोसेण्ट तृतीय के समय विवाद पुन: चमका जिसमे पोप ने अपने विवेक तथा कूटनीति से सफलता प्राप्त की।"

इन्नोसेंट तृतीय (1198-1216 ई.) और राजाओं में विवाद

पोप बनते ही इन्नोसेंट तृतीय ने चर्च को सर्वोच्च सत्तापूर्ण बनाने और राजाओं को चर्च का वशवर्ती करने की दिशा मे पुन: प्रभावशाली प्रयत्न शुरू कर दिए। हैनरी पचम और पास्चल द्वितीय मे 1122 ई. मे जो समझौता हुआ था उससे इस मौलिक समस्या का कोई हल नही निकल पाया था कि साम्राज्य और पोपशाही मे क्या सम्बन्ध हैं ? अतः जिन अधिकारों का उल्लेख समझौते मे नही था, उन पर प्रत्येक पक्ष अपना दावा जताने लगा। चर्च-अधिकारी ऐसे दावे प्रस्तुत करने लगे जो निश्चित रूप से राजनीतिक सम्राट के अधिकार-क्षेत्र मे थे। परिणामस्वरूप पोपशाही एव जर्मन सम्राट फ्रेडरिक बारबरोस (Frederick Barbarossa) तथा उसके उत्तराधिकारियो के बीच सघर्ष उठ खड़ा हुआ। पोप की शक्ति 12वीं शताब्दी मे निरन्तर बढ़ती रही जो पोप इन्नोसेंट तृतीय के समय मे चरम सीमा छूने लगी।[1]

इन्नोसेंट तृतीय एक अत्यन्त ही शक्तिशाली पोप सिद्ध हुआ जिसने यूरोप के सर्वाधिक शक्तिशाली शासको तक को अपने आदेश मानने को विवश कर दिया। अपनी 18 वर्ष की पोपशाही मे उसने 7 राजाओं को दण्ड दिया और दो जर्मन सम्राटो को चर्च से बहिष्कृत कर दिया।

पोप इन्नोसेंट तृतीय अपना यह परम कर्त्तव्य समझता था कि वह राजाओं के अनैतिक आचरण का विरोध करे। वह निर्वाचन तथा राज्याभिषेक के मामले मे रोमन साम्राज्य मे असीमित शक्तियो का प्रयोग करता था और लोगो के सम्राट होने के दावो को बड़ी ही आसानी से रद्द कर देता था। वह आध्यात्मिक और लौकिक दोनों विषयों मे चर्च की अपरिमित शक्ति का समर्थक था। जब फ्रांस के राजा फिलिप ऑगस्टस ने अपनी पत्नी को त्याग दिया तो इन्नोसेंट तृतीय की आज्ञा से उसे इसे पुन: ग्रहण करना पड़ा। पुर्तगाल, अरागान, हगरी और बल्गेरिया के राजाओं ने अपने-आपको पोप का सामन्त कहा। वे उसे वार्षिक कर भेजने लगे। इग्लैण्ड के राजा जॉन ने भी उसके साथ सघर्ष मे शिकस्त खाई। जॉन की इच्छा के सर्वथा विरुद्ध पोप ने केन्टरबरी के आर्कबिशप के पद पर स्टीफेन लेंगटन को नियत किया। राजा के न मानने पर पोप ने उसे चर्च से बहिष्कृत कर दिया और फ्रांस के राजा को उस पर आक्रमण करने को कहा। उसने यह आदेश निकाल दिया कि इग्लैण्ड मे चर्च के धर्म-कार्य बन्द कर दिए जाएँ। अन्त मे राजा जॉन को पोप के सामने नतमस्तक होना पड़ा और वह भी पोप का सामन्त बन गया। उसने पोप को 1,000 मार्क सालाना कर देना स्वीकार किया। जर्मन साम्राज्य और पोप मे पुरानी

1 *Gettle* : History of Political Thought, p. 110.

शत्रुता थी। सौभाग्यवश इस समय वहाँ राजगद्दी के लिए संघर्ष चल रहा था। ग्राटो चतुर्थ, फ्रेडरिक द्वितीय और स्वेलिया के फिलिप राजगद्दी के दावेदार थे। पोप ने गहरी कूटनीति का परिचय देते हुए पहले तो फिलिप के विरुद्ध ग्राटो का समर्थन किया और बाद में ग्राटो के विरुद्ध फिलिप का पक्ष लिया। साथ ही उसने फ्रेडरिक द्वितीय के विरुद्ध ग्राटो का और ग्राटो के विरुद्ध फ्रेडरिक का पक्ष लिया। परिणाम यह हुआ कि इटली में पोप के प्रदेश जर्मन प्रभुत्व से मुक्त हो गए। वास्तव में पोप इन्नोसेंट तृतीय ने पोप की तरह नहीं बल्कि राजा की तरह शासन किया। सन् 1216 ई. में उसके देहान्त के समय चर्च शक्ति, वैभव और ख्याति के चरम शिखर पर पहुँच चुका था। चर्च इतना प्रभावशाली हो गया था कि इन्नोसेंट की मृत्यु के लगभग 100 साल बाद तक भी यूरोप में उसकी तूती बोलती रही।

फ्रेडरिक द्वितीय और इन्नोसेंट चतुर्थ

इन्नोसेंट तृतीय के अन्तिम काल से ही फ्रेडरिक द्वितीय का शासन प्रारम्भ हुआ। राजा फ्रेडरिक ने दावा किया कि साम्राज्य के शासन सम्बन्धी विषयों में वह पोप से सर्वथा स्वतन्त्र है तथा उसे शक्ति ईश्वर ने प्रत्यक्ष रूप से प्रदान की है, पोप के माध्यम से नहीं। फ्रेडरिक ने लौकिक विषयों में पोप की सत्ता को मानने से इन्कार करते हुए केवल धार्मिक विषयों में उसके अधिकार को स्वीकार किया। पोप इन्नोसेंट चतुर्थ ने उत्तर दिया कि लौकिक विषयों पर भी पोप का अधिकार है जो उसे दैविक आदेश द्वारा मिला है। पोप ही राजाओं को अपनी शक्ति सौंपता है, अत राजा उसके अधीन हैं। पोप के इस सिद्धान्त का विकास और उसे लागू करने में कैनोनिस्ट्स (Canonists) ने बड़ी सहायता की। कैनोनिस्ट्स वे व्यक्ति थे जो धार्मिक कानूनों की व्याख्या और क्रियान्वित करते थे। जब सन् 1250 ई में फ्रेडरिक द्वितीय का देहान्त हुआ, तब स्थिति यह थी कि चर्च का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था और ऐसा लगता था कि चर्च संघर्ष में पूर्ण विजयी हो गया है अथवा विजय की अन्तिम सीढ़ियाँ चढ़ रहा था। चर्च अब अपने दावों को और भी बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करने लगा था। पर फ्रांस के राजा 'फिलिप दी फेयर' (Philip the Fair) के रूप में शीघ्र ही एक कठोर और शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी का उदय हुआ, जिससे चर्च और राजसत्ता के संघर्ष में एक नया मोड़ आया और पोपशाही का पतन प्रारम्भ हो गया।

पोप बोनीफेस अष्टम् (1294–1303 ई.) तथा फिलिप चतुर्थ (1285–1314 ई.) का संघर्ष

फिलिप चतुर्थ अथवा फिलिप दी फेयर ने दृढ़ता से पोपशाही की शक्ति पर निर्णायक आघात किए। इस समय धर्म-युद्धों और व्यापार-वाणिज्य की वृद्धि के कारण उत्पन्न हुई परिस्थितियों में एक नवीन राजनीतिक और बौद्धिक विश्व जाग्रत हो रहा था तथा विभिन्न राज्यों की अधिकांश जनता आत्म-निर्भरता और देशभक्ति की भावनाओं में डूबने लगी थी। फिलिप चतुर्थ के समय पोप के पद पर बोनीफेस अष्टम् विद्यमान था। इन दोनों के मध्य विवाद, चर्च की विशाल सम्पत्ति

पर कर लगाने के राजकीय प्रयत्नों के फलस्वरूप, गम्भीर रूप से उठ खड़ा हुआ। उस समय फ्रेंच राजा फिलिप चतुर्थ और इंग्लैण्ड का राजा एडवर्ड युद्धरत थे। युद्ध को चलाने के लिए दोनों ही को धन की आवश्यकता थी। अतः उन्होंने राजकर से मुक्त चर्च की विशाल सम्पत्ति पर कर लगाने का निश्चय किया। फ्रांस के पादरी अपनी सम्पत्ति के रक्षक राज्य को प्रतिरक्षा के लिए कर देने का कर्त्तव्य स्वीकार करते थे, किन्तु उन्हें यह भी भय था कि इस तरह राजसत्ता को स्वतः ही एक ऐसा शक्तिशाली हथियार मिल जाएगा जिसकी सहायता से वह चर्च की शक्ति को नष्ट करने की ओर सफलतापूर्वक अग्रसर हो सकेगा। अतः फ्रांस के एक धार्मिक सम्प्रदाय ने राज्य की करारोपण प्रवृत्ति का विरोध करते हुए पोप बोनीफेस से इस सम्बन्ध में अपील की। यद्यपि पोप फ्रांस की राजसत्ता के प्रति विनम्र और मैत्रीपूर्ण था किन्तु वह चर्च की सम्पत्ति पर कर लगाने के राजाओं के अधिकार को स्वीकार करके अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने को तैयार नहीं हुआ। अतः उसने एक आज्ञापत्र (Bull Clericis Laicos) जारी किया जिसमें यह घोषित किया गया कि पोप की आज्ञा के बिना चर्च की आय में से कर देने वाले पादरियों को और ऐसा कर वसूल करने के लिए चर्च की सम्पत्ति को जब्त करने वाले राज्याधिकारियों को धर्म-बहिष्कृत कर दिया जाएगा।

राजा फिलिप ने पोप के आदेश का विरोध करते हुए फ्रांस से पोप को भेजे जाने वाले बहुमूल्य उपहारों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया। उसने सोने, चाँदी, बहुमूल्य मणियाँ और अनाज आदि के फ्रांस से बाहर जाने पर प्रतिबन्ध लगाने के साथ-साथ विदेशी व्यापारियों और प्रतिनिधियों को भी फ्रांस से बाहर चले जाने का आदेश दिया। इस कठोर नीति के दो प्रत्यक्ष परिणाम निकले—(1) पोप की आमदनी का एक बड़ा स्रोत बन्द हो गया, एवं (2) पोप के उन प्रतिनिधियों को फ्रांस से चले जाना पड़ा जो धर्म-युद्धों के लिए चन्दा जमा करते थे।

पोप बोनीफेस फिलिप के आगे इस प्रथम संघर्ष में टिक नहीं पाया। उसने सितम्बर, 1296 ई. के अपने दूसरे आज्ञापत्र (Bull Ineffavitisamor) में यह अनुमति प्रदान कर दी कि चर्च के अधिकारीगण स्वेच्छा से राज्य की प्रतिरक्षा हेतु चन्दा दे सकते हैं। साथ ही राजा को भी यह अधिकार दिया गया कि वह राज्य की प्रतिरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं का निर्धारण करे। अब फिलिप ने भी चर्च के विरुद्ध उठाए गए कदमों को वापिस ले लिया।

कुछ समय बाद ही दोनों के मध्य पुनः संघर्ष उठ खड़ा हुआ। पोप के एक दूत बर्नार्ड सइसेंट (Bernard Saisset) को किसी झगड़े में फिलिप ने बन्दी बना लिया और उस पर अदालत में मुकदमा चलाया। पोप ने अपने दूत की रिहाई की माँग की और दावा किया कि चर्च के व्यक्तियों पर राजकीय मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। इसके साथ ही उसने फ्रांस के धर्माधिकारियों को राज्य को दिए जाने वाले धार्मिक कर देने से मना कर दिया। उसने यह दावा भी दोहराया कि सांसारिक

मामलो मे भी राजा को पोप के आदेश का पालन करना चाहिए। उधर फिलिप ने यह भी कहा—"सांसारिक मामलो मे हम किसी के वशवर्ती नहीं हैं।" दोनो ही ने अपने-अपने पक्ष मे विभिन्न धार्मिक परिषद् बुलाना प्रारम्भ की। पोप द्वारा 1302 मे बुलाई गई धार्मिक परिषद् ने घोषित किया कि "मुक्ति (Salvation) के लिए सब व्यक्तियो का रोम के पोप के अधीन रहना आवश्यक है।" फिलिप ने इसके बदले मे 1303 ई. मे दो धार्मिक परिषदें बुलाकर इल्जाम लगाया कि वह "अत्याचारी जादूगर, हत्यारा, गबन करने वाला, व्यभिचारी, चर्च के पदो को बेचने वाला, मूर्तिपूजक और काफिर" है। पोप द्वारा कोई प्रतिरोधात्मक कदम उठाने से पूर्व ही फिलिप ने दो प्रतिनिधियो को दो हजार सैनिकों के साथ रोम भेज दिया जिन्होंने पोप से त्यागपत्र की माँग की। तीन दिन तक पोप इनकी कैद मे रहा। बाद में अपने समर्थको की सेना के आ पहुँचने पर उसे मुक्ति मिली। लेकिन 75 वर्षीय बूढ़ा पोप इस आघात को सहन नही कर सका और कुछ ही दिन बाद 11 अक्तूबर, 1303 ई. को वह इस ससार से चल बसा।

बोनीफेस के बाद बेनीडिक्ट एकादश (1303-4) पोप बना। उसने बोनीफेस के समय पोप के महल पर हमला करने वाले प्रतिनिधियो को धर्म बहिष्कृत कर दिया। पर बेनीडिक्ट के भाग्य मे पोप की गद्दी अधिक समय तक नही लिखी थी। एक वर्ष बाद ही इसे जहर देकर मार दिया गया। तत्पश्चात् फिलिप ने बोर्दो के आर्कबिशप बर्ट्रेण्ड डिगोट को अपनी कुछ शर्तों पर पोप चुनवाना स्वीकार किया। फिलिप द्वारा प्रस्तुत शर्तें ये थी—(1) पोप समझौते की नीति पर चलेगा, (2) बोनीफेस के महल पर हमला करने वालों को दिया गया दण्ड वापिस लेगा, (3) पोप 5 वर्ष की अवधि के लिए फ्रांस के पादरियों पर 10 प्रतिशत आयकर लगवाना स्वीकार करेगा, एव (4) बोनीफेस पर मरणान्तर अभियोग चलाकर पोप उसे दण्ड देगा।

उपर्युक्त शर्तों को स्वीकार करने पर बर्ट्रेण्ड क्लेमेण्ट पचम् के नाम से पोप की गद्दी पर बैठा। फिलिप द्वारा अपनी शर्तों को मनवाने का स्पष्ट उद्देश्य यही था कि पोपशाही पर उसका प्रभाव रहे और चर्च के साथ सघर्ष की पुनरावृत्ति न हो। पोप क्लेमेण्ट पचम् ने रोम मे रहना निरापद न समझकर 1309 ई. मे अपना निवास स्थान रोम से हटाकर एविग्नोन (Avignon) को बना लिया। यहाँ उसे बडी सरलता से फ्रांस का सरक्षण प्राप्त हो सकता था। वास्तव मे पोपशाही की यह दशा दयनीय थी। पोप यहाँ स्वतन्त्र न होकर फ्रांसीसी राजाओ के प्रभुत्व मे रहने लगे। 1309 से 1377 ई. तक एविग्नोन ही पोपो की राजधानी बनी रही। बाइबिल के प्राचीन इतिहास के आधार पर लगभग 70 वर्ष के इस लम्बे युग को बेबीलोनियन बन्धन (Babylonish Captivity) के युग के नाम से पुकारा जाता है। इस युग मे पोपशाही पर फ्रांस के राजाओ का प्रभाव जम गया। अतः अब पोप जर्मनी और इटली के राजाओं की श्रद्धा का पात्र नही रहा। मैक्सी के शब्दो मे

'एविग्नोन के लम्बे बेबिलोनियन बन्धन में पोपशाही के राजनीतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के प्रभावों को गहरा आघात पहुँचा ।"[1]

पोप जॉन बाईसवाँ (1316–1334) एवं जर्मन सम्राट बवेरियन लुईस चतुर्थ (1314–47) का विवाद

चर्च और राज्य के विवाद में एक और अन्तिम महत्वपूर्ण संघर्ष हुआ। 1314 ई. में बवेरिया के लुईस चतुर्थ को पवित्र रोमन सम्राट चुना गया। इसी समय कुछ निर्वाचकों द्वारा आस्ट्रिया के फ्रेडरिक को भी सम्राट चुन लिया गया। इस तरह एक ही समय में दो सम्राटों का निर्वाचन हुआ, अतः गृह-युद्ध छिड़ गया। 1316 ई. में जॉन बाईसवाँ एविग्नोन में पोप की गद्दी पर बैठा। वह इटली को जर्मन सम्राट के प्रभाव से मुक्त करना चाहता था। अतः उसने घोषणा कर दी कि सम्राट के पद पर बिना पोप की स्वीकृति के बैठना पोप के अधिकारों का हनन है। लुईस को चर्च से बहिष्कार कर दिया। इस पर लुईस ने भी पोप पर अनेक आरोप लगाए और इटली आकर उसने एक नए पोप का चुनाव करवाया। लुईस की शक्ति इस समय बढ़ी हुई थी क्योंकि गृह-युद्ध में फ्रेडरिक को बन्दी बनाकर इस शर्त पर छोड़ चुका था कि वह सम्राट के पद के लिए अपने दावे का परित्याग कर देगा।

लुईस के द्वारा लगाए गए आरोपों और नए पोप का निर्वाचन कराने के प्रतिकार-स्वरूप जॉन ने लुईस को नास्तिक घोषित करते हुए ईसाई जनता को उसके विरुद्ध शस्त्र धारण करने का आह्वान किया। लेकिन इसी समय जर्मनी के निर्वाचक राजाओं की एक परिषद् ने घोषणा की कि सम्राट का अधिकार और शाही मुकुट निर्वाचन के द्वारा प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में पोप की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नहीं है। इस घोषणा से पोप का पक्ष बहुत कमजोर पड़ गया और उसे योग्य समर्थन नहीं मिल सका। एक अन्य घटना ने भी पोप जॉन 22वें के विरोधियों को अधिक बलवान् बनाया। सन्त फ्रांसिस द्वारा स्थापित भिक्षु सम्प्रदाय ने इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के लिए जितनी सम्पत्ति आवश्यक हो, उससे अधिक सम्पत्ति का चयन नहीं किया जाना चाहिए। आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति रखना आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उपयोगी नहीं है। लेकिन सम्पत्ति और ऐश्वर्य के समर्थक जॉन ने विरोध करते हुए घोषणा की कि यह सिद्धान्त ईसाई धर्म के विपरीत है। यही नहीं उसने फ्रांसिसकन सम्प्रदाय के अध्यक्ष को भी पदच्युत और चर्च बहिष्कृत घोषित किया। पोप के इस कार्य ने कट्टर ईसाइयों को भी विरोधी बना दिया। इन लोगों ने सम्राट और पोप के संघर्ष में सम्राट का साथ दिया।

14वीं शताब्दी में पोप की शक्ति निरन्तर घटती गई। चर्च की फूट ने पोपशाही की प्रतिष्ठा को बड़ा आघात पहुँचाया। पोप के व्यक्तिगत जीवन के भ्रष्ट होने से अनेक पादरी पोपशाही के आलोचक हो गए। उन्होंने अपनी रक्षा के

लिए राजकीय न्यायालयों की शरण ली और तर्क दिया कि धार्मिक विषयों में अन्तिम अधिकार पोप को नहीं बल्कि चर्च-परिषद् को है।

14वीं शताब्दी के विवाद की विशेषताएँ
(Characteristics of 14th Century Controversy)

14वीं शताब्दी में संघर्ष का सूत्रपात चर्च की सम्पत्ति पर करारोपण के प्रश्न पर हुआ लेकिन मूल में यह प्रश्न निहित था कि जब राजा राष्ट्र का प्रधान है तो क्या उसे राज्य की सुरक्षा और कल्याण की दृष्टि से पादरियों तथा जनसाधारण पर समान रूप से करारोपण करने का अधिकार नहीं था? फिलिप का तर्क था कि राज्य की रक्षा के लिए पादरी युद्ध-क्षेत्र में नहीं जाते, बल्कि दूसरों को जाना पड़ता है, अतः उस राज्य के पादरियों और चर्च का यह कर्त्तव्य है कि वे उनकी रक्षार्थ लड़ने वाले लोगों के पालन-पोषण के लिए और उनके व्यय-भार को सहन करने के लिए राज्य को अपनी विशाल सम्पत्तियों में से कुछ धन प्रदान करें। पादरीगण और जन-साधारण भी यह समझते थे कि पादरियों की सम्पत्ति पर करारोपण न होने पर युद्ध और प्रशासन के व्यय की पूर्ति करना सम्भव न था। यही कारण था कि फ्रांस के पादरियों ने इस राष्ट्रीय प्रश्न पर पोप बोनीफेस का पक्ष न लेकर फिलिप का समर्थन किया। तत्कालीन पोपशाही लोगों के हृदयों में हिलोरें मारती हुई राष्ट्र भावना का मूल्यांकन न कर सकी और इसलिए उसकी पराजय हुई। इस समय से पूर्व राष्ट्रीय भावना इतने मुखर रूप में कभी प्रकट नहीं हो पाई थी। फिलिप का उदय एक राष्ट्रीय राजा के रूप में हुआ जिसने पोपशाही के शासन को डगमगा दिया। इस तरह 14वीं शताब्दी के विवाद की प्रथम प्रमुख विशेषता राष्ट्रीय भावना का उदय होना था। जहाँ पिछली शताब्दियों में संघर्ष पोपशाही और साम्राज्य–इन दो सार्वभौमिक अधिकार क्षेत्रों में था वहाँ 14वीं शताब्दी में यह संघर्ष दो शक्तियों, पोपशाही तथा राष्ट्रीय राजा के मध्य था।

14वीं सदी के विवाद की द्वितीय विशेषता यह रही कि जहाँ पिछली शताब्दियों में साम्राज्यवादी अपने बचाव के लिए प्रयत्नशील रहे वहाँ इस शताब्दी में पोपशाही को अपने बचाव के लिए आगे आना पड़ा। फिलिप एक ऐसे राष्ट्रीय राजा के रूप में प्रकट हुआ जिसे पोपशाही के विरुद्ध संघर्ष में अधिकांश भागों से समर्थन मिला।

तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि पोपवादियों ने बहुत ही उग्र तथा अव्यावहारिक रवैया अपनाते हुए बढ़-चढ़ कर अपने दावे पेश करना शुरू कर दिया। पोप ने सम्पत्ति के प्रति अपनी आसक्ति को खुले रूप में प्रकट करते हुए यह थोथा तर्क दिया कि आध्यात्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सम्पत्ति का होना आवश्यक है। पोप के आलोचकों ने कहा है कि पादरियों द्वारा निजी सम्पत्ति रखना और अपरिग्रह सिद्धान्त का पालन न करना ईसाइयत के विरुद्ध है। आलोचकों का तर्क व्यावहारिक और न्यायसंगत था जिसे अधिकांश जनता का समर्थन मिला।

चौथी विशेषता यह थी कि इस शताब्दी के वाद-विवाद का स्तर पूर्वापेक्षा बहुत ऊँचा रहा। प्रश्नों को अधिक सटीक ढंग से रखा गया तथा पुराने तर्कों को नए व्याख्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया। प्राचीन ऐतिहासिक दृष्टान्तों की फिर से परीक्षा हुई। इस वाद-विवाद ने विशाल साहित्य को जन्म दिया और राजा के समर्थक वकीलों की रचनाओं में राजनीतिक यथार्थवाद का प्रभाव तथा प्रशासनिक समस्याओं का चिन्तन मुखरित हुआ। सेबाइन के शब्दों में, "अब यूरोप के बौद्धिक जीवन में शिक्षित और व्यावसायिक रूप में प्रशिक्षित वर्ग का आविर्भाव हो गया।"

चर्च तथा राज्य द्वारा अपने-अपने पक्ष में प्रस्तुत दावे
(Arguments for the Supremacy of the Church and the State)

इस सम्पूर्ण विवेचना के उपरान्त चर्च और राज्य द्वारा अपने समर्थन में प्रस्तुत किए गए दावों का संक्षेप में सिंहावलोकन युक्तिसंगत होगा।

चर्च-समर्थक दावे

(1) चर्च ही सच्चा राज्य है। चर्च तथा ईसाई संघ की स्थापना स्वयं भगवान् द्वारा की गई है जिसने मानव-समाज के शासन के लिए आध्यात्मिक और सांसारिक शक्ति की दो सत्ताओं को सौंपा है। आध्यात्मिक शक्ति का प्रधान पोप है और सांसारिक शक्ति का राजा, किन्तु पोप की स्थिति उच्चतर है और प्रत्येक दशा में उसका निर्णय ही अन्तिम है।

(2) भौतिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन श्रेष्ठतर है तथा आत्माओं के नरक से उद्धार के कार्य को सम्पन्न कराने वाले पादरीगण लौकिक शासकों से अधिक गौरव और सत्तापूर्ण हैं। सन्त अम्ब्रोज ने कहा—"सीसे की और सोने की चमक में जो अन्तर है, वही अन्तर राजाओं के तथा बिशपों के गौरव में है।"

(3) दो तलवारों के सिद्धान्त के आधार पर कहा गया कि पोप ने ईश्वर से प्राप्त सांसारिक शक्ति की प्रतीक तलवार तो राजाओं को दी तथा आध्यात्मिक शक्ति की प्रतीक तलवार अपने पास रखी। इस तरह राजा पोप के माध्यम से ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है और उसे पोप की सहमति से राजसत्ता का प्रयोग करना चाहिए।

(4) लौकिक शासन अपनी शक्तियाँ ईश्वर से पृथक् रूप में नहीं वरन् चर्च के माध्यम से प्राप्त करते हैं, अतः लौकिक विषयों में भी वे पोप के अधीन हैं।

(5) धर्मसत्ता की प्रधानता सिद्ध करने के लिए बाइबिल के अनेक पुराने और नए नियमों और उदाहरणों को पेश किया गया। उनकी व्याख्या इस तरह की गई कि पोप तथा चर्च की स्थिति सुदृढ़ हो।

(6) चर्च ही राज्य की नैतिकता के लिए उत्तरदायी है और पोप को अधिकार है कि वह राजाओं के आचरण पर नियन्त्रण रखे।

(7) अनेक ऐतिहासिक घटनाओं और प्रमाणों द्वारा राजसत्ता पर धर्मसत्ता की प्रभुता सिद्ध की गई। प्रथम प्रमाण सन्त अम्ब्रोज द्वारा सम्राट थियोडोसियस की भर्त्सना का दिया गया। दूसरा प्रमाण यह दिया गया कि मेरोविंगियस के अन्तिम राजा शिल्परिक (Chilperic) को उसकी अक्षमता के कारण पोप-जकारियास

(Zacharias) ने पदच्युत् किया था। तीसरा प्रमाण 'कौन्सटेन्टाइन के दान' (Donation of Constantine) का दिया गया। वास्तव में यह प्रमाण एक जाली दान-पत्र बना कर पेश किया गया जो 1439 ई में भण्डाफोड़ होने तक प्रामाणिक समझा जाता रहा। चौथा प्रमाण पोप लियो तृतीय द्वारा शार्लमैन को मुकुट प्रदान करने का पेश किया गया। इस राज्याभिषेक का यह अर्थ प्रसारित किया गया कि पोप राजा को राजशक्ति प्रदान करता है और उसे वापिस ले सकता है।

(8) पोप अपने दण्ड-साधनों और अभिशाप देने के भय से भी धर्मसत्ता के प्रभाव का विस्तार करता रहा। धर्म-बहिष्कृत कर देने की धमकी और उसकी क्रियान्विति मध्य-युग में विशेष महत्त्व रखती थी।

पोपवादियों ने अपने पक्ष में बड़े-बड़े दावे प्रस्तुत किए। उनसे वास्तव में हैरानी होती है। इससे भी अधिक हास्यास्पद बात यह लगती है कि किस तरह शक्तिशाली सम्राट प्रारम्भ में पोपशाही के सम्मुख झुकते और नाक रगड़ते रहे। वास्तव में इन सब के मूल में यही बात निहित प्रतीत होती है कि प्रारम्भ से ही पहल पोपवादियों के हाथों में रही जिससे उन्हें प्रारम्भिक सफलताएँ मिली। उस समय जनता धर्मान्ध थी और पोप के धार्मिक दण्ड के भय से सदैव त्रस्त और दबी हुई रहती थी। राज्याधिकारी इसी कारण जन-समर्थन प्राप्त नहीं कर पाते थे। साथ ही वे यह भी इन्कार नहीं कर सकते थे कि आध्यात्मिक शक्ति लौकिक शक्ति से अधिक श्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त वे धर्म-बहिष्कृत माने जाने का खतरा भी नहीं उठा सकते थे। अतः उनकी स्थिति और नीति अधिकांशतः रक्षा और बचाव की थी। 14वीं शताब्दी से पूर्व तक इन्हीं कारणों से चर्च और पोप की तूती बोलती रही।

राजसत्ता के समर्थक दावे

(1) राजा के दैवी अधिकारों पर बल दिया गया। यह कहा गया कि राज्य की उत्पत्ति भी चर्च की भांति दैवी है। राजा को शक्ति ईश्वर से प्रत्यक्ष रूप में मिली है जिसका प्रयोग करने में वह सीधे ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है तथा केवल ईश्वर ही राजा के कार्यों का निर्णायक है। राजाओं का कर्त्तव्य है कि वे न्याय करें, धर्म की रक्षा करें और प्रजा का हित करें, किन्तु यदि वे कर्त्तव्यच्युत् होते हैं तो इससे उनके दैवी अधिकार समाप्त नहीं होते और न ही चर्च लौकिक दण्ड देने के लिए आगे आ सकता है। ईश्वर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए भूतल पर दो प्रकार के राजा भेजता है—दयालु और क्रूर। यदि राजा दयालु है तो इसका अर्थ यह है कि उस देश की प्रजा पर ईश्वर की कृपा है। यदि राजा क्रूर है तो यह समझना चाहिए कि उस देश की प्रजा से ईश्वर क्रुद्ध है। अतः प्रजा का यही कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक दशा में राजा की आज्ञाकारिणी बनी रहे। राजा के अत्याचारों को वह अपने पापों का परिणाम समझे और उनसे बचने के लिए ईश्वर की प्रार्थना करे।

(2) पोपो का यह दावा कि लौकिक विषयो पर पोप का नियन्त्रण हो, ईश्वरीय व्यवस्था के विरुद्ध है । ईश्वर ने समार को आध्यात्मिक और लौकिक इन दो शक्तियो के शासन मे रखा है । अतः पोप द्वारा दोनो ही शक्तियो को अपने हाथ मे लेने की चेष्टा करना ईश्वर के आदेश का उल्लघन है ।

(3) राजसत्ता के समर्थन मे न्यायविदो ने कई तर्क-सम्मत युक्तियाँ प्रस्तुत की । 12वी सदी मे पीटर क्रेसस ने कहा कि राजा हैनरी ने अपनी गद्दी उत्तराधिकार के सिद्धान्त द्वारा प्राप्त की है, न कि पोप से अथवा जनता से । अत- हैनरी को पदच्युत् करना ठीक ऐसा ही कार्य होगा जैसा किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति को छीनना । एक अन्य युक्ति द्वारा इस धारणा का खण्डन किया गया कि राजा से पादरी अधिक श्रेष्ठ है और बिशपो से पोप अधिक श्रेष्ठ है । यह कहा गया कि राजपद का स्वरूप दैवी है, अतः राजा की शक्ति पोप और पादरियो दोनो से अधिक श्रेष्ठ है । यह बात कि पोप राजा को पद-प्रतिष्ठित करता है, किसी भी रूप मे इसके राजा से श्रेष्ठ होने का प्रमाण नही है । यदि पद-प्रतिष्ठान से ही श्रेष्ठता का निर्धारण होता तो पोप को पद प्रतिष्ठित करने वाले कार्डिनल पोप से श्रेष्ठ होते । पद-प्रतिष्ठान तो केवल-मात्र एक सस्कार का सम्पन्न करना है । इसके साथ ही यह भी कहा गया कि सभी बिशप समान हैं और उन्हे ईश्वर से समान शक्तियाँ मिली हैं, अतः पोप उनसे अधिक प्रभुत्वमय और श्रेष्ठ नही है । राजसत्ता के समर्थन मे दी गई और पोप की श्रेष्ठता पर आघात करने वाली ये युक्तियाँ इस दृष्टि से भी निश्चय ही अत्यन्त महत्वपूर्ण थी कि इनमे मनुष्य का निर्णय उसके पद से नही बल्कि उसके कर्म और चरित्र से करने का विचार झलकता था । अपनी युक्तियो और कानूनी व्याख्याओ द्वारा तत्कालीन विधि-शास्त्रियो ने 'अविच्छिन्न साम्राज्य शक्ति' (Imperium Continuum) के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया और कहा कि रोमन सम्राट के समय से साम्राज्य की शक्ति अबोध रूप मे चली आ रही है जिसे पोप द्वारा प्रदत्त नही माना जा सकता । विख्यात विधिवेत्ता बार्टोलस (1314-73) ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि सम्राट पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार है जिसकी प्रभुशक्ति अदेय है और उस पर विवाद करना भी धर्म विरुद्ध है ।

(4) ईसाई सघ के कुछ पादरियो ने पोप की अनियन्त्रित सत्ता के विरुद्ध राज सत्तावादियो को समर्थन दिया । ये पादरी सत्ता का उपयोग धर्म-परिषदो द्वारा चाहते थे, पोप द्वारा नही । इस फूट ने सम्राट की स्थिति को सबल बनाने मे योग दिया ।

पोपशाही और साम्राज्य के मध्यवर्ती सघर्ष ने नवीन राजनीतिक साहित्य रचना को अनुप्रेरित किया और लोगो को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वे आध्यात्मिक और राजकीय दोनो शक्तियो के आधारो पर परीक्षण करें ।

मध्यकाल के कुछ विचारक : जॉन ऑफ सेलिसबरी
(John of Salisbury)

पोप ग्रेगरी सप्तम् के बाद पोप की प्रभुता के प्रमुखतम अधिवक्ताओ की सूची मे अगला नाम जॉन ऑफ सेलिसबरी (1115–1180) का आता है । उसकी

मानसिक शक्तियाँ अत्यन्त उच्चकोटि की थी। सन् 1176 ई. मे वह चार्ट्रेस (Chartres) का बिशप नियुक्त हुआ और चार वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गई। जॉन ऑफ सेलिसबरी ने 1159 मे 'पॉलिक्रेटिकस' (Policraticos) नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन पर विस्तृत और व्यवस्थित रूप से पहली बार विचार किया गया। सेबाइन के अनुसार 'अरस्तू के पुनरुद्धार से पहले इस ढग की यह अकेली पुस्तक थी जिसमे उस प्राचीन परम्परा का सकलन किया गया जो सिसरो, सेनेका, चर्च के सस्थापको और रोमन विधिवेत्ताओ के पास से होती हुई 12वी शताब्दी तक आई थी। इस ग्रन्थ मे बड़ी ईमानदारी से उन विश्वासो को प्रकट करने का प्रयत्न किया गया था जिन्हे 12वी शताब्दी मे सब लोग मानते थे और जहाँ तक उस समय ज्ञात था, हमेशा से मानते आए थे। जिस समय जॉन ऑफ सेलिसबरी ने ग्रन्थ प्रणयन किया था, समाज मे सामन्तवाद का बोलबाला था। लेकिन "इस ग्रन्थ पर समाज के सामन्तवादी सगठन की बहुत कम छाप है।"[1] इस पुस्तक को जिसे 'स्टेट्समैन्स बुक' भी कहते हैं, डॉ. डिकिन्सन ने 'मध्यकाल मे राजनीति पर सबसे पहला सागोपांग ग्रन्थ' कह कर पुकारा है। इसमे सरकार के सगठन, उसके कार्य विभाजनो और उनके पारस्परिक सम्बन्ध और सरकार के विभिन्न रूपो आदि का कोई उल्लेख न होकर केवल सरकार के एक रूप राजतन्त्र का वर्णन किया गया है। पुस्तक मे शासन का ढाँचा साम्राज्यवादी व्यवस्था पर आधारित है। सेलिसबरी के राजनीतिक दर्शन का तत्त्व कानूनी और सांवैधानिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है।

सेलिसबरी के राजनीतिक विचार
(Political Ideas of Selisbury)

जॉन के राजनीतिक चिन्तन मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बातें निम्नांकित हैं—

(1) **चर्च की सर्वोच्च सत्ता अथवा राज्य का चर्च के प्रति अधीन होना**—जॉन ऑफ सेलिसबरी का विश्वास था कि धार्मिक और राजनीतिक शक्तियो के अधिकार क्षेत्र भिन्न थे, तथापि धार्मिक और लौकिक शक्तियो से सम्बन्धित दोनो तलवारें चर्च को ही प्रदान की गई थी। चर्च ने इनमें से आध्यात्मिक शक्ति की तलवार अपने पास रखी और लौकिक शक्ति की तलवार राजा को इस शर्त पर सौंप दी कि वह उसका प्रयोग चर्च की ओर से और चर्च की इच्छानुसार करेगा। जॉन के शब्दो में, "इस तलवार (लौकिक शक्ति) को राजा चर्च से प्राप्त करता है। यद्यपि इस रक्तमय तलवार को चर्च अपने हाथ मे नही थामता तथापि इस पर उसका आधिपत्य है। चर्च इसका प्रयोग राजा के हाथ से करता है और (लौकिक विषयो मे) उसे दण्ड का अधिकार देता है, जबकि आध्यात्मिक विषयो का अधिकार पादरियों के लिए ही सुरक्षित रख लेता है। इसलिए राजा एक तरह से चर्च का ही एक

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 227.

कर्मचारी है और वह पवित्र कर्त्तव्यो के उस भाग को पूरा करता है जिसका करना पादरियों के लिए शोभनीय नही है।"[1]

जॉन ने लौकिक शक्ति द्वारा अपराधो के लिए दण्ड देने के कार्य को निम्न-कोटि का मानते हुए इसे राज्य द्वारा किया जाना ही ठीक बताया। उसने कहा, यद्यपि ईश्वरीय नियमो का प्रत्येक कर्त्तव्य धार्मिक और पवित्र है, तथापि अपराधो के लिए दण्ड देने का कार्य घटिया दर्जे का है और जल्लाद का काम लगता है।'[2]

(2) समाज की जीव-शास्त्रीय (Organic) धारणा—जॉन ने 'पॉलिक्रेटिक्स' में मानव-आत्मा की तुलना चर्च से तथा सिर (Head) की तुलना राज्य के अध्यक्ष से की है। सीनेट को वह हृदय बताता था और प्रान्तो के गवर्नर उसके लिए आँख, कान तथा जिह्वा थे। उसकी मान्यता थी कि "राज्य की सेना तथा प्रशासकीय अधिकारी शरीर के हाथ हैं तो किसान और कारीगर आदि शरीर के पाँव हैं। शरीर के समस्त अगो का राज्य के अधीन होना सिर के गुणो पर आधारित है। यदि सिर अर्थात् सम्राट् आत्मा अर्थात् चर्च की आज्ञानुसार कार्य करे तभी राज्य के समस्त अग सम्राट् के अधीन रह सकते हैं।" जॉन सेलिसबरी ने बतलाया कि "शरीर मे चर्च की प्रतीक आत्मा होती है। जिस प्रकार आत्मा शरीर पर शासन करती है, उसी तरह राज्य पर चर्च का शासन है। शरीर मे आत्मा के अनुरूप ही राज्य मे वे चीजें मिलती हैं जो हमारे भीतर धर्म के अधिकारी की स्थापना करती हैं और हमे ईश्वरोपासना का पाठ पढाती हैं।" उसने आगे कहा कि "वे शक्ति जो धार्मिक संस्कार सम्पन्न कराते हैं उतने ही आदरणीय है जितनी कि शरीर मे आत्मा। जॉन ने यह भी कहा कि जब तक पादरियो द्वारा राज्याभिषेक नहीं होता तब तक कोई व्यक्ति राजा नही बनता। राजा की अधीनता का स्पष्ट प्रमाण यह भी है कि उसके निर्वाचन मे पादरियो और जन साधारण दोनो का मत रहता है। ईश्वर राजा को प्रशासनिक प्रधान बनाकर ससार मे भेजता है और पादरियो के माध्यम से समस्त प्रजा की स्वीकृति राजा को प्रदान की जाती है।

(3) राजा का कानून के साथ सम्बन्ध और जनप्रिय तथा दुराचारी राजा में विभेद—जॉन ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि राजा कानून के अधीन है और वह उसका सेवक है। कानून सब जगह मौजूद रहने वाला वह सूत्र है जो समस्त मानव-सम्बन्धो के बीच समाया रहता है। इन मानव सम्बन्धो मे शासक और शासित के सम्बन्ध भी शामिल हैं। इसलिए, कानून का पालन राजा और प्रजा दोनो को ही समान रूप मे करना पडता है। जॉन की मान्यता थी कि राजा न्याय का सेवक है और सार्वजनिक उपयोगिता को पूरा करने वाला एक कर्मचारी है। राजपद निजी न होकर सार्वजनिक पद है जिस पर कानून का बधन है। यह कानून राजा द्वारा निर्मित विधेयात्मक कानून न होकर शाश्वत न्याय का परिवर्तनशील दैविक

1-2 *Mc Ilwain* : The Growth of Political Thought in the West, p 229.

कानून है सभी राजाओ को इस कानून के अधिकार मे रहना चाहिए। "कानून के कुछ पहलू ऐसे हैं जिनकी सदैव आवश्यकता बनी रहती है, जो सभी राष्ट्रो पर समान रूप से लागू होते हैं। यदि उन्हें तोड़ा जाए तो दण्ड मिलना आवश्यक है। शासको के प्रशंसक चिल्लाकर यह कह सकते हैं कि शासक कानून के नियन्त्रण मे नही हैं उनकी इच्छा ही कानून है, उनके ऊपर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नही हैं; लेकिन, फिर भी मैं यही कहूँगा कि राजा कानून द्वारा बँधे होते है।'[1]

जॉन ने सच्चे और अत्याचारी राजा के भेद को बड़ा महत्त्व प्रदान किया है। मध्ययुग के राजनीतिक साहित्य मे उसी ने पहली बार कहा कि अत्याचारी शासक का वध करना ठीक है क्योकि जो व्यक्ति तलवार को हाथ मे लेता है उसका तलवार से मरना न्याय सगत है। उसने बतलाया कि, अत्याचारी शासक और शासक मे एकमात्र तथा मुख्य अन्तर यही है कि शासक विधियो का पालन करता है और जनता पर उनके अनुसार ही शासन करता है। वह स्वय को उनका सेवक-मात्र मानता है तथा विधि के कारण ही राज्य के शासन प्रबन्ध मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण *स्थिति* रखता है।"

जॉन ने अत्याचारी शासक के वध का समर्थन करते हुए लिखा है, "यदि शासक की शक्ति दैवी-आज्ञाओ का विरोध करती है, ईश्वर के विरुद्ध किए जाने वाले युद्ध मे मुझे शामिल करना चाहती है तो मैं मुक्तकठ से यही उत्तर दूंगा कि इस भूतल पर किसी भी व्यक्ति की तुलना मे ईश्वर को महत्त्व देना चाहिए। अत्याचारी शासक का वध करना न केवल वैधानिक है, बल्कि उचित और न्यायपूर्ण है।"[2] आलोचको का कथन है कि एक धर्म-पुरोहित के लिए ऐसा कहना अत्यन्त ही हेय था। इसमे सदेह नहीं कि यह सिद्धान्त मौलिक रूप मे अपने-आप मे एक बुराई थी, किन्तु हमे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि जॉन की विचार-पद्धति मे इस सिद्धान्त का कोई प्रमुख स्थान नही था। उसने राजा के वध के लिए अनेक कठोर शर्तें लगाकर इस अधिकार को सीमित कर दिया था। प्रथम शर्त यह थी कि शासक का धर्म-विरुद्ध कार्य द्वारा अन्त किया जाए। उसकी दूसरी शर्त यह थी कि हत्यारा राजभक्ति की शपथ मे बन्धन-मुक्त व्यक्ति होना चाहिए। जान अत्याचारी शासक के अन्त करने का सर्वाधिक सुरक्षित एव उपयोगी ढग भगवान् से प्रार्थना को मानता था।

सेलिसबरी का मूल्यांकन

जॉन ऑफ सेलिसबरी मध्ययुग का एक प्रमुख लेखक और विचारक था जिसे पोप ग्रेगरी सप्तम् के बाद पोप की प्रभुता के प्रमुखतम अधिवक्ताओ की श्रेणी मे रखा जाता है। लेकिन चर्च की सर्वोच्च सत्ता का समर्थन करते हुए भी उसने विधि और न्याय पर आधारित आदर्श राज्य का चित्रांकन किया। उसका महत्त्व मुख्यतः

1. सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ, 227-228.
2. *Dunning* : A History of Political Theories, p. 187.

इसलिए है कि मध्ययुग मे राजदर्शन पर सुव्यवस्थित रूप से विचार करने वाला वह प्रथम लेखक था । सेलिसबरी ने कानून सम्बन्धी सिद्धान्त और कानून की सार्वभौम मान्यता मे दृढ़ विश्वास व्यक्त किया और राजसत्ता का प्रबल समर्थक होने के बावजूद,वह चर्च पर यह आरोप लगाने से नही हिचका कि चर्च धन-लाभ तथा अन्य पाप वृत्तियो से प्रेरित होकर अपने अधिकारो का दुरुपयोग करता है । सेलिसबरी ने सिसरो के समान ही एक ऐसे समय की कल्पना की जो कानून और अधिकारो के बारे मे किसी सामान्य समझौते से बँधा हो । मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन मे सेलिसबरी ने पहली बार यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि अत्याचारी शासक का वध करने मे कोई अनौचित्य नही है । जॉन ने कहा कि "जो व्यक्ति तलवार को हाथ मे लेता है, उसका तलवार से मरना उचित है ।" सेलिसबरी का मूल्यांकन करते हुए गैटल ने लिखा है कि—इस बात का उपदेश देकर कि राजाओ को ईश्वरीय कानून के अनुसार न्याय एव धर्म का सवर्द्धन करना चाहिए, जॉन ने रोम तथा चर्च के प्रारम्भिक लेखको की परम्पराओ को स्थायित्व प्रदान किया । इसके अतिरिक्त, अत्याचारी शासको के हटाने को औचित्यपूर्ण एव युक्तिसगत ठहराकर उसने सवैधानिक शासन-प्रणाली के विकास मे भी योग दिया ।"[1]

सन्त टॉमस एक्वीनास
(St. Thomas Aquinas)

जीवन परिचय

सन्त टॉमस एक्वीनास 13वी शताब्दी का महानतम व्यक्ति था । उसे मध्य काल के समस्त विचारको मे भी महानतम् माना जाता है । फौस्टर तो उसे समस्त ससार के क्रमबद्ध दार्शनिको मे स्थान देता है । उसके अनुसार एक्वीनास की सर्वोपरि विशिष्टता यह थी कि उसने अलग-अलग प्रवाहित विचार की विभिन्न धाराओ को एक ही प्रणाली से सश्लिष्ट करके एक कर दिया ।

एक्वीनास का जन्म नेपल्स (Naples) राज्य के एक्वीनो नगर मे हुआ था । कुछ व्यक्तियो के अनुसार उसका जन्म 1225 ई. मे तो दूसरो के अनुसार 1227ई. मे हुआ था । टॉमस एक्वीनास बचपन से ही बडा प्रभावशाली था । उसके पिता एक्वीनो नगर के काउन्ट पद पर कार्य करते थे । उसके माता-पिता की लालसा थी कि उनका पुत्र भी उच्च राज्याधिकारी बने । लेकिन टॉमस ने डोमनिकन सम्प्रदाय का सदस्य बनकर उन्हे बडा निराश किया । जितना ही उसे इस सम्प्रदाय से हटाने का प्रयत्न किया गया, उतना ही वह उसका कट्टर अनुयायी बन गया । उसे न तो माता-पिता का घोर विरोध और न ही सांसारिक प्रलोभन देने के लिए उसके पास भेजी गई सुन्दरी का मोह डोमनिकन सम्प्रदाय की सदस्यता से निरस्त कर सका । एक्वीनास ने उस सुन्दरी पर जलती हुई लकड़ी फैंकी और वह भाग गई ।

1 *Gettle*: Op. cit , p. 120

टॉमस एक्वीनास पेरिस पहुँच कर योग्य गुरु और आध्यात्मिक नेता अलबर्ट महान् के चरणो मे चार वर्ष तक अध्ययन करता रहा। कालान्तर मे उसने अपने गुरु से भी अधिक ख्याति प्राप्त की। उसने अरस्तू की राजनीति और उसके तर्कशास्त्र का गहरा अध्ययन किया। अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता एव मौलिकता के कारण वह विख्यात हो गया। टॉमस को पेरिस विश्वविद्यालय ने कोई उपाधि नही दी। उन दिनो यह विश्वविद्यालय भिक्षु को उपाधि प्रदान नही करता था। किन्तु पोप की सिफारिश पर 1256 ई. मे पेरिस विश्वविद्यालय ने उसे 'Licenciate and Master of Theology' की उपाधि से विभूषित किया। उपाधि के बाद उसने ईसाई मत की खूब सेवा की। सन् 1256 से 1268 तक उसने विभिन्न धार्मिक विषयो पर ग्रन्थ लिखे तथा भाषण दिए। वह अपने समय मे राजनीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र और तर्क-शास्त्र का प्रकाण्ड विद्वान् समझा जाता था। बड़े-बड़े राजा उससे राजाओ के कर्त्तव्यो पर प्रकाश डालने की प्रार्थना करते थे। स्वयं पोप ने धर्म-विधि सम्बन्धी कठिनाइयो के निवारण हेतु अनेक बार उससे सलाह ली थी।

टॉमस एक्वीनास को अनेक बार उच्च धार्मिक पदो को ग्रहण करने के अवसर दिए गए, किन्तु उसने स्पष्टत: कह दिया कि उसने विद्याध्ययन किसी पद पर आसीन होने की लालसा से नही किया है। दुर्भाग्यवश ऐसा महान् विद्वान् और सन्त केवल 49 वर्ष की आयु मे 1274 ई मे परलोक सिधार गया। उसके शव को प्राप्त करने के लिए विभिन्न सम्प्रदायो मे झगड़ा चला। अन्त मे पोप के हस्तक्षेप के कारण डोमनिकन सम्प्रदाय को शव प्राप्त हो गया।

एक्वीनास की पद्धति और उसकी रचनाएँ

सन्त टॉमस एक्वीनास की पद्धति समन्वयात्मक और सकारात्मक थी। वह रचनात्मक कार्य करना चाहता था। उसने अलबर्ट महान् के साथ अरस्तू के ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' का सूक्ष्म अध्ययन करके अपने विख्यात ग्रन्थ 'Commentaries on Politics of Aristotle' का प्रणयन किया। एक्वीनास ने और भी लगभग 30 ग्रन्थो की रचना की, जिनमें से प्रमुखतम ये हैं—

1. सुम्मा थियोलोजिका (Summa Theologica),
2. दि रूल ऑफ प्रिंसेज (The Rule of Princes)
3. सुम्मा कन्ट्रा जेंटाइल्स (Summa Contra Gentiles)

इन रचनाओं में राज्य की प्रकृति, उसके कार्य विधि, आदि विषयो का उल्लेख है।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

टॉमस एक्वीनास के सिद्धान्तो पर तत्कालीन परिस्थितियो ने और बडी सीमा तक अरस्तू के विचारो ने प्रभाव डाला। प्रारम्भ मे अरस्तू के दर्शन को ईसाई-धर्म-विरोधी माना गया किन्तु एक शताब्दी से कम समय मे ही उसका ईसाई-धर्म की दृष्टि से पुनराख्यान किया गया। यह कार्य अलबर्ट महान् और महान् शिष्य टॉमस एक्वीनास ने किया। उसने स्कोलेस्टिसिज्म एव हेलीनिज्म

का तथा ऑगस्टाइन एवं अरस्तू का सुन्दर समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयास किया। उसने राजनीति-शास्त्र को सामाजिक विज्ञान में वही स्थान दिया जो अरस्तू ने दिया था। पर उसके चिन्तन में धर्म की प्रधानता थी, जबकि अरस्तू के चिन्तन में विवेक पर आधारित ज्ञान की। एक्वीनास अरस्तू के इस विचार से सहमत था कि मानव का अन्तिम लक्ष्य आनन्द प्राप्ति है, लेकिन वह इसके लिए चर्च को महत्वपूर्ण साधन समझता था। उसकी दृष्टि में राज्य-प्रदत्त आनन्द नहीं बल्कि मोक्ष सर्वोत्तम आनन्द था और चर्च राज्य का प्रतिद्वन्द्वी न होकर सामाजिक जीवन में उसका सहयोगी था।

एक्वीनास के दर्शन का मूल मन्त्र समरसता (Harmony) और समैक्यता (Concilience) पर आधारित सार्वभौमिक सश्लेषण (Universal synthesis) तथा सर्वांगीण व्यवस्था (An all-embracing system) के निर्माण का प्रयत्न था। उसने कहा कि सर्वव्यापक ईश्वर और प्रकृति के विशाल प्रांगण में हर प्रकार की विविधता सम्भव है। सम्पूर्ण मानव-ज्ञान एक ऐसे पिरामिड के समान है जिसका आधार अनेक विशिष्ट विज्ञानों से मिलकर बना है और जिसमें प्रत्येक का अपना एक विशेष विषय है। इन सबके ऊपर दर्शन है जो एक बुद्धिसंगत शास्त्र है और समस्त विज्ञानों के सार्वभौमिक सिद्धान्तों की रचना का प्रयास करता है। यूनानी दार्शनिक बुद्धि अथवा विवेक को दर्शन का सर्वोत्कृष्ट साधन समझते थे और दर्शन को ज्ञान का आधार बतलाते थे। एक्वीनास एक कदम आगे बढ़कर दर्शन और बुद्धि के ऊपर धर्मशास्त्र को मानता है जिसका साधन श्रद्धा और अन्तर्ज्ञान है, विवेक नहीं। उसके मन में ईसाई धर्म-शास्त्र सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की पराकाष्ठा है।

एक्वीनास के प्रकृति सम्बन्धी विचार और उसका सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन
(Views on Nature and his Social and Political Philosophy)

प्रकृति सम्बन्धी विचार तथा राज्य एक प्राकृतिक संस्था—टॉमस एक्वीनास ने प्रकृति की जो तस्वीर खींची है वह उसकी ज्ञान सम्बन्धी योजना से पूरी तरह मेल खाती है। वह प्रकृति को सोद्देश्य मानता है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का अपना महत्त्व है। प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार पूर्णता प्राप्त करना चाहता है और अपनी आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार ही कार्य करता है। जो प्राणी कुछ अधिक पूर्ण होता है, वह अपने से निम्नतर प्राणी पर ठीक उसी प्रकार शासन करता है जैसे ईश्वर विश्व पर और आत्मा शरीर पर। हर प्राणी का अपना स्थान, कर्तव्य और अधिकार होता है। इनके द्वारा ही वह सम्पूर्ण योजना में योग देता है। इस सम्पूर्ण योजना की व्यवस्था में मनुष्य का एक विशिष्ट स्थान होता है। इसीलिए शारीरिक प्रकृति के अस्तित्व के साथ ही उसमें एक बौद्धिक और आध्यात्मिक आत्मा भी देखने को मिलती है। एकमात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसके शरीर और आत्मा दोनों हैं और इसी तथ्य पर मानव-जीवन को सचालित करने वाली

समस्त सस्थाएँ और विधियाँ टिकी हुई हैं। स्पष्ट है कि एक्वीनास ने मानव प्रकृति के दो स्वरूप माने हैं—सांसारिक और आध्यात्मिक। सांसारिक प्रकृति सदैव ही ससार के कार्यकलापो मे रत रहती है और विभिन्न दोषो से युक्त होती है। इसके विपरीत आध्यात्मिक प्रकृति का सम्बन्ध आत्मा या ईश्वरीय जगत् से होता है। वह सांसारिक प्रकृति के दोषो से मुक्त होती है। दोष रहित होने के कारण ही आध्यात्मिक प्रकृति मानव-स्वभाव मे ईश्वरीय प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है।

टॉमस एक्वीनास का सामाजिक और राजनीतिक जीवन सम्बन्धी सिद्धान्त उसकी प्रकृति सम्बन्धी योजना का ही एक अग है। प्रकृति की भाँति ही समाज भी विभिन्न उद्देश्यों और साधनो की एक व्यवस्था है जिसमे विभिन्न स्तर के प्राणी रहते हैं। इस सामाजिक व्यवस्था मे छोटा या निम्न प्राणी अपने से बड़े या उच्च प्राणी की सेवा करता है। वह उच्च प्राणी उस निम्न प्राणी को आवश्यक निर्देशन देता है और उसका पथ-प्रदर्शन करता है। अरस्तू की भाँति ही एक्वीनास भी मानता है कि समाज श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति हेतु की जाने वाली सेवाओ के पारस्परिक विनिमय की व्यवस्था है। समाज मे विभिन्न व्यक्ति और व्यवसायी अपना सहयोग प्रदान करते हैं। हर वर्ग अपना-अपना कार्य करता है।

एक्वीनास सामाजिक व्यवस्था से शासक के अश को पूर्ण महत्त्व देता है। उसका होना समाज के हित के लिए बड़ा आवश्यक है। जिस तरह आत्मा शरीर पर अथवा उच्च प्रकृति निम्न प्रकृति पर शासन करती है, उसी तरह शासक-वर्ग समाज के अन्य वर्गों पर शासन करता है। टॉमस ने "राज्यो की स्थापना और शासन, नगरो का आयोजन, प्रासादों के निर्माण, बाजारो की स्थापना और शिक्षा की अभिवृद्धि की ईश्वरीय लीला से तुलना की है। ईश्वर अपनी इस लीला द्वारा ही ससार का निर्माण और शासन करता है।"[1]

एक्वीनास इस मध्ययुगीन धारणा से असहमत है कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के अध पतन और पाप के कारण हुई है तथा राज्य एक प्राकृतिक सस्था न होकर आवश्यक बुराई है। उसके अनुसार राज्य तो एक प्राकृतिक सस्थान है, एक सभाजोपयोगी सस्था है। मानव सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है। राज्य इसलिए आवश्यक नही है कि वह मनुष्यो की बुराइयो को देखता है, बल्कि इसलिए आवश्यक है कि राज्य के भीतर रहकर ही मनुष्य अपना पूर्ण विकास कर सकता है। राज्य के बाहर रहकर वह पूर्ण आत्म-साक्षात्कार नही कर सकता। राज्य एक सर्वथा स्वाभाविक सस्था है। यदि मनुष्य का पतन न हुआ होता तो भी यह मानव-समाज मे पाई जाती।

राज्य के कार्य—एक्वीनास, यूनानी, रोमन और ईसाई धर्म के विचारो का समन्वय करते हुए राज्यो के कार्यों का निर्धारण करता है। उसके अनुसार राजपद एक ऐसा पद है जो सम्पूर्ण समाज के लिए है। सामाजिक हित मे योग देने मे ही

1 सेबाइन: राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 230.

शासक की सार्थकता है। इसी के लिए वह अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करता है। शासन का नैतिक उद्देश्य बड़ा उच्च है। उसका कार्य राज्य के प्रत्येक वर्ग को ऐसी स्थिति में ला देना है कि वह सुखी और सद्गुणी जीवन-यापन कर सके। राज्यों को चाहिए कि वह प्रजाजन के लिए उत्तम जीवन बिताने को परिस्थितियाँ उत्पन्न करे और राज्य में एकता तथा शान्ति बनाए रखे। राज्य को अथवा शासकों को बाह्य शत्रुओं से समाज की रक्षा के लिए सदैव सन्नद्ध रहना चाहिए और कानूनों के पालन के लिए पुरस्कार तथा दण्ड-व्यवस्था द्वारा प्रजा को नियन्त्रण में रखना चाहिए। राज्य में जीवन को नियमित करने के लिए जनसख्या पर आवश्यक नियन्त्रण रखना, सड़कों को सुरक्षित और चोर-डाकुओं के उपद्रव से मुक्त रखना, राज्य के लिए विशेष मुद्रा-पद्धति चलाना, भार और तोल की समुचित प्रणाली निश्चित करना, दरिद्रों के भरण-पोषण की व्यवस्था करना आदि भी शासक के कर्त्तव्य हैं। वस्तुतः एक्वीनास ने सुव्यवस्थित राजनीतिक जीवन को मानव-जीवन के सुख और कल्याण की दृष्टि से बड़ा सहायक माना है।

सरकार के रूप—एक्वीनास ने शासन के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण भी किया है। अरस्तू की भाँति वह सर्वहितकारी शासन-प्रणाली को अच्छी एवं न्यायपूर्ण तथा केवल मात्र शासक का हित साधने वाली शासन-प्रणालियों को निकृष्ट बताता है। उसने राज्यों को राजतन्त्र, अभिजात्यतन्त्र, निरकुश शासनतन्त्र, सामन्ततन्त्र, मध्यवर्गीय जनतन्त्र, लोकतन्त्र आदि में विभक्त किया है। राजतन्त्र और जनतन्त्र में कौनसा शासन अच्छा है? इस पर अरस्तू की तरह उसका एकमत नहीं है। फिर भी उसने राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन-प्रणाली माना है और इस विषय में अरस्तू के ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' की तर्क-शैली का अनुसरण किया है। उसके अनुसार एकता समाज का मुख्य ध्येय है, अतः सरकार के सगठन में एकता लाने के लिए शासन की बागडोर एक ही व्यक्ति के हाथ में रहनी चाहिए। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगों पर हृदय शासन करता है, इस विस्तृत ससार पर केवल एक ही शक्ति ईश्वर का शासन है। मधुमक्खियों पर रानी मक्खी का साम्राज्य है, उसी प्रकार राज्य में एक व्यक्ति का शासन होना उचित है। राजतन्त्र में शान्ति, सुव्यवस्था एवं समन्वय भलीभाँति स्थापित किया जा सकता है। वास्तव में मध्यकाल की अराजक और अशान्त राजनीतिक परिस्थितियों में शान्ति स्थापित करने में सक्षम राजतन्त्र को एक्वीनास द्वारा श्रेष्ठ माना जाना स्वाभाविक भी था। यद्यपि एक्वीनास ने राजा की शक्ति सीमित होने की बात कही है पर उसने अपने आशय को स्पष्ट नहीं किया है। सेबाइन के अनुसार, "सम्भवतः एक्वीनास का आशय यह था कि राजा को अपनी शक्ति का प्रयोग राज्य के अन्य प्रधान अधिकारियों, जो उसके परामर्शदाता तथा निर्वाचक थे, के साथ करना चाहिए।"

अत्याचारी शासन—एक्वीनास ने राजतन्त्र में एक खतरनाक दोष भी देखा है जिसके कारण राजतन्त्र निरकुशतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है। यह निरकुशतन्त्र अथवा अत्याचारतन्त्र (Tyranny) विकृत राजतन्त्र है जिसमें शासक प्रजा के हित

का ध्यान न रखकर अपने हितार्थ शासन करता है। उसका यह भी विश्वास है कि राजतन्त्र से अधिक निरंकुशतन्त्र प्रजातान्त्रिक प्रणाली में होता है। जो भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह जॉन ऑफ सेलिसबरी की भाँति ही अत्याचारी शासन को नापसन्द करता है तथापि वह उसके वध का समर्थक नहीं है। यदि सम्पूर्ण जनता चाहे तो प्रतिरोध कर सकती है। प्रतिरोध के इस आधार पर नैतिक प्रतिबन्ध यही है कि "प्रतिरोधियों की कार्यवाही से सामान्य हित को उस बुराई की अपेक्षा जिसके निवारण का वे प्रयास कर रहे हैं, कम हानि पहुँचनी चाहिए।" अत्याचारी शासक के वध का विरोध करते हुए उसने लिखा है कि "प्रायः ऐसा कार्य सज्जन नहीं बल्कि दुर्जन किया करते हैं और दुर्जनों को अत्याचारी शासकों के शासन की अपेक्षा उत्तम राजाओं का शासन बुरा लगता है। अतः अत्याचारी शासकों के वध के अधिकार को स्वीकार कर लेना इस सम्भावना को स्वीकार कर लेना होगा कि अत्याचारी शासकों की जगह उत्तम शासकों का ही अधिक वध होने लगेगा।"[1] एक्वीनास राजद्रोह (Sedition) को भयंकर पाप मानता है, लेकिन अत्याचारी शासन के प्रतिरोध को वह राजद्रोह नहीं समझता। सेबाइन के शब्दों में "अत्याचारी शासन के सम्बन्ध में टॉमस एक्वीनास ने पुरानी मध्ययुगीन परम्परा का अरस्तू की विचारधारा के साथ समन्वय स्थापित कर दिया और इसमें उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। इसका कारण यह है कि ये दोनों ही सिद्धान्त यूनान से निकले थे। यूनान में अन्यायपूर्ण शक्ति को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। दोनों सिद्धान्तों के अनुसार शक्ति उसी समय तक न्यायपूर्ण थी जब तक वह सामान्य हित का प्रतिपादन करती हो।"

एक्वीनास ने अत्याचारी शासन के विरुद्ध उपलब्ध दो साधनों का उल्लेख किया है। पहला साधन यह है कि कुछ शासनों में जनता शक्ति की स्रोत होती है, अतः वह उन शर्तों को लागू कर सकती है जिनके अनुसार सत्ता दी गई हो। दूसरा उपलब्ध साधन यह है कि यदि किसी शासन का राजनीतिक प्रधान हो तो शिकायत को दूर करने के लिए उच्चतर शासक से अपील की जा सकती है। एक्वीनास ने इन दोनों ही शासन-प्रणालियों को दो विशिष्ट प्रकार की शासन-प्रणालियाँ स्वीकार किया है, अतः ऐसा लगता है कि राजनीतिक सत्ता के स्रोत के विषय में वह कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं रखता था।

राज्यसत्ता और धर्मसत्ता के बीच सम्बन्ध—एक्वीनास ने अधपरत राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने इस प्रश्न का समाधान करने की चेष्टा की कि दोनों के बीच क्या सम्बन्ध होना चाहिए? एक्वीनास ने बताया कि मनुष्य के दो उद्देश्य हैं—सांसारिक सुख की प्राप्ति तथा आत्मिक सुख की प्राप्ति। दोनों के लिए दो सत्ताएँ हैं—एक राज्य की, दूसरी चर्च की। किन्तु ये दोनों सत्ताएँ एक दूसरे के समानान्तर अथवा अलग-अलग क्षेत्रों में नहीं हैं। व्यक्ति का जीवन तो एक ही है, केवल उद्देश्य दो हैं। एक ही व्यक्ति

1 *Dunning* : A History of Political Theories, p. 200.

नागरिक भी है और धर्म की दृष्टि से ईसाई भी। अतः एक ही जीवन के दो ऐसे शासक नहीं होने चाहिए जो परस्पर संघर्ष करके व्यक्ति के जीवन को ही समाप्त कर दें। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि राज्य और चर्च परस्पर संघर्षरत न होकर एक दूसरे के साथ निश्चित सम्बन्ध स्थापित करके व्यक्ति को नियन्त्रित करें।

मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह ऐसी स्थितियाँ पैदा करे जिनमे रह कर मनुष्य सद्गुणों का उपार्जन करे और मोक्ष के मार्ग पर आगे बढ़े। मोक्ष के लिए आत्म-शुद्धि का होना आवश्यक है, यह कार्य चर्च सम्पन्न करे। एक्वीनास ने कहा कि भौतिक उद्देश्य आत्मिक उद्देश्य का एक साधन है, अतः राज्य धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति करने वाले चर्च का साधन है। इसलिए राज्य को चाहिए कि वह चर्च के अधीन रहते हुए अपना कार्य सम्पादन करे। जिस तरह व्यक्ति का अन्तिम उद्देश्य व्यक्तिगत रूप मे आत्मा की मुक्ति है उसी तरह सामूहिक रूप मे राज्य का कर्त्तव्य भी ईश्वर की प्राप्ति है। इसके लिए दैवी कृपा की आवश्यकता है जो चर्च के माध्यम से प्राप्त हो सकती है। चर्च को समय-समय पर ईश्वरीय करुणा के रहस्य ज्ञात होते रहते हैं, अतः राज्य का कल्याण इसी में है कि वह चर्च के आश्रय मे रहे तथा उसी के निर्देशन से आत्मिक पथ पर आगे बढ़े।

एक्वीनास ने यद्यपि चर्च अथवा धर्म की प्रभुसत्ता का समर्थन किया, किन्तु इस रूप मे नही कि राज्य और चर्च टकरा जाएँ। उसने कहा कि आत्मिक शुद्धि प्रदान करने वाली शक्ति अवश्य ही उस शक्ति से श्रेष्ठ है जो केवल बाह्य साधनो को जुटाती है, किन्तु फिर भी दोनों सत्ताओ का अपने-अपने स्थानो पर महत्त्व है, इसलिए उन्हें परस्पर सहयोग करना चाहिए। राजसत्ता के अधिकारियो को धर्मसत्ता के अधिकारियों से आन्तरिक शक्ति ग्रहण करनी चाहिए। यदि सम्पूर्ण ससार ईसाई धर्म स्वीकार करके पोप को ईश्वर का प्रतिनिधि मान ले तो मनुष्य के सभी कष्टो का अन्त हो सकता है।

एक्वीनास ने पोप के इस अधिकार का समर्थन किया कि धार्मिक सत्ता की उपेक्षा करने पर वह राजाओ को पदच्युत कर दें। उसका विश्वास था कि यदि पोप की एकाधिकारी शक्ति का ह्रास हो जाएगा तो सामन्तवादी यूरोप आपस मे लड़-भिड़ कर नष्ट हो जाएगा। पर इतना होने पर भी उसका यह विचार नहीं था कि राजा अथवा शासक को अपने अधिकार पोप से मिले हो। उसका यह विचार उसके इस सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम था कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है और राजा अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करता है ताकि वह समाज-कल्याण के नैतिक उद्देश्यों को पूरा कर सके।

स्पष्ट है कि एक्वीनास एक समन्वयवादी विचारक था जिसने पोप को राज्य के ऊपर कोई प्रत्यक्ष अधिकार नही सौंपा। उसने यह कहने मे भी कोई हिचक नहीं की कि निरे लौकिक विषयो मे आध्यात्मिक शक्ति की अपेक्षा लौकिक शक्ति का आज्ञानुवर्ती ही रहना चाहिए। फिर भी कार्लाइल ने इस धारणा को स्वीकार

करना होगा कि एक्वीनास का सामान्य किन्तु परिपक्व निर्णय यही था कि लौकिक विषयों में पोप का प्रत्यक्ष नहीं वरन् अप्रत्यक्ष अधिकार है। वास्तव में बात यह थी कि वह चर्च के सर्वमान्य आध्यात्मिक अधिकार को कानूनी प्रभुता का रूप नहीं देना चाहता था। वह एक नम्र पोपवादी था।

सम्पत्ति—अरस्तू के समान एक्वीनास ने भी व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन किया और उसे मानव जीवन के लिए आवश्यक माना। लेकिन अपने युग के धार्मिक प्रभावों के फलस्वरूप सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसके विचार दुविधाग्रस्त रहे। इसीलिए मध्ययुगीन ईसाई पादरियों के विचारों से सहमत होते हुए, एक्वीनास ने कहा कि सम्पत्ति पर चर्च और पोप का अधिकार अधिक उपयुक्त है, क्योंकि पोप के अधिकार में रहने से सम्पत्ति का स्वरूप वह नहीं रहता जो किसी सामन्त अथवा धनिक व्यक्ति के अधिकार में रहने से होता है। पोप के अधिकार में रहने वाली सम्पत्ति का उपयोग निर्धनों की सहायता के लिए होता है, धार्मिक नियमों के अनुसार होता है। एक्वीनास ने कहा कि यद्यपि सम्पत्ति की अधिकता पाप का एक मुख्य कारण है पर जिस सम्पत्ति पर धर्म की छाप लग जाती है उसके सभी दोष नष्ट हो जाते हैं।

कानून पर एक्वीनास के विचार
(Aquinas on Law)

एक्वीनास के कानून सम्बन्धी विचारों पर स्टोइकवाद और अरस्तू का प्रभाव है। कानून की मीमांसा में उसने सिसरो, ऑगस्टाइन तथा रोमन विधि-शास्त्रियों के विचारों का भी समन्वय किया। यूनानी दर्शन कानून को विवेक-बुद्धि का परिणाम समझता था, व्यक्ति-विशेष की इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं। रोमन विधि-शास्त्री कानून को बुद्धिजनित और सम्राट आदि किसी व्यक्ति-विशेष की इच्छा की अभिव्यक्ति मानते थे। एक्वीनास ने कानून को विवेक-बुद्धि का परिणाम भी बतलाया और इच्छा की अभिव्यक्ति भी स्वीकार की। उसने कहा, "कानून विवेक का वह अध्यादेश है जिसे लोक-हित के लिए किसी ऐसे व्यक्ति ने प्रख्यापित किया हो जो समाज के कल्याण के लिए उत्तरदायी हो।" एक्वीनास के मत में विधेयात्मक कानून का केवल शासक द्वारा लागू किया जाना ही आवश्यक नहीं है बल्कि उसका विवेक-सम्मत होना भी जरूरी है। ऐसा कानून कभी सच्चा नहीं हो सकता जिसका उद्देश्य सामान्य हित न हो। यदि राजा द्वारा जारी किया गया आदेश विवेकपूर्ण और सामान्य हित के उद्देश्य से प्रेरित नहीं है तो वह सच्चा कानून नहीं है और इसी तरह विवेक का वह आदेश भी कानून नहीं है जब तक राजा द्वारा जारी किया जाकर वह समुचित रूप न ग्रहण कर ले।

एक्वीनास कानून की सत्ता को स्वयं-सिद्ध मानते हुए मानवीय कानून को दैविक कानून के साथ संयुक्त करने का प्रयास करता है। मानवीय विधि (Human Law) उस दैवी शासन-व्यवस्था का एक अभिन्न भाग है जिसके अनुसार स्वर्ग तथा पृथ्वी पर प्रत्येक वस्तु का शासन होता है। यह व्यवस्था सीधे ईश्वर के विवेक से

उत्पन्न हुई है और सभी प्राणियो का नियमन करती है। संकुचित मानवीय अर्थ मे यह (विधि) एक सार्वभौमिक तत्त्व की अंशमात्र है।

एक्वीनास ने कानूनो को चार श्रेणियो मे बाँटा है—

1. शाश्वत कानून (Eternal Laws),
2. प्राकृतिक कानून (Natural Laws),
3. दैवी कानून (Divine Laws), तथा
4. मानवीय कानून (Human Laws)।

इन 4 वर्गों में केवल एक वर्ग ही मानवीय है। कारण यही है कि वह मानव-समाज और उसकी संस्थाओं को विश्व-व्यवस्था का एक विशिष्ट स्तर मानता है।

(1) शाश्वत कानून (Eternal Laws)—शाश्वत कानून का सम्बन्ध दैविक अथवा ईश्वरीय विवेक से है जो सभी सृजी हुई वस्तुओ मे व्याप्त रहता है। सेबाइन के शब्दो मे, "यह दैवी बुद्धि की शाश्वत योजना है जिसके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि व्यवस्थित होती है। यह विधि स्वयं अपने मे मनुष्य की भौतिक प्रकृति से ऊपर है और मनुष्य की समझ से बाहर है, लेकिन इसी कारण वह मनुष्य के विवेक के प्रतिकूल नहीं है। जहाँ तक मनुष्य की शान्त प्रकृति अनुमति देती है, ईश्वर की बुद्धिमता और अच्छाई मे मनुष्य का भी भाग रहता है। ईश्वर की ये विभूतियाँ मनुष्य के अन्दर भी प्रकट होती हैं; तथापि, मनुष्य की प्रकृति दैवी-पूर्णता का केवल विकृत चित्र ही प्रस्तुत कर पाती है।"[1] एक्वीनास के अनुसार समस्त सृष्टि-दैव, मानव, पशु और जड़ पदार्थ-शाश्वत कानून के अधीन हैं। शाश्वत विधियाँ सर्वोच्च विवेक की प्रतीक हैं, उन्हें पूर्णरूप से न समझ पाने के कारण ही मनुष्य भाग्य के भरोसे बैठा रहता है। चूँकि अपनी सीमित बुद्धि के कारण शाश्वत कानूनो का आभास मनुष्य को स्पष्ट रूप से नही हो पाता अतः प्राकृतिक कानून के रूप मे ईश्वर मनुष्य को शाश्वत कानून का आभास करा देता है।

(2) प्राकृतिक कानून (Natural Laws)—एक्वीनास के मतानुसार प्राकृतिक कानून सृष्टि के प्राणियो मे दैवी बुद्धि का प्रतिबिम्ब है। इसकी प्रेरणा से सभी प्राणी अच्छाई को प्राप्त और बुराई को दूर करना चाहते है। इन कानूनो की उत्पत्ति शाश्वत कानूनो से ही होती है किन्तु ये उनसे अधिक स्पष्ट और बोधगम्य होते हैं। ये कानून मौलिक रूप से सबके लिए समान होते हैं, परन्तु कुछ विशेष काल और स्थान के लिए भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं। प्राकृतिक कानून विश्व की सभी वस्तुओ मे समान रूप से व्याप्त हो सकते हैं, चाहे मनुष्य हो, पशु हो या वनस्पति हो। अन्तर यही है कि मनुष्य मे इनका बडा सुन्दर ढग मे अभिव्यक्तिकरण हुआ है क्योंकि वह विवेक से कार्य करता है जबकि पशु, पौधे अचेतन रूप से काय करते हैं। प्राकृतिक कानून ईश्वरीय विवेक से उत्पन्न होते हैं अत ये अपरिवर्तनीय

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ 233

होने के साथ ही आवश्यक भी हैं। प्राकृतिक विधि में वे सभी बातें शामिल हैं जो मनुष्य की प्रवृत्ति को व्यापकतम आधार देती हैं: आत्मरक्षा की प्रवृत्ति, यौन-सम्भोग, सन्तान की इच्छा, समाज में रह कर जीवन बिताने की इच्छा, सत्य का बोध, बुद्धि का विकास आदि बातें प्राकृतिक कानून से सम्बन्धित हैं। विवेक से उत्पन्न होने के कारण ये कानून सभी ईसाइयों और पंगनों मे समान रूप से पाए जाते हैं।

(3) दैवी कानून (Divine Laws)—दैवी कानूनों को एक्वीनास ने प्राकृतिक कानूनों से निम्न स्थान दिया है। इनकी प्राप्ति उपबोध (Revelation) द्वारा होती है। बाद में इन्हें धर्म-ग्रन्थों मे लिपिबद्ध कर दिया जाता है। जब कोई मनुष्य विवेकशून्य होता है अथवा अपनी बुद्धि को त्याग देता है तो ये दैवी कानून उसमें उत्पन्न कमियों और बुराइयों को दूर करते हैं। ये विधियाँ ईश्वर की देन हैं। इनके अध्ययन और अनुसरण से मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। दैवी कानून ईश्वर प्रदत्त एक उपहार है, मानव-बुद्धि की खोज नहीं। यह जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को जितना निर्धारित करता है उतना लौकिक पक्ष को नहीं। विभिन्न जातियों और कालों में दैवी कानून का रूप और तत्त्व भिन्न-भिन्न होता है जबकि प्राकृतिक कानून मानव-मात्र के लिए एक हैं। प्राकृतिक कानून और दैवी कानून में विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि वे विवेक-सम्मत होते हैं। सेबाइन के शब्दों में, "टॉमस की प्रणाली विवेक और श्रद्धा पर आधारित है और उसमें कोई सन्देह नहीं हुआ कि दोनों मिलकर ही भवन का निर्माण करते हैं।"

(4) मानवीय कानून (Human Laws)—मानवीय कानूनों को एक्वीनास ने सबसे निम्न श्रेणी का माना है। शाश्वत, प्राकृतिक और दैवी विधियाँ मनुष्यों पर लागू अवश्य होती हैं किन्तु न तो मनुष्य तक ही सीमित हैं और न केवल मानवीय प्रकृति के ऊपर ही आधारित हैं। जो विधि विशेष रूप से मनुष्य के लिए है उसे एक्वीनास मानवीय विधि का नाम देता है। उसके उसने दो भेद माने हैं—राष्ट्रों के कानून (Jus gentium) और नागरिकों के कानून (Jus civile)।

मानवीय कानूनों का स्रोत प्राकृतिक विधि है। जब धीरे-धीरे प्राकृतिक विधियाँ परम्परा में प्रचलित हो जाती हैं तो राज्य इन कानूनों का समर्थन करता है। राज्य द्वारा समर्थन अथवा इन कानूनों का सम्पुष्टिकरण होने पर मनुष्य इन्हें मानने के लिए बाध्य हो जाता है। इनके पालन से सामाजिक व्यवस्था को बल मिलता है। इनका पालन न करने पर व्यक्ति राज्य द्वारा दण्डनीय होता है। मानवीय कानून समाज के संरक्षक अर्थात् राजा द्वारा लागू होता है लेकिन इसे बनाने मे राजा मनमानी नहीं कर सकता। उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि ये कानून विवेक सम्मत हों और प्राकृतिक कानून से असंगत न हों। एक्वीनास मानवीय कानून को प्राकृतिक कानून के अधीन रखता है। उसके अनुसार विवेक विरोधी किसी भी मानवीय कानून को मानने के लिए कोई नागरिक बाध्य नहीं है। इस तरह वह राजकीय कानून को मानने के कर्त्तव्य को असीम एवं अशर्त नहीं मानता। व्यक्ति

न्यायोचित और विवेक-सम्मत राजकीय आज्ञाओं का ही पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। संयोगवश किसी दुष्परिणाम से बचने के लिए यदि किसी कानून को उसके न्यायोचित न होने पर भी मानना पड़े, तो अलग बात है। मानवीय कानून के निर्माण में शासक पर एक्वीनास का एक अन्य प्रतिबन्ध यह है कि कानून किसी व्यक्ति या वर्ग-विशेष के हितार्थ नहीं बल्कि सामान्य हित के लिए बनाया जाना चाहिए। पुनश्च: राजा की विधि-निर्मात्री शक्ति केवल लौकिक विषयों तक ही सीमित है। आध्यात्मिक विषय इसकी सीमा में नहीं आते, वे दैवी कानून की सीमा में हैं।

एक्वीनास द्वारा बतलाए गए कानूनों के पारस्परिक सम्बन्ध को डनिंग ने इस प्रकार व्यक्त किया है, "शाश्वत कानून विश्व को नियन्त्रित करने वाली योजना है जो ईश्वर के मस्तिष्क में विद्यमान है। प्राकृतिक कानून मनुष्य का, एक बुद्धिपरक प्रणाली के रूप में, शाश्वत कानून में भाग लेना है, जिसके द्वारा वह भले बुरे की पहचान करता है और अपना सही एवं सच्चा लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करता है। मानवीय कानून, मानवीय बुद्धि द्वारा, प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त का विशिष्ट लौकिक स्थितियों में प्रयोग करना है। विशेष दृष्टिकोण से दैविक कानून वह है जिसके द्वारा मानव-विवेक की सीमाओं और अपूर्णताओं की पूर्ति की जाती है और मनुष्य को पारलौकिक लक्ष्य अर्थात् नित्यानन्द की ओर निर्दिष्ट किया जाता है, यह दैविक ज्ञान का कानून है।"

एक्वीनास के दास-प्रथा के बारे में विचार
(Acquinas on Slavery)

एक्वीनास सन्त ऑगस्टाइन एवं प्रारम्भिक चर्च-पिताओं के समान ही दासता को न्याय का दैवी दण्ड समझता है और उसका समर्थन करता है। वह दास-प्रथा को अरस्तू की भाँति कुछ कामों के लिए लाभदायक मानता है। यह एक स्वाभाविक प्रथा है और सैनिकों में वीरता का संचार करती है। सैनिक युद्ध-क्षेत्र में दास बनाए जाने के भय से वीरता और साहसपूर्वक लड़ कर विजेता बनने का प्रयत्न करते हैं। इस मत के समर्थन में एक्वीनास ने इतिहास और ओल्ड टेस्टामेण्ट की 'डिट्रानमी' नामक पुस्तक से प्रमाण भी दिए हैं।

एक्वीनास का मूल्यांकन

सन्त एक्वीनास का मूल्यांकन तीन प्रमुख बिन्दुओं में केन्द्रित किया जा सकता है—

प्रथम, वह महानतम मध्य-युगीन दार्शनिक (Greatest Medieval Philosopher) था।

द्वितीय, वह मध्ययुग का अरस्तू (Aristotle of Middle Ages) था।

तृतीय, राजदर्शन को उसके अनेक प्रमुख अनुदाय (Contribution) हैं।

मध्य-युग का महानतम दार्शनिक—एक्वीनास मध्ययुग का एक सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक था जो "मध्य-युग के समग्र विचार का प्रतिनिधित्व करता

है।"[1] उसका विशेष महत्त्व इस बात में है कि उसने लम्बे समय से प्रलग-प्रलग बहती विचारधाराम्रों को एक पद्धति में संश्लिष्ट करने का प्रयत्न किया। एक्वीनास ने विभिन्न विधि-वेत्ताम्रों, धर्मशास्त्रियों, टीकाकारों, ईसाई प्रचारकों, चर्च एवं राज्य के समर्थकों के विभिन्न और परस्पर विरोधी विचारों तथा दृष्टिकोणों में एकता और क्रमबद्धता लाने का प्रयत्न किया। सेबाइन के शब्दों में, "एक्वीनास के दर्शन का मूल मन्त्र यह था कि उसने समरसता और समैक्यता पर आधारित एक सार्वभौमिक संश्लेषण और एक सर्वांगीण पद्धति के निर्माण की चेष्टा की।"[2]

एक्वीनास ने सम्पूर्ण मानव-ज्ञान को एक पिरामिड के समान माना जिसका आधार विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों से मिलकर बना है और जिसमें दर्शन का स्थान सर्वोपरि है। उसने कहा कि धर्म और दर्शन, बुद्धि और विवेक, श्रद्धा तथा विश्वास में कोई विरोध नहीं है। "विज्ञान एवं दर्शन जिस पद्धति को प्रारम्भ करते हैं उसे धर्मशास्त्र पूर्ण करता है। धर्म विवेक की पूर्णता है। धर्म एवं विवेक मिलकर ज्ञान के मन्दिर का निर्माण करते हैं और इनका परस्पर एक दूसरे से कभी संघर्ष नहीं होता।"[2] सन्त एक्वीनास के विचार धार्मिक थे, फिर भी मध्ययुगीन विचारकों से वे कहीं अधिक विवेक और बुद्धि पर आधारित थे। एक्वीनास ने सार्वभौमिक राजतन्त्र का प्रतिपादन किया और ईसाई धर्म के प्रबल प्रसार की चेष्टा की उसने अपनी रचनाम्रों में यूनानी, रोमन तथा मध्ययुगीन पादरियों के विचारों का समन्वय किया। मोक्ष प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके वह विश्व के समक्ष एक श्रेष्ठ महत्त्वपूर्ण व्यक्तिवादी के रूप में प्रकट हुआ। उसकी मानवीय कानून की विचारधारा में हमें आधुनिकता की झलक देखने को मिलती है।

मध्य-युग का अरस्तू—एक्वीनास मध्य-युग का अरस्तू था।[3] उसने अरस्तू के दर्शन रूपी नींव पर चर्च धर्म-शास्त्रीय विचार और पोप के श्रेष्ठता रूपी भवन का निर्माण किया। अरस्तू के आधारभूत विचारों का बाइबिल की शिक्षाम्रों से समन्वय अथवा सम्मिश्रण करके उसने एक नई विचारधारा को जन्म दिया। एक्वीनास ने अरस्तू से कितना ग्रहण किया अथवा वह अरस्तू का कितना ऋणी था—इस पर एक्वीनास के दर्शन के वर्णन के प्रसंग में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। एक्वीनास ने अरस्तू के समान यह स्वीकार किया कि कुछ ऐसे सत्य भी हैं जो बुद्धि से परे हैं और जिनका ज्ञान केवल श्रद्धा तथा ईश्वरीय कृपा से ही सम्भव है। उसने अरस्तू के समान ही यह भी माना है कि मानव समाज की रचना सब व्यक्तियों के हित के

1 "Thomas Acquinas represents the totality of medieval thought."
—*Foster* : Masters of Political Thought, Vol. I, p. 238.

2 "It was the essence of Thomas's philosophy that it essayed a universal synthesis, an all-embrassing system, the key-note of which was harmony consilience."
—*Sabine* : Op. cit., p. 248.

3 "Acquinas is the sainted Aristotle of Middle Ages."
—*Maxey* : Op. cit., p. 116.

लिए हुई है। तथापि यह अवश्य है कि उसने मानव-समाज से श्रेष्ठतर स्थान दैवी समाज को दिया है। अरस्तू की ही भाँति एक्वीनास राज्य को व्यक्ति के सांसारिक जीवन के लिए अनिवार्य मानते हुए राज्य के कार्य-क्षेत्र को व्यापक बनाने के पक्ष में है और इसलिए उसे आर्थिक, शैक्षिक तथा सामाजिक कार्य सौंपता है। पर राज्य की श्रेष्ठता और उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उसका आग्रह इस बात पर है कि सर्वोच्च मानव-संस्था चर्च है, न कि राज्य। अरस्तू की भाँति एक्वीनास भी मानता है कि समाज श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति हेतु की जाने वाली सेवाओं के पारस्परिक विनिमय की व्यवस्था है। ईसाई धर्म के परम्परागत विचार को एक्वीनास ठुकरा देता है कि राज्य की उत्पत्ति पाप से और मनुष्य के पतन के कारण हुई है। वह अरस्तू के दर्शन के इस आधारभूत विचार से सहमत है कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है, मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का परिणाम है तथा उसका उद्देश्य नागरिकों को शुभ जीवन की प्राप्ति में सहायता देना है। पर एक्वीनास चाहता है कि शुभ जीवन इस प्रकार का होना चाहिए जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सके और इसके लिए वह चर्च को आवश्यक मानता है।

शासन के विभिन्न रूपों के वर्गीकरण में भी एक्वीनास ने अरस्तू का अनुसरण किया है। अरस्तू की भाँति वह सर्वहितकारी शासन प्रणाली को अच्छा और न्यायपूर्ण तथा केवल मात्र शासक का हित साधने वाली शासन-प्रणाली को निकृष्ट बताता है। अरस्तू की भाँति वह भी मिश्रित शासन-व्यवस्था का समर्थन करता है। एक्वीनास के कानून सम्बन्धी विचारों पर भी अरस्तू का प्रभाव है। वह कानून को विवेक बुद्धि का परिणाम मानता है। पर साथ ही वह कानून में ईश्वर प्रदत्त शाश्वत और दैवी कानून को भी शामिल कर देता है। अरस्तू की नैतिकता सम्बन्धी अथवा आचारशास्त्र (Ethics) की विचारधारा को भी एक्वीनास ने स्वीकार किया है, तथापि उसके मत में अरस्तू का एक बड़ा दोष यह है कि उसने इस सत्य की उपेक्षा कर दी है कि मनुष्य का प्रकृति से परे भी एक लक्ष्य है और यह है मोक्ष एवं भावी आनन्द की प्राप्ति।

स्पष्ट है कि एक्वीनास पर अरस्तू का गहरा प्रभाव था, पर जहाँ अरस्तू के विचारों का खण्डन नहीं किया है वहाँ उन्हें पूर्ण सत्य भी नहीं माना है एक्वीनास ने अरस्तू के विचारों को उसी सीमा तक सत्य माना है जहाँ तक श्रद्धा रहित मानव बुद्धि की पहुँच है। एक्वीनास ने अरस्तू की धारणाओं को स्वीकार करते हुए भी ईसाई धर्म के आदर्शों और सिद्धान्तों को उनसे ऊँचा स्थान दिया है। वस्तुतः यह कहना उपयुक्त होगा कि अरस्तू के दर्शन रूपी नींव पर एक्वीनास ने ईसाई भवन का निर्माण किया है, और इसलिए एक्वीनास को 'ईसाईकृत अरस्तू' (Christianised Aristotle) तथा उसके दर्शन को 'ईसाई अरस्तूवाद' (Christian Aristotalianism) तक कह दिया जाता है।

प्रमुख अनुदाय—राजदर्शन के इतिहास में एक्वीनास के अनेक प्रमुख अनुदाय हैं जिन्हें संक्षेप में अग्रवत् रखा जा सकता है—

(i) एक्वीनास ने कानून की सर्वोच्चता का प्रतिपादन करके वैधानिक राजतन्त्र की नींव डाली।

(ii) उसके विचारों ने यूरोप में विधानवाद (Constitutionalism) फैलाया। उसने अपने विधानवाद में अरस्तू का अनुसरण किया किन्तु अपने व्यक्तित्व की प्रभावशाली छाप लगा दी।

(iii) उसने मध्ययुगीन अन्तर्राष्ट्रीयता (Cosmopolitanism) का विरोध करके नागरिकता को उच्च-स्थान प्रदान किया, जिसे बाद में मेकियावली जैसे दार्शनिकों ने अपनाया।

(iv) उसने राज्य के कार्यों की विशद् विवेचना करते हुए बतलाया कि राज्य का उद्देश्य लोक-कल्याण होना चाहिए। आधुनिक प्रजातन्त्र में भी इसी भावना की आवश्यकता है।

(v) एक्वीनास ने विधि शासन (Rule of Law) की नींव डाली।

(vi) उसने अपने राज-दर्शन में विवेक एवं दैवी संदेशों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की।

अन्त में सेबाइन के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "वस्तुतः एक्वीनास ने एक ऐसी व्यावहारिक प्रणाली खोजने की चेष्टा की जिसके अनुसार ईश्वर, प्रकृति एवं मानव के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध हो और जिसमें समाज एवं शासन सत्ता एक दूसरे का साथ देने के लिए तैयार हो।"

एजिडियस रोमेनस
(Egidius Romanus)

पोप के साम्राज्यवाद का सबसे प्रबल तर्क एजिडियस रोमेनस अथवा एजिडियस कोलोना (Egidius Colonna) द्वारा 1302 में लिखे गए 'डी एक्लोजियास्टिका पोटेस्टेट' (De Ecclesiastica Potestate) नामक ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया था। इस पुस्तक में पोप के पक्ष को एक कानूनी तर्क के रूप नहीं बल्कि दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया गया। एजिडियस ने बतलाया कि पोप, सम्पूर्ण विश्व का, आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों विषयों में सर्वोच्च स्वामी है और सभी राजा उसके अधीन हैं। इस ग्रन्थ को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले भाग में पोप की प्रभुता की चर्चा है; दूसरे भाग में इस सिद्धान्त के आधार पर सम्पत्ति और शासन सम्बन्धी कुछ निष्कर्ष दिए गए हैं और अन्तिम भाग में विविध आपत्तियों, विशेषकर पोप की धर्माज्ञप्तियों, के बारे में शंकाओं का समाधान किया गया है।

पोप की प्रभुता के बारे में विचार

एजिडियस ने कहा कि पोप में निहित आध्यात्मिक शक्ति सर्वोच्च है। आध्यात्मिक-सत्ता लौकिक-सत्ता की स्थापना और उसकी परीक्षा कर सकती है। चर्च की समस्त शक्तियाँ आवश्यक रूप से पोप की हैं, अन्य किसी की नहीं। एजिडियस

का प्रमुख तर्क यह था कि "आध्यात्मिक शक्ति लौकिक शक्ति से उच्चतर होती है और प्रकृति का यह सार्वभौम नियम है कि उच्चतर शक्ति निम्नतर शक्ति पर शासन करती है। प्रकृति में व्यवस्था किसी अधीनता के द्वारा कायम रह सकती है और यह नहीं माना जा सकता कि ईसाई समाज में प्रकृति की अपेक्षा कम व्यवस्था है।"[1] एजिडियस ने अपने तर्क पेश करते हुए एक अन्य स्थल पर कहा है कि "सृष्टि में भौतिक तत्त्व आध्यात्मिक तत्त्व द्वारा शासित होता है। देवता भौतिक प्राणियों में सबसे ऊँचे हैं और सभी प्राणियों पर नियन्त्रण करते हैं, किन्तु आध्यात्मिक तत्त्व उन पर भी शासन करते हैं। अतः वांछित है कि ईसाइयों में भी सभी लौकिक शासक एवं सांसारिक शक्तियाँ आध्यात्मिक तथा धार्मिक सत्ता की वशवर्ती रहें। यह भी आवश्यक है कि उन पर पोप का विशेष रूप से नियन्त्रण रहे क्योंकि आध्यात्मिक शक्तियों और चर्च में पोप की स्थिति सर्वोच्च है।"

एजिडियस चर्च को अधिकारियों की एक शिखरोन्मुखी व्यवस्था मानता था जिसमें नीचे के अधिकारी अपने उच्च अधिकारियों से शक्तियाँ प्राप्त करते हैं, उच्च अधिकारी अपने से निम्न अधिकारियों पर नियन्त्रण रखते हैं। उसका कहना था कि इस व्यवस्था में शीर्ष स्थान पर पोप है जो सर्वोच्च शक्ति-सम्पन्न है और चर्च का निर्विवाद प्रधान है। यद्यपि एजिडियस ने यह विचार भी प्रकट किया है कि पोप को पूर्ण निरंकुश न बनाकर साधारणतः सामान्य कानून के अनुसार ही विधायी और प्रशासकीय कार्य करने चाहिए तथापि वह पोप की शक्ति पर आवश्यक रूप से प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहता था। अपनी पुस्तक के अन्तिम अध्याय में उसने स्पष्ट कहा है कि पोप की प्रभुसत्ता एक स्वतन्त्र और स्वतः प्रेरित शक्ति है जिसके द्वारा वह कोई भी कार्य कर सकता है। आध्यात्मिक मामलों में पोप ईश्वर के अधीन रहता हुआ निरंकुश है जिसे न तो अपदस्थ ही किया जा सकता है और न उत्तरदायी ही ठहराया जा सकता है। साररूप में, वह चर्च है। वह बिना निर्वाचनों के भी बिशपों का निर्माण कर सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि सामान्यतः उसे विधि के रूप कायम रखने चाहिए।

एजिडियस ने यह भी कहा कि आध्यात्मिक और लौकिक शक्ति अलग-अलग हैं और प्रयोग की दृष्टि से उन्हें अलग-अलग ही रखना चाहिए। चर्च यह नहीं चाहता कि दोनों शक्तियाँ एकरूप हो जाएँ। लौकिक शक्ति को अतिक्रान्त करने की चर्च की इच्छा नहीं है। केवल आवश्यकता पड़ने पर और उपयुक्त कारण होने पर ही आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा की दृष्टि से चर्च हस्तक्षेप करता है। उदाहरणार्थ ऐसे किसी भी मामले में हस्तक्षेप किया जा सकता है जिसमें लौकिक सम्पत्ति या शक्ति का प्रयोग शरीर के पाप के लिए हो। एजिडियस के मतानुसार, चर्च की यह शक्ति इतनी विस्तृत है कि इसमें सभी लौकिक विषय आ जाते हैं। शासकों के बीच शान्ति बनाए रखने और उनके द्वारा सन्धियों का पालन कराने का

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 252.

दायित्व भी चर्च पर ही है। चर्च ऐसे किसी भी विषय में हस्तक्षेप कर सकता है जहाँ शासक उपेक्षा प्रदर्शित करें। वह नागरिक-कानूनों के अस्पष्ट होने पर भी हस्तक्षेप कर सकता है। पोप अपनी इच्छानुसार किसी भी मामले का क्षेत्राधिकार कर सकता है। पर वांछित यही है कि पोप अपनी शक्तियों के प्रयोग में स्वेच्छाचारी और बेलगाम आचरण न रखे।

स्वामित्व सम्बन्धी धारणा (Conception of Dominium)

एजिडियस की स्वामित्व सम्बन्धी धारणा उसके चिन्तन का केन्द्र स्थल है। स्वामित्व अर्थात् डोमिनियम के अन्तर्गत सम्पत्ति का स्वामित्व व प्रयोग और राजनीतिक सत्ता भी शामिल है। इस शब्द का प्रयोग मध्ययुग में किसी व्यक्ति अथवा वस्तु पर अधिकारपूर्ण शक्ति का बोध कराने के लिए किया जाता था। एजिडियस का आग्रह था कि पदार्थों पर राजनीतिक शक्ति का स्वामित्व तभी शुभ है जब उनसे मनुष्य का कल्याण हो। लौकिक कानूनों द्वारा प्रदत्त स्वामित्व तभी मान्य है जब उसका उपभोक्ता ईश्वर के अधीन हो, उसकी कृपा का पात्र हो। उसका कहना था कि मनुष्य का सर्वोच्च कल्याण आध्यात्मिक कल्याण है, अतः उसकी शक्ति और सम्पत्ति तभी सार्थक है जब उनका प्रयोग आध्यात्मिक प्रयोजन में किया जाए। ऐसा न करने से आत्मा पतन की ओर अग्रसर होती है, और मनुष्य को मोक्ष नहीं मिल सकता। स्वामित्व का अधिकार ईश्वर की अनुकम्पा द्वारा मिलता है और ईश्वर की अनुकम्पा केवल चर्च द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है और मोक्ष का एकमात्र साधन भी चर्च ही है। अतः यह आवश्यक है कि समस्त 'डोमिनियम' अर्थात् स्वामित्व चर्च के अधीन रहे। सच्चा स्वामित्व केवल वही है जो चर्च के अधीन हो अथवा चर्च द्वारा दिया गया हो।

एजिडियस का यह दृढ़ मत था कि स्वामित्व का वास्तविक औचित्य उस आध्यात्मिक पुनरुत्थान में निहित है जो चर्च के माध्यम से होता है। एजिडियस द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त के वास्तव में गम्भीर परिणाम निकलते हैं। इसके, अनुसार समस्त सांसारिक वस्तुओं पर सामान्य स्वामित्व चर्च में निहित हो जाता है। इस तरह लौकिक क्षेत्र में चर्च के हस्तक्षेप का सुदृढ़ आधार मिल जाता है। यह राजा की सम्पत्ति, भूमि आदि के अधिकार और स्वामित्व को सुरक्षित रखते हुए भी उसे चर्च में विलीन कर देता है। इस सिद्धान्त से सभी वस्तुओं और व्यक्तियों पर चर्च का स्वामित्व स्थापित हो जाता है। चर्च की शक्ति राजा की शक्ति से श्रेष्ठतर सिद्ध होकर इतनी बढ़ जाती है कि चर्च उसकी सम्पत्ति के स्वामित्व तक में परिवर्तन ला सकता है, राजा की निन्दा कर सकता है और उसके व्यक्तित्व का निर्णायक हो सकता है।

एजिडियस रोमेनस अथवा एजिडियस कोलोना के उपर्युक्त विचारों की सारपूर्ण सुन्दर विवेचना हमें मैकलवेन के इस उद्धरण में मिलती है—"सब कुछ कहने के बाद निष्कर्ष रूप में यही प्रतीत होता है कि उत्तर मध्यकाल में राजदर्शन के इतिहास में एजिडियस कोलोना महानतम नामों में है। अपने ग्रन्थ 'De Regi-

mine Principum' मे उसने अरस्तू के राजनीतिक विचारो को मध्यकाल मे बड़े ही व्यापक और गहन रूप से अगीकार किया है, भले ही वह इस क्षेत्र मे आदि लेखक न हो। 25 वर्ष के उपरान्त उसने उन्ही विचारो को पोप की प्रभुता के विषय मे कैनोनिस्टट्स के उग्रतम विचारो के साथ सम्मिश्रित कर दिया है और इस सम्मिश्रण मे पोप की प्रभुता का दार्शनिक आधार पर प्रथम व्यापक समर्थन परिलक्षित होता है। अपने ग्रन्थ 'De Potestate Ecclestiasica' मे जिस स्वामित्व के सिद्धान्त का उसने प्रतिपादन किया है, उसमे इसने इन दो विचारधाराओ को, स्वामित्व अधिकारो को, स्वामियो और सेवको मे विभाजित करने की एक तीसरी सामन्तवादी धारणा मे मिला दिया है।"[1]

दांते : आदर्श साम्राज्य
(Dante : The Idealized Empire)

1265 ई. मे फ्लोरेन्स मे जन्मा दांते एलिजियरी (Dante Alighiere) 35 वर्ष की आयु मे फ्लोरेन्स का मजिस्ट्रेट नियुक्त हुआ। किन्तु दल बन्दी मे भाग लेने के कारण उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई और उसे नगर से निष्कासित कर दिया गया। सम्पत्ति पुनः प्राप्त करने के लिए उसने अनेक असफल प्रयत्न किए। जब यह दण्ड घोषित किया गया कि पकड़े जाने पर उसे जीवित ही गाड दिया जाएगा तो वह पकड़े जाने के क्षेत्र से बाहर चला गया। इसी असहाय अवस्था मे उसने 'Divine Comedy' तथा 'Monarchia' नामक महान् ग्रन्थो की रचना की। 'मोनार्किया' मे दांते के राजनीतिक विचार पढने को मिलते हैं। 1321 ई. मे 56 वर्ष की अवस्था मे इस सगीत-प्रेमी किन्तु राजनीतिक और प्रेम के निराश खिलाडी का देहान्त हो गया।

दांते का 'मोनार्किया' तीन खण्डो मे विभाजित है। प्रथम खण्ड मे समार के कल्याण के लिए एक साम्राज्य की आवश्यकता पर, द्वितीय मे रोमनों के साम्राज्य निर्माण पर, और तृतीय मे पोप तथा सम्राट के सम्बन्धो पर प्रकाश डाला गया है।

दांते का राजनीतिक दर्शन
(Political Philosophy of Dante)

अपने युग के सघर्षों, अशान्ति और युद्धों के अध्ययन से दांते इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि राजनीतिक अराजकता और सामाजिक अशान्ति का मूल कारण पोप की लौकिक क्षेत्र मे समाप्त होती हुई महत्त्वाकांक्षाएँ थी। दांते इस परिणाम पर पहुँचा कि इटली और विश्व को अशान्ति से छुटकारा तभी मिल सकता है जब पोपशाही को लौकिक क्षेत्र से बिलकुल हटाकर एक सर्वशक्तिमान सम्राट की अधीनता मे एक सर्वव्यापक साम्राज्य की स्थापना हो जाए। अपने ग्रन्थ 'मोनार्किया' मे उसने आदर्श साम्राज्य (The Ideal Empire) की बडी ही प्रभावशाली शब्दो म वकालत की है।

1 *Mc Ilwain* : Growth of Political Thought in the West, p. 259.

दाँते का विश्वास था कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है। विवेक मूलक जीवन का साक्षात्कार करना उसका उद्देश्य था जिसकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब लोग सहयोग और शान्ति से रहे। यदि थोड़े लोग भी इस सहयोगपूर्ण साधन से पृथक् रहेगे तो उपर्युक्त आदर्श की प्राप्ति का मार्ग अवरुद्ध हो जाएगा। दाँते ने कहा कि मानव समृद्धि तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण मानव जाति एक राजनीतिक इकाई मे बँध कर रहे और एक सम्राट की छत्रछाया मे सुख भोगे। एक विश्व-सम्राट ही अराजक तत्वो और विभेदक शक्तियो का दमन करके पीड़ित मानवता को सुख तथा समृद्धि का अनुभव करा सकता है। छोटे-छोटे राज्यो का अस्तित्व मानव-कल्याण के मार्ग मे बाधक है क्योकि वे विविध स्वार्थों के वशीभूत होकर संघर्परत रहते हैं। एक विश्व-साम्राज्य मे ये छोटे राज्य अर्द्ध-स्वतन्त्र सदस्यो के रूप मे संगठित होकर सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण मे लगे रह सकते हैं। एक चक्रवर्ती सम्राट के लिए ही यह सम्भव है कि स्वार्थों से सर्वथा ऊपर उठ कर वह उदार, न्यायी और निष्पक्ष रह सके। उसकी निजी महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं होगी, अतः वह अपने समय और शक्ति का व्यय जनकल्याण मे कर सकेगा। उसकी अधीनता मे व्यक्ति को सम्यक् आचरण का अवसर मिलेगा। सर्वत्र न्याय, समृद्धि और शान्ति का प्रसार हो सकेगा।

वस्तुत तत्कालीन अराजकतापूर्ण स्थिति मे यह अस्वाभाविक न था कि दाँते एक आदर्श सार्वभौमिक साम्राज्य की कल्पना करता। उसका ध्यान बराबर प्राचीन रोमन साम्राज्य की ओर जाता था जिसने शताब्दियो तक यूरोप तथा एशिया के एक बड़े भाग को अराजकता से मुक्त रखा था और सुख एव समृद्धि प्रदान की। 'मोनार्किया' के दूसरे खण्ड मे दाँते ने प्राचीन रोमन साम्राज्य के गुणगान करते हुए कहा कि रोमनों ने अपना अधिकार साम्राज्य और शक्ति ईश्वर की इच्छा से प्राप्त की थी। उनकी अभूतपूर्व सफलता उनके शासन के दैवीय होने का प्रमाण थी। पुराना रोमन साम्राज्य न्याय के सिद्धान्त पर आधारित था। ईश्वरीय अनुकम्पा से ही रोमन लोग साम्राज्यीय सत्ता और प्रतिष्ठा को धारण कर पाए थे। उन्होने साम्राज्य का निर्माण विजितों के हित के लिए किया था। उन्होने सर्वथा विश्व-शान्ति और स्वतन्त्रता के महान् आदर्शों को सामने रखकर कार्य किया और मानव जाति के हितार्थ अपने स्वार्थों की उपेक्षा की। रोमन लोगो ने ही युद्धो मे समस्त प्रतिद्वन्द्वियो को हटाकर ससार पर शासन करने मे सफलता प्राप्त की। इसका कारण यह था कि ईश्वर की यही इच्छा थी। दाँते ने ईसाइयत के इतिहास द्वारा भी अपने विचार सिद्ध करने का प्रयास किया। उसने कहा कि ईसा मसीह ने सम्पूर्ण मानव-जाति के पाप अपने सिर पर झेल कर और स्वय दण्डित होकर उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया था। रोमन सत्ता के वैध होने का प्रमाण ही यह है कि वह ईसा को दण्डित कर सकी, क्योकि कानून की दृष्टि से दण्ड वही दे सकता है जिसे दण्ड देने का अधिकार हो।

रोमन साम्राज्य के उपरोक्त आधार को लेकर ही दाँते ने 'मोनार्किया' के अन्तिम खण्ड मे यह प्रतिपादित किया कि साम्राज्य की शक्ति पोप के माध्यम से

नहीं वरन् सीधे ईश्वर से प्राप्त की गई थी। "यहाँ दांते ने धार्मिक विधिवेत्ताओं का विरोध किया और पोप की आज्ञप्तियों को धर्म की बुनियाद मानने से इन्कार कर दिया। उसका कहना था कि धर्मशास्त्रों का स्थान चर्च से ऊपर है। इसके बाद प्रधान कौंसिलों के कार्य आते हैं। पोप की आज्ञप्तियाँ केवल परम्पराओं का महत्त्व रखती है जिन्हें चर्च बदल सकता है। इसके बाद दांते ने धर्म शास्त्रों के उन मुख्य अवतरणों की परीक्षा की जिनके अनुसार चर्च की शक्ति लौकिक शासकों की शक्ति से ऊपर बताई जाती थी। उसने लौकिक इतिहास के दो पूर्व-उदाहरणों-कॉन्स्टेन्टाइन के दान (Donation of Constantine) और शार्लमैन (Charlemagne) के साम्राज्यारोहण की भी परीक्षा की। उसका विचार था कि कान्टेन्टाइन का दानपत्र तो अवैध था क्योंकि सम्राट को साम्राज्य का हस्तान्तरण करने की कोई वैधानिक शक्ति नहीं थी। इस प्रलेख की ऐतिहासिकता पर आपत्ति होने के काफी समय पहले से ही विधिवेत्ताओं का यह आम विचार था। इस तर्क ने दूसरे कठिन पूर्व-उदाहरण का भी समाधान कर दिया। यदि पोप के पास वैधानिक रूप से साम्राज्यिक शक्ति नहीं हो सकती थी तो वह उसे शार्लमैन को दे भी नहीं सकता था। अन्त में, दांते ने यह सामान्य तर्क प्रस्तुत किया कि लौकिक शक्ति को धारण करना चर्च की प्रकृति के विरुद्ध है। चर्च का राज्य इस संसार में नहीं है।"[1]

इसी प्रकार दांते ने दो तलवारों की, मनुष्य के बन्धन और मोक्ष के अधिकार की तथा ऐसी ही अन्य युक्तियों की धज्जियाँ उड़ाते हुए यह कहा कि पोप को लौकिक शक्ति का कोई अधिकार न भगवान से मिला है, न किसी सम्राट से मिला है और न ही मानव समाज से मिला है, अतः वह सम्राट को इसे प्रदान नहीं कर सकता। दांते ने यह विश्वास व्यक्त किया कि दोनों शक्तियों के अधिकार क्षेत्र भिन्न हैं। उन्हें एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उसने पोप की आध्यात्मिक शक्ति से इन्कार नहीं किया किन्तु धर्म निरपेक्ष राजनीति में उसका कोई स्थान भी स्वीकार नहीं किया। उसने कहा कि जीवन के लौकिक और धार्मिक क्षेत्र अलग-अलग रहने चाहिए। ईश्वर ने मनुष्य के सामने दो लक्ष्य रखे हैं—प्रथम लक्ष्य है स्वबुद्धि का विकास तथा सांसारिक सुख का उपभोग और द्वितीय लक्ष्य है नित्य जीवन का आनन्द लेना जो ईश्वर दर्शन से ही सम्भव है। इन दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति भिन्न-भिन्न साधनों से ही होती है। साम्राज्य द्वारा स्थापित शान्ति और व्यवस्था से प्रथम लक्ष्य की प्राप्ति की जाती है। दर्शन-शिक्षा से भी इसमें सहायता मिलती है। द्वितीय लक्ष्य की प्राप्ति में चर्च की आध्यात्मिक शिक्षा, पोप का नेतृत्व और ईश्वर प्रदत्त ज्ञान सहायक होता है। अतः यह आवश्यक है कि दोनों सत्ताएँ अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करें। लौकिक विषयों में आध्यात्मिक सत्ता का हस्तक्षेप सर्वथा अवांछित और त्याज्य है। दांते ने यह विश्वास भी प्रकट किया कि नैतिकता की प्राप्ति का एकमात्र स्रोत धर्म ही नहीं है, धर्म से स्वतन्त्र रहकर भी नैतिक रहा जा

[1] सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ 239–40

सकता है। जहाँ धर्म-सत्तावादियो ने नैतिकता को धर्म का एक रूप स्वीकार किया वहाँ दांते ने नैतिकता को धर्म से पृथक् मानते हुए बतलाया कि वह धर्मशास्त्र का प्रतिफल नही है। इस तरह दांते ने नैतिक प्रश्नो में चर्च के हस्तक्षेप करने के अधिकार पर भी कुठाराघात करने की चेष्टा की। दांते ने पोपवादियो पर प्रहार करते हुए चर्च को केवल दैविक स्वर्ग तक परिमित कर दिया।

दाँते का मूल्यांकन

दाँते अपने समय का बहुत ही प्रतिभाशाली, सिद्धान्तवादी और बहुदेश्यीय अनुभव वाला राजनीतिक विचारक था जिसने तत्कालीन समस्या को भाँपते हुए चर्च और राज्य के पूर्ण पार्थक्य का समर्थन किया और एक विश्व-राज्य का मौलिक विचार प्रस्तुत करके यूरोपवासियों को स्थाई शान्ति और एकता का मार्ग दिखाया। दाँते ने विश्व राज्य की औषधि द्वारा यूरोप को रोग-मुक्त करना चाहा, लेकिन राष्ट्रवाद के उदय ने उसके निदान को असामयिक ठहरा दिया। दाँते ने भी, एक्वीनास की भाँति ही अरस्तू का असंगत अनुकरण करने की भूल की। एक्वीनास और दाँते दोनो ने अपने सार्वभौमिक समुदाय के विकास मे अरस्तू का अनुसरण किया लेकिन इसमे असगति रही और ईसाइयत का सामञ्जस्य वे स्वाभाविक रूप मे नही कर पाए। दाँते ने रोमन साम्राज्य की पुनर्स्थापना का असामयिक रोग अलापा। उसने राज्य पर चर्च के नियन्त्रण के दावों का खण्डन करते हुए साम्राज्य की पूर्ण स्वतन्त्रता स्थापित करने का प्रयास किया और एक ऐसे आदर्श साम्राज्य की कल्पना की जिसकी इस भू-तल पर स्थापना लगभग असम्भव सी ही है।

पर कमियो के बावजूद राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे दाँते का स्थान महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि मध्ययुग मे विश्व राज्य और अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के सिद्धान्तो को प्रतिपादित करने वाला यह प्रथम राजनीतिक चिन्तक था। उसके योगदान पर टिप्पणी करते हुए कैटलिन ने लिखा है—"दाँते ने न केवल रोमन साम्राज्य का उपसहार लिखा अपितु राष्ट्रसघ (League of Nations) की भूमिका भी तैयार की। दाँते ने राष्ट्रसघ को यह अकाट्य तर्क प्रदान किया कि राज्य द्वारा शान्ति स्थापना का सर्वप्रमुख कार्य पूरी तरह तभी सम्पन्न किया जा सकता है जब वह 'विश्व राज्य' हो।"[1]

जॉन ऑफ पेरिस
(John of Paris)

मध्यकाल मे धर्मनिरपेक्षता के समर्थकों मे जॉन ऑफ पेरिस (1269-1306) का नाम महत्त्वपूर्ण है जिसने समकालीन राजदर्शन को तथा भावी विचारकों को बड़ी सीमा तक प्रभावित किया।

जॉन ऑफ पेरिस ने राजा के पक्ष मे अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक (De Potestate Regia et Papali, 1302-3) लिखी। इसमें किसी क्रमबद्ध राजनीतिक

1 *Catlin* : A History of the Political Philosophies, p. 177.

दर्शन का निरूपण नहीं मिलता है, पर इससे राजा के पक्ष में जॉन का दृढ़ समर्थन परिलक्षित होता है। उसने साम्राज्य को विशेष महत्त्व नहीं दिया है तथापि वह यदा-कदा सम्राट को आभासी सार्वभौम सत्ता प्रदान करता है। उसकी विचारधारा पर अरस्तू का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। आत्मनिर्भर समाज का विचार उसने अरस्तू से ग्रहण किया है यद्यपि उसका यह समाज राज्य है। वह इस तरह के सभी स्वायत्तशासी एककों की सत्ता स्वीकार करने को तैयार है। वह अरस्तू के इस सिद्धान्त को भी स्वीकार करता है कि नागरिक शासन श्रेष्ठ जीवन के लिए आवश्यक है। वह अपने अरस्तूवाद के कारण ही एजिडियस के इस विचार को नहीं मानता कि लौकिक सत्य को वैध होने के लिए चर्च के आशीर्वाद की आवश्यकता है। उसकी मान्यता है कि पुरोहितवाद की अपेक्षा लौकिक शक्ति अधिक प्राचीन है, अतः पुरोहितवाद उसका स्रोत नहीं है। पर चर्च के नियन्त्रण के पक्ष में एक तर्क यह दिया जाता था कि राज्य का मूल मानव यदि पापाचार में प्रवृत्त होने लगे तो चर्च द्वारा उसका शुद्धिकरण होना चाहिए, लेकिन जॉन ने बतलाया कि राज्य एक वैधानिक संस्था है जिसका संगठन सामाजिकता के आधार पर हुआ है, मनुष्य के पतन के परिणामस्वरूप नहीं। राज्य के माध्यम से सामाजिक और व्यक्तिगत गुणों का विकास होता है। इस तरह राज्य एक कल्याणकारी संस्था है जिसके शुद्धिकरण का प्रश्न ही नहीं उठता।

आध्यात्मिक और लौकिक सत्ताओं के भेद को प्रकट करने और साम्राज्य का समर्थन करने में जॉन ने परम्परागत तर्कों का आश्रय लिया है। उसने दोनों सत्ताओं को अलग-अलग माना है। प्रत्येक सत्ता का प्रत्यक्ष स्रोत ईश्वर है। सर्वप्रथम उसने वे 42 कारण बतलाए हैं जिनके आधार पर लौकिक सत्ता को आध्यात्मिक सत्ता के अधीन बतलाया जा सकता था। तत्पश्चात् उसने एक-एक कारण का समाधान किया है। पुनः उसने पहले पुरोहितों की आध्यात्मिक सत्ता का विश्लेषण किया है और तब यह बतलाया है कि इसके कारण पुरोहितों को लौकिक शक्ति पर क्या नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है? जॉन के अनुसार धर्मार्पण, संस्कार, प्रचार और शिक्षा देने के अधिकार पूर्णतः आध्यात्मिक हैं, इनके लिए भौतिक साधन आवश्यक नहीं हैं। बुराई करने वालों का निर्णय करने और उनको ठीक करने के क्षेत्र में धर्माचार्यों की शक्ति केवल धर्म-बहिष्कार की है। लौकिक दृष्टि से यह अधिकार अर्थहीन है। लौकिक सत्ता बल-प्रयोग की शक्ति की अधिकारिणी है। धर्माचार्यों के धर्म-बहिष्कार के अधिकार का यह अर्थ नहीं है कि आध्यात्मिक सत्ता लौकिक शासकों पर बल-प्रयोग करने का अधिकार है। जॉन का कहना है कि "शासक भी चर्च में दोष निकाल कर पोप के साथ इसी प्रकार का व्यवहार कर सकता है। विधि में पोप को राजा को अपदस्थ करने का अधिकार वैसा ही है जैसा कि राजा को पोप को अपदस्थ करने का अधिकार। दोनों विरोध कर सकते हैं। विरोध का वजन हो सकता है। दोनों को कानूनी ढंग से अपदस्थ किया जा सकता है। लेकिन उन्हें अपदस्थ वही मर्यादित सत्ता कर सकती है जो उनका

निर्वाचन करती है। आध्यात्मिक सत्ता को दो शक्तियाँ प्राप्त हैं—धर्माचार्यों पर नियन्त्रण रखने की शक्ति और आध्यात्मिक कार्यों के लिए सम्पत्ति के स्वामित्व की शक्ति। चर्च की आध्यात्मिक सत्ता के विश्लेषण और उसे सीमित करने का यह कार्य एक धर्माचार्य ने किया था, यह काफी आश्चर्यजनक है।"

जॉन ने अपनी पुस्तक के अन्तिम अध्यायों में स्पष्ट रूप से तो नहीं किन्तु ध्वनितार्थ से चर्च में पोप की प्रभुसत्ता को एक तरह से बिल्कुल अस्वीकार कर दिया है। "आध्यात्मिक सत्ता की दृष्टि से सभी बिशप हैं। यद्यपि पोप का पद अनुपम है और ईश्वरीय है किन्तु उसका चुनाव मानवीय सहयोग से होता है। जब पोप का निर्वाचन हो रहा होता है, उस विराम काल में कहीं न कहीं पोप की शक्ति निहित रहती है। अतः यदि पोप को शक्ति प्रदान की जा सकती है तो उसे वापिस छीना भी जा सकता है। पोप त्याग-पत्र दे सकता है अथवा भ्रष्ट आचरण होने पर उसे पदच्युत् भी किया जा सकता है। जॉन के अनुसार जनरल कौंसिल पोप को पदच्युत् कर सकती है। उसकी अपनी राय तो यह भी है कि कॉलेज ऑफ कार्डिनल्स भी पोप को पदच्युत् करने का अधिकार रखते हैं। वह कॉलेज और पोप का सम्बन्ध कुछ वैसा ही मानता है जैसा सामन्ती ससदों का राजा के साथ था।"[1]

जॉन का अपने ग्रन्थ 'De Potestate Regia et Papali' का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक सम्पत्ति की समस्या को सुलझाना था। वह दो प्रतिवादी धारणाओं के बीच में मध्यवर्ती मार्ग निकालने का इच्छुक था। एक विचारधारा यह थी कि पादरियों के पास कोई सम्पत्ति नहीं रहनी चाहिए। दूसरे वर्ग का कहना था कि अपनी आध्यात्मिक शक्ति के कारण परोक्ष रूप से पादरियों को समस्त सम्पत्ति पर और लौकिक शक्ति पर भी नियन्त्रण प्राप्त है। किन्तु जॉन ने कहा कि पादरियों को आध्यात्मिक कार्यों के लिए सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त होना चाहिए, लेकिन उस पर वैधानिक नियन्त्रण लौकिक सत्ता का रहना चाहिए, आध्यात्मिक सत्ता का नहीं। सम्पत्ति का स्वामित्व न तो पोप में ही निहित है और न किसी एक व्यक्ति में ही बल्कि उस पर तो सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व है। पोप सम्पत्ति का शासक मात्र है जिसे उसके दुरुपयोग के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। जॉन ने चर्च की सम्पत्ति के साथ-साथ लौकिक शासकों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को भी सीमित किया जिसे उसके राजा को व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का सम्मान करना चाहिए और उनका नियमन तभी करना चाहिए जब सार्वजनिक आवश्यकता आ पड़े। वह एजिडियस द्वारा प्रतिपादित स्वामित्व के सिद्धान्त को ठुकराते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति पर स्वामित्व और उसके प्रयोग के अधिकार का समर्थन करता है, क्योंकि यह अधिकार उस परिश्रम का फल है जो उसे सम्पत्ति प्राप्त करने में उठाना पड़ता है। व्यक्ति की निजी सम्पत्ति पर स्वामित्व स्थापित करने या उसका प्रबन्ध करने का अधिकार न पोप को है न स्वयं राजा को। केवल

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 259.

छूट यही है कि राजा निजी सम्पत्ति का विनियमन केवल जनहित के लिए कर सकता है और उस पर कर लगा सकता है।

जॉन ने लौकिक राज्य के संगठन के बारे में विशेष कुछ नहीं लिखा है। सामान्यत: वह मध्ययुगीन सांविधानिक राजतन्त्र के पक्ष में है।

राजनीतिक दर्शन के इतिहास में जॉन ऑफ पेरिस के महत्त्व को प्रकट करते हुए सेबाइन ने ठीक ही लिखा है कि "यद्यपि जॉन ने किसी व्यवस्थित राजनीतिक दर्शन का निर्माण नहीं किया, फिर भी उसका कार्य उस युग के लिए और भविष्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। वह फ्रैंचमेन था और पादरी था। उसने ऐतिहासिक और वैधानिक आधारों पर फ्रैंच राजतन्त्र की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया था। उसने चर्च या सामान्य व्यक्तियों के सम्पत्ति के स्वामित्व और राजा द्वारा उनके राजनीतिक नियन्त्रण अथवा चर्च के लिए पोप द्वारा उसके प्रशासन में भेद स्थापित किया। उसने आध्यात्मिक सत्ता और लौकिक सत्ता की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया। उसने आध्यात्मिक शक्ति के स्वरूप और प्रयोजनों का विश्लेषण किया। इस विश्लेषण के अनुसार आध्यात्मिक सत्ता वैधानिक सत्ता नहीं है। उसे बल-प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। यदि उसे बल-प्रयोग की आवश्यकता पड़ जाए, तो यह बल-प्रयोग लौकिक पक्ष की ओर से आना चाहिए। जॉन ने आध्यात्मिक शक्ति के नैतिक और धार्मिक स्वरूप पर विशेष बल दिया है। वह यह स्वीकार नहीं करता कि विधि को धर्म के क्षेत्र में हस्तक्षेप करना चाहिए अथवा पोप के पास सम्राट की भाँति प्रभुसत्ता होनी चाहिए। अन्त में, उसने पोप की निरंकुशता का विरोध कर राजतन्त्र में प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का समावेश किया। भविष्य की राजनीतिक चर्चाओं में इन युक्तियों का काफी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। जॉन ने कट्टरता की सीमाओं के भीतर रहते हुए अरस्तू के प्रभाव को लौकिक और बुद्धिसंगत आधार देने का प्रयास किया। इस दृष्टि से उसकी स्थिति एजिडियस से बिल्कुल भिन्न थी।"[1]

मार्सीलियो ऑफ पेडुआ
(Marsilio of Padua)

जीवन-परिचय और रचनाएँ

मार्सीलियो का जन्म इटली के उत्तर-पूर्व में स्थित पेडुआ नामक नगर में लगभग 1270 ई. में हुआ था। 70 वर्ष की अवस्था में बवेरिया में लगभग 1340 ई. में वह इस असार संसार को छोड़कर चल बसा। उसके पिता पेडुआ विश्वविद्यालय में नोटरी (Notary) के पद पर कार्य करते थे।

पोप जॉन बाईसवें और उसके उत्तराधिकारी के साथ संघर्ष में लुई ऑफ बवेरिया (Lewis of Bavaria) का साथ देने वाला मार्सीलियो चौदहवीं शताब्दी का सबसे अधिक मौलिक विचारक था जिसने अपने समकालीन ही नहीं, आगे आने

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 261

वाले यूरोप को भी देखा। 1313 ई. में उसने डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। वह पेरिस विश्वविद्यालय का रैक्टर (Rector) भी बना। उसे आर्क बिशप मिलान (Archbishop of Milan) भी बनाया गया किन्तु उसने वह पद नहीं सम्भाला। उसने वकील, सिपाही और राजनीतिज्ञ की भूमिका ही अपने जीवन में निभाई। इस प्रतिभाशाली विचारक ने मध्यकालीन परम्परागत विचारों और सिद्धान्तों से स्वयं को जितना अछूता रखा उतना उसका कोई भी प्रसिद्ध समकालीन नहीं कर सका। पेरिस में रहते समय मार्सीलियो का सम्पर्क विलियम ऑफ ओकम से हुआ। ये दोनों ही विद्वान एक दूसरे से बड़े प्रभावित हुए। दोनों ने ही चर्च की अनैतिकताओं और निर्बलताओं का गूढ़ अध्ययन करके यह मत स्थापित किया कि राजसत्ता को किसी भी दशा में धर्मसत्ता से निर्बल नहीं होना चाहिए और यदि चर्च राज्य के अधीन ही हो जाए तो यह और भी उत्तम होगा। ये विचार अपने आप में बड़े क्रान्तिकारी थे जिन्हें स्वीकार करने का अर्थ पोपशाही की शक्ति को हमेशा के लिए समाप्त करना था। अतः पोप को जब इन विचारों का पता चला तो उसने मार्सीलियो को बहिष्कृत कर दिया। पर उसके विचारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, क्योंकि पोप के भ्रष्टाचार को वह रोम यात्रा के दौरान अपनी आँखों से देख चुका था। इसके बाद वह जर्मन सम्राट लुई चतुर्थ के दरबार में चला गया। उसने वहाँ से पोप एवं चर्च पर बड़े ही तर्कसम्मत और कठोर प्रहार किए। लगभग 1340 ई. में उसने अपने महान् ग्रन्थ 'डिफेंसर पेसिस' (Defensor Pacis) को पूर्ण किया। यह ग्रन्थ सन् 1300 से सन् 1500 तक के प्रकाशित हुए दो युग-निर्माणक ग्रन्थों में से एक माना जाता है। यह तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में 19 अध्याय हैं जिनमें राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त दिए गए हैं और राज्य का वर्गीकरण किया गया है। राज्य के लक्ष्य, उद्देश्य, कानून एवं कानून-निर्माता के कार्यों आदि की विवेचना भी इसी भाग में है। द्वितीय भाग में 33 अध्याय हैं, जिनमें धर्मसत्ता के जन्म, विकास तथा उत्पत्ति की व्याख्या की गई है और यह बतलाया गया है कि किस भाँति धर्मसत्ता यूरोप की शान्ति को नष्ट कर रही थी? तृतीय भाग में तीन अध्याय हैं जिनमें प्रथम दो भागों में व्यक्त विचारों को संश्लिष्ट रूप में व्यक्त किया गया है। तृतीय भाग को प्रथम दो भागों का निष्कर्ष कहा जा सकता है। मार्सीलियो का दूसरा प्रमुख ग्रन्थ 'डिफेंसर माइनर' (Defensor Minor) एक प्रकार से प्रथम पुस्तक का ही स्पष्टीकरण है।

मार्सीलियो द्वारा पोपशाही का विरोध करने से यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि वह साम्राज्यवादी था। वास्तव में उसने साम्राज्य की रक्षा के लिए कुछ नहीं लिखा। प्रथम तो उसे पोप दरबार के सांसारिक विलास और वैभव को देखकर घृणा हो गई थी; दूसरे, उसे यह देखकर भारी दुःख हुआ था कि विभिन्न नगर-राज्यों के पारस्परिक कलह का मूल कारण पोप का हस्तक्षेप था। सेबाइन के अनुसार, "उसके लिखने का उद्देश्य पोप के साम्राज्यवाद की सम्पूर्ण व्यवस्था को जो इन्नोसेंट तृतीय और धार्मिक विधि के सिद्धान्त के रूप में विकसित

हुई थी, नष्ट करना था। उसका उद्देश्य आध्यात्मिक सत्ता की इस शक्ति पर नियन्त्रण लागू करना था कि वह लौकिक सरकारों पर परोक्ष या प्रत्यक्ष रीति से कहाँ तक नियन्त्रण लागू कर सकती है? इस क्षेत्र मे मार्सीलियो मध्य युग के अन्य किसी भी लेखक से आगे बढ़ा हुआ था। उसने चर्च को राज्य की अधीनता मे रख दिया। उसे पहला इरास्टियन (Erastian) कहना अनुचित न होगा।" मार्सीलियो के हृदय मे पोपशाही के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़कने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि पोप जॉन बाइसवें ने 'फ्रांसिसकन सम्प्रदाय' (Franciscan Order) के इस सिद्धान्त की निन्दा की कि पादरियों द्वारा अस्तेय धर्म का पालन किया जाना चाहिए अर्थात् केवल उन्हे उतनी ही सम्पत्ति रखनी चाहिए जितनी उनके आध्यात्मिक कार्यों को सम्पन्न करने की दृष्टि से आवश्यक हो। मार्सीलियो ने पोप के इस कार्य की कड़ी निन्दा की।

मार्सीलियो ने अपने सिद्धान्त का दार्शनिक आधार अरस्तू से ग्रहण किया था। उसने अपनी पुस्तक की प्रस्तावना मे लिखा है कि उसके ग्रन्थ को 'पॉलिटिक्स' के उस भाग का पूरक माना जा सकता है जिसमे अरस्तू ने क्रान्ति तथा नागरिक उपद्रवो के कारणों का विवेचन किया है। उसने बतलाया कि इस सम्बन्ध मे अरस्तू पोप द्वारा लौकिक शास्त्रो पर अपनी सर्वोच्चता के उस दावे से अनभिज्ञ था जिसके कारण समस्त यूरोप और विशेषकर इटली मे भयकर फूट एव अशान्ति छाई हुई थी अतः उसने इसी बुराई को दूर करने का प्रयास किया।

मार्सीलियो के राज्य-विषयक विचार
(Marsilio's Ideas on the State)

अरस्तू की भाँति मार्सीलियो ने राज्य को एक ऐसी सजीव सत्ता बतलाया है जिसके विभिन्न भाग उसके जीवन के लिए आवश्यक कार्य करते हैं। राज्य रूपी सजीव शरीर का स्वास्थ्य उसके विभिन्न अगों जैसे—कृषक, कारीगर, योद्धा, पुजारी आदि द्वारा समुचित और व्यवस्थित रूप से कार्य करने पर निर्भर है। किसी अग द्वारा अपने कार्य का ठीक तरह से सम्पादन न करने पर अथवा दूसरे अग के कार्य मे बाधा डालने पर सघर्ष और अव्यवस्था जन्म लेते हैं। अरस्तू की भाँति मार्सीलियो राज्य को एक आत्म-निर्भर इकाई (Self-sufficient Unit) मानता है जिसका उद्देश्य अच्छे जीवन का विकास तथा नागरिको का लोक-कल्याण करना है। राज्य का जन्म ही मनुष्य की विविध आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए हुआ है इसीलिए राज्य स्वत. विकसित सस्था है और इसका आधार सेवाओ का परस्पर आदान-प्रदान है।

मार्सीलियो ने अरस्तू की तरह यह भी माना कि नगर-राज्य की उत्पत्ति परिवार से हुई है। नगर एक पूर्ण समाज है और श्रेष्ठ जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताएँ पूरी करता है। राज्य का प्रयोजन जीवन ही नही अपितु उत्तम जीवन है। मनुष्य पशुओ और दासो की भाँति केवल जीना ही नहीं चाहता अपितु उसकी आकांक्षा होती है कि वह उत्तम रीति से जिए। अरस्तू का उत्तम जीवन केवल इहलोक तक

सीमित था जबकि मार्सीलियो के अनुसार उत्तम जीवन के दो अर्थ हैं। एक अर्थ है इहलौकिक जीवन की श्रेष्ठता या उत्तमता और दूसरा अर्थ है पारलौकिक अथवा आगामी जीवन में उत्तमता। इहलौकिक अथवा सांसारिक उत्तम जीवन का परिचय दर्शनशास्त्र से मिलता है। पारलौकिक उत्तम जीवन का साक्षात्कार धर्मशास्त्र से होता है। पहले का आधार बुद्धि और विवेक है; दूसरे का आधार श्रद्धा और विश्वास है। विवेक यह बतलाता है कि शान्ति और व्यवस्था के लिए नागरिक शासन की आवश्यकता है, लेकिन समाज में धर्म की भी आवश्यकता है क्योंकि उसका इस जीवन में भी उपयोग है और दूसरे जीवन में भी।

अरस्तू की तरह ही मार्सीलियो आगे चलकर समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न वर्गों का विश्लेषण करता है। कृषक और शिल्पी भौतिक पदार्थों एवं राजस्व का प्रबन्ध करते हैं। समाज में सिपाही, पदाधिकारी और पादरी हैं जो वास्तव में राज्य का निर्माण करते हैं। मार्सीलियो को पादरियों के कार्यों की उपयोगिता इतनी स्पष्ट दिखलाई नहीं पड़ती जितनी अन्य वर्गों के कार्यों की। तथापि उसने बतलाया है कि पादरियों का कार्य धर्म-शास्त्रों का अध्ययन, शिक्षा देना और मुक्ति पाने के लिए आवश्यक बातें सिखलाना है। ईसाई और गैर-ईसाई सभी लोगों ने यह माना है कि समाज में एक वर्ग ऐसा होना चाहिए जिसका काम पूजा-पाठ करना हो। मार्सीलियो ईसाई पादरियों और अन्य पादरियों में यह अन्तर करता है कि ईसाई धर्म सच्चा है जबकि अन्य धर्म सच्चे नहीं हैं। मार्सीलियो ने कहा कि पादरी नरक का भय दिखाकर लोगों को कानून का पालन करने और पापाचार से बचने का पवित्र और सच्चा कार्य करके पुलिस एवं न्यायाधीश के कार्यों में सहायक हो सकते हैं। उनका सच्चा कार्य मोक्ष-प्राप्ति में सहायक होना है। अतः उन्हें लौकिक विषयों से कोई सम्बन्ध न रखकर अपना क्षेत्र आध्यात्मिक विषयों तक परिमित रखना चाहिए। मार्सीलियो समस्त सांसारिक विषयों में पादरियों के ऊपर राज्य के नियन्त्रण का पक्षपाती था। वह चर्च को राज्य का एक विभाग मात्र मानता था। वही पहला मध्यकालीन विचारक था जिसने 'दो तलवारों' के परम्परागत सिद्धान्तों पर कठोरतम प्रहार करते हुए स्पष्ट शब्दों में चर्च के ऊपर राज्य के प्रभुत्व का समर्थन किया। सेबाइन के सारगर्भित शब्दों में—

"राजनीतिक दृष्टि से मार्सीलियो के निष्कर्ष का महत्त्वपूर्ण अंश यह है कि लौकिक सम्बन्धों में पादरी वर्ग समाज में अन्य वर्गों के साथ एक वर्ग है। मार्सीलियो तार्किक दृष्टिकोण से ईसाई पादरियों को अन्य पादरियों की भाँति ही समझता है क्योंकि ईसाई पादरियों की शिक्षा भी तर्क से परे होती है और केवल भावी जीवन से ही सम्बन्ध रखती है। इसलिए, राज्य को लौकिक मामलों में पादरियों पर उसी प्रकार नियन्त्रण रखना चाहिए जिस प्रकार वह कृषि अथवा वाणिज्य पर नियन्त्रण रखता है। आधुनिक शब्दावली में धर्म एक सामाजिक तत्त्व है। वह भौतिक उपकरणों का उपयोग करता है और इसके कुछ सामाजिक परिणाम निकलते हैं। — दृष्टियों से उस पर समाज का वैसे ही नियन्त्रण होना चाहिए जैसा कि अन्य

मानव हितों पर होता है। जहाँ तक उसकी सच्चाई का सम्बन्ध है इस बारे मे विवेक-युक्त मनुष्यो मे कोई मतभेद नही हो सकता। विवेक और विश्वास का यह पृथक्करण धार्मिक सदेहवाद का पूर्वगामी है। यह लौकिकता का प्रतिपादन है, जो धर्म विरोधी भी है और ईसाई विरोधी भी। मार्सीलियो ने उन पूर्ण आध्यात्मिक हितो की सीधी आलोचना नही कि जिनकी चर्च अभिवृद्धि करता है और जिन्हे ईसाई मानव-जाति के परम हित समझते हैं। ये चीजें इतनी पवित्र हैं कि इन्हें बुद्धि की तराजू पर नहीं तोला जा सकता। लेकिन व्यवहार में अत्यन्त पवित्र और अत्यन्त तुच्छ मे कोई अन्तर नही। है चर्च जहाँ तक लौकिक मामलों से सम्बन्ध रखता है वह हर तरह लौकिक राज्य का एक भाग है।"

मार्सीलियो के उपरोक्त विचारों ने पोपवादियो को अत्यन्त नाराज कर दिया। चर्च ने उसके ग्रन्थ 'डिफेन्सर पेसिस' पर प्रतिबन्ध लगा दिया, उसे धर्म बहिष्कृत कर दिया और पोप क्लीमेंट छठे ने, तो उसे निकृष्टतम विधर्मी तक की सज्ञा दे डाली।

मार्सीलियो के विधि और विधायक सम्बन्धी विचार
(Marsilio on Law and the Legislator)

राज्य के स्वरूप और सगठन पर चर्चा के उपरान्त मार्सीलियो सरकार के निर्माण का विवेचन करता है जिसका सर्वाधिक आधारभूत अश उसकी विधि और विधायक सम्बन्धी धारणा है। उसने अपने ग्रन्थ 'डिफेन्सर पेसिस' मे विधि के चार भेद बताए हैं, तथापि महत्त्वपूर्ण बात दैवी विधि और मानवीय विधि की है। अपने बाद के ग्रन्थ 'डिफेन्सर माइनर' मे उसने अपने तर्कों को अधिक बारीकी से व्यक्त किया है। उसके शब्दों मे दैवी विधि और मानवीय विधि की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

"दैवी विधि सीधे ईश्वर का आदेश है। इसमे मनुष्य के सोच-विचार के लिए ज्यादा गुंजाइश नही है। दैवी विधि मे मनुष्य को बतलाया जाता है कि वह क्या कार्य करे और क्या कार्य न करे? इस विधि मे मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ साध्य प्राप्त करने तथा आगामी ससार के लिए वांछनीय परिस्थितियो के निर्माण का उपाय भी बताया जाता है।"[1]

"मानवीय विधि नागरिको के सम्पूर्ण समुदाय का अथवा उसके प्रबुद्ध भाग का आदेश है। जो लोग विधि को बनाने की शक्ति रखते हैं, वे सोच-विचार के पश्चात् इस विधि को जारी करते हैं। मानवीय विधि मे मनुष्य को बतलाया जाता है कि वह इस ससार मे क्या कार्य करे और क्या कार्य न करे। इस विधि मे मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ साध्य प्राप्त करने अथवा इस ससार के लिए वांछनीय परिस्थितियो के निर्माण का भी उपाय बतलाया जाता है। मानवीय विधि एक ऐसा आदेश है जिसका उल्लघन करने पर उल्लघनकर्त्ता को इस ससार मे दण्ड मिलता है।'

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड I, पृष्ठ 270-71.

इन परिभाषाओं से पता चलता है कि दैवी एवं मानवीय विधि में अन्तर का आधार उनके उल्लंघन पर दिए जाने वाले दण्ड का भेद है। दोनों के स्रोत और क्षेत्र अलग-अलग हैं। एक को ईश्वर बनाता है, उसका सम्बन्ध पारलौकिक जीवन से होता है और उसे तोड़ने पर ईश्वर दण्ड देता है। यह दण्ड इस लोक में नही बल्कि परलोक मे मिलता है। दूसरे का स्रोत मानवीय इच्छा है, उसका सम्बन्ध सांसारिक जीवन से होता है और उसे तोड़ने पर दण्ड राज्य द्वारा दिया जाता है। मार्सीलियो के द्वारा कानून के इस बाध्यकारी (Coercive) स्वरूप पर बल देने का स्वाभाविक अर्थ यही है कि जो भी नियम दण्ड-भय से लागू नहीं किया जा सके वह कानून नहीं है। मार्सीलियो केवल राज्य अथवा सरकार को ही समाज की विवशकारी शक्ति (Coercive Force) मानता है, अतः सम्पूर्ण धर्म-कानून का केवल वही अंश कानून हो सकता है जिसे राज्य स्वीकार करे। मार्सीलियो के अनुसार मानवीय कानूनों का निर्माण सामाजिक कल्याण के लिए होता है। प्रो. हर्नशा के शब्दों में, "कानून तत्वत. इस बात का निर्णय है कि समाज के लिए न्यायपूर्ण और लाभदायक है ? यह सामान्य आवश्यकता की एक आदेशात्मक अभिव्यंजना है जिसकी रचना मानव बुद्धि द्वारा होती है। मान्यता प्राप्त शक्ति इसे कार्यान्वित करती है और इसके पीछे शक्ति की स्वीकृति होती है।"

मानवीय कानून निर्मित होता है अतः यह स्वाभाविक है कि इसका निर्माण करने वाली और इसे लागू करने वाली भी कोई शक्ति हो। दूसरे शब्दो मे मार्सीलियो के अनुसार विधि के लिए विधायक आवश्यक है; तो फिर प्रश्न उठता है कि मानवीय विधायक (Legislator) कौन है ? इस प्रकार का उत्तर हमे उसके राजनीतिक दर्शन के मुख्य तत्त्व पर ला देता है—

"विधायक अथवा विधि का प्रथम और उचित बुद्धिमत्तापूर्ण कारण जनता अथवा नागरिकों का सम्पूर्ण समुदाय अथवा उसका प्रबुद्ध भाग है। वह अपने आदेश और निर्णय से अथवा सामान्य सभी की इच्छा से निश्चित शब्दावली में यह व्यवस्था देता है कि मनुष्य अमुक कार्य करे और अमुक कार्य न करे। यदि मनुष्य विहित कार्यों का उल्लंघन करते हैं, तो उन्हें दण्ड मिलता है।"

सरल शब्दो मे, विधि का निर्माण करने वाली और उसे लागू करने वाली शक्ति मार्सीलियो के अनुसार "समस्त जनता या सम्पूर्ण नागरिक समूह या उसका प्रधान भाग" है और इसे वह विधायक या व्यवस्थापक (Legislator) की संज्ञा देता है। विधि सम्बन्धी सत्ता का स्रोत सदा ही जनता या उसका प्रबुद्ध अंश होता है। यह सम्भव है कि यह भाग अथवा अंश कभी-कभी आयोग के द्वारा या साम्राज्य की स्थिति में सम्राट द्वारा कार्यशील हो सकता है। इस अवस्था मे सत्ता सौंप दी जाती है अर्थात् राजा के आयोग द्वारा निर्मित कानून भी जनता द्वारा निर्मित ही समझे जाएँगे क्योंकि राजा अथवा आयोग जनता के नाम में और जनता की ओर से ही कार्य करेंगे। मार्सीलियो का विचार था कि जनता के विधायन मे रीति-रिवाज भी शामिल रहते हैं।

मार्सीलियो की विधायक सम्बन्धी धारणा मे एक भ्रामक शब्द 'प्रधान या प्रबुद्ध भाग' (Prevailing or Weightier Part) है। कुछ आलोचकों ने इसका अर्थ सख्यागत बहुमत लगाया है जबकि वास्तव मे ऐसा नही है। 'प्रधान भाग' की अपनी परिभाषा मे मार्सीलियो ने ये शब्द लिखे हैं, "मैं कहता हूँ कि समाज मे सख्या तथा गुणवत्ता दोनो की दृष्टि से प्रबुद्ध भाग की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए।" इस तरह स्पष्ट है कि 'प्रबुद्ध या प्रधान भाग' से उसका अभिप्राय जनता के उस भाग से है जिसकी बात मे सख्या और गुण के दृष्टिकोण से सर्वाधिक प्रभाव हो। वह यह नहीं चाहता था कि हर व्यक्ति को एक ही माना जाए क्योकि समाज के प्रमुख व्यक्ति जन-साधारण की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखते हैं। उसका विचार था कि हमे जनतन्त्रीय समानता के विचार खोजने का प्रयत्न नही करना चाहिए।

मार्सीलियो के अनुसार शासन के कार्यपालिका एव न्यायपालिका के विभाग नागरिको द्वारा बनाए जाते हैं या निर्वाचित होते हैं। नागरिकों को मार्सीलियो ने विधायक अथवा व्यवस्थापक माना है, अतः हम कह सकते है कि उसके अनुसार व्यवस्थापक का एक मुख्य कार्य कार्यपालिका और न्यायपालिका को चुनना था। कार्यपालिका का मुख्य कर्त्तव्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनो को कार्यान्वित करना और यह देखना है कि राज्य का प्रत्येक अग सम्पूर्ण समाज के हित के लिए अपना-अपना काम उचित ढग से करे। अयोग्य कार्यपालिका को वह सत्ता जिसने (अर्थात् जनता ने) उसे निर्वाचित किया था, अपदस्थ भी कर सकती है। मार्सीलियो ने कार्यपालिका की सूत्रबद्धता और एकता पर भी बड़ा बल दिया और सम्भवत इसी कारण उसने प्रजातन्त्र के ऊपर राजतन्त्र को तरजीह दी। यद्यपि सरकार के रूप के बारे मे उसने विशेष कुछ भी नही कहा किन्तु यह निश्चित है कि वह वशानुगत सम्राट की अपेक्षा निर्वाचित सम्राट को ज्यादा पसन्द करता था। वहाँ भी उसका ध्यान नगर-राज्य की ओर था, सम्राट की ओर नही। उसने सम्राट के बारे मे बहुत ही कम विचार प्रकट किए। मार्सीलियो ने कार्यपालिका के एकीकृत और सर्वोच्च होने पर जो बल दिया उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकलता है कि चर्च का कोई स्वतन्त्र अधिकार क्षेत्र नही हो सकता।

कुछ समालोचक मार्सीलियो द्वारा किए गए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के अन्तर को शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के रूप मे देखते हैं, जबकि मैक्लवेन एव अन्य विद्वानो का कहना है कि मार्सीलियो के विचारों मे जनतन्त्र, बहुमत का शासन और शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त जैसी कोई बात नही है। मार्सीलियो का विधायक और कार्यपालक आधुनिक विधायिका तथा कार्यपालिका के समान नहीं है। इस विचार की पुष्टि दो बातो से होती है—प्रथम तो मार्सीलियो का विधायक विधि का नहीं बल्कि विधि की शक्ति का स्रोत है और द्वितीय उसका कार्यपालक पर ऐसा नियन्त्रण नही है जैसा आधुनिक व्यवस्थापिकाओ का मन्त्रिमण्डलो अथवा कार्यपालिकाओ पर पाया जाता है। मार्सीलियो के सिद्धान्त का अर्थ बहुमत का शासन भी नही है क्योकि 'प्रबुद्ध या प्रधान भाग' मे सख्या और गुणवत्ता दोनों सम्मिलित

हैं। उसके विचार-दर्शन में अति महत्वपूर्ण बात यह है कि वह सम्राट को जनता का सेवक मानता है और जनता को यह अधिकार देता है कि वह उसके प्रति बुरे व्यवहार के लिए राजा को दण्डित करे। इस प्रकार मार्सीलियो हमारे सम्मुख सीमित राजतन्त्र (Limited Monarchy) का विचार प्रस्तुत करता है।

मार्सीलियो के चर्च और धर्माचार्य विषयक विचार

(Marsilio's Ideas about Church and the Clergy)

मार्सीलियो ने जनता की प्रभुसत्ता और राज्य विषयक अन्य सिद्धान्तों को चर्च पर लागू करते हुए पोप के सभी अधिकारों को निर्मूल और समाज के लिए घातक बतलाया। उसने कहा कि चर्च की पूरी सत्ता पोप में सर्वोच्च है और चर्च की अन्तिम शक्ति पोप में केन्द्रित न होकर चर्च की सामान्य सभा (General Council) में केन्द्रित है जिसमें राजनीतिक और धार्मिक दोनों प्रकार के सदस्य सम्मिलित होते हैं जिस प्रकार राज्य की जनता में प्रभुसत्ता का निवास है उसी प्रकार चर्च की अन्तिम सत्ता सम्पूर्ण ईसाई जगत् में और इससे निर्वाचित सामान्य सभा में रहती है। यह सभा चर्च के विवादों का हल करने वाली संस्था है। इसको बहुमत द्वारा धर्म वचनों की व्याख्या करने का चर्च-बहिष्कार (Ex-communication) का, दण्ड देने का, चर्च के पदाधिकारियों को नियुक्त करने का और चर्च में धार्मिक पूजा के स्वरूप को निश्चित करने का अधिकार है। इन विषयों में पोप का कोई अधिकार नहीं है। पोप के दुर्व्यवहार करने पर सामान्य सभा उसे पदच्युत् भी कर सकती है। मार्सीलियो का दृढ़ मत था कि सामान्य सभा द्वारा ही पोप निर्वाचित होना चाहिए और उसके प्रति ही उसे उत्तरदायी होना चाहिए।

सामान्य सभा समस्त ईसाइयों की अथवा उनके प्रतिनिधियों की ऐसी निर्वाचित परिषद् है जिसमें जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधि ईसाई होंगे और इन प्रतिनिधियों में धर्माचार्य और जन-साधारण दोनों ही रहेंगे। पोप को चर्च की इसी सामान्य परिषद् से अधिकार प्राप्त होना चाहिए। मार्सीलियो इस सामान्य सभा को भी सर्वोच्च स्थान पर न मानते हुए इसे लौकिक सरकारों के ऊपर निर्भर बनाता है और कहता है कि इसके प्रतिनिधि अपने शासकों के आदेशानुसार किसी सुविधाजनक स्थान में सम्मिलित होकर बाइबिल की शिक्षाओं को ध्यान में रखते हुए धार्मिक विश्वासों या धार्मिक प्रथाओं से सम्बन्धित विवादास्पद प्रश्नों पर विचार करेंगे और उनके कारण ईसाइयों के मध्य कलह उत्पन्न होने की सम्भावनाओं को दूर करेंगे। सामान्य सभा के निर्णय राज्य के बल प्रयोग द्वारा कार्यान्वित हो सकेंगे।

मार्सीलियो ने सामान्य सभा के सिद्धान्त द्वारा, जो राष्ट्रीय ईर्ष्याओं और स्थानवाद (Particularism) के कारण सफल न हो सका, पोप की शक्ति और स्वतन्त्रता पर भारी अंकुश तो लगाया ही, साथ ही इस स्वाभाविक परिणाम को भी सामने रखा कि पोप के अधिकारों द्वारा शक्तियों का स्रोत दैवी-शक्ति नहीं थी।

मार्सीलियो ने पोप की प्रभुता को एकदम इन्कार करते हुए उसे चर्च का केवल मुख्य प्रशासकीय अधिकारी बताया और घोषित किया कि पोपशाही की संस्था ईश्वरकृत नहीं है बल्कि ऐतिहासिक शक्तियों की उपज है। उसने न्यू टेस्टामेंट को

समीक्षा करते हुए यह बतलाया कि बाइबिल में पीटर को दूसरे शिष्यों पर कोई अधिकार नही दिया गया था और पीटर का रोम के साथ कोई सम्बन्ध नही था। दूसरे चर्च रोम के बिशप से परामर्श लिया करते थे और इसी कारण भूल से यह माना जाने लग गया कि चर्चों पर पोप का अधिकार है। उसने कहा कि गृह-युद्धो और संघर्षों के मूल मे पोपशाही की दुरभिलाषा ही है।

मार्सीलियो चर्च के अधिकार को केवल धार्मिक और आध्यात्मिक विषयो तक ही सीमित रखना चाहता है। "उसने धर्माचार्यों के कर्त्तव्य की तुलना चिकित्सक की सलाह से की है। धार्मिक संस्कारो को करने के अतिरिक्त धर्माचार्य केवल सलाह और उपदेश ही दे सकते हैं। दुष्टो को डाँट-डपट सकते हैं और बता सकते हैं कि पाप के भावी परिणाम क्या होंगे ? लेकिन किसी मनुष्य को तपस्या करने के लिए बाध्य नही कर सकते। मार्सीलियो ने आध्यात्मिक और धार्मिक शक्ति को वैधानिक शक्ति से अलग करने पर जितना जोर दिया है, उतना मध्ययुग के अन्य किसी लेखक ने नही दिया है।"[1]

मार्सीलियो के अनुसार चर्च के कानून की कोई सत्ता नही है क्योकि यहाँ केवल दो ही तरह के कानून हैं—परलोक में लागू होने वाला ईश्वरीय कानून और इस लोक मे लागू होने वाला मानवीय कानून। ईश्वरीय कानून के उल्लघन का दण्ड ईश्वर द्वारा परलोक मे मिलता है; अतः पोपो के लिए मनुष्यो को दण्डित करने का अधिकार नही है। पाप-पुण्य का निर्णायक और दण्डदाता ईश्वर है, पोप और पादरी तो उसके नौकर जैसे हैं।

मार्सीलियो ने यह भी कहा कि चर्च के पास अपनी कोई सम्पत्ति नही होती। जो भी धार्मिक सम्पत्ति उसके पास होती है वह अनुदान अथवा राज-सहायता के रूप मे आती है। राज्य द्वारा चर्च को दी जाने वाली सहायता सार्वजनिक उपासना के व्यय रूप में होती है। पादरियो को, भरण-पोषण के लिए जितना आवश्यक है, उससे अधिक नही रखना चाहिए। वह धार्मिक सम्पत्ति और धार्मिक पदो पर लौकिक अधिकारियो के नियन्त्रण का पक्षपाती है। धर्माचार्यों को धार्मिक कार्य करने के लिए तब बाध्य किया जा सकता है जब तक उन्हे आजीविका प्राप्त होती रहती है। लौकिक शासन पोप से लेकर नीचे तक के प्रत्येक पदाधिकारी को पदच्युत कर सकता है।

स्पष्ट है कि मार्सीलियो राज्य पर चर्च की प्रभुता का सबसे अधिक उग्र विरोधी था। वह पोप को प्रभुता के दावे को ठुकराने का सबसे बडा मार्ग यही मानता था कि चर्च को राज्य के अधीन बना दिया जाए और उसको विवशकारी शक्ति (Coercive force) से वचित कर दिया जाए।

पोप विरोधी विचारो के कारण मार्सीलियो के ग्रन्थ को प्रसिद्धि मिली और इसकी लोकप्रियता बढी। कुछ वर्ष बाद ही एविग्नोन और रोम मे दो विरोधी पोपो का उदय हुआ और चर्च फूट से क्षीण होने लगा। उस समय विचारको का ध्यान

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 274.

मार्सीलियो द्वारा प्रतिपादित चर्च की सामान्य परिषद् की ओर गया जिसने परिषदीय आन्दोलन (Conciliar Movement) को बल प्रदान किया।

मार्सीलियो का मूल्यांकन

मार्सीलियो एक बहुत सूझ-बूझ वाला, दूरदर्शी और मौलिक विचारों से सम्पन्न प्रतिभाशाली विचारक था जिसे अरस्तू के बाद पाश्चात्य राजदर्शन का बहुत ही सम्मानित विद्वान माना जाता है। मार्सीलियो ने राज्य पर चर्च की प्रभुता का विरोध करके अपनी यथार्थवादी बुद्धि का परिचय दिया। 14वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सामन्तवादी राजनीतिक शृंखलाओं से जकड़ी हुई यूरोप की जनता को उसने जन-प्रभुसत्ता और प्रतिनिधित्व शासन-व्यवस्था के विचार दिए जिन्हें आज के युग में सर्वत्र मान्यता प्राप्त है। मार्सीलियो ने चर्च संगठन के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किए उन्हें 16वीं शताब्दी के धर्म सुधार के उपरान्त सामान्यतया स्वीकार किया जाने लगा। वास्तव में मार्सीलियो ने अपने समय में अनेक आधुनिक विचारों को प्रस्तुत किया और इसलिए उसे 'आधुनिक राजनीतिक विचारक' का सम्मानित पद दिया जाता है। एबन्स्टीन के शब्दों में, "मार्सीलियो निश्चित रूप से आधुनिक है क्योंकि उसने बड़े सचेतन रूप से अपने युग की शृंखलाओं को तोड़ने का प्रयास किया है।"[1] मार्सीलियो का महत्त्व इस बात में भी है कि उसकी कृतियों में अरस्तू और यूनानी विचारधारा का पुनरुत्थान हुआ।

विलियम ऑफ ओकम
(William of Occam)

14वीं शताब्दी में पोपशाही के विरुद्ध राज्य की स्वतन्त्रता का अपने समसामयिक मार्सीलियो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से समर्थन करने वाले विलियम का जन्म 1290 के लगभग हुआ और उसकी मृत्यु 1347 के निकट हुई। ओकम निवासी विलियम एक अंग्रेज था। उस पर अपने गुरु डन स्काट्स (Duns Scotts) का बड़ा प्रभाव पड़ा। वह पहले अध्यापन कार्य में लगा किन्तु बाद में सक्रिय राजनीति में उतर आया। 'फ्रांसिसकन सम्प्रदाय' (Franciscan Order) का सदस्य बन जाने के कारण और अस्तेय सिद्धान्त का हामी होने के कारण उसे पोप का कोप-भाजन बनना पड़ा जिसने उसे धर्म-बहिष्कृत कर दिया। मार्सीलियो के समान ही उसके विचारों में भी पोप के क्रोध से कोई परिवर्तन नहीं आया। मार्सीलियो के समान वह भी लुई के दरबार में गया और लगभग 8 वर्ष तक वहाँ रहा।

1330 से 1349 के मध्य उसने अनेक लेख लिखे जो अधिकांशतः वैज्ञानिक आधार पर थे। उसके राजनीतिक ग्रन्थों में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'Dialogues' तथा 'Decision Upon Eight Questions Concerning the Power of the Supreme Pontiff' थे। उसके लेखों का मुख्य उद्देश्य पोप का विरोध करना था, यद्यपि आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति अपने महान् अनुराग के कारण इस सम्बन्ध में वह मार्सीलियो की अपेक्षा अधिक उदार था।

विलियम का मुख्य उद्देश्य किसी राजनीतिक दर्शन का निर्माण करना नहीं

1 "Marsilio is essentially modern, because he seeks so consciously to break the fetters of his age."
—*Ebenstein : op. cit.*, p. 261.

था। मुख्य रूप से वह एक तार्किक और धर्मशास्त्री था। राज्य के किसी क्रमबद्ध 'दर्शन का निर्माण न करने के कारण ही उसके विचार मार्सीलियो की अपेक्षा कम सिद्धान्तकारी थे। अरस्तू के विचार दर्शन का उस पर प्रभाव पड़ा और आजीवन वह एक स्कॉलस्टिक धर्मशास्त्री बना रहा।

विलियम के पोप विरोधी विचार

विलियम ऑफ ओकम पोप की निरंकुश सत्ता का कट्टर शत्रु था। उनके विचार का आधार यह था कि महत्त्वपूर्ण शक्ति उस उद्देश्य द्वारा सीमित होती है जिसके लिए वह दी जाती है, अतः यह न्याय सगत है कि उस शक्ति का प्रयोग सामान्य कल्याण के लिए किया जाए और ऐसा करने मे बुद्धि तथा स्वाभाविक न्याय का पूर्ण ध्यान रखा जाए। पोप और सम्राट के सघर्ष मे और उनके मध्यवर्ती सम्बन्ध निर्धारण मे उसने यथासम्भव इसी सिद्धान्त का पालन किया।

विलियम ने धर्मसत्ता और राजसत्ता के परम्परागत भेद को स्वीकार करते हुए स्पष्ट मत प्रकट किया कि पोप का अधिकार केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित है, उसे लौकिक मामलो मे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही है। उसने पोप जॉन 22वें द्वारा लौकिक 'विषयो मे किए जाने वाले हस्तक्षेप को अन्यायपूर्ण चेष्टा माना और पोप को शासनात्मक शक्तियो से बिलकुल अलग रहते हुए केवल प्रबन्धात्मक शक्तियो से विभूषित किया। उसने कहा कि यदि पोप राजसत्ता के कार्यों मे हस्तक्षेप करता है तो उसके आदेशो की अवज्ञा की जा सकती है। लौकिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप की बात तो दूर रही, आध्यात्मिक क्षेत्र मे वह धर्म ग्रन्थो की अवहेलना नही कर सकता। विलियम ने पोप की निरकुशता को एक नई और धर्म विरोधी चीज बतलाया। ईसा ने पीटर को चर्च का अध्यक्ष नियुक्त करके उमे राजनीतिक एवं धार्मिक विषयो मे कोई निरकुश शक्ति प्रदान नही की थी, बल्कि उसकी निश्चित सीमाएँ निर्धारित की थीं। राजाओं, राजकुमारो और अन्य व्यक्तियों के अधिकार पोप द्वारा नष्ट किए जा सकते थे। पोप का क्षेत्र सेवा का था, शक्ति का नही।

विलियम ने भी पादरियो की धन-पिपासा की निन्दा की। भौतिक सम्पत्ति पर स्वामित्व से चर्च आध्यात्मिक क्षेत्र से पतित होकर सांसारिक भावनाओं मे लिप्त हो जाता है। राज्य को चाहिए कि वह चर्च की सम्पत्ति और अन्य सम्पत्ति मे कोई अन्तर न रखते हुए आवश्यकतानुसार चर्च की सम्पत्ति पर कर लगाए और उसे अपने अधिकार मे ओ ले ले। राजकीय नियमो को मग करने पर पोपो और पादरियो का निर्णय भी उन्ही न्यायालयो मे होना चाहिए जिनमे अन्य नागरिको का निर्णय होता है।

विलियम यह स्वीकार करता था कि प्रत्येक सत्ता स्वतन्त्रता का उपभोग करने के साथ एक दूसरे की गल्तियो को भी सुधार सकती है। उसका विचार था कि यदि दोनो सत्ताएँ दैवी तथा प्राकृतिक विधि द्वारा निर्धारित अपनी-अपनी सीमाओ के अन्तर्गत कार्य करें तो वे एक दूसरे को सहारा दे सकती और हिल-मिल कर रह सकती हैं। युग की परिस्थितियों ने उसे यह लिखने को विवश कर दिया था कि पोप की स्वेच्छाचारी शक्ति के ऊपर कुछ प्रतिनिधिक नियन्त्रण रहना

चाहिए। तथापि, यदि कोई सच्चा पोप हो, तो उसके हाथ में विशाल स्वविवेकी शक्तियाँ भी रह सकती हैं। दूसरे शब्दो मे, दोनो क्षेत्राधिकारों का कानूनी भेद उसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण नही लगा। उसके लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न न्यायिक नही, प्रत्युत धार्मिक थे।

सामान्य सभा के सिद्धान्त का प्रतिपादन

चर्च मे पोप की अनियन्त्रित शक्ति पर रोक लगाने के लिए विलियम ने सामान्य सभा (General Council) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसकी दृष्टि मे पोप की शक्ति पर यह एक सर्वाधिक उपयुक्त रोक थी। उसने कहा कि सामान्य परिषद् का निर्माण अप्रत्यक्ष रूप मे होना चाहिए। एक पेरिश (Parish) मे रहने वाले ईसाई डायोसीज (Diocese) के निर्वाचक मण्डल के लिए अपने प्रतिनिधि चुनेंगे। डायोसीज के सदस्य प्रान्तीय कौंसिलों के सदस्यो को और प्रान्तीय कौंसिलो के सदस्य सामान्य सभा के सदस्यो का निर्वाचन करेंगे। सामान्य सभा मे पादरियो और जनसाधारण दोनो ही के प्रतिनिधियों का होना आवश्यक है। उसने इस सम्बन्ध में स्त्रियो को भी पुरुषो के समान अधिकार प्रदान किए। इस सभा को धर्मग्रन्थो की व्याख्या करने, धर्म-बहिष्कृत करने, विवाद-ग्रस्त प्रश्नों पर निर्णय देने एवं धर्म विमुख पोप को अपदस्थ करने के अधिकार दिए गए।

सम्राट की शक्तियो का विवेचन

साम्राज्य सम्बन्धी विवेचन करते हुए विलियम ने यह नही माना कि 'सम्राट की शक्ति पोप से प्राप्त होती है, राज्याभिषेक के संस्कार से उसकी विधि सगत सत्ता मे वृद्धि होती है और निर्वाचन के सम्बन्ध मे पोप की स्वीकृति आवश्यक होती है।' उसके मत से 'सम्राट की शक्ति निर्वाचन से प्राप्त होती थी। निर्वाचन मण्डल जनता के स्थान पर था और उसका प्रतिनिधि था।' विलियम ने सम्राट की शक्ति को सीमित भी करना चाहा। सम्राट को चर्च मे सुधार करने की दृष्टि से हस्तक्षेप की व्यापक शक्तियाँ देने के साथ ही यह मत भी प्रकट किया कि सम्राट को इन शक्तियो का प्रयोग केवल असाधारण स्थितियो मे ही करना चाहिए। सम्राट का कर्त्तव्य अपने शासन को न्यायशील और प्रजा के लिए उपयोगी बनाना है। सम्राट को चाहिए कि वह ईश्वरीय इच्छा स्वाभाविक विवेक एवं न्याय के आदेश के अनुसार अपने कर्त्तव्य निभाए और राष्ट्रो के सामान्य कानूनो का आदर करे। सम्राट की मनमानी शक्ति का भी वह उतना ही विरोधी था जितना कि पोप की शक्ति का। उसका उद्देश्य राजसत्ता और पोपसत्ता दोनो को नियन्त्रित रखना था।

मार्सीलियो के समान विलियम भी अन्तिम शक्ति जनता मे ही केन्द्रित मानता था। उसने राजतन्त्र को श्रेष्ठ शासक माना था। निरंकुश राजतन्त्र, अत्याचारी राजतन्त्र और शुद्ध राजतन्त्र मे वह अन्तिम अर्थात् शुद्ध राजतन्त्र का समर्थक था।

विलियम ऑफ ओकम की मृत्यु के साथ ही चर्च और राज्य के ऐतिहासिक संघर्ष की भी इतिश्री हो गई।

8 परिषदीय आन्दोलन

(The Conciliar Movement)

मार्सीलियो की मृत्यु के उपरान्त लगभग 150 वर्ष के संक्रमण-कालीन युग मे घटित अनेक महत्वपूर्ण घटनाओ मे सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना थी पोपशाही का ह्रास और चर्च परिषदों का उदय अर्थात् चर्च शासन के परिषदीय सिद्धान्त (Conciliar Theory) का विकास।

परिषदीय आन्दोलन : सिद्धान्त, प्रादुर्भाव के कारण एवं उद्देश्य
(The Conciliar Movement : Theory, Causes and Purposes)

परिषदीय सिद्धान्त को दो अवस्थाओ मे विभक्त करना उचित होगा। प्रथम अवस्था वह थी जिसमे जॉन ऑफ पेरिस, मार्सीलियो ऑफ पेडुआ, विलियम ऑफ ओकम आदि विचारकों ने कहा कि चर्च की अन्तिम शक्ति का निवास सामान्य परिषद् (General Council) मे है। द्वितीय अवस्था मे परिषदीय सिद्धान्त ने साकार रूप ग्रहण किया और चर्च के शासन का क्या रूप हो ? समस्या का हल करने के लिए तीन परिषदें बुलाई गई। ये परिषदें पीसा की परिषद्, कोंसटेन्स की परिषद् और बेसिल की परिषद् के नाम म विख्यात हैं। इस द्वितीय चरण के प्रमुख नेता गर्सन (Gerson), पियरी डे-अली (Pierre D'Ally) एव निकोलस ऑफ क्यूसा (Nicholas of Cusa) थे। यह परिषदीय आन्दोलन 15वी शताब्दी से प्रारम्भ होकर लगभग अर्द्ध-शताब्दी तक बहुत ही प्रबल रहा।

परिषदीय आन्दोलन के मौलिक सिद्धान्त

1. चर्च की प्रभुसत्ता सामान्य परिषद् (General Council) मे निहित है, पोप मे नहीं। इसलिए चर्च का सगठन एव शासन इस तरह होना चाहिए कि वास्तविक शक्ति की अधिकारिणी सामान्य परिषद् रहे।

2. पोप चर्च का प्रशासक मात्र है, कानून का सृष्टा नही, क्योकि चर्च के लिए कानून निर्माण का अधिकार केवल चर्च की परिषद् को है और पोप उन कानूनो के अधीन है।

3. सामान्य परिषद् चर्च की प्रतिनिधि सस्था है, अत: उसका पोप पर अधिकार रहता है न कि पोप का उस पर।

4. पोप की आज्ञप्तियाँ सदैव ही मान्य नहीं हैं। यदि उन्हें मान्य होना है तो उन्हे लोगों के अधिकारो को ध्यान मे रखना चाहिए। कानून का आधार जन-सहमति है और पोप की आज्ञाओ का कानून की तरह तभी पालन हो सकता है जब उन पर चर्च की सामान्य परिषद् की स्वीकृति की मुहर हो। पोप को अपने अधिकारों का अतिक्रमण नही करना चाहिए।

5. चर्च की परिषद् सर्वोच्च शक्ति सम्पन्न है। वह एक पूर्ण समाज है जिसके पास स्वय को शुद्ध रखने के साधन हैं। अपनी शुद्धता बनाए रखने के लिए वह चरित्रहीन एवं नास्तिक पोपों को अपदस्थ कर सकती है।

6. पोप मनुष्य है, अतः भूल करना उसके लिए अस्वाभाविक नहीं है। वह पापी हो सकता है।

7. धार्मिक विषयो मे अन्तिम निर्णायक शक्ति सामान्य परिषद् की होनी चाहिए न कि पोप की।

8. पोप प्राकृतिक विधि की अवहेलना नहीं कर सकता क्योंकि प्राकृतिक विधि का स्थान उसके व्यक्तिगत कानूनों से ऊँचा है। प्राकृतिक विधि ही उसकी सत्ता का स्रोत है।

9. पोप भू-तल पर चर्च का प्रतिनिधि (Vicar) है, ईसा अथवा पीटर का नही। पोप के अभाव मे विश्व का उद्धार हो सकता है लेकिन चर्च के अभाव मे मे नही।

परिषदीय सिद्धान्त को अत्यन्त सुगठित रूप मे सेबाइन ने प्रस्तुत किया है। उन्ही के शब्दो मे—

परिषदीय सिद्धान्त का सार यह था कि चर्च का सम्पूर्ण निकाय, ईसाई धर्मावलम्बियो का सम्पूर्ण समुदाय अपनी विधि का स्वयं स्रोत है। पोप तथा अन्य धर्माचार्य उसके अग या सेवक है। चर्च का अस्तित्व दैवी तथा प्राकृतिक विधि के कारण है। उसके शासक प्राकृतिक विधि के तो अधीन हैं ही, वे चर्च के अपने सगठन अथवा जीवन की विधि के भी अधीन हैं। यह सही है कि उन्हे इस विधि की सीमाओ के भीतर रहना चाहिए। उनके ऊपर धर्म सगठन के अन्य अगो का भी नियन्त्रण रहना चाहिए। चर्च को अपनी धर्माज्ञप्तियाँ, सलाह और अनुमोदन के लिए एक प्रतिनिधिक सस्था के सामने पेश करनी चाहिए जिससे कि उन्हें चर्च स्वीकार कर सके। यदि वह ऐसा नही करता है और अपने पद के अधिकार से अधिक शक्तियाँ ग्रहण करता है तो उसे न्यायतः अपदस्थ किया जा सकता है। पदच्युति के आधार अस्पष्ट थे। सबसे प्रबल आधार और ऐसा आधार जिसे परिषदीय सिद्धान्त के समर्थक दुराग्रही पोप के ऊपर लागू करने का प्रयास करते, विधर्मिता का था। कुछ लेखको का कहना था कि पोप को अन्य आधारो पर भी पदच्युत किया जा सकता है। इस बात को सब मानते थे कि सामान्य परिषद् (General Council) पोप को पदच्युत कर सकती है। लेकिन जॉन ऑफ पेरिस की

तरह कुछ लोग यह भी मानते थे कि कॉलेज ऑफ कॉर्डिनल्स (College of Cardinals) भी ऐसा कर सकता है। परिषदीय सिद्धान्तो के समर्थकों के लिए आदर्श शासन प्रणाली मध्य युग का संवैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) जिसके अन्तर्गत अनेक जागीरें हुआ करती थी, अथवा धार्मिक सम्प्रदायो का सगठन था। इन समस्त धार्मिक सगठनो के प्रतिनिधि एक परिषद् के लिए निर्वाचित होते थे। यह परिषद् सम्पूर्ण चर्च का प्रतिनिधित्व करती थी। यदि परिषदीय सिद्धान्त को व्यावहारिक शासन का रूप धारण करना था तो उसे या तो एक स्थाई सामान्य परिषद् का रूप धारण करना पड़ता या कॉलेज ऑफ कार्डिनल्स को मध्य-युगीन ससद् के रूप मे बदलना पडता। लेकिन, इनमे से कोई भी योजना व्यावहारिक नही थी।[1]

मुख्य प्रश्न यह था कि अन्तिम निर्णय पोप के हाथ मे है अथवा परिषद् के। मध्ययुगीन राजतन्त्र की भाँति परिषदीय सिद्धान्त का अनिवार्य विचार यह था कि चर्च अथवा समाज स्वायत्तशासी है उसकी शक्ति पूरे समाज मे निहित है। लेकिन सम्पूर्ण निकाय का कोई राजनीतिक अस्तित्व नही था। वह अपने एक अथवा एक से अधिक अगो द्वारा ही मुखरित हो सकता था। परिषदीय सिद्धान्त किसी एक अग के पास अन्तिम निर्णय की शक्ति होने के विरुद्ध था। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तिम शक्ति सम्पूर्ण चर्च मे निहित थी। उसके प्रत्येक अग अथवा किसी अग विशेष मे नहीं। पोप परिषद् अथवा कॉलेज ऑफ कॉर्डिनल्स आदि सम्पूर्ण चर्च की सृष्टि थी, अतः इस अवस्था मे उसके अगागी (Co-ordinate) थे। यदि वे अंगागी नही थे, तब भी एक अग की शक्ति दूसरे को स्पष्ट रूप से प्रदत्त नही थी, सबके पास दूसरो की तुलना मे अन्तर्निहित शक्ति थी, यद्यपि सब अपनी शक्ति सम्पूर्ण समाज से प्राप्त करते थे।

सेबाइन के शब्दो मे—"परिषदीय सिद्धान्त के प्रतिपादको का विचार था कि वे परिषद् को चर्च शासन के एक ऐसे अभिन्न अग के रूप मे स्थापित करें जो पोप की स्वेच्छाचारी शक्ति के आधार पर उत्पन्न होने वाली बुराइयो को दूर कर सके। उनका व्यावहारिक उद्देश्य सघ भेद जैसे दुष्परिणामो को, जो अनियन्त्रित शक्ति के कारण उत्पन्न हो गए थे, रोकना तथा दूर करना था। कुछ उग्रवादियो का तो यहाँ तक कहना था कि पोप सत्ता को परिषद् की सत्ता से निकाला हुआ माना जाए। लेकिन नियमतः वह समझते थे कि चर्च की शक्ति का पोप और परिषद् दोनों ही मिल कर प्रयोग करते हैं। उनका उद्देश्य कदापि यह नही था कि साधारण प्रयोजनों के लिए पोप के पद मे निहित राजतन्त्रात्मक शक्ति को नष्ट कर दिया जाए, सक्षेप में उनका दृष्टिकोण सामन्ती विधि-वेत्ताओ की भाँति था। पोप के विरुद्ध कोई रिट (Writ) जारी नही की जा सकती थी, लेकिन असाधारण परिस्थितियो मे पोप से यह कहा जा सकता था कि वह परिषद् के सम्मुख उपस्थित

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 293-94.

हो। यदि पोप ऐसा न करता तो उसकी निन्दा भी की जा सकती थी। परिषद् पोप की शक्ति के दुरुपयोग को ठीक कर सकती थी। यह कुछ इस तरह था जैसे कि ब्रेक्टन (Bracton) के शब्दों मे देश के प्रतिनिधि राजा से जवाबदेही कर सकते थे। परिषद् सम्पूर्ण चर्च की प्रतिनिधि सस्था थी। इस कारण चर्च के अगों मे उसका सबसे ऊँचा स्थान था। किन्तु परिषद् के कार्य मुख्यतः नियामक थे। यह विचार नहीं था कि परिषद् उनका अतिक्रमण करे अथवा उनको अपना एजेन्ट बना ले। विचार कुलीनतन्त्र द्वारा नियन्त्रित ऐसे राजतन्त्र का था जिसमे सत्ता सम्पूर्ण चर्च मे निहित रहती है और उसका प्रयोग उसके प्रतिनिधिक अग समान रूप से करते हैं। प्रत्येक अग का यह अधिकार और कर्त्तव्य था कि वह दूसरे अगो को अपने स्थान पर रखे। लेकिन वह सभी अग सम्पूर्ण सस्था की संगठनात्मक विधि (Organic Law) के अधीन थे।"[1]

परिषदीय आन्दोलन के प्रादुर्भाव के कारण

(1) इस आन्दोलन का पहला प्रमुख कारण ईसाई चर्च की महान् फूट (Great Schism) था। सघर्ष-भेद अथवा फूट की यह स्थिति 1378 से 1417 ई. तक चर्च और पोपों की शक्ति एव प्रतिष्ठा को निरन्तर क्षीण बनाती रही। 1378 ई मे पोप ग्रेगरी एकादश (Pope Oregary XI) के मरने पर रोमन जनता के विशेष दबाव से निर्वाचन करने वाले अधिकांश कार्डिनलों ने इटली निवासी अर्बन षष्ठ को पोप चुना। किन्तु फ्रांस ने इसे स्वीकार नहीं किया। फ्रेंच राजा फिलिप ने पोप ग्रेगरी एकादश के चुनाव को अवैध घोषित करते हुए फ्रांसीसी धर्माधिकारी को क्लीमेण्ट सप्तम् के नाम से पोप-पद पर नियुक्त करा लिया जो एविग्नोन मे रहने लगा। इस तरह अब एक की जगह दो पोप हो गए—एक रोम मे और दूसरा एविग्नोन मे। दोनो ही अपने को वास्तविक और न्याय सम्मत पोप बताने लगे। प्रत्येक ने स्वय को ईसा का प्रतिनिधि घोषित किया और प्रधान चर्च का होने के नाते उस प्रभुता का स्वामी होने का दावा किया जिसका उपभोग पोप ग्रेगरी सप्तम्, इन्नोसेण्ट तृतीय एव इन्नोसेण्ट चतुर्थ जैसे शक्तिशाली पोपों ने किया था। दोनों ही पोपों ने परस्पर एक दूसरे को धर्म से बहिष्कृत किया। दोनों ने अपने पृथक्-पृथक् कार्डिनल विशप एव चर्च के अन्य अधिकारियों को नियुक्त किया। इस घटना से चर्च में गम्भीर फूट पड़ गई और सम्पूर्ण ईसाई समाज दो पक्षों मे विभाजित हो गया। फ्रांस और उसके मित्र देश—स्कॉटलैण्ड, सेवाय, स्पेन, पुर्तगाल आदि एविग्नोन के पोप का समर्थन करने लगे। इटली एव फ्रांस के शत्रु देश—जर्मन, इग्लैण्ड, हगरी, पोलैण्ड, स्केन्डिनेवियन आदि देश रोम के पोप के समर्थक थे। इन परिस्थितियों में प्रतिद्वन्द्वी पोपों के दावों के औचित्य पर वाद-विवाद होने लगा और यह प्रश्न उठाया गया कि क्या कोई ऐसी उच्चतर लौकिक शक्ति है जो चर्च के विवादों को निपटा सके। इस दृष्टि से और चर्च मे एकता स्थापित करने के लिए

[1] सेबाइन . राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 295-96.

दोनो पक्षो के कुछ कार्डिनलों द्वारा इटली के पीसा (Pisa) नामक स्थान पर चर्च की एक परिषद् बुलाई गई। इस परिषद् ने दोनों पोपों को अपदस्थ करके उनकी जगह एक नए पोप का निर्वाचन करके फूट को समाप्त करना चाहा। किन्तु दोनो पोपो ने हटने से इन्कार करते हुए नए पोप को स्वीकार नही किया। अत: परिषद् के निर्णय का परिणाम यह हुआ कि दो की जगह तीन पोप हो गए और चर्च मे विवाद पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गया। इन विवादो को हल करने के लिए चर्च की सामान्य परिषद् के सिद्धान्त पर बल दिया जाने लगा तथा बाद मे अनेक परिषदो को आमन्त्रित किया गया।

(2) परिषदीय आन्दोलन का दूसरा कारण यह था कि तत्कालीन पोपो और चर्च का भीषण नैतिक पतन हो चुका था। अतः स्वाभाविक था कि पादरियो और जनसाधारण मे चर्च तथा पोप के विरुद्ध विक्षोभ की लहर दौड गई। उनकी बुराइयों को दूर करके सुधार के साधन के रूप मे सामान्य परिषद् के विचार को बल मिलने लगा। विक्लिफ (Wycliff) तथा हस (Huss) ने चर्च की कमियो तथा पोपो के भ्रष्ट जीवन को जनता के सामने रखा। उनके लेखों ने एक प्रकार की क्रान्ति मचा दी।

(3) पोप की निरकुश शक्ति राजसत्ता और प्रभुसत्ता दोनो के समर्थको के लिए ईसाई और गैर-ईसाई चर्च के अधिकारियो के लिए, सामान्य ईसाइयों के लिए-अर्थात् सभी के लिए भारी सिरदर्द बन चुकी थी। उसके निरकुश कार्यों पर चर्च मे कोई प्रतिबन्ध नही था। उसका शब्द ईश्वरीय आदेश था वह स्वर्ग और नरक का दाता था। अत ईसाई और गैर-ईसाई सभी पक्ष पोप के निरकुश अकुश से छुटकारा पाने और किसी आध्यात्मिक सस्था अथवा कम-से-कम किसी प्रतिनिधि सस्था के आश्रित होने को इच्छुक थे। पोप के निरकुश शक्ति-प्रयोग की प्रतिक्रिया ने परिषदीय आन्दोलन को सबल बनाया और इस आन्दोलन के सगठन मे जनता की सहानुभूति मिली।

(4) पोप अपार सम्पत्ति का स्वामी था और उसका जीवन ऐश-आराम और विलास-वैभव का था। थॉम्पसन के अनुसार 1250 मे पोप की आय यूरोप के लगभग सभी राजाओ की आय के योग से भी अधिक थी। चर्च की अपार सम्पत्ति को व्यय करने का अधिकार पोप को था और उस पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण धर्म विरुद्ध तथा प्रभु ईसा की इच्छा के विरुद्ध समझा जाता था। बहुत से पक्ष पोप के इस विलासी जीवन से रुष्ट थे, अतः जब चर्च के सुधार का प्रश्न उठा तो पोप की सम्पत्ति के सही उपयोग की समस्या उठ खडी हुई।

(5) जॉन गर्सन, मार्सीलियो, विलियम ऑफ ओकम, दाँते वाइक्लिफ, हस आदि ने पोप और चर्च की अनैतिकताओ और अनियो की निर्भीकतापूर्वक आलोचना की और कहा कि पोप भी एक मनुष्य ही है जिसमे कमियाँ तथा दुर्बलताओ का होना स्वाभाविक है। अत उसकी शक्तियो पर समुचित नियन्त्रण लगाया जाना चाहिए और ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि वह यूरोप की राष्ट्रीय एकता मे

बाधा न बन सके । यह विचार प्रस्तुत किया गया कि धर्म की एक सामान्य परिषद् द्वारा ही पोप पर समुचित नियन्त्रण की स्थापना सम्भव है । इस परिषद् में धार्मिक व्यक्ति और चर्चों का समुचित प्रतिनिधित्व होगा, फलस्वरूप, निरंकुश शासन की समाप्ति हो जाएगी । इस प्रकार के विचार परिषदीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि बने और कालान्तर में यह सोचा जाने लगा कि परिषद् का संगठन और चुनाव कैसे किया जाए ।

(6) राष्ट्रीयता के वेग के साथ लोगों में चर्च के प्रति अन्ध आस्था कम होने लगी और दूसरी ओर राजभक्ति की भावनाएँ बढ़ने लगी । राजसत्ता को चर्च के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का मौका मिला और एक बार जब धर्मसत्ता और राजसत्ता के बीच सन्तुलन बिगड़ा तो परिषदीय आन्दोलन को गति मिली । राजाओं ने इस आन्दोलन का सामयिक लाभ उठाने की नीति अपनाई ।

(7) राजसत्ता में प्रतिनिधित्व की भावना का सम्मान बढ़ता गया । इंग्लैंड में पार्लियामेन्ट तथा फ्रांस में स्टेट्स जनरल के निर्माण से प्रतिनिधित्व की धारणा का प्रसार हुआ और सामन्तवादी शक्तियाँ सामूहिक प्रतिनिधित्व धारण करने लगी। जब राजसत्ता में प्रतिनिधित्व की भावना ने पैर जमाए तो धर्म-सत्ता भी इस भावना से अछूती न रह सकी। धार्मिक क्षेत्र में भी प्रतिनिधि सरकार बनाने के सुझाव का स्वागत किया जाने लगा, क्योंकि इस सुझाव में पोप की निरंकुशता को नियन्त्रित करने का एकमात्र प्रभावशाली उपाय निहित था । बिशपों और अन्य धर्माधिकारियों में यह विचार बल पकड़ता गया कि एक व्यक्ति विशेष अर्थात् पोप की अपेक्षा एक समूह में कम भूल और कम निरंकुशता की गुन्जाइश है । इस विचार को अधिकाधिक स्वीकार किया जाने लगा कि सत्ता चाहे वह राजनीतिक हो या धार्मिक-सार्वजनिक है अतः किसी एक व्यक्ति द्वारा उसका अपहरण नहीं किया जा सकता ।

(8) उत्तर मध्य-युग में यूनानी विचारधारा का प्रभाव परिलक्षित हुआ और यूनान का अरस्तू यूरोप में पुनः जागृति का सन्देश देने लगा । पोपवाद अरस्तू के विकासवादी सिद्धान्त के अनुरूप नहीं था और न ही तार्किक बुद्धि के अनुरूप । जब अन्धविश्वास और अन्ध मान्यताओं की विवेक और बुद्धि से सीधी टक्कर होने लगी तो पोपवाद के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन उठ खड़ा हुआ । इस प्रकार यूनानी चिन्तन के प्रभाव ने परिषदीय आन्दोलन को आधार-भूमि प्रदान की ।

मार्सीलियो, विलियम आदि ने चर्च की सामान्य परिषद् के सिद्धान्त का प्रतिपादन किसी व्यावहारिक समस्या को सुलझाने के लिए नहीं बल्कि पोपशाही के सिद्धान्त का उत्तर देने के लिए किया था और इसीलिए यह एक सार्वजनिक आंदोलन का रूप ग्रहण नहीं कर सका था । किन्तु चर्च की महान् फूट, पोपों के विलासी जीवन, उनके निरंकुश शक्ति-प्रयोग आदि ने इसे एक सार्वजनिक आन्दोलन बना दिया ।

परिषदीय आन्दोलन के उद्देश्य

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख उद्देश्य अग्रलिखित थे—

(1) चर्च की फूट को दूर करके उसमे एकता का सचार करना।

(2) चर्च मे व्याप्त भ्रष्टाचार को रोकना और उसका निवारण करना तथा चर्च की पूर्वकालीन प्रतिष्ठा को प्राप्त करना।

(3) पोप की निरंकुशता को मिटाकर उसकी प्रभुता का स्थान चर्च की सामान्य परिषद् को देना और इस तरह चर्च-प्रशासन मे एक नई व्यवस्था करना।

(4) चर्च की अपार सम्पत्ति पर समुचित नियन्त्रण स्थापित करते हुए धार्मिक कार्यों के लिए उसके सदुपयोग की गारण्टी करना।

सारांशतः परिषदीय आन्दोलन चर्च के नैतिक ह्रास को रोककर उसके पूर्वकालीन गौरव की पुनः स्थापना करना चाहता था।

परिषदें
(The Councils)

अपने उद्देश्यो और सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप देने के लिए आन्दोलन कर्ताओं ने पीसा, कान्सटेन्स तथा बेसिल की परिषदें बुलाईं।

(1) **पीसा की परिषद् (The Council of Pisa)**—1409 ई. मे पीसा मे बुलाई गई इस परिषद् को न तो सम्राट ने ही आमन्त्रित किया था और न ही पोप ने। केवल दोनो पक्षो के बहुत से कार्डिनल और बिशप पत्र-व्यवहार द्वारा पीसा मे एकत्रित हो गए और इस सम्मेलन को उन्होंने चर्च की परिषद् घोषित कर दिया। परम्परा के अनुसार ऐसी धार्मिक सभाओं को तो पोप स्वय आमन्त्रित करता था अथवा राजा द्वारा भी ये बुलाई जाती थी। पीसा की परिषद् की वैधानिकता को सिद्ध करते हुए जॉन गर्सन ने तर्क दिया कि चर्च की फूट का अन्त करने के लिए पोप इस प्रकार की परिषद् बुलाने मे असफल रहा है, अत आपात्कालीन स्थिति मे पोप द्वारा परिषद् बुलाए जाने के नियम को भग करते हुए दूसरे तरीके से सामान्य परिषद् को समवेत करना वैधानिक है। जॉन गर्सन ने कहा कि इस प्रकार समवेत की गई परिषद् चर्च के विवाद को समाप्त करने के लिए सत्ता स्वय प्राप्त कर सकती है।[1]

पीसा की परिषद् मे 26 कार्डिनल, 4 पैट्रिआर्क, 12 आर्कबिशप, 80 बिशप तथा बड़ी सख्या मे अन्य धर्माधिकारी और हगरी, नेपल्स, स्पेन, स्केन्डिनेविया तथा स्कॉटलैण्ड को छोड़कर अन्य सभी यूरोपीय राज्यो के दूत एकत्र हुए। यूनान और रूस के रूढ़िवादी चर्च का इस परिषद् मे कोई प्रतिनिधित्व नही था। परिषद् के सामने प्रमुखतम समस्या पोप की स्थिति की थी क्योंकि इस समय यूरोप मे दो पोप थे—प्रथम, रोम मे और द्वितीय, एविग्नोन मे। परिषद् ने सर्वप्रथम तो स्वय को ईसाई सघ की सर्वोच्च वैधानिक शक्ति घोषित किया और तत्पश्चात् दोनो प्रतिद्वन्द्वी पोपो बेनेडिक्ट और ग्रेगरी को परिषद् के सामने उपस्थित होने का सन्देश भेजा। जब दोनो पोप उपस्थित नही हुए तो परिषद् ने उन्हे अपदस्थ करके उनके स्थान पर

1 *Will Durant* : The Renaissance, p. 364.

मिलान के कार्डिनल को पोप निर्वाचित किया तथा उसे पोप एलेक्जेण्डर पचम् का नाम दिया। परिषद् ने निर्णय किया कि 1412 के पूर्व ही यह नया पोप सामान्य परिषद् का सम्मेलन आयोजित करे।

पीसा की परिषद् चर्च की फूट शान्त करने के लिए आयोजित हुई थी, पर परिणाम उलटा निकला। चूँकि दोनों पोपों ने स्वेच्छापूर्वक हटने से इन्कार कर दिया और उधर परिषद् ने एक नया पोप चुन लिया, अतः अब दो के स्थान पर तीन पोप हो गए और ईसाई सघ मे तीन गुट बन गए। परिषद् के निर्णयो ने स्थिति को और भी अधिक उलझा दिया। पोप एलेक्जेण्डर पचम् की 1410 में मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी जॉन तेईसवें ने परिषद् की बैठक आमन्त्रित करने मे जान-बूझकर टालमटोल की।

(2) कॉन्सटेन्स की परिषद् (The Council of Constance)—परिषदीय सिद्धान्त यूरोप मे व्यापक समर्थन प्राप्त कर चुका था, अतः इसके एक बहुत ही प्रभावशाली प्रतिपादक जॉन गर्सन (John Gerson) ने समस्या के समाधानार्थ एक दूसरी एव अधिक प्रतिनिधि परिषद् बुलाने पर बल दिया। परिणामतः कान्सटेन्स सम्राट सिगिसमन्ड (Sigismund) द्वारा आमन्त्रित की गई। इसके आमन्त्रित करने में पोप जॉन तेईसवें की भी सलाह थी। परिषद् की कार्यवाही सन् 1414 से लेकर 1418 तक चलती रही। इसमें न केवल विद्वान् एवं उच्च कोटि के पादरी उपस्थित थे बल्कि साधारण पादरियो के प्रतिनिधि भी भाग लेने आए थे; राजाओ के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इस परिषद् को आमन्त्रित करने के प्रमुख उद्देश्य ये थे—(1) पोप से सम्बन्धित चर्च के विच्छेद का अन्त करना, (2) धर्महीनता को समाप्त करना, एव (3) चर्च मे सुधार करना।

कान्सटेन्स परिषद् मे लगभग 5,000 प्रतिनिधि एकत्र हुए जिनमे तीनो पोपो के प्रतिनिधि, 29 कार्डिनल, 22 आर्कबिशप, 150 बिशप, 100 मठाधीश, 300 धर्मशास्त्री, 26 राजा, 140 कुलीन जमींदार और 26 विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि तथा 4,000 पुरोहित थे। पोप जॉन इस परिषद् मे अपने दल के साथ आया था किन्तु अपने अपराधों और दुराचारो की पोल खोले जाने के भय से वह वेश बदल कर मार्च, 1415 मे भाग खड़ा हुआ। उसने यह घोषणा की कि उसे मारने की धमकी देकर यह परिषद् बुलाई गई है, वह इसे स्वीकार नही कर सकता।

फूट को समाप्त करने के लिए परिषद् को पोपशाही पर अपनी प्रभुता मनवानी आवश्यक थी। इसलिए परिषद्वादियों के सम्पूर्ण प्रयत्नों का ध्येय यह सिद्ध करना हो गया कि धर्म शक्ति की प्रभुता का स्वामी पोप नही बल्कि सामान्य परिषद् थी क्योंकि वही समस्त ईसाइयों की सच्ची परिषद् थी। अन्त में घोर वाद-विवाद के बाद 1415 ई. मे वह विख्यात प्रत्यादेश जारी किया गया जिसे डॉक्टर फिगिस ने 'विश्व के इतिहास में सबसे अधिक क्रान्तिकारी अधिकृत दस्तावेज' कहकर पुकारा है। इस आज्ञप्ति मे निम्नलिखित सिद्धान्त प्रकट किया गया—

"यह परिषद् कैथोलिक चर्च की महासभा है। इसे अपनी शक्ति सीधे ईसा से प्राप्त हुई है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसका पद और श्रेणी कुछ भी हो पोप तक

धर्म, संघ-भेद के निवारण और चर्च के सुधारो के सम्बन्ध मे उसके आदेशो को मानने के लिए बाध्य है।"

स्पष्ट है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में परिषद् को पोप से उच्चतर माना गया और यह सिद्ध किया गया कि चर्च का एक कार्यपालक प्रधान होने के नाते पोप समाज का एक अधिकृत अधिकर्त्ता मात्र था, उसका प्रभुत्वपूर्ण स्वामी नही है। ईसा के इन शब्दो से, 'जहां दो या तीन मेरे नाम मे एकत्रित होते हैं, तो मैं भी उसके बीच में होता हूँ', यह अभिप्राय लिया गया कि परिषद् पोप की अपेक्षा उच्चतर है अतः पोप को परिषद् के अनुशासन मे रहना चाहिए। इसके साथ ही अक्तूबर, 1417 ई. मे परिषद् ने एक अन्य प्रत्यादेश जारी किया जिसका उद्देश्य यह था कि परिषद् की बैठक नियमित रूप से प्रत्येक 10वें वर्ष होनी चाहिए और पोप को उसके स्थगन तथा स्थान परिवर्तन का अधिकार नही होना चाहिए। यदि यह प्रत्यादेश कार्यान्वित किया गया होता तो चर्च मे एक सांविधानिक शासन की स्थापना हो जाती और पोप पर परिषद् का नियमित नियन्त्रण हो जाता।

1415 ई. के अपने प्रत्यादेश के बाद चर्च की फूट को समाप्त करने के लिए परिषद् ने पोप जॉन तेईसवें को त्यागपत्र देने का आदेश दिया। जब कोई उत्तर नही मिला तो 54 दोष लगाकर उसे 29 मई, 1415 को अपदस्थ कर दिया गया। इस तरह अब यूरोप मे दो पोप रह गए। बाद मे ग्रेगरी ने इस शर्त पर अपना त्यागपत्र देना स्वीकार किया कि उसे पोप के रूप मे इस परिषद् को पुनः आमन्त्रित करने का अधिकार दिया जाए। 4 जुलाई, 1415 को इस तरह आमन्त्रित की गई परिषद् ने उसके त्यागपत्र को स्वीकार कर लिया। जब तीसरा पोप बेनेडिक्ट स्वेच्छा से अपदस्थ होने को राजी नहीं हुआ तो 26 जुलाई, 1417 को परिषद् द्वारा उसे पदच्युत् कर दिया गया। अब परिषद् ने मार्टिन पचम् नामक पोप का निर्वाचन किया। इस तरह यूरोप में पुनः एक वैध पोप पदासीन हुआ। चर्च की महान् फूट का अन्त होते ही कान्सटेन्स की परिषद् का भी अन्त हो गया।

यद्यपि यह परिषद् चर्च की एकता को पुनः स्थापित करने मे सफल हुई किंतु चर्च के सुधार-विषयक अपने उद्देश्य को प्राप्त नही कर सकी। इसका प्रमुख कारण यह था कि चर्च-शासन मे आमूल-चूल परिवर्तन करने एव पोप की प्रभुता को समाप्त करने के प्रश्न पर सामान्य एकता का अभाव था। परिषद् मे सब विषयो पर वोट व्यक्तिश. नही दिए जाते थे, बल्कि फ्रेंच, इटालियन, इगलिश और जर्मन—इन चार राष्ट्रीय वर्गों के आधार पर दिए जाते थे। नव-निर्वाचित पोप मार्टिन पचम् ने एक कुशल राजनीतिक खिलाड़ी की तरह इन राष्ट्रों के मतभेदो का पूरा लाभ उठाया, उसने इन्हे आपस मे लडवा कर कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं होने दिया। उसने सभी के साथ अलग-अलग सन्धि और समझौते कर लिए तथा परिषद् द्वारा प्रस्तावित सुधारो को प्रभाव-शून्य बना दिया। अन्ततः [illegible] अप्रेल, 1418 ई. को सुधार के जटिल प्रश्न का बिना हल किए ही कॉन्सटेन्स परिषद् भग हो गई। पोप यथापूर्व चर्च का शासन चलाते रहे और पहले के दोष ज्यो के त्यों बने रहे। फिर भी परिषद्

का राजनीतिक चिन्तन पर अवश्य ही काफी प्रभाव पड़ा। इस परिषद् ने पहली बार विशुद्ध राजनीति के संघर्षों को बड़े पैमाने पर प्रदर्शित किया। इस परिषद् द्वारा वैधानिक शासन के विचार यूरोप द्वारा स्वीकृत हुए। इसके द्वारा राजनीति-शास्त्र में ऐसी पद्धति का प्रतिपादन हुआ जिसने राजाओं के अधिकारों की रक्षा करते हुए जनता को उसकी स्वतन्त्रताएँ प्रदान करा दी।.........इसने भावी पीढ़ियों के वैधानिक सुधारों का मार्ग प्रशस्त किया।"[1]

(3) बेसिल की परिषद् (The Council of Básel)—कॉन्सटेन्स की परिषद् के *निर्णय तथा राजाओं एवं जनता का दबाव* पड़ने पर पोप मार्टिन पंचम ने पेविया (Pabia) में तीसरी परिषद् की बैठक बुलाई। यहाँ महामारी फैली हुई थी, अतः परिषद् की पहली बैठक सीना (Siena) में हुई। सम्मेलन को अनिश्चित काल के लिए स्थगित करने के पोप के प्रयत्नों को अस्वीकार करते हुए प्रतिनिधियों द्वारा यह तय किया गया कि परिषद् का अगला अधिवेशन बेसिल में होगा। सन् 1431 में बेसिल की परिषद् का अधिवेशन शुरू हुआ। इस समय मार्टिन पंचम् के स्थान पर यूजीन चतुर्थ (Eugene IV) पोप के पद पर आसीन था। परिषद् की बैठक में भाग लेने के लिए केवल 15 प्रिलेट (Prilete) आए। अतः परिषद् के सभापति सिसरोनी ने उसे स्थगित करना चाहा। किन्तु परिषद् तैयार नहीं हुई। परिषद् द्वारा पोप को यह धमकी दी गई कि तीन माह के अन्दर परिषद् के समक्ष उसके उपस्थित न होने पर ईसाई संघ को चलाने के लिए अन्य व्यवस्था की जाएगी। अन्त में पोप को उपस्थित होना ही पड़ा, यद्यपि उसने यह स्वीकार करने से इन्कार कर दिया कि परिषद् का स्थान उससे श्रेष्ठ था।

बेसिल की परिषद् गिरती-पड़ती लगभग 17 वर्ष अर्थात् सन् 1448 ई. तक चलती रही। 1432 ई. में इस परिषद् द्वारा कॉन्सटेन्स परिषद् की मार्च, 1415 ई. वाली आज्ञप्ति को फिर से निकाला गया और यह घोषित किया गया कि परिषद् को अपनी शक्ति सीधे ईसा से प्राप्त हुई है, अतः पोप एवं अन्य प्रत्येक व्यक्ति उसके आदेशों को मानने के लिए बाध्य हैं। यह काफी उग्र कार्यवाही थी। कुछ समय के लिए ऐसा दिखाई दिया कि परिषद् चर्च में संवैधानिक शासन लाने में सफल होगी, किन्तु अन्त में इसे विफलता ही प्राप्त हुई।

बेसिल की परिषद् ने पोप के अधिकारों को सीमित करने के प्रश्न पर विचार किया। इस पर सिसरोनी तथा निकोलस ऑफ क्यूसा इससे अलग हो गए। उधर पोप ने अपने सरंक्षण के लिए यूरोप के राजाओं से अपील की। इस समय पोप के पास पूर्वी चर्चों के प्रतिनिधियों का पत्र आया कि सम्मेलन ऐसे स्थान पर किया जाए जहाँ पूर्वी ईसाई के लोग सुगमतापूर्वक पहुँच सकें। इस प्रश्न पर मतभेद हो गया और पोप ने अल्पसंख्यकों का साथ देकर सम्मेलन का स्थान बदल कर फरेरा (Ferarra) कर दिया। 1236 ई. में फरेरा में जो दूसरा अधिवेशन बुलाया

1 *Dunning : A History of Political Theories, p. 270.*

गया उसमे पूर्वी और पश्चिमी चर्चों का संयुक्तिकरण कर दिया गया। साथ ही सम्मेलन मे बहुमत द्वारा किसी प्रस्ताव को पास करने का निश्चय भी किया गया। इसमे सम्मेलन को तीन वर्गों मे बाँटा गया। एक वर्ग मे राजसत्ता तथा विद्वानो के प्रतिनिधि रखे गए। दूसरे मे बिशप, आर्क बिशप एव कार्डिनल तथा तीसरे मे पिलेट एव एबट रखे गए। यदि दो वर्ग किसी बात को स्वीकार कर लेते तो वह परिषद् का निर्णय माना जाता था। तीनो वर्गों के सम्मुख अलग-अलग मॉग रखने की प्रथा को अपनाया गया। 1439 ई. मे परिषद् ने पोप को धर्महीनता के आरोप पर पदच्युत् कर दिया और नए पोप का निर्वाचन किया जिसे यूरोप के राजाओ ने स्वीकार नही किया। अन्तत. परिषद् शनैः-शनैः विघटित हो गई। पोप की स्थिति ज्यो की त्यो शक्तिशाली बनी रही और परिषदीय आन्दोलन का अन्त हो गया।

आन्दोलन की असफलता
(The Failure of the Movement)

लगभग 50 वर्ष तक चलने वाला परिषदीय आन्दोलन मुख्यत निम्नलिखित कारणो से असफल हुआ—

(1) आन्दोलन का मुकाबला पोपशाही से था, अतः यह आवश्यक था कि इस आन्दोलन के नेता पोपशाही के नेताओ की तुलना मे सक्षम, तर्कशील, व्यावहारिक एव कुशल होते, किन्तु ऐसा न होने से यह आन्दोलन शनैः-शनैः क्षीण पड़ता गया।

(2) बेसिल की परिषद् ने यह सिद्ध कर दिया कि वह चर्च का प्रबन्ध करने मे अक्षम थी। वह राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा और द्वेष का शिकार बन गई। इस तरह वह अधिकारियो के सबल हितो पर सफलतापूर्वक आक्रमण नही कर सकी। पोप 'फूट डालो और शासन करो' के सिद्धान्त से लाभ उठाता रहा।

(3) परिषदीय आन्दोलन सैद्धान्तिक अधिक था, अत. इसे सर्वसाधारण का आवश्यक सहयोग नही मिल सका। आम जनता ने इसे आन्दोलन के रूप मे ग्रहण नहीं किया।

(4) परिषदीय आन्दोलन ऐसे चर्च का सविधान बनाना चाहता था जो सम्पूर्ण यूरोप में फैला हुआ था। समस्त यूरोप के लिए चर्च का सविधान केवल अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा मेल-मिलाप से ही तैयार किया जा सकता था। उसके लिए ऐसे वातावरण की आवश्यकता थी जिसमे शान्ति, सहमति और सामञ्जस्य हो। लेकिन उस समय राष्ट्रवादी एव स्थानीय भावनाओ का जोर था। चर्च की परिषदो, विशेषकर कॉन्सटेन्स की परिषद् का वातावरण उग्र रूप से राष्ट्रीय था। राष्ट्रीय भावनाओ के कारण चर्च की परिषद् पारस्परिक सहयोग से कार्य नही कर सकी। परिषदीय आन्दोलन चर्च का सगठन सघात्मक आधार पर चर्चों के विभिन्न वर्गों को अलग राष्ट्रीय मान्यता प्रदान करके करना चाहता था। राष्ट्रीयता की ये भावनाएँ सामूहिक कार्यवाही मे बडी बाधक थीं।

(5) परिषदीय आन्दोलन का उद्देश्य चर्च को संघात्मक आधार पर सगठित करना था, परन्तु पोप के पद को समाप्त किए बिना इसमे सफलता मिलना

सम्भव न था। पोप को यह आन्दोलन गद्दी से हटा नही सका और वह धर्माधिकारियों से मिलकर आन्दोलन की शक्ति को तोड़ता रहा जिसने अन्ततः परिषदीय आंदोलन की ही समाप्ति कर दी।

(6) आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य पोप की स्थिति की व्याख्या करना था। जैसे ही यह कार्य समाप्त हो गया, वैसे ही आन्दोलन के नेताओं की रुचि भी समाप्त हो गई। इङ्गलैण्ड और फ्रांस इस अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न को छोड़कर अपनी राष्ट्रीय समस्याओं मे लग गए। यूरोप मे अन्य राज्यो के सामने भी उस समय अनेक गम्भीर समस्याएँ थी जिन्हें वे पहले सुलझाना चाहते थे।

(7) प्रो. कुक का विश्वास है कि परिपदीय आन्दोलन के नेताओं के फूंक-फूंक कर कदम रखने और उनकी नम्रवादिता का भी इस आन्दोलन की विफलता मे बड़ा हाथ रहा। उनकी अत्यधिक नम्रता ने उन्हे रूढ़िवादी बना दिया।

(8) परिपदीय आन्दोलन के समर्थको ने किसी मौलिकता का परिचय नही दिया। उनके विचार मार्सीलियो और विलियम के चुराए हुए थे। परिणामतः आन्दोलनकर्त्ताओं के विचार प्रभाव और दृष्टिकोण की व्यापकता नही ला सके।

(9) बेसिल की परिषद् के भग होने के बाद परिपदीय आन्दोलन का महान् नेता निकोलस पोप से मिल गया और तब फांस को छोड़कर अन्य राज्यो के शासको ने पोप से सन्धि कर लेना ही श्रेयस्कर समझा। इस कारण उन्हे कुछ रियायतें मिलीं और बदले मे उन्होने पोप की निरंकुशता का विरोध करना छोड दिया।

(10) यह आन्दोलन एक विकेन्द्रित सघ के पक्ष मे था जबकि पोप समस्त शक्ति को चर्च मे केन्द्रित करके निरंकुशतन्त्र स्थापित करना चाहता था। इस आन्दोलन ने पोप के स्थान को जीवित रखा। एक बार जब आन्दोलन ने उसके अस्तित्व को स्वीकार कर लिया तो पोप के पीछे स्थित रोम की अगठित नौकरशाही ने आन्दोलन के उन तमाम प्रयत्नो को विफल कर दिया जिनके द्वारा वह पोप की सत्ता को कम करना चाहता था। सघर्ष मे पोप की विजय हुई जिसका अर्थ था परिपदीय आन्दोलन की मृत्यु तथा निरंकुशता, केन्द्रीयवाद एवं नौकरशाही की जीत।

(11) अन्त मे, पोप की शक्ति की परम्परा बड़ी गहरी और दृढ़ थी। परिपदीय आन्दोलन की परिषदें केवल यदा-कदा ही समवेत होती थीं जबकि पोप सदैव मौजूद रहता था। परिषदो मे कार्य और नीति की कोई एकता नही थी, जबकि पोप एक था और परिषदो के बनाए हुए नियमो को क्रियान्वित करने मे उसके पास स्व-विवेक की महान् शक्ति थी।'

आन्दोलन का महत्त्व
(The Importance of the Movement)

यद्यपि परिपदीय आन्दोलन पोप की निरकुशता का दमन करने और वैधानिक शासन की स्थापना करने मे सफल न हो सका, तथापि वह पूर्ण रूप से निष्फल नही रहा। यह आन्दोलन निरकुशवाद व सविधानवाद के मध्य ऐसा प्रथम शस्त्र

सिद्ध हुआ जिसने भविष्य मे ऐसे विचारो को जन्म दिया जिनका निरकुश राजा और जनता के मध्यवर्ती संघर्ष मे सफल प्रयोग किया गया। सेबाइन के शब्दो मे, "चर्च के विवाद ने ही सबसे पहले निरकुश एव सांविधानिक सरकार के मध्य निर्णय होने वाले प्रश्न की रूपरेखा निर्धारित की, एव उस विचार-दर्शन का प्रसार किया जो निरकुशवाद के विरुद्ध प्रमुख शस्त्र बना। प्रभु के दैवी अधिकार एवं समाज की प्रभुसत्ता–दोनो ही लौकिक शासन को प्राप्त हुई।"[1]

आन्दोलन ने यूरोप मे सुधारवादी आन्दोलन का सूत्रपात कर दिया। इसने स्पष्ट कर दिया कि कोई भी व्यक्ति समाज का हित किए बिना अपने पद पर नही रह सकता, चाहे वह राजसत्ता का अधिकारी हो या धर्म-सत्ता का। आन्दोलन ने जनता को सारी सत्ता का अन्तिम स्रोत माना और निरकुश सत्ता के विद्रोह एव निरकुश शासन की पदच्युति को वैध ठहराया। सन् 1688 ई. की ग्रेट-ब्रिटेन की गौरवपूर्ण क्रान्ति एव 1789 ई. की फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के बीज इस आन्दोलन मे निहित थे। इस आन्दोलन ने यह भी बता दिया कि ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप समाज मे निहित है।

परिषदीय आन्दोलन पोप को अपने अधीन नही कर सका किन्तु इसने यह प्रमाणित कर दिया कि चर्च पोप से ऊँचा है तथा चर्च का प्रशासन पोप के द्वारा न होकर सभा द्वारा होना चाहिए। इस आन्दोलन ने चर्च के लिए प्रतिनिधित्वपूर्ण शासन की माँग की। यद्यपि आन्दोलन के अन्त मे पोप की विजय हुई किन्तु भविष्य के लिए पोप सावधान हो गए। वे समझ गए कि उन्हे अपनी शक्ति का प्रयोग इस तरह नहीं करना चाहिए जिससे चर्च का अहित हो। आन्दोलन का एक दूरगामी परिणाम यह हुआ कि पोप की विधायिकी शक्ति शनैः-शनैः समाप्त हो गई और उसका मुख्य कार्य शासन का प्रबन्ध करना मात्र रह गया।

परिषदीय आन्दोलन द्वारा धर्म के राष्ट्रीयकरण के लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई जिसका प्रथम सूत्रपात इङ्गलैण्ड मे हुआ। अब राष्ट्रीय चर्चों का विकास प्रारम्भ हुआ। इङ्गलैण्ड, जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड, हॉलैण्ड आदि मे स्थापित होने वाले राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना से राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति पुष्ट हुई।

आन्दोलन की विफलता ने धर्म-सुधार आन्दोलन के जन्म मे सहयोग दिया। चर्च की बुराइयों का संशोधन करने मे इसके असफल रहने से ही धर्म-सुधार आन्दोलन ने बल पकड़ा और 16वी शताब्दी मे लूथर तथा कैल्विन का आविर्भाव हुआ।

परिषदीय आन्दोलन ने राज्य सम्बन्धी अनेक समस्याओ को अपने आधुनिक रूप मे उठाया। इसने यह विचार दिया कि कानून का तत्त्व सहमति है। इसने बतलाया कि "समस्त शक्ति एक धरोहर है, सरकारी शक्ति अपने उद्देश्य से सीमित है, एव आवश्यकता परिवर्तन का सदैव एक उचित आधार है।" परिषदीय आन्दोलन ने प्राकृतिक अधिकारो की मान्यता पर बल दिया और इसी मान्यता पर लोक-

1 *Sabine*: A History of Political Theory, p. 326.

कल्याण का सिद्धान्त निर्भर करता है। आन्दोलन मे इस बात पर जोर दिया गया कि *धर्मसत्ता अथवा राजसत्ता के कार्य किसी अपरिवर्तनीय दैवी सिद्धान्त पर आधारित* नही है अपितु मानव कल्याण के लिए है और अनुभव और विवेक के आधार पर उनमें संशोधन तथा परिवर्तन किए जा सकते हैं। इस प्रकार के विचारो मे लोक कल्याणकारी सिद्धान्त को बल मिला।

परिषदीय आन्दोलन के अन्त के साथ-साथ मध्यकाल का भी अन्त हुआ और इसके बाद दूसरा युग आरम्भ हुआ। यह आन्दोलन वास्तव में जितना धार्मिक आन्दोलन नही था उतना राजनीतिक था। इस आन्दोलन में राजनीतिक हितो की टक्कर अधिक हुई, प्राय सभी ने धर्म के नाम पर राजनीति का खेल खेला और उसी की अन्त मे विजय हुई। चाहे यह राजनीति पोप की रही अथवा उनके विरोधी पक्ष की। 'धर्म पर राजनीति की विजय' को हम परिषदीय आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम मान सकते है जिसमें मध्य युग के सम्पूर्ण चिन्तन और व्यवहार को नई दिशा म मोड दिया।

परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख विचारक
(Main Thinkers of the Movement)

जॉन वाइक्लिफ (John Wycliff)

इंग्लैण्ड म यॉर्कशायर जिले में उत्पन्न जॉन वाइक्लिफ (1320–1384) बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति का था। अपनी योग्यता और अपने शास्त्रीय ज्ञान से उसने विश्वविद्यालय के अधिकारियों को प्रभावित किया और उसे प्राध्यापक नियुक्त कर दिया गया। धार्मिक अध्ययन के साथ-साथ जॉन वाइक्लिफ का पोपतन्त्र से विश्वास उठता गया। उसने पोप का विरोध करना आरम्भ किया और फलस्वरूप 1382 मे उसे धर्म-बहिष्कृत कर दिया गया। वाइक्लिफ की समस्त रचनाएँ आग में झोंक दी गई। इस धक्के को वाइक्लिफ *बर्दाश्त न कर सका* और 1384 में लकवे से उसकी मृत्यु हो गई। वाइक्लिफ के विचारों को 'वाइक्लिफ सोसाइटी' ने सकलित किया जिनमे ये रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं—

(1) डी डोमिनियो (De Dominio)
(2) डी सिविली डोमिनिओ (De Civili Dominio)
(3) डी आफिसिओ रेजिस (De Officio Regis)

वाइक्लिफ धार्मिक क्रान्ति का पोषक था। उसे परिषदीय आन्दोलन का मार्टिन लूथर और मार्टिन लूथर को सुधारवादी आन्दोलन का वाइक्लिफ कहा जा सकता है। वाइक्लिफ की चिन्तनधारा और सुधारवादी नेताओं की चिन्तनधारा में कोई मौलिक अन्तर नही था। दोनो मे किसी ने भी बाइबिल के विरुद्ध अपने अस्तित्व का दावा नही किया। जॉन वाइक्लिफ चाहता था कि चर्च मे व्याप्त भ्रष्टाचार समाप्त हो और चर्च पोपतन्त्र के षड्यन्त्र से मुक्त हो। उसकी इच्छा थी कि लोग धर्म मे प्रारम्भिक विश्वासो की ओर लौट आएँ तथा चर्च मे प्रवेश कर गए तर्कहीन सिद्धान्तो का जनाजा निकाल दिया जाए। उसने यह भी अनुभव किया कि

एक नवीन समाज का निर्माण और एक नई व्यवस्था की स्थापना राष्ट्रीय सत्ता द्वारा ही सम्भव है। पोपतन्त्र और राज्य के बीच अपनी-अपनी शक्तियों की उत्पत्ति स्रोत आदि के बारे में संघर्ष अनावश्यक, असामयिक और तर्कहीन है।

वाइक्लिफ ने राजनीतिक और आध्यात्मिक परिवर्तनों को सम्भव बनाने की दृष्टि से एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में उसने 'आधिपत्य के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया जिसमें उसने सामन्ती व्यवस्था के नमूने पर आधारित एक आदर्श राजनीतिक योजना प्रस्तावित की। उसने कहा कि आधिपत्य और सेवा मनुष्य को ईश्वर से जोड़ने वाली जंजीर के दो सिरे हैं। ईश्वर का आधिपत्य सर्वोपरि है जिसका प्रयोग उसके द्वारा स्वयं प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। वाइक्लिफ ने अपने सिद्धान्त में एक पुरोहित और साधारण व्यक्ति को ईश्वर की दृष्टि में एक जैसा स्थान प्रदान किया। उसने ईश्वर को चर्च और राज्य दोनों का सर्वोपरि और प्रत्यक्ष स्वामी बतलाते हुए कहा कि सभी प्रकार की सत्ताएँ ईश्वर से प्राप्त होती हैं। पोप और राजा दोनों का कर्त्तव्य है कि वे ईश्वर के प्रति समान रूप से श्रद्धा रखें। सामन्ती सिद्धान्त के अनुसार शक्ति एक धरोहर है और पोप तथा राजा दोनों को यह मानकर चलना चाहिए कि वे उसी ईश्वर के प्रति उत्तरदायी हैं। भू-तल पर कोई सत्ता अन्तिम नहीं है क्योंकि सत्ताओं का स्रोत तो वह ईश्वर है।

इस विचार से कि चर्च और राज्य दोनों को सीधे ईश्वर ने सत्ता प्रदान की है, वाइक्लिफ ने पोप की सर्वोपरिता के सिद्धान्त का विरोध किया और कहा कि पोप तथा चर्च के अधिकारियों को राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करने का कोई अधिकार नहीं है। प्रत्येक सत्ता अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र है और किसी को भी दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। चर्च आध्यात्मिक प्रतिष्ठान है, अतः उसे बाह्य जगत के कार्यों में भाग नहीं लेना चाहिए। वाइक्लिफ के इस विचार ने इंगलैण्ड तथा अन्य देशों में पोपतन्त्र के विरुद्ध राजसत्ता की शक्ति सबल बनाने में बड़ी सहायता दी। वाइक्लिफ ने यह भी कहा कि राजसत्ता भी ईश्वरीय सत्ता का ही अंग है अतः यह पवित्र है और यदि लोग धर्मानुकूल आचरण करते हैं तो राजसत्ता सुख और शान्ति की स्थापना करने वाली है। मनुष्य पापी है और राज्य उसके लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला साधन है। जो ईश्वर में आस्था रखता है उसके लिए राजसत्ता कभी बाधक नहीं हो सकती और यदि बाधक होती है तो यह मानना चाहिए कि वह राज्य नहीं है और इस स्थिति में उसे सही रूप में राज्य बनाने का प्रयत्न करना उपयुक्त है। प्रत्येक सत्ताधारी ईश्वर का प्रतिनिधि है, अतः सत्ता का प्रयोग मानव-कल्याण के लिए ही किया जा सकता है। वाइक्लिफ ने जिस प्रकार पोप की निरंकुशता का विरोध किया उसी प्रकार अत्याचारी राजसत्ता के विरुद्ध भी अपने विचार व्यक्त किए। उसने कहा कि किसी भी निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी शासक या पदाधिकारियों को लोक-कल्याण के विरुद्ध राजसत्ता के प्रयोग का अधिकार नहीं है और यदि वह ऐसा करता है तो उसे निष्कासित करना धर्मानुकूल

जॉन गर्सन पोप को एक धर्माधिकारी मानते हुए उसके अधिकार क्षेत्र को परिषद् द्वारा निर्मित कानूनों से सीमित करना चाहता था। उसकी मान्यता थी कि पोप कानूनों में किसी प्रकार का परिवर्तन, संशोधन अथवा परिवर्द्धन कर सकता था। पोप की शक्ति को परिषद् के अन्तर्गत सीमित करते हुए भी उसने इस सम्बन्ध में उदारता से काम लिया था। उसने चर्च की सर्वोत्तम शक्ति परिषद् को दी और साथ ही पोप की परम्परागत शक्ति पर कोई विशेष आघात भी नहीं पहुँचाया। पोप पूर्ववत् शासन का मुख्य अधिकारी बना रहा और महत्त्वपूर्ण विषयों में विशाल विवेकात्मक शक्तियाँ भी उसके हाथ में बनी रहीं।

गर्सन के अनुसार राज्य के हित में सम्राट की शक्ति का भी विरोध किया जा सकता था। उसका यह भी कथन था कि लौकिक शासक किसी भी समय चर्च की सामान्य परिषद् को बुला सकता था जो पोप के बारे में निर्णय दे सकती थी और प्राकृतिक व ईश्वरीय नियमों के भंग करने पर उसे पदच्युत् कर सकती थी। वह पोप और सम्राट के अधिकारों को निश्चित सीमाओं के भीतर रखना चाहता था और साथ ही जनता की स्वतन्त्रता को भी बनाए रखना चाहता था।

जॉन गर्सन का, परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख नेता के रूप में, कॉन्स्टेन्स की परिषद् पर बड़ा प्रभाव था। इस परिषद् की आज्ञप्तियों में प्रतिपादित गर्सन के विचारों ने समस्त यूरोप में सांविधानिक सरकार के सिद्धान्त का प्रचार किया और परवर्ती सुधारकों के लिए मार्ग तैयार किया।

निकोलस ऑफ क्यूसा (Nicholas of Cusa)

निकोलस का जन्म 1400 ई. के लगभग जर्मनी में क्यूसा नामक स्थान पर हुआ था। वह परिषदीय आन्दोलन का एक बहुत ही प्रमुख नेता था। बेसिल की परिषद् पर, जिसकी बैठकें 1431 से 1448 तक चलती रहीं, निकोलस की जनतन्त्रीय भावनाओं का विशेष प्रभाव पड़ा था। वह पहले यूरोप के विभिन्न देशों में पोप के सन्देशवाहक के रूप में कार्य कर चुका था, किन्तु उसके ईसाई संघ के सुधारक के रूप में सार्वजनिक जीवन का वास्तविक प्रारम्भ बेसिल की परिषद् से हुआ और यह आश्चर्य की बात है कि परिषद् के समाप्त होते-होते वह पुनः पोप का समर्थक बन गया। इस महान् विचारक की मृत्यु 1464 ई. में हुई।

निकोलस ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'De Concordantia Catholica' में बेसिल की परिषद् के लिए गर्सन से भी अधिक क्रान्तिकारी एवं मौलिक विचार प्रस्तुत किए। निकोलस के दो सिद्धान्त प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं—पहला सामञ्जस्य या एकता (Concordantia) का एवं दूसरा जनता की सहमति को कानून एवं शासन का आधार मानने का। उसके पहले सिद्धान्त के अनुसार विश्व की आध्यात्मिक एवं भौतिक सभी वस्तुओं में एकता और सामञ्जस्य मिलता है। वह विभिन्नता के बीच भी एकता की खोज करता है। वह एक ऐसी कड़ी के खोजने का प्रयत्न करता है जो लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों शक्तियों को एक साथ मिला दे। निकोलस राज्य और चर्च के मध्य पूर्ण सहयोग इसलिए चाहता था क्योंकि समस्त मानवीय कार्य और व्यापार इन दो संस्थाओं में ही व्यवस्थित हैं और इन दोनों के सभी अंग एवं

तत्त्व एक समान हैं। उसका विचार था कि जब चर्च के शासन का केन्द्रीय अंग परिषद् थी तो राजनीतिक संगठन में भी परिषद् का केन्द्रीय स्थान होना चाहिए। निकोलस ने परिषद् की सत्ता को पोप से उच्चतर माना और उसने कहा कि पोप परिषद् के एजेन्ट के समान है। वह परिषद् के अधीन ही अपनी शक्तियों और अधिकारों का उपयोग कर सकता है। परिषद् उचित कारण होने पर पोप को अपदस्थ कर सकती है। निकोलस ने पोप की शक्ति को प्रशासनिक मानने के साथ ही उसे ईसा और सन्त पीटर से भी मिलती हुई बतलाया। उसका मत था कि पोप चर्च की एकता का प्रतिनिधित्व करता है; किन्तु परिषद् उसका अधिक अच्छी तरह प्रतिनिधित्व करती है क्योंकि ईसा चर्च के संस्थापक हैं और उनका प्रतीक चर्च की परिषद् है। पोप को अपने मालिक ईसा की समस्त शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं। वह एक मनुष्य है जिसमें दुर्बलताएँ हो सकती हैं। अतः परिषद् के निर्माण के लिए पोप की स्वीकृति आवश्यक होने पर भी परिषद् पोप से ऊँची है। पोप चर्च का एक सदस्य है और उसकी विधि के अधीन है। पोप का निर्वाचन चर्च के प्रति उसकी उपयोगिता प्रदर्शित करता है किन्तु कर्त्तव्य-पालन में उसके (पोप के) असफल हो जाने पर धर्मावलम्बी उसकी आज्ञापालन के लिए बाध्य नहीं है। सेबाइन ने निकोलस के इन विचारों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "इन परस्पर विरोधी विचारों को दिखाने का यह उद्देश्य नहीं है कि निकोलस भ्रमित था। इसका उद्देश्य सिर्फ यही है कि उनके समरसता सिद्धान्त को एक उच्च सत्ता द्वारा प्रदत्त शक्तियों का सिद्धान्त नहीं समझना चाहिए। उनका मुख्य आधार यह है कि चर्च एक ईसाई है और वही सर्वोच्च तथा निर्भ्रान्त है। लेकिन न तो पोपशाही और न परिषद् ही इस निर्भ्रान्तता के एकमात्र प्रवक्ता है। निकोलस का दोनों पर ही अविश्वास था। उसकी सुधार में अवश्य आस्था थी। उसका विचार था कि यदि चर्च के अधिकारियों का चर्च के विभिन्न अंगों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जाए तो चर्च में आवश्यक सुधार हो सकता है। किन्तु यह तो सहयोग की समस्या थी, वैधानिक अधीनता की नहीं।"[1]

निकोलस जनता की सहमति को कानून और शासन का आधार मानता था। उसने कहा कि समाज की स्वीकृति विधि का आवश्यक अंग है। यही स्वीकृति प्रथा और रीति द्वारा प्रकट होती है। चर्च की प्रारम्भिक परिषदों की घोषणाएँ इसलिए बलवती थी कि उन्हें परिषदों में विद्यमान सभी व्यक्तियों की सहमति प्राप्त हुई थी। परिषद् सम्पूर्ण निकाय की प्रतिनिधि थी अतः वह किसी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अधिकार के साथ बात कर सकती थी। सम्पूर्ण चर्च की सहमति को किसी व्यक्ति की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह प्रकट करती थी और इसी में उसकी उच्चता निहित थी। पोप की धर्माज्ञप्तियाँ अनेक बार इसी कारण असफल हुई कि उन्हें स्वीकार नहीं किया गया। वास्तव में प्रत्येक कानून अथवा आज्ञप्ति की वैधता इस बात पर निर्भर है कि वह जीवन पर लागू होता है, उन सबकी सहमति या स्वीकृति उसे प्राप्त

1 Quoted by *Sabine* : A History of Political Theory, p 319

हो। निकोलस के इन विचारो का सार यह है कि सम्पूर्ण शासन सहमति पर आधारित है। शासन का आधार शासित की रजामन्दी है। निकोलस के ही शब्दो मे–

प्रकृति की दृष्टि मे सभी व्यक्ति स्वतन्त्र हैं। यदि किसी सत्ता द्वारा प्रजाजन बुराई करने से रोके जाते हैं और उन्हें भय दिखलाया जाता है कि यदि वे अच्छाई नही करेंगे तो उनकी स्वतन्त्रता सीमित की जाएगी, तो यह सत्ता समरसता और प्रजाजनो की स्वीकृति से प्राप्त होती है। यह सत्ता चाहे तो लिखित विधि के रूप मे और चाहे सजीव विधि के रूप मे हो सकती है। यदि यह सजीव विधि के रूप में हो, तो इसका अधिष्ठान शासक होता है। यदि प्रकृति की दृष्टि मे सब व्यक्ति समान रूप से शक्तिशाली और समान रूप से स्वतन्त्र हैं, शासक मे भी बराबर शक्ति है, तो एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्तियो के ऊपर सत्ता दूसरे व्यक्तियो की स्वीकृति होने पर ही स्थापित हो सकती है।

निकोलस का विश्वास था कि चर्च का नैतिक सुधार पोप की अपेक्षा स्थानीय परिषदो द्वारा अधिक क्षमता और सफलता के साथ सम्पन्न हो सकता है। अतः वह चर्च की शक्ति के विकेन्द्रीकरण का समर्थन करते हुए पोप की शक्ति को राष्ट्रीय सीमाओ के आधार पर विभिन्न प्रान्तीय परिषदो मे बाँट देना चाहता था। उसका विचार था कि राजाओ को चर्च सुधार के लिए राष्ट्रीय परिषदें बुलानी चाहिए तथा पादरियो एव साधारण जनता के प्रतिनिधियो से सुधारो के विषय मे परामर्श करना चाहिए। किन्तु वह यह नही चाहता था कि लौकिक शासक धार्मिक मामलो मे हस्तक्षेप करें। यह चर्च के समान ही साम्राज्य मे भी प्रतिनिधि शासन और विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को लागू करने के पक्ष मे था। उसने साम्राज्य को 12 क्षेत्रों मे विभक्त करने का प्रस्ताव रखा जिससे न्याय का प्रशासन उचित रूप से हो सके। उसका कहना था कि सम्राट को एक स्थाई परिषद् के परामर्श से कार्य करना चाहिए। उसने सम्राट का यह कर्त्तव्य बतलाया कि वह पूर्वी एव आन्तरिक शत्रुओं मे ईसाई धर्म की रक्षा करे।

निकोलस द्वारा प्रतिपादित लोगो की समानता, स्वतन्त्रता, सामान्य सहमति, जनता की प्रभुसत्ता, प्रतिनिधि परिषदो द्वारा शासन, राष्ट्रीय आधार पर सत्ता के विकेन्द्रीकरण आदि सिद्धान्तो मे बहुत कुछ नवीनता थी। इन विचारो मे हमें उसकी राजनीतिक अन्तर्दृष्टि, चतुरता और बुद्धिमना के दर्शन होते हैं। रोमन विधिशास्त्रियो ने जनता की प्रभुसत्ता को नैतिकता और व्यक्तिगत कानून के क्षेत्र तक ही सीमित रखा था, जबकि निकोलस ने इसे सार्वजनिक कानून और राजनीति के क्षेत्र मे भी लागू किया। किन्तु उसके ये विचार अपनी पीढी से बहुत आगे के थे। इसलिए उसके युग मे उन्हे क्रियात्मक रूप नही दिया जा सका। जब बेसिल की परिषद् मे उग्र विवादो और झगडो के कारण उसे अपने विचारो को व्यावहारिक रूप देना असम्भव प्रतीत हुआ तो वह निराश होकर पुन. पोप से आ मिला। उसे कार्डिनल बना दिया गया और वह जर्मनी मे पोप की प्रभुसत्ता का समर्थक हो गया।

9 पुनर्जागरण
(Renaissance)

पाश्चात्य इतिहास में कुछ विशेष घटनाचक्र और आन्दोलन ऐसे हैं जो उसके प्राचीन युग, मध्य युग और आधुनिक युग को एक-दूसरे से पृथक् करते हैं। प्रायः 15वीं शताब्दी के साथ यूरोप के मध्य युग का अन्त और 16वीं शताब्दी से नवीन, अर्थात् आधुनिक युग का सूत्रपात समझा जाता है। इस युग के पहले और इस काल में अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं जिन्हें नवीन युग की प्रगति का सन्देशवाहक माना जाता है। इनमें से कुछ प्रमुख हैं—पुनर्जागरण, भौगोलिक अनुसन्धान, धर्म-सुधार आन्दोलन, औद्योगिक क्रान्ति, आदि। यहाँ हमारा मन्तव्य पुनर्जागरण को समझाना है।

पुनर्जागरण : अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning & Definition of Renaissance)

जेम्स एडगर स्वेन ने लिखा है "पुनर्जागरण से ऐसे सामूहिक शब्द का बोध होता है जिसमें मध्यकाल की समाप्ति और आधुनिक काल के प्रारम्भ तक के बौद्धिक परिवर्तन का समावेश हो।" साहित्यिक दृष्टि से पुनर्जागरण का अर्थ है 'नूतन जन्म' किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह वह आन्दोलन था जिसने यूरोप के जीवन और उसकी विचारधारा में महान् परिवर्तन ला दिए। पर यह कोई राजनीतिक अथवा धार्मिक आन्दोलन नहीं था। यह तो मानव मस्तिष्क की एक अनोखी जिज्ञासापूर्ण स्थिति थी जिसके फलस्वरूप मध्यकालीन अन्धविश्वासपूर्ण विचारों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हुई और अधिकांशतः उन सभी क्षेत्रों का बीजारोपण हुआ जिसकी झलक हमें आधुनिक युग में दिखलाई पड़ती है।

सामूहिक रूप से इतिहासकारों ने पुनर्जागरण का अर्थ बौद्धिक आन्दोलन से लगाया है। टॉमस जॉनसन के अनुसार पुनर्जागरण शब्द का अर्थ इटली के उन सांस्कृतिक परिवर्तनों से है, जो चौदहवीं शताब्दी में आरम्भ होकर 1600 ई. तक सम्पूर्ण यूरोप में फैल गए। सीमोण्ड के अनुसार पुनर्जागरण एक ऐसा आन्दोलन था जिसके फलस्वरूप पश्चिम के राष्ट्र मध्ययुग में निकल कर वर्तमान युग के विचार तथा जीवन की पद्धतियों को ग्रहण करने लगे। वेबसून के शब्दों में पुनर्जागरण

राजनीतिक अथवा धार्मिक आन्दोलन न होकर मानव की एक विशिष्ट स्थिति को उजागर करता था। मिचलेंट ने इसे मनुष्य तथा संसार का प्रकटीकरण कहा है। वस्तुतः यह सोलहवीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलन की तरह बौद्धिक आन्दोलन था जिसका यूरोप के धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक विकास से सम्बन्ध था।

पुनर्जागरण कोई ऐसी सीमा नहीं थी जिसने मध्यकाल और आधुनिक काल का विभाजन कर दिया हो। पुनर्जागरण की स्थिति किसी एक व्यक्ति, एक स्थान अथवा एक विचारधारा के कारण भी नहीं आई। यह तो वास्तव में उन सब महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक और बौद्धिक परिवर्तनों का सामूहिक संकेत है जो चौदहवीं शताब्दी से आरम्भ होकर 1600 ई. तक प्रायः सारे यूरोप में व्याप्त हो गई। इन शताब्दियों में धीरे-धीरे वे सभी बातें, जिनका सम्बन्ध मध्यकाल से था, मिटती चली गई तथा वे सभी बातें जो आधुनिक काल से सम्बद्ध थीं, अंकुरित और विकसित होती गई। महान् बौद्धिक जागृति ने लोगों में आलोचनात्मक और अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति पैदा की। लोग प्रचलित विश्वासों और प्रथाओं को तर्क की कसौटी पर कसने लगे। जीवन के बारे में लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया और उनमें इतना साहस पैदा हो गया कि वे तत्कालीन संस्थाओं को चुनौती देने लगे। इन शताब्दियों में सामन्तवाद का प्रभाव धीमा पड कर समाप्त हो गया। कुलीन वर्ग की प्रतिष्ठा घटते-घटते नष्ट हो गई। संघ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी, धर्म का प्रभाव क्षीण हो गया और जिज्ञासा, खोज, आविष्कार, आलोचना तथा सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। ये सभी परिवर्तन धीरे-धीरे हुए और उन सबका परिणाम यह हुआ कि इतिहास के एक युग का अन्त होकर दूसरे का सूत्रपात हुआ। पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में अर्थात् पुनर्जागरण काल के दौरान यूरोपीय रचनात्मक शक्ति अनेक दिशाओं में उमड पडी और सभ्यता तथा संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में आशातीत विकास का आरम्भ हुआ।

पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि
(Background of Renaissance)

जैसा कि प्रो. बच ने कहा है कि पुनर्जागरण का आरम्भ यूरोपीय इतिहास की कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, बल्कि इसके कई पूर्वचिह्न पहले से विद्यमान थे। चौदहवीं शताब्दी से पहले भी समय-समय पर वैयक्तिक अथवा सामूहिक मानसिक उद्वेग, चिन्तन और मनन के उदाहरण मिलते हैं। ऐसे प्रत्येक अवसर पर नवीन चिन्तन का प्राचीनता से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता था। पुनर्जागरण से पूर्व इस तरह का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बौद्धिक आन्दोलन कैरोलिंगियन सम्राट चार्ल्स से सम्बद्ध था। कैरोलिंगियन पुनर्जागरण में भी ग्रीक-रोमन सभ्यता के तत्त्व और प्रभाव निहित थे। परन्तु यह आन्दोलन समयपूर्व था। चार्ल्स की मृत्यु के बाद यूरोप में पुनः अज्ञान का अंधकार फैल गया, यद्यपि कैरोलिंगियन पुनर्जागरण की धूमिल किरणें कुछ समय के लिए यूरोपीय ज्ञान-क्षितिज को लोहित बनाए रहीं। दूसरा उदाहरण अलबिजेनसियन आन्दोलन का दिया जा सकता है।

बारहवी तथा तेरहवी शताब्दी का यह आन्दोलन धार्मिक से भी अधिक बौद्धिक, सामाजिक और साहित्यिक विकास का उदाहरण था। बहुत सम्भव था कि यही से पुनर्जागरण का वास्तविक शुभारम्भ हो जाता, किन्तु आत्म-निर्भर, धर्मनिरपेक्ष और आधुनिकता से युक्त इस आन्दोलन से पादरी वर्ग सशंकित हो उठा और इसे क्रूरतापूर्वक दबा दिया गया। तीसरा पुनर्जागरणपूर्व आन्दोलन सम्राट फ्रैडरिक द्वितीय (1212-50) से सम्बद्ध था। फ्रैडरिक धार्मिक सकीर्णता का विरोधी और मानसिक स्वतन्त्रता तथा आत्म-निर्भरता का, जो पुनर्जागरण के प्रमुख लक्षण थे, समर्थक था। एक शब्द मे, वह आधुनिक व्यक्ति था। वह अपने समय से कई शताब्दी आगे था। इसका कारण था कि उस पर पूर्व और पाश्चात्य धार्मिक एव सामाजिक व्यवस्थाओ तथा ग्रीक-रोमन प्राचीनता का समान रूप से प्रभाव था। उसने अरस्तू तथा अभरोस के कई ग्रन्थो का लेटिन मे अनुवाद कराया, नेपल्स विश्वविद्यालय की स्थापना की और पालेरमो स्थित अपने दरबार मे उत्पीडित एलबिजेनसियन विद्वानो को आश्रय प्रदान किया। इस तरह उसके सरक्षण मे सिसली मे उस बौद्धिक एव साहित्यिक वातावरण का सृजन हुआ जिसका पुनर्जागरण के युग मे अनेक इटालियन शासको ने अनुसरण किया। वस्तुत. ग्रीक-रोमन तथा अरब सस्कृति के जिस आलोक से तेरहवी शताब्दी का यूरोप आलोकित हुआ, उसमे कई तत्त्व फ्रैडरिक द्वितीय की ही देन थे। फ्रैडरिक द्वितीय की ही तरह दाँते ने भी पुनर्जागरण युग का पूर्वाभास दिया था। दाँते अलिघियेरी का 1365 मे फ्लोरेंस मे जन्म हुआ था। सन् 1302 ई. मे वहाँ से निर्वासन के बाद 1321 मे रेमैना मे उसकी मृत्यु हुई। उसकी 'डिवाइन कॉमेडी' को 'मध्ययुगीनता का महाकाव्य' कहा गया है। यह मध्ययुगीन जीवन और विचारधारा का मूर्त रूप है। दाँते का धर्मशास्त्र मध्यकालीन चर्च का धर्मशास्त्र है, उसका दर्शन नैयायिको का दर्शन है और उसका विज्ञान समसामयिक है। अपने युग के अन्य लोगो की तरह वह पोपतत्र तथा साम्राज्य के दैवी उद्गम मे विश्वास करता है। नक्षत्र उसे प्रभावित करते हैं और धर्मद्रोह से उसे चिढ और भय है। अपने इन मध्यकालीन लक्षणो के बावजूद वह आने वाले नवयुग का मसीहा तथा पुनर्जागरण का अग्रदूत था। ग्रीको-रोमन प्राचीनता मे उसकी रुचि थी। वर्जिल उसका आदर्श था, प्राचीन ईसाई और हिब्रू साहित्य प्रेरणा का प्रमुख स्रोत था। अपनी आत्म-निर्भरता, तार्किक प्रवृत्ति और अत्यधिक व्यक्तिकता के कारण, वह मध्यकालीन से भी अधिक अर्वाचीन जान पडता है।[1]

पुनर्जागरण के कारण
(Causes of Renaissance)

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के अतिरिक्त पुनर्जागरण का आरम्भ अन्य कारणो और परिस्थितियो से भी हुआ—

1 डॉ. वी वीरोत्तम : मध्यकालीन यूरोप का इतिहास, पृ. 232-33

1. सामन्तवाद—मध्यकालीन पुनर्जागरण का प्रथम और प्रत्यक्ष कारण सामन्तवाद मे निहित था। अपने उदय के कुछ समय बाद सामंतवाद यूरोपीय जीवन की एक प्रमुख विधा के रूप मे प्रतिष्ठापित हो गया। सामंतवाद का आर्थिक आधार मेनार के किसान और खेतों मे काम करने वाले कम्मिये थे। अतः मध्यकालीन संस्कृति, जिसकी अभिव्यक्ति पुनर्जागरण के रूप में हुई, कम्मियो के श्रम और कृषि पर आधारित थी।

2. चर्च—पुनर्जागरण का दूसरा आधार चर्च था। अतः इसका स्वरूप किसी हद तक धार्मिक था। ईसाइयत का यूरोपीय सस्कृति पर पूर्ण प्रभाव था। ग्रेगरी महान् से दांते तक की यूरोपीय सभ्यता ईसाइयत से ओत-प्रोत थी। ग्रेगरी महान् के समय से ही पोपतन्त्र प्रशिक्षित विद्वानो और वकीलो की आवश्यकता को अनुभव करने लगा था। अतः यूरोप के प्रत्येक भाग से विद्वान पादरियो को रोम आने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। पद-प्रतिष्ठापन के सघर्ष को लेकर चर्च के पक्ष को मजबूत करने की दृष्टि से यथेष्ठ साहित्य की सृष्टि हुई। इटली मे मौंटे कैसिनों धार्मिक साहित्य के प्रमुख अध्ययन केन्द्र के रूप मे विकसित हुआ। रिहम्स का जेरबर्ट, जो बाद मे सिलवेस्टर द्वितीय के नाम से पोप हुआ, यूरोप मे अरबी विज्ञान के प्रसार के पहले, यूरोपीय वैज्ञानिक ज्ञान का मूर्त रूप था। ग्यारहवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश मे उसका शिष्य फुलबर्ट लैटिन साहित्य का पारायण कर नवीन ज्ञान विकीर्ण करता रहा। टूर्स स्थित उसका शिष्य बेरगर मध्यकालीन विद्वानो मे सम्भवतः पहला व्यक्ति था जिसने चर्च के सिद्धान्तो तथा मतो को तर्क की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करने को कहा। इसका मतलब यह नही कि वह धर्मशास्त्र के सिद्धान्तो के खिलाफ था। अन्य नैयायिकों की तरह वह भी केवल यही सिद्ध करना चाहता था कि ईश्वरीय सत्य और तार्किक सत्य मे कोई मौलिक अन्तर हो ही नही सकता है, क्योकि सत्य अविभाज्य है। एनसेलम ईसाई धर्म के सिद्धान्तो को तर्क द्वारा सिद्ध करने मे पूर्ण विश्वास करता था। उसने केवल तर्क के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया। तब तक के उपलब्ध अरस्तू के कतिपय ग्रन्थो पर आधारित प्रारम्भिक नैयायिक आन्दोलन का चरमोत्कर्ष पियर अबेलॉर्ड (1079-1142) मे देखने को मिलता है। उसके शिष्यो मे असिया का आर्नोल्ड, पीटर लोम्बार्ड और पोप अलेक्जेण्डर तृतीय जैसे महत्त्वपूर्ण लोग शामिल थे। हेलवाइस के साथ उसकी प्रेमलीला उसके पतन का कारण बनी, परन्तु धार्मिक सिद्धान्तो के बौद्धिक एव दार्शनिक विश्लेषण मे वह लगभग बेजोड था। परस्पर विरोधी मतो को तर्क द्वारा सुलझाना उसकी विशेषता थी। अबेलॉर्ड के जीवनकाल मे ही पश्चिमी विद्वानो का अरबी भाषा मे सचित दर्शन, गणित और विज्ञान के अक्षय ज्ञान-भण्डार से परिचय हो रहा था। अब वे यूनान, बंजन्तियम और इस्लाम के सचित ज्ञान-कोश का उपयोग करने लगे थे। इस प्रकार, यूरोप मे ज्ञानार्जन की प्रक्रिया को एक नवीन और गतिशील दिशा प्राप्त हुई। ऑक्सफोर्ड, पेरिस और बोलोना मे विश्वविद्यालयो की स्थापना हुई और एक आन्दोलन चल

पड़ा जिसे स्कौलेस्टिसिज्म अर्थात् 'पण्डित-पथ' कहा गया है। इससे विद्याध्ययन एवं वाद-विवाद को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। लगभग तेरहवीं शताब्दी तक इस विचार पद्धति की सर्वांगीण उन्नति हुई। अब तक प्रायः अरस्तू के दार्शनिक सिद्धान्तों की ही प्रधानता थी, किन्तु तेरहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक एवं विचारक राजर बेकन ने इसका तीव्र विरोध किया। यह आक्सफोर्ड का बड़ा नैयायिक था। उसने अपने युग को अज्ञानता का युग कहा। उसका कहना था कि यूरोपीय विद्वान अरस्तू के भद्दे लेटिन अनुवादों द्वारा अज्ञानता को प्रोत्साहन दे रहे थे, उसके आगे वे कुछ देख ही नहीं रहे थे। लगभग इसी समय एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो मानवतावाद के नाम से विख्यात हुआ। इसके प्रवर्त्तकों में फ्रॅसिस्को, पेत्रार्क, बोकेसियो, एरासमस, टॉमस मूर तथा रेबेल आदि विद्वानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों की लेखनी के प्रभाव से जनसाधारण में एक नई चेतना का प्रसार हुआ। लोग अब लौकिक जीवन के मापदण्ड से सब कुछ तोलने लगे तथा सांसारिक जीवन की सार्थकता से परिचित हुए। अतः धर्मशास्त्र चर्च तथा पादरियों इत्यादि में लोगों की श्रद्धा कम होने लगी। विश्वास की अपेक्षा लोग अब तर्क एवं युक्ति से अधिक काम लेने लगे। इस तरह पुनर्जागरण की बौद्धिक पृष्ठभूमि की सृष्टि हुई।

3 प्राचीन साहित्य का अध्ययन—लगभग 13वीं सदी से ही प्राचीन साहित्य के अध्ययन के प्रति लोगों में रुचि जाग्रत हो गई। यूनान और रोम की प्राचीन संस्कृति को सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा। यूनानी भाषा के पुनः अध्ययन से लोगों को—विशेषकर बौद्धिक वर्ग को—एक नई संस्कृति, नए विचार और जीवन की नई पद्धति का ज्ञान हुआ। उनके हृदय में जिज्ञासा प्रवृत्ति विकसित हुई, स्वतन्त्र दृष्टिकोण पनपने लगा, मस्तिष्क में उदारता का संचार हुआ और वे चर्च तथा सत्ता की आज्ञाओं को तर्क की तराजू पर तोलने लगे। प्राचीन साहित्य के अनुशीलन ने 'मस्तिष्क' के महत्त्व में वृद्धि की।

4. धर्म-युद्ध—पुनर्जागरण का एक प्रमुख कारण वे धर्म-युद्ध थे जो यूरोप के ईसाइयों और मध्य एशिया के तुर्कों के बीच, ईसाइयों के तीर्थ-स्थान जेरूसलम आदि के अधिकार के लिए लड़े गए। इन युद्धों में सभी प्रकार के लोग विभिन्न प्रेरणावश शामिल हुए। यद्यपि इस्लाम के विजय-अभियान को नहीं रोका जा सका, तथापि ईसाइयों को इन युद्धों के फलस्वरूप कई नवीन बातों का पता चला। इन युद्धों ने यूरोप के हजारों व्यक्तियों को नए विचारों और अजनबी लोगों के सम्पर्क में ला दिया, और वे जब अपने देशों को वापस चले गए तो उन्होंने अपने अनुभव की चर्चा की। इसके फलस्वरूप यूरोप के निवासियों में नया दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, उनका सुप्त शौर्य जाग उठा और उन्होंने प्रगति की तरफ कदम बढ़ाने का फैसला कर लिया।

5. व्यापारिक यात्राएँ और विदेशों से सम्पर्क—धर्म-युद्धों से यूरोपीय व्यापार को बड़ा नुकसान पहुँचा क्योंकि इससे मुस्लिम व्यापारियों का माल आना बन्द हो गया। अत. यूरोपियों ने भूमध्यसागर की लहरों को चीर कर, व्यापार की खोज में दूर-दूर के देशों की यात्रा शुरू की। वेनिस और मिलन, लूका और फ्लोरेंस

व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गए। बाहर की दुनिया से सम्पर्क होने से यूरोप के लोगों में एक नए दृष्टिकोण का संचार हुआ और उन्होंने पूर्व की प्रगतिशील सभ्यता से बहुत कुछ सीखा। उनके बौद्धिक जीवन पर धर्म का नियन्त्रण कुछ ढीला हुआ, पुराने विचारों की जंजीरें टूटने लगीं और राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना का उदय हुआ।

6. **साहित्यकारों और विद्वानों का योग**—अनेक साहित्यकारों और विद्वानों ने अपनी प्रखर लेखनी से नव-जागरण का प्रसार किया। उदाहरणार्थ, तेरहवीं शताब्दी में ब्रिटेन के बेकन नामक विचारक ने तर्क और प्रयोग पर बहुत बल देते हुए विज्ञान की उन्नति में अपना विश्वास प्रकट किया। उसके ज्ञान से जगमगाते लेखों का प्रभाव लोगों के विचारों में परिवर्तन लाता गया। इस्लामी आक्रमणों के फलस्वरूप यूनानी विद्वान पश्चिम में आकर बसने लगे। उनके द्वारा गौरवपूर्ण प्राचीन यूनान के सिद्धान्तों का प्रचार हुआ।

7. **छापेखाने का आविष्कार**—पुनर्जागरण के विकास में छापेखाने के आविष्कार ने भारी योग दिया। साहित्य प्रकाशन न केवल सस्ता हो गया बल्कि पुस्तकें भारी संख्या में छपने लगीं और सर्वसाधारण को सुलभ हो गईं। अब शिक्षा केवल धर्माधिकारियों तक ही सीमित नहीं रही, अपितु जन-साधारण ने धर्म के महत्त्व को समझा और उसकी बुराइयों को दूर करने की चेष्टा की। लैटिन के स्थान पर स्थानीय भाषाओं में पुस्तकें लिखी जाने लगीं जिससे लोगों के विचारों में तेजी से परिवर्तन आने लगा।

8. **मानवता का प्रचार**—'मानववाद' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द 'ह्यूमनिटीज' से हुई, जिसका अर्थ है 'विकसित ज्ञान'। इस विचारधारा के अनुयायी धर्म की संकुचित विचारधारा को नहीं मानते थे। उनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। पेट्रार्क और उसके अनुयायियों ने मानववाद का प्रसार किया। प्रारम्भ में तो धर्माधिकारियों ने इसका विरोध किया, परन्तु धीरे-धीरे यह विचारधारा विकसित हो गई, जिससे धार्मिक आडम्बरों की समाप्ति हुई और स्वतन्त्र चिन्तन का प्रसार हुआ।

9. **वैज्ञानिक आविष्कार**—महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक आविष्कारों और गवेषणाओं के फलस्वरूप पुनर्जागरण की लहर तेजी से आगे बढ़ी और यूरोप में फैल गई। घुमक्कड़ मंगोलों के सम्पर्क से यूरोप में चीन के तीन आविष्कार पहुँचे—कागज और मुद्रण, समुद्रों में मार्गदर्शन के लिए कुतुबनुमा तथा युद्ध में प्रयोग के लिए बारूद। इन आविष्कारों के ज्ञान ने यूरोप के जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन कर दिया। डॉ. रामेश्वर गुप्ता के शब्दों में, "कागज और मुद्रण से जनसाधारण में ज्ञान का प्रकाश हुआ, कुतुबनुमा से नए-नए समुद्री मार्गों की खोज होने लगी और बारूद से सामन्त शक्ति को ध्वस्त किया गया तथा केन्द्रीभूत राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना होने लगी।"

इन्हीं विविध कारणों ने पुनर्जागरण की प्रक्रिया आरम्भ कर दी, उस प्रक्रिया का विकास किया और यूरोप भर में शनैः-शनैः आधुनिक युग का सूत्रपात

हो गया। पुनर्जागरण की प्रगति में इस बात ने योग दिया कि फ्रांस, इंग्लैण्ड, पोलैण्ड आदि देशों के शासकों और धनी व्यक्तियों ने बड़ी संख्या में साहसी नाविकों, साहित्यकारों और कलाकारों को आर्थिक सहयोग प्रदान किया।

पुनर्जागरण का प्रारम्भ और प्रसार : इटली का पथ-प्रदर्शन

पुनर्जागरण के आरम्भ के सन्दर्भ में सर्वप्रथम अलबिजेनसियन बुद्धिवादी आन्दोलन का उल्लेख किया जा सकता है। दुर्भाग्यवश धार्मिक प्रतिक्रियावाद के फलस्वरूप इस आन्दोलन का असामयिक अन्त हो गया। उसी तरह फ्रेडरिक द्वितीय और दांते ने पुनर्जागरण के आगमन में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया था। परन्तु पुनर्जागरण का वास्तविक प्रारम्भ इटली में हुआ, ठीक उसी तरह जैसे धर्म-सुधार आन्दोलन का जर्मनी से हुआ। इसके कई कारण थे। सर्वप्रथम इसके लिए इटली का वातावरण अत्यन्त ही अनुकूल था। इटालियन नगर पुनर्जागरण के प्रोत्साहक थे। दूसरा कारण था उस प्रायद्वीप में विभिन्न जातियों का सलयन। इन जातियों में गाथ, लोम्बार्ड, फ्रैंक, अरब, नारमन और जर्मन जातियाँ प्रमुख थीं। रोमन बैजन्त, अरब सभ्यताओं के पारस्परिक सम्पर्क और सलयन के फलस्वरूप मानसिक उन्नयन तथा व्यापक सामाजिक एव बौद्धिक आन्दोलनों का होना स्वाभाविक ही था। इटालियन स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप ने भी इटली में पुनर्जागरण के विकास में सहायता दी। पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों की तरह इटली की नवीन सभ्यता प्राचीन रोमन सभ्यता से बहुत अलग-थलग थी। इटलीवासी अपने को रोमन विश्व-विजेताओं के प्रत्यक्ष वशधर एव उत्तराधिकारी मानते थे। रोम की प्राचीन गरिमा से सम्बद्ध होने का एहसास उनकी कल्पना को पख तो लगा ही देता था, साथ ही उसकी प्राचीन सभ्यता एव संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने की प्रेरणा भी उन्हें मिलती थी। इटली में पुनर्जागरण को जन्म देने एव उसे विशिष्ट दिशा प्रदान करने में प्राचीन रोमन स्मारकों का भी विशेष महत्त्व था। इटालियन नगर वस्तुतः प्राचीन साम्राज्य के अवशिष्ट चिह्न थे। विगत महानता के ये अवशिष्ट चिन्ह इटालवी मानस पर गहरा प्रभाव डालते थे। यूरोपीय पुनर्जागरण के इटली के प्रारम्भ होने का एक अन्य कारण यह था कि कुस्तुनतुनियाँ के पतन के पश्चात् वहाँ के विद्वानों ने भाग कर इटली के नगरों में आश्रय लिया। इससे उन नगरों में पुनः प्राचीन विद्या एव ज्ञान का प्रसार शुरू हुआ और अल्पकाल में ही इन विद्वानों की विद्वता की चिंगारी यूरोप के अन्य देशों में फैल गई।

इटली में पुनर्जागरण के दो पक्ष थे—प्राचीन साहित्य एव ज्ञान का पुनर्जन्म तथा प्राचीन कला का पुनर्जन्म। पुनर्जागरण के बौद्धिक और साहित्यिक पक्ष को 'मानववाद' और इसके समर्थकों को मानववादी कहा गया है। मानववादियों में फ्रांसिस्को पेत्रार्क - (1304–1374) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पेत्रार्क को समझना स्वय पुनर्जागरण को समझना है। पेत्रार्क इटालियन पुनर्जागरण के मानववादी पक्ष का प्रथम और सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि था। मध्यकाल का वह प्रथम विद्वान था जिसने सांस्कृतिक दृष्टि से प्राचीन साहित्य के महत्त्व को समझा। उसने अथक परिश्रम द्वारा प्रायः दो सौ प्राचीन पाण्डुलिपियों का सग्रह तैयार किया।

मेरोना के एक पुस्तकालय से उसने लेटिन भाषा में लिखित सिसेरो के पत्र प्राप्त किए। उसे ग्रीक भाषा का ज्ञान नहीं था, फिर भी उसने लेटिन के साथ-साथ ग्रीक पाण्डुलिपियाँ भी एकत्रित की। कुस्तुनतुनियाँ से उसने प्लेटो के सोलह ग्रन्थ और होमर की एक प्रति हासिल की। प्राचीन लेखकों में उसकी आत्मिक अभिरुचि थी और वह उनसे काल्पनिक पत्राचार किया करता था। वह मध्यकालीन प्रवृत्ति का घोर विरोधी था। पंडित-पन्थ के वह विशेष रूप से खिलाफ था। वह उन्हें सत्यान्वेषी न मानकर मिथ्या तार्किक समझता था। विश्वविद्यालय, जो पंडित-पंथ के गढ़ थे, उसकी दृष्टि में घोर अज्ञान के केन्द्र थे। जब उसके विरोधी अरस्तू का आश्रय लेते थे तो वह कहता था कि अरस्तू की बहुत-सी बातें गलत थीं और मनुष्य होने के नाते वह मानवीय भूलों के परे नहीं था। उस युग में अरस्तू की आलोचना स्वयं बाइबिल की आलोचना करने की तरह था। अतः उसका आघात केवल अरस्तू पर न होकर स्वयं चर्च और सम्पूर्ण मध्ययुगीन व्यवस्था पर था। वस्तुतः उसका प्रमुख कार्य था साहित्य-विकास के क्षेत्र में वैज्ञानिक मनोवृत्ति को आगे बढ़ाना। वह स्वयं एक कटु आलोचक था तथा उसकी यह हार्दिक इच्छा थी कि लोग प्राचीन साहित्य की उपलब्ध सामग्री को यथावत् ग्रहण न करें; बल्कि आलोचना-पर्यवेक्षण द्वारा अन्य वस्तुओं से उसकी तुलना भी करें। प्राचीन साहित्य की ही तरह प्राचीन रोमन स्मारकों में भी उसकी रुचि थी। पुनर्जागरण से पहले प्राचीन स्मारकों का प्रायः दुरुपयोग ही होता रहा था। परन्तु पेत्रांक इन स्मारकों को आधुनिक दृष्टि से देखता था। पेत्रांक के कई उल्लेखनीय मानववादी शिष्य थे, जिनमें जियोमानी बोकासियो (1313–1375) प्रमुख था। मानववादी के रूप में उसने प्राचीनता के प्रति अपार श्रद्धा का प्रदर्शन किया। इटालियन मानववादियों की प्राचीन पाण्डुलिपियों में विशेष रुचि थी। मानववादियों के अथक प्रयास के फलस्वरूप, प्राचीन साहित्य की अमूल्य निधि भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखी जा सकी, अन्यथा कुछ समय बाद इसका अधिकांश भाग अवश्य नष्ट हो गया होता। इटालियन पुनर्जागरण का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष था—पुस्तकालयों की स्थापना। ज्ञान के जीवन कोश को सुरक्षित रखने और विद्वानों के लिए सुलभ बनाने की दृष्टि से पुस्तकालयों की स्थापना की गई। इस तरह इटली के कुछ सबसे बड़े पुस्तकालयों की स्थापना हुई। फ्लोरेंस में मेडिसी ने प्रसिद्ध मेडिसी लाइब्रेरी की स्थापना की। रोम की वेटिकन लाइब्रेरी में अकेले पोप निकोलस पंचम ने ही पाँच हजार पाण्डुलिपियाँ जमा की थीं। प्राचीन साहित्य का पुनर्जन्म, प्रतिलिपियों में अभिवृद्धि और पुस्तकालयों की स्थापना इटालियन मानववादियों के प्रारम्भिक कार्य थे। उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य थे—मूल ग्रन्थों की वृद्धि और तुलनात्मक अध्ययन, ग्रीक पाण्डुलिपियों का लेटिन में अनुवाद, प्राचीन साहित्य की व्याख्या, मूल्यांकन और समीक्षा। इस दिशा में जिन इटालियन विद्वानों ने कार्य किया उनमें पोलिजियानो (1454–1494) सर्वश्रेष्ठ था। फ्लोरेंस में ग्रीक और लैटिन के शिक्षक के रूप में उसने नवीन ज्ञान को विकीर्ण करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। पन्द्रहवीं शताब्दी के इटालियन विद्वानों में एक अन्य उल्लेखनीय नाम पिको डेला मिरनडोला

(1463–1494) का है। उसने ईसाइयत और नवीन ज्ञान के बीच सामजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। पुनर्जागरण युग के इटालियन कवियो मे ग्ररियेस्टा का नाम प्रमुख है। इसी युग मे कुछ ग्रन्य साहित्यकारो का भी प्रादुर्भाव हुग्रा, जिनमे टासो ग्रौर शेरब्योरो के नाम ग्रति प्रसिद्ध हैं। इटालियन पुनर्जागरण का दूसरा पक्ष था प्राचीन कला का पुनर्जन्म।

यूरोप के ग्रन्य भागों में पुनर्जागरण

सोलहवी शताब्दी के ग्रन्त तक इटालियन पुनर्जागरण की धारा प्राय सूख गई। परन्तु तब तक मानववाद ग्राल्पस पर्वतमाला को पार कर जर्मनी,फ्रांस ग्रौर इंग्लैण्ड मे प्रवेश कर चुका था। पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य से ही जर्मन स्नातक इटली पहुँचकर वहाँ के विद्वानो से यूनानी भाषा सीखने लगे थे। इटालियन मानववाद ग्रीक ग्रौर लेटिन साहित्य के ग्रध्ययन तक ही सीमित था, परन्तु उत्तरी यूरोप के मानववादियो की प्राचीन हिब्रू ग्रौर ईसाई साहित्य ग्रौर सस्कृति मे भी समान रूप से रुचि थी। वस्तुत. जर्मन ग्रौर ग्रन्य उत्तरी मानववादियो की साहित्यिक ग्रौर बौद्धिक ग्रभिरुचि ने बाद के धर्म-सुधार ग्रान्दोलन की पृष्ठभूमि को तैयार किया। साहित्यिक दृष्टिकोण से यद्यपि पुनर्जागरण का प्रारम्भ इटली मे हुग्रा तथापि इसकी उन्नति ग्रधिकतर यूरोप के ग्रन्य देशो मे ही हुई।

मानववादी ग्रान्दोलन का जर्मनी पर भी प्रभाव पडा। पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे गणितज्ञ, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक ग्रौर धर्मशास्त्री के रूप म केसा का कार्डिनल निकोलस ग्रत्यन्त प्रसिद्ध हुग्रा। उसने ग्रनेक लैटिन तथा यूनानी पाण्डुलिपियाँ एकत्रित की। डेमेन्टर का हेजियस प्रसिद्ध मानववादी शिक्षक था। उसके ग्रनेक शिष्यो ने, जिनमे इरासमस भी शामिल था, नवीन ज्ञान को चतुर्दिक् फैलाया। दूसरे ग्रन्य मानववाद भी थे जो जर्मनी के विश्वविद्यालयो, मठो ग्रौर स्वतन्त्र नगरो मे बिखरे पड़े थे। उनमे कुछ उल्लेखनीय नाम बेसेल, एग्रिकोला, विफेलिंग, ट्रिथेमियस, जोहान्स एलिपिड ग्रौर रिज्ञियोमोनटेनस के हैं। इन लोगो न हिडेलबर्ग, बेसल, स्ट्रैसबर्ग, नुरेमबर्ग, ग्ररफर्ट तथा वियना मे मानववाद का प्रचार किया। सामान्यत. इनकी ग्रभिरुचि धर्मशास्त्रो तथा गैर-ईसाई साहित्य मे थी। इसके फलस्वरूप जर्मन मानववाद का एक ग्रपना विशिष्ट स्वरूप विकसित हुग्रा जा ग्रागे चलकर धर्म-सुधार ग्रान्दोलन का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुग्रा। इटली की ही तरह कुछ जर्मन मानववादियो की हिब्रू साहित्य मे विशेष रुचि थी। रेमेन तथा ट्रिथेमियस हिब्रू के विद्वान् थे, परन्तु रियुचलिन हिब्रू भाषा का वास्तविक ज्ञाता था। सक्षेप मे, जर्मनी मे भी पुनर्जागरण का वास्तविक रूप था— ज्ञान के क्षेत्र का विस्तार ग्रौर प्राचीनता के प्रति ग्रासक्ति।

पुनर्जागरण काल मे विज्ञान के क्षेत्र मे भी ग्रभूतपूर्व उन्नति हुई। पोप के ग्रनुसार विज्ञान मनुष्य की नैतिकता को नष्ट कर सकता था। मध्ययुग म चर्च विज्ञान की प्रगति के मार्ग मे सबसे बडा रोडा था। परन्तु सोलहवी शताब्दी म चर्च के प्रति लोगो की ग्रास्था घटी तो विज्ञान की प्रगति निर्विघ्न रूप से होने लगी। लोग सकीर्ण विचारो को त्याग कर नए-नए प्रयोगात्मक ग्रन्वेषणो की ग्रोर ग्राकृष्ट

हुए। इस युग में सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रगति ज्योतिष तथा भूगोल के क्षेत्र में हुई। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी नए-नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। पुनर्जागरण युग में चिकित्सा शास्त्र तथा रसायन शास्त्र की भी अपूर्व उन्नति हुई। पुनर्जागरण-काल के प्रारम्भ से ही यूरोपवासियों ने भौगोलिक अन्वेषण कार्य में महत्त्वपूर्ण कदम उठाया।

पुनर्जागरण के सामान्य प्रभाव

पुनर्जागरण के वैज्ञानिक, साहित्यिक, कलात्मक, दार्शनिक और बौद्धिक प्रभावों के अतिरिक्त कुछ सामान्य प्रभाव भी पड़े। डॉ. वी. वीरोत्तम ने इनका सारगर्भित वर्णन इस प्रकार किया है—

सर्वप्रथम, पुनर्जागरण ने जीवन और जगत सम्बन्धी कुछ नवीन मान्यताओं को जन्म दिया। पश्चिमी ईसाई जगत के बौद्धिक और नैतिक जीवन में ठीक उसी प्रकार की क्रान्ति आ गई जैसा कि प्राचीन काल में ईसाई धर्म के प्रचार के कारण हुआ था। नवीन ज्ञान वस्तुतः नवीन धर्मशास्त्र की तरह था। बिशप क्रिप्टन के शब्दों में 'इसका उद्देश्य सम्पूर्ण यूरोप में एक नवीन संस्कृति को फैलाना था।' अब लोग मनुष्य की वास्तविक प्रकृति और महत्ता से परिचित हुए। लोगों ने समझा कि जीने में अपने आप में ही एक विशेष प्रकार का सुख है जिसका परलोक के नाम पर त्याग करना उचित नहीं। आत्मा का हनन किए बिना भी ज्ञान की पिपासा को शान्त किया जा सकता है। इन नवीन विचारों से मानव जाति के विकास में अत्यधिक सहायता मिली। इस तरह धर्म, राजनीति, साहित्य, कला, विज्ञान, आविष्कार और उद्योग प्रायः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो गया। दूसरे शब्दों में, पुनर्जागरण के फलस्वरूप, मानव जाति ने आधुनिक युग में प्रवेश किया।

दूसरी बात कि पुनर्जागरण ने ऐतिहासिक तारतम्य की छिन्न-भिन्न हुई श्रृंखला को फिर से जोड़ा। ग्रीक-रोमन जगत में प्रवेश करते ही ईसाई धर्म ने प्राचीनता के प्रति युद्ध-सा छेड़ दिया था। विधर्मिता पर ईसाइयत की विजय का अर्थ था प्राचीन सभ्यता से विच्छेद। यह सही है कि प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के कुछ तत्त्व पूर्व-मध्यकाल में ईसाइयत में भी प्रवेश कर गए थे, परन्तु प्राचीनता का अधिकतर परित्याग ही किया गया था। इस तरह यूरोप में ऐतिहासिक तारतम्य छिन्न-भिन्न हो गया था। परन्तु पुनर्जागरण काल की उदारता और उत्साह के कारण ईसाइयत तथा प्राचीन सभ्यता के बीच सामंजस्य स्थापित करना सम्भव हुआ। इस तरह प्राचीन एवं आधुनिक जगत के बीच की खाई पट गई। मानव जाति के लिए यह अत्यन्त लाभप्रद बात हुई, क्योंकि प्राचीन सभ्यता में साहित्य, कला और विज्ञान के अनमोल तत्त्व निहित थे जिनकी उपेक्षा करना न सम्भव ही था और न उचित ही। अब उनका उचित मूल्यांकन और उपयोग होने लगा जिससे प्राचीन सौन्दर्य एवं सत्य की जानकारी आधुनिक जगत को हो सकी।

तृतीयतः, पुनर्जागरण से शिक्षा में सुधार हुआ। मानववादी आन्दोलन के फलस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। मध्ययुग में लेटिन भाषा का ह्रास हुआ था, लोग ग्रीक भाषा को प्रायः भूल चुके थे। अरस्तू का दर्शन अपना सही रूप खो चुका था। प्लेटो को तो मध्ययुगीन चिन्तक प्रायः भूल ही चुके थे। परन्तु

मानववादी आन्दोलन के कारण लेटिन भाषा की, उसके मूल रूप में, पुनर्स्थापना हुई। ग्रीक भाषा के साथ भी लगभग ऐसा ही हुआ। प्लेटो के दर्शन के साथ-साथ ग्रीक-रोमन साहित्य की प्रायः विस्मृत अमूल्य निधियाँ पाठकों को अब उपलब्ध हुई। इससे आधुनिकता के उदय और विकास में सहायता मिली। स्कूल और विश्वविद्यालय भी इस नवीन मानववादी आन्दोलन से अछूते नहीं रहे। प्राय सभी प्राचीन और नवीन विश्वविद्यालयों में ग्रीक एवं लेटिन भाषाओं की पढ़ाई होने लगी। पंडित-पंथ की शिक्षण-विधि का स्थान अब मानववादी शिक्षण-विधि ने ले लिया। यह नवीन शिक्षा-विधि आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षण-प्रणाली के आगमन तक बनी रही।

चतुर्थतः पुनर्जागरण से लोक भाषाओं के विकास में सहायता मिली। ग्रीको-रोमन साहित्य के अध्ययन से पाठकों का सम्पर्क दो अत्यन्त समृद्ध भाषाओं से हुआ। इससे नवीन साहित्य के सृजन का मार्ग प्रशस्त हुआ। इटली, फ्रांस, स्पेन, इंग्लैण्ड तथा जर्मनी की जनभाषाओं पर इसका प्रभाव विशेष रूप से पड़ा। यह सही है कि ग्रीको-रोमन साहित्य का अत्यधिक प्रश्रय दिए जाने के कारण कहीं-कहीं लोक भाषाओं की उपेक्षा भी हुई, परन्तु अधिकांशतः मानववादी आन्दोलन के फलस्वरूप स्थानीय भाषाओं का परिमार्जन ही हुआ।

पुनर्जागरण के फलस्वरूप पुरातत्व, विज्ञान तथा ऐतिहासिक आलोचना-विधि का भी जन्म हुआ। वस्तुत पुनर्जागरण में विज्ञान की विभिन्न विधाओं में अनेक तत्व निहित थे। परन्तु जहाँ तक पुरातत्व विज्ञान का प्रश्न है, इसका प्रारम्भ पुनर्जागरण काल से ही माना जा सकता है। इटालियन विद्वानों का ध्यान स्वभावतः सर्वप्रथम रोम के प्राचीन स्मारकों की ओर गया। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में फ्लेमियो बियोंडो ने 'रोम रेस्टोर्ड' नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। उससे भी पहले रियेन्जी ने 'डेस्क्रिप्शन ऑफ दी सिटी ऑफ रोम एण्ड इट्स स्प्लेंडर' नामक पुस्तक लिखी थी, परन्तु पुरातत्व विज्ञान की दृष्टि से, फ्लेमियो की पुस्तक अधिक अच्छी थी। इससे इतिहास की एक सर्वथा नवीन विधा का जन्म हुआ जिससे आगे चलकर प्राचीन विश्व सभ्यता के अनेक अज्ञात ऐतिहासिक सत्यों का उद्घाटन सम्भव हुआ। पुरातत्व की ही तरह ऐतिहासिक आलोचना-विधि भी पुनर्जागरण से प्रभावित हुई। पुनर्जागरण-काल की मानसिकता आलोचनात्मक तथा जिज्ञासु थी। लोग किसी भी बात को आँख मूँदकर मान लेने की मध्यकालीन प्रवृत्ति का परित्याग कर उसकी प्रामाणिकता पर अधिक ध्यान देने लगे थे। पेत्रार्क इस नवीन मनोवृत्ति का मूर्त रूप था। उसने प्राचीन लेखकों का सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक अध्ययन किया और केवल उन्हीं लेखकों को सही माना जिनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध थी। परन्तु गवेषणात्मक-ऐतिहासिक विधि का वास्तविक जन्मदाता लोरेंसियम वाला (1407–1457) था। उसने इतिहास प्रसिद्ध 'डोनेशन ऑफ कन्सटनटाइन' को भाषा-विज्ञान तथा इतिहास आधार पर अप्रामाणिक सिद्ध किया। उसने लिवी की प्रामाणिकता को भी चुनौती दी और सेनेका तथा सन्त पॉल के बीच के तथाकथित पत्राचार को जाली बतलाया। इस तरह प्रामाणिक सूत्रों पर आधारित आलोचनात्मक इतिहास-लेखन की उस प्रक्रिया का आरम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप प्राचीन तथा

मध्यकालीन एशियाई तथा यूरोपीय इतिहास को प्रामाणिक रूप दिया जा सका। अब सही इतिहास के लेखन पर अधिक जोर दिया जाने लगा। उस प्रकार के लेखकों में फ्लोरेंस के मैकियावेली (1469–1527) और गुईसिआरडिनी (1482–1540) सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए। वे अपनी आलोचनात्मक एवं निष्पक्ष प्रवृत्ति के कारण दकियानूसी तथा भोंडे मध्यकालीन इतिहासकारों से सर्वथा भिन्न थे। इसलिए उन्हें सर्वप्रथम आधुनिक इतिहासकार माना गया है।

अन्तत: पुनर्जागरण ने भावी यूरोपीय धर्म-सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार की। मानववादी आन्दोलन जब आल्पस पर्वतमाला को पार कर उत्तर की ओर बढ़ा तो वहाँ के विद्वान् प्राचीन यूनानी-रोमन साहित्य से भी कहीं अधिक प्राचीन, हिब्रू साहित्य की ओर आकृष्ट हुए। छापाखानों के खुल जाने के कारण बाइबिल की प्रतियाँ अब मूल हिब्रू तथा ग्रीक के अतिरिक्त क्षेत्रीय भाषाओं में भी सहज उपलब्ध थीं। अत अब बाइबिल का अधिक उत्साहपूर्ण और विश्लेषणात्मक अध्ययन होने लगा। फलस्वरूप, जबकि दक्षिणी यूरोप की मुख्य अभिरुचि प्राचीन साहित्य एवं कला तक ही सीमित रही, उत्तरी यूरोप के गम्भीर आलोचक एवं विद्वान ईसाई धर्म के मूल नैतिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों की ओर अधिक आकृष्ट हुए। अत वहाँ का मानववादी, धर्म-सुधारक बन बैठा। इसलिए साइमोंड ने कहा है कि 'धर्म-सुधार आन्दोलन जर्मन पुनर्जागरण था।' मानववादी स्वतन्त्र चिंतन की प्रवृत्ति का धर्मशास्त्रीय एकाधिकार से टकराव होना स्वाभाविक था। यही कारण था कि आगे चलकर पोपतन्त्र ने इस सम्पूर्ण बौद्धिक आन्दोलन का विरोध किया, जबकि प्रारम्भिक स्थिति में कई पोप इसके प्रबल समर्थक रहे थे। मानववादी धार्मिक क्षेत्र में प्राय आत्म-निर्भर थे जो धर्म-सुधार काल की व्यक्तिवादीत या विरोधी प्रवृत्ति का पूर्वाभास देता था। वस्तुत मानववाद न केवल मध्यकालीन धर्माधारित व्यवस्था का विरोधी था, बल्कि वह सम्पूर्ण मध्ययुगीन व्यवस्था का ही विरोधी था। इस तरह उत्तरी यूरोप के महान् मानववादी कलिन और इरैसमस आदि सोलहवीं शताब्दी के धर्म-सुधार आन्दोलन के वास्तविक अग्रदूत थे।

सक्षेप में, पुनर्जागरण-काल मध्यकालीन इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय था। इसकी सबसे बड़ी देन थी, प्राचीन अन्धविश्वासों से मानव जाति को मुक्त कर नई चेतना द्वारा उसका विकास करना। पुनर्जागरण के ही फलस्वरूप, यूरोप ने मध्यकालीन बर्बरता का परित्याग कर आधुनिकता के क्षेत्र में पदार्पण किया। प्राचीन परिपाटियों तथा अन्धविश्वासों की जगह अब तर्क एवं स्वतन्त्र चिन्तन को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इससे आधुनिक वैज्ञानिक युग की नींव पड़ी और भौतिकवाद का जन्म हुआ। राष्ट्रीय एवं व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का भी प्रारम्भ इसी युग से हुआ। ज्ञान-विज्ञान की कसौटी पर धर्म तथा धार्मिक विचारों को कसा जाने लगा। इससे यूरोपीय धर्म-सुधार आन्दोलन की शुरुआत हुई जिसके अनेक व्यापक परिणाम निकले।

10 धर्म-सुधार : लूथर

(Reformation : Luther)

परिचयात्मक : धर्म-सुधार आन्दोलन का स्वरूप
(Introductory : Nature of Reformation Movement)

पुनर्जागरण आन्दोलन के पश्चात् राजनीतिक चिन्तन के इतिहास को नवीन मार्ग देने का श्रेय धर्म-सुधार आन्दोलन को है। इस महान् आन्दोलन ने शक्तिशाली रोमन चर्च में परिवर्तन लाने और इस सिद्धान्त को समस्त यूरोप एक ईसाई समाज है जिसका सर्वोच्च प्रधान पोप है, नष्ट करने का महान् कार्य किया। यद्यपि 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक सभी क्षेत्रों में नवीन शक्तियों और विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हो रहा था किन्तु महान् धर्म-संस्था रोमन चर्च अभी तक इन सब परिवर्तनों से अप्रभावित था।[1] पोप की निरंकुशता, आडम्बर प्रियता और उसके अनाचारों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया था। चर्च का प्रभाव-क्षेत्र अब भी अत्यन्त व्यापक था। जब तक रोमन चर्च मध्यकालीन बना हुआ था तब तक यूरोप का आधुनिकीकरण करना दुष्कर था। यद्यपि सुधारवादी आन्दोलन ने इस कार्य की पूर्ति की दिशा में निर्णायक भूमिका अदा की, तथापि यह मध्यकालीन विचारों और आधुनिकता का सम्मिश्रण था। यह आन्दोलन मैकियावली से बहुत पीछे था। मैकियावली ने धर्म को राजनीति से बहिष्कृत करने का भरसक प्रयत्न किया था जबकि आन्दोलन के मूल प्रवर्तक मार्टिन लूथर (Martin Luther) एवं कॉल्विन (Calvin) ने धर्म तथा राजनीति को घनिष्ठ सम्बन्धों में जोड़कर पुनः मध्यकालीन विचार को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। सेबाइन के अनुसार 'प्रोटेस्टेण्ट रिफोर्मेशन' के परिणामस्वरूप राजनीति और राजनीतिक चिन्तन का धर्म के साथ और धार्मिक मतभेदों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ जितना मध्य-युग में कभी नहीं रहा था।

धर्म-सुधार आन्दोलन किसी एक विषय तक सीमित नहीं था। यह ऐसा आन्दोलन था जिसने यूरोप की सम्पूर्ण संस्कृति को प्रभावित किया। प्रश्न उठता है कि यह आन्दोलन क्रान्ति था अथवा प्रक्रिया? एल्टन (Elton) के अनुसार धर्म के क्षेत्र में यह एक क्रान्ति थी, किन्तु आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में

1 *Adams* : Civilisation During the Middle Ages, p. 406

प्रक्रिया की निरन्तरता। कोहलर (Kohler) के अनुसार यह धर्म के क्षेत्र में भी एक प्रक्रिया ही थी। यदि ध्यान से देखा जाए तो दोनो ही अपने-अपने दृष्टिकोण मे सही प्रतीत होते हैं। एल्टन वहाँ तक सही है जहाँ तक वह मानता है कि सुधार-आन्दोलन केवल चर्च की बुराइयो के प्रति विद्रोह न था अपितु इसने धर्म को एक नया दर्शन दिया। जहाँ तक बुराइयों के विद्रोह का सम्बन्ध है उसका प्रारम्भ पहले ही हो चुका था पर ईसाई धर्म-दर्शन पर पुनर्विचार नहीं हुआ था। यह धर्म-सुधार आन्दोलन द्वारा सर्वप्रथम हुआ। ईश्वर का सिद्धान्त मानव को आवश्यकताओ के अधीन हो गया था, किन्तु लूथर ने इसे पृथक् किया। उसने कहा कि ईश्वर विश्वधर्म का केन्द्र है। यही से मानव-आवश्यकताएँ ईश्वर की कल्पना के चारो ओर घूमने लगती हैं। एल्टन के अनुसार धर्म-सुधार के बाह्य और आन्तरिक पक्ष थे। बाह्य पक्ष का सम्बन्ध चर्च की बुराइयो से था जिसके प्रति विद्रोह किया गया। इस विद्रोह का श्रीगणेश मध्ययुग मे ही हो गया था। चर्च के सगठन मे सुधार करने, चर्च मे पोप की निरपेक्ष शक्ति के दावे को ठुकराने और चर्च के अधिकार के लिए एक व्यापकतर आधार की माँग करने की सीमाओ मे यह परिषदीय आन्दोलन (Conciliar Movement) की ही प्रत्यावृत्ति कहा जा सकता था।[1] यदि परिषदीय आन्दोलन सफल हो जाता तो सम्भवत. धर्म-सुधार आन्दोलन का जन्म ही नही होता। परिषदीय आन्दोलन के विफल होने पर भी उसकी प्रेरक शक्ति सजीव थी जिसने धर्म-सुधार आन्दोलन के रूप मे अपना विस्फोट किया। आन्तरिक पक्ष मे सर्वप्रथम धर्म-सुधार के बाद ईसाई-दर्शन पर पुनर्विचार किया गया। ईश्वर को मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति का साधन माना गया जबकि पहले व्यक्ति की आवश्यकताओ को केन्द्र माना जाता था जिसके चारो ओर ईश्वर की कल्पना घूमती थी। इस तरह एल्टन ने इस आन्दोलन को धार्मिक क्षेत्र से क्रान्ति का रूप प्रदान किया। कोहलर का कहना कि यह आन्दोलन धर्म के क्षेत्र मे भी एक प्रक्रिया ही था, एक सीमा मे सही है। कोहलर ने केवल धर्म-सुधार के संस्थागत पहलू की बात की है। उसके अनुसार आन्दोलन ने उस सिद्धान्त पर आक्रमण किया जो यह कहता था कि रोम का पोप चर्च का सर्वोच्च अध्यक्ष होना चाहिए और चर्च का सगठन पदसोपान अर्थात् शिखरोन्मुखी आधार पर होना चाहिए। इसके विरोध मे पहले ही आवाजें उठने लगी थी। राष्ट्रीय स्वायत्त चर्च का विचार उत्तर मध्ययुग मे शुरू हो चुका था जो पद-सोपान सगठन के विरुद्ध था। अतः धर्म-प्रचार ने उस प्रक्रिया को ही आगे बढाया जो उत्तर मध्ययुग मे शुरू हो गई थी।

इस आन्दोलन का प्रवर्तक जर्मन भिक्षु मार्टिन लूथर (1483-1546 ई.) था। उसने 31 अक्टूबर, 1517 ई. को सैक्सनी राज्य के विटेनबर्ग नगर के चर्च के प्रांगन के दरवाजे पर तत्कालीन ईसाइयत और पोप के सिद्धान्तो से मतभेद व्यक्त करने वाले अपने 95 मन्तव्य (Theses) कील से टाँगकर प्रोटेस्टैण्ट धर्म-सुधार आन्दोलन का सूत्रपात किया। लूथर को अन्य सभी पूर्ववर्ती सुधार आन्दोलनों

1 *Harmon* : Political Thought from Plato to the Present, p. 174.

की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त हुई। इस सफलता में अनेक राजनीतिक एवं धार्मिक कारणों ने योग दिया। सबसे प्रमुख कारण यह था कि उत्तरी जर्मनी के विभिन्न राजाओं ने उसे सहयोग और जनता ने समर्थन प्रदान किया। जर्मन राजा जर्मनी में रोमन चर्च की विशाल सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे और ऐसा तभी हो सकता था जब वे पोप का सफल प्रतिरोध कर पाते। वे यह भी चाहते थे कि उनके अपने देश से चर्च के विभिन्न प्रकार के करों द्वारा रोम को जाने वाला विशाल धन-प्रवाह रुक जाए। जनता भी इन विभिन्न कर-भारों एवं चर्च के भ्रष्टाचारों से ऊब चुकी थी। उसमें यह भावना घर करने लगी थी कि उनके कठोर श्रम से उपार्जित धन का इटली वालों के भोग-विलास पर अपव्यय किया जाता है। इस भावना से धर्म-सुधार आन्दोलन को राष्ट्रीय रूप मिल गया। मार्टिन लूथर की इस अपील ने जनता के मन-मानस पर बड़ा प्रभाव डाला कि—"इस धरती पर अब तक हुए और भविष्य में होने वाले चोरों और लुटेरों में रोम सबसे बड़ा है। हम गरीब जर्मनों को ठगा जा रहा है। हमारा जन्म शासक बनने के लिए हुआ था किन्तु हमें अत्याचारियों के जुए के नीचे अपना सिर झुकाने को बाध्य किया जा रहा है। अब वह समय आ गया है, कि स्वाभिमानी ट्यूटोनिक (जर्मन) जाति रोम के पोप की कठपुतली बने रहना बन्द करदे।"[1]

स्पष्ट है कि प्रारम्भ और उद्देश्य के दृष्टिकोण से सुधारवादी आन्दोलन धार्मिक होने पर भी घटना-चक्रवश ट्यूटोनिक तथा लेटिन जातियों का राजनीतिक संघर्ष भी बन गया जिसने एक तरफ तो जटिल राजनीतिक प्रश्न उपस्थित कर दिए और दूसरी तरफ इन प्रश्नों पर राजनीतिक चिन्तन में सहयोग प्रदान किया। मैक्सी (Maxey) के शब्दों में, "यह विद्रोह वास्तव में धार्मिक एवं राजनीतिक था।"[2]

सुधार आन्दोलन के प्रमुख नेता और उनके राजनीतिक विचार
(Prominent Leaders of the Movement and their Political Ideas)

मार्टिन लूथर (Martin Luther, 1483–1546)

इस महान् आन्दोलन के प्रवर्तक मार्टिन लूथर का जन्म ट्यूटोनिक जाति के एक कृषक परिवार में 1483 ई. में हुआ था और 1546 ई. में उसका देहावसान हो गया। मैकियावली से केवल 14 वर्ष छोटा होने के कारण वह उसका लगभग समकालीन था। अतः यह अस्वाभाविक नहीं था कि उस पर भी पुनर्जागरण का कुछ प्रभाव पड़ा हो। अपनी भावना और पद्धति में वह मानववादी था, अतः इस दृष्टि से पुनर्जागरण का शिशु था, किन्तु अपने धार्मिक विद्रोह में वह इससे सर्वथा अप्रभावित था। यह कहना ही अधिक उपयुक्त है कि पुनर्जागरण (Renaissance) का वह दत्तक शिशु था क्योंकि "स्वभावतः वह उसकी (पुनर्जागरण की) भावना

1 *H. S. Bettenson* : Documents of the Christian Church, p 278–79.
2 "The great revolt was almost as much a political as a religious rebellion."
—*Maxey* : Political Philosophies, p. 154.

का उत्तराधिकारी नही था और न ही उसकी समस्त प्रवृत्तियों का। वह उसकी पद्धतियों और सिद्धान्तो को केवल इसलिए स्वीकार करता था, क्योंकि वे उसके लिए आवश्यक थे।"[1] उसके द्वारा प्रारम्भ किए गए धर्म-सुधार आन्दोलन के मूल में पुनर्जागरण की भावना नही थी।

लूथर प्रारम्भ से ही धार्मिक प्रवृत्ति का था। 1507 ई. मे एक पादरी के रूप में प्रतिष्ठित होकर वह विटेनबर्ग के विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुआ। 1510–11 ई के बीच उसने रोम की धार्मिक यात्राएँ की। अपनी रोम-यात्रा में पोप की अनैतिकता और धर्माधिकारियो की धन-लोलुपता ने उसके हृदय मे चर्च-सुधार की तीव्र इच्छा जगा दी। उस समय तक उसके मन में सम्भवतः ऐसा कोई विचार न था कि उसे चर्च से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना चाहिए अन्यथा कोई बडा ही क्रान्तिकारी कदम उठाना चाहिए। किन्तु शीघ्र ही एक और घटना ने उसके धार्मिक हृदय को गम्भीर आघात पहुँचाया। टेटजेल (Tetzel) नामक एक पादरी ने विटेनबर्ग मे पाप-विमोचन के लिए क्षमा-पत्र (Indulgences) नामक एक अत्यन्त ही निकृष्ट सिद्धान्त का प्रचार आरम्भ किया, जिसके अनुसार कोई भी पापी चर्च को कुछ धन देकर अपने पापो का शमन करा सकता था और मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी बन सकता था। अब लूथर चुप न रह सका। इन उपदेशो के विरोध और अपने धार्मिक सुधारो के पक्ष मे उसने विटेनबर्ग मे चर्च के द्वार पर 95 क्रान्तिकारी प्रस्ताव अथवा मन्तव्य (Theses) लिख कर चिपकाए जिनमें चर्च की मान्यताओ का खण्डन करने के लिए कहा गया कि कर्मकाण्ड के पालन से मोक्ष नही मिल सकती। इस पर पोप के अधिकारियो के साथ उसका कटु वाद-विवाद हुआ और उसे धर्म-बहिष्कृत कर दिया गया। इस प्रकार लूथर के सुधारवादी आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। यह घटना 1516–17 ई. के आसपास घटी।

मार्टिन लूथर के राजनीतिक विचार (Political beliefs of Martin Luther)—मार्टिन लूथर का कोई क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन नही है और जो कुछ भी है वह एक विलक्षण विरोधाभास है।

लूथर ने पोप के विरुद्ध जर्मन की राष्ट्रीय भावनाओ को जाग्रत करते हुए स्पष्ट किया कि पोप ने अवैध रूप से शक्ति अपने हाथो मे संचित कर रखी है। लौकिक मामलों मे पोप का हस्तक्षेप अनुचित है। पोप का रोम के चर्च से बाहर के प्रदेशो पर कोई अधिकार नहीं है और जर्मनी मे तथा अन्य देशो मे चर्च की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार वहाँ के शासको का है। पोप तथा अन्य पादरी केवल चर्च के अधिकारी हैं और लौकिक शासको के लिए उनमें तथा अन्य नागरिको मे कोई भेद नही है। उसने धार्मिक कानून (Canon Law) को सांसारिक सत्ता, शक्ति और सम्पत्ति हस्तगत करने का धर्मशास्त्र विरोधी साधन बतलाया।

सेबाइन महोदय के अनुसार, "चर्च तथा राज्य के सम्बन्ध मे लूथर के विचारो की परम्परा चौदहवी शताब्दी से चली आ रही थी। उसने रोमन चर्च के

1 *Adams* : Civilization during the Middle Ages, p 406

ऊपर जो आरोप लगाए थे—रोम के दरबार के विलास-प्रिय और अनाचारी जीवन, जर्मनी के मठों आदि से प्राप्त होने वाली आय का रोम के कोष में चला जाना, जर्मनी के चर्चों में उच्च पदों पर विदेशी धर्माचार्यों की नियुक्तियों, पोप के न्यायाधीशों का भ्रष्टाचार और उसके द्वारा पापमोचन सम्बन्धी प्रमाण-पत्रों की बिक्री ये सब पुरानी शिकायतों से सम्बन्ध रखते थे।" लूथर के तर्क का आधार यह सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त को कसीलियर वाद-विवाद ने प्रस्तुत किया था कि "चर्च पृथ्वी के समस्त ईसाई मतावलम्बियों की सभा है।" पादरियों के विशेषाधिकारों तथा विमुक्तियों की आलोचना करते समय उसने पोप-विरोधी तर्कों का ही प्रयोग किया था। उसका कहना था, "पद सम्बन्धी अन्तर केवल प्रशासनिक सुविधा के कारण है, समुदाय के प्रति सभी वर्गों के मनुष्यों के कर्त्तव्य हैं चाहे वे जन-साधारण हो या पादरी। इसलिए कोई कारण नहीं है कि लौकिक मामलों में जन-साधारण की भाँति पादरी वर्ग भी उत्तरदायी न हो।"

अपने स्वभाव और अन्त करण की स्वतन्त्रता में अपने दृढ़ विश्वास के कारण धार्मिक विषयों में लूथर विवशकारी शक्ति (Coercive Force) में विश्वास नहीं करता था। धार्मिक मामलों में बल-प्रयोग के प्रति उसने लिखा था, "विधर्मिता को बल द्वारा दूर नहीं किया जा सकता। उसके लिए एक अन्य साधन की आवश्यकता है और वह साधन तलवार तथा संघर्ष के साधन से भिन्न है यहाँ ईश्वर के वचन को लड़ना चाहिए। यदि उससे कोई फल नहीं निकलता तो लौकिक शक्ति इस मामले को कभी नहीं सुलझा सकती। हाँ, वह दुनिया को खून से भर सकती है।" लूथर का विश्वास था कि धर्म का वास्तविक तत्व आभ्यान्तरिक अनुभव में है जो रहस्यात्मक और अवर्णनीय है। उसके बाहरी रूप और पादरी वर्ग के विधि-निषेध इस उद्देश्य की प्राप्ति में या तो सहायक होते हैं या बाधक। बल-प्रयोग किसी भी दशा में धर्म की अभिवृद्धि में सहायक नहीं हो सकता।

यद्यपि लूथर धार्मिक बल-प्रयोग के विरुद्ध था लेकिन वह यह नहीं समझ सका कि धर्म, धार्मिक अनुशासन और सत्ता के बिना किस प्रकार काम चला सकता है। "सकोचपूर्वक लेकिन विश्वासपूर्वक वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विधर्मिता का और विषमतायुक्त शिक्षा का दमन होना चाहिए। इस स्थिति में, अपनी प्रवृत्ति के बावजूद, उसने बल-प्रयोग को आवश्यक समझा। चूंकि चर्च अपनी दुर्बलताओं को खुद ठीक नहीं कर सकता था, अतः उन दुर्बलताओं को ठीक करने का उत्तरदायित्व लौकिक शासकों पर आ गया। अतः उससे अच्छा और एकमात्र अवशिष्ट उपाय यह रह गया कि राजा, शासक, कुलीन, नगर और समुदाय धर्म-सुधार प्रारम्भ कर दें। जब-जब वे ऐसा करेंगे तो बिशप और पादरी जो इस समय डरते हैं, विवेक का अनुसरण करने के लिए विवश हो जाएँगे। लूथर का अब भी इस प्राचीन धारणा में विश्वास था कि यह सकट का सामना करने के लिए एक अस्थाई पद्धति है। उसने कहा कि राजा और शासक 'आवश्यकतावश बिशप' हैं। लेकिन उसके रोम से सम्बन्ध-विच्छेद का व्यावहारिक परिणाम यह हुआ कि लौकिक शासक अपने प्रान्त

ही सुधार का साधन बन गया और वही यह निर्णय करने लगा कि सुधार क्या किया जाए।"[1]

धर्म-सुधार की सफलता के लिए शासकों पर निर्भर हो जाने से लूथर के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह इस सिद्धान्त पर बल दे कि प्रजा को विनम्रतापूर्वक अपने शासकों की आज्ञा माननी चाहिए। उसने शासकों को देवता स्वरूप और सामान्य मनुष्य को 'शैतान' मानते हुए कहा—"इस संसार के शासक देवता हैं और सामान्य मनुष्य शैतान हैं। सामान्य मनुष्यों के माध्यम से ईश्वर कभी-कभी ऐसे कार्य करता है जो वह सीधे शैतान के माध्यम से करता है। उदाहरण के लिए वह मनुष्य के पापों के दण्ड के तौर पर विद्रोह करवाता है।" लूथर ने कहा—"मैं जनता के न्यायपूर्ण कार्य की तुलना में शासक के अन्यायपूर्ण कार्य को सहन कर लूँ।" निष्क्रिय आज्ञापालन (Passive Obedience) का प्रबल समर्थन करते हुए उसने घोषित किया—"अपने से ऊँचे लोगों की आज्ञा का पालन करना और उनकी सेवा करना, इससे अच्छा और कोई नहीं है। इसीलिए अवज्ञा, हत्या, अपवित्रता, चोरी और बेईमानी, इन सबसे बड़े पाप हैं।"

लूथर ने एक ओर तो आरम्भ में यह शिक्षा दी कि पादरियों अथवा धर्माधिकारियों के दुराचारों को रोककर उनका सुधार करना व्यक्ति का कर्त्तव्य है किन्तु जर्मनी के कृषकों द्वारा सामाजिक न्याय के नाम पर अपने शासकों के विरुद्ध विद्रोह करने पर शासकों का पक्ष लेते हुए लूथर ने सामन्तों को सलाह दी कि वे विद्रोह को दबाने के लिए निर्दयतापूर्वक विद्रोहियों की हत्या कर दें। राजाओं के अधिकार का समर्थन करते हुए उसने घोषणा की—"इन परिस्थितियों में हमारे राजाओं को समझना चाहिए कि वे भगवान के प्रकोप को क्रियान्वित करने वाले अधिकारी हैं। दैवी प्रकोप ऐसे दुष्टों को दण्ड देने की आज्ञा देता है। इन परिस्थितियों में जो राजा रक्तपात से बचना चाहेगा, वह उन सब हत्याओं और अपराधों के लिए उत्तरदायी होगा, जो ये भूखर (विद्रोही किसान) कर रहे हैं। उन्हें बन्दूक के बल पर अपने कर्त्तव्य समझाए जाने चाहिए।"[2]

पुनश्च, जहाँ लूथर ने एक ओर तो व्यक्तियों के लिए सविनय आज्ञापालन का सिद्धान्त रखा और राजाओं के प्रति सक्रिय विरोध की निन्दा की वहाँ दूसरी ओर सम्राट के अधीन राजागण द्वारा सम्राट की अवहेलना करने के विचार का पोषण किया, यदि वह (सम्राट) अपनी शक्ति का उल्लंघन करे। वास्तव में लूथर का यह परस्पर विरोधी दृष्टिकोण था। एक विचार का एक स्थान पर समर्थन करके दूसरे स्थान पर उसने उसी विचार का खण्डन कर दिया था। इसी तरह उसने पोप और सम्राट दोनों की सत्ता का विरोध करते हुए राजाओं की सत्ता का समर्थन किया।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 327–28
2 *Bowle* : Western Political Thought, p. 275.

इस संगतिहीन एवं विरोधी दृष्टिकोण का एक बड़ा कारण यही था कि लूथर सम्राट की शक्ति कम करने का सर्वोत्तम उपाय यह मानता था कि राजाओं को अपने पक्ष में कर लिया जाए। साथ ही राजाओं को अपने पक्ष में करके ही वह पोप को प्रभावहीन बना सकता था। सेबाइन के अनुसार—"शासकों के ऊपर सम्राट की वास्तविक शक्ति केवल नाममात्र की थी। इसलिए, इस असंगति का व्यवहार में कोई विशेष महत्त्व न था। सब मिलाकर लूथर निश्चित रूप से इस सिद्धान्त का समर्थक था कि शासन संस्था विरोध करना नैतिक दृष्टि से अनुचित है।"[1]

लूथर के विचारों में विरोधाभास इस बात में भी है कि इस तरफ से उसने शासकों को 'देवता' कहा और दूसरे स्थान पर उन्हें साधारणतः धरती पर सबसे बड़ा मूर्ख और निकृष्टतम धूर्त कहा। अब ऐसे मूर्खों और धूर्तों की आज्ञापालन के सर्वसाधारण के अशर्त कर्त्तव्य पर बल देना कहाँ तक युक्ति-सगत था? आगे उसने कहा कि यदि कोई राजा व्यक्ति से अपना धर्म-त्याग करने को कहे तो व्यक्ति को राजाज्ञा ठुकरा देनी चाहिए और सहर्ष दण्ड भुगत लेना चाहिए। इन सबका अर्थ यही निकलता है कि लूथर की विचारधारा में 'राज्य के प्रति भक्ति ईश्वर के प्रति निष्ठा से सीमित' थी।

अन्त में यह कहना होगा कि लूथर के सभी सिद्धान्त तत्कालीन परिस्थितियों के परिणाम थे। राजाओं ने वैयक्तिक स्वार्थवश लूथर का समर्थन किया और उसे संरक्षण दिया, अतः लूथर ने उन्हें पोप एवं सम्राट से स्वतन्त्र बतलाते हुए उनके दैवी अधिकारों का पोषण किया। पादरीगण के साधारण नागरिक होने और इसलिए राजकीय कानूनों और न्यायालयों के अधीन होने के विचार ने 16वीं शताब्दी में राजतन्त्र को बड़ा सहारा दिया। आधुनिक यूरोपीय विचार में लूथर उदारवाद का प्रवर्तक नहीं, बल्कि राज्यवाद (Statism) का सदेशवाहक सिद्ध हुआ। मैकगवर्न ने लूथर के विचारों पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखा है "लूथर ने चर्च में सुधार करने के तर्क से, आरम्भ किया और अन्त किया राज्य-सुधार के पक्ष में। उसने आरम्भ तो किया वैयक्तिक स्वतन्त्रता और आत्मा की स्वतन्त्रता के पक्ष को लेकर किन्तु अन्त में उसके सिद्धान्तों ने प्रतिपादित यही किया कि राजाओं को दैवी अधिकार प्राप्त हैं तथा उन्हें व्यक्तियों के बीच धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार का भी पूरा अधिकार है। लूथर ने आरम्भ तो किया अन्तर्राष्ट्रीयतावादी की भाँति सभी राष्ट्रों की जनता के लिए एक सन्देश के साथ किन्तु अन्त किया एक ऐसे शक्तिशाली राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के साथ जो सदैव के लिए उन्हें एक दूसरे का विरोधी बना देता है। उसने आरम्भ किया इस विचार से कि मानव जाति में मौलिक रूप में समानता है किन्तु उपसंहार किया इसी विचार में कि सभी लोगों को आँख मूँदकर अपने राज्याधिकारियों की निरकुश इच्छा के अधीन रहना चाहिए।"[2]

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 329.

2 *Mc Govern* : From Luther to Hitler, p. 31.

लूथर की रचनाएँ—मार्टिन लूथर ने अधिकांशतः अपनी लेखनी धार्मिक साहित्य-निर्माण में ही चलाई किन्तु इन्हीं ग्रन्थों में अपने राजनीतिक विचारों का भी स्पष्टीकरण किया। राजनीतिक विचारों की दृष्टि से उसके ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—

1. 'टेबिल टॉक' (Table Talk),
2. 'लेटर टू दी जर्मन नोबिलिटी' (Letter to the German Nobility)
3. 'ऑफ सेक्यूलर ऑथोरिटी' (Of Secular Authority), तथा
4. 'लिबर्टी ऑफ ए क्रिश्चियन मैन' (*Liberty of a Christian Man*)

मेलांकथॉ (Melanchthon, 1497– 1560)

मार्टिन लूथर का शिष्य द्वितीय फिलिप मेलांकथॉ (1497–1560) मैक्सी की दृष्टि में सुधारवादी क्रान्ति का वास्तविक दार्शनिक था क्योंकि वह लूथर की अपेक्षा अधिक बुद्धिवादी, विनम्र, मानवतावादी और समन्वयवादी था। उसने सुधारवादी क्रान्ति का सैद्धान्तिक दर्शन प्रस्तुत करने की चेष्टा की और इसीलिए अपने विचारों को क्रमबद्ध करने का प्रयत्न किया, लेकिन क्रान्ति में भाग लेने के फलस्वरूप उसे लूथर के समान ही विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ा और फलस्वरूप उसके विचारों में भी आत्म-विरोध और असंगतियाँ प्रवेश कर गईं।

मेलांकथॉ ने राजनीतिक और नैतिक विचारों की अभिव्यक्ति उसकी कृति 'ओपेरा' (Opera) में हुई है। मेलांकथॉ ने अपने राजनीतिक चिन्तन का आधार प्राकृतिक विधि और प्राकृतिक अधिकार को बनाया तथा यह मान्यता प्रकट की कि विश्व में कोई एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था अवश्य है जो प्राणिमात्र के जीवन को सचालित करती है। मेलांकथॉ ने प्राकृतिक विधि के दो स्रोत माने—प्रथम, बाइबिल में और द्वितीय, प्रत्यक्ष प्रकृति में। उसने कहा कि बाइबिल के Decalogue में दिए गए प्रथम ईश्वरीय आदेश और अन्तिम छः ईश्वरीय आदेश प्राकृतिक विधियों तथा प्राकृतिक अधिकारों के स्वरूप और प्रकृति पर प्रकाश डालते हैं। इन ईश्वरीय आदेशों में इस बात का विवेचन मिलता है कि मनुष्य का ईश्वर के प्रति और अपने साथियों के प्रति क्या कर्त्तव्य है। मेलांकथॉ के अनुसार बाइबिल के Decalogue से निर्णीत किए गए अथवा प्रकृति के निरीक्षण से तार्किक विवेक द्वारा मानव प्रकृति के सम्बन्ध में निरूपित किए गए सभी मानवीय सम्बन्ध वास्तव में प्राकृतिक अधिकार हैं।[1]

मेलांकथॉ ने ईश्वर की इच्छा को राजसत्ता का आधार माना और कहा कि तर्कों द्वारा भी उसे प्राकृतिक सिद्ध किया जा सकता है। मेलांकथॉ ने राजसत्ता का मुख्य कर्त्तव्य यह माना कि वह मानव स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा करे, शान्ति की व्यवस्था करे, अपराधियों को दण्ड दे और लोगों में धार्मिकता तथा नैतिकता का संरक्षण और विकास करे।

1 *Dunning* : op. cit., p. 17, Vol. II.

स्वतन्त्रता और सम्पत्ति दोनों को मेलांकथां ने प्राकृतिक माना और इसके पक्ष में बाइबिल के Decalogue के उस कथन का हवाला दिया जिसमें सम्पत्ति के लिए कहा गया है कि उसका अपहरण नहीं किया जाएगा। पर मेलांकथां ने साथ ही यह भी कहा कि यदि इस दैव प्रदत्त सम्पत्ति का दुरुपयोग किया जाए तो राजसत्ता को उसे छीन लेना चाहिए। वास्तव में मेलांकथां यह चाहता था कि कैथोलिक मठों और रोमन चर्च की सम्पत्ति का दुरुपयोग न होने पाए, उस पर समुचित नियन्त्रण के लिए राजसत्ता का हस्तक्षेप बना रहे।

धर्मसत्ता और राजसत्ता के बीच सम्बन्ध पर अपने विचार व्यक्त करते हुए मेलांकथां ने कहा कि "राज्य का कार्य केवल पेट-पूजा की व्यवस्था ही नहीं है वरन् आत्मा का कल्याण भी है।" आत्मिक कल्याण के लिए राज्य द्वारा उन बाह्य व्यवस्थाओं का निर्माण किया जाना चाहिए जिनमें व्यक्ति का आन्तरिक विकास हो सके। मेलांकथां ने कहा कि आत्मिक और भौतिक कार्यों के बीच ऐसी कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती कि दोनों एक दूसरे से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र रहें तथा एक के बिना दूसरे का काम चल सके। दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है और इस सत्य को स्वीकार किया जाना चाहिए। राज्य के कार्य ऊपर से देखने पर भले ही भौतिक लगें पर अन्तिम रूप से उसका मूल उद्देश्य भी आध्यात्मिक ही है। धर्मसत्ता का प्रमुख कार्य ईश्वरीय उपदेशों को लोगों तक पहुँचाना और ईश्वर की महानता में लोगों का विश्वास बनाए रखना है लेकिन इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भौतिक साधनों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

ज्विंगली (Zwingli, 1484–1531)

अलरिच ज्विंगली (1484–1531) लूथर का समकालीन और सुधारवादी क्रान्ति का एक मुख्य प्रवर्तक था जिसने स्विट्ज़रलैण्ड में क्रान्ति की आग सुलगाई ज्विंगली का प्रोटेस्टेन्ट धर्म लूथर के प्रोटेस्टेन्ट धर्म की अपेक्षा अधिक उग्र और क्रान्तिकारी था। ज्विंगली ने प्रत्येक मत की धार्मिक स्वतन्त्रता और सभी धर्मों की राजनीतिक स्वतन्त्रता में विश्वास प्रकट किया। इटली में पोप के विलासी जीवन को देखकर ज्विंगली का मन क्षुब्ध हो उठा और उसने पोप की शक्ति को नीचा दिखाने का संकल्प ले लिया। उसे यह उचित लगा कि पोप के ऊपर राजदण्ड का अधिकार रहे ताकि धार्मिक आदर्शों का विनाश न हो सके। स्विट्ज़रलैण्ड के इस धर्म-सुधारक ने 1519 ई. में क्षमा-पत्रों के विक्रेताओं को ज्यूरिच से निकाल दिया, पोप द्वारा स्विस नवयुवकों को सेना में भर्ती करने का विरोध किया और 1529 ई में पोप के विरुद्ध अपने प्रसिद्ध '67 थीसिस' के प्रश्न दिए। ज्विंगली ने पोप की बुराइयों को प्रकट किया और पोप, पादरी, मठ आदि का अन्त करने का सिद्धान्त रखा। लूथर के साथ उसके मतभेद सुलझ नहीं सके। 1531 ई से स्विट्ज़रलैण्ड की कैथोलिक कैण्टनों की लीग और प्रोटेस्टेन्टों की लीग में युद्ध हुआ जिसमें प्रोटेस्टेन्टों की पराजय हुई और ज्विंगली युद्ध में मारा गया।

ज्विंगली ने लूथर के विपरीत धर्म का सुधार तलवार के बल पर करने में निष्ठा व्यक्त की और अपने विचारों को कार्यान्वित भी किया। पर सिद्धान्त और साधन में ही मतभेद था, उद्देश्य में नहीं और इसीलिए परिणाम की दृष्टि से लूथर तथा ज्विंगली दोनों ही सुधारवादी क्रान्ति या आन्दोलन के दो अंग थे। लूथर की भाँति ही ज्विंगली ने चर्च को एक अदृश्य और पूर्णतः आन्तरिक संस्था माना और कहा कि इस आन्तरिक धर्म के लिए अपनाई जाने वाली पूजा तथा उपासना प्रणालियाँ बाह्य हैं, अतः उनका राज्याधिकार के अन्तर्गत होना उचित है। दूसरे शब्दों में ज्विंगली ने धार्मिक क्षेत्र में उन सभी बातों पर राज्य का क्षेत्राधिकार माना जिन्हें आँखों से देखा जा सकता था और जो बाह्य रूप से औपचारिक थे। ज्विंगली ने कहा कि धार्मिक संगठन और अनुशासन भी आन्तरिक से होकर बाह्य वस्तुएँ हैं। अतः इन पर राज्य का क्षेत्राधिकार होना चाहिए। ज्विंगली के इन विचारों पर टिप्पणी करते हुए डनिंग ने कहा कि "उसकी व्यवस्था ने राज्य और चर्च को एक ही संगठन में डाल दिया।"

राजसत्ता की निरंकुशता पर लूथर से साम्य रखते हुए ज्विंगली ने भी निष्क्रिय आज्ञापालन की नीति का समर्थन किया और कहा कि जब तक राजाज्ञा धर्मविरुद्ध न हो तब तक जनता को उसका प्रतिकार करने या उसकी अवज्ञा करने का अधिकार नहीं है यदि राजाज्ञा धर्म-विरुद्ध नहीं है तो उसका हर सूरत में पालन किया जाना चाहिए, चाहे उस आज्ञा से प्रजा को पीड़ित ही होना पड़े। ज्विंगली ने यह भी कहा कि चर्च की धार्मिक सम्पत्ति बाह्य वस्तु है अतः उस पर राज्य सत्ता का नियन्त्रण अपेक्षित है। वस्तव में ज्विंगली राष्ट्रीयता का पोषक था और स्विट्ज़रलैण्ड की धार्मिक व्यवस्था पर उसका ध्यान अन्त तक केन्द्रित रहा। उसका यह विश्वास था कि राज्य की शक्ति के सहारे ही धार्मिक क्षेत्र में सुधारवादी विचारों का प्रसार सम्भव है।

काल्विन (Calvin, 1509-1564)

जॉन काल्विन लूथर के समान ही जबरदस्त धर्म-प्रचारक था। धर्म-सुधार राजनीतिक विचारों को क्रमबद्ध रूप से रखने और उनका अधिक गतिशील विवेचन करने का श्रेय काल्विन को ही दिया जाता है और इसलिए कभी-कभी उसको सुधार आन्दोलन का 'सिद्धान्तवेत्ता' (Law-giver) भी कह देते हैं। उसके प्रति सद्ग्रन्थ 'इन्स्टीट्यूट्स ऑफ क्रिश्चियन रिलिजन' (Institutes of Christian Religion) में उसके द्वारा प्रोटेस्टेन्ट धर्म का एक तर्कपूर्ण, क्रमबद्ध एवं व्यापक विवेचन मिलता है।

फ्रांस के पिकार्डी नामक नगर में सन् 1509 ई. में उत्पन्न हुए कानून के पण्डित काल्विन का प्रारम्भ से ही धर्म और राजनीति-शास्त्र की ओर झुकाव था। समकालीन व्यवस्थाओं के अध्ययन से उसको दृढ़ विश्वास हो गया कि धर्म-सत्ता और राज-सत्ता में गम्भीर सुधार की आवश्यकता है। अतः उसने अपने विचारों का प्रचार शुरू कर दिया जिनके प्रभाव और उपयोगिता के कारण वह

सुधारवादी आन्दोलन के एक महानतम विचारक के रूप मे प्रसिद्ध हुआ । 1533 ई. के लगभग प्रोटेस्टेन्टवाद मे परिवर्तन हो जाने के बाद उसे कैथोलिक प्रधान फ्रांस से भाग कर स्विट्जरलैण्ड मे शरण लेना पड़ी । यहाँ बेसिल (Basel) मे उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'इन्स्टीट्यूट ऑफ क्रिश्चियन रिलिजन' लिखी । जेनेवा (स्विट्जरलैंड) मे वह लगभग 3 वर्ष तक ठहरा और प्रोटेस्टेन्टो के सगठन मे सहायता देता रहा । किन्तु अपने कठोर व्यवहार और नियमो के कारण उसे जनता का कोपभाजन बन कर जेनेवा से चले जाना पड़ा, पर शीघ्र ही उसे वापस बुला लिया गया । उसकी अनुपस्थिति मे जेनेवा वासियो ने महसूस किया कि उसके बिना उनका काम नही चल सकता था । काल्विन एक अत्यन्त ही कुशल प्रशासक था और जेनेवा गणराज्य को उस जैसे व्यक्ति की आवश्यकता थी । वहाँ उसे अपने विचारो के अनुसार धर्म प्रधान शासन स्थापित करने मे सफलता मिली । उसकी लोकप्रियता और शक्ति दिन-प्रति-दिन बढती गई । 1564 ई. मे अपनी मृत्यु तक वह इस नगर का धार्मिक और राजनीतिक तानाशाह बना रहा ।

काल्विन के राजनैतिक विचार (Political beliefs of Calvin)— 'इन्स्टीट्यूट ऑफ दी क्रिश्चियन रिलिजन' लिखने मे काल्विन के विशिष्ट उद्देश्य थे । प्रथम, वह बाइबिल के उपदेशो के अनुसार उत्तम ईसाई जीवन व्यतीत करने के बारे मे व्यवस्थित ढग से आवश्यक व्यवस्थाओ एवं कुछ मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना चाहता था । वह प्रोटेस्टेन्टो के लिए एक ऐसी शक्ति चाहता था जो उनके लिए उसी तरह का काम करे जैसे रोमन चर्च,कैथोलिको के लिए करता था । दूसरे, काल्विन फ्रांस के प्रोटेस्टेन्टो पर 1535 ई. से प्रकाशित हुए उस आक्रमण का मुँहतोड उत्तर देना चाहता था जिसमे उन्हे जर्मन नास्तिको बराबर ठहराया गया था और जनता का शत्रु कहा गया था ।

काल्विन ने बतलाया कि ईश्वर की निरपेक्ष सम्प्रभुता सम्पूर्ण विश्व मे विद्यमान है । यह सम्पूर्ण विश्व विराट ईश्वरीय नियति के चक्र मे बँधा हुआ है और समस्त घटनाएँ ईश्वरीय सकल्प का परिणाम हैं । सामाजिक और राजनीतिक सस्थाएँ, उदाहरणार्थ परिवार, सम्पत्ति, चर्च और राज्य भी ईश्वरीय इच्छा का ही एक अर्थ मे प्रतिनिधित्व करती हैं । चर्च और राज्य मिलकर पृथ्वी पर ईश्वरीय साम्राज्य स्थापित करें, यही कल्याणकारी कार्य है ।

काल्विन के धर्म का मूलमन्त्र था--मनुष्य ईश्वर का चुना हुआ उपकरण है । मनुष्य की इच्छा को फौलादी और उसके हृदय को कठोर बनाने के लिए इससे अच्छा और कोई सिद्धान्त नही हो सकता था । काल्विन के इस नियतिवाद के सिद्धान्त का सार्वभौम दुर्घटना की वर्तमान सकल्पना से कोई सम्बन्ध न था । उसने ससार और मनुष्य के ऊपर ईश्वर की प्रभुसत्ता का भरपूर बखान किया था ।

काल्विन ने स्विस विचारक ज्विगली (Zwingli) के इस विचार का खण्डन किया कि धर्म तथा राज्य का एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत एकीकरण किया जाए । ज्विगली ने चर्च और राज्य को अभिन्न मानते हुए कहा था कि समाज को अपने

राजनीतिक और धार्मिक विषयों के नियन्त्रण का अधिकार होना चाहिए। इसके विपरीत काल्विन का विचार था कि चर्च और राज्य दोनों ईश्वर द्वारा सर्वथा पृथक् प्रयोजनों की पूर्ति के लिए बनाए गए हैं अतः उन्हें स्वतन्त्र एवं पृथक् ही बनाए रखना चाहिए। उसने कहा कि ईश्वर ने मूसा (Moses) को जो कानून प्रदान किए थे, उसके दो भाग हैं। पहले भाग में वे नियम हैं जो ईश्वर के प्रति मनुष्य के आचरण को निर्धारित करते हैं दूसरे भाग में वे नियम हैं जिनके द्वारा यह निश्चय होता है कि मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए। इन दोनों बातों को लागू करने के लिए ही ईश्वर ने दो अलग-अलग शक्तियों को प्रतिष्ठित किया है। पहली शक्ति के अधिकारी पादरीगण और दूसरी के राजागण हैं। पादरियों का अपना एक चर्च है जिसका उद्देश्य आध्यात्मिक है। उसे अपने को केवल धार्मिक विषयों तक ही सीमित रखते हुए, लौकिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

काल्विन ने चर्च और राज्य की पृथकता स्वीकार करते हुए भी यह माना कि दोनों स्वभाव से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। दोनों की स्थापना ईश्वरीय कानून की पूर्ति के लिए हुई है। दोनों संस्थाएँ ईश्वरीय इच्छा का ही प्रतिनिधित्व करती हैं, अतः दोनों को मिलकर पृथ्वी पर ईश्वरीय साम्राज्य की स्थापना करनी चाहिए पर दोनों में उसने लौकिक संस्थाओं को अधिक महत्त्व दिया। "लौकिक' शासन को चाहिए कि जब तक हम मनुष्य के बीच रहें, वह हमारे भीतर ईश्वर की बाह्य उपासना की भावना उत्पन्न करे, विशुद्ध धार्मिक सिद्धान्त तथा चर्च की रक्षा करे, हमारे जीवन को मानव-समाज के अनुरूप ढाले, राजकीय न्याय के अनुसार जीवन का निर्णय करे, हम में पारस्परिक सामञ्जस्य की भावना उत्पन्न करे तथा शान्ति बनाए रखे।" काल्विन ने धर्म को राज्य की आत्मा मानते हुए बतलाया कि धर्म की रक्षा करना राज्य का सर्वोपरि कर्त्तव्य है। शान्ति एवं व्यवस्था की रक्षा करना राज्य का सर्वोपरि कर्त्तव्य है। सेबाइन के अनुसार, "यह सही है कि काल्विन ने ईसाई धर्म के इस पुराने सिद्धान्त को दोहराया कि सच्चे धार्मिक विश्वास को बल पूर्वक आरोपित नहीं किया जा सकता, लेकिन व्यवहार में नैतिकता लागू करने की राज्य की शक्ति के ऊपर उसने कोई अंकुश नहीं रखा।"

काल्विन ने राज्य का प्रथम कर्त्तव्य माना कि वह भक्ति और धर्म का पोषण करे तथा मूर्ति-पूजा, नास्तिकता और सच्चे धर्म की निन्दा का दमन करे। चर्च अपने सिद्धान्त और नीतियों का निर्धारण करे तथा राज्य द्वारा उनके पालन की व्यवस्था की जाए। इसका अर्थ हुआ कि सैद्धान्तिक रूप से राज्य को धर्मतन्त्र (Theocritic) बना दिया गया। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण जेनेवा गणराज्य की व्यवस्था का दिया जा सकता है जो काल्विनवादियों का गढ़ था और जहाँ काल्विन एक तानाशाह-सा बना हुआ था। वहाँ पादरी लोग राजकीय अधिकारियों को निर्देशन देते थे। उनका प्रजाजनों और शासन पर व्यापक प्रभाव था। काल्विन में लूथर की रहस्यात्मक धार्मिक अनुभूति का अभाव था। जहाँ लूथर ने धर्म के

आन्तरिक पक्ष पर बल दिया वहाँ काल्विन ने आत्म-नियन्त्रण, अनुशासन और जीवन-संग्राम में अपने साथियों के प्रति सम्मान को विशेष महत्व दिया। यही प्युरिटन (Puritan) धर्म की सार्वभौम नैतिक शिक्षाएँ बन गई। अनुशासन और पादरियों के श्रेष्ठतर पद पर बल देने का परिणाम हुआ "सन्तों का असहनीय शासन, अत्यन्त व्यक्तिगत विषयों का घोर विनिमय जो विश्व-व्यापक जासूसी पर आधारित था और जिससे सार्वजनिक व्यवस्था की स्थापना, वैयक्तिक आचार पर पूर्ण नियन्त्रण और विशुद्ध सिद्धान्त तथा उपासना के बनाए रखने में अन्तर अत्यधिक नगण्य था।"

काल्विन ने चर्च के संगठन पर भी विचार व्यक्त किए। उसने लोकतान्त्रिक तत्त्वों का समावेश करते हुए इन बातों पर बल दिया—(1) उचित आचार के नियमों को निश्चित करने वाले महा व्यक्तियों (Elders) की एक सभा (Assembly) हो, (2) नास्तिकों को चर्च से बहिष्कृत करने का अधिकार हो, एवं (3) राज्य धार्मिक मामलों से पृथक् और स्वयं को (चर्च को) लौकिक कार्यों से अलग रखा जाए।

काल्विन के चर्च का संगठन गणतन्त्रीय था। चर्च के मुख्य पदाधिकारी वरिष्ठ सदस्यों द्वारा चुने जाते थे। इस पद्धति के द्वारा नियन्त्रण लागू करने में आसानी होती थी। सैद्धान्तिक रूप से चर्च की शक्ति सम्पूर्ण ईसाई समाज पर थी। जेनेवा में पादरी वर्ग की शक्ति बड़ी व्यापक थी। कुछ देशों में जहाँ काल्विन के मतानुयायी कम संख्या में थे वहाँ राज्य द्वारा इन पर बहुसंख्या का धर्म मानने के लिए अत्याचार होते थे। ऐसे देशों में इन्होंने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों पर अधिक बल दिया।

काल्विन ने मानव-स्वभाव को स्वार्थी, दोषी एवं पतनोन्मुख प्रवृत्ति का बताकर उसको राज्य द्वारा नियन्त्रित किए जाने का समर्थन किया। उसका मत था कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की दुष्ट प्रकृति का विरोध करने के लिए हुई है। उसने घोषित किया कि नियन्त्रण की आवश्यकता और अव्यवस्था को दूर कर सुरक्षा की मानवीय भावना में ही राज्य की उत्पत्ति का रहस्य निहित है। काल्विन के इन विचारों से भावी अनुबन्धवादियों के लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई।

लूथर की भाँति ही काल्विन ने भी निष्क्रिय आज्ञापालन (Passive obedience) पर बल दिया। उसने राज्य की आज्ञा का मूक भाव से पालन करना प्रजा का पवित्र धार्मिक कर्त्तव्य बतलाया। उसने कहा कि लौकिक शक्ति, मुक्ति का बाहरी साधन है, अतः शासक का पद अत्यन्त सम्माननीय है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि है और उसका विरोध करना ईश्वर का विरोध करना है। यदि कुछ लोगों को खराब शासक मिलता है तो यह उनके पाप के कारण है। लोगों को खराब शासक का भी उसी भाव से आज्ञा पालन करनी चाहिए जिस भाव से वे अच्छे शासक की आज्ञा का पालन करते हैं। वास्तविक गौरव पद का हो। काल्विन के इस विचार के सम्बन्ध में सेबाइन ने लिखा है—"यह सही है कि 16वीं शताब्दी के

राजाओं के दैवी अधिकार के समस्त समर्थकों की भाँति काल्विन ने भी प्रजाजनों के प्रति राजाओं के कर्त्तव्यों का समास्थान किया है। विधाता की अक्षत विधि जिस प्रकार प्रजाजनों पर लागू होती है, उसी प्रकार शासकों के ऊपर भी। निकृष्ट शासक ईश्वर का विद्रोही होता है। अपने परवर्ती लॉक (Locke) की भाँति उसका भी यही विचार था कि व्यवहार-विधि नैतिक रूप से अनुचित कार्यों के लिए दण्ड की व्यवस्था करती है। लेकिन निकृष्ट शासकों को दण्ड देना ईश्वर का काम है, प्रजाजनों का नहीं। काल्विन के लिए यह दृष्टिकोण ग्रहण करना स्वाभाविक ही था—कुछ तो जेनेवा में उसकी स्थिति देखते हुए और कुछ इस आशा के कारण कि शायद काल्विन का धर्म फ्रांस के राजाओं का धर्म माना जाए।"

काल्विन का यह भी विश्वास था कि राज्य में छोटे-छोटे न्याय-रक्षक होने चाहिए जो राजा की शक्तियों को संयत रखें और यदि वे उसकी आततायी प्रवृत्तियों को न रोक सकें और उसके विरुद्ध जनता की रक्षा न कर सकें तो स्वयं कर्त्तव्यहीनता के दोष के भागी बनें। उसने कुछ दशाओं में प्रजा को राज्य का विरोध करने का भी अधिकार दिया। उसने बताया कि राजा के जो आदेश ईश्वरीय आज्ञाओं के प्रतिकूल हों उनकी अवहेलना की जानी चाहिए और यदि कोई अनुचित रूप से राज्य की सत्ता हथिया ले तो ईसाइयों को शस्त्र ग्रहण करने से भी नहीं हिचकना चाहिए। काल्विन के इन विचारों ने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के विकास में बड़ा योग दिया। उसके सिद्धान्त लूथर के सिद्धान्तों की अपेक्षा फ्रांस, हॉलैण्ड, स्कॉटलैण्ड और इंग्लैण्ड में अधिक लोकप्रिय हुए।

वास्तव में काल्विन का 'निष्क्रिय-आज्ञापालन' का राजनीतिक सिद्धान्त कुछ अस्थिर-सी चीज थी, क्योंकि उस पर परिस्थितियों का बड़ी आसानी से प्रभाव पड़ सकता था। "एक ओर तो काल्विन ने सविहित सत्ता के प्रति किए जाने वाले समस्त विरोध को दुष्टतापूर्ण बताया था, लेकिन दूसरी ओर उसका मूल सिद्धान्त था कि चर्च को शुद्ध सिद्धान्तों की घोषणा करने का और लौकिक शक्ति की सहायता से सार्वभौमिक नियन्त्रण स्थापित करने का अधिकार है। यह एक माना हुआ निष्कर्ष था कि यदि किसी राज्य का शासक काल्विन द्वारा प्रतिपादित सत्य को स्वीकार नहीं करेगा और अनुशासन को लागू नहीं करेगा तो उसे अपने प्रजाजनों के आज्ञा-पालन का अधिकार नहीं रहेगा और प्रजाजनों के लिए उसका विरोध करना आवश्यक हो जाएगा। जहाँ शासन को बदलने का कम अवसर होता और प्रतिरोध के द्वारा ज्यादा लाभ की उम्मीद होती, वहाँ आसानी से इस परिणाम की उम्मीद की जा सकती थी।"[1]

काल्विनवाद की इस चर्चा के प्रसंग में उसकी एक गम्भीर कमजोरी को जान लेना चाहिए जो यह थी कि विभिन्न व्यक्ति बाइबिल की अपने-अपने ढंग से व्याख्या कर सकते थे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्याख्या को ही समझता था और दूसरे

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 335.

की अच्छी बात को मानने से भी इन्कार कर देता था । चूँकि यह एक सामान्य नियम बन गया था कि ईश्वरीय कानून का पालन करना एक धार्मिक कर्त्तव्य है, तथा उसकी अवहेलना करना एक पाप है, अतः प्रत्येक शासक अपने द्वारा निर्मित कानूनों को मानना प्रजा का धार्मिक कर्त्तव्य बतलाता था । वह दावा करता था कि विरोधियों का दमन किया जाना चाहिए । इस प्रवृत्ति का परिणाम यह निकलने लगा कि राजनीतिक उच्छृंखलता एवं धार्मिक दमन की नीति को प्रोत्साहन मिला । 'राज का धर्म प्रजा का धर्म' मानने का सिद्धान्त बल पकड़ता गया और राजा के धर्म से मतभेद रखने वाले व्यक्तियों पर अत्याचार किए जाने लगे । धीरे-धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि एक ही धर्म लादने का प्रयत्न शान्ति और व्यवस्था के लिए अहितकर है और एक धर्म-निरपेक्ष राज्य का होना आवश्यक है । यहाँ स्मरणीय है कि काल्विन ने राज्य और चर्च दोनों को पृथक् रखते हुए इनकी एक सीमा-रेखा भी खींच दी थी, जिसका दोनों ही अतिक्रमण नहीं कर सकते थे । अतः इसका भी यह महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ कि काल्विनवाद जहाँ-जहाँ फैला, वहाँ इसके अनुयायियों ने उन सब शासकों का विरोध किया, जो धर्म के मामले में हस्तक्षेप करते थे । इससे धार्मिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताओं में सूक्ष्म भेद करने का विचार उत्पन्न हुआ ।

जॉन नॉक्स

(John Knox, 1505–1572)

मार्टिन लूथर और काल्विन दोनों अनुदार एवं रूढ़िवादी थे जिन्होंने राज्य की दैवी उत्पत्ति को स्वीकार करके राजकीय अधिकारियों के गौरव में वृद्धि की तथा निष्क्रिय-आज्ञाकारिता (Passive Obedience) का उपदेश देकर राजकीय निरंकुशतावाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया । किन्तु जब स्कॉटलैण्ड, फ्रांस एवं नीदरलैंड में राज्य द्वारा उपरोक्त सिद्धान्त की आड़ में काल्विनवादियों पर अत्याचार किए जाने लगे तो काल्विन के समर्थकों ने राज्य के प्रति निष्क्रिय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त का परित्याग करना आवश्यक समझा और यह मत स्थिर किया कि अन्त करण की स्वतन्त्रता आज्ञापालन से ऊपर है, अत. व्यक्ति को राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार है । फ्रांस में कतिपय काल्विनवादियों ने काल्विनवाद को प्राकृतिक कानूनों से मिला दिया जिसके अनुसार शासक और शासित दोनों ही प्राकृतिक कानूनों के अधीन थे । इस सिद्धान्त के आधार पर काल्विनवादियों ने राज्य की शक्तियों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए जो उनके लिए खतरे बन गए थे ।

राज्य की अवज्ञा के अधिकार को स्वीकार करने वाला ऐसा ही एक विचारक जॉन नॉक्स था । जॉन नॉक्स ने निष्क्रिय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त की अवहेलना करके प्रतिरोध के सिद्धान्त का समर्थन किया । इसका प्रधान कारण स्कॉटलैंड में प्रोटेस्टेन्ट धर्म की विशेष परिस्थितियाँ थीं । 1558 ई. में स्कॉटलैंड के कैथोलिक-धर्माधिकारियों ने नॉक्स को देश निकाला दे दिया । इस समय नॉक्स के प्रोटेस्टेन्ट अनुयायियों की संख्या काफी थी और उसे प्रतिरोध के सिद्धान्त से ही लाभ हो सकता था । अतः नॉक्स इस दिशा में प्रयत्नशील हुआ और इन्हीं साधनों से दो वर्ष के

भीतर ही उसने स्कॉटलैंड मे धर्म-सुधार सम्पन्न कर दिखाया। उसने स्कॉटलैंड के कुलीनो, धर्माचार्यो एव जनसाधारण के नाम निकाली गई अपनी अपील मे कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को सन्धर्म का पालन करना चाहिए और "जो लोग जनता को उसकी आत्मा का भोजन नही देते या ईश्वर के वचनो से उसे वचित रखते हैं, उन्हे प्राणदण्ड मिलना चाहिए।"

मूलतः नॉक्स ने काल्विन के विचारो का ही अनुसरण करते हुए ईसाई सिद्धान्त की उसकी अकाट्य व्याख्या को स्वीकार किया। उसने चर्च के अनुशासन को स्वेच्छा से न मानने वालो के प्रति चर्च द्वारा कठोर कार्यवाही किए जाने के विचार का भी समर्थन किया। उसने काल्विन की इस धारणा की पुष्टि की कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वधर्म का और उसके अनुशासन का दृढता से पालन करना चाहिए किन्तु जहाँ काल्विन द्वारा समर्थित निष्क्रिय आज्ञापालन का सिद्धान्त सामने आया, उसने इसका खण्डन करते हुए घोषित किया कि "जहाँ राजा ईश्वर के वचन, सम्मान और गौरव के प्रतिकूल जाता है, वहाँ उसका दमन आवश्यक है।" अपनी युक्ति को उसने इन बलशाली शब्दो मे व्यक्त किया—

"आजकल सब मनुष्यो को सामान्य सीख यह है कि हमे अपने राजाओ की आज्ञा का पालन करना चाहिए चाहे वे अच्छे हो या बुरे, क्योकि ईश्वर ने ऐसा ही आदेश दिया है। लेकिन जिन लोगो ने ईश्वर के नाम को इस तरह कलकित किया है ईश्वर उन्हे दण्ड देगा। जब राजा अन्याय करते हैं तो यह कहना कि ईश्वर ने उनकी आज्ञापालन का आदेश दिया है, नास्तिकता है और यह नास्तिकता उसी प्रकार की है जैसे यह कहना कि ईश्वर ने ससार मे अन्याय का सृजन किया है और वह उसे बनाए हुए है। मूर्ति पूजा नास्तिकता और ऐसे ही अन्य अपराधों का दण्ड केवल उन राजाओ और शासको को ही नही मिलता जो इन्हे करते है। जो लोग राजाओ को ऐसा करने से नही रोकते वे भी अपराधी हैं और इसलिए दण्ड के पात्र हैं।"[1]

जॉन नॉक्स के उपरोक्त विचारो से दो बातें मुख्यतः स्पष्ट होती हैं—"प्रथम यह कि उसने काल्विन के इस विश्वास का परित्याग कर दिया कि प्रतिरोध सदा गलत होना है, और द्वितीय यह कि प्रतिरोध धार्मिक सुधार के लिए ही समर्थनीय है। इस सिद्धान्त मे नागरिको के जन-अधिकारो का कोई उल्लेख नही है और न ही इसस नॉक्स का यह मत प्रकट होता है कि यह राजकीय शक्ति का स्रोत जनता को बताना चाहता था। उसका दृष्टिकोण धार्मिक कर्त्तव्य के आधार पर टिका हुआ था लोक अधिकारो के आधार पर नही। इसके कारण काल्विन का सम्प्रदाय राजकीय व्यक्ति के खिलाफ हो गया और उसने विद्रोह को उचित ठहराया, दूसरा कदम फ्रांस मे उठा, वहाँ धार्मिक विद्रोह ने काल्विन के दल को कैथोलिक राजतन्त्र के खिलाफ कर दिया। यहाँ इस सिद्धान्त का विकास हुआ कि राजा को शक्ति जनता से प्राप्त होती है और राजा जनता के प्रति उत्तरदायी है। लेकिन, अभी तक यह प्रश्न धर्म से ही जुड़ा हुआ था।"

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 336.

सुधार आन्दोलन में निरंकुशतावाद और प्रजातन्त्र के बीज
(The Seeds of Absolutism & Democracy in Reformation)

सुधारवादी आन्दोलन का जिस समय उदय हुआ, उस समय दो सिद्धान्त प्रबल थे। प्रथम यह कि धार्मिक विषयों में पोप को अपनी सर्वोच्च शक्ति ईश्वर से मिली है, अतः किसी सांसारिक प्राणी के समक्ष अपने किसी कार्य के लिए वह उत्तरदायी नहीं हो सकता, और द्वितीय यह कि प्रतिनिधि सरकार के सिद्धान्त का विकास हो रहा था। उस समय की मध्ययुगीन परिस्थितियाँ निरंकुश राजतन्त्र के सिद्धान्त के पनपने में बाधक थीं।

धर्म-सुधार आन्दोलन ने एक विचित्र ही स्थिति पैदा कर दी। एक ओर लूथर तथा काल्विन ने पोप की धार्मिक निरंकुशता का विरोध किया, और इस तरह अन्त करण की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के विकास की पृष्ठभूमि तैयार की, किन्तु दूसरी ओर आन्दोलन की सफलता के उद्देश्य से राजाओं के प्रति निष्क्रिय आज्ञापालन के सिद्धान्त का भी समर्थन किया और इस रूप में निरंकुशता के सिद्धान्त को प्रोत्साहन दिया। प्रजा द्वारा राजा का विरोध करना पाप ठहराया गया। इस मत के समर्थन में बाइबिल से प्रमाण दिए गए और सन्त पॉल के इस कथन को दोहराया गया कि "संसार में जो भी शक्तियाँ हैं वे ईश्वर की रची हुई हैं।" अनेक प्रमाण देकर जनता को समझाया गया कि राजा की शक्ति का स्रोत ईश्वर है, जिसके विरोध से पाप की उत्पत्ति होती है। लूथर ने पोप से बचने के लिए जर्मन शासकों का आश्रय लिया। उसने अपने अन्तःकरण की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को त्याग कर सत्ताधारी चर्च की स्थापना की जिसमें व्यक्तियों को धार्मिक स्वतन्त्रता नहीं थी। लूथर की निगाह में उसको चर्च की आज्ञा को न मानना धर्मद्रोह था और ऐसे धर्मद्रोहियों को दण्ड देना राज्य का कार्य था। लूथर के इन विचारों ने निरंकुश राजतन्त्र को स्थान दिया। अब धर्म-द्रोही को दण्ड देने और धर्म-द्रोही कौन है—इसका निर्णय देने का अधिकार राजा ने अपने हाथों में ले लिया। उसने जर्मनी के कृषक-आन्दोलन के समय यह फतवा दे दिया कि राजाओं को हत्या और छल-कपट तक का आश्रय लेकर विद्रोह को दबा देना चाहिए।

काल्विन ने भी विनम्र आज्ञापालन के सिद्धान्त को सामने रखा था, लेकिन साथ ही यह भी कहा था कि यदि राजा स्वयं धर्म का विरोध करने लगे तो राज्य के कुछ न्याय-रक्षकों को हक है कि वे उसके खिलाफ विद्रोह कर दें। यह भी कहा गया कि किसी व्यक्ति द्वारा अनुचित रूप से राज्य की सत्ता-ग्रहण कर लेने पर ईसाइयों को प्रतिरोध के लिए शस्त्रग्रहण कर लेने चाहिएँ। काल्विन के इन विचारों से लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के विकास में सहायता मिली।

लूथर और काल्विन दोनों ही ने निष्क्रिय आज्ञा-पालन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके राजाओं के निरंकुशतावाद को प्रोत्साहन देने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राजकीय अधिकारी इस सिद्धान्त की आड़ में धार्मिक अधिकारियों पर अत्याचार करने लगे। कुछ राज्यों में काल्विनवादियों पर भी अत्याचार किए गए।

परिस्थितियों के अनुकूल सिद्ध न होने पर कुछ काल्विनवादी राज्य की अवज्ञा करने के व्यक्ति के अधिकार का दावा करने लगे। कुछ ने काल्विनवाद को प्राकृतिक कानून से सम्बद्ध कर दिया जिसके अधीन शासक और शासित दोनों थे, और इस तरह उन्होंने राजा की निरकुश शक्तियो के ऊपर एक नियन्त्रण प्रस्तुत किया। प्रोटेस्टेन्ट प्रजा लूथर और काल्विन के आज्ञापालन के उद्देश्यों को भूल कर अपने कैथोलिक राजा के विरुद्ध सघर्षरत हो गई। ऐसा फ्रांस में हुआ जहाँ राजा कैथोलिक धर्म का अनुयायी था जबकि प्रजा का एक अग प्रोटेस्टेन्ट हो गया। स्कॉटलैंड मे जॉन नॉक्स ने कैथोलिक राजा का विरोध करते हुए काल्विन के विनम्र आज्ञापालन के सिद्धान्त को ठुकरा दिया और इस विचार पर बल दिया कि जहाँ राजा ईश्वर के वचन, सम्मान और गौरव के प्रतिकूल जाता है, वहाँ उसका दमन आवश्यक है।

यही हाल उन देशो मे हुआ जहाँ राजा प्रोटेस्टेन्ट हो गया किन्तु प्रजा या उसका कोई अग कैथोलिक रहा। कैथोलिक प्रजा ने प्रोटेस्टेन्ट राजा को धर्मद्रोही माना और उसका विरोध करना अपना कर्त्तव्य समझा। इस तरह प्रोटेस्टेन्ट और कैथोलिक दोनों ही धर्मावलम्बियों ने लूथर तथा काल्विन समर्थित निरकुश राजतन्त्र का विरोध किया और सौविधानिक राजतन्त्र एव प्रतिनिधि सरकार के सिद्धान्त के विकास मे सहयोग दिया। फ्रांसीसी प्रोटेस्टेन्ट ह्यूजी नाट्स ने जनता को राज्य की शक्ति का स्रोत मानते हुए निरकुशतावाद पर कठोर प्रहार किया। अन्य फ्रांसीसियों ने भी यह मत व्यक्त किया कि राजा की शक्तियाँ सीमित तथा परिबद्ध होनी चाहिएँ क्योंकि जनता उनको समाज की सेवा के लिए स्वीकृत करती है। फ्रेंसिस हॉटमैन नामक लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि फ्रांस में तो निरकुशवाद था ही नहीं, वहाँ तो राजा निर्वाचित हुआ करता था। एक अन्य फ्रांसीसी विचारक ह्यूबर्ट लैंग्वे (Hubert Languet) ने राज्य की उत्पत्ति समझौतों द्वारा मानते हुए दो समझौतों की कल्पना की जिसमे पहले मे तो दो पक्ष ईश्वर और मानव-समाज है, जिसमे राजा भी सम्मिलित है और दूसरे मे एक तरफ राजा और दूसरी तरफ प्रजा है। राजा वचन देता है कि वह न्यायपूर्वक शासन करेगा और प्रजा उसकी आज्ञा का पालन करने का वचन देती है। यदि राजा अन्यायी हो जाता है तो प्रजा भी अपने वचन से मुक्त हो जाती है। नीदरलैंड मे भी राजतन्त्र विरोधी साहित्य काफी प्रकाशित हुआ। नीदरलैंड में भी राजतन्त्र विरोधियों मे अग्रणी आल्थूसियस (Althusius) ने प्रभुसत्ता को वह सर्वोच्च और श्रेष्ठतम् शक्ति बतलाया जो राज्य के सदस्यों की भौतिक और अभौतिक कल्याण के लिए कार्य करती है। उसने प्रभुसत्ता का मूल स्थान समाज को बताया, किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का वर्ग नहीं। उसने कहा कि प्रभुत्व शक्ति कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकती जिसमें सर्वसाधारण का अहित हो। सम्प्रभु द्वारा निर्मित कानूनों का पालन शासकों का कर्त्तव्य है। राजा केवल एक ऐसा प्रतिनिधि है जो यह प्रतिज्ञा करके पदारूढ होता है कि वह विधि के अनुसार शासन करेगा।

स्कॉटलैण्ड के एक अन्य लेखक बुकानन (Buchanan)ने भी समझौतावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए मत व्यक्त किया कि प्राकृतिक अवस्था को दूर करने के लिए सरकार एवं विधि का निर्माण हुआ है। अन्तिम सत्ता जनता के हाथ में है और वही विधि का स्रोत है। जनता के साथ किए गए समझौते द्वारा ही राज्य को पितृगत अधिकार मिले हैं और न्यायपूर्वक शासन करना उसका कर्त्तव्य है। जनता की सम्मति के बिना राज्य-शक्ति पर अधिकार करना गलत है। ऐसे अत्याचारी शासन का जनता विरोध कर सकती है। बुकानन ने प्राकृतिक कानून की आड़ लेते हुए आततायी राजा के वध तक को उचित ठहराया।

जेसुइट (Jesuits) लेखकों ने भी निरंकुश राजतंत्र का विरोध किया और यह विश्वास किया कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि न होकर इसी दुनिया का व्यक्ति है एवं पवित्र शक्ति जनता में निवास करती है। यदि राजा अन्याय करता है तो प्रजा उसे सिंहासन से हटा सकती है। निरंकुशता विरोधी सिद्धान्तों का समर्थन करने वाले जेसुइट लेखकों में रॉबर्ट बेलामोर्न फ्रांसिस्को तथा जॉन ऑफ मेरियाना के नाम उल्लेखनीय हैं। मेरियाना के चिन्तन पर संविधानवाद आच्छादित था। वह शासकों के ऊपर पोप के आध्यात्मिक नियन्त्रणों को स्वीकार नहीं कर सकता था। वह समाज द्वारा लगाए गए नियन्त्रण पर अधिक बल देता था।

इस सम्पूर्ण विवरण से हम यही निष्कर्ष पाते हैं कि धर्म-सुधार आन्दोलन ने निरंकुशवाद और लोकतन्त्र दोनों ही भावनाओं का पोषण किया। सुधारवादियों ने निरंकुश राजाओं का समर्थन करना शुरू किया और जब राजा अत्याचार करने लगे तो जनता ने उनके विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाकर, लोकतन्त्र की स्थापना के लिए मार्ग प्रशस्त किया। उस समय ऐसी हवा फैल गई कि निरंकुशवाद का खण्डन होने लगा और सांविधानिक एवं नियन्त्रित राजतन्त्र का समर्थन। लूथर और काल्विन ने विनम्र आज्ञापालन का सिद्धान्त बनाया किन्तु उन्हीं के अनुयायियों ने परिस्थितिवश सांविधानिक सिद्धान्तों की शरण ली।

धर्म-सुधार आन्दोलन की देन और उसका महत्त्व
(Contribution & Importance of Reformation)

धर्म सुधार आन्दोलन की सबसे बड़ी देन यह थी कि उसने पोप की सर्वोच्च प्रभुता को ठुकरा कर शताब्दियों से चले आ रहे रोमन चर्च के एकछत्र साम्राज्य को तहस-नहस कर दिया। अब रोमन कैथोलिक चर्च के विरोधी अनेक राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना हो गई। धार्मिक एकता का प्रोटेस्टेंटों और कैथोलिकों में विभाजन हो गया।

सुधारवादी आन्दोलन ने चर्च को राज्य का वशवर्ती बनाकर मध्ययुगीन विश्व-साम्राज्य की धारणा में क्रान्तिकारी एवं मौलिक परिवर्तन किया। चूँकि इसके कारण राष्ट्रीयता के विचार को प्रोत्साहन मिला। सर्वत्र पोप का विरोध राष्ट्रीयता के आधार पर किया गया और साम्राज्य का स्थान प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया।

धर्मसुधार आन्दोलन का एक तात्कालिक परिणाम राजसत्ता के निरकुश अधिकारों मे वृद्धि और निरकुश राजतत्र को यूरोप मे एक सामान्य शासन रूप बनाना हुआ। साथ ही साथ व्यक्ति एव धार्मिक स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्रीय विचारो का विकास भी हुआ।

इस आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण देन सहिष्णुता (Toleration) का विकास भी था। धार्मिक सघर्ष का अन्ततः एकमात्र निराकरण सहिष्णुता को ही समझा जाने लगा। प्रोटेस्टेन्ट राजा कैथोलिक प्रजा का तथा कैथोलिक शासक प्रोटैस्टेन्ट प्रजा का दमन करने मे असफल रहे। शनैः-शनैः एव परिस्थितिवश यह विचार पनपता गया कि सुख और समृद्धि तभी सभव है जब राज्य धर्मनिरपेक्ष वातावरण पैदा करे। यदि राज्य धार्मिक मतभेदो से ऊपर रहेगा तभी विभिन्न धर्मावलम्बियो मे एक सामान्य राजनीतिक निष्ठा रखना सभव हो सकेगा।

अन्त मे फिगिस के शब्दो मे—"जहाँ तक धर्मसुधारवादी आन्दोलन ने एक सुसगठित, सर्वशक्तिमान, क्षेत्रीय एव नौकरशाही प्रधान राज्य की सृष्टि मे सहायता दी, जहाँ तक प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन दिया, वहाँ तक उसे अपने परिणामो में आधुनिक समझा जा सकता है, किन्तु जहाँ तक इसकी प्रवृत्ति सामुदायिक आदर्शों, धार्मिक-राजनीतिक शासन के रूप के लिए धार्मिक ग्रन्थो की अपील को पुनर्जीवित करने की थी, वहाँ तक यह उन मध्यकालीन विचारो की ओर वापिस लौट जाना था जो अरस्तू एव पुनर्जागरण के निश्चित प्रभाव के कारण अधिकांशत. विलुप्त होते जा रहे थे।"[1] कहना चाहिए कि इस आन्दोलन के प्रारम्भ मे धर्मशास्त्रो पर बल देने की प्रवृत्तियाँ प्रबल रही, किन्तु अन्त मे लोकतन्त्र की समर्थक और निरकुश राजसत्ता का विरोध करने वाली प्रवृत्तियाँ प्रबल हुई। प्राकृतिक दशा, सामाजिक समझौता, जनता की प्रभुसत्ता और प्रतिनिधि शासन के विचार उत्पन्न हुए। इन्होने 17वी, 18वी, 19वी शताब्दियो मे महान् राजनीतिक विवादो का सूत्रपात किया।

11 मैकियावली

(MACHIAVELLI)

मध्ययुगीन अन्धकारपूर्ण अवस्था के गुजर जाने पर पन्द्रहवीं सदी में यूरोप में ज्ञान की नई दिशा प्रदीप्त हो उठी। बौद्धिक पुनर्जागरण (Renaissance) ने लोगों में जीवन की एक नई चेतना, स्वतन्त्रता के एक नवीन प्रेम और जीवन के नवीन मूल्यों के प्रति अनुराग के भाव जगा दिए। ईश्वर की अपेक्षा मनुष्य मानव-अध्ययन का अधिक महत्त्वपूर्ण विषय हो गया। मानव समस्याओं पर अधिक चिन्तन होने लगा। मध्यकाल की 'परलोक-प्रियता' (Other worldliness) घटने लगी और चर्च के नियन्त्रण के विरुद्ध धर्म-निरपेक्ष बुद्धि का विद्रोह मुखरित हो उठा। अब परलोक की अपेक्षा इहलोक अधिक प्यारा हो गया तथा महत्त्वाकांक्षी शासकों ने पोप के आदेश-पत्रों को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। मध्ययुगीन देववाद, चर्चवाद, बाइबिलवाद और सामन्तवाद के विरोध में पुनरुत्थान अथवा बौद्धिक पुनर्जागरण के इस युग में मानववाद और निष्प्रतिबन्ध बौद्धिक स्वातन्त्र्यवाद का मत प्रचारित किया गया। 'मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है'—इस उक्ति में पुन: आस्था प्रकट की जाने लगी। मेयर के शब्दों में "पुनरुत्थान नवीन भावना का वह प्रभाव था जिसने अन्त में मध्यकालीन व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। 17वीं शताब्दी के नवीन विश्व की आधारशिला रखी—उस विश्व की जिसने कि तत्त्वत: मध्य-युग का सदा-सदा के लिए अन्त कर दिया।" ज्ञान और निर्माण के इस उषा काल में मैकियावली पैदा हुआ। इटली के प्रसिद्ध नगर फ्लोरेन्स की शिक्षा-दीक्षा से प्रभावित मैकियावली भविष्य में एक नई राजनीतिक सूझ और दिशा का जनक बना। इतिहास ने वर्षों मैकियावली को अपमान और तिरस्कार के नरक में पटका रखा लेकिन एक समय ऐसा अवश्य आया जब उसे उचित सम्मान दिया गया और फ्लोरेंस में उसकी कब्र पर लिखा गया कि "इतने महान् व्यक्ति के लिए सारी प्रशंसा अपर्याप्त है।" बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों ने उसकी रचना से लाभ उठाया और जीवन-भर वही किया जो मैकियावली कह गया।

मैकियावली : जीवनी, अध्ययन-पद्धति और कृतियाँ
(Machiavelli : Life, Methods and Works)

निकोलो मैकियावली का जन्म इटली के नगर फ्लोरेंस में सन् 1469 ई. में प्राचीन टस्कन वंश से सम्बन्धित एक सामान्य परिवार में हुआ। उसका पिता वकील

और तत्कालीन गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में विश्वास करने में गौरव अनुभव करता था। पुत्र भी पिता के ही चिन्हों पर था। अभाग्यवश वह पर्याप्त शिक्षा प्राप्त न कर सका। अतः उसने सरकारी पद प्राप्त करने का प्रयत्न किया। 1490 ई. में उसे एक साधारण प्रशासकीय पद प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् अपनी राजनीतिक सूझ-बूझ, प्रतिभा और कार्यक्षमता के कारण वह विभिन्न पदों पर कुशलतापूर्वक कार्य करता रहा। दौत्य कार्य (Diplomatic Mission) में उसे लगभग चौबीस बार फ्रांस, रोम और बर्लिन के दरबारों में जाना पड़ा जहां उसने पर्याप्त यश और धन अर्जित किया।

मैकियावली ने सन् 1498 और 1512 तक फ्लोरेंस की 'कौंसिल ऑफ टैन' (Council of Ten) के सचिव पद पर कार्य किया। इसी मध्य उसके भाग्य ने पलटा खाया। रेवेना की लड़ाई में स्पेन के मुकाबले 1509 में फ्रांस की हार हुई। इसकी भीषण प्रतिक्रिया फ्लोरेंस में हुई। स्पेन के समर्थकों ने, जो फ्लोरेंस में सत्तारूढ़ हुए, मैकियावली को अन्य व्यक्तियों के साथ देश से निकाल दिया। उसका जीवन निर्वासित अवस्था में गरीबों तथा जंगली लोगों के मध्य अध्ययन करते हुए व्यतीत हुआ। अपने ग्रामीण आवास—सेनके सियानो—में उसने अनेक विद्वानों का साहित्य पढ़ने के साथ-साथ राजनीतिक मनोविश्लेषण भी किया और इसी समय उसने ग्रंथ-रचना भी की। उसके विरोधियों ने राजद्रोह के अभियोग में उसे कारागार का दण्ड भी दिया। नए लोरेंजो के शासन काल में उसने आशा की कि उसे खोया हुआ स्थान फिर से मिलेगा। लेकिन यह आशा स्वप्न सिद्ध हुई। केवल नाममात्र के वेतन पर उसे फ्लोरेंस का इतिहास लिखने का काम मिला। अपने शेष जीवन काल में मैकियावली ने अपना समय लेखन-कार्य में ही व्यतीत किया। उसके सभी ग्रंथ इस काल में ही लिखे गए। इस समय इटली की दशा भी बड़ी अस्थिर और असंगठित थी। सन् 1527 में नए संगठित इटली का स्वप्न लिए ही एक साधारण व्यक्ति की भांति मैकियावली की मृत्यु हो गई।

अध्ययन पद्धति

मैकियावली के पूर्व के मध्ययुगीन विचारकों की अध्ययन पद्धति धर्म से प्रभावित थी। मैकियावली ने इस प्रणाली को स्वीकार नहीं किया। फलस्वरूप उसके दर्शन में वे जटिलताएँ नहीं आ सकीं जो उसके पूर्ववर्ती विचारकों में थीं। मैकियावली को पोप और सम्राट के सम्बन्धों की समस्या से कोई लगाव न था। इसलिए उसकी रचनाओं में मध्यकालीन पादरियों और दार्शनिकों का, दो तलवारों के सिद्धांत का, कैनन लॉ का और इसी प्रकार की अन्य विषय-सामग्री का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उसने नीति, न्याय आदि के अमूर्त सिद्धांतों पर आधारित निगमन तर्क पद्धति (Deductive Method) का परित्याग कर दिया जिस पर मध्यकालीन राजनीतिक सिद्धान्तों की रचना हुई थी।

मैकियावली ने पूरी तरह वैज्ञानिक तटस्थता की नीति अपनाते हुए अपनी समकालीन परिस्थितियों का बड़े ध्यान से अध्ययन किया, अपने युग की समस्याओं

को समझा और फिर अपने निष्कर्षों का प्रतिपादन किया। इस तरह उसने अपनी राजनीतिक पद्धति मे अनुभववाद और इतिहासवाद का समन्वय किया। दूसरे शब्दों मे उसने अनुभूतिप्रधान (Empirical) या ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया। अरस्तू के बाद राजनीतिक गवेषणा के क्षेत्र मे इस पद्धति को अपनाने वाला यह प्रथम विचारक था। इतिहास और तर्क का सहारा लेते हुए उसने तत्कालीन धर्म-शक्ति को एक गम्भीर चुनौती दी तथा 'मानव व्यवहार के पथ-प्रदर्शक के रूप मे ईश्वरीय नियम का बहिष्कार' करते हुए 'राजनीति विज्ञान का आधार ही परिवर्तित कर दिया।' मैकियावली की 'प्रिंस' वह सर्वप्रथम महान् रचना थी जिसमे दैवीय और मानवीय-इन दोनों तत्वो मे स्पष्ट सघर्ष दिखलाई पड़ा और जिनमे पूर्ववर्ती नसलो द्वारा अपनाई हुई प्राचीन सूक्तियो को यह समझकर छोड दिया गया कि सैद्धान्तिक रूप में वे बुद्धिहीन एव व्यावहारिक रूप मे मार्ग भ्रष्ट करने वाली थीं।[1]

मैकियावली का मत था कि सभी देशो और कालो मे मानव-स्वभाव एक जैसा रहता है, वह लगभग एक ही प्रकार के उद्देश्यो से सचालित होता है और एक जैसी ही समस्याओ का उसे समाधान करना पड़ता है। अत: यदि वर्तमान काल की समस्याओ का हमे समाधान करना है अथवा, हमें भविष्य मे क्या करना चाहिए ?—इन प्रश्न का उत्तर पाना है तो यह उचित है कि हम भूतकाल के इतिहास का गम्भीर अनुशीलन करें और यह जानने की चेष्टा करें कि समान परिस्थितियो मे मनुष्य ने भूतकाल मे क्या किया था और उसके क्या परिणाम निकले थे ? मैकियावली का विश्वास था कि भूत के गभीर अनुशीलन से हम सफलताओ और विफलताओ के कारणों को साधारणतः मालूम कर सकते हैं। किन्तु उल्लेखनीय है कि मैकियावली ने "इतिहास का उपयोग अपने पूर्वकल्पित निष्कर्षों की पुष्टि मे किया है, इनके प्रणयन मे नहीं।"

प्रो. डनिङ्ग का विचार है कि मैकियावली की पद्धति देखने में जितनी ऐतिहासिक लगती है, यथार्थ-रूप मे उतनी नही है। उसके पर्यवेक्षण (Observations) अधिकतर ऐतिहासिक न होकर अपने समय के ही थे। समकालीन परिस्थितियो को देखते हुए उसने पहले से ही कुछ सिद्धान्त निश्चित कर लिए थे और फिर इनके समर्थन के लिए प्राचीन इतिहास के प्रमाणो को ढूँढा था। जिस प्रकार ईसप नैतिक शिक्षा का समर्थन करने के लिए पशु-पक्षियो की मनोरंजक कहानियाँ उदाहरण के रूप मे गढ़ा करता था, उसी प्रकार मैकियावली अपनी अनुभूति के आधार पर निकाले गए परिणामो (Empirical conclusions) की इतिहास मे पुष्टि करता था। सेबाइन ने भी मैकियावली की पद्धति को ऐतिहासिक कहना भ्रमपूर्ण माना है। सेबाइन के अनुसार उसकी पद्धति पर्यवेक्षणात्मक थी। उसने अपने तर्क को सत्य सिद्ध करने के लिए इतिहास का आश्रय लिया। वास्तव मे उसके लेखो मे "कुछ निश्चित आधारभूत विश्वास निहित है और उन विश्वासो पर तर्क का सम्पूर्ण

1 Cambridge Modern History, Vol. I, Page 213.

ढांचा आश्रित है।""यह पूर्णतः स्पष्ट है कि प्रत्येक काल की घटनाओं की गति और उनसे निकलने वाले परिणामो के सम्बन्ध म वह जो धारणाएँ रखता था उन पर निर्णयात्मक प्रभाव उसके मानव सम्बन्धी उस विशिष्ट दृष्टिकोण से था जिसकी छाप बाह्य घटनाओ पर पड़ती है; जिससे उनका रूप निर्धारित होता है और जिससे वे नियंत्रित होते हैं। अपनी मानव-स्वभाव सम्बन्धी धारणा को उसने समस्त इतिहास के एक निश्चित सिद्धान्त के आधार पर बनाया।""यद्यपि मैकियावली अन्ततः इसी परिणाम पर पहुँचा कि नीति-शास्त्र एवं राजनीति एक न होकर पृथक्-पृथक् हैं एव शासन कला का आधार शास्त्र से कोई सम्बन्ध नही है, तथापि दोनो का आधार एक ही मान्यता थी।"[1]

जो भी हो इसमें कोई सन्देह नही कि राजनीतिक समस्याओं के प्रति मैकियावली का दृष्टिकोण अनुभव प्रधान था एव उसकी भावना ऐतिहासिक थी। मानव स्वभाव का चित्रण उसका मूल आधार था। धार्मिकता, परम्परावादिता, रूढ़िवादिता और पांडित्य-प्रदर्शन का वह घोर विरोधी था। उसकी अध्ययन पद्धति ऐतिहासिक, पर्यवेक्षणात्मक, यथार्थवादी और वैज्ञानिक विशेषताओं अथवा तत्वों से युक्त थी। राजनीति का शुद्ध रूप रखने मे उसने पुनर्जागरण की उन्मुक्त प्राकृतिक बुद्धि के सहारे यह प्रयत्न किया कि राजनीति धार्मिक उपदेशों या दृष्टांतों का प्रकरण मात्र न रह जाए। इस तरह उसने राजनीति को कला के रूप मे भी स्वीकार किया। मैकियावली की अध्ययन पद्धति सर्वथा दोष-रहित नही थी। यह पक्षपात, हठवादिता और एकाँकी दृष्टिकोण से ग्रसित थी। किन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि उसका उद्देश्य सारी दुनिया के लिए राज्य-मीमांसा लिखना न था। वह तो इटली का राष्ट्रीय सेवक मात्र था।

रचनाएँ

मैकियावली ने दो ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथो की रचना की जिससे उसका नाम अमर हो गया—

(1) Discourses on Livy (Titus Livius),

(2) The Prince

प्रथम ग्रंथ मे मैकियावली ने रोमन राजतन्त्र के विषय मे लिखा है और तत्कालीन प्रवर्तको के लिए कुछ नियमो की आदर्श रूपरेखा प्रस्तुत की है। 'प्रिंस' ग्रंथ लारेंजो को सम्बोधित किया गया है जो कि अर्विनो का ड्यूक था। यह ग्रन्थ उसकी सबसे प्रमुख कृति है जिसे 1513 ई. मे लिखा गया था, किन्तु जिसका प्रकाशन उसकी मृत्यु के पाँच वर्ष बाद अर्थात् सन् 1532 ई. मे हुआ था। मैकियावली का यह ग्रन्थ वास्तव मे युग-प्रवर्तक था। इसमे मध्यकालीन विचार-प्रक्रिया के ढंग को त्याग कर नवीन ढंग को अपनाया गया। इस ग्रंथ मे कुल 26 अध्याय हैं जिन्हें तीन भागो मे बाँटा गया है। मैकियावली ने इस ग्रंथ के प्रथम भाग

1 Cambridge Modern History, Vol. I, Page 208.

मे राजतन्त्र की, दूसरे मे किराये की सेनाओं और राष्ट्रीय सेनाओ की तथा अन्तिम भाग मे अपने राजदर्शन की व्याख्याएँ की हैं। वास्तव मे यह ग्रथ मैकियावली की सम्पूर्ण प्रतिभा का सार है।

मैकियावली ने कुछ अन्य ग्रन्थ भी लिखे जिनमे से उल्लेखनीय ये हैं—

(1) The Art of War (2) The History of Florence.

इनके अतिरिक्त उसने अनेक उपन्यास, कहानियाँ और कविताएँ आदि भी लिखी।

मैकियावली युग शिशु के रूप में
(Machiavelli as the Child of His Times)

डनिंग ने मैकियावली के विषय मे लिखा है कि "यह प्रतिभा-सम्पन्न फ्लोरेंस निवासी वास्तविक अर्थ मे अपने काल का शिशु था।"[1] वैसे तो प्रत्येक विद्वान एव प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति अपने युग का शिशु होता है, क्योंकि उसके विचार समकालीन परिस्थितियो से प्रभावित होते हैं किन्तु मैकियावली पर अपने युग का रग कुछ विशेष गहरा चढा हुआ था। उसे छोडकर शायद ही कोई ऐसा दूसरा राजनीतिक विचारक हुआ हो जिसने अपना सम्पूर्ण लेखन कार्य समकालीन परिस्थितियो के आधार पर किया हो। उसने उन परिस्थितियों के दोषो को स्पष्ट किया और उनके समाधान भी सुझाए। उसके प्रत्येक विचार अथवा सिद्धान्त मे हमे इटली की तत्कालीन परिस्थितियो की झलक दिखाई देती है।

वे तत्व जिन्होंने मैकियावली के राजनीतिक चिन्तन का मार्ग दर्शन किया और जिनके प्रभाव से वह अपने युग का शिशु कहलाया, मुख्यत. निम्नलिखित थे—

(1) ज्ञान का पुनरुत्थान—मैकियावली के समय मे दो शक्तियाँ साथ-साथ कार्य कर रही थी। प्रथम शक्ति ज्ञान के पुनरुत्थान (Renaissance) की थी और दूसरी धार्मिक सुधारो (Reformation) की। पुनरुत्थान मध्यकालीन यूरोप का आधुनिक यूरोप मे बदल देने वाला एक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन था। इसका प्रारम्भ इटली मे हुआ और 15वी शताब्दी मे वही यह अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा। इसी कारण इसे कभी-कभी इटालियन पुनरुत्थान भी कहते हैं। पुनरुत्थान के फलस्वरूप मनुष्य और विश्व के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का उदय हुआ। इसने लोगो के जीवन मे एक नवीन चेतना, स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम और जीवन के उत्कृष्ट मूल्यो की भावना जगाई। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धो के स्थान पर मानवीय समस्याएँ महत्त्व पाने लगी मैकियावली ने अपने लेखो और विचारो मे पुनरुत्थान के भाव भरे। उसने व्यावहारिता पर बल देते हुए यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया। उसने चर्च और धर्म की जडो पर कठोर प्रहार किए और घोषित किया कि मानव स्वय ही अपने श्रेष्ठ जीवन का निर्माता है। उसने अपने लेखो मे कही दो शक्तिया

1 "Machiavelli, the brilliant florentive was in the fullest sense the child of his times." —*Dunning* : op. cit., p 285

अथवा तलवारों के सिद्धान्त, चर्च पिताओं की सम्मतियों, पोप एवं सम्राट के पारस्परिक सम्बन्धो और इसी प्रकार के मध्ययुग के अन्य विषयो की चर्चा नही की। मैकियावली की रचनाएँ पढ़ने से यही लगता है कि हम एक सर्वथा नवीन युग मे आ गए हैं। यदि 'कोलम्बस' ने 1492 ई. मे नई दुनिया का पता लगाया तो मैकियावली ने 1523 ई मे 'प्रिंस' की रचना द्वारा राजनीतिक विचारो की नई दुनिया की खोज की।

मैकियावली का फ्लोरेन्स उस समय पुनरुत्थान का प्रधान नगर और इटली की सस्कृति का माना हुआ केन्द्र था। मैकियावली की रग-रग मे फ्लोरेन्स की सस्कृति व्याप्त थी। उसके व्यक्तित्व और विचारों मे पुनरुत्थान की प्रतिछाया थी। उसने प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया और इतिहास तो विशेष रूप से उसे प्रिय रहा। "इसी साहित्य की भावना से शक्ति पाकर एव प्रेरित होकर उसकी स्वाभाविक प्रखर बुद्धि ने समस्याओ को सुलझाने के प्रयास किए और उनके ऐसे समाधान निकाले जो उसके पूर्व की 12 शताब्दियो मे सोचे गए हलों से इतने भिन्न थे कि मानो वे शताब्दियाँ कभी आई ही न हो।"[1]

मैकियावली ने राजनीति को धार्मिकता, नैतिकता, आचार-शास्त्र आदि से पृथक् रखा। उसका मत था कि एक राजनीतिज्ञ को नैतिकता एव धार्मिकता द्वारा अनुमोदित स्पष्टीकरणो और सिद्धान्तो की चिन्ता नही करनी चाहिए। मैकियावली के इस विचार मे भी पुनरुत्थान-युग बोलता है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण स्वय करता है और उसे अपने जीवन तथा धन की सुरक्षा के लिए राजकीय सरक्षण प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है। उसने स्पष्ट घोषित किया कि राजनीति दैवी शक्ति प्राप्त व्यक्तियो का ही क्षेत्र नही है, उसमे प्रत्येक व्यक्ति प्रवेश कर सकता है।

(2) राजतन्त्र की पुनर्स्थापना—पुनरुत्थान काल मे यूरोप मे भारी राजनीतिक परिवर्तन हुए। जब मैकियावली का प्राविर्भाव हुआ तो परिषदीय आन्दोलन समाप्त हो चुका था और शक्तिशाली शासको ने सामन्तो और उनकी प्रतिनिधि सभाओं का दमन करते हुए निरकुश राजतन्त्र स्थापित कर लिए थे। आर्थिक परिवर्तनो ने भी सीमित राजतन्त्र के मध्यकालीन विचार को समाप्त करने मे योग देते हुए निरकुशवाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था। पश्चिमी यूरोप के लगभग सभी राज्यो मे सामन्तो के हाथ से शक्तियाँ छीनकर राजाओ के हाथो मे केन्द्रित हो गई थी। वह युग राज्य और चर्च दोनो मे वीर-पुरुषों की निरकुश सत्ता का युग था जिसने मैकियावली के 'प्रिन्स' को बडा प्रभावित किया।

मैकियावली के समय इटली पाँच राज्यो मे बँटा हुआ था। उसने इग्लैंड, फ्रांस और स्पेन के संगठित राज्यो के समान ही इटली मे भी सभी राज्यो का एक राष्ट्रीय राजा की अध्यक्षता मे एकीकरण करना चाहा। 'प्रिन्स' के अन्तिम अध्याय

1 *Dunning* : Political Theories - Ancient and Medieval, p. 290.

मे उसने यह आशा प्रकट की है कि इटली का एकीकरण हो और वह विदेशी बर्बरों की दासता से मुक्त हो। उसकी आकांक्षा थी कि इटली मे भी ऐसे राजा का उदय हो जो सम्पूर्ण जनता को राष्ट्रीयता के एक सूत्र मे बाँध सके। उस समय इटली की दुर्दशा और इटली के छोटे राज्यो द्वारा अपनी रक्षा के लिए प्रयोग किए जाने वाले कूटनीतिक और कपट के साधनो ने भी मैकियावली की रचनाओं के प्रत्येक पृष्ठ पर अपना प्रत्यक्ष प्रभाव डाला।

(3) इटली का राजनीतिक विभाजन—इटली का सम्पूर्ण प्रदेश छोटी-छोटी रियासतो और राज्यो मे बँटा हुआ था। 16वी सदी के प्रारम्भ मे इन राज्यो का कुछ एकीकरण हुआ और इटली मे केवल 5 राज्य स्थापित हो गए—नेपल्स राज्य (Kingdom of Naples), मिलान का राज्य (Duchy of Millan), रोमन चर्च का क्षेत्र (Territory of the Roman Church), वेनिस गणराज्य (Republic of Venice), और फ्लोरेन्स का गणराज्य (Republic of Florence)। ये पाँचो राज्य भी आपस मे सघर्षरत रहते थे। इटली के इस राजनीतिक विभाजन और राज्यो के पारस्परिक सघर्ष ने देश को बड़ा दुर्बल बना दिया और वह आसानी से शक्तिशाली पड़ोसियो की महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार बनने लगा। फ्रांस और स्पेन की आँखें तो सदैव ही इन राज्यो पर लगी रहती थी कि कब मौका मिले और कब इन्हें समाप्त किया जाए।

मैकियावली विलक्षण अन्तर्दृष्टि का धनी था। उसने समझ लिया कि इटली मे यदि सुदृढ केन्द्रीय सरकार की स्थापना न की गई तो फ्रांस और स्पेन उसे हड़प लेंगे, अथवा वह उनके पारस्परिक सघर्ष की चक्की मे उसी तरह पिस जाएगा जैसे गेहूँ मे घुन। अत मैकियावली ने चाहा कि सम्पूर्ण इटली को एकता के सूत्र मे गूँथ दिया जाए और किसी तरह एक ऐसी शक्तिशाली सरकार स्थापित हो जाए जो एक तरफ तो देश की अराजकता स्थिति पर काबू पा सके और दूसरी ओर विदेशी आक्रमण से रक्षा तथा विदेशियों के निष्कासन के दोहरे कर्त्तव्य को भी निभा सके। इसी उद्देश्य से उसने अपने तीन महान् ग्रन्थ रचे—आर्ट ऑफ वार, दि डिस्कोर्सेज ऑन लिवी तथा प्रिंस। इन ग्रन्थो मे यद्यपि राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तो का प्रतिपादन नही हुआ किन्तु व्यावहारिक राजनीति के वास्तविक प्रयोगो का खूब वर्णन किया गया। ये ग्रन्थ एक व्यवहार प्रधान राजनीतिज्ञ के दृष्टिकोण से लिखे गए। उसने देश मे ऐसे निरकुश शासन के उदय की कामना की जो सिद्धान्तो मे डूबा न रह कर व्यावहारिक राजनीति मे निपुण हो।

(4) इटालियन समाज की दुर्दशा—मैकियावली के समय इटालियन समाज मे नीति परायणता, ईमानदारी और देश-भक्ति का अभाव था। प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियो की कमी नही थी किन्तु नैतिक दृष्टि से उनका पतन हो चुका था। स्वय पोप तक का चरित्र अपवित्रता की सीमा लाँघने लगा था। साधारण नागरिक पैसा लेकर अनुचित से अनुचित काम करने को तैयार हो जाते थे। इस सामाजिक दुर्दशा का मैकियावली के हृदय पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। देश के एकीकरण के लिए वह

शक्ति का पुजारी बना और उसने राष्ट्रीय सेना को आवश्यक बताया। उसने गणतन्त्रीय शासन प्रणाली की सिफारिश न करते हुए इटलीवासियों के लिए एक राजा और तानाशाह की दुखद आवश्यकता महसूस की और व्यावहारिक राजनीति को स्थान देते हुए यह मत व्यक्त किया कि राजा का एकमात्र उद्देश्य देश को सबल बनाना और उसे संगठित करना है, शान्ति स्थापित करना और विदेशी आक्रान्ताओं को मार भगाना है। इस महान् और पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राज्य उचित अनुचित सभी प्रकार के साधन अपना सकता है। शासक को चाहिए कि वह जनता पर प्रेम की अपेक्षा शक्ति से शासन करे। यद्यपि वह अपने काल में एकीकृत और स्वतन्त्र इटली के स्वप्न का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सका, किन्तु उसकी मृत्यु के 350 वर्ष बाद कावूर (Kavour), गेरिबाल्डी (Garibaldi) आदि ने उसके द्वारा प्रतिपादित साधन के सहारे ही इस स्वप्न को साकार किया।

इन सभी बातों को देखने पर डनिंग की इस युक्ति से सहमत होना पड़ता है कि "प्रतिभावान फ्लोरेन्सवासी (मैकियावली) पूरे-पूरे अर्थ में अपने युग का शिशु था।"

मानव स्वभाव : सार्वभौम अहंवाद
(Machiavelli on Human Nature : *Universal Egoism*)

मानव-समाज का जो भी अध्ययन मैकियावली ने किया उसकी गहरी छाप उसके राजदर्शन पर स्पष्ट है। मैकियावली की धारणा थी कि मनुष्य जन्म से ही बुरा होता है। अपनी स्वभावगत दुष्टता के कारण ही वह अधोगति को प्राप्त होता है। मानव प्रकृति से घोर स्वार्थी एवं दुष्ट है। वह दुर्बलता, मूर्खता एवं दुष्टता का सम्मिश्रण है। वह प्रकृति का ऐसा खिलौना है जिसे चालक साध सकता है और अवसरानुकूल निर्णय ले सकता है।

मैकियावली का *विश्वास था कि मनुष्य की स्वार्थ भावना और* उसका अहकार उसके सारे क्रियाकलापों के मूल में है। वह विभिन्न कमजोरियों से ग्रस्त है और सद्गुण तथा परोपकार जैसी बातों से अपरिचित है। 'प्रिन्स' के वहु उद्धृत 17वें अध्याय में उसने लिखा है, "सामान्यत मनुष्यों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे अकृतज्ञ, चलायमान, मिथ्यावादी, डरपोक और स्वार्थलिप्सु होते है। वे तभी तक आपके बने रहते हैं जब तक सफलता आपके पास है। वे तभी तक आपके लिए अपना रक्त, सम्पत्ति, जीवन आदि का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत रहेंगे जब तक वास्तव में ऐसे बलिदानों की आवश्यकता दूर रहती है लेकिन जैसे ही यह आवश्यकता निकट आती है, वे आपके विरुद्ध विद्रोह भी कर लेते है।"......"मनुष्य उसी समय तक किसी से प्रेम करते हैं जब तक उसका स्वार्थ सिद्ध होता है, लेकिन जब वे अपनी कोई स्वार्थ-सिद्धि नहीं देखते तो वे विद्रोह कर देते हैं।"

मैकियावली का कहना था कि कार्य करने की प्रेरणा और उत्तेजना मनुष्य को स्वार्थ-परता से ही मिलती है। मनुष्य एक पशु के समान है जिसमें अन्तर्निहित अच्छाई नाम मात्र को भी नहीं है। भय शक्ति, अभिमान और स्वार्थ ही उसकी प्रेरक

शक्तियाँ हैं। जब कभी मनुष्य को स्वविवेक से कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी जाती है तभी अव्यवस्था फैल जाती है क्योंकि व्यवहार मे वह धोखेबाज और चित्त से वह अस्थिर है। भय के कारण वह दूसरो मे प्रेम करता है, अपने लाभ के लिए स्वांग रचता है तथा पाखण्डी बनता है, विलासी होने के कारण वह आरामप्रिय है। आशा लगाए हुए प्रत्येक व्यक्ति उस दिन की इन्तजारी करता है जब बाप मरता है और बैल बँटते हैं। मैकियावली का यह वाक्य बड़ा ही प्रसिद्ध है कि "मनुष्य पिता की मृत्यु का दु ख आसानी से भूल जाते है पर पितृ-धन की हानि नही भूलते (Men more rapidly forget the death of father than the lost patrimoney)।" कपट, वासना और स्वार्थ से भरा व्यक्ति अपने ही बुने गए जाल मे छटपटाता हुआ मर जाता है। इतिहास बताता है कि मनुष्य अन्त मे सदैव ऊपर से नीचे की ओर ही गिरा है और वह दिन दूर नही जब मनुष्य का पापी जीवन सदा-सदा के लिए मिट जाएगा।

मैकियावली के अनुसार सम्पत्ति की आकांक्षा मनुष्य के कार्यों की शक्तिशाली प्रेरक है। "मनुष्य अपनी आशाओ की अपरिमितता के कारण ही अपराध कर बैठते हैं (Men always commit the error of not knowing when to limit their hopes)।" 'कुछ प्राप्त करने की' स्वाभाविक इच्छा की सदैव ही पूर्ति नही हो सकती। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि संसार की सर्वोच्च वस्तु उसी के जीवन के लिए हो। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वह निरन्तर प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष मे लगा रहता है।

मानव-स्वभाव की इस धारणा के आधार पर ही मैकियावली कहता है कि एक राजनीतिज्ञ को मानव की इस स्वार्थ-भावना को ध्यान मे रखना चाहिए और राज्य को चाहिए कि वह एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के आक्रमण से बचाए। मैकियावली के अनुसार प्रेम और भय दो विशेष शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा मनुष्य से कुछ काम निकाला जा सकता है। जो शासक प्रिय होगा उसका दूसरो पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। जो शासक भयकर होगा जनता उसकी आज्ञा तुरन्त ही मानेगी। प्रेम और भय—ये दो शक्तियाँ मनुष्यो को वश मे कर सकती हैं किन्तु राजा के लिए भय का सहारा लेना ही अधिक श्रेष्ठ है। मैकियावली के मानव-स्वभाव एवं शक्ति अथवा भय सम्बन्धी धारणा का सेबाइन महोदय ने बड़ा सारगर्भित शब्द-चित्र इस प्रकार से खींचा है—

"मैकियावली ने राजनीति के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है, उसके मूल मे एक विशिष्ट धारणा कार्य कर रही है। वह धारणा यह है कि मानव प्रकृति मूलतः स्वार्थी है। राजनेता के प्रेरक उद्देश्य सदैव अहवादी होने चाहिए। जन-साधारण सदैव सुरक्षा चाहता है और शासक शक्ति। शासन की स्थापना का उद्देश्य ही यह है कि व्यक्ति कमजोर होता है। वह दूसरे व्यक्तियों के अतिक्रमण से अपनी रक्षा नही कर सकता। उसकी रक्षा के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। मनुष्य की प्रकृति बहुत अधिक आक्रमणशाली और अर्जनशील है। मनुष्यो के पास जो कुछ होता है

वे उसे अपने पास रखना चाहते हैं और उससे अधिक का अर्जन करना चाहते हैं। मनुष्य की इच्छाओं पर कोई नियन्त्रण नहीं है। उन पर एकमात्र नियन्त्रण प्राकृतिक दुर्लभता का है। फलतः मनुष्य सदैव ही संघर्ष और प्रतियोगिता की स्थिति में रहते हैं। यदि इस संघर्ष और प्रतियोगिता पर विधि का अंकुश न हो तो समाज में अराजकता फैल सकती है। शासक की शक्ति अराजकता की सम्भावना पर और इस धारणा पर कि शक्तिशाली शासक होने पर ही सुरक्षा कायम रह सकती है, आधारित है। मैकियावली ने शासन के सम्बन्ध में इस धारणा को स्वतः सिद्ध मान लिया है, यद्यपि इसके आधार पर उसने व्यवहार के किसी सामान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का विकास नहीं किया है। लेकिन, उसने अनेक स्थलों पर यह कहा है कि मनुष्य सामान्य रूप से खराब होते हैं और बुद्धिमान शासक को अपनी नीतियाँ इसी धारणा को आधार बनाकर निर्धारित करनी चाहिए। उसने इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया है कि सफल शासक को सम्पत्ति और जीवन की सुरक्षा की ओर सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए क्योंकि मनुष्य की प्रकृति में ये ही सबसे सार्वभौम इच्छाएँ हैं। इसलिए उसने एक स्थल पर यहाँ तक कहा है कि मनुष्य अपनी पैतृक सम्पत्ति की जब्ती की अपेक्षा अपने पिता की हत्या को अधिक आसानी से क्षमा कर सकता है। अत्याचारी शासक मार सकता है, वह लूटपाट नहीं करेगा। मैकियावली की विचारधारा से इस पहलू को जब व्यवस्थित मनोविज्ञान के द्वारा पूर्ण किया गया, तब वह हॉब्स का राजनीतिक दर्शन बन गया।"[1] मैकियावली का शासक भी एक मानव है जो इन सब दुर्गुणों से युक्त है, अतः सच्चा शासक वही है जो शक्ति, धोखा और पक्षपात लेकर चले तथा साथ ही लोमड़ी की तरह चालाक और शेर की तरह शक्तिशाली हो। वह चाहता है कि शासक सतर्क और आतंकित रहे। नियन्त्रण, संयम और अनुशासन द्वारा समाज में सन्तुलन रखा जा सकता है। एक बुद्धिमान शासक के लिए उचित है कि वह मानव मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर मानव स्वभाव के उपरोक्त (बुरे) आधार पर अपनी सत्ता को ग्रहण करे। उसके अनुसार सफल सरकार वही है जो सम्पत्ति और जीवन की किसी भी प्रकार रक्षा कर सके।

मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों के निष्कर्ष

(1) मैकियावली का मानव प्रेरणाओं से सम्बन्धित उपरोक्त सिद्धान्त मानव स्वभाव के बारे में प्लेटो और अरस्तू द्वारा प्रतिपादित या वैसे ही अन्य सिद्धान्तों का जो राज्य का जन्म मनुष्य के सामाजिक स्वभाव में देखते है, खण्डन करता है। जहाँ प्लेटो मनुष्य को स्वभावत. सद्‌गुणी समझता है वहाँ मैकियावली ने राज्य और समाज की उत्पत्ति को एक आकस्मिक घटना माना है, जो मनुष्यों में सुरक्षा की आवश्यकता से उत्पन्न हुई। उसके अनुसार मनुष्य दूसरों के साथ इसलिए सहयोग करता है क्योंकि वह जानता है कि उनके सहयोग के अभाव में उसके परिवार और सम्पत्ति की सुरक्षा सम्भव नहीं है। उसकी इस सुरक्षा की समस्या से ही सरकार की आवश्यकता होती है।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 311.

(2) एक बुद्धिमान शासक को यह मान कर चलना चाहिए कि मनुष्य की प्रेरक *शक्तियाँ, जिन पर वह भरोसा रख सकता है, स्वयं अहंपूर्ण और स्वार्थपूर्ण* हैं। वे नैतिक और परमार्थपूर्ण नहीं हैं। अत. शासक को सदैव इतना अधिक शक्तिशाली बनने का प्रयास करना चाहिए कि वह प्रजाजन को सुरक्षा प्रदान कर सके। शासक को अपनी नीतियों पर नैतिकता एव आदर्शवादिता का मुलम्मा चढाने की कोई आवश्यकता नही है। मनुष्य मे सामाजिक सद्गुण नाम की कोई वस्तु *नहीं होती। जिन्हे हम सामाजिक सद्गुण की संज्ञा देते हैं वे केवल स्वार्थ के बदले* हुए रूप हैं।

(3) राजनीति और नैतिकता का गठबन्धन अव्यावहारिक और उपहासास्पद है। मनुष्य जन्म से ही स्वार्थी तथा धर्म की अपेक्षा पाप की ओर प्रवृत्त है। वह विवश किया जाने पर ही अच्छाई का कोई काम करता है। अत. यह बुद्धिहीनता और अराजनीतिकता होगी कि शासक ऐसे मनुष्य के नैतिक या सामाजिक सद्गुण रूपी बहुरुपियेपन पर विश्वास करे। शासक की आदर्श स्थिति तो यह है कि प्रजाजन उससे प्रेम भी करें और उससे डरते भी रहें। चूँकि ये दोनो बातें अधिकांशत एक साथ सम्भव नही हैं अत यही श्रेष्ठतर है कि शासक मनुष्यो को शक्ति द्वारा नियन्त्रित करता रहे। शक्ति ही एक ऐसा महा-अस्त्र है जिसका मूल्य मनुष्य समझते हैं। शक्ति भय की जननी है, और भय प्रेम की अपेक्षा अधिक अनुशासन रखने मे समर्थ है। प्रेम बहुधा अवसर पडने पर धोखा दे जाता है। शक्ति द्वारा अराजकता को मिटाया जा सकता है और सामाजिक स्थिरता की स्थापना करते हुए मनुष्य के स्वार्थपूर्ण कार्यों को रोका जा सकता है।

(4) मैकियावली के इस कथन से कि "मनुष्य जन्म और स्वभाव के अनुसार ही कपटी, स्वार्थी और लोभी होता है"—यह अर्थ निकालना अस्वाभाविक न होगा कि मनुष्य के आचरण मे सुधार सम्भव नही है। जहाँ अरस्तू के राज्य मे मनुष्य को शिक्षा द्वारा सद्गुणी बनाया जा सकता है वहाँ मैकियावली के अनुसार मनुष्य अपनी स्वभावजन्य एव अन्तर्निहित बुराइयो के कारण युग-युगान्तर तक अपरिवर्तित ही बना रहेगा। राज्य के लिए उसके आचरण मे सुधार करना न तो शिक्षा द्वारा सम्भव है और न सामाजिक एव आर्थिक सस्थाओ के सुधार द्वारा। उसकी कुप्रवृत्तियों पर नियन्त्रण का केवल एक ही प्रमुख साधन है—और वह है शक्ति या दमन।

मैकियावली के मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचारों की आलोचना

मैकियावली द्वारा किया गया मानव-स्वभाव का चित्रण हॉब्स के प्राकृतिक अवस्था के मानव-स्वभाव से बहुत कुछ मिलता-जुलता है और इसी कारण उसे मानव-द्रोही तथा घातक कहा जाता है। मानव इतना बुरा, स्वार्थी और निम्नकोटि का नहीं है जितना उसने बतलाया है। उसमे सद्गुणो की कमी नही है। प्रेम, सहयोग, सदाशयता, त्याग, अनुशासन आदि उच्च दैवी गुण मनुष्य मे ही पाए जाते हैं। मैकियावली के विचार अवैज्ञानिक और विरोधात्मक प्रवृत्तियों से भरपूर हैं। यदि मनुष्य उसके बताए अनसार ही स्वार्थी है तब तो समाज का सुधार वह किसी

भी परिस्थिति मे नही कर सकता। यदि मनुष्य इतना ही पापी, द्रोही और अहंकारी है जितना मैकियावली ने कहा है तो राज्य की कल्पना ही नही की जा सकती, क्योंकि राज्य तो सहयोगी-भावनाओं से उत्पन्न हुआ है। पुनश्च: कुछ परिस्थितियो मे चाहे "मनुष्य पिता की मृत्यु का दुःख आसानी से भूल जाए" पर यह भी वह मनुष्य ही है जो देश-हित, पिता के सम्मान और परोपकार के प्रश्न पर अपना तन-मन-धन सभी कुछ बलिदान कर देता है।

वास्तव मे प्रतीत यही होता है कि मैकियावली की मानव प्रकृति की निकृष्टता और अहमन्यता में इतनी दिलचस्पी नही थी जितनी इस बात मे कि इन बुराइयो के कारण ही इटालियन समाज की बड़ी दुर्दशा हो गई थी। अपने समाज की अधोगति देखकर उसे मर्मान्तक पीड़ा होती थी। उसके विचार से इटली भ्रष्ट-समाज का सजीव उदाहरण था। जहाँ राजतन्त्र ने फ्रांस और स्पेन मे इस प्रकार की बुराइयो को किसी अश तक दूर कर दिया था वहाँ इटली मे इन बुराइयो को दूर करने वाली कोई सत्ता नही थी। मानव-स्वभाव के जिन पक्षों का चित्रण मैकियावली ने किया है, वे सब इटली मे विद्यमान थे। मैकियावली स्वयं मनुष्य के क्रोध, शक्ति और स्वार्थ-लोलुपता का शिकार हुआ बदनसीब इन्सान था। अत: उसके हृदय मे यदि मानव-स्वभाव के बुरे पक्ष का ही ध्यान रहा हो तो इसमे इसका दोष कम है, उसकी परिस्थितियो और इटली मे विद्यमान तत्कालीन वातावरण का अधिक। तत्कालीन परिस्थितियो और इटली की दुर्दशा के कारण ही मैकियावली सम्भवत इतना अधिक तड़प उठा और दुःख के सागर में डूब गया कि उसने अच्छाई और बुराई के मानव-स्वभाव रूपी सिक्के के दो पहलुओं मे से केवल एक ही पहलू को चित्रित किया। इटली के तत्कालीन मनुष्यो के स्वभाव के आधार पर समस्त मनुष्यो के सर्वकालीन स्वभाव को निर्धारित करना, उसका एक तार्किक दोष है। पुनश्च, यह भी कहना होगा कि मैकियावली ने अपने मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचारो की कोई वैज्ञानिक व्याख्या नही की है, बल्कि अपने विचारो को केवल बलशाली शब्दों में व्यक्त किया है।

मैकियावली के धर्म और नैतिकता सम्बन्धी विचार
(Machiavelli on Religion and Morality)

राजनीति दर्शन मे मैकियावली ने ही सर्वप्रथम राजनीति को धर्म एव नैतिकता से पृथक् रखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यही विचार उसे मध्यकाल से पूर्ण रूप से विलग करता है। "उसने राजनीतिक हित को नैतिकता एव धर्म से जिस भाँति अलग रखा है उसका निकटतम सादृश्य अरस्तू द्वारा लिखित 'पॉलिटिक्स' के कुछ अशो मे पाया जाता है। अरस्तू ने भी राज्यों की अच्छाई-बुराई की ओर ध्यान दिए बिना ही उनकी रक्षा के उपायो का विवेचन किया है; तथापि यह निश्चित है कि मैकियावली ने इन अवतरणो को अपना आदर्श माना था। यह सम्भव नही है कि उसे किसी के अनुसरण करने का ध्यान रहा हो। हाँ, यह हो सकता है कि उसकी धर्म-निरपेक्षता और उसके प्रकृतिवादी अरस्तूवाद

मे जिसने दो शताब्दियो पूर्व 'डिफेन्सरपेसेज' की रचना को प्रेरणा दी थी, से कुछ सम्बन्ध रहा हो। मार्सीलियो की भांति मैकियावली भी पोपशाही को इटली की फूट का कारण मानता था। धर्म लौकिक मामलो मे कितना उपयोगी होता है? इस सम्बन्ध मे भी मार्सीलियो और मैकियावली के विचार प्राय: एक-से हैं। मैकियावली की धर्म-निरपेक्षता मार्सीलियो की धर्म-निरपेक्षता से आगे बढ़ी हुई है। मैकियावली धार्मिक पचड़ों से बिलकुल मुक्त है।"[1] मार्सीलियो ईसाई धर्म के मानव-स्वभाव-सम्बन्धी वैधता के सिद्धान्त और ईश्वरीय नियम के विश्वास को नही छोड़ सका था जबकि मैकियावली ईसाई धर्म की मान्यताओ का विरोध करते हुए इस बात से इन्कार करता है कि मनुष्य का कोई अति प्राकृतिक (Super-natural) या दैवी लक्ष्य है।

जहाँ मार्सीलियो ने ईसाई आचारो को परलोक सम्बन्धी बता कर विवेक की स्वतन्त्रता का समर्थन किया, वहाँ मैकियावली ने उसकी निन्दा इसलिए की है कि वे परलोक सम्बन्धी हैं। उसने ईसाई सद्गुणो को चरित्र को कमजोर बनाने वाला बताया है और प्राचीन कालीन धर्मों को ईसाई धर्म की तुलना मे अधिक तेजस्वी स्वीकार किया है। उसी के शब्दो मे, "हमारा धर्म विनम्रता, निम्नता और सांसारिक लक्ष्यो के प्रति उदासीनता को उच्चतम सुख मानता है। इसके विपरीत दूसरा धर्म आत्मा के गौरव, शरीर की शक्ति तथा अन्य ऐसे गुणो मे जो आदमी को बलवान बनाते हैं, सर्वोच्चशीलता की कल्पना करता है। मेरा ख्याल है कि इन सिद्धान्तो के कारण मनुष्य कायर हो गए हैं। दुष्ट आदमी उन्हें बड़ी आसानी से अपने काबू मे कर लेते हैं। धर्मभीरु मनुष्य हमेशा स्वर्ग की लालसा मे लगे रहते हैं—वे चोट सह लेते हैं, बदला नही लेते।"

उपरोक्त अवतरण से स्पष्ट है कि मैकियावली नैतिकता और धर्म के राजनीति पर पड़ने वाले प्रभाव से परिचित था। उसने यह स्वीकार किया है कि शासक साध्य को प्राप्त करने के लिए अनैतिक साधनो का प्रयोग कर सकते हैं। उसने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समस्त साधनो का प्रयोग किया है चाहे वे साधन नैतिक हों या अनैतिक। उसने नैतिकता को व्यक्तिगत नैतिकता (Private Morality) एव जन-नैतिकता (Public Morality)—इन दो वर्गों मे बाँटा है। व्यक्तिगत नैतिकता मे शासक के दृष्टिकोण और मापदण्ड को रखा गया है। जन-नैतिकता के बारे मे उसने कहा है कि जनता का कल्याण इसी मे है कि वह अपने शासक की आज्ञाओ का पालन करे। उसके अनुसार शासक स्वतन्त्र है, उस पर कोई नियन्त्रण नही है और न ही वह नैतिकता के किसी बन्धन मे बधा है। अपनी शक्ति और प्रभाव के विस्तार मे जो उपयुक्त हो, सहायक हो, वह सब न्याय और नैतिक है। वह राज्य के लिए अपने को एकीकृत करने और शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से प्रयुक्त होने वाले साधनो की नैतिकता पर कोई ध्यान न देकर केवल इस बात पर

1 सेबाइन: राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड I, पृष्ठ 309

ध्यान देता है कि वे उद्देश्य की पूर्ति में सफलतादायक हैं भी या नहीं। उसके कथनानुसार "राजा को तो राज्य की सुरक्षा की चिन्ता रखनी चाहिए, साधन तो हमेशा ग्रादरणीय ही माने जाएँगे ग्रौर सामान्यत. उनकी प्रशसा ही की जाएगी। राजा का काम ग्राम खाना है गुठलियाँ गिनना नहीं। इसलिए उसका उद्देश्य यही होना चाहिए कि ग्रपने काम मे ग्रपने नैतिक या ग्रनैतिक साधन का प्रयोग करके सफलता प्राप्त कर ली जाए।" मैकियावली द्वारा चित्रित ग्रादर्श-नरेश का यही दृष्टिकोण है कि न कोई चीज ग्रच्छी है ग्रौर न कोई बुरी। जरूरत पर जो काम दे ग्रौर फल दे, वही चीज सबसे ग्रच्छी है। राजसत्ता को बनाए रखने के लिए शासक साम, दाम, दण्ड ग्रौर भेद, बेईमानी, हत्या, प्रवचना, ग्राडम्बर ग्रादि किसी भी उपाय का प्रयोग कर सकता है। सच्चा राजा वही है जो शक्ति, धोखा ग्रौर पक्षपात लेकर चले, शेर की तरह शक्तिशाली हो ग्रौर लोमड़ी की तरह चालाक हो। उसकी इसी नीति को 'व्याघ्र-लोमड़ी नीति' (Lion and Fox Theory) कहा गया है। मैकियावली के ग्रनुसार, पाप-पुण्य, धर्म-ग्रधर्म, लोक-परलोक, ग्रच्छा-बुरा, शत्रु-मित्र ग्रादि के विचार डरपोक मनुष्यों के लिए है, राजा को इनका दास नहीं होना चाहिए। राजा को तो सदैव यही सीखना चाहिए कि उसे श्रेष्ठ नही बनना है ग्रौर बेईमानी, धोखेबाजी, छल-कपट, ग्रवसरवादिता, हत्या, चोरी, डकैती ग्रादि उसके कुशल शस्त्र हैं। इन विचारों के पीछे मैकियावली की धारणा यही है कि राज्य की सुरक्षा ग्रौर कल्याण सर्वोपरि हैं, ग्रत इस मार्ग मे नैतिक विचार बाधक रूप में सामने नहीं ग्राना चाहिए। साध्य की प्राप्ति हेतु साधनों की नैतिकता के चक्कर मे पड़ना मूर्खता है। इस प्रसग मे मैकियावली का निम्नलिखित उद्धरण पठनीय है—

"प्रत्येक व्यक्ति इस बात से परिचित है कि राजा के लिए ग्रपने वचन का पालन करना ग्रौर नीतिपूर्वक ग्राचरण करना कितना प्रशसनीय है, फिर भी जो कुछ हमारे नेत्रों के सामने घटित हुग्रा है उससे हमें यही दिखाई देता है कि केवल वे राजा ही महान् कार्य सम्पन्न कर पाए हैं जिन्होंने चालाकी मे दूसरों को पीछे छोड़ दिया ग्रौर ग्रन्तत वे उनसे ग्रधिक सफलता प्राप्त करते हैं जो ईमानदारीपूर्ण ग्राचरण मे विश्वास करते थे..........ग्रत एक बुद्धिमान शासक ग्रपने वचन का पालन नहीं कर सकता ग्रौर न ही उसे ऐसा करना चाहिए, यदि ऐसा करना उसके हित में न हो ग्रौर उपर्युक्त वे कारण समाप्त हो गए हों जिनसे विवश होकर यह वचन दिया था। यदि मनुष्य पूर्णत. श्रेष्ठ होते तो ऐसी स्थिति ही न ग्राती, किन्तु चूंकि वे बुरे ग्रथवा ग्रश्रेष्ठ हैं ग्रौर उन वायदों को नहीं निभायेंगे जो उन्होंने तुम से किए हैं, ग्रतः तुम भी उनके साथ ग्रपने वचन निभाने के लिए बाध्य नहीं हो ग्रौर किसी भी शासक को कभी ऐसे उपयुक्त कारण का ग्रभाव नहीं रहा है जिसकी ग्रोट में वह ग्रपने वचन-भग पर पर्दा डाल सके। इस बात के समर्थन में हाल ही के ग्रगणित उदाहरण पेश करके यह बतलाया जा सकता है कि किस प्रकार राजाग्रों के विश्वासघात के कारण ग्रनेक पवित्र सन्धियाँ निष्क्रिय एव व्यर्थ बना दी गईं ग्रौर

किस प्रकार उस व्यक्ति को ही सर्वोत्तम सफलता मिल पाई जो सभी के साथ चालाकी का प्रयोग करना चाहता है।"

मैकियावली ने अपने ग्रन्थ 'डिस्कोर्सेज' के अध्याय 59 मे स्पष्ट लिखा है कि "मैं यह विश्वास करता हूँ कि जब राज्य का जीवन सकट मे हो तो राजाओ और गणराज्यो की रक्षा के लिए विश्वासघात तथा कृतघ्नता का प्रदर्शन करना चाहिए।" उसका स्पष्ट मत था कि सांसारिक सफलता सबसे बड़ा साध्य है, जिसे पाने के लिए अनैतिक साधनो को अपनाना आवश्यक है। साध्य की सफलता साधनो को पवित्र बना देती है। उसने क्रूरता, विश्वासघात आदि जघन्य कार्य करने वालो के अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत किए।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक होगा कि मैकियावली नैतिकता नाम की किसी बात से परिचित नही था। उसने तो नैतिक मान्यताओ एव सिद्धान्तो को राजनीति के क्षेत्र से दूर किया है। उसने नैतिक गुणो की विशेषताओ को अस्वीकार नही किया है, परन्तु राजनीतिक गुणो के लिए उन्हे आवश्यक नही माना है। उसकी दृष्टि मे राजनीतिक व्यक्ति प्रत्येक स्तर से सफलता प्राप्त करने हेतु स्वतन्त्र है चाहे इसके लिए उनको नैतिक मान्यताओ का बलिदान ही क्यो न करना पडे।

वैसे वह यह सुझाव देना भी नही भूला है कि एक राजा को ऐसे गुणो के साथ प्रकट होना चाहिए जिन्हे श्रेष्ठ मनुष्य के लक्षण माना जाता है। इस दृष्टि से उसे मिथ्याचार और छल-कपट मे निष्णात होना चाहिए और इस तरह आचरण करना चाहिए कि लोग यही समझें कि "वह (राजा) तो विश्वास, अनुकम्पा, सच्चरित्रता, दयालुता और धार्मिकता की साकार प्रतिमा है।" दरअसल मैकियावली ने न तो धर्म और नैतिकता से घृणा की है और न उसकी अवहेलना ही की है। उसने तो धर्म और नैतिकता को राज्य के बन्धन मे रखकर उन्हे राजनीति का अनुगामी बनाया है। राज्य को वह धर्महीन नहीं बल्कि धर्म-निरपेक्ष तथा आचारहीन नही बल्कि आचारगत बाधाओ से मुक्त देखना चाहता है। एक राज्य तथा जाति के जीवन मे धर्म और नैतिकता के महत्त्वपूर्ण भाग से वह अपरिचित नही है, जैसा कि उसके ग्रन्थ 'डिस्कोर्सेज' के इस उद्धरण मे स्पष्ट है—

"जो राजा और गणराज्य अपने को भ्रष्टाचार से मुक्त रखना चाहते हैं उन्हे सर्वप्रथम समस्त धार्मिक सस्कारो की विशुद्धता को सुरक्षित रखना चाहिए और उनके प्रति उचित श्रद्धाभाव दर्शाना चाहिए, क्योकि धर्म की हानि होते हुए देखने से बढकर किसी देश के विनाश का और कोई लक्षण नही है।"

इस मत के समर्थन मे सेबाइन के ये शब्द भी उल्लेखनीय है कि "मैकियावली ने यह अवश्य स्वीकार किया है कि शासक साध्य को प्राप्त करने के लिए अनैतिक साधनो का प्रयोग कर सकते है लेकिन उसे इसम कोई सन्देह नहीं था कि जनता का भ्रष्टाचार श्रेष्ठ शासन का निर्माण असम्भव कर देता है। मैकियावली ने प्राचीनकाल के रोमनों और अपने समय के स्विस लोगो के नागरिक सद्गुणो की भूरि-भूरि

सराहना की है। उसका विश्वास है कि ये सद्गुण पारिवारिक जीवन की पवित्रता, व्यक्तिगत जीवन में स्वतन्त्रता तथा प्राणवेत्ता व्यवहार में सरलता और मितव्ययिता तथा सार्वजनिक कर्त्तव्यों के पालन में निष्ठा और विश्वसनीयता के कारण विकसित हो सके थे। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि शासक को अपने प्रजाजनों के धर्म में विश्वास रखना चाहिए अथवा उनके सद्गुणों का अभ्यास करना चाहिए।"[1] मैकियावली के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचारों के कारण ही यह कहा गया है कि "वह अनैतिक नहीं, नैतिकता विरोधी था और अधार्मिक नहीं, धर्म-निरपेक्ष था (He was not immoral but unmoral, not irreligious but unreligious)।" मैकियावली ऐसी शक्ति की आवश्यकता को समझता था जो मनुष्य के कार्यों को ही नहीं बल्कि उसके मन को भी नियन्त्रित कर सके। इस ध्येय की पूर्ति के लिए वह धर्म को उपयुक्त साधन मानते हुए चर्च को राज्य के एक ऐसे यन्त्र के रूप में प्रयोग करना चाहता था जो इस तरह की राष्ट्रीय परम्पराएँ एवं व्यावहारिक आदतें उत्पन्न करदे जिनसे शान्ति, व्यवस्था और समाज की स्थिरता में सहायता मिल सके। मैकियावली का स्वयं का जीवन बड़ा प्रगतिशील, आदर्शपूर्ण और अनुकरण करने योग्य था। केवल सामूहिक विकास के हेतु ही उसने धर्म और नैतिकता को राजनीति से दूर रखा। आज के विश्व में भी हम देखते हैं कि धर्म और आचार-शास्त्र राजनीति की सीमा से कोसों दूर है। मैकियावली के नैतिकता सम्बन्धी विचारों का स्पष्ट दर्शन उनके द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिगत नैतिकता और जन-नैतिकता के अन्तर से हो जाता है। व्यक्तिगत गुणों का वह विरोधी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि राजा के गुणों का वर्णन करते हुए वह कहता है कि "राजा बुद्धिमत्ता एवं आत्म नियन्त्रण का एक आदर्श स्वरूप है और वह अपने गुणों एवं दोषों से प्रजा को समान लाभ पहुँचाता है।"

मैकियावली के धर्म और नैतिकता सम्बन्धी विचारों पर दृष्टिपात करने के उपरान्त यह भी जान लेना चाहिए कि उसने धर्म और नैतिकता से राजनीति का पृथक्करण किन कारणों के आधार पर किया था। मोटे रूप में इसके तीन कारण दिए जा सकते हैं—

(1) मैकियावली यूनानी दार्शनिकों की भाँति मनुष्य की रक्षा और कल्याण के लिए राज्य को अत्यावश्यक, सर्वोत्तम और सर्वोच्च संगठन मानते हुए राज्य के हित को सब व्यक्तियों के हितों से ऊपर समझता था। इसीलिए उसने यह लिखा कि "जब राज्य की सुरक्षा संकट में हो तो उस पर नैतिकता के वे नियम लागू नहीं होने चाहिए जो नागरिकों के व्यवहार को विनियमित करते हैं।"

(2) दूसरा कारण मैकियावली का यथार्थवादी दृष्टिकोण था। वह वस्तुओं के वास्तविक सत्य तक पहुँचने का आकांक्षी था। उस समय के ईसाइयत जीवन के और स्वयं पोप के पापमय आचरण को देखकर उसे यह विश्वास हो गया था कि धार्मिक सत्ता मनुष्यों को अन्धविश्वासी और अकर्मण्य बनाती है, जिसके कारण

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 309-310.

वे परिस्थितियों का सामना करने में असमर्थ हो जाते हैं। अतः उसका यह सिद्धान्त बनाना स्वाभाविक था कि मनुष्य को दुर्बल बनाने वाली धार्मिक सत्ता का राजनीति मे अस्तित्व न आ पाए।

(3) तीसरा कारण मैकियावली द्वारा शक्ति को असाधारण महत्त्व देना था। वह शक्तिशाली पुरुषों को ही वंदनीय समझता था। अतः शक्ति प्राप्त करने के लिए उसने किसी भी उपाय के प्रयोग को उचित बताया। इस दृष्टिकोण से धार्मिक प्रभाव से मुक्त, इहलोकवादी राजनीति का जन्म हुआ। मैकियावली की आस्था सांसारिक आदर्श एवं शक्ति तथा ख्याति की उपलब्धि में थी। मृत्यु के बाद मोक्ष लाभ प्राप्त करना उसकी दृष्टि में इतना आवश्यक न था जितना इस लोक में ख्याति लाभ प्राप्त करना। अत. यह कोई आश्चर्य की बात न थी कि उसने राजनीति को धर्म एवं नैतिकता से अलग रखकर एक स्वतन्त्र शास्त्र का स्थान दिया।

दुनियाँ की व्यावहारिक प्रणाली को देखकर और यह परख कर कि धर्म की आड में क्या पाप किए जाते हैं और राजनीति में धर्म को कैसे उछाला जाता है? मैकियावली ने धर्म और नैतिकता सम्बन्धी जो विचार प्रकट किए, उनकी सत्यता का अनुभव हम आज भी करते हैं। हिटलर और मुसोलिनी के कारनामों को विश्व देख चुका है, चीन को विश्व देख रहा है और राजनीति के नैतिकता-विहीन खेलों में सारा विश्व आज भय-त्रस्त है।

मैकियावली के राज्य सम्बन्धी विचार
(Machiavelli's Conception of the States)

राज्य की उत्पत्ति एवं प्रकृति

अरस्तू की भाँति मैकियावली ने राजनीति के अध्ययन में ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग तो किया है किन्तु उसकी राज्य सम्बन्धी कल्पना अरस्तू से भिन्न है। अरस्तू राज्य को प्राकृतिक संस्था मानता है जबकि मैकियावली मानवकृत। उसका विचार है कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है, जिसे मनुष्य ने अपनी असुविधाओं को दूर करने के लिए बनाया है। वह राज्य के आविर्भाव का कारण मनुष्य का स्वार्थ मानता है और इसी कारण राज्य की मुख्य विशेषता उसका निरन्तर विस्तार है। "जब सभी मानवीय व्यापार गतिशील हैं तो यह असम्भव है कि कोई निश्चल खड़ा रहे।" मैकियावली नगर-राज्य की अपेक्षा निरन्तर विकासशील रोमन साम्राज्य का उपासक था। राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी मैकियावली का विचार हॉब्स से मिलता जुलता है, क्योंकि राज्य की उत्पत्ति से पूर्व हॉब्स के समान ही वह मानवीय दशा को अत्यन्त स्वार्थी और शोचनीय मानता है जिसकी समाप्ति के लिए अन्त में लोगों ने यही ठीक समझा कि उचित व्यवस्था करने वाले किसी अधिकारी की नियुक्ति कर दी जाए। जब सामान्य हित और कल्याण की इस भावना से व्यक्ति के हितों का समन्वीकरण हो गया तो राज्य की उत्पत्ति हुई। स्वार्थ को राज्य की उत्पत्ति का आधार बताते हुए मैकियावली यह भी स्वीकार करता है कि राज्य की स्थापना असभ्य जातियों का संगठन करने के लिए हुई थी। इस तरह वह स्वार्थ के अतिरिक्त

स्पष्टतः यह भी बतलाना चाहता है कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वरीय न होकर समाज के बल का परिणाम है। मनुष्य की दुष्टता और स्वार्थपरता को सीमित एवं नियन्त्रित करने के लिए बलशाली बाह्य व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो राज्य द्वारा पूरी की जाती है।

अरस्तू की भाँति ही मैकियावली राज्य को अन्य सभी संस्थाओं में उच्चतर स्थान देता है। समस्त संस्थाएँ राज्य के प्रति उत्तरदायी है, जबकि राज्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है। मनुष्य का सर्वोत्तम कल्याण राज्य के अतिरिक्त और कोई संस्था नहीं कर सकती। मनुष्य जब अपने व्यक्तित्व को राज्य में विलीन कर देता है तभी वह राज्य के अस्तित्व को बनाए रखने में सफल होता है और राज्य के अस्तित्व से उसका सर्वतोन्मुखी विकास होता है। व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य के हितों के सामने अपने हितों की चिन्ता न करे। राज्यों में जितने भी व्यक्ति-समुदाय होते हैं उनका भी यही कार्य है।

राज्य की महत्ता का आधार मैकियावली ने भौतिक शक्ति एवं छल-कपट (Craft) माना है। इनके बिना राज्य की वृद्धि नहीं हो सकती। राज्य किसी प्रकार के नैतिक आचरणों से नहीं बँधा है। उसके लिए वे सभी कार्य नैतिक हैं जो उद्देश्य की प्राप्ति में उसकी सहायता करते हैं।

मैकियावली यह मानता है कि राज्य परिवर्तनशील है और उसके उत्थान एवं पतन का लम्बा इतिहास है। इस परिवर्तन का अपना एक निश्चित क्रम है जिसे हम इतिहास के अध्ययन से जान सकते हैं। वह राज्य को दो भागों में विभाजित करता है—(1) स्वस्थ राज्य, (2) अस्वस्थ राज्य। स्वस्थ राज्य युद्धशील होता है और निरन्तर संघर्ष में लगा रहता है। यह राज्य एकता का प्रतीक होता है, क्योंकि लघु स्वार्थों के लिए इसके निवासी परस्पर लड़ते-झगड़ते नहीं हैं। स्वस्थ राज्य तेजस्वी और गतिशील होता है। अस्वस्थ राज्य शिथिल होता है जिसमें व्यक्ति अपने छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए भी संघर्षरत रहते हैं। उन्हें राज्य की एकता और संगठन की कोई चिन्ता नहीं होती।

राज्य के कर्त्तव्य, उद्देश्य और आचरण पर बहुत कुछ प्रकाश पूर्ववर्ती पृष्ठों में दिए गए विवरण में पड़ चुका है। प्लेटो का आदर्श-राजा जहाँ कामिनी-कंचन के मोह से ऊपर उठा हुआ साधु-सन्त था, शान्तिप्रिय था वहाँ मैकियावली का आदर्श राजा वह है जो किन्हीं भी उपायों से राज्य की शक्ति, सम्मान और प्रतिष्ठा को बढ़ाता है, जो राज्य का निरन्तर विस्तार कर उसे सम्मान की चोटी पर पहुँचाता है। अपने विख्यात ग्रन्थ 'प्रिंस' के 26 अध्यायों में उसने विस्तार से यह बतलाया है कि राजा को किस तरह का आचरण करना चाहिए। उसने बताया है कि "मनुष्य मानवता और पशुता के अंशों से मिलकर बनता है, अतः राजा को इन दोनों (मनुष्य और पशु) के साथ व्यवहार करने के उपायों का ज्ञान होना चाहिए। लोमड़ी की चालाकी और शेर की क्रूरता रखते हुए राजा को अपने उद्देश्यों पर बढ़ते जाना चाहिए। उसे येन-केन-प्रकारेण अपना कार्य निकालना चाहिए। राजा को एक नम्बर

का जोगी और बहुरूपिया होना चाहिए। उसे भाड़े के टट्टू विदेशी सिपाहियों पर कभी निर्भर नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत् अपने ही देश के सिपाहियों की विश्वासपात्र सेना रखनी चाहिए।" मैकियावली इस बात से अनभिज्ञ न था कि तत्कालीन इटली में विदेशी सिपाही विरोधियों की अपेक्षा अपने मालिकों के लिए ही अधिक संकट उत्पन्न करते थे।

मैकियावली ने राजा को दूसरी शिक्षा यह दी कि उसे दयालु होते हुए भी इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि कोई उसकी क्षमाशीलता का अनुचित लाभ न उठाए। आवश्यकता पड़ने पर राजा को क्रूर होने में भय नहीं खाना चाहिए। उसका हर प्रकार से यह प्रयत्न होना चाहिए कि प्रजा में उसके प्रति भय और सम्मान की भावना सतत जीवित रहे, पर साथ ही इस बात के प्रति सचेत रहना चाहिए कि लोग उससे घृणा न करने लगें। आवश्यकता पड़ने पर क्रूरता, विश्वासघात, अनैतिकता, अधर्म आदि सभी उपायों को अपनी सफलता के लिए उसे प्रयोग में लाना चाहिए, क्योंकि उसकी सफलता उसके तमाम साधनों को स्वयं बाद में नैतिक बना देगी। लोगों की घृणा से बचने के लिए राजा को कभी भी उनकी सम्पत्ति और उनकी स्त्रियों के सतीत्व को हाथ नहीं लगाना चाहिए। इन दोनों कार्यों के न होने पर अधिकांश जनता सुखी और सन्तुष्ट रहती है। यदि राजा को प्रजा छिछोरा (Frivolous), नीच प्रकृति का, पर-स्त्रीगामी और अस्थिर प्रवृत्ति का समझे तो इससे उसका मान घट जाता है। अतः उसका कर्त्तव्य है कि वह छल, कपट, हिंसा आदि का प्रयोग करते हुए भी ऐसे कार्य करे जिनसे उसकी महानता, उत्साह, गम्भीरता और सहनशीलता प्रकाश में आए तथा वह एक सज्जन एवं धर्म-परायण व्यक्ति की ख्याति अर्जित करे, क्योंकि ऐसी ख्याति उसके नीतिपूर्ण आचरण को और भी अधिक प्रभावशाली बना देगी। मैकियावली ने यह व्यवस्था भी दी है कि राजा को प्रतिवर्ष उचित समय पर प्रजा के मनोरंजनार्थ मेलों की व्यवस्था करनी चाहिए और युद्ध में प्राप्त लूट के माल को चुपचाप अपने कोष में न छिपाकर उदारतापूर्वक प्रजा और सैनिकों में उसका वितरण कर देना चाहिए।

जहाँ तक सम्भव हो राजा को सामाजिक रूढ़ियों और परम्पराओं में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से राजा के विरोधियों को सिर उठाने का अवसर मिलता है। दण्ड देने जैसे अप्रिय कार्यों का पालन उसे अपने अफसरों से करवाना चाहिए क्योंकि इनके कारण होने वाली बदनामी अफसरों के सिर मढ़ी जा सकती है और यदि प्रजा के कोप के कारण इन कार्यों के करने में कुछ पीछे भी हटना पड़े तो तत्सम्बन्धी दोष अफसरों के सिर डालकर राजा आसानी से बच सकता है।

राजा को वाणिज्य और व्यवसाय की उन्नति में रुचि लेनी चाहिए, किन्तु स्वयं को इस चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। यही उचित है कि वह इनके और कृषि के विकास को यथासम्भव प्रोत्साहन देता रहे। राजा को कला की प्रतिभा का भी पोषण करना चाहिए। यदि राजा वाणिज्य, व्यवसाय, कृषि आदि की ओर उपेक्षा का व्यवहार करेगा तो देश निर्धन और अशक्त हो जाएगा। साहित्य, संगीत और कला

का संरक्षक होने से और गुण-ग्राहक बनने से राजा की लोकप्रियता में वृद्धि होगी। मैकियावली ने राजा को चापलूसों से बचने और प्रजा के दिमाग को बड़ी योजनाओं में लगाए रखने की सलाह दी है। उसने यह परामर्श भी दिया है कि जब राजा किसी नवीन राज्य पर अधिकार करे तो उसे वहाँ के पुराने संविधान में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए। मैकियावली जनता द्वारा शासन कार्य में भाग लेने का भी अनुमोदन करता है ताकि उसे राजनीतिक शिक्षा मिल सके। मैकियावली द्वारा जनता के शासन कार्य में भाग लेने का भी अनुमोदन करने से यह प्रतीत होता है कि कम से कम शान्ति काल में वह राज्य और जनता के हितों में संघर्ष आवश्यक नहीं मानता। कुक (Cook) की यह धारणा असंगत नहीं है कि "मैकियावली का राजा (Prince) जन-कल्याण के लिए तानाशाह है, किन्तु स्वयं अपने सुख एवं लाभ के लिए निरंकुश शासक नहीं है।"

मैकियावली के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राजा की नीति शक्ति-सन्तुलन बनाए रखने की होनी चाहिए। राजा को हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि वह उन पड़ौसी राज्यों को आपस में सन्धि में न बन्धने दे जिनकी संयुक्त शक्ति उसके स्वयं के राज्य से अधिक हो जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति का सर्वोत्तम उपाय यही है कि राजा पड़ौसी राज्यों के आन्तरिक मामलों में निरन्तर हस्तक्षेप की नीति अपनाए अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाए रखने के लिए वह पड़ौसी राज्यों को प्रलोभन अथवा शक्ति द्वारा अपना मित्र बनाले। जिन राज्यों को वह युद्ध में जीत ले उन्हें अपना उपनिवेश बनाकर वहाँ एक शक्तिशाली सेना रख दे। मैकियावली ने राजा को युद्ध सम्बन्धी परामर्श भी दिया है कि उसे यथासम्भव घेरा डालने की अपेक्षा खुले मैदान में युद्ध नीति अपनानी चाहिए। सफलता-प्राप्ति के लिए राजा को तुरन्त निर्णय लेने की आदत डालनी चाहिए। तुरन्त और दृढ़ निर्णय तथा उसकी शीघ्र कार्यान्विति द्वारा गम्भीर समस्याओं का समाधान सरल हो जाता है।

सरकार के रूप
(Forms of Government)

शासनतन्त्रों अथवा सरकारों का वर्गीकरण मैकियावली ने इस उद्देश्य से किया है कि आदर्श शासन कायम किया जा सके। उसके लिए आदर्श शासन वही है जो पूर्णतः सफल हो, बाधाओं से मुक्त हो, और जिसकी सत्ता अप्रतिहत हो। अरस्तू का अनुसरण करते हुए उसने सरकारों को, उनका शुद्ध एवं अशुद्ध रूप मान कर 6 भागों में विभाजित किया है—

सामान्य रूप	विकृत रूप
(1) राजतन्त्र (Monarchy)	(1) आततायी तन्त्र (Tyranny)
(2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	(2) वर्ग तन्त्र (Oligarchy)
(3) गणतन्त्र (Republic)	(3) भीड़तन्त्र या लोकतन्त्र (Democracy)

मैकियावली ने यद्यपि पॉलिबियस और सिसरो के इस विचार से सहमति प्रकट की है कि मिश्रित सरकार सर्वश्रेष्ठ होती है क्योंकि उसमें प्रत्येक शासनतन्त्र के अच्छे गुणों का समावेश होता है और समुचित शक्ति-सतुलन तथा नियन्त्रण बना रहता है, तथापि उसने केवल दो प्रकार की सरकारों का ही विस्तार से वर्णन किया है और वे हैं राजतन्त्र तथा गणतन्त्र । राजतन्त्र का गुणगान 'प्रिन्स' में तथा गणतन्त्र का 'डिस्कोर्सेज' में किया गया है । 'प्रिन्स' में मैकियावली ने राजतन्त्र का इतना अधिक गुणगान किया है कि केवल उस ग्रन्थ को पढ़कर ही अपनी धारणा बना लेने वाले लोग उसे राजतन्त्र का कट्टर समर्थक और गणतन्त्र का शत्रु समझने की भूल कर सकते हैं । वास्तव में मैकियावली इस बात से भिज्ञ था कि सभी परिस्थितियों में एक ही प्रकार का शासक सदा सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सकता । शासन की उपयोगिता विभिन्न सामाजिक एव आर्थिक स्थितियों में परिवर्तित हो सकती है। यदि एक परिस्थिति में राजतन्त्र सर्वोत्कृष्ट शासन-व्यवस्था है तो दूसरी में गणतन्त्र अधिक श्रेष्ठ शासन-प्रणाली सिद्ध हो सकती है । सम्भवत इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर मैकियावली ने 'डिस्कोर्सेज' में गणतन्त्र को सर्वोत्तम शासन बतलाया है तो 'प्रिन्स' में राजतन्त्र को ।

राजतन्त्र (Monarchy)—मैकियावली ने राजतन्त्र को पैतृक और कृत्रिम राजतन्त्र में विभक्त किया है । पैतृक राजतन्त्र में राजा वंशानुगत आधार पर सिंहासनासीन होता है जबकि कृत्रिम राजतन्त्र वह शासन है जो शत्रु को पराजित करने के बाद कोई दूसरा राज्य उसे परास्त राज्य पर लादता है । राजतन्त्रों की स्थापना अथवा उनमें वृद्धि एक राजा द्वारा दूसरे को परास्त करने में होती है । मैकियावली ने इन नव-संस्थापित राज्यों के 5 प्रकार बताए हैं—

1. वे राज्य जो किसी प्राचीन राज्य के अंग हों और जिनके निवासियों तथा नए शासक अथवा नए राजा के देश और भाषा में कोई अन्तर न हो । मैकियावली ने ऐसे राज्य में शासन को शक्तिशाली बनने के लिए दो साधन बतलाए हैं—प्राचीन राजा के कुटुम्ब को समाप्त कर दिया जाए, और राज्य के प्रचलित कानून एव करों (Taxes) म कोई परिवर्तन नहीं किया जाए,
2. वे राज्य जो धर्म पर आधारित हों,
3. वे राज्य जो दान में प्राप्त किए गए हों,
4. वे राज्य जो अपहरण या चालाकी द्वारा स्थापित किए गए हों, तथा
5. वे राज्य जो पराक्रम द्वारा हस्तगत किए गए हों ।

'प्रिन्स' के अध्ययन से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि मैकियावली उन देशों में राजतन्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ शासन-व्यवस्था मानता है जो आपसी फूट के शिकार हों, जिनके निवासी चरित्रहीन एवं भ्रष्ट हों, जो एकता की दृष्टि से शोचनीय अवस्था में हों और उनके राष्ट्रनायक नैतिक पराकाष्ठा तथा भ्रष्टता में डूबे रहे हों । मैकियावली ने 'प्रिन्स' में निरकुश शासक का आदर्शीकरण इसलिए किया था कि वह इटली को शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के अधीन एकताबद्ध करना चाहता था

तत्कालीन इटालियन समाज की बहुत अधिक अधोगति हो गई थी। इटली भ्रष्ट समाज का सजीव उदाहरण था। राजतन्त्र ने फ्रांस और इटली में इस प्रकार की बुराइयों को किसी अंश तक दूर कर दिया था। लेकिन इटली में इन बुराइयों को दूर करने वाली सत्ता नहीं थी। अतः वह इटली को समान दशा में देखने के लिए और राज्य के एकीकरण के दुष्कर कार्य के लिए इटली में एक शक्तिशाली राजतन्त्र की अपेक्षा करता था।

मैकियावली का विश्वास था कि तत्कालीन परिस्थितियों में इटली में केवल निरंकुश राजतन्त्र ही सम्भव था। यही कारण था कि वह रोम गणराज्य का उत्साही प्रशंसक होने के साथ ही निरंकुशता का भी समर्थक था। अपनी तीव्र देशभक्ति और इटली को व्यवस्थित, अनुशासित एवं एकीकृत देखने की प्रबल इच्छा के कारण ही मैकियावली ने अपने समय के इटली के राजतन्त्रीय शासन का अनुमोदन किया और अपनी गणतन्त्रीय भावना को दबाया। इटली की सुरक्षा की दृष्टि से उसने एक ऐसे सिद्धान्तहीन निरंकुश शासक की अपेक्षा की जो राज्य के हित को सर्वोपरि समझते हुए, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित, दया-अदया, लज्जा-गौरव, नैतिकता-अनैतिकता आदि के विचारों के चक्कर में न पड़े।

गणतन्त्र (Republic)—'प्रिन्स' में यदि मैकियावली ने राजतन्त्र का गुणगान किया है तो 'डिस्कोर्सेज' में उसने गणतन्त्र की प्रशंसा की है। डनिंग का मत है कि "अरस्तू की भांति उसका झुकाव गणराज्य व्यवस्था की ओर है और इस सम्बन्ध में उसके विचार यूनानियों से मिलते हुए हैं।"[1] मैकियावली की मान्यता है कि शासन का गणतन्त्रीय रूप सर्वाधिक सफल उसी देश में हो सकता है जहां धन एवं सम्पत्ति की दृष्टि से लोगों में अधिकांश समानता होती है और जहां जनता सार्वजनिक भावना से पूर्ण, संगठित और धर्म-परायण होती है। उल्लेखनीय है कि मैकियावली की गणतन्त्र की धारणा आधुनिक धारणा से भिन्न है। हारमन (Harmon) के शब्दों में "जब मैकियावली गणतन्त्र शब्द का प्रयोग करता है तो उसके मस्तिष्क में किसी ऐसी राजनीतिक संस्था का विचार नहीं होता जिसके निवासी सरकार के कार्यों में महत्त्वपूर्ण भाग लेते हों। मैकियावली का गणतन्त्र तो एक ऐसा राज्य है जिसके व्यक्ति स्वेच्छा से शासक की सहायता करते हैं।"[2] मैकियावली गणराज्य को अनेक कारणों से राजतन्त्र से उत्कृष्ट समझता है—

1. जहां राजतन्त्र में एक व्यक्ति या उसका परिवार शासन का लाभ उठाता है वहां गणतन्त्र में सभी व्यक्तियों को शासन में भाग लेने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है। राजतन्त्र में शासन-संचालन एक व्यक्ति के हाथ में होता है, अतः जनता को शासन के क्षेत्र में कोई शिक्षा नहीं मिल पाती, लेकिन गणतन्त्र में शासन-संचालन के कार्य में शिक्षित हो जाते हैं।

1 *Dunning* : A History of Political Theories, p. 307.
2 · *Harmon* : Op. cit., pp. 167-68.

2. एक राजा की अपेक्षा समस्त रूप में जनता अधिक समझदार होती है। जनता में राजा की अपेक्षा अधिक बुद्धिमत्ता और दृढ़ता पाई जाती है। जनता के निर्णय राजा से अधिक परिपक्व और श्रेष्ठ होते हैं। जनता में भविष्य में घटित होने वाली अच्छी और बुरी बातों का अनुमान लगा लेने की आश्चर्यजनक शक्ति होती है। प्रशासकीय अधिकारियों के निर्वाचन में जनता की बुद्धिमत्ता प्रगट होती है। जनता द्वारा सामान्यतः किसी बदनाम एवं भ्रष्टाचारी व्यक्ति का निर्वाचन नहीं किया जाता।

3 गणतन्त्रात्मक शासन सरकार स्थाई भी होती हैं और जनता के हाथ में शासन की बागडोर होने से देश तेजी से उन्नति करता है। यद्यपि राजतन्त्र की अपेक्षा गणतन्त्र की स्थापना अधिक कठिन होती है, लेकिन यह शासन अधिक स्थिर रहता है क्योंकि शासन कार्य में स्वयं भागीदार जनता भ्रष्टाचार पर रोक का काम करती है।

4 गणतन्त्रात्मक राज्यों में विदेशों के साथ की गई सन्धियाँ अधिक स्थाई होती हैं क्योंकि उनके पीछे जन-स्वीकृति होती है। इसके विपरीत राजतन्त्र में सन्धियों को तोड़ना और बनाना एक व्यक्ति के हाथ में ही होता है, अतः वह उन्हें कभी भी भंग कर सकता है। दूसरे देश सन्धि पालन के लिए राजतन्त्र की अपेक्षा गणतन्त्र पर अधिक भरोसा रख सकते हैं।

5 राजा राजनीतिक और कानूनी संस्थाओं की स्थापना करने में भले ही अधिक सफल हो लेकिन इन्हें बनाए रखने की क्षमता सामान्यतः गणतन्त्रात्मक शासन में ही अधिक होती है।

मैकियावली ने गणतन्त्र के दोष भी गिनाए हैं और उनके निवारण करने के उपायों का निर्देश भी किया है। गणतन्त्रात्मक शासक का पहला दोष यह है कि सङ्कटकालीन परिस्थिति का मुकाबला करने की उसमें विशेष सामर्थ्यता नहीं होती। ऐसे समय गणराज्यों में शक्तिशाली व्यक्ति का शासन होना चाहिए। दूसरा दोष यह है कि इसमें प्रायः बड़े अफसर अन्यायी हो जाते हैं क्योंकि उन पर किसी एक व्यक्ति का नियन्त्रण नहीं रहता। मैकियावली का सुझाव है कि ऐसे अधिकारियों के कार्यों की जाँच कर उन्हें उचित दण्ड देने की व्यवस्था होनी चाहिए। तीसरे, दलबन्दी सम्बन्धी दोषों को दूर करने के लिए प्रत्येक दल को विचार अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए क्योंकि इस पर रोक लगाने से भीतर ही भीतर सुलगते रहने वाला असन्तोष कभी भी विद्रोह के रूप में प्रगट हो सकता है। गणतन्त्र की सफलता के लिए देश में एक ही जाति के व्यक्ति होने चाहिए क्योंकि कई जातियों के कारण राज्य में भाषा, धर्म और संस्कृति सम्बन्धी विवाद उठते रहते हैं। इसके साथ ही शासन में राजनीतिक और सामाजिक परम्पराओं के प्रतिकूल कानून नहीं बनाने चाहिए अन्यथा राज्य के विभिन्न तत्त्व संघर्षरत होकर राज्य की सत्ता के लिए सङ्कट बन जाएँगे।

कुलीनतन्त्र (Aristocracy)—राजतन्त्र और गणतन्त्र के समर्थक मैकियावली ने कुलीनतन्त्र का कट्टर विरोध किया, सम्भवतः इसलिए कि तत्कालीन इटली के पतन का एक मुख्य कारण सामन्तशाही ही थी। मैकियावली का कहना है कि सामन्त लोग स्वयं कोई कार्य नहीं करते। वे आलसी और निठल्ले होते हैं तथा दूसरों के श्रम की चोरी द्वारा अपना जीवन बिताते हैं। मैकियावली ने राजतन्त्र का समर्थन विशेष रूप से इसलिए भी किया प्रतीत होता है कि ऐसे व्यक्तियों का दमन किया जा सके।

मैकियावली के राजतन्त्र, गणतन्त्र और कुलीनतन्त्र से सम्बन्धित विचारों पर अभिमत प्रकट करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि "मैकियावली ने गणतन्त्र का जहाँ सम्भव हो और राजतन्त्र का जहाँ आवश्यक हो, समर्थन किया है। किन्तु कुलीनतन्त्र और कुलीनवर्ग के सम्बन्ध में उसकी राय खराब है। उसने अपने समय के अन्य किसी विचारक की अपेक्षा यह अधिक अच्छी तरह समझा था कि कुलीन वर्ग के हित राजतन्त्र के भी विरुद्ध हैं और मध्यवर्ग के भी। सुव्यवस्थित शासन के लिए उसका दमन अथवा विनाश आवश्यक है।"[1]

मैकियावली का नागरिक सेना और सैनिक शक्ति में विश्वास

मैकियावली की मान्यता है कि शासक को नागरिकों की शक्तिशाली सेना का निर्माण करना चाहिए, भाड़े के टट्टुओं पर रहना खतरनाक है। उसे जहाँ कुलीन वर्ग से अरुचि है, वहाँ भाड़े के सिपाहियों से भी घृणा है। मैकियावली के विचार में इटली की अराजकता का एक मुख्य कारण भाड़े के सिपाही थे। जो कोई उन्हें सबसे अधिक वेतन देने के लिए तैयार होता था, वे सिपाही उसी के लिए लड़ने को तैयार हो जाते थे। वे किसी के प्रति स्वामीभक्त नहीं थे। वे बहुधा अपने मालिक के शत्रुओं की अपेक्षा अपने मालिक के लिए ही अधिक भयंकर थे। इन वृत्तिजीवी सिपाहियों ने प्राचीन स्वतन्त्र नगरों के नागरिक-सिपाहियों को पूरी तरह से विस्थापित कर दिया था। इन सिपाहियों ने इटली में तो अवश्य आतंक पैदा कर दिया था, लेकिन वे फ्रांस के अधिक संगठित और अधिक राजभक्त सिपाहियों के लिए बेकार सिद्ध हुए। मैकियावली इस बात को पूरी तरह मानता था कि फ्रांस को अपनी सेना का राष्ट्रीयकरण करने से बहुत लाभ हुआ है। फलत: उसका बारम्बार यह आग्रह था कि प्रत्येक राज्य को अपनी नागरिक सेना के प्रशिक्षण और साज-सज्जा की ओर सबसे पहले ध्यान देना चाहिए। जो शासक भाड़े के सिपाहियों या दूसरे देशों की सहायक सेनाओं पर निर्भर रहता है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। वे उसके राजकोष को रिक्त कर देती हैं और जरूरत पड़ने पर धोखा देती हैं। इसलिए शासक के लिए युद्ध की कला का ज्ञान अत्यावश्यक है। शासक को अपने कार्यों में इसकी जरूरत होती है। शासक को सबसे पहले अपने नागरिकों की एक सशक्त सेना का निर्माण करना चाहिए। यह सेना समस्त हथियारों से सुसज्जित और अनुशासित होनी चाहिए। उसे राज्य के प्रति निष्ठावान् भी होना चाहिए।

1 सेबाइन : पूर्वोक्त पृष्ठ 316

मैकियावली का विचार था कि 17 और 40 वर्ष की आयु के बीच के समस्त समर्थ नागरिकों को सैनिक शिक्षा प्राप्त होनी चाहिए। इस बल से शासक अपनी शक्ति को कायम रख सकता है और अपने राज्य की सीमाओं को बढ़ा सकता है। इसके अभाव में उसे गृह-युद्ध का सामना करना पड़ता है और पड़ोस के महत्वाकांक्षी शासक उसे परेशान कर सकते हैं।

मैकियावली का नागरिक सेना में विश्वास था और वह कुलीन वर्ग से घृणा करता था— इसका सबसे बड़ा कारण यही था कि वह राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत था और इटली का एकीकरण चाहता था। वह आन्तरिक उपद्रवों और बाहरी आक्रमणों से इटली की सुरक्षा के लिए भी उत्सुक था। उसका यह स्पष्ट विचार था कि मनुष्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य उसका देश के प्रति कर्त्तव्य है, अन्य सारी बातें पीछे रह जाती हैं।

साम्राज्यवाद या राज्य-प्रसार सम्बन्धी विचार

मैकियावली के मतानुसार राज्य को क्रमशः प्रसरणशील होना चाहिए अपनी सीमा रेखा बढ़ाकर दूसरे राज्यों को आत्मसात् करना चाहिए तथा साम्राज्य-विस्तार द्वारा अपने गौरव का परिचय देना चाहिए। मैकियावली ने कहा है कि स्थिरीकरण या दृढ़ीकरण से राज्य में एकरूपता आ जाती है। मनुष्य स्वभाव से महत्वाकांक्षी है और एक दूरदर्शी राजा का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह नई भूमि पर अधिकार करे नए उपनिवेश बसाए, साम्राज्य को अधिक शक्तिशाली बनाए तथा शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था करे। इसके लिए समुचित सैन्य संगठन और साम, दाम, दण्ड, भेद आदि की कूटनीतिक नीतियों का भी प्रयोग करना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव पारे के समान चंचल है जो बराबर बढ़ना रहना चाहता है। यदि वैभव, ख्याति और अवस्था है तो राज्य को भी बढ़ना चाहिए। "राज्य चाहे गणतन्त्रात्मक हो या राजतन्त्रात्मक, उसमें प्रसार की प्रवृत्ति का होना आवश्यक है।" यदि राज्य अपना विस्तार नहीं करेगा तो अवश्य ही पतन की ओर जाएगा। राज्य को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए अपना प्रादेशिक प्रसार करना चाहिए, क्योंकि स्वतन्त्रता उन्नति का मुख्य साधन है। राज्य की उन्नति के लिए स्वतन्त्रता अनिवार्य है। उसने उदाहरण दिया कि एथेन्स ने पिसिस्ट्रेटस (Pisistratus) के अधिनायकत्व से मुक्ति पाकर बड़ी शीघ्रता से उन्नति की थी और रोम भी राजाओं से मुक्ति पाकर ही विस्मयकारी प्रगति कर सका था।

मैकियावली के साम्राज्यवाद की धारणा प्लेटो की धारणा से बिल्कुल विपरीत है। फोस्टर के शब्दों में, 'प्लेटो के लिए राज्य विस्तार की भावना जहाँ राज्य के रोग का लक्षण है वहाँ मैकियावली के लिए राज्य विस्तार राज्य के स्वास्थ्य का लक्षण है।"[1]

1 "For Plato, the impulse to aggrandizement was a symptom of disease. For Machiavelli, aggrandizement is the symptom of health in a state."

—*Foster* : op. cit., p. 283.

सम्प्रभुता (Sovereignty) और विधि (Law) सम्बन्धी विचार

मैकियावली ने स्पष्ट रूप से 'सम्प्रभुता' शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया है। किन्तु उसने राजा की शक्तियों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है हमें उससे सम्प्रभुता का आभास अवश्य होता है। वह शासक की आन्तरिक इच्छा तथा विजेता की भावना को अविभाज्य मानता है। उसके अनुसार शासक किसी भी आन्तरिक अथवा बाह्य शक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं होता और न वह किसी भी प्रकार के कर्त्तव्य-अनुबन्ध से प्रभावित होता है। उसे किसी भी प्रकार की आन्तरिक या बाह्य विधियों को मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। मैकियावली स्वयं परिवर्तनवादी था और इसीलिए उसने स्थायी तथा अखण्ड सम्प्रभुता की बात नहीं की है। वह सम्प्रभुता की अन्य विशेषताओं—जैसे उनकी शाश्वतता, अदेयता, सांविधानिकता आदि के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखता। उसकी सम्प्रभुता एकात्मक, लौकिक, धर्मनिरपेक्ष और स्वतन्त्र चेतना से संयुक्त है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में मैकियावली सीमित सम्प्रभुता की आवश्यकता को स्वीकार करता है। डनिंग के अनुसार मैकियावली राजा की शक्ति की अविभाज्यता में राष्ट्र-राज्यों (Nation States) के आगमन की पूर्व सूचना दे देता है। उसकी मृत्यु के बाद संसार का घटनाचक्र ठीक उसी भाँति घूमा जैसी उसने भविष्यवाणी की। बाद के राजनीतिक विचारकों ने उसके इस कथन को स्वीकार किया कि राज्य के आदेशों का पालन भय के कारण किया जाता है।

विधि (Law) के सम्बन्ध में मैकियावली के विचार अत्यन्त संकुचित हैं। वह नागरिक विधि के अस्तित्व को स्वीकार करता है और विधियों को शासक के प्रभाव का माध्यम मानता है। उसके अनुसार राज्य-विहीन समाज में विधियाँ न होने से ही पूर्ण अराजकता थी। मैकियावली ने स्पष्ट रूप से कहीं भी विधियों की परिभाषा नहीं दी है तथापि शासक की सर्वोच्च शक्ति में उसकी कल्पना निहित है। विधियों का मुख्य कार्य सामञ्जस्य एवं समन्वय की स्थापना करना है। वह प्राकृतिक और दैवी विधियों को कोई महत्त्व नहीं देता, यथार्थ में उसने उनका उल्लेख ही नहीं किया है। उसके अनुसार सभी विधियाँ नागरिक हैं और शासक प्रणीत। ये सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च हैं। ये विधियाँ शासन द्वारा राज्य की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुरूप पारित की जाती हैं, अतः ये समाज के विभिन्न वर्गों को एकबद्ध करने में सफल होती हैं।

सर्व-शक्तिशाली विधि-कर्त्ता या विधायक
(The Omnipotent Legislature)

मैकियावली ने विधायक के कार्य एवं महत्त्व को अतिरंजित भाषा में व्यक्त किया है। उसके अनुसार सफल राज्य की स्थापना एक आदमी के द्वारा ही की जा सकती है। वह जिन विधियों और शासन का निर्माण करता है, उनसे ही जनता का राष्ट्रीय-चरित्र निर्धारित होता है। आचार एवं नागरिक सद्गुण विधि पर आधारित होते हैं। समाज के भ्रष्ट हो जाने पर उसका सुधार नहीं हो सकता, अतः

ऐसी अवस्था मे एक विधायक या विधि-कर्त्ता को समाज का शासन-सूत्र सम्भाल लेना चाहिए। यदि विधायक समाज मे उन स्वस्थ सिद्धान्तो का प्रवर्तन कर सकता है, जिनको उनके संस्थापक ने निर्धारित किया था। मैकियावली के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—"हमे सामान्य नियम के रूप मे यह मान लेना चाहिए कि किसी गणराज्य अथवा राजतन्त्र का ठीक से सगठन अथवा उसकी पुरानी संस्थाओ का सुधार केवल तभी सम्भव है जब वह एक व्यक्ति के द्वारा किया जाए। जरूरी तो यहाँ तक है कि जिस व्यक्ति ने इस संविधान की कल्पना की हो वही इसे कार्यान्वित भी करे।"

मैकियावली की मान्यता है कि बुद्धिमान विधायक द्वारा बनाए हुए कानून न केवल नागरिको के कार्यों को विनियमित एवं नियन्त्रित करते हैं बल्कि उनमे नागरिकता तथा नैतिकता के गुणो का विकास और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण भी करते हैं। "जनता का सामाजिक और नैतिक गठन विधि पर और विधायक की बुद्धिमत्ता एव दूरदर्शिता पर आधारित होता है। यदि राजमर्मज्ञ राजनीतिक कला के नियमो को समझता है तो वह जो चाहे कर सकता है। वह पुराने राज्यो को नष्ट और नए राज्यो का निर्माण कर सकता है। वह शासन-प्रणालियो को बदल सकता है, वह जनसख्या मे अदला-बदली कर सकता है तथा अपने प्रजाजनो के चरित्र मे नए गुणो का समावेश कर सकता है। यदि किसी शासक के पास सिपाहियो की कमी है तो इसके लिए वह स्वय दोषी है। सिपाहियो की कमी को दूर करने के लिए यह जरूरी है कि वह जनता की कायरता को दूर करे। विधि-कर्त्ता न केवल राज्य का ही निर्माता है बल्कि वह सम्पूर्ण समाज का, समाज की नैतिक, धार्मिक और आर्थिक संस्थाओ का भी निर्माता है।"

विधायक के कार्यों के सम्बन्ध मे मैकियावली के इन अतिरंजित विचारो के अनेक कारण थे। आंशिक रूप मे यह विधायक ही उस प्राचीन कल्पना का, जो मैकियावली को सिसरो तथा पॉलिबियस जैसे लेखको से प्राप्त हुई थी, पुनराख्यान मात्र था। कुछ अशो मे विधायक की इस कल्पना का कारण तत्कालीन इटली की जर्जर अवस्था थी। मैकियावली समझता था कि एक निरकुश शासक ही राज्य के भाग्य का विधाता हो सकता है। इन ऐतिहासिक परिस्थितियो के अतिरिक्त उसके अपने राजदर्शन का तर्क भी उसे इसी दिशा की ओर उन्मुख करता था। उसका विश्वास था कि यदि मनुष्य स्वभाव से ही अहकारी है तो केवल राज्य और विधि की शक्ति ही समाज को एकता के सूत्र मे बाँधे रख सकती है।

अन्तर्दृष्टि और त्रुटियाँ
(Insight and Deficiencies)

मैकियावली की विलक्षणता और उसकी अन्तर्दृष्टि पर सेबाइन ने लिखा है कि "मैकियावली का चरित्र और उसके दर्शन का वास्तविक अर्थ—आधुनिक इतिहास की एक गुत्थी है। उसे पक्का सनकी, प्रबल देशभक्त, कट्टर राष्ट्रवादी, राजनीतिक जैस्विट, सच्चा लोकतन्त्रवादी और निरकुश शासको का अन्ध कृपाकांक्षी कहा गया है। ये सभी विचार एक-दूसरे के विरोधी हैं, लेकिन उनमें सत्य का कुछ अश अवश्य

है। इनमें से कोई भी एक विचार मैकियावली की या उसकी विचारधारा की पूरी तस्वीर नहीं देता। मैकियावली के विचार उसके अनुभव पर आधारित थे। उसका राजनीतिक निरीक्षण और राजनीतिक इतिहास का अध्ययन बड़ा व्यापक था। वह किसी एक विशिष्ट दर्शन का अनुयायी अथवा निर्माता नहीं था। इसी प्रकार उसका चरित्र भी बड़ा जटिल रहा होगा। उसकी रचनाओं से उसकी सकेन्द्रित रुचि का ज्ञान होता है। वह राजनीति, राज्य-शिल्प और युद्ध-कला के अतिरिक्त न तो किसी चीज के बारे में सोचता है और न किसी के बारे में लिखता है। गहरे सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रश्नों के सम्बन्ध में उसे अलग से कोई रुचि नहीं है। इन प्रश्नों के सम्बन्ध में उसकी रुचि वहीं तक सीमित है जहाँ तक ये प्रश्न राजनीति पर असर डालते हैं। मैकियावली इतना अधिक व्यावहारिक था कि वह दार्शनिक दृष्टि से आगे बढ़ा हुआ था। यूरोप की राजनीति जिस दिशा में आगे बढ़ रही थी उसका मैकियावली से अधिक स्पष्ट और किसी को ज्ञान नहीं था।"

"एक ऐसे समय में जबकि यूरोप में प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था समाप्त हो रही थी और राज्य तथा समाज दोनों से सम्बन्धित समस्याएँ तेजी से उठ रही थीं, उसने घटनाओं का तर्क-सम्मत अर्थ बताने का, आवश्यक प्रश्नों की भविष्यवाणी करने का और ऐसे नियमों को निर्धारित करने का प्रयास किया जो उस समय के राष्ट्रीय जीवन की नूतन परिस्थितियों में रूप-ग्रहण कर रहे थे और जो आगे चलकर राजनीतिक कार्यवाही में प्रधान तत्त्व हो गए।"[1]

मैकियावली का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि आधुनिक राजनीतिक प्रयोग में 'राज्य' शब्द का जो अर्थ-ग्रहण किया जाता है उसके निर्माण में मैकियावली ने सर्वाधिक योग दिया है। प्रभुसत्ता सम्पन्न राजनीतिक समाज के रूप में आधुनिक भाषाओं में इस शब्द के प्रचलन का श्रेय मैकियावली की रचनाओं को है। आज राज्य एक सगठित शक्ति है। अपने राज्य-क्षेत्र में वह सबसे ऊँची सत्ता है। अन्य राज्यों के प्रति उसकी नीति आक्रमणशील रहती है। मैकियावली ने इन सारी विशेषताओं को प्रकट किया है। उसकी कृतियाँ राज्य को आधुनिक समाज में सबसे शक्तिशाली संस्था सिद्ध करने में सहायक बनी हैं। राज्य के वर्तमान विकास को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मैकियावली ने अपने युग के राजनीतिक विकास की दिशा को ठीक-ठीक समझा था।

मैकियावली के राजनीतिक चिन्तन में स्पष्ट ही कुछ आधारभूत त्रुटियाँ नजर आती हैं, जो ये हैं—

(1) मैकियावली की मानव-स्वभाव सम्बन्धी धारणा एकांगी दृष्टिकोण वाली और सकीर्ण है। उसने मनुष्य को केवल निकृष्ट और स्वार्थी ही माना है जबकि मनुष्य में दिव्यता भी है। मनुष्य में देव और दानव दोनों के अंश विद्यमान हैं।

1 L. A. Burd, in the Cambridge Modern History, Vol. I (1903), p. 200.

(2) मैकियावली ने धर्म और नीतिशास्त्र के प्रति घोर उपेक्षा प्रदर्शित की है। वह इनका उपयोग उसी सीमा तक औचित्यपूर्ण मानता है जहां तक ये राजा अथवा राज्य के लिए उपयोगी हो। सेबाइन के शब्दो मे, "यह निश्चित है कि 16वी शताब्दी के आरम्भ मे यूरोपीय चिन्तन की जो अवस्था थी, मैकियावली ने उसे बिल्कुल गलत रूप मे चित्रित किया। उसकी दो पुस्तकें उस दिन के 10 वर्ष के भीतर ही लिखी गई थी, जिस दिन मार्टिन लूथर ने उसके सिद्धान्त को विटेनबर्ग मे चर्च के दरवाजे पर गाड दिया था। प्रोटेस्टेन्ट रिफॉर्मेशन के परिणामस्वरूप राजनीति और राजनीतिक चिन्तन का धर्म के साथ और धार्मिक मतभेदो से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ जितना कि मध्ययुग मे और कभी नही रहा था। धर्म के प्रति मैकियावली की रचना के बाद की दो शताब्दियो के बारे मे यह बात सच नही है। इस दृष्टि से मैकियावली का दर्शन बड़े सकुचित रूप से सामयिक था। यदि मैकियावली इटली के अतिरिक्त अन्य किसी देश मे लिखता या यदि वह इटली मे ही धर्म-सुधार आन्दोलन अथवा धर्म-सुधार विरोधी आन्दोलन (Counter Reformation) की शुरूआत के बाद लिखता तो यह कल्पना करना असम्भव है कि वह धर्म के प्रति ऐसा व्यवहार करता जैसा कि उसने किया था।"

(3) मैकियावली का तीसरा दोष ऐतिहासिक पद्धति का गलत प्रयोग है। उसने इतिहास का उपयोग अपने पूर्व कल्पित निष्कर्षों की पुष्टि मे किया है, इनके प्रणयन मे नही। विशुद्ध ऐतिहासिकतावाद यह है कि इतिहास की सामग्रियों के तटस्थ अध्ययन और चिन्तन के आधार पर निष्कर्षों का प्रणयन हो। निजी निरीक्षण और अनुभव के आधार पर प्रस्तुत निष्कर्षों को इतिहास से सिर्फ समर्थित करना, ऐतिहासिक अध्ययन का विशुद्ध तरीका नही है।

(4) अन्त मे, मैकियावली के राज्य सम्बन्धी विचार भी दोष-पूर्ण हैं। उसके उग्र शक्तिवाद के समर्थन से, व्यावहारिक दृष्टि मे अनीति को सहारा मिलता है। उसके द्वारा शासक के बहुरूपियेपन का समर्थन करना। समाज मे कपट, छल और मायावीपन को ही उत्तेजना प्राप्त करा सकता है। पुन. राज्य विषयक आधारभूत प्रश्नो के सम्बन्ध मे वह मौन है। उसने राज्य के स्वरूप, उद्देश्य और शासन के विभिन्न अगो के पारस्परिक सम्बन्धो पर कोई प्रकाश नही डाला है। उसने युद्ध और साम्राज्यवाद का जो समर्थन किया है उसे भी उचित नही कहा जा सकता।

मैकियावली : आधुनिक युग का पिता, उसकी देन और प्रभाव
(Machiavelli : Father of Modern Political Thought, His Contribution & Influence)

अर्वाचीन इतिहास मे अपने विचार-दर्शन के कारण मैकियावली एक मोहक रहस्य बना हुआ है। उसे 'आधुनिक राजनीति का जनक' सम्बोधित किया जाता है। डनिङ्ग उसे मध्य युग और आधुनिक युग का सम्बन्ध-विच्छेद करने वाला प्रथम विचारक मानता है। प्रो जॉन्स उसे राजनीतिक सिद्धान्तवादी न मानते हुए भी

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तो के पिता की सज्ञा से विभूषित करते हैं। मैकियावली राजनीतिक विचारो के इतिहास मे एक अमर स्थान रखता है क्योंकि वह पहला राजनीतिज्ञ जिसने मध्ययुग के विचारो का खण्डन प्रारम्भ किया था और आधुनिक विचारधारा का श्रीगणेश किया था; यद्यपि उसे आधुनिक युग का पूर्ण प्रतिनिधि कहना अयुक्ति होगी। मैकियावली की वास्तविक स्थिति एक ऐसे विचारक की है जो मध्ययुग और आधुनिक युग दोनों की सीमाओं पर उत्पन्न हुआ था और जिसने मध्ययुग के साथ सम्बन्ध-विच्छेद करके आधुनिक सिद्धान्त को सम्भव बनाया। उसने मध्ययुग की मान्यताओ और परम्पराओ की न केवल उपेक्षा की अपितु उनका खण्डन करके राजनीति को नवीन व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

कुछ विचारक बोदाँ को उपर्युक्त स्थान देते हैं। मैकियावली यदि प्रथम व्यक्ति था जिसने व्यावहारिक राजनीति पर ऐसे विचार प्रकट किए जिनका पालन आज लगभग सभी राजनीतिज्ञो द्वारा किया जा रहा है, वहाँ बोदाँ (Bodin) वह पहला विचारक था जिसने राज्य का आधुनिक रूप मे सैद्धान्तिक विवेचन किया। निःसन्देह बोदाँ की सार्वभौमिकता सम्बन्धी परिभाषा आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को एक मौलिक तथा नवीन देन है किन्तु वह स्वय को मध्ययुगीन प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नही कर पाया था। यही कारण है कि उसके ग्रन्थो मे विरोधाभास पाया जाता है। यद्यपि मैकियावली विरोधाभास के दोष से मुक्त नही है, किन्तु वह मध्ययुग से पूर्णत नाता तोड देता है। उसके विचारों मे मध्ययुगीन विचारधारा का आभास भी नही मिलता। इस विषय मे जोन्स के ये शब्द उल्लेखनीय हैं कि "बोदाँ मैकियावली की अपेक्षा आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व अधिक अच्छी तरह करता है, केवल इसलिए कि जहाँ मैकियावली आधुनिक युग के भवन तक पहुँच गया है वहाँ बोदाँ अभी उसकी देहली पर खड़ा है।"

समय की दृष्टि से मैकियावली के बोदाँ से पूर्व आने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि मे भी मध्ययुग को समाप्त करने और आधुनिक युग को आरम्भ करने का श्रेय मैकियावली को ही प्राप्त होता है। मैकियावली की विलक्षण प्रतिभा का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उसके 50 वर्ष बाद कदम उठाने वाला बोदाँ भी उसके समान स्वय को मध्ययुगीन प्रभाव से मुक्त नही कर पाया।

मैकियावली ने अपनी रचनाओ द्वारा मध्ययुगीन विचारों पर करारे प्रहार किए। उसने दैविक कानूनो को अस्वीकार करके केवल मानवीय कानूनो के अस्तित्व को ही स्वीकार किया और राज्य को सर्वोच्चता प्रदान की। उसने निरकुश पोपतन्त्र की कटु आलोचना की और राज्य को प्रभुत्व-सम्पन्न तथा चर्च को उसका अनुगामी बनाया। उसने मध्ययुगीन राज्यो की एकता मे बाधक सामन्तवाद का खण्डन करते हुए उसे अपने राज्य म कोई स्थान नही दिया लेकिन इन मध्ययुगीन परम्पराओं का खण्डन करने मात्र से ही वह आधुनिक युग का प्रवर्तक नहीं बन गया। उसके विचारो मे कुछ अन्य विशेषताएँ भी थी जिनमे आधुनिकता के बीज विद्यमान थे और उन्ही के कारण उसे आधुनिक युग का सृष्टा कहा गया।

मैकियावली ने एक तरफ तो राज्य को सर्वोच्च बताया और दूसरी ओर व्यक्ति एवं जीवन की सुरक्षा के अधिकार को घोषित किया। उसने शासक का यह मुख्य धर्म बतलाया कि व्यक्तिगत धन और जीवन का सम्मान किया जाए। सम्पत्ति के अपहरण को उसने गम्भीर अपराध की सजा दी। इस तरह के विचारों ने आधुनिक व्यक्तिवाद और राष्ट्र राज्य की स्थापना के बीज बोए। मैकियावली के इस मत का कि जनता शासक से अधिक बुद्धिमान होती है और गणतन्त्र में व्यक्ति तथा राष्ट्र की स्वतन्त्रता उचित रूप से सुरक्षित रह सकती है, सहारा लेकर आधुनिक विद्वानों ने व्यक्तिवाद का आन्दोलन चलाया।

मैकियावली ने आधुनिक राष्ट्र राज्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता सार्वभौमिकता के आविर्भाव के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया। यद्यपि उसने इस पर अथवा इससे सम्बन्धित समस्याओं पर कोई प्रकाश नहीं डाला किन्तु मध्यकालीन समाज के शिखरोन्मुखी संगठन और सामन्तवादी विचार का खण्डन करके तथा उसके स्थान पर सम्पूर्ण नागरिकों एवं समुदायों पर एक सर्व-शक्तिमान केन्द्रीय शक्ति को प्रतिष्ठित करके स्पष्ट रूप से सार्वभौमिकता के विचार के आविर्भाव की भूमि तैयार कर दी।

मध्यकाल की धार्मिकता से परिपूर्ण और अन्ध-विश्वासों तथा मूढ़ताओं से भरी अध्ययन-पद्धति में प्रगति और वास्तविकता के लिए कोई जगह न थी। मैकियावली ने अपने कार्य के लिए सर्वप्रथम अनुभूति प्रधान ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति को अपनाया। उसने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के धार्मिक दृष्टान्तों का सहारा नहीं लिया, बल्कि इतिहास, तर्क एवं पर्यवेक्षण की ऐसी पद्धति ग्रहण की जिसमें उसका चातुर्य तथा सहज बुद्धि काम करती थी। यद्यपि मैकियावली की पद्धति दोष-रहित न थी तथापि उसने एक नवीन मार्ग का निर्देशन किया और उसके बाद के प्रायः सभी विचारकों ने ऐतिहासिक पद्धति का सहारा लिया।

मैकियावली ने राज्य के प्रकृतिवादी सिद्धान्तों को सम्भव बनाया और इस बात से इन्कार किया कि मानव-जीवन का कोई अति प्राकृतिक लक्ष्य भी होता है तथा मानव-जीवन किसी दैविक या प्राकृतिक कानून से विनियमित होता है। राज्य को एक प्राकृतिक संस्था के रूप में प्रकट करना मैकियावली की एक महान् देन थी। जोन्स का कहना है कि "मैकियावली का यह विश्वास था कि प्राकृतिक शक्तियों से ही राज्य का जन्म होता है और उन्हीं के बीच वह रहता है। यदि एक शासक और राज्य जीवन—रूपी घोर प्रतिस्पर्द्धा से बचना चाहते हैं तो शासक को उन शक्तियों को समझना चाहिए और उनका लाभ उठाना चाहिए।" मैकियावली का यह विचार मार्क्स और उन समस्त विचारकों की पूर्व-सूचना भी देता है जिनका मत था कि राजनीति 'शक्ति-संघर्ष तथा उस पर नियन्त्रण' का अध्ययन है।

मैकियावली की आधुनिक राजनीतिशास्त्र को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उसने राजनीति का धर्म और नैतिकता से सम्बन्ध-विच्छेद प्रस्थापित किया। उसने कहा कि धर्म का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से है, राजनीति से धर्म बिल्कुल

अलग है। बाद मे इस मत को व्यापक समर्थन मिला और हम देखते हैं कि आधुनिक काल का प्राय: प्रत्येक प्रगतिशील राज्य अपने-आपको धर्म के बन्धनो से मुक्त रखता है। वास्तव मे धर्म-निरपेक्ष (Secular) राजनीति का प्रथम जन्मदाता मैकियावली ही था। मैकियावली ने राज्य की सुरक्षा को सर्वोपरि स्थान देते हुए नैतिकता को एकदम गौण एव उपेक्षणीय बना दिया। यदि उसके इस विचार का अर्थ यह लिया जाए कि साध्य साधन का औचित्य है और साधनों का मूल्य केवल उसी सीमा तक है जहाँ तक वे साध्य की प्राप्ति मे साधक हो, तो यह अवश्य ही आपत्तिजनक है। किन्तु यदि हम इसका अर्थ यह ले कि एक आदर्श राजनीतिज्ञ को केवल कल्पनाशील दार्शनिक नही बल्कि यथार्थवादी होना चाहिए जो अपने "राज्य और उसके वांछनीय लक्ष्य के सिद्धान्त की रचना मानव के एक वैज्ञानिक एव विवेकपूर्ण अध्ययन के आधार पर करना चाहता है जिसमे आध्यात्मिक तथा धार्मिक विचारो का कोई सम्मिश्रण न हो, तो निस्सन्देह आधुनिक राजनीतिक विचार के इतिहास को यह एक मूल्यवान देन है।" वास्तव मे मैकियावली व्यावहारिक राजनीति मे उपयोगी साधनों का ही समर्थक था। वह चाहता था कि धर्म और नैतिकता का उपयोग राज्य की भलाई के लिए हो। इसलिए चर्च अर्थात् धर्म संस्था को वह "राज्य के एक ऐसे यन्त्र के रूप मे प्रयोग करना चाहता था जो ऐसी राष्ट्रीय परम्पराएँ तथा व्यवहार की आदतें उत्पन्न कर दें जो शान्ति और व्यवस्था को कायम रखने तथा समाज की स्थिरता मे सहायक हो।" राज्य को वह धर्महीन नही बल्कि धर्म-निरपेक्ष, आचारहीन नहीं बल्कि आचारगत बाधाओ से दूर देखना चाहता था। व्यावहारिक पक्ष पर इतना बल देने के कारण ही केटलिन के शब्दो मे–"मैकियावली प्रथम राजनीतिक-वैज्ञानिक था।" मैकियावली के विचारो की व्यावहारिकता का स्पष्ट प्रमाण यही है कि आज की सारी राजनीति मे धर्म और नैतिकता एक प्रहसन बन गई है जिसकी आड़ केवल राजनीतिक आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए ही की जाती है।

मैकियावली ने सीमित प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। शासन और सम्प्रभुता के प्रति उसका दृष्टिकोण मर्यादित, उपयोगितावादी तथा यथार्थ वस्तुवादी था। इसके अतिरिक्त उसने राज्य को साधन तथा साध्य दोनो ही रूपो मे स्वीकार किया। यह विचार बाद मे हीगल (Hegal) द्वारा प्रतिपादित किया गया कि मानव दुःख मे बचना चाहता है तथा सुख की कामना करता है। इसी विचार पर उपयोगितावादी सिद्धान्त का बहुत कुछ निर्माण हुआ।

अन्त मे, मैकियावली के द्वारा प्रस्तुत राज्य की रूपरेखा भी आधुनिक राज्यों की रूपरेखाओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उसने इटली राज्य के सम्बन्ध मे जो चित्र प्रस्तुत किया वह बहुत कुछ आधुनिक राज्यो के समान है। आधुनिक राज्य प्रभुतासम्पन्न, धर्म-निरपेक्ष, स्वतन्त्र, अस्तित्ववान और राष्ट्रीय राज्य है। कुछ राज्यो में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति गम्भीर रूप से विद्यमान है। मैकियावली ने भी स्पष्ट कहा था कि शक्ति-सवर्धन राज्य तथा प्रभुत्व-विस्तार राजा के लिए आवश्यक है। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि राज्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रख कर ही

उन्नति कर सकता है। प्रो० गैटिल का स्पष्ट मत है कि "वह प्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक था जिसने एक प्रभुता-सम्पन्न, ऐकिक, धर्म-निरपेक्ष, राष्ट्रीय एव स्वतन्त्र अस्तित्ववाद राज्य की कल्पना की थी। वह प्रथम आधुनिक यथार्थवादी था जिसने बताया कि राज्य को स्वय के लिए जीवित रहना चाहिए तथा उसको अपने सरक्षण और हित का उद्देश्य रखना चाहिए।"

मैकियावली की महानता का पता इसी से चल जाता है कि "उसके पहले और बाद मे ऐसे उदाहरण भरे पडे हैं, जहाँ शासको ने उन्ही सिद्धान्तो के द्वारा सफलता प्राप्त की जो उसने साहस के साथ अपने ग्रन्थ मे प्रतिपादित किए। यह आश्चर्य की बात है कि कई विचारको और राजनीतिज्ञो ने उसके विचारो का सैद्धान्तिक दृष्टि से विरोध करते हुए भी यथार्थ मे उसी के आदर्शों का आलिगन किया है।" जोन्स के शब्दो मे, "व्यक्तिगत रूप से मनुष्य का मनुष्य के साथ व्यवहार कैसा भी हो, किन्तु यह बात निश्चयत सत्य है कि विभिन्न राज्य परस्पर एक दूसरे के साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा मैकियावली ने वर्णन किया है।" "विश्व जैसा है हम उसे भले ही पसन्द न करें परन्तु हम उसकी कमियो के ऊपर दुर्लक्ष्य कर उसमे सुधार नही करते। उदाहरणार्थ नेवाइल चेम्बरलेन का अध्ययन कर, हिटलर को समझने मे काफी सहायता मिलती, और यदि राष्ट्रपति विल्सन ने 'दि प्रिंस' का अध्ययन किया होता तो वर्साय की दुर्घटना न होती।" मैकियावली की गहन अन्तर्दृष्टि और व्यावहारिकतापूर्ण विचारधारा पर यदि भारत के कर्णधार ध्यान देते तो चीन और पाकिस्तान भारत-विजय के स्वप्न देखने का भी साहस न करते।

मैकियावली पर अनैतिकता और राजनीतिक हत्याओं के प्रोत्साहन का आरोप लगाया जाता है, किन्तु मैकियावली ने स्वय इसका उत्तर देते हुए कहा है, "कोई व्यक्ति पुस्तक पढकर अनैतिक बन गया हो, यह मैने कभी नही सुना।" उसने अपनी पुस्तक मे उन्ही बातो को लिखा है जो राजा अक्सर किया करते थे, लेकिन जिन पर पर्दा पडा रहता था। उस बेचारे का दोष यही है कि उसने सच्ची-सच्ची बातो को सामने रख दिया। उसकी सही स्थिति 'नग्न चित्रण करने वाले' की है। मैक्सी (Maxey) के अनुसार—"उसने राजनीति की नैतिकता को भ्रष्ट नही किया ऐसा तो सदियों पूर्व हो चुका था किन्तु उसने जिस निर्ममतापूर्वक उन पवित्र षडयन्त्रो का पर्दाफाश किया जो धार्मिक मन्त्रोच्चार द्वारा बडे-बडे स्थानो मे रचे जाते थे, वह प्रशसा के अयोग्य नही है। उसे सच्चे और पक्के देश-भक्त होने और आधुनिक राष्ट्र का नेता होने का श्रेय भी दिया जाना चाहिए। सैद्धान्तिकता के विरुद्ध व्यावहारिकता की ओर उसके तीव्र झुकाव ने निरसन्देह राजनीति दर्शन को मध्य युग के पाण्डित्यपूर्ण अस्पष्टवाद से बचाने मे बहुत योग दिया और इस कारण उसे महान् कार्यकारणवादियो मे सर्वश्रेष्ठ नही तो प्रथम कार्यकारणवादी अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए।"

12 बोदाँ एवं ग्रोशियस

(Bodin and Grotius)

जीन बोदाँ : जीवन, रचनाएँ एवं पद्धति
(Jean Bodin, 1530–1596 : Life, Works and Method)

महान् फ्रांसीसी दार्शनिक जीन बोदाँ का जन्म सन् 1530 ई. में हुआ और 66 वर्ष की अवस्था में वह इस संसार से चल बसा। बोदाँ का आविर्भाव उस युग में हुआ जब फ्रांस गृह-कलह और धर्म-युद्धों का अखाड़ा बना हुआ था। सन् 1562 ई. से लेकर 1598 ई. तक फ्रांस में 9 धर्म-युद्ध हो चुके थे। एक धार्मिक आन्दोलन भी चल पड़ा था जिसे 'पोलीटिक' (Politiques) कहते थे। बोदाँ पर इस धार्मिक आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। वह उसका समर्थक बन गया। पोलीटिक विचारक प्रधानतः इस बात पर बल देते थे कि मजबूत सरकार की आवश्यकता है। कैथोलिक होते हुए भी वे एक राज्य में अनेक धर्मों के सह-अस्तित्व को स्वीकार करते थे और राजा को धार्मिक सम्प्रदायों तथा राजनीतिक दलों से ऊपर रखकर राष्ट्रीय एकता का केन्द्र बनाने को प्रयत्नशील थे। वे धार्मिक सहिष्णुता को नीति के रूप में स्वीकार करते थे, नैतिक सिद्धान्त के रूप में नहीं। वे उपयोगितावादी आधार पर धार्मिक सम्पीडन का खण्डन करते थे। सामान्य रूप से बोदाँ इसी वर्ग का व्यक्ति था और इसने अपनी कृतियों में धार्मिक सहिष्णुता की नीति का समर्थन किया।

बोदाँ ने प्रारम्भिक शिक्षा के बाद कानून की शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् वह वकालत की ओर उन्मुख हुआ। उसकी प्रतिभा ने फ्रांस के तत्कालीन राजा हेनरी तृतीय को प्रभावित किया जिससे उसने बोदाँ को अपने दरबार में रख लिया। बोदाँ फ्रांस के 'चेम्बर ऑफ डेपुटीज' (Chamber of Deputies) का भी सदस्य रहा।

बोदाँ का अध्ययन एवं ज्ञान बड़ा व्यापक था। उसने न केवल राजनीति, न्यायशास्त्र एवं इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया बल्कि मुद्रा, सार्वजनिक वित्त, शिक्षा एवं धर्म पर भी काफी मनन किया। बोदाँ अपने समय का सर्वाधिक बुद्धिमान एवं मौलिक विचारक था। वह आधुनिक भी था और अनेक बातों में मध्ययुगीन भी। उसमें, राजनीति दर्शन, पुरातन और नवीन का सम्मिश्रण था। वस्तुतः 16वीं शताब्दी

के सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन की यही दशा थी। बोदाँ ने एकमात्र रोमन विधि की पुस्तकों के अध्ययन के स्थान पर विधि के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन पर जोर दिया। उसका मत था कि विधि के स्वरूप एवं मूल का पता लगाने के लिए रोम अथवा किसी एक ही अन्य देश की विधि-प्रणाली का नहीं वरन् सभी देशों की पद्धतियों का अध्ययन किया जाए तथा न्याय-शास्त्रियों और इतिहासकारों से परामर्श लिया जाए। इससे भी एक कदम आगे बढ़कर उसने आग्रह किया कि विधि एवं राजनीति का अध्ययन केवल मात्र इतिहास को ही ध्यान में रखकर नहीं किया जाना चाहिए बल्कि इस दृष्टि से भौतिक परिस्थिति, जलवायु, भौगोलिक स्थिति एवं जातीय विशेषताओं को ध्यान में रखना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। बोदाँ ने अपने इस आधुनिक प्रतीत होने वाले सुझाव में यह विचार भी शामिल किया कि पर्यावरण के अन्तर्गत नक्षत्रों का प्रभाव भी शामिल है तथा ज्योतिष के अध्ययन द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि नक्षत्रों ने राज्यों के इतिहास को किस सीमा तक प्रभावित किया है?

बोदाँ का युग यद्यपि धार्मिक कट्टरता और दमन का था किन्तु पोलीटिक वर्ग से प्रभावित वह धार्मिक सहिष्णुता का पोषक था। उसने बतलाया कि राज्य का कर्त्तव्य किसी धर्म-विशेष की प्रस्थापना न होकर सामान्य कल्याण का प्रसार है। धार्मिक सहिष्णुता के साथ-साथ इन्द्रजाल, प्रेत-विद्या आदि में भी उसका बड़ा विश्वास था। वह तत्कालीन अन्धविश्वासों से प्रभावित नहीं रह पाया था। सेबाइन के शब्दों में "बोदाँ अन्धविश्वास, बुद्धिवाद, रहस्यवाद, उपयोगितावाद और पुराणवाद (Antiquarianism) का सम्मिश्रण था।"

बोदाँ ने राजनीति के लगभग सभी पक्षों पर अपने विचार प्रकट किए। उसने फ्रांस की एकता पर विचार किया जो उसके सार्वभौमिकता के सिद्धान्त से स्पष्ट है। उसके विचार रूढ़िवादी होते हुए भी पुनरुत्थान की भावना में प्रकाशित थे। उसके दर्शन में एकता और संगठन का प्रत्यक्ष सूत्रपात देखने को मिलता है। उसने राजतन्त्र का समर्थन किया। उसका विचार था कि केवल राजतन्त्र ही फ्रांस को विनिष्ट होने से बचा सकता है और राजा की सर्वोच्चता द्वारा ही फ्रांस में एकता की पुनर्स्थापना की जा सकती है। निश्चय ही बोदाँ के विचार भावनात्मक न होकर वास्तविक थे। राज्य प्रभुता के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का महान् श्रेय बोदाँ को ही था। यह विलक्षण प्रतिभावान केवल अपने युग में ही यशस्वी नहीं बना बल्कि भविष्य के लिए भी अमर हो गया।[1]

कृतियाँ—फ्रांसीसी, यूनानी, रोमन आदि भाषाओं के ज्ञाता जीन बोदाँ ने बौद्धिक और राजनीतिक जगत् को निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अर्पित किए—

(1) रेसपांन्स (Response)

(2) डेमीनोमेनी (Demenomanie)

1 "Jean Bodin belongs to the immortals." —*Maxey*, Ibid, p. 167.

(3) हेप्टाप्लोमर्स (Heptaplomeres)
(4) यूनिवर्स नेचर थियेट्रम (Universe Nature Theatrum)
(5) सिक्स लिवर्स डि-ला-रिपब्लिक (Six Livers De-la-Republique)

बोदाँ का अन्तिम ग्रन्थ, जिसे संक्षेप मे 'रिपब्लिक' कह दिया जाता है 1576 ई. मे प्रकाशित हुआ था। इसका प्रयोजन तत्कालीन गृह युद्ध मे राजा की स्थिति मजबूत करना था। राजनीतिक विचारो की दृष्टि से विद्वानो ने इसे बोदाँ की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति माना है। मैक्सी ने तो इसे सच्चे अर्थों मे राजनीति शास्त्र पर पहला आधुनिक ग्रन्थ माना है। सेबाइन के अनुसार, "बोदाँ के 'रिपब्लिक' ने आधुनिक राजनीति के लिए वही काम किया है जो अरस्तू ने प्राचीनकाल के लिए किया था।........उसके महत्त्व का कारण यह नही था कि उसने अरस्तू की पद्धति को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया, बल्कि उसके महत्त्व का वास्तविक कारण यह था कि उसने प्रभुसत्ता के विचार को धर्मशास्त्र के घेरे से बाहर निकाला। दैवी अधिकार के सिद्धान्त ने इस विचार को धर्मशास्त्र के घेरे मे डाल दिया था। बोदाँ ने प्रभुसत्ता का विश्लेषण करने के साथ-साथ उसे सांविधानिक सिद्धान्त में भी शामिल किया।"

अध्ययन पद्धति (Method) -बोदाँ ने मुख्यत: ऐतिहासिक एव विश्लेषणात्मक पद्धति का अपनाया। उसकी पद्धति का मूल तत्त्व दर्शन और इतिहास का समन्वय था। उसने विधि के स्वरूप एव मूल को समझने के लिए ऐतिहासिक एव तुलनात्मक अध्ययन पर बल दिया। उसका आग्रह था कि विधि और राजनीति का अध्ययन इतिहास के साथ ही भौतिक परिवेश, जलवायु, भूगोल आदि को भी ध्यान मे रखकर करना चाहिए।

बोदा ने इस आधार पर मैकियावली की आलोचना की कि उसने अपनी पद्धति मे दर्शन का निषेध किया था। उसके मतानुसार, मैकियावली ने राजनीति और नीति शास्त्र म विच्छेद इसीलिए किया था कि उसकी पद्धति दर्शन-परिष्कृत न होकर पूर्णत अनुभव प्रधान थी। बोदाँ, प्लेटो एव सर थॉमस मोर की कल्पनावादी राजनीति को भी पसन्द नही करता था। इन कल्पनावादियो (Utopians) द्वारा इतिहास की अवहेलना की गई थी। उनके दर्शन यथार्थवादिता से दूर थे। बोदाँ का कहना था कि 'सामान्य सिद्धान्तो की परिधि मे अनुभव-सापेक्ष विषय-वस्तु पर विचार करना चाहिए। वह हर समस्या पर विवेक की दृष्टि से विचार करना चाहता था।' अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' मे उसने अरस्तू की 'पालीटिक्स' की पद्धति का अनुसरण किया। जिस तरह अरस्तू ने लगभग 158 यूनानी गणराज्यो के संविधानो का तुलनात्मक अध्ययन करके अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया था, उसी प्रकार बोदा ने भी प्राचीन, मध्यकालीन एव तत्कालीन इतिहास का गम्भीर अनुशीलन करके अपने राजनीतिक सिद्धान्तो का भवन खड़ा किया। उसने राजनीति के क्रियात्मक एव सैद्धान्तिक दोनो ही पक्षो पर समान बल दिया।

इसमे सन्देह नहीं कि बोदाँ का दृष्टिकोण अपने समकालीनो की अपेक्षा बहुत व्यापक था, परन्तु दुर्भाग्यवश उसकी प्रतिभा इस कार्य के अनुरूप न थी। सेबाइन

के अनुसार, "वह इस बात को नही समझ सका कि अपनी ऐतिहासिक सामग्री को किस प्रकार व्यवस्थित करे। 'रिपब्लिक' और सामान्य रूप से उसकी सभी पुस्तकें असगठित तथा अव्यवस्थित है। वे असम्बद्ध हैं और उनमे पुनरुक्ति की भरमार है। कुछ स्थलो पर उसका विषय-विवेचन सुलझा हुआ है। वह ऐतिहासिक उदाहरणो और आँकड़ो से अपने पाठको को चक्कर मे डाल देता है। उसने विधि तथा सस्थाओ का विवेचन पाण्डित्यपूर्ण ढग से किया है। उसकी मृत्यु के एक शताब्दी बाद ही उसकी रचनाएँ उपेक्षित हो गई क्योकि वे बडी बोझिल और नीरस थी। बोदाँ मे साहित्यकता बिलकुल नही थी। उसकी मुख्य शक्ति यह थी कि वह परिभाषा बना सकता था और दार्शनिक व्यवस्था का निर्माण कर सकता था लेकिन कुल मिलाकर इतिहास और सस्थाओ के सचालन की अन्तर्दृष्टि होते हुए भी वह एक दार्शनिक इतिहासकार होने की अपेक्षा पुराणवादी ही अधिक था।"[1] जो भी हो, बोदाँ का यह दृष्टिकोण सही था कि विधि एव राजनीति मे घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा इनका अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से होना चाहिए। फ्रांसीसी विद्वान् मेस्नार्ड (Mesnard) के मत मे बोदाँ इतिहास की तीनों शक्तियो—नीति शास्त्र, कानून एव न्याय—पर ध्यान देने वाला विचारक था। दूसरे शब्दो मे बोदाँ का अनुभववाद 'एकबद्ध' (Integral) था।

बोदाँ के राज्य और परिवार सम्बन्धी विचार
(Bodin on State and Family)

बोदाँ का आविर्भाव उस युग मे हुआ था जब धार्मिक कट्टरता और सघर्ष ने राज्य की एकता, व्यवस्था, शक्ति एव शान्ति को बडा आघात पहुँचाया था। प्रोटेस्टन्ट राजा और कैथोलिक प्रजा तथा कैथोलिक राजा और प्रोटेस्टेन्ट प्रजा मे सघर्ष चलता रहना था अत राज्य जनकल्याण की अभिवृद्धि मे सक्षम न था। बोदाँ 'पोलीटिक' विचारको के सिद्धान्तो से प्रभावित था। उसका विश्वास था कि राज्य को धार्मिक विवादो से अलग रखने पर ही समाज का कल्याण और समाज मे शांति तथा व्यवस्था सम्भव है। वह प्रमाणित करना चाहता था कि राज्य की शक्ति निरपेक्ष है और उसके नागरिको को नैतिक रूप से मान्य है। वह यह भी बतलाना चाहता था कि राज्य का उचित कार्य अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म को कायम रखना नही अपितु सामाजिक कल्याण मे निरन्तर अभिवृद्धि करना है। इन्ही विचारो से प्रेरित होकर उसने तत्कालीन उन दोनो ही सिद्धान्तो का खण्डन किया जिनमे से प्रथम के अनुसार राज्य एक दैवी सस्था थी और द्वितीय के अनुसार शासन जन-इच्छा पर आधारित था। बोदाँ काल्विनवादियों के राज्य के प्रति अवज्ञा-सिद्धान्त से भी सहमत न था। वह व्यक्ति को राज्य से अधिक महत्त्व नही देना चाहता था। उसका उद्देश्य राज्य के अधिकार की महत्ता सिद्ध करना था, व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओ और अधिकारो की रक्षा करना नही।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ 365

अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' मे बोदाँ ने राज्य ने और परिवार सम्बन्धी व्यवस्था अरस्तू से ग्रहण की थी। उसने सर्वप्रथम राज्य के उद्देश्य पर, फिर परिवार पर विचार किया। साथ ही विवाह, पिता-पुत्र का सम्बन्ध, व्यक्तिगत सम्पत्ति, दासता आदि विषयो पर भी विचार व्यक्त किए। राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध मे यह बडा अस्पष्ट था। राज्य की परिभाषा करते हुए उसने लिखा कि "राज्य परिवारो तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का एक समुदाय है जिसका शासन एक सम्प्रभु शक्ति एव विवेक द्वारा होता है।"[1] अपनी परिभाषा मे उसने यह स्पष्ट नही किया कि वह कौन-सा लक्ष्य है जो प्रभु शक्ति अपने प्रजाजनो के लिए प्राप्त करे। वह इस सम्बन्ध मे अरस्तू से मार्ग-दर्शन ग्रहण नही कर सकता था और नागरिक की प्रसन्नता अथवा हित को राज्य का व्यावहारिक लक्ष्य नही मान सकता था क्योकि नगर-राज्य के जो लक्ष्य थे वे नव-विकसित राष्ट्र राज्यो के लक्ष्य नही बन सकते थे, दोनों मे गहरा अन्तर विद्यमान था। बोदाँ राज्य के उद्देश्य को केवल मात्र भौतिक एव उपयोगितावादी उद्देश्यो तक ही सीमित रखने को भी तैयार न था। उसे यह भी स्वीकार्य था कि राज्य का कार्यक्षेत्र शान्ति एव व्यवस्था कायम रखने तक ही हो। उसका विश्वास था कि राज्य के शरीर और आत्मा होती है और यद्यपि शरीर की तात्कालिक आवश्यकताएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं तो भी आत्मा की स्थिति अधिक उच्च है, अत केवल भौतिक सुरक्षा से बढकर राज्य का कोई उच्चतर लक्ष्य होना चाहिए लेकिन यह अनुभव करते हुए भी बोदाँ ने इन उच्चतर उद्देश्यो का कोई वर्णन नही दिया। साथ ही इसका भी कोई सन्तोषजनक उत्तर वह प्रस्तुत नही कर सका कि नागरिक राज्य की आज्ञापालन के कर्त्तव्यो का निर्वाह क्यो करें? इसमे कोई सन्देह नही कि बोदाँ के राजदर्शन की ये गम्भीर त्रुटियाँ हैं।

राज्य के उद्देश्य के बारे मे बोदाँ की अस्पष्टता का उल्लेख करने के बाद अब हम उसके द्वारा दी गई राज्य की परिभाषा के विश्लेषण पर आते हैं। बोदाँ की परिभाषा से राज्य की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ प्रकट होती हैं—

प्रथम विशेषता यह थी कि अरस्तू की भाँति बोदाँ भी परिवार को राज्य की आधारशिला मानता है। वह व्यक्ति को राज्य का निर्माण करने वाली इकाई के रूप मे स्वीकार करता है। उसके अनुसार माता-पिता, भाई-बहिन एव बालको के साथ सम्बन्ध, सम्पत्ति, दास प्रथा, विवाह आदि परिवार के अग हैं और राज्य इन सबसे सर्वथा पृथक् है। दूसरे शब्दो मे राज्य परिवारो का समुदाय है, परिवार का स्वाभाविक विकास एव मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिकता की स्वाभाविक अभिव्यजना नही। वह राज्य को शक्ति की उपज मानता है। जहाँ समाज का विकास मानव के सामाजिक स्वभाव पर आधारित है, वहाँ राज्य का आधार शक्ति है। बोदाँ की राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी धारणा को सरल शब्दो मे प्रकट करते हुए

1 "A State ■ an aggregation of families and their common possessions ruled by a sovereign-power and by reason."

सेबाइन ने लिखा है कि "राज्य तथा अन्य समुदाय परिवार से ही पैदा होते हैं। बोदाँ ने राज्य को परिवारो का शासन कहा है। जब परिवार का मुखिया घर से बाहर निकलकर दूसरे परिवारो के मुखियाओं के साथ मिलकर कार्य करता है, तब वह नागरिक बन जाता है। सामूहिक प्रतीक्षा और पारस्परिक लाभो के लिए परिवारो के अनेक सघ विभिन्न प्रकार के गाँव, नगर और निगम आदि बन जाते हैं। जब ये एक प्रभुसत्ता द्वारा सयुक्त होते हैं तो राज्य का निर्माण होता है। बोदाँ का विचार था कि राज्य के निर्माण मे कही न कही शक्ति का हाथ अवश्य रहता है यद्यपि प्रभुसत्ता अथवा विधि-सगत शासन का औचित्य केवल शक्ति के आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है।" बोदाँ द्वारा राज्य की उत्पत्ति मे शक्ति की परिकल्पना से उसकी यह धारणा प्रतीत होती है कि मनुष्य ने समाज मे रहने की अपनी सहज प्रवृत्ति के कारण पहले एक परिवार का निर्माण किया जो प्राकृतिक कारणों से शनै:-शनै: अनेक परिवारो म विभक्त हो गया और वे परिवार समुचित स्थानो पर बस गए। सामान्य लाभ की कामना से अनेक परिवारो का वास ऐसे स्थानो पर हुआ जहाँ जल, रक्षा आदि सुविधाएँ अपेक्षाकृत अच्छी थी। ऐसे स्थानो की सख्या सीमित थी, अत उन पर अधिकार जमाने के लिए विभिन्न पारिवारिक समूहो मे लडाइयां होने लगी, जिनम शक्तिशाली जीते और निर्बल परास्त हो गए। विजेताओं ने अपनी शक्ति द्वारा दूसरो को दास बना लिया। विजेता शासक बन गए और विजित उनके राज्य की प्रजा। शासक वे बने जिन्होंने लडाइयों म नेतृत्व किया था। इस तरह राज्य का जन्म हुआ। बोदाँ द्वारा राज्य की उत्पत्ति का आधार शक्ति को मानना यद्यपि पूर्णत सत्य नही है, तो भी उसम सच्चाई का अश अवश्य है। राज्य के विकास म जिन नाना तत्त्वो का हाथ रहा उनम शक्ति भी एक महत्त्वपूर्ण तत्व था और आज भी है।

दूसरी विशेषता यह है कि बोदाँ राज्य पर सर्वोच्च शक्ति का शासन स्वीकार करता है। उसने सम्प्रभुता को राज्य का विशेष गुण माना है जो केवल राज्य म ही निहित है, अन्य स्थानों म उसका अस्तित्व नहीं रहता। उसके अनुसार प्रत्येक सुव्यवस्थित राज्य मे अविभाज्य शक्ति का निवास परम आवश्यक है ताकि राज्य मे अराजकता की स्थिति उत्पन्न न होने पाए। राज्य की यह सर्वोच्च शक्ति अथवा सम्प्रभुता (Sovereignty) ही उसे अन्य समुदायों से पृथक् करती है और उस तो दन पर राज्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, वह टूट कर गिर पडता है।

तीसरी विशेषता यह है कि राज्य पर विवेक (Reason) का भी शासन है। दूसरे शब्दों मे राज्य 'विधि-सगत शासन' है। 'विधि-सगत' (Subject to the law of reason) का अर्थ न्यायपूर्ण होना अथवा प्राकृतिक विधि के अनुरूप होना है। यह शब्द राज्य को डाकुओ के गिरोह जैसे अवैध सगठन से पृथक् करता है। बोदाँ का यह एक महत्त्वपूर्ण विचार है जो प्रकट करता है कि शक्ति स्वय अपना औचित्य नहीं है, उसे विवेकपूर्ण एव नैतिक होना चाहिए। इसी बात को यो भी

कहा जा सकता है कि बोदाँ के अनुसार राज्य में सर्वोच्च शासन के अधिकार को न्याय-संगत बनाने वाली बात उसका विवेक-सम्मत या विधि-संगत होना है।

चौथी विशेषता यह है कि बोदाँ ने राज्य को न केवल परिवारों को ही अपितु उनकी सामान्य सम्पत्ति (Their common possessions) का भी समुदाय बतलाया है। वह सम्भवतः व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करना चाहता था। उसने प्लेटो, मोर और एनाबायटिस्टों में पाए जाने वाले साम्यवाद की कठोर आलोचना की है। उसके मतानुसार सम्पत्ति परिवार के लिए अपरिहार्य है, उसका गुण है अत. उसका राज सत्ताधारी शक्ति की पहुँच से बाहर रहना उचित है। परिवार का क्षेत्र व्यक्तिगत है, राज्य का सार्वजनिक अथवा समान। प्रभुसत्ता स्वामित्व से भिन्न है। सम्पत्ति पर परिवार का अधिकार है, प्रभुसत्ता पर शासक और उसके न्यायाधिकारियों का। सेबाइन के मत में "इस सिद्धान्त का जिस रूप में विकास होता है, उसके अनुसार परिवार में अन्तर्निहित सम्पत्ति का अधिकार प्रभु की शक्ति के ऊपर भी निश्चित सीमा आरोपित कर देता है। दुर्भाग्यवश, उसका यह सिद्धान्त बड़ा अस्पष्ट है और यह समझ में नहीं आता कि परिवार का अनुल्लंघनीय अधिकार किस चीज पर आधारित है।"[1] राज्य की निरपेक्ष एवं असीम शक्ति निजी सम्पत्ति का निश्चित रूप से सम्मान करे—यह एक परस्पर विरोधी कल्पना लगती है। अविभाज्य अपरिमित प्रभुसत्ता एवं निजी सम्पत्ति के अदेय अधिकार में तालमेल बैठाना समझ में न आने वाली एक तार्किक कठिनाई है।

राज्य के सम्बन्ध में बोदाँ के विचारों का विश्लेषण करते समय स्वाभाविक रूप से उसके परिवार सम्बन्धी दृष्टिकोण पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ चुका है। इतना और जोड़ देना है कि परिवार-सिद्धान्त बोदाँ की कृति का एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण भाग है। "वह परिवार को, जिसमें माता-पिता, बच्चे और नौकर होते हैं तथा जिसकी समान सम्पत्ति होती है, ऐसा सहज समुदाय मानता है जिससे अन्य सब समुदाय पैदा होते हैं।" बोदाँ परिवार के मुखिया को अपने आश्रितों पर चरम शक्तियाँ देता है और इन शक्तियों में पारिवारिक सम्पत्ति एवं परिवार के सदस्यों के जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण सम्मिलित करता है।

बोदाँ के प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचार
(Bodin's Conception of Sovereignty)

बोदाँ के राजदर्शन का सबसे महत्वपूर्ण भाग उसका प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त है। यद्यपि इस सिद्धान्त के बीज यूनान और रोम के प्राचीन विचारकों में उपलब्ध हैं फिर भी बोदाँ ही वह पहला व्यक्ति था जिसने बड़ी स्पष्टता से और वैज्ञानिकता से इसको राजनीति शास्त्र का महत्वपूर्ण सिद्धान्त बनाया।[2]

बोदाँ के अनुसार प्रभुसत्ता ही वह विभाजक रेखा है जो राज्य को अन्य परिवार से पृथक् करती है। "प्रभुसत्ता राज्य का एक ऐसा तत्त्व है जो केवल राज्य

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 365.
2 *Maxey* : Political Philosophies, P. 164.

में ही निहित रहता है, अन्य स्थानों में उसका महत्त्व नहीं रहता।" बोदाँ ने नागरिकता को प्रभु के प्रति अधीनता माना है। उसके द्वारा दी गई राज्य की परिभाषा में दो ही बातें मुख्य हैं—प्रभु और प्रजा। राजनीतिक समाज का अनिवार्य लक्षण समान प्रभु का अस्तित्व है। उसके मत में "प्रभुसत्ता नागरिकों और प्रजाजनों पर प्रयुक्त की जाने वाली वह सर्वोच्च शक्ति है, जो कानून द्वारा नियन्त्रित नहीं होती अर्थात् कानून के बंधन से मुक्त है।" इस परिभाषा को सर फ्रेडरिक पोलक ने इस भांति स्पष्ट किया है—"*विधिवत् प्रशासित प्रत्येक स्वतन्त्र समुदाय में ऐसी कोई न कोई शक्ति अवश्य होनी चाहिए जो चाहे एक व्यक्ति में निहित हो या अनेक में—जिससे विधियों की स्थापना होती हो तथा जो स्वयं कानून का स्रोत हो।* इस प्रकार इस शक्ति को विधि का स्रोत होने के नाते विधि से उच्चतर होना चाहिए।"

बोदाँ का स्पष्ट मत था कि "प्रभुसत्ता एक राज्य में शासन करने की निरपेक्ष एवं स्थायी शक्ति" है। राज्य अपने क्षेत्र में रहने वाले सभी नागरिकों और प्रजाजनों पर निरपेक्ष एवं अन्तिम शक्ति रखता है। बोदाँ इस विचार से वास्तव में दो उद्देश्यों की सिद्धि करना चाहता था। प्रथम तो वह राज्य के लौकिक विषयों पर पोप एवं पवित्र रोमन सम्राट जैसे किसी भी बाहरी प्राधिकारी के अधिकार के दावे का निषेध करता था और दूसरे वह सामन्तों, सरदारों, नगरों और निगमों आदि के किसी भी प्रदेय अधिकार एवं अभियुक्ति को ठुकराता था क्योंकि उन्हें इस तरह के अधिकार देने का अर्थ राज्य की प्रभुसत्ता की निरपेक्षता को कम करना था। बोदाँ के इन विचारों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि वह राज्य की बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रभुसत्ता का पक्षपाती था। राज्य के लौकिक विषयों में पोप और पवित्र रोमन सम्राट जैसे बाह्य प्राधिकारियों के हस्तक्षेप को ठुकरा कर उसने राज्य की बाह्य प्रभुता अथवा स्वतन्त्रता की घोषणा की और सामन्तों, सरदारों, निगमों आदि को साधारण नागरिकों के समान राजा की शक्ति के अधीन मानकर उसने प्रभुसत्ता के आन्तरिक स्वरूप को प्रकट किया। *बोदाँ ने राज्य की प्रभुसत्ता को शाश्वत एवं स्थायी बतलाया जिसका आदान-प्रदान नहीं किया जा सकता।* प्रभुसत्ता उस शक्ति से भिन्न है जो किसी को सीमित समय के लिए दे दी जाती है। प्रभुत्व या तो किसी को दिया नहीं जा सकता और यदि दिया जाता है तो सदैव के लिए और बिना किसी शर्त के। प्रभुसत्ता को स्थायी बतला कर बोदाँ यह सिद्ध करना चाहता था कि उसका प्रयोग समय विशेष से सीमित नहीं। प्रभुसत्ताधारी वही हो सकता है जो जीवन-पर्यन्त निरंकुश-शक्तियों का उपभोग करे। अल्पकाल के लिए इनका उपभोग करने वालों को सर्वोच्च शासक नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे केवल उस समय तक इस सत्ता का संरक्षण करने वाले होते हैं जब तक उन्हें यह शक्ति प्रदान करने वाला या जनता उनसे इसे वापिस नहीं ले लेती।

बोदाँ की प्रभुसत्ता की अन्य विशेषता यह है कि वह कानून से नियन्त्रित नहीं होती; क्योंकि प्रभु स्वयं कानून का स्रोत है। वह राज्य में सर्वोच्च शक्ति का उपभोग करता है और स्वयं उन कानूनों से बाधित नहीं हो सकता जिन्हें उसने जनता के लिए बनाया है। प्रभु अपने उत्तराधिकारियों को भी किसी कानूनी शर्त से नहीं बाँध सकता। प्रभु का आदेश ही राज्य का कानून है अतः यदि प्रभु की शक्ति पर कोई नियन्त्रण लगाया गया तो वह सर्दव ही गैर कानूनी होगा। प्रभुत्व अर्थात् सार्वभौमिकता का सबसे बड़ा गुण यही है कि वह नागरिकों को सामूहिक और वैयक्तिक रूप से कानून प्रदान करता है और कानून में वह अपने से ऊँचे, बराबर के या नीचे के किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह की सहमति लेने को बाध्य नहीं होता। "प्रभु युद्ध की घोषणा कर सकता है, शान्ति स्थापित कर सकता है, राज्य के अधिकारियों की नियुक्ति कर सकता है, सर्वोच्च न्यायालय का कार्य कर सकता है और मुद्रा चला या कर लगा सकता है।" बोदाँ का कहना था कि "प्रभु का रूढ़िगत कानून पर भी नियन्त्रण होता है। रूढ़िगत कानून उसी की अनुमति से कायम रह सकते हैं। प्रभु का कानून रूढ़ियों को बदल सकता है।"

प्रभुसत्ता सब प्रकार के बंधनों और मर्यादाओं से मुक्त है, लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह असीम है। बोदाँ यह नहीं कहता कि राजा की प्रभुसत्ता कानून के प्रत्येक प्रकार से ऊपर है। जब वह प्रभुसत्ता को कानूनों से ऊपर बतलाता है तो आशय यह है कि प्रभु केवल अपने बनाए हुए कानूनों से ऊपर है, अन्य प्रकार के कानूनों से ऊपर नहीं। उनके अनुसार "समस्त शासक दैवी कानून, प्राकृतिक कानून एवं इनसे निःसृत राष्ट्रों के सामान्य कानून से बाधित हैं।" प्रभुसत्ता पर केवल मानवीय अथवा विधेयात्मक कानून की सीमा नहीं होती।

बोदाँ की प्रभुसत्ता की एक अन्य विशेषता इसका जनता में निहित होना है। उन्हीं के शब्दों में, 'मैं यह स्वीकार करता हूँ कि प्रभुसत्ता व्यक्तियों में नहीं रहती बल्कि जनता में रहती है। जनता के प्रसाद-पर्यन्त वे (शासक) अपना अधिकार रखते हैं और निश्चित अवधि के उपरान्त यह शक्ति पुनः जनता में लौट आती है। उदाहरणार्थ प्राचीन एथेंस में जनता द्वारा इस प्रकार सत्ता आर्कन (Archon) चुने जाने वाले व्यक्ति को 10 वर्ष के लिए दी जाती थी। इस अवधि में वह सर्वोच्च होते हुए भी केवल जनता का प्रतिनिधि था और जनता के प्रति ही अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी भी। 10 वर्ष की अवधि के बाद वह शक्ति पुनः जनता में लौट जाती थी। लघु एशिया के निडस (Cnidus) नामक प्राचीन यूनानी राज्य में भी यही बात थी। वहाँ के निवासियों द्वारा प्रति वर्ष 60 एमीमोन (Amymone) निर्वाचित किए जाते थे.....लेकिन उनमें प्रभुसत्ता का निवास नहीं था। एक वर्ष की अवधि पूरी होने पर उनके अधिकार वापिस जनता को सौंप दिए जाते थे।"[1]

1 *Coker* : Readings in Political Philosophy, p. 375.

बोदाँ प्रभुसत्ता के प्रयोग में विधि-सगत होने के पक्ष मे था। विधि-सगत का अर्थ न्यायपूर्ण होना अथवा प्राकृतिक विधि के अनुरूप होना है। बोदाँ डाकुओं के एक गिरोह की निरकुशता और प्रभुसत्ता मे अन्तर स्वीकार करता था। उसकी मान्यता थी, प्रभुसत्ता का प्रयोग प्राकृतिक कानून, नैतिकता एवं न्याय के अनुसार होना चाहिए।

बोदाँ के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारो के विश्लेषण से प्रकट है कि—

(1) सार्वभौमिकता अथवा प्रभुता सर्वोच्च शक्ति है।

(2) प्रभुता शाश्वत एवं स्थाई है। सम्प्रभु शक्ति-सत्ताधारी मर सकता है लेकिन सम्प्रभुता नही मर सकती।

(3) प्रभुता कानूनो का स्रोत है और इसलिए कानूनो के क्षेत्र से परे है। दूसरे शब्दो मे यह मानवीय अथवा विधेयात्मक कानूनो के बन्धन से मुक्त है।

(4) यह राज्य का एक अनिवार्य तत्त्व है जिसके अभाव मे राज्य की कल्पना करना भी असम्भव है। प्रभुता आन्तरिक एवं बाह्य दोनो तरह की होती है।

(5) यह अविभाज्य होती है। यह केवल एक शक्ति मे ही निहित होती है। राज्य मे दो प्रभुता सम्पन्न शक्तियो का निवास असम्भव है।

(6) प्रभुत्व शक्ति किसी दूसरी शक्ति को हस्तान्तरित नही की जा सकती।

बोदाँ ने कहा कि प्रत्येक सुव्यवस्थित राज्य मे अविभाज्य शक्ति का होना परम आवश्यक है ताकि अराजकता की स्थिति उत्पन्न न होने पाए। उसके अनुसार राजतन्त्रात्मक शासन मे यह अविभाज्य सार्वभौमिक शक्ति राजा मे निहित होती है। इतना अवश्य हो सकता है कि राजा सलाहकार समिति की राय ले ले लेकिन यह आवश्यक नही है कि वह उस राय को माने ही। यदि राजा अन्य व्यक्तियों की राय को मानने के लिए बाध्य है तो प्रभुता-शक्ति का निवास समूहगत हो जाता है तथा शासन का स्वरूप राजतन्त्र से परिवर्तित होकर कुलीनतन्त्र हो जाता है। जब सम्प्रभुता-शक्ति का क्षेत्र किसी व्यक्ति-विशेष या समूह मे न रहकर जन-साधारण के हाथो मे चला जाता है तो शासन का स्वरूप प्रजातान्त्रिक हो जाता है। अतः शासन के परिवर्तन का एक मात्र कारण सम्प्रभुता-शक्ति का निवास है। कभी यह शक्ति एक व्यक्ति के हाथ मे होती है, कभी वर्ग-विशेष मे और कभी जन-साधारण मे। इस तरह राज्य चाहे राजतन्त्रीय हो, कुलीनतन्त्रीय हो या प्रजातन्त्रीय हो उसमे प्रभुसत्ता अवश्य होगी। प्रभुसत्ता की अनुपस्थिति मे हम किसी राज्य को राज्य नही कह सकते। यह अदेय है और इसे राज्य से अलग करना राज्य को नष्ट कर देना है यह अप्रयोग द्वारा भी नष्ट नही होती।

प्रभुसत्ता की सीमाएँ और उसके अन्तर्विरोधी
(Limitations of Sovereignty or its Inherent Contradictions)

(1) बोदाँ की प्रभुसत्ता पर पहली सीमा ईश्वरीय एवं प्राकृतिक नियमो की है। "यद्यपि उसने विधि को प्रभु की इच्छा का कार्य बतलाया है लेकिन उसका यह विचार नही था कि प्रभु केवल आदेश के द्वारा ही अधिकार का निर्माण कर

सकता है। समस्त समसामयिकों की भाँति उसके लिए भी प्राकृतिक विधि मानवीय विधि से ऊपर है और वह न्याय के कुछ अपरिवर्तनशील मानकों को निर्धारित कर देती है। इस विधि का पालन ही वास्तविक राज्य और कारगर हिंसा के बीच भेद स्थापित करता है। यदि प्रभु प्राकृतिक विधि का उल्लंघन करे तो उसे वैधानिक रीति से उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता लेकिन प्राकृतिक विधि उसके ऊपर कुछ प्रतिबन्ध तो लगा ही देती है। प्राकृतिक विधि के अनुसार यह आवश्यक है कि करारों की रक्षा की जाए और व्यक्तिगत सम्पत्ति का सम्मान किया जाए। प्रभु के करारों का अभिप्राय यह हो जाता है कि प्रभु का अपने प्रजाजनों के प्रति और दूसरे प्रभुओं के प्रति कुछ राजनीतिक दायित्व है जिनसे वह बँधा होता है। बोदाँ का विचार था कि प्रभु इन दायित्वों से बँधा है।"[1] स्पष्ट है कि बोदाँ के प्रभुसत्ताधारी पर ईश्वरीय कानून और प्राकृतिक कानून की सीमाएँ लगी हुई हैं। प्रकृति के कानूनों को न मानने वाला राज्य 'संगठित हिंसा' मात्र है किन्तु इस प्रकार के कानून की व्याख्या करने का अधिकार स्वयं शासक को है। नागरिकों के पास ऐसे कोई साधन नहीं हैं कि वे उन्हें शासक पर लागू कर सकें। इसका स्वाभाविक अर्थ यही निकलता है कि इन कानूनों द्वारा लगाए गए प्रतिबन्ध कोई वैधानिक एवं राजनीतिक महत्त्व नहीं रखते। वे स्वेच्छा से लगाए गए नैतिक प्रतिबन्ध हैं जिन्हें पारिभाषिक रूप से प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह हुआ कि प्रभुसत्ताधारी पर प्राकृतिक या ईश्वरीय कानून का बन्धन प्रदर्शन-मात्र ही है, व्यवहार में उसका अस्तित्व नहीं है।

(2) बोदाँ के प्रभुत्व सिद्धान्त का दूसरा अन्तर्विरोध यह है कि वह सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक और अलंघनीय मानता है जो प्रभु किसी व्यक्ति से उसकी सम्मति के बिना छीन नहीं सकता। उसके अनुसार कर लगाने के लिए देश की प्रतिनिधि सभाओं की सम्मति ली जानी चाहिए। अन्य प्रकार के कानूनों को बनाने में वह ऐसी किसी सम्मति की आवश्यकता नहीं समझता। बोदाँ निजी सम्पत्ति को पवित्र और अपहरणीय मानता है। सम्पत्ति परिवार का गुण है और परिवार का क्षेत्र व्यक्तिगत है। सम्पत्ति पर परिवार का अधिकार होता है, प्रभुसत्ता पर शासक का।

वास्तव में परिवार में अन्तर्निहित सम्पत्ति का अधिकार प्रभुसत्ता पर जो निश्चित सीमा आरोपित कर देता है वह एक बड़ा ही अस्पष्ट और समझ में न आने वाला विचार है। बोदाँ की ये दोनों ही धारणाएँ परस्पर विरोधी हैं। सेबाइन के शब्दों में—"इस अवस्था में बोदाँ का भ्रम अन्तर्विरोध का रूप धारण कर लेता है। इसका कारण सिद्धान्त का त्रुटिपूर्ण संगठन है। सम्पत्ति का अधिकार परिवार का अनिवार्य गुण है। परिवार वह स्वतन्त्र जीवी इकाई है जिससे राज्य का जन्म होता है। सुव्यवस्थित राज्य के लिए एक ऐसे प्रभु की आवश्यकता है जिसकी वैधानिक

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 370.

शक्ति असीम हो। इस प्रकार बोदाँ के राज्य में दो निरकुश शासक हो जाते हैं। उसका यह कहना कि 'परिवार के अकाट्य अधिकार-अविकारभूत थे' उसी के शब्दों में व्यक्त कर देना अधिक उचित होगा। इन अधिकारों के बारे में वह इतना अधिक विश्वस्त था कि उसे इनके बारे में तर्क देने की कोई जरूरत नहीं पड़ती थी। प्रभु की असीम शक्ति की उत्पत्ति धार्मिक युद्धों के खतरों के आधार पर हुई थी। यदि बोदाँ ने कभी दोनों स्थितियों की विषमता को उचित सिद्ध करने का प्रयास किया तो ऐसा करने में उसने साम्राज्यिक विधि की विचार-पद्धति का ही अनुसरण किया। सम्पत्ति के अधिकार परिवार के लिए आवश्यक हैं और परिवार राज्य के लिए आवश्यक है लेकिन कर लगाने की शक्ति नष्ट करने की शक्ति है। राज्य के पास अपने ही सदस्यों को नष्ट करने की शक्ति नहीं हो सकती। बोदाँ ने यह बारम्बार कहा है कि कराधान के लिए स्वीकृति की आवश्यकता होती है और यह साम्राज्यिक विधि की भांति ही प्रभुसत्ता के ऊपर एक आवश्यक नियन्त्रण हो जाता है। तर्क की दृष्टि से बोदाँ का सिद्धान्त उस समय कमजोर मालूम पड़ने लगता है जब उसका परिवार का सिद्धान्त राज्य के सिद्धान्त के साथ समीकृत होता है।"[1]

(3) तीसरा प्रतिबन्ध देश के मौलिक कानूनों का है। बोदाँ का विचार है कि प्रत्येक देश में सविधान सम्बन्धी कुछ ऐसे नियम होते हैं जिनका उल्लंघन राजा को नहीं करना चाहिए। कुछ ऐसे सवैधानिक कानून होते हैं जिन पर स्वयं प्रभुत्व आधारित होता है, अतः प्रभु उनका उल्लंघन नहीं कर सकता। बोदाँ के इस विचार को हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। फ्रांस की एक प्राचीन जाति सेलियम फ्रैंकों के विख्यात 'सैलिक कानून' (Salic Law) के अनुसार ज्येष्ठतम पुत्र को अपने पिता का सिंहासन उत्तराधिकार में मिलता था। स्त्रियाँ भू-सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वंचित थी, अतः उन्हें भाई न होने पर भी सिंहासन पर बैठने का कोई अधिकार न था। बोदाँ ने कहा कि फ्रांस का कोई भी राजा इस कानून का उल्लंघन नहीं कर सकता था। बोदाँ द्वारा यह प्रतिबन्ध इसलिए स्वीकार कर लिया गया कि प्रथम तो उस युग में प्रचलित विधि-धारणा के अनुसार राजसत्ता के प्रयोग से सम्बन्धित कुछ ऐसे कानून थे जिन्हें राज-सत्ताधारी बदल नहीं सकता एवं दूसरे, बोदाँ कानूनी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति होने के नाते संविधानवादी और राज्य की प्राचीन संस्थानों को बनाए रखने के पक्ष में था।

इस तरह हम देखते हैं कि बोदाँ-एक ओर तो सम्प्रभुता को असीम बतलाता है तथा दूसरी ओर उसे विभिन्न बन्धनों से बाँध देता है। उसके सिद्धान्त में व्यावहारिकता की कमी के कारण कुछ दोष गम्भीर रूप से प्रवेश कर गए हैं। वह सम्भवतः यह नहीं समझ सका था कि वैधानिक सिद्धान्त-निरूपण में राजनैतिक एवं नैतिक मर्यादाओं का कोई स्थान नहीं होता। उसका प्रभु एक ओर तो राज्य में स्वेच्छापूर्वक कानूनों का निर्माण करता है तथा दूसरी ओर उसे दैवी एवं प्राकृतिक

[1] सेबाइन : राजनैतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 371-73

विधान तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का भी ध्यान रखना पड़ता है। एक तरफ प्रभुनिर्मित विधियाँ आज्ञाएँ हैं जो प्रजा पर व्यक्तिगत या सामूहिक किसी भी रूप में लागू हो सकती हैं, दूसरी तरफ दैवी और प्राकृतिक विधानों के विपरीत कार्य करने के उसके आदेशों को मानने से राज्य-कर्मचारी इन्कार कर सकते हैं। इस प्रकार बोदाँ का सिद्धान्त उलझा हुआ है। उसने अपने सिद्धान्त को स्वयं काटा है पर त्रुटियों के बावजूद बोदाँ के प्रभुता-सिद्धान्त में विचारों की स्पष्टता भी है। वही प्रथम विचारक था जिसने सम्प्रभुता को राज्य का आवश्यक अंग माना और सामान्य रूप से उसकी शाश्वतता, सर्वोच्चता, अविभाज्यता आदि पर विस्तार से विचार प्रकट किए। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि बोदाँ ने अपने प्रभुता-सिद्धान्त का निर्माण फ्रांस की तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में किया। दुर्बल देश में एक सुदृढ़ शक्ति का सगठन करने के लिए ही उसने इस सिद्धान्त की रचना की। उसका प्रभुसत्ता का विचार ही आगे चलकर राष्ट्रीय राज्य के विकास का आधार बना।

. बोदाँ के सुव्यवस्थित राज्य सम्बन्धी अन्य विचार

(Bodin's Other Thoughts on the Well-ordered State)

नागरिकता सम्बन्धी विचार (Citizenship)

बोदाँ की नागरिकता सम्बन्धी धारणा से व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों पर उसका चिन्तन स्पष्ट होता है। बोदाँ के लिए राजनीतिक समाज में नागरिक प्राथमिक तत्त्व नहीं है अपितु परिवार है। "नागरिक वह स्वतन्त्र व्यक्ति है जो दूसरो की प्रभुत्व-शक्ति के अधीन है।"[1] इसके अतिरिक्त नागरिकों के मध्य अनेक प्रकार के और भी सम्बन्ध हो सकते हैं। उनकी भाषा और धर्म में समानता हो भी सकती है और नहीं भी। नागरिकों के विभिन्न समुदायों की अलग-अलग विधियाँ होना सम्भव है और उनके स्थानीय आचार हो सकते हैं। प्रभु इन सबको स्वीकार करता है। विदेशी नागरिकों को भी कुछ मान्य विशेषाधिकार मिलना और विमुक्तियों का प्राप्त होना सम्भव है। बोदाँ दासों को छोड़कर राज्य की जनसंख्या को दो भागों में विभक्त करता है—प्रभु और नागरिक। उसके लिए नागरिकों की समानता का विचार अमान्य है। थोक व्यापारी नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं किन्तु छोटे या फुटकर व्यापारी नागरिकता प्राप्त करने का अधिकार नहीं रखते। साथ ही निर्धनों के धनियों में और ग्रामीणों के शहरी लोगों में अलग अधिकार और विशेषाधिकार हो सकते हैं। स्त्रियाँ घर से बाहर के कार्यों के लिए अनुपयुक्त हैं। वैभव, शक्ति एवं पद की दृष्टि से व्यक्ति असमान हैं किन्तु एक सामान्य प्रभुसत्ता के प्रति अधीनता के नाते वे सब समान हैं। व्यक्ति राज्य में अपना भाग आधारभूत सामाजिक समुदायों की सदस्यता द्वारा अदा करते हैं। बोदाँ के मतानुसार परिवार का मुखिया घर से

1 'A citizen is a free man, who is subject to the sovereign power of another.'
—Bodin

बाहर निकल कर दूसरे परिवार के मुखियाओं के साथ जब मिलकर कार्य करता है तब नागरिक बन जाता है।

राज्य एवं शासन के स्वरूपों पर विचार
(Forms of States and Governments)

यहां बोदाँ अरस्तू से प्रभावित है। राज्य और सरकार के रूप सम्बन्धी विचारों में यह स्पष्ट है। वह लिखता है—"सर्वोच्च सत्ता किसके हाथ में है ? इससे राज्य का स्वरूप निर्धारित होता है, किन्तु जिस पद्धति एवं व्यवस्था से सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग होता है, उससे शासन का स्वरूप निर्धारित होता है।" बोदाँ, इस प्रकार, राज्य एवं सरकार में विभेद करता है।[1] राज्यों के स्वरूपों का उसका वर्गीकरण राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र एवं प्रजातन्त्र है। जब सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति में निहित होती है तो राजतन्त्र है, जब सत्ता कुछ व्यक्तियों के हाथों में होती है तो कुलीनतन्त्र है और जब शासन सत्ता अनेक व्यक्तियों के हाथों में होती है तो वह प्रजातन्त्र है।

अरस्तू और रोमन विचारकों के मिश्रित राज्य की कल्पना बोदाँ को मान्य नहीं है। सम्प्रभुता अविभाज्य है, अतः मिश्रित राज्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती।[2] पर वह यह मानता है कि एक ही प्रकार की शासन पद्धति में विभिन्न शासन-प्रणालियों के गुण हो सकते हैं। उदाहरण के रूप में उसने कहा कि "इंग्लैण्ड में राज्य का स्वरूप राजतन्त्र है, परन्तु राज्य की व्यवस्था एवं पद्धति प्रजातन्त्रात्मक है।" उसका अभिप्राय यही है कि सरकार का रूप राज्य के रूप पर निर्भर नहीं करता। एक राजतन्त्रीय राज्य में एक कुलीनतन्त्रीय अथवा प्रजातन्त्रीय सरकार का होना सम्भव है।

बोदाँ राजतन्त्र को सर्वोत्तम मानता है क्योंकि इसमें व्यक्ति की सम्पत्ति और जीवन का भय नहीं रहता। इसके विपरीत यदि सर्वोच्च सत्ता को कुछ नागरिकों अथवा समस्त नागरिकों को सौंप दिया जाए तो देश में अराजकता और प्रजा के विनाश का भय विद्यमान रहेगा। एक अच्छा राजा प्राकृतिक एवं दैवी विधियों का सम्मान करते हुए शासन करता है जिससे राज्य शान्ति और प्रगति की ओर अग्रसर होता है। वस्तुतः 16वीं शताब्दी के फ्रांस में राजतन्त्र का समर्थन करना बोदाँ के लिए कुछ अस्वाभाविक न था।

क्रान्ति पर विचार (Revolution)

अरस्तू की भांति बोदाँ ने भी क्रान्तियों (Revolutions) का बड़ा रोचक वर्णन किया है। वह राज्य के परिवर्तन में विश्वास करता है और उसके विचार उतने ही मौलिक हैं जितने अरस्तू के। बोदाँ ने प्रभुसत्ता के विस्थापन को क्रान्ति बतलाया है। दिखावटी कितनी ही बदल जाएं क्रान्ति तब तक नहीं होती जब तक

1 Dunning, Op. Cit., p 104
2 McDonald, Op. Cit., p 2[illegible]

प्रभुसत्ता उसी स्थान पर रहे। अरस्तू ने क्रान्तियों को असाधारण माना है, बोदाँ ने सर्वथा सामान्य। उसके अनुसार मनुष्यों के जीवन-चक्र की भाँति राज्यों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। राज्य भी जन्म लेते हैं, युवा होकर परिपक्वता प्राप्त करते हैं, शनैः-शनैः क्षीण होते हैं और अन्ततः नष्ट हो जाते हैं। राज्यों में परिवर्तन होना मानव-जीवन के परिवर्तनों के समान ही अवश्यम्भावी है। अतः उचित है कि बुद्धिमान शासक इन परिवर्तनों को नियमित करता रहे, इन्हें रोके नहीं। बोदाँ का मत है कि क्रान्तियों का पहले से ही पता लगाया जा सकता है और इसके लिए ज्योतिष का उपयोग सम्भव है कि राज्यों में होने वाले परिवर्तन सदैव मंथर गति से ही हों, ऐसा नहीं है। ये शनैः-शनैः अज्ञात रीति से एवं शान्तिपूर्वक भी हो सकते हैं और सहसा ही बड़े आकस्मिक, उग्र एवं हिंसात्मक रूप में भी हो सकते हैं। इन परिवर्तनों की प्रकृति मानव-जीवन में होने वाले मन्द एवं उग्र परिवर्तनों से मिलती-जुलती है। राज्य क्रान्तियों का प्रभाव बड़ा व्यापक होता है। इनसे न केवल कानून, धर्म, सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थान ही प्रभावित होते हैं, बल्कि प्रभुसत्ता का निवास-स्थान कुलीनतन्त्र अथवा लोकतन्त्र द्वारा लिया जा सकता है या इसकी विपरीत अवस्था भी हो सकती है।

बोदाँ ने क्रान्ति के कारण भी बतलाए हैं जो मुख्यतया तीन प्रकार के हैं—दैविक, प्राकृतिक एवं मानवीय। दैविक कारण सदैव अदृश्य और अज्ञात रहते हैं। प्राकृतिक कारणों में नक्षत्रों का प्रभाव भी होता है, अतः विवेक द्वारा इनका पता लगाया जा सकता है पर अधिकांशतः ये भी अज्ञेय ही हैं। मानवीय कारणों के विश्लेषण में बोदाँ बड़ी दूरदृष्टि और बुद्धिमत्ता का परिचय देता है। इनकी रोकथाम के प्रसंग में उसने प्रशासन की प्रत्येक शाखा पर विचार किया है।[1] उसका कहना है कि राजा को किसी गुट-विशेष के साथ मेल नहीं करना चाहिए। उसे सदैव मेल-मिलाप की नीति अपनानी चाहिए। दमन का आश्रय केवल वहीं लेना चाहिए जहाँ सफलता की पूरी आशा हो। बोदाँ ने इस सम्बन्ध में भी मूल्यवान सुझाव दिए हैं कि अंगरक्षकों की नियुक्ति में, धार्मिक मतभेद के विषय में एवं अन्य प्रशासकीय बातों में शासक को कैसा आचरण करना चाहिए। उसके मतानुसार, धार्मिक एकता को शक्ति के बल पर नहीं थोपा जा सकता। धार्मिक विषयों में लोगों को भाषण की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए लेकिन एक बार धर्म की प्रतिष्ठा हो जाने पर फिर इस स्वतन्त्रता को समाप्त कर देना चाहिए ताकि लोगों में धर्म के प्रति अविश्वास न उत्पन्न होने पाए। उसने सम्पत्ति के निजी अधिकार को सम्मान देते हुए कहा कि सम्पत्तिवान लोग प्रायः हिंसक क्रान्ति के विरुद्ध होते हैं।

क्रान्तियों का विवेचन करते समय बोदाँ ग्रह-नक्षत्रों, जलवायु एवं भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव का भी विस्तार से वर्णन करता है। जलवायु पर लोगों का चरित्र निर्भर करता है। उत्तरी भाग के निवासी शारीरिक दृष्टि से बलवान होते

1 *Sabine*: Op Cit, p 411.

हैं, दक्षिणी लोग ज्ञान और कला मे आगे होते हैं तथा बीच के लोगो मे दोनो गुणो का सम्मिश्रण होता है। शासन मे व्यवस्था एव न्याय की स्थापना बीच वाले लोग ही ठीक कर सकते हैं। शासक को कानून बनाते समय इन भौतिक परिस्थितियो को ध्यान मे रखना चाहिए ताकि वह कानून लोगो के चरित्र और स्वभाव के अनुकूल रहे। जहाँ तानाशाही शासन बलवान व्यक्तियो को भाव-विहीन एव दुर्बल बना सकता है वहाँ प्रजातन्त्रीय शासन ऐसे लोगो को भी ऊपर उठा सकता है जो पहले केवल दास रहे हों। बोदाँ बीच के प्रदेशो को सर्वोत्तम इसलिए मानता है कि एक तो यहाँ दोनो तरह के गुण प्राप्य हैं और दूसरे विशाल राज्यो तथा राजनीतिक विज्ञान के जन्म-स्थल भी ये ही रहे हैं। प्रो. डनिंग का मत है कि जलवायु एव भौगोलिक स्थिति के सामाजिक तथा राजनीतिक प्रभाव का बोदाँ का अध्ययन सच्चे अर्थों मे वैज्ञानिक है और इस दृष्टि से पर्याप्त मौलिक है। बोदाँ की रचना का वह अश उसके सम्पूर्ण राजदर्शन का एक अभिन्न भाग था और आगे चलकर मोन्टेस्क्यू ने इस विचार पद्धति को अपनाया तथा विकसित किया। बोदाँ द्वारा क्रान्तियो के कारणो और उनके निवारण के उपायो के वर्णन पर टिप्पणी करते हुए मैक्सी ने लिखा है कि "वह (बोदाँ) वास्तव मे अनेक आधुनिक विचारो से कहीं अधिक आधुनिक था।"[1]

सहिष्णुता (Toleration)

बोदाँ ने धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धान्त के रूप मे नहीं अपितु एक नीति के रूप मे समर्थन किया। इसका प्रचार उसने तब किया था जब फ्रांस मे धार्मिक दमन चरम सीमा पर था और प्रोटेस्टेंटो तथा कैथोलिको मे सघर्ष चल रहा था। फ्रांस धर्म-युद्धो का अखाडा बन चुका था—इतना कि सन् 1562 से लेकर सन् 1598 तक वहाँ 9 धर्म-युद्ध हो चुके थे। बोदाँ के मत मे फ्रांस को गृह-युद्ध के सकट से उबारने का सर्वोत्तम उपाय यही था कि निरकुश राजतन्त्र की स्थापना हो, जो धार्मिक विश्वासो की विभिन्नताओ को सहन करे। बोदाँ को यह स्वीकार न था कि राज्य को धार्मिक सम्पीडन का अधिकार है। लेकिन वह नास्तिको को भी सहन करने को उद्यत नहीं था। उसका विश्वास था कि नास्तिक कभी अच्छे नागरिक नहीं बन सकते। उसका यह भी विचार था कि राज्य को नित नवीन सम्प्रदायो को नहीं पनपने देना चाहिए क्योंकि इससे सामाजिक अव्यवस्था का भय रहता है। उसकी दृष्टि मे धार्मिक दमन तभी ठीक था जब सफलता मिलने की आशा हो।

शासक द्वारा सन्धियो एव वचनो का पालन
(Sovereign's Promises and Treaties)

बोदाँ का विचार था कि शासको को अपने वचन निभाने चाहिए अन्यथा उन्ही को हानि होती है। पर उनकी यह वचन-प्रियता अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। शासक प्रजा के प्रति ली हुई शपथ से बाध्य नहीं है, अन्यथा

1 "Bodin was, in reality, more modern than many moderns."
—*Maxey* : *Op. Cit.*, p. 170

प्रभुसत्ता सीमित हो जाएगी। सन्धियों एवं संविदा की बात दूसरी है। ये दो पक्षों के मध्य होते हैं, अतः दोनों के लिए बाध्यकारी हैं। बोदाँ के इस दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वह निरकुश प्रभुओं के आचरण पर अकुश का समर्थन करता है पर राष्ट्रीय क्षेत्र में नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में शासकों के आचरण को सयत रखने के विचार पर ही 50 वर्ष बाद ग्रोशियस (Grotius) ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) का निर्माण किया।

बोदाँ और मैकियावली की आधुनिकता के अग्रदूत के रूप में तुलना
(*Bodin and Machiavelli as the Pioneer of Modernity*)

प्रायः प्रश्न किया जाता है कि राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मैकियावली आधुनिकता का अग्रदूत था अथवा बोदाँ ? निष्पक्ष दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि दोनों ही विचारकों में आधुनिकता के लक्षण पाए जाते हैं। पर चूँकि, बोदाँ ने मैकियावली के विचारों को विकसित किया, अतः वह उससे अधिक आधुनिक था।

मैकियावली ने मध्ययुगीन मान्यताओं और परम्पराओं का खण्डन करके राजनीति को नवीन व्यावहारिक रूप प्रदान किया। आधुनिक युग की राजनीतिक मान्यताओं को हम सरलता से उसके ग्रन्थों में ढूंढ सकते हैं। मैकियावली ने अनेक आधुनिक सिद्धान्तों का सृजन किया, जैसे ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण करना, राजनीति को नैतिकता से अलग करना, राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्त की परिकल्पना करना आदि। इसीलिए डनिंग ने कहा है कि—"यह कहना कि वह आधुनिक युग का प्रारम्भ-कर्ता है उसी प्रकार सही है जैसे यह कहना कि वह मध्ययुग को समाप्त करता है।" लेकिन हमें यह मानना होगा कि मैकियावली के युग में बीज-रूप में जो आधुनिक विचार आए उनका विकास बोदाँ के युग में ही हुआ। राज्य के सम्बन्ध में भी बोदाँ ने ही आवश्यक तत्वों को दर्शाते हुए मैकियावली के शाब्दिक प्रयोग को सार्थक सिद्ध किया। उसने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल अपने विचारों को साँचे में ढाल कर मैकियावली के विचारों को विकसित किया और राज्य के आवश्यक तत्वों को दर्शाया। बोदाँ ने मैकियावली के अधूरे कार्य को पूरा किया और राजनीति-शास्त्र में आधुनिक प्रवृत्तियों को सुप्रतिष्ठित किया। इन दोनों की आधुनिकता पर स्पष्टता से निम्नलिखित शीर्षकों में विचार करना अधिक उपयुक्त होगा—

(1) **अध्ययन पद्धति (Method)**—मैकियावली ने विशुद्ध धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाते हुए प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास के अध्ययन से अपने परिणामों को पुष्ट किया और उद्गमनात्मक (Inductive) पद्धति को अपनाया। पर उसने इतिहास का निष्पक्ष आलोचनात्मक अध्ययन नहीं किया बल्कि अपने पूर्व निश्चित विचारों की पुष्टि में इतिहास से प्रमाण ढूंढने की चेष्टा की। इसके अतिरिक्त मैकियावली ने राज्य के कुछ ऐसे नियम प्रतिपादित किए जो शासन-संचालन के क्षेत्र तक ही सीमित थे, जिनका राज्य के मौलिक सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध न था। बोदाँ ने मैकियावली के इन दोषों को दूर किया। उसने ऐतिहासिक पद्धति को बड़े

विकसित और व्यापक रूप मे अपनाया। उसने मैकियावली द्वारा प्रायोजित वैज्ञानिक पद्धति को भी विस्तार से ग्रहण किया। उसने विधि-शास्त्र मे तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन की आधुनिक पद्धति का समारम्भ किया। ऐतिहासिक अध्ययन मे तुलनात्मक दृष्टिकोण को व्यापक रूप से अपनाने के फलस्वरूप उसके विचार अधिक वैज्ञानिक हो गए। मैक्सी के शब्दो मे "बोदाँ ने इतिहास के सार्वभौमिक दृष्टिकोण को ग्रहण नही किया और न ही ब्रह्माण्ड के अस्तित्व के कारणो तथा उसका नियन्त्रण करने वाली विधियो को ही जानने की चेष्टा की बल्कि उसकी रुचि इस बात मे अधिक रही कि इतिहास विवेकपूर्वक कैसे लिखा जाए और उसकी व्याख्या बुद्धिपूर्वक कैसे की जाए ?"[1]

(2) प्रभुसत्ता (Sovereignty)—मैकियावली ने आधुनिक युग का प्रथम विचारक होते हुए भी प्रभुसत्ता पर स्पष्ट रूप से कुछ नही लिखा। इसमे सन्देह नही कि वह जिस राज्य का वर्णन करता है प्रभुता-सम्पन्न है, किन्तु उसने इस प्रभुता का कही भी विवेचन नही किया। इसके विपरीत बोदाँ वह पहला विचारक था जिसने राज्य का आधुनिक रूप मे सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए प्रभुसत्ता पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला। उसकी-प्रभुसत्ता सम्बन्धी परिभाषा आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को एक नवीन एव मौलिक देन है। प्रभुसत्ता के स्वरूप और कार्यों का पहली बार उसी ने विस्तृत विवेचन किया। यद्यपि उसकी प्रभुसत्ता अनेक स्थलो पर अस्पष्ट और बोझिल है किन्तु इससे सिद्धान्त की मौलिकता को नही ठुकराया जा सकता। जॉर्ज केटलिन के अनुसार आधुनिक युग मे इस शब्द (Sovereignty) का प्रयोग सर्वप्रथम बोदाँ के ग्रन्थ 'Republic' मे ही हुआ है। बोदाँ ने प्रभुता-सम्पन्न शासक के गुण बतलाते हुए प्रभुता के तत्त्व भी बतलाए है। बोदाँ के प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचार उसे मैकियावली की अपेक्षा अधिक आधुनिक बना देते हैं। प्रभुसत्ता के दृष्टिकोण से तो उसे आधुनिकता का अग्रदूत ही माना जाना चाहिए।

(3) नागरिकता (Citizenship)—मैकियावली नागरिकता पर अस्पष्ट है-जबकि बोदाँ की नागरिकता आधुनिकता के बहुत निकट है। उसके अनुसार राज्य मे नागरिको का निवास होता है और सभी नागरिक एक ही सार्वभौम की आज्ञा का पालन करते हैं। बोदाँ के इस विचार मे सम्प्रभुता के प्रति भक्ति एव श्रद्धा के भाव निहित हैं।

(4) राजनीति और नीतिशास्त्र (Politics and Ethics)—मैकियावली मध्य-युग का अन्तिम और आधुनिक युग का प्रथम विचारक अधिकांशत. इसीलिए माना जाता है कि उसने ही सर्वप्रथम राजनीति का नैतिकता से पृथक्करण किया। उसने राज्य को नैतिकता और धर्म से ऊपर उठाया। मैकियावली ने नैतिकता की आवश्यकता से अधिक उपेक्षा की और इसीलिए वह कुछ बदनाम भी हुआ। बोदाँ ने मैकियावली से अधिक स्पष्ट एव सशोधित मार्ग अपनाया। उसने प्रभुसत्ता के

1 *Maxey* : Political Philosophies, p. 163.

सिद्धान्त द्वारा राज्य की सर्वोच्चता को वैधानिक ढंग से प्रस्तुत किया और साथ ही राज्य की निरंकुशता पर, उसके अनाचारों पर, प्रतिबन्ध लगाने की चेष्टा की।

(5) राज्य (State)—मैकियावली ने केवल राज्य-संचालन और राज्य-विस्तार के उपायों का निर्देशन किया, उसने राज्य के मौलिक तत्त्वों और सिद्धान्तों की उपेक्षा की। एलन महोदय के मतानुसार तो वह राज्य की कल्पना भी ठीक-ठीक कर पाया था या नहीं यह भी संदिग्ध है। लेकिन बोदाँ ने राष्ट्र-राज्य की कल्पना को सुविकसित रूप में प्रस्तुत किया। प्राचीन एवं मध्यकालीन सार्वभौम साम्राज्य की कल्पना का अन्त करके राष्ट्रीय राज्य को प्रतिष्ठित करने का श्रेय वास्तव में बोदाँ को ही था। मुरे ने लिखा है, "यह कार्य बोदाँ के लिए ही सुरक्षित था कि वह यह बतलाए कि विश्व-व्यापी साम्राज्यों के दिन चाहे, वे रोमन हों या फ्रेंच, अब बिल्कुल लद चुके हैं। नवजात राष्ट्रीयता का दिन आ गया है। इसके साथ ही प्रभुसत्ता का सिद्धान्त बनाने का समय आ गया था। बोदाँ ने अपने 'रिपब्लिक' में यही कार्य किया है और यही उसकी सबसे स्थाई उपलब्धि है।"[1]

(6) भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव (Effect of Geographical Conditions)—बोदाँ ही वह प्रथम विचारक था जिसने राजनीति पर भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभावों का विशद रूप से प्रतिपादन किया। उससे पहले प्लेटो और अरस्तू ने इस विषय का स्पर्शमात्र किया था। प्रो. डनिंग की मान्यता है कि जलवायु और भौगोलिक स्थिति के सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव का बोदाँ का अध्ययन सच्चे अर्थ में वैज्ञानिक है और इस क्षेत्र में बोदाँ मौलिकता का दावा कर सकता है। मैकियावली ने इस विषय का कोई वर्णन नहीं किया था।

अतः स्पष्ट है कि बोदाँ ने मैकियावली के अधूरे कार्य को पूरा किया, बीज-रूप में बिखरे हुए उसके विचारों को विकसित किया और अनेक रूपों में सर्वथा मौलिकता का परिचय दिया। अतः मैकियावली की अपेक्षा वह आधुनिक था। लेकिन हम यह नहीं भूलना चाहिए कि बोदाँ स्वयं को मैकियावली के समान मध्य-युगीन प्रभाव से मुक्त नहीं रख सका, अतः उसके ग्रन्थों में बड़ा विरोधाभास पाया जाता है। इसके विपरीत मैकियावली ने मध्य-युग से नाता पूरी तरह तोड़ दिया। बोदाँ ने मैकियावली के 50 वर्ष बाद लिखा, फिर भी स्वयं को मैकियावली के समान मध्य युगीन प्रभाव से मुक्त नहीं कर सका। इसी से हम मैकियावली की प्रतिभा का अनुमान लगा सकते हैं।

अन्त में बोदाँ के सम्पूर्ण राजदर्शन पर अध्ययन की समाप्ति सेबाइन के इन शब्दों के साथ करना उपयुक्त होगा कि—

"बोदाँ का दार्शनिक विवेचन प्रथम श्रेणी का नहीं था। इस दर्शन के दो पक्ष थे—संविधानवाद (Constitutionalism) और केन्द्रीकृत शक्ति (Centralized Power) और बोदाँ इन दोनों पक्षों में उचित सन्तुलन स्थापित नहीं कर सका।

1 *Murray* : The History of Political Science from Plato to the Present, p. 179.

बोदाँ का सम्पूर्ण दर्शन प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त पर आधारित था। उसने प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त को एक परम्परा के रूप में ही स्वीकार किया था, उसने विश्लेषण करने की कोशिश नहीं की थी। बोदाँ का प्रभुसत्ता विषयक सिद्धान्त सोलहवीं शताब्दी के प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त में सबसे स्पष्ट था, लेकिन उसका सिद्धान्त हवाई सिद्धान्त है। उसने इस सिद्धान्त की केवल परिभाषा ही दी है, कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया। सुव्यवस्थित राज्य के साध्य क्या हों, प्रजाजनों की आज्ञा-पालन का दायित्व कैसा है, राज्य तथा उसके घटक परिवारों के सम्बन्ध कैसे हों? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनके और विश्लेषण की आवश्यकता है। इस अस्पष्टता ने दो ऐसी समस्याओं को जन्म दिया जिनके समाधान में बोदाँ के बाद की शताब्दी का राजनीतिक दर्शन लगा रहा। इनमें से एक समस्या शक्ति की शब्दावली में प्रभुसत्ता का सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त का अभिप्राय था कि राजनीतिक 'छोटों' और राजनीतिक 'उच्च' का सम्बन्ध ही राज्य है और प्रभु का आदेश ही विधि है। हॉब्स ने इस संकल्पना का व्यवस्थित रूप से विकास किया। दूसरी समस्या थी, प्राकृतिक विधि सिद्धान्त को आधुनिक तथा लौकिक रूप देना जिससे कि यदि सम्भव हो तो राजनीतिक शक्ति का केवल सत्तावादी आधार नहीं प्रत्युत नैतिक आधार प्राप्त किया जा सके। यह संशोधन मुख्य रूप से ग्रोशियस और लॉक ने किया। उनका संशोधन इतना सफल हुआ कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में यह राजनीतिक सिद्धान्त का मान्य वैज्ञानिक हो गया।"[1]

ह्यूगो ग्रोशियस
(Hugo Grotius, 1583–1645)

जीन बोदाँ की 1596 ई. में मृत्यु के बाद 1583 ई. में हॉलैण्ड में डेफ्ट नामक स्थान पर एक कुलीन परिवार में ह्यूगो ग्रोशियस का जन्म हुआ जिसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्प्रभुता के आधार को दृढ़ता से प्रतिपादित किया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की उस धारणा को जन्म दिया जिसके सभी स्वाधीन राष्ट्र-राज्य सदस्य हैं। वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-शास्त्र का प्रवर्तक बन गया। ह्यूगो ग्रोशियस का निश्चियन नाम हुइग्वान ग्रूट (Huig-Van Groot) था। वान ग्रूट परिवार में जन्मा, ग्रोशियस बचपन से ही बड़ा प्रतिभाशाली और अपने साथियों से ज्ञान में कहीं आगे था। 8 वर्ष की अल्पायु में ही उसके लैटिन पद्य लोगों का ध्यान आकर्षित करने लगे। 11 वर्ष की आयु में उसने मैट्रिक पास कर ली और तत्पश्चात् लीडन विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। 16 वर्ष की अवस्था में उसने डॉक्टर ऑफ लॉ तथा 1604 ई. में 21 वर्ष की अवस्था में ही एल-एल. डी की उपाधि प्राप्त की। इससे प्रकट है कि वह कितना योग्य व्यक्ति था। कहा जाता है कि वह स्वयं एक विश्व-शब्दकोश था। डॉक्टर ऑफ लॉ उपाधि प्राप्त करने के बाद ही ह्यूगो ग्रोशियस वकालत करने लगा। उसकी गणना यूरोप के सर्वश्रेष्ठ वकीलों में की जाती

1 सेबाइन: राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 375-76.

थी। 30 वर्ष की अवस्था मे वह रॉटरडम (Rotterdom) का अगरक्षक नियुक्त किया गया। इस स्थिति मे उसे आर्मीनियनिज्म (Arminianism) तथा गोमेरिज्म (Gomarism) नामक दो सम्प्रदायों के विवाद में फँस जाना पड़ा। ग्रोशियस ने सैनिक बल द्वारा विद्रोह को दबाने का प्रयत्न किया। प्रिन्स मॉरिस ऑफ ऑरेन्ज ने गोमेरिस्टों का पक्ष लेते हुए ग्रोशियस एव वोर्नबेल नामक एक अन्य अग रक्षक को गिरफ्तार करा लिया। ग्रोशियस पर राजद्रोह का अभियोग लगाकर उसे आजीवन कारावास की सजा दे दी गई तथा वोर्नवेल को प्राण-दण्ड मिला। ग्रोशियस अपनी पत्नी के साहस एव चातुर्य के कारण किसी प्रकार जेल से भाग निकला। उसने जीवन के शेष दिन निर्वासित के रूप मे एकान्त मे बड़ी दरिद्रता से काटे और इसी दौरान अपने महान् ग्रन्थ की रचना की जो बाद मे 'दि लॉ ऑफ वार एण्ड पीस' (The Law of War and Peace) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ह्यूगो की समकालीन परिस्थितियों का उस पर प्रभाव—ह्यूगो की समकालीन परिस्थितियों का उसकी रचनाओ और विचारो पर व्यापक प्रभाव पड़ा। ये परिस्थितियाँ बड़ी ही दु खमय थी। 1599 ई मे स्पेनिश जेसुइट मेरियाना ने अपने ग्रन्थ 'De Regect Regis Institutione' (राजत्व और राजा की शिक्षा) नामक पुस्तक मे यह दावा किया कि प्रभुसत्ता जनता मे निहित होती है और जनता को निरकुश शासक के विरुद्ध विद्रोह का ही नही बल्कि उसकी हत्या का भी अधिकार है। इस ग्रन्थ से प्रभावित होकर यूरोप के अनेक राजाओं की हत्या करने के प्रयत्न किए गए। 1605 ई. मे इग्लैण्ड मे गाई फॉक्स ने ससद् भवन को उडाने के उद्देश्य से इतिहास-प्रसिद्ध गन-पाउडर षड्यन्त्र (Gun Powder Plot) रचा। 1610 ई मे फ्रांस मे हेनरी चतुर्थ की हत्या की गई। ग्रोशियस पर जनसाधारण के इन कार्यों का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। वह जनता के अधिकारो का विरोधी तथा निरकुश राज्यसत्ता का प्रबल पोषक बन गया।

ग्रोशियस पर तत्कालीन युद्धो और अराजक अवस्था का भी गहरा प्रभाव पड़ा। उसने देखा कि समस्त यूरोप मे अशान्ति और अव्यवस्था फैली हुई थी। प्रत्येक राज्य अपनी सीमाओ का विस्तार करने, अपने व्यापार को बढ़ाने एव अन्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिए छल-बल के तरीको का प्रयोग करने को तैयार था। शासक लोग सन्धियाँ करते और तोड़ देते थे। युद्धो मे बर्बरता की थाह न थी। ग्रोशियस के जीवनकाल मे फ्रांस मे गृह-युद्ध हुए, हालैण्ड मे धार्मिक और राजनीतिक सघर्ष हुए—जिनमे से एक के परिणामस्वरूप उसका सुखी जीवन बर्बाद हो गया, तथा जर्मनी मे 30 वर्षीय युद्ध (1618–1648) चला। ग्रोशियस के शब्दों मे "सम्पूर्ण ईसाई जगत मे युद्ध छेड देने की खुली छूट थी, छोटी-छोटी बातो पर बिना किसी बात के ध्यान से तलवारें निकाल ली जाती थी। एक बार शस्त्र उठ जाने पर दैवी एव मानवीय सभी कानूनो के प्रति सारा सम्मान समाप्त हो जाता था। ऐसा प्रतीत होता था मानो उस समय मनुष्य को किसी भी अपराध को कराने का अधिकार मिल गया था।" ग्रोशियस के चारो ओर एक युद्ध-शिविर लगा हुआ था जिसमे सर्वाधिक कठिनाई तटस्थ एव छोटे राज्यो की थी जो स्वय को बड़े राष्ट्रों के आक्रमण से

बचाने मे असमर्थता अनुभव करते थे। ग्रोशियस ने अनुभव किया कि अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के निर्धारण से ही उस अराजक स्थिति का प्रतिकार हो सकता था। अतः उसने 'दी लॉ ऑफ वार एण्ड पीस' में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्था की। उसने सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि युद्ध-सचालन एव शान्ति-स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून विद्यमान है जिसका सभी राष्ट्रो द्वारा पालन होना चाहिए। इस प्रकार के विचार प्रकट करने वाला वह प्रथम विचारक नहीं था, कुछ स्पेनिश धर्म-शास्त्रियों ने 16वीं शताब्दी में, मानवीय आचरण के व्यावहारिक प्रश्नों पर विचार करते समय, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर चिन्तन किया था और अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तो को प्रकट किया था। इन धर्म-शास्त्रियों म फ्रांसिस्को विक्टोरिया एव फ्रांसिस्को सुआरेज के नाम उल्लेखनीय हैं। और भी कुछ कैथोलिक एव प्रोटेस्टेंट न्यायविद् इस दिशा में अग्रसर थे। लेकिन सर्वाधिक विवेकपूर्ण, सुनिश्चित एव उदारवादी विचार ग्रोशियस ने ही प्रकट किए। प्राकृतिक कानून के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायशास्त्र का ढाँचा खड़ा करने में उसे अपनी महान् बौद्धिक प्रतिभा एव मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण सबसे अधिक सफलता मिली।

रचनाएँ—ग्रोशियस की विलक्षण प्रतिभा ने उसके जिन ग्रन्थों को जन्म दिया वे मुख्यतः कानून-सम्बन्धित हैं। उसके प्रमुख ग्रन्थ ये हैं—

1. De Jure Praedea, 1604
2. Mare Liberum, 1609
3. De Jure Belliac Pacis या The Law of War and Peace, 1625.

प्रथम पुस्तक में ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का विवेचन किया। परन्तु इसमें वर्णित सिद्धान्तो की विस्तृत व्याख्या और प्राकृतिक एव अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का पूर्ण विवेचन उसने अपने ग्रन्थ 'डी जुरे बेलीएक पेसीस' में किया जिसके आधार पर ही उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-शास्त्र के संस्थापक का सम्मान प्राप्त हुआ। अपने ग्रन्थ 'मेयर लायबेरम' में उसने व्यापारिक एव सामुद्रिक स्वतन्त्रता का समर्थन किया।

ग्रोशियस ने काफी अन्वेषण के बाद राजनीति के सिद्धान्त के तीन अग स्थापित किए—

(1) प्राकृतिक कानून (Jus Naturalae or Natural Laws)
(2) अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Jus Gentium or International Law)
(3) सार्वभौमिकता (Sovereignty)

आगे हम ग्रोशियस द्वारा प्रतिपादित इन्हीं तीनो सिद्धान्तो पर विस्तार से विचार करेंगे।

ग्रोशियस के प्राकृतिक कानून सम्बन्धी विचार
(Grotius on Natural Law)

अरस्तू की भाँति ग्रोशियस ने मानव को एक सामाजिक प्राणी माना और समाज की सत्ता बनाए रखने के लिए कानून की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया।

उसने दोनो का चोली-दामन का साथ बतलाते हुए कहा कि एक के बिना दूसरा जीवित नही रह सकता। साथ ही उसने मानव को तर्कशील बुद्धिमान प्राणी मानते हुए मानव-समाज को मानव-बुद्धि की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति बतलाया तथा यह तर्क पेश किया कि जब समाज तर्क और बुद्धि का परिणाम है तो स्वभावतः कानून भी बुद्धि से ही प्रादुर्भूत होते हैं। जहाँ भी सामाजिक जीवन है वहाँ बुद्धि एव बुद्धि पर आधारित कानून का अस्तित्व होना स्वाभाविक है। चूँकि ग्रोशियस एक चिन्तनशील व्यक्ति था, अतः उसने अपने चिन्तन में प्राकृतिक कानूनो को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया। वह प्राकृतिक विधि की ओर क्यो उन्मुख हुआ ? इसे बतलाते हुए सेबाइन ने कहा है कि—

"सत्रहवी शताब्दी मे यह एक मानी हुई बात थी कि वह एक मूल विधि अथवा प्राकृतिक विधि की दुहाई देता। यह विधि प्रत्येक राष्ट्र की सिविल विधि के मूल मे विद्यमान है। अपनी अन्तर्निहित न्याय भावना के कारण वह समस्त प्रजाजनो लोगो और शासको के ऊपर समान रूप से लागू होती है। ईसाई राजनीतिक चिन्तन की लम्बी परम्परा मे इस विधि के औचित्य को किसी ने अस्वीकार नही किया था, किसी ने उस पर सन्देह तक नही किया था। ग्रोशियस के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह इसके औचित्य पर जोर देता। लेकिन अब ईसाइयो की एकता टूट चुकी थी और ईसाई धर्म की सत्ता का भी पतन हो गया था। इसलिए ग्रोशियस के लिए उसके आधारो की पुनपरीक्षा आवश्यक हो गई थी। अब चर्च की सत्ता, धर्मशास्त्र की सत्ता अथवा धर्म-का आदेश एक ऐसी विधि की बुनियाद नहीं बन सकता था जो प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक, ईसाई और गैर-ईसाई शासको के ऊपर समान रूप से बंधनकारी होता। मानववादी प्रशिक्षण की अपनी पृष्ठभूमि के कारण ग्रोशियस के लिए यह स्वाभाविक था कि वह प्राकृतिक विधि की उस परम्परा की ओर मुड़ता जो ईसा से भी पहले की थी और जिसके बारे मे उसे प्राचीनकाल के विद्वानो की रचनाओ से अच्छी जानकारी मिली थी। अस्तु, उसने प्राकृतिक विधि के आधारो की परीक्षा स्टोइक दर्शन के एक सदेहवादी आलोचक कार्नियाडीज (Carneades) के साथ वाद-विवाद के रूप मे की। ग्रोशियस से पूर्व सिसरो (Cicero) भी यही कर चुका था।"[1]

जहाँ सुधारक एव अन्य अनेक लेखक प्राकृतिक कानून को ईश्वरीय कानून मानते थे, वहाँ ग्रोशियस ने इसे विवेक की अभिव्यजना समझा है। उसने बतलाया कि प्राकृतिक विधि की मानव-विवेक के साथ एकात्मकता होती है। सम्यक् विवेक का समावेश ही प्राकृतिक विधि है। विवेक-युक्त स्वभाव के अनुसार ही प्राकृतिक विधि होती है। कोई कार्य बुद्धि-सगत- विवेक के अनुसार है या नही है; उनके अन्दर नैतिक अक्षमता है या नैतिक उच्चता इसी आधार पर प्रकृति का स्वामी किसी कार्य को स्वीकार या अस्वीकार करता है।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड I, पृ 383-84

ग्रोशियस के लिए ईश्वर का निर्देश महत्त्वपूर्ण है किन्तु ईश्वर न होता, तब भी प्राकृतिक विधि का वही असर होता। "ईश्वर अपनी मनमानी से प्राकृतिक विधि को नहीं बदल सकता। इसका कारण यह है कि ईश्वर की शक्ति किसी ऐसी प्रस्थापना को सही सिद्ध नही करेगी, जो गलत हो। इस तरह की शक्ति, शक्ति न रह कर दुर्बलता हो जाएगी।" स्वयं ग्रोशियस के शब्दों मे, "जिस प्रकार ईश्वर यह नही कह सकता कि दो और दो मिलकर चार हों, उसी प्रकार ईश्वर यह नही कह सकता कि जो चीज गलत है, उसे वह गलत न कहे।"

स्पष्ट है कि ग्रोशियस के अनुसार प्राकृतिक विधि अपरिवर्तनशील है। इसमे स्वयं भगवान भी कोई परिवर्तन नही कर सकता। प्राकृतिक नियम ईश्वरीय नियम से किसी भी दशा मे हीन नहीं है और साथ ही ईश्वरीय नियम प्रकृति के कानून को विवेक-सम्मत समझने एवं उसे ईश्वरीय-वाक्य से अलग रखने में ग्रोशियस ने सन्त टॉमस एक्वीनास का अनुसरण न करके स्टोइक्स (Stoics) तथा सिसरो की परम्परा का निर्वाह किया है।

विवेक-सम्मत होने के कारण प्रकृति का कानून विश्व व्यापक है। यह समस्त मनुष्यों एवं राज्यों पर समान रूप से लागू होता है। एक व्यवस्था-सम्पन्न समाज बनाए रखने के लिए जरूरी है कि मानव प्रकृति की सीमाओं को ध्यान मे रखते हुए कुछ न्यूनतम शर्तों को कार्यान्वित किया जाए। इनमे मुख्य शर्तें हैं—सम्पत्ति की सुरक्षा, सद्‌विश्वास, न्यायपूर्ण व्यवहार आदि। ये शर्तें न तो मनुष्य की ऐच्छिक पसन्दगी हैं और न रूढ़ि की सृष्टि ही। वस्तुस्थिति इसके विपरीत है, पसन्द और रूढि स्थिति की आवश्यकताओं का अनुसरण करती हैं। वस्तुतः "हमारे पास और कोई वस्तु होती या न होती, इस तरफ कोई ध्यान दिए बिना ही मानव-प्रकृति ही कुछ इस प्रकार की है कि समाज के पारस्परिक सम्बन्धो का निर्माण हो जाता है। मनुष्य की यह प्रकृति ही विधि की जननी है।"

ग्रोशियस प्राकृतिक विधि मे उपयोगिता का बड़ा क्षेत्र पाता है। यह उपयोगिता विभिन्न राष्ट्रों के लिए विभिन्न प्रकार की हो सकती है। जिस तरह अनेक व्यक्ति ईमानदारी को एक नीति के रूप मे ग्रहण करते हैं उसी तरह राष्ट्र भी यह विचार अपना सकते है कि प्राकृतिक विधि की उपेक्षा न करना स्वयं उनके लिए हितकारी है, क्योकि इस विधि का अधिक उल्लघन करने वाला राष्ट्र शीघ्र ही कुख्यात होकर दूसरे राष्ट्रों का विश्वास खो बैठेगा। शक्ति-सम्पन्न राज्य भी दूसरो के साथ सधियाँ करते हैं। यदि वे प्राकृतिक कानून के अनुसार आचरण नही करेंगे तो अन्तर्राष्ट्रीय सधियो का कोई मूल्य नही रहेगा। अन्तर्राष्ट्रीय विधि शासको के मध्य बुद्धि-सगत एवं विवेकपूर्ण आचरण पर निर्भर है।

वास्तव मे ग्रोशियस द्वारा स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धो को विनियमित करने के लिए प्राकृतिक कानून को जो एक नवीन एव धर्म-निरपेक्ष मापदण्ड के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, उसका बडा महत्त्व है। ग्रोशियस के समय की अराजकतापूर्ण स्थिति का अन्त करने के लिए प्राकृतिक कानून की इस धारणा

ने इसमें महान् योग दिया। प्राकृतिक विधि ने ही आगे चलकर राज्यों की सकारात्मक विधि (Positive Law) को जन्म दिया जिसका आधार यह है कि मनुष्य अपने सामाजिक दायित्वों को समझते रहें और रूढ़ियों की प्राणपण से रक्षा करें। प्राकृतिक विधि ने विधि और राजनीति में आदर्श का पुट दिया।

ह्यूगो ग्रोशियस ने यह भी बतलाया कि प्राकृतिक नियमों को किस प्रकार जाना जा सकता है। इसके निम्नलिखित तीन नियम हैं—

(1) प्राकृतिक नियम साधारण व्यक्ति के अन्तःकरण द्वारा दूसरों को विदित होता है।

(2) बड़े-बड़े विद्वानों के मस्तिष्कों के सामान्य समझौते के द्वारा लोगों के समक्ष आते हैं।

(3) श्रेष्ठ पुरुषों के कार्य प्रकृति के नियमों का सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिकरण कर सकते हैं।

विधियों का वर्गीकरण (Classification of Law)—ह्यूगो ग्रोशियस ने दो प्रकार के प्राकृतिक कानून माने हैं—(क) राजनीतिक समाज से पूर्व प्रकृति की आदिम दशा का विशुद्ध प्राकृतिक कानून (Pure Law of Nature), एवं (ख) समाज के निर्माण के बाद एवं राजनीतिक कानून बनने से पहले के प्राकृतिक कानून।

ग्रोशियस ने कानून को दो भागों में बाँटा है—(1) प्राकृतिक कानून, और (2) इच्छा-मूलक कानून। प्राकृतिक कानून बुद्धि पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त शेष सभी प्रकार के कानून इच्छा (Volition) पर आधारित हैं। ये इच्छामूलक कानून (Jus Voluntarium or Volitional Law) भी तीन भागों में विभक्त हैं—(i) दैवी या ईश्वरीय कानून, (ii) राजकोषीय कानून, एवं (iii) राष्ट्रों के अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून। ग्रोशियस का यह विभाजन निम्न लिखित तालिका द्वारा स्पष्ट है—
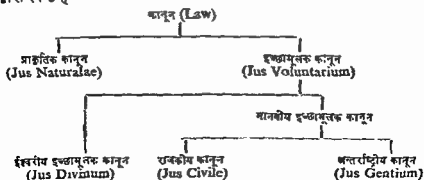
ग्रोशियस का अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विचार
(Grotius on International Law)

ग्रोशियस ने अपने ग्रन्थ 'दी लॉ ऑफ वार एण्ड पीस' में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विवेचन कर तत्कालीन और भावी समाज की बहुत बड़ी सेवा की। इसमें "वे

समस्त व्यवहार सम्मिलित हैं जिनका पालन सभ्य राष्ट्र एक दूसरे के साथ वर्ताव करने मे करते हैं। उनका मूल मानव की स्वतन्त्र इच्छा है। सद्विवेक के सिद्धान्तों मे से तर्क द्वारा उनको नियमित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ये कानून ऐच्छिक होते हैं, प्रर्थात् ये स्वतन्त्र इच्छा की अभिव्यंजना होते हैं, विवेक की नहीं।" डनिंग के शब्दो मे, "इनका तत्त्व वह है जिसे सभी अथवा अनेक राष्ट्रों ने मान्य होना स्वीकार कर लिया है। इसकी सामग्री मे उन बातो को सम्मिलित किया गया है जो निरन्तर प्रयोग एवं विद्वानो के साक्ष्य द्वारा प्रमाणित हुई हैं। ऐसे नियमो का उद्देश्य समस्त अथवा अनेक राष्ट्रो के समूह का कल्याण है—यह ठीक वैसे ही है जैसे कि नागरिक विधि का उद्देश्य उस समूह का कल्याण होता है जो अनेक व्यक्तियों से मिलकर बनता है।"[1] स्पष्ट है कि ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Jus Gentium) को ऐच्छिक या इच्छा-मूलक कानून माना है जिसमे सम्मिलित किए जाने वाले नियम दो प्रकार के हैं—(i) निरन्तर चली आने वाली प्रथाओं से प्रमाणित और पुष्ट होने वाले नियम, एवं (ii) विद्वानों की साक्षी से प्रमाणित होने वाले नियम। इस प्रकार के नियमों को बनाने का उद्देश्य समस्त अथवा अधिकांश राष्ट्रों की कल्याण-कामना है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून आवश्यकतानुसार बदलते रहते हैं। प्राकृतिक और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही कानूनो का पालन सामाजिक जीवन के लिए किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यो की सहमति पर आधारित हैं। इनसे राष्ट्रो के पारस्परिक व्यवहार का नियमन होता है। प्राकृतिक कानून वह आधार तैयार करते हैं जिससे अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय आचरण निश्चित होता है। मनुष्य प्रकृति से ही सामाजिक है और उसमे अच्छाई नैतिकता का समावेश है अतः मानव की यह प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियमन प्राकृतिक कानून से नहीं होता, फिर भी प्राकृतिक कानून का और उसके मूल सिद्धान्तो का उल्लघन नहीं किया जाना चाहिए। प्राकृतिक विधि की अधिक उपेक्षा करने से राष्ट्रो का अहित ही होगा। इस विधि का उल्लघन करने वाला राष्ट्र शीघ्र ही कुख्यात होकर दूसरे राष्ट्रो का विश्वास खो बैठेगा। शक्ति-सम्पन्न राज्य भी दूसरों के साथ सन्धियाँ करते हैं। यदि वे प्राकृतिक कानून के अनुसार आचरण नहीं करेंगे तो अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का कोई मूल्य नहीं रहेगा। अतः स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधियों को प्राकृतिक कानून के अनुकूल ही चलना चाहिए, उस पर यथासम्भव आधारित होना चाहिए और उससे दूर नहीं जाना चाहिए। राज्यो को अपने वचनो का सद्भावना से पालन करना चाहिए। मानव-अधिकारों की रक्षा के लिए मानवीय आधार पर राज्यों को हस्तक्षेप करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्राप्ति के लिए अपराधियों का हस्तान्तरण करना चाहिए और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे यातायात सम्बन्धी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

1 *Dunning* : History of Political Theories, Vol. II, p. 174.

ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधियो के सम्बन्ध मे न्याय-युद्ध के लक्षण और कारण एवं युद्ध-सचालन के तरीको का ही विवेचन नही किया बल्कि जन-धन पर युद्ध के प्रभाव, प्रसार के अधिकार, उन्नत जातियो के असभ्य जातियों से सम्बन्ध, दासत्व आदि पर भी विचार प्रकट किए।

उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिए 'जस जेन्टियम' (Jus Gentium) शब्द प्रयुक्त हुआ है। वास्तव मे इस शब्द का प्रयोग उन नियमो एव कानूनो के लिए किया जाता था जो रोमन लोगो एव विदेशियो पर सामान्य रूप से लागू किए जाते थे। लेकिन 16वी शताब्दी मे सुग्रारेज एवं जेन्टाइलिस जैसे लेखको के प्रभाव से इस शब्द का अभिप्राय उन रीतियो एव परम्पराओ से लिया जाने लगा जिनसे विभिन्न राष्ट्रो के मध्य आचरण विनियमित होना था। यही कारण था कि ग्रोशियस ने भी जस जेन्टियम का अर्थ उन नियमो एव परम्पराओ से लिया जो समस्त अथवा अधिकांश राष्ट्रो के लिए सामान्य थीं और जिनसे उनके पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण होना चाहिए था। ग्रोशियस के हाथो मे पडकर जस जेन्टियम 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तद्रूप' बन गया। वस्तुत ग्रोशियस ही वह प्रथम विचारक था जिसने अन्तर्राष्ट्रीय विधि का बडा सूक्ष्म, क्रमबद्ध, विस्तृत और व्यवस्थित विवेचन किया। इसीलिए मैक्सी ने लिखा है कि "ग्रोशियस को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का जनक कहा जाने लगा है।"[1]

ग्रोशियस के प्रभुता-सम्बन्धी विचार
(Grotius on Sovereignty)

ग्रोशियस को सम्भवतः राज्य की सम्प्रभुता मे मूलत. कोई रुचि नही थी, किन्तु तत्कालीन परिस्थिति जनित प्रश्नो ने उसे इधर आकर्षित कर लिया। ग्रोशियस ने यह समझ लिया था कि युद्ध जीवन का एक अनिवार्य तत्त्व है, जिस पर नियन्त्रण पाया जा सकता है किन्तु जिससे सदैव बचा नही जा सकता। अतः उसने युद्धो को कुछ दशाओ मे प्राकृतिक कानून के आधार पर उचित एवं न्यायसगत ठहराने का प्रयास किया। उसने यह विचार रखा कि प्रत्येक राज्य के कुछ प्राकृतिक अधिकार होते है जिनकी रक्षा की जानी चाहिए। यदि कोई राज्य दूसरे राज्य के प्राकृतिक अधिकार पर आक्रमण करता है तो रक्षा के लिए युद्ध करना अनुचित नही है। उदाहरणार्थ राज्य का यह प्राकृतिक अधिकार है कि वह अपने क्षेत्र के निवासियो का विवेकपरक कल्याण करे। यदि कोई राज्य इस कल्याण मे बाधा डाले तो यह अविवेकपूर्ण कार्य है जिसके विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण करना पूर्णतः विधि-सम्मत होगा। ग्रोशियस के स्वय के शब्दो मे, "युद्ध का लक्ष्य जीवन की रक्षा करना और जीवन के लिए लाभदायक वस्तुओं को रक्षा और प्राप्ति है। युद्ध प्रकृति के इन प्रथम सिद्धान्तो के अनुकूल है। यदि इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए शक्ति का प्रयोग आवश्यक हो जाए तो इससे प्रकृति के प्रथम सिद्धान्तों की कोई अवहेलना नहीं होती क्योकि प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी को आत्म-रक्षा एवं स्वयं की सहायता के लिए पर्याप्त

1 Quoted by *Maxey*: Modern Philosophies, p. 180-181.

शक्ति प्रदान की है""इसके अतिरिक्त सद्‌विवेक और समाज का स्वभाव शक्ति के समस्त प्रयोग का निषेध नही करते बल्कि केवल उस शक्ति-प्रयोग से इन्कार करते हैं जो समाज के प्रतिकूल हो।"

ग्रोशियस के इन विचारो से कुछ प्रश्न उठते हैं। प्रथम, इस बात का निर्णय कौन करेगा कि शक्ति-प्रयोग समाज के अनुकूल है अथवा नही? द्वितीय, राष्ट्रीय स्तर पर युद्ध एव शान्ति के प्रश्नो के निर्णय करने का किसे अधिकार है? इसी प्रकार के अन्य प्रश्नो ने ग्रोशियस को विवश कर दिया कि वह शक्ति-प्रयोग करने की अधिकारी एकमात्र सामाजिक शक्ति की व्यवस्था करे और उसका स्थान निश्चित करे। इस प्रयत्न मे ही ग्रोशियस राज्य के सम्प्रभुता के सिद्धान्त की ओर उन्मुख हुआ। उसने यह मत प्रकट किया कि राज्य के प्रभुसत्ताधारी व्यक्ति के अधिकार के अन्तर्गत लड़े जाने वाले और कुछ निश्चित नियमो के अनुसार सचालित होने वाले युद्ध ही विधि विहित हो सकते है।

ग्रोशियस ने प्रभुसत्ता को राज्य का शासन करने वाली 'सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति' बतलाया। उसने कहा कि "प्रभुत्व शक्ति उसमे ही निहित है जिसके कार्यों पर न तो किसी दूसरी सत्ता का नियन्त्रण है और न ही जिसकी इच्छा का कोई और विरोध ही कर सके। राज्य मे शासन करने की यह नैतिक क्षमता है।"

स्पष्ट है कि ग्रोशियस ने प्रभुता सम्बन्धी धारणा का निश्चय प्राकृतिक नियमों—अन्तर्देशीय सम्बन्धो एव अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो के आधार पर किया है। ग्रोशियस की प्रभुसत्ता प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत एक सीमित अधिकार है। परन्तु यह सीमा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा निर्धारित नही की जाती। सम्राट को प्राकृतिक कानून, सवैधानिक एव राष्ट्रीय कानून को मानना चाहिए परन्तु वह किसी मानवीय कानून से सीमित नही है। ग्रोशियस प्रभुसत्ता को व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति के समान एक अधिकार समझता है। प्रभुसत्ता पाने वाला व्यक्ति इस प्रकार अनेक तरह के अधिकार रखता है। अनेक बार उसे भू-सम्पत्ति के अधिकारो की भाँति पूर्ण स्वामित्व प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ न्याय-सम्मत युद्ध मे जीते हुए को विजित प्रदेश पर पूर्ण अधिकार होता है। कभी कुछ निश्चित अवधि के लिए सर्वोच्च सत्ता रखी जाती है। उदाहरणार्थ रोमन गणराज्य मे डिक्टेटर को अवधि-विशेष के लिए ही सर्वोच्च सत्ता मिलती थी। ग्रोशियस की दृष्टि मे यह सत्ता तभी वास्तविक है जब प्रजा अथवा ईश्वर के प्रति शपथ ग्रहण करके इसे प्राप्त किया जाय। ग्रोशियस के अनुसार सर्वोच्च शक्ति एक होते हुए भी राजा एव प्रजा मे विभक्त हो सकती है। इस प्रकार बोदाँ के सर्वथा विपरीत ग्रोशियस एक विभाजित एव सीमित प्रभुसत्ता की सम्भावना को स्वीकार करता है। वह राजा की प्रभुसत्ता पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो, अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो और प्राकृतिक कानून की सीमा लगाता है। इस तरह वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुता के विचार का प्रतिपादन करता है। प्रत्येक राज्य को स्वेच्छा से अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो का आदर करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय समाज की प्रभुता माननी चाहिए।

सम्प्रभुता की चर्चा करते हुए ग्रोशियस ने राज्य की उत्पत्ति पर भी विचार प्रकट किए हैं। इस सम्बन्ध में उसने दो विरोधी सिद्धान्तों का सम्मिश्रण किया है। प्रथम तो वह यह मानता है कि मानव स्वाभाविक रूप से सामाजिक है और अपनी सहज सामूहिक प्रवृत्ति द्वारा समाज का निर्माण करता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार ग्रोशियस राज्य की उत्पत्ति की समझौता सम्बन्धी धारणा का समर्थन करता है। उसके अनुसार "आरम्भ में मनुष्यों ने ईश्वर की आज्ञा से नहीं, बल्कि अपनी इच्छा से यह अनुभव करने के बाद राजनीतिक समाज का संगठन किया कि वे पृथक्-पृथक् परिवारों में रहते हुए हिंसा से अपनी रक्षा नहीं कर सकते। इसी से शासन-शक्ति का आविर्भाव हुआ।"[1] यहाँ समाज का अर्थ सम्पूर्ण मानव-समाज है तथा राज्य इस मानव-समाज के कुछ व्यक्तियों द्वारा बनाया गया राजनीतिक संगठन है। ग्रोशियस का सम्भवतः यह विचार है कि राज्य की स्थापना से पूर्व प्राकृतिक दशा में विशुद्ध प्राकृतिक कानून का साम्राज्य था और प्रत्येक व्यक्ति अपने इस अधिकार की रक्षा के लिए प्रतिरोध करता था। कालान्तर में सार्वजनिक शान्ति और व्यवस्था के लिए जब राज्य का निर्माण हुआ तो प्रतिरोध (Resistance) का यह अधिकार सर्वोच्च शासक को मिल गया। अब राज्य में सर्वोच्च शासक के विरुद्ध किसी को प्रतिरोध नहीं रहा क्योंकि समाज का निर्माण करते समय सभी ने स्वेच्छा से अपने अधिकार सर्वोच्च शासक अथवा प्रभु को सौंप दिए। ग्रोशियस प्रभुता को इसी उच्चतम राजनीतिक शक्ति के तदनुरूप मानता है जिसका प्रयोग किसी व्यक्ति के नियन्त्रण के अधीन नहीं है।

ग्रोशियस जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) का घोर विरोधी है। जनता एक बार स्वेच्छा से अपनी शासन-प्रणाली चुनने की अधिकारिणी है, पर बाद में शासक पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं रहता। तब जनता पूर्ण रूप से अपने प्रभु के अधीन हो जाती है और प्रभुता को प्रभु से वापिस नहीं लिया जा सकता। फिर जनता शासन-सत्ता के विरुद्ध कोई विद्रोह नहीं कर सकती। ग्रोशियस प्रभुसत्ता और जनता के हितों के बीच कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं मानता। प्रभु की इच्छा सर्वोच्च है। यदि प्रभु अपनी प्रजा को राजनीतिक स्वतन्त्रता से वंचित भी कर देता है तो भी उसके विरुद्ध कोई विद्रोह अनुचित है। शासक को प्रभुसत्ता हस्तान्तरित करने के बाद प्रजा स्थाई रूप से उसके वशीभूत हो जाती है। राजा के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रजा-हित की दृष्टि से ही शासन करे। उसे प्रजा पर वैसा ही अधिकार प्राप्त हो जाता है जैसा व्यक्ति का अपनी निजी सम्पत्ति पर होता है। राजा को व्यक्तिगत सम्पत्ति की भाँति ही प्रभुसत्ता के विक्रय, दान अथवा विरासत को दूसरे को दे डालने का अधिकार है।

ग्रोशियस के इस सिद्धान्त से स्पष्ट ही राजा की निरंकुश अधिकार शक्ति का पोषण होता है। उसका मन्तव्य यही है कि प्रजा को राजा का प्रतिरोध करने का अधिकार नहीं है। उसे राजा के अत्याचारों को मौन होकर सह लेना चाहिए। यदि

1 Quoted by *Dunning* : Political Theories from Luther to Montesque, p. 181.

राजा के आदेश ईश्वरीय अथवा प्राकृतिक नियमों को भग करने वाले हों तो प्रजा को इन आदेशों का पालन नहीं करना चाहिए, पर साथ ही विद्रोह भी नहीं करना चाहिए। इस स्थिति में प्रजा का कर्त्तव्य यही है कि वह आज्ञा भग के दुष्परिणामों को चुपचाप सह ले। ग्रोशियस राजा को मानवीय इच्छाओं एव राजकीय कानूनों से सर्वथा स्वतन्त्र एव मुक्त मानता है। वह राजा पर प्राकृतिक कानून, ईश्वरीय कानून, वैधानिक कानून एव अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सीमाएँ ही स्वीकार करता है। उसके अनुसार इन कानूनों की व्यवस्था का पालन होना चाहिए।

ग्रोशियस के उपरोक्त विचारों का दूरगामी प्रभाव हुआ। लगभग 100 वर्ष तक यूरोप में राजाओं की निरकुश राजसत्ता का प्रबल समर्थन बना रहा। पर साथ ही उसके समझौते सिद्धान्त के कारण निरकुश राजसत्ता के विरोधियों के हाथ भी मजबूत हुए। डनिंग के शब्दों में, "अत. एक ओर जहाँ ग्रोशियस के ग्रन्थ ने निरकुश राजसत्ता के पक्ष को प्रोत्साहित किया, वहाँ दूसरी ओर इसने सीमित (वैध) शासन के पक्षपातियों को भी सहायता एव सान्त्वना प्रदान की।"[1]

ग्रोशियस की देन और उसका महत्त्व

(Contribution and Importance of Grotius)

ग्रोशियस की सबसे बड़ी देन अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रतिपादन करके राज्यों के एक दूसरे के प्रति अधिकारों, कर्त्तव्यों एव सम्बन्धों पर समुचित प्रभाव डालना है। इसीलिए वह 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक' कहा जाता है। पर इस क्षेत्र में उसकी मौलिक देन नहीं है। उसको श्रेय यही है कि उसने "प्रत्येक पीढ़ी के न्यायविदों एव धर्मशास्त्रियों, आचारशास्त्रियों एव दार्शनिकों, कवियों एवं इतिहासज्ञों के परिश्रम के परिणामों को सगतिबद्ध किया। उसका ग्रन्थ 'लॉ ऑफ वार एण्ड पीस' पुरानी पीढ़ियों की बुद्धि का सार था और वह उसे 'पुनर्जागरण' एव 'सुधार युग' के ससार की अभूतपूर्व स्थितियों पर लागू करता था। जो कुछ भी स्टोइक दार्शनिक, रोमन न्यायवेत्ता, स्कॉलिस्टिक धर्मशास्त्री तथा जेसुइट लोग प्राकृतिक कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में लिख चुके थे, उन सबका लघु रूप इसमें मिलता था और इन सबके सम्मिश्रण से वह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा परम्पराओं के लिए एक अत्यन्त मूल्यवान भवन के लिए एक ठोस आधार तैयार करता था।" वास्तव में ग्रोशियस का महत्त्व इस बात में है कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक नवीन व्यवस्था प्रदान की। वह इस क्षेत्र में स्पष्टता और निश्चितता लाया। डनिंग के अनुसार, "राजनीति विज्ञान को ग्रोशियस की महानतम निश्चित देन यह है कि उसने अधिकारों और कर्त्तव्यों की एक ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत की जिसे राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में लागू किया जा सकता था।" ग्रोशियस के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार हॉब्स के अग्रगामी सिद्ध हुए जिनके आधार पर उसने लेवियाथान (Leviathan) का ढाँचा निर्मित किया। ग्रोशियस ने सर्वप्रथम राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त की नींव डाली। यद्यपि उसके विचार अस्पष्ट एव अविकसित थे लेकिन उनसे भावी अनुबन्धवादियों के लिए सकेत अवश्य मिल गया।

---

1 *Dunning* : Political Theories from Luther to Montesque, p. 190.

13 सामाजिक अनुबन्ध का युग : हॉब्स

(Age of Social Contract : Hobbes)

अनुबन्धवादी विचारकों में हॉब्स, लॉक तथा रूसो के नाम एक साथ चलते हैं, भले ही उनमें व्यापक मतभेद रहा हो। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनुबन्धवादी सिद्धान्त की प्रधानता 17वीं और 18वीं शताब्दी में रही। राज्य के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर किसी न किसी प्रकार का कोई प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष समझौता होता है, यह बात टॉमस हॉब्स से पहले मानी जाती रही है। प्राचीन यूनान में इसका समर्थन सबसे पहले सोफिस्ट विचारकों ने किया था। उनका कहना था कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है और वह समझौते का परिणाम है। सोफिस्ट विचारकों के विपरीत महान् दार्शनिक प्लेटो एवं अरस्तू ने राज्य को एक स्वाभाविक संस्था स्वीकार किया। एपीक्यूरियन विचारकों ने यह मत प्रस्तुत किया कि मनुष्य के सामाजिक एवं वैधिक या कानूनी सम्बन्धों के मूल में परस्पर समर्थित स्वार्थ होते हैं और न्याय उसके पारस्परिक लाभ की वस्तु के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। रोमन विचारकों ने भी जनता को राज्य-सम्प्रभुता का स्रोत माना। मध्ययुग में भी इस सिद्धान्त को मान्यता मिलती रही। ग्यारहवीं शताब्दी में मनीगोल्ड ने यह विचार प्रस्तुत किया कि राजा राजपद पर प्रजा के समझौते से बैठा हुआ माना जाता है और यदि प्रजा न चाहे तो उसे अपने पद से हट जाना चाहिए। तेरहवीं शताब्दी में एक्वीनास ने भी इस मत का समर्थन किया और आगे चलकर 16वीं और 17वीं शताब्दी में इस विचार को समर्थन प्राप्त हुआ। इग्लैण्ड के रिचार्ड हूकर ने यही मत प्रतिपादित किया कि मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था अशान्त और संघर्षपूर्ण थी जिससे छुटकारा पाने के लिए उसने समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया। ग्रोशियस ने अपनी कृति 'On the Laws of War and Peace' में बताया कि राज्य का रूप एक समझौते का परिणाम है। जॉन मिल्टन ने राज्य शक्ति का मूल जन समर्थन को माना और जर्मनी में सेम्युअल प्यूफेण्डार्फ ने यह विचार प्रस्तुत किया कि अपनी अशान्त और कष्टमय प्राकृतिक अवस्था से छुटकारा पाने के लिए जनता ने समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया। स्पीनोजा ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया। इस प्रकार राज्य के सम्बन्ध में अनुबन्धवादी सिद्धान्त

शताब्दियों तक समर्थन पाता रहा, तथापि पूर्णव्यवस्थित ढंग से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हॉब्स, लॉक एवं रूसो ने ही किया और उनमे भी हॉब्स का नाम अग्रणीय है।

हॉब्स : जीवन चरित, कृतियाँ एवं पद्धति
(Hobbes : Life, Works & Method)

टॉमस हॉब्स पहला दार्शनिक था जिसने राजनीतिक चिन्तन मे निरंकुशतावाद एव धर्म-निरपेक्षतावाद के लिए एक वैज्ञानिक आधार बनाया तथा भौतिक विज्ञानो मे प्रयुक्त होने वाली पद्धति को दर्शन और राजनीतिक चिन्तन का आधार देकर राजनीति को विज्ञान का स्वरूप दिया। वैज्ञानिक चिन्तन-प्रणाली, ऐतिहासिक एवं भौतिकवादी समीक्षा, तर्क-सिद्ध व्याख्या, सुतीक्ष्ण शैली एवं विचारोत्तेजक लेख—ये सब हॉब्स ही की देन हैं।

हॉब्स का जन्म 5 अप्रेल, 1588 ई. को इंगलैण्ड के दक्षिणी तट पर स्थित माल्म्जबरी (Malmesbury) नामक नगर मे हुआ था। अपने बाल्यकाल से ही वह अध्ययनशील एव अनुशासित स्वभाव का, किन्तु डरपोक था। युद्ध और अशान्ति से भय खाने वाला हॉब्स गृह-युद्ध के समय इगलैण्ड से भाग कर फ्रांस चला गया जहाँ उसे चार्ल्स द्वितीय का शिक्षक बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हॉब्स ने राज्यशास्त्र, समाजशास्त्र, गणित, दर्शनशास्त्र आदि का गहन अध्ययन किया। फ्रांस मे उसने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेवियाथान' (Leviathan) लिखा जो सन् 1651 मे प्रकाशित हुआ। इसमे हॉब्स ने राजा के निरंकुश राजतन्त्र को न्यायोचित ठहराने के लिए सामाजिक समझौते सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, किन्तु उसके इस प्रयास से दरबारीगण एवं अनेक सामन्त उसके विरोधी हो गए, अतः उसे पुनः इगलैण्ड भाग जाना पड़ा। 1660 मे जब इगलैण्ड मे पुनः राजतन्त्र की स्थापना हुई तो हॉब्स के विचारो का राजदरबार मे स्वागत हुआ। लेकिन हॉब्स अपने जीवनकाल मे अधिक समय सम्मानित न रह सका। उसके ऊपर राजनीतिक कार्यवाही के सम्बन्ध मे प्रतिबन्ध लगा दिया गया फलतः अपने जीवन के शेष 20 वर्ष उसने इतिहास, कानून भौतिक-शास्त्र आदि के अध्ययन मे व्यतीत किए और तब 1679 मे 91 वर्ष की आयु मे यह पुरुषश्रेष्ठ चल बसा। हॉब्स का दैहिक शरीर आज विद्यमान नहीं है किन्तु अपनी कलम के प्रताप से राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे उसका नाम आज भी अमर है। हॉब्स के द्वारा रचे गए प्रमुख ग्रन्थ, जिन्होने उसके नाम को अमर बना दिया, निम्नलिखित हैं—

1. **डी सिवे (De Cive, 1642)**—इस ग्रन्थ मे हॉब्स ने सम्प्रभुता की परिभाषा और उसका स्पष्टीकरण किया है।

2. **डी कारपोरे (De Corpore, 1640)**—इस ग्रन्थ में हॉब्स ने प्रकृति का विवेचन प्रस्तुत किया है और यह भी स्पष्ट किया है कि जनता को सम्प्रभु शासक का विरोध क्यों नहीं करना चाहिए?

3. लेवियाथान (Leviathan, 1651)—अपनी इस प्रतिनिधि रचना में हॉब्स ने निरकुशतावादी राजतन्त्र का समर्थन किया है। इस ग्रन्थ को उसने 4 भागों मे बाँटा है। प्रथम भाग मे प्राकृतिक अवस्था का स्पष्टीकरण है, द्वितीय मे राज्य की उत्पत्ति और सम्प्रभुता को लिया गया है, तृतीय और चतुर्थ भाग मे धर्म एवं राज्य के मध्य सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है।

4. एलीमेंट्स ऑफ लॉ (Elements of Law, 1650)—इसमे हॉब्स ने विधि की व्याख्या तथा उसके प्रकारों का विवेचन किया है।

हॉब्स ने अपने विचारों को वैज्ञानिक भौतिकवाद के सहारे प्रक्रिया एवं प्रतिक्रिया के माध्यम से प्रस्तुत किया है। अपने विचारों को प्रस्तुत करने मे उसने वैज्ञानिक एवं दार्शनिक की सी तटस्थ दृष्टि रखी है। हॉब्स ने 'रिजाल्यूटिव कम्पोजिट प्रणाली' को अपनाया है जिसके अनुसार सर्वप्रथम किसी वस्तु के दोषों का पूर्ण विश्लेषण किया जाता है और तत्पश्चात् उन दोषों को दूर करके उस वस्तु को कार्य करने योग्य बनाया जाता है।

हॉब्स ने ब्रिटिश क्रान्ति के युग को अपनी आँखों से देखा था। गृह-युद्ध, क्रामवेल के गणतन्त्रीय शासन की असफलता, चार्ल्स द्वितीय के साथ 1660 ई. में राजतन्त्र की पुनर्स्थापना आदि की घटनाओं ने उसके मन मे यह बात बैठा दी कि प्रगतिशील और शान्त जीवन के लिए एक सुदृढ़ शासन का होना पहली शर्त है तथा राजतन्त्र ही सबसे स्थिर और सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली है। एक शक्तिशाली सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न निरकुश सत्ता ही अराजकता को समाप्त कर सकती है। हॉब्स पर तत्कालीन वैज्ञानिक खोजों और घटनाओं का भी भारी प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप उसने वैज्ञानिक भौतिकवादी पद्धति को अपने राजनीतिक चिन्तन का आधार बनाया।

हॉब्स का वैज्ञानिक भौतिकवाद
(Scientific Materialism of Hobbes)

हॉब्स का महत्त्व राजनीतिक दर्शन को एक वैज्ञानिक रूप प्रदान करने मे है। उसने अपने राज्य-दर्शन मे निरकुशतावाद तथा धर्म-निरपेक्षतावाद के लिए एक वैज्ञानिक आधार तैयार किया और भौतिक विज्ञान मे प्रयुक्त होने वाली पद्धति को दर्शन तथा राजनीतिक चिन्तन का आधार देकर राजनीति को विज्ञान का स्वरूप दिया।

वैज्ञानिक मानवतावाद का हॉब्स पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यह इसी बात से स्पष्ट है कि हॉब्स ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भौतिक नियमों की भाँति मानवीय व्यवहार के बारे में भी नियम बनाए जा सकते हैं। मनुष्य बुद्धिमान है जिसमें स्वहित के लिए कार्य करने को क्षमता है और स्वार्थी होते हुए भी आपस मे स्वय समझौता कर अपनी भलाई के लिए इन्होंने राज्य का निर्माण किया है। इसके अतिरिक्त हॉब्स ने बतलाया कि समझौता करने की मनुष्य मे क्षमता है और वह राजाज्ञा-पालन अपनी इच्छा से करता है। वास्तव मे वैज्ञानिक मानवतावाद ने

व्यक्ति को स्वतन्त्रता देकर राजनीतिक विचार का केन्द्र बनाया था और हॉब्स में यही व्यक्तिवाद काफी सीमा तक अभिव्यक्ति पाता है।

हॉब्स पर डेकार्ट का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा जो वैज्ञानिक पद्धति का प्रणेता माना जाता है। उसका मत था कि भौतिक विज्ञानों की भाँति सामाजिक विज्ञानों की भी एक निश्चित पद्धति होनी चाहिए। उसकी वैज्ञानिक पद्धति के आधारभूत सिद्धान्त थे—निर्णय लेने में शीघ्रता, निष्पक्षता, वस्तु को छोटे-छोटे भागों में बाँट कर व्याख्या से सम्पूर्ण हल निकालना, तथ्यों को देखते हुए आगे बढ़ना, सरलता से जटिलता की ओर बढ़ना, तथ्य एकत्रित कर फिर परीक्षण और तत्पश्चात् निष्कर्ष निकालना आदि। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में इस पद्धति को प्रयोग में लाने के प्रभाव-स्वरूप हॉब्स के दर्शन में शुष्क बौद्धिक दृष्टिकोण का परित्याग हुआ।

हॉब्स वस्तुतः वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर एक सम्पूर्ण दर्शन की रचना करना चाहता था। राजनीतिक दर्शन उसके इस सम्पूर्ण चिन्तन का एक अंग-मात्र था और उसके इस सम्पूर्ण दर्शन को ही भौतिकवाद (Materialism) कहा गया है। गैलीलियो की भाँति ही हॉब्स ने पुराने विषय में से एक नए विज्ञान को जन्म दिया और यह नया विज्ञान 'गति' का था। हॉब्स ने इसी गति सम्बन्धी सिद्धान्त को अपने दर्शन का केन्द्र-बिन्दु बनाया। उसका विचार था कि मूल में प्रत्येक घटना एक गति के रूप में होती है और प्राकृतिक प्रक्रियाएँ विभिन्न संश्लेषणों के मेल से गठित होती हैं। इन संश्लेषणों के मूल में भी कुछ गतियाँ हो रही हैं। यदि हम प्राकृतिक प्रक्रियाओं को समझना चाहते हैं, तो हमें इन मूल गतियों को समझना चाहिए। प्राकृतिक व्यापार को समझने का एक और सन्तोषजनक उपाय है। प्रत्येक घटना के मूल में पिण्डों की सरलतम गति रहती है। बाद में यह गति अधिकाधिक जटिल होती जाती है और प्रकृति का प्रत्येक व्यापार किसी न किसी रूप में इसी गति का द्योतक है। हॉब्स के इन विचारों का विवेचन करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि "उसके दर्शन के तीन भाग माने जाते हैं—पहला भाग पिण्ड से सम्बन्ध रखता है और उसमें ज्योमिति तथा यान्त्रिकी (अथवा भौतिकी) का समावेश है, दूसरा भाग मानव-प्राणियों, शरीर-शास्त्र अथवा मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है तथा तीसरा भाग सबसे कठिन है। वह समाज अथवा राज्य के नाम से प्रख्यात कृत्रिम पिण्ड से सम्बन्ध रखता है।......हॉब्स के दर्शन में सारी वस्तुओं का मूल आधार ज्योमिति और यान्त्रिकी है।"[1]

हॉब्स के दर्शन का उद्देश्य यह था कि मनोविज्ञान तथा राजनीति को विशुद्ध प्राकृतिक विज्ञानों के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाए। उसने मनोविज्ञान और राजनीति में इसी पद्धति का प्रयोग किया। 17वीं शताब्दी के सम्पूर्ण विज्ञान पर ज्योमिति का जादू छाया हुआ था। हॉब्स भी उसका अपवाद नहीं था। उसके विचार में श्रेष्ठ पद्धति वह थी जिसमें वह अपने चिन्तन को दूसरे विषयों में भी ले

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 416–417

जा सके। ज्योमिति के क्षेत्र में यह बात विशेष रूप से सत्य थी। ज्योमिति, सर्वप्रथम सरल वस्तुओं को लेती है और जब आगे चल कर वह जटिल समस्याओं से उलझती है, तब उन्हीं चीजों का प्रयोग करती है जिन्हें वह पहले प्रमाणित कर चुकी होती है। ज्योमिति में किसी वस्तु को स्वयं-स्वीकृत नहीं माना जाता। हॉब्स ने भी अपने दर्शन का इसी प्रकार निर्माण किया।

भौतिक शास्त्र के आधार पर हॉब्स ने अपने मनोविज्ञान की रचना की और मनोविज्ञान के आधार पर राजनीति शास्त्र की स्थापना की। समुदायवादी मनोविज्ञान (Associationist Psychology) के एक प्रणेता के रूप में विलियम जेम्स ने हॉब्स का नामोल्लेख किया है। हॉब्स के अनुसार भय-ग्रस्त स्वार्थ-साधक मानव निरन्तर शक्ति की प्राप्ति और प्राप्त शक्ति की वृद्धि में लगा रहता है। जगत में निरन्तर गति-प्रवाह है और मानव कहीं भी स्थिरता तथा शान्ति का अनुभव नहीं करता। प्रकृति में सर्वत्र ही गति व्याप्त है और मानवीय व्यवहार गति के ही प्रकार हैं। शासन-कला मानव के सामाजिक व्यवहार पर निर्भर है और सामाजिक व्यवहार में मानव एक-दूसरे से व्यवहार करते हैं। अतः राजनीति-विज्ञान मनोविज्ञान पर आधारित है। "हॉब्स का लक्ष्य यह प्रकट करना नहीं था कि शासन वास्तव में क्या होता है? उसका लक्ष्य तो यह था कि शासन को कैसा होना चाहिए ताकि वह प्रणालियों पर सफलतापूर्वक नियन्त्रण कर सके जिनकी अभिप्रेरणा मानव-मात्र की भांति ही होती है।"

मनोविज्ञान भी भौतिक शास्त्र के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है या नहीं, यह एक भिन्न प्रश्न है? लेकिन हॉब्स ने गति के नियमों से संवेदन भावनाओं और मानवीय आचरणों को पहचानने की कोशिश अवश्य की। उसने सामान्य रूप से मानवीय व्यवहार के लिए एक सिद्धान्त निकाला और यह बतलाने का प्रयास किया कि विभिन्न परिस्थितियों में यह सिद्धान्त किस प्रकार क्रियाशील होता है? इस पद्धति द्वारा ही वह मनोविज्ञान से राजनीति पर पहुँचा। हॉब्स ने बतलाया कि मानव-प्रकृति एक मूल नियम से शासित होती है। उसने यह प्रदर्शित किया कि राजनीति में यह नियम किस भांति कार्य करता है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद का शाब्दिक अर्थ दो पद्धतियों का सम्मिश्रण है। वैज्ञानिक शब्द का अर्थ है व्याख्या, कार्य-कारण सम्बन्ध (Cause and effect relationship), व्यवस्था और निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति—हॉब्स में हम यह सब पाते हैं। वह इन्हीं आधारों पर अपने राजदर्शन का निर्माण करता है। उदाहरणार्थ वह सर्वप्रथम मानव-स्वभाव और उसके चरित्र का अध्ययन करता है, उसकी भावना, इच्छा एवं विचारों का विश्लेषण करता है और तब इस परिणाम पर आता है कि ऐसे प्राणी के साथ व्यवहार करने और उसके कार्यों को नियन्त्रित करने के लिए राज्य को कैसा होना चाहिए? वह समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति बतलाता है पर इसके पूर्व एक प्राकृतिक अवस्था का चित्रण भी करता है जिसके बाद नागरिक समाज का निर्माण आवश्यक हुआ था। इस प्रकार हॉब्स, व्यवस्थित और क्रमगत आधार पर

सर्वप्रथम मानव-स्वभाव का विश्लेषण, फिर प्राकृतिक कानून, तत्पश्चात् प्राकृतिक अवस्था और अन्त मे समझौते द्वारा राज्य का निर्माण करता है। कारण एव प्रभाव उसके सम्पूर्ण दर्शन मे देखे जा सकते हैं। वह राज्य से प्रारम्भ करके नियामक तत्त्वो को पृथक् कर उसके स्वरूप की व्याख्या कर सकता था। लेकिन ऐसा न करके वह राज्य के निर्णायक अगो अर्थात् व्यक्तिगत मानव-प्राणियो से अपना दर्शन प्रारम्भ करके बतलाता है कि किस प्रकार मानव-स्वभाव मनुष्य के लिए राज्य की सृष्टि आवश्यक बना देता है और उसका स्वरूप भी क्या होना चाहिए? वह व्यक्ति को महत्त्व देता है। उसके मनोविज्ञान के कारण ही समझौते और शक्तिशाली राजतन्त्र की स्थापना होती है। हॉब्स के अनुसार "ससार मे पदार्थ के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है। उसके लिए आध्यात्मिक सत्ता एक काल्पनिक वस्तुमात्र है। वह यह नहीं कहता कि अनुभूति नही होती या आध्यात्मिक सत्य नही होते। लेकिन उसका स्पष्ट मत है कि उनके बारे मे कुछ नही कहा जा सकता।"

अतः हॉब्स की सम्पूर्ण प्रणाली ससार के तीनो भाग—प्रकृति, पदार्थ और मनुष्य तथा राज्य की व्याख्या भौतिक सिद्धान्त के आधार पर हुई है। वह भौतिक वातावरण को बहुत महत्त्व देता है। उसके अनुसार यही मानव मनोविज्ञान का आधार और प्रारम्भ बिन्दु है। वैज्ञानिक भौतिकवाद से वह सिद्ध करता है कि वातावरण मानव-मनोवृत्तियो को निर्धारित करने मे महत्वपूर्ण है। यहाँ वह मॉन्टेस्क्यू का पथ प्रदर्शक है। बाह्य वातावरण के प्रभाव से ही मानव की आन्तरिक शारीरिक व्यवस्था प्रभावित होती है और फिर उसमे भावना, इच्छा, प्रेम, घृणा आदि का जन्म होता है।

भौतिकवाद हॉब्स द्वारा दिए गए प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त का मूल्य है। वह प्राकृतिक कानून का यन्त्रवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो प्राकृतिक कानून के दैविक या अति भौतिक रूप से पृथक् है और मनुष्य की व्याख्या और समझ से परे की वस्तु नही है। प्राकृतिक कानून विधि और परिणाम की सगठित व्यवस्था का ही दूसरा नाम है। इस ससार की गति की प्रक्रिया जिन कारणो और परिणामो से मिलकर बनी है, वही प्राकृतिक कानून है।

मानव स्वभाव का विश्लेषण भी हॉब्स वैज्ञानिक भौतिकवाद के आधार पर ही करता है। मनुष्य तत्वत शरीर है, एक ऐसा यन्त्र है जो पौधो और पशुओं के समान गतिमान अणुओं का सम्मिश्रण है जिसे मृत्यु-पर्यन्त क्रियाशील रहना है। मनुष्य जिस वस्तु की इच्छा करता है उसे अच्छा और नापसन्द करता है उसे बुरा कहता है। हॉब्स मानव-भावनाओ का विवेचन करते हुए अन्त मे उन्हे दो भौतिक तथा प्रारम्भिक भावनाओ-इच्छा एव अनिच्छा तक सीमित कर देता है। इच्छा वह भावना है जो किसी बाह्य वस्तु द्वारा चलित-गति शरीर मे चल रही प्राण प्रक्रियाओ को तीव्र करती है। अनिच्छा वह भावना है जो इन प्रक्रियाओ को अवरुद्ध करती है। इच्छा ऐसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास है जबकि अनिच्छा उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न। प्रिय वस्तु को पाने मे हर्ष होता है और उसके खो जाने पर दुख होता

है। हॉब्स वैभव, ईर्ष्या, दया, नम्रता आदि भावनाओं का आधार भी इन्हीं दो मूल प्रवृत्तियों—इच्छा और अनिच्छा को मानता है। वह समस्त भावनाओं का केन्द्र मनुष्य का निजत्व बतलाता है। ये मनुष्य के अहकार और स्वार्थपरता के विभिन्न रूप हैं। हॉब्स की धारणा थी कि मनुष्य पूर्ण रूप से स्वार्थी है। समस्त मानव-व्यवहार को अहम् पर आधारित करने के प्रयास ने ही हॉब्स की प्रणाली को एक निश्चित वैज्ञानिक रूप दिया है जो उसे मैकियावली से श्रेष्ठतर बनाता है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद की दृष्टि से हॉब्स का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे स्थान विवादास्पद है। लेवियाथान (Leviathan) के प्रकाशित होने पर हेनरी मोर तथा कडवर्थ जैसे दार्शनिकों, क्लैरलैण्ड जैसे धर्मशास्त्रियों तथा फिल्मर जैसे राजनीतिक दार्शनिकों ने उसके नास्तिकवाद तथा भौतिकवाद के सिद्धान्तों की तीव्र आलोचना की थी।[1]

यद्यपि हॉब्स ने अपने दर्शन के लिए वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया परन्तु इस दृष्टि से उसका लेवियाथन एक प्रभावहीन ग्रन्थ रहा। सत्रहवीं शताब्दी में वैज्ञानिक पद्धति को ज्योमिति की पद्धति या निगमन पद्धति (Deductive Method) के अनुरूप समझा जाता था। हॉब्स के बाद यह सिद्ध हो गया कि ज्योमिति के नमूने पर राजनीतिक विज्ञान या मानव-विज्ञान के निर्माण का प्रयास भ्रम है। राजनीतिक कल्प-विकल्प के क्षेत्र मे इस पद्धति का अनुकरण स्पिनोजा के अतिरिक्त और किसी विचारक ने नही किया था। परन्तु हॉब्स की पद्धति को हमे इस कसौटी पर नही कसना चाहिए कि उसके परिणाम कहाँ तक सही अथवा गलत निकले या वह मानव तथा राजनीति विज्ञान के बीच सम्पर्क स्थापन मे सफल रहा अथवा विफल? उसकी विशेषता तो इस बात मे है कि उसका चिन्तन क्रमबद्ध तथा समन्वित है, उसने तर्कबद्ध युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं और अपने निष्कर्ष पर वह दृढता से कायम है। यदि हम उसके प्रारम्भ बिन्दु को स्वीकार कर लें तो उसके अन्तिम परिणाम को ठुकराना असम्भव होगा।

सेबाइन का कहना है कि "यह पद्धति मूलत निगमनात्मक (Deductive) थी।" उसमें अनुभव-प्रधानता का अभाव है और वास्तविकता का पुट नही आ पाया है। "हॉब्स का राजनीतिक दर्शन यथार्थपरक निरीक्षण पर आधारित नहीं है। मनुष्य के नागरिक जीवन मे प्रेरक तत्त्व कौन-कौन मे रहते हैं? इससे हॉब्स पूरी तरह परिचित नहीं था। उसका मनोविज्ञान भी निरीक्षण पर आधारित नही है। वह इस बात का विवरण नही कहा जा सकता कि वास्तव मे क्या है, प्रत्युत वह इस बात का विवरण था कि सामान्य सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को कैसा होना चाहिए।" आज अनुभववाद (Pragmatism) वैज्ञानिक पद्धति का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिसका तात्पर्य है—जीवन के निरीक्षण एव अनुभव के आधार पर विश्लेषणात्मक ढंग से निष्कर्ष निकालना। परन्तु हॉब्स अपने मस्तिष्क द्वारा पूर्व निर्धारित उपकल्पनाओं (Hypothesis) से प्रारम्भ कर निष्कर्ष निकालता है, जीवन की व्यावहारिकताओं से नहीं। वे स्वयं एक सिद्ध सत्य से प्रारम्भ होती हैं और उनसे

परिणाम निकाले जाते हैं। परन्तु इस आलोचना के बावजूद भी यह स्मरणीय है कि सत्रहवी शताब्दी की वैज्ञानिक पद्धति मे, जो , उस समय विकसित हो रही थी, अनुभववाद पर उतना बल नहीं दिया जाता था जितना आज दिया जाता है। इसके विपरीत वैज्ञानिक पद्धति गणितीय और भौतिक विज्ञानो की भाँति अधिक थी। अत. यहाँ हॉब्स की यह युक्ति ठीक होगी कि वह वैज्ञानिक पद्धति की खोज मे अपने समय की सीमाओ से आगे नहीं बढ़ सका। इस सम्बन्ध मे वह सत्रहवी शताब्दी का शिशु था।

सेबाइन ने एक अन्य आलोचना करते हुए लिखा है कि "हॉब्स स्वय अपनी पद्धति को व्यवहार मे लाने मे असफल रहा है। उसने अपनी पद्धति कुछ ऐसी मान्यताओ से प्रारम्भ की जो तर्क की दृष्टि से तो सही थी, किन्तु व्यावहारिकता की कसौटी पर खरी नहीं उतरती थी। वह गणितीय पद्धति मे इतना अधिक विश्वास करता है कि गणितीय ज्ञान और ज्योमिति पद्धति तथा अनुभव और व्यावहारिक ज्ञान के सम्बन्ध मे भ्रम मे पड़ जाता है तथा मान बैठता है कि जिन निष्कर्षों पर वह अपने गणितीय ज्ञान और ज्योमिति पद्धति से पहुँचा है वे व्यावहारिक जीवन मे भी सही होगे। दूसरे, हॉब्स मानव जगत और भौतिक जगत के अन्तर को भी भुला बैठता है और दोनो मे अपनी एक ही पद्धति से व्यवहार करने का असफल प्रयास करता है। उसकी धारणा है कि जिस प्रकार ज्योमिति की सहायता से हम जटिल वस्तु का अध्ययन कर सकते हैं, वैसा मानव के जटिल व्यवहार के सम्बन्ध मे भी किया जा सकता है। हॉब्स ज्योमिति की सहायता से केवल मानव-मनोविज्ञान का अध्ययन ही नही करता वरन् उसका विचार है कि भौतिक विज्ञानो के नियम (Law of Physics) की भाँति 'मानवीय व्यवहार के नियम' (Law of Human Behaviour) भी बनाए जा सकते हैं जबकि वस्तुत मानव-व्यवहार के बारे मे ऐसा करना निश्चय ही कठिन है।"

सेबाइन ने हॉब्स के दर्शन पर केवल उपयोगितावादी होने का आरोप लगाया है। हॉब्स के लिए विज्ञान का यही अभिप्राय है कि सरल वस्तुओ के आधार पर जटिल वस्तुओ का निर्माण किया जाए। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण ज्योमिति है। परिणामत. हॉब्स ने शासन को पूरी तरह से लौकिक और उपयोगितावादी माना है। शासन का महत्त्व इस बात पर निर्भर है कि वह क्या कार्य करता है? शासन का विकल्प अराजकता है, अतः उपयोगितावादी चुनाव मे भावना का कोई स्थान नही है। शासन के लाभ ठोस हैं जो व्यक्तियो को ठोस तरीके से ही प्राप्त होने चाहिएँ—शान्ति, सुविधा, सुरक्षा और सम्पत्ति के रूप मे। यही एकमात्र आधार है जिस पर शासन का औचित्य निर्भर है। सार्वजनिक इच्छा की भाँति ही सामान्य-हित कल्पना मात्र है। केवल व्यक्ति ही अपने जीवन-साधनो के लिए रहता और सरक्षण का उपयोग करना चाहता है। राज्य का अस्तित्व मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति, उसकी सुरक्षा की कल्पना के लिए है। उसका एकमात्र औचित्य उसकी उपयोगिता है। उसके मौलिक अधिकारों का स्रोत शासित जनता की अनुमति है।

जनता की सामान्य इच्छा (General Will) जैसी किसी चीज का अस्तित्व नहीं है। अस्तित्व केवल व्यक्तियों का है। उनकी रक्षा करना उनका अपना कर्त्तव्य है। उनके निजी हितों का योग ही सामाजिक हित है। हॉब्स के सिद्धान्त के इसी पहलू को बैन्थम तथा उसके अनुयायियों ने विकसित किया। राज्य को व्यक्तियों के परस्पर विरोधी हितों का मध्यस्थ बनाकर वह उपयोगितावादियों का पूर्व-सूचक बन गया।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भी यह स्वीकार करना होगा कि हॉब्स ने सामाजिक विज्ञानों में वैज्ञानिक पद्धति के विकास में महान् योग दिया है। इस दिशा में निर्देशन देने वाला वह सर्वप्रथम विचारक था। उसकी मान्यता थी कि राजनीतिक पद्धति में भौतिक विज्ञानों की पद्धतियों से बहुत कुछ लिया जा सकता है। उसने राजनीति के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रारम्भ किया। दूसरे शब्दों में उसने अपने राजनीतिक परिणामों का आधार उस पद्धति पर रखा जिसे उस युग में पूर्ण वैज्ञानिक समझा जाने लगा था। इस पद्धति का सार यह है कि समस्त दार्शनिक खोज ज्योमिति की पद्धति पर होनी चाहिए और भौतिक जगत को एक विशुद्ध यांत्रिक प्रणाली के समान समझना चाहिए, जिससे प्रत्येक घटना की व्याख्या उसकी पूर्ववर्ती घटना अथवा घटनाओं के प्रकाश में की जा सके। वह राजनीति विज्ञान का मनन मनोविज्ञान की भित्ति पर करना चाहता है। उसकी पद्धति में अधिकारपूर्ण व्यक्तियों के उद्धरण देने के लिए या इतिहास की शिक्षाओं के लिए या धर्म ग्रन्थों के लिए कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि हॉब्स आधुनिक माना जाता है। उसने भूत से अपना पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है।

आज 20वीं शताब्दी में हम हॉब्स की पद्धति में आसानी से दोष निकालते हुए कह सकते हैं कि गत सौ वर्षों के सामाजिक विज्ञानों के विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में भौतिक विज्ञानों की पद्धति का प्रयोग एक सीमित पैमाने पर ही किया जा सकता है और प्राकृतिक विज्ञानों के नमूने पर एक मानव-विज्ञान की रचना करने का प्रयास हॉब्स का एक कोरा भ्रम था। पर यदि हॉब्स के प्रति हम न्याय से काम लें तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 17वीं शताब्दी में समस्त विज्ञान पर ज्योमिति का जादू छाया हुआ था। इस पद्धति को अपनाकर ही ज्योमिति सफल हुई थी और उसे सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में अपना लेना उस समय के डेकार्ट, स्पिनोजा आदि महान् विचारकों की आकांक्षा थी। यहाँ तक कि लॉक भी, जिसे सामान्यतः अनुभव प्रधान प्रणाली का जनक माना जाता है, राजनीति को ज्योमिति की भाँति एक प्रदर्शनात्मक विज्ञान बनाना चाहता था। फिर हॉब्स ने यदि ऐसा किया तो हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

हॉब्स ने अपने परवर्ती अनेक राजनीतिक चिन्तकों और राजनीतिक विचारधाराओं को प्रभावित किया। उसके भौतिकवाद की छाप मॉन्टेस्क्यू और कार्ल मार्क्स पर देखी जा सकती है। इसमें उपयोगितावाद का भी प्रारम्भ मिलता है और बावजूद इस सत्य के कि समझौता नागरिक का स्वतन्त्रता-पत्र न होकर दासता

का बन्धन है। हॉब्स को उदारवाद का दार्शनिक और बेन्थम तथा मिल का पूर्वज समझा जाता है। वह एक ऐसी राजनीति तथा आचार-शास्त्र का प्रतिपादन करता है जिसका आधार मनुष्य है और जहाँ से व्यक्तिवादी विचार-पद्धति प्रजाजन को अपने 'शासकों' को तोलने के लिए आधार प्रस्तुत करती है। हॉब्स के दर्शन को उसके युग का सबसे क्रान्तिकारी सिद्धान्त बनाने वाला तत्त्व उसका व्यक्तिवाद है। उसने 'लैसेज फेयर' (Laissez faire) की उस भावना को पकड़ लिया था जिसने सामाजिक चिन्तन को दो शताब्दियों तक अनुप्राणित रखा।

हॉब्स के मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचार
(Hobbes' Conception of Human Nature)

हॉब्स राज्य का अध्ययन मानव-स्वभाव के विश्लेषण से करता है। उसने मानव-स्वभाव की व्याख्या की है और अपने सभी सिद्धान्त उस पर आधारित किए हैं। अरस्तू के विपरीत वह मानता है कि "मनुष्य असामाजिक प्राणी है। मानव को वस्तुएँ या तो आकर्षित करती हैं या विकर्षित। आकर्षण को इच्छा (Appetite of Desire) कहा जाता है, विकर्षण को घृणा (Aversion)।" मनुष्य की प्रत्येक इच्छा में उसका स्वार्थ निहित है। "जिन वस्तुओं से वह आकर्षित होता है, उन्हें अच्छी कहता है, जिन्हें वह नापसन्द करता है, उन्हें बुरी कहता है। अच्छाई या बुराई वस्तुओं में नहीं बल्कि मानव-भावना में है।"[1] मनुष्य के समस्त क्रिया-कलाप स्वार्थ-भावना से प्रेरित तथा संचालित हैं। सामान्यतः सामाजिक तथा लौकिक व्यवहार में मनुष्य सदैव यह प्रयत्न करता है कि उसकी सम्पत्ति आदि सुरक्षित रहे, उसका जीवन निर्बन्ध तथा निर्द्वन्द्व रहे और उसकी एषणाएँ-वासनाएँ एवं क्षुधा पूरी होती रहें। युगों से भूखा और अतृप्त मानव अपनी अभिलाषाओं की तुष्टि में ही सतत् संलग्न रहता है। अवसर पाते ही वह सर्वग्राही पिशाच की तरह टूट पड़ता है और स्वयं को जीवित रखने तथा स्वयं की इच्छा-पूर्ति के लिए दूसरे को ध्वस्त करने से नहीं हिचकता। हॉब्स के ही शब्दों में "प्रकृति ने सभी मनुष्यों को शारीरिक शक्तियों, मानसिक बुद्धि आदि में समान बनाया है। अतः जिस लाभ-विशेष की माँग एक व्यक्ति करता है, उसकी माँग दूसरा भी करता है। शारीरिक शक्ति में एक मनुष्य दूसरे से शक्तिशाली हो सकता है, परन्तु दूसरे लोग गुप्त छल से या गुटबन्दी करके उसे मार सकते हैं।"[2] एक ही वस्तु को प्राप्त करने के दो अभिलाषी व्यक्ति परस्पर शत्रु बन कर एक-दूसरे पर विश्वास नहीं करते। हॉब्स का कहना है कि लक्ष्य को प्राप्त करने की योग्यता सभी में लगभग बराबर होती है। शारीरिक बल की कमी की पूर्ति बौद्धिक योग्यता और बौद्धिक योग्यता की कमी की पूर्ति शारीरिक बल द्वारा हो जाती है। सामर्थ्य की इसी समता के कारण लक्ष्य-प्राप्ति की आशा की समता का उदय होता है और बराबरी में मनुष्यों में जब प्रतिद्वन्द्विता होती है तो एक-दूसरे को विनष्ट किए बिना ही वे अपनी कीर्ति की स्वीकृति करा देना चाहते

1-2 *Hobbes* : Leviathan, Part I, Chapter 6 (38ff).

हैं। फलतः निरन्तर संघर्ष चलता है। दोनों प्रतिद्वन्द्वी आहत होकर मौत के भयानक साये में छटपटाते हैं। इस निरन्तर संघर्ष के तीन प्रमुख कारण हैं। हॉब्स के ही शब्दों में—"हम मानव-स्वभाव में झगड़े के तीन प्रमुख कारण देखते हैं। पहला प्रतिस्पर्द्धा, दूसरा पारस्परिक अविश्वास और तीसरा वैभव। प्रतिस्पर्द्धा के कारण वे लाभ के लिए, विश्वास के अभाव के कारण रक्षा के लिए तथा वैभव-प्राप्ति के कारण प्रसिद्धि के लिए परस्पर संघर्ष करते हैं। उनको वशवर्ती बनाए रखने वाली किसी शक्ति के अभाव में मनुष्य स्वभावतः निरन्तर संघर्ष में उलझे रहते हैं। मनुष्य पूर्णतया अहं-केन्द्रित है और जीवन की यह यथार्थ वास्तविकता (Objective actuality) सभी संवेगों-आवेगों को जन्म देती है।"

हॉब्स मनुष्य की विविध भावनाओं की विवेचना करता हुआ अन्त में उन्हें दो भौतिक एवं प्रारम्भिक भावनाओं—इच्छा तथा अनिच्छा तक सीमित कर देता है। वह वैभव, ईर्ष्या, द्वेष, दया, नम्रता आदि सभी भावनाओं का आधार इन्हीं दो मूल प्रवृत्तियों को मानता है। "इस निश्रेयण (Derivation) की आधारभूत विशेषता यह है कि इसमें समस्त भावनाओं का केन्द्र स्वयं मनुष्य का निजत्व है। ये मनुष्य के अहंकार और स्वार्थपरता के ही विभिन्न रूप हैं। हॉब्स की धारणा का मनुष्य पूर्णतः स्वार्थी है। समस्त मानव-व्यवहार को अहंभाव पर आधारित करने के प्रयास ने ही हॉब्स की प्रणाली को एक निश्चित वैज्ञानिक रूप दिया है।" हॉब्स की इस निश्रेयण पद्धति (Derivation method) की दो मुख्य विशेषताएँ हैं—प्रथम तो यह है कि निश्रेयण पद्धति निगमनात्मक (Deductive) है और द्वितीय यह है कि हॉब्स का सिद्धान्त सुखवाद (Hedonism) से एकदम भिन्न है। वह सुख देने वाली वस्तु या बात को शुभ और पीड़ादायक वस्तु या बात को अशुभ नहीं बतलाता और न ही यह कहता है कि हम केवल सुख की कामना करते हैं और दुःख से त्राण चाहते हैं। उसकी दृष्टि में आधारभूत बात तो यह है कि मनुष्य सुखान्वेषी न होकर अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने वाली वस्तुओं की इच्छा करते हैं। इस तरह हॉब्स "सुख-दुःख की परिभाषा में न पड़कर उत्प्रेरणा सहोद्गार (Stimulus response) की परिभाषा में विचार करता है। प्रत्येक विस्फुरण जीव (Organism) पर अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभाव डालता है। यदि विस्फुरण अनुकूल है तो जीव की इच्छा होती है कि वह जारी रहे, यदि विस्फुरण प्रतिकूल है तो वह उससे मुक्ति चाहता है।" सेबाइन के शब्दों में—"समस्त व्यवहार के पीछे एक नियम है और वह यह कि जीवित शरीर स्वभावतः ही अपनी प्राण-शक्ति को बनाए रखना अथवा उसे सम्बल पहुँचाना चाहता है। सारांश यह है कि समस्त व्यवहार के पीछे शरीर शास्त्र का एक सिद्धान्त रहता है और वह है आत्म-संरक्षण; जिसका अर्थ है व्यक्तिगत जैविक अस्तित्व का बने रहना। शुभ वह है जो इस उद्देश्य की पूर्ति करे और अशुभ वह है जो इसके विपरीत हो अथवा जिसका प्रभाव इसके विरुद्ध हो।" इस आत्म-संरक्षण के लिए ही व्यक्ति शाश्वत संघर्ष में व्यस्त रहता है और उसका जीवन 'अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने की एक निरन्तर और निर्विश्राम इच्छा बन

जाता है। अतः स्पष्ट है कि मानव-स्वभाव की मुख्य विशेषता शक्ति की प्राप्ति और प्राप्त शक्ति का निरन्तर सवर्द्धन है।

हॉब्स के विचारो से हमारे समक्ष मानव-स्वभाव के आसुरी लक्षणों का पहलू स्पष्ट हो जाता है। लेकिन हॉब्स ने मानव-स्वभाव के दैवी लक्षणों वाले दूसरे पहलू की कल्पना भी की है। उसने कहा है—"मनुष्य मे कुछ ऐसी इच्छाएँ भी होती हैं जो उसे युद्ध के लिए नही अपितु शान्ति एवं मैत्री के लिए प्रेरित करती हैं। आराम की इच्छा, ऐन्द्रिक सुख की कामना मृत्यु का भय, परिश्रम से अर्जित वस्तुओ के भोग की लालसा मनुष्य को एक शक्ति की आज्ञा मानने के लिए बाध्य कर देती है।"[1] इसका कारण यही है कि उसी (सामान्य शक्ति) के नियन्त्रण मे रह कर ही मनुष्य की स्वार्थपूर्ण इच्छाओ की पूर्ति हो सकती है।

यद्यपि हॉब्स ने मानव-स्वभाव के दैवी लक्षणो का आभास दिया है किन्तु प्रधानता उसने पूर्णतः आसुरी लक्षणो को ही प्रदान की है। मनुष्य सामान्यतः आसुरी लक्षणो के प्रभाव मे ही रहता है। यदि उसमें दैवी लक्षणो का अंश है तो वह भी केवल इसीलिए कि उनसे उनकी स्वार्थ-सिद्धि मे सहायता मिलती है। अतः मनुष्य मे आधारभूत मूल प्रवृत्ति स्वार्थ की ही है और स्वार्थ-पूर्ति के लिए ही बौद्धिक, मानसिक एव शारीरिक सभी व्यापार केन्द्रित हैं। सहयोग का कोई स्थान जीवन मे नही है, यदि है तो वह स्वार्थ-सिद्धि के लिए है। स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही मनुष्य मे शक्ति-सचय की ऐसी प्रबल इच्छा वर्तमान रही है जो उसकी शान्तिप्रियता की कब्र खोदती रहती है और जिसका अवसान उसकी (मनुष्य की) मृत्यु के साथ ही होता है। संघर्ष आधिपत्य-स्थापना की चेष्टा, भोग-लालसा, धन, ज्ञान, यश कामना, आपेक्षिक शौर्य आदि सभी इस मूल प्रवृत्ति के परिणाम हैं। मानव-स्वभाव में यदि सद्गुणो का कभी उदय होता भी है तो वह किसी स्वार्थ की पूर्ति की लालसा से ही होता है; अन्यथा नही। मुख्यतः मनुष्य स्वार्थी है और उसकी समस्त भावनाओ का केन्द्र उसका अहम् है। हॉब्स के मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचारो पर टिप्पणी करते हुए जोन्स ने लिखा है कि "हॉब्स जो बातें कहता है उनमे नही पर जो बातें अस्वीकार करता है उनमे गलत है। मानव-दोषो की अतिरंजना करके और उन पर अतिशय बल देकर उसने मानव-स्वभाव का मानव-द्वेषी चित्र अंकित किया है।"[2]

प्राकृतिक अवस्था के विषय में हॉब्स के विचार

(Hobbes on the State of Nature)

राज्य-सस्था के अस्तित्व में हॉब्स ने एक अराजकता अथवा प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) की कल्पना भी की है। उसने मानव प्रकृति को पूर्व सामाजिक दशा कहा है जिसमे मानव-जीवन नारकीय, असह्य तथा दुर्वह भार

1. *Hobbes* : Leviathan, Part I, Chapter II (867-87)
2. *Jones W.T.* : Masters of Political Thought, Vol. I, p. 147.

स्वरूप था। प्राकृतिक दशा का जीवन हिंसा प्रधान था। आसुरी गुणों की प्रधानता के कारण मानव-जीवन भयकर और अव्यवस्थित था। हॉब्स के शब्दों मे, "ऐसे समय मे जब मनुष्य एक ऐसी शक्ति के बिना रहते हैं जो उन्हे भयभीत बनाए रख सके, वे उस अवस्था मे रहते है जिसे युद्ध कहा जाता है और वह ऐसा युद्ध होता है जो प्रत्येक की ओर से प्रत्येक के विरुद्ध होता है। ऐसी दशा मे उद्योग, संस्कृति, नौ-चालन, भवन-निर्माण, यातायात के साधनों, ज्ञान, समाज आदि के लिए कोई स्थान नही होता..........तथा मनुष्य का जीवन एकाकी, दीन, अपवित्र, पाशविक एव क्षणिक होता है।" इस प्रकार राज्य की अनुपस्थिति मे जो अराजकता की अवस्था थी उसमें 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' अथवा 'चाहे जो छीनो या चाहे जिसे मार डालो' का सिद्धान्त प्रभावशील था। कोई किसी का अभिभावक, मित्र और रक्षक नही था। सब एक दूसरे के भक्षक थे। एक जीव दूसरे को साफ कर जाना चाहता था। सभी एक दूसरे के विरोध मे युद्धरत थे। जीवन अवसादपूर्ण, गतिरोधमय एव निस्सार था। हर क्षण कच्चे धागे से लटकती तलवार सिर पर नाचती रहती थी, उचित-अनुचित और न्याय-अन्याय का भेद नही था। शक्ति और धोखा मनुष्य के प्रधान गुण थे। यह दशा भारतीय ग्रन्थो मे वर्णित मत्स्य-न्याय जैसी थी जिसमे छोटी मछलियाँ बड़ी मछलियो के पेट मे समा जाती हैं और फिर बड़ी मछलियो का पेट फोड़कर नष्ट हो जाती हैं। मनुष्य भेड़ियों की तरह खूंखार तथा हिंसक था (Homo homnilupus man is wolf to man)। सामान्य विधि अथवा राजकीय नियम-कानून के अभाव मे बल प्रयोग, धोखा (Force and Fraud), प्रतिज्ञा-भग, सब उचित माने जाते थे। हॉब्स के विवरण का अभिप्राय यह है कि राज्य-विहीन स्थिति मे युद्ध एव हिंसात्मक मृत्यु का भय सदैव व्याप्त रहता था। मनुष्य के पास अपनी सुरक्षा के साधन के रूप मे केवल अपनी शक्ति और चतुरता होती थी। अत उसे दूसरे के आक्रमण का भय हमेशा सताता रहता था।

हॉब्स के वर्णन से प्राकृतिक दशा की तीन मुख्य विशेषताएँ स्पष्ट होती है। प्रथम विशेषता यह है कि इनमे नैतिकता का सर्वथा अभाव है, सत्-असत् का कोई विवेक नही है। सभी व्यक्ति अपनी मानसिक भावनाओ से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। उसके लिए हिंसा और हत्या उचित साधन है। द्वितीय विशेषता यह है कि इस अवस्था मे न्याय और अन्याय के विचार के लिए कोई स्थान नही है क्योंकि न्याय-अन्याय या वैधता-अवैधता का निश्चय करने वाला कोई कानून नही होता। तृतीय विशेषता यह है कि इस दशा मे वैयक्तिक सम्पत्ति का अभाव है। निरन्तर हत्या और संघर्ष के परिपूर्ण वातावरण मे स्थायी वैयक्तिक सम्पत्ति की कल्पना भी नही की जा सकती। प्राकृतिक अवस्था मे शक्ति का साम्राज्य है। जब तक किसी के पास शक्ति है, उसका अपनी वस्तुओ पर अधिकार है, शक्ति न रहने पर दूसरो का अधिकार हो जाता है क्योंकि वे उससे छिन जाती हैं।

प्राकृतिक अवस्था के इस चित्रण पर स्वतः ही प्रश्न उठता है कि हॉब्स की इस कल्पना की ऐतिहासिकता क्या है? आलोचक प्राकृतिक अवस्था के ऐतिहासिक

प्रमाण नहीं पाते और समाजशास्त्रियों के अनुसार आदिकालीन मानव-जीवन में भी किसी न किसी प्रकार का सामाजिक जीवन और नैतिक विधान मौजूद था। पर ये आलोचनाएँ शिथिल पड जाती हैं; जब हम यह मानना आवश्यक नहीं समझते कि हाब्स के मतानुसार सचमुच ही ऐसी कोई प्राकृतिक अवस्थाएँ थीं। हॉब्स स्वय भी ऐसी प्राकृतिक अवस्था की सत्ता को किसी ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट नहीं करता। वास्तव में प्राकृतिक अवस्था के इस चित्रण से उसका आशय यह कि राज्य-शक्ति के अभाव मे लोगो का जीवन इसी प्रकार का होना सम्भव है। "उसकी प्राकृतिक अवस्था राज्य का एक कल्पनात्मक विकल्प है; यह वह स्थिति है जिसमे मनुष्य पहुँच जाएँगे, यदि उनके कार्यों को विनियमित तथा नियन्त्रित करने वाली कोई शक्ति न हो।" हॉब्स के कथनानुसार, जब कभी राज्य-शक्ति निर्बल रही है तभी समाज ने इसी प्रकार की प्राकृतिक दशा उत्पन्न होती रही है। नियन्त्रण शक्ति अथवा शक्तिशाली राज्य के अभाव मे मानव-जीवन असुरक्षित, भयाक्रांत और दुःखी हो जाता है। हॉब्स ने दैनिक जीवन के ऐसे तथ्य प्रस्तुत किए हैं जिनके आधार पर प्राकृतिक सत्ता का अनुमान किया जा सकता है। मनुष्य यात्रा करते समय सम्भावित आक्रमण से रक्षा के लिए शस्त्रों से सुसज्जित होकर निकलता है। घर मे सोते समय व्यक्ति दरवाजा बन्द कर लेता है और घर मे मौजूद रहने पर भी सन्दूक मे ताला लगाता है। मनुष्य ये सारे कार्य उस अवस्था में करता है जब राज्य और समाज के कानून मौजूद हैं तथा राज्य-कर्मचारी उसके रक्षक हैं। राज्य के सरक्षण मे रहते हुए भी हम सन्देह, अविश्वास, भय एवं शका से ग्रस्त हैं तो राज्य के अभाव मे हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था का सा जीवन हो जाने की धारणा निर्मूल नहीं है। हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था के जीवन की सम्भावना की पुष्टि गृह युद्ध के समय सभ्य राज्यो के निवासियो द्वारा अपने देशवासियो के प्रति किए जाने वाले निर्मम अत्याचारों से भी होती है। आज वियतनाम इसका ज्वलन्त प्रमाण है। प्रमाण के लिए वर्तमान राज्यो का पारस्परिक व्यवहार भी सामने है। अन्तर्राष्ट्रीय सर्वोच्च सत्ता के अभाव मे विभिन्न राज्य परस्पर जगली और खूनी दरिन्दो की तरह लडते हैं। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध की कहानी विश्व को अच्छी तरह याद हैं और ऐसी ही तृतीय खूनी कहानी की कल्पनामात्र से हम सिहर उठते हैं। अतः जब सभ्य राज्यो मे यह दशा है तो राज्यविहीन अवस्था में हॉब्स द्वारा वर्णित मानव-जीवन की स्थिति का होना सर्वथा स्वाभाविक है। हाँ, इसमे कोई सन्देह नही कि मानव-स्वभाव और प्राकृतिक दशा का उसका वर्णन बडा अतिरंजित है।

प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम
(Natural Rights and Natural Laws)

अपने ग्रन्थ लेवियाथान के 14वें अध्याय मे हॉब्स ने इनका प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार प्राकृतिक अधिकार आदिकालीन अवस्था मे मानव-जीवन की रक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी व्यवहार-स्वातन्त्र्य था जो प्रत्येक व्यक्ति मे स्वभावत निहित था। व्यक्ति को अपने जीवन-धारण के लिए किसी को लूटने या मार डालने की स्वतन्त्रता था। टी एच हक्सली ने ऐसे अधिकार को 'शेर का अधिकार' (Tiger's

Right) कहा है। जिस तरह शेर को अपना शिकार मारने की स्वतन्त्रता होती है उसी तरह प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को भी अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए हिंसा और हत्या की खुली छूट थी। सवेग-प्रेरित मनुष्य अपने जीवन में इन अधिकारों की प्रबल अभिव्यक्ति करता था।

लेकिन प्राकृतिक अधिकारों के साथ ही कुछ प्राकृतिक नियम भी थे जिनका पालन करने से प्राकृतिक अधिकार-प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति होती थी। हॉब्स का मत है कि मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार समान होने से सबको एक दूसरे की हत्या और लूटमार का अधिकार मिल जाता है जिससे जीवन सर्वथा असुरक्षित हो जाता है। लेकिन सभी व्यक्ति जीवन को सुरक्षित बनाए रखना चाहते हैं, अतः वे प्राकृतिक दशा में भी अपनी सुरक्षा के लिए बुद्धि द्वारा कुछ नियम बना लेते हैं। इन नियमों का पालन करके मनुष्य अराजकता (प्राकृतिक अवस्था) में भी सुखपूर्वक रह सकते हैं। हॉब्स ने इन प्राकृतिक नियमों को 'शान्ति की धाराओं' का नाम दिया है। दूसरे शब्दों में हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक कानून बुद्धि द्वारा खोजा हुआ वह सामान्य नियम है जो मनुष्य को जीवन के लिए हानिप्रद कार्य करने से रोकता है और लाभप्रद कार्य करने को प्रेरित करता है। ये प्राकृतिक नियम वे नियन्त्रण हैं जो मनुष्य अनुभव द्वारा सीखता है, और जिन्हें वह अपने जीवन के लिए लाभदायक पाता है। हॉब्स ने 'प्राकृतिक नियम' की परिभाषा देते हुए कहा है कि "यह वह नियम है जो विवेक द्वारा खोजा गया है, जिसके द्वारा मनुष्य के लिए वे कार्य निषिद्ध हैं जो उसके जीवन के लिए विनाशप्रद हैं या जिनसे जीवन की रक्षा के साधनों का हरण होता है और जिनके द्वारा उसके लिए उन कार्यों का न करना निषिद्ध है जिनसे जीवन की रक्षा होती है।" लेकिन इन प्राकृतिक नियमों को कानून नहीं कहा जा सकता है क्योंकि कानून तो सम्प्रभु की आज्ञा है। प्राकृतिक नियम मनुष्य को बाध्य करता है कि वह प्राकृतिक अवस्था में आत्मरक्षा के लिए इच्छानुसार कुछ भी करने की मिली हुई अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता का कुछ अंश त्याग दे ताकि वह शेष स्वतन्त्रता का अधिक निश्चित रूप से उपभोग कर सके। इस प्रकार प्राकृतिक नियम पूर्ण स्वेच्छाचारिता तथा अनुत्तरदायित्व के मध्य एक कड़ी थी। इसी आधार पर हॉब्स ने प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम का अन्तर स्पष्ट किया है। प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक अवस्था को निरन्तर संघर्ष की स्थिति बना देते हैं जबकि प्राकृतिक नियम पर आचरण करके मनुष्य प्राकृतिक अवस्था की अराजकता से बच सकते हैं और आत्म-परीक्षण के उद्देश्य को सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं। हॉब्स ने इस प्रकार के 19 प्राकृतिक नियम गिनाए हैं जिनमें से कुछ ये हैं—

1. "प्रत्येक मनुष्य को शान्ति के लिए वहाँ तक प्रयत्न करना चाहिए जहाँ तक सफलता की आशा हो, और यदि वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता हो तो उसे अधिकार है कि वह सभी उपायों यहाँ तक कि युद्ध का भी प्रयोग करे।"

2. "मनुष्य को शान्ति तथा आत्मरक्षा के लिए अपने प्राकृतिक अधिकारों को उस सीमा तक त्यागने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए जहाँ तक दूसरे लोग भी

इसक लिए प्रस्तुत हैं, और दूसरों के विरुद्ध उसे उतनी ही स्वतन्त्रता से संतुष्ट रहना चाहिए, जितनी वह दूसरो को अपने विरुद्ध देने के लिए तैयार हो।"

3. "व्यक्तियों को अपने समझौतों का पालन करना चाहिए।"

उपरोक्त तीनों नियमो का सार हॉब्स के ही शब्दो मे यह है कि "दूसरों के साथ तुम वैसा ही करो जैसा अपने लिए उनसे चाहते हो।"

4. "जिस मनुष्य को दूसरे की कृपा से कोई लाभ प्राप्त होता है, उसे चाहिए कि वह उस मनुष्य को, जिससे लाभ हुआ है, ऐसा न्यायोचित अवसर न दे कि उसे अपनी सद्भावना के लिए पछताना पड़े।" इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को कृतघ्न नहीं होना चाहिए।

5. "प्रत्येक व्यक्ति को अन्य लोगो के साथ निभा कर चलना चाहिए।"

6. "भविष्य का ध्यान रखते हुए प्रत्येक को उन दूसरे मनुष्यों की पिछली त्रुटियो को क्षमा कर देना चाहिए जो पश्चाताप करके क्षमा चाहते हैं।"

7. "प्रतिशोध लेने मे मनुष्य को विगत बुराई की महत्ता को नही वरन् भविष्य मे उससे होने वाली अच्छाई की महत्ता देखनी चाहिए।"

8. "किसी व्यक्ति को कर्म, शब्द, मुद्रा या संकेत द्वारा दूसरे के प्रति घृणा प्रकट नहीं करनी चाहिए।"

9. "प्राकृतिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे को अपने समान समझना चाहिए।"

10. "किसी भी व्यक्ति को शान्ति की शर्तों को मानते समय स्वयं के लिए ऐसे अधिकार सुरक्षित नहीं रखने चाहिए जिन्हें वह दूसरे के लिए सुरक्षित नही रहने देना चाहता।"

हॉब्स द्वारा गिनाए गए उपर्युक्त प्राकृतिक नियमो में से प्रथम तीन ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम नियम मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था की विपत्तियो से बच निकलने को प्रेरित करता है। 'शान्ति की प्राप्ति पर उसकी रक्षा के लिए युद्ध' इस नियम का सार है। द्वितीय नियम के अनुसार यदि कोई व्यक्ति चाहता है कि दूसरे व्यक्ति उसकी शान्ति और सुरक्षा की इच्छा का आदर करें तो उसका कर्त्तव्य है कि वह दूसरो की भी इस प्रकार की इच्छा का आदर करे। इससे यह स्पष्ट है कि सभी को शक्ति-प्रयोग के अपने प्राकृतिक अधिकार पर समान सीमाएँ लगाने को तैयार रहना चाहिए अथवा प्राकृतिक अधिकार का परित्याग सामान्य एव सबकी ओर से होना चाहिए। तृतीय नियम, सामाजिक जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शर्त 'विश्वास' का प्रतिपादन करता है। परस्पर को गई संविदाओ का पालन करने से ही विश्वास की भावना पनप सकती है। इसके अभाव मे समाज टिक नहीं सकता। लेकिन यह तभी सम्भव है जब अन्य व्यक्ति भी आपके साथ समानता का व्यवहार करने के लिए तैयार हो।

प्राकृतिक नियम ही वे सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर हॉब्स अपने समाज का निर्माण करता है। सेबाइन के अनुसार, "वे एक साथ ही पूर्ण दूरदर्शिता के सिद्धान्त भी हैं और सामाजिक नैतिकता के सिद्धान्त भी एवं इसलिए वे व्यक्तिगत कार्य के मनोवैज्ञानिक उद्देश्यों से एक कदम आगे बढ़कर सभ्यता की विधि तथा नैतिकता के मूल्यों तक जाना सम्भव बनाते हैं।"[1] पुनश्च:, हॉब्स के विचार से प्राकृतिक विधि का अभिप्राय वे नियम हैं जिनके अनुसार कोई भी बुद्धिमान प्राणी यदि उसे अपने आसपास की परिस्थितियों का पूरा ज्ञान हो तथा वह क्षणिक भावनाओं या उद्वेगों से प्रभावित न हो, तो कार्य करेगा। हॉब्स का विचार है कि अधिकतर मनुष्य इस तरह के काम नहीं करते। फलतः प्राकृतिक विधि कुछ ऐसी काल्पनिक परिस्थितियों का निरूपण कर देती है जिनके आधार पर मनुष्य स्थाई शासन के निर्माण का प्रयास करते हैं। ये परिस्थितियाँ किन्हीं मूल्यों का निरूपण नहीं करती बल्कि इस बात की कोशिश करती हैं कि कानूनी तथा नैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत किन-किन चीजों को मूल्य का रूप दिया जा सकता है ?

हॉब्स ने प्राकृतिक नियमों के रूप में 'शान्ति की ऐसी धाराएँ' (Articles of Peace) प्रस्तुत की हैं जिनका अनुसरण करके प्राकृतिक दशा में भी मनुष्य सुखी और शान्त जीवन व्यतीत कर सकते हैं, पर इन नियमों का आधार भी केवल स्वार्थ है। फिर यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्राकृतिक नियमों को 'कानून' (Laws) केवल अलंकारिक भाषा में ही कहा जा सकता है। कानून में सदैव विवशकारी शक्ति होती है, वह सम्प्रभु का आदेश होता है। इसके विपरीत प्राकृतिक नियम केवल विवेकपूर्ण परामर्शमात्र हैं जो आत्मरक्षा में सहायक हो सकते हैं और जिनका मानना या न मानना व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर है। हॉब्स ने इन नियमों के लिए 'कानून' (Laws) शब्द का प्रयोग निश्चय ही 'कानून' के वर्तमान अर्थ में नहीं किया है। उसके लिए 'प्रकृति का कानून' केवल 'वह साधन है जिससे मानव-बुद्धि आत्म-परीक्षण तथा सन्तोष के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उपयोगी समझती हो।' हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक नियम प्राकृतिक अवस्था में और राज्य-व्यवस्थानान्तर दशा में, अन्तरात्मा की दृष्टि से अवश्य बाध्यकारी हैं किन्तु इनका पालन करने के लिए कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती। सम्प्रभु के ऊपर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं है किन्तु प्राकृतिक नियम आन्तरिक दृष्टि से उसे भी बाधित करते हैं। हॉब्स ने इन प्राकृतिक नियमों को शाश्वत और अपरिवर्तनशील माना है क्योंकि अन्याय, अकृतज्ञता दम्भ, मद, पापाचरण आदि कभी भी विधि-विहित स्वीकार नहीं किए जा सकते। यह कभी सम्भव नहीं हो सकता कि युद्ध से जीवन धारण हो और शान्ति से जीवन का अपहरण। इन प्राकृतिक नियमों का शास्त्र ही सच्चा और एकमात्र आचारशास्त्र माना जा सकता है।

1 *Sabine* : History of Political Theory, p. 465-66.

आत्म-रक्षा की प्रकृति और बुद्धिसंगत आत्म-रक्षा
(The Instinct of Self-Preservation and Rational Self-Preservation)

मानव-स्वभाव, प्राकृतिक अवस्था और प्राकृतिक नियम पर विचार करते समय हॉब्स द्वारा दी गई मनुष्य की आत्म-रक्षा की प्रकृति और बुद्धिसंगत आत्मरक्षा का आभास हम पा चुके हैं। किन्तु इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार पर पृथक् रूप से चर्चा करना आवश्यक है। हॉब्स के अनुसार "मनुष्य अपनी जीवन-शक्ति को कायम रखने और बढ़ाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। आत्म-रक्षा का उद्देश्य मनुष्य के जैविक अस्तित्व को कायम रखना है। जो बात इसमें सहायक है वह शुभ है और जो असहायक है वह अशुभ है।" हॉब्स को यह स्पष्टतः मालूम था कि आत्म-रक्षा का सिद्धान्त इतना आसान नहीं था जैसा कि वह अब तक माना गया है। जीवन एक ऐसा अवकाश नहीं है जिसमें साध्य को एक बार में ही हमेशा के लिए प्राप्त कर लिया जाए। जीवन में आत्म-रक्षा के साधनों की पग-पग पर खोज करनी पड़ती है। चूँकि सुरक्षा के साधन कम हैं इसलिए जीवन-संघर्ष अनन्त है। मानव प्रकृति की मूल आवश्यकता सुरक्षा की इच्छा है। इस इच्छा को शक्ति की इच्छा से पृथक् नहीं किया जा सकता। हम में आज सुरक्षा की जितनी भावना है—उसे नित्यप्रति समाप्त करने की जरूरत है।[1] हॉब्स के शब्दों में "सम्पूर्ण मानव-जाति शक्ति की शाश्वत और अविश्रान्त इच्छा से प्रेरित है। इस लालसा का अन्त मृत्यु के साथ ही होता है। कारण यह नहीं है कि मनुष्य के पास इस समय जितनी खुशी है वह उससे अधिक खुशी चाहता है अथवा उसका कुछ कम शक्ति से काम नहीं चल सकता। इसका कारण यह है कि मनुष्य के पास इस समय जीविका के जो साधन हैं जो शक्ति उनसे बिना और अधिक प्राप्त किए हुए उसकी रक्षा का आश्वासन नहीं होता।"

हॉब्स के विचार का स्वाभाविक अर्थ है कि मनुष्य निरन्तर सुरक्षा की आवश्यकता का अनुभव करता है। वह शक्ति, धन, पद, सम्मान आदि को इसलिए प्राप्त करना चाहता है कि अपनी सुरक्षा के साधन जुटा सके और उस विनाश को रोक सके जो किसी न किसी दिन अन्ततः प्रत्येक व्यक्ति पर आता है। मनुष्य के सामने प्रधान लक्ष्य अपनी सुरक्षा का होता है, अतः उसके लिए अन्य मनुष्यों का वहीं तक महत्त्व है जहाँ तक वे इस पर प्रभाव डालते हैं।

हॉब्स मानव-प्रकृति में अभिलाषा और विवेक—इन दो सिद्धान्तों की चर्चा करता है। इच्छा अथवा अभिलाषा के कारण मनुष्य उन सभी वस्तुओं को स्वयं प्राप्त करना चाहता है जिन्हें अन्य व्यक्ति चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे निरन्तर संघर्षरत रहते हैं। लेकिन विवेक अथवा बुद्धि द्वारा मनुष्य पारस्परिक संघर्षों को भूलना सीखते हैं। "विवेक एक प्रकार की नियामक शक्ति है जिससे सुरक्षा की खोज आत्म-रक्षा के सामान्य सिद्धान्त का अनुसरण किए बिना ही अधिक कारगर हो जाती है।" विवेक बतलाता है कि आत्म-रक्षा का उद्देश्य तभी प्राप्त किया जा

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 421.

सकता है जब शान्ति हो। विवेक का प्रथम आदेश यह है कि मनुष्य को शान्ति की खोज और शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। विवेक शान्ति स्थापना पर इतना अधिक बल इसलिए देता है कि 'प्रत्येक का प्रत्येक के विरुद्ध युद्ध' की स्थिति मानव-जीवन को दीन-हीन-क्षीण और लघु बनाती है। विवेक प्राकृतिक अवस्था की विपत्तियों से बचने का मार्ग दिखलाता है।

मानव-प्रकृति के दो विरोधी तत्त्वों आदिम इच्छा और विकर्षण से सभी प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ पैदा होती हैं। विवेक का भी यही स्रोत है। "विवेक द्वारा ही मनुष्य आत्म-रक्षा के कार्य मे बुद्धिमत्तापूर्वक प्रवृत्त हो सकता है। विवेक की नियामक शक्ति के द्वारा ही मनुष्य अपनी जगली और एकाकी स्थिति से निकल कर सभ्य और सामाजिक स्थिति मे प्रवेश करता है। यह परिवर्तन प्रकृति की विधियों द्वारा होता है। ये विधियाँ बतलाती है कि यदि एक विवेकशील प्राणी अपनी सुरक्षा से सम्बन्धित सभी प्रश्नो के बारे मे अन्य मनुष्यो के साथ अपने सम्बन्धो की समस्या पर निष्पक्षता से विचार करे तो वह क्या करेगा।" हॉब्स के अनुसार, "इसीलिए प्रकृति की विधि उचित विवेक का आदेश है। वह उन वस्तुओ की निरन्तर अभ्यस्त है जिन्हे जीवन की सतत् रक्षा के लिए या तो करना पड़ता है या छोड़ना पड़ता है।"

स्पष्ट है कि हॉब्स के अनुसार सकुचित और विवेकहीन स्वार्थ वैरभाव को उत्पन्न करता है जबकि विवेकपूर्ण स्वार्थ समाज के अस्तित्व को सम्भव बनाता है। विवेक की माँग है कि व्यक्ति अपना कल्याण चाहता है तो दूसरे के हितों मे हस्तक्षेप नही करे। विवेक मे स्वय शान्ति स्थापित करने की सामर्थ्य नहीं है, वह केवल मनुष्य को इतनी दूरदर्शिता प्रदान करता है कि वह अपने और दूसरो के हितो मे इस तरह समन्वय स्थापित कर सके जिसमे उसके स्वय के हित सुरक्षित रहें।

हॉब्स का विचार है कि हमारी भावनाएँ विवेक की भाषा को नहीं समझतीं अधिकांश मनुष्य विवेक के प्रत्यादेशो, प्राकृतिक विधियों के अनुसार काम नहीं करते। मनुष्य अपनी क्षणिक भावनाओ के उद्वेगो से प्रभावित होता रहता है। वह अपनी भावनाओ को नियन्त्रित नही कर सकता। अत एक ऐसी सर्वशक्तिमान, प्रभुत्व-सम्पन्न और विवशकारी शक्ति की आवश्यकता है जो मनुष्य को विवेक अथवा प्राकृतिक विधियों के अनुसार आचरण करने को विवश कर सके। ऐसा तभी हो सकता है जब एक प्रभावशाली शासन हो, क्योकि सुरक्षा शासन पर निर्भर है।

राज्य की उत्पत्ति तथा उसका स्वरूप
(The Origin of the State and its Nature)

हॉब्स बुद्धिवादी है। उसके मतानुसार एक बार जब मनुष्य जान जाता है कि उसकी मृत्यु का भय पाशविक प्रतियोगिता के कारण है तो विवेक उसे मार्ग दिखलाता है। जब वह यह सिद्धान्त मान लेता है कि "तू भी दूसरे के साथ वैसा न कर जो तू अपने साथ दूसरो द्वारा किया जाना अन्यायपूर्ण समझता है (Do not do that to another which thou thinketh unreasonable to be done by another to yourself)।" हॉब्स यह भी मानता है कि यदि मनुष्य स्वभाव से ही

शान्तिपूर्ण होता और बिना किसी सर्वोच्च शक्ति या संविदा के ही रह लेता तो शासन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। पर मनुष्य ऐसा नहीं है। वह अपनी भावनाओं और अपने संवेगों को नियन्त्रण में नहीं रख सकता। उसकी स्वार्थी वृत्तियाँ संघर्ष के बीज बोती रहती हैं। अतः स्वभावतः एक ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय की आवश्यकता पड़ती है जो मनुष्यों को नियन्त्रण में रख कर उनको अनुशासनबद्ध करे। विवेक के आदेशों का समस्त मनुष्यों से पालन कराने और उनके उल्लंघन का दण्ड देने के लिए किसी सबल शक्ति का होना जरूरी है जिसमें इतनी सामर्थ्य हो कि वह "मानव भावनाओं से उस भाषा में बात कर सके जिसे वे समझती हैं, और वह है भय तथा स्वहित की भाषा।" ऐसी सामान्य सत्ता की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि अनेक इच्छाओं के स्थान पर एक इच्छा का प्रभाव स्थापित करने के लिए प्राकृतिक नियम के अनुसार सब व्यक्ति अपने अधिकारों और शक्तियों को एक व्यक्ति या व्यक्ति-सभा को प्रदान करें, वे अपनी सम्पूर्ण इच्छाएँ एक व्यक्ति की इच्छा को समर्पित कर दें। हॉब्स ऐसी सत्ता अथवा शक्ति राज्य में पाता है जिसकी इच्छा समस्त व्यक्तियों की इच्छाओं की प्रतिनिधि होती है और जिसमें यह सामर्थ्य होती है कि वह सबसे विवेक के अनुसार आचरण कराए और ऐसा न करने वालों को दण्ड दे। हॉब्स के मतानुसार राज्य एक सामाजिक समझौते के फलस्वरूप अस्तित्व में आता है। राज्य की स्थापना का वर्णन 'लेवियाथन' के 18वें अध्याय में किया गया है—

"एक राज्य की स्थापना तब होती है जब अनेक व्यक्ति एक दूसरे से यह समझौता करते हैं कि समस्त व्यक्ति उस व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह के कार्यों को अपना कार्य समझेंगे जिसे उनके अधिकांश भाग ने अपना प्रतिनिधि चुना है, चाहे उनमें से किसी ने उसके पक्ष में मत दिया हो या विरोध में। इस समझौते का उद्देश्य यह है कि मनुष्य शान्तिपूर्वक और दूसरों के विरुद्ध सुरक्षित रहें। इस तरह से जो भी चीज उत्पन्न होती है वह केवल रजामन्दी से कुछ बढ़कर है—यह समस्त व्यक्तियों का वास्तविक इकाई में एकीकरण है जिसकी सिद्धि प्रत्येक के समझौते द्वारा हुई है। यह समझौता इस प्रकार हुआ है मानो प्रत्येक व्यक्ति ने प्रत्येक व्यक्ति से यह कहा हो कि "मैं इस व्यक्ति को या व्यक्तियों के इस समूह को अपना शासन स्वयं कर सकने का अधिकार और शक्ति इस शर्त पर समर्पित करता हूँ कि तुम भी अपने इस अधिकार को इसी तरह (इस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को) समर्पित कर दो।"

इस तरह सारा जन-समुदाय एक व्यक्ति में संयुक्त हो जाता है। इसे राज्य (Commonwealth) या लेटिन में 'सिविटस' (Civitas) कहते हैं। हॉब्स के अनुसार यही उस महान् लेवियाथान या देवता (Mortal God) का जन्म है जिसकी कृपा पर, अविनाशी ईश्वर की छत्रछाया में हमारी शान्ति तथा सुरक्षा निर्भर है।

हॉब्स के समझौता सिद्धान्त (Social Contract Theory) से स्पष्ट है कि व्यक्तियों ने अपने प्राकृतिक अधिकारों को किसी विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियों की सभा को समर्पित कर दिया जो प्रभुसत्ता से विभूषित हुई और समर्पण करने वाले

व्यक्ति उसकी प्रजा हो गए। प्रभुसत्ता उस समझौते में किसी दल के रूप में नहीं थी। उसके अधिकार असीमित ही रहे। हॉब्स का मत था कि प्रभुसत्ता के अबाध अधिकार के फलस्वरूप ही एक वास्तविक सुदृढ़ शासन (Commonwealth) की स्थापना हो सकती थी। किसी प्रकार की 'शर्तें' लगाने से अनिश्चय और अविश्वास की सम्भावना हो सकती थी जिससे इस प्रकार के झगड़े उत्पन्न हो जाते जिनका निपटारा सम्भव न होता और तब पुनः अराजकता (Anarchy) फैल जाती और प्राकृतिक अवस्था का दृश्य उपस्थित हो जाता। इस प्रकार सम्राट या प्रभुसत्ता लाभ की स्थिति में रही क्योंकि सामाजिक समझौते में उसने कोई वचन नहीं दिया। इस रियायत का फल यह हुआ कि शासन खराब होने पर भी प्रजा को शासक के विरुद्ध बोलने का अधिकार नहीं रहा। शासन के विरुद्ध जाने का अभिप्राय प्राकृतिक अवस्था की ओर लौटना था जो हो नहीं सकता था, अतः उसकी सत्ता और इच्छा अन्तिम रही।

स्पष्ट है कि हॉब्स के समझौते का यदि विश्लेषण करें तो उसकी ये विशेषताएँ प्रकट होती हैं—

(1) समझौता एक साथ ही सामाजिक एवं राजनीतिक दोनों प्रकार का है। मानव द्वारा अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्ति त्याग कर सामाजिक बन्धन स्वीकार कर लेने से यह सामाजिक और उसके परिणामस्वरूप राजसत्ता की स्थापना होने से यह राजनीतिक है।

(2) यह सामाजिक समझौता (Social Contract) है, सरकारी समझौता नहीं। समझौता सम्प्रभु और व्यक्तियों के मध्य न होकर केवल व्यक्तियों के ही मध्य हुआ है। प्रभुसत्ता समझौते में सम्मिलित नहीं है।

(3) समझौते में किसी पक्ष के रूप में सम्मिलित न होने से प्रभुसत्ता की शक्ति असीमित और उसके अधिकार निरंकुश हैं। प्रभुसत्ता किसी शर्त के साथ नहीं सौंपी गई है। प्रभुसत्ताधारी ऐसा कोई इकरार नहीं करता कि वह अपनी शक्ति का उपयोग लोगों की इच्छा के अनुसार या उनकी सम्मति से करेगा। अतः यदि वह निरंकुश आचरण करता है तो भी उसे दोष नहीं दिया जा सकता।

(4) प्राकृतिक दशा में अपनी स्वतन्त्रता, अधिकार और शक्ति को त्यागने तथा राज-संस्था के प्रादुर्भाव के बाद व्यक्तियों के किसी अधिकार, स्वतन्त्रता आदि का अस्तित्व नहीं रहता। अतः वे अवांछित तथा अत्याचारी राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह नहीं कर सकते। राजसत्ता की स्वेच्छाचारिता से समझौते की कोई शर्त भंग नहीं होती। अतः समझौते के बाद किसी को उससे अलग होने का अधिकार नहीं रहता।

(5) समझौते से केवल एक सम्प्रभु की स्थापना हुई है, चाहे वह कोई व्यक्ति हो या व्यक्तियों की कोई सभा। अतः सम्प्रभुता अविभाज्य है।

(6) प्रभुसत्ता ही विधियों की स्रोत है। नियम या विधि उसका आदेश है। प्रभुसत्ता के आदेशों को अनियमित नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि वे विवेक

और नैतिक आचरण का सार हैं। न्याय करने का, राष्ट्रों तथा शक्तियों से युद्ध अथवा सन्धि का अधिकार पूर्णतः प्रभुसत्ता को प्राप्त है। राजकीय अधिकारियों को चुनने और नियुक्त करने का भी अधिकार उसी को है।

हॉब्स शासन की आज्ञापालन के प्रजा के अपरिमित कर्त्तव्यपालन के कतिपय अपवादों का भी उल्लेख करता है। वह कुछ परिस्थितियों में प्रजा को राजा की अवहेलना का अधिकार देता है। यदि राजा व्यक्ति को 'अपने-आपको मारने, घायल करने या अपने पर आक्रमणकर्त्ता का विरोध न करने, वायु, औषधि या जीवन-दाता अन्य किसी वस्तु का प्रयोग न करने' की आज्ञा देता है तो वह ऐसी आज्ञा की अवहेलना कर सकता है क्योंकि "प्रजाजन सुरक्षा के लिए ही शासन के अधीन होते हैं। यदि शासन सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता तो शासन का विरोध आवश्यक हो जाता है। शासन के पक्ष में एकमात्र तर्क यह है कि उसे शासन करना चाहिए। यदि विरोध सफल हो जाता है और प्रभु के हाथ से उसकी शक्ति निकल जाती है तो प्रभु तथ्येन प्रभु नहीं रहता और उसके प्रजाजन, प्रजाजन नहीं रहते। इस अवस्था में प्रजाजन अपनी रक्षा के लिए विवश हो जाते हैं। वे एक नए प्रभु की आज्ञापालन के लिए तैयार हो सकते हैं जो उनकी रक्षा करे। हॉब्स के सिद्धान्त में शक्तिविहीन वैधता (Legitimacy) के लिए कोई अवकाश नहीं है।"[1] हॉब्स के मतानुसार मनुष्य अपने जीवन-रक्षा के प्राकृतिक अधिकार को राजा के विरुद्ध भी सुरक्षित रखते हैं।

हॉब्स के सिद्धान्त से प्रकट होता है कि राज्य दैविक उत्पत्ति या स्वाभाविक विकास का परिणाम नहीं है वरन् मानव-निर्मित एक ऐसा कृत्रिम साधन है जिसे अपनी निश्चित आवश्यकता की पूर्ति हेतु रचा गया है। "वह साध्य पर ले जाने के लिए एक साधन-मात्र है, स्वयं साध्य नहीं है।" हॉब्स के अनुसार, "राज्य का उद्देश्य व्यक्तियों के व्यक्तिगत हितों का योग-मात्र है; इसके अतिरिक्त उसका कोई सामूहिक लक्ष्य नहीं है।" हॉब्स का सिद्धान्त राजशक्ति के प्रति सम्मान एवं भक्ति को कोई महत्त्व नहीं देता, वह तो राज्य को केवल उपयोगिता के स्तर पर ले आता है। राज्य इसीलिए श्रेष्ठ है कि उससे हम लाभान्वित होते हैं अन्यथा उसकी स्थिति मनुष्य की सुरक्षा के एक साधन अथवा यन्त्र की सी ही है। मनुष्य राजाज्ञा का पालन इस विवेकपूर्ण भय से करता है कि आत्म-रक्षण के उद्देश्य की राज्य द्वारा ही सर्वाधिक सुगमता से पूर्ति हो सकती है। राज्यादेशों का पालन बुद्धिमान व्यक्ति इसलिए करता है कि राज्य सभी व्यक्तियों का जिसमें वह भी शामिल है, प्रतिनिधित्व करता है।

प्रभुसत्ता
(Sovereignty)

हॉब्स प्रभुसत्ता का प्रचण्ड समर्थक है। उसकी प्रभुसत्ता का आधार है

1 सेबाइन . राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड I, पृष्ठ 428.

सामाजिक संविदा। स्पष्ट या अस्पष्ट किसी भी रूप में हो, संविदा या अनुबन्ध से ही प्रभुसत्ता प्राप्त होती है।

हॉब्स का 'लेवियाथान' अथवा सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न शासक पूर्णतः निरंकुश है। उसका आदेश ही कानून है। उसका प्रत्येक कार्य न्यायपूर्ण है। प्रभुसत्ता निरपेक्ष, अविभाज्य, स्थाई एवं अदेय है। राज्याज्ञा न्याय-सम्मत और कानून-सम्मत दोनों है। उसका हस्तक्षेप कार्यों और विचारों दोनों पर है। बोदां ने प्रभुसत्ता पर जो मर्यादाएँ लगाई हैं, हॉब्स ने उन्हें हटा दिया है। गैटल के अनुसार "हॉब्स के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा लेखक नहीं हुआ है जिसने प्रभुसत्ता के बारे में इतना अतिवादी दृष्टिकोण अपनाया हो।"[1]

सेबाइन के अनुसार "हॉब्स की दृष्टि में निरंकुश शक्ति और पूर्ण अराजकता, सर्वशक्ति-सम्पन्न शासक और समाजहीनता इन दोनों के बीच कोई विकल्प नहीं है। किसी भी सामाजिक संस्था का अस्तित्व उसकी सविहित सत्ताओं के माध्यम से ही हो सकता है। उसके सदस्यों को जो भी अधिकार मिलते हैं, वे केवल प्रत्यायोजन के द्वारा मिलते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण सामाजिक सत्ता शासक में केन्द्रित होनी चाहिए। विधि और आचार केवल उसकी इच्छा है। उसकी सत्ता असीमित होती है। यदि वह सीमित भी होती है, तो केवल उसकी शक्ति के द्वारा। इसका कारण यह है कि उसकी सत्ता के अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्ता केवल उसकी अनुमति द्वारा ही होती है। यह भी स्पष्ट है कि प्रभुसत्ता दिखाई नहीं देती और उसे काटा नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि या तो उसकी सत्ता को स्वीकार किया जाता है और राज्य का अस्तित्व होता है अथवा राज्य को अभिज्ञात नहीं किया जाता और अराजकता रहती है। शासक की सम्पूर्ण शक्तियाँ, उदाहरणार्थ विधि निर्माण, न्याय-व्यवस्था, शक्ति-प्रयोग, निम्न प्रशासनिक इकाइयों का संगठन-सम्प्रभु में ही निहित होती है।"

हॉब्स के अनुसार सम्प्रभुता सभी विधेयात्मक कानूनों की स्रोत है। लोग सुरक्षा के लिए अपने प्राकृतिक अधिकारों तथा वैयक्तिक शक्तियों का परित्याग कर देते हैं, अतः स्वाभाविक रूप में उन सबकी तरफ से विधि-निर्माण की शक्ति केवल सम्प्रभु के पास रह जाती है। सम्प्रभु ही सम्पूर्ण समाज की ओर से यह निर्णय करता है कि सामाजिक शान्ति और सुरक्षा के लिए क्या किया जाना चाहिए?

सम्प्रभु को सर्वसाधारण पर अपरिमित अधिकार प्राप्त हैं। वह निरपेक्ष है। उसकी विधि-निर्माण शक्ति किसी भी मानवीय शक्ति से अप्रतिबन्धित है। राज्य में सम्प्रभु का कोई भी समकक्ष अथवा प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता। सम्प्रभु ही कानूनों का व्याख्याता भी है। प्राकृतिक कानून भी उस पर बन्धन नहीं लगा सकते क्योंकि वे वस्तुतः कानून न होकर विवेक के आदेश होते हैं जिनके पीछे किसी विवशकारी शक्ति

1 "No writer has taken a more extreme view than Hobbes of the absolute nature of Sovereignty." —*Gettle*: op. cit., p. 220.

का अभाव होता है। दैवी कानून भी सम्प्रभु को प्रतिबन्धित नही करते क्योंकि वही उनका व्याख्याता होता है।

हॉब्स की प्रभुसत्ता की धारणा मे यह एक गम्भीर असंगति है कि वह एक ओर तो सम्प्रभु की सर्वोच्चता का प्रतिपादन करता है तथा दूसरी ओर सम्प्रभु की ऐसी आज्ञाओं के उल्लंघन की स्वीकृति देता है जिनसे व्यक्ति के आत्म-रक्षण का उद्देश्य नष्ट होता हो। राजाज्ञा-पालन के अपवाद की यह बात प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के मार्ग मे गम्भीर कठिनाई है। हॉब्स यह भी स्पष्ट नही करता कि इस बात का निर्णय कौन करेगा कि वस्तुत: ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमे राजाज्ञा की अवहेलना करना उचित है।

हॉब्स के प्रभुता-सिद्धान्त से यह भी प्रकट है कि राज्य-निर्मित कानूनों के अनुकूल सभी बातें उचित हैं और उनके प्रतिकूल बातें अनुचित हैं। आशय यह हुआ कि केवल राज्य मे ही नीति के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है। प्राकृतिक अवस्था मे व्यक्ति के जो अधिकार हैं उन्हे छीन कर कर्त्तव्यों की व्यवस्था कानून द्वारा की जाती है और यह कानून सम्प्रभु का आदेश है। अत हम किसी भी कानून को अन्यायपूर्ण नहीं कह सकते। सम्प्रभु ही न्याय का व्यवस्थापक है और उसके निर्देश ही नीति शास्त्रात्मक भेदो के आधार है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा के नाम पर सत्य-असत्य का निर्णय करने लगेगा तो अराजकता की स्थिति पैदा हो जाएगी। अतः कानून को ही 'सार्वजनिक अन्तरात्मा' की सज्ञा दी जा सकती है। यह स्वीकार करना होगा कि शुभ-अशुभ, न्याय-अन्याय, नैतिक-अनैतिक सभी का स्रोत केवल सम्प्रभु है।

हॉब्स ने बोदाँ द्वारा सम्प्रभुता पर लगाए गए सम्पत्ति सम्बन्धी बन्धन को ठुकरा दिया है।, उसके अनुसार सम्प्रभु ही सम्पत्ति का सृजनहार है क्योंकि वही समाज मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित करता है जिसके फलस्वरूप लोग धनोपार्जन कर पाते हैं। धन-संग्रह से ही सम्पत्ति का उत्पादन होता है, अत सम्प्रभुता को सम्पत्ति सम्बन्धी विधायन का अधिकार है। वह सम्पत्ति का विधाता है तथा करारोपण और प्रजा की सम्पत्ति लेने तक का अधिकारी है। उसके लिए आवश्यक नही है कि वह करारोपण के बारे मे जन-स्वीकृति ले।

पुनश्च; सम्प्रभु ही सब अधिकारियो की सत्ता का मूल स्रोत है। दूसरे देशो से युद्ध अथवा सन्धि करने तथा अपनी नीति के क्रियान्वयन के लिए लोगो के सम्पूर्ण साधनों पर नियन्त्रण रखने का वह अधिकारी है। वही सेना का सर्वोच्च कमाण्डर है और न्याय का सर्वोच्च स्रोत है। समस्त विधायिनी और कार्यपालिका शक्तियाँ सम्प्रभु मे ही केन्द्रित हैं। हॉब्स के चिन्तन मे शक्ति-विभाजन तथा नियन्त्रण एव सतुलन के सिद्धान्त के लिए कोई स्थान नही है।

अन्त मे, सम्प्रभु के अधिकार अपरिवर्तनीय, अहस्तान्तरणीय और अविभाज्य हैं। सम्प्रभुता के प्रयोग मे किसी को भागीदार नही बनाया जा सकता। ऐसा करना सम्प्रभुता को नष्ट करना है। गृह-युद्ध का उद्देश्य सम्प्रभुता पर प्रतिबन्ध लगाना

अथवा उसमे भागीदार होने का प्रयत्न करना नही होता बल्कि यह निर्धारित करना होता है कि सम्प्रभुता पर किस का अधिकार हो और कौन उसका प्रयोग करे ?

बोदाँ की भाँति ही हॉब्स ने भी शासन-प्रणालियों का अन्तर इस बात पर आधारित किया है कि प्रभुसत्ता का निवास कहाँ है ? यदि प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में निहित है तो शासन का स्वरूप राजतन्त्र है, कुछ व्यक्तियों मे निहित है तो कुलीनतन्त्र है और सब लोगो मे निहित है तो लोकतन्त्र है। मिश्रित अथवा सीमित शासन-प्रणाली की बात करना व्यर्थ है क्योंकि प्रभुसत्ता अविभाज्य है। लोग राजतन्त्र को पसन्द करते हैं, अतः इसे अन्य शासन-व्यवस्थाओं की अपेक्षा अच्छा बतलाते हैं। शासन-व्यवस्था जो भी हो, उसमे कहीं न कहीं प्रभुसत्ता अवश्य रहती है। कोई न कोई व्यक्ति ऐसा अवश्य होना चाहिए जो अन्तिम निर्णय करता हो और जो ऐसा कर सकता है वही सम्प्रभु है। लोग जब अत्याचारी शासन का विरोध करते हैं तो इसका अभिप्राय केवल यही है कि वे सत्ता के एक विशेष प्रयोग को पसन्द नही करते। इसी प्रकार यदि लोगो मे स्वतन्त्रता के प्रति उत्साह है तो इसका मतलब है कि वे या तो भावात्मक उद्वेग का परिचय दे रहे हैं या पाखण्ड रच रहे हैं। हॉब्स ने राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ इसलिए माना है कि प्रथम तो इसमें राजा का और राज्य का वैयक्तिक तथा सार्वजनिक हित एक होता है एव द्वितीय, इसमे शासन का स्थायित्व अपेक्षाकृत अधिक पाया जाता है। यद्यपि राजतन्त्र मे कृपापात्रो को धन और अधिकार देने की प्रवृत्ति होती है, तथापि कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र मे यह प्रवृत्ति अथवा बुराई अधिक बढ जाती है। इन शासन-व्यवस्थाओं मे शासकों की स्या अधिक होती है, अत उसी अनुपात मे कृपा-पात्रो की सख्या भी बढ जाती है।

हॉब्स की प्रभुता की धारणा से यही निष्कर्ष निकलता है कि वह इसे पूर्ण, अवि भाज्य और असीम मानता है। प्रभुसत्ता पर जो बन्धन लगाए गए हैं वे वैधानिक नहीं हैं। बोदाँ के समान ईश्वरीय नियमो (Divine Laws), प्राकृतिक नियमो (Natural Laws) तथा राज्य के मौलिक नियमो (Fundamental Laws) के प्रतिबन्ध हॉब्स स्वीकार नही करता। इसी प्रकार वह बोदाँ के समान यह भी नही मानता कि राजा को प्रजा की वैयक्तिक सम्पत्ति छीनने का अधिकार नहीं है। सारांशतः हॉब्स की प्रभुसत्ता बोदाँ की प्रभुसत्ता की तुलना मे अधिक निरकुश और अधि कार सम्पन्न है।

नागरिक कानून पर हॉब्स के विचार
(Hobbes on Civil Laws)

हॉब्स के अनुसार सामान्य नागरिक-विधियाँ सम्प्रभु की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती हैं। विधियो मे पुरातन नियमो अथवा ऐतिहासिक परम्पराओं का नही वरन् सम्प्रभु की दृढ सकल्प-क्रिया ही प्रधान है। विधि सम्प्रभु की शक्ति की द्योतक है तो प्रजाजन के लिए कर्त्तव्यो की घोषणा करती है। इन विधियो से ही व्यक्ति को यह ज्ञात होता है कि किसे उसका कहें और किसे दूसरे का; क्या न्यायपूर्ण है और क्या अन्यायपूर्ण; क्या ईमानदारी है और क्या बेईमानी तथा क्या शुभ है और

क्या अशुभ ? इस प्रकार विधियाँ मानव-व्यवहार को विनियमित करने के साथ ही उसका मानदण्ड भी प्रस्तुत करती हैं। साथ ही ये उस सम्प्रभु का आदेश हैं जिसमें अपने आदेशों का पालन कराने की क्षमता है। प्रजा इन विधियों को नैतिक मूल्य की दृष्टि से नहीं बल्कि इसलिए मानती है कि वे सम्प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। हॉब्स के अनुसार विधि के दो विभाग है—वितरणात्मक या निषेधात्मक एवं आज्ञात्मक या दण्डात्मक। प्रथम विभाग में नागरिकों को वैध-अवैध कार्यों का ब्यौरा बतलाया जाता है और दूसरे विभाग में राज्य के मन्त्रियों को, जनता के प्रति अपराधानुसार क्या दण्डविधान है, इसकी व्याख्या की जाती है ? सम्प्रभु ही विधि का एकमात्र स्रोत और व्याख्याकार है।

हॉब्स ने नागरिक विधि और प्राकृतिक विधि में अन्तर किया है। सेबाइन के शब्दों में "नागरिक विधि प्रभुसत्ता का आदेश है जिसे बलपूर्वक लागू किया जा सकता है जबकि प्राकृतिक विधि विवेक का आदेश है जिसका केवल आलंकारिक महत्त्व है। नागरिक विधि का मूल तत्त्व यह है कि उसमें आदेश का अथवा बल-प्रयोग का भाव निहित है। हॉब्स के मतानुसार ससदज्ञों तथा कोक जैसे सामान्य विधि-वेत्ताओं की स्थिति में यही भ्रम है। ससदज्ञ समझते हैं कि प्रतिनिधिक-संस्था की सहमति में कुछ गुण हैं और सामान्य विधि-वेत्ताओं का विचार है कि प्रथा में कुछ बँधता है। वस्तुस्थिति यह है कि बल-प्रयोग करने वाली शक्ति ही विधि को बधनकारी बनाती है। विधि उसी की है जिसके हाथ में शक्ति है। सत्ता-सम्पन्न व्यक्ति प्रथा को जारी रहने दे सकता है किन्तु उसकी गर्भित स्वीकृति ही प्रथा को विधि शक्ति देती है। कोक का यह अन्धविश्वास मूर्खतापूर्ण है कि सामान्यविधि का अपना विवेक होता है।"[1]

हॉब्स द्वारा विधियों के उचित-अनुचित होने के अधिकार से जनता को वंचित कर देना किसी दृष्टि से न्याय-संगत नहीं माना जा सकता। फिर यह भी समझ से परे है कि मनुष्य का वह सद्विवेक, जिसे वह प्राकृतिक अवस्था में व्यवहार में लाता था, राज्य की स्थापना होते ही एकाएक लुप्त कैसे हो गया ? राज्य में तो उस सद्विवेक को अधिक प्रभावशाली होना चाहिए था क्योंकि मनुष्य तब प्राकृतिक अवस्था की अपरिष्कृत भावनाओं से बहुत ऊपर उठ चुका था। सम्प्रभु की इच्छा को ही सद्विवेक, की अभिव्यक्ति मानना और प्रजा को इस दृष्टि से कोई महत्त्व न देना आज के प्रजातान्त्रिक युग में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि मान भी लिया जाए कि सम्प्रभु द्वारा निर्मित कानून उसकी इच्छा को नहीं वरन् उसके विवेक को अभिव्यक्त करते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि सम्प्रभु विधि-निर्माण में पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि निर्मित-विधि सद्विवेक के अनुरूप हो। पुनश्च, हॉब्स ऐसे राज्यादेशों की अवहेलना का अधिकार देता है जो व्यक्ति की आत्म-रक्षा के उद्देश्य का हनन करने वाले हों। हॉब्स के इस विचार से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्प्रभु का विवेक

1 सेबाइन पूर्वोक्त, पृष्ठ 429-430.

सद्‌विवेक ही हो, यह आवश्यक नहीं है, वह केवल दुराग्रह हो सकता है। प्रत्यक्ष रूप में सम्प्रभु को विधि का अन्तिम स्रोत और व्याख्याकार मानना तथा परोक्ष रूप में विधि के औचित्य-अनौचित्य के निर्णय का अधिकार व्यक्ति को देना (क्योंकि तभी तो व्यक्ति राज्यादेश को अपनी आत्म-रक्षा के उद्देश्य के विपरीत मानते हुए इसकी अवहेलना करने का निश्चय करता है) हॉब्स के चिन्तन में एक गम्भीर दोष है।

हॉब्स का सम्प्रभु को यह भी परामर्श है कि उसे बहुत अधिक विधियों का निर्माण नहीं करना चाहिए क्योंकि एक तो उन्हें लागू करना बड़ा कठिन हो जाता है और दूसरे जनता के हृदय में विधियों के प्रति सम्मान में कमी आ जाती है। हॉब्स के इन विचार से उसका यह सन्देह छिपा नहीं रहता है कि राजकीय विधि और प्राकृतिक विधि में पूर्ण तद्‌नुरूपता नहीं भी हो सकती है। वह इस बारे में सुनिश्चित नहीं था कि क्या प्रजा को सम्प्रभु के प्रत्येक कानून को शुभ मानना चाहिए। वस्तुत. हॉब्स का निरंकुशतावाद उतना निरपेक्ष (Absolute) और अशर्त (*Unconditional*) नहीं है जितना सामान्यत: वह दिखलाई देता है। "उपयोगितावाद के आधार पर निरंकुशतावाद का समर्थन करके वह उदारवाद (Liberalism) के लिए एक आधार प्रस्तुत करता है।" उसके चिन्तन में संविधानवाद के तन्तु विद्यमान हैं जिनका वह स्वयं आदरपूर्वक खण्डन करना चाहता है।

राज्य तथा चर्च
(The State and the Church)

सम्प्रभुतावादी हॉब्स यह स्वीकार नहीं करता कि अन्य कोई संस्था राज्य के समकक्ष है अथवा उसके मुकाबले खड़ी हो सकती है। हुड (Hood) के शब्दों में, 'हॉब्स ने एक ऐसे राज्य का निर्माण किया जो केवल सर्वोच्च सामाजिक शक्ति के रूप में ही नहीं वरन सर्वोच्च धार्मिक शक्ति के रूप में भी निरूपित था।" सभी संस्थाएँ-निगम, क्लब, आदि राज्य के अन्तर्गत हैं, उसकी कृपा पर आश्रित है। हॉब्स प्रत्येक क्षेत्र को सम्प्रभुता के अधीन लाना चाहता है, चाहे वह कोई धार्मिक संस्थान ही क्यों न हो। सर्व-प्रभुत्वपूर्ण राज्य में स्थानीय और स्वतन्त्र चर्च के लिए जो राज्य का प्रतिद्वन्द्वी हो, कोई स्थान नहीं हो सकता। हॉब्स की दृष्टि में चर्च, राज्य की समशक्तिमति (समान शक्तिवाली) संस्था न होकर उसके अधीनस्थ एक विभाग था। जिस सार्वभौमिक चर्च का स्वप्न ग्रेगरी सप्तम, इन्नोसेन्ट तृतीय और बोनीफेस अष्टम देखा करते थे, हॉब्स ने उसका बौद्धिक निराकरण किया। उसने कहा "पोपशाही, रोमन साम्राज्य का प्रेत है और उसकी कब्र पर बैठा है।" उसकी मान्यता थी कि यदि विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों को स्वच्छन्द रूप से मत-प्रचार की छूट दी जाएगी तो राज्य की सुरक्षा और कल्याण के प्रति संकट उत्पन्न हो जाएगा। वह इस बात से अपरिचित न था कि तत्कालीन पादरी और पोप अपने असीमित दावों द्वारा समाज में अव्यवस्था फैलाएँ। धार्मिक क्षेत्र से आगे बढ़कर वे शासकों को पदच्युत करने का अधिकार भी अपने हाथ में रखना चाहते थे। उनके ऐसे अप्रतिबन्धित विचारों और प्रयासों ने सम्पूर्ण यूरोप में अराजकता की सी स्थिति पैदा

कर दी थी। कैथोलिकों और प्रोटेस्टेन्टों के आपसी खूनी-संघर्ष ने सम्पूर्ण फ्रांस को अशान्त बना दिया था। इन परिस्थितियों में यह अस्वाभाविक न था कि हॉब्स ने चर्च पर सम्प्रभु के पूर्ण अधिकार का समर्थन किया। उसे यह स्वीकार्य नहीं हुआ कि सम्प्रभु के कानूनों पर शक्तिधारक के रूप में बाइबिल के नियमों की प्रभुता रहे। उसने यही माना कि धार्मिक सत्ता पूरी तरह राजसत्ता के वशवर्ती है। आध्यात्मिक शासन जैसी कोई वस्तु नहीं है। राज्य में केवल राजनीतिक प्रभुता रखने वालें का ही शासन होता है। राज्य में सम्प्रभु ही सर्वोच्च आध्यात्मिक शक्ति है और बिशप उसकी ही कृपा से (ईश्वर की कृपा से नहीं) आध्यात्मिक सत्ता ग्रहण करते हैं। जब लोग शिक्षा और बुद्धि की उपेक्षा करते हुए यह आग्रह करते हैं कि केवल अलौकिक (Supernatural) अनुभवों से ही सत्य-असत्य का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सकता है, तो राज्य में अव्यवस्था और अराजकता का वातावरण पनपता है। हॉब्स ने रोमन कैथोलिक चर्च को अन्धकार का राज्य (The Kingdom of Darkness) कहा तथा स्कॉटिश प्रेसबिटेरियनिज्म (Scottish Presbyterianism) एवं साधारण एंग्लीकन हाई चर्च का विरोध किया।

हॉब्स ने कहा कि धर्म का आधार अदृष्ट शक्ति का भय है। मनुष्य शाश्वत नरक के भय से कांपता है और आध्यात्मिक सत्ता उसकी इस कमजोरी से लाभ उठाती है। अतः राज्य को इस खतरे से अपनी तथा प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। जो अदृष्ट शक्तियाँ राज्य द्वारा स्वीकृत हैं उनसे भय करना धर्म है और जो अदृष्ट शक्तियाँ राज्य द्वारा स्वीकृत नहीं हैं उनसे भय का नाम अन्धविश्वास है।

हॉब्स के इन विचारों ने क्रान्तिकारी विस्फोटक चिंगारी छोड़ दी। हॉब्स को नास्तिक गिना जाने लगा जबकि उसका कहना केवल यही था कि ईश्वर का वस्तुगत ज्ञान नहीं हो सकता, उसकी पूजा हो सकती है। वह भौतिकतावादी अथवा गतिवादी था किन्तु उसने खुल्लम-खुल्ला निरीश्वरवाद का समर्थन कदापि नहीं किया।

स्पष्ट है कि हॉब्स ने चर्च को पूरी तरह नागरिक शक्ति के अधीन कर दिया। मार्सीलियो ऑफ पडुआ ने आध्यात्मिक एवं लौकिक शक्तियों को एक दूसरे से पृथक् करके चर्च को नागरिक शासन की अधीनता में रखने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी थी। हॉब्स ने इस प्रक्रिया को पूरा कर दिया। उसने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया—"यदि धार्मिक विधि-निषेधों, धार्मिक पुस्तकों के सिद्धान्तों, धर्म-तत्त्वों और चर्च-शासन को कोई सत्ता प्राप्त होती है तो वह प्रभु द्वारा प्राधिकृत होती है। चूंकि धार्मिक विधि का कोई वस्तुपरक मापक नहीं है, अतः किसी धर्म अथवा उपासना पद्धति की स्थापना प्रभु की इच्छा के ऊपर आधारित होनी चाहिए एवं चर्च एक निगम मात्र है। किसी भी निगम की भाँति उसका एक प्रधान होना चाहिए और उसका वह प्रधान प्रभु है। वह कई व्यक्तियों की एक कम्पनी है जो प्रभु के व्यक्तित्व में संगठित है और इसलिए इसे स्वयं राज्य से भिन्न अथवा अलग नहीं किया जा सकता। लौकिक एवं आध्यात्मिक शासन समरूप (Identical) है।"[1] धर्म-ग्रन्थ

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 431

की व्यवस्था करने का एकमात्र उचित अधिकार शासक को ही है। राजकीय विधि और दैवी विधि में कोई विरोध नहीं हो सकता। दैवी विधि वही है जिसकी सम्प्रभु व्याख्या करे।

सारांशतः हॉब्स के अनुसार, चाहे किसी भी दृष्टि से देखा जाए, धर्म पूरी तरह से विधि एवं शासन के नियन्त्रण में है। मार्सीलियो की भाँति वह चर्च का काम शिक्षा देना मानता है, लेकिन वह यह भी कहता है कि कोई भी शिक्षण तभी विधि-सम्मत है जब सम्प्रभु उसे प्रमाणित कर दे। धर्म-बहिष्कार का अथवा चर्च द्वारा दिया जाने वाला कोई अन्य दण्ड सम्प्रभु ही आरोपित करता है। हॉब्स ने अपने ग्रंथ 'लेवियाथान' के लगभग आधे भाग में धर्म-शास्त्र और चर्च से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों की मीमांसा की है और उन्हें विशुद्ध तर्क की कसौटी पर कसा है।

हॉब्स का व्यक्तिवाद
(Hobbes' Individualism)

हॉब्स के राजदर्शन के आधार पर यह कहना गलत न होगा कि निरपेक्ष सम्प्रभुता का कट्टर समर्थक होते हुए भी वह कई अर्थों में व्यक्तिवादी है। प्रथम, वह मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवादी है जिसके राजदर्शन का प्रारम्भिक सूत्र व्यक्ति है, अरस्तू के समान समाज नहीं। "उसकी विचारधारा में व्यक्ति बिल्कुल अलग-अलग इकाइयाँ हैं और राज्य बाहर की एक ऐसी शक्ति है जो उन्हें एकता के सूत्र में बाँधती है और उनके समान स्वार्थों में सामंजस्य स्थापित करती है।" प्रायः समशक्तिमान स्वार्थी बिखरे हुए अणुवत-मनुष्य हॉब्स के राजदर्शन की प्रारम्भिक इकाई हैं। उनकी जीवन-रक्षा तथा सुख-शान्ति का संरक्षक राज्य पारस्परिक समझौते का परिणाम है और तब तक चलता जाता है जब तक वह अपने मूल उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न है। हॉब्स के अनुसार व्यक्ति के स्वार्थ से भिन्न किसी संस्था का उद्देश्य न हो सकता है और न होना चाहिए। जब तक राज्य प्रजाजन की जीवन-रक्षा के उद्देश्य को अथवा उस उद्देश्य को जिसकी पूर्ति के लिए राज्य का समझौते द्वारा उदय होता है, चलाता है तभी तक प्रजाजन में राजभक्ति है, आदेशपालन है, आत्म-समर्पण है अन्यथा विद्रोह के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र है। हॉब्स प्रजा को राज्यादेश की अवहेलना करने की अनुमति उसी स्थिति में देता है जब राज्य द्वारा कोई ऐसा कार्य करने का आदेश दिया जाए जिसमें व्यक्ति का जीवन ही खतरे में पड़ जाता हो। समाज अथवा राज्य को कृत्रिम मानना और व्यक्ति की जीवन-रक्षा के लिए उसके अस्तित्व को स्वीकार करना हॉब्स को प्रथम श्रेणी का व्यक्तिवादी घोषित करता है। जहाँ आत्मरक्षा पर आघात पहुँचता हो वहाँ सम्प्रभु की आज्ञा की अवहेलना हो सकती है। इस विचार में सामाजिक या सामूहिक कल्याण की भावना सृजनात्मक स्रोत नहीं है। "समाज की स्थापना, सम्प्रभुतामय राजशक्ति का समझौते से उदय और आत्मरक्षा के अभाव में सम्प्रभु की आज्ञा की अवहेलना इन सभी के पीछे हॉब्स का व्यक्तिवाद ही प्रधान रूप में कारणभूत है।"

वास्तव में हॉब्स ही पहला दार्शनिक था, जिसने व्यक्ति के हित को, उसके जीवित रहने के अधिकार को सर्वोपरि माना। उसकी दृष्टि मे यही राज्य की सबसे बडी उपयोगिता है कि वह अराजकता का अन्त करके व्यक्तियो के जीवन-संकट को दूर करे। राज्य को निरकुश अधिकार इसी दृष्टि से दिए गए हैं कि वह समाज मे शान्ति की व्यवस्था करे तथा व्यक्तियो के जीवन और सम्पत्ति को सुरक्षित रखे। इस तरह हॉब्स के व्यक्तिवादी दर्शन में उसका उपयोगितावाद भी जुड़ा है। हॉब्स का विचार है कि राज्य व्यक्ति की स्वार्थसिद्धि का साधन-मात्र है। साध्य तो व्यक्ति ही अपने आप मे है। किन्तु यहाँ यह विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य बात है कि हॉब्स व्यक्ति को निजी सम्पत्ति, अभिव्यक्ति और विश्वास की स्वतन्त्रता के तथा ऐसे ही अन्य अधिकार लगभग बिल्कुल ही नही देता। कुछ दशाओ को छोड़कर (जिनका उल्लेख पहले अनेक बार किया जा चुका है), जैसे कि आत्मरक्षा की, प्रजाजन को अन्य किसी भी दशा मे शासक के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नही है। उनकी स्वाधीनता उसी मे निहित है कि जिसकी राज्यसत्ता स्वीकृति दे।

हॉब्स का निरकुशवाद वास्तव मे एकदम कट्टर नही है। नागरिक विधियो के सरक्षण मे स्वतन्त्रता का उपयोग करते हैं। 'लेवियाथन' को अनुचित हस्तक्षेप का कोई शौक नही है। हॉब्स के अनुसार विधियो का उद्देश्य प्रजाजन के सम्पूर्ण कार्यों पर रोक लगाना नही है अपितु केवल "उनका निर्देशन करना एव उन्हे इस तरह रखना कि वे अपनी अनियन्त्रित इच्छाओ, जल्दबाजी अथवा अविवेक के कारण स्वय को ही आघात न पहुँचा लें। विधि उस बाढ के समान है जिसे यात्रियो को रोकने के लिए नही प्रत्युत सन्मार्ग पर रखने के लिए खडा किया जाता है।"

हॉब्स के व्यक्तिवाद पर टिप्पणी करते हुए सेबाइन महोदय ने लिखा है—"हॉब्स के चिन्तन मे व्यक्तिवाद का तत्त्व पूर्ण रूप से आधुनिक है। इस दृष्टि से हॉब्स ने आगामी युग का सकेत अच्छी तरह से समझ लिया था। उसके दो शताब्दियो बाद तक अधिकांश विचारकों को स्वार्थ, उदासीनता की अपेक्षा कही अधिक प्रेरक तत्त्व लगा था। वे किसी सामूहिक कार्रवाई की अपेक्षा प्रबुद्ध स्वार्थ के आधार पर सामाजिक बुराइयो को अधिक आसानी से दूर कर सकते थे। हॉब्स का नाम प्रभु की निरकुश शक्ति के सिद्धान्त के साथ विशेष रूप से सयुक्त है। यह सिद्धान्त उसके व्यक्तिवाद का ही एक पूरक तत्त्व है। हॉब्स के दर्शन में एक मूर्त उच्च-मानव के अतिरिक्त जिसकी आज्ञा का मनुष्य पालन करते हैं और जो आवश्यकता पड़ने पर अपनी आज्ञा का पालन करा सकता है, अन्य सब केवल व्यक्ति हैं और ऐसे व्यक्ति हैं जो केवल अपने स्वार्थों से प्रेरित हैं।"[1] डनिंग का मत है कि "उसके (हॉब्स के) सिद्धान्त में राज-शक्ति का उत्कर्ष होते हुए भी मूल आधार पूर्णत व्यक्तिवादी है। यह सिद्धान्त समस्त व्यक्तियो की प्राकृतिक समानता पर उतना ही बल देता है, जितना मिल्टन अथवा किसी अन्य क्रान्तिकारी विचारक ने दिया है। हॉब्स ने सर्व-शक्तिशाली राज्य के विचार को स्वतन्त्र और समान

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 432

व्यक्तियों के समुदाय से तार्किक ढग से निकालने के लिए ही अपने इस नवीन विचार का विकास किया कि राज्य केवल व्यक्ति के साथ—व्यक्ति के समझौते से जन्म ग्रहण करता है।"[1]

अतः ऊपर से देखने मे ऐसा लगता है कि हॉब्स पूर्ण निरंकुश सत्ता का समर्थक है लेकिन वास्तव मे व्यक्ति के हित का समर्थक होने के कारण वह प्रबल व्यक्तिवादी भी है।

हॉब्स के विचारों की आलोचना और मूल्यांकन
(The Criticism and Estimation of Hobbes' Conception)

हॉब्स के विचारो को समर्थन मिलना तो दूर रहा, सर्वत्र उनकी तीव्र आलोचना की गई। समकालीन कोई भी पक्ष उसकी तरफ न था। राजतन्त्रवादी, ससद्, धार्मिक विचारक सभी उसके आलोचक हो गए। "निरंकुश राजतन्त्र के समर्थक उसके व्यक्ति-स्वेच्छा के सिद्धान्त तथा दैवी सिद्धान्त के निराकरण के कारण सदिग्ध थे। ससद् के समर्थक उसकी अमर्यादित अनुदार राजतन्त्रीय निष्ठा के कारण नाराज थे। धार्मिक विचारक उसकी धर्म-विरोधी धारणा तथा व्यवस्था से क्षुब्ध थे। जनतन्त्र-वादी उसे अनैतिक तथा विचार-भ्रष्ट मानते थे। व्यक्तिवादी राज्य मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और मौलिक अधिकारो की घोषणा के अभाव मे उससे भयभीत थे। तर्कवादी उसके सिद्धान्तो मे बौद्धिकता की अतिशयता (Ultrarationalistic)से खिन्न थे। वैज्ञानिक उसकी बातो को भानुमती का पिटारा समझते थे। मनोवैज्ञानिक उसके मानव-स्वभाव के चित्रण को भ्रामक, अतिरजित, त्रुटिपूर्ण मानते थे। विधि-शास्त्री उसे सकीर्ण, अनभिज्ञ तथा उत्पीडक मानते थे। लॉक और रूसो भी उसके विरुद्ध थे।" उसके ग्रन्थ 'लेवियाथान' की विचारको द्वारा कटु आलोचना की गई। वाहन का विचार है कि "जहाँ तक राजनीतिक चिन्तन के सजीव विकास का प्रश्न है, लेवियाथान एक प्रभावहीन और परिणामहीन (निष्फल) ग्रन्थ रहा। वह एक प्रभावपूर्ण वर्णसंकर है जिसमे प्रजाजन की कोई सामर्थ्य नही है और वह इस उपेक्षा का पात्र भी है।"[2] क्लेरेंडन ने हॉब्स की पुस्तक को जलाकर यहाँ तक कह डाला "मैंने कभी कोई ऐसी पुस्तक नही पढी जिसमे इतना राजद्रोह, विश्वासघात और धर्मद्रोह भरा हो।" मुरे के अनुसार "हॉब्स की जीवनी लिखने वाले को एक ही समर्थक मिल सका जबकि उसके शत्रु अनेक थे।"[3]

पर कुछ विचारक ऐसे भी हुए और आज भी हैं जिन्होने हॉब्स की महत्ता को स्वीकार किया। सेबाइन ने हॉब्स की प्रशसा करते हुए लिखा है कि "अंग्रेजी भाषा भाषी जातियो ने जितने भी रजनीतिक दार्शनिक उत्पन्न किए हैं उन सब मे हॉब्स सम्भवतः महानतम् है।" प्रो ऑकशॉट (Prof. Oakshott) के अनुसार, "हॉब्स का 'लेवियाथान' सबसे अधिक ही नही, बल्कि केवलमात्र एक राजनीतिक ग्रन्थ है जो

1 *Dunning* : Political Theories from Luther to Montesque, p. 302.
2 *C.E. Vaughan* : History of Political Philosophy, Vol I, p. 37.
3 *Murray* : History of Political Science, p. 216.

अंग्रेजी भाषा में लिखा गया था।" चाहे इन कथनों में कुछ अतिशयोक्ति हो फिर भी कटु आलोचनाओं के बावजूद यह मानना पड़ेगा कि हॉब्स का सारे संसार के विचारकों में आदरपूर्ण स्थान है। सेवाइन और ऑकशॉट की प्रशंसा तथा वाहन की निन्दा से यद्यपि कोई संगति नहीं है, फिर भी इन दोनों ही विपरीत धारणाओं के पक्ष में कुछ न कुछ कहा जा सकता है।

(1) हॉब्स पर प्रथम दोष यह लगाया जाता है कि उसका मानव-स्वभाव का चित्रण अनुचित, अतिरंजित और एकपक्षीय है। हॉब्स द्वारा मनुष्य को अमामाजिक और समाज-विरोधी कहना अरस्तू के इस स्वाभाविक सत्य सिद्धान्त के विरुद्ध है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो समाज में रहना पसन्द करता है और समाज में रहकर ही अपनी उन्नति कर सकता है। मनुष्य की आत्म-भावना केवल अपने तक ही सीमित नहीं रहती। वह पत्नी, सन्तान और सजातीय मनुष्य में स्नेह करता है, उन्हें अपना समझता है। मनुष्य में यह प्रवृत्ति होती है कि अपनी आत्मवृद्धि को अधिकाधिक विकसित एवं विस्तृत करे। उसमें दया, सहानुभूति, सहयोग, प्रेम, त्याग आदि दैवी गुण भी होते हैं।

(2) हॉब्स की सामाजिक अनुबन्ध की कहानी नितान्त भ्रमपूर्ण है। मनुष्य अपनी स्थिति ठीक करने पर ही किसी प्रकार के समझौते करने की अवस्था में आता है। सामाजिक समझौते की बात तो मनुष्य के अपेक्षाकृत विकसित होने पर ही समझ में आ सकती है। जब मनुष्य पूर्णतः असामाजिक, स्वार्थी, झगड़ालू और हिंसक हैं तो उनमें समझौते की सामाजिक भावना का उदय कैसे हो गया और वे कानून-प्रिय एवं विनम्र नागरिक कैसे बन गए? वाहन के शब्दों में, "हॉब्स का कहना है कि प्राकृतिक अवस्था संघर्ष की वह अवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अन्य सभी व्यक्तियों के प्रति युद्धरत रहता है। पशुबल और धोखा इस अवस्था के विशेष गुण हैं। इस स्थिति में सही और गलत, न्याय और अन्याय की धारणाओं के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। इन सब में कोई पारस्परिक संगति नहीं है लेकिन इसके अवसान की तो इससे कोई संगति हो ही नहीं सकती। यह कैसे माना जा सकता है कि ऐसे गुणों से विभूषित दानव-रूपी व्यक्ति किसी ऐसी अवस्था में प्रवेश कर सकते हैं अथवा प्रवेश करने की इच्छा भी कर सकते हैं कि जिसमें उनकी पूर्व-स्थिति एकदम विपरीत हो जाए अर्थात् ऐसी स्थिति या अवस्था जिसमें युद्ध की जगह शान्ति का साम्राज्य हो, पशुबल और धोखाधड़ी का परित्याग कर दिया गया हो और सत्य एवं न्याय जिनके आधार हों। जिस तरह एक हब्शी अपना रंग नहीं बदल सकता उसी तरह हॉब्स द्वारा वर्णित रक्त-पिपासु व्यक्ति शान्तिप्रिय श्रमिक नहीं बन सकता।"[1] वाहन की आलोचना में सत्य के गहरे बीज हैं। वास्तव में दानवों को एक ही क्षण में देवताओं के कायाकल्प करने की कपोल कल्पना तो पौराणिक साहित्य में भी उपलब्ध नहीं होती।

[1] *Vaughan* : History of Political Thought, Vol. I, p. 31–32.

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हॉब्स की मानव-स्वभाव में कृत्रिम विभाजन की व्यवस्था नितान्त दोषपूर्ण है। यदि मान लिया जाए कि हॉब्स सचमुच में ऐसी प्राकृतिक अवस्था की ऐतिहासिकता में विश्वास करता था तो वाहन द्वारा की गई आलोचना उसके तर्क को खण्ड-खण्ड कर देती है। पर वास्तव में ऐसी प्राकृतिक अवस्था की सत्ता को हॉब्स किसी ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट नहीं करता। अतः हमारे लिए यह मानना आवश्यक नहीं है कि हॉब्स का यह विश्वास था कि मनुष्य कभी सचमुच ही ऐसी प्राकृतिक अवस्था में रहते थे। प्राकृतिक अवस्था सम्बन्धी विचार से हॉब्स का यह मन्तव्य प्रतीत होता है कि किसी नियन्त्रक शक्ति के अभाव में मनुष्य का जीवन वैसा ही हो सकता है जैसा प्राकृतिक दशा में उसने चित्रित किया है। हॉब्स समझता है कि यह प्राकृतिक दशा यथार्थ है क्योंकि जब-जब राज्य शक्ति निर्बल रही है, तब-तब समाज में इसी प्रकार की प्राकृतिक दशा का अस्तित्व रहा है। हॉब्स के कहने का उद्देश्य यही है कि एक शक्तिशाली राज्य के अभाव में मानव-जीवन दुःखी एवं असहनीय हो जाता है। उसने दैनिक जीवन के ऐसे तथ्य उपस्थित किए हैं जिनके आधार पर इसकी सत्ता का अनुमान किया जा सकता है। इनकी चर्चा 'प्राकृतिक अवस्था' के चित्रण में की जा रही है, अतः यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि "हॉब्स का उद्देश्य राज्य के काल-गत जन्म का वर्णन करना नहीं है, उसका ध्येय तो राज्य के स्वरूप का विश्लेषण करना तथा उसका औचित्य सिद्ध करना है।" वह बतलाना चाहता है कि शान्ति और सहयोग आत्मरक्षा के लिए हिंसा और प्रतियोगिता की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं और इसके लिए प्रभुसत्ता निरपेक्ष एवं असीमित होनी चाहिए।

(3) हॉब्स समाज को अराजकता से बचाने का एकमात्र विकल्प सर्वोच्च एवं निरंकुश शासन-सत्ता को समझता है। पर यह धारणा सही नहीं है। उसके सामने मध्ययुगीन यूरोप का इतिहास था जिसमें शासन-सत्ता चर्च एवं राज्य के मध्य विभाजित थी। उस समय संघर्ष होते थे किन्तु प्राकृतिक अवस्था-सी अराजकता नहीं थी। प्राकृतिक दशा की तुलना में स्थिति अत्यन्त ही सुधरी हुई थी। उस समय प्रभुसत्ता की अविभाज्यता का सिद्धान्त विद्यमान नहीं था। आज अमेरिका में प्रभुसत्ता शासन के तीन प्रधान अंगों में बँटी हुई है, किन्तु वहाँ अराजकता नहीं है। आधुनिक इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मिश्रित अथवा सांविधानिक शासनों में अराजकता नहीं रहती।

(4) राजसत्ता को निरंकुश एवं असीमित रूप से शक्तिशाली बनाए रखने के लिए हॉब्स ने उसे समझौते में सम्मिलित पक्षों से अलग रखा है। तार्किक दृष्टि से ऐसा एक-पक्षीय समझौता असंगत है। समझौता तो सदैव दो पक्षों में होता है। फिर यह समझौता भंग भी नहीं किया जा सकता; यह बात मानव-युक्ति के विपरीत है। हॉब्स ने इस बात पर भी कोई विचार नहीं किया कि प्राचीन जीवन की इकाई व्यक्ति न होकर कुटुम्ब थी।

(5) हॉब्स राज्य और सरकार के बीच कोई भेद नही करता जबकि ये दो भिन्न सत्ताएँ है। यदि जनता विद्रोह द्वारा किसी निरकुश राजा का अन्त करने का प्रयत्न करती है तो वह राज्य सस्था की जड पर कुठाराघात नही करती। वह केवल सरकार मे परिवर्तन करती है। हॉब्स राज्य की स्वेच्छाचारिता और सरकार की स्वेच्छाचारिता मे कोई अन्तर नही देखता।

(6) हॉब्स के अनुसार अराजक दशा के जीवन से भयभीत होकर आत्म-रक्षा एव शान्ति की स्थापना के लिए समझौते द्वारा राज्य को जन्म दिया गया। दूसरे शब्दो मे, राजसत्ता को स्थापना एक अनुचित भय के आधार पर और एक अनैतिक उद्देश्य—मानव-स्वार्थ-पूर्ति के लिए हुई। भय एव स्वार्थ जैसी हेय-भावनाओं पर राज्यरूपी कल्याणकारी सस्था की नीव खडी करना उचित नही कहा जा सकता। वास्तव मे राज्य अथवा समाज भय एव स्वार्थ पर नही बल्कि अनुमति, सद्भावना, सहयोग एव सामाजिक हित की भावना पर आधारित हैं। हॉब्स भूल जाता है कि लोकमत, बुद्धि और धार्मिक विश्वास, जिसका आधार ही भय हो, केवल पुलिस राज्य ही हो सकता है। हॉब्स के राज्य का नैतिक एव भौतिक विकास, शिक्षा एव सस्कृति मे योग आदि कर्त्तव्यो से कोई सम्बन्ध नही है। इस तरह उसके राज्य का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। गूच के शब्दो मे, "लेवियाथान केवल अतिमानवीय आकार का पुलिसमैन है जो अपने हाथ मे दण्ड लिए है······ उसका राज्य अनिवार्य बुराई है, दबाव का यन्त्र है—स्वतन्त्र विकासोन्मुख सभ्यता की प्राप्ति का अपरिहार्य साधन नही।" रूसो के अनुसार भी हॉब्स का सबसे बडा दोष यह है कि वह एकदम निरकुश शासन स्थापित करता है। उसका कहना है कि "जो व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग करता है वह अपने मनुष्यत्व को भी छोड देता है। उसके समझौते से बना हुआ समाज वस्तुत समाज नही कहा जा सकता, क्योंकि उसमे सम्पूर्ण जीवन केवल एक ही व्यक्ति 'लेवियाथान' मे केन्द्रित है और शेष सभी व्यक्ति इस धरती पर निरर्थक भार-मात्र हैं।" हॉब्स के समाज मे वे सब लेवियाथान के समक्ष नतमस्तक है, करबद्ध दास-मात्र हैं। हॉब्स अपने राज्य मे मनुष्यो को सर्वथा अधिकार-शून्य करके लेवियाथान रूपी चरवाहे द्वारा हाँके जाने वाले पशुओं की श्रेणी मे ला खडा करता है। यह अवस्था तो हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था से भी अधिक शोचनीय है।

(7) हम हॉब्स की वैज्ञानिक पद्धति की चर्चा कर चुके है। 17वी शताब्दी मे वैज्ञानिक पद्धति को ज्योमिति पद्धति अथवा निगमन पद्धति के तद्रूप माना जाता था। लेकिन बाद के विकसित विचारो से यह प्रमाणित हो गया कि ज्योमिति के नमूने पर राजदर्शन का महल बनाने का प्रयास भ्रम-मात्र है। जो भी हो, हम हाब्स के इस महत्त्व से इन्कार नही कर सकते कि उसने अपने चिन्तन को एक क्रमबद्ध और समन्वित रूप प्रदान किया।

(8) हॉब्स के विधि सम्बन्धी विचार भी अति सकीर्ण हैं। वह विधि के केवल ऊपरी पालन से ही सन्तुष्ट प्रतीत होता है। लोग चाहे विधि मे विश्वास करें

या न करें, उन्हें विधि को मानना होगा। पर होना यह चाहिए कि लोग विधि में भी विश्वास करें और उसका पालन भी करें।

हॉब्स की चाहे कितनी भी आलोचना की गई हो, राजनीतिक चिन्तन को उसकी महान् देन है। वह राजनीतिशास्त्र की विस्तृत और व्यवस्थित पद्धति का निर्माण करने वाला पहला अंग्रेज विचारक है। प्रभुसत्ता का प्रतिपादन चाहे पहले किया जा चुका था, किन्तु एक निरपेक्ष और असीम प्रभुसत्ता का स्पष्ट विवरण सर्वप्रथम उसने ही दिया। प्रभुसत्ता और कानून पर उसके विचार बोदां से आगे बढ़े हुए थे। उसकी प्रभुसत्ता और विधेयात्मक कानून सम्बन्धी धारणा का ही विकास 19वीं सदी के महान् विचारक जॉन ऑस्टिन ने किया। वास्तव में हॉब्स ने ही प्रभुसत्ता को वह स्वरूप दिया जो आज तक चला आ रहा है। हॉब्स के अनुबन्ध सिद्धान्त द्वारा ही यह सुनिश्चित हुआ कि राजसत्ता सर्वोपरि है जिसके आदेशों का पालन राज्य के नागरिकों और निवासियों के लिए अनिवार्य है। इस मत की व्यावहारिकता से किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने के लिए दृढ़ तथा शक्ति-सम्पन्न शासन की आवश्यकता होती है।

हॉब्स ही वह प्रथम विचारक था जिसने राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का अभिनवीकरण किया। यद्यपि पहले भी अनुबन्ध द्वारा राज्य की उत्पत्ति का चित्रण किया गया था लेकिन साथ ही इसकी उत्पत्ति को दैवी भी माना जाता था। हॉब्स ने दैवी सिद्धान्त के समर्थकों द्वारा प्रस्तुत राज्य के रहस्यात्मक ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र को नष्ट-भ्रष्ट करने का महान् कार्य किया। उसने ही स्पष्ट रूप से बतलाया कि राज्य दैवी इच्छा का नहीं बल्कि मानवीय इच्छा का परिणाम है। इस प्रकार उसने राज्य को एक मानवीय संस्था घोषित किया। धीरे-धीरे उसके ये विचार आज के कल्याणकारी राज्य के रूप में प्रस्फुटित हुए। जेगोरिन ने ठीक ही लिखा है कि हाब्स के दर्शन में हमें जो मिलता है वह है—'प्रतिनिधानवाद के प्रत्येक रूप का निषेध।' प्राकृतिक विधि की परम्परागत प्रतिष्ठा को समाप्त किया गया है, दैविक ज्ञान की सम्भावना से इन्कार किया गया है और वहां केवल स्वतन्त्र प्राणी रह गया है जो सामाजिक जीवन के आदेशों का स्वयं अन्वेषी है। राजनीतिक व्यवस्था को पवित्र चरित्र से वंचित कर दिया गया है। उसमें अब वह दैविक चमत्कार नहीं रहा है जो सन्त पॉल ने अपने इस उपदेश द्वारा कि—"जो भी शक्ति है, परमात्मा द्वारा प्रदत्त है", समस्त ईसाइयों के हृदय पर अंकित कर दिया था। एक अत्युत्तम अयथार्थपूर्ण उस धार्मिक आतंक का स्थान ले लेता है जिससे शासकों को देखा जाता था। अब राज्य मनुष्य की सृष्टि है और उसका एकमात्र औचित्य उसकी उपयोगिता है। जब राज्य मानव आवश्यकताओं की सन्तुष्टि में विफल रहता है तो वह अपना उस एकमात्र औचित्य को गँवा देता है।"[1]

हॉब्स की बहुत बड़ी देन उसके व्यक्तिवाद की है। सम्प्रभुतावादी हॉब्स के

1 *Zagorin*. Political Thought in the English Revolution, p 188.

विचारो मे हमे व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थन मिलता है। उसने व्यक्ति के कल्याण और उसकी सुरक्षा को साध्य घोषित किया है। उसने राज्य को निरकुश अधिकार इसीलिए दिए हैं कि वह समाज मे शान्ति स्थापित रखे, व्यक्तियो का जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित रखे। सेबाइन ने इसीलिए कहा है कि, "हॉब्स के प्रभु की सर्वोच्च शक्ति उसके व्यक्तिवाद का आवश्यक परक (Necessary Complement) है।" उसने बतलाया कि राज्य का एकमात्र औचित्य उसकी उपयोगिता है। स्मरणीय है कि "हॉब्स कोई जनतन्त्रवादी नहीं था। उसके लिए जनता, सामान्य इच्छा (General Will) अथवा सामान्य हित जैसी किसी चीज का अस्तित्व नही है। अस्तित्व केवल व्यक्तियो का है। उनकी रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है। उनके निजी हितो का योग ही सामाजिक हित है।" हॉब्स के विचारो से उपयोगितावादियों ने बहुत कुछ प्राप्त किया। "राज्य को व्यक्तियों के परस्पर विरोधी हितो का मध्यस्थ बना कर वह उपयोगितावादियो का पूर्व सूचक बन गया।" प्रो वेपर के अनुसार—"यह कोई आकस्मिक घटना नही है कि बेन्थम यहाँ भी उसका उतना ही ऋणी है जितना सुख विषयक हॉब्स के विचारो का। आने वाली सन्तति का प्राय. उससे मतभेद रहा है किन्तु यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति न होगी कि उन्हे उसम एक ऐसी खान मिली जिसका खोदना उनके लिए श्रेयस्कर है क्योंकि उसमे से एक मूल्यवान धातु निकलती है।"[1]

हॉब्स का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि उसने न्याय सम्बन्धी पुरानी मान्यता का खण्डन किया और बतलाया कि न्याय की रचना विधि द्वारा होती है तथा न्याय विधि का प्रतिबिम्ब नही है। वास्तव मे उसने अपने प्रबल तर्कों द्वारा तत्कालीन राजनीतिशास्त्र-वेत्ताओ और विद्वानो को अपनी ओर आकृष्ट किया और उन्हे अपने सिद्धान्तो की तह मे जाने के लिए विवश कर दिया।

14 लॉक

(Locke)

जीवनी, कृतियाँ एवं पद्धति
(Life, Works and Method)

लॉक ने अनुबन्धवाद पर पुनः विचार किया और उसे उदार, सन्तुलित तथा व्यावहारिक बनाने की चेष्टा की। लॉक का सर्वाधिक महत्त्व इस बात में है कि उसने आधुनिक स्वतन्त्रता की धारणा का, सीमित और वैधानिक राजतन्त्र का तथा वर्तमान युग के प्रजातन्त्र का समर्थन किया।

जॉन लॉक का जन्म इंग्लैण्ड में समरसेट के रिंगटन नामक स्थान पर 29 अगस्त, 1632 ई. को हुआ था। उसके पिता मध्यम-वर्गीय परिवार के एक क्लर्क थे, किन्तु उन्होंने पुत्र को उच्च शिक्षा दिलाने में कसर नहीं छोड़ी। इस मेधावी छात्र ने ऑक्सफोर्ड से एम. ए. की उपाधि प्राप्त की और तब वहीं 1659 ई. में उसे अध्यापन-कार्य मिल गया। अध्यापन-काल में ही उसका सम्पर्क लॉर्ड शेफ्टबरी से हुआ जिसने उसे अपना गुप्त सचिव बना लिया। अब लॉक ने राजनीति का पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया। थोड़े समय पश्चात् वह ह्विग दल (Whig Party) में कार्य करने लगा, किन्तु अत्यधिक परिश्रम और अध्ययन से वह क्षय रोग से ग्रस्त हो गया। क्षय रोग से निवृत्त होने के लिए उसे फ्रांस जाना पड़ा जहाँ उसने अपने राजनीतिक विचारों का प्रकाशन किया। 1683 ई. में कुछ राजनीतिक कारणों की वजह से वह हॉलैण्ड गया, जहाँ सन् 1688 ई. तक उसे रहना पड़ा। जब इंग्लैण्ड में सन् 1688 ई. में क्रान्ति हुई तो लॉक ने इसका समर्थन किया। क्रान्ति के इस समर्थन के कारण ही उसे क्रान्ति का दार्शनिक कहा जाता है। लॉक अधिक समय तक जीवित न रह सका और 72 वर्ष की अवस्था में सन् 1704 ई. में यह विद्वान् सदा के लिए चल बसा।

लॉक के जीवन पर तत्कालीन परिस्थितियों ने बड़ा प्रभाव डाला। उसने अपने जीवन के प्रथम भाग में महान् राजनीतिक उथल-पुथल को देखा, उदाहरणार्थ अपने शैशव में गृह-युद्ध तथा यौवन में क्रॉमवेल का शासन और राजतन्त्र की पुनर्स्थापना के दर्शन किए। वृद्धावस्था में उसने 1688 ई. की गौरवपूर्ण क्रान्ति को देखा। लॉक को अपने प्रारम्भिक अनुभवों के कारण हिंसा तथा अतिवाद के प्रति गम्भीर प्रवृत्ति उत्पन्न

हो गई। दीर्घकाल तक ह्विग विचारक शेफ्ट्सबरी के साथ रहने के कारण उसका भी उस पर विशेष प्रभाव पड़ा। लॉक पर अन्य विशेष प्रभाव 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप मे जाग्रत होने वाले नवीन बौद्धिक वातावरण का पड़ा। इस नवीन युग मे धार्मिक और राजनीतिक कट्टरता के स्थान पर सहिष्णुता की विशेष छाप थी। जहाँ पुराने युग का राजनीतिक चिन्तन मानव-स्वभाव को बुरा और दुष्ट मानते हुए आरम्भ होता था, वहाँ इस नवीन युग मे मानव-स्वभाव के प्रति आशावाद की झलक देखने को मिलती थी और मानव-स्वभाव की अच्छाई मे विश्वास किया जाने लगा था। मानव-स्वभाव सम्बन्धी मूल मान्यताओ में इस परिवर्तन का प्रभाव लॉक पर पड़ना स्वाभाविक था, और इसीलिए वह एक उदारवादी विचारक बन सका। उसने ऐसी अध्ययन पद्धति निकाली जिसके आधार पर व्यक्तिवादी, उपयोगितावादी, प्रजातन्त्रवादी, ससदवादी अपने-अपने पक्ष मजबूत करते है।

रचनाएँ—लॉक ने राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, शिक्षा, दर्शन, विज्ञान आदि विभिन्न विषयो पर 30 से भी अधिक ग्रन्थ लिखे। सभी कृतियाँ उसकी 50 वर्ष की आयु हो जाने के उपरान्त ही प्रकाशित हुईं। हॉलैण्ड से लौटने के बाद ही वह सर्वप्रथम एक लेखक के रूप मे प्रकट हुआ। राजनीतिशास्त्र पर लिखे गए उसके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

1. Letter on Toleration, 1689.
2. Two Treatises on Government, 1690
3. Essay Concerning Human Understanding, 1690
4. Second Letter on Toleration, 1690.
5. Third Letter on Toleration, 1692.
6. Fourth Letter on Toleration, 1692.
7. The Fundamentals of Constitution of Caroline, 1692.

इन सभी ग्रन्थो मे लॉक का सबसे प्रमुख ग्रन्थ 'Two Treatises on Government' है। इसके प्रथम खण्ड मे लॉक ने राजा के दैवी अधिकारो और पदाधिकारो का खण्डन किया है। दूसरे खण्ड मे उसने सरकार की उत्पत्ति, स्वभाव और कार्य-क्षेत्र का विशद् विवेचन किया है। प्रच्छन्न रूप से उसका उद्देश्य हॉब्स का खण्डन करना था, किन्तु स्पष्टतः लॉक ने 'लेवियाथन' के तर्कों का जान-बूझ कर उत्तर नही दिया। स्मरणीय है कि लॉक अपने बहुत से विचारो के लिए 'The Laws of Ecclesiastical Polity' के लेखक रिचार्ड हूकर (Richard Hooker) का ऋणी था और वह इसे स्वीकार भी करता था। लॉक हॉब्स के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और सामाजिक संविदा के सिद्धान्त से सहमत था, लेकिन हॉब्स के दर्शन के लगभग प्रत्येक आधार-सिद्धान्त का विरोधी था। प्रो. वॉहन (Vaughan) के अनुसार "लॉक की 'ट्रीटाइज' एक दोनाली बन्दूक है जिसमे से एक फिल्मर (Filmer) तथा दूसरी हॉब्स के विरुद्ध तनी हुई है।" लॉक ने इस ग्रन्थ को राजा के दैवी अधिकारो का प्रबल समर्थन करने वाले सर रॉबर्ट फिल्मर

के ग्रन्थ 'Patriarcha' का खण्डन करने के लिए लिखा था। फिल्मर ने अपने ठोस तर्क अधिकतर हॉब्स से ग्रहण किए थे। लेकिन जहाँ लॉक ने प्रथम 'ट्रीटाइज' में फिल्मर की खुलकर आलोचना की, वहाँ दूसरी 'ट्रीटाइज' में उसने हॉब्स की वैसी आलोचना नहीं की। इस पर टिप्पणी करते हुए सेबाइन ने कहा है कि "यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि लॉक ने अपने उत्तरदायित्व को पूरी तरह से नहीं समझा।" यद्यपि अपने तर्कों का विकास करते समय लॉक सदैव हॉब्स पर दृष्टि जमाए रहा, लेकिन उसने हॉब्स का नाम लेकर खुल्लम-खुल्ला उसके मत का खण्डन कभी नहीं किया। सेबाइन के ही शब्दों में, "यदि वह अपने उत्तरदायित्व को पूरी तरह से समझ लेता तो वह समाज और शासन के सिद्धान्तों में गहराई से गवेषण करता। इससे उसके दर्शन का बहुत-सा भ्रम दूर हो जाता।" पर "तत्कालीन प्रभाव की दृष्टि से यह अधिक हितकर था कि वह गरीब फिल्मर का खण्डन करता।"

लॉक की इस पुस्तक का प्रकाशन यद्यपि 1690 ई. में हुआ, लेकिन कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो. पीटर लॉस्लेट के नवीन अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो चुका है कि यह सम्पूर्ण रचना 1683 ई. से पहले ही तैयार हो गई थी। लॉक ने इसे 7 वर्ष पश्चात् ग्रन्थ-लेखक का नाम न देते हुए इसलिए प्रकाशित किया कि उसे यह भय था कि यदि स्टुअर्ट शासक पुनः सिंहासनारूढ़ हुए तो लेखक को दण्ड भोगना पड़ेगा। लॉक के जीवन-काल में ही 1690, 1694 और 1698 ई में इस ग्रन्थ के तीन संस्करण प्रकाशित हुए, यद्यपि तीनों ही में अशुद्धियाँ थीं। उसकी मृत्यु के बाद ही उसके द्वारा संशोधित प्रति के आधार पर इस ग्रन्थ का शुद्ध संस्करण प्रकाशित हुआ। लॉक के ग्रन्थ ने (जो काफी पहले तैयार हो चुका था) 1688 ई. की गौरवपूर्ण क्रान्ति के लिए सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत किया था। इस पुस्तक की भूमिका में ही उसने लिख दिया था कि यह पुस्तक विलियम ऑफ ऑरेंज के सिंहासनारूढ़ होने का औचित्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इस पुस्तक ने अमेरिका के क्रान्तिकारियों के लिए भी औचित्य प्रस्तुत किया। पुस्तक की भूमिका में लिखे गए शब्दों से यद्यपि यह आभास होता है कि इसकी रचना 1688 ई के बाद हुई और ये शब्द बाद ही में लिखे गए, लेकिन आधुनिक अन्वेषणों ने यह सिद्ध कर दिया है कि पुस्तक का लेखन 1683 ई. में ही पूरा हो चुका था। लॉस्लेट के अनुसार "इसमें भावी क्रान्ति की माँग की गई है, न कि घटित क्रान्ति को उचित सिद्ध करने का प्रयास है।"

मानव स्वभाव, प्राकृतिक अवस्था एवं प्राकृतिक अधिकार
(Human Nature, State of Nature and Natural Rights)

अन्य दर्शन-पद्धतियों के अनुसार लॉक का दर्शन भी उसके मानव-स्वभाव सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित है। हॉब्स और लॉक के मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर है। यद्यपि लॉक को भी मानव-स्वभाव के दुष्टतापूर्ण पहलू का साक्षात्कार हुआ था तथा शेफ्ट्सबरी के पतन और दुःखपूर्ण दिनों में एवं अपने देश-निर्वासन के समय उसने कष्टमय जीवन व्यतीत किया था,

फिर भी मनुष्यों की स्वाभाविक अच्छाई, दया आदि गुणों का ही प्रभाव महत्वपूर्ण रहा और इनका उनकी राजनीतिक विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा। एक ओर तो उसके पिता ने स्नेहमय व्यवहार और मित्रों की सहानुभूति ने उसके हृदय में मानव-स्वभाव की श्रेष्ठता के प्रति निष्ठा उत्पन्न की और दूसरी ओर यूरोप में छा रहे नवीन बौद्धिक वातावरण से भी वह अप्रभावित न रहा। उस युग में धर्म-सुधार (Reformation) एवं धार्मिक युद्धों के सकटग्रस्त समय की धार्मिक और राजनीतिक कट्टरता कम हो गई थी तथा पुराने युग की यह मान्यता धूमिल पड़ती जा रही थी कि मनुष्य मूलतः एवं स्वभावतः बुरा होता है। उस समय मैकियावली से लेकर हॉब्स तक के राजदर्शन के मूल में मानव-स्वभाव सम्बन्धी जो धारणाएँ थीं उनमें परिवर्तन आकर यह आशावाद प्रस्फुटित हो चुका था कि मानव-स्वभाव की अच्छाई में विश्वास किया जा सकता है और सहिष्णुता एक अनुकरणीय बात है। हॉब्स पर ऐसे वातावरण का प्रभाव पड़ना अस्वाभाविक न था। आगे रक्तहीन क्रान्ति ने भी इस प्रभाव को और पुष्ट कर दिया। उसका यह विचार दृढ़ हो गया कि मनुष्य सामान्यत. शान्तिपूर्ण जीवन की उत्तमता प्राप्त करना चाहते हैं। "रक्तपात किए बिना जनता को एक राजा को सिंहासन से हटाते हुए और दूसरे को इस आधार पर कि वह उनकी इच्छाओं को ध्यान में रखते हुए शासन करेगा, सिंहासन पर बिठाते हुए उसने देखा और इस कारण यह विश्वास उसके हृदय में घर कर गया कि शासन का आधार जनता की सहमति एवं जनमत है तथा शासन का उद्देश्य जन-कल्याण है।" लॉक ने बारम्बार इसी बात पर आग्रह किया कि शासन का ध्येय समाज का हित है।

हॉब्स ने मनुष्य में केवल पाशविक प्रवृत्तियों के दर्शन किए, जबकि लॉक ने उसके मानवीय गुणों पर बल दिया। हॉब्स ने कहा कि मनुष्य में सामाजिकता जैसी कोई वस्तु नहीं होती। वह जन्म से लड़ाकू, स्वार्थी और सामाजिक प्राणी होता है। दया और सहानुभूति उसके मौलिक स्वभाव से मेल नहीं खाती। मनुष्य केवल उन्हीं वस्तुओं के प्रति आकर्षित होता है जिनसे उसकी कोई स्वार्थसिद्धि होती है। लेकिन हॉब्स के सर्वथा विपरीत लॉक ने मनुष्य की एक बड़ी विशेषता उसका बुद्धिमान (Rational) एवं विचारशील प्राणी होना स्वीकार किया और बतलाया कि मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि से एक नैतिक व्यवस्था की सत्ता को स्वीकार करके उसके अनुसार कार्य करना अपना कर्त्तव्य समझता है। मनुष्य सहयोगी तथा सामाजिक होता है। वह समाज-प्रिय एवं प्रेम तथा दया का पोषक होता है। शान्तिप्रियता और नैतिकता में उसकी आस्था होती है तथा एकता और अच्छाई में यह विश्वास करता है। लॉक के शब्दों में, "सब मनुष्य प्रकृति से एक समानता की अवस्था में हैं, जिसमें सम्पूर्ण शक्ति और अधिकार क्षेत्र पारस्परिक है तथा किसी को एक दूसरे से अधिक प्राप्त नहीं है क्योंकि इसमें अधिक स्पष्ट और कोई बात नहीं है कि एक ही नस्ल एवं वंश की सन्तान, जिन्हें प्रकृति के सब लाभ समान रूप से प्राप्त होते हैं, बिना किसी आधिपत्य अथवा अधीनता के परस्पर भी समान

हो।"[1] लॉक के इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि मनुष्य शारीरिक एवं बौद्धिक शक्तियों में ही समान है, बल्कि इसका अर्थ यह है कि चूंकि सभी व्यक्ति मनुष्य हैं, अतः नैतिक दृष्टि से वे परस्पर समान हैं और उन्हें समान अधिकार प्राप्त हैं। 18वीं शताब्दी में कांट (Kant) ने भी अपने 'निरपेक्ष आज्ञा' (Categorical Imperative) में कहा था कि "विवेकी प्राणी""मनुष्य कहलाते हैं क्योंकि उनका स्वभाव ही उनके स्वयं साध्य होने की ओर सकेत करता है और वे केवल साधन की ही भाँति प्रयुक्त नहीं किए जा सकते। वे केवल आत्मगत साध्य ही नहीं हैं जिनके अस्तित्व का मूल्य हमारे लिए हमारे कार्यों के परिणाम के रूप में ही हो, अपितु वे विषयगत साध्य भी हैं, जिनका अस्तित्व ही स्वयं साध्य है। अतः निरपेक्ष आज्ञा यह है कि इस प्रकार कार्य करो कि मानवता को, चाहे वह तुम्हारे व्यक्तित्व में हो अथवा दूसरे के में, प्रत्येक दशा में, साध्य समझो, केवल साधन कभी भी नहीं।"[2] लॉक के विचार में भौतिक एवं बौद्धिक असमानता से मनुष्यों की नैतिक समानता पर प्रभाव नहीं पड़ता।

स्पष्ट है कि मानव-प्रकृति की धारणा में जहाँ हॉब्स का मनुष्य कोरा पशु है वहाँ लॉक का मनुष्य एक नैतिक व्यवस्था को स्वीकार करने वाला एवं तदनुसार आचरण करने वाला प्राणी है।[3] यद्यपि हॉब्स के समान लॉक भी यह स्वीकार करता था कि सम्पूर्ण मानव-क्रियाओं का स्रोत इच्छा है और इच्छा की सन्तुष्टि से सुख एवं इच्छा-पूर्ति में बाधा से दुःख की अनुभूति होती है एवं मानवीय कर्म का उद्देश्य सुख की प्राप्ति करना है, तथापि वह हॉब्स की इस मौलिक धारणा से बहुत दूर था कि मनुष्य सघर्षशील, अहंकारवादी और आक्रान्ता प्राणी है। लॉक यह मानता था कि मनुष्य सदैव अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते, सदैव सत्य नहीं बोलते, पड़ोसियों की हत्या भी करते हैं, लेकिन उसकी दृष्टि में मूल रूप में वे सौजन्यपूर्ण शान्तिप्रिय एवं सामाजिक होते हैं तथा उनमें स्वशासन की सामर्थ्य होती है। मनुष्य को यह ज्ञान है कि सत्य बोलना चाहिए, हत्या नहीं करनी चाहिए। यह विवेक और ज्ञान ही उन्हें पशुओं से भिन्न बनाता है। लॉक की दृष्टि में यह विवेकशीलता मनुष्य का व्यापक गुण था। उसने प्रकृति द्वारा मनुष्य को दिए गए विवेक अथवा बुद्धि के प्रकाश को 'दैविक प्रकृति स्फुलिंग' कहकर पुकारा। उसके अनुसार यह प्रकाश ही मानव को उस प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक नियम के अनुसार आचरण करने की शक्ति देता है जो सम्पूर्ण वस्तुओं में निहित है।

हॉब्स का मनुष्य घोर स्वार्थी एवं सघर्षप्रिय होने के कारण प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में आसुरी गुणों को व्याप्त किए रहता था। इसी कारण प्राकृतिक अवस्था में 'प्रत्येक का सबके विरुद्ध युद्ध' की अवस्था थी। इसके विपरीत लॉक का विचार था कि प्राकृतिक अवस्था, "शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहायता

1 *Locke*: Of Civil Government (vide supra, p. 152 note 2)
2 *Kant*: Theory of Ethics, pp. 44-46-Translated by P. K. Abbott.
3 *Jones*: Masters of Political Thought, p. 162

और रक्षा की अवस्था" थी। मनुष्य शान्ति के साथ निवास करते थे। वे उस समय पूर्णरूप से स्वतन्त्र थे और अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करते थे किन्तु यह स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता अथवा स्वेच्छाचारिता मे ही थी क्योकि प्राकृतिक विधि मानवीय अधिकारो और कर्त्तव्यो को पूरी तरह से व्यवस्था करती थी। दूसरे शब्दो मे प्राकृतिक अवस्था का नियन्त्रण प्राकृतिक विधि (Natural Law) द्वारा होता था। लॉक की भी यही मान्यता थी कि विवेक पर आधारित नैतिक नियम ही प्राकृतिक नियम है। उदाहरणार्थ दूसरे की हत्या करना प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल है क्योकि व्यक्ति स्वय जैसे अपने जीवन को नष्ट करने का अधिकार नही रखता, वैसे ही वह दूसरो के जीवन को नष्ट नहीं कर सकता। वह जो व्यवहार अपने लिए नहीं चाहता उसे वैसा व्यवहार दूसरो के साथ भी नही करना चाहिए। प्राकृतिक अवस्था मे "मनुष्यो को अपना कार्य करने एव अपनी सम्पत्ति तथा अपने शरीर का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। यद्यपि यह स्वतन्त्रता प्राकृतिक नियमो की सीमाओ के अन्दर होनी थी, तथापि उसके लिए किसी दूसरे मनुष्य की अनुमति नही लेनी पडती थी और उसे किसी की इच्छा पर निर्भर नही रहना पडता था।"

इस तरह हम देखते हैं कि प्राकृतिक नियमो से नियन्त्रित होने के कारण लॉक की प्राकृतिक अवस्था हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था की भाँति भयावह एव सघर्षमय नही थी, वरन् यह भ्रातृत्व तथा न्याय-भावना से आच्छादित थी। हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था मे भय और हिंसा का साम्राज्य था तथा जीवन दीन-हीन, *एकांगी, कुत्सित, पाशविक एव लघु था जबकि लॉक के मतानुसार यह अवस्था न* स्वार्थपूर्ण थी, न जगली और न आक्रान्ता। लॉक की प्राकृतिक अवस्था वैसी अन्धकारपूर्ण स्थिति वाली नही थी जैसी कि हॉब्स की थी। सेबाइन के अनुसार उसकी "प्राकृतिक अवस्था का एकमात्र दोष यह है कि इसमे मजिस्ट्रेटो, लिखित नियमो और नियत दण्डो की कोई व्यवस्था नही है जिससे कि अधिकार सम्बन्धी नियमो को मान्यता दी जा सके। जो चीज सही है या गलत है, वह हमेशा ही ऐसी रहती है। भावात्मक या सकारात्मक विधि आचरण के विभिन्न प्रकारो मे किसी नैतिक गुणवत्ता का समावेश नहीं करती। वह उन्हे कार्यरूप मे परिणित करने का साधनमात्र प्रस्तुत करती है। प्राकृतिक अवस्था मे प्रत्येक मनुष्य अपने स्वत्व की, जिस प्रकार भी हो सकता है, रक्षा करता है। इस अवस्था मे उसे अधिकार होता है कि वह अपनी चीज की तो रक्षा करे और उसका कर्त्तव्य होता है कि वह दूसरे की चीज का सम्मान करे। उसका यह अधिकार उतना ही पूर्ण होता है जितना कि किसी शासन के अन्तर्गत।"[1]

प्राकृतिक अवस्था के इस *वर्णन* मे *प्राकृतिक नियम* का बार-बार उल्लेख आया है, अत इसके बारे मे भी दो शब्द लिखना आवश्यक है। लॉक के अपने ही शब्दो मे, "प्राकृतिक अवस्था मे उसे (मनुष्य को) शासित करने के लिए प्राकृतिक

1 सबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 487.

नियम होता है जो प्रत्येक को विवश करता है और प्रज्ञा (विवेक) जो कि उस कानून का ही दूसरा नाम है, सम्पूर्ण मानव-जाति का, जो उससे काम लेना चाहे, यह सिखाता है कि सब लोग समान तथा स्वतन्त्र हैं, इसलिए किसी को भी दूसरों के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति को क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए और समस्त मनुष्यों को दूसरों के अधिकारों पर आक्रमण करने और हानि पहुँचाने से रोका जाना चाहिए। उन सब को उस प्राकृतिक नियम को मानना चाहिए जो शान्ति और सम्पूर्ण मानवता की सुरक्षा चाहता है। प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून के कार्यान्वित होने का अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है कि व्यवस्था अथवा कानून का उल्लंघन करने वालों को उतना दण्ड दे सके जितना उसका उल्लंघन रोकने के लिए आवश्यक हो।"[1]

लॉक ने प्राकृतिक नियम की नैतिक एवं तर्कमूलक व्याख्या उपस्थित की। प्राकृतिक अवस्था में यह नियम प्रत्येक व्यक्ति को बाध्य करता था और राजनीतिक समाज में भी यह मानव-जीवन का निर्देशन करता है। विवेक ही प्राकृतिक नियम है। ग्रोशियस ने भी स्पष्ट घोषणा की थी कि सद्विवेक के निर्देश ही प्राकृतिक नियम हैं। लॉक ने भी बतलाया कि यदि विवेक से हम पूछें तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि किसी को भी दूसरे के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर किसी प्रकार का आघात नहीं करना चाहिए। लॉक ने यह भी कहा कि प्राकृतिक नियम अथवा विवेक को जानने के लिए मनुष्य को केवल अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी करना होगा, क्योंकि ईश्वर ने उसे प्रत्येक के हृदय में आरोपित कर दिया है। ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि करके पृथ्वी पर उसे अवतरित करते समय उसके पथ-प्रदर्शक के रूप में विवेक प्रदान किया, और वह विवेक ही समस्त मनुष्य को समान, स्वतन्त्र और समाजप्रिय बनाता है।

लॉक ने यह स्पष्ट मान्यता प्रकट की कि शान्ति और मानव-समाज की रक्षा की आकांक्षा व्यक्त करने वाले प्राकृतिक नियम प्राकृतिक अवस्था में वर्तमान थे और इन्हीं नैतिक प्राकृतिक नियमों की अधीनता में व्यक्ति को अपने प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे। प्राकृतिक नियम की उपस्थिति ही प्राकृतिक अवस्था को सहनीय और सामाजिक बनाती थी। लॉक के अनुसार तीन अधिकार प्राकृतिक अवस्था में वर्तमान थे—(i) जीवन का अधिकार, (ii) स्वतन्त्रता का अधिकार, एवं (iii) सम्पत्ति का अधिकार।

सम्पत्ति का प्राकृतिक अधिकार—लॉक ने अपने ग्रन्थ 'ट्रीटाइज' में आद्योपान्त इस बात पर सर्वाधिक बल दिया कि राज्य के निर्माण का मुख्य उद्देश्य ही नागरिकों के जीवन, उनकी स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के उन प्राकृतिक अधिकारों को सुरक्षित करना है जिनका उपभोग प्राकृतिक अवस्था में करते थे। जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकारों पर प्रकाश पूर्वोक्त वर्णन में पड़ चुका है। अतः हम लॉक द्वारा प्रतिपादित

1 *Locke* : Essay of Civil Government, Chapter II, Section 6 and 7.

सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार पर ही यहाँ विस्तार से चर्चा करेंगे। यही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है—इतना कि लॉक ने इसमें (सम्पत्ति शब्द मे) कभी-कभी तो जीवन और स्वतन्त्रता को भी सम्मिलित कर दिया है।

लॉक का विचार था कि प्राकृतिक अवस्था मे भी सम्पत्ति का अधिकार सुरक्षित था और क्रियान्वित होता था। उस युग मे सम्पत्ति इस अर्थ मे समझी जाती थी कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति से अपने जीवन-निर्वाह की सामग्री प्राप्त करता था। सेबाइन के अनुसार "यहाँ भी वह सुदूरभूत के विचारो को ला रहा था। मध्ययुग मे यह विचार असामान्य न था कि समाज स्वामित्व व्यक्तिगत स्वामित्व की अपेक्षा अधिक पूर्ण और इसीलिए अधिक स्वाभाविक होता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति तो मनुष्य के पतन का उसके पाप का चिह्न है। रोमन विधि मे इससे बिल्कुल भिन्न सिद्धान्त पाया जाता था जो यह था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म उसी समय हुआ जब लोगो ने वस्तुओ पर अनधिकार कब्जा करना आरम्भ कर दिया। इसमे पूर्व सब लोग मिल-जुल कर चीजो का इस्तेमाल करते थे यद्यपि उस समय भी सामुदायिक स्वामित्व नहीं था। लॉक ने इन दोनों सिद्धान्तो से भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने कहा कि "जिस चीज को मनुष्य ने अपने शारीरिक श्रम द्वारा प्राप्त किया है, उस पर उसका प्राकृतिक अधिकार है।" लॉक ने इस तरह वैयक्तिक स्वामित्व का सिद्धान्त प्रकट किया। उसने बतलाया कि ईश्वर ने भूमि और उसकी सभी वस्तुएँ सब व्यक्तियो को सामूहिक रूप से प्रदान की हैं। व्यक्ति का शरीर ही उसके पास ऐसी सम्पत्ति है जिस पर एकमात्र उसका अधिकार होता है। जब व्यक्ति अपने शारीरिक श्रम को ईश्वर प्रदत्त सामूहिक वस्तुओ के साथ मिश्रित करता है तो वह उन्हें अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बना देता है। उदाहरण के लिए यदि व्यक्ति किसी जमीन पर चहार-दीवारी बनाता है या उसे जोतता है तो वह उसकी हो जाती है। लॉक के ही शब्दो मे, "उस ईश्वर ने, जिसने विश्व को मनुष्य की सामान्य सम्पत्ति बनाया है, मनुष्यो को बुद्धि भी प्रदान की है ताकि वे जीवन के अधिकाधिक लाभ एव सुविधा के लिए उसका प्रयोग कर सकें। यद्यपि ससार मे जो फल स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं और जो पशु इसमे पाए जाते हैं, वे मानव-जाति की सामान्य सम्पत्ति होते हैं, और किसी भी व्यक्ति का उन पर एकाकी निजी अधिकार नही होता, तथापि प्रकृति की जिन वस्तुओ को वह अलग कर लेता है और जिनके साथ वह अपना श्रम मिला देता है और उनमे एक ऐसी चीज का सम्मिश्रण *कर देता है जो उसकी निजी है; तो वे वस्तुएँ उसकी निजी सम्पत्ति बन जाती हैं।* लॉक के समय मे अमेरिका जैसे नए उपनिवेशो मे यही हाल था और उस पर वहाँ के उदाहरणो का प्रभाव पड़ा था। लॉक ने यह भी कहा कि श्रम से ही मूल्य का निर्धारण होता है किन्तु वह श्रम को मूल्य का मुख्य स्रोत मानता था। विलियम पेटी तथा कार्ल मार्क्स की तरह उसने मूल्य का माप नही, उसका कहना था कि श्रम से सम्पत्ति की उत्पत्ति होती है और उसी से वस्तुओ का मूल्य निश्चित होता है। सामान्यत. वस्तुओ की उपयोगिता इस बात पर निर्भर है कि उनके सम्बन्ध मे

कितना परिश्रम किया गया है। लॉक के सिद्धान्त ने परवर्ती शास्त्रीय और समाजवादी अर्थ-व्यवस्थाओं के श्रम सम्बन्धी मूल्य सिद्धान्तों (Labour Theories of Value) का मार्ग प्रशस्त किया। लॉक ने यह विश्वास प्रकट किया कि "व्यक्तिगत कृषि-अर्थ-व्यवस्था में आदिम काल की सामूहिक काश्त की अपेक्षा उत्पादन अधिक अच्छा होता है।"

लॉक ने यह कहा कि सम्पत्ति उतनी ही उचित है जितनी किसी के निर्वाह के लिए आवश्यक है। जमीन की सम्पत्ति उतनी ही अपेक्षित है जितनी कोई जोत सके और जिसकी उपज को वह अपने उपयोग में ला सके। लॉक असीम सम्पत्ति के पक्ष में कदापि नहीं था।

लॉक के व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त से स्पष्ट है कि व्यक्ति का सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार आदिम समाज से, जिसे लॉक ने प्राकृतिक अवस्था कहा, पहले का है। लॉक के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए सेबाइन ने लिखा है "यह एक ऐसा अधिकार है जो प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के अभिन्न भाग के रूप में लेकर समाज में आता है। इस प्रकार समाज अधिकार की सृष्टि नहीं करता और कुछ सीमाओं को छोड़ कर उसका विनिमय भी नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि समाज और शासन दोनों का उद्देश्य सम्पत्ति के पूर्ववर्ती अधिकार की रक्षा करना है।"[1]

सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार का लॉक ने नैतिक दृष्टि से पोषण किया है क्योंकि उसका कथन है कि सम्पत्तिवान ने सम्पत्ति के साथ अपना श्रम 'मिश्रित' कर लिया है। सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार के पोषक के रूप में लॉक मध्यम वर्ग के हित-चिन्तकों के रूप में हमारे सामने आता है। लॉक के प्राकृतिक अधिकारवाद के पोषण का इङ्गलैण्ड और तत्पश्चात् अमेरिका में बड़ा प्रभाव पड़ा क्योंकि इस सिद्धान्त के सहारे मध्यम वर्ग ने चर्च और सामन्तशाही के परम्परागत अधिकारों के विरोध में सम्पत्ति प्राप्त करने और आवश्यक हस्तक्षेप से उसको सुरक्षित करने में बड़ी सहायता प्राप्त की। आज के युग में प्राकृतिक अधिकारवाद भले ही अनैतिहासिक, कृत्रिम और अप्रासंगिक प्रतीत हो किन्तु उस समय यह एक क्रान्तिकारी अस्त्र था। राज्य की स्थापना का मूल उद्देश्य सम्पत्ति का रक्षण बतलाकर लॉक ने पश्चिमी सभ्यता की भौतिकवादी दृष्टि को पुष्ट किया।

अन्त में यह भी स्मरणीय है कि प्राकृतिक अधिकारों को प्रकट करने के लिए लॉक ने 'जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पदा' शब्दावली प्रयुक्त की है। सेबाइन का मत है कि "उसने न तो यह कभी कहा और न उसका यह विश्वास ही था कि सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं है, किन्तु 'लॉक' जहाँ कहीं किसी अधिकार के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता है, वह सम्पत्ति शब्द का प्रयोग करता है चूँकि सम्पत्ति ही एकमात्र ऐसा अधिकार है जिसकी उसने विस्तार से परीक्षा की है, अतः स्पष्ट है कि इस अधिकार को उसने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 488.

है। चाहे कुछ भी स्थिति हो उसने समस्त प्राकृतिक अधिकारो को सम्पत्ति के समान ही माना है। इसका अभिप्राय यह है कि उसने प्राकृतिक अधिकारो को व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार स्वीकार किया है अतः ये अधिकार समाज तथा शासन के प्रति व्यक्ति के अनुलघनीय दावे हैं। इन दावो को कभी निराकृत नही किया जा सकता क्योकि समाज का उद्देश्य ही उनकी रक्षा करना है। समाज उन पर उतना ही नियन्त्रण रख सकता है जितना उनकी रक्षा के लिए आवश्यक है। दूसरे शब्दो मे "एक व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पदा पर उसी सीमा तक नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है जिस सीमा तक इस कार्य से दूसरे व्यक्तियो के ऐसे ही अधिकारो की रक्षा करने मे सहायता प्राप्त होती है।"

प्राकृतिक अधिकारो, विशेषकर सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार पर चर्चा करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य बुद्धिपूर्वक प्राकृतिक विधान का पालन करते हुए एक दूसरे के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के तीनो अधिकारो का सम्मान करते हैं और इसलिए यह अवस्था हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था से मौलिक रूप से भिन्न हो जाती है क्योंकि हॉब्स के अनुसार इस अवस्था मे मनुष्य अपने स्वार्थ मे अन्धा होकर बुद्धि और विवेक को तिलाञ्जलि देते हुए हिंसा, हत्या और युद्ध का वातावरण व्याप्त किए रहते है।

अब लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था सुन्दर, सुखदायक और शान्तिमय थी तो प्रश्न यह उठता है कि ऐसी स्थिति का अन्त करके राज्य का निर्माण करने तथा स्वय को अपने ही साथियों के अनुशासन के अधीन रख देने की इच्छा व्यक्ति में क्यों जाग्रत हुई? जहां तक हॉब्स का प्रश्न है, उसके द्वारा चित्रित प्राकृतिक अवस्था से राज्य का निर्माण करने का उद्देश्य छिपा नही है किन्तु लॉक के समक्ष हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था को समाप्त करके शान्ति की खोज जैसा कोई उद्देश्य प्रतीत नही होता। लॉक ने 'द्वितीय ट्रीटाइज' जिसे 'Essay of Civil Government' भी कहते हैं, के 7वें अध्याय मे लिखा है कि "भगवान् ने मानव रूपी एक ऐसे प्राणी की रचना करके, जिसका उसके मतानुसार अकेला रहना श्रेयस्कर न था, उसे आवश्यकता, सुविधा और सामाजिक जीवन-यापन करने की प्रवृत्ति की तीव्र भावनाओ मे ओत-प्रोत कर दिया और इसके साथ ही साथ उसे समाज को कायम रखने तथा उसका आनन्दोपभोग करने के लिए बुद्धि एव भाषा भी प्रदान की।" तात्पर्य यह हुआ कि लॉक का विश्वास था कि मनुष्य का आन्तरिक स्वभाव उसे सामाजिक समूह बनाने को प्रेरित करता है और ऐसा प्रथम समूह परिवार है। राज्य और सरकार का उदय तो परिवार के बाद हुआ। यद्यपि अरस्तू के समान ही लॉक मनुष्य को एक सामाजिक अथवा राजनीतिक प्राणी स्वीकार करने से इन्कार नही करता लेकिन मनुष्य की सामाजिकता को वह राज्य की उत्पत्ति का कारण नही मानता। चूंकि मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था का जीवन उसके सामाजिक स्वभाव की आवश्यकताओ को पूरा करने मे समर्थ था, अतः लॉक ने राज्य की उत्पत्ति के कारणों की खोज दूसरे ही क्षेत्र मे की। उसने अनुभव किया कि प्राकृतिक अवस्था के सौम्य जीवन मे भी कुछ बडी कमियाँ थी जिनके कारण

अन्तत वह अवस्था असह्य हो गई और अनुबन्ध जनित राज्य कायम हुआ तो अब हमे देखना चाहिए कि प्राकृतिक अवस्था की वे कौन-सी असुविधाएँ थी जिनके कारण राज्य के निर्माण की आवश्यकता हुई ?

प्राकृतिक अवस्था की सुविधाएँ—लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था का समाज सतत् युद्धरत समाज नही था फिर भी दुर्भाग्यवश वह ऐसा समाज अवश्य था जिसमे शान्ति की पूर्ण व्यवस्था नही थी । उस समाज के कुछ व्यक्ति नीच और क्षुद्र थे जो समय-समय पर उस समाज की शान्ति नष्ट कर देते थे । प्राकृतिक अवस्था मे सभी स्वतन्त्र थे तथापि स्थिति कुछ ऐसी थी कि सभी को भय बना रहता था । उस समय सभी की निम्नलिखित तीन प्रमुख असुविधाएँ थी—

(1) प्राकृतिक नियम की कोई स्पष्ट परिभाषा नही थी,
(2) उसकी परिभाषा करने वाला कोई योग्य अधिकारी नहीं था, एव
(3) कोई भी ऐसा नही था जो प्रभावशाली रूप मे उसे लागू करता ।

स्पष्ट है कि प्राकृतिक अवस्था मे विभिन्न व्यक्ति अपनी विभिन्न बुद्धियो और स्वार्थ-भावनाओं के वशीभूत होकर प्राकृतिक नियम की विविध रूपो मे व्याख्या करते थे अत प्राकृतिक नियम की कोई सुनिश्चित परिभाषा नही हो पाती थी । इसके अतिरिक्त प्राकृतिक नियम एव इसके अनुरूप निर्णयो को लागू करने की दृष्टि मे किसी साधन अथवा सस्था का अभाव भी था । स्थिति यह थी कि प्रत्येक व्यक्ति प्राकृतिक नियम को लागू करने और उसे भग करने वाले को दण्ड देने का अधिकारी था । वह स्वय अपने ही मामले मे किसी का भी न्यायाधीश बन जाता था । ऐसी स्थिति मे निष्पक्ष न्याय एव न्याय-पद्धति की एकरूपता सम्भव न थी । परिणामत जीवन असुरक्षित एव अनिश्चितता का सा होने लगा था । इन्हीं असुविधाओ का अन्त करने के लिए, अनिश्चितता और गडबडी को रोकने के लिए, नियमों का उल्लघन करने वालो को दण्ड देने वाली निष्पक्ष न्यायकारी शासन-सत्ता की आवश्यकता हुई । इस तरह "लॉक को, प्राकृतिक नियम को क्रियान्वित करने के उत्तरदायित्व को, पक्षपातपूर्ण व्यक्तियो से हटाकर अपेक्षाकृत निष्पक्ष समाज को सौप देने का अच्छा कारण मिल गया" और सामाजिक सविदा (Social Contract) द्वारा राज्य का निर्माण किया गया ।

लॉक का सामाजिक संविदा
(Locke's Social Contract)

प्राकृतिक असुविधाओ से राहत पाने के लिए मनुष्य ने न्यूनतम प्रतिरोध का मार्ग (Line of Least Resistance) अपनाते हुए एक समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया । सब मनुष्यो के समान होने के कारण यह समझौता समाज के सभी व्यक्तियो का सभी व्यक्तियो के साथ किया गया । इस प्रकार समझौते का स्वरूप सामाजिक था । अपनी बाधाओ से सम्बन्धित कुछ अधिकार व्यक्तियों ने समाज को इसलिए अर्पित कर दिए ताकि उसकी सामूहिक सतुलित बुद्धि से असुविधा सुविधा मे

बदल जाए। दूसरे शब्दो मे प्रत्येक व्यक्ति ने सम्पूर्ण समाज को, न कि हॉब्स के समान किसी व्यक्ति वा व्यक्तियो की सभा को, अपने वे प्राकृतिक अधिकार समर्पित कर दिए जिनके प्रयोग से प्राकृतिक अवस्था मे अव्यवस्था फैलती थी अथवा इनका भय निरन्तर बना रहता था। समझौते का उद्देश्य जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की आन्तरिक तथा बाह्य सकटो से रक्षा करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु जिन प्राकृतिक अधिकारो का परित्याग किया गया वे ये थे—स्वयमेव प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने, उसे क्रियान्वित करने तथा इसके उल्लघनकारी को दण्ड देने के अधिकार। व्यक्तियो ने कुछ अधिकार जो अदेय थे अपने पास ही रखे, यथा जीवनाधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार आदि। अपने त्याग के कारण ही प्राकृतिक अवस्था के व्यक्तियो ने अधिकतर सुरक्षा तथा सुनिश्चित उपभोग (Greater Security and Secure Enjoyment) का लाभ पाया।

लॉक द्वारा प्रतिपादित समझौते के विश्लेषण से प्रतीत होता है कि—

(i) व्यक्ति हॉब्स की कल्पना के अनुसार अपने सभी अधिकारो का त्याग नही करता। वह केवल प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने, उसे क्रियान्वित करने और भग करने वालो को दण्ड देने के अधिकारो को छोडता है और शेष सब अधिकार राज्य मे उसी के पास सुरक्षित रहते हैं और राजनीतिक नियन्त्रण को मर्यादित करते हैं। समझौते द्वारा कोई भी व्यक्ति स्वय की स्वतन्त्रता पर केवल वही बन्धन स्वीकार करता है जो दूसरे के आक्रमण से सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक हो।

(ii) हॉब्स के समान व्यक्तियों द्वारा अपने अधिकार 'लेवियाथन' जैसे व्यक्ति विशेष या व्यक्ति समूह को न दिए जाकर सम्पूर्ण समुदाय (Community) को समष्टि रूप से प्रदान किए जाते है।

(iii) लॉक के समझौते से उत्पन्न समाज अथवा राज्य मे हॉब्स के 'लवियाथन' के समान असीम अधिकार सम्पन्न, सर्वशक्तिशाली एव प्रभुसत्ताधारी नही हैं अपितु वह दोहरे नियन्त्रण से युक्त है। एक तो व्यक्ति अपने पास जो अदेय अधिकार रखता है वे राज्य-शक्ति को मर्यादित करते है और दूसरे प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने और उसे लागू करने वाला राज्य स्वय भी उससे बाधित है; ठीक उसी तरह जिस तरह उससे व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था मे था। लॉक के स्वय के शब्दों मे, "प्राकृतिक कानून की बाध्यताएँ समाज मे समाप्त नही होती। इस दोहरे नियन्त्रण को इस तरह भी प्रकट किया जा सकता है कि राज्य "व्यक्तियों के मन, स्वतन्त्रता एव सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारो का सम्मान करता है और साथ ही प्राकृतिक कानून का स्वय भी पालन करता है।" सारांश यह है कि लॉक के समझौते से उत्पन्न समाज हॉब्स के समान असीम और अमर्यादित अधिकार नही रखता। यह समाज लोगो के अन्य अधिकारो एव प्राकृतिक कानून का अतिक्रमण करने पर कर्त्तव्यच्युत होता है और तब जनता उसके विरुद्ध विद्रोह की अधिकारिणी है। लॉक का समाज दासता का पट्टा नही स्वतन्त्रता का पत्र' है।

(iv) लॉक का समझौता सर्वसम्मति से सम्पन्न हुआ है। वह जन-इच्छा पर आधारित है। कोई भी व्यक्ति इस नवीन समाज मे सहमति (Consent) के

बिना प्रविष्ट नहीं हो सकता। "सहमति ही विश्व में प्रत्येक वैध सरकार का निर्माण करती है।"

(v) संविदा को मान्य होने के लिए प्रत्येक पीढ़ी द्वारा उसे पुनः स्वीकार किया जाना आवश्यक है। राज्य के प्रत्येक नागरिक के बालक सर्वथा स्वतन्त्र रूप में जन्म लेते हैं। उन पर राज्य की सदस्यता अनिवार्यतः नहीं थोपी जा सकती। उन्हें इस बात की पूरी स्वाधीनता है कि वे राज्य में सम्मिलित हों अथवा न हों, चूँकि समझौता एक बार हो चुका है अतः उसे पुनः दोहराने की आवश्यकता नहीं है। सन्तति की सहमति पाने की समस्या का लॉक यह कहकर निवारण करता है कि यदि बड़े अर्थात् परिपक्व अवस्था प्राप्त होने पर वे अपने जन्म के देश की सरकार द्वारा प्रदत्त सेवाओं को स्वीकार करते रहते हैं तो उसका यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए कि उन्होंने मूल संविदा के समर्थन में अपनी सहमति प्रदान कर दी है। किन्तु ऐसा न करने और राज्य से बाहर चले जाने पर वे अपनी पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी नहीं रह सकते। वे उससे वंचित हो जाते हैं। लॉक का यह दृष्टिकोण निश्चय ही व्यावहारिक नहीं है, चाहे सैद्धान्तिक रूप से इसमें कुछ सार भले ही हो।

(vi) लॉक का समझौता एक बार हो जाने पर कभी रद्द न हो सकने वाला (Irrevocable) है। यहाँ वह हॉब्स के समकक्ष ही है। हाँ, यह अवश्य है कि निर्मित सरकार यदि किसी संकटवश विनष्ट हो जाए, तो उसका पुनर्निर्माण हो सकता है।

(vii) सर्वसम्मति से निर्मित होने वाले राजनीतिक समाज (Civil Society) में बहुमत के शासन (Majority Rule) का सिद्धान्त अनिवार्यतः निहित है। अल्पसंख्यकों को बहुमत की इच्छा का पालन करना चाहिए, चूँकि इस सिद्धान्त को स्वीकार करना सामाजिक व्यवस्था के संचालन और सामूहिक कार्यों को सम्भव बनाने के लिए नितान्त आवश्यक है। संविदा की यह महत्त्वपूर्ण शर्त है जिसके उल्लंघन पर वह सर्वथा महत्त्वहीन हो जाता है। लॉक के ही शब्दों में—"प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ एक सरकार की अधीनता में एक राज्य के निर्माण करने की अनुमति देता है। इस प्रकार वह अपने-आपको बहुमत के निर्णय के सामने झुकने तथा उससे संचालित होने के लिए बाधित करता है अन्यथा वह मूल संविदा जिसके द्वारा उसने दूसरों के साथ मिलकर समाज की रचना की है, निरर्थक हो जाएगी और वह संविदा ही नहीं रहेगी।" आगे एक स्थान पर वह कहता है—"कोई भी समुदाय अपना कार्य अपने सदस्यों की सहमति द्वारा ही कर सकता है। चूँकि यह समुदाय एक इकाई होता है, अतः समग्र समुदाय की एक निर्दिष्ट नीति होना आवश्यक है। इकाई उसी दिशा में अग्रसर हो सकती है जिस ओर सर्वाधिक झुकाव हो। इसी प्रकार समुदाय की भी वह नीति हो सकती है, जिसको उसके अधिकांश सदस्यों का अनुमोदन प्राप्त हो।" इस सम्बन्ध में सेबाइन ने भी लिखा है कि "लॉक के सिद्धान्त में एकता का आधार यह है कि जो कार्य समुदाय के सदस्यों के बहुमत

से होता है, वह समुदाय का ही कार्य माना जाता है। जब प्रत्येक व्यक्ति दूसरो की सहमति मे राजनीतिक समाज का निर्माण करने के लिए तैयार होता है, तब वह इस बात के लिए बाध्य हो जाता है कि वह बहुमत के निर्णय को शिरोधार्य करे। इस सम्बन्ध मे पुफेन डोर्फ ने ठीक ही कहा था कि "सामाजिक संविदा की कल्पना को पुष्ट करने के लिए सर्वसम्मति को कल्पना का प्रयोग किया जाना चाहिए। बहुमत का समझौता सम्पूर्ण समाज का समझौता माना जा सकता है।"[1]

लॉक की बहुमत वाली धारणा सही है क्योंकि किसी भी मानवीय समाज के निर्णयो को पूर्णतः सर्वसम्मति पर आश्रित नही किया जा सकता। यह सदैव सम्भव है कि अस्वस्थता, व्यस्तता आदि कारणों से कुछ व्यक्ति किसी कार्यवाही मे भाग न ले पाएँ, अथवा किसी नीति विशेष से सहमत नही हो अतः सामाजिक व्यवस्था के स्वस्थ संचालन के लिए यह अपरिहार्य है कि बहुमत का अल्पमत सम्मान करे। लॉक यहाँ पर एक गम्भीर असगति का शिकार है। उसके बहुमत के सिद्धान्त के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि यदि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार वास्तविक हैं तो उसे उन अधिकारों से वंचित नही किया जाना चाहिए—चाहे वंचित करने वाला एक अत्याचारी हो अथवा बहुमत हो। सम्भवतः लॉक को यह नही सूझा कि बहुमत भी अत्याचारी हो सकता है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि कोई व्यक्ति अपने निजी निर्णय की इसलिए क्यो अपेक्षा करे कि जो लोग उससे सहमत नहीं हैं, वे बहुमत मे हैं। यदि जनता अथवा समुदाय एक इकाई है, तो यह समझ मे नही आता कि उसका निर्णय बहुमत के आधार पर ही क्यों हो ?[1]

लॉक के समझौते की इस व्यवस्था के बाद हम उसके सिद्धान्त की अस्पष्टता पर आते हैं। मुख्य कठिनाई यह है कि वह बार-बार मूल समझौते (Original Contract) का उल्लेख करता है, किन्तु स्पष्ट रूप से यह कहीं नहीं बतलाता कि उसका मूल-संविदा से अभिप्राय क्या है ? यह समाज है या सिर्फ शासन ? लॉक कहता है कि राजनीतिक क्रान्ति जो शासन का विघटन कर देती है, शासन द्वारा शासित समुदाय का विघटन नहीं करती। वह यह स्पष्ट नहीं करता कि—शासन अथवा सरकार का निर्माण मूल संविदा के अतिरिक्त किसी अन्य संविदा से हुआ था अथवा कब और कैसे हुआ ? इस कठिनाई के निराकरण में सेबाइन ने कहा है कि "एल्यूसियस तथा पुफेन डोर्फ जैसे महाद्वीपीय लेखको ने दो संविदाओं की कल्पना की थी। एक संविदा दो व्यक्तियों मे आपस मे हुआ था जिसके परिणामस्वरूप समुदाय का जन्म हुआ। दूसरा संविदा समुदाय और शासन मे हुआ। लॉक ने कुछ-कुछ यही दृष्टिकोण ग्रहण किया है; यद्यपि उसने इसका निराकरण कहीं नही किया है। दो संविदाओं से कोई स्पष्टीकरण नहीं होता क्योंकि एक सकल्पना को दो अवस्थाओं मे लागू करना उचित नहीं है लेकिन इससे सिद्धान्त की औपचारिक स्पष्टता प्राप्त होती है। लॉक औपचारिक स्पष्टता को कोई महत्त्व नही देता था इसलिए

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 200

उसने दो दृष्टिकोणों के समन्वय से ही सन्तोष कर लिया।" इस सम्बन्ध में वॉहन (Vaughan) का मत है कि यद्यपि लॉक ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, फिर भी वह दो प्रकार के समझौते मानता है। पहले के द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अन्त हो जाता है और उसकी जगह नागरिक या राजनीतिक समाज (Civil Society) की स्थापना होती है जब पहला समझौता हो जाता है तो लोग सामूहिक रूप में दूसरा समझौता करते हैं—शासन-विषयक समझौता। इसके द्वारा मूल समझौते में स्वीकार की गई शर्तों को लागू करने के लिए एक सरकार की व्यवस्था की जाती है।

वॉहन के विपरीत अन्य लेखकों की धारणा है कि लॉक का संविदा दोहरा नहीं है क्योंकि उसके अनुसार मनुष्य प्रकृति से ही सामाजिक है। यद्यपि वह राज्य और सरकार में विभेद करता है लेकिन वह लक्षण द्वारा भी ऐसा कोई संकेत नहीं करता कि शासन का निर्माण दूसरे संविदा द्वारा होता है। एक संविदा की धारणा का समर्थन करने वालों का कहना है कि लॉक ने निश्चय ही एक मूल एवं प्रधान संविदा की चर्चा की थी जिसमें समान व्यक्तियों ने नागरिक सभ्य समाज की स्थापना का उद्घोष किया। सरकार के निर्माण हेतु कोई दूसरा संविदा नहीं किया गया क्योंकि लॉक के अनुसार संविदा में उभयपक्षीय समानता अपेक्षित है, पर सरकार और समाज में यह समानता नहीं है। समाज उच्चकोटि की अवस्था है और सरकार उसके समकक्ष न होकर उसके आदेशाधीन है अतः यह सोचना भ्रामक है कि लॉक द्वारा जो संविदाओं की सृष्टि की गई है। प्रो बार्कर का स्पष्टीकरण है कि "मानव-इतिहास में एक ही सामाजिक अनुबन्ध हुआ, राजनीतिक स्वरूप उसका उपांग था नागरिक से समाज का जन्म हुआ, अनुबन्ध के फलस्वरूप राज्य तो न्यास-अभिलेख (Trurst-deed) के रूप में आया।"

उल्लेखनीय है कि एक राजनीतिक समाज सरकार के बिना न तो जीवित ही रह सकता है और न कार्य ही सकता है, अत. ऐसे समाज का प्रथम कार्य सरकार या शासन की स्थापना करना होता है ताकि वह समाज में जीवन, सम्पत्ति आदि की रक्षा कर सके। लॉक के शब्दों में, कोई भी राजनीतिक समाज अपने समस्त सदस्यों को दण्डित करने की शक्ति के अभाव में न तो हो सकता है और न अपना अस्तित्व ही बनाए रख सकता है। अत राजनीतिक समाज केवल वहीं हो सकता है जहाँ प्रत्येक सदस्य ने अपनी प्राकृतिक शक्ति का परित्याग करके उसे सम्पूर्ण समाज के हाथों में सौंप दिया हो। ...जो लोग एक समाज में संगठित होते हैं और एक सामान्य कानून तथा न्यायपालिका की स्थापना करते हैं, जिसे उनके झगड़ों का निर्णय करने तथा अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार होता है, वे एक राजनीतिक समाज में एक दूसरे के साथ सभरूप हो जाते हैं।" इससे अभिप्राय यही है कि राजनीतिक समाज का निर्माण तभी पूर्ण समझा जा सकता है जब यह सरकार की स्थापना करे। सरकार-निर्माण द्वारा ही समाज-स्थापना के उद्देश्य की पूर्ति हो पाती है। परिणाम यही निकलता है कि समझौता एक हुआ या दो समझौते हुए—यह विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। वैसे प्रतीत नहीं होता है कि समझौता एक

हुआ। व्यक्तियो ने सभ्य नागरिक समाज को सबसे पहले नियम-निर्धारण का अधिकार दिया जो विधायक-शक्ति का पूर्वाभास है फिर उस समाज को अपराध-निर्णय, दण्डविधान तथा नीति-क्रियान्वयन के अधिकार भी सौंपे गए। इस समर्पण या हस्तान्तरण से न्यायपालिका तथा कार्यपालिका के रूप स्थिर किए गए। इन अधिकारो से सुसज्जित होकर समाज अधिक व्यवस्थाबद्ध हो गया और कालान्तर मे उसने शासन की स्थापना की जो इन शक्तियो (विधायिनी कार्यकारिणी तथा न्यायदायिनी) की सन्तुलित व्यवस्था करती। इसके साथ ही यह भी मान लिया गया कि बहुमत का निर्णय ही सर्वमान्य होगा। इस प्रकार व्यक्ति के आंशिक हस्तान्तरण द्वारा अनुबन्ध का सूत्रपात किया गया। पहले व्यक्तियो ने मिलकर नागरिक समाज बनाया, फिर समाज ने सरकार बनाई और उसे केवल वे ही अधिकार दिए जो व्यक्ति ने समाज को सौंपे थे। व्यक्ति, समाज, विधानसभा, कार्यकारिणी, न्यायपालिका इस क्रम से अनुबन्ध के परिणाम विकसित हुए।

एक प्रश्न यह उठता है कि उपरोक्त समझौता एक ऐतिहासिक तथ्य है अथवा केवल एक दार्शनिक धारणा? लॉक इसे दार्शनिक होने के साथ-साथ ऐतिहासिक सत्य भी मानता है। ट्रीटाइज के 14वें वर्ग मे लिखे उसके शब्दो से जाहिर है कि "मनुष्यो के बिना न ससार कभी था, न कभी होगा" सविदा को ऐतिहासिक तथ्य बनाते है और 15वें वर्ग के अन्त मे लिखे गए शब्द—"मेरा कहना है कि समस्त मनुष्य तब तक उस अवस्था मे रहते हैं जब तक कि वे अपनी अनुमति से एक राजनीतिक समाज की रचना नही कर लेते" सविदा की एक दार्शनिक धारणा सिद्ध करते हैं। किन्तु लॉक के राजदर्शन को तभी भली प्रकार समझा जा सकता है जब हम उसका सम्बन्ध राजनीतिक समाज के आन्तरिक न्याय (Logic) से मान लें न कि ऐतिहासिक जन्म से। लॉक स्वय कहता है कि समाज मे मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध तथा व्यक्तियो और समाज के सम्बन्ध को हम सर्वोत्तम रूप मे तभी समझ सकते हैं जब हम राज्य को मनुष्यो के पारस्परिक समझौते का फल एव सरकार को जनता की ओर से एक ट्रस्ट समझें।

डनिंग (Dunning) महोदय का मत है कि "लॉक के सामाजिक सविदा सम्बन्धी विचारो मे ऐसी कोई बात नही है जो उसके पूर्ववर्ती दार्शनिको द्वारा प्रतिपादित न की गई हो।" लेकिन उसकी महती विशेषता यही है कि उसने इसे अत्यधिक सुनिश्चितता प्रदान की और व्यक्तिवादी बनाया। उसने सरकार की सत्ता पर प्रतिबन्ध लगाकर उसका प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारो की सुरक्षा स्वीकार किया।

सरकार के कार्य और उसकी सीमाएँ
(Functions of the Government and its Limits)

लॉक के मत मे सरकार का उद्देश्य निश्चित है और इसकी शक्ति सीमित है। जनता की सम्पत्ति और नागरिक-हितो का पोषण करना ही सरकार का उद्देश्य है। लॉक ने 'द्वितीय ट्रीटाइज' के 9वें अध्याय मे लिखा है कि "मनुष्यों के राज्य मे

संगठित होने तथा अपने आपको सरकार के अधीन रखने का 'मुख्य उद्देश्य अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना है।" यहाँ सम्पत्ति शब्द से अर्थ केवल भौतिक सम्पदा से नहीं है इसके अन्तर्गत जीवन एवं स्वतन्त्रता भी सम्मिलित हैं। सरकार का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह उपद्रवियों और अपराधकर्त्ताओं से समाज की रक्षा करे लेकिन लॉक यह नहीं चाहता कि सरकार के पास अधिक सत्ता केन्द्रित हो जाए, क्योंकि सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीयकरण से अत्याचारीतन्त्र या अन्यायतन्त्र का उदय हो सकता है।

लॉक के अनुसार व्यक्तियों के जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति की रक्षा के लिए सरकार के तीन कार्य आवश्यक हैं—

(i) न्याय एवं अन्याय तथा सम्पूर्ण विवादों के निर्णय के लिए सामान्य मापदण्ड निश्चित करने के व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्य।

(ii) समाज एवं नागरिकों के हितों की रक्षा करने, युद्ध की घोषणा करने, शान्ति स्थापित करने, अन्य राज्यों से सन्धि करने आदि के कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य।

(iii) स्थापित कानूनों के अनुसार व्यक्तियों के पारस्परिक झगड़ों का निष्पक्ष निर्णय देने सम्बन्धी न्यायिक कार्य।

स्पष्ट है कि लॉक ने सरकार के व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्याय-पालिका सम्बन्धी तीनों कार्य बतलाये हैं। उसने यह भी कहा है कि तीनों कार्य परस्पर एक दूसरे से पृथक् हैं और इन्हें सम्पादित करने वाले व्यक्तियों में विभिन्न गुणों और शक्तियों का होना अपेक्षित है। उसने व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में पृथकता मानते हुए कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीनस्थ बतलाया। उसने कहा "जिन व्यक्तियों के हाथ में विधि-निर्माण की शक्ति होती है उनमें विधियों को क्रियान्वित करने की शक्ति अपने हाथ में ले लेने की भी प्रबल इच्छा हो सकती है क्योंकि शक्ति हथियाने का प्रलोभन मनुष्य की एक महान् दुर्बलता है।" लॉक ने यह भी कहा कि कार्यपालिका का सत्र निरन्तर चलना चाहिए, लेकिन व्यवस्थापिका के लिए ऐसा होना आवश्यक नहीं है। कार्यपालिका पर नियन्त्रण का समर्थन करके लॉक निःसन्देह आधुनिक संविधानवाद का प्रचण्ड प्रणेता और समर्थक सिद्ध हुआ। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के मध्य सत्ता-विभाजन का प्रस्ताव स्वीकार करके लॉक ने बोदां और हॉब्स द्वारा प्रतिपादित शक्ति केन्द्रीकरणात्मक सम्प्रभुतावाद का अप्रत्यक्ष रूप से बहिष्कार कर दिया।

लॉक ने बतलाया कि न्यायिक कार्य-व्यवस्थापन एवं कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों में भिन्न होते हैं, अतः इन्हें दोनों ही से, अन्यथा कम से कम व्यवस्थापिका से अवश्य पृथक् रखना चाहिए। यह बड़ा अनुचित कार्य होगा कि विधि-निर्माणकर्त्ताओं को ही विधि का व्याख्याकार बना दिया जाए। लॉक न्यायिक एवं कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों में अन्तर स्वीकार करते हुए भी दोनों कार्यों को एक ही अंग को

सौंपने के लिए इसलिए तैयार था क्योंकि दोनो ही अंग अपने कर्त्तव्य पालन हेतु समाज की सशस्त्र शक्ति की अपेक्षा रखते हैं।

लॉक ने व्यवस्थापिका को सर्वोच्च माना, पर इसकी निरंकुशता का समर्थन कदापि नहीं किया। उसका कहना था कि व्यवस्थापिका से ऊपर जनता है। उसे भी मर्यादा के अधीन रहकर कार्य करना पड़ता है। व्यवस्थापिका अपनी शक्तियों को केवल उन्ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयुक्त कर सकती है जिनके लिए समाज की रचना हुई है। व्यवस्थापिका अपने अधिकार-क्षेत्र में केवल उन्ही बातों को मान सकती है जो सरकार को समाज द्वारा सौंपी जाती हैं। उसके द्वारा प्राकृतिक अवस्था के समान ही राजनीतिक समाज में भी मान्य प्राकृतिक कानून के विरुद्ध कोई विधि नहीं बनाई जा सकती। व्यवस्थापिका के लिए लोगों के अदेय प्राकृतिक अधिकारों का सम्मान करना अनिवार्य है।

व्यवस्थापिका की शक्ति के सम्बन्ध में लॉक के विचारों की तार्किक मीमांसा करते हुए सेबाइन महोदय ने लिखा है कि—"इंग्लैण्ड की क्रान्ति के अनुभव के आधार पर लॉक ने यह मान लिया था कि शासन में विधायी शक्ति सबसे ऊँची होती है, तथापि वह यह भी मानता था कि कार्यांग विधि-निर्माण में भाग ले सकता है। लेकिन, दोनो शक्तियाँ सीमित होती है। विधायी शक्ति स्वेच्छाचारी नहीं हो सकती। स्वेच्छाचारी शक्ति तो उन लोगों के पास भी नहीं थी, जिन्होंने उसकी स्थापना की थी। वह मनचाही मौखिक आज्ञप्तियों द्वारा शासन नहीं कर सकती। इसका कारण यह है कि शासन की स्थापना करने वाले व्यक्ति विधि और न्यायाधीश से परिचित होते है। वह सहमति का अर्थ बहुमत का निर्णय है। वह अपनी विधायी शक्ति किसी दूसरे को भी नहीं सौंप सकती। यह शक्ति तो वहीं रहती है जहाँ समुदाय ने उसे प्रतिष्ठित किया है। संक्षेप में उसकी शक्ति अमानत की है। सर्वोच्च शक्ति जनता के पास रहती है। जब विधान-मण्डल जनता की इच्छा के विरुद्ध चलता है, तब जनता इस शक्ति को वापिस ले सकती है। कार्यपालिका की शक्ति और भी सीमित होती है—कुछ तो वह विधानमण्डल के ऊपर निर्भर रहती है और कुछ उसके ऊपर विधि का नियन्त्रण रहता है। स्वतन्त्रता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि विधायी और कार्यकारी शक्ति एक ही हाथों में केन्द्रित न रहे। लॉक ने विधानमण्डल और कार्यपालिका के सम्बन्धों का जो विवरण दिया है, वह राजा और संसद के वाद-विवाद के किसी न किसी पहलू को प्रकट करता है।"

इस सम्पूर्ण विवरण से प्रकट है कि लॉक उस निरंकुश शासन के विरुद्ध था हॉब्स जिसका घोर समर्थक था। सर्वाधिकारी व्यक्ति को बनाकर लॉक ने क्रमश समाज, विधानमण्डल, कार्यकारिणी तथा न्यायपालिका के अधिकार से समन्वित राज्य की कल्पना की किन्तु अधिकारों के एकत्रीकरण का विरोध किया। उसने सीमित राज्यतन्त्र का समर्थन किया। उसने राज्य को उस जन-सेवक या सरक्षक-संस्था के रूप में बनाया जिसका स्वामी व्यक्ति था। जन-स्वीकृति के आधार पर

जन-सेवा का लक्ष्य लेकर राज्य मनुष्यों द्वारा निर्मित साधन था—यह मन्तव्य उसने प्रकट किया।

उल्लेखनीय है कि समाज तथा सरकार के पारस्परिक सम्बन्ध को बताने के लिए लॉक ने ट्रस्ट (Trust) शब्द का प्रयोग किया क्योंकि वह सरकार को समाज के अधीन रखने का समर्थक था और इस बात पर बल देना चाहता था कि जन-कल्याण के लिए स्थापित सरकार ट्रस्ट की अवहेलना करने पर पदच्युत की जा सकती है। वॉहन (Vaughan) के शब्दों में, "संविदा के स्थान में ट्रस्ट की धारणा को अपनाकर लॉक न केवल सरकार के ऊपर जनता के नियन्त्रण की व्यवस्था करता है, बल्कि एक उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात की प्रस्थापना करता है और वह है अनुभव के अनुसार उस नियन्त्रण का दिन-प्रतिदिन प्रसरण।"

लॉक के कुछ अन्य विचार
(Some Other Thoughts of Locke)

सरकार के रूप (Forms of Govt.)

लॉक ने इस सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं लिखा है। वह प्रसंगवश सरकार के तीन रूपों की चर्चा करता है। सरकार का स्वरूप इस बात पर निर्भर है कि बहुमत अथवा समुदाय अपनी शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करना चाहता है। बहुमत या समुदाय सत्ता अपने पास भी रख सकता है अथवा इसे किसी विधायी सत्ता को भी सौंप सकता है। यदि विधायी शक्ति वह स्वयं अपने हाथ में रखता है और अपने द्वारा निर्मित कानूनों की क्रियान्विति के लिए कुछ अधिकारियों की नियुक्ति भर कर देता है तो वह सरकार जनतन्त्रवादी है। यदि समाज अथवा बहुमत विधायी-शक्ति कुछ गिने-चुने लोगों एवं उनके उत्तराधिकारी को सौंप देता है तो वह सरकार वर्गतन्त्री या कुलीनतन्त्रात्मक (Oligarchic) होती है। यदि विधायी-शक्ति केवल एक व्यक्ति में निहित है तो वह सरकार राजतन्त्रात्मक (Monarchic) कहलाती है। लॉक सांविधानिक राजतन्त्र को सरकार का सर्वोत्तम रूप मानता है किन्तु उसका यह भी कहना है कि विधायिका चाहे जो रूप धारण करले उसे पवित्र रहना चाहिए और जहाँ जनता ने उसे रखा है वहीं बनी रहनी चाहिए।

सहिष्णुता (Tolerance)

लॉक का एक महत्त्वपूर्ण योगदान सहिष्णुता के समर्थन में है। 17वीं शताब्दी के धार्मिक संघर्षों की पृष्ठभूमि में लॉक अत्यन्त उदार-वृत्ति का था। धर्म के सम्बन्ध में उसके पूर्व दो विचारधाराएँ प्रचलित थीं। एक तो हॉब्स की भाँति निरंकुश राज्य का समर्थक दल था जो राज्य को पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न बनाकर धर्म को अधीनस्थ बनाना चाहता था। दूसरा दल पोप, पादरियों, सामन्तों, आदि का था जिसके अनुसार धर्म राज्य-शक्ति से परे की वस्तु थी। यह दल मानता था कि राजा को केवल प्रशासकीय अधिकार थे, धार्मिक नहीं। "एक पक्ष के पास शासन की तलवार (Sword of the Imperium) थी जो दैवी कृपा से प्राप्त थी और दूसरे के पास पवित्रता की तलवार (Sword of the Sacredotum) थी और वह भी भगवद्

कृपा से भाई थी । एक ऐसा दल भी था जो दोनो तलवारो को एक ही शासक के दोनो हाथो के ग्रस्त्र मानता था ।"

धार्मिक कट्टरता का युद्ध बहुत दिनो तक चलता रहा और धर्म के नाम पर भीषण अत्याचार किए गए । अन्ततः धार्मिक सहिष्णुता के विचार प्रस्फुटित होने लगे और जब लॉक ने अपने विचार प्रसिद्ध 'Letters on Toleration' में लिखे तब तक सहिष्णुता के सिद्धान्त का काफी प्रसार हो चुका था ।

लॉक ने अपने ग्रन्थ मे सिद्ध किया कि धर्म वैयक्तिक वस्तु है जिससे राज्य का तब तक कोई मतलब नहीं जब तक धार्मिक गिरोह अव्यवस्था उत्पन्न न कर दे । धर्म मनुष्य की व्यक्तिगत नैतिकता का सबल है, हृदय की पवित्र अनुभूति है । व्यक्ति के विश्वास बल-प्रयोग द्वारा परिवर्तित नही किए जा सकते । धर्म-परिवर्तन अन्यायपूर्ण है अतः राज्य के लिए यही उचित है कि वह धार्मिक मान्यताओ का विरोध न करे वरन् उन्हे सन्तुलित और उपयुक्त बनाए रखे । यह कार्य हस्तक्षेप द्वारा सम्भव नही है । राज्य की कार्य-पद्धति बल-प्रयोग की है और धर्म के क्षेत्र में बल प्रयोग करना व्यर्थ है क्योकि इस साधन से किसी के मन और हृदय को जीता तथा बदला नही जा सकता । धर्म एक बौद्धिक क्रिया है जिसका यन्त्र हृदय-परिवर्तन है । दमन से धर्म का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है ।

लॉक ने धर्मान्धता के कारण जनता पर किए जाने वाले अत्याचारो की गाथा पढी और सुनी थी । उसने अपने समय में भी इसका अनुभव किया था अतः उसने धर्म और राज्य के मध्य समन्वय का पक्षपोषण किया । उसने कहा कि जहाँ स्वतन्त्र विचार-प्रदर्शन एवं सत्यान्वेषण का कार्य राज्य को धर्म के अन्तर्गत करना चाहिए तथा लोगो को अपने विश्वासो के अनुकूल धर्म-पालन की छूट देनी चाहिए वहाँ धर्म की आड़ मे किए जाने वाले राज्य-विरोधी कार्यों का अन्त करने के लिए भी राज्य को तैयार रहना चाहिए । यह आश्चर्य की बात है कि धार्मिक सहिष्णुता और उदार वृत्ति का परिचय देते हुए भी लॉक रोमन कैथोलिको को नागरिकता देने के पक्ष मे नही था । नास्तिकों को भी वह अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता प्रदान करने का विरोधी था । कैथोलिको से वह इसलिए नाराज था कि उनकी आस्था एक विदेशी शक्ति के प्रति थी और नास्तिकों से वह इसलिए कुपित था कि वे ईश्वर की सत्ता से ही इन्कार करते थे ।

विद्रोह या क्रान्ति का अधिकार (Right of Revolution)

लॉक के अनुसार राज्य का निर्माण जनता के हित के लिए कुछ विशेष उद्देश्यो की पूर्ति के निमित्त होता है । कुछ असुविधाओ को दूर करने के लिए व्यक्ति राज्य को सीमित अधिकार देकर अपने विरोध का अधिकार नहीं खोते । व्यक्ति के जीवन-स्वातन्त्र्य और सम्पत्ति-रक्षा के मौलिक उद्देश्यो की पूर्ति न कर सकने पर राज्य के विरुद्ध कदम उठाया जाना स्वाभाविक है, हालांकि यह कदम बहुत समर्थित होना चाहिए । लॉक की दृष्टि मे व्यवस्थापिका राज्य का सर्वोच्च अंग है और कार्यपालिका उसके अधीन है पर यदि व्यवस्थापिका स्वेच्छाचारी

आचरण करने लगे तो जनता को अधिकार है कि वह उसे नष्ट कर दे या बदल दे। लॉक के सिद्धान्त की यह विशेषता है कि सरकार के भग होने पर समाज ज्यो का त्यो बना रहता है, क्योकि समाज का स्थान सरकार के ऊपर है। वह सरकार के भग होने के सम्बन्ध मे केवल इतना कहता है कि "सरकार तब भग हो जाती है जब कानून-निर्माण की शक्ति उस सस्था से हट जाती है जिसको कि जनता ने यह दी थी, या तब जबकि कार्यपालिका या व्यवस्थापिका उसका प्रयोग ट्रस्ट की शर्तों के विपरीत करते हैं।" लॉक ने यह स्पष्ट नही किया कि लोग यह कार्यवाही किस प्रकार करते हैं। उसने केवल यही बतलाया कि यदि अन्याय स्पष्ट हो जाए तो जनता राजनीतिक सत्ता का विरोध कर सकती है किन्तु विद्रोह करने के इस अधिकार पर प्रतिबन्ध हैं। प्रथम, जब तक स्थिति गम्भीर न हो जाए अथवा जब तक शासक अपने कर्त्तव्यो का पालन करता रहे तब तक जनता को अपनी शक्ति का प्रयोग नही करना चाहिए। द्वितीय, केवल बहुसख्यक लोगो को ही सरकार उलटने का अधिकार है। लॉक के क्रान्ति विषयक इन विचारो के कारण ही कहा गया है कि उसने "किसी शासन सिद्धान्त का नही बल्कि क्रान्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।" इस सिद्धान्त का जैफरसन एव अन्य राजनीतिज्ञों पर काफी प्रभाव पड़ा था।

व्यक्तिवाद (Individualism)

वाहन का कथन है कि "लॉक की व्यवस्था मे हर वस्तु व्यक्ति के चारों तरफ चक्कर काटती है। प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार सजाकर रखा गया है कि व्यक्ति की सम्प्रभुता सुरक्षित रहे।"[1] वास्तव मे यह बहुत कुछ सत्य है कि लॉक ने जिस राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना की उसका केन्द्रबिन्दु व्यक्ति है, तथापि इसका आशय यह नही है कि उसने व्यक्ति के प्रभुत्व का प्रतिपादन किया है।

(i) लॉक की व्यवस्था व्यक्ति केन्द्रित है। प्राकृतिक अवस्था, सभ्य समाज, सविदा, शासनतन्त्र और राज्य क्रान्ति—ये सभी बातें व्यक्ति का गौरव बढाने वाली हैं। लॉक जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा के अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को देता है। इन्हे वह व्यक्ति के जन्मसिद्ध, स्वाभाविक एव प्राकृतिक अधिकार समझता है। उसका विश्वास है कि सम्पत्ति के अधिकार मे व्यक्ति का अधिकार सम्मिलित है और यही जीवन तथा स्वतन्त्रता के अधिकार का आधार है। लॉक मानता है कि व्यक्ति की सम्पत्ति तथा अन्य अधिकारो के अर्जन मे समाज का कोई हाथ नही है पर लॉक के विपरीत आधुनिक मत यह है कि व्यक्ति के पास जो कुछ भी है वह समाज-प्रदत्त है।

(ii) लॉक यह भी बतलाता है कि व्यक्ति की नैतिक चेतना, न्याय-अन्याय की भावना आदि प्रकृति प्रदत्त है पर आज के समाजशास्त्री मानते हैं कि मानवीय चेतना का निर्माण सामाजिक वातावरण मे होता है और समाज मे ही उसे नैतिक भावना मिलती है।

1 *Vaughan* : op. cit., p. 141.

(iii) लॉक के अनुसार राज्य का प्रादुर्भाव ही व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए होता है। इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए ही वह राज्य की सत्ता पर अनेक मर्यादाएँ स्थापित करता है। मैक्सी के शब्दों में, "लॉक का कार्य राज्य की सत्ता को ऊपर उठाना नहीं, बल्कि उसके प्रतिबन्धों का प्रतिपादन करना है।"1 प्रथम तो व्यक्ति ने अपनी जिस शक्ति का त्याग किया है वह एक व्यक्ति में नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज में निहित है, और द्वितीय, शासक 'लेवियाथन' की भाँति असीमित अधिकारसम्पन्न निरंकुश प्रभु नहीं है, अपितु उसके अधिकार वहीं तक सीमित हैं जहाँ तक समाज अथवा बहुमत ने उन्हें उसे प्रदान किया है। व्यक्तिगत प्राकृतिक अधिकार प्रभुत्वसम्पन्न समाज के अधिकारों को ठीक उसी भाँति सीमित करते हैं जिस भाँति प्राकृतिक अवस्था में एक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार दूसरे व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को मर्यादित करते थे।

(iv) लॉक ने यह भी स्पष्ट किया है कि किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध राज्य का सदस्य बनने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। पुनश्च, यदि परिपक्व अवस्था प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति अपने जन्म के देश की सरकार द्वारा की गई सेवाओं को स्वीकार करता रहे तभी यह समझना चाहिए कि उसने संविदा के प्रति अथवा राज्य का सदस्य होने के प्रति अपनी सहमति प्रकट कर दी है। वह अपनी सम्मति व्यक्त अथवा मौन रूप से दे सकता है। स्पष्ट है कि लॉक व्यक्ति की सम्मति को समाज का आधार मानता है।

(v) लॉक के धर्म विषयक-विचारों में भी व्यक्तिवाद की स्पष्ट झलक है। वह धर्म को व्यक्तिगत वस्तु मानता है और व्यक्ति को अन्त करण के अनुसार पूजा एवं उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। वह कहता है कि धर्म व्यक्तिगत नैतिकता का सबल है, विश्वास-बुद्धि हृदय की पावनतम् अनुभूति है। लॉक ने हॉब्स की भाँति व्यक्ति के सुख को भी सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया है। उसने मानव विवेक और मानव-समाज की कृत्रिमता पर आवश्यकता से अधिक बल देते हुए राज्य के जैविक स्वभाव की पूर्ण उपेक्षा की है।

प्रकट है कि लॉक ने व्यक्ति को अपनी सम्पूर्ण व्यवस्था का केन्द्रबिन्दु बनाया है। बार्कर के अनुसार, "लॉक में व्यक्ति की आत्मा की सर्वोच्च गरिमा स्वीकार करने वाली तथा सुधार चाहने वाली महान् भावना थी, उसमें यह प्यूरिटान अनुभूति थी कि आत्मा को परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध निश्चित करने का अधिकार है।" "उसमें यह प्यूरिटन महत्व बुद्धि थी कि वह राज्य की सीमा निश्चित करते हुए उसे यह कह सके कि उसका कार्यक्षेत्र यहाँ तक, वह इससे आगे नहीं बढ़ सकता।"2 डनिंग ने भी उसके व्यक्तिवादी विचारों—उसके प्राकृतिक अधिकारों को राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण देन स्वीकार किया है।3

1 "It was not his concern to exalt political authority but to describe its limitation." —*Maxey* Political Philosophies, p 255.

2 *Barker*: Social Contract. p. 22.

3 *Dunning*: Political Theories from Luther to Montesquieu, p. 364

लॉक की व्यवस्था व्यक्ति केन्द्रित है, इससे सहमत होते हुए भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसने व्यक्ति को पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न माना है। पहली बात ना यह है कि वह सामाजिक समझौते में बहुमत शासन का सिद्धान्त अनिवार्यतः निहित करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी व्यक्ति विशेष अथवा अल्पमत को बहुमत के निर्णय को स्वीकार कर लेना एक अपरिहार्य आवश्यकता है। यदि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार अपहरणीय हैं तो बहुमत को भी उसे उनसे वंचित करने का अधिकार नहीं हो सकता। यदि व्यक्ति पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न है तो उसे अपने निजी निर्णय का केवल इसलिए परित्याग कर देने को बाध्य नहीं किया जा सकता कि बहुमत उससे सहमत नहीं है। दूसरी बात यह है कि लॉक ने अत्याचारी शासन के विरुद्ध विद्रोह का जो अधिकार दिया है वह भी बहुसख्यको को दिया है व्यक्ति को अथवा अल्पसख्यको को नहीं। इसके अतिरिक्त उसने यह भी मान लिया है कि जब तक शासन अपने कर्त्तव्यो का पालन करता रहता है तब तक जनता अपनी शक्ति से वंचित रहती है। अन्त में, उसका यह भी कहना है कि प्रारम्भ में लोगो ने जो समझौता किया था वह उसके वंशजो पर भी लागू हो सकता है। इन सब कारणों से यह कहा जा सकता है कि लॉक की व्यवस्था में व्यक्ति प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं है। हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने व्यक्तिवाद को एक अजेय राजनीतिक तथ्य के निकट ला पटका है।

लॉक की असंगतियाँ
(Locke's Inconsistencies)

लॉक के राजनीतिक चिन्तन का उपसंहार करने से पूर्व यह उचित है कि उसके दर्शन में पाई जाने वाली प्रमुख असगतियो को स्पष्ट कर दिया जाए। वास्तव में लॉक हॉब्स की भांति सुस्पष्ट और तर्कसगत नहीं है। सेबाइन के अनुसार इसका प्रधान कारण यह है कि "17वी शताब्दी की राजनीति में लॉक ने अनेक प्रश्नो को देखा था और उसने एक साथ इन सभी प्रश्नो का समाधान करने का प्रयास किया जबकि उसका सिद्धान्त इतना तर्कसम्मत नहीं था कि वह ऐसी जटिल विषय-वस्तु को सम्भाल सकता", एव साथ ही वह "इस बात को कभी पूरी तरह से नहीं समझ सका कि क्या तो मूलभूत है और क्या आनुषंगिक है।" उसके दर्शन की प्रमुख असगतियाँ सक्षेप में ये हैं—

(1) डाइवर के शब्दो में, "लॉक फ्रांसीसी दार्शनिक डेकार्ट का दार्शनिक दृष्टिकोण, वैज्ञानिको की प्रयोगात्मक पद्धति तथा शेफ्ट्सबरी और व्यावहारिक राजनीति से ग्रहण किए हुए उपयोगितावादी अनुभूतिवाद को एक क्रियाशील धारणा में समन्वित करने की चेष्टा कर रहा था।" इस प्रयत्न से उसके दर्शन में जटिलता और असगति का समावेश हो गया। अपनी अनुभव-प्रधान प्रवृत्ति के कारण एक ओर तो उसने अन्तर्निहित विचारो (Innate Ideas) और राजतन्त्र के दैविक मूल के सिद्धान्त को अस्वीकार किया तथा दूसरी ओर बुद्धिवाद से प्रेरित होकर उसने प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जिसका कि अनुभूतिवाद से

सुगमता से कोई मेल नहीं बैठता। अन्तर्निहित विचारों को ठुकराकर प्राकृतिक अधिकारों में आस्था रखने की सगतिहीनता को मैक्सी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"लॉक द्वारा अन्तर्निहित विचारों का निषेध करने पर भी अन्तर्निहित (प्राकृतिक) अधिकारों का इतनी तत्परता से समर्थन करना ऐसा विलक्षण विरोधाभास है जो महानतम् बुद्धिजीवियों के मानवीय गुण को प्रमाणित करता है।"[1] लॉक में यह विरोधाभास इसलिए उत्पन्न हुआ क्योंकि वह राजनीतिक चिन्तन में प्राकृतिक विधि को वही स्थान देना चाहता था जो स्वयं-सिद्धियों का रेखागणित में होता है।

(ii) लॉक भी हॉब्स के समान ही मानव-स्वभाव के एक पक्ष को ही प्रधानता देता है। हॉब्स ने यदि मानव-स्वभाव के बुरे पक्ष को ही चित्रित किया है तो लॉक ने मनुष्य में केवल अच्छाइयों को ही देखा है जबकि वास्तविकता यह है कि मनुष्य अच्छाइयों और बुराइयों दोनों का सम्मिश्रण है। मानव-स्वभाव के जिस भ्रान्त दृष्टिकोण के आधार पर लॉक ने प्राकृतिक दशा का चित्रण किया है वह एक कल्पनात्मक अवस्था ही प्रतीत होती है।

(iii) लॉक एक ओर हूकर से ली हुई मध्यकालीन परम्परा के इस विश्वास को अपनाता है कि समाज एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व होता है, स्वार्थी व्यक्तियों का एक समूह नहीं तो दूसरी ओर हॉब्स से उस परम्परा को ग्रहण करता है जिसके अनुसार समाज स्वार्थी व्यक्तियों का समूह मात्र है। लॉक इन दोनों विरोधी दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य स्थापित करने में असफल रहा है जिसके परिणामस्वरूप उसके चिन्तन में एक तरफ व्यक्ति एवं व्यक्ति के अधिकार अन्तिम तत्त्वों के रूप में सामने आते हैं, तथा दूसरी तरफ व्यक्ति और उसके अधिकार समाज के बहुमत के अधीन हो जाते हैं।

(iv) लॉक का एक विभ्रम प्राकृतिक अधिकारों के सम्बन्ध में भी है। एक ओर तो वह इन्हें निरपेक्ष मानता है और सरकार द्वारा अनुल्लंघनीय स्वीकार करता है तथा दूसरी ओर वह बहुमत के शासन के सिद्धान्त को पोषता है। बहुमत के निर्णय को मानने के लिए व्यक्ति तथा अल्पसंख्यक वर्ग बाध्य है। इस तरह वह बहुमत अथवा समाज को सर्वोच्च बना देता है। एक अन्य स्थान पर वह व्यवस्थापिका को शासन का सर्वोच्च अंग बनाता है और दूसरी तरफ समाज को एक व्यवस्थापिका समाप्त करके दूसरी व्यवस्थापिका बनाने का अधिकार देता है। इस तरह उसका सिद्धान्त अस्पष्टता से बोझिल हो जाता है। वास्तव में यह विचित्र बात है कि एक ओर तो वह नैतिक व्यवस्थाओं को शाश्वत, पूर्ण और अन्तिम समझता है तथा दूसरी ओर उन्हें अस्थाई एवं समाज की विभिन्न स्थितियों का परिणाम मानता है।

[1] "That Locke the denier of innate ideas, should be the doughty champion of inherent rights is one of those curious paradoxes which attest the human quality of even the greatest intellects."
—*Maxey*: Political Philosophies, p 245.

(v) लॉक एक शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थलों पर एक ही अर्थ में न करने का दोषी भी है। वह कई बार सम्पत्ति को आधुनिक अर्थ में प्रकट करता है और कई बार इसका आशय, जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पदा से लेता है। इसके अतिरिक्त निजी सम्पत्ति सम्बन्धी उसकी भ्रान्त धारणा से पूंजीपति वर्ग को अनुचित रूप से समर्थन मिलता है।

(vi) लॉक का 'विधि-सम्मत' शब्द कई बार अनावश्यक भ्रम उत्पन्न करता है। वह कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के प्रबंध कार्यों की बार-बार चर्चा करता है जबकि वह यह अच्छी तरह जानता है कि यह कोई सुधारात्मक उपाय नहीं है। इसी प्रकार वह अत्याचारी शासन के विधि-सम्मत प्रतिरोध की चर्चा करता है जब कि उसका वास्तविक अभिप्राय विधि-ग्राह्य उपायों का आश्रय लेना है। लॉक ने नैतिक रूप से उचित और वैधानिक रूप से व्यावहारिक के बीच कोई भेद नहीं माना है। यह विचार इस परम्परा के आधार पर विकसित हुआ था कि प्राकृतिक और नैतिक विधियाँ एक ही वस्तु हैं और इसलिए कुछ ऐसी मूल विधियाँ भी हैं जिनकी रचना उच्चतम विधान-मण्डल तक नहीं कर सकते। इंग्लैण्ड में इस प्रकार के नियमों की वैधता उस क्रान्ति के साथ ही समाप्त हो गई थी जिसका लॉक समर्थन करने का प्रयास कर रहा था।

(vii) समाज और राज्य के बीच अन्तर स्पष्ट करने में लॉक असमर्थ है और तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक संस्थाओं का उपयुक्त विश्लेषण भी वह नहीं कर पाया है। सम्प्रभुता, राज्य के सामूहिक अधिकार तथा कर्त्तव्य और सापेक्षतापूर्ण समाज-रचना के सम्बन्ध में उसमें समुचित कल्पना का अभाव दिखाई देता है। लॉक की व्यक्तिवादिता राज्य की दृढ़ता पर प्रहार करके अवज्ञा-जनित आन्दोलनों को आश्रय देती है और विचार-प्रौढ़ व्यक्तियों को राज्य की नागरिकता स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार देकर असामाजिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है। पुनश्च, विरोध का अधिकार भी उसका केवल मौखिक ही लगता है क्योंकि विरोध की प्रक्रिया असाधारण रूप से जटिल और अस्पष्ट है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी लॉक के दृष्टान्तों और निष्कर्षों की पुष्टि नहीं होती है। संक्षेप में हर क्षेत्र से कुछ न कुछ संग्रह कर लॉक ने विचारों की बेमेल खिचड़ी पकाई है।

लॉक का महत्त्व और प्रभाव
(Locke's Importance & Influence)

लॉक की असंगतियों के कारण यद्यपि उसके चिन्तन में अस्पष्टता आ गई है तथापि इससे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसके प्रभाव को कम नहीं आँका जा सकता। अपनी महत्त्वपूर्ण देनों के कारण उसका नाम राजदर्शन के इतिहास में अमर है। जहाँ हॉब्स के सिद्धान्तों को उसके जीवन-काल में बहुत कम समर्थन मिला और भावी राजदर्शन पर भी उनका कम प्रभाव पड़ा, वहाँ लॉक के विचारों को उसके जीवन-काल में ही न केवल बहुत सम्मान मिला बल्कि भविष्य में भी दो शताब्दियों से अधिक भी समय तक यूरोप और अमेरिका के जन-मानस पर उनका

प्रभाव छाया रहा। फ्रांस और अमेरिका की जन-क्रान्तियों तथा आन्दोलनों पर उसके विचारों का प्रभाव पड़ा। 1765–71 तक अमेरिकन स्वातन्त्र्य युद्ध के नेता और सन् 1789 में फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के प्रवर्तक लॉक द्वारा प्रदर्शित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत सम्पत्ति, जनमत स्वीकृति, बहुमत-शासन, शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त आदि से प्रेरित होकर कार्य करते रहे। अमेरिका के संविधानवेत्ता लॉक की 'ट्रीटाइजेज' को बाइबिल की तरह पुनीत मानते रहे। उसके ये दोनों प्रशासन-निबन्ध अमेरिकन क्रान्ति के पाठ्यग्रन्थ बन गए। अमेरिका की 'स्वतन्त्रता की घोषणा' (Declaration of Independence) इसी महान् ग्रन्थ का लगभग प्रतिलेख है। प्रजातान्त्रिक नीतिशास्त्र के प्रणयन में लॉक की गौरवपूर्ण विशिष्टता को भुलाया नहीं जा सकता। राजसत्ता सहमति पर ही आधारित रह सकती है, इस घोषणा द्वारा उसने साम्राज्यवाद और निरंकुश शासन-प्रणाली का प्रबल विरोध किया। बहुमत शासन का जितना सुन्दर पक्ष-पोषण उसने किया, उतना अन्य किसी भी लेखक ने नहीं। क्रान्ति के अधिकार का पोषण करके उसने समस्त एकतन्त्रों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में भारी चुनौती दी जिसे फिर रूसो ने और भी अधिक भावनापूर्ण शब्दों में व्यक्त किया। सहिष्णुता का समर्थन करके लॉक ने केवल उदारवाद की ही सूचना नहीं दी बल्कि यह भी बताया कि तत्कालीन युग में वैज्ञानिक अन्वेषणों के कारण परम्परागत धार्मिक विश्वासों के प्रति एक उपेक्षाभाव जाग रहा था। कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीन बनाकर सांविधानिक शासन-क्रिया के समर्थक के रूप में लॉक हमारे सामने आया। उसके विचारों का प्रभाव इंग्लैण्ड में ह्विग दल के क्रिया-कलापों पर पड़ा। यह विस्मयजनक है कि लॉक का महान् प्रभाव इस बात के बावजूद पड़ा कि वह न तो नवीन विचारों का प्रवर्तक था और न ही उसके विचारों में संगतिबद्धता थी। सेबाइन के अनुसार, "उसकी प्रतिभा की विशेषता न तो विद्वता थी और न तर्क शक्ति; यह उसकी अतुलनीय सहज बुद्धि थी जिसके प्रयोग से उसने दर्शन, राजनीति, आचरण शास्त्र तथा शिक्षा के क्षेत्र में उन मुख्य विचारधाराओं का एक स्थान पर संग्रह किया, जिन्हें भूतकाल के अनुभव ने उसकी समकालीन पीढ़ी के जो अधिक ज्ञानवान थी, मस्तिष्क में उत्पन्न कर दिया था। उसने उनको एक सरल, गम्भीर किन्तु हृदयग्राही भाषा में अभिव्यक्त करके 18वीं शताब्दी के लोगों के सम्मुख प्रस्तुत किया, जहाँ जाकर वे ऐसी सामग्री बने जिससे इंग्लैण्ड तथा यूरोप के राजदर्शन का विकास हुआ।"[1]

"लॉक के अनुभववाद का प्रभाव बर्कले (1685–1753) और ह्यूम पर पड़ा। इन दोनों ने उसकी स्थापना और मान्यताओं की पुष्टि करके अनुभववादी दर्शन का विशद् रूप कायम किया। आर्थर कौलियर (1680–1732) तथा बिशप पीटर ब्राउन के मन्तव्यों पर भी लॉक का असर पड़ा। डेविड हार्टले (1704-1757) तथा जोसेफ प्रिस्टले ने भी लॉक की स्थापनाओं को विशेष रूप से

1 *Sabine*: A History of Political Theory, p 523.

पल्लवित किया। हार्टले की रुचि भौतिकवाद की ओर थी तथा प्रिस्टले की ईसाइयत की ओर। लॉक के व्यवहारवाद और अनुभववाद से फ्रांस में मॉण्टेस्क्यू प्रभावित हुआ। हेल्वेशियस भी एक अंश में लॉक का ऋणी था। हेल्वेशियस की विचारधारा से बेन्थम का उपयोगितावाद प्रभावित था। हम कह सकते हैं कि 18वीं शताब्दी में लॉक के जिन विचारों का फ्रांस में प्रसर हुआ था, उन विचारों को बेन्थम और उसके अनुयायी पुनः इंग्लैण्ड में ले आए।" /

प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त यद्यपि आज अमान्य ठहराया जा चुका है किन्तु प्रो डनिंग के मतानुसार यह सिद्धान्त राजदर्शन को लॉक की एक अति महत्त्वपूर्ण देन है। जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को व्यक्ति के जन्मसिद्ध प्राकृतिक अधिकार मानते हुए उसने कहा कि राज्य का कर्त्तव्य उनकी रक्षा करना है और वह मनुष्य को इनसे वंचित नहीं कर सकता। यदि कोई राज्य ऐसा करता है तो प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। ऐसी घोषणा करके लॉक ने व्यक्तियों को राज्य की मनमानी और निरंकुश शक्तियों के मार्ग में रुकावटों के रूप में खड़ा कर दिया। आज सभी देशों के संविधानों में नागरिकों के मौलिक अधिकारों को रक्षा को प्रथम स्थान दिया जाता है। यह वर्तमान प्रजातन्त्र और उदारवाद (Liberalism) की आधारशिला है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लॉक ने अपने पूर्ववर्ती विचारकों की अपेक्षा प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या और उनके निरूपण में निश्चित प्रगति की। प्रो डनिंग के शब्दों में "पफेन्डोर्फ द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक कानून एवं मिल्टन तथा स्पिनोजा द्वारा प्रशंसित स्वतन्त्रता में निरंकुशता के ऊपर वास्तविक रोग लगाने वाले लेखकों के लक्ष्य होते हुए भी साधारणतः अव्यावहारिकता प्रतीत होती है। हमारे ऊपर उनका अधिक से अधिक प्रभाव यह पड़ता है कि ये लेखक अत्यधिक बुद्धिमान एवं प्रतिभावान व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना चाहते है, प्रत्येक व्यक्ति की नहीं। परन्तु लॉक के समान अधिकार राजनीतिक संस्थाओं की विवेचना में इतना अधिक ओतप्रोत है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके बिना वास्तविक राजनीतिक समाज का अस्तित्व ही नहीं हो सकता।"[1]

आर्थिक क्षेत्र में भी लॉक ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। सम्पत्ति के विषय में श्रम को जो महत्त्व उसने प्रदान किया उसका प्रसर दो प्रकार का हुआ। एडम स्मिथ और रिकार्डो ने मूल्य के श्रममूलक सिद्धान्त को पूंजीवाद के पोषण में और कार्ल मार्क्स ने श्रमिक वर्ग के हितों के अभिवर्द्धन में प्रयुक्त किया। लॉक के उदारवाद ने भी उसके प्रभाव को बढ़ाने में मदद की। हॉब्स ने मनुष्य को घोर स्वार्थी माना था, किन्तु लॉक ने मानव-स्वभाव में कर्त्तव्यशीलता, परमार्थ-वृत्ति और नैतिकता के लिए भी स्थान रखा। इस कारण तत्कालीन शिक्षित समाज उसके विचारों से विशेष रूप से प्रभावित हुआ। शिक्षाशास्त्री के रूप में लॉक का

[1] Dunning : A History of Political Theories, p 364.

महत्त्व सामने आया। उसने स्वतन्त्रता का पोषण और परम्परावाद का खण्डन किया। शिक्षा को उसने चारित्रिक विकास के लिए आवश्यक माना और संस्कृति की प्राप्ति के लिए मातृभाषा द्वारा शिक्षा प्राप्ति को उचित ठहराया। विश्वविद्यालय की उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त भी उसने स्वयं यह स्वीकार किया कि जीवनयापन के क्रम में जो शिक्षा मिलती है वह बौद्धिक शिक्षा से श्रेयस्कर है। धार्मिक शिक्षा का पक्ष लेने पर भी उसने अन्धविश्वासों को प्रश्रय देना सर्वथा अनुचित बतलाया।

लॉक ने व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका शक्तियों के विभाजन (Separation of Powers) के सिद्धान्त का बीजारोपण किया। पॉलिबियस के बाद लॉक ने ही इसका स्पष्ट और तर्कसंगत प्रतिपादन किया था। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के साधन के रूप में इस सिद्धान्त का प्रयोग करने वाला वह सम्भवतः सर्वप्रथम आधुनिक विचारक था। मॉण्टेस्क्यू ने इसी के आधार पर अपने शक्ति-विभाजन तथा शासन सम्बन्धी कार्यों के त्रिवर्गीय विभाजन के सिद्धान्त का विकास किया और अमेरिका के संविधान-निर्माताओं ने लॉक एवं मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए ही अपने विधान की रचना की।

15 रूसो

(Rousseau)

सामाजिक अनुबन्ध के विचारकों में रूसो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह एक प्रख्यात दार्शनिक एवं क्रान्तिकारी विचारों का प्रणेता था, सुलझा हुआ शिक्षा-शास्त्री था, आदर्शवादी, मानवतावादी और युग-निर्माता साहित्यकार था। उसके ग्रन्थों ने प्राचीन शासन के सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे को झकझोर दिया और एक नवीन लोकतन्त्रीय व्यवस्था के लिए मार्ग तैयार कर दिया। व्यक्तिवाद, आदर्शवाद और अद्वैतवादी लोकप्रिय सम्प्रभुता के विभिन्न सिद्धान्तों को उसकी लेखनी से नया समर्थन और नया दिशा निर्देशन मिला। सर्वव्यापी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा उसने राजनीति में स्थायी सावयवी समाज की कल्पना को बल दिया। लोकप्रियता, सम्प्रभुता, विधि, सामाजिक स्वीकृति, प्रशासन, क्रान्ति आदि विषयों पर अपने निर्भीक और स्पष्ट विचारों के कारण रूसो ने अमर ख्याति अर्जित की।

जीवन-परिचय, कृतियाँ एवं पद्धति
(Life, Works and Method)

रूसो का जन्म सन् 1712 में निर्धन आइजक नामक घड़ी-साज के यहाँ जेनेवा में हुआ। जन्म के समय ही माता का देहान्त हो गया और पिता ने पुत्र को अपने दुर्व्यसनों का साथी बना दिया। इस प्रकार जन्म से ही वह उपेक्षित और स्नेहविहीन रहा। लगभग 12 वर्ष की अल्पावस्था में ही रूसो को एक कठोर संगतराश (खुदाई का काम करने वाला) के पास काम करना पड़ा जो उसके साथ बड़ा ही पाशविक व्यवहार करता था। वहाँ रूसो को पेट भरने के लिए केवल कठोर परिश्रम ही नहीं करना पड़ा बल्कि उसने चोरी करने और झूठ बोलने की कला भी सीखी। आखिर अपने मालिक से तंग आकर रूसो घर से भाग निकला। तब उसकी आयु 16 वर्ष की थी।

जीवन के अगले कुछ वर्ष रूसो ने फ्रांस में आवारागर्दी में बिताए। वह न केवल बुरी संगति में पड़ गया बल्कि उसका स्वभाव ऐसा बन गया कि वह हमेशा वर्तमान में ही रहता था, न भूत के लिए पछताता था और न भविष्य के लिए चिन्ता करता था। बाजारू औरतों के साथ उसके प्रेम-सम्बन्ध चले, किन्तु ये सम्बन्ध

स्थायी मैत्री का रूप कभी नहीं ले सके। पेरिस मे उसका मित्र-वर्ग उसे आर्थिक सहायता देता रहा। वह मजदूरो की गन्दी बस्तियो मे जीवनयापन करने लगा। जीवनभर वह अविवाहित ही रहा, किन्तु उसके अवैध सम्बन्ध सदा बने रहे। उसे वेनिस मे फ्रेन्च दूतावास मे नौकरी भी मिली किन्तु अपने खराब मिजाज के कारण उसे पदच्युत होना पड़ा।

आवारा, प्रताड़ित और पीड़ित होने पर भी रूसो बहुत करीब से जीवन के हर पहलू को देखता रहा। "भावुकता की अक्षय-निधि लेकर अपनी सहमी, ठगी-भूखी आंखो से उसने समाज की कुरूपता और व्यक्ति के कोढ़ के धब्बे देखे। अनुभव की इस विस्तृत बहुमुखी पाठशाला में उसका अध्ययन चलता रहा। स्वाध्याय के बल पर उसने ज्ञान प्राप्त किया।" धर्म के सम्बन्ध में रूसो अस्थिर रहा। उसने कभी कैथोलिक धर्म को अपनाया तो कभी प्रोटेस्टेन्ट मत को। इतना सब होने के बाद आखिर उसके भाग्य ने पल्टा खाया। सन् 1749 मे उसने एक प्रतियोगिता का समाचार पढ़ा। प्रतियोगिता का विषय था "Has the revival of the Sciences'and the Arts helped to purify or to corrupt morals." रूसो ने इस प्रतियोगिता मे भाग लिया। उसे प्रथम पुरस्कार मिला। अपने निबन्ध मे बिलकुल मौलिक और सनसनीखेज विचार प्रकट करते हुए उसने लिखा कि विज्ञान तथा कला की तथाकथित प्रगति से ही सभ्यता का ह्रास, नैतिकता का विनाश और चरित्र का पतन हुआ है। अब रूसो एकाएक ही प्रसिद्ध हो गया। पेरिस के साहित्यिक क्षेत्रो मे उसे सम्मान मिला, किन्तु उसने भद्र समाज और धनाढ्य महिलाओ के ससर्ग मे लौटने की कोशिश नही की।

अब रूसो की सुप्त साहित्यिक प्रतिभा और बौद्धिक चेतना जाग्रत हो गई। अब लिखना ही उसका व्यवसाय और जीवन बन गया। सन् 1754 में उसने 'डी जॉन की विद्यापीठ' (Academy of Dijon) की ही एक अन्य निबन्ध-प्रतियोगिता मे भाग लिया जिसका विषय था "मनुष्यो में विषमता उत्पन्न होने के क्या कारण हैं? क्या प्रकृति कानून इसका समर्थन करता है।" यद्यपि रूसो पुरस्कार नही जीत सका, तथापि उसने निजी सम्मति और तत्कालीन फ्रांस के कृत्रिम जीवन पर कठोर प्रहार किया। सन् 1754 मे रूसो पुन: जेनेवा लौट गया जहां वह कैथोलिक प्रोटेस्टेन्ट बन गया और उसे फिर से जेनेवा गणतन्त्र की नागरिकता दे दी गई।

कुछ समय बाद रूसो पुन: पेरिस चला गया। विख्यात लेखिका मदाम ऐपिने (Madam Epinay) द्वारा पेरिस के निकट मोण्ट मेरेन्सी मे रूसो के लिए निवास और भोजन की व्यवस्था कर दी गई। पेरिस के कृत्रिम जीवन से दूर प्रकृति की गोद मे रहते हुए रूसो ने Lock Nouvelle Heloise, The Emile तथा Social Contract नामक विख्यात ग्रन्थों की रचना की जिनसे उनका नाम चारो ओर फैल गया। उसके 'इमाइल' ग्रंथ ने तो फ्रांस मे क्रान्ति-सी उत्पन्न कर दी। उसके क्रान्तिकारी विचारो से शासक और पादरीगण क्रुद्ध हो गए। सन् 1762 मे उसकी गिरफ्तारी का आदेश निकाला गया। रूसो ने पेरिस छोड़ दिया तथा जीवन

के अन्य 15 वर्ष एक खानाबदोश के रूप में बिताए। उसका स्वास्थ्य गिरता रहा, किन्तु लेखन-कार्य जारी रहा। प्राण रक्षा के लिए वह जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देशों में भटकता रहा। 1766 में इंग्लैण्ड के दार्शनिक ह्यूम ने उसे शरण दी। वहाँ बर्क भी उसका मित्र बन गया। लेकिन रूसो के मित्र उसकी अभिमानशीलता को सहन नहीं कर सके। अत. मित्रों के प्रति शंकालु होकर रूसो पुनः गुप्त रूप से फ्रांस भाग गया। ह्यूम ने अपने प्रभावशाली मित्रों की सहायता से यह व्यवस्था करदी कि रूसो को बन्दी बनाने की आज्ञा क्रियान्वित न की जाए। अन. जीवन के शेष 11 वर्ष पेरिस में ही व्यतीत करते हुए उसने Confessions, Dialogues तथा Reveries ग्रन्थों का प्रणयन न किया। 2 जुलाई, 1779 को 66 वर्ष की आयु में वह चल बसा और छोड़ गया "जिन्दगीभर का लादा गया लबादा और अपनी फटी हुई गुदड़ी जिसमें असख्य लाल (विचार-रत्न) छिपे पड़े थे।" यूलिच ने ठीक ही लिखा है कि "विचारों के इतिहास में ऐसे व्यक्ति को खोज पाना कठिन है जिसने इतने अर्द्ध सत्यों के बावजूद मानव जाति पर इतना गहरा प्रभाव डाला हो जितना कि रूसो ने।"[1]

रूसो ने 1749 में पहला लेख लिखा और 1754 में एक दूसरा निबन्ध लिखा। तत्पश्चात् उसने अपने जीवनकाल में कुछ ऐसे ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनके कारण वह अमर हो गया। सन् 1758 में उसने अपने प्रथम ग्रन्थ 'An Introduction to Political Economy' की रचना की। इसमें आदर्श राज्य के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया। सन् 1762 में उसका सुविख्यात ग्रन्थ 'Social Contract' प्रकाशित हुआ जिसमें उसके राजदर्शन सम्बन्धी गम्भीर विचारों का विवेचन है। इसी वर्ष 'The Emile' ग्रन्थ प्रकाश में आया जिसने शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इसी ग्रंथ के कारण रूसो को 'Progressive Education' का जनक माना जाता है। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उसने अपनी आत्मकथा 'Confessions' तथा 'Dialogues' और 'Reveries' का प्रणयन किया।

रूसो की अध्ययन पद्धति बहुत कुछ हॉब्स के समान थी। उसने इतिहास का सहारा लेकर अनुभूतिमूलक पद्धति (Empirical Method) का अनुगमन किया। उसकी पद्धति हॉब्स ही की तरह मनोविज्ञान युक्त थी। मैकियावली, बोदाँ, प्रत्युसियस, हॉब्स, लॉक, ग्रोशियस, एलगर्नन सिडनी, पुफेण्डार्फ, मॉण्टेस्क्यू, वाल्टेयर आदि का उस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यूनानी और रोमन साहित्य तथा काल्विन के धार्मिक विचारों से भी वह प्रभावित हुआ।

मानव-स्वभाव तथा प्राकृतिक अवस्था पर रूसो के विचार
(Rousseau on Humam Nature and State of Nature)

मानम-स्वभाव

मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में रूसो के विचार प्लेटो तथा लॉक के अधिक निकट हैं। उसके अनुसार मनुष्य स्वभावतः सदाशय और अच्छा होता है। अत

1 *Robert Ulich* : History of Educational Thought, p. 211.

सच्ची कला का उद्देश्य स्वाभाविक अच्छाई का विकास करना है। वह मनुष्य को स्वभावत: भोला मानता है जिसे किसी बात की चिन्ता नहीं है। उसका जीवनयापन प्रकृति की विश्रामदायिनी गोद में होता रहता है। संसार में पाए जाने वाले पाप, भ्रष्टाचार, दुष्टता आदि गलत एवं भ्रष्ट सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति है। मनुष्य के पतन के लिए भ्रष्ट और दूषित सामाजिक संस्थाएँ दोषी हैं। मनुष्य स्वभाव से बुरा नहीं होता अपितु भ्रष्ट कला के कारण बुरा बन जाता है।

अपने विचारों को सिद्ध करने के लिए रूसो मानव स्वभाव की दो मौलिक नियामक प्रवृत्तियाँ बताता है। मानव स्वभाव के निर्माण में सहायक प्रथम प्रवृत्ति है—आत्म-प्रेम अथवा आत्म-रक्षा की भावना, जिसके अभाव में वह कभी का नष्ट हो गया होता। मानव स्वभाव निर्माण में दूसरी सहायक प्रवृत्ति है सहानुभूति अथवा परस्पर सहायता की भावना जो सभी मनुष्यों में पाई जाती है और जो सम्पूर्ण जीवधारी सृष्टि का सामान्य गुण है। इसके कारण ही जीवन संग्राम इतना कठिन प्रतीत नहीं होता। ये सभी भावनाएँ शुभ हैं इसलिए स्वभावतया मनुष्य को अच्छा ही माना जाना चाहिए।

रूसो का कहना है कि मनुष्य की उपरोक्त दोनों मूलभूत भावनाओं में कभी-कभी संघर्ष होना स्वाभाविक ही है। पारिवारिक हित की कामना कभी-कभी ऐसे कार्यों की माँग करती है जो समाज के हितों से तालमेल नहीं खाते। चूँकि ये दोनों भावनाएँ पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं की जा सकती, अत व्यक्ति इससे समझौता करने के लिए विवश होता है। आत्मरक्षा और परमार्थ के कार्यों में संघर्ष होने से पैदा होने वाली नई समस्या का समाधान वह समझौतावादी प्रवृत्ति में करना चाहता है। इस प्रकार के समझौतों से एक नवीन भावना उत्पन्न होती है जिसे अन्त करण (Conscience) कहते हैं। अन्त करण प्रकृति का उपहार है, यह केवल एक नैतिक शक्ति है, नैतिक मार्गदर्शन नहीं। मार्गदर्शन के लिए व्यक्ति को विवेक नामक स्वयं में विकसित होने वाली एक अन्य शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है। विवेक व्यक्ति को यह सिखाता है कि उसे क्या करना चाहिए। सरल रूप से उदाहरणात्मक रूप में हम कह सकते हैं कि अन्त करण मनुष्य को प्रेरित करता है—सत्य से प्रेम करे, असत्य से घृणा, लेकिन अन्त करण में स्वत अच्छा या बुरा पहचानने की शक्ति नहीं होती। यह तो एक प्रेरणा शक्ति है जो मनुष्य को अच्छाई की ओर ले जाती है। सत्य और असत्य की पहिचान मनुष्य विवेक द्वारा करता है। विवेक मनुष्य का नैतिक पथ-प्रदर्शन करता है और अन्त करण उसको उस मार्ग पर प्रेरित करता है। रूसो इस तरह बतलाता है कि आत्म-रक्षा एवं सहानुभूति-इन दो भावनाओं में सामञ्जस्य और अन्य भावनाओं के विकास करने में अन्त करण तथा विवेक (Conscience and Reason) दोनों का योग होता है। अन्त करण सदैव सत्य से प्रेम और असत्य से घृणा करता है अत वह कभी भी भूल नहीं करता। व्यक्ति यदि कुमार्ग पर बढ़ता है तो दोष अन्त करण का नहीं बल्कि विवेक का, जिसने सत्य-असत्य को पहिचानने में भूल की है। रूसो ने विवेक की अपेक्षा

अन्तःकरण को अधिक महत्त्व सम्भवतः इसलिए दिया है कि उस युग में अन्तःकरण की बहुत उपेक्षा की जा रही थी। अन्तःकरण पर इतना अधिक बल देने के कारण ही उसे विवेक-विरोधी (Anti-rational) एवं रोमांचकारी (Romantic) तक कह दिया गया है। वास्तव मे रूसो ने विवेक पर बड़े आक्षेप किए हैं। उसने बुद्धि एव विज्ञान का विरोध करके इसके स्थान पर सद्भावना और श्रद्धा को प्रतिष्ठित किया है। उसके अनुसार बुद्धि भयानक है क्योंकि वह श्रद्धा को कम करती है, विज्ञान विनाशक है क्योंकि वह विश्वास को नष्ट करता है, और विवेक बुरा है क्योंकि वह नैतिक सहज ज्ञान के विरोध मे तर्क-वितर्क को प्रधानता देता है। किन्तु विवेक के प्रति उसका विरोध पूर्ण अथवा निर्मम नहीं। वह मानव व्यक्तित्व के विकास मे विवेक को उचित स्थान प्रदान करता है, हाँ उसे असीम अधिकार नही देता। राइट के शब्दो मे उसे सुरक्षा केवल उस पथ मे दिखाई पड़ती है जिसमें भावना विवेक को सद्मार्ग की ओर ले जाती है और जिसमे विवेक हमे उसके सहारे पूर्णता की ओर ले जाता है।

स्पष्ट है कि रूसो के विवेचन का आधार मुख्यतया यह सिद्ध करना है कि मनुष्य स्वभाव से ही अच्छा होता है। तो फिर प्रश्न उठता है कि वह पथ-भ्रष्ट क्यो हो जाता है ? रूसो का तर्क है कि मनुष्य पथ-भ्रष्ट उस समय होता है जब उसका आत्म-प्रेम (Self-love), दम्भ (Vanity) में परिवर्तित हो जाता है। अतः शुभ एव स्वाभाविक बने रहने के लिए दम्भ का परित्याग कर देना आवश्यक है। विवेक को दम्भ के चगुल मे नही फँसने देना चाहिए।

प्राकृतिक अवस्था

रूसो द्वारा चित्रित मानव-स्वभाव की व्याख्या के बाद अब उसके द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था को समझना बडा सुगम होगा। उसकी प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य प्रकृति की गोद मे स्वच्छन्दतापूर्वक जीवनयापन करता था। वह अवस्था भय और चिन्ता से मुक्त थी। प्राकृतिक अवस्था मे रूसो का मनुष्य 'भला असभ्य जीव' (Noble Savage) था जो प्रारम्भिक सरलता और सुखपूर्ण रीति से जीवन-बसर करता था। वह स्वतन्त्र, सतुष्ट, आत्मतुष्ट, स्वस्थ एव निर्भय था। उसे न तो साथियो की आवश्यकता थी और न वह समाज के व्यक्तियो को दु:ख देना चाहता था। उसकी सहज वृत्ति और सहानुभूति की भावना ने ही उसका दूसरो के साथ गठबन्धन किया। वह न तो सही को जानता था और न ही गलत को। वह गुण और अवगुण की सब भावनाओ से अछूता था। उस दशा मे केवल नैसर्गिक शक्तियों से युक्त था। बुद्धि एव विवेक की करतूतो का उसमें अभाव था। प्राकृतिक अवस्था मे ऊँच-नीच तथा मेरे-तेरे का कोई भेद-भाव नही था। व्यक्ति स्वयं अपना स्वामी था। वह आत्मनिर्भर होता था। सभ्यता का विकास न होने की उसकी आवश्यकताएँ बहुत कम थीं और जो थी वह प्रकृति के माध्यम से सहज ही पूरी हो जाती थी। अतः वस्तुओं के प्रति ममत्व की भावना या व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय उस समय नहीं हुआ था। ज्ञान-विज्ञान, कला, विद्या आदि का विकास भी नहीं हो

पाया था। मनुष्य अपने वर्तमान से ही सन्तुष्ट था, उसे भविष्य के लिए संचय की चिन्ता नहीं थी। प्रकृति का यह नियम व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करता था कि "अपने हितों को देखो, किन्तु दूसरे की कम से कम सम्भव हानि हो।" रूसो की प्राकृतिक अवस्था वाला समाज सभ्यता के प्रभावों से सर्वथा मुक्त था। वह समाज ऐसी प्रसन्नता का इच्छुक था जिसमे सामाजिक नियम और सामाजिक संस्थाओं का प्रभाव बिलकुल न हो।

रूसो की प्राकृतिक अवस्था ऐसे स्वर्णिम युग-सी थी जिस बाह्य में नियन्त्रणों से मुक्त व्यक्ति एक भोले और निर्दोष पक्षी की तरह प्राकृतिक सौन्दर्य का उपभोग करता हुआ मस्ती से स्वच्छन्दतापूर्वक विचरता रहता था। उसे जंगली कहना आसान था, क्योंकि वह पहाड़ों-जंगलों मे ही अधिवास करता था। लेकिन जंगली होते हुए भी वह सज्जन तथा नेक था। वह हॉब्स द्वारा समर्थित अहं-प्रेरणा से परे और लॉक द्वारा प्रशंसित नैतिकता की गुण-सूची से अपरिचित था। वस्तुएँ सर्व सुलभ थीं और स्पर्द्धा का नाम न था। इसलिए युद्ध असम्भव से थे। मेरे और तेरे का भेद न रखने से उस युग के मनुष्य को बुद्धिहीन भले ही कहें, पर वह चरित्रहीन और भ्रष्ट नही था। सादगी उसका गुण था और भोलापन उसका जीवन।

किन्तु वह स्वर्णिम युग छिन्न-भिन्न हो गया। प्राकृतिक दशा की अवस्थाएँ चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकीं। रूसो की प्राकृतिक दशा को नष्ट करने के लिए दो तत्त्व उत्पन्न हुए। एक तो जनसंख्या की वृद्धि था और दूसरा था तर्क का उदय। जनसंख्या की वृद्धि से आर्थिक विकास तेजी से होने लगा। सरलता और प्राकृतिक प्रसन्नता के प्रारम्भिक जीवन का लोप हो गया। सम्पत्ति रूपी साँप ने प्रवेश किया और मनुष्यों मे परिवार एवं वैयक्तिक सम्पत्ति बनाने की इच्छा उत्पन्न हुई। परिव्राजक की तरह स्वच्छन्द घूमने वाले वनचारी ने भूमि के हिस्से पर अपना अधिकार सहज स्नेहवश या अस्थायी आवास की तरह जमाया। धीरे-धीरे वहाँ उसका स्थाई आवास बन गया। आने वाली सन्तानों तथा परिवार के सदस्यों के लिए वह एक सुनिश्चित आश्रम तथा विश्राम स्थल हो गया। दूसरे सदस्यों ने, जो निश्छल थे, व्यक्ति-विशेष के इस आधार को नि.सकोच मान लिया। वाद-विवाद या प्रतिरोध उनकी प्रकृति से परे था। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ यह प्रक्रिया बढ़ती गई। परिवार और सम्पत्ति की व्याख्या घर कर गई। अब विषमता का जन्म हुआ। मानवीय समानता नष्ट होने लगी। मनुष्य ने मेरे और तेरे के भाव से सोचना आरम्भ किया जिससे निजी सम्पत्ति की व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ। रूसो के अनुसार, "वह प्रथम मनुष्य ही नागरिक समाज का वास्तविक संस्थापक था जिसने भूमि के एक टुकड़े को घेर लेने के बाद यह कहा था कि यह मेरा है और उसी समय समाज का निर्माण हुआ था जब अन्य लोगों ने उसकी देखा-देखी स्थानों और वस्तुओं को अपना समझना प्रारम्भ किया।" इस विकास की सम्पूर्ण विधि को डनिंग के इन शब्दों मे व्यक्त किया जा सकता है कि "कृषि और धातु विषयक कलाओं की खोज हो गई और उन्हें लागू करने मे आदमियों को एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता

थी। सहयोग का प्रादुर्भाव हुआ और उसमे मनुष्यों की विभिन्न योजनाओं को बल मिला और इस प्रकार अनिवार्य परिणाम अर्थात् आधुनिक समाज के निर्माण की तैयारी हो गई। अपेक्षाकृत बलवान आदमी अधिक मात्रा मे काम करता था; किन्तु दस्तकार को अधिक अंश मिलता था। इस तरह धनी और निर्धन का भेद उत्पन्न हुआ जो असमानता के स्रोतों का जनक है।" अब एक विकृति-सी सारी दशा पर छा गई। *मनुष्य सहज सुख-शान्ति से हाथ धो बैठा। जीवन कलुषित हो उठा।*

उल्लेखनीय है कि रूसो ने प्राकृतिक अवस्था के तीन प्रकार माने हैं। सबसे पहले आदिम प्राकृतिक अवस्था थी। उस समय मनुष्य निपट जंगली था। फिर मध्यवर्ती प्राकृतिक अवस्था आई। तब असमानता का प्रारम्भ हुआ और संचयवृत्ति बढ़ गई। तत्पश्चात् दमन एवं अत्याचार की पोषिका अन्तिम अवस्था आई जो असहनीय थी और जिसमें मनुष्य की गति बुरे से सर्वनाश की ओर (From bad to warse and still worse) थी। इस कुचक्र को रोकने के लिए ही सामाजिक संविदा की अवतारणा हुई। इसी समय मनुष्य ने 'प्रकृति की ओर वापिस' (Back to noture) चलने का नारा दिया। राइट महोदय के अनुसार, इस नारे का अर्थ था—"हम दम्भ का परित्याग कर सकते हैं। हम दूसरों के साथ तुलना करना छोड़ कर केवल अपने ही कार्य में लगे रह सकते हैं। हम बहुत-सी कल्पनात्मक इच्छाओं का परित्याग करके अपने स्वरूप को पुनः प्राप्त कर सकते हैं। हम विनम्र हो सकते हैं और अपनी आत्मा को प्राप्त कर सकते हैं। एक शब्द में हम प्रकृति की ओर लौट सकते हैं। इस प्रसिद्ध वाक्य का यही अर्थ है।" स्पष्ट है कि रूसो हमें सभ्यता की समस्त देनों का परित्याग करके पूर्व-राज्य की अवस्था में नहीं ले जाना चाहता अपितु प्राकृतिक दशा की आदर्श अवस्था तक पहुँचाना चाहता है। वह जानता है कि समाज में आगे बढ़े हुए रथ को पीछे लौटाना सम्भव नहीं है। पर साथ ही वह *प्रकृति-सुलभ सौन्दर्य, सरलता और सहानुभूति का उपासक है।* '*विवेक तथा तार्किक बुद्धि*' को वह प्रकृति के प्रतिकूल मानता है। रूसो का 'Natural Men' वह आदर्श है जिसको विकास करते-करते हमें प्राप्त करना है। रूसो के अनुसार लास्की (Laski) के शब्दों में, "हमें एक ऐसे प्रतिष्ठान की आवश्यकता है जो एक ही साथ व्यक्ति तथा उन संस्थाओं का जो आज उसे पतित कर रहे हैं, पुनर्निर्माण करेगी।"

रूसो ने प्राकृतिक दशा के बारे में यह दावा नहीं किया है कि निश्चित रूप में कभी किसी जगह वैसी दशा रही होगी। अनुमान से वह उस दशा की कल्पना करता है। अपने विचारों में आगे चलकर वह संशोधन-परिवर्तन करता है जिसमें कई असंगतियाँ पैदा हो गई हैं। लेकिन रूसो स्वयं कहता है, "मैं पक्षपात या पूर्वाग्रह की बजाय विरोधाभास (Paradoxes) का प्रेमी हूँ।"

रूसो की सामाजिक संविदा सम्बन्धी धारणा
(Rousseau's Conception of Social Contract)

रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था के अन्तिम चरण की अराजकता ने जब व्यक्ति दुखी हो गए तब उन्होंने स्वयं को एक ऐसी संस्था में संगठित कर लेने की

आवश्यकता अनुभव की जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की जान-माल की रक्षा हो सके और साथ ही व्यक्तियों की स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण बनी रहे। अतः उन्होंने परस्पर मिलकर यह समझौता किया कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता, अधिकार एवं शक्ति समाज को अर्पण कर दे। रूसो के शब्दों में व्यक्तियों ने समझौते की शर्तों को इस प्रकार व्यक्त किया—"हम में से प्रत्येक अपने शरीर को और अपनी समूची शक्ति को अन्य सबके साथ संयुक्त सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन में रखते हैं और अपने सामूहिक स्वरूप में हम प्रत्येक सदस्य को समष्टि के अविभाज्य अंश के रूप में स्वीकार करते हैं।" आगे वह लिखता है, "समझौता करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के स्थान पर, समूह बनाने की इस प्रक्रिया में, एकदम नैतिक तथा सामूहिक निकाय का जन्म होता है जो कि उतने ही सदस्यों से मिलकर बना है जितने कि उसमें मत होते हैं। समुदाय बनाने के इस कार्य से ही निकाय को अपनी एकता, अपनी सामान्य सत्ता अपना जीवन तथा अपनी इच्छा प्राप्त होती है। समस्त व्यक्तियों के संगठन से बने हुए इस सार्वजनिक व्यक्ति को पहले नगर कहते थे, अब उसे गणराज्य अथवा राजनीतिक समाज कहते हैं। जब यह निष्क्रिय रहता है तो उसे राज्य कहते हैं और जब सक्रिय होता है तो सम्प्रभु तथा ऐसे ही अन्य निकायों से इसकी तुलना करने में इसे शक्ति कहते हैं।"

स्पष्ट है कि रूसो के अनुसार मनुष्य अराजक दशा को दूर करने के लिए जो समझौता करते हैं, वह दो पक्षों के बीच किया जाता है। एक पक्ष में मनुष्य अपने वैयक्तिक रूप में होते हैं और दूसरे पक्ष में मनुष्य अपने सामूहिक रूप में होते हैं। क, ख, ग, घ, आदि अलग-अलग मनुष्य अपने वैयक्तिक रूप में दृढ़ निश्चय के साथ उस समुदाय अथवा समाज के साथ समझौता करते हैं जिसका निर्माण क, ख, ग, घ आदि मनुष्यों ने मिलकर किया। इस तरह समझौते के परिणामस्वरूप राज्य-संस्था के संगठित हो जाने पर मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता, अधिकार एवं शक्ति को अपने से पृथक् नहीं कर देते। वे इन्हें अपने पास रखते हैं। पर व्यक्ति रूप से नहीं अपितु सामूहिक रूप से अर्थात् समाज के अंग होने के कारण। अब मनुष्य की जान और माल की रक्षा का उत्तरदायित्व अकेले अपने ऊपर नहीं रह जाता, वरन् सम्पूर्ण समाज का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह प्रत्येक मनुष्य की स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा करे। राज्य-संस्था के संचालन की शक्ति जनता में निहित रहती है क्योंकि जनता स्वयं प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न होती है। राज्य-शक्ति के प्रयोग का अधिकार जिस शासक वर्ग को दिया जाता है, वह जनता की आकांक्षा के अनुसार ही कार्य करता है, क्योंकि वह जनता की इच्छा को क्रिया रूप में परिणत करने का साधन-मात्र है और अपने कर्त्तव्यों का भली-भाँति पालन न करने पर अपने पद से पृथक् किया जा सकता है तथा उसके स्थान पर दूसरे शासक वर्ग को नियुक्त किया जा सकता है यदि वह जनता की इच्छानुसार कार्य करने का वचन दे।

रूसो ने समझौता सिद्धान्त को जिस ढंग से प्रतिपादित किया है उसकी मुख्य विशेषताएँ अग्रलिखित हैं—

(1) प्राकृतिक अवस्था के पहले चरण में सभी व्यक्ति निश्छल और सरल होते हैं, किन्तु कालान्तर मे जनसख्या मे वृद्धि, तर्क के उदय और सम्पत्ति के प्रवेश के कारण वे संघर्षरत होते हैं। इस अराजकता को समाप्त करने और पुनः अपनी स्वतन्त्रता की स्थापना के लिए वे एक समझौता करते हैं।

(2) सामाजिक समझौते के क्रियाशील एवं केन्द्रीय भाग का अर्थ है कि प्रत्येक सदस्य अपने सम्पूर्ण अधिकार एवं शक्तियाँ समाज को समर्पित कर देता है। इस हस्तान्तरण की शर्त है समता, अर्थात् सभी के साथ एक ही-सी शर्त। अतः इस समझौते से प्रत्येक को लाभ है। इस समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ समाज कभी भी दमनकारी एवं स्वतन्त्रता-विरोधी नही हो सकता।

(3) यद्यपि सभी व्यक्ति अपने अधिकारो का पूर्ण समर्पण करते हैं, तथापि जो अधिकार विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत हैं, मनुष्य उन्हे अपने पास रख सकते हैं। उदाहरणार्थ समाज का इस बात से कोई सम्बन्ध नही होता है कि व्यक्ति क्या खाता है, अथवा क्या पहिनता है। पर कोई विषय सार्वजनिक महत्त्व का है अथवा नहीं, इसका निर्णय समाज ही करता है अर्थात् सार्वजनिक महत्त्व की दृष्टि से आवश्यक परिस्थितियो मे सामान्य हितो की रक्षा करने के लिए समाज विशुद्ध व्यक्तिगत मामलों में भी हस्तक्षेप कर सकता है—अपने सदस्यों के भोजन, वस्त्र आदि को नियन्त्रित कर सकता है।

(4) इस समझौते के फलस्वरूप हुई एकता पूर्ण है, क्योंकि "प्रत्येक व्यक्ति सबके हाथो मे अपने आपको समर्पित करते हुए किसी के भी हाथो मे अपने को समर्पित नही करता," एव "प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए, सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अधीन समर्पित कर देता है और एक समूह के अविभाज्य अग के रूप मे उन्हे प्राप्त कर लेता है। 'अत. समाज की सामान्य इच्छा सभी व्यक्तियो के लिए सर्वोच्च हो जाती है और प्रत्येक व्यक्ति उसके अधीन हो जाता है।" रूसो के समाज मे किसी भी सदस्य को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं हैं, सबका स्थान समान है। इस तरह राज्य मे नागरिक स्वतन्त्रता ही नही अपितु समानता भी प्राप्त करते हैं।

(5) समझौता कोई ऐसी घटना नहीं है जो कभी एक बार घटी हो। यह एक निरन्तर चलने वाला क्रम है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा मे निरन्तर भाग लेता रहता है और इस तरह राज्य को निरन्तर सहमति प्रदान करता रहता है।

(6) संविदा के कारण मनुष्य अपने शरीर को और अपने अधिकारों और शक्तियों को जिस सार्वजनिक सत्ता को समर्पित करता है, वह सब व्यक्तियो से मिलकर ही निर्मित होती है। इसी को प्राचीन काल मे नगर राज्य कहते थे और अब गणराज्य या राज्य-सस्था या राजनीतिक समाज कहते हैं। इसका निर्माण जिन व्यक्तियो से मिलकर होता है, उन्हो को सामूहिक रूप से 'जनता' कहा जाता है। जब हम उन्हे राजशक्ति की अभिव्यक्ति मे भाग लेते हुए देखते हैं तब हम उन्हें

'नागरिक' कहते हैं, और जब राज्य के कानून-पालकों के रूप में देखते हैं तो उन्हें हम 'प्रजा' की सज्ञा देते हैं। सक्षेप में, रूसो के अनुसार सामूहिक एकता 'राज्य', 'प्रभु', 'शक्ति', 'जनता', 'नागरिक' एव 'प्रजा' सब कुछ है।

(7) रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति के दो स्वरूपों के मध्य होता है। मनुष्य एक ही साथ निष्क्रिय प्रजाजन भी है और क्रियाशील सम्प्रभु भी। एक सम्प्रभुता पूर्ण सघ का सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति केवल उतना ही स्वतन्त्र नहीं रहता जितना वह पहले था बल्कि सामाजिक स्थितियों के अन्तर्गत उनकी स्वतन्त्रता और भी अधिक बढ़ जाती है तथा सुरक्षित बन जाती है।

(8) समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न समाज अथवा राज्य का स्वरूप सावयविक (Organic) होता है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अविभाज्य अग होने के कारण राज्य से किसी भी प्रकार अलग नहीं हो सकता और न वह राज्य के विरुद्ध आचरण ही कर सकता है। रूसो का समाज हॉब्स एवं लॉक की धारणा के समान व्यक्तिवादी नहीं है। समझौता एक नैतिक तथा सामूहिक प्राणी का निर्माण करता है *जिसका अपना निजी जीवन है, अपनी निजी इच्छा है तथा अपना निजी अस्तित्व* है। रूसो इसे सार्वजनिक व्यक्ति (Public Person) कहकर पुकारता है। राज्य या समाज का सावयविक रूप बतलाते हुए रूसो ने एक स्थान पर लिखा है कि विधि निर्माण-शक्ति सिर के समान, कार्यकारिणी बाहु के समान, न्यायपालिका मस्तिष्क के समान, कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य पेट के समान और राजस्व रक्त-सचार के समान है।

(9) समझौते द्वारा व्यक्ति के स्थान पर समष्टि और व्यक्ति की इच्छा के स्थान पर सामान्य इच्छा आ जाती है। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो के सामाजिक समझौते का सर्वाधिक विशिष्ट अग है। सामान्य इच्छा सदैव न्याययुक्त होती है और जनहित इसका लक्ष्य होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जनता की राय सदैव ही ठीक होती है। मनुष्य का हित यद्यपि सामान्य इच्छा का अनुसरण करने में ही है, किन्तु सामान्य इच्छा सबकी नहीं होती।

(10) सामाजिक समझौते से उत्पन्न होने वाला समाज अथवा राज्य ही स्वय सम्प्रभुता-सम्पन्न होता है। अपने निर्माण की प्रक्रिया में समाज स्वय सम्प्रभुताधारी बन जाता है और समाज का प्रत्येक सदस्य इस प्रभुता-सम्पन्न निकाय का एक निर्णायक भाग होता है। समझौते से किसी सरकार की स्थापना नहीं होती, अपितु सामान्य इच्छा पर आधारित सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समाज की स्थापना होती है और सरकार इस प्रभुत्व शक्ति द्वारा नियुक्त यन्त्रमात्र होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि रूसो का सामाजिक समझौता हॉब्स और लॉक के समझौते से भिन्न होते हुए भी प्रभावी अवश्य है। हॉब्स की भांति रूसो ने माना है कि समझौते के लिए उत्सुक व्यक्तियों ने अपने सम्पूर्ण अधिकार बिना किसी शर्त के व्यक्ति या व्यक्ति समूह को नहीं सौंपे। लॉक की भांति रूसो ने यह स्वीकार किया है कि समझौते के बाद सम्पूर्ण सत्ता समाज में ही निहित रही।

प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक संविदा की आलोचना

(1) रूसो ने प्राकृतिक अवस्था का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह निराधार एवं काल्पनिक है। ऐतिहासिक तथ्य यह प्रमाणित नहीं करते कि मनुष्य कभी ऐसा शान्तिमय, सुखमय और आदर्श जीवनयापन करते थे। साथ ही रूसो की प्राकृतिक अवस्था मानव-स्वभाव की गलत धारणा पर आधारित है। यह कहना भ्रामक है कि मनुष्य लौकिक रूप से श्रेष्ठ एवं गुणी है और उसके सम्पूर्ण दोष केवल बाह्य परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न हुए हैं। वस्तुतः मनुष्य तो अच्छाई और बुराई दोनों का सम्मिश्रण है। उसमें पशुता का अंश भी है और देवत्व का भी। पुनश्च, यदि व्यक्ति मूलत उच्च श्रेष्ठ है तो यह समझ में नहीं आता कि केवल सम्पत्ति के प्रवेश से ही उसके समस्त गुण क्योंकर लुप्त हो गए।

(2) रूसो प्रगति के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहता है कि मानव-समाज का निरन्तर ह्रास हो रहा है किन्तु यह विचार तर्क-सम्मत नहीं है। मानव-जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, अवनति का नहीं। सभ्यता और वैज्ञानिक प्रगति के पथ पर जितना मनुष्य चल चुका है, उतना आज से पूर्व कभी नहीं चल पाया था। मनुष्य की जिज्ञासा वृत्ति उसे नित्य नवीन क्षेत्रों की ओर उन्मुख करती है, पीछे की ओर नहीं धकेलती।

(3) रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति एवं समाज में होता है, किन्तु दूसरी ओर समाज समझौते का परिणाम है—यह स्पष्टतः एक विरोधात्मक है और इस दृष्टिकोण से समझौता असगत हो जाता है। रूसो के वर्णन में एक अन्य असगत तथ्य यह है कि कहीं तो वह समझौते को ऐतिहासिक घटना कहता है और कहीं उसे एक निरन्तर चलने वाला क्रम।

(4) रू ो की यह धारणा भी गलत है कि राज्य का जन्म किसी समझौते का परिणाम है। राज्य का जन्म तो मानव के क्रमिक विकास द्वारा हुआ है।

(5) रूसो के अनुसार समझौते के द्वारा व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता और अपने अधिकार समाज को सौंप देता है। इस तरह उसके पास समझौता हो जाने के बाद स्वतन्त्रता एवं अन्य अधिकार रह ही नहीं जाते। रूसो इसकी सफाई यह कहकर देता है कि सामूहिक रूप से व्यक्ति स्वतन्त्रता एवं अधिकारों को पुनः प्राप्त कर लेता है। पर अधिकारों और स्वतन्त्रता की यह पुन. प्राप्ति एक सैद्धान्तिक कथन मात्र है। वास्तविकता तो यह है कि समझौते से निर्मित राज्य निरकुश है जिसकी हर आज्ञा का पालन करना व्यक्ति का धर्म है। रूसो व्यक्ति की खुशियाँ, कामनाओं और स्वतन्त्रता को, सामान्य इच्छा की आड़ में राज्य की इच्छा पर न्योछावर कर देता है।

(6) रूसो ने व्यक्ति को प्रजा और नागरिकों दोनों का स्थान प्रदान किया है। व्यक्ति नागरिक इस दृष्टि से है कि वह राज्य-शक्ति का एक भाग है और प्रजा इसलिए है कि वह राज्य की आज्ञाओं का पालन करता है। इस व्यवस्था का व्यावहारिक रूप यह बनता है कि यदि आज्ञानुसार किसी व्यक्ति को फाँसी दी जाती

है तो यह कहना चाहिए कि वह व्यक्ति स्वयं अपनी आज्ञा से फाँसी पर लटकाया जाता है। यह बड़ी हास्यास्पद स्थिति है। समझौता भी राज्य-संस्था के अभाव में सम्भव नहीं है। समझौते के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रतिपादन करा सकने वाली कोई शक्ति विद्यमान हो। अतः राज्य-संस्था के प्रादुर्भूत होने के बाद तो मनुष्य आपस में कोई समझौता कर सकते हैं, उसके पहले नहीं। अराजक दशा में भी मनुष्य परस्पर मिलकर कोई समझौता कर सकते हैं, यह कतई युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त किसी अज्ञात काल में किया गया समझौता वर्तमान युग के लोगों के लिए कैसे लागू हो सकता है, यह बात भी समझ से परे है।

(7) रूसो ने सामान्य इच्छा की जो व्याख्या की है, वह राज्य को स्वेच्छाचारी बना देती है। चूंकि विधि-निर्माण इसी सामान्य इच्छा का अबाध अधिकार है, अतः यह अन्याय भी कर सकती है। इसकी आड़ में निरंकुशता एवं अन्याय को प्रोत्साहन मिल सकता है।

रूसो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी धारणा
(Rousseau's Conception of General Will)

रूसो ने जिस ढंग से सामाजिक संविदा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसमें 'सामान्य इच्छा' का बहुत अधिक महत्त्व है। 'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के लिए रूसो की अमर देन है।[1] कुछ विचारकों के मतानुसार तो यह जनतन्त्रवाद की आधारशिला है। काण्ट, हीगल, ग्रीन, बोसांके आदि दार्शनिकों का विचारवाद (Idealism) भी इसी पर आधारित है। लेकिन जहां जनतन्त्र के समर्थकों ने मुक्त हृदय से इसका स्वागत किया है वहाँ निरंकुश शासकों ने इसका दामन पकड़ कर जनता पर मनमाने अत्याचार भी ढाए हैं। शायद ही कोई सिद्धान्त इतना विवादास्पद रहा है जितना कि सामान्य इच्छा का सिद्धान्त।

रूसो की सामान्य इच्छा को भली-भांति समझने के लिए सबसे पहले हमें इच्छा के स्वरूप को समझना चाहिए। रूसो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की दो प्रमुख इच्छाएँ होती हैं—

(1) यथार्थ इच्छा (Actual Will), एवं
(2) आदर्श इच्छा (Real Will)।

यथार्थ इच्छा (Actual Will) वह इच्छा है जो स्वार्थगत, संकीर्ण एवं परिवर्तनशील है। जब मनुष्य केवल अपने लिए ही सोचता है तब वह यथार्थ इच्छा के वशीभूत होता है। रूसो के अनुसार मनुष्य की यह भावना-प्रधान इच्छा होती है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य विवेकहीनता से कार्य करता है। वह सर्व-साधारण के हित की कल्पना नहीं करता, केवल अपने स्वार्थ में डूबा रहता है। व्यक्ति की यह भ्रान्तिकारी इच्छा होती है और इसमें व्यक्ति का दृष्टिकोण संकीर्ण तथा अन्तर्द्वन्द्वमयी होता है।

1 *Jones*: op. cit., p. 318

इसके विपरीत आदर्श इच्छा (Real Will) वह इच्छा है जो विवेक, ज्ञान एवं सामाजिक हित पर आधारित होती है। रूसो के अनुसार यही एकमात्र श्रेष्ठ इच्छा है तथा स्वतन्त्रता की द्योतक है। यह व्यक्ति की उत्कृष्ट इच्छा है जो सुसगठित, स्वार्थविहीन, कल्याणकारी एवं सुसंस्कृत होती है। यह इच्छा व्यक्ति में स्थायी रूप से निवास करती है। इस इच्छा के वशवर्ती होकर व्यक्ति यथार्थ इच्छा (Actual Will) की भाँति अस्थाई परिणामों की ओर आकर्षित न होकर स्थाई निर्णयों को स्वीकार करता है। इसके द्वारा व्यक्ति सार्वजनिक हित का चिन्तन करते हुए स्वार्थ को निम्न स्थान देता है। मनुष्य की इस इच्छा का अभिव्यक्तिकरण व्यक्ति और विवेक से काम लेकर समाज के मध्य होता है।

रूसो के अनुसार यथार्थ इच्छा व्यक्ति के 'निम्न स्व' (Lower Self) पर आधारित होती है तथा आदर्श इच्छा उसके 'श्रेष्ठ स्व' (Higher Self) पर। यथार्थ और आदर्श इच्छा में अन्तर एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए एक प्रशासकीय अधिकारी को रिश्वत देकर कोई व्यक्ति उससे अपना अवैध कार्य करवाना चाहता है। यदि धन के लोभ में वह अधिकारी उस व्यक्ति का कार्य करने को तैयार हो जाए, तो यह उसकी यथार्थ इच्छा है, किन्तु यदि अधिकारी रिश्वत न ले तो यह उनकी आदर्श इच्छा है।

यथार्थ और आदर्श इच्छा के भेद पर ही 'सामान्य इच्छा' का विचार आधारित है। वास्तव में सामान्य इच्छा समाज के व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का निचोड़ अथवा उनका सगठन और समन्वय है। बोसांके के शब्दों में यह "पूर्ण समाज की इच्छा है अथवा सब व्यक्तियों की इच्छा है, यदि उसका ध्येय सामान्य हित हो।" यह सामान्य हित की सामूहिक चेतना है। वेपर के अनुसार, "सामान्य इच्छा सब नागरिकों की इच्छा है, जबकि वे अपने व्यक्तिगत हितों के लिए नहीं बल्कि सामान्य कल्याण के इच्छुक होते हैं। यह सबकी भलाई के लिए सबकी आवाज है।" सामान्य इच्छा का असाधारण रूप यह है कि वह अपने सदस्यों के निजी हितों से भिन्न रूप में सामूहिक कल्याण का प्रतिनिधित्व करती है। सभी लोग अपने सम्मिलित लाभों को सामान्य इच्छा के प्रति समर्पित करते हैं। सामान्य इच्छा में व्यक्तिगत लाभों को कोई स्थान नहीं है। इसका अनुबन्ध सभी के लाभ का अनुबन्ध है। सेवाइन के अनुसार "सामान्य इच्छा समाज का एक विचित्र प्रतिनिधित्व करती है। इसका उद्देश्य स्वार्थपरता और कुछ इने-गिने हितों की रक्षा न होकर सर्वसाधारण के हितों की रक्षा करना होता है।"

सामान्य इच्छा की व्याख्या करते हुए रूसो कहता है—"मेरी सामान्य इच्छा के अनुबन्ध में सभी लोग अपना सर्वस्व राज्य को सौंप देते हैं। राज्य का हित सभी नागरिकों का सर्वश्रेष्ठ हित है।" वह आगे कहता है—"हमारे समस्त क्रियाकलाप हमारी इच्छा के परिणाम हैं किन्तु राज्य के कल्याणार्थ जो मेरी इच्छा है वह व्यक्तिगत लाभों की इच्छा से या समाज के कल्याण की इच्छा से अधिक नैतिक है, क्योंकि व्यक्तिगत लाभों या समाज के लाभों की इच्छा का ध्येय बदल सकता है।

चूँकि 'सामान्य इच्छा' समस्त नागरिकों की सर्वश्रेष्ठ इच्छाओं का योग है, अतः वह सर्वसाधारण की पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न इच्छा (Sovereign Will) ही है।" आगे चलकर रूसो पुन. लिखता है "चूँकि सामान्य इच्छा मेरी ही सर्वश्रेष्ठ इच्छा है अत. मुझे इस इच्छा का पालन अवश्य ही करना चाहिए। यदि मैं किन्ही स्वार्थोवश उस इच्छा को पूरा नही करता तो समस्त समाज की सामान्य इच्छा मुझे मजबूर कर सकती है कि मैं तदनुसार आचरण करूँ। वास्तव मे सामान्य इच्छा ही एक ऐसी शक्ति है जो मेरे ऊपर दबाव डाल सकती है क्योकि वह मेरी अपनी ही इच्छा है। चाहे मैं कभी अपनी इच्छा (या सामान्य इच्छा) को न भी पहचानूँ तो भी मेरे लिए यह आवश्यक है कि मैं उक्त सामान्य इच्छा के आदर्शों का पालन करूँ। सामान्य इच्छा के आदर्शों का पालन करने मे स्वय अपने आदर्शों का ही पालन कर रहा हूँ और इस प्रकार सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहा हूँ।" इसी सम्बन्ध मे रूसो पुन. बल देकर कहता है कि—"यदि कोई व्यक्ति सामान्य इच्छा की अवहेलना करेगा तो समस्त समाज उसके ऊपर दबाव डालेगा।"

रूसो के मत मे सामान्य इच्छा न तो बढ़ सकती है और न वह दूर की जा सकती है। ससदीय प्रशासन प्रणाली मे सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व सम्भव नही है, क्योकि "ज्यो ही राष्ट्र अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर देता है त्यो ही सामान्य इच्छा स्वतन्त्र नही रह जाती। सत्य यह है कि सामान्य इच्छा का अस्तित्व ही नही रहता।" रूसो का कहना है कि निर्वाचनो के समय इग्लैण्ड स्वतन्त्र नही रहता और निर्वाचनो के बाद तो वह गुलाम देश हो जाता है, क्योकि सामान्य इच्छा किसी को प्रदान नही की जा सकती। प्रदत्त सामान्य इच्छा का अर्थ तो मृत सामान्य इच्छा है।

प्रकट है कि रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा व्यक्ति का ही विशिष्ट रूप नहीं है वरन् राज्य का भी है। प्रत्येक समुदाय एव सस्थान, जिसके सदस्यो मे सार्वजनिक भावना होती है, एक सामूहिक मस्तिष्क की विद्यमानता को इगित करता है। यह सामूहिक मस्तिष्क व्यक्तियो के मस्तिष्को के योग से उच्चतर होता है। इस प्रकार राज्य को, जो कि सबसे उच्च समुदाय है, सामूहिक मस्तिष्क भी एक नैतिक अस्तित्व रखता है। रूसो का विचार है कि जिस अनुपात मे लोग सार्वजनिक हित को सामने रख सकेंगे और जिस अनुपात मे वे अपने व्यक्तिगत हितो को भुला सकेंगे उसी अनुपात मे सामान्य इच्छा पूर्ण होगी।

सामान्य इच्छा का निर्माण

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा के निर्माण की प्रक्रिया 'Will of All' (सर्वसाधारण की इच्छा) से प्रारम्भ होती है। व्यक्ति समस्याओ को प्रथम स्वय के दृष्टिकोण से देखते है जिसमे उनकी यथार्थ एव आदर्श दोनो इच्छाएँ शामिल रहती हैं, किन्तु राजनीतिक चेतना वाला व्यक्ति अपने विवेक के प्रकाश मे इन इच्छाओ का अशुद्ध और अनैतिक भाग समाप्त कर देता है और तब केवल आदर्श इच्छा ही बची रहती है। इच्छाओ का ऐसा शुद्ध समन्वय ही सामान्य इच्छा बन जाती है। उदाहरणार्थ अ, ब, स, द व्यक्तियो की इच्छाएँ क्रमशः $अ_1$ $अ_2$ $ब_1$ $ब_2$ $स_1$ $स_2$ $द_1$ $द_2$

हैं। इसमें $अ_1 + ब_1 + स_1 + द_1$ भावना प्रधान यथार्थ इच्छाएँ हैं, परन्तु ये आपस में मिलकर नष्ट हो जाती हैं और शेष $अ_2 + ब_2 + स_2 + द_2$ रह जाती है जो सामान्य इच्छा है। मनुष्य में इसकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति निहित है। सामान्य इच्छा के निर्णय आदर्श होते हैं जिनका पालन सभी व्यक्ति करते हैं। सार्वभौमिकता का प्रतिनिधित्व सामान्य इच्छा ही करती है। जब सार्वभौमिकता लोककल्याण के हित में कार्य करती है तो सामान्य इच्छा का पालन होता है। जब तक विधियाँ लोक-मंगल का ध्यान रखती हैं, साधारण इच्छा का पालन होता है। इस समय वे भी साधारण इच्छा का अभिव्यक्तिकरण होती हैं तथा स्वशासन को प्रोत्साहित करती हैं।

सामान्य इच्छा और जनमत एवं समस्त की इच्छा में अन्तर

सामान्य इच्छा में सामान्य हित पर बल दिया जाता है जबकि जनमत में संख्या-बल पर। सामान्य इच्छा के पीछे जनता का जितना भाग है—इस पर महत्त्व नहीं दिया जाता। सामान्य इच्छा एक व्यक्ति या थोड़े व्यक्तियों की इच्छा भी हो सकती है, किन्तु जनमत का आधार यह है कि किस विषय पर जनता को कितना समर्थन प्राप्त है। इसके अतिरिक्त सामान्य इच्छा में बल दिए जाने वाले सामान्य हित में अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक दोनों ही वर्गों के हित शामिल होते हैं जबकि अल्पसंख्यक वर्ग का अहित भी हो सकता है और बहुसंख्यक वर्ग की स्वार्थसिद्धि भी।

'सामान्य इच्छा' तथा 'समस्त की इच्छा' (Will of All) में भी अन्तर है। सामान्य इच्छा का अर्थ समाज के समस्त सदस्यों की इच्छाओं का कुल योग नहीं होता। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा केवल सामान्य हितों का विचार करती है, समस्त अथवा सबकी इच्छा वैयक्तिक हितों का विचार करती है और विशेष इच्छाओं का योग मात्र है। सामान्य इच्छा एक ऐसी एकता है जैसी 'समस्त की इच्छा' कभी नहीं हो सकती। सामान्य इच्छा एक 'सम्पूर्ण' के रूप में (व्यक्तियों के एक समूह-मात्र के रूप में नहीं) समाज की इच्छा को अभिव्यक्त करती है, यह सदस्यों की परस्पर विरोधी इच्छाओं के बीच समझौता नहीं है बल्कि यह एकल तथा एकात्मक इच्छा है। हॉब्स का यह कथन कि 'लेवियाथान' की सर्वोच्च इच्छा सबकी इच्छाओं से कहीं अधिक है और वह एक ही व्यक्ति में उन सबका एकीकृत हो जाना है, रूसो की सामान्य इच्छा पर भी लागू होता है। सामान्य इच्छा एकात्मक है क्योंकि इसे अभिव्यक्त करने वाला सम्प्रभुताधारी निकाय एक नैतिक तथा सामूहिक निकाय होता है, जिसका अपना जीवन, अपनी इच्छा तथा अपना उद्देश्य होना है। सामान्य इच्छा एक व्यक्ति की इच्छा भी हो सकती है और अनेक व्यक्तियों की भी। यह केवल आदर्श इच्छा का सार है और सदैव सामान्य हित की ओर ही संकेत करती है। सामान्य इच्छा समस्त इच्छाओं के स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के निराकरण मात्र से नहीं बनती, किन्तु समाज के उच्चतम विचार की अभिव्यक्ति होती है और यह आवश्यक नहीं है कि समाज की बहुसंख्या द्वारा यह निर्धारित हो। सामान्य इच्छा में भावना की प्रधानता है जबकि सर्वसम्मति अथवा समस्त की इच्छा में सम्मति

देने वाले व्यक्तियों की संख्या का महत्त्व है। इसमें यथार्थ इच्छा की प्रधानता होने पर जनहित में वृद्धि होगी और यथार्थ इच्छा की प्रधानता होने पर केवल वर्ग विशेष की स्वार्थ-सिद्धि होगी, लेकिन सामान्य इच्छा में अहित की कोई गुंजाइश ही नहीं है। वह तो सदा श्रेष्ठ और शुभ है। वह एक राजनीतिक जीव रूपी सम्पूर्ण समाज की इच्छा है, एक ऐसी सामूहिक इच्छा है जो केवल एक सामान्य जीवन वाले निकाय की हो सकती है। हाथ गिन कर इसका पता नहीं लगाया जा सकता। यह सबके लिए सामान्य है और इसके निर्माण में समाज के प्रत्येक सदस्य का योगदान होता है। भ्रष्ट व्यक्तियों के सामान्य हित की कामना रखते हुए भी-उस कार्य में वास्तविक रूप से सामान्य हित न होने के कारण उनकी इच्छा सामान्य इच्छा नहीं कही जाएगी। यह समस्त की इच्छा होगी। यदि अमेरिका में सभी श्वेत व्यक्ति नीग्रो लोगों के साथ अपमानपूर्ण व्यवहार करें तो यह समस्त की इच्छा (Will of All) हो सकती है, सामान्य इच्छा (General Will) नहीं। रूसो का मत है कि मनुष्य यदि बहकाया न जाए और उसको विचार-स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप न हो तो वह सदा ही अपने व्यक्तिगत हितों को सामाजिक हितों के साथ अभिन्न रूप से सम्बद्ध कर देगा। इस दशा में समस्त की इच्छा और सामान्य इच्छा एक ही होगी।

रूसो की सामान्य इच्छा की विशेषताएँ

1 एकता—सामान्य इच्छा सर्वत्र व्यक्तिमगत होती है, अत: उसमें कभी परस्पर विरोध नहीं हो सकता। विवेकयुक्त एवं बुद्धिजन्य होने के कारण यह आत्म-विरोधी नहीं होती। इस इच्छा का अभिप्राय ही यह है कि विभिन्नता में एकता स्थापित हो जाए। रूसो के स्वयं के शब्दों में—"यह राष्ट्रीय चरित्र की एकता को उत्पन्न और स्थिर करती है और उन समान गुणों में प्रकाशित होती है जिनके किसी राज्य के नागरिकों में होने की आशा की जाती है।"

2 स्थायित्व—सामान्य इच्छा स्थायी एवं शाश्वत है। यह इच्छा भावनाओं की उत्तेजना में तथा वक्ताओं के भाषण में नहीं पाई जाती और इसीलिए क्षणिक अथवा अल्पकालीन नहीं होती। यह लोगों के स्वभाव और चरित्र का एक अंश बन जाती है। ज्ञान और विवेक पर आधारित होने के कारण इसमें स्थिरता होती है। रूसो के शब्दों में—"इसका कभी अन्त नहीं होता, यह कभी भ्रष्ट नहीं होती, यह अनित्य, अपरिवर्तनशील तथा पवित्र होती है।"

3. औचित्य—सामान्य इच्छा सदैव शुभ, उचित तथा कल्याणकारी होती है और सदैव जन-हित को लेकर चलती है। यह इच्छा सबकी श्रेष्ठ इच्छा है क्योंकि यह सबकी आदर्श इच्छाओं का योग है। यह हो सकता है कि जनता के निर्णय सदा उचित न हो क्योंकि मनुष्य सदैव अपना हित सोचता है, पर वह यह नहीं जानता कि उसका हित वास्तव में क्या है? यद्यपि जनता भ्रष्ट नहीं होती, पर उसके निर्णय भ्रमपूर्ण हो जाते हैं और उसकी इच्छा गलत हो जाती है। पर सामान्य इच्छा कभी गलत नहीं हो सकती। सामान्य इच्छा के होते हुए प्रथम तो कोई

दोषपूर्ण निर्णय हो ही नहीं सकता और यदि ऐसा हो भी जाए तो दोष सामान्य इच्छा का नहीं वरन् उसके सचालन करने वालों का है।

4. सम्प्रभुताधारी—सामान्य इच्छा सम्प्रभुताधारी है। सम्प्रभुता के समान ही यह अविभाज्य, अदेय है। यह छोटे-छोटे समूहों में विभक्त नहीं हो सकती जैसा कि आधुनिक बहुलवादी (Pluralists) उसे करना चाहते हैं। इसे सरकार के विभिन्न अगों–कार्यपालिका, न्यायपालिका आदि में भी विभक्त नहीं किया जा सकता। इसके विभाजन का अर्थ इसे नष्ट करना है। सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व भी इसके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। सम्प्रभुता के समान ही सामान्य इच्छा भी निरपेक्ष है। रूसो के अनुसार सम्प्रभुता का प्रमुख गुण बाह्य शक्ति का प्रयोग नहीं बल्कि निष्काम भावना है और सामान्य इच्छा द्वारा प्रेरित कार्य सदैव निष्काम होते हैं। यह निष्काम दो प्रकार से होती है—प्रथम, इसका ध्येय सदैव सामान्य हित होता है और द्वितीय, यह सामान्य हित की बातों में जन-सेवा भाव से प्रेरित होती है।

5. रचना में भी सामान्य—सामान्य इच्छा उद्देश्य की दृष्टि से ही नहीं बल्कि रचना में भी सामान्य होती है। अभिप्राय यह हुआ कि इसे समाज के प्रत्येक सदस्य की इच्छा को ध्यान में रखना चाहिए। साथ ही इसका पालन करने के लिए व्यक्तियों को बाधित किया जाना चाहिए।

6. सामान्य इच्छा को राज्य का अधिकार मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य शक्ति से नहीं, अपितु जनता की सहमति से सचालित होता है।

सामान्य इच्छा और विधि-निर्माण

सामान्य इच्छा का एक महत्वपूर्ण कार्य विधि-निर्माण करना है। विधि-निर्माण अथवा व्यवस्थापन सामाजिक सुविधा द्वारा उत्पन्न राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है। रूसो के ही शब्दों में—"सविदा राज्य को अस्तित्व एवं जीवन प्रदान करता है, अब व्यवस्थापन द्वारा हमें उसे गति तथा इच्छा प्रदान करनी है, क्योंकि वह मूल सविदा, जिसके द्वारा राज्य का निर्माण तथा सगठन होता है, किसी भी प्रकार यह निर्धारित नहीं करता कि राज्य को अपने प्रतिक्षण के लिए क्या करना चाहिए।"

विधि-निर्माण का कार्य सम्प्रभुताधारी का है और सम्प्रभुता सामान्य इच्छा में निहित है, अत विधि-निर्माण एकमात्र सामान्य इच्छा का ही कार्य होना चाहिए। सामान्य इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा विधायी कार्य नहीं किया जा सकता और चूंकि विधि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है अतः प्रत्येक मनुष्य के लिए उसकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक है। राज्य यदि एक नैतिक व्यक्ति है तो यह जरूरी है कि उसका कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रत्येक अवयव उसकी इच्छानुसार कार्य करे। विधि अन्यायपूर्ण नहीं हो सकती क्योंकि यह उस सामान्य इच्छा का आदेश होती है जो समस्त समाज की इच्छा होती है और जिसका उद्देश्य सर्वसाधारण का वास्तविक कल्याण होना है। कोई भी अथवा सम्पूर्ण समाज स्वय अपने प्रति अन्याय नहीं कर सकता। रूसो के अनुसार विधि के अधीन रहने पर भी

हम स्वतन्त्र रह सकते हैं, यदि विधि स्वयं हमारी इच्छा को ही अभिव्यक्त करता हो। विधि का अस्तित्व भी तभी है जब सब लोग तदनुसार कार्य करते रहें। रूसो के विचारों में यहाँ एक विरोधाभास है। वह सामान्य इच्छा द्वारा अभिव्यक्त विधि की सर्वोच्चता का भी उतना ही समर्थक है जितना व्यक्तिगत अधिकारों का। वह स्वयं कहता है, "राज्य अपने सदस्यों पर ऐसा कोई बन्धन नहीं लगा सकता जो समाज के लिए बेकार हो।"

चूँकि सामान्य इच्छा सदैव सद् होती है, किन्तु उसका निर्देशन करने वाली निर्णयबुद्धि पूर्ण ज्ञानयुक्त नहीं होती अतः जनता को सद्-असद् या शुभ-अशुभ का ज्ञान कराने के लिए और दूरदर्शितापूर्ण एवं विवेक-सम्मत विधि-निर्माण करने के लिए रूसो विधि निर्माता या विधायक (Legislator) की भी व्यवस्था करता है। इस विधायक को अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न और उचित विधियों एवं संस्थाओं की व्यवस्था करने में समर्थ होना चाहिए। उसे एक ऐसा विद्वान् दार्शनिक होना चाहिए जो जन-साधारण की विभिन्न आवश्यकताओं को समझता हो और परिस्थितियों के अनुरूप विधियों की रूपरेखा बना सकता हो। यह विधि-निर्माता केवल उपरोक्त कार्य कर सकने की दृष्टि से ही मेधा-सम्पन्न होना चाहिए, विधियों को पारित करने और उन्हें कार्यान्वित करने के कार्यों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि न तो वह सम्प्रभुताधारी होता है और न ही न्याय-रक्षक। उसका कार्य तो मात्र एक विशेषज्ञ परामर्शदाता का है जो जन-साधारण को यह बतलाए कि उनके लिए सर्वोत्तम क्या है और फिर उन्हें अपने परामर्श को स्वीकार करने के लिए तैयार करे।

सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की आलोचना

रूसो की सामान्य इच्छा राजदर्शन को एक अमूल्य देन है, तथापि इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर कटु आलोचना की गई है—

(1) अस्पष्ट—रूसो की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त बड़ा अस्पष्ट और जटिल है।[1] यह बताना कठिन है कि यह सामान्य इच्छा कहाँ है। "रूसो ने भी सामान्य इच्छा का भौतिक रूप प्राप्त करने का कोई साधन नहीं बतलाया है। कहीं तो रूसो का मत है कि सबके एकमत में सामान्य इच्छा निवास करती है, किन्तु अन्य स्थलों पर वह यह भी कहता है कि सामान्य इच्छा और सभी की इच्छा (Will of All) में बड़ा अन्तर है। इसी प्रकार कहीं तो वह यह बतलाता है कि सामान्य इच्छा बहुमत की इच्छा है, किन्तु दूसरे स्थल पर यह भी कहता है कि ऐसा अर्थ तब ही लिया जा सकता है, जब सामान्य इच्छा की सभी विशेषताएँ बहुमत की इच्छा में पाई जाती हों। कभी-कभी रूसो का ऐसा मत भी प्रतीत होता है कि सभी नागरिकों के मतों की विभिन्नताओं को निकाल कर जो शेष सामान्य इच्छा बचती है वही वास्तविक सामान्य इच्छा है। इस प्रकार सामान्य इच्छा की परिभाषा में हमको रूसो से कहीं भी स्पष्ट प्रकाश नहीं मिलता।" वेपर (Wayper) कहता है कि

1 *Maxey* : Op. cit., p. 357

"जब सामान्य इच्छा का पता ही हमको रूसो नहीं दे सकता तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ ? यद्यपि रूसो ने हमको सामान्य इच्छा के बारे में बहुत कुछ बतलाया है फिर भी जो कुछ बतलाया गया है वह पूर्ण अपर्याप्त है। सत्य यह है कि रूसो ने हमको ऐसे अन्धकार में छोड़ दिया है जहाँ हम सामान्य इच्छा के बारे में अच्छी तरह सोच भी नहीं सकते।"

रूसो के बचाव में हम यही कह सकते हैं कि वह पूर्णतः दोषी नहीं है। प्रथम तो यह विषय ही बड़ी बारीकी लिए हुए है और दूसरे रूसो इस कठिन कार्य-क्षेत्र में प्रारम्भिक विचारक था। 'सामान्य इच्छा' कितनी भी वास्तविक क्यों न हो, वह साकार नहीं हो सकती और उसका यह निराकार स्वरूप ही उसके विश्लेषण को बड़ा कठिन बना देता है।

(2) **सार्वजनिक हित को जानना कठिन**—सामान्य इच्छा जिस सार्वजनिक हित पर आधारित है उसे जानना बहुत ही कठिन है। सार्वजनिक हित की व्याख्या शासकगण अपनी इच्छानुसार करते हैं। एक अत्याचारी शासक सार्वजनिक हित की दुहाई देकर अपने किन्हीं कार्यों को उचित ठहरा सकता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक कार्य का परिणाम सार्वजनिक हित ही होगा, क्योंकि प्रत्येक कार्य का परिणाम कार्य के पूर्ण होने पर ही ज्ञात होता है। केवल परिणाम द्वारा ही यह निश्चय किया जाता है कि अमुक कार्य उचित है या अनुचित।

(3) **इच्छा का विभाजन सम्भव नहीं**—मानवीय इच्छा को यथार्थ इच्छा और आदर्श इच्छा में बाँटना सम्भव नहीं है। यह तो मानवीय इच्छा का कृत्रिम विभाजन है। मानवीय इच्छा ऐसी जटिल, पूर्ण, अविभाज्य समष्टि है कि उसके बीच विभाजन की दीवार नहीं खींची जा सकती—और यदि ऐसे विभाजन की कल्पना कर ली जाए तो यह निर्णय करना असम्भव-सा होगा कि कौनसी इच्छा यथार्थ है और कौनसी आदर्श।

(4) **भयावह**—'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त एक ओर तो राज्य की निरंकुशता की स्थापना करता है और दूसरी ओर क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध करता है। रूसो के सिद्धान्त में व्यक्ति अपने समस्त अधिकार 'सामान्य इच्छा' को समर्पित कर देता है जो सर्वोच्च शक्ति के रूप में शासन करती है। रूसो व्यक्ति के लिए किसी की व्यवस्था नहीं करता। यद्यपि उसका उद्देश्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना है तथापि वह बहुमत से सहमत न होने वाले व्यक्ति को बहुमत के आगे झुकने के लिए विवश कर देता है। बहुमत से असहमत होने वाले व्यक्तियों के लिए बचाव के सभी मार्ग बन्द हैं। कोल (Cole) के शब्दों में, "हमें बताया जाता है कि 'सामान्य इच्छा' में जिस स्वतन्त्रता की अनुभूति होती है वह सम्पूर्ण राज्य की स्वतन्त्रता होती है, परन्तु राज्य अपने घटकों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त कराने के लिए कायम है। एक स्वतन्त्र राज्य अत्याचारी हो सकता है, इसके विपरीत एक निरंकुश शासक अपनी प्रजा को प्रत्येक स्वतन्त्रता प्रदान कर सकता है। इस बात की क्या गारण्टी है कि राज्य स्वयं अपने को स्वतन्त्र बनाने में अपने घटकों (Members)

को दास नहीं बना डालेगा।"[1] रूसो ने वैयक्तिक हित को सार्वजनिक हित से सर्वथा भिन्न समझते हुए राज्य को इसका निर्माण करने वाले तत्त्वों से अधिक ऊँची, पवित्र और पूजनीय सत्ता बना दिया है जिसके लिए व्यक्तियों को अपने हितों का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। इससे सरकार के हाथ में असाधारण सत्ता और शक्ति आ जाती है। पुनश्च, रूसो ने स्वयमेव लिखा है कि, "जनता सदैव अपना हित चाहती है, किन्तु वह सदैव इसे देख नहीं सकती।" अतः जनता को उसका हित बतलाने वाले नेता और पथ-प्रदर्शक सम्पूर्ण सत्ता हथियाकर निरंकुश शासक बन सकते हैं। स्पार्टा में लाइकरगस एवं एथेंस में सोलन और आधुनिक जर्मनी तथा इटली में हिटलर और मुसोलिनी इसी प्रकार के नेता थे। जोन्स का कहना है कि "सामान्य इच्छा की धारणा के प्रयोग में मुख्य भय यह है कि राज्य में तानाशाही की प्रवृत्ति का उदय हो जाता है।"[2]

रूसो के विरुद्ध ये सभी आपत्तियाँ उठाना इस दृष्टि से उचित नहीं है कि वह एक ऐसा विचारक था जिसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता से गहरा प्रेम था। 'The Emile' के कुछ अंश निर्विवाद रूप से रूसो के वैयक्तिक मूल्य में दृढ़ विश्वास को स्थापित करते हैं। उदाहरणार्थ एक जगह वह लिखता है कि "व्यक्ति इतना महान् है कि उसे दूसरों का काम करने के लिए एक यन्त्र-मात्र नहीं बनाया जा सकता" और एक दूसरे स्थान पर वह घोषित करता है कि "छात्र को शिक्षा राज्य के हित के लिए नहीं, उसके स्वयं के हित के लिए दी जानी चाहिए और उसे सदैव यह सिखाना चाहिए कि वह अपने आपको हमेशा एक साध्य (End) समझे, एक साधन (Means) कभी नहीं।" राज्य को साध्य मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन करते हुए उसने यह विश्वास अभिव्यक्त किया है कि वैयक्तिक सुरक्षा के बिना जन-सुरक्षा निरर्थक है। स्पष्ट है कि इन उद्धरणों के प्रकाश में रूसो पर निरंकुशवाद एवं सर्वाधिकारवाद को प्रोत्साहन देने का आरोप लगाना न्यायसंगत नहीं है। रूसो पर प्रायः यह आरोप भी लगाया जाता है कि वह एक ऐसे व्यक्तिवाद को प्रोत्साहित करने वाला है जिसकी परिणति अराजकता में हो सकती है। ये दोनों आरोप स्वयं ही एक दूसरे को काटने वाले हैं। तब फिर वस्तु-स्थिति क्या है—इसका उत्तर हमें राइट (Wright) के इन शब्दों में मिलता है:—

"यह पुस्तक न तो व्यक्तिवादी के लिए है और न निरंकुशवादी के लिए। राज्य और व्यक्ति के मध्य उस संघर्ष में जो अरस्तू से लेकर आज तक राजदर्शन के सामने एक संकटपूर्ण समस्या के रूप में उपस्थित रहा है, यह ग्रन्थ शान्ति का प्रस्ताव प्रस्तुत करता है।....प्रगति के लिए व्यक्ति को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए किन्तु राज्य को, जो प्रगति का पोषण करता है, अपना कार्य करने के लिए शक्ति भी रखनी चाहिए। स्वतन्त्रता सुरक्षित होनी चाहिए, क्योंकि संदिग्ध स्वतन्त्रता कोई स्वतन्त्रता नहीं होती, किन्तु साथ ही शक्ति को भी सर्वोच्च होना चाहिए क्योंकि

1 *Cole* : Introduction in Everymans Library Series, Page 35.
2 *Jones* : Op. cit., p. 322

सशर्त शक्ति निरर्थक है मतः दोनो को पूर्ण रहना चाहिए, उनमे कोई संघर्ष नही होना चाहिए और हमारा लेखक उन दोनो का एक ऐसे कानून मे सामजस्य करना चाहता है जिसमे न तो सर्वोच्चता का अभाव हो और जो न ही स्वतन्त्रता को सीमित करता हो। जिस तर्क के द्वारा वह ऐसे कानून पर पहुँचता है उसकी यह कहकर आलोचना की जा सकती है कि वह एक थोथी कल्पना है, एक निरादर्श है अथवा वह कदाचित आध्यात्मिक है, किन्तु उसे न तो व्यक्तिवादी ही कहा जा सकता है और न निरकुशवादी ही।"[1]

यह भी स्मरणीय है कि रूसो व्यक्ति को अपनी शक्तियाँ सामान्य इच्छा के सामने समर्पित करने का आग्रह इसलिए करता है कि यह आंशिक (Partial) समर्पण वास्तव मे कोई समर्पण नही है। अपने शरीर और अपनी शक्तियो को सामान्य उद्देश्य के लिए समर्पित करके हम दरअसल राज्य को—ऐसे राज्य को जो हमारे अधिकारो को सर्वाधिक सुरक्षित रख सकने मे समर्थ होता है—शक्तिमान बनाते हैं। अपनी स्वतन्त्रता और अपनी शक्तियो की रक्षा के लिए किसी सामान्य शक्ति को जन्म देना अनुचित नहीं कहा जा सकता। जब हम रूसो पर यह आरोप लगाते हैं कि उसने इस बात का कोई मार्ग या रक्षण प्रस्तुत नही किया कि स्वतन्त्र राज्य निरकुश नही बनेगा तो हम यह भूल जाते हैं कि उसने यथार्थ और आदर्श इच्छा मे विभेद किया है और यह विभेद उसकी इस मूल भावना का द्योतक है कि वह अधिनायकवादी और सर्वाधिकारवादी प्रवृत्ति का विरोधी है। रूसो यह स्पष्ट बतलाता कि "सामान्य इच्छा से निर्दिष्ट होने वाले एक राज्य के हित व्यक्ति के ही हित होते हैं बशर्ते कि व्यक्ति अपनी सच्ची इच्छा द्वारा प्रेरित हो, अर्थात् विश्व-हित को ध्यान मे रखते हुए विवकपूर्वक और स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करे।"[2]

फिर भी, रूसो की मूल भावना का सम्मान करते हुए भी, यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की आड मे बहुमत ने अल्पमत का दमन किया है। बहुमत प्राय. यह भूल जाता है कि सामान्य इच्छा का आधार न्याय और नैतिकता है। मतः यही कहना होगा कि रूसो का सिद्धान्त एक हवाई उडान है। यह एक ऐसी धारणा है जो तथ्यो की पहुँच से परे और परिणामो की चिन्ता से मुक्त रहकर ऊपर शून्य मे उड़ान भरती है।

(5) सामान्य इच्छा का सिद्धान्त छोटे राज्यो मे भले ही सफल हो सके, पर आधुनिक विशाल और विविध हितो से परिपूर्ण जनसख्या वाले राज्यो मे सफल नही हो सकता। आधुनिक राज्यो मे सामान्य हित का निर्धारण करना लगभग असम्भव ही है।

(6) रूसो सामान्य इच्छा के निर्धारण के लिए राजनीतिक दलो की सत्ता और प्रतिनिधि मूलक शासन-व्यवस्था का विरोध करता है जबकि इनका होना आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्यो की सफलता के लिए अनिवार्य है।

1 *Wright* : Meaning of Rousseau, page 103.
2 *Cole* : Op. cit., page 38.

(7) "रूसो की सामान्य इच्छा न तो सामान्य है और न इच्छा ही वरन् निराधार एवं अमूर्त चिन्तन है।"

वस्तुतः रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की गम्भीरतम आलोचना यही लगती है कि न तो "यह सामान्य है और न इच्छा ही (In so far as it is General, it is not Will, and so far as it is Will, is it not General)।" इस आपत्ति का अर्थ यह है कि इच्छा सामान्य होने पर इच्छा ही नही रहती। दूसरे शब्दो मे इच्छा किसी व्यक्ति विशेष की हो सकती है। व्यक्ति अपनी जन्मजात शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियो को सतुष्ट करने के लिए तथा अपनी जीवन की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए कुछ कामना करता है और कुछ चीजें चाहता है और यही वास्तव मे उसकी इच्छा है। इस प्रकार की इच्छा अलग-अलग व्यक्तियो मे निवास करती है क्योकि अलग-अलग व्यक्तियो का अपना-अपना जीवन होता है। वास्तव मे सामान्य जीवन जैसी कोई चीज नही है और जब सामान्य जीवन ही नही है तो सामान्य इच्छा कैसे हो सकती है। हो सकता है कि एक व्यक्ति अपने कल्याण की इच्छा करे और अपने ही सरीखे दूसरे लोगो के कल्याण की इच्छा करे किन्तु इन दोनो ही सूरतो मे इच्छा विशिष्ट होगी, सामान्य नही।

रूसो की कुछ ऐसी कल्पना है कि विभिन्न व्यक्तियो के मिलने से जो समाज बनता है वह एक पुरुष के समान होता है और उस समाज-पुरुष का कल्याण ही सामान्य कल्याण है तथा उस सामान्य कल्याण की इच्छा ही सामान्य इच्छा है। किन्तु समाज-पुरुष की यह कल्पना ही निराधार है। विशिष्ट व्यक्तियो के अलग जीवन का कोई केन्द्र नहीं होता। सुख-दुख का अनुभव विशिष्ट व्यक्ति को ही होता है किन्तु यदि एक क्षण के लिए यह मान भी लिया जाए कि समाज-पुरुष होता है और उसकी इच्छा भी होती है जिसे हम सामान्य इच्छा कहते हैं तो सही अर्थ मे हम उसे इच्छा नही कहेंगे क्योकि इच्छा के साथ तो राग-द्वेष लगा रहता है। इच्छा की उत्पत्ति ही तब होती है जबकि अपने और पराए का भेद नष्ट हो जाए। अतः रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की यह आलोचना ठीक ही प्रतीत होती है कि न तो यह सामान्य है और न यह इच्छा ही है।

रूसो के राजदर्शन मे इतना विभ्रम मुख्यतः इसलिए है कि वह शक्ति अथवा रक्त-सम्बन्ध की अपेक्षा सदस्यो की स्वतन्त्र अनुमति, राजनीतिक सगठन का सच्चा आधार मानता था। राज्य की उत्पत्ति मे समझौता-सिद्धान्त की परम्परागत कल्पना करते हुए भी उसने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को महत्त्व दिया। उसने इन दोनो मे समन्वय का असफल प्रयत्न किया। दो विरोधी धारणाओ को मिलाने के प्रयास मे उसके दर्शन मे भ्रान्तियाँ और असगतियाँ घर कर गई।

सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का महत्त्व

रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की जो भी आलोचनाएँ की जाएँ हम इसके महत्त्व से इन्कार नही कर सकते। अग्रलिखित तथ्य इसकी पुष्टि करते हैं—

(1) रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त ने आदर्शवादी विचारधारा की नीव डाली जिसे आधार मानकर टी. एच ग्रीन ने राज्य का मुख्य आधार बल न मानकर इच्छा को माना (Will not force is the basis of State)। उसने इसी सिद्धान्त की सहायता से यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि जनतन्त्र बहुमत की शक्ति का परिणाम नही है वरन् सक्रिय नि स्वार्थ इच्छा का फल है।

(2) रूसो की सामान्य इच्छा राजनीतिक कार्यों मे पथ-प्रदर्शन का कार्य करती है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा का प्रमुख कार्य विधि-निर्माण और शासनतन्त्र की नियुक्ति और उसे भग करना है।

(3) अपने सिद्धान्त के द्वारा रूसो ने व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा सामान्य हित को उभारा है और बतलाया है कि सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना ही समाज को स्वस्थ और परिष्कृत बनाती है।

(4) रूसो ने एक ऐसे राज्य की स्थापना की जिसमे नागरिक नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकें। रूसो के अनुसार व्यक्ति के अधिकार—स्वतन्त्रता एव नैतिकता, सामान्य इच्छा के द्वारा प्राप्त हो सकते है। रूसो के इस सिद्धान्त ने आगे चलकर कल्याणकारी राज्य-सिद्धान्त के विकास मे बडा योग दिया। सामान्य इच्छा के सिद्धान्त ने इस विचार का पोषण किया कि राज्य एक नैतिक सगठन है जो मानव की असामाजिक एव स्वार्थी प्रवृत्तियो का परिष्कार करते हुए सामूहिक कल्याण पर ध्यान देता है।

(5) सामान्य इच्छा का सिद्धान्त समाज एव व्यक्ति मे शरीर तथा उसके अगों का सम्बन्ध स्थापित करके मानव के सामाजिक स्वरूप को दृढ करता है।

(6) रूसो की सामान्य इच्छा स्पष्ट करती है कि राज्य एक प्राकृतिक सस्था है और हम इसका पालन इसलिए करते हैं क्योंकि सामान्य इच्छा हमारी आन्तरिक इच्छा का प्रतिनिधित्व-मात्र है।

रूसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा
(Rousseau's Conception of Sovereignty)

रूसो का सम्प्रभुता-सिद्धान्त हॉब्स, लॉक तथा बोदां के विचारो से प्रभावित है। उसने सम्प्रभुता की व्याख्या हॉब्स की पूर्णता और सक्षिप्तता के साथ तथा लॉक की विधि के आधार पर की है।

रूसो ने सम्प्रभुता को सामान्य इच्छा मे केन्द्रित माना है। यह समाज अथवा समुदाय मे निवास करती है। सम्प्रभुता को जनता मे प्रतिष्ठित करके रूसो निरकुशवाद के विरुद्ध एक बहुत बडा प्रश्न प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रभु-शक्ति का हिस्सेदार है। चूँकि समाज स्वय सम्प्रभु है, अत वही सर्वोच्च शक्ति है और उस शक्ति का कोई शत्रु नही हो सकता। जनता सरकार के कार्यों पर कडी और सचेत निगाह रखती है। यहां विद्रोह का कोई प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि जनता स्वय सम्प्रभु है।

रूसो ने सम्प्रभुता को 'सामान्य इच्छा' मे निहित करके एक असीम, अविभाज्य और अदेय सार्वभौमिकता का समर्थन किया है। हॉब्स की भांति निरकुशता के स्वर मे उसने कहा है "जिस प्रकार प्रकृति मनुष्य को अपने अंगो पर निरकुश सत्ता देती है उसी प्रकार सामाजिक समझौता भी राज्य को अपने अंगो पर सम्पूर्ण निरकुश सत्ता प्रदान करता है।" किन्तु हॉब्स की निरकुशता और रूसो की निरकुशता मे एक बहुत बडा अन्तर है। जहाँ हॉब्स की निरकुश शासक से सम्बद्ध है वहाँ रूसो की जनता से। रूसो ने हॉब्स की निरकुशता प्रभुता और लॉक की सार्वजनिक इच्छा को एक साथ मिलाकर लोकप्रिय प्रभुता को जन्म दिया है।

• रूसो के अनुसार सम्प्रभुता सम्पूर्ण जनता मे सामूहिक रूप से निवास करती है, अथवा यह 'सामान्य इच्छा' को प्रदर्शित करती है, अत. इसका प्रतिनिधित्व नही हो सकता। यह सम्प्रभुता ही विधियो का मूल स्रोत है।

रूसो का सम्प्रभुता सिद्धान्त भी विरोधाभासो से पूर्ण है। एक ओर तो वह सम्प्रभुता को असीमित बतलाता है और कहता है कि कोई भी ऐसा क्षेत्र नही है जहाँ सम्प्रभुता का प्रसार न हो तथा दूसरी ओर यह भी विचार रखता है कि सम्प्रभुता कोई ऐसा कार्य नही कर सकती जो सामान्य हित के विरोध मे हो। सम्प्रभु को सर्वोच्च शक्तियाँ देने पर भी रूसो का आग्रह है कि शासक को उचित प्रकार से शासन करना चाहिए तथा न्याय और समानता का नियम सदैव लागू होना चाहिए। यह विरोधाभास लोकप्रिय शासन के प्रति रूसो के अगाध प्रेम के कारण ही है। वास्तव मे रूसो सम्प्रभुता पर जिस प्रकार की सीमा लगाना चाहता है, वह कोई बाह्य सीमा नही है वरन् स्वत अपने ऊपर लगाई गई सीमा है। सामान्य इच्छा आन्तरिक गुण के कारण सर्वमान्य है, अत. सम्प्रभु के कार्य और जनता के कार्यों मे उद्देश्यों की एकता रहती है—यह रूसो का विश्वास है। सविदा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी इच्छा को सामान्य इच्छा के साथ मिला दिया और यही सामान्य इच्छा हमारे समक्ष सम्प्रभुता का ठोस स्वरूप है। "अपनी व्यक्तिगत इच्छा को सामान्य हित की दृष्टि से सामान्य इच्छा मे मिलाने को सहमत होकर व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता को कोई धोखा नही देता। सामान्य इच्छा ऐसी कभी नही हो सकती जो व्यक्ति के विरुद्ध हो।" स्पष्ट है कि रूसो के विचारो के अनुरूप निर्मित समाज मे सम्प्रभुता, स्वाधीनता और समानता इन सब मे समन्वय स्थापित हो जाता है। रूसो का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हित को सामान्य हित से पृथक् समझे तो यह वांछित है कि उसे सामान्य इच्छा की आज्ञा मानने के लिए विवश किया जाए। सामान्य इच्छा की अवज्ञा का अर्थ होगा सामाजिक समझौते का टूटना और इस प्रकार पुनः पहले की प्राकृतिक अवस्था मे पहुँच जाना। रूसो का तर्क है कि इस बाध्यता मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता निहित है क्योकि पूरा राजनीतिक समाज उसे दूसरे व्यक्तियो के आक्रमण से बचाता है।

निष्कर्ष रूप मे रूसो लोकप्रिय प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) का भक्त है। उससे राजनीतिक दर्शन का रहस्य 'एक राजा के स्थान पर लो—

को स्थापित करने में है। सिजविक के अनुसार रूसो की लोक-सम्प्रभुता अथवा लोक-प्रभुत्व का सिद्धान्त इन तीन बातों पर आधारित है—(1) मनुष्य स्वभावतः स्वतन्त्र और समान है, (2) सरकार के अधिकार किसी सन्धि पर आधारित होने चाहिए जिसे इन समान और स्वतन्त्र व्यक्तियों ने स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार किया हो, (3) यह सन्धि जो एक बार व्यक्तियों के लिए न्याय थी, किसी समाज का अविभाज्य अंग बन जाती है और वह समाज अपने आन्तरिक संविधान तथा नियम-निर्धारण को निश्चित करने का अविच्छेद्य अधिकार बनाए रखता है। आशय यह हुआ कि समाज ही सम्प्रभुता का स्रोत और स्वामी है।

रूसो के शासन सम्बन्धी विचार
(Rousseau's Views on Government)

लॉक की भाँति ही रूसो भी राज्य और शासन अथवा सरकार के मध्य अन्तर स्पष्ट करता है। उसके शब्दों में "सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित सम्पूर्ण समाज जिसमें कि *सामान्य इच्छा का वास होता है राज्य है जबकि शासन अथवा* सरकार केवल वह व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह है जिसको समाज द्वारा यह अधिकार दिया जाता है कि वह सम्प्रभुता की इच्छा पूर्ण करे।" स्पष्ट है कि रूसो के अनुसार शासन एक साधन है जिसके माध्यम से लोकप्रिय सम्प्रभुता के निर्देशों को कार्य रूप में परिणत किया जाता है। व्यक्ति एक बुरे शासक का विरोध कर सकता है, राज्य का नहीं।

रूसो के विचार से स्पष्ट है कि सामाजिक समझौते द्वारा राज्य अथवा सम्प्रभुता का जन्म होता है, शासन या सरकार का नहीं। शासन तो एक मध्य की संस्था (An Intermediate Body) है जिसकी स्थापना सम्प्रभुता और जनता के बीच की जाती है ताकि लोगों की नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके। शासन का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ, रूसो का वर्णन इस सम्बन्ध में कुछ अस्पष्ट-सा है। उसका विचार है कि सामाजिक समझौते द्वारा उत्पन्न सम्प्रभु को पूर्ण अधिकार था कि वह किसी भी प्रकार का शासन स्थापित करदे। अतः शासन के निर्माण के लिए उसने अर्थात् 'एकत्रित सम्प्रभु जनता' ने पहले शासन का स्वरूप निर्धारित किया और तब यह निश्चय किया कि इस प्रकार स्थापित पदों पर किन व्यक्तियों की नियुक्ति की जाए। रूसो के अनुसार इन दोनों मतों में भेद था—पहला मत सामान्य इच्छा को प्रदर्शित करता था जबकि दूसरा मत केवल शासन का निर्माण करता था। दोनों मतों के मध्य जन-सभा के चरित्र में परिवर्तन होता था। पहली सभा सम्प्रभुता थी जबकि दूसरी सभा जनतन्त्रीय शासन का स्वरूप धारण कर लेती थी। रूसो का विश्वास है कि प्रत्येक शासन का रूप जनतन्त्र से ही प्रारम्भ होता है।

रूसो की विवेचना से प्रकट है कि राज्य पूरे समाज का सूचक है जो अनुबन्ध द्वारा बना है और सामूहिक इच्छा को अभिव्यक्त करता है। इसके विपरीत शासन केवल शक्ति या व्यक्ति-समूह का सूचक है जो समाज द्वारा आदेश पाकर

सामान्य इच्छा को कार्यान्वित करने मे तत्पर है। रूसो ने सरकार को न्याय-रक्षक मण्डल (Magistracy) अथवा राजा (Prince) कहकर पुकारा है। सरकार या शासन सम्प्रभु सम्पन्न जनता की नौकर मात्र है और सम्प्रभु जनता द्वारा दी गई शक्तियो को प्रयोग ही कर सकता है। जनता अपनी इच्छानुसार सरकार की शक्ति को सीमित या संशोधित कर सकती है और उसे वापिस भी ले सकती है। यहाँ हॉब्स और रूसो की धारणा मे स्पष्ट अन्तर है। हॉब्स के अनुसार शासन को न तो बदला जा सकता है और न उसके विरुद्ध विद्रोह हो सकता है क्योकि जनता और शासन के सम्बन्ध का आधार संविदा है। इसके विपरीत रूसो के शासन या सरकार का निर्माण किसी संविदा द्वारा नही बल्कि सम्प्रभु सम्पन्न जनता के प्रत्यादेश द्वारा होता है।

रूसो ने शासन का वर्गीकरण भी किया है, पर यह उसके दर्शन का सबसे निराशाजनक भाग है। उसने मॉन्टेस्क्यू की भाँति जलवायु, जमीन और भौगोलिक परिस्थितियो के महत्त्व को स्वीकार करते हुए यह माना है कि इन्ही बातो को ध्यान मे रखकर यह बताया जा सकता है कि किसी प्रदेश के लिए कौन-सी सरकार सर्वोत्तम है। सरकार की अच्छाई या बुराई उसके रूप से नही बल्कि परिणामो से मानी जाती है। रूसो के अनुसार शासनो के ये रूप हो सकते हैं—

(1) राजतन्त्र (Monarchy) (2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)
(3) जनतन्त्र (Democracy) (4) मिश्रित (Mixed)

जिस सरकार की बागडोर एक व्यक्ति के हाथ मे होती है तो उसे राजतन्त्र, कुछ व्यक्तियों के हाथ मे होती है तो उसे कुलीनतन्त्र और समस्त जनता या उसके बहुमत के हाथ मे होती है उसे जनतन्त्र कहा गया है। सरकार के इन तीनो प्रकारो की रूपरेखा बदलती रहती है। चौथा वर्ग मिश्रित सरकार का है। सरकार के इन रूपों मे सर्वोत्तम कौन-सा है, सैद्धान्तिक रूप से बताना यह असम्भव है। परिस्थितियो और देशकाल के अनुसार कोई भी शासन सर्वोत्तम या निकृष्टतम हो सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि शासन की प्रगति का निश्चित चिह्न जनसंख्या है। जिस राज्य मे जनसंख्या बढ़ती जाएगी, समझना चाहिए कि वह प्रगति की ओर बढ़ रहा है। रूसो की यह बात आज के युग मे निश्चय ही विचित्र लगती है।

उल्लेखनीय है कि शासन के विविध प्रकारो मे रूसो का सुझाव यूनानी नगर राज्यो के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की ओर है। वह प्रतिनिधि सभाओ को राजनीतिक पतन का चिह्न मानता है। प्रतिनिधित्व का अर्थ है—स्वतन्त्रता का हनन। ब्रिटेन की निर्वाचन प्रथा के विषय में उसका मत था कि वहाँ नागरिक केवल निर्वाचन काल मे ही स्वतन्त्र होते हैं, इसके बाद दास बन जाते हैं। रूसो ने देखा था कि सरकारो मे लोक नियन्त्रण से बचने और अपनी शक्तियो का प्रसार करने की प्रकृति होती है। अतः उसने यह मत प्रकट किया कि छोटे राज्यो मे और सरल जीवन के बीच ही सामान्य इच्छा अपनी सर्वोच्चता स्थायी रूप से कायम रख सकती है। बड़े और जटिल राज्यों मे सरकार द्वारा शक्ति के अपहरण को रोकने के लिए यह

आवश्यक है कि प्रभुत्व सम्पन्न जनता की समय-समय पर सभाएँ हुआ करें जो यह निश्चित करे कि वर्तमान शासन-व्यवस्था और अधिकारियों में कोई परिवर्तन किया जाना उचित है अथवा नहीं। उसका यह भी कहना था कि जब जनता प्रभुत्व-सम्पन्न सभा के रूप में एकत्रित होती है तो सरकार का क्षेत्राधिकार समाप्त हो जाता है। रूसो के दृष्टिकोण से इस विचार का पूर्वाभास मिलता है कि निश्चित अवधि पर संविधान की तथा सरकारी अधिकारियों के कार्यों की समीक्षा की जानी चाहिए। इस आधार पर जेफरसन ने कहा था कि प्रत्येक पीढ़ी को अपने संविधान की पुनः परीक्षा करने का अधिकार है। यही नहीं, अमेरिका के अनेक राज्यों ने तो निश्चित अवधि के बाद संविधान-सभाओं को बुलाने के सिद्धान्त को अपने-अपने संविधानों में स्थान दिया है।

रूसो के कुछ अन्य प्रमुख विचार
(Some Other Important Thoughts of Rousseau)

कानून सम्बन्धी विचार

रूसो ने अपने निबन्ध 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' में कानून का विशेष महत्त्व दर्शाया है। मनुष्यों की प्राकृतिक समानता को कानून द्वारा नागरिक का रूप प्राप्त होता है। कानून ही से प्रत्येक व्यक्ति को यह शिक्षा मिलती है कि वह अपने निर्धारित विचारों के अनुरूप कार्य करे और अपने से असंगत रूप के कार्य से बचे। यदि कानून का पालन नहीं किया जाएगा तो नागरिक समाज की व्यवस्था समाप्त हो जाएगी और मनुष्य को पुनः प्राकृतिक अवस्था में लौट जाना पड़ेगा। अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सामाजिक अनुबन्ध' (Social Contract) में रूसो ने चार प्रकार के कानूनों का वर्णन किया है—(1) राजनीतिक या आधारभूत कानून जिनके द्वारा सम्प्रभुता का राज्य के साथ सम्बन्ध-निर्धारण होता है, (2) दीवानी कानून जिनसे नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं, (3) फौजदारी कानून जो कानून की आज्ञा के उल्लंघन का दण्ड निश्चित करते हैं, और (4) जनमत नैतिकता तथा रीति-रिवाज। रूसो के मतानुसार ये ही राज्य के वास्तविक संविधान हैं और नागरिकों के हृदय-पटल पर अंकित हैं।

रूसो के अनुसार कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। "एक कानून सम्पूर्ण जनता का सम्पूर्ण जनता के लिए प्रस्ताव है जिसका सम्बन्ध ऐसे विषय से होता है जिसका सम्बन्ध सबसे होता है।" कानून का सम्बन्ध सामान्य हित से होता है और उसका स्रोत समस्त समाज होना चाहिए। कानून का निर्माण न तो व्यक्ति-विशेष के लिए है, न कार्य-विशेष के लिए। व्यक्ति की सत्ता, पक्षपात, संकीर्णता आदि की कोई गुंजाइश इसमें नहीं है। व्यापकता के आधार पर ही कानून बनता है अन्यथा वह कोरा आदेश है। कानून की मर्यादा केवल व्यापक स्वरूप दर्शाने की है, उसके बाहर वह नहीं जा सकता। सरकार या कोई राजकुमार किसी भी अर्थ में कानून के ऊपर नहीं माना जा सकता। सामान्य इच्छा सदैव जनता के कल्याण की कामना करती है, अतः यह कभी भी कानून द्वारा अन्याय करने की इच्छा नहीं कर

सकती। "कानून हमारे आन्तरिक संकल्प की अभिव्यक्ति है अतः स्वतन्त्रता और कानूनों की आज्ञाकारिता में कोई विरोध नहीं है।" रूसो के इस महत्त्वपूर्ण मन्तव्य का कि सामान्य इच्छा या संकल्प ही कानून का निर्माण करता है, व्यावहारिक परिणाम भी निकला। सन् 1795 ई. में फ्रांसीसी संविधान की धारा 6 में यह घोषणा की गई कि कानून सामान्य संकल्प है और नागरिकों के बहुमत अथवा उनके प्रतिनिधियों द्वारा यह प्रकट होता है।

रूसो का विश्वास है कि कानून ही समाज में समानता स्थापित करता है और कोई भी राज्य केवल तभी तक वैध है जब तक वह कानून के अनुसार कार्य करता है। स्पष्ट है कि रूसो भी कानून को उसी प्रकार सर्वोच्चता देता है जिस प्रकार प्लेटो ने दी थी। अन्तर केवल यही है कि रूसो अपने कानून रूपी प्रभु को सामान्य इच्छा के अधीन कर देता है। कर्त्तव्य और अधिकार का योग भी कानूनों द्वारा ही सम्भव है और कानून द्वारा ही न्याय अपने लक्ष्य की पूर्ति कर सकता है। "जब नागरिक समाज की व्यवस्था होती है तब समस्त अधिकारों का निर्धारण कानून द्वारा ही हो सकता है।"

कानून पर विचार करते समय रूसो ने विधि-निर्माता की आवश्यकता को नहीं भुलाया है। सही रूप में कानून की व्यापकता का उद्घाटन करने के लिए विधि-निर्माता तथा विधायक का होना जरूरी है। रूसो के अनुसार न्यूमा, लाइकरगस, सोलन, मोजेस, काल्विन आदि की तरह प्रख्यात दार्शनिक ही कानून का सही अर्थ में निर्माण कर सकते हैं क्योंकि सामान्य इच्छा पहिचानने की अद्वितीय बौद्धिक क्षमता तथा प्रतिभा ऐसे व्यक्तियों में ही हो सकती है।

स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

रूसो स्वतन्त्रता का महान् पैगम्बर था। जिस ओजस्वी भाषा में उसने स्वतन्त्रता का महत्त्व घोषित किया है उसका शिक्षित वर्ग पर सदैव प्रभाव बना रहेगा। 'Social Contract' में उसने लिखा है—"स्वतन्त्रता मानव का परम् आन्तरिक तत्त्व है।" स्वतन्त्रता मानवता का प्राण है जिसके अपहरण का अर्थ है मानवता का विलोप होना। स्वतन्त्रता ही नैतिकता का आधार है। स्वतन्त्र भाव से काम करने पर ही उत्तरदायित्व अभिव्यक्त होता है। जड़वत् कार्य करने में नैतिकता की अभिव्यञ्जना नहीं हो सकती। व्यक्ति यद्यपि सामाजिक अनुबन्ध करते हुए अपने अधिकार एक सामूहिक संस्था को अर्पित कर देते हैं किन्तु यह सामूहिक संस्था कोई बाह्य सत्ता न होकर अनुबन्ध-कर्त्ताओं का समुदाय मात्र होती है जिसके द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर लगाए गए प्रतिबन्ध वास्तविक नहीं होते। इनसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई क्षति नहीं पहुँचती, क्योंकि जिस कानून को हम स्वयं ही बनाते हैं, उसके पालन से हमारी स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता। इसका पालन करते हुए तो हम स्वयं की इच्छा का पालन करते हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि रूसो सम्प्रभु और सरकार में विभेद करता है। यदि सरकार सम्प्रभु की शक्ति का अपहरण करले तो सामाजिक अनुबन्ध टूट जाता है और समस्त नागरिक अपनी

उस नैसर्गिक स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेते हैं जिसे नागरिक समाज में आने पर उन्होंने त्याग दिया था। पर चूँकि अनुबन्ध सहमति पर आश्रित है अतः अनुबन्धवाद का समर्थन वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अनुमोदन है।

रूसो स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता या मनमाना कार्य करने की आजादी से नहीं लेता। समाज द्वारा सामान्य हित की दृष्टि से बनाए गए नियमों का पालन व्यक्ति को अवश्य करना चाहिए। यदि यातायात मे व्यवस्था स्थापित करने के लिए और सम्भावित दुर्घटनाओं को रोकने के लिए सड़क पर बाईं ओर चलने का नियम बनाया जाता है तो इस नियम का पालन करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता। यदि व्यक्ति स्वतन्त्रता का अनुचित अर्थ लेते हुए अपनी गाड़ी सड़क पर इधर-उधर घुमाते हुए चले तो इस आचरण से न केवल वह स्वयं को ही खतरे मे डाल देगा अपितु दूसरो के जीवन को भी खतरा पैदा कर देगा। उसका यह आचरण सामान्य इच्छा की अवहेलना करने वाला होगा। यह स्वतन्त्रता नहीं उच्छृंखलता होगी। स्मरणीय है कि रूसो लॉक की भांति स्वतन्त्रता, जीवन और सम्पत्ति के अधिकार को मनुष्य के प्राकृतिक नही अपितु राज्य-प्रदत्त नागरिक (Civil) अधिकार मानता है।

समानता विषयक विचार

रूसो की मान्यता है कि समानता के अभाव मे स्वतन्त्रता नही टिक सकती। प्रकृति मे सर्वत्र असमानता है और रूसो इस प्राकृतिक असमानता के बदले हमे सामाजिक अनुबन्ध-जनित नैतिक एवं विहित समानता के दर्शन कराता है। यद्यपि भौतिक असमानताएँ नष्ट नही हो सकतीं किन्तु मनुष्य कानूनी दृष्टि से समान बनाए जा सकते हैं। रूसो यह भी नही चाहता कि किसी को इतनी शक्ति प्राप्त हो जाए कि वह उसका निरंकुश प्रयोग कर सके। शक्ति का प्रयोग तो कानून और पद के अनुरूप ही करना होगा। धनिकों के लिए अपेक्षित है कि वे अपने धन और पद का प्रयोग संयम और समभाव से करें। इसी तरह सामान्य जन-समूह को भी चाहिए कि वह तृष्णा और लोलुपता के मार्ग पर न चले। राज्य का आर्थिक स्वास्थ्य तभी बना रह सकता है जब न कोई नागरिक इतना धन-सम्पन्न हो कि वह दूसरे को खरीद ले और न गरीब एवं साधनहीन हो कि वह स्वयं को बिक जाने दे। रूसो के इन विचारों से धन की भयावह विषमताओं के प्रति उसकी घृणा प्रकट होती है। हमे यह मानने मे दुविधा नहीं होती कि वह आर्थिक असमानताओं का अन्त चाहता था।

धर्म एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार

रूसो के धर्म सम्बन्धी विचार क्रान्तिकारी हैं। वह हॉब्स की तरह धर्म को राज्याधीन मानता है। उसने धर्म के तीन प्रकार बताए हैं—(1) वैयक्तिक धर्म, (2) नागरिक धर्म, एवं (3) पुरोहित धर्म।

वैयक्तिक धर्म मनुष्य की अपनी आस्थाओं और अपने आन्तरिक विश्वासों पर आधारित है। यह धर्म सर्वश्रेष्ठ है किन्तु सांसारिक दृष्टि से अव्यावहारिक है, अतः

इसमें व्यक्ति अपने नागरिक कर्त्तव्यों का दुर्लक्ष्य करता है। वैयक्तिक धर्म ईश्वरीय नियमों पर आधारित आडम्बरहीन सहज धर्म है।

नागरिक धर्म राष्ट्रीय तथा बाह्य है और संस्कारों, रूढियों तथा विधियों में निश्चित है। नागरिक धर्म रूसो की एक निराली कल्पना है जो सम्भवतः उसके मस्तिष्क में प्लेटो के 'लॉज' एवं अन्य यूनानी विचारकों के चिन्तन में आई है। यूनानियों का विश्वास था कि सामूहिक चेतना की पुष्टि एवं तेजस्विता के लिए कुछ मौलिक अवस्थाओं का होना आवश्यक है और हम देखते हैं कि रूसो ने भी समाज को दृढ करने के लिए नागरिक धर्म की कल्पना की है। रूसो ने इस धर्म के पाँच विधेयात्मक सूत्र बताए हैं—(1) ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना और यह मानना कि वह परम ज्ञानी, दूरदर्शी और दयालु है, (2) पुनर्जन्मवाद में विश्वास, (3) *पुण्यात्मा सुख पाएँगे, (4) पापात्मा दण्ड भोगेंगे, तथा (5) सामाजिक अनुबन्ध* और विधियों की पवित्रता की रक्षा करना महत् कर्त्तव्य है। रूसो ने नागरिक धर्म का केवल एक निषेधात्मक सूत्र बतलाया है और वह है असहिष्णुता। इसका अभिप्राय है कि असहिष्णु व्यक्तियों के लिए राज्य में स्थान नहीं होना चाहिए। यह आश्चर्य की बात है कि रूसो नागरिक धर्म पर पूर्व सम्मति देकर फिर उसके प्रतिकूल आचरण करने वालों का वध करने का समर्थन करता है। "स्वतन्त्रता के महान् पैगम्बर का धर्मान्धता के नाम पर यह कहना कि जो व्यक्ति नागरिक धर्म की स्वीकृति देकर उसके विरोध में आचरण करे उसकी हत्या उचित है, सर्वथा असंगत और निन्दनीय है। यह तानाशाही और सर्वाधिकारवाद का सूचक है। यह ठीक है कि रूसो का उद्देश्य पवित्र है और वह समाज के आधार को मजबूत करना चाहता है किन्तु सामाजिक संगठन के नाम पर नागरिक धर्म नामक विश्वास को प्रश्रय देने वाले मतव्यों को मजबूत करना *सर्वथा कृत्रिम और उपहासास्पद मालूम पड़ता है।* ऐसा प्रतीत होता है कि विशिष्ट संकल्पों (इच्छाओं) के सामान्य संकल्प द्वारा दमन का प्रस्ताव उपस्थित कर तथा नागरिक धर्म का संदेश घोषित कर रूसो उदारवाद का सर्वथा नाश कर रहा है।"

पुरोहित धर्म वह धर्म है जो पुरोहितों-पादरियों द्वारा दिया जाता है। यह धर्म सबसे निकृष्ट है क्योंकि यह दो तरह के प्रधानों अथवा दो सत्ताओं को जन्म देता है और जनसाधारण को परस्पर विरोधी कर्त्तव्यों में फँसा देता है। फलस्वरूप संघर्ष और कलह का वातावरण उत्पन्न होता है और राज्य की प्रगति को बाधा पहुँचती है।

रूसो के अनुसार इन सब धर्मों में दोष हैं अतः राज्य को नागरिक विश्वासों का धर्म (Civil religion) पर जो सामाजिकता और सज्जनता पर बना है चलना चाहिए।

रूसो के शिक्षा-सम्बन्धी विचार उसके 'Emile' नामक ग्रन्थ में हैं जिसमें शिक्षा का उद्देश्य 'मनुष्य की निर्वासित प्रकृति का पुनर्स्थापन' (Effectual rehabili-tation of human nature) बतलाया गया है। इस ग्रन्थ के कारण उन्हें प्रगतिवादी

शिक्षा (Progressive Education) का जनक माना जाता है। रूसो ने ऐसी शिक्षा का समर्थन किया है जो मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति को सवार कर उसे वैभवशाली बनाए। उनका आग्रह है कि बचपन से युवावस्था तक गृह शिक्षा और नागरिक शिक्षा दी जानी चाहिए। रूसो ने 'एमिल' (Emile) नामक व्यक्ति के शिक्षण का रूपक लेकर अपने ग्रन्थ में शिक्षा-दर्शन व्यक्त किया है। एमिल को पठन, लेखन, गायन, गणित, राष्ट्रीय इतिहास आदि की शिक्षा दी जाती है। उसे शारीरिक एवं तकनीकी शिक्षा भी मिलती है। रूसो ने शिक्षा-योजना और शिक्षण विधि सम्बन्धी जो विचार दिए हैं, वे आज भी शिक्षा के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। उल्लेखनीय है कि अपने समय की शिक्षा-व्यवस्था का विरोधी होने के कारण रूसो को कठोर प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। उसके अनेक शत्रु हो गए। उसने लिखा था कि तत्कालीन शिक्षा ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करती है जिनके पास न प्राकृतिक स्वाधीनता है, न पूर्ण नागरिक आश्रय। बाल-शिक्षा को पादरियों के हाथ से निकाल लेने तथा किशोरावस्था तक धर्म-शिक्षा का निषेध करने की उसकी प्रस्थापनाओं से पादरी वर्ग बहुत क्रोधित हो गया है, उसके ग्रन्थ 'एमिल' को अग्नि के भेंट चढा दिया गया और फ्रांस की ससद तथा जेनेवा की सरकार ने भी उसकी निन्दा की। इसी कारण उसे फ्रांस छोड़कर भी भागना पड़ा।

रूसो का मूल्यांकन एवं प्रभाव
(Rousseau's Estimate and Influence)

रूसो के मूल्यांकन के विषय मे आलोचकों मे घोर मतभेद है। जहाँ वेपर, लैंसन आदि ने रूसो की खुलकर प्रशसा की है वहाँ वाल्टेयर, मार्ले आदि रूसो को अपने व्यग्य-बाणो का निशाना बनाया है। एक ओर रूसो को महान् दार्शनिक पुकारा गया है और दूसरी ओर उसे मिथ्यावादी तथा सभ्यताहीन कहा गया है। जी डी एच कौल ने रूसो को राज-दर्शन का पिता कहा है और उसके 'सोशियल कॉन्ट्रैक्ट' को राज-दर्शन के ऊपर महानतम ग्रन्थ बताया तो कॉन्सटेन्ट ने रूसो को प्रत्येक प्रकार के अधिनायकवाद का सबसे भयानक मित्र कहा है। इसी तरह कुछ विद्वानों ने रूसो को व्यक्ति के लिए अधिकतम स्वतन्त्रता चाहने वाला व्यक्तिवादी माना है तो कुछ ने उसे सर्वाधिकारवाद का पोषक बतलाया है।

इन परस्पर विरोधी विचारो के लिए रूसो स्वय उत्तरदायी है। उसने विरोधाभास सयुक्त (Paradoxial) वाक्यो का प्रयोग इतनी अधिकता से किया है कि वे पाठक के मस्तिष्क मे भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। साथ ही उसने अपने द्वारा प्रयुक्त शब्दो की कोई सुनिश्चित परिभाषा भी नही दी है उल्टे किन्हीं-किन्ही शब्दो को उसने अनेक स्थानो पर विभिन्न अर्थों के लिए प्रस्तुत किया है। वह बहुधा एक स्तर पर बात करते-करते, पाठक को बिना कोई पूर्व सूचना दिए हुए ही दूसरे स्तर पर पहुँच कर भिन्न-भिन्न बातें करने लगता है और तब पाठक के लिए उन परस्पर असम्बद्ध बातों में सगति स्थापित करना बड़ा कठिन हो जाता है। मिथ्या उक्तियों

तथा 'वाग्वीरता' ने जनता को जितना अधिक प्रभावित किया है उतना मॉण्टेस्क्यू की 'संतुलित तर्कना' और उसके गम्भीर पर्यवेक्षण तक ने नहीं किया।

जो भी हो, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि विरोधाभासी विचारों को प्रकट करते हुए भी रूसो ने राजदर्शन के इतिहास पर गहरा प्रभाव डाला है। उसने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा हमारे सम्मुख एक ऐसा राजनीतिक आदर्श उपस्थित किया है जिसकी प्राप्ति में हमें सलग्न होना चाहिए। वह इस सिद्धान्त द्वारा प्रभुसत्ता और स्वाधीनता में समन्वय स्थापित करता है और इस प्रकार प्रजातन्त्र के लिए बहुत बड़ा नैतिक आधार प्रदान करता है। उसका यह सिद्धान्त कितना भी अस्पष्ट क्यों न हो, इसमें सन्देह नहीं कि जो चीज समाज को सम्भव बनाती है वह सामान्य इच्छा ही है जिसे हम 'सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना' भी कह सकते हैं। उसका यही सिद्धान्त इस मूल सत्य का उद्घाटन करता है कि 'शक्ति नहीं, इच्छा राज्य का आधार है।' रूसो ने लोकप्रिय सम्प्रभुता की नींव डाली है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि एक के बाद एक सम्प्रभुता सम्बन्धी विभिन्न विचार खण्डित होते गए किन्तु राजनीतिक सत्ता को अपने बचाव के लिए रूसो की सामान्य इच्छा द्वारा व्यक्त लोकप्रिय सम्प्रभुता से अधिक शक्तिशाली विचार नहीं मिला है। रूसो ने ही यह स्पष्ट घोषित किया कि चाहे राजनीतिक संस्था का स्वरूप कुछ ही हो, उसमें जनता की सम्प्रभुता एक तथ्य है। रूसो ने राज्य और शासन के मध्य तथा सम्प्रभु कानून (Sovereign Law) एवं सरकारी कानून (Government Decree) के बीच भेद स्पष्ट किया है। उसका सम्प्रभु कानून ही आधुनिक मौलिक अथवा सांविधानिक कानून का स्रोत है। उसके प्रभाव के परिणामस्वरूप ही आधुनिक युग में इस बात पर बल दिया जाता है कि शासन के विधेयात्मक कानून (Positive Law) देश के मौलिक कानून के अनुकूल होने चाहिए। यह ठीक है कि रूसो के विचार मौलिक नहीं हैं किन्तु उसका विशेष महत्त्व इस बात में है कि वह पुराने विचारों का नया प्रयोग करता है। रूसो के प्रभुता और कानून सम्बन्धी विचारों का संयुक्त राज्य अमेरिका की राजनीतिक संस्थाओं पर जो प्रभाव पड़ा उसे हम नजर-अन्दाज नहीं कर सकते; फिर यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि रूसो के ग्रन्थ फ्रांस की क्रान्ति की पाठ्य पुस्तकें बन गईं। उसके वाक्य 'भावनाओं को गुदगुदाने वाले गुंजारमय' वाक्य थे जिनसे जनसाधारण को प्रभावित करना कोई कठिन कार्य न था। फ्रेंच क्रान्ति के समय रूसो के प्रभाव की तुलना उस प्रभाव से की जा सकती है जो धर्म-सुधार युग में बाइबिल का जनता पर पड़ा था अथवा 20वीं शताब्दी में रूसी जनता पर मार्क्स की पुस्तक 'दास कैपिटल' (Das Capital) ने डाला था। डॉयल (Doyle) ने ठीक ही लिखा है—रूसो ने घोर दुविधा एवं असन्तोष के समय में यूरोप के सामने एक प्राचीन और जर्जर ढाँचे को तोड़ डालने का औचित्य प्रदर्शित किया तथा एक ऐसे आदर्श को उसके सामने रखा जिसे वह विनाश के पश्चात् प्राप्त कर सकता था।[1]

1 *Doyle* : History of Political Thought, p. 218.

रूसो यद्यपि राष्ट्रवाद का समर्थक नहीं था किन्तु समूह की एकता और दृढ़ता की भावना पर बल देकर उसने राष्ट्र भक्ति को एक आदर्श रूप दिया। सेबाइन के शब्दों में, "रूसो स्वयं राष्ट्रवादी न था किन्तु उसने नागरिकता के प्राचीन आदर्श को एक ऐसा रूप प्रदान किया जिससे राष्ट्रीय भावना के लिए उसे अपनाना सम्भव हो सका।"

रूसो के विचारों का जर्मन विज्ञानवाद पर भी गहरा असर हुआ। वह मानव की नैतिकता का समर्थक था। स्वतन्त्रता को वह जीवन का परम तत्त्व मानता था और इस कारण नीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी उसका क्रान्तिकारी असर रहा। कांट (Kant) कहता था कि सरल मानव की नैतिक वृत्तियों का महत्त्व उसे रूसो के ग्रन्थों से ही विदित हुआ। तार्किक वाग्जाल के बदले हृदय की सरलता पर जो ध्यान रूसो ने दिया वही मानववादी नीति-शास्त्र का आधार हो सकता है। स्वतन्त्रता की विराट उद्घोषणा रूसो ने की और नैतिकता का इसे आधार बतलाया। इस प्रस्ताव का गहरा असर जर्मनी के दार्शनिकों पर पड़ा। इस कारण हीगल (Hegel) ने कहा था कि रूसो के ग्रन्थों में ही स्वतन्त्रता की बुद्धिपूर्वक अभिव्यक्ति हुई। स्वतन्त्रता के साथ ही समानता पर रूसो ने जो बल दिया है, इस कारण कहा जा सकता है कि न केवल लोकतन्त्र का अपितु समाजवाद का बीज भी रूसो के ग्रन्थों में निहित है। यह घोषणा कर कि अधिकार सहमति से प्राप्त होता है और निरा सैन्य बल किसी एक चिरकालिक महत्त्व का स्थान बना लिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो की विचारधारा से तीन दृष्टि बिन्दुओं-व्यक्तिवाद, समूहवाद और नैतिक स्वातन्त्र्यवाद को गहरा प्रश्रय प्राप्त हुआ है।

16 ऐतिहासिक अनुभववादी : ह्यूम और बर्क

(The Historical Empiricists : Hume and Burke)

18वीं शताब्दी में, जो ज्ञान का युग कहा जाता है, पश्चिमी यूरोप में अनेक महान् विचारक पैदा हुए जिनके उपदेशों से सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं में कोई शुभ परिवर्तन होने की बजाय क्रान्ति के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। फलस्वरूप इस आन्दोलन के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई जिसकी चरम सीमा डेविड ह्यूम में देखने को मिली। उसके प्रबल सन्देहवादी दर्शन ने 18वीं सदी में प्रचलित अनेक निरपेक्ष विश्वासों को समाप्त कर दिया। ह्यूम और रूसो समसामयिक थे और मित्र भी। रूसो भावनावादी और उत्साहवादी था किन्तु ह्यूम विलक्षण तीक्ष्ण बुद्धि का दार्शनिक था जिसने अपनी विचारधारा से उपयोगितावाद को पुष्ट किया। कहा जा सकता है कि 17वीं शताब्दी के हॉब्स और लॉक की व्यक्तिवादी विचारधारा तथा 19वीं सदी के रिकार्डो एवं जॉन स्टुअर्ट मिल की विचारधारा के दर्शनशास्त्र ने एक प्रकार का अन्तर्वर्ती संक्रमणकाल उपस्थित किया।

डेविड ह्यूम की जीवनी और कृतियाँ
(David Hume : Life and Works)

डेविड ह्यूम का जन्म 1711 ई. में, अर्थात् रूसो से एक वर्ष पूर्व स्कॉटलैण्ड में हुआ। 1776 ई. में, अर्थात् रूसो से दो वर्ष पूर्व, वह इस संसार से विदा हो गया। कानून और तत्पश्चात् व्यापार में असफल होने पर उसने साहित्य की ओर ध्यान दिया जिसका वह बचपन से ही प्रेमी था। कुछ समय घर पर व्यतीत करने के बाद उसने फ्रांस की यात्रा की जहाँ वह कुछ वर्ष तक रहा और उसने 'Treatise of Human Understanding' नामक विख्यात ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ का प्रकाशन 1737 ई. में, जब वह केवल 26 वर्ष का था हुआ। आज तो यह ह्यूम का सर्वश्रेष्ठ युग-निर्माता ग्रन्थ समझा जाता है, किन्तु प्रकाशन के समय इसे बहुत कम व्यक्तियों ने खरीदा, उनसे भी कम व्यक्तियों ने इसे पढ़ा और समझ तो कोई भी न सका। इस असफलता से ह्यूम का उत्साह कम नहीं हुआ। सन् 177! में दूसरा ग्रन्थ 'Essays Moral and Political' प्रकाशित हुआ। ह्यूम के इन

निबन्धों का उसनी पूर्व पुस्तक की अपेक्षा कुछ अधिक स्वागत हुआ और उसे धन तथा सम्मान भी मिला। कुछ समय बाद ह्यूम ने अपने विफल पूर्व-ग्रन्थ को 'Enquiry Concerning Human Understanding' शीर्षक से प्रकाशित करवाया। इस पुस्तक के अध्ययन ने काण्ट (Kant) के उस समय के प्रचलित विश्वास का आघात पहुँचाया और उसके आलोचनात्मक दर्शन के विकास में निर्णायक योग दिया। ह्यूम ने कुछ और भी ग्रन्थ लिखे, जैसे—

History of England, Enquiry Concerning the Principles of Morals, Political Discourses, Original Contract, and A Natural History of Religion.

ह्यूम के लेख आलोचनात्मक हैं, रचनात्मक नहीं। उसके सभी ग्रन्थों में, विशेषकर धर्म और नीति सम्बन्धी ग्रन्थों में, वह एक विध्वंसक आलोचक के रूप में प्रकट हुआ है। लोकप्रिय सिद्धान्तों पर कुठाराघात करने के फलस्वरूप ही उसे राजनीतिक कलाबाज, धर्म विरोधी आदि निन्दासूचक उपाधियों से अलंकृत किया गया है। अपने विरोध को देखकर ही उसने अपनी स्थिति एडम स्मिथ के सामने इन शब्दों में रखी थी, "मैं ही एक ऐसा व्यक्ति हूँ जिसने सब विषयों पर, जिन पर समाज में कुछ विवाद उठ सकता है, लिखा है। मेरे, सारे टोरियों, ह्विगों और ईसाइयों के अतिरिक्त और कोई शत्रु नहीं है।"[1]

ह्यूम का संशयवाद
(Hume's Scepticism)

ह्यूम संशयवादी (Sceptic) था अर्थात् वह प्रत्येक कल्पनीय बात के बारे में शंकापूर्ण प्रश्न पूछता था।[2] उसकी प्रवृत्ति खण्डनात्मक और आलोचनात्मक थी। उसने आध्यात्म, धर्म, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में जनता के दीर्घकालीन विश्वासों और विचारों पर प्रहार किया, अतः चारों ओर उसकी कटु आलोचना हुई। उसने तत्कालीन आध्यात्मवादी दर्शन और धर्म-शास्त्र में कोई आस्था प्रकट नहीं की, अतः धर्म-विरोधी कहकर उसकी भर्त्सना की गई। उसने खण्डन किया तथा अति प्राकृतिक घटनाओं, स्वर्ग, नरक आदि से सम्बन्धित विचारों का उपहास उड़ाया।

"प्राकृतिक विधि की आलोचना और क्रमिक पतन की परिणति ह्यूम की 'ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमैन नेचर' ग्रन्थ में दृष्टिगत होती है। यह ग्रन्थ 1939-40ई. में प्रकाशित हुआ था। आधुनिक दर्शन में इस ग्रन्थ का अत्यधिक महत्त्व है। ह्यूम के दर्शन का एक विशेष लक्षण प्रखर दार्शनिक विश्लेषण था। यदि इस विश्लेषण को स्वीकार किया जाए, तो वह प्राकृतिक विधि की वैज्ञानिकता के समस्त दावों का

1 *Quoted by Maxey* : Political Philosophies, p. 327.

2 "Hume was a sceptic, which meant that he asked doubting questions about every thing imaginable."

—*McDonald* : Western Political Theory, p. 401.

खण्डन कर देता है। नीतिशास्त्र, धर्म और राजनीति में प्राकृतिक विधि का जिस प्रकार प्रयोग होता था, ह्यूम ने उसकी भी आलोचना की।"[1] इस पुस्तक का आधुनिक दर्शन के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु राजनीतिक सिद्धान्त से उसका अधिक सम्बन्ध नहीं है। इस पुस्तक में बुद्धि के स्वरूप के सम्बन्ध मे जो धारणाएँ विकसित की हैं उनका सभी सामाजिक शास्त्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ह्यूम ने बुद्धि के स्वरूप सम्बन्धी जिस नवीन सिद्धान्त मे आस्था रखी उसी के फलस्वरूप उसमें आध्यात्मवाद और धर्मशास्त्र के प्रति अनास्था पैदा हो गई। ईश्वर और ईश्वर प्रदत्त धर्म में उसका विश्वास जाता रहा तथा धर्म को भी उसने उपयोगितावाद पर आधारित कर दिया। इतना ही नहीं, उसने आचार-शास्त्र के क्षेत्र से उस वस्तु-प्रधान तथा सार्वभौमिक नैतिक कानून की धारणा को भी निरस्त किया जो अनुभव से स्वतन्त्र है तथा हमारे नैतिक अनुभव की आदर्श रूपरेखा का निर्धारण करती है। ह्यूम का तर्क था कि नैतिक अनुभव के स्वरूप को बौद्धिक नहीं बल्कि भावनात्मक और इच्छा-प्रधान मानना चाहिए। ह्यूम का तर्क था कि नैतिक निर्णयों को बाह्य तथ्यों पर नहीं वरन् भावनाओं पर आधारित करना चाहिए। मानव स्वभाव के मुख्य भाग दो हैं—भावनाएँ एवं बुद्धि। बुद्धि द्वारा गति प्राप्त होती है और भावनाओं मे मानो अन्धा वेग है। भावनाओं अथवा इच्छाओं से ही मानव का उद्देश्य निश्चित होता है और तब विचारात्मक बुद्धि उन उद्देश्यों की प्राप्ति के साधनों पर ध्यान देती है। अतः भावनाओं या वासनाओं का ही मानव जीवन मे प्राधान्य है। ह्यूम की विशेषता इस बात में है कि जहाँ सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी मे विचारकगण तर्क और बुद्धि की अतिशयता प्रकट कर रहे थे वहाँ ह्यूम ने भावनाओं और इच्छाओं का भी मानव-स्वभाव की यथार्थवादी मीमांसा में समुचित स्थान स्वीकार किया। इस दृष्टि से ह्यूम और हॉब्स मे समानता थी। ह्यूम ने कहा कि कोई भी कार्य अथवा भाव पापमय या धर्ममय इसलिए होता है क्योंकि उसके देखने से हमारे हृदय मे एक विशेष प्रकार के सुख या दुःख की उत्पत्ति होती है। ह्यूम के इस विचार का राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र मे यह अर्थ था कि सामाजिक संविदा और दैविक मूल के सिद्धान्तों को अमान्य ठहरा कर राजनीतिक कर्त्तव्य को उपयोगिता पर आधारित किया जाए।

ह्यूम ने मानव बुद्धि के स्वरूप का जो विश्लेषण किया उसके मुख्य परिणामों पर विचार करने से हम यह पाते हैं कि उसके 'विचारों के सम्बन्धों' *(Relations of Ideas)* तथा *'तथ्यों के विषयों' (Matters of Fact)* में अन्तर क्या है। विचारों के सम्बन्धों का सर्वोत्तम उदाहरण *गणित शास्त्र मे मिलता है* और 'तथ्यों के विषयों' के उदाहरण भौतिक शास्त्रों मे। जब हम यह कहते हैं कि एक वृत्त के सभी अर्द्ध-व्यास बराबर होते हैं तो हम केवल एक 'सम्बन्ध' ही स्थापित करते हैं जो बुद्धि द्वारा दो विचारों—वृत्त तथा अर्द्ध-व्यास—में बतलाया

1 सेबाइन - पूर्वोक्त, पृष्ठ 561.

[illegible] है। [illegible] जब हम यह कहते हैं कि दो और दो चार होते हैं तो हम दो निश्चित इकाइयो में 'समानता का सम्बन्ध' सिद्ध करते है। स्पष्ट है कि इन सभी उदाहरणो मे 'सम्बन्ध' सम्बन्धित विचारो से उत्पन्न होता है और प्रतिस्थापित तथ्य एक अनिवार्य तथा अपरिवर्तनीय सत्य को प्रकट करता है जिसके विपरीत कल्पना ही नही की जा सकती। हम यह सोच ही नही सकते कि किसी वृत्त के अर्द्धव्यास बराबर नही होंगे अथवा दो और दो चार नही होंगे। यहाँ जो भी प्रतिस्थापनाएँ हैं वे तथ्यों पर निर्भर नही हैं और न ही उनका स्वरूप अनुभव-प्रधान है। ह्यूम की मान्यता है कि अनुभव-सिद्ध सामग्री से हम 'विचारो का सम्बन्ध' कभी प्रमाणित नहीं कर सकते। इसी तरह विचारो की तुलना से कोई 'तथ्य' सिद्ध नहीं किया जा सकता। ह्यूम का यह भी तर्क है कि "विचारों के मध्य तार्किक सम्बन्ध जितना अपरिवर्तनीय और आवश्यक होता है उतना 'तथ्यो' का मध्य 'सम्बन्ध' नही हो सकता।"

ह्यूम का विश्वास है कि चूंकि गणितशास्त्रो मे ही 'विचार सम्बन्ध' (Relations of Ideas) पाए जाते हैं, अतः आवश्यक एव सार्वभौमिक सत्य इसी क्षेत्र तक सीमित हैं। हम भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध मे सार्वभौमिक अथवा विश्व-व्यापक सत्य नही पा सकते। भौतिक विज्ञान, आचार शास्त्र, राजनीतिक शास्त्र, धर्म एव आध्यात्म शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि जो भी सामाजिक विज्ञान है उनमे हम केवल सम्भावनाओ अर्थात् अनुभव सिद्ध सत्य को ही ढूँढ सकते हैं।

ह्यूम के राजनीतिक विचार
(Hume's Political Ideas)

1 अनुभववादी और सशयवादी होने के बावजूद ह्यूम का दृढ मत था कि राजनीतिशास्त्र को एक गणितशास्त्रात्मक विज्ञान का रूप दिया जा सकता है तथा उसके ऐसे व्यापक स्वयसिद्ध सिद्धान्त हो सकते हैं जिनकी तुलना गणितशास्त्रीय सिद्धान्तो से की जा सके। ह्यूम ने राजनीति को वैज्ञानिक रूप देने का समर्थन करते हुए भी उस प्राकृतिक नियमो के सिद्धान्त का कट्टर विरोध किया जो सत्रहवी शताब्दी मे मान्य था।

2 17वी और 18वी शताब्दी के बुद्धिवादियो का विश्वास था कि 'प्रज्ञा' मानव-चरित्र तथा साध्य और उसके साधनो का निर्धारण करती है। इसके विपरीत ह्यूम की मान्यता थी कि प्रज्ञा साध्य को निर्धारित नही करती, वह भावनाओ का आज्ञा-पालन मात्र करती है, उसका निर्धारण भावनाओ और प्रवृत्तियो द्वारा होता है; फलस्वरूप बौद्धिक मूल्य सापेक्ष होते है। अतः एक्वीनास, ग्रेशियस, वाइको आदि द्वारा कल्पित प्राकृतिक कानून और प्रज्ञा की धारणा निरर्थक है। मानव-चरित्र का निर्धारण अभिमतयों द्वारा होता है। अपनी इसी धारणा को राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में प्रयोग करते हुए ह्यूम ने कहा कि समाज का कोई बौद्धिक आधार नहीं होता। हम समाज मे इसलिए रहते हैं क्योंकि समाज मे रहना हमारे लिए सुविधाजनक और हितकारी है। हमारी आदत और सहज प्रवृत्ति हमे ऐसा करने

के लिए प्रेरित करती है। इसके मूल में किसी दैविक स्वीकृति अथवा संविदात्मक आधार की कल्पना करना व्यर्थ है।

3. ह्यूम अनुभववादी था, अतः उसके चिन्तन में अनुभव, ऐतिहासिक परम्परा, अभ्यास या आदत, सहज प्रवृत्ति, रीति-रिवाज आदि को प्रश्रय मिला। 18वीं शताब्दी के अतिशय तर्कवाद और बुद्धिवाद के विरोध में उसने ऐतिहासिकवाद का अनुमोदन किया। उसने कहा कि सरकार का आधार मत अथवा अभिप्राय (Opinion) है। सरकार तीन प्रकार के मत पर आधारित होती है—(i) जनहित सम्बन्धी मत, (ii) सत्ता का अधिकार सम्बन्धी मत, एवं (iii) साम्पत्तिक अधिकार सम्बन्धी मत। भय, प्रेम आदि दूसरे तत्त्वों से इन तीन आधारभूत मतों को दृढ़ता प्राप्त होती है। मनुष्य परिवार में जन्म लेता है और इन तत्त्वों के कारण समाज को बनाए रखने को बाध्य होता है। आवश्यकता, सहज प्रवृत्ति और आदत—इन तत्त्वों द्वारा समाज व्यवस्थित और संचालित होता है। मानव-स्वभाव के अन्य तत्त्वों के आधार पर जिस व्यवस्था में कचावट रहती है अथवा कमजोरी रहती है उसे आदत मजबूत बनाती है। आदत ही के कारण व्यक्ति में आज्ञा-पालन की भावना आती है और फलस्वरूप वह अपने पूर्वजों की लीक से प्राय. नहीं हटना चाहता। सामाजिक प्रक्रिया के अध्ययन में अभ्यास अथवा आदत को आधारभूत और प्रबल समर्थन देने के कारण ह्यूम की दैविक मूल तथा सामाजिक संविदा के सिद्धान्तों में आस्था नहीं हुई। उसे सामाजिक संविदा की धारणा अनैतिहासिक और कृत्रिम लगी।

4. संशयवादी प्रवृत्ति के कारण ह्यूम ने सदैव आलोचना और व्यंजना का सहारा लिया। उसने राजदर्शन को कोई विशिष्ट देन प्रदान नहीं की, किन्तु एक नवीन दिशा अवश्य दी। राज्य के प्रारम्भ के विषय में उसने दैवी सिद्धान्त (Divine Theory) और संविदा सिद्धान्त (Contract Theory) की कटु आलोचना की। दैवी सिद्धान्त का उसने निम्नलिखित तर्कों के आधार पर खण्डन किया—

(क) ईश्वर के अस्तित्व को बौद्धिक आधारों से प्रमाणित किया जा सकता है।

(ख) ईश्वर राज्य के अपहर्ता, वंशानुगत शासक, एक सामान्य सिपाही और गौरवपूर्ण नरेश को—अर्थात् सबको ईश्वरीय कार्य सौंपता है एवं उनकी रक्षा करता है।

(ग) दैवी सिद्धान्त शासक को इतना पवित्र बना देता है कि वह आलोचना और आपत्ति से परे हो जाता है चाहे वह अनाचारी और अत्याचारी ही क्यों न हो ?

5. संविदा सिद्धान्त पर ह्यूम ने ऐतिहासिक और दार्शनिक दोनों ही दृष्टिकोण से आक्रमण किया। ऐतिहासिक रूप से प्राचीन मनुष्य में संविदा सम्भव नहीं थी क्योंकि उनमें इतनी योग्यता नहीं थी कि वे संविदा के महत्त्व पर विचार कर सकते और एक बार समझौता करने के बाद उस पर स्थिर रहते। ऐसे किसी

भी समझौते का इतिहास में प्रमाण नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि कुछ मनुष्यों ने समझौता किया तो उनके उत्तराधिकारी उस समझौते को मानने के लिए बाध्य नहीं हो सकते। इस विषय में ह्यूम के ये शब्द निश्चय ही बड़े तर्कपूर्ण हैं कि—"विश्व के अधिकांश भागों में यदि आप यह उपदेश दें कि राजनीतिक सम्बन्धों का आधार पूर्णतया स्वेच्छाचारी सम्मति या पारस्परिक समझौता है तो न्यायकर्ता तुरन्त ही आपको राजाज्ञा के आधार को हिलाने वाले राजद्रोह के अपराध में बन्दी बना लेगा, यदि आपके मित्रों ने उसके पूर्व ही असंगत बातों पर या ऐसी ऊटपटांग बातें करने पर दीवाना समझकर आपको बन्द न कर दिया हो।" ह्यूम ने संविदा-सिद्धान्त का अन्य आधार पर भी खण्डन किया। उसने कहा कि यह सिद्धान्त राजनीतिक कर्त्तव्य-पालन की कोई समुचित व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। उसी के शब्दों में—"सरकार की आज्ञाओं का हमें जो पालन करना पड़ता है, उसका यदि मुझ से कारण पूछा जाए तो मैं यह उत्तर दूँगा कि 'क्योंकि समाज इसके बिना जीवित नहीं रह सकता' और मेरा यह उत्तर इतना स्पष्ट है कि सम्पूर्ण मानव-जाति इसे समझ सकती है। तुम्हारा उत्तर यह है कि हमको अपने वचन का पालन करना चाहिए। लेकिन इस उत्तर को केवल दार्शनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति को छोड़कर अन्य कोई न तो समझ सकता है और न ही पसन्द कर सकता है। इसके अतिरिक्त मेरा तो यह भी कहना है कि आप उस समय चक्कर में पड़ जाएँगे जब आपसे यह प्रश्न किया जाएगा कि हम अपने वचन का पालन करने के लिए विवश क्यों हैं? वास्तव में कोई भी व्यक्ति ऐसा उत्तर नहीं दे सकता जो सीधे तौर से हमारे राजभक्ति के कर्त्तव्य की व्याख्या कर दे।" राजनीतिक कर्त्तव्य-पालन और राज्य के स्वरूप के सिद्धान्त के रूप में संविदा-सिद्धान्त की अपूर्णता बतलाते हुए ह्यूम ने लिखा है—"यह कहना व्यर्थ है कि समस्त सरकार जन-अनुमति के ऊपर आधारित होती है अथवा होनी चाहिए।" उसका यह स्पष्ट और वास्तव में सही विश्वास है कि यथार्थ जीवन में इस जन-अनुमति का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। ह्यूम का कहना है कि यदि राज्य संविदा पर आधारित होता तो मनुष्य कभी भी उस संविदा को भंग कर सकते थे। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। "प्रत्येक वर्तमान सरकार, वह सरकार जिसका इतिहास में कोई चिह्न शेष रह गया है, मूल रूप में शक्ति-अपहरण अथवा विजय या दोनों का परिणाम है जिसमें शासित की स्वेच्छापूर्ण अनुमति का बहाना तक नहीं किया गया।" मनुष्य राजाज्ञा का पालन इसलिए करते हैं कि ऐसा करने में वे अपनी भलाई देखते हैं। सुख तथा शान्ति की व्यवस्था बनाए रखने के लिए मनुष्य राज्य की आज्ञा मानना आवश्यक समझते हैं। सरकार अथवा राज्य के लिए मनुष्य भक्ति रखते हैं। यह उनके अभ्यास की बात है। राजा मनुष्यों की उन आवश्यकताओं की पूर्ति करता है जिनको वह भूतकाल में अनुभूति करता रहा है। स्पष्ट है कि राजनीति में ह्यूम ने अभ्यास एवं उपयोगिता के महत्त्व को स्वीकार करके राज्य की समाजवादी व्याख्या प्रस्तुत की है।

6. ह्यूम जनतन्त्र शासन-प्रणाली के विरुद्ध था क्योंकि उसके विचार में स्वतन्त्र शासन बहुत अधिक मात्रा में प्रान्तों को नष्ट करने वाला होता है। गणतन्त्र-शासन में विज्ञान को प्रोत्साहन मिलता है तथा राजतन्त्र-शासन में कला को। ह्यूम छापेखानों की स्वतन्त्रता तथा धार्मिक सहनशीलता के पक्ष में था। वह नागरिक स्वतन्त्रता का पोषक था। किन्तु समाज की पूर्णता के लिए स्वतन्त्रता अभिवांछित है, यह मानते हुए अधिकार के साथ राजशक्ति को भी समाज की रक्षा के लिए आवश्यक समझता था। उसका यह भी विश्वास था कि शासन यन्त्र को व्यवस्थित रखने के लिए राज्य को मितव्ययी होना चाहिए। जनता के धन का अपव्यय करने से अन्ततः जनता पर गुलामी लादनी पड़ती है। उल्लेखनीय है कि स्वतन्त्रता का समर्थक होते हुए भी ह्यूम अनुदारवादी परम्परा का हिमायती था। सामाजिक व्यवस्था और स्थायित्व का बीज ऐतिहासिक परम्परा और अभ्यास में होना मानकर उसने उस प्राकृतिक नीतिशास्त्र की कल्पना का उपहास उड़ाया जो मानती थी कि मानवता के लिए सनातन शाश्वत आचारशास्त्र के नियम बनाए गए हैं। सनातन नीति-शास्त्र के बदले समाज-विशेष के लिए उपयुक्त नीति-शास्त्र सिद्धान्त का उसने समर्थन किया।

7. ह्यूम ने आर्थिक सिद्धान्तों पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखे। उसने व्यापार, वाणिज्य, द्रव्य, सूद-खोरी आदि पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए। उसने कहा कि मुद्रा की मात्रा से बाहर बाजार-दर का निर्धारण होता है। विनिमय के लिए जितनी मुद्रा बाजार में उपलब्ध है, उसकी मात्रा में परिवर्तन होने पर वस्तुओं की दर पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। ह्यूम ने बतलाया कि मुनाफा और सूद अन्योन्याश्रित हैं। उसने राज्य द्वारा सूदवृत्ति के नियन्त्रण का विरोध किया और व्यापार-स्वातन्त्र्य का पक्ष लिया। उसने व्यापारियों और वाणिज्यकारों की प्रशंसा की क्योंकि वे प्रचुर मात्रा में पूँजी उत्पन्न करते हैं और सूद की दर भी घटाते हैं। पूँजीवाद की हिमायत करते हुए ह्यूम ने कहा कि इससे आर्थिक और नैतिक गुण उत्पन्न होते हैं। व्यापार-वाणिज्य से धन आता है, फलस्वरूप पूँजी-संचय सुगमतापूर्वक हो पाता है। वणिक्-समाज में मितव्ययिता का गुण पाया जाता है जबकि भू-स्वामियों में आलस्य और अपव्यय के अवगुण होते हैं। ह्यूम ने न्याय और सम्पत्ति में गहरा सम्बन्ध माना है। न्याय उपयोगिता पर आधारित है और इसीलिए वह जनता को प्रिय होता है। सम्पत्ति के आधार के प्रति अवमानना से न्याय की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह तो अन्याय है। लॉक के विपरीत ह्यूम न्याय की शब्दावली में सम्पत्ति को परिभाषित करता है।

प्राकृतिक विधि का विनाश
(The Destruction of Natural Law)

ह्यूम ने अपनी आलोचना को प्राकृतिक विधि अथवा कानून (Natural Law) की विविध शाखाओं के ऊपर लागू किया। उसने प्रतिपाद्य विषय पर पूरी

तरह से विवेचन नहीं किया। उसके तर्कों के पूरे निष्कर्ष बाद में सामने आए। लेकिन, उसने इस प्रणाली की कम से कम तीन शाखाओं पर आक्षेप किया—

(1) प्राकृतिक अथवा विवेकपूर्ण धर्म,

(2) विवेकपूर्ण नीतिशास्त्र,

(3) राजनीति का संविदागत अथवा सम्मतिगत सिद्धान्त।

सेबाइन ने उपरोक्त शाखाओं पर ह्यूम के आक्षेपों का बड़ा तर्क संगत विश्लेषण किया जिसे उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा।

"ह्यूम का तर्क था कि विवेकपूर्ण धर्म का विचार ही झूँठा होता है क्योंकि तथ्य के किसी मामले का निगमनात्मक प्रमाण असम्भव होता है। इसी आधार पर उसका कथन था कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। "वस्तुतः इसका निष्कर्ष अधिक सामान्य है। किसी भी वस्तु के आवश्यक अस्तित्व को सिद्ध करने वाली अविवेक तत्त्व मीमांसा सम्भव है। धर्म के तथाकथित सायों में वैज्ञानिक सामान्यीकरण की व्यावहारिक निर्भरता भी नहीं होती। वे शुद्ध रूप से भावना के क्षेत्र से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए, धर्म का एक प्राकृतिक इतिहास हो सकता है। इस कथन का आशय यह है कि धर्म के बहुत से विश्वासों और प्रथाओं की मनोवैज्ञानिक अथवा मानवशास्त्रीय व्याख्याएँ की जा सकती हैं। लेकिन, उसकी सच्चाई का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार आचारों और राजनीति के क्षेत्र में मूल्य मनुष्य की कार्य-विषयक प्रवृत्तियों पर निर्भर रहते हैं। अतः यह असम्भव है कि विवेक खुद ही किसी दायित्व का निर्माण करे। फलतः सद्गुण केवल मस्तिष्क की एक विशेषता अथवा कार्य है और वह भी ऐसा जो कि सामान्य रूप से अनुमोदित हो। धर्म की भाँति ही उसका भी एक प्राकृतिक इतिहास हो सकता है। लेकिन, नैतिक दायित्व का बल प्रवृत्तियों, आवश्यकताओं तथा कार्य की प्रेरणाओं की स्वीकृति पर निर्भर है। इसका सिर्फ यही औचित्य है और कुछ नहीं।

ह्यूम की नैतिक आलोचना का बहुत-सा अंश तत्कालीन उपयोगितावाद के विरुद्ध था। उपयोगितावाद के अनुसार मनुष्य के समस्त कार्यों का प्रेरक तत्त्व सुख को प्राप्त करने और दुःख के निवारण की चेष्टा थी। ह्यूम ने उपयोगितावाद का व्यावहारिक आधार पर विरोध किया है। ह्यूम का कहना है कि उपयोगितावाद मानवीय प्रेरणाओं की बहुत सरल व्याख्या करता है, इतनी सरल कि वह व्याख्या झूँठी मालूम पड़ने लगती है। ह्यूम के विचार से मानव प्रकृति इतनी सरल नहीं है कि वह केवल एक प्रवृत्ति से ही अनुशासित हो। मनुष्य की बहुत-सी आदिम प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो सुख से सीधा सम्बन्ध नहीं रखतीं। हो सकता है कि वे उदार हों। उदाहरण के लिए हम एक सीमित क्षेत्र में माता-पिता का प्रेम ले सकते हैं। यह भी सम्भव है कि वे प्रवृत्तियाँ न स्वार्थपूर्ण हों और न उदार। मनुष्य की प्रकृति जैसी है हमें वह उसी ही रूप में ग्रहण करनी चाहिए। यह प्रचलित धारणा है कि स्वार्थपूर्ण प्रेरणाएँ कुछ विवेकपूर्ण होती हैं, इस कल्पना का ही एक भाग है जिसके आधार पर विवेकवादी यह सोचने लगे थे कि न्याय विवेकपूर्ण होता है। उस समय के सभी श्रेणियों के नीतिवादी मनुष्य की प्रकृति को अन्तर्दृष्टि और बुद्धिमत्ता से

परिपूर्ण मानते थे लेकिन ह्यूम का ऐसा कोई विचार नहीं था। उसने कहा है कि मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि में या अन्य किसी में बहुत अधिक सोच-विचार नहीं करते। वे उसी समय दूरदृष्टि से काम लेते हैं जबकि उनको भावनाएँ और प्रेरणाएँ सीधे प्रभावित नहीं होतीं। लेकिन मनुष्य की प्रवृत्ति स्वार्थ में भी उतना ही हस्तक्षेप करती है जितना कि उदारता में। ह्यूम के उपयोगितावाद ने सहकारिता को विशेष महत्त्व नहीं दिया था। उसने मानवीय बुद्धि को भी बहुत ऊँचा दर्जा नहीं दिया। इस दृष्टि से वह बेन्थम की अपेक्षा जॉन स्टुअर्ट मिल से अधिक नजदीक था। जॉन स्टुअर्ट मिल ने मानव प्रकृति को अधिक सरल माना था। फ्रांस के उपयोगितावादियों का भी बहुत-कुछ ऐसा ही विचार था।

ह्यूम ने सहमति के सिद्धान्त की भी कठोर आलोचना की और कहा कि राजनीतिक दायित्व केवल इसलिए बन्धनकारी होता है कि वह ऐच्छिक रूप से स्वीकृत हो जाता है। यद्यपि ह्यूम बर्क की भाँति यह स्वीकार करने को तैयार था कि सम्भवतः सुदूरभूत-काल में पहला आदिम-कालीन समाज समझौते द्वारा बना हो, पर उसका तर्क था कि वर्तमान समाजों में ऐसे समझौते का कोई सम्बन्ध नहीं होता। ह्यूम का कहना था कि कोई भी सरकार अपने प्रजाजनों से यह नहीं कहती कि वे सहमति दें। सरकार राजनीतिक अधीनता और संविदा की अधीनता में भी कोई भेद स्थापित नहीं करती। मनुष्य की प्रेरणाओं में शासन के प्रति निष्ठा अथवा भक्ति भावना उतनी ही पाई जाती है जितनी कि यह प्रवृत्ति कि समझौतों का पालन होना चाहिए। सम्पूर्ण राजनीतिक संसार में वे निरंकुश सरकारें जो सहमति के सिद्धान्त को रंच मात्र भी नहीं मानतीं, स्वतन्त्र सरकारों की अपेक्षा अधिक पाई जाती हैं। उनके प्रजाजन अपनी सरकारों के अधिकार की आलोचना भी नहीं करते। यदि वे आलोचना करते हैं तो केवल उसी समय जबकि अत्याचारी शासन बहुत दमन करने लगता है। अन्ततः इन दोनों चीजों का उद्देश्य भिन्न-भिन्न है। राजनीतिक निष्ठा व्यवस्था कायम रखती है और शान्ति तथा सुरक्षा को बनाए रखती है। संविदाओं की पवित्रता प्राईवेट व्यक्तियों के बीच पारस्परिक विश्वास को जन्म देती है। ह्यूम का निष्कर्ष था कि नागरिक आदेश पालन का कर्त्तव्य और समझौते को कायम रखने का कर्त्तव्य यह दो भिन्न चीजें हैं। एक को दूसरे पर आधारित नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा किया भी जाए, तो एक-दूसरे की अपेक्षा अधिक बन्धनकारी नहीं है। तब फिर कोई भी क्यों बन्धनकारी हो? वह इसलिए बन्धनकारी होना चाहिए क्योंकि उसके बिना एक ऐसे शान्तिपूर्ण तथा व्यवस्थापूर्ण समाज का निर्माण नहीं हो सकता जिसमें अमन चैन रहे, सम्पत्ति की रक्षा हो और पदार्थों का विनिमय किया जा सके। दोनों प्रकार के दायित्व इस एक मूल से आगे बढ़ते हैं। यदि प्रश्न पूछा जाए कि मनुष्य व्यवस्था कायम रखने और सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए क्यों तैयार होते हैं तो इसके दो उत्तर हैं—कुछ तो वे इसलिए होते हैं क्योंकि इससे मनुष्य की स्वार्थ पूर्ति में सहायता मिलती है और कुछ इसलिए कि निष्ठा एक ऐसी आदत है जो शिक्षा के द्वारा लागू की जाती है

और इसलिए वह अन्य किसी प्रेरक उद्देश्य की भाँति ही मनुष्य की प्रकृति का एक अंग बन जाती है।

ह्यूम का प्रभाव
(Influence of Hume)

राजनीतिक चिन्तन को ह्यूम का कोई विशिष्ट अनुदाय नहीं है तथापि राजनीतिक कर्त्तव्य की विशुद्ध रूप से मानवीय एवं सापेक्षिक व्याख्या करके उसने राज-दर्शन को एक नवीन दिशा अवश्य प्रदान की है। राजभक्ति की भावना के पोषण में अभ्यास और उपयोगिता पर बल देकर उसने राजनीतिक समस्याओं के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की नींव रखी। इस प्रकार वह उपयोगितावादी विचारधारा का पूर्व-सूचक बन गया। सेबाइन के शब्दों में "यदि ह्यूम के तर्क की बुनियादी बातों को स्वीकार किया जाए तो इस बात को मुश्किल से ही अस्वीकार किया जा सकता है कि उसने प्राकृतिक अधिकार, स्वतः स्पष्ट शक्तियों और शाश्वत तथा अविनाशी नैतिकता के नियमों के सम्पूर्ण विवेकवादी दर्शन को नष्ट कर दिया। अविचल अधिकारों अथवा प्राकृतिक न्याय और स्वतन्त्रता के स्थान पर अब केवल उपयोगिता रह जाती है। यह उपयोगिता या तो स्वार्थ के रूप में अथवा सामाजिक स्थिरता के रूप में ग्रहण की जा सकती है और आचरण के कुछ ऐसे रूढ़िगत मानकों के रूप में व्यक्त होती है जो मानवीय प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं।" सामाजिक अनुबन्धक और नैसर्गिक अधिकारवाद का खण्डन करके ह्यूम ने तत्कालीन राजनीतिक विचारधारा के सम्पूर्ण धरातल को ही हिला दिया और विचारकों को नए सिरे से सोचने के लिए मजबूर कर दिया।

यद्यपि राज-दर्शन में ह्यूम का योगदान विधेयात्मक न होकर खण्डनात्मक है और हॉब्स, लॉक तथा रूसो के समान उसने कोई स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ नहीं दिया है, तथापि उसके कुछ निबन्ध निःसन्देह बड़े उच्चकोटि के और मौलिक सिद्ध हुए हैं। ब्रिटिश अनुभववादी दार्शनिकों में उसका स्थान शीर्षस्थ है। लॉक तथा बर्कले ने जिस अनुभववाद की पुष्टि की थी, उसकी परिणति ह्यूम में देखने को मिलती है। ह्यूम के तीव्र अनुभववाद और संशयात्मक परिणामों ने यद्यपि अध्यात्मवाद, आत्मवाद और बाइबिलवाद को खतरे में डाल दिया, तथापि एक शुभ परिणाम यह निकला कि विचारक इन समस्याओं पर अधिक गहराई से सोचने को विवश हो गए। स्वयं काण्ट ने यह स्वीकार किया था कि ह्यूम के चिन्तन ने उसे (काण्ट को) अन्धविश्वास की निद्रा से जगाया। यदि ह्यूम धर्म पर आक्रमण न करता तो उसका तात्कालिक प्रभाव कम नहीं होता। पर तत्कालीन लोकप्रिय धार्मिक विश्वासों और ईसाइयत के सिद्धान्तों में उसने इतनी अनास्था प्रकट की कि बुद्धिजीवी वर्ग उसके विचारों से सहमति व्यक्त करने में घबराता रहा।[1]

1 डॉ. वर्मा : पूर्वोक्त, पृष्ठ 301-302.

एडमण्ड बर्क
(Edmund Burke)

एडमण्ड बर्क अपने समय की ब्रिटिश राजनीति में भाग लेने वाला महान् विचारक था। उसके महत्त्व को इंगित करते हुए सेबाइन ने लिखा है, "दर्शन की भारी भरकम किन्तु भव्य अट्टालिका, जो हीगल के आदर्शवाद में परिणति को पहुँची और जिसने 18वीं शताब्दी में प्राकृतिक विधि का स्थान ग्रहण किया, बर्क की महत्वपूर्ण देन है। 18वीं शताब्दी का वही एकमात्र ऐसा विचारक था जिसने राजनीतिक परम्पराओं को धर्म की आस्था से ग्रहण किया तथा उसे (राजनीतिक परम्परा को) एक ऐसी देव-वाणी माना जिससे राजमर्मज्ञों को अवश्य ही परामर्श करना चाहिए।"[1]

बर्क की जीवनी और कृतियाँ

बर्क कब जन्मा, यह विवादास्पद है। पर अधिकांशतः उसका जन्म आयरलैंड में 12 जनवरी सन् 1729 को डबलिन में हुआ माना जाता है। बर्क का पिता प्रोटेस्टेन्ट था और माँ कैथोलिक। उस पर माँ का ही स्पष्ट प्रभाव पड़ा। पारिवारिक सहिष्णुता और सुधारवादी गुण बर्क को अपने माता-पिता से विरासत में मिले। ट्रिनिटी कॉलेज से स्नातक होने के बाद उसे वकालत की शिक्षा पाने के लिए 1750 ई. में लन्दन भेजा गया। किन्तु बर्क की रुचि साहित्य में थी। अतः नाराज होकर पिता ने उसे आर्थिक सहायता बन्द कर दी और बर्क लेखन तथा पत्रकारिता से अपनी आजीविका चलाने लगा। सन् 1756 में उसके दो निबन्ध 'A Vindication of Natural Society' तथा 'Philosophical Inquiry into the Origin of our Ideas on the Sublime and Beautiful' गुमनाम प्रकाशित हुए। उसने राजनीतिक और आर्थिक घटनाओं का संक्षिप्त वार्षिक विवरण देने वाले 'Annual Register' नामक शब्दकोष का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इससे बर्क को आजीविका तथा साहित्यिक ख्याति प्राप्त हुई और साथ ही राजनीतिक क्षेत्र में उसका सम्पर्क बढ़ा।

सन् 1759 के आस-पास वह आयरलैण्ड के मन्त्री विलियम हेमिल्टन का और सन् 1765 में प्रधानमन्त्री लॉर्ड रॉकिंघम का निजी सचिव बना। 1765 ई. में ही वह ब्रिटिश लोकसभा का सदस्य चुन लिया गया और अगले 30 वर्षों तक ह्विग पार्टी का नेतृत्व करता रहा। जबरदस्त भाषण-कर्ता और अपने दल के 'मस्तिष्क' के रूप में उसने भारी ख्याति अर्जित की। पुत्र की मृत्यु और पारिवारिक अशान्ति के कारण 1794 ई. में उसने संसद् की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। जीवन के शेष तीन वर्ष उसने शान्तिपूर्वक व्यतीत किए, किन्तु फ्रेंच राज्य-क्रान्ति की घटनाओं से वह अप्रभावित न रह सका और 8 जुलाई सन् 1797 को मृत्यु तक उसकी लेखनी क्रान्ति के विरुद्ध लिखती रही।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 569.

बर्क एक लेखक के रूप में उतना सफल नहीं हुआ जितना व्याख्यान-दाता के रूप में। उसने जो कुछ भी लिखा, उनमें अधिकांश उसके भाषण ही हैं। इन्हीं से हमें उसके राजनीतिक विचारों का आभास होता है। उसके भाषणों और कृतियों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(1) Speech on Conciliation with America, 1775.
(2) Speech on American Taxation.
(3) Vindication of Natural Society, 1756.
(4) Causes of our Present Discontents, 1770.
(5) Reflections on the Revolution in France, 1790.
(6) Appeal from Old to New Whigs, 1791.
(7) Thoughts on French Affairs, 1791.

बर्क ने ऐतिहासिक एवं आगमनात्मक अध्ययन पद्धतियों का आश्रय लिया। अनेक समस्याओं के समाधान के लिए उसने इतिहास के पृष्ठों का निरीक्षण किया। उसका विश्वास था कि ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा सम्पूर्ण समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। बर्क अनुभूतिवाद में भी विश्वास करता था और इस तरह वह उपयोगितावादी भी था।

बर्क की समकालीन परिस्थितियाँ और उनका प्रभाव
(Burke's Contemporary Conditions & Their Influence)

बर्क पर अपनी समकालीन परिस्थितियों का बड़ा प्रभाव पड़ा। विशेष रूप से निम्नलिखित बातों ने उसके राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित किया—

प्रथम, जिस समय बर्क ब्रिटिश लोकसभा का सदस्य बना, संसद् और राजा के सम्बन्ध मधुर नहीं थे। राजा संसद् को प्रभावशून्य बनाना चाहता था और विरोधी संसद् सदस्य राजा की इस प्रवृत्ति से क्षुब्ध थे। उनकी माँग थी कि मताधिकार विस्तृत किया जाए और राजा अपने समर्थकों को पद-लाभ पहुँचाने के अधिकार का दुरुपयोग न करे। दुर्भाग्यवश इस समय ह्विग दल की नई पीढ़ी के युवकों में पुरानी पीढ़ी की-सी नैतिकता नहीं रही थी। राजा ने घूँस और लालच देकर संसद् में अपने समर्थकों का बहुमत स्थापित कर लिया था। बर्क इस सम्पूर्ण वातावरण से बहुत ही दुःखी हुआ। एक ओर उसके लिए राजा का आचरण आपत्तिजनक था तो दूसरी ओर उसे यह भी विश्वास था कि संसद् सदस्य देश और जनता के प्रति हृदय से अपना कर्त्तव्य नहीं निभा रहे हैं। बर्क का विचार था कि विरोधी पक्ष की माँगें भी बहुत-कुछ उतनी ही घातक थीं जितनी राजा की इच्छाएँ। वह राजतन्त्र और लोकतन्त्र दोनों के अतिवादी विचार के खिलाफ था और मध्यम मार्ग का समर्थक था।

द्वितीय, तत्कालीन ब्रिटिश नीति अमेरिकन उपनिवेशों के प्रति बड़ी अन्यायपूर्ण थी। ब्रिटिश अनाचार के कारण ही उपनिवेशों में विद्रोह भड़क उठा था। बर्क को अन्याय और अत्याचार से घृणा थी, अतः उसने उपनिवेशों का पक्ष लिया तथा ब्रिटिश सरकार की नीति की आलोचना की।

तृतीय, भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी निरंकुश आचरण पर चल रही थी। बर्क की अन्तरात्मा कम्पनी के काले कारनामों के विरुद्ध विद्रोह कर बैठी। उसने ब्रिटिश संसद् में कम्पनी की कठोर आलोचना की और भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज के ब्रिटेन लौटने पर उसके विरुद्ध संसद् में चलाए गए अभियोग में प्रमुख भाग लिया।

अन्त में, फ्रांसीसी -क्रान्ति के आतंक और हत्याकाण्ड ने बर्क के धर्म-प्राण हृदय को जबरदस्त ठेस पहुँचाई। उसे इस बात से और भी अधिक आघात पहुँचा कि ब्रिटिश ह्विग पार्टी के कुछ सदस्य क्रान्तिकारियों से सहानुभूति रखने लगे थे। बर्क ने बड़े प्रभावपूर्ण शब्दों में फ्रांस की हिंसक क्रान्ति का विरोध किया और घोषणा की कि फ्रांसीसी जिस स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए पागल हैं, वह स्वतन्त्रता नहीं बल्कि स्वच्छन्दता और अराजकता है। बर्क का स्पष्ट मत था कि सामाजिक संस्थाएँ सुदीर्घ ऐतिहासिक विकास का परिणाम होती हैं जिनका व्यवहार-शून्य आदर्शवादियों की कल्पनामूलक योजनाओं द्वारा सहसा विच्छेद या विध्वंस नहीं किया जा सकता।

बर्क के राज्य अथवा समाज और सामाजिक संविदा सम्बन्धी विचार
(Burke's Ideas about the State or the Society and Social Contract)

बर्क के राजनीतिक चिन्तन पर टिप्पणी करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि "वस्तुतः बर्क का अपना कोई राजनीतिक दर्शन नहीं था। उसके अपने विचार विभिन्न भाषणों और पैम्फलेटों में बिखरे मिलते हैं। इन विचारों को उसने कुछ विशिष्ट घटनाओं के प्रसंग में व्यक्त किया था। तथापि, इन विचारों में एक संगति है। यह संगति इस बात का परिचय देती है कि बर्क की निष्ठा बड़ी प्रबल थी और उसके कुछ निश्चित नैतिक विश्वास थे। बर्क के दर्शन का आधार सिर्फ यह था कि उसने अपने समय की कुछ प्रमुख घटनाओं में भाग लिया था और इनके बारे में उसके अपने कुछ विचार थे।"

बर्क के राज्य सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि "उसने राज्य और समाज के बीच कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची है।" दूसरे शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि बर्क ने 'राज्य' और 'समाज' शब्दों का प्रयोग सामान्यतः एक ही अर्थ में किया है।

राज्य का उदय, उसका सावयविक स्वरूप, संविदा-सिद्धान्त का खण्डन

अपने ऐतिहासिक अध्ययन से बर्क ने यह निष्कर्ष निकाला कि राज्य की उत्पत्ति किसी आकस्मिक घटनावश अथवा समझौते द्वारा नहीं हुई बल्कि उसका क्रमिक विकास हुआ है। राज्य सावयविक रूप से विकास करते हुए अपने वर्तमान स्तर को पहुँचा है। इसकी जड़ें सुदूर भूत में पाई जाती हैं और शाखाएँ असीम भविष्य में फैली हुई हैं। चूँकि राज्य की उत्पत्ति क्रमिक विकास द्वारा ठीक उसी प्रकार हुई है जिस प्रकार मानव-शरीर का विकास होता है, अतः राज्य का सम्बन्ध भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से है। मनुष्य स्वभाव से सामाजिक और

राजनीतिक प्राणी है। अतिप्राचीन काल मे भी वह समाज और राज्य मे सगठित रहा। हम राज्य अथवा समाज के बाहर उसके अस्तित्व की सम्भावना स्वीकार नही कर सकते। बर्क ने राज्य और समाज के बीच कोई विभाजक रेखा नही खीची। व्यक्ति समाज मे रहकर ही अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। बर्क के ही शब्दो मे, 'समाज अथवा राज्य एक साझेदारी है जो सभी विज्ञानो मे, सभी कलाओ मे, प्रत्येक सद्गुण मे और समस्त पूर्णत्व मे होती है। इस प्रकार की साझेदारी के लक्ष्यो की प्राप्ति एक तो क्या अनेक पीढ़ियो मे भी नहीं की जा सकती, अत राज्य केवल जीवित व्यक्तियो के बीच की ही नही, बल्कि मृतको और आगे आने वालो के बीच की भी एक साझेदारी हो जाती है।"

बर्क राज्य और व्यक्ति अथवा समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध को अति प्राचीन काल से चलता आ रहा मानता है। समाज अथवा राज्य एक शाश्वत सस्था है तथा व्यक्ति की समस्त आध्यात्मिक सम्पदाएँ सगठित समाज की सदस्यता मे ही प्राप्त होती है। जाति ने अब तक जो कुछ अर्जित किया है, चाहे वह नैतिक आदर्श हो या कला हो या ज्ञान-विज्ञान हो, उस सबका रक्षण समाज और सामाजिक परम्परा द्वारा होता है। समाज की सदस्यता का आशय है कि "मनुष्य सस्कृति के समस्त कोषो तक पहुँच जाए। यही सभ्यता और बर्बरता के बीच का अन्तर है। यह कोई भार या बोझा नही है वरन् मानव-मुक्ति का खुला द्वार है।"[1]

बर्क के राज्य के सावयविक विकास की धारणा उस सविदा सिद्धान्त से मेल नही खाती थी जिसे ह्विग दल राजा के दैविक अधिकार की टोरी-धारणा के उत्तर मे प्रस्तुत करते थे। ह्विग होने के नाते बर्क ने यद्यपि सविदा सिद्धान्त को पूरी तरह नही ठुकराया तथापि अपने विचार इस ढग से प्रस्तुत किए कि वह सिद्धान्त निरर्थक और महत्त्वहीन हो गया। इस सम्बन्ध मे स्वय बर्क के ही शब्द उल्लेखनीय हैं—

"समाज वास्तव मे एक समझौता है। सामाजिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए किए जाने वाले छोटे मोटे समझौतो को इच्छानुसार भग किया जा सकता है। लेकिन, राज्य को काली मिर्च और कहवा, वस्त्र या तम्बाकू अथवा ऐसे ही अन्य घटिया कारोबार के हिस्सेदारी को समझौते के समान नहीं समझना चाहिए जिसे लोग अस्थाई स्वार्थ के लिए कर लेते है और जब दोनों पक्षो मे से कोई चाहता है तो भग कर देते हैं। इसे पवित्रता की दृष्टि से देखना चाहिए। इसका कारण यह है कि यह अस्थाई और अस्थिर पशु जीवन के लिए अधीन रहने वाली वस्तुओ मे हिस्सेदारी नही है। यह हिस्सेदारी पूर्ण वैज्ञानिक है। यह हिस्सेदारी पूर्ण कलात्मक है। यह हर प्रकार से और हर उपाय से पूर्ण हिस्सेदारी है। चूँकि इस प्रकार की हिस्सेदारी का लक्ष्य कई पीढ़ियों मे भी प्राप्त नहीं किया जा सकता इसलिए यह हिस्सेदारी न केवल उन लोगो में ही की जाती है जो जी रहे हो बल्कि उनमे भी की जाती है जो मर चुके हैं अथवा जिन्हे जन्म लेना है। प्रत्येक विशिष्ट राज्य का प्रत्येक समझौता

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2 पृष्ठ 577.

शाश्वत समाज के महान् आदिकालीन समझौते में एक धारा-मात्र है। एक स्थिर समझौते के अनुसार यह निम्न प्रकृति को उच्च प्रकृति से, दृश्यमान जगत् को अदृश्य-मान जगत् से जोड़ देता है। यह स्थिर समझौता एक ऐसी अलध्य शपथ द्वारा स्वीकृत होता है जो समस्त भौतिक तथा समस्त नैतिक प्रकृति को अपने-अपने नियत स्थान पर स्थिर रखती है।"[1]

स्पष्ट है कि इस अवतरण में बर्क संविदा के विचार को नाममात्र के लिए ही और वह भी ऊपरी तौर पर मानता है अन्यथा वास्तव में तो वह उसका खण्डन ही करता है और सावयविक धारणा को स्वीकार करता है। यह कथन कि राज्य की हिस्सेदारी न केवल उन लोगों में की जाती है जो जी रहे हों बल्कि उनमें भी की जाती है जो मर चुके हैं अथवा जिन्हें जन्म लेना है और यह स्वीकार करना *कि मनुष्य ज्ञान और सदाचार की प्राप्ति हेतु, न कि क्षणिक भौतिक हित-साधना* की दृष्टि से राजनीतिक साझेदारी करते हैं, संविदा (Contract) शब्द को पूर्णतः निरर्थक कर देता है। इससे तो राज्य के सावयविक स्वरूप का प्रतिष्ठापन होता है।

हमने देखा है कि बर्क राज्य को एक अवयव की भाँति मानता है। उसके अनुसार राज्य का विकास भी अवयव की भाँति होता है और उसमें एक प्रकार का जीवन होता है जो समयानुसार एवं परिस्थितियों के अनुरूप विकसित एवं परिवर्तित होता रहता है। प्राचीनकाल की संस्थाएँ प्राचीनकालीन परिस्थितियों के अनुकूल थीं। वर्तमान काल की संस्थाओं को वर्तमानकालीन परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए। उनमें नवीन वातावरण, नवीन समस्याओं एवं नवीन परिस्थितियों के अनुसार सुधार और परिवर्तन हो जाना आवश्यक है। सभी संस्थाओं, कानूनों और मनुष्यों के अधिकारों में वर्तमान काल की परिस्थितियों के ही अनुरूप परिवर्तन किए जाने चाहिए। किन्तु ये परिवर्तन अकस्मात् क्रान्तिकारी ढंग से न होकर धीरे-धीरे होने चाहिए। बर्क आमूल परिवर्तन से सहमति प्रकट नहीं करता। वह आवश्यकतानुसार थोड़े बहुत हेर-फेर का पक्षपाती है क्योंकि पूर्ववर्ती विचारों में कुछ न कुछ तथ्य अवश्य हुआ करता है, चाहे वे विकृत भले ही हो जाएँ। इसी दृष्टि से उनमें आमूल एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन करना उनका तिरस्कार करना है। बर्क का कहना है कि प्रत्येक संस्था एवं सवास का आधार दैवी होता है और उनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन करना दैवी आचरणों के विरोध में जाना है। पुरातन मर्यादाओं एवं प्रथाओं को *एकदम तिरस्कृत* कर देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। उनमें तो आवश्यकतानुसार धीरे-धीरे सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए। बर्क के इन विचारों से हम उसे अनुदारवादी सुधारकों की श्रेणी में रख सकते हैं। इन विचारों के कारण ही उसने जॉर्ज तृतीय द्वारा की गई संसदीय शासन के स्वाभाविक विकास को रद्द करने की नीति का विरोध किया और फ्रांसीसी

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 578.

को नष्ट करके एक सर्वथा नवीन सरकार और समाज का निर्माण करना चाहते थे। बर्क के अनुसार राजनीतिक कला तो इस बात मे है कि एक सस्था मे परिवर्तन करके उसे कायम रखा जाए और जो लोग परिवर्तनो की योजना बनाते हैं तथा उनका निर्देशन करते हैं, वे अपने सिद्धान्त भूतकाल के अनुभव से लें।

बर्क ने समाज अथवा शासन को एक दिव्य नैतिक व्यवस्था का भाग माना और इस प्रकार 'इतिहास की दैवी योजना' (The Divine Tactics of History) प्रस्तुत की। इस सम्बन्ध मे बर्क के विचारो का स्पष्टीकरण मानते हुए सेबाइन ने लिखा है कि—

"बर्क राज्य के प्रति श्रद्धापूर्ण दृष्टिकोण के कारण ह्यू म तथा उपयोगितावादियो से बिल्कुल अलग श्रेणी मे था। उसके होठो पर कार्य-साधकता शब्द अवश्य रहता था लेकिन इसका अर्थ उपयोगिता नही था। बर्क ने व्यवहारतः राजनीति का धर्म के साथ समन्वय कर दिया था। यह बात केवल इसी अर्थ मे सही नही थी कि वह खुद एक धार्मिक व्यक्ति था, उसका विश्वास था कि श्रेष्ठ नागरिकता धार्मिक पवित्रता से अभिन्न है। उसने अग्रेजी चर्च की स्थापना को राष्ट्र के लिए अत्यन्त हितकारी माना था। यह बात इस अर्थ मे ज्यादा सही थी कि वह सामाजिक सगठन, उसके इतिहास, उसकी सस्थाओ, उसके बहुमुखी कर्त्तव्यो और निष्ठाओ को धार्मिक श्रद्धा के भाव से देखता था। उसमे यह भावना केवल इग्लैण्ड के प्रति ही नही थी, प्रत्युत् किसी भी प्राचीन सभ्यता के प्रति थी। उसने इसी विश्वास के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी और वारेन हेस्टिग्ज की कठोर आलोचना की। बर्क के मन मे भारत की प्राचीन सभ्यता के प्रति आदर का भाव था और वह चाहता था कि भारतीयो का शासन उनके अपने सिद्धान्तो के अनुसार होना चाहिए, अग्रेजो के सिद्धान्तो के अनुसार नही। बर्क का यह भी विश्वास था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने केवल शोषण किया है और प्राचीन सस्थाओ को नष्ट किया है। फ्रांस की सस्कृति के प्रति भी बर्क मे यही आस्था भाव था। यद्यपि फ्रांस कैथोलिक धर्मावलम्बी था और बर्क ने यह कभी नही माना कि कोई भी समाज अथवा शासन केवल मानवीय चिन्ता का ही विषय है। वह उसे एक ऐसी दिव्य नैतिक व्यवस्था का भाग मानता था जिसका अधिष्ठाता ईश्वर है। वह यह भी नही समझता था कि प्रत्येक राष्ट्र पूरी तरह स्वतन्त्र है। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का अपने राष्ट्र की स्थायी और अनवरत् व्यवस्था मे स्थान होना चाहिए, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र का उस विश्व-व्यापी सभ्यता मे एक स्थान होना चाहिए जो 'दैवी योजना' के अनुसार अपना उद्घाटन करती है। इतिहास की इस दैवी योजना मे बर्क की यह आस्था बड़ी गहरी थी। जब वह फ्रांसीसी क्रान्ति की आलोचना करते-करते थक गया, तब एक स्थल पर इतिहास की दैवी योजना मे उसकी यह आस्था क्रान्ति के प्रति उसके अदम्य घृणा-भाव मे भी आगे बढ गई और उसने बड़ी विरक्ति के साथ लिखा, "यदि कोई महान् परिवर्तन आने को ही है तो जो लोग मानव-कार्य

व्यापारों की इस शक्तिशाली धारा को रोकने की चेष्टा करते हैं, वे केवल मनुष्य की योजनाओं का ही नहीं, प्रत्युत् भाग्य की आज्ञप्तियों का भी विरोध करते हैं।" सामाजिक व्यवस्था और उसके विकास मे दवी भूमिका के बारे में बर्क के विचार हीगल के विचारो से बहुत मिलते-जुलते थे।"[1]

वास्तव मे बर्क ऐसा उदार रूढ़िवादी विचारक था जिसके हृदय मे भूतकाल के प्रति श्रद्धा के भाव थे और जो उस ब्रिटिश प्रणाली का समर्थक था जिसमे शक्ति अभिजात्य कुलो के बुद्धिमान व्यक्तियों के हाथो मे निहित थी लेकिन जो साथ ही जनता की स्वतन्त्रता का हिमायती था और पाप, अनाचार तथा भ्रष्टाचार का शत्रु था। बर्क ने हिंसक और विनाशक फ्रेंच क्रान्तिकारियों की जिन कठोर शब्दों मे भर्त्सना की, उनमे हमे उसके रूढ़िवाद के सुन्दरतम दर्शन होते हैं और ब्रिटिश अनाचारी नीति के प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुए अमेरिकन औपनिवेशिक विद्रोह का जो उसने समर्थन किया तथा भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काले कारनामो पर जो उसने करारे प्रहार किए, उनमें हम उसके उदारवाद को साकार कर पाते हैं।

संविधान, संसदीय प्रतिनिधित्व और राजनीतिक दल
(Constitution, Parliamentary Representation and Political Parties)

बर्क ने सविधान के स्वरूप, ससदीय प्रतिनिधित्व और राजनीतिक दलों के महत्त्व के बारे मे भी विचार प्रकट किए हैं। उसका कहना था कि सविधान तथा समाज की परम्परा को धर्म-भावना से देखना चाहिए क्योंकि उनमे सामुदायिक बुद्धि और सम्पत्ता निहित है। ब्रिटिश सविधान के विषय मे वह लॉक से सहमत था कि यह सविधान क्राउन, लॉर्ड सभा और लोकसभा का सन्तुलन है। उसी के शब्दो मे "हमारा सविधान प्रयोग-सिद्ध (Prescriptive) है। यह ऐसा सविधान है जिसका एकमात्र प्रमाण यह है कि यह चिरकाल से हमारे मस्तिष्क मे रहा है। आपके नरेश, लॉर्ड, न्यायाधीश, ज्यूरी—छोटे और बड़े ये सब परम्परा पर आधारित हैं। चिर-भोगाधिकार समस्त अधिकारो मे महत्त्वपूर्ण है। यह बात केवल सम्पत्ति के सम्बन्ध मे ही नहीं है बल्कि शासन के सम्बन्ध मे भी सही है। यदि कोई शासन-प्रणाली स्थिर है तो उसके सम्बन्ध मे यह धारणा की जा सकती है कि उसके अधीन राष्ट्र काफी दीर्घकाल से रहा है और उसने उन्नति की है। यह बात उस शासन-प्रणाली के विरोध मे विशेष रूप से लागू होती है जिसकी आजमाइश न की गई हो। आकस्मिक निर्वाचनो द्वारा केवल स्थायी शासनो का निर्माण होता है। अतः राष्ट्र भी प्रयोग-सिद्ध सविधान को ही पसन्द करता है। इसका कारण यह है कि राष्ट्र केवल स्थानीय महत्त्व का ही विचार नही है। उसमे व्यक्तियो के अल्पकालिक समुच्चय का भाव नहीं है। राष्ट्र मे निरन्तरता का भाव होता है। राष्ट्र समय, सख्या और स्थान इन तीनों मे फैला होता है। वह एक दिन अथवा

1 सेबाइन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 579.

एक तरह के लोगो को पसन्द नही है। वह किसी अनुशासनहीन और चंचल पसन्द के परिणामस्वरूप नहीं बनता। संविधान ऐसी चीजो से मिलकर बनता है जो पसन्द से 10 हजार गुनी बेहतर होती हैं। वह कुछ विशिष्ट परिस्थितियों, अवसरों, स्वभावो, प्रवृत्तियो और जनता की नैतिक, नागरिक तथा सामाजिक आदतो के फलस्वरूप बनता है। ये सारी चीजें दीर्घकालावधि मे ही अपने विचार व्यक्त कर पाती हैं। जब व्यक्ति और समुदाय दोनो ही बिना सोच-विचार के कार्य करते हैं तो मूर्ख होते हैं। लेकिन जाति सदैव बुद्धिमान होती है। जब उसे समय मिल जाता है और वह जाति के रूप मे कार्य करती है तो सदैव ही सही होती है।"[1] बर्क के संविधान सम्बन्धी विचार, उस परम्परा में थे जो लॉक ने हूकर से ग्रहण की थी।

बर्क सांविधानिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया को अवरुद्ध करने का पक्षपाती नही था। इसलिए उसने जॉर्ज तृतीय के ऐसा करने के प्रयासो का विरोध किया। अपने प्रतिरोध मे बर्क ने जो शब्द कहे वे निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं—"हमारा संविधान एक ऐसे सूक्ष्म सन्तुलन पर खड़ा हुआ है जिसके चारो ओर ढालू चट्टानें हैं और अगाध सागर हैं। यदि हम इसे एक ओर कुछ अधिक झुकने के खतरे से बचाते हैं तो इसके दूसरी ओर झुक जाने का खतरा पैदा हो जाता है। हमारी जैसी जटिल शासन-व्यवस्था मे कोई आधारभूत परिवर्तन करना ऐसी कठिनाइयो से परिपूर्ण है जिनमे कोई विचारशील व्यक्ति उसका निर्णय करने को और कोई दूरदर्शी व्यक्ति उसे क्रियान्वित करने को और कोई ईमानदार व्यक्ति उसका वचन देने को एकदम तैयार नही हो सकता।" मुरे (Murray) का कहना है कि "इन शब्दों मे बर्क ने अपने इस मौलिक विश्वास को प्रस्तुत किया है कि राज्य मे कोई मानव-कृत यन्त्र न होकर एक अति जटिल ऐसा सावयव है जिसके स्वरूप को निर्धारित करने मे व्यक्तियो के प्रयत्नो ने निश्चय ही सहायता पहुँचाई है किन्तु जिसके विकास एव लक्ष्य को कोई व्यक्ति पूर्णत: नही समझ सकता। बर्क का विश्वास था कि राज्य के विकास का ढग एक बड़ी सीमा तक ऐसी शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है जिसे कोई भी व्यक्ति पूर्णरूपेण नही समझ सकता और जब व्यक्ति किसी परिवर्तन के इच्छुक होते हैं तो उन्हे चाहिए कि वे ऐसा कार्य बड़े सोच-विचार कर तथा सयम के साथ करें क्योकि यह कोई नही कह सकता कि उनके कार्यों के क्या परिणाम होंगे—हो सकता है कि उनके परिणाम सम्पूर्ण समाज के अत्यन्त आधारभूत हितो के विरुद्ध हो।"[2]

जनहित का अनुमोदन करने के बावजूद भी बर्क मानता था कि निर्वाचक-मण्डल का विस्तार नहीं होना चाहिए। विरोधियो को मखौल का मसाला देते हुए भी उसका विचार था कि ससद् मे मौलिक सुधारो की आवश्यकता नही है। उसने

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 570–571.
2 *Murray* : Introduction of Political Philosophy, p. 143.

ब्रिटिश सविधान मे मौलिक परिवर्तन करने वाले ऐसे सभी प्रस्तावो का विरोध किया जिनमे मताधिकार को व्यापक बनाने, ग्रामीण क्षेत्रो का प्रतिनिधित्व बढ़ाने और उजड़ी बस्तियो (Rolten Boroughs) मे ससद् मे दो प्रतिनिधित्व भेजने की व्यवस्था को समाप्त करने पर बल दिया गया था। ससद् मे एक भाषण देते हुए उसने यह शब्द कहे थे—"न तो इस समय और न किसी समय मे यह बात दूरदर्शितापूर्ण होगी कि हम अपने सविधान के मौलिक सिद्धान्तो और प्राचीनकाल से सुपरीक्षित परम्पराओ में कोई हस्तक्षेप करें। हमारे प्रतिनिधित्व की व्यवस्था लगभग उतनी ही पूर्ण है जितनी मानवीय मामलो मे आवश्यक अपूर्णता के साथ सम्भव है।"[1] बर्क के अनुसार प्रतिनिधित्व का अर्थ यह कभी नही होता कि जनता के अधिकांश भाग को प्रतिनिधियों का निर्वाचन करने के लिए मतदान का अधिकार प्राप्त हो। "व्यक्तिगत नागरिकों का प्रतिनिधित्व नही हो सकता और देश के परिपक्व लोकमत मे सख्या सम्बन्धी बहुमत का कोई स्थान नहीं होता। उसका कहना था कि वास्तविक प्रतिनिधित्व वह है जिसमे हितों की एकता हो और भावनाओ तथा इच्छाओ की सहानुभूति हो।""सक्षेप मे बर्क ने एक ऐसे ससदीय शासन की कल्पना की थी जो एक सुसगठित लेकिन सार्वजनिक भावना से अनुप्राणित अल्पसख्यक वर्ग के नेतृत्व मे सचालित हो।""""बर्क ने ब्रिस्टल के निर्वाचको के सामने जो भाषण दिया था उसमे उसने बतलाया कि निर्वाचित सदस्य अपने निर्णय तथा कार्य मे आजाद होता है। जब प्रतिनिधि एक बार निर्वाचित हो जाता है तो वह सम्पूर्ण राष्ट्र और साम्राज्य के हितो के प्रति उत्तरदायी होता है। उसका यह अधिकार होता है कि वह अपनी बुद्धि का स्वतन्त्रतापूर्ण प्रयोग करे, चाहे यह उसके निर्वाचकों की इच्छा के अनुकूल हो या न हो। सदस्य अपने निर्वाचकों के पास विधि तथा शासन के सिद्धान्तो को सीखने के लिए नही जाता। सदस्य का निर्वाचन-क्षेत्र उसके लिए पाठशाला नही है।"[2]

राजनीतिक दलो के बारे मे बर्क के विचारों का इतना ही उल्लेख कर देना पर्याप्त है कि उसने ससदीय शासन-प्रणाली मे राजनीतिक दलो के महत्त्व को पहचाना और जॉर्ज तृतीय की उन योजनाओ का डट कर विरोध किया जिनसे वह दल-प्रणाली पर घातक चोट करना चाहता था। वह ह्विग दल का शीर्षस्थ नेता था जिसने दल को समुचित रूप से सगठित किया। बर्क ने दलीय सरकार का ध्येय सम्पूर्ण राष्ट्र का कल्याण बतलाया। उसने राजनीतिक दल की यह सुविख्यात परिभाषा दी—"दल उन व्यक्तियो का एक समुदाय है जो अपने सयुक्त प्रयत्नो से किसी विशिष्ट सिद्धान्त पर एकमत होकर राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का प्रयास करते हैं।"

बर्क ने दलीय प्रणाली के इस आधारभूत सिद्धान्त को प्रस्थापित किया कि दल के सभी सदस्यो को एक इकाई के रूप मे कार्य करना चाहिए तथा ऐसे किसी

1 *Murray* : The History of Political Science from Plato to the Present, p 295.

2 वेपाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 573.

गठबन्धन एवं नेतृत्व को स्वीकार नही करना चाहिए जो दलीय सिद्धान्तो के विपरीत हो। दल के प्रति अपनी निष्ठा के मार्ग मे व्यक्तिगत विचारो को बाधक नही बनने देना चाहिए। राजनीतिक दलो की आवश्यकता पर बल देते हुए बर्क ने कहा कि व्यवस्थापिका के सदस्य अपने सगठित प्रयासो से ही राष्ट्रीय हितो की अभिवृद्धि कर सकते हैं। यदि समान विचार वाले व्यक्ति परस्पर मिल जाते हैं तो वे राष्ट्रीय समस्याओ पर प्रभावपूर्ण ढग से विचार व्यक्त कर सकते हैं। अपने को समान विचार वालो से पृथक् रखकर तो व्यक्ति अपनी प्रतिभा और अवसर का व्यर्थ विनाश ही करते हैं। बर्क ने चेतावनी दी कि दलो का निर्माण स्वार्थ-सिद्धि के लिए किया जाना घातक होगा। सदैव यही वांछित है कि सामान्य सिद्धान्तो के आधार पर और उन सिद्धान्तो को क्रियात्मक रूप देने के लिए ही दल सगठित किए जाएँ। बर्क ने गुटो का विरोध किया क्योकि उनका आधार-सिद्धान्त प्रेम नही बल्कि व्यक्ति-भक्ति होता है। बर्क को सिद्धान्तहीनता से चिढ थी। अतः उसने सयुक्त सरकारो का भी विरोध किया। उसने कहा कि सयोजन (Coalition) मे प्राय: सिद्धान्तो का परित्याग कर दिया जाता है। सिद्धान्त छोड बैठने पर सयोजन प्रभावशून्य और शक्तिहीन हो जाता है। दुर्भाग्यवश यदि उनका ध्येय शोषण करना हो जाए तो वह राष्ट्र और समाज के लिए खतरनाक बन जाता है।

अधिकार, सम्पत्ति, क्रान्ति आदि पर बर्क के विचार
(Burke on Rights, Property, Revolution etc.)

अधिकार

बर्क के अनुसार मानव स्वभाव से राजनीतिक होता है और राज्य से बाहर रहकर अपना जीवन व्यतीत नही कर सकता। इस स्थिति मे उसके सभी अधिकार राज्य द्वारा सीमित हैं। हम ऐसे किन्ही प्राकृतिक अधिकारो की कल्पना नही कर सकते है जो राज्य की परिधि से बाहर हो। अधिकार वे ही वैध है जो राज्य की ओर से प्राप्त होते हो। केवल शर्त यह है कि राजकीय नियम ईश्वरीय नियमो के विरुद्ध नही होने चाहिए। ईश्वरीय नियम सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च होते हैं।

बर्क ने कहा कि व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकार और सभ्य राज्य के अधिकार दोनो प्राप्त नही हो सकते, क्योकि प्राकृतिक अधिकारो का आधार तो राज्य का अभाव था। वह राज्य की स्थापना से पूर्व मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारो की चर्चा आधारहीन मानता है। मनुष्य के जो कोई भी प्राकृतिक अधिकार हैं वे राज्य मे ही निहित हैं। वह इस विचार को भी स्वीकार नही करता कि राज्य के निर्माण से पूर्व मनुष्य को जो प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे उन्हे राज्य की रचना द्वारा आगे बनाए रखने की स्वीकृति प्रदान की गई। राज्य प्राकृतिक अधिकार जैसे किसी भी अधिकार का व्यक्ति को आश्वासन नही देता और समाज के बाहर व्यक्ति के अधिकारो का कोई अस्तित्व नही होता। प्राकृतिक अधिकार राज्य-विरोधी हैं जिन्हे पूर्ण स्वीकृति देने का अभिप्राय अराजकता व क्रान्ति और अव्यवस्था को निमन्त्रण देना है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के नेता प्राकृतिक अधिकारो के कपोल कल्पित सिद्धान्तो को

मूर्त रूप देने के प्रयत्नों मे ही सम्पूर्ण देश को आतंक और हत्याकाण्ड की ज्वाला मे भस्म कर रहे थे।

बर्क व्यक्ति के अधिकारो का सम्बन्ध परिस्थितियो से मानता है। परिस्थितियो के अनुकूल ही व्यक्ति को अधिकार प्रदान किए जाते हैं। राजकीय विधियों पर निर्भर रहने वाले अधिकार ही वैध हैं। राजकीय विधियाँ, दैवी विधियों के अनुरूप हैं।

बर्क ने दो प्रकार के अधिकारो की चर्चा की है—(1) नागरिक अधिकार (Civil Rights), तथा (2) राजनीतिक अधिकार (Political Rights)। नागरिक अधिकार सभी व्यक्तियो को समान रूप से मिलने चाहिए। राज्य को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिसमे प्रत्येक व्यक्ति इन अधिकारो का उपभोग कर सके। राज्य को यह भी देखना चाहिए कि व्यक्ति इन अधिकारो के उपभोग के प्रति उदासीन तो नही हैं। राजनीतिक अधिकार बहुत ही प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण होते हैं अतः ये कुछ ही व्यक्तियो को दिए जाने चाहिए। अयोग्य व्यक्तियो के हाथ मे इन अधिकारो के चले जाने से समाज और राज्य को हानि पहुँचने का डर है। बर्क ने अधिकारो के स्थायित्व का भी विरोध किया है। अधिकार समय और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित तथा सशोधित होते रहने चाहिए।

धर्म

बर्क धर्म-प्राण व्यक्ति था जिसका इग्लैण्ड के चर्च मे पूर्ण विश्वास था। बर्क प्रत्येक क्षेत्र मे धार्मिक भावना का महत्त्व स्वीकार करता था। राजनीति को भी वह धर्म से मिलाता था। उसकी मान्यता थी कि धार्मिक भावना से ही कोई व्यक्ति अच्छा नागरिक नही बन सकता। धर्म-भावना समाज के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार न्याय और व्यवहार-कुशलता। धर्म का भावनात्मक अनुराग मानवीय व्यापारो को सौम्यता और अस्थिरता प्रदान कर है। समाज, सामाजिक सस्थानो, सामाजिक क्रिया-कलापो आदि के प्रति हमे धार्मिक श्रद्धा रखनी चाहिए। दीर्घकाल से चलती आ रही सामाजिक सस्थाओ और परम्पराओ का उन्मूलन करने की चेष्टा अधार्मिक वृत्ति है। बर्क ने कहा कि प्रत्येक सरकार और समाज विश्व की दैविक नैतिक व्यवस्था का अग है। अपने धार्मिक दृष्टिकोण के कारण ही बर्क उपयोगितावादियों से बहुत भिन्न हो गया।

क्रान्ति

बर्क के क्रान्ति सम्बन्धी विचार 1790 मे प्रकाशित उसके ग्रन्थ 'Reflections on the Revolution in France' मे मिलते हैं। इसमे उसने फ्रेन्च क्रान्ति का घोर विरोध किया है। धार्मिक भावनाओ से ओतप्रोत बर्क शक्तिवाद का विरोधी था और सत्ता की तृष्णा का दमन चाहता था। जहाँ उसके अनेक दलीय साथियों ने फ्रेन्च राज्य और समाज दोनों को सकट मे डाल दिया था तथा सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन को शोचनीय बना दिया था। इन क्रान्ति-विरोधी विचारो के कारण ही बर्क को उसके साथी प्रतिक्रियावादी समझने लगे थे।

बर्क का विश्वास था कि प्रभुत्व-प्राप्ति की उद्दाम लालसा और अनियन्त्रित प्रयोग पर रोक लगाना अनिवार्य है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति उसे एक विनाशकारी दानव के समान प्रतीत हुई जो चारों ओर अराजकता तथा अमानवीयता का प्रसार कर रही थी। यह क्रान्ति राजतन्त्र और अभिजाततन्त्र के नाश पर तुली हुई थी और इस प्रकार समस्त भूतकालीन संस्कृति से संघर्ष कर रही थी। ध्वंस, न कि निर्माण, ही इसका मूल उद्देश्य हो गया था। चर्च के साथ भी क्रान्ति ने छेड़-छाड़ की थी। इस प्रकार क्रान्ति अनीश्वरवाद की ओर बढ़ रही थी। बर्क को क्रान्तिकारियों के सभी कार्य बड़े कष्टकर लगे। उसका कोमल हृदय फ्रांसीसी आतंकवादियों के कारनामों से काँप उठा। उसने फ्रेन्च क्रान्तिकारियों को आक्रमणकारी, हिंसक, दस्यु, दुष्ट और आचरणहीन तक कह डाला। उसने कहा कि ये क्रान्तिकारी अपने कुकृत्यों को छिपाने के लिए नीति और आचार का गीत गा रहे थे। तर्क, विशुद्ध बुद्धि और रेखागणित का आश्रय लेकर वे नए सिरे से फ्रेन्च समाज का निर्माण करने में लगे थे, जो विनाशकारी कदम था। बर्क ने यह दृढ़मत प्रकट किया कि एक सदन में बैठकर पूर्व निर्दिष्ट बौद्धिक ढाँचे पर नूतन समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। कोरे गगनचुम्बी सैद्धान्तिक आदर्शों पर समाज की रचना का प्रयास दुस्साहस है जो कभी सफल नहीं हो सकता।

यदि हम गहराई से बर्क के विचारों का अध्ययन करें तो स्पष्ट है कि उसे क्रान्तिकारी विचारों से घृणा नहीं थी बल्कि हिंसात्मक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग से घृणा थी। वह आमूल परिवर्तन का विरोधी था। वह नहीं चाहता था कि किसी भी परिस्थिति अथवा अवस्था का समूल नाश करके नए सिरे से प्रारम्भ किया जाए। पुरातन को एकदम उखाड़ फेंकने के प्रयत्न न्यायोचित नहीं कहे जा सकते। अमेरिकन क्रांति का समर्थन उसने केवल इसीलिए किया था कि उपनिवेशवासियों की माँगें न्यायोचित और आवश्यक थीं तथा उस क्रांति में वैसा निर्मम हत्याकांड नहीं हुआ था जैसा फ्रेन्च क्रांति में।

बर्क का मूल्यांकन एवं प्रभाव
(Estimate and Influence of Burke)

आलोचकों के अनुसार बर्क के राजनीतिक विचार यह बताते हैं कि उसमें राजदर्शन को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने की कमी थी। सेबाइन ने लिखा है कि "बर्क के राजनीतिक दर्शन की सुसम्बद्धता के बारे में काफी वाद-विवाद हुआ है। बर्क ह्विग सिद्धान्तों को मानने वाला था लेकिन इसके साथ ही उसने फ्रांस की क्रांति का विरोध किया था। उसकी इन दो प्रवृत्तियों में क्या संगति थी, इस प्रश्न को लेकर भी काफी वाद-विवाद हुआ है। बर्क के फ्रांसीसी क्रांति के सम्बन्ध में इस प्रतिक्रिया ने उसके जिन्दगी भर के सम्बन्धों और मित्रताओं को समाप्त कर दिया। उसके समसामयिक यह न समझ सके कि जिस व्यक्ति ने अमेरिकन स्वतन्त्रता का समर्थन किया था, संसद के ऊपर राजा के नियन्त्रण की आलोचना की थी और

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विहित अधिकारों को समाप्त करने की कोशिश की थी, वही व्यक्ति अब फ्रांसीसी क्रांति के कैसे विरुद्ध हो गया। किन्तु वास्तव में यह गलत धारणा है। बर्क का दर्शन कोई क्रमबद्ध दर्शन न था। उसके कुछ रूढ़िवादी सिद्धान्त थे। उसने जिन सिद्धान्तों से प्रेरित होकर क्रांति पर आक्षेप किया था, उन्हीं सिद्धान्तों से प्रेरित होकर उसने फ्रांस की क्रान्ति से पहले सारे कार्य किए थे। यह सही है कि फ्रांस की घटनाओं ने उसे डरा दिया था, उसकी बुद्धि को असंतुलित कर दिया था, ऐसी घृणा को प्रकट किया था जो अब तक बड़ी सुन्दरता से छिपी हुई थी और इसके कारण उसकी लेखनी में ऐसा अनावश्यक अलंकार आ गया था जिसने उसकी निष्पक्षता, इतिहास-बोध और तथ्यों पर अधिकार को नष्टप्राय कर दिया था लेकिन क्रांति ने उसे न तो कुछ नए विचार दिए और न उसके पुराने विचारों को बदला। उसके मुख्य राजनीतिक विचार हमेशा एक से रहे।"[1]

बर्क के विरुद्ध एक गम्भीर आरोप यह लगाया जाता है कि वह परम्पराओं का पुजारी था और ऐसे परिवर्तनों का समर्थक न था जिनसे पुरातन परम्पराओं एवं मान्यताओं को ठेस पहुँचे। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें उसके ये शब्द नहीं भूलने चाहिए कि "मेरे मापदण्ड से पूरे उतरने वाले राजनीतिज्ञ में प्राचीन को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति तथा साथ ही सुधार करने की योग्यता होनी चाहिए।" पुनश्च, उसने यह भी कहा था कि यदि किसी प्राचीन संस्था का विवेक नष्ट हो जाता है तो उसके शवमात्र को बनाए रखना मूर्खता है। वास्तव में बर्क ठेठ रूढ़िवादी नहीं था बल्कि उदार रूढ़िवादी था।

बर्क ने राजनीतिक और साम्पत्तिक अधिकारों का जो विभाजन किया वह न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। पर साथ ही यह भी है कि सम्पत्ति सम्बन्धी उसके विचार यथार्थ की भूमि पर टिके थे। सम्पत्ति के क्षेत्र में समानता का इतिहास मनुष्य ने अभी तक दुर्भाग्यवश साकार रूप में नहीं देखा है। बर्क ने प्रजातन्त्रीय शासन को अस्वीकार करके अपने सम्मान को ठेस पहुँचाई है। अपने इन विचारों से उसने वर्तमान जनतन्त्रीय युग के लोगों को अपना विरोधी बना लिया है। बर्क ने अपने विचारों से यह प्रकट कर दिया कि उसने इस बात को कभी नहीं समझा कि वह किस युग में रहता है। बर्क के युग में प्रजातन्त्रीय विचार दिन-प्रतिदिन तीव्र होते जा रहे थे किन्तु वह फिर भी राजतन्त्र और अभिजात्यतन्त्र के गीत गा रहा था।

यदि बर्क में ये कमियाँ न होतीं तो निस्सदेह उसका स्थान अत्यन्त ही श्रेष्ठ होता। बर्क में यद्यपि दोषों की कमी न थी किन्तु राजदर्शन के क्षेत्र में उसका अनुदाय और प्रभाव कम महत्वपूर्ण नहीं है। उसकी कृतियों और उसके विचारों से प्रभावित होकर ही केनिंग ने इग्लैण्ड के शासन में व्यवस्था लाने का प्रयास किया और डिजरैली ने उसके अनुदारवादी विचारों से प्रेरणा ग्रहण की। बर्क ने

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ 570

ऐतिहासिक पद्धति को अपने उचित स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित करके राजनीतिक इतिहास और आधुनिक काल की महान् सेवा की। उसने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का खण्डन करके राज्य के स्वरूप की सावयविक विवेचना की। उसने विकासवादी और उपयोगितावादी विचारधारा का मार्ग प्रशस्त किया। उसने मध्यम मार्ग और सहिष्णुता व संयम का प्रतिपादन किया और बताया कि सुधार करते समय कट्टरता की तथा उदारता की दोनों अतियों (Extremes) से बचते हुए मध्यवर्ती मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। बर्क का अन्य प्रशंसनीय कार्य प्राकृतिक तथा जटिल अधिकारों के सिद्धान्त का खण्डन करना था। उसने कहा कि उन्हीं अधिकारों का महत्व है जो ठोस हो और जो समाज के अभिसमयों से उत्पन्न हों। सेबाइन ने बर्क की एक अन्य देन की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि "फ्रांस की क्रान्ति के विरुद्ध उसने जिस प्रतिक्रिया का झण्डा खड़ा किया उससे एक नवीन परिवर्तन का सूत्रपात हुआ जिसके कारण तत्कालीन प्रचलित सामाजिक दर्शन को आक्रमण छोड़कर अपना बचाव करने के लिए विवश होना पड़ा और इसीलिए स्थिरता के मूल्य तथा परम्परा की शक्ति पर, जिसके ऊपर स्थिरता निर्भर करती है, एक नया बल दिया गया।"

बर्क के सुधारवादी विचारों से जिस नवीन सुधारवादी भावना का श्रीगणेश हुआ, उसका प्रभाव जॉनसन पर भी पड़ा। वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज जैसे साहित्यकार बर्क से प्रभावित हुए। फलस्वरूप साहित्य में, 'Romantic Reaction' की धारा का शिलान्यास हुआ। जॉनसन ने तो यहाँ तक कह दिया है कि, "उसकी मानसिक धारा शाश्वत है।" बर्क से प्रभावित होकर लॉर्ड मैकाले ने कहा था—"मिल्टन के बाद वही हमारे देश का महानतम पुरुष है और लॉर्ड मोर्ले के पश्चात् वही हमारे देश का प्रथम श्रेणी का निर्माता है।" मैक्सी ने लिखा है—"यह उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के अनुदारवादी तथा ऐतिहासिक सम्प्रदाय का मुख्य प्रेरणा-स्रोत है। मेन, फ्रीमैन, सीले, सिजविक, नीत्शे जैसे अनुदारवादी विचारकों की कृतियों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा।"[1] लास्की ने बर्क के महत्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"बर्क की प्रशंसा करना सरल है और उसके प्रयास के महत्व को समझ पाना और भी सरल है। उसके पूर्ण मूल्यांकन को छोड़ भी दिया जाए तो भी इतना निश्चित है कि एक विचार-पद्धति के जनक की अपेक्षा उसे कुछ ऐसी लोकोक्तियों के रचयिता के रूप में अधिक याद किया जाएगा जिन्हें भुला देने का साहस बहुत कम राजनीतिज्ञों को होगा। उसकी विचार-पद्धति अपनी अपूर्ण अभिव्यंजनाओं में भी हॉब्स एवं बेन्थम की प्रणालियों से कुछ कम महाकाव्य नहीं है।" लास्की ने ही आगे लिखा है—"बर्क के दोष भी हमें सबक सिखाते हैं। उसका यह न देख पाना कि सम्पत्ति का कुछ हाथों में केन्द्रीकरण इतना खतरनाक होता है, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उसने मनुष्य संसद् का निर्णय अपनी निजी इच्छाओं के मापदण्ड से करने के

1 *Maxey* : Political Philosophies, page 384.

लिए कितना उत्सुक रहता है।'''''''जन-इच्छा का जो उसने निरादर किया है वह उस घातक उपेक्षा की ओर सकेत करता है जिसके साथ हम उन लोगो की इच्छा की अवहेलना कर देते हैं जो राजनीतिक संघर्ष के सक्रिय केन्द्र से बाहर खड़े है।" लास्की की मान्यता है कि इन सब कमियो के बावजूद इंग्लैण्ड के राजदर्शन के इतिहास मे बर्क से महान् व्यक्ति और कोई नहीं दिखाई पड़ता। अपने समकालीन राजदर्शन को उसने ऐसी दिशा, भावना तथा ओजस्विता प्रदान की जैसी किसी भी राजनीतिज्ञ ने नही की।[1] शक्तिवाद पर नैतिक प्रतिबन्ध लगाने का आजीवन समर्थन करते रह कर बर्क ने उदारवाद के नैतिक अधिकार को बहुत सबल प्रदान किया। यह अनुदारवादी बर्क की बहुत बड़ी देन है।

17 उपयोगितावादी : जर्मी बेन्थम

(The Utilitarians : Jeremy Bentham)
(1748-1832)

अपने मौलिक रूप मे उपयोगितावाद ब्रिटिश राजनीतिक दार्शनिकता की उपज है। इसके सभी मूल लेखक इगलैण्ड के निवासी थे। 19वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे इस दर्शन की इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही कि इस युग को उपयोगितावादी युग (The Utilitarian Age) कहा जाता है। इगलैण्ड मे 19वी शताब्दी के अधिकांश भाग में उपयोगितावादी चिन्तन की प्रधानता रहने से मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान और नैतिक तर्क-वितर्क मे लोगो की रुचि बढ़ी तथा व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र मे सामाजिक सुधार-कार्य और कल्याणकारी विधायन इतने बड़े पैमाने पर हुआ जितना पहले कभी सोचा भी नही गया था। डॉ. वेपर के अनुसार, "उपयोगितावाद के प्रवर्तक डेविड ह्यूम, प्रीस्टले और हुचिसन थे। पेले ने इसका प्रतिपादन किया तथा हैलविटियम और बकेरिया के विदेशी विचार-स्रोतो से इसका पोषण हुआ।" किन्तु इसको शास्त्रीय और व्यवस्थित रूप देने तथा राजनीति के क्षेत्र मे इसे लागू करने का श्रेय जर्मी बेन्थम को ही था। उपयोगितावादियो मे सर्वाधिक विलक्षण और प्रतिभा-सम्पन्न बेन्थम ने ही राज्य द्वारा 'अधिकतम सख्या के अधिकतम हित' के पुराने सिद्धान्त को लोकप्रिय और शक्तिशाली बनाया। यही कारण है कि इसे कई बार बेन्थम के नाम से 'बेन्थमवाद' की भी सज्ञा दी जाती है।

उपयोगितावाद का विकास
(Development of Utilitarianism)

उपयोगितावाद अपने नूतन रूप मे 19वी शताब्दी का ही दर्शन है तथापि आचारशास्त्र के एक सिद्धान्त के रूप मे इसका सम्बन्ध प्राचीन यूनान के ऐपीक्यूरियन सम्प्रदाय *(Epicurian School)* से माना जा सकता है। एपीक्यूरियन चिन्तन के अनुसार मनुष्य पूर्णतया सुखवादी है, वह सुख की ओर दौड़ता है तथा दुःख से बचना चाहता है। यूनानियों ने राज्य को एक नैतिक सस्था मान कर भी उसके उपयोगी रूप को अस्वीकार नही किया तथा उसे मानव-आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आवश्यक माना। 17वी शताब्दी मे सामाजिक-अनुबन्धवादियों ने उपयोगितावादी परम्परा का कुछ विकास किया। हॉब्स ने मनोवैज्ञानिक भौतिकवाद के आधार पर

से आकर्षित नहीं होता अपितु ऐसे ठोस सुधारों का समर्थक है जिससे मानव-कल्याण की अभिवृद्धि हो, मानव के भाग्य-निर्माण में सहायता मिले।

उपयोगितावाद के आधारभूत सिद्धान्त बहुत सरल और स्पष्ट हैं—

1. उपयोगितावाद एक ऐसा दर्शन है जो किसी वस्तु के नैतिक और भावात्मक पक्ष पर ध्यान न देकर उसके यथार्थवादी पक्ष को ही देखता है। इसने सुखवाद (Hedonism) से प्रेरणा ली है जिसका आशय है—प्रत्येक व्यक्ति अधिकाधिक सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और दुःख से सदैव बचना चाहता है। उपयोगिता को सुख-दुःख की मात्रा से आँका जाता है। किसी कार्य के अच्छे या बुरे होने की परीक्षा उससे प्राप्त होने वाले सुख या दुःख की मात्रा से की जाती है। बुरा काम वह है जिसके करने से दुःख होता है और अच्छा काम वह है जिसके करने से सुख मिलता है। यद्यपि जीवन में दूसरी बातों का भी अपना महत्त्व है तथापि मुख्य संघर्ष सुख और दुःख में ही है। उपयोगितावादी सिद्धान्त 'व्यक्ति के आनन्द' के आधार-बिन्दु पर ही आगे बढ़ता है। व्यवस्थापकों और राजनीतिज्ञों का कर्त्तव्य ऐसे नियमों का निर्माण करना है जिनसे अधिकाधिक व्यक्तियों को सुख पहुँचे और उनके दुःख कम हों। स्पष्ट है कि उपयोगितावाद 'आत्मानुभूतिवाद' (Intuitionism) से भिन्न है जिसके अनुसार कुछ कार्य अपने परिणामों से अलग भी स्वभावतः अच्छे अथवा बुरे होते हैं।

2 उपयोगितावाद, प्रयोगात्मक और व्यवहार-प्रधान (Pragmatic) है। इसकी पद्धति कल्पनावादियों की निगमनात्मक पद्धति (Deductive Method) न होकर आगमनात्मक (Inductive) और अनुभूतिमूलक (Empirical) है। अनुभव ही इसका मुख्य आधार है। उपयोगितावाद का सम्बन्ध जीते-जागते व्यक्तियों और जीवन की ठोस वास्तविकताओं से है, काल्पनिक व्यक्तियों तथा अमूर्त सिद्धान्तों से नहीं। यह जीवन-संघर्ष और कर्मशीलता का प्रतीक है, जो प्रत्येक वस्तु को वास्तविक उपयोगिता की कसौटी पर कसता है और प्रत्येक विचार अथवा सिद्धान्त को व्यावहारिकता की तराजू में तौलता है। इसका व्यावहारिक नीति-शास्त्र और राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

3. उपयोगितावादी सिद्धान्त को मानने वाले सभी लोग व्यक्तिवादी हैं जो यह मानते हैं कि 'राज्य व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति राज्य के लिए।' उनके मतानुसार राज्य का औचित्य इसी में है कि वह अपने नागरिकों को शान्ति और सुरक्षा प्रदान करता है तथा इच्छाओं की तुष्टि में उनका सहायक होता है। मानव की आकांक्षाओं और उसके अन्तिम लक्ष्य 'आनन्द' का राज्य के क्रिया-कलापों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी भी राजनीतिक कार्य का महत्त्व तभी है जब उससे जन-कल्याण होता हो। उपयोगितावाद के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के अनुसार सामाजिक कल्याण लोगों के वैयक्तिक सुखों का संग्रह-मात्र है। उपयोगितावादी दर्शन में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर केवल सार्वजनिक व्यवस्था और शान्ति की सीमा है।

4. उपयोगितावाद की माँग है कि राज्य नागरिको के विकास के मार्ग मे माने वाली बाधाम्रो के निराकरण के लिए विधि-निर्माण करे। उस विधि का कोई मूल्य नहीं है जिससे राज्य के अधिकतम लोगो का कल्याण न होता हो। उपयोगितावादियो के अनुसार विधियो के दो पक्ष हैं—निषेधात्मक और विधेयात्मक। जिन विधियो से बुरी परिस्थितियों और विपाक्त वातावरण का अन्त हो वे निषेधात्मक (Negative) हैं और जिनसे निर्माण कार्य सम्पन्न होते हो, वे विधेयात्मक अथवा रचनात्मक (Positive) हैं।

5. उपयोगितावाद की मान्यता है कि व्यक्ति दूसरो से सर्वथा स्वतन्त्र रहकर सुखी नही रह सकता। यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरो के साथ मानव-प्रेम और सह-अस्तित्व के बन्धनो से बँधा रहे। व्यक्ति के विकास के लिए समाज का अस्तित्व आवश्यक है। स्पष्ट है कि उपयोगितावाद का सघवाद (Associationism) पर बल है। मानव के सर्वांगीण विकास के लिए सघवाद की धारणा बहुत महत्त्वपूर्ण है।

6. उपयोगितावाद एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जो मनोवैज्ञानिक विधि से मानव-मस्तिष्क के तत्वो का विश्लेषण करता है। इसके अनुसार मनुष्य को बाहरी वस्तुम्रो का ज्ञान मस्तिष्क मे उत्पन्न अनेक प्रकार की सवेदनाम्रो (Sensations) द्वारा होता है। ये सवेदनाएँ या तो सुखदायक होती हैं या दु खदायक और स्वभावत मनुष्य सुखदायक वस्तुम्रो को पसन्द करता है तथा दुःखदायक वस्तुम्रो से घृणा। चूँकि कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से दु ख मुक्त नही हो सकता, अत हमे सदैव यही प्रयत्न करना चाहिए कि अधिकाधिक मात्रा मे सुख और कम से कम दु ख मिले।

सामान्यतः सभी उपयोगितावादी यह मानते हैं कि लोग सुख की आकांक्षा रखते हैं तथा सुख अपने मे ही एकमात्र वाँछनीय वस्तु है। बुद्धि जीवन के साध्य का निर्धारण न कर उन साधनो का निरूपण करती है जिन्हे अपनाकर हम साध्य की प्राप्ति कर सकते हैं। वह कार्य सद् है जो दु ख की अपेक्षा अधिक सुख देने वाला है और वह असद् है जो दु ख की वृद्धि करता है। सार्वजनिक नीतियो एव प्रशासकीय विधियो के औचित्य की कसौटी उपयोगिता अथवा 'अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख' (Greatest good of the greatest number) का सिद्धान्त है। राज्य स्वय साध्य (End) न होकर नागरिको के कल्याण मे सहायक न होने वाला साधन (Means) है।

वेपर (Wayper) के अनुसार, "उपयोगितावादी सदैव अल्पमत मे रहते थे और वे कभी भी लोकप्रिय नही हुए। वे बहुत ही भाग्यहीन, बुद्धिवादी, अत्यन्त कठोर और विद्वत्तावादी थे तथा मानव-स्वभाव सम्बन्धी उनकी धारणा लोगो को आकर्षित करने वाली नही थी, पर काफी समय तक उनका कोई गम्भीर प्रतिद्वन्द्वी पैदा नही हुआ। उनके समकालीन महान् विचारको—रूसो, काण्ट, सन्त साइमन, मार्क्स को इग्लैण्ड मे कोई आदर नही मिला। इग्लैण्ड मे ही इसके आलोचक अपनी

किसी बात को अपने विश्वास में न ले सके। इसके परिणामस्वरूप उनका प्रभाव उनकी संख्या के अनुपात में कहीं अधिक रहा।"[1]

उपयोगितावाद के प्रतिपादन और विकास में जिन प्रमुख विचारकों का योगदान रहा और जिनका इस पुस्तक में अध्ययन किया गया है, वे हैं—

(1) जर्मी बेन्थम (Jeremy Bentham, 1748-1832)
(2) जेम्स मिल (James Mill, 1773-1836)
(3) जॉन ऑस्टिन (John Austin, 1790-1859)
(4) जॉर्ज ग्रोट (George Grote, 1794-1871)
(5) जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill, 1806-1873)
(6) एलेक्जेण्डर बेन (Alexander Bain, 1818-1903)

जर्मी बेन्थम
(Jeremy Bentham)

जीवन-परिचय

जर्मी बेन्थम का जन्म 15 फरवरी, 1748 को लन्दन के एक प्रतिष्ठित वकील परिवार में हुआ था। परिवार की परम्परा के अनुसार बेन्थम ने उच्च शिक्षा प्राप्त की। 15 वर्ष की अल्पायु में ही सन् 1763 में उसने स्नातक की उपाधि प्राप्त करली और तत्पश्चात् 'लिंकन्स इन' (Lincoln's Inn) में कानून का अध्ययन करने के लिए प्रवेश लिया। बैरिस्ट्री पास करने के उपरान्त उसने सन् 1772 में वकालत शुरू कर दी। परीक्षाओं में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त करने पर भी उसने नौकरी करना स्वीकार नहीं किया।

बेन्थम अपने युग का एक बौद्धिक-आश्चर्य था जो वकालत करने के कुछ ही समय बाद इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि प्रचलित कानूनों में भारी त्रुटियाँ हैं और उनके रहते तत्कालीन न्याय-व्यवस्था निरर्थक है। सन् 1776 में प्रकाशित उसकी पुस्तक 'Fragments on Government' ने, जिसमें ब्लैकस्टोन की इंगलिश कानून की 'टीकाओं' (Commentaries) में प्रतिपादित सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ाई गई थी, तत्कालीन कानूनी-क्षेत्र में हलचल मचा दी। विधि-शास्त्र के इस प्रकाण्ड पण्डित ने विधि-सुधार के महत्त्वपूर्ण आन्दोलन का संचालन किया जिसमें उसे सफलता भी मिली। वह एक ऐसा सुधारवादी सिद्ध हुआ जिसने इंग्लैण्ड के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र को अत्यधिक प्रभावित किया। उसकी रुचि प्रारम्भ से ही सामाजिक समस्याओं के हल खोजने में रही थी अतः वह एक श्रेष्ठ समाज-सुधारक बन गया। उसने अपने विचारों को नियमित रूप से लेखबद्ध किया। उसका लगभग सम्पूर्ण जीवन ही ग्रन्थ-रचना, संसार भर में से पत्र-व्यवहार तथा कानूनी-सुधार के लिए सामग्री के एकत्रीकरण में व्यतीत हो गया। मेरी पी. मैक के अनुसार सन् 1770

1 *Wayper* : Political Thought, p. 83.

से 1832 तक अर्थात् अपनी मृत्यु-पर्यन्त वह प्रतिदिन लगभग 15 बड़े पृष्ठ लिखता रहा।[1] अनुमानतः उसने अपने जीवन-काल में एक लाख से भी अधिक पृष्ठ लिखे। उसके लेखों की पाण्डुलिपियाँ, जो 148 बक्सों में बन्द हैं, आज भी लन्दन विश्वविद्यालय और ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित हैं। बेन्थम ने नियमित रूप से लिखा, किन्तु अपने लेखों के लिपिबद्ध संकलन और उनकी उपयोगिता के प्रति वह उदासीन रहा। प्रतिदिन लिखे जाने वाले पृष्ठों का स्थान वह अपनी योजना में इंगित कर देता था और फिर उन्हें उठा कर एक ओर रख देता था। उसके लेखों के चयन, पुनरावलोकन, प्रकाशन आदि का कार्य उसके कुछ घनिष्ठ मेधावी व्यक्तियों, शिष्यों आदि द्वारा किया गया।

बेन्थम ने यूरोप का भ्रमण तथा फ्रांस के उपयोगितावादियों से प्रभावित होकर अपने विचारों में सुधार किया। जातीय और वर्गीय विभेदों में अविश्वास रखने वाले इस विद्वान् ने इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका, भारत, मैक्सिको, चिली आदि के लिए एक विधि-संहिता (Legal Code) निर्माण करने का अथवा संकलित करने का प्रयास किया। बेन्थम के विचारों का सर्वत्र सम्मान किया गया और प्रत्येक क्षेत्र में उसे समर्थन तथा सहयोग प्राप्त हुआ। सन् 1792 में फ्रांस की राष्ट्रीय संसद् ने उसे 'फ्रांसीसी नागरिक' की उपाधि से विभूषित किया। विधि (कानून) और कारागारों के सुधार सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखने के कारण वह यूरोप में ही नहीं, अन्य देशों में भी प्रसिद्ध हो गया। सन् 1820–21 में पुर्तगाल के विधायक दल ने वैधानिक समस्याओं पर उसके सुझाव आमन्त्रित किए। सन् 1828 में उसने मिस्र की स्वेज नहर के निर्माण का सुझाव दिया। उसने जार द्वारा रूस के लिए विधि-नियमावली बनाने की इच्छा व्यक्त की।

अपने 84 वर्ष के दीर्घकालीन जीवन में बेन्थम ने उपयोगितावाद के साथ ही सुधारवाद की नींव सुदृढ़ की। उपयोगितावाद की परम्परा उसकी मृत्यु के बाद भी सफलतापूर्वक चालू रही। उपयोगितावादी सिद्धान्त का आदि-प्रवर्तक न होते हुए भी वह उसका संस्थापक माना गया क्योंकि उसने उसके महत्त्व को समझ कर उसे अपने चिन्तन का मूल सिद्धान्त बनाया और उस पर एक सुनिश्चित एवं सुव्यवस्थित विचार-प्रणाली का भवन खड़ा किया। बेन्थम से पहले उपयोगितावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन इंग्लैण्ड में ह्यूम एवं प्रीस्टले द्वारा हो चुका था। बेन्थम ने ह्यूम के ग्रन्थ 'Treatise of Human Nature' का अध्ययन किया और मानव-व्यवहार के लिए उपयोगितावादी धारणा के महान् मूल्य को समझा। प्रीस्टले के ग्रन्थ 'Essay on Government' में 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' वाक्यांश पढ़कर उसका हृदय भाव-विभोर हो उठा। प्रो. सोरले (Sorley) ने इस विचार से असहमति प्रकट की है कि बेन्थम ने यह वाक्यांश प्रीस्टले से लिया था पर यदि इस विवाद को छोड़ दिया जाए तो भी इसमें कोई संशय नहीं कि बेन्थम ने 'उपयोगिता' एवं

1 *Mary P. Mack* : Jermy Bentham, p. 5.

'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' की पूर्वस्थित धारणा को विकसित किया और उसके आधार पर उपयोगितावादी राजदर्शन का विशाल वट-वृक्ष खड़ा कर दिया।

बेन्थम स्वयं अपने लेखों के प्रति वेपरवाह था, किन्तु उसके योग्य सहकारियों और शिष्यो ने उसको सिद्धान्तों का पूर्ण अध्ययन और प्रचार किया। उनमे प्रमुखतम शिष्य जेम्स मिल (James Mill) था। प्रसिद्ध वकील सर सेमुअल रोमिले ने भी बेन्थम की सेवा की। महान् अर्थशास्त्री रिकार्डो भी उसका अनुयायी था। रिकार्डो के बारे मे बेन्थम ने लिखा है, "मैं मिल का आध्यात्मिक पिता था और मिल रिकार्डो का आध्यात्मिक पिता था, इस प्रकार रिकार्डो मेरा आध्यात्मिक पौत्र था।" बेन्थम के उत्साही शिष्यो मे स्विस नागरिक ड्यूमोण्ट (Dumont) का नाम भी उल्लेखनीय है जिसने बेन्थम की पुस्तको का अनुवाद फ्रांसीसी भाषा मे किया, उन्हें संक्षिप्त रूप दिया और उनमे रह जाने वाली आवश्यक बातो की पूर्ति की। ड्यूमोण्ट ने बेन्थम के यश को सम्पूर्ण यूरोप मे फैलाया।

बेन्थम 18वी शताब्दी के अपने जीवनकाल में उपयोगितावादी विचारधारा पर आधारित अपने नवीन दर्शन के प्रकाश मे प्रचलित विचारों से जूझता रहा और रूढ़िवादी बना रहा, किन्तु 19वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे वह नवीनतावादी बन गया। उसकी न्यायिक सुधार-योजनाओ और आदर्श कारागार की स्थापना के विचारो का विरोध किया गया जिससे उसके हृदय को बड़ी ठेस पहुँची और वह इस परिणाम पर पहुँचा कि ब्रिटेन का शासक-वर्ग शासितों के हितो का ध्यान न रखकर स्वहितो का ध्यान रखता है। बेन्थम और जेम्स मिल के सहयोग से 'दार्शनिक नवीनतावादी' नामक एक नवीन सगठन का उदय हुआ जिसके माध्यम से बेन्थम ने उन सुधारों को, जिनका वह प्रचार कर रहा था, क्रियान्वित रूप देने का प्रयत्न किया। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध मे रूढ़िवादी बेन्थम जनतन्त्रवादी बन गया और देश के राजनीतिक जीवन में अधिकाधिक भाग लेने लगा। 6 जून, 1832 मे जब इस महान् दार्शनिक विचारक की मृत्यु हुई तो डॉयल (Doyle) के शब्दो मे, "उसके शिष्य-समूह ने एक पितामह और एक आध्यात्मिक नेता के रूप मे उसका सम्मान किया। उसकी एक देवता के रूप मे प्रतिष्ठा हुई।"

बेन्थम की रचनाएँ (Works of Bentham)

बेन्थम एक महान् लेखक था, जिसने अपनी मृत्यु से पूर्व तक लेखन कार्य जारी रखा। उसने सबसे पहले सामयिक पत्र-पत्रिकाओ (यथा 'लन्दन रिव्यू', 'वेस्ट मिनस्टर रिव्यू' आदि) मे निबन्ध लिखे जिनसे उसका अभ्यास बढा और उसे ख्याति प्राप्त हुई। 1776 ई से 1824 ई. तक उसकी लगभग सभी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हो गई। उसके मूल ग्रन्थों के प्रचार के साथ ही उनका विभिन्न भाषाओ मे अनुवाद भी हुआ और बहुत-सी प्रकाशनीय सामग्री उसकी मृत्यु के बाद प्राप्त हुई। लन्दन के यूनिवर्सिटी कॉलेज मे बहुत-सी मञ्जूषाएँ उसकी पाण्डुलिपियो से भरी हुई सुरक्षित हैं, जिनमें से अनेक अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाई हैं। ब्रिटिश संग्रहालय में भी उसके अप्रकाशित ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। उसके ग्रन्थ विधि,

अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, धर्म, बैंक-प्रशासन, जनगणना, समाजसेवा, आन्तरिक शासन आदि विविध विषयों पर हैं। उसके प्रमुख ग्रन्थों में इनकी गणना की जाती है—

(1) Fragments on Government, 1776, (2) A Defence of Usury, 1787, (3) An Introduction to the Principles of Morals and Legislation, 1789, (4) Discources on Civil and Penal Legislation, 1802, (5) A Theory of Punishments and Rewards, 1811, (6) A Treatise on Judicial Evidence, 1813, (7) Papers Upon Codification of Public Instruction, 1817, (8) The Book of Fallacies, 1824, (9) Rationale o' Evidence, 1827, (10) Constitutional Code, 1830, (11) Essay on Pol... d Tactics, 1791, (12) Catechism of Parliamentary Reforms, 1809, (13) Radicalism not Dangerous, 1819, (14) A Table of Springs of Action, (15) Manual of Political Economy, (16) Principles of International Law.

इनमें 'An Introduction to the Principles of Morals and Legislation' बेन्थम की सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है। बेन्थम ने अपनी कृतियों में कानून, सम्प्रभुता, न्यायिक प्रक्रिया, दण्ड, अधिकार, संसदीय सरकार आदि पर उपयोगितावाद पर आधारित विभिन्न रोचक सुझाव प्रस्तुत किए। वेपर के अनुसार "बेन्थम की कृतियाँ महत्त्वपूर्ण, सरल तथा मनोरंजक हैं। उनकी लेखनी में लालित्य और प्रवाह है। आवश्यकतानुसार विस्तारप्रियता तथा व्याख्या के आधिक्य ने उसकी अन्तिम रचनाओं को नगण्य तथा मूल्यहीन बना दिया है। वैज्ञानिक औचित्य की दृष्टि से उसने उसका विकास आवश्यक समझा जिसे वह 'नवीन शब्द' (New Lingo) की संज्ञा देता है। उसके आलोचकों ने इसका 'महान् कला की एक अभिनव, विचित्र शाखा के पुनरुत्थान' के रूप में उल्लेख किया है। उसकी रचनाओं में क्लिष्ट, अशिष्ट तथा भौंडे शब्दों की भरमार है। भाषा के सम्बन्ध में उसके आलोचकों द्वारा की गई आलोचनाएँ गलत नहीं हैं।"[1]

बेन्थम का उपयोगितावाद एवं सुखवादी मापक यन्त्र
(Bentham's Utilitarianism and Hedonistic Calculus)

बेन्थम के उपयोगितावाद की नींव सुख-दुःख की मात्रा पर आधारित है। जिस कार्य से मानव-सुख में वृद्धि होती है वह उपयोगी और उचित है; जिस कार्य से मानव को दुःख प्राप्त होता है वह अनुपयोगी और अनुचित है। मानव के सभी कार्यों की कसौटी उपयोगिता है। वह व्यक्ति के सुख में वृद्धि या कमी, कार्य के औचित्य-अनौचित्य, आनन्ददायक या आनन्दरहित व्यक्तियों की स्थिति आदि का निर्णय करने का प्रभावशाली सिद्धान्त है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन से ही नहीं, अपितु प्रशासनिक कार्यों से भी है। मनुष्य के कार्य सुख-दुःख पर आश्रित हैं और यही सुख-दुःखवादी उपयोगिता है। सारे भौतिक कार्य उपयोगिता से ही निर्धारित होते हैं। उपयोगितावादी सिद्धान्त को समझाते हुए बेन्थम का कथन है कि "उपयोगितावादी सिद्धान्त से हमारा आशय उस सिद्धान्त से है जिससे सम्बन्धित

1 वेपर : वही, पृष्ठ 112.

व्यक्ति की प्रसन्नता बढ़ती या घटती है और जिसके आधार पर वह प्रत्येक कार्य को उचित या अनुचित ठहराता है अथवा दूसरे शब्दों मे जिससे सुख मिलता है या सुख नष्ट होता है। मैं यह बात प्रत्येक कार्य के लिए कहता हूँ और इसीलिए मेरी यह बात केवल किसी व्यक्ति पर ही नहीं, वरन् प्रत्येक सरकारी कार्य के सम्बन्ध में लागू होती है।"[1] बेन्थम के अनुसार, "सुख और दुःख ही मानव-जीवन को गति प्रदान करते हैं। प्रकृति ने मानव-समाज को दो सर्वाधिक-सम्पन्न स्वामियों—सुख और दुःख के अधीन रख दिया है। इन स्वामियों का यही कर्त्तव्य है कि वे हमें निर्देश दें कि हमे क्या करना चाहिए तथा निर्णय करें कि हम क्या कर सकते हैं?"[2]

प्रकट है कि बेन्थम के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता का एकमात्र मापदण्ड यह है कि वह कहाँ तक सुख मे वृद्धि करती है और दुःख को कम करती है। बेन्थम और उसके अनुयायियों ने उपयोगिता की एकदम सुखवादी (Hedonistic) व्याख्या की है। बेन्थम के अनुसार, "उपयोगिता का सिद्धान्त इस बात मे है कि हम अपने तर्क की प्रक्रिया मे सुख और दुःख के तुलनात्मक अनुमान को अपना प्रारम्भ-बिन्दु मान कर चलते हैं। जब मैं अपने किसी कार्य (व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक) की अच्छाई अथवा बुराई का निर्णय इस बात से करता हूँ कि उसकी प्रवृत्ति सुख-वृद्धि की है या दुःख की, जब मैं न्यायपूर्ण, अन्यायपूर्ण, नैतिक, अनैतिक एव अच्छे अथवा बुरे शब्दों को प्रयुक्त करता हूँ जिससे किसी निश्चित सुख के तुलनात्मक माप का ही बोध होता है और जिनका कोई दूसरा अर्थ नही होता तो मैं उपयोगितावादी सिद्धान्त का ही अनुसरण करता हूँ। इस सिद्धान्त का अनुयायी किसी कार्य-विशेष को केवल इसलिए अच्छा समझता है कि इसके फलस्वरूप सुख की वृद्धि होती है और इसी भाँति वह किसी कार्य-विशेष को बुरा भी इसलिए समझता है कि उसका परिणाम दुःख होता है।" स्पष्ट है कि उपयोगितावादियों के विचारों में सुख स्वयं ही जीवन का साध्य है, शेष सब भौतिक वस्तुएँ यहाँ तक कि सदाचार भी सुख-प्राप्ति के साधन-मात्र हैं।

बेन्थम के अनुसार सुख चार प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है—(1) धर्म द्वारा, (2) राजनीति द्वारा, (3) नीति द्वारा, एव (4) भौतिक साधनों द्वारा।[3] यदि किसी मनुष्य को धर्म मे विश्वास करने मे सुख मिलता है तो उसे 'धर्म-प्रदत्त' सुख कहा जाएगा; यदि किसी व्यक्ति को राजनीति मे सुख की उपलब्धि होती है तो उसे 'राजनीति-प्रदत्त' सुख की सज्ञा दी जाएगी। इसी प्रकार यदि किसी को नैतिक कार्य करने से सुख की अनुभूति होती है तो उसे 'नैतिक सुख' कहा जाएगा एव यदि आँधी, जल, वर्षा आदि से कोई लाभ होता हो तो वह 'प्राकृतिक सुख' कहलाएगा। बेन्थम की मान्यता है कि अपने-आप मे कोई चीज भली-बुरी नही होती, उपयोगिता के आधार पर वह भली-बुरी हो जाती है। मनुष्य के कार्य करने का प्रयोजन सुख की प्राप्ति है। मनुष्य सदैव सुख से प्रेरित होता है और दुःख से बचना चाहता है।

1-2 *Bentham* : Principles of Morals and Legislation, p. 2.
3 *Jones* : Masters of Political Thought, Vol. 2, p. 372.

बेन्थम की यह भी मान्यता है कि व्यक्ति के सुख की गुणात्मकता मे कोई अन्तर नहीं होता, सुख-दु.ख के भेद केवल मात्रात्मक हैं । उनका कथन है कि "सुख की मात्रा बराबर होने पर बच्चों का खेल और काव्य का अध्ययन एक ही कोटि के हैं ।"[1]

तर्क प्रधान अथवा वैज्ञानिक पद्धति अपनाने के कारण बेन्थम की धारणा है कि जिस प्रकार एक भौतिकशास्त्री भौतिक व्यापार की सुनिश्चित नाप-तोल करता है उसी प्रकार प्रत्येक सामाजिक घटना की भी नाप-तोल की जानी चाहिए । बेन्थम की हार्दिक इच्छा थी कि सुख-प्राप्ति के लिए मानवीय कार्यों को अनुशासित करने वाले नियमों की खोज की जाए और उन्हे एक गणितीय सूत्र की तरह सुनिश्चित रूप प्रदान किया जाए । बेन्थम ने इसी दिशा मे प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप उपयोगितावादी सिद्धान्त मे 'नैतिक एव राजनीतिक घटना-व्यापार के मात्रा-प्रधान निर्धारण को जन्म दिया ।' बेन्थम की यह धारणा सभी उपयोगितावादियो के विश्वास का केन्द्र बन गई कि मानव-समाज के सम्पूर्ण कार्यकलापो का सचालन पूर्णतः तार्किक नाप-तोल द्वारा होना चाहिए । इसी धारणा मे बेन्थम अपना सुखवादी मापक-यन्त्र (Hedonistic Calculus) विकसित करने की दिशा में प्रेरित हुआ ।

सुख-दुःख का वर्गीकरण और उनका मापदण्ड

हीडोनिस्ट आचारशास्त्रियो की भाँति बेन्थम का भी यह मत था कि सुख और दु ख को मापा जा सकता है । एक की कुछ निश्चित मात्रा दूसरे की उसी तरह की मात्रा का निराकरण कर सकती है । सुख और दु ख को जोडा भी जा सकता है । इस तरह से हम सुखो की गणना कर सकते हैं जिससे व्यक्ति के अधिकतम सुख की भी अभिव्यक्ति होगी और मानव समुदाय के अधिकतम सुख की भी । इस गणना मे बेन्थम ने सुख अथवा दु ख के चार रूप माने हैं—गहनता, अवधि, निश्चितता जिससे वह किसी कार्य को करेगा, तथा समय की दूरी जिसके अनुसार वह घटित होगा । चूँकि एक का सुख या दु ख दूसरे को प्रभावित करेगा, अत. इसकी ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए । सामाजिक गणना मे हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि सुख अथवा दु ख का कितने व्यक्तियो पर प्रभाव पडता है । बेन्थम प्राय इस तरह की बात किया करता था मानो उसको यह विश्वास हो कि मनुष्य सदैव ही सुख और दु ख की मानसिक शक्तियो से प्रेरित होकर कार्य करते हैं । लेकिन, कभी-कभी वह यह भी कहता था कि सुखो को जोडने की बात और विशेषकर विभिन्न व्यक्तियों के सुखो को जोडने की बात काल्पनिक है, तथापि यह निश्चित है कि वह इस कल्पना को "एक प्रकार की आवश्यकता समझता था जिसके बिना समस्त राजनीतिक चिन्तन जड हो, जाता है ।" उसमे मनोवैज्ञानिक निरीक्षण की न तो कोई विशेष योग्यता ही थी और न विशेष रुचि ही । लेकिन, वह "आचार-विज्ञानो का न्यूटन बनना चाहता था । वह अपनी मनोवैज्ञानिक कल्पनाओ को उन कल्पनाओ से अधिक उग्र नहीं मानता था जो यन्त्र-विज्ञान मे उपयोगी प्रमाणित हुई थीं ।"[2]

1 "Quantity of Pleasure being equal pushpin is as good as poetry."
2 सबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 637.

बेन्थम ने सुख और दु ख को दो भागो मे विभाजित किया है—
(1) सामान्य, एव (2) जटिल ।

बेन्थम ने सामान्य सुख के अग्रलिखित 14 भेद बतलाए हैं—(1) भार से मुक्ति सम्बन्धी सुख, (2) सगति सम्बन्धी सुख, (3) आशाजन्य सुख, (4) काल्पनिक सुख, (5) स्मरण सुख, (6) निर्दयता सम्बन्धी सुख, (7) दया सम्बन्धी सुख, (8) धर्म से उत्पन्न सुख, (9) शक्ति-सुख, (10) यश का सुख, (11) मित्रता का सुख, (12) कुशलता का सुख, (13) सम्पत्ति-जन्य सुख एवं (14) ऐन्द्रिक सुख ।

बेन्थम के अनुसार सामान्य दु ख के अग्रलिखित 12 भेद हैं-(1) सम्पर्क, (2) आशा, (3) कल्पना, (4) स्मरण, (5) निर्दयता, (6) दया, (7) धार्मिकता, (8) कुयश, (9) शत्रुता, (10) परेशानी, (11) दुर्भावना एव (12) दरिद्रता ।

बेन्थम के अनुसार परिणाम अथवा मात्रा को ध्यान मे रखते हुए सुख या दुःख उसी अनुपात मे कम या अधिक हो सकता है । सुख-दु:ख की मात्रा निर्धारित करने के लिए बेन्थम ने एक सुखवादी मापक-यन्त्र प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार माप-तोल करके सरकार यह ज्ञात कर सकती है कि उसके अमुक कार्य की सामान्य प्रवृत्ति सुख-वृद्धि है अथवा नही । सुख-दु ख का मापदण्ड स्थापित करने के लिए उसने निम्नलिखित बातो के ज्ञान पर बल दिया है—

(1) तीव्रता (Intensity), (2) कालावधि (Duration), (3) निश्चितता (Certainty), (4) समय की निकटता (Propinquity), अथवा दूरी (Remote ness), (5) जनन-शक्ति (Fecundity), (6) विशुद्धता (Purity), तथा (7) विस्तार (Extent) ।

सुख-दु:ख के इन मापदण्डो के आधारो मे जनन-शक्ति (Fecundity) और विशुद्धता (Purity) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं । किसी सुख की जनन-शक्ति का आशय है उसके पीछे उसी प्रकार के अन्य सूत्र भी हो । बौद्धिक सुखो मे यह गुण एक बडी सीमा तक होता है, ऐन्द्रिक सुखो मे नहीं । किसी सुख की विशुद्धता का अभिप्राय है उसके पीछे उसकी विपरीत भावनाएँ उत्पन्न न हो । बौद्धिक सुख इसी प्रकार का विशुद्ध सुख है क्योकि उससे दु ख उत्पन्न होने की सम्भावना नही होती । इसके विपरीत ऐन्द्रिक सुख अशुद्ध होते हैं क्योकि उनका अधिक भोग करने से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है । उनका अधिक रसास्वादन हमारी पाचन-शक्ति को दुर्बल बनाता है।

बेन्थम के अनुसार, प्रथम 6 बातें तो व्यक्तिगत सुख-दु ख की मापदण्ड है, किन्तु समूह अथवा अनेक व्यक्तियो के सुख का जब परिमाण ज्ञात करना होता है तो उसमे हम 'विस्तार' (Extent) पर ध्यान देते हैं । व्यक्ति को कौन-सा कार्य करना उपयोगी होगा—इसके लिए उसके उपर्युक्त सातो आधारो पर अक देकर, अधिक अक वाले आधार से कार्य करना होगा । बेन्थम के अनुसार उपर्युक्त कारको का प्रयोग करके हम न केवल सुख-दुःख माप सकते हैं, बल्कि इनके द्वारा धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं नैतिक विश्वासो तथा मूल्यो का निर्णय भी कर सकते हैं। सुख-दु ख की गणना करने के बेन्थम के इस सिद्धान्त को राजदर्शन

के इतिहास में 'Hedonistic Calculus' कहते हैं। बेन्थम की मान्यता है कि प्रत्येक का उद्देश्य अधिकतम सुख प्राप्त करना है, अतः उसे सदैव ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे निश्चित, विशुद्ध, लाभदायक, स्थिर और तीव्र सुख उत्पन्न हो।

बेन्थम ने सुख-दुःख का व्यापक अन्तर बनाने के लिए 32 लक्षणों के आधार पर उनका वर्गीकरण किया है। इनमें प्रमुख शारीरिक रचना, संवेदनशीलता चरित्र-निर्माण, शिक्षा, जाति, लिंग आदि हैं जिनका सुख की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है।

अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए बेन्थम ने आगे कहा है कि सुख कुछ ऐसे होते हैं जिनमें तीव्रता होती है किन्तु स्थायित्व नहीं होता अतः उनसे कुछ दुःख उत्पन्न होता है इसके विपरीत कुछ सुख विशुद्ध होते हैं और उनका स्थायित्व भी अधिक होता है, उनमें तीव्रता अधिक नहीं होती। इन विशुद्ध सुखों का परिणाम प्रायः दुःख नहीं होता अतः हमें सुख को विशेष मूल्यवान् बनाने की ओर ही सदैव प्रयत्नशील होना चाहिए। सुख-दुःख की गणना करके किसी एक निश्चित परिणाम पर पहुँचने के लिए बेन्थम ने जो प्रक्रिया बनाई है वह इस प्रकार है—"समस्त सुखों के समस्त मूल्य को एक ओर तथा समस्त दुःखों के समस्त मूल्य को दूसरी ओर एकत्रित कर लेना चाहिए। यदि एक को दूसरे में से घटाकर सुख शेष रह जाए तो उसका अभिप्राय यह होगा कि अमुक कार्य ठीक है (अथवा सम्बन्धित कार्य की प्रवृत्ति सुख की ओर है) और यदि दुःख शेष रहे तो यह समझ लेना चाहिए कि अमुक कार्य ठीक नहीं है, क्योंकि उसका परिणाम दुःख होता है।"[1] बेन्थम के अनुसार, यदि किसी कार्य का प्रभाव दूसरों पर भी पड़ता हो तो यह उचित है कि हम उपर्युक्त प्रक्रिया को उनमें से प्रत्येक पर भी लागू करें और उनके हितों को भी ध्यान में रखें। यही 'सुख का विस्तार' (Extent of Happiness) है।

जब प्रत्येक सम्बन्धित और प्रभावित व्यक्ति पर इस प्रक्रिया का प्रयोग कर लिया जाए तो दुःखों के योग को सुखों में से घटा लेने पर जो सुख शेष रहेगा, वह इस बात का प्रमाण होगा कि अमुक कार्य शुभ और कल्याणकारी है। इसके विपरीत यदि सुख की अपेक्षा दुःख अधिक निकले तो इसका स्वाभाविक अर्थ होगा कि अमुक कार्य या घटना अशुभ और अवांछनीय है। विधायक (Legislator) को कानून बनाते समय चाहिए कि वह सुखों के सम्पूर्ण महत्त्व को एक ओर तथा दुःखों के महत्त्व को दूसरी ओर रखकर उनकी परस्पर तुलना करे। जो शेष रहे, यदि वह सुख के पक्ष में है तो यह मानना चाहिए कि कानून प्रत्येक नागरिक के लिए सुखदायक है। इसके विपरीत शेष दुःख के पक्ष में हो तो यह समझ लेना चाहिए कि कानून जन-साधारण के लिए कष्टकारक है। बेन्थम की यह भी मान्यता थी कि "यह आशा नहीं की जानी चाहिए कि इस पद्धति को सब प्रकार के सदाचार, सांविधानिक अथवा न्याय-सम्बन्धी आधारों से अधिक महत्त्व दिया जाए। यह सदा ध्यान में रखना होगा कि इस पद्धति को ऐसे अवसरों पर जितना अधिक अपनाया जाएगा उतना ही अधिक इसके आधार पर किया गया निर्णय सही होगा।"

1 *Bentham* : Principles of Morals and Legislation, p. 31.

बेन्थम ने व्यक्तिगत सुख को अधिक महत्त्व देने के बाद सामाजिक सुख को भी महत्त्व दिया। इस प्रकार उसने उपयोगितावाद को व्यक्ति से ऊपर उठाकर विकसित किया क्योंकि व्यक्ति ही सब कुछ नहीं है, उसे सर्वसाधारण की भलाई का भी ध्यान रखना चाहिए। एक व्यक्ति के सुख की अपेक्षा अधिक लोगों का सुख अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। राज्य का उद्देश्य एवं लक्ष्य 'अधिक व्यक्तियों का अधिकतम सुख' (Greatest Happiness of the Greatest Number) होना आवश्यक है। उपयोगिता का सिद्धान्त ही सब कार्यों के औचित्य का मापदण्ड है। राज्य के वही कार्य उपयोगी हैं जो अधिकाधिक व्यक्तियों को सुख पहुँचाते हैं।

बेन्थम का राजदर्शन
(Bentham's Political Philosophy)

बेन्थम कोई राज-दार्शनिक नहीं था और न ही उसका ध्येय किसी राजदर्शन को प्रतिपादित करना था इसलिए एक महान् दार्शनिक की अपेक्षा उसे एक व्यावहारिक 'राज्य-सुधारक' कहना अधिक उपयुक्त है, जिसने अपने सुधारवादी कार्यक्रम की पृष्ठभूमि के लिए राज्य सम्बन्धी कतिपय विचारों का प्रतिपादन किया। उसके इन राज्य-विषयक विचारों को ही हम उसके राजदर्शन के मूल तत्त्व की संज्ञा दे सकते हैं। राज्य के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए बेन्थम ने राज्य के स्वरूप, सम्प्रभुता, विधि एवं दण्ड आदि विषयों को स्पर्श किया।

बेन्थम के राजदर्शन के दो भाग—बेन्थम के सम्पूर्ण राजदर्शन को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—निषेधात्मक एवं विधेयात्मक। निषेधात्मक भाग का सम्बन्ध उन विचारों से है जिनके द्वारा उसने अपनी पूर्ववर्ती राजनीतिक धारणाओं का खण्डन किया है। इस पक्ष में हम उसे एक क्रान्तिकारी विचारक के रूप में देखते हैं और इसीलिए उसे क्रान्तिकारी 'Radical' तक कह दिया जाता है। विधेयात्मक भाग का सम्बन्ध उन विचारों से है जो उसने कतिपय राज्य सम्बन्धी विषयों पर प्रकट किए हैं। इस भाग में विधि, सम्प्रभुता आदि से सम्बन्धित विचार सम्मिलित हैं।

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का खण्डन

की आदर्शवादी और काल्पनिक सिद्धान्त में बेन्थम कोई रुचि नहीं थी। उसने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को अधिक महत्त्व दिया और अपने समकालीन समाज की समस्याओं का हल खोजने की चेष्टा की। उसने ब्रिटिश कानून और न्यायिक प्रक्रिया की अनेक अस्पष्टताओं और अनुपयोगी औपचारिकताओं को खोज निकाला और उन्हें दूर करने की माँग की पर अपनी उचित माँगों का उसे यही प्रत्युत्तर मिला कि ब्रिटिश कॉमन लॉ (British Common Law) अति प्राचीन और शताब्दियों के विकास का फल है तथा विख्यात न्यायविदों ने उसे विकसित करने में योग दिया है, अतः ऐसे कॉमन लॉ के बारे में आपत्ति उठाना हास्यास्पद है। बेन्थम की आत्मा विद्रोह कर उठी क्योंकि उसकी मान्यता थी कि किसी संस्थान की प्राचीनता तथा उससे सम्बन्धित व्यक्तियों की ख्याति उस संस्थान की श्रेष्ठता का

न्याय-संगत एवं निश्चित प्रमाण नही हो सकती। उसने घोषणा की कि विधियाँ समाज की वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप होनी चाहिए। प्राचीन विधियों के मूल्यांकन और नवीन विधियों के निर्माण की उचित कसौटी सामाजिक हित है।

अपनी इस व्यावहारिक बुद्धि एवं धारणा से प्रेरित होकर बेन्थम ने लॉक द्वारा विशेष रूप से प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारों (Natural Rights) के सिद्धान्तों को पूर्णतः अमान्य ठहरा दिया। उसने प्राकृतिक अधिकार सम्बन्धी विचारधारा को 'मूर्खतापूर्ण', 'कल्पित तथा आधारहीन अधिकार' एवं 'आध्यात्मिक तथा विभ्रम और प्रमाद का एक गड़बड़-घोटाला' बताया। लॉक ने प्राकृतिक अवस्था की कल्पना करते हुए उस दशा को 'शान्ति', 'सहयोग' और 'स्थिरतापूर्ण' माना था। उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे कुछ प्राकृतिक नियम (Natural Laws) तथा प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) प्रचलित थे। ये व्यक्ति की प्रारम्भिक दशा के मौलिक अधिकार थे। लॉक की मान्यता थी कि प्राकृतिक अधिकार राज्येतर हैं और उनकी रक्षा करने के लिए ही मनुष्य ने राज्य को जन्म दिया है। राज्य द्वारा प्राकृतिक *अधिकारो के सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण करने पर व्यक्ति को यह भी अधिकार है* कि वह राज्य के प्रति विद्रोह कर दे पर बेन्थम ने लॉक के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहा कि इससे व्यक्तियो के सुख मे कोई वृद्धि नही होती। प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त का खण्डन करने मे बेन्थम ने 'अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख' वाले उपयोगितावादी सूत्र का आश्रय लिया। तदनुसार केवल वही सिद्धान्त मान्य और उचित है जो समाज के अधिकाधिक व्यक्तियों को अधिकाधिक सुख प्रदान करे। *'अधिकतम् व्यक्तियो के अधिकतम सुख' मे कोई रचनात्मक योग न दे सकने* वाला सिद्धान्त व्यर्थ और त्याज्य है। बेन्थम ने कहा कि अधिकारो का निर्माण तो सामाजिक परिस्थितियों से होता है। "अधिकार मानव के सुखमय जीवन के नियम *हैं जिन्हें राज्य के कानून द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है। राज्य ही सम्पूर्ण* अधिकारो का स्रोत है और नागरिक राज्य के विरुद्ध अपने किसी भी प्रकार के प्राकृतिक अधिकारों का दावा नही कर सकते। कोई भी अधिकार राज्य के सीमा-*क्षेत्र के बाहर नहीं है। सभी अधिकार राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव हैं।* बेन्थम का कहना था कि वही अधिकार श्रेष्ठ है जो समाज के अधिकाधिक व्यक्तियो के लिए उपयुक्त हो।"[1]

सैद्धान्तिक रूप से प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त बहुमत की निरकुशता को मर्यादित करने वाला प्रतीत होता है, किन्तु व्यवहार मे ऐसा नहीं है। फ्रांस मे मानव-अधिकारो की घोषणा उन हजारो व्यक्तियों मे से किसी की भी प्राण-रक्षा नहीं कर सकी जिन्हें फ्रांस के क्रान्तिकारी न्यायालयो के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। इसी प्रकार अमेरिका की स्वाधीनता की घोषणा ने भी एक हब्शी की दासता से मुक्ति प्रदान नहीं की। आदर्शवादी काल्पनिक विचारो से चिढ़े हुए बेन्थम ने 'समानाधिकार' के सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए लिखा है, "पूर्ण समानता नितान्त असम्भव है और यह सब प्रकार के शासन-तन्त्र की विरोधी है। क्या वास्तव मे सब मनुष्य स्वतन्त्र

1 *B.ntham* : op. cit., p. 1.

उत्पन्न होते हैं ? क्या वास्तव मे सब मनुष्य स्वतन्त्र रहते हैं ? वास्तव में सब मनुष्य, बिना एक भी अपवाद के दासता की स्थिति मे जन्म लेते हैं ।"[1]

अनुबन्धवादी धारणा का खण्डन

बेन्यम ने राज्य की उत्पत्ति के अनुबन्धवादी और सावयव सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया । समझौता-सिद्धान्त द्वारा आज्ञा-पालन के कर्त्तव्य का कोई निश्चित प्रतिपादन नही होता । व्यक्ति राजाज्ञा का पालन इसलिए नहीं करता है कि उसके पूर्वजो ने इसके लिए कोई समझौता किया था । व्यक्ति इसके लिए किसी ऐतिहासिक समझौते द्वारा बाध्य नही है । वह राज्य की आज्ञा इसलिए मानता है क्योकि ऐसा करना उसके लिए उपयोगी है । राजनीतिक समाज, राज्य, अधिकार, कर्त्तव्य आदि किसी समझौते या सहमति से उत्पन्न नही हुए हैं । उनके उत्पन्न होने चालू रहने और सफल होने मे वर्त्तमान रुचि तथा उपयोगिता की भावना प्रबल रही है । सामाजिक उपयोगिता के विचार से ही राज्य का जन्म हुआ । मनुष्य राज्य और उसकी आज्ञा को इसलिए शिरोधार्य करता है जिससे उसके द्वारा उसकी सुख-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो इसीलिए वह विधियो का पालन करता है । इस प्रकार राजाज्ञा-पालन की वह एक आदत डाल लेता है ।[2] जिस समूह मे इस प्रकार की आदतें बन जाती हैं, अथवा बनती जाती हैं, वह राजनीतिक समाज कहा जाने लगता है अतः आदत ही समाज और राज्य का आधार है, समझौता नही ।

बेन्थम की राज्य-सम्बन्धी धारणा का उपयोगितावादी आधार

बेन्थम के राजदर्शन का निर्माण उपयोगितावादी आधार पर हुआ है । वह राज्य को मनुष्यो का ऐसा समूह समझता है, जिसे मनुष्य ने अपनी सुख-वृद्धि के लिए सगठित किया है । वह राज्य के उद्देश्य की व्याख्या सर्वप्रथम सकुचित रूप मे करता है । उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य है 'अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख' (The Greatest Happiness of the Greatest Number) । व्यक्ति के चरित्र का सर्वोत्कृष्ट विकास करना राज्य का कोई कर्त्तव्य नही है । इस प्रकार बेन्थम, प्लेटो एव अरस्तू की इस धारणा का विरोधी है कि राज्य का उद्देश्य एक अच्छे अथवा नैतिक जीवन का विकास करना है । साथ ही, वह रूसो के इस विचार से भी सहमत नही है कि राज्य का लक्ष्य व्यक्ति को 'अधिकतम वास्तविक स्वतन्त्रता' प्रदान करना है ।

बेन्थम की राज्य सम्बन्धी धारणा मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि "अधिकतम सुख राज्य के सदस्यो के व्यक्तिगत सुखो का एक योग मात्र है जिसमे समस्त समाज का सामूहिक हित शामिल नहीं है ।" इस प्रकार बेन्थम के लिए व्यक्ति ही अन्तिम सत्य है । समाज उसकी दृष्टि मे एक ऐसा काल्पनिक निकाय है जिसको उसके घटक नागरिको के अस्तित्व के अतिरिक्त अपनी कोई निजी सत्ता नही है । राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है व्यक्ति का राज्य के लिए नहीं । यद्यपि बेन्थम का मनुष्य की स्वाभाविक अच्छाई में विश्वास नही है, तथापि वह पेन, रूसो अथवा

1 *Jones* : Masters of Political Thought, Vol. II.
2 *Dunning* : Political Theories from Rousseau to Spencer, p. 218.

लॉक आदि के स्तर के व्यक्तिवाद का समर्थक है। उसके शब्दों मे, "समाज एक कृत्रिम सगठन है जो इसके सदस्य माने जाने वाले व्यक्तियो से बना है। व्यक्ति के कल्याण की बात समझे बिना समाज-कल्याण की चर्चा करना व्यर्थ है। किसी भी वस्तु को *हितकारी अथवा किसी व्यक्ति के लिए लाभदायक तभी कहा जाता है जब* वह उसके सुखो के योगफल मे वृद्धि करे अथवा दूसरे शब्दो मे उसके दु खो के योगफल मे कमी करने मे सहायक हो।"[1]

बेन्थम के अनुसार राजाज्ञा के पालन का वास्तविक कारण यह नही है कि "हमारे पूर्वजो मे आज्ञा-पालन करने का कोई समझौता हुआ था, और न ही उसका कारण हमारी अनुमति है।" उसके अनुसार राज्य की आज्ञा का पालन मनुष्य इसलिए करते हैं कि ऐसा करना उनके लिए उपयोगी है और आज्ञा-पालन के *सम्भावित दोष अवज्ञा के सम्भावित दोषो की अपेक्षा कही कम हैं।*

बेन्थम के मत मे कोई भी सरकार तभी तक अस्तित्व मे रह सकती है जब तक प्रजा उसका साथ देती है। राज्य नागरिकों को सामान्य हित मे निजी हित बलिदान करने के लिए पुरस्कार एव दण्ड-व्यवस्था द्वारा प्रेरित कर सकता है। यदि सरकार अपने प्रमुख कर्त्तव्य अर्थात् समाज के सामान्य सुख का ध्यान करने का पालन नही करती तो जनता को उसकी आज्ञा की अवहेलना करने का अधिकार है। बेन्थम का यह मत है कि राज्य एक विधि-निर्माता निकाय है, न कि एक नैतिक समुदाय *जिसका ध्येय जनता का नैतिक कल्याण हो।*

कानून सम्बन्धी धारणा (Theory of Law)

बेन्थम के अनुसार राज्य एक विधि-निर्माता निकाय है, अत. जनता के साथ इसका सम्बन्ध कानून द्वारा स्थापित हो सकता है। इस प्रकार कानून सम्प्रभु का आदेश है। सम्प्रभु की इच्छा ही कानून के रूप मे प्रकट होती है। उसकी यह धारणा हॉब्स के अनुरूप ही है। बेन्थम का कथन है कि सम्प्रभु के निश्चित आदेशो अर्थात् कानूनो का पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है क्योंकि इस आज्ञा-पालन मे ही उसका और सबका कल्याण निहित है। दूसरे शब्द मे कानूनो की उपयोगिता स्वय-सिद्ध है, अतः उनका पालन होना चाहिए। प्राकृतिक कानूनो को अस्वीकार करते हुए बेन्थम ने मुख्यतः दो ही कानून माने हैं—दैवी तथा मानवीय। दैवी कानून या तो रहस्यमय हैं या ज्ञानातीत। उनका स्वरूप भी निश्चित नही है। *अतः मानवीय कानूनो का निश्चित रूप राज्य के लिए आवश्यक है। बेन्थम की* परिभाषा के अनुसार, "कानून एक राजनीतिक समाज के आदेशो के रूप मे सम्प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति हैं जिनका सदस्य स्वभाव से पालन करते हैं।"[2] प्रत्येक राज्य मे सम्प्रभु मानव सस्था द्वारा निर्मित कुछ कानून अवश्य होने चाहिए।

1 *Bentham* : op. cit., p. 1.
2 "Law is the expression of the sovereign will in the form of a command of a political society which gets the natural obedience of its members"
—*Bentham*

बेन्थम की दृष्टि मे "कानून एक आदेश है, एक प्रतिबन्ध है और इसलिए यह स्वतन्त्रता का शत्रु है।" जीवन की उपयोगितावादी योजना मे स्वतन्त्रता का कोई विशेष स्थान नही हो सकता। स्वतन्त्रता सुख का कोई आवश्यक तत्त्व नही है, अतः इसे सुख के सामने समर्पण कर देना चाहिए। मनुष्य को सुरक्षा की आवश्यकता है स्वतन्त्रता की नही, इसीलिए स्वतन्त्रता को 'एक स्वाभाविक तथा अमर अधिकार' समझने की भूल नही करनी चाहिए। अतः स्पष्ट है कि लॉक, मॉण्टेस्क्यू, रूसो आदि ने जिस वैयक्तिक स्वतन्त्रता को शीर्षस्थ स्थान दिया, बेन्थम ने उसे अपने चिन्तन मे कोई महत्त्व प्रदान नही किया। बेन्थम के लिए "सुख ही एकमात्र अन्तिम कसौटी है और स्वतन्त्रता को उसी कसौटी पर कसा जाना चाहिए। राज्य का ध्येय अधिकतम सुख है, अधिकतम स्वतन्त्रता नही।"[1] बेन्थम की विचारधारा मे स्वतन्त्रता को जो गौण स्थान प्राप्त है, उसे प्रो. सोरले (Sorley) ने बड़े सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है—

"कानून का मुख्य उद्देश्य सुरक्षा है और सुरक्षा के सिद्धान्त का आशय उन सभी आशाओ को कायम रखना है जिन्हे स्वय कानून उत्पन्न करता है। सुरक्षा सामाजिक जीवन और सुखी जीवन की एक आवश्यकता है जबकि समता (Equality) एक प्रकार की विलासिता है जिसे कानून केवल उसी सीमा तक प्राप्त करा सकता है जहाँ तक उसका सुरक्षा से कोई विरोध न हो। जहाँ तक स्वतन्त्रता का सम्बन्ध है यह कानून का कोई मुख्य उद्देश्य नहीं है, बल्कि यह तो सुरक्षा की एक ऐसी शाखा मात्र है जिसमे कानून काट-छांट किए बिना नही रह सकता।"[2]

बेन्थम ने विधि-निर्माण के लिए अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त को प्रयोग करने की राय दी है। प्रत्येक विधि को सर्वाधिक लोगो के सर्वाधिक कल्याण के उद्देश्य से ही बनाना चाहिए। सेबाइन (Sabine) के अनुसार, "बेन्थम का विश्वास था कि अधिकतम सुख का सिद्धान्त एक कुशल विधायक के हाथो मे एक प्रकार का सार्वभौम साधन प्रदान करता है। इसके द्वारा वह 'विवेक तथा विधि के हाथो सुख के वस्त्र' बनवा सकता है।"[3] बेन्थम ने राजसत्ता द्वारा निर्मित प्रत्येक विधि को उसकी उपयोगिता की कसौटी माना है। विधियो की उपयोगिता तीन प्रकार से सिद्ध होती है—(1) वह राज्य के प्रत्येक नागरिक को सुरक्षा प्रदान करती है या नही, (2) उससे लोगो की आवश्यकता की वस्तुएँ यथेष्ट मात्रा मे उपलब्ध होने लगती हैं या नही, एव (3) प्रत्येक नागरिक एक दूसरे के साथ समानता का अनुभव करता है या नही। यदि विधियां इन कसौटियो पर उपयोगी सिद्ध होती हैं, तो विधि का लक्ष्य पूरा हो जाता है। विधियां अपने स्थायित्व और अपनी समाजव्यापी मान्यता

1 "Happiness is the only ultimate criterion and liberty must submit itself to that criterion. The end of the state is the maximum happiness not the maximum liberty." —*Wayper* : op. cit., p 96.

2 *Sorley* : History of Political Philosophy, p. 277.

3 सेबाइन: राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 638.

से नागरिकों को सुख देती हैं। किसी विधि की उपयोगिता की जाँच करने के लिए यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि (क) जिस बुराई को दूर करने के लिए विधि-निर्माण होता है वह वास्तव में बुराई है, और (ख) यदि एक बुराई को रोकने के लिए दूसरा साधन अपनाना ही पड़े, तो साधन की बुराई अपेक्षाकृत कम होनी चाहिए। बेन्थम का विचार था कि प्रत्येक विधि व्यक्तियों को, जिन्हें वह प्रभावित करती है, कुछ न कुछ असुविधा तो पहुँचाती ही है—उनकी स्वच्छन्दता में कमी होती है जिससे उन्हें दुःख होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से प्रत्येक विधि एक बुराई है।[1] लेकिन चूंकि इस असुविधा में भी लोगों की भलाई निहित है और एक बड़ी बुराई इससे दूर होती है, अतः विधि-निर्माण उपयोगी है। राज्य का उद्देश्य यही होना चाहिए जो व्यक्ति के जीवन का है अर्थात् उपयोगिता में वृद्धि।[2]

बेन्थम ने 'अवभाव्यम् या अहस्तक्षेप की नीति' (Laissez Faire) को अपनाकर मुक्त-व्यापार एवं स्वच्छन्द प्रतियोगिता आदि का समर्थन किया है। सत्ता का आधार उपयोगिता है, अतः लोकतन्त्रात्मक राज्यों में कानून को सरल होना चाहिए ताकि लोग उसे समझ सकें। साथ ही ऐसे कानूनों में लोगों के अधिकतम सुख का ध्यान रखा जाना चाहिए। बेन्थम ने कानून के दो कार्य बतलाए हैं—स्वहित तथा परहित। कानून का सर्वप्रमुख कार्य "सर्वहित की भावना को इस प्रकार अनुशासित करना है जिससे वह अपनी इच्छा के विरुद्ध भी अधिकतम सुख प्राप्ति में योग दे सके।" यदि कोई कार्य समाज-हित के विरुद्ध है तो वह दण्डनीय है। अधिकारों और कर्त्तव्यों का निर्धारण करते समय बेन्थम ने यह स्पष्ट कहा है कि विधायक को राज्य के हितों को भी अपने हितों के समान ही समझना चाहिए। उसे विधि-निर्माण में निम्नलिखित चार बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए—(1) आजीविका (Subsistence), (2) प्रचुरता (Abundance), (3) समानता (Equality) और (4) सुरक्षा (Security)। विधि-कार्य को इनके सन्दर्भ में ही देखना चाहिए अर्थात् अधिकाधिक लोगों के हित में इन बातों का ध्यान रखते हुए ही विधि-निर्माण करना चाहिए। बेन्थम 'स्वतन्त्रता' को सुरक्षा में ही निहित मानता है। इन चार बातों में से संघर्ष की अवस्था में यह निर्णय करना विधायक का काम है कि प्रधानता किसे दी जाए। वैसे बेन्थम के अनुसार इस प्रधानता का क्रम सामान्यतः होना चाहिए—आजीविका, सुरक्षा, प्रचुरता, समानता।

बेन्थम ने इंग्लैण्ड के तत्कालीन कानूनों की आलोचना कर उन्हें नया रूप देने का प्रयास करते हुए कानूनों का वर्गीकरण चार भागों में किया था—अन्तर्राष्ट्रीय कानून, सांविधानिक कानून, नागरिक कानून और फौजदारी कानून। उसने 'कानून में सुधार' का आन्दोलन तीव्र कर श्रेष्ठ कानून के निम्न छः लक्षण बतलाए—

(1) कानून जनता की आशा-आकांक्षा या विवेक-बुद्धि के विपरीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसे कानूनों के प्रचलन से सामाजिक सन्तुलन बिगड़ कर विद्रोहो

1 *Jones* : op. cit., p. 377.
2 ... *entham* : Theory of Legislation, p. 28.

की मानसिक पृष्ठभूमि तैयार होती है। (2) कानूनों की जनता का ज्ञान होना चाहिए। इसके लिए प्रचार, उपक्रम, जनमत-निर्माण आदि का आश्रय लेना चाहिए। (3) कानूनों में विरोधाभास नहीं होना चाहिए और उपयोगिता का लक्ष्य कायम रहना चाहिए। (4) कानून-निर्माण सरल, स्पष्ट एवं सुबोध भाषा अथवा भाषाओं में होना चाहिए। (5) कानूनों को व्यावहारिक होना चाहिए, तथा (6) कानूनों का पूर्ण रीति से पालन होना चाहिए और कानून भंग के लिए आवश्यक दण्ड-व्यवस्था भी होनी चाहिए क्योंकि कानून भंग करके बच निकलना समाज में अराजकता का प्रथम चरण है।

न्याय-व्यवस्था (Administration of Justice)

बेन्थम ने न्याय-व्यवस्था में महान् सुधार किए। उसे न्याय के प्रतिपादन और दलित वर्ग के लोगों को सुखी देखने की तीव्र अभिलाषा थी। उसने तत्कालीन ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था की तीव्र आलोचना की। उसने चाहा कि न्याय-प्रशासन निरर्थक विधियों को नष्ट कर दे, अव्यावहारिक विधियों को त्याग दे एवं शेष की सुव्यवस्थित रूप से सरल, सुबोध तथा स्पष्ट शब्दों में व्याख्या करे। बेन्थम ने अपने देश की विधियों का अध्ययन जन-साधारण (जिनके लिए ये विधियाँ बनाई गई थीं) के दृष्टिकोण से किया। सेबाइन (Sabine) ने लिखा है कि बेन्थम के अनुसार, "सभी व्यवस्थाओं में विधान की उपयोगिता परखने का आधार यह है कि वह किस सीमा तक उपयोगी होता है, उसको कार्यान्वित करने में कितना व्यय आता है और उसमें किस सीमा तक विनियमों की एक ऐसी व्यवस्था स्थापित होती है जो समुदाय के अधिकांश सदस्यों के लिए लाभदायक सिद्ध हो। किसी कार्य को दायित्वपूर्ण बनाने के लिए उपयोगिता ही एकमात्र उचित आधार है। सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार सामान्य रूप से इसलिए उचित होते हैं क्योंकि वे सुरक्षा की भावना प्रदान करते हैं। जिस व्यक्ति के पास सम्पत्ति होती है, वह अपना प्रत्येक काम सोच-समझकर करता है तथा अनिश्चितता और निराशा से उत्पन्न होने वाली उलझनों से बच जाता है। सम्पत्ति के अधिकार से कुछ हद तक सामाजिक सुरक्षा का भाव उत्पन्न होता है। बेन्थम के मत से सम्पत्ति की सुरक्षा अधिकतम सुख प्राप्त करने की एक प्रधान शर्त है, लेकिन उसका विचार है कि यह एक अत्यधिक अनुदार सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय यह है कि सम्पत्ति के वितरण की कानून द्वारा रक्षा हो। उसकी यह दृढ़ नीति थी कि विधि द्वारा इस बात का प्रयास होना चाहिए जिससे सम्पत्ति का समान वितरण हो या कम से कम मनमानी असमानताओं का निर्माण न हो। व्यवहार में उसे सुरक्षा और समानता के बीच कामचलाऊ सन्तुलन स्थापित करना चाहिए।"[1]

ब्रिटिश न्याय-पद्धति की कटु आलोचना करते हुए बेन्थम ने आरोप लगाया था कि "ब्रिटेन में न्याय बेचा जाता है और वह व्यक्ति, जो इसका दाम नहीं चुका पाता, न्याय से वंचित रह जाता है।" बेन्थम को यह देखकर बड़ा क्षोभ होता था कि तत्कालीन ब्रिटिश न्याय-प्रशासन में न्यायाधीशों से साक्षात्कार का कोई साधन

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 640-42.

नहीं था। साधन केवल वकील थे जिन्हें बड़ी-बड़ी रकमें फीस के रूप में देनी पड़ती थीं। जन-साधारण को न्याय बहुत विलम्ब से मिलता था। न्याय व्यय-साध्य था और इसके बारे में लोग सदैव चिन्तित रहते थे। मुकदमों में वादी और प्रतिवादी दोनों पक्षों के लिए न्याय-प्राप्ति के मार्ग में प्रायः बाधाएँ खड़ी कर दी जाती थीं।

बेन्थम 'अदालतों की कार्य-विधि' को आसान करना चाहता था और उनकी कार्यक्षमता को बढ़ाना चाहता था। इसके लिए उसने उन सब प्रतिबन्धों और परिमाणों को हटाने का सुझाव दिया जो जन-साधारण के अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक समझे गए थे। बेन्थम ने *'फ्रेगमेंट ऑन गवर्नमेंट'* में सांविधानिक विधि के बारे में जिन सिद्धान्तों की सिफारिश की थी, उसने प्रक्रिया विधि में उन्हीं सिद्धान्तों को लागू किया। उसने यह ठीक ही कहा कि साक्ष्य की ग्राह्यता से सम्बन्धित वैधिक औपचारिकताएँ और कृत्रिम नियम इस विश्वास पर आधारित हैं कि मौलिक विधि निकृष्ट है और शासन भ्रांतिपूर्ण है। बेन्थम का तर्क था कि यदि यह विश्वास सही है तो उचित उपचार अदालतों को कमजोर करना नहीं बल्कि विधि में सुधार करना है। उसका कहना था कि विधि में औपचारिकता, अस्पष्टता और प्राविधिकता होने के कारण खर्चा बढ़ता है, देरी होती है, मुकदमेबाजी को बढ़ावा मिलता है, बहुत से लोगों को न्याय नहीं मिल पाता और वैधानिक प्रक्रियाओं का परिणाम सदैव अस्थिर तथा अनिश्चित रहता है। बेन्थम इस पद्धति को प्राविधिक पद्धति कहता था और उसका विचार था कि "यह जनता को ठगने के लिए वकीलों का एक प्रकार का षड्यन्त्र है।" उल्लेखनीय है कि बेन्थम ने *'फ्रेगमेंट ऑन गवर्नमेंट'* में ही वकीलों के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की थी और अपने सम्पूर्ण जीवन-काल में वह उनके प्रति इसी प्रकार के विचार प्रकट करता रहा।

बेन्थम की मान्यता थी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना वकील बनना चाहिए। वह एक विवाचक के सामने औपचारिक वकालत के स्थान पर अनौपचारिक कार्यवाही का समर्थक था। उसका कहना था कि विवाचक को दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने का प्रयास करना चाहिए। मुकदमे में कोई भी साक्ष्य उपस्थित किए जाने की व्यवस्था होनी चाहिए और असम्बद्धता के निवारण के लिए कठोर नियमों की अपेक्षा न्यायिक विवेक का आश्रय लिया जाना चाहिए। अदालतों के संगठन के बारे में बेन्थम का विचार था कि न्यायाधीशों और अदालतों के अन्य अधिकारियों को वेतन के स्थान पर फीसें दी जाएँ। बेन्थम को यह भी पसन्द नहीं था कि अदालतों के क्षेत्राधिकार एक दूसरे का अतिक्रमण करें। बेन्थम जूरी-प्रथा के विरुद्ध था। वह एक ही न्यायाधीश द्वारा किसी मुकदमे का निर्णय किए जाने का समर्थक था। डेविडसन (Davidson) के शब्दों में, "बेन्थम न्यायालयों के सारे पदों पर एक नया उत्तरदायित्व सौंपने का समर्थक था और इस विषय में वह 'ट्रिब्यूनल' की अपेक्षा एक ही न्यायाधीश रखने के पक्ष में था। उसकी मान्यता थी कि किसी मामले पर तीन *न्यायाधीशों का निर्णय करना तीनों के ही उत्तरदायित्व में कमी करना है।*"

बेन्थम के हृदय में न्यायाधीशों के प्रति सम्मान के भाव नहीं थे। न्यायवादियों के बारे में उनका कहना था कि, "ये लोग *निष्क्रिय और अशक्त* जाति के हैं जो सब

अपमानों को सहन कर लेते हैं तथा किसी भी बात पर झुक जाते हैं। इनकी बुद्धि न्याय और अन्याय के भेद को समझने में असमर्थ और उदासीन रहती है। ये लोग बुद्धि-शून्य, अल्पदृष्टि, दुराग्रही और आलसी हैं। ये झूठे भय से काँप जाने वाले, विवेक एवं सार्वजनिक उपयोगिता की आवाज के प्रति बहरे, शक्ति के आगे नतमस्तक और साधारण से स्वार्थ के लिए नैतिकता का परित्याग करने वाले हैं।"[1]

बेन्थम के विधि सिद्धान्त ने विश्लेषणात्मक न्यायशास्त्र का दृष्टिकोण स्थापित किया। 19वीं शताब्दी में अंग्रेज और अमेरिकी विधि-वेत्ता इस विधि से परिचित थे। यह सम्प्रदाय विशेषतः जॉन ऑस्टिन के नाम से प्रसिद्ध है। "लेकिन ऑस्टिन ने केवल बेन्थम के विशालकाय ग्रन्थों में बिखरे हुए विचारों को व्यवस्थित रूप दिया था। राजनीतिक सिद्धान्त में ऑस्टिन के कार्य का प्रभाव यह था कि उसने प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को अत्यधिक महत्त्व दिया। यह सिद्धान्त भी एक प्रकार से बेन्थम की ही देन है। यह सिद्धान्त बेन्थम की उस योजना का एक भाग था जिसके द्वारा वह अदालतों पर संसद् का नियन्त्रण स्थापित कर उनका सुधार करना चाहता था।"[2]

बेन्थम के विचार उसके जीवनकाल में समुचित आदर नहीं पा सके, किन्तु उसके द्वारा प्रतिपादित लगभग सभी सुधार कालान्तर में अपना लिए गए। बेन्थम के न्यायशास्त्र के आधार पर इंग्लैण्ड की न्याय-व्यवस्था में आमूल सुधार हुआ और 19वीं शताब्दी में उसे पूर्णरूप से सशोधित कर आधुनिक रूप दिया गया। यद्यपि उनके विचारों को एक साथ ही व्यवस्थित रूप देकर कार्यरूप में परिणत नहीं किया गया और उसके विचार, विशेषकर अंग्रेजी-विधि को संहिताबद्ध करने सम्बन्धी विचार कभी स्वीकार नहीं किए गए, किन्तु इंग्लैण्ड में एक के बाद एक अधिनियम का निर्माण कर विधि और अदालतों का पूर्ण सुधार किया गया तथा अधिकांश अवस्थाओं में बेन्थम द्वारा निर्दिष्ट मार्ग अपनाया गया। बेन्थम ने जीवन की प्रत्येक दिशा में नेतृत्व किया। न्याय-प्रणाली और विधि-सुधार के इतिहास में तो बेन्थम का स्थान बहुत ही ऊँचा है। सर हेनरीमेन के अनुसार—"बेन्थम के समय से आधुनिक काल तक विधि-व्यवस्था में जितने भी सुधार हुए हैं, उनमें से मुझे एक भी ऐसा नहीं लगता जिसकी प्रेरणा बेन्थम से प्राप्त न हुई हो।" यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि बेन्थम ने उपयोगिता को, अधिकतम लोगों के अधिकतम हित को, सदैव प्रमुख स्थान दिया था। सेबाइन के शब्दों में "बेन्थम का न्यायशास्त्र विषयक कार्य उसका सबसे महान् कार्य था। यह 19वीं शताब्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण बौद्धिक उपलब्धियों में से था। न्यायशास्त्र को बेन्थम की मुख्य देन यह है कि उसने अपने सम्बन्ध में उल्लिखित दृष्टिकोण को विधि की समस्त शाखाओं, दीवानी तथा फौजदारी विधि, प्रक्रिया विधि और न्याय-व्यवस्था के संगठन पर लागू किया। सभी अवस्थाओं में उसका प्रयोजन जैसा कि उसने प्रारम्भ में ही ब्लैक स्टोन के विरोध में कहा था,

1 Preface ed. *F. C. Montague*, p 101.
2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 642

विवरणात्मक न होकर आलोचनात्मक, व्याख्यात्मक तथा निन्दात्मक था। उसने न्याय-शास्त्र की सभी शाखाओं में प्राविधिक पद्धति के स्थान पर स्वाभाविक पद्धति को प्रतिष्ठित किया। प्राविधिक पद्धति का अभिप्राय यह है कि विधि के परम्परागत वर्गीकरण और प्राविधिक प्रक्रियाओं, प्रयागत शब्दावली, आदेशों और उपक्रमों को अपनाया जाए। इसके विपरीत स्वाभाविक पद्धति समस्त विधियों, प्रतिषेधों और प्रक्रियाओं को उपयोगिता की शब्दावली में व्यक्त करती है। वह समस्त कानूनों को अधिकतम सख्या के अधिकतम हित की कसौटी पर कसती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार न्यायिक आवश्यकता यह है कि वांछनीय परिणामों को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त दण्ड व्यवस्था स्थापित की जाए।"[1]

बेन्थम के कानून सम्बन्धी विचारों से स्पष्ट है कि वह राज्य की प्रभुसत्ता का पक्षधर है। वह सम्प्रभुता को निरपेक्ष एव असीमित मानता है। उसकी दृष्टि में सम्प्रभुता का प्रत्येक कार्य वैध है। राज्य अपने प्रभुत्व से ही व्यक्ति को अधिकतम सख्या के अधिकतम हित में कार्य करने के लिए दण्डित अथवा पुरस्कृत करता है। सम्प्रभुता के सम्बन्ध में बेन्थम ने अद्वितीय, अद्भुत, सर्वोच्च सत्ता का उल्लेख नहीं किया क्योंकि राज्य की अनन्त-शक्ति या उच्चतम सत्ता में उसका विश्वास नहीं था। वह राज्य की विधि-निर्माण सम्बन्धी क्षमता को सम्प्रभुता मानता है, किन्तु उसे भी उपयोगिता की कसौटी पर कसता है। यह उसकी दृष्टि में अनुचित है कि राज्य की सम्प्रभुता पर कोई सीमा ही नहीं लग सकती। लोकमत अथवा जनमत सम्प्रभुता की मर्यादा है। राज्य की सम्प्रभुता पर जिस सीमा की कल्पना की जा सकती है वह है 'प्रजा द्वारा सफल विरोध की सम्भावना।' बेन्थम के विचार में, "यदि विशाल जनमत किसी विधि का विरोध करता है तो सम्प्रभुता का कर्त्तव्य है कि उसे कानून का रूप कदापि न दे।"[2] सम्प्रभुता अपने आदेशों या कानूनों द्वारा ही व्यक्ति के अधिकारों का अनुमोदन अथवा सरक्षण करती है। बेन्थम सम्प्रभुता के आज्ञापालन और कानूनों के प्रति सम्मान की व्यक्ति से उसी सीमा तक अपेक्षा करता है जहाँ तक उसे लाभ हो, अथवा उपयोगिता की पूर्ति हो। यदि कानूनों की उपयोगिता नष्ट हो जाए और उनसे हानि होने लगे तो उसका प्रतिरोध करना सर्वथा उचित है। यहाँ प्रतिरोध सामान्य से लेकर क्रान्ति तक का रूप धारण करता है, किन्तु प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगिता का दृष्टिकोण रहना आवश्यक है। इन विचारों के साथ ही बेन्थम यह भी स्वीकार करता है कि राज्य से बड़ी (भीतरी या बाहरी) कोई दूसरी ऐसी शक्ति नहीं है जो राज्य को किसी अधिकार को मानने या उल्लघन के लिए बाध्य कर सके। बेन्थम की यह धारणा सम्प्रभुता को असीमित शक्ति-सम्पन्न बना देती है। बेन्थम सम्प्रभुता के अनिश्चित अर्थात् दूसरे शब्दों में व्यापक अधिकारों का समर्थक प्रतीत होता है बशर्ते कि स्पष्ट परम्परागत विधियों से उन्हें सीमित न किया गया हो। इस प्रकार बेन्थम के विचारों में एक ओर तो सम्प्रभुता के असीमित

1 सेबाइन : वही, पृ. 639.
2 *Maxey* : Political Philosophies, p 464

और अनिश्चित अधिकारों का व्यापक क्षेत्र स्थापित किया गया है और दूसरी ओर परम्परागत तरीकों की रक्षा भी की गई है। सम्प्रभु पर प्रतिबन्ध केवल जनहित के आधार पर ही लगाना उपयुक्त है। यदि जनवादी हितों पर आधारित सामूहिक प्रतिरोध की सम्भावना हो तो सम्प्रभु इसे स्वयं समझ सकता है।

बेन्थम की दण्ड-सम्बन्धी धारणा

बेन्थम की मान्यता है कि अपराध की मात्रा के अनुसार दण्ड दिया जाना चाहिए। छोटे-छोटे अपराधों के लिए ही गम्भीर अथवा मृत्यु-दण्ड देने से अपराधों की सख्या कम नही होती बल्कि बढ़ जाती है। दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति मे सुधार लाना होना चाहिए ताकि सामाजिक सुधार हो सकें। केवल बदला लेने की भावना से दण्ड नही दिए जाने चाहिए। मृत्यु-दण्ड किसी को केवल तभी दिया जाना चाहिए जब उसके अतिरिक्त समाज-सुधार का कोई उपाय शेष न हो। दण्ड को मापने का पैमाना समाज-कल्याण होना चाहिए। दण्ड अपराध की गम्भीरता के उपयुक्त और परिस्थितियों के अनुसार होना चाहिए। साथ ही अपराधी को सार्वजनिक रूप से दण्ड दिया जाना चाहिए ताकि सर्वसाधारण को अपराधी से भय और अरुचि हो।

बेन्थम ने कुछ मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित किए जिनको दण्ड का निर्णय करते समय ध्यान मे रखना था। इनमे से प्रमुख ये हैं—

1 दण्ड की मात्रा अपराध के अनुपात मे हो तथा दण्ड समान भाव से दिए जाएँ।

2. दण्ड द्वारा अपराधी को अनावश्यक एव निर्दयतापूर्ण पीडा न पहुँचे। एक जैसे अपराध के लिए दण्ड की मात्रा समान हो।

3 अपराध की गुरुता के अनुसार ही दण्ड का निर्धारण होना चाहिए। दण्ड आदर्श होना चाहिए अर्थात् इस प्रकार का हो तथा इस तरह दिया जाए कि अपराधी एव अन्य लोगो को उससे शिक्षा मिल सके।

4 दण्ड मे सुधार की भावना निहित हो। दण्ड द्वारा अपराधी को भविष्य मे अपराध करने के अयोग्य बना दिया जाए, किन्तु उपर्युक्त सिद्धान्त का अतिक्रमण न हो।

5. अपराधी से यथा सम्भव उस व्यक्ति की क्षतिपूर्ति कराई जाए जिसको उसके कारण कष्ट पहुँचा हो।

6. दण्ड जनमत के अनुकूल हो तथा अपराधी के प्रति सहानुभूति का वातावरण उत्पन्न न होने दिया जाए।

7. दण्ड सदैव ऐसा होना चाहिए कि भूल का पता लगने पर उसे निरस्त किया जा सके अथवा घटाया जा सके।

8. मृत्यु-दण्ड तभी दिया जाना चाहिए जब वह सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक हो।

बेन्थम, वास्तव मे उपयोगिता के आधार पर दण्डो के निर्धारण के पक्ष मे था। सेबाइन की व्याख्या के अनुसार—"बेन्थम के विचार से दण्ड-विधि के क्षेत्र मे

उपयोगिता के आधार पर दण्डों के एक उचित सिद्धान्त का निर्माण किया जा सकता था। प्राविधिक पद्धति का आधार यह है कि जो व्यक्ति अपराध करता है, उसे दण्ड मिलना चाहिए। इस सिद्धान्त को केवल वर्तमान प्रथाओं और विचारों के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। इसके विपरीत स्वाभाविक पद्धति यह है कि दण्ड सदैव ही एक बुराई होता है क्योंकि उससे कष्ट होता है। वह उसी सीमा तक सार्थक होता है जहाँ तक वह भविष्य की किसी बड़ी बुराई को रोकता हो अथवा पहले की किसी बुराई को दूर करता हो। दण्ड-विधान द्वारा अपराधों का यथार्थ वर्गीकरण होना चाहिए। अपराधों का परम्परागत वर्गीकरण परस्पर विरोधी है और दुर्बोध है। नया वर्गीकरण इस आधार पर होना चाहिए कि किस कार्य से क्या चोट पहुँचती है, कितनी चोट पहुँचती है और किन-किन को चोट पहुँचती है। अपराधों के वर्गीकरण के साथ ही दण्डों का भी वर्गीकरण होना चाहिए जिससे विशिष्ट अपराधों के लिए विशिष्ट दण्डों की व्यवस्था की जा सके और अपराध को जहाँ तक हो सके रोका जा सके या उसका निवारण किया जा सके। सामान्य रूप से नियम यह होना चाहिए कि दण्ड की पीड़ा अपराध के लाभ से अधिक हो, लेकिन उसे अपराध की बुराई से थोड़ा ही ज्यादा होना चाहिए।"[1]

इंगलैण्ड के तत्कालीन दण्ड-सम्बन्धी कानूनों के कटु आलोचक बेन्थम की दण्ड व्यवस्था 'निवारक सिद्धान्त' (Deterrent Theory) तथा सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory) का मिश्रण थी। दण्ड के अवरोधक पक्ष पर अधिक बल देने के साथ ही बेन्थम ने अपराधी के सुधार पर ध्यान देने की भी वकालत की थी। उसके अनुसार, "सभी प्रकार के दण्ड स्वयं में एक बुराई हैं। यदि उपयोगिता के हित मे इनको प्रयोग मे लाया जाए तो यह तभी लाया जाए जब इसके द्वारा किसी बुराई का निराकरण होता हो।" बेन्थम की मान्यता थी कि व्यक्ति के जीवन में शासन का हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिए क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने भले-बुरे को सबसे अधिक समझता है। वह उपयोगिता के आधार पर ही दण्ड और अपराध की विवेचना करता है। दण्ड का उद्देश्य चेतावनी और सुधार-मात्र है। सेबाइन ने लिखा है कि "बेन्थम सर सेमुअल रोमिली की भाँति व्यवहार में उन बर्बर और प्रभावहीन दण्डों को हटा देने के पक्ष मे था जिन्होंने 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इंगलैण्ड की दण्ड-विधि को विकृत रखा था। ऐसा प्रतीत होता है कि बेन्थम अपनी अन्य सुधार योजनाओं की तरह दण्ड-विधान के सुधार में भी लोकहित की प्रेरणा से नहीं प्रत्युत् व्यवस्था और कार्यक्षमता की प्रेरणा से प्रवृत्त हुआ था, तथापि यह मानना न्यायोचित होगा कि बेन्थम ने अपना बहुत-सा समय और धन जेलों के सुधार पर व्यय किया। बेन्थम के व्यक्तित्व की प्रेरक-शक्ति ज्ञानोद्दीप्ति थी। उसे गरीबों की समस्याओं अथवा अपराधी बालकों के सुधार की अपेक्षा सामान्य जनता के हितों की अधिक चिन्ता थी।"[2]

1–2 सेबाइन : वही पृ 6 40-41.

बेन्थम के अन्य सुधारवादी विचार

बेन्थम एक महान् सुधारवादी था जिसने और भी अनेक राजनीतिक तथा शैक्षणिक सुधारों का समर्थन किया था। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र के प्रचलित वर्गीकरण को स्वीकार करते हुए उसने राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र को निकृष्ट ठहराया क्योंकि ये इतने अधिक दोषग्रस्त हैं कि इनका सरलता से कायाकल्प नहीं हो सकता। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की धारणा साकार नहीं की जा सकती। बेन्थम ने लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था का समर्थन किया और चाहा कि वयस्क मताधिकार, वार्षिक संसदीय निर्वाचन, गुप्त मतदान, सार्वजनिक सेवाओं में नियुक्तियों के लिए प्रतियोगिता परीक्षा आदि वैधानिक उपायों द्वारा स्वस्थ लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना की जाए। वह ब्रिटिश प्रणाली का इसलिए विरोध करता था कि 'ब्रिटेन कुलीनतन्त्र से ग्रस्त राजतन्त्र' था। बेन्थम को तत्कालीन राजा जॉर्ज तृतीय के आचरण से बड़ा क्षोभ था और इसलिए उसने ब्रिटेन के लिए गणतन्त्रीय व्यवस्था का समर्थन किया। उसने कुलीनतन्त्री लॉर्डसभा को, जो उसकी दृष्टि में सार्वजनिक हितों के प्रति उदासीन रहने वाली थी, भंग करने का सुझाव दिया। चाहे बेन्थम के सुझाव क्रियान्वित न हुए हों, लेकिन उसकी दूरदर्शिता इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि सांविधानिक संशोधनों द्वारा लॉर्डसभा के पर काट दिए गए और विधि-निर्माण के क्षेत्र में उसे एक तरह से 'पंगु' बना दिया गया। बेन्थम ने विधायकों के अधिकारों में वृद्धि का समर्थन किया ताकि वे नागरिकों के अधिकारों को सुरक्षित रखने में सहायक हों। बेन्थम के अनुसार विधायक 'नैतिक ओवरसियर और निर्देशक' होते हैं।

बेन्थम ने जेल-व्यवस्था में सुधार के रूप में कैदियों के शिल्प-शिक्षण का सुझाव दिया ताकि वे जीविकोपार्जन के योग्य बन सकें। कैदियों के चारित्रिक सुधार के लिए उसने नैतिक और धार्मिक शिक्षा का समर्थन किया। आम जनता के लिए उसने दो प्रकार की शिक्षा-योजनाएँ प्रस्तावित कीं—प्रथम, गरीबों और अनाथों के लिए; तथा द्वितीय, मध्य एवं उच्च वर्गों के लिए। बालकों के लिए उसने चरित्र-निर्माण, कला-कौशल एवं व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करने की योजनाएँ प्रस्तुत कीं। वह चाहता था कि शिक्षा का भार राज्य वहन करे ताकि सर्वसाधारण के लिए शिक्षा की व्यवस्था हो सके। उसका विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य केवल मात्र ज्ञान की अभिवृद्धि ही न होकर जीवन को सहचारी और अनुशासित बनाना भी होना चाहिए।

बेन्थम की अधिकार-सम्बन्धी धारणा

बेन्थम के अनुसार, "अधिकार, मनुष्य के सुखमय जीवन के वे नियम हैं जिन्हें राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता प्राप्त होती है।" अर्थात् बेन्थम विधि-सम्मत अधिकारों के अस्तित्व में ही विश्वास करता था एवं प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त को बकवास मानता था। बेन्थम की दृष्टि में अधिकार अनियन्त्रित या अप्रतिबन्धित नहीं हो सकते, उनका निर्धारण उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए। बेन्थम के

अनुसार जैसा कि सेबाइन ने लिखा है, "एक व्यक्ति के अधिकार का अभिप्राय यह है कि यदि दूसरा कोई व्यक्ति उसकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करेगा तो उसे दण्ड मिलेगा। दण्ड के भय से ही दूसरा व्यक्ति पहले व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप से रोका जा सकेगा। इस प्रतिबन्ध का औचित्य इस आधार पर प्रमाणित होता है कि प्रतिबन्ध न रहने पर सम्भवतः दोनों अपनी मनमानी कर सकते हैं और दोनों को कष्ट हो सकता है। सभी अवस्थाओं में विधान की उपयोगिता को परखने का आधार यह है कि वह किस सीमा तक उपयोगी है, उसको कार्यान्वित करने में कितना व्यय होता है और वह किस सीमा तक विनियमों की एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करता है, जो समुदाय के अधिकांश सदस्यों के लिए लाभदायक होती है। किसी कार्य को दायित्वपूर्ण बनाने के लिए उपयोगिता ही एकमात्र उचित आधार है।"

बेन्थम ने सम्पत्ति के अधिकार की अवहेलना न करके सामान्य उपयोगिता के आधार पर उसका समर्थन किया है। निजी सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिए बेन्थम भी उतना ही चिन्तित प्रतीत होता है जितना लॉक। मुख्य अन्तर यही है कि जहाँ बेन्थम निजी सम्पत्ति को उपयोगिता की कसौटी पर कसता है वहाँ लॉक उसे एक प्राकृतिक अधिकार मानता है। बेन्थम के मत की व्याख्या करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि सम्पत्ति के अधिकार सामान्यत इसलिए ठीक होते हैं क्योंकि वे सुरक्षा की भावना प्रदान करते हैं। जिस व्यक्ति के पास सम्पत्ति होती है, वह अपना प्रत्येक काम सोच-समझ कर करता है। वह अनिश्चितता और निराशा से उत्पन्न होने वाली उलझनों से बच जाता है। सम्पत्ति के अधिकार से कुछ हद तक सामाजिक सुरक्षा का भाव पैदा होता है। बेन्थम के मत में सम्पत्ति की सुरक्षा अधिकतम सुख प्राप्त करने की एक प्रधान शर्त है, लेकिन उसका विचार है कि यह एक अत्यधिक अनुदार सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय यह है कि सम्पत्ति-वितरण को वैधानिक संरक्षण प्राप्त हो। उसका यह दृढ मत था कि विधि सम्पत्ति के समान वितरण के लिए क्रियाशील होनी चाहिए ताकि मनमानी असमानताएँ उत्पन्न न हो सकें। व्यवहार में उसे सुरक्षा और समानता के बीच कामचलाऊ सन्तुलन स्थापित करना चाहिए। धर्म-शास्त्र के तत्वांतरण (Transubstantiation) की भाँति न्यायशास्त्र में संविदा की पवित्रता को एक प्रकार का सम्मोहन माना गया है। बेन्थम संविदा की पवित्रता को इसलिए महत्त्व देता था क्योंकि वह वाणिज्यिक लेन-देन में विश्वास स्थापित करती है।

बेन्थम । अधिकारों का निश्चय सामाजिक पृष्ठभूमि में आवश्यकताओं और परिस्थितियों के आधार पर किया। उसने दो तरह के अधिकारों का उल्लेख किया है—(1) वैधानिक अर्थात् वे अधिकार जो सम्प्रभु शक्ति द्वारा निर्मित विधि से प्राप्त होते हैं, और (2) नैतिक अधिकार। वैधानिक अधिकारों से बाह्य आचरण के क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य किया जाता है। नैतिक अधिकारों का विषय आन्तरिक आचरण है। पूर्ण स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों की बात करना निरर्थक है क्योंकि पूर्ण स्वतन्त्र या पूर्ण समान होना असम्भव है। एक भी व्यक्ति

ऐसा नहीं है जो जन्म से ही स्वतन्त्र पैदा हुआ हो। सब मनुष्य पराधीन ही पैदा होते हैं।

बेन्थम अधिकारों के साथ कर्त्तव्यों का भी समावेश करता है। कर्त्तव्यरहित अधिकार निर्जीव हैं। अधिकारों का निर्धारण सामयिक परिस्थितियों द्वारा होता है और अधिकार तथा कर्त्तव्य अन्योन्याश्रित हैं। वैधानिक और नैतिक अधिकारों में राजनीतिक, नैतिक और धार्मिक कर्त्तव्य भी निहित होते हैं।

बेन्थम के सिद्धान्तों की आलोचना
(Criticism of Bentham's Theories)

बेन्थम 18वीं शताब्दी के संक्रमण-काल का विचारक था, अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उसके विचारों में अस्पष्टता और विरोधाभास दिखाई देते हैं। मध्ययुग से आधुनिक युग के राजनीतिक चिन्तन के संक्रमण में कुछ विद्वानों ने मैकियावली को आधुनिकता का प्रतीक माना है तो कुछ ने बोदाँ को। कुछ का यह विचार है कि 18वीं शताब्दी के अन्त और 19वीं शताब्दी के आरम्भ में बेन्थम ने राजनीतिक समस्याओं के क्षेत्र में जो चिन्तन-प्रणाली अपनाई, उसके कारण बेन्थम को आधुनिक चिन्तनधारा का प्रथम विचारक माना जा सकता है। लेकिन जैसा कि जोन्स ने लिखा है, "हम कई दृष्टियों से बेन्थम के अधिक निकट हैं, कई दृष्टियों से हम मैकियावली की तुलना में बेन्थम से कहीं अधिक दूर हैं। कुछ दृष्टियों से बेन्थम 18वीं शताब्दी का चिन्तक है तो कुछ दृष्टियों से उसका राज-दर्शन 19वीं और 20वीं शताब्दियों का परिचायक है।"[1] इन तथ्यों के प्रकाश में यदि बेन्थम के विचारों में विरोधाभासों, भ्रमों और भूलों का समावेश है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में बेन्थम की देन बहुमूल्य है, तथापि इस देन पर विचार करने से पूर्व बेन्थम के चिन्तन की आलोचनाओं का अवलोकन उपयुक्त होगा—

1. बेन्थम ने अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त को इतनी भौतिकवादी बना दिया है कि उसे अपनाने से व्यक्ति की उन्नति नहीं होती, वरन् व्यक्ति और समाज दोनों को आत्मत्याग करना पड़ता है। उसने नैतिकता के सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी है। भौतिक आनन्द को महत्त्व देते हुए उसने अन्तःकरण, धर्म-अधर्म, सत्-असत् का कोई स्थान नहीं दिया है। यदि कुछ बदमाश एक सज्जन को लूटने अथवा तंग करने में सुख पाते हैं तो बेन्थम के सिद्धान्त के अनुसार इसमें कोई अनैतिकता नहीं होगी क्योंकि इसमें केवल एक को दुःख मिलता है जबकि अधिक लोगों को सुख। इसलिए आलोचकों ने यहाँ तक कह दिया है कि बेन्थम ने मनुष्यों को पशु मान लिया है। मुरे (Murray) के शब्दों में, "यदि हम बेन्थम के अनुसार मनुष्य की विवेक-शक्ति अथवा उसके अन्तःकरण को स्वीकार नहीं करते तो समाज में सदाचार और अनाचार के बीच कोई भेद नहीं रहेगा, केवल उपयोगी तथा अनुपयोगी कार्य ही रहेंगे। व्यक्ति के विवेक-शून्य हो जाने पर समाज में सामाजिक विवेक भी नष्ट

[1] Jones : op. cit., pp. 380-81.

हो जाएगा। अपराधी को सामाजिक बहिष्कार का भय ही नहीं होगा।"[1] इस प्रकार की स्थिति समाज में घोर अव्यवस्था और अनैतिकता का प्रसार करने में सहायक होगी।

2. बेन्थम का उपयोगितावाद केवल मात्रात्मक सुख का समर्थक है, गुणात्मक सुख का नहीं। यह एक भयावह स्थिति है। खेल-कविता (Pushpin-poetry) सूत्र के अनुसार बेन्थम सुखों की कसौटी के लिए एक ही तरह का मापदण्ड लेकर बैठ गया प्रतीत होता है। इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि ताश खेलने या सिनेमा देखने में यदि अत्यधिक सुख प्राप्त होता है तो वह पुस्तक पढ़ने या लिखने से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। किन्तु वास्तव में खेल को कविता के बराबर नहीं माना जा सकता और कबड्डी के खेल का आनन्द 'शाकुन्तलम्' के आनन्द की बराबरी नहीं कर सकता। मिल (Mill) ने इसे सुधार कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"सूअर-भाव से सन्तुष्ट रहने की अपेक्षा मानव-भाव में असन्तुष्ट रहना अच्छा है।" बेन्थम ने उपयोगिता की मात्रा पर विचार करने में देश-प्रेम आदि को कोई महत्त्व नहीं दिया है। उपयोगितावादी यह तर्क कर सकते हैं कि संसार की सभी वस्तुएँ स्वयं में महत्त्वपूर्ण हैं। प्रत्येक का महत्त्व अपने-अपने प्रसंग में है, लेकिन केवल मात्रा का भेद मानना अव्यावहारिकता और बौद्धिक विभ्रान्ति है।

3. बेन्थम का सुखवादी मापदण्ड नितान्त दोषपूर्ण है। उसकी यह मान्यता स्वीकार नहीं की जा सकती कि किसी भी कार्य को करने से पूर्व उस कार्य के औचित्य या अनौचित्य का सुखवादी मापदण्ड से परीक्षण कर लेना आवश्यक है। सभ्य मनुष्य के पथ-प्रदर्शन के लिए तो नाना रीति-रिवाज, प्रथाएँ, नियम-विनियम होते हैं, जिनसे उन्हें अनेक कार्यों के अच्छे-बुरे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है और तब वे उसकी सुखात्मक प्रवृत्ति से परिचित हो जाते हैं। बेन्थम की मान्यता है कि सुख और दु:ख मापे जा सकते हैं, इनका मात्रात्मक विश्लेषण और मापन हो सकता है। आधुनिक प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की मान्यता है कि ऐसी पद्धति मानसिक घटनाओं के अध्ययन में प्रयुक्त हो सकती है, किन्तु इसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है। बेन्थम द्वारा प्रस्तुत सूक्ष्म विवरण उसकी कल्पना के नैतिक गणित-शास्त्र की व्यावहारिकता को सिद्ध नहीं करता। बेन्थम का सुखवादी मापदण्ड इस दृष्टि से भी अस्वीकार्य है कि यह कर्ता के उद्देश्य की ओर ध्यान न देकर केवल कार्य के बाहरी परिणाम पर ध्यान देता है। अतः इस मापदण्ड का मूल्य विधि-निर्माता के लिए भले ही हो, आचार-शास्त्री के लिए कुछ भी नहीं है। सुख-दु:ख के मापन में बेन्थम ने व्यक्तिगत भावना की पूर्ण उपेक्षा की है।

4. बेन्थम ने सुख-दुःख का व्यापक अन्तर प्रकट करने के लिए शारीरिक रचना, चरित्र, शिक्षा, लिंग आदि 32 लक्षणों के आधार पर उनका वर्गीकरण किया है। बेन्थम के इस वर्गीकरण को देखकर प्रसन्नता तो होती है, लेकिन साथ ही

1 *Murray* - History of Political Science, p. 314.

पहाड़ों की पुस्तक याद आ जाती है। बेन्थम बतलाता है कि कौन-सा कार्य करना चाहिए—इसका निर्णय करने के लिए सुख-दुःख की मात्रा निर्धारित करने वाले कारणों के निश्चित अंक देकर उनका पूरा योग निकालना चाहिए और जिस कार्य को अधिक अंक मिलें वही करना चाहिए। किन्तु बेन्थम की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया जटिल ही नहीं, भ्रामक और कपोल-कल्पित भी है। इस प्रकार का निर्णय करने में यद्यपि गणितीय बारीकियों का उपयोग तो किया जाता है तथापि परिणाम संदिग्ध ही रहता है। गणित जैसी निश्चितता तथा यथार्थता मानसिक सामाजिक प्रक्रिया में कदापि सम्भव नहीं है। मेक्कन के अनुसार, "राजनीति में अंकगणित का प्रयोग उतना ही निरर्थक है जैसे अंकगणित में राजनीति का।"

5. बेन्थम अपनी कृति 'इन्ट्रोडक्शन टू दी प्रिंसीपल्स ऑफ मारल्स एण्ड लेजिसलेशन' का प्रारम्भ इस प्रकार करता है—"प्रकृति ने मानव-जाति को दो प्रभुत्वपूर्ण शक्तियों, दुःख तथा सुख के नियन्त्रण में रख छोड़ा है। ये ही शक्तियाँ संकेत देती हैं कि हमें क्या करना चाहिए और ये ही निश्चय करती हैं कि हम क्या करेंगे। ये हमारे प्रत्येक कार्य पर शासन करती हैं। यद्यपि कहने को मनुष्य कह तो सकता है कि वह किसी साधन के अधीन नहीं है, किन्तु वास्तव में वह इसके अधीन है। उपयोगिता के सिद्धान्त में इस प्रकार के शासन के लिए पूरी गुंजाइश है।" बेन्थम के इस विचार की वेपर ने आलोचना की है कि यद्यपि यह वाक्य आकर्षक है पर "जब इसका विश्लेषण किया जाता है तो भावपूर्ण होने के स्थान पर यह एक अँगूठी की भाँति गोल हो जाता है। सुख और दुःख के शासन से तात्पर्य क्या है? क्या मनुष्य को अपने सुख या किसी अन्य के सुख के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए? यह कहते समय कि हमारे सभी कार्यों को सुख तथा दुःख शासित करते हैं, क्या बेन्थम का आशय है कि सभी लोग सदैव अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं? और, इसका तात्पर्य क्या है कि उपयोगिता के सिद्धान्त में इस प्रकार के शासन के लिए पूरी गुंजाइश है? यदि मनुष्य अपने सुख के लिए प्रयत्नशील है तो यह कहना व्यर्थ नहीं है कि उसे कुछ और भी करना चाहिए। मनुष्य स्व-सुख तथा मानव-जाति के सुख की तलाश एक साथ कैसे कर सकता है?" वेपर के अनुसार बेन्थम ऐसे कितने ही प्रश्नों का उत्तर देता है। उसका कथन है कि "हर आदमी इन दो सुखों में से केवल एक ही सुख का महत्त्व देता है, कोई भी एक से अधिक सुखों को महत्त्व नहीं दे सकता।" वेपर की आलोचना है कि बेन्थम का यह सिद्धान्त किसी भी प्रकार आनन्द में उद्‌भूत नहीं कहा जा सकता। व्यक्तिगत हित जन-कर्त्तव्य में कैसे परिणत किया जा सकता है? यह कैसे विश्वास किया जा सकता है कि बेन्थम के कथन के अनुसार कोई स्वार्थी विधि-निर्माता अपने व्यक्तिगत हितों के साथ-साथ लोकहित का भी ध्यान रखेगा? जो वस्तुएँ गुण में श्रेष्ठतर हैं, उनकी मात्रा या सुरक्षा कैसे निश्चित की जा सकती है? और यदि बेन्थम के सभी विचारों को सही मान लिया जाए तो भी उसका मापदण्ड और सिद्धान्त दोनों निरर्थक हैं।[1]

1 वेपर : वही, पृष्ठ 125–26

6. बेन्थम अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन मे अव्यावहारिक बन जाता है। "अपने आनन्दवादी व्यक्ति के चित्रण में बेन्थम वास्तविक जीवन से विलग होकर आगे बढ़ना प्रतीत होता है। लोग हित (स्वार्थ) तथा कर्त्तव्य के बीच अन्तर मानते हैं, परन्तु बेन्थम इसे स्वीकार नहीं करता। अपने प्रामाणिक व्यक्ति के अध्ययन मे बेन्थम समाज तथा इतिहास को सम्मिलित नही करता। इसी प्रकार यह उन सर्वोच्च क्षमताओ को छोड देता है जो मनुष्य को मनुष्य बनाती हैं। वह केवल तीन अगो, यथा–व्यक्ति, समाज तथा सरकार को ही ध्यान मे रखता है, राज्य को ध्यान मे नही रखता। यही नहीं, अपने तर्कसंगत व्यक्ति के प्रगाढ मोह मे वह भावनाओ को पकड से निकल जाने देता है और यह कार्य इस सीमा तक करता है कि हम बेन्थम के मनुष्य को कठिनाई से ही अपनी जाति का मनुष्य मानने को तैयार हो पाते हैं।"[1]

7. बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य मे केवल उन्ही विधियो का निर्माण हो सकता है जिनके द्वारा साधारण स्वार्थ की प्राप्ति सम्भव हो, क्योंकि विरोधी तत्वो एव विरोधी परिस्थितियों मे इनका प्रयोग सम्भव नही है और इस स्थिति मे न्याय के स्थान पर अन्याय होने की सम्भावना ही अधिक है। इस परिस्थिति मे पूँजीपति अधिकाधिक लाभ उठा कर अपने ही पक्ष मे विधि-निर्माण करने को प्रेरित होंगे।

8. बेन्थम का उपयोगितावादी सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक है क्योकि मानव मानसिकताएँ विभिन्न परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न होती हैं अत· सुख-दु.ख भी समान न होकर भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्ही दो मनुष्यों की अनुभूति परस्पर समान नहीं होती। यह सम्भव है कि जो बात एक व्यक्ति को सुखदायी प्रतीत हो, वही बात दूसरे व्यक्ति को दु खदायी प्रतीत हो। यदि एक ही अनुभूति सबको सुखदायक लगे तो भी निश्चय ही सुख की अनुभूति किसी को तीव्र होगी और किसी को मन्द।

9. यह धारणा भी त्रुटिपूर्ण है कि मनुष्य द्वारा कोई कार्य सुख की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। वस्तुत मनुष्य किसी कार्य को सुख के लिए नही करता बल्कि सुख तो उसे कार्य करने पर स्वय ही प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त रुचि, समय, परिस्थितियो आदि के कारण मानवीय सुख-दु ख की मात्रा मे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

10. बेन्थम का उपयोगितावादी सिद्धान्त समाज के बहुमत के अत्याचार को प्रोत्साहित करने वाला है। बेन्थम ने प्रत्येक व्यक्ति के सुख पर बल न देकर बहुसख्या के सुख पर बल दिया है। यदि बेन्थम की बात मान ली जाए तो एक अत्याचारी राजा स्वय को अधिकतम व्यक्तियों का प्रतीक मानते हुए स्वय के सुख को ही सबका समझ सकता है। इस प्रकार, एक दानवी स्थिति (Diabolic Monstrosity) पैदा हो सकती है। बेन्थम का सूत्र 'अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख' न केवल रहस्यमय है, बल्कि संदिग्ध भी है। बेन्थम की अस्पष्टता,

1 वेपर· वही, पृष्ठ 125–26

मूकवृत्ति, संदिग्ध व्याख्या के कारण व्यावहारिक क्षेत्र में अनुचित तरीकों का प्रयोग सम्भव हो सकता है।

11. बेन्थम केवल सुख अथवा आनन्द की प्राप्ति पर ही बल देता है। वह यह भूल जाता है कि सुख की भूख कभी नहीं मिटती। इच्छाएँ अन्तिम रूप से कभी तृप्त नहीं हो सकतीं। हम अपनी इच्छाओं को जितना पूरा करते हैं, वे उतनी ही अधिक बढ़ती हैं।

12. बेन्थम का राजदर्शन त्रुटियों से पूर्ण है। उसमें अन्तर्विरोध पाया जाता है। सरकार की परोपकारिता और निरपेक्ष सम्प्रभुता परस्पर असंगत हैं। बेन्थम का उपयोगितावाद केवल शासन सम्बन्धी सिद्धान्त है, राज्य के बारे में वह मौन है। बेन्थम ने राज्य सरकार के बीच कोई अन्तर नहीं किया है। उसने राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों का भी कोई विश्लेषण नहीं किया है। उसका आग्रह व्यक्ति द्वारा सुख की प्राप्ति मात्र पर है। वह केवल इतना ही कहता है कि राज्य को न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिए। उसकी अधिकार सम्बन्धी धारणा भी दोषपूर्ण है। उसने स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार की उपेक्षा की है। अधिकारों को उसने केवल तीन श्रेणियों में विभक्त किया है जो एक अत्यन्त सकीर्ण वर्गीकरण है। उसने समाज और समुदाय की पृथक् सत्ता को भी मान्यता नहीं दी है। उसके अनुसार समाज व्यक्तियों का समूह-मात्र है जबकि वास्तव में समाज एक स्वाभाविक और विकासमान संस्था है। बेन्थम के ये सभी विचार आज के युग में ग्राह्य नहीं है।

13. वेपर के अनुसार बेन्थम के दर्शन में मौलिकता का अभाव है: "वह अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों को पूरी तरह गले के नीचे उतार तो गया था, परन्तु उनको पचा नहीं पाया। उसने अपने ज्ञान का सिद्धान्त (Theory of Knowledge) लॉक तथा ह्यूम से, सुख-दुःख का सिद्धान्त हेल्वेटियस (Helvetius) से, सहानुभूति तथा विरोध का विचार ह्यूम से तथा उपयोगिता का विचार अनेक दूसरे विद्वानों से उधार लिया था। अतः उसमें मौलिकता का अभाव है और ईर्ष्या की अधिकता। उसके अपने विचार भ्रमों तथा भूलों से परिपूर्ण हैं।"

वास्तव में बेन्थम की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि उसने मानव-जीवन की आवश्यकता से अधिक सरल व्याख्या कर डाली और इस प्रकार समस्याओं का अधूरा निराकरण किया।

बेन्थम की राजनीतिक चिन्तन को देन
(Bentham's Contribution to Political Thought)

अभावों, भूलों और विरोधाभासों के बावजूद दर्शन और राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बेन्थम को अत्यन्त सम्मानित स्थान प्राप्त है। यद्यपि हम उसे 'तत्कालीन युग का सबसे बड़ा आलोचक विद्वान्' नहीं कह सकते और उसका दर्शन 'तर्क से प्रेम तथा परम्परा से घृणा करने वाला है', तथापि राजनीतिक चिन्तन के विभिन्न क्षेत्रों में उसका प्रभाव असाधारण है और उसकी उपलब्धियों का तिरस्कार करना बुद्धिमानी की बात नहीं होगी। एक विधि-सुधारक और मानव-कल्याण के

विचारक के रूप में बेन्थम को कभी भुलाया नहीं जा सकेगा। राजदर्शन को उसकी महत्त्वपूर्ण देन संक्षेप में निम्नवत् है—

1. उपयोगितावाद के दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना करने और उसे एक वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय बेन्थम को ही है। हालवी (Halevy) के अनुसार बेन्थम की यह बहुमूल्य देन है कि उसने "उपयोगिता के सिद्धान्त द्वारा एक वैज्ञानिक नियम एक क्रियाशील प्रशासन, वास्तविकता और औचित्य की खोज की है।"

2. बेन्थम ने उपयोगिता को सर्वोपरि स्थान दिया और कहा कि राज्य मनुष्य के लिए है, मनुष्य राज्य के लिए नहीं। जिस राज्य के नागरिक सुखी और प्रसन्न होते हैं, वही राज्य श्रेष्ठ होता है। बेन्थम का प्रश्न है कि समुदाय का हित क्या है, और उसका उत्तर है कि यह 'उन सदस्यों का हित है जो समुदाय की रचना करते हैं।' राजदर्शन के क्षेत्र में बेन्थम की यह महान् देन है कि उसने प्रत्येक प्रश्न का उत्तर पुरुषों और स्त्रियों दोनों को ही ध्यान में रखकर दिया है। उसने अनाज के दानों को भूसे से अलग करके हमारे सामने रखा है। हम उसकी महान् सेवा को कभी नहीं भूल सकते। यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि बेन्थम ने शासन के स्वरूप आदि की उलझन में न पड़कर इस बात पर बल दिया कि शासन उपयोगिता की दृष्टि से सुख-निर्माण के लक्ष्य की पूर्ति में कहाँ तक सफल होता है। व्यावहारिक जीवन में जनता भी उद्देश्य की पूर्ति से मतलब रखती है, तरीकों के पीछे नहीं भागती। बेन्थम ने जीवन के इसी यथार्थ का समर्थन किया। काल्पनिक तथा आध्यात्मिक राजनीतिशास्त्र के स्थान पर वह स्पिनोजा की भाँति परीक्षणात्मक राजनीतिक विज्ञान का सूत्रपात करने के श्रेय का अधिकारी है। चाहे उसे अपने प्रयास में पूरी सफलता न मिली हो, पर यह निश्चित है कि उसने 16वीं और 17वीं शताब्दियों में विकसित हो रही राजनीतिक यथार्थवाद की परम्परा को परिष्कृत किया। मैक्सी के कथनानुसार, "कटु आलोचना और व्यंग्य द्वारा उसने सामाजिक अनुबन्धवादियों द्वारा इतिहास तथा तर्क के थोथे आधार पर निर्मित राज्य-सिद्धान्त की धज्जियाँ उड़ा दीं और ह्यूम एवं स्पिनोजा से भी अधिक शक्ति तथा स्पष्टता से यह उजागर किया कि राजनीतिक समाज का आधार सदैव एक समय-विशेष की परिस्थितियाँ होती हैं।"[1]

3. बेन्थम ने स्वस्थ लोकतन्त्र और लोकतान्त्रिक संस्थाओं का समर्थन किया है। वेपर के अनुसार, "बेन्थमवाद जनता के प्रतिनिधियों में विश्वास नहीं करता। उन्हें तो वह जनता को लूटने वाला ही मानता है। इस प्रकार उसने ऐसे प्रतिनिधियों के बहिष्कार में सहायता दी है जो स्वार्थी हैं, लोक-स्वतन्त्रता तथा समानता के अपहरणकर्त्ता हैं तथा केवल अपने निर्वाचन-क्षेत्र की ही चिन्ता करने में विश्वास रखते हैं।" बेजहॉट (Bagehot) ने निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा बनाई जाने वाली सरकार को मनमानी का द्योतक बताया है, क्योंकि ऐसी सरकार संसदीय सरकार का विरोध ही करती है। बेजहॉट के अनुसार, "ऐसी सरकार बेशर्मों की सरकार होती है परन्तु

1 *Maxey* : op cit., p. 408.

बेन्थम ने संसदीय प्रथा में सुधार करके उसे बेजहॉट की खतरनाक चोट से बचाया है।"[1]

4. बेन्थम ने अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की। आइवर ब्राउन के अनुसार उसने इग्लैण्ड को सुख किस प्रकार मिले—इसके लिए केवल बातें ही नहीं की बल्कि इगलैण्ड को सुखी बनाने के लिए परिश्रम भी किया। बेन्थम ने तत्कालीन ब्रिटिश न्याय-पद्धति और विधि-व्यवस्था में व्यावहारिक सुधार का तीव्र आन्दोलन छेड़ दिया। सेबाइन के अनुसार, "बेन्थम के न्यायशास्त्र के आधार पर इंगलैण्ड की न्याय-व्यवस्था में आमूल सुधार हुआ और 19वीं शताब्दी में उसे पूर्णतः संशोधित करके आधुनिक रूप दे दिया गया। यद्यपि बेन्थम के विचारों को एक साथ ही व्यवस्थित रूप से कार्यरूप में परिणत नहीं किया गया और उसके कुछ विचार, विशेषकर ब्रिटिश विधि को संहिताबद्ध करने से सम्बन्धित विचार, कभी स्वीकार नहीं किए गए, तथापि इगलैण्ड में एक के बाद एक अधिनियम बनाकर विधि और न्यायालयों में पूर्ण सुधार किया गया तथा अधिकांश अवस्थाओं में बेन्थम की आलोचना द्वारा निर्दिष्ट मार्ग अपनाया गया। सर फ्रेडरिक पोलक ने ठीक ही कहा है कि उन्नीसवीं शताब्दी में इगलैण्ड में विधि के क्षेत्र में जो सुधार हुए, उन पर बेन्थम का प्रभाव देखा जा सकता है।"[2] बेन्थम के प्रयत्नों से कानून में सरलता और स्पष्टता का समावेश हुआ। विधियों के संहिताकरण पर बल देने से 19वीं शताब्दी में अनेक देशों में विधि-संहिताएँ बनाई गईं। बेन्थम के प्रयत्नों से ही शासन पर से रहस्यात्मकता का पर्दा उठा और शासन आवश्यक सुधार एक साधन अथवा यन्त्र माना जाने लगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन के अनुकरण से संसार भर में अकुशल संस्थाओं को सुधार की प्रेरणा मिली। बेन्थम का यह विचार लोगों के मन में घर करने लगा कि राज्य कतिपय लोगों की स्वार्थसिद्धि का साधन नहीं होना चाहिए, वरन् उसे जन-कल्याण का साधन बनाया जाना चाहिए। बेन्थम के उपयोगितावाद का भारत पर भी प्रभाव पड़ा। लॉर्ड विलियम बैंटिक ने भारत में अधिकांश सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सुधार बेन्थम के विचारों से प्रभावित होकर ही किए। उसने बेन्थम को लिखा था कि "वास्तव में भारत का गवर्नर-जनरल होकर मैं ही नहीं बल्कि आप जा रहे हैं।"

5. बेन्थम ने मैकियावली की भाँति राजनीति को नैतिकता से पृथक् किया। उसने नैतिकता के आधार पर प्रजा द्वारा राजाज्ञा-पालन अथवा विद्रोह का समर्थन नहीं किया। उसने कहा कि उपयोगितावादी सिद्धान्त के आधार पर ही यह निर्णय किया जाना चाहिए कि प्रजा कब तक राजाज्ञा का पालन करे और कब विद्रोह के लिए अग्रसर हो। बेन्थम को ही यह श्रेय है कि कानून और सम्प्रभुता पर विचार कर उसने सर्वप्रथम विधि-शास्त्र (Jurisprudence) के मौलिक सिद्धान्तों की विवेचना प्रारम्भ की। सेबाइन ने बेन्थम के विधि-शास्त्र को 19वीं शताब्दी की एक महान् बौद्धिक उपलब्धि बतलाया है।

1 वेपर: वही, पृ 132
2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ 643

6 बेन्थम ने सुधारवादी आन्दोलन छेड़ कर ब्रिटिश राजनीतिक जीवन में क्रान्तियों की अपेक्षा सुधारों के प्रति विश्वास उत्पन्न किया। लोगों के हृदय में यह बात पूर्वापेक्षा अधिक अच्छी तरह बैठ गई कि क्रान्ति की तुलना में सुधार अधिक ग्राह्य और उचित हैं। ब्रिटिश जनता समझ गई कि सिरों को फोड़ने की अपेक्षा उन्हें गिन लेना अधिक अच्छा है।

7. बेन्थम ने राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र में अनुसन्धान और गवेषणा की प्रवृत्ति को महत्त्व दिया। आज यह पद्धति हमें स्वाभाविक लगती है, किन्तु बेन्थम से पहले इस पद्धति का अनुसरण नहीं किया जाता था। बेन्थम ही वह पहला आधुनिक लेखक था जिसने सार्वजनिक नीति के क्षेत्र में गवेषणात्मक पद्धति लागू की और अनुभववादी तथा आलोचनात्मक पद्धति का सूत्रपात किया। बेन्थम के विचारों के विकास तथा संशोधन द्वारा एक सम्प्रदाय की स्थापना हुई जो 'दार्शनिक उग्रवाद' कहलाया और जिसने बेन्थम के विचारों के साथ माल्थस के जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त और हार्टले के तत्त्व-ज्ञान का समन्वय किया। बेन्थम के विचार राजनीति-शास्त्रियों के लिए प्रेरणास्पद रहे। जेम्स मिल, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन ऑस्टिन, ग्रोट, बेन, प्लेस आदि विचारक बेन्थम से बहुत अधिक प्रभावित थे।

बेन्थम के राजनीतिक अनुभववाद को स्पष्ट करते हुए प्रो. मेक्सी ने ठीक ही लिखा है कि "अपने निर्मम तर्क द्वारा बेन्थम ने नवीनतावादी और रूढ़िवादी विचारों की प्राचीन धारणाओं को एकदम भुला दिया तथा स्वतन्त्र तथा निरंकुश राज्यों के सैद्धान्तिक मतभेदों का उसने अन्त किया। उसने यह घोषित कर दिया कि दैवी अधिकार, ऐतिहासिक अधिकार, नैसर्गिक अधिकार, संविदात्मक अधिकार तथा सांविधानिक अधिकार सभी मूर्खतापूर्ण हैं। उसने घोषणा की कि शासन करने का किसी को कोई स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। सत्य तो केवल एक बात है और वह है शक्ति तथा वे परिस्थितियाँ जिन्होंने उस शक्ति को सत्य बनाया है। किसी निरपेक्ष सत्य में विश्वास करना मूर्खता है। एक विवेकपूर्ण शासन-कला और नागरिकता के लिए हमें शक्ति के स्वरूप और कानूनों को समझना चाहिए और उनका कल्याणकारी उद्देश्य के लिए प्रयोग करना चाहिए।"

बेन्थम की सबसे बड़ी देन यही है कि उसने इस महान् सिद्धान्त को पुष्ट किया कि प्रत्येक शासन-तन्त्र का अपनी सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए और मानव समाज की अधिकाधिक सेवा करके अपनी शक्ति का औचित्य अर्जित करना चाहिए। बेन्थम ने अपनी प्रतिभा से केवल इंग्लैण्ड को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि उसकी प्रतिभा की किरणें रूस, पुर्तगाल, स्पेन, मैक्सिको, भारत तथा दक्षिण अमेरिकी देशों तक पहुँची। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बेन्थम को भारी सम्मान प्राप्त हुआ था। आइवर ब्राउन ने बेन्थम को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि यदि "बेन्थमवाद से उसका भद्दापन निकाल दिया जाए तो उसमें फिर विशुद्ध मानवतावाद के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देगा।"[1]

---

1 *Ivor Brown* : English Political Theory, p. 102

18 जॉन स्टुअर्ट मिल

(John Stuart Mill, 1806—1873)

जीवन-परिचय

विख्यात बेन्थमवादी जेम्स मिल के पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद के दर्शन को एक नई दिशा प्रदान की। 20 मई, 1806 को लन्दन में उत्पन्न मिल को उसके पिता ने बचपन से ही बेन्थम के आदर्शों के अनुसार ढालने का पूरा प्रयत्न किया था। जेम्स के कठोर अनुशासन में स्टुअर्ट मिल ने बाल्यावस्था से ही गहन अध्ययन में रुचि ली। मात्र 8 वर्ष की अवस्था तक उसने जेनोफोन, हेरोडोटस, आइसोक्रेटस के ग्रन्थों का और प्लेटो के छः संवादों का अध्ययन पूर्ण कर लिया था। 11 वर्ष की अवस्था में उसे लिवी द्वारा लेटिन में लिखित 'रोमन शासन का इतिहास' पढ़ने को दिया गया। 13 वर्ष की अवस्था में उसने एडम स्मिथ और रिकार्डो की अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों, तर्कशास्त्र तथा मनोविज्ञान के जटिल विषयों का गहन अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। वह बचपन से ही इतने कठोर बौद्धिक अनुशासन में रहा कि उसकी भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाई, वह प्राकृतिक सौन्दर्य से दूर रहा और बाल-सुलभ मनोरंजन भी उसे नहीं मिल पाया। 14 वर्ष की आयु में उसे बेन्थम के छोटे भाई के साथ एक वर्ष के लिए फ्रांस भेजा गया। वहाँ उसे घूमने और प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेने का अवसर मिला। बाद में प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम, यात्रा के प्रति आकर्षण और फ्रेंच भाषा के प्रति अनुराग—ये सब बातें जीवन-पर्यन्त उसके साथ रहीं।

अति कुशाग्र-बुद्धि और मेधावी मिल में अध्ययन और कार्य करने की तीव्र आकांक्षा थी। फ्रांस से लौटकर उसने जॉन ऑस्टिन से रोमन कानून तथा अन्य कानूनों की शिक्षा प्राप्त की। वह विभिन्न सभा-सोसाइटियों में भाग लेने लगा और शीघ्र ही उसने भाषण-कला में निपुणता प्राप्त करली। 16 वर्ष की अवस्था में वह 'उपयोगितावादी सोसाइटी' (Utilitarian Society) का सदस्य बन गया और लगभग साढ़े तीन वर्ष तक वह वाद-विवादों में प्रमुख वक्ता रहा। 17 वर्ष की अवस्था में वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी में एक क्लर्क के रूप में नियुक्त हुआ और सन् 1856 में

अपने विभाग का अध्यक्ष बन गया। दो वर्ष बाद ही वह पद-निवृत्त हो गया। नौकरी के व्यस्त काल मे भी उसने अपनी साहित्यिक गतिविधियो मे कोई शिथिलता नहीं आने दी।[1]

अनवरत श्रम और बौद्धिक व्यायाम के फलस्वरूप युवावस्था मे ही मिल को हलके हृदय-रोग का सामना करना पडा। उसने वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज आदि का गहन अध्ययन किया। इन महाकवियो की रचनाओ को पढकर मिल मे जीवन की अधिक मार्मिक वस्तुओ और मानव-मस्तिष्क की सूक्ष्म क्रियाओ के प्रति आकर्षण पैदा हुआ। उसके स्वभाव और चिन्तन मे एक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। डेविडसन के अनुसार "उसके हृदय मे एक नवीन मानव का आविर्भाव हुआ जिसमें अधिक गहरी सहानुभूति थी, जिसका बौद्धिक दृष्टिकोण अधिक व्यापक था, जिसने मानव की आवश्यकताओ को अधिक समझा था और जिसने बुद्धि के साथ-साथ भावनाओ की तृप्ति के महत्त्व को भी अनुभव किया था।"[2]

सन् 1830 मे 25 वर्ष की अवस्था मे मिल का परिचय अति प्रतिभाशालिनी और मेधावी सुन्दरी श्रीमती हेरियट टेलर (Harriet Taylor) से हुआ। उनकी मैत्री लगभग 20 वर्ष तक चली। अनेक रचनाओ मे दोनो प्रतिभाओ ने परस्पर सहयोग किया। श्रीमती टेलर के पति की मृत्यु के बाद सन् 1851 मे दोनो विवाह-सूत्र मे बँध गए। 7 वर्ष बाद ही सन् 1858 मे पत्नी की मृत्यु हो गई। मिल ने अपना विख्यात निबन्ध 'On Liberty' उसी (श्रीमती टेलर) को समर्पित किया। उसके प्रति मिल का अनुराग और आदरभाव जीवन-पर्यन्त बना रहा। फ्रांस के 'एविग्नॉन' नामक नगर मे पत्नी की कब्र के पास ही एक छोटे से मकान मे मिल ने जीवन के अन्तिम दिन व्यतीत किए। वही सन् 1873 मे उसकी मृत्यु हो गई और उसे भी अपनी पत्नी के पास ही कब्र मे दफना दिया गया।

यशस्वी मिल 59 वर्ष की अवस्था मे ससद का सदस्य निर्वाचित हुआ। वह सन् 1865 से 1868 तक ससद-सदस्य के रूप मे आयरलैण्ड मे भूमि-सुधार, किसानो की स्थिति, महिला मताधिकार, बौद्धिक कार्यकर्त्ताओ की स्थिति आदि के सम्बन्ध मे अत्यन्त क्रियाशील रहा। लोकसभा मे उग्र विचारक के रूप मे उसने विशेष ख्याति अर्जित की। उसने समस्याओ पर स्वतन्त्र और निर्भीक विचार व्यक्त किए। शासक और विरोधी दलो ने उसे पूरा सम्मान दिया। प्रधान मन्त्री ग्लेडस्टन ने एक बार कहा था, "जब मिल का भाषण होता था तो मुझे सदैव यह अनुभूति होती थी कि मैं किसी सन्त का प्रवचन सुन रहा हूँ।"

रचनाएँ और पद्धति

मिल ने अपने सघर्षपूर्ण जीवनकाल मे न्याय-शास्त्र, अध्यापन-शास्त्र, आचार-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र—सभी महत्त्वपूर्ण विचारो पर बहुत-कुछ

1 *William Ebenstein* : Great Political Thinkers, p. 530-31.

2 *Davidson* : op cit , p 162.

लिखा। उसकी बहुत-सी कृतियाँ तो उसके जीवनकाल में ही प्रकाशित हो गई थीं और कुछ उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुईं। उसके नाम को अमर कर देने वाले कुछ ग्रन्थ ये हैं—

1. Plato's Dialogues, 1834.
2. The System of Logic, 1841.
3. Some Unsettled Questions in Political Economy, 1844.
4. The Principles of Political Economy, 1848.
5. Enfrenchisement of Women, 1853.
6. On the Improvement in the Administration of India, 1858.
7. A Treatise of Liberty, 1859.
8. Parliamentary Reforms, 1859.
9. Considerations of Representative Government, 1860.
10. Utilitarianism, 1861.
11. Examination of Hamilton's Philosophy, 1865.
12. Auguste Comte and Positivism.
13. Subjection of Women, 1869.
14. Autobiography, 1873.
15. Three Essays on Religion, 1874.
16. Letters, 1910.

मिल का ग्रन्थ 'The System of Logic' न्यायिक-अनुसन्धान में एक युग का सूचक है तो 'A Treatise of Liberty' राजनीतिशास्त्र पर उसकी एक अति महत्वपूर्ण कृति है जो पाँच वर्ष के परिश्रम के बाद तैयार हुई थी। मिल की रचनाओं के अध्ययन से प्रकट होता है कि अपने पिता के बाद बेन्थम का उस पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था। जेम्स मिल की धर्मनिरपेक्षता ने स्टुअर्ट मिल में धार्मिक अनुभूति की गहरी छाप नहीं पड़ने दी, अतः उसके व्यक्तित्व में संशयवाद की झलक सदा विद्यमान रही तथा उसकी रचनाओं में धर्म की रागात्मक अनुभूति का पूर्ण अभाव रहा। बेन्थम के ग्रन्थों के अनुशीलन से मिल को मानसिक शक्ति को प्रेरणा मिली। जॉन ऑस्टिन तथा उसके भाई ने भी प्रारम्भिक अवस्था में स्टुअर्ट मिल के बौद्धिक जीवन को काफी प्रभावित किया। एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस, गुडम फर्गुसन आदि के आर्थिक उदारतावाद ने भी उसको प्रभावित किया। रोमांटिक विचारधारा के विख्यात कवि कॉलरिज का भी उस पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। कॉलरिज के राष्ट्रीय एकता और शिक्षा के महत्त्व सम्बन्धी विचारों की भी उस पर गहरी छाप पड़ी। अपनी पत्नी (श्रीमती टेलर) से वह इतना अनुप्राणित हुआ कि उसने 'On Liberty' नामक निबन्ध उसी को समर्पित किया जो उसके शब्दों में, "मेरे लेखों में जो भी सर्वोत्तम है उसकी वह प्रेरक थी और आंशिक रूप से उसकी लेखिका भी थी। वह मेरी मित्र और पत्नी थी जिसकी सत्य और शिव की उत्कृष्ट-भावना मेरी सबसे प्रबल प्रेरणा रही थी जिसकी प्रशंसा ही मेरा प्रथम पुरस्कार था।" जीवन के अन्तिम दिनों में स्टुअर्ट मिल ने फ्रांसीसी साहित्य और दर्शन का विशेष अध्ययन किया

तथा वह कॉम्टे और सेंट साइमन से प्रभावित हुआ। विभिन्न विचारधाराओं का समन्वय कर स्टुअर्ट मिल ने उनमे अपनी विशिष्ट मौलिक प्रतिभा का पुट दिया और एक विशद् दर्शनशास्त्र की रचना की। उसकी मौलिक प्रतिभा ने विभिन्न क्षेत्रों मे व्यावहारिक सुधार के भी अनेक सुझाव प्रस्तुत किए।

मिल की रचनाओं पर मत व्यक्त करते हुए सेबाइन ने लिखा है—"अपनी लगभग सब कृतियो में, विशेषकर उसकी आचार-शास्त्र एव राजनीति-शास्त्र सम्बन्धी कृतियो मे, मिल ने पुराने उपयोगितावादी सिद्धान्त का एक अत्यन्त अमूर्त वर्णन किया है, किन्तु सिद्धान्त को व्यक्त करने के उपरान्त उसने कुछ रियायतें देना और कुछ बातो को इस प्रकार व्यक्त करना आरम्भ किया कि अन्त में पुराना सिद्धान्त समाप्त हो गया और उसके स्थान पर किसी नवीन सिद्धान्त की भी स्थापना नही हुई।"[1] इसी धारणा को व्यक्त करते हुए मैक्सी (Maxey) ने लिखा है कि अपने आचार-शास्त्र एव राजनीति सम्बन्धी विचारो मे, "मिल में हमे एक सघर्ष दिखाई देता है और यह सघर्ष है उसकी बौद्धिक सामग्री जो उसने अपने उन उपयोगितावादी गुरुजनों से विरासत मे प्राप्त की थी जिनके लिए उसके हृदय मे प्रेम था और जिस पर वह खुले मस्तिष्क तथा सवेदनात्मक पर्यवेक्षण के कारण पहुँचा था।"[2]

मिल ने विविध पद्धतियों (Methods) का अध्ययन और विश्लेषण करके बतलाया कि पद्धतियाँ मुख्यतः चार तरह की होती हैं—(1) रासायनिक पद्धति (Chemical Method,, (2) ज्यॉमितिक पद्धति (Geometrical Method), (3) भौतिक पद्धति (Physical Method), एव (4) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)। रासायनिक पद्धति का केवल रसायन शास्त्रियों के लिए उपयुक्त मानते हुए राजनीति और राजदर्शन के क्षेत्र मे मिल ने इसे निरर्थक बताया। उसने कहा कि प्रयोगशाला मे विभिन्न तत्वों और पदार्थों के मिश्रण से परीक्षण किया जाता है, लेकिन सामाजिक तत्वो के परीक्षण मे अन्य पदार्थों की तरह उनका मिश्रण करके प्रयोग नही किया जा सकता। ज्यॉमिति पद्धति को मिल राजदर्शन, अर्थ-शास्त्र आदि विषयो के क्षेत्र मे इस आधार पर अस्वीकार करता है कि यह पद्धति निगमनात्मक (Deductive) आधार पर चलती है और सामाजिक क्षेत्र मे पहले से ही निर्धारित नियम नही होते। मिल के अनुसार भौतिक एव ऐतिहासिक पद्धतियों का प्रयोग राजनीति-शास्त्र मे किया जा सकता है। भौतिक पद्धति मे निगमनात्मक (Deductive) और आगमनात्मक (Inductive) दोनो प्रणालियो का योग होता है और ऐतिहासिक पद्धति आगमनात्मक (Inductive) होती है। भौतिक पद्धति में सर्वप्रथम प्रकृति के पदार्थों का परीक्षण किया जाता है और उनसे प्राप्त परिणामों के पुनः शोधन से निष्कर्ष निकाले जाते हैं। समाजशास्त्र में मानव-प्रकृति के आधारभूत नियम होते हैं जिनके परीक्षण से कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए जाते हैं। उन सिद्धान्तो का विशेष परिस्थितियो में परीक्षण कर उनको निश्चयात्मक

1 *Sabine* : A History of Political Theory, p. 655.
2 *Maxey* : Political Philosophies, p. 477.

रूप दिया जाता है तथा उन पर प्रयोग किए जाते हैं। समाज-विज्ञान के साथ एक कठिनाई यह है कि यह नक्षत्र-विज्ञान की तरह सदैव अपने पूर्व-विचार नहीं दे सकता फिर भी इस विधि का राजनीति-शास्त्र के अध्ययन में प्रयोग किया जा सकता है। ऐतिहासिक पद्धति से मानव-प्रकृति के नियम खोज निकाले जाते हैं।

मिल ने अपनी रचनाओं में भौतिक और ऐतिहासिक पद्धति का मिश्रित प्रयोग किया है। इन दोनों के समन्वय को समाजशास्त्रीय पद्धति भी कह सकते हैं, जिसमें आगमनात्मक और निगमनात्मक पद्धतियों का सम्मिश्रण और मनोविज्ञान का प्रयोग है। इसकी विशेषता यह है कि आग्रह या कट्टरता के बिना ही मिल युक्तिपूर्वक अपने विचारों की अकाट्य प्रामाणिकता सिद्ध करता है। मिल ने अनुभूति और पर्यवेक्षण पर भी बल दिया है। मिल की पद्धति के बारे में सेबाइन (Sabine) के ये शब्द उद्धृत करने योग्य हैं—

"मिल ने अपने ग्रन्थ 'लॉजिक' की छठी पुस्तक में सामाजिक शास्त्रों की वैज्ञानिक पद्धति के बारे में विचार किया है। अर्थशास्त्र सम्बन्धी एक ग्रन्थ में जिसमें मुख्य रूप से आगमनात्मक प्राकृतिक विद्वानों की पद्धति के बारे में विचार किया गया है, इस विषय का समावेश महत्त्वपूर्ण है। इससे यह प्रकट होता है कि मिल सामाजिक शास्त्रों के क्षेत्र के विस्तार की आवश्यकता अनुभव करता था। वह यह चाहता था कि सामाजिक शास्त्रों की पद्धति को अधिक कठोर बनाया जाए और उन्हें प्राकृतिक विज्ञानों के समकक्ष स्थान दिया जाए। सामान्य रूप से उसका विचार यह था कि सामाजिक विज्ञानों में आगमन और निगमन दोनों की जरूरत है। यह बात सही थी लेकिन इसके आधार पर सामाजिक शास्त्र अन्य विषयों से पृथक् नहीं हो पाते थे। यह निष्कर्ष दार्शनिक उग्रवादियों की निगमनात्मक पद्धति की आलोचना के प्रति एक रियायत के रूप में था। इसके साथ ही इसमें इस प्रक्रिया की आवश्यकता और सार्थकता की बात भी कही गई थी।........मिल ने 'लॉजिक' में दोनों एकाकी दृष्टिकोणों को त्याग कर यह दृष्टिकोण अपनाया था कि आगमनात्मक और निगमनात्मक दोनों पद्धतियों का प्रयोग होना चाहिए। उनका कहना था कि राजनीति आचरण के मनोवैज्ञानिक नियमों का अनुसरण करती है। यह मनोवैज्ञानिक आचरण केवल आगमनात्मक पद्धति पर आधारित हो सकता है। लेकिन राजनीतिक घटनाओं की व्याख्या अधिकतम निगमनात्मक होती है क्योंकि उनकी व्याख्या का अर्थ मनोविज्ञान का आधार होता है। मिल ने अपनी प्रक्रिया को कॉम्टे की प्रक्रिया के अनुकूल बनाने के लिए ही इस तर्क का प्रयोग किया था। उसने यह स्वीकार किया कि ऐतिहासिक विकास के कुछ नियम आगमनात्मक पद्धति के आधार पर निर्धारित किए जा सकते हैं। यद्यपि उसे इस प्रक्रिया के विस्तार और इसकी निश्चितता के बारे में सन्देह था, फिर भी वह यह अनुभव करता था कि मनोविज्ञान के आधार पर इन नियमों की व्याख्या की जा सकती है। इसलिए मिल का सामान्य निष्कर्ष यह था कि सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन के लिए दोनों पद्धतियाँ उपयुक्त हैं और इन दोनों पद्धतियों को एक दूसरे

का पूरक होना चाहिए। एक पद्धति को वह प्रत्यक्ष निगमनात्मक पद्धति और दूसरी को परोक्ष निगमनात्मक पद्धति कहता था। वह दूसरी पद्धति का श्रेय कॉम्टे को देता था।"[1]

मिल के उपयोगितावादी विचार
(Mill on Utilitarianism)

जेम्स मिल के प्रयत्नों और बेन्थम के प्रति उसकी श्रद्धा ने स्टुअर्ट मिल को कट्टर उपयोगितावादी बना दिया। बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त पर आलोचकों ने निकृष्टता और हेयता के आरोप लगाए थे। मिल ने आलोचकों के प्रहारों का जोरदार उत्तर देते हुए उपयोगितावाद में अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन किए तथा उसमें अनेक नए सुखवादी तत्त्वों का समावेश कर दिया जिसके फलस्वरूप मूल सिद्धान्त प्रायः समाप्त-सा हो गया। वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, कॉम्टे, डार्विन, स्पेंसर आदि के प्रभाव तथा इंग्लैण्ड की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण मिल के प्रारम्भिक बेन्थमवादी विचारों में शनैः-शनैः परिवर्तन आता गया और उसने नवीन सिद्धान्तों पर बल देना शुरू कर दिया। उपयोगितावाद की रक्षा करने के प्रयत्नों में उसने इतने संशोधन कर दिए कि उसका स्वरूप ही बदल गया। वेपर के अनुसार, "उपयोगितावाद पर लगाए गए आरोपों से उसकी रक्षा करने की इच्छा से मिल ने सम्पूर्ण उपयोगितावाद को ही एक तरफ फेंक दिया।"[2] उसने उपयोगितावाद के स्थान पर व्यक्तिवाद पर अधिक बल दिया और इसीलिए राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसे प्रायः 'अन्तिम उपयोगितावादी' तथा 'प्रथम व्यक्तिवादी' दार्शनिक माना जाता है। मिल ने उपयोगितावाद पर जो विचार प्रकट किए वे उसके प्रख्यात निबन्ध 'Utilitarianism' में उपलब्ध हैं।

मिल द्वारा उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा
(Mill's Restatement of Utilitarianism)

प्रारम्भ में मिल बेन्थम के सिद्धान्त के आधार पर ही आगे बढ़ा। उसने बेन्थम के समान ही सुख की प्राप्ति और दुःख की विमुक्ति को व्यक्ति का अभीष्ट माना। उपयोगितावाद की परिभाषा देते हुए उसने लिखा—"वह मत, जो उपयोगिता अथवा अधिकतम सुख के सिद्धान्त को नैतिकता का आधार समझता है, यह मानता है कि प्रत्येक कार्य उसी अनुपात में सही है जिस अनुपात में वह सुख की वृद्धि करता है और जो भी कार्य सुख से विपरीत दिशा में जाता है वह गलत है। सुख का अर्थ है आनन्द की प्राप्ति और दुःख का अभाव। दुःख का अर्थ है पीड़ा या कष्ट तथा आनन्द का अभाव। इस सिद्धान्त द्वारा स्थापित नैतिक मापदण्ड को अधिक स्पष्ट करने के लिए इससे अधिक कहना अनावश्यक है, विशेष रूप से यह कि सुख और दुःख की धारणाओं में क्या बातें सम्मिलित हैं और उनका उद्देश्य क्या है? यह एक

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 675-76.
2 *Wayper* : Op. cit. (Hindi), p. 141.

खुला प्रश्न है। परन्तु ये पूर्ण व्याख्याएँ जीवन के उस सिद्धान्त को प्रभावित नहीं करती जिस पर नैतिकता का यह सिद्धान्त आधारित है कि सुख और दुःख से मुक्ति ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है तथा समस्त वांछनीय वस्तुएँ, जिनका उपयोगितावादी योजना में भी वही स्थान है, जितना अन्य किसी योजना में, वांछनीय इसलिए है कि या तो उनमें ही सुख का निवास है अथवा वे सुख-वृद्धि द्वारा दुःख-निवृत्ति का साधन हैं।"[1]

स्पष्ट है कि मिल ने बेन्थम के सुखवाद को स्वीकार किया, किन्तु कालान्तर में उसके विचारों में शनैः-शनैः एक क्रान्ति हुई तथा उसका विवरण ऐसा हो गया जिससे बेन्थम तथा उसके उपयोगितावादी चिन्तन में गहरे अन्तर उभर आए। यह देखना उपयुक्त होगा कि कहाँ तक वह बेन्थम के साथ और कहाँ तक उससे पृथक् रहा। उसके द्वारा किया गया बेन्थम के सिद्धान्त का रूपान्तर निम्नलिखित वर्णन से स्पष्ट हो सकेगा—

1. **सुखों में मात्रात्मक ही नहीं, गुणात्मक अन्तर भी है**—बेन्थम सुखों और दुःखों के मात्रात्मक भेद को ही स्वीकार करता था, गुणात्मक भेद को नहीं। किन्तु मिल ने इन दोनों भेदों को स्वीकार किया। उसने कहा कि सुख और दुःख के गुणात्मक अन्तर को मानना पूर्णतः उचित है। कुछ सुख मात्रा में कम होने पर भी इसलिए प्राप्त करने योग्य है क्योंकि वे श्रेष्ठ और उत्कृष्ट हैं। निश्चय ही तुलसी और कीट्स के कार्यों का आनन्द गुल्ली-डण्डा खेलने के आनन्द से अधिक उत्तम है। शारीरिक सुखों की तुलना में मानसिक सुख अधिक श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि वे अधिक स्थायी और सुरक्षित होते हैं। मिल ने बतलाया कि सुखों में केवल कम या अधिक का ही अन्तर नहीं होता, बल्कि उनके गुणों का भी अन्तर होता है। वे अपने महत्त्व के आधार पर उच्च अथवा निम्न भी हो सकते हैं। सुसंस्कृत और परिमार्जित रुचियों वाले व्यक्तियों को जिन बातों से सुख मिलता है वह सुख मूढ़ व्यक्तियों के इन्द्रियोन्मुख आनन्द से निश्चय ही अधिक श्रेष्ठ होता है। सुखों के गुणात्मक अन्तर की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। सुख का मूल्यांकन केवल मात्रा के ही आधार पर करना अनुचित और अवांछनीय है। मिल के ही शब्दों में, "एक सन्तुष्ट शूकर की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मनुष्य होना कहीं अच्छा है, एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा एक असन्तुष्ट सुकरात होना कहीं अच्छा है और यदि मूर्ख और शूकर का मत इसके विपरीत है तो इसका कारण यह है कि वे केवल अपना पक्ष ही जानते हैं, जबकि दूसरा पक्ष (सुकरात, मानव) दोनों ही पक्षों को समझता है।" मिल ने सुख और दुःख के मध्य गुणात्मक भेद मानकर उपयोगितावाद को अधिक तर्कसंगत अवश्य बना दिया किन्तु इससे बेन्थम का उपयोगितावादी दर्शन छिन्न-भिन्न हो गया।

2. **सुखों की गणना-पद्धति में परिवर्तन**—मिल द्वारा सुखों में गुणात्मक भेद मान लेने से बेन्थम का सुखवादी मापदण्ड पूर्णतः खण्डित हो जाता है। सुखों को नापने अथवा निष्पक्ष रूप में उनका मूल्यांकन करने के बेन्थमवादी प्रयत्नों का कोई मूल्य नहीं रहता। बेन्थम सुख की मात्रा को सुखवादी गणना-पद्धति से मापना

1 *Wayper* : Political Thought, p 115.

चाहता था जबकि मिल का मत था कि विद्वानों के प्रमाण ही सुखो की जाँच अथवा निर्णय के सही आधार हैं। "दो सुख प्रदान करने वाली विभूतियो की प्रगाढ़ता का निर्णय उन्हीं व्यक्तियो द्वारा हो सकता है जिन्हें दोनो अनुभूतियो का ज्ञान हो।"[1]

3. बेन्थम के सिद्धान्त का उद्देश्य सुख या आनन्द-प्राप्ति था और मिल का शालीनता और सम्मान पर बल—वेपर के अनुसार, "मिल की धारणा थी कि आनन्द गुण तथा मात्रा दोनों मे भिन्न होते हैं।" उसके अनुसार जीवन का अन्तिम उद्देश्य उपयोगितावादी नहीं, वरन् शालीनता (Dignity) है। अपनी पुस्तक 'ऑन लिबर्टी' मे वह लिखता है कि व्यक्तिवाद का प्रभाव सामान्य विचारधारा द्वारा कठिनाई से ही पहचाना जाता है। वह हम्बोल्ट (Humbold) के 'स्वय अनुभूति' (Self-realisation) के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। मिल का कथन है, "केवल यही महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मनुष्य क्या करता है, यह भी महत्त्वपूर्ण है कि उसके वह खास काम करने के तरीके क्या हैं।" बेन्थम आदि के सिद्धान्तो का उद्देश्य आत्मानुभूति नहीं वरन् आनन्द-प्राप्ति है, जबकि मिल इसके विपरीत यह बताता है कि "वह आनन्द, जो शालीनता अथवा सम्मान की वृद्धि करे, दूसरे आनन्द से श्रेष्ठ है। इस प्रकार श्रेष्ठता का मापदण्ड उपयोगिता का सिद्धान्त नहीं। अत हमे यह कहना चाहिए कि शालीनता अथवा सम्मान की वृद्धि करने वाले श्रेष्ठ होते हैं। मिल यहाँ श्रेष्ठ जीवन का विचार प्रस्तुत कर रहा है। उसके लिए जीवन आनन्द-प्राप्ति के साधन से कुछ अधिक है।"[2] वेपर के अनुसार, "मिल नैतिक उद्देश्यो को सुख या प्रसन्नता से ऊँचा मानता है। जब कोई व्यक्ति नैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति कर लेता है तो प्रसन्नता स्वयं उसके कदम चूमती है। उपयोगितावाद मे मिल की नैतिकवाद की अवधारणा से बेन्थम की विचारधारा में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। मिल ने राज्य को नैतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए एक नैतिक सस्थान घोषित किया है। राज्य का उद्देश्य उपयोगिता नही, वरन् व्यक्ति में नैतिक गुणो का विकास करना है। इस प्रकार मिल उपयोगितावाद की रक्षा इसमें पूर्ण परिवर्तन लाकर ही कर सका है।"

4. मिल की नैतिकताएँ बेन्थम से अधिक सन्तोषजनक—सम्मान अथवा शालीनता का उपयुक्ततावादी विचार मिल को नैतिक बाधा के अनुपयोगितावादी विवेचन की भी प्रेरणा देता है। "बेन्थम ने नैतिक बाधा का कारण केवल मनुष्य की स्वार्थपरता को माना है, परन्तु मिल का विचार इससे भिन्न है। उसके अनुसार भय, स्मृति, स्वार्थ नैतिकता में उसी प्रकार बाधा पहुँचाते हैं जिस प्रकार प्रेम, सहानुभूति तथा धार्मिक भावनाएँ। मिल कुछ अधिक यथार्थवादी प्रतीत होता है। वह टी. एच. ग्रीन के विचार को स्वीकार करता है जिसके अनुसार सार्वजनिक कर्त्तव्यो तथा उत्तरदायित्वो का जन्म तार्किक आधार पर व्यक्तिगत अधिकारो तथा

1. *Mill* : Utilitarianism, p. 10.
2 वेपर : वही, पृ. 137.

हितों से नहीं हो सकता। मिल के अनुसार नैतिक बाधा की भावना उपयोगितावादी सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट नहीं की जा सकती। इस प्रकार उसकी नैतिकताएँ बेन्थम से अधिक सन्तोषजनक हैं।

5. स्वतन्त्रता उपयोगिता से अधिक उच्च और मौलिक—बेन्थम के उपयोगितावाद में मिल एक और भी परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। जैसाकि वेपर ने लिखा है—"मनुष्य की आत्मा को श्रेष्ठ बनाने का विचार उसे स्वतन्त्रता के अनुपयोगितावादी विश्लेषण की ओर अग्रसर करता है। सच्चे उपयोगितावादियों के लिए स्वतन्त्रता उपयोगिता से निम्न है, परन्तु मिल के लिए स्वतन्त्रता उपयोगिता से अधिक उच्च और अधिक मौलिक है।"

6. सुखों की प्राप्ति अप्रत्यक्ष ढंग से होती है—मिल ने 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' की कल्पना को स्वीकार करते हुए इसमें बेन्थम की व्याख्या की त्रुटि को दूर करने की चेष्टा की। बेन्थम ने कहा था कि राज्य के कार्यों की नाप-तौल करते समय अन्य बातों के साथ ही विस्तार पर भी बल दिया जाना चाहिए अर्थात् यह देखना चाहिए कि राज्य की कितनी अधिक जनसंख्या को उस कार्य से सुख पहुँचेगा। पर यह प्रश्न अविचारित रह गया था कि एक व्यक्ति के सुख की खोज में लगे रहने पर वह अन्य व्यक्तियों को सुख किस तरह पहुँचा सकेगा। मिल ने इसका समाधान करते हुए बतलाया कि यद्यपि अपना ही अधिकतम सुख प्राप्त करने की लालसा व्यक्ति का एकमात्र उद्देश्य रहता है, तथापि तुरन्त ही वह सामाजिक हित के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के अधिकतम सुख का रूप धारण कर लेता है। प्रारम्भ में व्यक्ति किसी कार्य को इसलिए करता है कि उसे उससे सुख प्राप्त होता है, किन्तु बाद में वही सुख साध्य बन जाता है। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति को कष्ट में देखकर मनुष्य उसकी सहायता करता है और इस कार्य से उसको स्वयं सुख प्राप्त होता है। इससे उसे दूसरे व्यक्ति की सेवा में सुख मिलने लगता है और कालान्तर में वह निजी सुख को भुलाकर भी दूसरों की सेवा में लगा रहता है।

7. मिल का सिद्धान्त नैतिक, बेन्थम का राजनीतिक—एक अन्य दृष्टिकोण से भी मिल की धारणा बेन्थम की धारणा से भिन्न है। बेन्थम अधिकतम सुख के सिद्धान्त को एक राजनीतिक सिद्धान्त समझता था, नैतिक नहीं। उसकी रुचि इस बात में अधिक थी कि "विधि-निर्माता और शासक सामाजिक नीतियों के निर्धारण तथा विधि-निर्माण में इसका प्रयोग करें।" उसे इसे व्यक्तिगत आचरण का सिद्धान्त बनाने में विशेष रुचि नहीं थी। बेन्थम की मान्यता थी कि यदि कानून को निष्पक्ष होना है तो वह गुणात्मक भेद की बारीकियों में नहीं जा सकता। एक ईमानदार और नेक विधि-निर्माता के सामने इसके अलावा और कोई उपाय नहीं है कि वह यह मान कर चले कि विभिन्न व्यक्तियों के सुखों की तुलना केवल मात्रा की दृष्टि से ही की जा सकती है। पर मिल के हाथों में स्थिति उल्टी हो गई। उपयोगिता का सिद्धान्त विधि-निर्माता के लिए व्यक्तिगत नैतिकता का पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त बन गया। इसके

द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं यह निर्णय करना है कि उसके लिए क्या करना उचित है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का राजनीतिक पहलू धूमिल होकर पृष्ठभूमि में पड़ गया।

अपने विचार को मिल ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"जहाँ तक व्यक्ति के अपने और दूसरों के आनन्द की तुलना का प्रश्न है, उपयोगितावाद की माग है कि व्यक्ति को पूर्णरूप से निष्पक्ष रहना चाहिए जैसे कि एक निष्काम तथा करुणाशील दर्शक हो। ईसा मसीह के स्वर्णिम नियम में हमें उपयोगितावादी आचार-शास्त्र की पूर्ण आत्मा के दर्शन होते हैं। जैसा आचरण आप दूसरे से चाहते हैं वैसा ही आचरण दूसरों के साथ करना और अपने पड़ोसियों से वैसा ही प्रेम करना जैसा आप स्वय अपने से करते हैं, यही उपयोगितावादी नैतिकता का सर्वोत्कृष्ट आदर्श है।"

उपर्युक्त विचारों में इस सिद्धान्त के राजनीतिक पहलू का, जिसमें बेन्थम को इतनी अधिक रुचि थी, उल्लेख तक नहीं किया गया है। वास्तव में मिल के उपयोगितावाद में बेन्थम का राजनीतिक चरित्र धुंधला पड़ गया है। बेन्थम के 'अधिकतम सख्या के अधिकतम सुख' का राजनीतिक सिद्धान्त मिल के हाथों में पहुँच कर व्यक्तिगत नैतिकता का सिद्धान्त बन गया है।

8. मिल द्वारा अन्तःकरण के तत्व पर बल—बेन्थम ने उपयोगितावाद के भौतिक पक्ष पर बल देते हुए बाह्य बातों पर अधिक ध्यान दिया जबकि मिल ने आन्तरिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया। उसने बेन्थम के व्यक्तिगत और सामाजिक हितों में एकता एवं सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। बेन्थम ने व्यक्ति को सुख प्राप्ति के लिए प्रेरित करने वाले चार बाह्य दबावों—शारीरिक, सार्वजनिक, धार्मिक और नैतिक की चर्चा की थी। उसने यह सब प्रति विशेष सुखों और दुखों तथा व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक हितों में एकरूपता स्थापित करने की समस्या के निराकरण के लिए किया था। किन्तु मिल ने इस निराकरण को अपर्याप्त मानते हुए विश्वास प्रकट किया कि इस प्रकार कृत्रिम साधनों द्वारा स्थापित की हुई हितों की एकरूपता स्थायी नहीं हो सकती। उसने ऐसा आधार ढूंढने के प्रयत्न में, जो व्यक्ति को अपने स्वार्थों की बलि देकर भी सामान्य हित-साधना की ओर उन्मुख करे, अन्तःकरण के तत्व पर विशेष बल दिया। जहाँ बेन्थम ने इस तत्व की उपेक्षा की वहाँ मिल ने दृढ़तापूर्वक कहा कि हमारा अन्तःकरण सुख-दुख का अनुभव करता है। नैतिक एवं शुभ कार्यों से हमारे अन्तःकरण को शान्ति और सुख प्राप्त होता है जबकि नीच और पापपूर्ण कार्यों से उसे पश्चाताप की अग्नि में जलना पड़ता है। सुख केवल सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और शारीरिक ही नहीं, वरन् आत्मिक, मानसिक और आध्यात्मिक भी होता है। आखिर प्रभु ईसा मसीह को हँसते-हँसते सूली पर चढ़ने में कौन-सा सुख मिला? क्या वे बाह्य सुख की प्राप्ति के लिए सूली पर चढ़े? नहीं, उनका सुख आन्तरिक था और यही वास्तविक सुख होता है।

मिल ने अन्तःकरण का अर्थ आत्मानुभूतिवादियों (Intuitionists) की तरह किसी अन्तर्नैतिक शक्ति से नहीं लिया। उसने कहा कि अन्तःकरण तो भावनाओं

का एक पिन्ड है जिसे हमारे पापाचार के कारण दुःख पहुँचता है व सदाचार के नियमों का उल्लंघन करने से हमें पश्चाताप की आग में जलना पड़ता है। यही अन्तःकरण का तत्त्व है चाहे उसके स्वरूप और मूल के बारे में हमारे विचार कुछ भी हों। मिल ने अन्तःकरण के तत्त्व को 'मानवता के कल्याण की भावना' की संज्ञा दी और इसे दूसरों के दुःख-सुख की चिन्ता कहकर पुकारा। उसने इसे एक स्वाभाविक भावना माना।

मिल द्वारा अन्तःकरण के तत्त्व पर बल दिए जाने में निहित अर्थ यह है कि व्यक्ति को केवल स्वार्थी समझना भ्रामक है, वह परमार्थ-भावना से भी कर्म के लिए प्रेरित होता है। मिल का यह विचार बेन्थम की इस धारणा के विपरीत है कि समाज स्वार्थी लोगों का समूह है और मनुष्य अपनी अहंवादिता के कारण अपने निजी लाभ के लिए ही कर्म करता है। मिल ने बेन्थम के समान वैयक्तिक सुख पर अधिक बल न देकर सामाजिक हित को उच्चतर माना और सामाजिक सुख की स्थिति में ही व्यक्तिगत सुख की कल्पना की है। सुख साध्य है और उसकी प्राप्ति का साधन है नैतिकता। नैतिकता पूर्णतः सामाजिक है। न्याय और सहानुभूति उसके आधार हैं। स्वस्थ सामाजिक वातावरण में ही 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' सम्भव है। अतः एक व्यक्ति को यदि अपना सुख वांछित है तो उसे सामान्य सुख के लिए प्रयास करना चाहिए। एक व्यक्ति का सुख अच्छा है, हरेक व्यक्ति का सुख अच्छा है और इसीलिए सामान्य सुख सभी व्यक्तियों के लिए सामूहिक रूप में अच्छा है। अपने विचार को अधिक स्पष्ट करते हुए उसने 'Letters' में एक स्थल पर लिखा है, "जब मैं यह कहता हूँ कि सामान्य सुख संयुक्त रूप से सभी व्यक्तियों का सुख है, तो यह मेरा आशय नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति का सुख प्रत्येक अन्य व्यक्ति का सुख है। यद्यपि मैं अच्छे समाज और शिक्षित अवस्था में इसे ऐसा मानता हूँ, तथापि मेरा अभिप्राय केवल यह है कि 'अ' का सुख अच्छा है, 'ब' का सुख अच्छा है, 'स' आदि का सुख अच्छा है; और इस प्रकार इन सभी की अच्छाइयों का योग अवश्य ही सामान्य रूप से अच्छा होगा।"

मिल के उपयोगितावादी विचारों का मूल्यांकन

स्पष्ट है कि मिल और बेन्थम के उपयोगितावादी विचारों में गहरा अन्तर है। मिल बेन्थम के विचारों में परिष्कार और संशोधन करते हुए बेन्थम की मौलिक मान्यताओं पर ही कुठाराघात कर देता है। मिल ने उपयोगितावाद के राजनीतिक स्वरूप को भुलाकर उसे नैतिक जीवन के अधिक अनुकूल बनाने की चेष्टा में बेन्थम के सुखवाद के मौलिक विचारों को ही अस्वीकार कर दिया। उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा करने में उसने उसका स्वरूप ही विकृत कर दिया। यद्यपि गुणात्मक पहलू पर जोर देने से उपयोगितावादी विचारधारा में मानवीयता का अधिक समावेश हुआ, तथापि इससे बेन्थम का मापक चक्र अस्त-व्यस्त हो गया। सुखों के गुणात्मक अन्तर को किस प्रकार नापा जाए, यह भी एक जटिल प्रश्न बन गया। प्रो. सेबाइन ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—

"उसने अपने सुखवाद में सुख के उच्च और निम्न स्तर का नैतिक सिद्धान्त और जोड़ दिया। इसका अभिप्राय यह था कि मिल एक मानक को नापने के लिए एक मानक की माँग कर रहा था। यह एक तरह का विरोधाभास था और इसने उपयोगितावाद को पूर्णरूप से एक अनिश्चित सिद्धान्त बना दिया। सुखों के गुण को परखने का कभी कोई मानक निर्धारित नहीं किया गया था और यदि यह किया भी जाता तो वह सुख न होता।"[1] इसी सन्दर्भ में सेबाइन का कथन है कि—

"इस भ्रम की जड़ यह थी कि मिल बेन्थम के अधिकतम सुख के सिद्धान्त के व्यावहारिक पक्ष को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं था। बेन्थम का व्यावहारिक पक्ष यह था कि उसके आधार पर विधान की उपयोगिता को परखा जा सकता था। वह अधिकतम सुख के सिद्धान्त को मुख्य रूप से विधान पर ही लागू करना चाहता था। उसे इस बात की चिन्ता नहीं थी कि व्यक्तिगत नैतिकता में किन मानकों का प्रयोग किया जाता है। इसके विपरीत मिल के उपयोगितावाद की विशेषता यह थी कि उसने अपने व्यक्तिगत आदर्शवाद के अनुसार ही नैतिक चरित्र की एक संकल्पना प्रस्तुत की। बेन्थम का कहना था कि "पुश्पिन (बच्चों का एक प्रकार का खेल) उतना ही अच्छा है जितना काव्य; शर्त यह है कि वह समान सुख देता हो।" मिल के अनुसार यह कथन मूर्खतापूर्ण है। उसका मत यह था कि एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा एक असन्तुष्ट सुकरात श्रेष्ठ है। मिल का कथन एक सामान्य नैतिक प्रतिक्रिया को अवश्य व्यक्त करता है, लेकिन वह सुखवाद नहीं है। मिल के नीतिशास्त्र का उदारवाद के लिए महत्त्व यह है कि उसने अहंकारिता का त्याग किया और यह स्वीकार किया कि सामाजिक कल्याण एक ऐसा विषय है जिसके बारे में सभी सदाशय लोगों को चिन्ता होनी चाहिए। मिल स्वतन्त्रता, ईमानदारी, आत्मसम्मान और व्यक्तिगत अभ्युदय को अपने-आप में ही अच्छी चीजें मानता था। ये चीजें अवश्य ही सुख की वृद्धि करती हैं। यदि इनसे सुख की वृद्धि न भी हो तब भी ग्राह्य हैं। मिल का इस तरह का नैतिक विश्वास उदारवादी समाज की सम्पूर्ण संकल्पना में निहित है।"

यद्यपि बेन्थमवाद की रक्षा के प्रयत्न में मिल अपने परिवर्तनों में वास्तव में उसे नष्ट करने की ओर अग्रसर होता है, तथापि यह भी सच है कि मिल बेन्थमवाद में एक शक्तिशाली परिवर्तन लाता है जो बेन्थमवाद से कहीं अधिक उपयोगितावादी है। वेपर के अनुसार, "उसकी रचनाओं में राज्य का नकारात्मक चरित्र लोप हो जाता है। अपनी 'पॉलिटिकल इकॉनामी' में वह स्पष्ट कहता है कि व्यक्तिगत प्रसन्नता के अनुगमन का परिणाम सामाजिक प्रसन्नता ही होगी। यह कथन मनुष्यों की शक्ति सम्बन्धी विभिन्नताओं तथा ऐतिहासिक प्रभावों को नगण्य कर देता है। यदि मनुष्यों का वातावरण चिरकाल से असमान है, तो वे प्रतियोगिता की दौड़ में बराबर नहीं आ सकते। भूमि, उद्योग और ज्ञान पर अल्प-सख्यकों का एकाधिकार होता है। विधि सम्बन्धी सम्पूर्ण योजना उन्हीं अल्प-सख्यकों के द्वारा निर्धारित होती है। इस कारण

मिल समाजवाद के प्रति बहुत सहानुभूति रखता है और चाहता है कि राज्य को व्यक्ति के विकास की बाधाओं को हटाकर बहुसंख्यकों के जीवन को सुखमय बनाने का एक साधन बनाना चाहिए। मिल बेन्थम के धन या सम्पत्ति के महत्त्व को कोई स्थान नहीं देता। जमींदारी में उसे कोई भलाई दिखाई नहीं देती। मिल अनिवार्य शिक्षा का समर्थन करता है। वह उत्तराधिकारजन्य अधिकार को सीमित करने को सहमत है। वह शिशुओं के लिए औद्योगिक कानून का समर्थन करता है। उसकी धारणा है कि प्रयोगात्मक एकाधिकारियों पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। आर्थिक विषयों में वह मजदूरों के कार्य करने के घण्टों को सीमित कर देना चाहता है। इन सब में वह बेन्थम से अधिक उपयोगितावादी सिद्ध हुआ है।"[1]

यदि देखा जाए तो बेन्थम का उपयोगितावाद परम्परागत नैतिक मान्यताओं के मूल्यांकन की कसौटी है जबकि मिल का उपयोगितावाद एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें उनके बौद्धिक-स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है। इसीलिए मैक्सी (Maxey) ने लिखा है कि "मिल की उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा में बेन्थम की मान्यताओं का बहुत कम अंश रह गया है।"[2] अवश्य ही मिल ने अपनी विशाल हृदयता से उपयोगितावाद को नैतिक जीवन के अधिक अनुकूल बनाया और कुछ काल के लिए जनता को मुग्ध कर लिया, किन्तु अन्त में इसके कारण उत्पन्न असंगतियों ने उसकी ख्याति को बहुत ठेस पहुँचाई। उपयोगितावाद की रक्षा में तर्कशास्त्र का खजाना खाली करने वाले मिल से उपयोगितावाद का पक्ष प्रबल न हो सका। उसने बेन्थम द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद के आलोचकों को शान्त कर दिया, परन्तु बदले में बहुसंख्यक आलोचकों को जन्म दिया जो इस परिवर्तित और संशोधित उपयोगितावाद के विरुद्ध तर्कों की बौछार करने लगे। मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद में नैतिक सिद्धान्तों का समावेश कर उसे मानवीय बनाने का सराहनीय कार्य अवश्य किया, लेकिन दार्शनिकता की ओर बढ़ने का दुष्परिणाम यह हुआ कि उपयोगितावाद की व्यावहारिकता ही समाप्त हो गई।

मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा
(Mill's Conception on Liberty)

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों का समावेश उसकी पुस्तक 'On Liberty' में है। मिल के समय राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत अधिक बढ़ गया था और सरकार जनहित के नाम पर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को विनियोजित करने वाले कानून बनाने लगी थी। सामाजिक व्यवस्थापन द्वारा सामान्य जनता की सुख-वृद्धि के प्रयास में ब्रिटिश सरकार जिस प्रकार वैयक्तिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने लगी थी उससे मिल को यह भ्रम हो गया था कि जनता का बहुमत अथवा लोकप्रिय शासन भी कहीं भूतकालीन निरंकुश शासन के समान आततायी और स्वेच्छाचारी न बन जाए। उसका विश्वास था कि राज्य द्वारा अधिक अधिनियमों के निर्माण का अर्थ है—

1 वेपर : पूर्वोक्त पृष्ठ 141.
2 *Maxey*: op. cit., p. 487.

व्यक्ति और उसकी स्वतन्त्रता पर अधिक प्रतिबन्ध लगना तथा अधिक प्रतिबन्धो का अर्थ था राज्य के समस्त नागरिक के व्यक्तित्व का हनन। उसकी मान्यता थी कि राज्य को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन करने का कोई अधिकार नही है। 'जनता के शासन' के नाम पर बहुमत द्वारा अल्पमत पर मनचाहे प्रतिबन्ध लगाना अथवा लोकमत के नाम पर अनुचित कानूनों को थोप देना सर्वथा अवांछनीय है। अपने इन्ही विचारो के कारण मिल ने मानव-स्वतन्त्रता के व्यक्तिवादी रूप का प्रतिपादन किया। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पक्ष मे किए गए उसके तर्कों को पढने से स्पष्ट आभास होता है कि उपयोगितावादी तर्कों का अतिक्रमण हो गया है। इसलिए सेबाइन ने लिखा है—"मिल का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन उपयोगितावादी समर्थन से कुछ अधिक है।"

मिल के चिन्तन में व्यक्ति का स्थान

मिल व्यक्ति का पुजारी है। उसका सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन व्यक्ति के मूल्य पर आधारित है। मिल व्यक्ति को सामाजिक प्राणी स्वीकार करता है, लेकिन साथ ही यह विश्वास भी व्यक्त करता है कि व्यक्ति समाज के हित मे स्वेच्छा से योग नही देता। "व्यक्ति के हितो को व्यक्ति ही समझ सकता है, न कि समाज। अपने सर्वोत्तम हित को व्यक्ति ही सर्वोत्तम रूप से जानता है और वही उसे सर्वोत्तम ढग से प्राप्त कर सकता है।"

मिल का विश्वास है कि व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने और सुन्दर बनाने की स्वतन्त्रता है। इसके लिए आवश्यक है कि उसे विचार एव अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान की जानी चाहिए। मिल के अनुसार व्यक्ति अपने शरीर और मस्तिष्क का स्वामी है और इसलिए उसे अपने सम्बन्ध मे पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस क्षेत्र मे समाज अथवा राज्य को व्यक्ति के आचरण पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाना चाहिए। व्यक्ति का सर्वतोन्मुखी विकास तभी सम्भव है जब उसे अपने लिए आवश्यक परिस्थितियों को स्वय ही निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त हो। व्यक्ति चरम सत्य है। सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व व्यक्ति के हित-साधन के लिए ही है। सामाजिक सस्थाओ की कसौटी यही है कि वे व्यक्ति का हित-साधन किस सीमा तक करती हैं।

व्यक्ति की राज्य और समाज के हस्तक्षेप से रक्षा होना आवश्यक है

मिल की दृढ धारणा थी कि अपने व्यक्तित्व का विकास करना ही मनुष्य का ध्येय है, किन्तु इस ध्येय की प्राप्ति में राज्य और समाज द्वारा कुछ बाधाएँ उपस्थित की जाती हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। इन बाधाओ के निराकरण की अवस्था ही स्वतन्त्रता है। समाज और राज्य द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन अनुचित है। होता यह है कि समाज यह कदापि बर्दाश्त नही करता कि कोई उसकी मान्य परम्पराओ को तोडकर नवीन परम्पराओ की स्थापना करे। यदि कोई ऐसा दुस्साहस करता है तो समाज के पजे उसे पकडने के लिए तत्पर रहते हैं। पर समाज को ऐसा कोई अधिकार नही होना चाहिए। समाज को तो व्यक्ति के आचरण के

केवल उस भाग का नियन्त्रण करना ही उचित है जो दूसरों से सम्बन्धित हो। व्यक्ति अपना, अपने शरीर का तथा अपने मस्तिष्क का स्वयं स्वामी है। अतः समाज की निरंकुशता से व्यक्ति की रक्षा होनी चाहिए। समाज प्रायः अपने व्यवहार और आचरण द्वारा व्यक्तियों पर एक विशिष्ट व्यवस्था को थोपने का प्रयत्न करके व्यक्तित्व के निर्माण को अवरुद्ध कर देता है। कभी-कभी तो सामाजिक नियमों के कारण व्यक्तित्व का विकास बिल्कुल ही रुक जाता है। समाज व्यक्ति को स्वविवेकानुसार कार्य नहीं करने देता और बाध्य करता है कि वह सामाजिक दृष्टिकोण के अनुकूल ही अपने चरित्र का निर्माण करे। यह स्थिति बड़ी हेय है जिसे समाप्त किया जाना चाहिए। समाज के समान ही राज्य को भी कोई अधिकार नहीं है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करे। मिल के अनुसार, "शासकगण नियमित रूप से समाज के प्रति उत्तरदायी हैं। राजनीतिक क्षेत्र में बहुमत के अत्याचार जैसी बुराई से अपनी रक्षा करना आवश्यक है।" राज्य को व्यक्ति के जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। वह व्यक्ति के जीवन में केवल आत्म-रक्षा के लिए हस्तक्षेप कर सकता है। यदि अपने कार्यों द्वारा कोई व्यक्ति दूसरे की समानता में बाधक हो, तो राज्य का हस्तक्षेप न्यायोचित है।

मिल की स्वतन्त्रता का स्वरूप

जैसा कि कहा जा चुका है, मिल के लिए स्वतन्त्रता उपयोगिता से अधिक उच्च और अधिक मौलिक थी। इसी भावना ने उसके 'Essay on Liberty' को अमर बना दिया। मिल ने जिस स्वतन्त्रता का पक्ष-पोषण किया है, वह एक व्यापक स्वतन्त्रता है। उसका विश्वास है कि स्वतन्त्रता के अभाव में किसी प्रकार का प्रात्म विकास नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता और आत्म-विकास का यही सम्बन्ध उसके अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु है और उसका तर्क है कि समाज की प्रसन्नता के लिए स्वतन्त्रता अनिवार्य है। 'ऑन लिबर्टी' में स्वतन्त्रता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मिल ने लिखा है कि—"मानव जाति किसी भी घटक की स्वतन्त्रता में केवल एक आधार पर ही हस्तक्षेप कर सकती है और वह है आत्मरक्षा। सभ्य समाज के किसी भी सदस्य के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग केवल इसी उद्देश्य के लिए ही सकता है कि उसे दूसरों को हानि पहुँचाने से रोका जाए। उसका अपना भौतिक या नैतिक हित इसका पर्याप्त औचित्य नहीं है। किसी भी व्यक्ति को कोई काम करने या न करने के लिए विवश करना इस आधार पर उचित नहीं माना जा सकता कि ऐसा करना उस व्यक्ति के हित में है या ऐसा करने से उसके हित में वृद्धि होगी या ऐसा करना बुद्धिमत्तापूर्ण है।" "समाज मानव आचरण के केवल उसी अंश को नियन्त्रित कर सकता है जो दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्धित हो। स्वयं अपने ही कार्यों में उसकी स्वतन्त्रता अधिकारतः निरपेक्ष है।" मिल के विचारों का और अधिक स्पष्टीकरण वेपर के इन शब्दों से होता है कि—

हानि पहुँचाने वाले कार्यों से रोकना उचित ही है। मिल सभी तरह के कार्यों को दो श्रेणियों में विभाजित करता है—स्वयं से सम्बन्धित कार्य तथा पर-सम्बन्धी कार्य। वह बताता है कि स्वयं से सम्बन्धित कार्यों पर कोई भी नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। परन्तु पर-सम्बन्धी कार्य जो दूसरों को हानि तथा दुःख पहुँचाते हैं, वे नियन्त्रित होने ही चाहिएँ। मिल का यह मत अनुपयोगितावादी है। वह इस अनुमान पर आधारित है कि नियन्त्रण एक बुराई है। यह मत उपयोगितावादी सिद्धान्त द्वारा उचित नहीं ठहराया जा सकता। वह सिद्धान्त उपयोगिता का नहीं, आत्मविकास का है।"[1]

"मिल की दूसरी परिभाषा के अनुसार अपनी इच्छानुसार कार्य करने की छूट ही स्वतन्त्रता है। आप यदि यह जानते हैं कि अमुक व्यक्ति का अमुक पुल को पार करना खतरनाक है और इसलिए आप उसे पुल पार करने से रोक देते हैं तो आप उचित ही करते हैं। स्वतन्त्रता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होती है तथा किसी व्यक्ति की इच्छा नदी में डूबने की नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता की यह परिभाषा नियन्त्रण के लिए दरवाजा खुला रखती है। यदि एक बार यह मान लिया जाए कि कोई दूसरा व्यक्ति आपकी इच्छा को आपसे अच्छी तरह जान सकता है और स्वतन्त्रता उसी को कहते हैं जो आपकी इच्छा होती है, तब तो अन्वेषणाधिकारी मनुष्य को नर्क में जाने से बचाने के कार्य और उसे मुक्ति दिलाने के प्रयत्न भी उचित हैं। मिल कहता है कि व्यक्ति पर स्वतन्त्र होने के लिए दबाव भी डाला जा सकता है। यहाँ वह अतिवादी हो जाता है। उसकी ये परिभाषाएँ भी बेन्थम की परिभाषाओं से भिन्न हैं।"[2]

मिल की स्वतन्त्रता का स्वरूप तब और भी शक्तिशाली बन जाता है जब हम देखते हैं कि वह अलग-अलग पुरुषों और स्त्रियों की उन्नति चाहता है क्योंकि उसका विचार है कि सभी आदर्श और तर्कसंगत वस्तुएँ व्यक्तियों से ही आती हैं और व्यक्तियों से ही आनी चाहिएँ।[3]

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों के दो प्रकार

मिल के अनुसार स्वतन्त्रता के दो प्रकार हैं—

(1) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression), तथा

(2) कार्यों की स्वतन्त्रता (Freedom of Action)।

1. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression)—विचारों की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में मिल के तर्क बड़े प्रभावशाली हैं। मिल के अनुसार समाज और राज्य को व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने का कोई अधिकार नहीं है। किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार के विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए चाहे वे विचार समाज के अनुकूल हों या प्रतिकूल। बौद्धिक अथवा वैचारिक स्वतन्त्रता न केवल उस समाज के लिए हितकर है जो उसकी अनुमति देता है बल्कि उस व्यक्ति के लिए भी हितकर है जो

1–3 वेपर : वही, पृष्ठ 139.

उसका उपभोग करता है। यदि सम्पूर्ण समाज एक ओर हो और व्यक्ति अकेला दूसरी ओर, तो भी उस व्यक्ति को विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। मिल के ही शब्दों में, "यदि एक व्यक्ति के अतिरिक्त सम्पूर्ण मानव-जाति एकमत हो जाए तो भी मानव-जाति को उसे जबरदस्ती चुप करने का उसी प्रकार अधिकार नहीं है जिस प्रकार यदि वह शक्ति-प्राप्त होता तो उसे मानव-जाति को चुप करने का अधिकार नहीं था।"

सेबाइन ने मिल के उक्त विचार पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि, "जब उसने यह कहा कि सम्पूर्ण मानव-जाति को एक असहमत व्यक्ति को चुप करने का अधिकार नहीं है तब वह निर्णय की स्वतन्त्रता का समर्थन कर रहा था। इस स्वतन्त्रता का आशय यह है कि आप अपनी बात मनवाने के लिए किसी व्यक्ति के साथ जोर-जबर्दस्ती न कीजिए बल्कि उसको अपनी बात समझाइए और उसको विश्वास दिलाइए कि आपकी बात ठीक है। यह विशेषता परिपक्व व्यक्तित्व का लक्षण है। उदारवादी समाज वह है जो इस अधिकार को स्वीकार करता है और अपनी संस्थाओं को इस तरह ढालता है कि इस अधिकार को सिद्ध किया जा सके। व्यक्तित्व और व्यक्तित्व-निर्णय की अनुमति देने को सहन की जाने वाली बुराई मानना पर्याप्त नहीं है। उदारवादी समाज उनको वास्तविक मूल्य देता है। वह उन्हें मानव-जाति के कल्याण के लिए आवश्यक समझता है तथा उच्च-सभ्यता का लक्षण मानता है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व के इस मूल्यांकन ने मिल के उदारवादी शासन के मूल्यांकन को अत्यधिक प्रभावित किया था।"[1]

मिल ने दृढ़तापूर्वक कहा कि सत्य अथवा किसी विचारधारा के दमन से सामाजिक प्रगति अवरुद्ध होती है। यदि मार्टिन लूथर से पहले धर्म-सुधार के प्रयासों तथा धार्मिक आन्दोलनकर्त्ताओं का दमन किया जाता तो धर्म-सुधार आन्दोलन बहुत पहले ही सफल हो गया होता और 16वीं शताब्दी के बाद होने वाली प्रगति काफी समय पूर्व ही सम्पन्न हो जाती। दमन से सत्य का उन्मूलन नहीं किया जा सकता और न विचारों को कब्र में दफनाया जा सकता है। विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता सत्य की पुष्टि और समाज की प्रगति की द्योतक होती है।

मिल ने कहा कि विचार एवं भाषण की स्वतन्त्रता मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इससे अधिकतम मनुष्यों को केवल अधिकतम सुख की अनुभूति ही नहीं होती, बल्कि इसके द्वारा सत्य की खोज भी की जा सकती है। इस राजनीतिक स्वतन्त्रता से उच्च नैतिक स्वतन्त्रता का जन्म होता है। सार्वजनिक प्रश्नों पर उन्मुक्त चर्चा हो, राजनीतिक निर्णयों में उनका हाथ हो, नैतिक विश्वास हो और उस नैतिक विश्वास को कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायित्व का भाव हो—जब ये बातें होती हैं, तभी विवेकशील मनुष्यों का जन्म होता है। इस तरह का चरित्र-निर्माण सिर्फ इसलिए जरूरी नहीं है कि उससे किसी स्वार्थ की पूर्ति

1 सेबाइन, राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 665.

होती है। वह इसलिए भी जरूरी है क्योंकि वह मानवोचित है, क्योंकि वह सभ्य है। "यदि यह अनुभूति हो जाए कि व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास कल्याण की एक प्रमुख शर्त है तथा यह सभ्यता, उपदेश, शिक्षा और संस्कृति का सहयोगी तत्त्व ही नहीं वरन् इन सब का एक आवश्यक अंग भी है तो स्वतन्त्रता की कम कीमत आँकने का कोई खतरा नहीं रहेगा।"

मिल ने वैचारिक स्वतन्त्रता के बाद में जो तर्कसंगत मत प्रकट किया है उसे निष्कर्ष रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

1. विचारों पर प्रतिबन्ध लगाने का अर्थ सत्य पर प्रतिबन्ध लगाना है और सत्य पर प्रतिबन्ध का अर्थ समाज की उपयोगिता का हनन करना है जिसके परिणामस्वरूप समाज का पतन अवश्यम्भावी हो जाता है।

2. अभिव्यक्ति द्वारा सत्य विचारों की पुष्टि होती है। दमनकारी उपायों द्वारा सत्य को बाधित नहीं किया जा सकता। उसे केवल विलम्बित किया जा सकता है। हाँ, इस विलम्ब के फलस्वरूप सामाजिक प्रगति अवश्य अवरुद्ध होती है।

3. सत्य के अनेक पक्ष होते हैं। सामान्यतः एक पक्ष सत्य के एक पहलू को देखता है और दूसरा पक्ष एक दूसरे पहलू को। सत्य के समग्र रूप को समझने के लिए उसे जितने अधिक दृष्टिकोणों से देखने की स्वतन्त्रता दी जाएगी उतना ही अच्छा होगा। ये विविध दृष्टिकोण एक दूसरे के पूरक होते हैं जिनके समन्वय से वास्तविकता का पता चलता है और संघर्षमय परिस्थितियाँ समाप्त होती हैं।

4. यदि कोई व्यक्ति आंशिक सत्य बोलता है यहाँ तक कि मिथ्या भाषण भी करता है तो भी राज्य को उसके विचार-स्वातन्त्र्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। समाज अथवा जनता जब उसके झूँठ को समझ जाएगी, तब उसका समर्थन नहीं करेगी। यदि कोई व्यक्ति सनकी है तो उसे भी अपने विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए क्योंकि हो सकता है कि सनकी व्यक्ति भी किसी नई चिन्तन-पद्धति का आविष्कार करने में सफल हो जाए।

5. यदि किसी व्यक्ति का विचार गलत है, तो उसको व्यक्त होने देने में समाज की हानि नहीं है। इससे तो समाज द्वारा स्वीकृत सत्य का स्वरूप और अधिक निखरेगा। मिथ्या भाषणों की तुलना करके हम सत्य को परख सकते हैं। मिथ्या और सत्य में विरोधाभास है, अतः सत्य को एक सजीव रूप से समाज में प्रस्तुत किया जा सकता है।

6. तर्क-बुद्धि से सत्य की परख होती है, ज्ञान का विकास होता है और मिथ्या एवं अन्धविश्वासपूर्ण परम्पराओं का अन्त होता है।

इस प्रकार मिल के अनुसार किसी भी व्यक्ति को किसी भी दशा में विचार व्यक्त करने से रोकना अनुचित है क्योंकि, "विचार अभिव्यक्ति को रोकने में भारी दोष यह है कि ऐसा करना मानव-जाति की वर्तमान तथा भावी नस्लों को स्वतन्त्रता से वंचित करना है।" स्वतन्त्रता को छीनने के भीषण परिणामों का उदाहरण देने के लिए मिल सुकरात और ईसा मसीह की हत्या का उल्लेख करता हुआ कहता है—

"क्या मानव-जाति कभी भूल सकती है कि कभी किसी जमाने में सुकरात नाम का एक मनुष्य हुआ था जिसकी राज्याधिकारियों और लोकमत से एक स्मरणीय टक्कर हुई थी। विचारों का तब तो तिरस्कार ही हुआ था, यद्यपि 2000 वर्ष से अधिक समय बीत जाने पर भी उसके विचार अमर हैं और भविष्य में भी रहेंगे।"

मिल ने इस बात पर बल दिया है कि एक ऐसे लोकमत का निर्माण होना चाहिए जो सहिष्णुतापूर्ण हो, जो आपसी मतभेदों को महत्त्व देता हो और जो नए विचारों का स्वागत करने के लिए तैयार हो।

2. **कार्यों की स्वतन्त्रता (Freedom of Action)**—वैचारिक स्वतन्त्रता का महत्त्वपूर्ण पक्ष कार्य की स्वतन्त्रता है। मिल का दृढ़ मत है कि "विचारों की स्वतन्त्रता अपूर्ण है यदि उन विचारों को क्रियान्वित करने की स्वतन्त्रता न हो।" दृष्टि, सकल्प, सृष्टि—ये मनुष्य के अविभाज्य अंग हैं और कार्यों द्वारा मनुष्य अपना अनुदाय समाज को देता है। यह अनुदाय उसके व्यक्तित्व का मानवीय तत्त्व है, साथ ही सामाजिक प्रगति का अनन्यतम साधन है। यदि कोई व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक केवल सोचता ही है, पर आचरण में सदा दूसरों की आज्ञा का अनुवर्ती रहता है, तो वह जीवित दास (Slave) है क्योंकि उसके मन और शरीर पृथक् हैं, वह अपूर्ण मानव है। "सोचने, समझने, बोलने और कार्य करने की स्वतन्त्रता एक ही प्रधान तत्त्व के सोपान हैं, इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्वतन्त्र कार्य के अभाव में स्वतन्त्र चिन्तन वैसा ही है जैसा कि पक्षी उड़ना तो चाहता है, पर उसके पंख उड़ते नहीं।"

मिल ने कहा कि लोकमत के नाम पर शासन जनता की स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचाता है, अतः यह आवश्यक है कि वैयक्तिक जीवन में राज्य द्वारा किए जाने वाले हस्तक्षेप समाप्त किए जाएँ, पर कार्य-स्वतन्त्रता में मर्यादा का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए। राज्य के विधि-निर्माणकारी अधिकार-क्षेत्र की सीमा निश्चित करते हुए उसने लिखा है, "मानव-जाति व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से अपने किसी भी सदस्य की स्वतन्त्रता में केवल आत्म-रक्षा के क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकती है। सभ्य समाज के किसी भी घटक के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग केवल उसे दूसरों को हानि पहुँचाने से रोकने के लिए उचित हो सकता है।" व्यक्ति के कार्यों पर, चाहे वे सही हो या गलत, समाज अथवा राज्य को प्रतिबन्ध लगाने का कोई अधिकार नहीं है। पर व्यक्ति के ऐसे कार्यों पर अवश्य प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं जिनके द्वारा समाज के अन्य व्यक्तियों पर कोई अवांछनीय प्रभाव पड़ता हो। उदाहरणार्थ, यदि मदिरा-पान एकान्त में हो तो कोई बात नहीं, लेकिन सार्वजनिक रूप से यह मान्य नहीं हो सकता। यदि व्यक्ति जुआ खेलता है और इसका सामाजिक प्रभाव नगण्य है तो व्यक्ति के इस कार्य में राज्य द्वारा हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अपने घर में आग लगा ले और दूसरों को ललकार कर कहे कि आप लोग बुझाने वाले कौन होते हैं तो यह कार्य स्वतन्त्रता का नहीं मूर्खता का द्योतक कहलाएगा, क्योंकि उसके घर की आग पड़ोसियों के घरों को भी जला सकती है। सामाजिक

क्षेत्र से सम्बन्धित कार्यों में राज्य को हस्तक्षेप करना ही पड़ता है, लेकिन यह हस्तक्षेप भी वहीं तक उचित है जहां तक उससे असामाजिक कार्यों को रोका जाता हो। वास्तव में मिल यह स्पष्ट करना चाहता था कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सामाजिक और वैधिक अधिकारों तथा दायित्वों पर निर्भर है। सेबाइन ने मिल के विचारों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—

"विधान की उचित समस्याओं के बारे में मिल के विचार बहुत स्पष्ट थे। उसने कुछ वास्तविक मामलों पर जिस ढंग से विचार किया उनसे यह बात प्रमाणित हो जाती है। उसके निष्कर्ष किसी नियम पर आधारित नहीं थे। वे निर्णय की आत्मनिष्ठ आदतों पर निर्भर थे। उदाहरण के लिए, मिल ने मादक द्रव्यों की बिक्री के निषेध को स्वतन्त्रता का अतिक्रमण माना है लेकिन उसने अनिवार्य शिक्षा को स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नहीं माना। उसके ये दोनों विचार कुछ असंगत से हैं। इस असंगति को इस आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य की शिक्षा उसके निजी व्यक्तित्व की अपेक्षा दूसरे व्यक्तियों को अधिक प्रभावित करती है। वह सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं कल्याण की दृष्टि से व्यापार तथा उद्योगों पर सरकार का व्यापक नियन्त्रण स्वीकार करने के लिए तैयार था। उसने इस नियन्त्रण की ठीक-ठीक सीमाओं का उल्लेख नहीं किया। मिल का सिद्धान्त चाहे कितना ही अस्पष्ट क्यों न रहा हो, इसका एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष—आर्थिक निर्हस्तक्षेप का त्याग था। बेन्थम का कहना था कि विधान स्वभाव से ही खराब होता है और उसका उपयोग कम से कम होना चाहिए। बेन्थम के इस कथन का वास्तविक आशय जो बेन्थम के लिए था, वह मिल के लिए नहीं था। मिल ने प्रारम्भिक उदारवाद के इस सिद्धान्त को त्याग दिया कि अधिकतम स्वतन्त्रता उसी समय सम्भव हो सकती है जबकि विधान न हो। उसने कहा कि बल-प्रयोग की विधान के अतिरिक्त और भी अनेक विधाएँ हो सकती हैं। दो परिणामों में इसका एक परिणाम हो सकता है—या तो विधान का बल-प्रयोग कम करने के उदारवादी प्रयोजन के रूप में नहीं परखा जा सकता या उदारवादी सिद्धान्त का इस तरह विस्तार किया जाना चाहिए कि उसमें वैधिक बल-प्रयोग तथा विधि के बाह्य-बल-प्रयोग के सम्बन्ध पर विचार हो सके। बाह्य-बल-प्रयोग राज्य के निष्क्रिय रहने से उत्पन्न होता है, ग्रीन ने नकारात्मक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त द्वारा इस प्रश्न पर आगे चलकर विचार किया। जहां तक मिल का सम्बन्ध है उसने मानववादी आधारों पर सामाजिक विधान की आवश्यकता को स्वीकार किया, तथापि उसने इसकी उचित सीमाओं का निर्धारण नहीं किया।"[1]

मिल के इन विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव-जीवन के दो पहलू हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। इसके अनुरूप वह व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में विभाजित करता है—

1 सेबाइन : राजनैतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 668

(1) स्व-सम्बन्धी कार्य (Self-regarding Actions)
(2) पर-सम्बन्धी कार्य (Others-regarding Actions)

व्यक्ति के स्व-सम्बन्धी कार्य वे हैं जिनसे अन्य व्यक्ति प्रभावित नहीं होते। इन कार्यों की परिधि व्यक्ति स्वयं है, जैसे कपड़े पहनना, शिक्षा प्राप्त करना, सिगरेट पीना, पान खाना आदि। व्यक्ति को ऐसे कार्यों को अपनी इच्छानुसार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इनमे राज्य का कोई भी हस्तक्षेप वांछनीय नहीं है। व्यक्ति को स्व-सम्बन्धी कार्यों की स्वतन्त्रता न देना उसे पशु बनाना है। व्यक्तिगत कार्यों की स्वतन्त्रता का अभाव समाज की प्रगति के लिए खतरा बन जाता है। मिल के अनुसार, "जिस प्रकार विज्ञान की प्रगति का आधार नवीन आविष्कार है, उसी प्रकार समाज मे भी जीवन और गति का आधार नवीनता मे निहित है। नवीनता (Variety) के अभाव मे जीवन शून्य हो जाएगा। अतः इस नवीनता की रक्षा के लिए भी यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत कार्यों मे व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो।"

पर-सम्बन्धी कार्य व्यक्ति के वे कार्य हैं जिनसे समाज अथवा अन्य व्यक्ति प्रभावित होते हैं। ऐसे कार्यों मे राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है, क्योंकि यद्यपि व्यक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक है तथापि इसके द्वारा दूसरों की स्वतन्त्रता का बलिदान नही किया जा सकता। यदि व्यक्ति समाज मे अभद्रता और अनैतिकता को प्रोत्साहन देता है अथवा ऐसे सगठनों का निर्माण करता है जिनसे सामाजिक शान्ति और सुरक्षा भंग होती हो, राज्य को अधिकार है कि वह उसके कार्यों मे हस्तक्षेप करे, लेकिन वहीं तक यह हस्तक्षेप व्यक्ति के सामाजिक कार्यों को रोकने के लिए आवश्यक हो। अपना पूर्ण अहित करने वाले व्यक्तिगत कार्य भी, मिल के अनुसार, राज्य द्वारा प्रतिबन्धित हो सकते हैं—जैसे आत्महत्या का कार्य।

मिल ने कार्यों की स्वतन्त्रता को चरित्र-निर्माण और सामाजिक विकास की दृष्टि से न्यायपूर्ण बतलाया है। चरित्र-निर्माण मे व्यक्तिगत अनुभव तथा परीक्षण के बाद किया गया सकल्प कार्य रूप मे व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही लाभ देता है। बुरी आदतों अथवा क्रियाओं को रोकने के लिए राज्य को परोक्ष रूप से हस्तक्षेप करना चाहिए। इन परोक्ष रूपों मे निवारणात्मक उपाय, शिक्षा-प्रचार, प्रोत्साहन, चित्र-प्रदर्शन आदि गणना हो सकती है। मिल की धारणा के अनुसार "मद्य-निषेध के लिए कानून बनाकर सफलता प्राप्त नही की जा सकती और न राज्य को मद्यशाला बन्द करानी चाहिए। मद्य-निषेध तभी सफल हो सकता है जब शराबी मद्यशाला के पास जाकर अपने शीशे-पैमाने फोड़ दें और आत्म-सयम एवं विचार-मथन द्वारा यह निश्चय करलें कि उसे शराब छोड़नी ही है।" मिल प्रथा, परम्परा, सामाजिक रूढ़ियों आदि के नियन्त्रण से भी व्यक्ति को मुक्त करना चाहता है क्योंकि इनसे उसका विकास दब जाता है। इस प्रकार की थोपी गई एकता समाज-कल्याण की भावना के विरुद्ध है। मिल ने अनुसन्धानकर्त्ता तथा आविष्कार को अधिक श्रेय दिया है क्योंकि वह पथ-प्रदर्शक होता है। मिल कार्यों की स्वतन्त्रता का उद्घोष करते समय व्यक्तिगत विभिन्नता तथा विविधता पर जोर देता है। वह भावहीन एकरूपता

(Dull and Dead Uniformity) का घोर विरोधी है । प्रगतिशील होने के लिए आवश्यक है कि समाज में अलग-अलग धाराओं का समन्वय करने की सामर्थ्य हो ।

मिल की स्वतन्त्रता के मूलभूत तत्त्व—मिल के व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को प्रो. डेविडसन (Prof. Davidson) ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

(क) व्यक्ति की भावनाओं और इच्छाओं को उचित स्थान दिया जाए । बौद्धिकता द्वारा इनका अपहरण न होने पर इसका अर्थ यह नहीं है कि बौद्धिकता के महत्त्व को किसी प्रकार घटाया जा रहा है ।

(ख) सार्वजनिक और सामाजिक कल्याण की दृष्टि से व्यक्तिगत दृष्टिकोण को भी उचित महत्त्व दिया जाना चाहिए । इसमे मानव कल्याण में वृद्धि होगी और लोग प्रगति के लिए प्रेरित होंगे । विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रोत्साहित करने से जीवन में अपेक्षित विविधता और आध्यात्मिक मौलिकता उत्पन्न होगी ।

(ग) समाज की ऐसी परम्पराओं का विरोध किया जाना चाहिए जिनसे विचार और भाषण की स्वतन्त्रता बाधित होती हो; ऐसे कानूनों को निरस्त कर देना चाहिए ।

इस प्रकार मिल द्वारा प्रतिपादित की गई स्वतन्त्रता के प्रमुख तत्त्व ये हैं—

(1) यह नकारात्मक स्वतन्त्रता है, विधेयात्मक नहीं । कानून का अभाव ही स्वतन्त्र माना गया है ।
(2) मिल द्वारा स्वतन्त्रता की एक आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है ।
(3) समाज से पृथक् रहकर व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है । मिल की स्वतन्त्रता की धारणा समाज की व्यक्तिवादी धारणा पर आधारित है ।
(4) मिल द्वारा स्वतन्त्रता के पक्ष में दिए गए तर्क उपयोगितावादी सिद्धान्तों का अतिक्रमण करते हैं । जब मिल कहता है कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा सम्पूर्ण मानव-जाति के विरुद्ध भी की जानी चाहिए तो उसका उपयोगितावादी आधार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता ।
(5) मिल पिछड़े हुए राष्ट्र के लोगों को स्वतन्त्रता प्रदान करने के पक्ष में नहीं है ।
(6) राष्ट्रीय प्रगति और सामाजिक उद्देश्य के लिए स्वतन्त्रता का अपहरण किया जा सकता है ।

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की आलोचना

दार्शनिक तथा व्यावहारिक पक्ष द्वारा मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा की पर्याप्त आलोचना की गई है । कहा गया है कि स्वतन्त्रता और उसके पक्ष में तर्क की दीवार खड़ी करने के प्रयास में मिल स्वतः भावावेश में बह गया है और दीवार उठाने के बजाय नींव ही खोदता रह गया है ।

1. अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार "मिल उसकी बचत के लिए पर्याप्त गुंजाइश छोड़ देने पर भी, हमें कोरे स्वातन्त्र्य और काल्पनिक व्यक्ति का ही पैगम्बर प्रतीत होता है। व्यक्ति के अधिकारों के सम्बन्ध में उसका कोई दर्शन नहीं था। वह समाज की कोई ऐसी पूर्ण कल्पना नहीं कर पाया जिसमें 'राज्य और व्यक्ति' के मिथ्या अन्तर अपने-आप लुप्त हो जाते हैं।"[1] वास्तव में मिल ने व्यक्ति को समाज से पृथक् देखा है और समाज के नियमों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता से कोई विरोध नहीं होता। वे तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सम्भव बनाने में सहायक होते हैं।

2. मिल ने स्वतन्त्रता के लम्बे और सैद्धान्तिक उपदेश का कोई आधार स्पष्ट नहीं किया है। यह ठीक है कि व्यक्ति को व्यक्तिगत क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए और बहुमत या अन्य किसी को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, पर ऐसा क्यों? व्यक्ति को व्यक्तिगत क्षेत्र में, विचार अभिव्यक्ति के क्षेत्र में, अपने व्यवसाय या अभिरुचियों के चुनाव के क्षेत्र में समाज के समकक्ष अधिकार क्यों मिलने चाहिए? मिल अपने निबन्ध में इन प्रश्नों का उत्तर नहीं देता।

3 मिल ने अपने द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता का कोई औचित्य सिद्ध नहीं किया है। केवल तर्कों पर स्वतन्त्रता का स्थायी आधार प्राप्त नहीं किया जा सकता मिल की स्वतन्त्रता का आधार उपयोगिता है लेकिन उसमें उत्तरदायित्व का अभाव है। किसी अधिकार का दायित्व के अभाव में कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। मान लिया कि निजी क्षेत्र में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाए, लेकिन इस क्षेत्र में यदि व्यक्ति ऐसा कार्य करे जो दूसरों के लिए हानिकारक सिद्ध हो तो इसका उत्तरदायित्व किस पर तथा किस प्रकार निश्चित होगा? उत्तरदायित्व के अभाव में स्वतन्त्रता स्वेच्छाचारिता का रूप ले लेगी। मिल इस बात का कोई उत्तर नहीं देता कि यह कौन और किस प्रकार देखेगा कि व्यक्ति अपने निजी क्षेत्र में ही अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहा है।

4. मिल ने व्यक्तियों के स्व-सम्बन्धी और पर-सम्बन्धी कार्यों में जो अन्तर किया है, वह अवैज्ञानिक है। उसमें तथ्यों का अभाव है। यथार्थ में व्यक्ति का कोई कार्य ऐसा नहीं होता जिसका प्रभाव केवल उसी पर पड़े और समाज के अन्य सदस्य उससे अप्रभावित रह जाएँ। व्यवहार में प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक कार्य का एक सामाजिक पहलू होता है और ऊपर से पूर्णतः व्यक्तिगत दिखाई देने वाले कार्य भी समाज के दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं।

5. मिल ने असाधारण, सनकी चिन्तन को अनावश्यक महत्त्व दिया है। वह भक्तियों और सनकियों को स्वतन्त्रता देने का पक्षपाती है क्योंकि सम्भव है कि इस सनकियों में से एक प्रतिभासम्पन्न 'गुदड़ी का लाल' निकल आए जो समाज को क्रान्तिकारी मौलिक विचार प्रदान कर सके। मिल यह भूल जाता है कि ऐसे व्यक्ति तो प्रायः विकृत मस्तिष्क के होते हैं और उनका सनकीपन चारित्रिक निर्बलता का

1 *E. Barker* : Political Thought.

परिणाम होता है जिसकी उपेक्षा करना ही उपयोगी है।"[1] एक 'छिपा रत्न' पाने की स्वप्निल आशा में अनेक सनकियों को प्रोत्साहन देना समाज के लिए अभिशाप है। यदि उन्हें स्वतन्त्रता दी गई तो सामाजिक सामन्जस्य (Social Harmony) का अभाव हो जाएगा।

6. मिल के अनुसार व्यक्ति के वे सब कार्य, जिनका प्रभाव दूसरों पर पड़ता है और जिनसे किसी का अहित होता है, प्रतिबन्धित हो सकते हैं; किन्तु इस प्रकार तो राज्य व्यक्ति के सभी कार्यों को पर-सम्बन्धी सिद्ध करके हस्तक्षेप कर सकता है।

7. दार्शनिक और बौद्धिक सन्दर्भ में मिल का यह विचार उचित नहीं है कि बिना तर्क और अनुभव के कोई सत्य स्वीकार नहीं करना चाहिए। यह तो एक घोर संशयवाद की स्थिति होगी जिसमें व्यक्ति 'मैं हूँ या नहीं हूँ'—इस द्वन्द्व में ही डूबा रहेगा। संसार में ऐसे अनेक क्षेत्र और विषय हैं जहाँ तर्क की अपेक्षा निष्ठा या विश्वास ही उपयुक्त रहता है। यह भी देखा जाता है कि "तर्क-वितर्क में उलझने वाले अधिकांश कुतर्क ही करते हैं और व्यर्थ के वितण्डावाद में अपनी शक्ति का क्षय करते हैं।" यदि दिन-प्रतिदिन की छोटी-छोटी बातें भी तर्क की कसौटी पर कसी जाएँगी तो अनावश्यक कलह और मनोमालिन्य बढ़ने की ही अधिक सम्भावना रहेगी।

8. स्वतन्त्रता के अनेक पहलू हैं जो अनेक स्थलों पर परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। मिल इन्हें देखने में सक्षम नहीं हो सका है।

9. मिल का यह कथन कि पिछड़े देशों के लोगों को स्वतन्त्रता नहीं देनी चाहिए, अप्रजातान्त्रिक है। इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। केवल पिछड़ेपन के आधार पर ही किसी व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के अवसरों से वंचित कर देना सर्वथा अनुचित है।

10. मिल समाज में नवीनता का पुजारी है। वह मानता है कि समाज जिन्हें सनकी और सनकी समझता है, वे विद्वान् और दार्शनिक हो सकते हैं। निस्सन्देह कुछ मामलों में मिल का यह दृष्टिकोण सत्य हो सकता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह सर्वत्र ही सत्य है। सनकीपन को हम दार्शनिकता का प्रतीक नहीं कह सकते।

11. मिल की स्वतन्त्रता नकारात्मक है, सकारात्मक नहीं। उसके अनुसार मानव विकास के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को दूर करना ही स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता की ऐसी सीमित परिभाषा उसके महत्त्व को घटाती है।

12. मिल द्वारा प्रतिपादित कार्य-सम्पादन की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है। यह मानव-चरित्र की भिन्नता को ही सामाजिक विकास का मापदण्ड मानता है। लेकिन तथ्य यह है कि सामाजिक प्रगति का मापदण्ड उसके सदस्यों की चारित्रिक उच्चता होती है, अतः मिल की निषेधात्मक एवं 'यदभाव्य' की नीति के स्थान पर नागरिकों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाना श्रेयस्कर है।

1 *Davidson* : Political Thought in England, p. 155.

यद्यपि मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्तों की अनेक प्रकार से आलोचनाएँ की गई है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि मिल का 'स्वतन्त्रता' का सिद्धान्त बिल्कुल ही खोखला है। मिल की कल्पना मनोरजक और प्रभावपूर्ण है। व्यक्तिवाद के पक्ष मे एक ही महत्त्वपूर्ण दलील मिल के ग्रन्थ का आधार है। मिल के स्वतन्त्रता-दर्शन ने व्यक्तिवाद के विकास और उसकी उन्नति मे गहरा योग दिया है। स्वतन्त्रता की भावना आज न केवल विचार, भाषण, कार्य तक ही सीमित है, बल्कि उसने विशद् रूप धारण कर लिया है। अन्तःकरण की स्वतन्त्रता, धार्मिक-सांस्कृतिक स्वतन्त्रता, वैचारिक स्वतन्त्रता, सम्पत्ति तथा जीवन की स्वतन्त्रता, सांविधानिक उपचारों की व्यवस्था, आदि की कल्पना आज साकार हो गई है। मिल का नाम लोकतान्त्रिक जगत् मे तब तक सम्मान का अधिकारी रहेगा जब तक ससार 'व्यक्ति' को मान्यता देता रहेगा। मिल लोकतन्त्र के आधार-स्तम्भों मे प्रमुख है। उसने लोकतन्त्र मे यह शोध किया कि बहुमत भी निरकुश हो सकता है। इस खोज का व्यावहारिक महत्त्व है। पुनश्च, मिल ने जिस स्वतन्त्रता की सराहना की है वह केवल नकारात्मक न होकर एक बहुत बड़ा सकारात्मक आदर्श है। मिल को शिकायत राज्य और उसके सगठन से नहीं है बल्कि नागरिकों की दासतापूर्ण तथा असहिष्णु भावना से है। मिल तो ऐसे राज्य की कामना करता है जिसके नागरिकों को अपने व्यक्तित्व और अपनी विविधता पर गर्व हो और जो अपने तथा दूसरों के व्यक्तित्व का सम्मान करते हों। मिल को विश्वास है कि आध्यात्मिक विकास से ही व्यक्ति ऐसे आदर्शों के निकट पहुँच सकता है।

मैक्सी (Maxey) का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि "मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी अध्याय को राजनीतिक साहित्य मे बहुत ही उच्च स्थान प्राप्त है। यह अध्याय उसे मिल्टन, स्पिनोजा, वाल्टेयर, रूसो, पेन, जैफरसन तथा स्वतन्त्रता के अन्य महारथियों की श्रेणी मे ला खडा करता है। जिन विचारों को हम दबाना चाहते हैं, उनके बारे मे हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि वे सर्वथा गलत हैं, और यदि इस बात का निश्चय हो भी जाए तो भी उन विचारों को दबाना बुरा है। वाद-विवाद एव अभिव्यक्ति पर कोई भी प्रतिबन्ध लगाना अपनी दुर्बलता को प्रकट करना है। जो व्यक्ति किसी विषय मे केवल अपने ही दृष्टिकोण से परिचित है, उसे उस विषय का पूरा ज्ञान कभी नहीं हो सकता। यदि समाज के नेता किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो उन्हें व्यक्तियों को लेखन और विचार अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। हमे सुकरात का उदाहरण याद रखना चाहिए जिसके विचारों का तत्कालीन अधिकारियों तथा जनमत से तीव्र विरोध था। उस समय सुकरात का वध कर दिया गया, लेकिन बाद मे उनके विचार-स्वातन्त्र्य से सम्पूर्ण विश्व प्रभावित हुआ।"

मिल की राज्य सम्बन्धी धारणा
(Mill's Conception of the State)

उपयोगितावाद और स्वतन्त्रता-सिद्धान्त की व्याख्या मे मिल द्वारा सशोधन -

किए जाने का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि राज्य-सम्बन्धी धारणा में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। मिल की मान्यता है कि राज्य स्वार्थ की अपेक्षा मानव इच्छा का परिणाम अधिक है। राज्य के यान्त्रिक सिद्धान्त (Mechanistic Principles) यदि मानव इच्छा अथवा मानव व्यक्तित्व की उपेक्षा करते है, तो वे अपूर्ण हैं। मिल ने राज्य और उसकी सस्थाओ को स्वाभाविक मानने वालो तथा उन्हे आविष्कार और मानव प्रयासो का फल समझने वालों के बीच का मार्ग ग्रहण किया है। उसका विश्वास है कि राज्य का विकास हुआ है, पर यह विकास जड वस्तुओ की तरह न होकर चेतन वस्तुओ के समान हुआ है। राज्य की उत्पत्ति मानव-हित के लिए हुई है क्योकि जितने भी राजनीतिक सगठन हैं उन सबका अस्तित्व सार्वजनिक कल्याण के लिए ही है। सभी सवास अपने अस्तित्व की प्रत्येक अवस्था मे अपना स्वरूप व्यक्ति के स्वैच्छिक प्रयत्नो द्वारा ग्रहण करते हैं, अत अन्य वस्तुओ की भाँति इन्हे भी व्यक्ति द्वारा अच्छा या बुरा बनाया जा सकता है। यह सब कुछ मनुष्य की दक्षता और बुद्धि पर निर्भर करता है। राजनीतिक यन्त्र स्वय कार्य नही करता। सामान्य व्यक्तियो द्वारा ही उसका निर्माण होता है और उन्ही के द्वारा उसका सचालन होता है। यह उनके चुपचाप रहने से नही बल्कि सक्रिय योगदान से ही क्रियाशील होता है, अत राज्य को उन व्यक्तियो के गुणो और शक्तियो के अनुकूल ढाला जाना चाहिए जो इसके सचालन के लिए उपलब्ध हो। राजनीतिक सस्थाओ के निर्माण में मानव-इच्छा के महत्व को दर्शाते हुए मिल ने लिखा है कि "एक निष्ठावान व्यक्ति ऐसी सामाजिक शक्ति है जो निन्यानवे कोरे स्वार्थी व्यक्तियो के बराबर है।"

राज्य के सकारात्मक पक्ष पर प्रकाश डालते हुए मिल ने व्यक्तियो के कार्यों मे राज्य के हस्तक्षेप को पूर्णतः निषिद्ध न ठहरा कर वैयक्तिक विकास की कुछ स्थितियो मे उसका हस्तक्षेप अनिवार्य माना है। उसकी मान्यता है कि व्यक्ति के सुख के लिए समाज का सुख आवश्यक नही है क्योकि जीवन-सघर्ष मे सभी व्यक्ति समाज मे समान नही हैं। यदि राज्य सभी व्यक्तियों के जीवन को सुखी बनाना चाहता है और प्रत्येक को आत्म-विकास की सुविधाएँ देना चाहता है तो यह आवश्यक है कि वह समाज मे व्याप्त विषमताओ और भिन्नताओ को दूर करें। मिल चाहता है कि भूमि, उद्योग, ज्ञान आदि पर थोडे से व्यक्तियो का एकाधिकार नही रहना चाहिए। समाजवादी न होते हुए भी मिल के हृदय मे सम्भवत समाजवाद के प्रति प्रच्छन्न महानुभूति विद्यमान है, तथापि उसे उग्र समाजवाद से कोई सहानुभूति नही है जो भूमि के राष्ट्रीयकरण का समर्थक हो। वह सम्पत्ति का भी उतना प्रबल पक्षधर नही है जितना बेन्थम है।

सकारात्मक राज्य मे विश्वास होने के कारण मिल यह मानता है कि राज्य को कुछ नैतिक कार्य करने पडते है। उसके मतानुसार राज्य का सविधान ऐसा होना चाहिए जिससे नागरिको के सर्वोत्तम नैतिक और बौद्धिक गुणो का विकास हो सके। मिल राज्य द्वारा अनिवार्य सुख का समर्थक है और इसे स्वतन्त्रता का

अतिक्रमण नही मानता। वह सार्वजनिक स्वास्थ्य के कल्याण की दृष्टि से व्यापार तथा उद्योगो पर सरकार का व्यापक नियन्त्रण स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है, लेकिन उन नियन्त्रणों की ठीक-ठीक सीमाएँ उसने स्पष्ट नही की हैं। वह कारखानो के लिए कानून और कार्य के घण्टों की सीमा आदि का समर्थन करता है। इस प्रकार वह समाज के आर्थिक जीवन मे राज्य के हस्तक्षेप करने के अधिकार को स्वीकार करता है। मिल के राज्य का यह विधेयात्मक स्वरूप उसके द्वारा दी गई सविधान की परिभाषा से भी स्पष्ट होता है। उसके अनुसार, "सविधान वह साधन है जिसके माध्यम से व्यक्ति को बुद्धि और ईमानदारी के सामान्य-स्तर पर लाया जाता है तथा समाज के अधिक बुद्धिमान सदस्यो का शासन-कार्य मे उपयोग किया जा सकता है और उसमे उन्हें उससे कही अधिक प्रभाव प्रदान किया जा सकता है जो अन्य किसी सगठन मे सम्भव है।"

स्पष्ट है कि मिल राज्य के रचनात्मक और निषेधात्मक दोनो प्रकार के कार्यों की व्याख्या करता है। राज्य का रचनात्मक कार्य यह है कि वह ऐसे स्वतन्त्र वातावरण का निर्माण करे जिसमे विचार-मथन, सत्यान्वेषण, अनुभव-वृद्धि, चरित्र-निर्माण आदि सम्भव हो सकें। व्यक्ति अथवा समाज पर प्रतिबन्ध लगाना राज्य का निषेधात्मक कार्य है। मिल सामाजिक अव्यवस्था, अराजकता, अशान्ति आदि के समय राज्य के हस्तक्षेप को न्यायपूर्ण और समाज-हित मे मानता है। वह व्यक्तिगत एव सामाजिक कार्यों की मर्यादा भग होने पर भी राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन करता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई मध्य रात्रि मे माइक्रोफोन पर गाना चालू कर दे या ऐसी ही कोई अन्य हरकत करे जिससे छात्रो की पढाई मे बाधा उपस्थित हो, तो राज्य का कर्त्तव्य है कि वह उस व्यक्ति को ऐसा कार्य करने से रोके। युद्ध, उपद्रव, आर्थिक, राजनीतिक संकट अथवा किसी आपात् स्थिति मे लगाए जाने वाले राजकीय प्रतिबन्धो को भी मिल उचित मानता है।

सक्षेप मे, मिल के अनुसार राज्य को यथासम्भव केवल निम्नलिखित कार्यों से अपना सम्बन्ध रखना चाहिए—

(1) राज्य बाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक अशान्ति से देश की रक्षा के लिए सेना की व्यवस्था करे।
(2) सार्वजनिक सुरक्षा की व्यवस्था के लिए पुलिस का प्रबन्ध करे।
(3) अत्यन्त उपयोगी एव कम से कम कानून बनाने के लिए विधानमण्डल का निर्माण करे।
(4) कानून के विरुद्ध कार्य करने वालो को दण्डित करने के लिए न्यायालयो की स्थापना करे।
(5) व्यक्ति को उसका महत्त्व बतलाए और इसके लिए प्रचार करे।
(6) चेतावनी देने का काम करे और इस तरह सम्भावित दुष्परिणामो की ओर सकेत करे।

मिल के मतानुसार उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त शेष कार्य व्यक्ति अपेक्षाकृत भली प्रकार कर सकता है। मिल का यह विवेचन राज्य के कार्यक्षेत्र को बहुत सीमित बना देता है जबकि वर्तमान युग मे राज्य के कार्यों की सीमा का इतना विस्तार हो गया है कि शायद ही कोई कार्य उसके कार्यक्षेत्र से बाहर हो और विस्तार की इस प्रक्रिया मे सतत् वृद्धि होती जा रही हैं।

शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली
(Best Form of Government)

मिल के अनुसार शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली वह नही है जो अत्यधिक कुशल हो, अपितु वह है जो नागरिको को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हो और सर्वसाधारण को नागरिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यो का ज्ञान कराती हो। श्रेष्ठ शासन की प्रथम विशेषता यह है कि वह जनता के गुणों और बुद्धि का विकास करने वाली हो। शासन सार्वजनिक कार्य के लिए सगठित व्यवस्था का नाम ही नही है, वरन् इसका मानव-मस्तिष्क पर उत्तम और गहरा प्रभाव भी होना चाहिए। शासन का मूल्य उसके कार्यों द्वारा आंका जाना चाहिए। शासन की सार्थकता मनुष्यो एव अन्य वस्तुओं पर पड़ने वाले प्रभाव से मापी जानी चाहिए। शासन की उत्तमता की प्रथम कसौटी यह जाँचना है कि वह नागरिको मे मानसिक एव नैतिक गुणों का कहाँ तक सचार करती है, उनके चारित्रिक एव बौद्धिक विकास के लिए कितना प्रयास करती है। इन बातो को सर्वश्रेष्ठ रूप मे क्रियान्वित करने वाली शासन-प्रणाली ही 'शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली' मानी जाएगी। उत्तम शासन की एक ही कसौटी है कि उसके द्वारा शासितो मे किस मात्रा तक वैयक्तिक एव सामूहिक रूप से गुणो की वृद्धि होती है। केवल प्रशासन के क्षेत्र मे शासन की सफलता उसकी उत्तमता का चिह्न नहीं है।

सभी शासन-प्रणालियो का निर्माण और सचालन व्यक्तियो द्वारा होता है। प्रत्येक दिशा मे इनकी सफलता उन व्यक्तियो की योग्यता एव भावनाओं पर निर्भर करती है जो उन्हे क्रियान्वित करते हैं। प्रत्येक समाज के लिए विभिन्न प्रकार का शासन उपयुक्त हो सकता है। हम किसी एक ही प्रकार के शासन को सर्वोत्तम नही कह सकते। स्वय मिल के शब्दो मे, "ऐसा कहने का अर्थ है कि सब प्रकार के समाजो के लिए किसी एक प्रकार की शासन-प्रणाली उपयुक्त होगी, यह होगा कि राजनीतिक विज्ञान पर एक विशद् शास्त्र लिखा जाए।"

मिल की प्रतिनिध्यात्मक शासन सम्बन्धी धारणा
(Mill's Conception of Representative Government)

मिल के समय प्रजातन्त्रवाद प्रगति पर था, किन्तु शासन की गम्भीर त्रुटियाँ तथा संसद् का उच्चवर्गीय अधिनायकत्व चिन्ता के विषय थे। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रबल समर्थन करने के बाद मिल ने अपना ध्यान ऐसे शासन की ओर केन्द्रित किया जिसमे व्यक्ति का सच्चा प्रतिनिधित्व सम्भव हो और प्रजातान्त्रिक नियमों के अनुसार प्रत्येक योग्यता-प्राप्त व्यक्ति इसका अवसर प्राप्त कर सके।

मिल ने कहा कि सच्चा प्रजातन्त्र वह है जिसमें सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन-कार्य में भाग लें। सर्वोत्तम आदर्श शासन वह है जिसमें सर्वोच्च नियन्त्रण-शक्ति या सम्प्रभुता पूरे समाज की योग्यतायुक्त इकाई में निहित हो और प्रत्येक व्यक्ति इस सम्प्रभुता के निर्माण में केवल योग ही न दे वरन् समय आने पर सार्वजनिक पद ग्रहण कर तथा शासन में भाग लेकर अपना कर्तव्य पूरा करे। पर चूँकि यह प्रयोग सम्भव नहीं है और आज के विशाल जनसंख्या वाले राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र नहीं चल सकता, अत: मिल की दृष्टि में सर्वोत्तम शासन अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र अथवा प्रतिनिधि शासन (Representative Government) ही होना चाहिए। यद्यपि प्रजातन्त्र का यह रूप दोषमुक्त नहीं है, पर मिल का विश्वास है कि शासन का स्वरूप मनुष्य द्वारा ही निर्धारित होता है, अत: "मनुष्य द्वारा निर्धारित अन्य चीजों की भाँति इसको अच्छा भी बनाया जा सकता है और बुरा भी।" प्रजातन्त्र में दोष का उपचार अधिकाधिक प्रजातान्त्रिक है, इसलिए प्रतिनिधि-शासन सम्बन्धी वर्तमान प्रजातन्त्र के दोषों की कटु आलोचना करता हुआ वह सुधार के उपाय बतलाता है। उसके अनुसार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अनिवार्य परिणाम प्रतिनिधि-शासन है और इसी के द्वारा राजनीतिक जीवन के दोषों का दूर होना सम्भव है। राज्य का शासन जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा ही किया जाना चाहिए।

प्रतिनिधि-शासन का सिद्धान्त—मिल के अनुसार प्रतिनिध्यात्मक सरकार वह है जो निम्नलिखित तीन शर्तों को पूरा करे—

1 वे लोग जिनके लिए ऐसी सरकार का निर्माण किया जाए, ऐसी सरकार को स्वीकार करने के इच्छुक हों या इतने अनिच्छुक न हों कि इसकी स्थापना में बाधा पैदा करें।

2 ऐसी सरकार के स्थायित्व के लिए जो कुछ भी करना आवश्यक हो वह सब करने के लिए वे इच्छुक और योग्य हों।

3 ऐसी सरकार के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए ऐसे लोगों से जो कुछ सरकार चाहे वह करने के लिए वे तत्पर और योग्य हों। शासन की जो आवश्यक शर्तें हों वे उन्हें भी पूरा करने के लिए तैयार हों।

प्रतिनिध्यात्मक-सरकार में उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त कुछ और भी तत्त्व होते हैं। मिल के अनुसार, 'प्रतिनिधि-शासन का अर्थ है कि सम्पूर्ण नागरिक या उनका अधिकांश भाग जो समय-समय पर अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन सचालन करते हैं और शासन की अन्तिम सत्ता को जिसका प्रत्येक शासन में कहीं न कहीं अस्तित्व अनिवार्य है, अपने नियन्त्रण में रखते हैं।"[1]

इस परिभाषा के अनुसार मिल की प्रतिनिध्यात्मक-सरकार के प्रमुख तत्त्व ये है—

1 Everyman's Library, p. 228.

(1) सम्पूर्ण या उनकी सख्या के बहुत बड़े भाग के लोगों का सरकार के कार्यों मे सहयोग,
(2) सम्पूर्ण या उनकी सख्या के बहुत बड़े भाग के लोगों के हाथ मे नियन्त्रण शक्ति,
(3) समय-समय पर चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा लोगो का प्रतिनिधित्व,
(4) अन्तिम नियन्त्रण शक्ति का सविधान मे स्थान और यदि सविधान लिखित न हो तो व्यावहारिक रूप से जनता द्वारा उसका प्रयोग।

मिल ने इन तत्वो मे कुछ और भी तत्त्व जोड़े है जो इस प्रकार हैं—
(5) राज्य की सक्रिय राजनीति मे नैतिकता या स्वस्थ परम्पराएँ,
(6) वे सभी तत्त्व जो एक अच्छी सरकार के लिए आवश्यक होते जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है,
(7) सरकार के अगो मे कार्यों का निश्चित बँटवारा,
(8) एक सगठित विरोधी दल,
(9) आनुपातिक प्रतिनिधित्व,
(10) सार्वजनिक मताधिकार,
(11) निष्पक्ष न्यायपालिका, एवं
(12) अल्पसख्यकों की रक्षा।

सही रूप मे प्रतिनिधित्व करने वाली सरकार को स्थिर रखने के लिए मिल ने उसके पीछे उदारवादी समाज के निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया है। यदि जनता लापरवाह है और अपनी भूमिका के प्रति उदासीन है तो सर्वोत्तम प्रशासकीय यन्त्र भी सम्भवत: उपयोगी नही होगा। इसलिए जनमत को हमेशा सतर्क रहना चाहिए तथा सरकार पर अपना नियन्त्रण कायम रखना चाहिए। सेबाइन के अनुसार, "व्यक्ति और सरकार के बीच एक उदारवादी समाज के निर्माण की सूझ वास्तव मे मिल की अपनी खोज थी। मिल ने ऐसी प्रतिनिधि सरकार के निर्माण मे विश्वास प्रकट किया जिसमे व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सके। उसकी मान्यता थी कि केवल ससद् मे सही प्रतिनिधित्व से ही काम नही चलता, उसमे बहुमत की निरकुशता का भय विद्यमान रहता है। इसलिए अल्पसख्यकों के सरक्षण के लिए वह पूर्ण सावधानी बरतना चाहता है और सरकार पर एक उदारवादी समाज का नियन्त्रण आवश्यक समझता है। वह प्रतिनिधित्व के बारे मे भी निश्चित हो जाना चाहता है और सही रूप मे समाज के प्रत्येक भाग व व्यवसाय के प्रतिनिधित्व का समर्थन करता है। वह अल्पमत के सुझावों को केवल इसीलिए अस्वीकार करने के पक्ष मे है कि उनके सुझाव यथार्थ मे जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते। मिल ससद् मे सगठित विरोध के पक्ष मे है क्योकि ऐसा न होने पर सरकार सही रूप मे प्रतिनिधित्व न कर केवल निरंकुश बहुमत पर आश्रित हो जाएगी। प्रशासकीय अग अथवा कार्यपालिका की निरंकुशता पर अंकुश रखने के लिए वह एक सजग एव सतर्क व्यवस्थापिका चाहता है जो कार्यपालिका के कार्यों की खुलकर आलोचना करे

और जरूरत पड़ने पर अविश्वास प्रस्ताव पास कर उसे भंग करने में भी सक्षम हो।" मिल ने लिखा है—

"प्रतिनिधि सभा (पार्लियामेण्ट) वह है जिसमे राष्ट्र के सामान्य मत का ही प्रतिनिधित्व नहीं, बल्कि उसके प्रत्येक अंग के मत का प्रतिनिधित्व हो, सम्भवतः राष्ट्र के प्रत्येक वरिष्ठ और योग्य व्यक्ति के विचारो का भी प्रतिनिधित्व हो, जहाँ विचारो पर स्वच्छन्द वाद-विवाद और उनका मन्थन हो, जहाँ देश का प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारो के सही प्रतिनिधित्व के लिए उपयुक्त वक्ता प्राप्त कर सके, जहाँ लोगो के विरोधों को केवल अनिच्छा के कारण न ठुकरा कर विवेक और तर्क तथा सत्यता के आधार पर चुनौती दी जाए, जहाँ राष्ट्र का प्रत्येक दल या जनमत अपनी-अपनी शक्ति का पूर्ण उपयोग कर सके और सही या गलत विचारो की परख करने का अवसर प्राप्त कर सके, जहाँ राष्ट्र के मान्य विचारो की प्रत्यक्ष रूप मे सरकार के सम्मुख अभिव्यक्ति हो सके, जहाँ सरकार को उसकी त्रुटियों के लिए झुकाया जा सके और सरकार बिना शक्ति प्रयोग किए अपदस्थ होना स्वीकार करे तथा जिसमें प्रत्येक प्रतिनिधि सही रूप मे ईमानदारी के साथ चुना गया हो।"

संसद् मे प्रतिनिधियो की स्थिति के बारे मे मिल के विचार बर्क से मिलते-जुलते हैं। वह प्रतिनिधियो को जनता का प्रत्यायुक्त (Delegate) मात्र नही मानता वरन् उसकी राय मे वह एक स्वतन्त्र पथ-प्रदर्शक और शिक्षाप्रद शक्ति होना चाहिए। यदि उसे अधिक महत्वपूर्ण समस्याओ पर विचार करने के लिए किन्ही छोटी-छोटी समस्याओ पर समझौता करना पड़े तो उसे निर्भीक रूप से अपनी सम्मति प्रकट कर देनी चाहिए। प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली का प्रमुख दोष झूठी प्रतिज्ञाएँ करना है और मिल इस दोष को दूर करना चाहता था।

मिल की मान्यता है कि चरित्रवान् व्यक्ति ही राज्य की जीवन शक्ति होते हैं और जिस शासन-व्यवस्था मे व्यक्तियो के विकास के समुचित अवसर उपलब्ध नही हैं वह शासन-व्यवस्था उपयुक्त नही कही जा सकती चाहे प्रशासनिक दृष्टि से वह कितनी ही सक्षम और कुशल क्यो न हो। निरंकुश राजतन्त्र शक्ति-सम्पन्न और क्षमतापूर्ण होने पर भी इसीलिए आदर्श नही माना जा सकता है कि उसमे व्यक्तियो के चारित्रिक विकास की उपेक्षा की जाती है। प्रतिनिधि-शासन वाला लोकतन्त्र श्रेष्ठ इसलिए है क्योकि अन्य किसी भी शासन-व्यवस्था की अपेक्षा उसमे व्यक्ति के बौद्धिक और नैतिक विकास की अधिक सम्भावना होती है।

प्रतिनिध्यात्मक-सरकार के कार्य

मिल के अनुसार, "निर्वाचित प्रतिनिधि-परिषद् का कार्य शासन का नियन्त्रण और निरीक्षण करना मात्र है। इस परिषद् को सक्रिय रूप से कानून-निर्माण अथवा शासन-कार्य नही करने चाहिए।" मिल ने प्रतिनिध्यात्मक-सरकार के जिन मुख्य कर्त्तव्यो का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं—

1. प्रतिनिधि-शासन व्यक्तियों के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करे जिसमे व्यक्ति सत्य की खोज करके तदनुकूल अपने विचारो का निर्माण कर सके

2. शासन ऐसे कानूनों का निर्माण करें जिससे व्यक्तियों के चारित्रिक विकास के योग्य वातावरण बन सके।

3. इस सम्बन्ध में राज्य द्वारा कानूनों का निर्माण कम से कम किया जाए क्योंकि कानून व्यक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। शासन को अधिक कानून बनाकर नागरिकों के वैयक्तिक जीवन में अनावश्यक तथा अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जीवन के अधिकांश पहलू सरकार के विनियमों से मुक्त ही रहने चाहिए। कानून-निर्माण का कार्य विधायिका-सभा को दिया जाना चाहिए।

4. प्रतिनिधि-सभा को इन महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करना चाहिए—सरकार पर दृष्टि रखकर उस पर पूर्ण नियन्त्रण रखना, सरकार के कार्यों पर प्रकाश डालना, उसके आपत्तिजनक कार्यों की समीक्षा करना एवं उनका औचित्य सिद्ध करना, विश्वासघाती शासकों को पदच्युत कर उनके उत्तराधिकारियों को नियुक्त करना, सरकार के हेय कार्यों की निन्दा करना, आदि। संसद् में जनता की या इसके किसी वर्ग की शिकायतों पर विचार-विमर्श एवं वाद-विवाद भी होना उपयोगी है। सार रूप में मिल के अनुसार संसद् का कार्य है—वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श द्वारा शासन को जनमत से अवगत रखना। मिल के ही शब्दों में, "प्रशासकीय कार्यों में प्रतिनिधि-सभा का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह स्वयं निर्णय करे, बल्कि यह सावधानी रखना है कि जो व्यक्ति किसी भी बात का निर्णय करें, वह योग्य हो।" मिल को आशा थी कि इस प्रकार नौकरशाही द्वारा शक्ति के दुरुपयोग को रोका जा सकता है।

5. मिल ने बेन्थम की इस धारणा का खण्डन किया कि निर्वाचित संसद् का प्रशासन पर प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण होना चाहिए। वह एक और कुशलता और क्षमता चाहता है और दूसरी ओर जन-आलोचना का आकांक्षी है। इसलिए प्रधान मन्त्री एवं मन्त्रियों की नियुक्ति का अधिकार संसद् को देकर और स्थायी कर्मचारियों को मन्त्रियों के अधीन रखकर वह लोकतन्त्र एवं शासन-कुशलता का सम्मिश्रण करना चाहता है। उसके अनुसार, "प्रतिनिधि-निकायों के कार्य को इन विवेकसम्मत सीमाओं के अन्तर्गत रखकर लोकप्रिय नियन्त्रण का लाभ उठाया जा सकता है और साथ ही उतने ही महत्त्वपूर्ण कुशल व्यवस्थापन तथा प्रशासन भी प्राप्त हो सकता है। इन दोनों को मिलाने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है कि नियन्त्रण एवं आलोचना यन्त्र को वास्तविक प्रशासन यन्त्र से अलग रखा जाए, पहले को जनता के प्रतिनिधियों को सौंप दिया जाए तथा दूसरे को विशेष ज्ञान एवं कुशलता प्राप्त थोड़े से व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रखा जाए—जो राष्ट्र के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी हों।"

निर्वाचन के सम्बन्ध में मिल के विचार

प्रतिनिधि-शासन का निर्माण निर्वाचनों द्वारा होता है। अतः मिल ने प्रतिनिधि-शासन पर विचार व्यक्त करते समय निर्वाचनों को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। उसने कहा कि निर्वाचन-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिससे सरकार के संचालन के लिए सर्वश्रेष्ठ, बुद्धिमान और क्षमतावान व्यक्ति ही पहुँच सकें। योग्य व्यक्ति ही

शासन का संचालन भली प्रकार कर सकते हैं। मिल ने एक स्थान पर लिखा है, "क्योंकि किसी भी सरकार का सर्वोत्तम गुण यह है कि वह अपने नागरिकों के बौद्धिक तथा नैतिक विकास में सहायक हो, इसलिए एक अच्छी और कुशल सरकार को इस बात का पूर्ण प्रयास करना चाहिए कि सामाजिक जीवन के संचालन पर उसके सबसे अधिक बुद्धिमान सदस्यों की बुद्धि और सदाचार का प्रभाव पड़े।"

मिल ने बेन्थम के इस विचार से असहमति प्रकट की है कि निर्वाचन वार्षिक होने चाहिए और संसद् के सदस्यों को जनता का प्रत्यायुक्त (Delegate) समझा जाना चाहिए। मिल की मान्यता है कि श्रेष्ठतर बुद्धि के लोगों को कम प्रतिभाशाली जनता के अधीन रखा जाना उचित नहीं है। डॉयल के शब्दों में, "उसका (मिल का) राजनीतिक सिद्धान्त हर जगह मानव-विषमता एवं योग्यता की विविधता से प्रभावित था। हर जगह वह व्यक्तियों की अज्ञात शक्तियों के विकास की पुकार करता था। वह स्थानीय शासन के प्रसार की माँग करता था ताकि अधिकाधिक व्यक्तियों पर उत्तरदायित्व आ सके, वे नवीन विचारों को ग्रहण कर सकें और उनकी अतिरिक्त शक्तियों का विकास सम्भव हो सके। बेन्थम की आधारभूत धारणाओं और उसके राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त से उसका मूलत: मतभेद था।"[1]

मिल ने निर्वाचन सम्बन्धी ऐसे महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किए जिनसे शासकों का चुनाव अज्ञानी एवं विवेकहीन जनता के हाथों में न पड़ सके और जिनसे सामूहिक सामान्य बुद्धि द्वारा शासन के दोष भी कम हो जाएँ। मिल ने इन्हीं उद्देश्यों को सामने रखकर आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) और बहुल मतदान (Plural Voting) का सुझाव दिया। मिल को आशा थी कि "आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा एक उम्मीदवार के लिए आवश्यक सद्गुणों को समुचित महत्त्व मिल सकेगा और विवेकहीन जनता के बहुमत के कुछ दोष दूर हो सकेंगे।" आनुपातिक प्रतिनिधित्व के लिए मिल ने सुझाव दिया कि कुल मतदाताओं की संख्या में संसद् की प्रतिनिधि संख्या का भाग देकर मतों की औसत संख्या निकाल लेनी चाहिए और मतों की एक ऐसी संख्या निर्धारित कर देनी चाहिए जिसको प्राप्त करने के बाद ही कोई प्रत्याशी संसद् की सदस्यता प्राप्त कर सके।

मिल ने निर्वाचन सम्बन्धी जो महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किए हैं, उन्हें निम्नानुसार प्रकट किया जा सकता है—

1. मताधिकार एक ऐसा महत्त्वपूर्ण अधिकार है जो सभी को नहीं दिया जाना चाहिए। प्रजातन्त्र को सबसे बड़ा खतरा अनपढ़ और मूर्ख व्यक्तियों से है; अतः आवश्यक है कि मताधिकार उन्हीं लोगों को प्राप्त हो जो एक निश्चित शैक्षणिक योग्यता रखते हों। केवल वयस्क हो जाने से ही कोई मत देने का अधिकारी नहीं हो सकता। मिल के ही शब्दों में, "मैं इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि किसी एक व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त हो जो लिखना, पढ़ना

1 *Doyle* : A History of Political Thought, p. 262.

और सामान्य गणित भी न जानता हो।" मिल का तो यहाँ तक कहना था कि "उचित तो यही होगा कि लिखने-पढ़ने और साधारण ज्ञान के अतिरिक्त मतदाता को भूगोल, इतिहास और राजनीति का थोड़ा-बहुत ज्ञान भी अवश्य हो।"

2. मताधिकार प्रदान करने मे लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नही किया जाना चाहिए। मिल महिला-मताधिकार (Right of Vote to Women) की वकालत करने वाले प्रथम कोटि के विचारकों मे से है। उसे यह बहुत अन्यायपूर्ण प्रतीत होता था कि महिलाओं को मतदान अधिकार से वंचित रखा जाए। उन दिनो ग्रेट-ब्रिटेन मे नारी का स्थान घर की चारदीवारी तक ही सीमित था। मिल नारी को समाज में वही स्थान प्रदान कराना चाहता था जो पुरुषों को प्राप्त था। उसने कहा कि "महिलाओं की अयोग्यता किसी भी प्रकार उनकी बौद्धिक प्रतिभा की कमी का लक्षण नही है बल्कि यह उनकी सदियों की दासता का परिणाम है। यदि नारी और पुरुष मे कोई अन्तर है तो भी पुरुष की अपेक्षा नारी को मतदान का अधिकार की आवश्यकता अधिक है क्योंकि शारीरिक दृष्टि से पुरुष की तुलना मे निर्बल होने के कारण उसे अपनी सुरक्षा के लिए कानून और समाज पर निर्भर रहना पड़ता है।" मिल के इन विचारों पर मिसेज टेलर का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मिल के तर्क अकाट्य थे और इस कारण उनका पर्याप्त असर हुआ।

3. निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व एवं बहुल मतदान के आधार पर होना चाहिए। बहुल मतदान (Plural Voting) की सिफारिश मिल ने इसलिए की क्योंकि शिक्षित व्यक्तियों को अशिक्षित व्यक्तियों की तुलना मे यदि अधिक नहीं तो कम से कम बराबर का अनुपात तो मिल ही सके।

4. विद्वान् को मूर्ख से अधिक वोट देने का अधिकार मिलना चाहिए। प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को कम से कम एक तथा अधिक से अधिक पाँच मत देने का अधिकार उचित है। मिल ने समाज को वर्गों मे विभक्त कर यह भी निश्चित कर दिया कि किस वर्ग को कितने अधिक मत देने का अधिकार मिलना चाहिए।

5. मिल ने गुप्त मतदान का विरोध करते हुए खुले मतदान को उचित ठहराया। मत देने का अधिकार एक पवित्र अधिकार है जिसका प्रयोग बड़ी बुद्धिमता एवं समझदारी से किया जाना चाहिए। जब यह बुद्धिमत्ता और समझदारी से किया जाने वाला एक पवित्र कार्य है, तो इसमे गोपनीयता रखना 'किसी गुप-चुप किए जाने वाले अनुचित कार्य' के समान है।

6. मिल ने सुझाव दिया कि ऐसे स्वतन्त्र व्यक्ति जो बौद्धिक दृष्टि से योग्य हो, अच्छे लेखक या सामाजिक कार्यकर्त्ता हो, जिन्होने अपने कार्यों के कारण हर जिले मे थोड़ी-बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर ली हो पर जो किसी राजनीतिक दल के सदस्य न हों, यदि एक ही क्षेत्र में चुनाव लड़ने के लिए असमर्थ हो तो उनका चुनाव पूरे राज्य में होना चाहिए और यदि राज्य भर के मतो की संख्या प्रतिनिधित्व की आवश्यक मत-संख्या के बराबर हो जाए तो उनका चुनाव कर लिया जाना चाहिए। इस व्यवस्था में मतदाताओं को ऐसा व्यक्ति चुनने के लिए विवश नही होना पड़ेगा

जिसे किसी राजनीतिक दल ने अपने प्रत्याशी के रूप में खड़ा किया हो और वह प्रतिनिधित्व के योग्य न हो। मिल का यह आक्षेप था कि संसद् का बहुमत स्थानीय प्रतिनिधियों का बहुमत और देश के योग्य व्यक्तियों का अल्पमत होता है, अतः मतों की केवल गणना ही नहीं होनी चाहिए, उनका वजन भी होना चाहिए।

7. संसद् की तानाशाही प्रवृत्तियों पर अंकुश रखने की दृष्टि से द्वि-सदनीय संसद् उपयोगी होती है। इसके अतिरिक्त समयाभाव के कारण निम्न सदन पर जो कार्यभार होता है वह उच्च सदन द्वारा हल्का किया जा सकता है। मिल द्वितीय सदन में कुछ सुधार चाहता था।

8. उसका विचार था कि मतदाताओं के लिए शिक्षा की योग्यता के साथ-साथ सरकारी सम्पत्ति की योग्यता (Property Qualification) भी निर्धारित होनी चाहिए क्योंकि सम्पत्तिवान मतदाता सम्पत्तिहीन मतदाताओं से अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से अपने मत का प्रयोग करेंगे। मिल के अनुसार, "यह महत्त्वपूर्ण बात है कि जो सभा कर लगाती है वह केवल उन्हीं लोगों की बनी होनी चाहिए जो इन करों का भार वहन करेंगे। जो लोग कर नहीं देते और अपने मतदान द्वारा अन्य नागरिकों का धन कम करते हैं उनका अपव्ययी होना स्वाभाविक है, उनके मितव्ययी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार के व्यक्तियों के हाथ में मतदान की शक्ति देना मौलिक सिद्धान्तों का हनन तथा स्वतन्त्रता का विरोध होगा।"

मिल के इन विचारों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसने प्रजातन्त्र के दोषों को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया और उसे अधिकाधिक उपयोगी बनाने के सुझाव दिए। वह प्रतिनिधि-शासन की दुर्बलताओं और खतरों से परिचित था। प्रथम महायुद्ध के बाद से लगभग प्रत्येक देश में प्रजातन्त्र जिस प्रकार कार्य कर रहा है वह मिल के विचारों की सत्यता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। यद्यपि हम मिल में प्रजातन्त्र के प्रति इतना अविश्वास पाते हैं और उसका यह आग्रह भी था कि स्वतन्त्रता की भाँति ही प्रजातन्त्र सभी लोगों के लिए उपयुक्त नहीं है तथापि उसका यह विश्वास उसे प्रजातन्त्रवादी घोषित करता है कि जहाँ भी सम्भव हो सके प्रजातन्त्र ही शासन का सर्वोत्तम रूप है। मिल प्रजातन्त्रवादी था क्योंकि वह उसी शासन को सर्वोत्तम समझता था जिसमें सम्प्रभुता अन्तिम रूप से पूर्ण समाज में निहित हो और जिसमें प्रत्येक नागरिक को अपनी इच्छा व्यक्त करने तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार हो। मिल की मान्यता थी कि प्रजातन्त्र से मनुष्य न केवल अधिक सुखी, बल्कि अधिक अच्छा भी बनता है।

अपने प्रतिनिधित्व-प्रणाली सम्बन्धी विचारों के लिए मिल का राजदर्शन के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मिल के प्रतिनिधि-शासन में विचारों की आलोचना

1. मिल द्वारा प्राप्त मतदाता की योग्यता से मापदण्ड को यदि लागू किया जाए तो भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में भी कुछ ही हजार व्यक्तियों को मतदान का अधिकार मिल सकेगा। यह सम्भव नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति इतिहास, भूगोल एवं गणित आदि विषयों का आवश्यक ज्ञान रखता हो।

2. मिल शिक्षा को ही योग्यता की एकमात्र कसौटी मानता है। इसमे सन्देह नही कि शिक्षा योग्यता के विकास का एक श्रेष्ठ माध्यम है, तथापि यह अव्यावहारिक है कि अनुभवजन्य योग्यता को कोई महत्त्व ही न दिया जाए। अनुभवजन्य योग्यता तो जीवन मे सफलता की अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ कुञ्जी है। सूर, तुलसी और कबीर को आज के पण्डितो की सी शैक्षणिक डिग्रियाँ प्राप्त नही थी। उनका समस्त ज्ञान अनुभवजन्य था, तथापि आज के साहित्यकार उनकी रचनाओ के विशाल ज्ञान-सागर मे गोता लगाकर भी उनके ज्ञान और पाण्डित्य की पूर्ण थाह नही पा सके हैं।

3. मिल ने अल्पसख्यको के हितार्थ आनुपातिक प्रणाली का प्रतिपादन किया है, पर अधिकांशत. एक सक्रमणीय मत द्वारा ही आनुपातिक प्रतिनिधित्व सम्भव है और इस विधि को ग्रहण करना सामान्य मतदाता के वश की बात नही है। फिर, इस प्रणाली के अन्तर्गत छोटे-छोटे राजनीतिक दलो को अवांछनीय प्रोत्साहन मिलने से देश मे राजनीतिक दलो की सख्या मे अनावश्यक वृद्धि और देश के राजनीतिक वातावरण के दूषित होने का भय रहता है।

4. मिल द्वारा खुले मतदान का समर्थन किया जाना उचित नही है। खुले मतदान के कारण प्रतिरोधी व्यक्तियो मे अनावश्यक तीव्र सघर्ष और विरोध उत्पन्न हो सकता है। मनुष्य स्वभावत. खुले रूप मे अपना विरोध सह नही पाता। सत्तारूढ दल के विरुद्ध खुला मत-प्रयोग तो निश्चय ही आपत्ति को निमन्त्रण देना है। प्रत्यक्ष मतदान मे अनैतिक सौदेबाजी को भी प्रोत्साहन मिलेगा क्योकि लोग जिधर से प्रलोभन पाएँगे उधर ही हाथ उठाएँगे।

5. मिल द्वारा प्रस्तावित आनुपातिक प्रतिनिधि-प्रणाली इतनी पेचीदा है कि साधारण जनता उसे समझ नही सकती। किसी भी बडे देश मे आनुपातिक प्रतिनिधित्व के न्यायोचित होने पर भी उसको व्यावहारिक रूप देना बहुत कठिन है। मिल ने प्रतिनिधि-शासन के नियन्त्रण के लिए एक उत्तरदायी समाज का निर्माण चाहा है, पर इसका निर्माण कैसे किया जाए, यह स्पष्ट नही किया है। ससद् मे बहुमत की निरकुशता को नियन्त्रित करने के लिए अनुदेशित अल्पमत (Instructed Minority) के प्रशिक्षण की बात भी समझ मे नही आती।

6. मिल का यह विचार कि मतो की केवल गणना ही नही की जाए उनका वजन भी किया जाए, बडा उचित मालूम होता है। पर यह तभी सम्भव है जब जनता का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा हो, वे स्वार्थी न हो तथा राजनीतिक दलो को समाप्त कर दिया जाए। मिल विरोधी दल के सगठन के लिए स्वय भी राजनीतिक दलो की उपयोगिता को स्वीकार करता है।

7. मिल ने ससद् के कार्यों को सीमित करके उसके कानून बनाने और प्रशासन करने के अधिकारो को नगण्य बना दिया है। ससद् को केवल 'वाद-विवाद' समिति (Talking Shop) बना देना उचित नही कहा जा सकता।

8. मिल प्रजातान्त्रिक विचारो मे असमानता के गीत गाता है। धनी व्यक्तियो को अनेक मत का अधिकार देने और शिक्षितो को मूर्ख की अपेक्षा अधिक

मतदान का अधिकारी बनाने की बात अप्रजातान्त्रिक है। मिल भूल जाता है कि प्रजातन्त्र का आधार ही 'समानता' है और वह इसी पर कुठाराघात कर रहा है।

यद्यपि मिल की प्रतिनिध्यात्मक-शासन-प्रणाली कई दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण और अप्रजातान्त्रिक है तथापि उसमें अनेक प्रजातान्त्रिक सुधार भी निहित हैं। मिल द्वारा स्त्री-मताधिकार का समर्थन दूरदृष्टि का परिचायक है। मिल का यह विचार भी उचित है कि शासन में क्षमता और प्रजातन्त्र का सम्मिश्रण किया जाना चाहिए तथा योग्य व्यक्तियों को शासनाधिकार दिया जाना चाहिए। मैक्सी ने ठीक ही कहा है कि "गत पचास वर्षों के इतिहास का सन्देश यही है कि प्रजातान्त्रिक देशों में कुछ सुधार आवश्यक है।" मिल द्वारा प्रतिपादित यथार्थ को ही अब प्रजातन्त्र का आधार बनाना चाहिए।

जॉन स्टुअर्ट मिल एक असन्तुष्ट प्रजातन्त्रवादी के रूप में-वेपर के विचार
(John Stuart Mill as the Reluctant Democrat—Wayper's Views)

जॉन स्टुअर्ट मिल के प्रतिनिधि-शासन सम्बन्धी विचारों को हम देख चुके हैं और उसके प्रजातन्त्रवादी स्वरूप का विवेचन भी हुआ है, तथापि सुविख्यात राजनीतिशास्त्री सी. एल वेपर ने मिल का 'एक असन्तुष्ट प्रजातन्त्रवादी' के रूप में जो मूल्यांकन प्रस्तुत किया है उसे जानना राजनीतिक चिन्तन के प्रबुद्ध पाठक वर्ग के लिए मूल्यवान है।

वेपर के अनुसार, "यद्यपि 'लिबर्टी' तथा 'रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट' में मिल ने अपनी अनास्था ही प्रदर्शित की है, तथापि वह प्रजातन्त्रवादियों और प्रजातन्त्रवाद का महानतम वक्ता है और प्रजातन्त्र में उससे कम दोष देखने वाला अन्य कोई नहीं दिखाई देता। साथ ही उससे अधिक जोरदार शब्दों में यह भी किसी ने नहीं कहा कि प्रजातन्त्र हर प्रकार के लोगों के लिए उपयुक्त नहीं है। फिर उससे अधिक शक्ति के साथ यह भी किसी ने नहीं कहा कि जहाँ प्रजातन्त्र सम्भव है, वहाँ उससे अच्छी सरकार सम्भव नहीं।"

मिल प्रजातन्त्रवादी था और बेन्थम की भाँति उसका विश्वास था कि मनुष्य अपने अधिकार और हितों को स्वयं ही सबसे अच्छे ढंग से सुरक्षित रख सकता है। मिल का मत था कि अल्पसंख्यकों के हित-साधन के लिए बहुसंख्यक की सद्भावना आवश्यक है। उसने इस बात से सहमति प्रकट की कि शासक अपने पद की प्रथाओं और अपने वर्ग की भावनाओं द्वारा प्रायः उतने ही शासित होते हैं जितने अपने स्वार्थपूर्ण हितों द्वारा। बेन्थम की भाँति मिल ने भी यह स्वीकार किया कि स्वतन्त्रता सम्पन्नता का साधन है और बिना सम्पन्नता के समाज सुखी नहीं रह सकता। यह विचार भी उसे प्रजातन्त्रवादी के रूप में मान्यता देता है। मिल प्रजातन्त्रवादी इसलिए ही नहीं था कि वह प्रजातन्त्र को मनुष्य को सुखी बनाने वाली शासन-व्यवस्था मानता था, बल्कि वह इसलिए भी कि उसकी दृष्टि में प्रजातन्त्र मनुष्य को उत्तम बनाता है। स्वयं मिल ही के शब्दों में, "प्रजातन्त्र का एक लाभ यह भी है कि इसमें शासक जनता के मस्तिष्क से दूर नहीं रह सकता और उसमें

परिवर्तन लाए बिना वह उसके कार्यों में भी अन्तर नहीं ला सकता। वह जानता है कि चरित्र का विकास चरित्र के अभ्यास पर अवलम्बित है और नागरिकों पर नागरिकता के उपयोगी प्रभाव के कारण ही ऐसा होता है। नागरिकता की मात्र शिक्षा नागरिक बनना है।" वेपर के अनुसार मिल की मान्यता थी कि प्राकृतिक पशु के लिए साँस लेना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक राजनीतिक पशु के लिए मतदान का अधिकार है। वेपर का विचार है कि राजनीतिक चिन्तन के लिए सम्पूर्ण इतिहास में मतदान के सम्बन्ध में जॉन स्टुअर्ट मिल से बढ़कर उत्तम विचार और किसी भी विद्वान् के नहीं हैं। मिल के इस मत से असहमत होना कठिन है कि किसी भी राजनीतिक चुनाव के समय मतदाता पर एक नैतिक बन्धन होता है कि वह अपने हितों की तुलना में जनहित को ध्यान में रखे और अपना वोट अपने विवेकानुसार सर्वश्रेष्ठ उम्मीदवार को ही दे। मतदाता को इस प्रकार सोचना चाहिए मानो सम्पूर्ण निर्वाचन उस अकेले पर ही आधारित है और अकेला वही मतदाता है तथा उसका कर्त्तव्य है कि वह खूब सोच-विचार कर और जन-कल्याण को ध्यान में रखकर अपना मत दे।

वेपर की टिप्पणी के अनुसार, "मिल की यह निश्चित धारणा थी कि प्रजातन्त्र के लिए लोग चाहे कितने ही कम उपयुक्त क्यों न हो, फिर भी वे पानी में तैरना सीख सकते हैं। यह विचार अपने मूल रूप में उपयोगितावादी विचार ही है। मिल के विषय में यह कहना उचित ही है कि पानी में डूबते हुए को बचाने के लिए उसके पास पर्याप्त सामान्य ज्ञान है। यदि उसके मतानुसार सभी स्थानों (जनसमूहों) के लिए प्रजातन्त्र उपयुक्त नहीं है, तो भी यदि समाज प्रजातन्त्र को अपनाने के लिए तैयार है, तो वहाँ समाज के सभी वयस्क स्त्री और पुरुषों को इसमें भाग लेना ही चाहिए। मिल का ध्यान नारी-समाज की यातना की ओर भी था। स्त्रियों के हित के लिए संसद् में सर्वप्रथम उसने ही आवाज उठाई थी, अतः मिल को प्रजातन्त्रवादी कहना हर दृष्टि से उचित है।"

जॉन स्टुअर्ट मिल डी टोक्यूविले की पुस्तक 'डेमोक्रेसी इन अमेरिका' से, जिसका प्रथम भाग सन् 1835 में और द्वितीय भाग 1847 में प्रकाशित हुआ था, बहुत अधिक प्रभावित हुआ था और उसने इसे 'प्रजातन्त्र के प्रभाव की प्रथम विश्लेषणात्मक जानकारी' बताया था। डी. टोक्यूविले का विचार था कि प्रजातन्त्र का प्रादुर्भाव अनिवार्य है, यह दुनिया में अवश्य प्रचलित होगा, किन्तु इसको अच्छा और बुरा बनाना नागरिकों पर निर्भर है। जॉन स्टुअर्ट मिल, जैसा कि वेपर ने लिखा है, डी टोक्यूविले के सामान्य परिणामों से सहमत दिखाई देता है जिनके अनुसार, "मानव जाति ज्यों-ज्यों प्रजातन्त्र की ओर अग्रसर होगी, त्यों-त्यों वहाँ महान् स्वतन्त्रता के स्थान पर समर्पण अराजकता के स्थान पर सेवा तथा शीघ्र परिवर्तन के स्थान पर स्थायित्व की स्थापना होगी। खतरा यह है कि कहीं मनुष्य अपना नैतिक साहस तथा स्वतन्त्रता-अभिमान त्याग न दे। वह राज्य की अत्यधिक शक्ति के पक्ष में नहीं

होगा। वह राज्य को विचार और भावना की सामान्य दृष्टि का अग मानव-जाति का दुख निवारक तथा मानव के मूल अधिकारो का रक्षक मानेगा। वास्तव मे प्रजातन्त्र एक नवीन दास-युग की भूमिका है।"

डी. टोक्यूविले ने लिखा था कि अमेरिका मे प्रजातन्त्र ने बहुसख्यको के हितों की रक्षा की है, उनको अनाचारी प्रवृत्ति को बढावा दिया है और जन-कार्यकारिणियो के कार्य-सचालन मे बाधाएँ प्रस्तुत की हैं। विख्यात उपन्यासकार डिकेंस (Dickens) ने भी अमेरिकी प्रजातन्त्र की आलोचना की और कहा कि प्रजातन्त्र मे प्राय: "स्वतन्त्रता अपना आंचल अपनी आँखो पर डाल लेती है तथा अपनी सहोदरा दासता को स्वच्छन्द आचरण की अनुमति प्रदान कर देती है।" जॉन स्टुअर्ट मिल का भी विचार था कि अमेरिका के बारे में जो सत्य है वह इगलैण्ड के विषय मे भी उतना ही सत्य है। वेपर के अनुसार मिल का विश्वास था कि "मानव-प्रकृति अत्यन्त अकिंचन होती है।" 'Essay on the Subjection of Women' मे मिल ने लिखा है कि "दुनिया में ऐसे लोगो की सख्या बहुत है जो पशुओ से कुछ ही बेहतर हैं।" मिल ने अपने निबन्ध मे बताया कि सम्पूर्ण मानव जाति के निर्माता पुरुष और स्त्री वर्ग में से एक मे शासक के गुण विद्यमान हैं तो दूसरे मे दासता के। मिल के अनुसार इगलैण्ड मे पूँजीवादी वर्ग तथा मजदूर वर्ग की भावनाएँ भी शासक और दास की भावनाएँ है।

वेपर के अनुसार जॉन स्टुअर्ट मिल लोकमत के दमघोटू प्रभाव से भयभीत था। उसका कहना था कि आज के लोकमत का आदर्श चरित्रहीनता है और इगलैण्ड अब महान् व्यक्ति उत्पन्न नही कर रहा था बल्कि समाज के दबाव से अमानवीय बनता जा रहा था। मिल ने दुःख प्रकट किया कि "इगलैण्ड की जनता के पास कोई भी स्वाभाविक आदर्श नही है क्योंकि वह अपनी प्रकृति के अनुसार नही चल रही है। उसकी मानवीय शक्ति भूख से तड़प रही है, उनकी भावनाएँ रुदन कर रही हैं और उसकी आनन्द की इच्छाएँ प्यास से व्याकुल हैं।" डी. टोक्यूविले की चेतावनियो के इस प्रकार के भयों को मिल ने और अधिक बढा दिया।

मिल ने इस बात पर विचार किया कि प्रजातन्त्र को विश्व के लिए सुरक्षित कैसे रखा जा सकता है और कैसे इस बात के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है कि प्रजातन्त्र की प्रणाली मानव-जाति के लिए घातक सिद्ध न होकर सुखदायक ही सिद्ध होगी। वेपर ने लिखा है कि मिल की इस प्रकार की भावना लोथियन (Loathian) के इन शब्दो मे निहित है जो एक भारतीय से कहे गए थे—"प्रजातन्त्र वह उपहार नही जो किसी को प्रदान किया जा सके, यह तो एक आदत है जो स्वय डाली जाती है और यह तब तक सफल नही हो सकती जब तक कि यह कुलीनतन्त्रियों का एक वर्ग उत्पन्न नहीं कर लेती—और, कुलीनतन्त्री वही है जो जीवन से लेने की अपेक्षा जीवन को देता अधिक है।" वेपर के अनुसार, 'मिल का निश्चित विचार था कि प्रजातन्त्र इस प्रकार के कुलीनतन्त्रियों को अवश्य उत्पन्न करेगा। उसका विश्वास था कि शिक्षा द्वारा ही मनुष्यो का निर्माण होता है और उचित शिक्षा कुलीनतन्त्री मे सक्षम है। मिल औद्योगिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के प्रजातन्त्रो का

समर्थक या और शिक्षा के अतिरिक्त सामाजिक कार्यों में भी उसकी आस्था थी।" यह बात सच है कि यदि मनुष्य प्रजातन्त्र का सम्मान करेगा तो प्रजातन्त्र मनुष्य का सम्मान करेगा। प्रजातन्त्र उन नेताओं के बिना जीवित नहीं रह सकता जिनके मार्गदर्शन अथवा नेतृत्व के बिना कोई भी जनसमूह या सरकार नाश के गर्त में जा सकती है। मिल के अनुसार ऐसे कुलीनतन्त्रियों को महत्त्व तभी मिलेगा जब जनता झूठे और सच्चे प्रजातन्त्र के बीच अन्तर स्थापित कर सकेगी। सख्या पर आधारित प्रजातन्त्र झूठा प्रजातन्त्र होता है जिसमें 'एक व्यक्ति एक के लिए' वाला सिद्धान्त अपनाया जाता है। यह मिल के मतानुसार नकली प्रजातन्त्र है क्योंकि इसका परिणाम यही होगा कि एक व्यक्ति उतना ही अच्छा होगा जितना दूसरा। इसके गुण और प्रतिभा के बीच अन्तर कर सकना असम्भव हो जाएगा। वर्ग-प्रथा पर अत्यधिक आश्रित प्रजातन्त्र अयथार्थ होता है। एक व्यक्ति या एक मत को मानने वाले सिद्धान्त के अनुसरण का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि अशिक्षित तथा शारीरिक श्रमिकों की सरकार कायम होगी।

सच्चा प्रजातन्त्र समाज के सभी तत्त्वों को उचित महत्त्व प्रदान करेगा। यह योग्य व्यक्तियों को मतदान का अधिकार प्रदान करेगा। आनुपातिक प्रतिनिधित्व का सूत्रपात करेगा और 'बैलट वोट' प्रथा को समाप्त करेगा क्योंकि ईर्ष्या, द्वेष तथा व्यक्तिगत शत्रुता के कारण इस प्रकार से मतदाता बेईमानी करेंगे। इसका एक दूसरा सदन भी होगा जो राष्ट्रीय जीवन के उन तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करेगा जिनका प्रतिनिधित्व प्रथम सदन में सम्भव नहीं होगा। सच्चा प्रजातन्त्र ससद के सदस्यों को कोप सचित करने की आज्ञा नहीं देगा क्योंकि उसके मतानुसार इसके प्रतिनिधि सच्चे प्रतिनिधि होंगे प्रत्यायुक्त प्रतिनिधि (Delegates) नहीं। इसके अनुसार ससद् का कर्त्तव्य प्रशासन करना नहीं वरन् निरीक्षण तथा प्रबन्ध करना होगा। यह राज्य की शक्तियों को सीमित करना पसन्द करेगा और व्यक्तियों को उन कार्यों के करने की स्वतन्त्रता देगा जिन्हें वे राज्य की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। यह नौकरशाही (Bureaucracy) के खतरे के प्रति कभी अन्धा नहीं होगा। यह इस बात का ध्यान रखेगा कि "शासक अपने सगठन के उतने ही दास होते हैं जितने कि शासित शासकों के।"

सन् 1832 के पूर्व प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में इगलैण्ड का सिद्धान्त यह था कि प्रतिनिधित्व संख्या का न होकर हितों का होना चाहिए। 18वीं शताब्दी के अंग्रेज प्रतिनिधित्व के इस सिद्धान्त से बहुत असन्तुष्ट थे। वे इसे बदलना चाहते थे। बर्क, कॉलरिज, केनिंग फ्रांसिस हार्नर ने रिफार्म बिल के उन प्रतिपादकों की भूरि-भूरि प्रशसा की जिन्होंने प्रतिनिधित्व के इस सिद्धान्त को परिवर्तित कर दिया "मिल रिफार्म-बिल का समर्थन करते समय प्रतिनिधित्व के पुराने सिद्धान्त को समाप्त कर देना चाहता था। इसके बिना वह कभी भी प्रजातन्त्रवादी नहीं कहा जा सकता था। उसको झूठे तथा सच्चे प्रजातन्त्र के बीच अन्तर करने के कारण भी 20वीं शताब्दी का मापदण्ड उसे असन्तुष्ट प्रजातन्त्रवादी की सज्ञा देता है।"

जॉन स्टुअर्ट मिल का राजनीतिक अर्थव्यवस्था का सिद्धान्त
(John Stuart Mill's Political Economy)

जॉन स्टुअर्ट मिल के आर्थिक विचारों का विश्लेषण करने पर एक विचित्र स्थिति प्रकट होती है कि उसके व्यक्तिवाद ने आर्थिक क्षेत्र मे पूँजीवाद का रूप ले लिया है। उसके आर्थिक व्यक्तिवाद मे एक क्रमिक विकास अर्थात् सीमित व्यक्तिवाद से सीमित समाजवाद मे रूपान्तरण दिखाई देता है। प्रारम्भ मे मिल ने श्रमिको की शिक्षा, ईमानदारी, उनके अधिक अच्छे निवास और अधिक अच्छे जीवन स्तर आदि के बारे मे अपने विचार व्यक्त किए थे, किन्तु कुछ इस तरह कि उससे पूँजीवादियों के हितों पर कोई विपरीत प्रभाव न पडे। तत्पश्चात् मिल पर कूलरिज और कॉम्टे का प्रभाव दिखाई देता है और समाजवाद को सिद्धान्ततः अस्वीकार करते हुए भी वह उसके कुछ तत्वों को स्वीकार कर लेता है और इस प्रकार उसके व्यक्तिवाद पर समाजवादी छाप दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए बार्कर ने स्टुअर्ट मिल को 'व्यक्तिवादी और समाजवादी युग को जोडने वाली कडी' कहा है।

मिल ने निजी सम्पत्ति, उत्तराधिकार, भूमि पर स्वामित्व, आदि पर विचार किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि व्यक्ति को अपनी स्वय की क्षमताओ का उपयोग करने और इच्छानुकूल उत्पादन करने का अधिकार है। व्यक्ति को दूसरे के नाम अपनी स्वय की सम्पत्ति की वसीयत करने या उसे देने का अधिकार (Right to bequeath) है और उस दूसरे व्यक्ति को अधिकार है कि वह उसे स्वीकार कर उसका उपभोग करे। सम्पत्ति (Property) एक सामाजिक सस्था है तथा मानव-जाति की उन्नति के लिए आवश्यक है। व्यक्तियो की क्षमताएँ भिन्न-भिन्न होती है, अत असमानता एक सामाजिक आवश्यकता है, किन्तु सम्पत्ति पर अधिकार अनेक सीमाओ से आबद्ध है जैसे सन्तान की उत्पत्ति जिनका पालन पिता को करना पडता है।[1]

मिल कुछ शर्तों के साथ भू-सम्पत्ति को न्यायोचित ठहराता है। चूँकि भूमि को उत्पादक बनाने के लिए जोतना पडता है, उस पर जो राशि व्यय की जाती है उसका प्रतिदान भी तुरन्त न मिल कर एक निश्चित समय के बाद ही मिलता है, अत यदि पूँजीपतियों को समुचित समय के लिए भूमि पर स्वामित्व का आश्वासन नही होगा तो उनमें भूमि के सुधार के लिए व्यय करने की कोई प्रेरणा उत्पन्न नही होगी। मिल ने राष्ट्रीयकरण का, विशेषकर भू-सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण का समर्थन नही किया, हालांकि यह अवश्य स्वीकार किया कि भूमि एक ऐसी चीज है जिसका समाज के हित से सम्बन्ध है, अत राज्य कानून बनाकर व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति को सार्वजनिक प्रयोग के लिए हस्तगत कर सकता है जैसे किसी सडक अथवा रेलवे लाइन के निर्माण के लिए या सार्वजनिक सेवा की कोई अन्य चीज खडी करने के लिए।[2] मिल ने आगे चलकर ऐसे समाजवाद से सहमति प्रकट की जो व्यक्तियो के हितों को क्षति पहुँचाए बिना सामाजिक हित को प्रोत्साहित करे। अपने जीवन के

1 *V Venkatarao* : A History of Political Theories, p. 426
2 *Davidson* : op. cit , pp 132-33.

अन्तिम वर्षों में मिल ने यह भी कहा कि राज्य को भूमि का सम्पूर्ण स्वामित्व अपने हाथों में ले लेना चाहिए।[1]

मिल ने पूँजीवादियों और श्रमिकों के हितों के बीच सामञ्जस्य पैदा करने का प्रयत्न किया। उसने प्रतिस्पर्द्धी व्यापार (Competitive Trade) का समर्थन किया। उसका तर्क था कि प्रतिस्पर्द्धा से अनेक उपयोगी वस्तुओं पर स्वार्थी व्यापारियों का एकाधिकार समाप्त हो जाएगा और बाजार में वस्तुएँ न केवल सस्ती बिकेंगी बल्कि उनकी किस्म भी अच्छी होगी। मिल सार्वजनिक स्वास्थ्य और कल्याण की दृष्टि से व्यापार तथा उद्योगों पर सरकार के व्यापक नियन्त्रण के लिए तैयार था, यद्यपि उसने इस नियन्त्रण की ठीक-ठीक सीमाएँ नहीं बताई।[2] यद्यपि मिल ने आर्थिक क्षेत्र में राज्य के कम-से-कम नियन्त्रण की बात कही और यह चाहा कि राज्य द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छा को प्रतिबन्धित नहीं करना चाहिए और व्यापार में एकरूपता लाने या अन्य प्रकार से नियन्त्रित करने का उसे तब तक कोई अधिकार नहीं होना चाहिए जब तक कि उस कार्य से कोई बहुत बड़ा कल्याण होने वाला न हो, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि उसकी आर्थिक निर्हस्तक्षेप सम्बन्धी धारणा उतनी अटल नहीं रही। यद्यपि उसका सर्वमान्य सिद्धान्त यही रहा कि "लोगों को अपने व्यापार की देखभाल स्वयं ही करने दो" तथापि, जैसा कि सेबाइन ने लिखा है—उसने आर्थिक निर्हस्तक्षेप को त्याग दिया। मिल ने प्रारम्भिक उदारवाद के इस सिद्धान्त को छोड़ दिया कि अधिकतम स्वतन्त्रता तभी सम्भव हो सकती है जब विधान न हो।[3] मिल के आर्थिक सिद्धान्त को उसकी स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की 'विरोधी अभिधारणा' (Anti-thesis) कहा जा सकता है।

जॉन स्टुअर्ट मिल के आर्थिक चिन्तन पर सेबाइन ने उदारवाद के सन्दर्भ में जो मूल्यांकन प्रस्तुत किया है वह पठनीय है। सेबाइन ने लिखा है—

"मिल के आर्थिक सिद्धान्तों में तार्किक स्पष्टता का दोष है और इसलिए उनकी आलोचना की जा सकती है। मिल ने रिकार्डो के अर्थशास्त्र और प्राचीन अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों से विचार शुरू किया था। सिद्धान्ततः उसने अपने बुनियादी दृष्टिकोण को कभी नहीं त्यागा। लेकिन उसे यह विश्वास हो गया था कि परम्परागत अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन की कुछ अनिवार्य परिस्थितियों को गलती से वितरण की वे परिस्थितियाँ मान लिया था जो आर्थिक तथा सामाजिक संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। मिल इन परिस्थितियों को सार्वजनिक नीति का विषय मानता था और उसका विश्वास था कि इन पर विधायी नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। परम्परागत अर्थशास्त्र की इस आलोचना के लिए मिल प्रारम्भिक उदारवादियों के सामाजिक दर्शन को दोषी ठहराता था। प्रारम्भिक उदारवादियों ने समाज के सस्थागत स्वरूप और संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास की उपेक्षा की थी। परम्परागत अर्थशास्त्र के बारे में मिल की यह आलोचना सही थी कि उसमें समस्त

1 *V. Venkatarao* : op. cit., p. 427.
2–3 सेबाइन : वही, पृष्ठ 668.

आर्थिक सकल्पनाओ को बिल्कुल सामान्य माना गया था और उनके ऐतिहासिक आधार की उपेक्षा की गई थी। प्रारम्भिक उदारवादियो ने इन सकल्पनाओ मे मानव-प्रकृति की सार्वभौम विशेषताओ और मानव-जीवन के सामान्य मनोवैज्ञानिक नियमो के बीच अथवा सस्थाओ और अपरिवर्तनशील भौतिक परिस्थितियों के बीच भेद किया था। यह उत्पादन और वितरण के आर्थिक अन्तर से साम्य नही रखता था। फलत उसने उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था को वितरण की समाजवादी व्यवस्था के साथ सयुक्त करने की कठिनाइयो पर विचार नही किया। मिल के अर्थशास्त्र की मुख्य विशेषता यह थी कि उसने प्राकृतिक एवं आर्थिक नियमो की सकल्पना को और इसके परिणामस्वरूप स्वनियन्त्रित प्रतियोगी आर्थिक व्यवस्था के सिद्धान्त को त्याग दिया था। इस प्रकार उसने विधान और अर्थव्यवस्था के सम्पूर्ण प्रश्न के सम्बन्ध को, एक स्वतन्त्र बाजार के सरक्षण के साथ खोज लिया। लेकिन इस परिवर्तन के व्यावहारिक निष्कर्ष स्पष्ट नही थे। सामान्य रूप से उदारवादियो की भाँति मिल शासन और उसकी रीतियो को सन्देह की दृष्टि से देखता था। उसका विचार था शासन जो भी कार्य करेगा, खराब करेगा। इसलिए वह व्यक्तिगत उद्यम को पसन्द करता था। उसे राज्य के अभिभावकत्व से भी भय लगता था यद्यपि इस सम्बन्ध मे उसकी आपत्ति आर्थिक न होकर नैतिक थी। सामाजिक दर्शन की भाँति मिल के आर्थिक चिन्तन पर भी नैतिकता का प्रभाव था। पूँजीवादी समाज के अन्यायो के प्रति उसके मन मे नैतिक रोष की भावना थी। उसका विचार था कि पूँजीवादी समाज श्रम के उत्पादन का वितरण श्रम के उलटे अनुपात मे करता है।"

मिल का योगदान (देन) और स्थान

(Mill's Contribution and Place)

राजनीतिक चिन्तन के जगत् मे मिल का मिश्रित स्वागत हुआ है। एक ओर उसकी प्रशसा के गीत गाए गए है, उसकी पुस्तकें पाठ्यक्रम मे रखी गई हैं, उसे एक दार्शनिक, न्यायशास्त्री और अर्थशास्त्री का दर्जा दिया गया है तो दूसरी ओर उसकी भर्त्सना की गई है और यह आरोप लगाया गया है कि उपयोगितावादी के सरक्षक के रूप मे उसने उपयोगितावाद की हत्या ही कर डाली है तथा प्रजातन्त्र मे दोषो और कमियो के सिवाय उसने और कुछ नही देखा है। वेपर और डनिंग जैसे विद्वानो ने उसके 'नारी स्वतन्त्रता' सम्बन्धी विचारो का भी विरोध किया है।

यह बहुत कुछ सत्य है कि मिल ने किसी नए सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया। उसके सिद्धान्त मे बहुत अधिक सगति नही है और उसके चिन्तन मे अनेक परस्पर विरोधी तत्त्वो का मिश्रण है। पर केवल इन्ही आधारो पर हम उसकी उपेक्षा नही कर सकते। यह देखना अधिक शिक्षाप्रद होगा कि उसने जो कुछ लिखा है उसमे सत्य कितना है, उसकी विधेयात्मक देन क्या है और अपने युग को उसने किस प्रकार प्रभावित किया है। "और यदि लेखको की योग्यता का निर्णय इस बात से होता है कि उनका नीति पर क्या प्रभाव पडा है तो मिल का स्थान निश्चित रूप से ऊँचा है। एक न्यायशास्त्री, अर्थशास्त्री और राजनीतिक दार्शनिक के रूप मे उसे उसके समय मे एक अवतार समझा जाता था।"

मिल ने एक पीढ़ी से भी अधिक समय तक राजनीतिक चिन्तन के हर क्षेत्र को प्रभावित रखा और उसके ग्रन्थों को विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त हुआ। मिल ने उपयोगितावाद के तर्कशास्त्र को विकसित किया और आगमनात्मक के पद्धति (Inductive Method) की त्रुटियाँ दूर की। बेन्थम के उपरान्त उपयोगितावाद बहुत से आलोचक उत्पन्न हुए और इस विचारधारा के सम्बन्ध में तरह-तरह के भ्रम पैदा हुए। मिल ने उन सब आलोचकों को निरुत्तर किया तथा उनके द्वारा फैलाए भ्रमों का अन्त किया। आज उपयोगितावादी अर्थशास्त्र अलग विषय बन गया है। मिल ने उपयोगितावाद की एक बहुत बड़ी त्रुटि को दूर किया। बेन्थम ने सुख को गुणात्मक नहीं केवल मात्रात्मक बतलाया था। मिल ने कहा कि सुखों में गुणात्मक अन्तर भी होता है। उपयोगितावादी विचारधारा को मिल की यह एक जबर्दस्त देन थी। वेपर के शब्दों में—

"जब हम मिल की आलोचनाओं का विवेचन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि वह उपयोगितावादियों में सर्वाधिक सन्तोषजनक था। वह उस गहराई तक पहुँचा जिससे उसके पिता तथा बेन्थम सर्वथा अपरिचित रहे। उसके पास अपनी निजी कल्पना थी परन्तु वह उन लोगों की अपेक्षा जीवन के अधिक निकट है। वह उपयोगितावादी की अपर्याप्तता, अपूर्णता, नैतिक दुरूहता तथा इससे सम्बन्धित भावनाओं के प्रति पाए जाने वाले अज्ञान को मिटाता है।"

"वह उपयोगितावाद की वास्तविक शक्ति को भी हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। राज्य के निर्माता नर और नारियों को वह सदैव ध्यान में रखता है। राज्य के सावयव तथा सामाजिक सिद्धान्त उसके लिए व्यर्थ हैं। वह एक अंग्रेज की भाँति अर्थात् हॉब्स की भाँति ही अंग्रेज है और उसकी दृष्टि में अतिशयोक्तिपूर्ण कृत्रिम व्यक्ति सच्चे अंग्रेज हैं। जिन समस्याओं से वह सम्बन्धित है, वे आधुनिक समस्याएँ हैं। वह सामूहिक नियन्त्रण की सीमा निर्धारित करना चाहता है। उसका कार्यों का स्व-सम्बन्धी तथा पर-सम्बन्धी विभाजन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह हमारी भाँति ही *व्यक्ति के विकास तथा सुरक्षा को भी महत्त्व देता है।* Ritchie अपने सन् 1891 वाले लेख में मिल को अनिश्चयोक्तिपूर्ण या अनिश्चयवादी बताता है, परन्तु हम सब रेडियो और सिनेमा का महत्त्व समझ चुके हैं। हमने नीत्शे के शब्दों में, समाचार-पत्रों को अपनी नित्यप्रति की प्रार्थना बना लिया है और हम मशीन की महत्ता समझते हैं, अतः मिल हमारे लिए अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है। मिल प्रजातन्त्र की बुराइयों से उसकी रक्षा करना चाहता था क्योंकि यह तत्कालीन आवश्यकता थी और ऐसा करने में वह पूर्ण सफल हुआ है। उसका महत्त्व चिरस्थायी और उसका व्यक्तित्व चिरस्मरणीय है।"

मिल इस बात के लिए प्रशंसा का पात्र है कि उसने स्वतन्त्रता की उपयोगितावादी कल्पना प्रस्तुत की। प्रजातन्त्र सम्बन्धी मिल के आलोचनात्मक विचारों का महत्त्व आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है। आधुनिक प्रजातान्त्रिक देशों में वे दोष पाए जाते हैं जिनकी ओर मिल ने संकेत किया था। मिल के इस कथन को भी चुनौती देना कठिन है कि "सुदृढ़ आधार के बिना प्रजातन्त्र का भवन

अधिक दिन खड़ा नहीं रह सकता तथा सार्वजनिक शिक्षा के बिना सबके लिए मताधिकार निरर्थक है।" प्रजातन्त्र की सफलता के लिए दिए गए उसके सुझाव निश्चय ही प्रशंसनीय हैं क्योंकि उनका व्यावहारिक पक्ष सबल है। प्रजातन्त्र की प्रयोगात्मक दिशा में मिल ने बहुमूल्य योगदान किया है।

इसी प्रकार नारी-स्वतन्त्रता सम्बन्धी उसके विचारों की सत्यता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि लगभग सभी देशों ने उसके विचारों पर स्वीकृति की मोहर लगा दी है।

राजनीतिक चिन्तन को मिल की सर्वोच्च देन उसका व्यक्तिवाद है जिसे उदारवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा। वॉन हम्बोल्ट (Von Humboldt) के ये शब्द मिल के मूल विश्वास को व्यक्त करते हैं—"इन पृष्ठों में विकसित प्रत्येक युक्ति एक ही महान् और प्रधान सिद्धान्त की ओर प्रत्यक्ष रूप से संकेत करती है और वह है अपनी विविधता के साथ मानव-विकास का महत्त्व।" मिल ने विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के समर्थन में जो कुछ लिखा है, वह इस विषय पर सम्पूर्ण राजनीतिक साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है। मिल का यह विश्वास भी सही था कि कुछ ही ऐसे प्रतिभाशाली एवं तेजस्वी व्यक्ति होते हैं जो समय-समय पर मानव सभ्यता को प्रगतिशील बनाते हैं। उसके इस कथन में छिपे सार की हम उपेक्षा नहीं कर सकते कि, "ये थोड़े-से लोग पृथ्वी के लवण हैं, इनके बिना मानव-जीवन गतिहीन हो जाएगा।"

इसमें सन्देह नहीं कि प्रजातन्त्रवाद, प्रतिनिधि-शासन और महिला-स्वतन्त्रता के वर्तमान स्वरूप पर मिल का काफी प्रभाव है।

अन्त में, उदारवादी के रूप में मिल के मूल्यांकन पर हम जॉर्ज एच. सेबाइन के विचारों का उल्लेख किए बिना नहीं रह सकते जो एक प्रकार से मिल की देन का निचोड़ है। उसने लिखा है—

"मिल के उदारवाद का न्यायपूर्ण और इसके साथ ही महानुभूतिपूर्ण मूल्यांकन बहुत कठिन है। यह कह देना सचमुच बहुत आसान होगा कि मिल ने नई शराब को पुरानी बोतलों में रख कर प्रस्तुत किया। मिल के मानव-प्रकृति, सदाचार, समाज और उदारवादी समाज में शासन के कार्यों से सम्बन्धित समस्त सिद्धान्त उस भार को वहन करने के लिए अनुपयुक्त थे जो मिल ने उनके सिर पर डाल दिया था। लेकिन इस तरह का भावपरक विश्लेषण और आलोचना न तो महानुभूतिपूर्ण है और न ऐतिहासिक दृष्टि से उचित है। मिल की रचनाओं में एक अस्पष्टता पाई जाती है। मिल की उदारता और भावप्रवणता उसकी बहुत-सी कमियों को छिपा लेती है। मिल उदारवादियों की पहली पीढ़ी का स्वाभाविक उत्तराधिकारी था। इन्हीं सब बातों ने उसके विचारों को काफी महत्त्व और प्रभाव प्रदान किया था, तथापि मिल अपने तर्कों के पक्ष में इस प्रभाव के अनुपात में दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं कर सका। मिल सदैव ही साध्य के महत्त्व पर जोर देता था; किन्तु व्यवहार में वह नैतिक अन्तर्दृष्टि पर बहुत अधिक निर्भर रहता था। मिल की नैतिक संवेदना बहुत व्यापक थी। सामाजिक दायित्व के प्रति भी

उसके मन में गहरी चेतना थी। यद्यपि मिल के चिन्तन में व्यवस्था और संगति का अभाव है, तथापि उदारवादी दर्शन के प्रति उसकी देन को चार आदर्शों के रूप में व्यक्त किया जा सकता है—(1) मिल ने उपयोगितावाद में महत्वपूर्ण संशोधन किया। उसके पूर्व उपयोगितावाद का नैतिक दर्शन केवल सुख और दुःख की तराजू से बंधा हुआ था। मिल ने उसे इस बन्धन से मुक्त किया। कॉण्ट की भाँति मिल का नीतिशास्त्र सम्बन्धी मुख्य विचार भी मानव-जाति के प्रति सम्मानपूर्ण था। मिल का कहना था कि हमें मनुष्य के प्रति प्रतिष्ठा का भाव रखना चाहिए; तभी हम उससे नैतिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा कर सकते हैं। मिल का नीतिशास्त्र इस अर्थ में उपयोगितावादी था कि वह व्यक्ति के प्रश्न को आध्यात्मिक रूढ़ि के रूप में नहीं देखता था। उसका विचार था कि व्यक्तित्व को स्वतन्त्र समाज की वास्तविक परिस्थितियों में सिद्ध किया जा सकता है। (2) मिल ने उदारवाद के राजनीतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता को अपने में ही एक सिद्धि माना था। मिल का मत था कि स्वतन्त्रता का महत्त्व इसलिए नहीं है कि वह किसी भौतिक स्वार्थ की सिद्धि करती है, बल्कि इसलिए है कि उत्तरदायित्व मनुष्य की एक सहज और स्वाभाविक आस्था है। अपने ढंग से जीवन व्यतीत करना, अपनी सहज प्रतिभा का विकास करना, सुख प्राप्त करने का साधन नहीं है, वह खुद सुख का एक अंग है। इसलिए एक श्रेष्ठ समाज वह है जो स्वतन्त्रता का वातावरण स्थापित करता है तथा विविध जीवन-पद्धतियों के निर्वाह के उचित अवसर प्रदान करता है। (3) स्वतन्त्रता केवल एक व्यक्तिगत हित नहीं है, वह एक सामाजिक हित भी है। स्वतन्त्र विचार विनिमय के द्वारा समाज को भी लाभ पहुँचता है। यदि किसी मत को बलपूर्वक दबा दिया जाता है तो इससे व्यक्ति को तो नुकसान पहुँचता ही है, इससे समाज का भी अपकार होता है। जिस समाज में विचार स्वतन्त्र चर्चा की प्रक्रिया के द्वारा जीवित रहते हैं और मरते हैं वह समाज न केवल एक प्रगतिशील समाज है, बल्कि ऐसा समाज भी है जो स्वतन्त्र विचार का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को भी पैदा करता है। (4) स्वतन्त्र समाज में उदारवादी राज्य का कार्य नकारात्मक नहीं बल्कि सकारात्मक है। वह विधि-निर्माण से विरत रहकर या यह मानकर कि चूँकि कानूनी प्रतिबन्धों को हटा दिया गया है, इसीलिए स्वतन्त्रता की अवस्थाएँ विद्यमान हैं, नागरिकों को स्वतन्त्र नहीं बना सकता। विधि द्वारा अवसरों का निर्माण किया जा सकता है, उनका विकास किया जा सकता है और समानता की स्थापना की जा सकती है। उदारवाद उसके उपयोग पर मनमाने नियन्त्रण नहीं लगा सकता। उसकी सीमाएँ सिर्फ एक आधार पर निश्चित की जा सकती हैं कि वह इस तरह के अवसरों को कहाँ तक जुटा पाता है और उसके पास उसके लिए कहाँ तक साधन हैं जिनसे व्यक्ति अधिक मानवोचित जीवन व्यतीत कर सकें एवं उन्हें विवशता से मुक्ति मिल सके।"[1]

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 669–70.

19

आदर्शवादी परम्परा : इमेनुअल कॉण्ट

(Idealist Tradition : Immanual Kant)

उपयोगितावाद इगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न स्थिति का सामना करने मे असमर्थ रहा । अब प्रवृत्ति समष्टिवाद की ओर थी और इसका कोई समाधान उपयोगितावाद के पास न था । परिवर्तित परिस्थितियो मे उपयोगितावाद राजनीतिक दृष्टि से विफल हो चुका था । विचारशील व्यक्ति यह अनुभव करने लगे थे कि राज्य के स्वरूप और उससे व्यक्ति के सम्बन्ध विषयक कोई उपयुक्त सिद्धान्त प्रतिपादित करने से पूर्व नए सिरे से शुरूआत करनी होगी । उन्हे विश्वास हो चला था कि मानव-स्वभाव की बेन्थमवादी खोखली धारणा की जगह एक अधिक सच्ची और समुचित धारणा प्रस्थापित करनी होगी । यह कार्य टॉमस हिल ग्रीन (T.H. Green) ने 'राजनीतिक कर्त्तव्य' (Political Obligation) पर अपने भाषणो द्वारा सम्पन्न करने का प्रयत्न किया । ग्रीन ऑक्सफोर्ड का एक महत्वपूर्ण आदर्शवादी (Idealist) था ।

तात्कालिक रूप मे ऑक्सफोर्ड मे आदर्शवादी विचारधारा का प्रवाह जर्मन आदर्शवाद के आगमन के कारण हुआ था । जर्मन आदर्शवाद का सूत्रपात इमेनुअल कॉण्ट (Immanual Kant) मे हुआ और इसकी चरम परिणति हीगल (Hegel) मे देखने को मिली । इगलैण्ड मे यद्यपि आदर्शवादी धारा को प्रवाहित होने का एक मूल कारण जर्मन आदर्शवाद था, तथापि यह मान लेना भूल होगी कि अग्रेजी आदर्शवादी आन्दोलन पूर्णत जर्मन आदर्शवाद की ही देन थी । ऑक्सफोर्ड के आदर्शवादियो ने अरस्तू और प्लेटो की दार्शनिकता से कम प्रेरणा ग्रहण नहीं की थी ।

आदर्शवाद का अभिप्राय और उसकी ऐतिहासिक परम्परा
(Meaning and History of Idealism)

राजनीति के इतिहास मे आदर्शवाद का सिद्धान्त अनेक नामो से विख्यात है। चरमतावादी सिद्धान्त (Absolutist Theory), दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory), तात्त्विक सिद्धान्त (Metaphysical Theory) और मैकाइवर के शब्दो मे 'रहस्यवादी सिद्धान्त' (Mystrical Theory) आदि एक ही आदर्शवादी सिद्धान्त

के विभिन्न नाम हैं। यथार्थ में ये अनेक नाम आदर्शवादी विचार के धरातल के नीचे बहने वाली उन धाराओं की ओर संकेत करते हैं जो जर्मन तथा अंग्रेजी विचारक हीगल, कॉण्ट, ग्रीन, बोसांके आदि राजनीतिक दर्शनों से प्रवाहित होकर आदर्शवादी रूपी सरिता को जन्म देती हैं। राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य तथा समाज का एक आदर्श चित्र प्रस्तुत करता है जो व्यावहारिक दृष्टि से कुछ कठिनाइयों से पूर्ण होते हुए भी दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सिद्धान्त अत्यन्त भावात्मक (Abstract) तथा तर्कपूर्ण (Logical) है। राज्य को एक वास्तविक तथ्य (Actual Fact) न मानकर यह उसे एक आदर्श (Ideal) अथवा पूर्ण (Perfect) वस्तु मानकर चलता है जिससे इसके परिणामों का आधार अनुभव तथा निरीक्षण न होकर शुष्क तर्क और आध्यात्मिक बन जाता है। आदर्शवादियों को इस बात की चिन्ता नहीं है कि वर्तमान राज्य का स्वरूप क्या है? वे उसे उसकी यथार्थताओं (Realities) से अलग रख कर केवल इस बात पर विचार करते हैं कि आदर्श राज्य को कैसा होना चाहिए। इसीलिए उनके दर्शन में राज्य का स्थान दैविक महत्ता तक पहुँच गया है और व्यक्ति एवं उसकी स्वतन्त्रता की निर्मम उपेक्षा कर दी गई है।

राजनीति में आदर्शवादी परम्परा का इतिहास कहीं-कहीं पर खण्डित होते हुए भी बहुत प्राचीन और लम्बा है जो यूनानियों से लेकर आज तक शृंखलाबद्ध रूप में ढूंढा जा सकता है। राजनीतिक आदर्शवाद के अनेक तत्त्व अरस्तू (Aristotle) और प्लेटो (Plato) के दर्शन में उपलब्ध हैं। अरस्तू का यह सूत्र कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' आदर्शवादी परम्परा का आधारभूत सिद्धान्त है। अरस्तू ने राज्य की उपयोगिता व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए स्वीकार की है। अरस्तू की भाँति ही प्लेटो ने भी नैतिक प्रणाली में विश्वास प्रकट किया है।

प्राचीन यूनानी दार्शनिकों की राज्य के सम्बन्ध में नैतिक पुरुष की धारणा मध्य-युग में चर्च और राज्य के संघर्ष के फलस्वरूप लम्बे अर्से तक लुप्त रही। 17वीं शताब्दी के पुनर्जागरण काल में एक बार फिर यूनानी दर्शन के प्रति विद्वानों ने जिज्ञासा उत्पन्न की। टॉमस मूर ने प्लेटो के आदर्शवादी राज्य की कल्पना से प्रभावित होकर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Utopia' की रचना की। "यद्यपि उस समय तक व्यक्तित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन हो चुका था जो आगे चलकर आदर्शवादी विचारधारा की आधारशिला बना, तथापि यह काल आदर्शवादी परम्परा के लिए अधिक शुभ सिद्ध नहीं हुआ।"

आधुनिक युग में यूनानी विचारधारा का पुनरुत्थान रूसो द्वारा हुआ। उसकी 'सामान्य इच्छा' (General Will) इसी दर्शन अर्थात् आदर्शवाद पर आधारित है। रूसो के उपरान्त जर्मनी आदर्शवाद का गढ़ बन गया जहाँ इस दर्शन का विकास मुख्यत: 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। वास्तव में "फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से प्रभावित जर्मन जनता के केन्द्रीय व्यवस्था सम्बन्धी विचारों को केवल आदर्शवादी दार्शनिकों के विचार ही सन्तुष्ट कर सकते थे।" जर्मनी के आदर्शवादी लेखकों में कॉण्ट (Kant), फिक्टे (Fichte) तथा हीगल (Hegel) के नाम उल्लेखनीय हैं।

कॉण्ट को इस दर्शन का वर्तमानयुगीन जनक कहा जा सकता है। उसका आदर्शवाद उदारवादी था। यह उदारवादी तत्त्व फिक्टे मे कम होकर हीगल मे पूर्णतया समाप्त हो गया। आदर्शवादी जर्मन स्कूल के साथ इगलैण्ड मे भी आदर्शवादी विचारधारा विकसित हुई। इगलैण्ड के आदर्शवादी लेखको मे ग्रीन, ब्रेडले, बोसांके आदि अधिक उल्लेखनीय हैं। यदि जर्मनी का आदर्शवाद उग्रवादी था तो इगलैण्ड का उदारवादी।

आदर्शवाद का सिद्धान्त
(Principle of Idealism)

राज्य एक नैतिक सस्था है—आदर्शवादियो के अनुसार राज्य एक नैतिक सस्था (An ethical institution) है और राजकीय सगठन द्वारा ही व्यक्ति को योग्य, विवेकशील तथा नैतिक बनने के अवसर प्राप्त होते हैं। अरस्तू के इस मत से आदर्शवादी सहमत हैं कि 'राज्य सभ्य जीवन की प्रथम आवश्यकता है और केवल पशुओ अथवा देवताओ को ही राज्य की आवश्यकता नही होती।" आदर्शवादियों के अनुसार राज्य का उद्देश्य सुख-वृद्धि न होकर उन परिस्थितियो को कायम रखना है जो नागरिको के श्रेष्ठतम जीवन के लिए आवश्यक हैं। बोसांके राज्य को 'नैतिक विचारक का मूर्तरूप' (An embodiment of ethical idea) मानता है। एक स्थल पर वह कहता है "राज्य विश्वव्यापी सगठन का अग न होकर समस्त नैतिक ससार का अभिभावक (The guardian of whole moral world) है।" आदर्शवादियो की मान्यता है कि राज्य का जन्म कही बाहर से नही हुआ है अपितु वह हमारे नैतिक विचार की ही अनुभूति (Realization of moral idea) है जो हमारे पूर्ण विकास के लिए परमावश्यक है। कॉण्ट के विचारो को विकसित करते हुए हीगल भी इसी परिणाम पर पहुँचा कि राज्य सामाजिक सदाचार की वृद्धि के लिए कायम है। हीगल के ही शब्दो मे, "सामाजिक आचरण की उच्चतम कला राज्य मे व्यक्त होती है। राज्य विवेक का सर्वोच्च रूप है और वही यथार्थता का सरक्षक है।"

राज्य एक अनिवार्य सस्था है—आदर्शवादियो के अनुसार नैतिक सस्था होने के कारण राज्य का समाज मे अस्तित्व आवश्यक ही नही अनिवार्य है। "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" इसलिए वह समाज अथवा राज्य से पृथक् रहकर कभी शान्ति प्राप्त नही कर सकता। हॉब्स, लॉक आदि की भाँति आदर्शवादी यह नही मानते कि समाज के विकास मे कोई प्राकृतिक दशा जैसा राज्यविहीन काल भी रहा होगा, राज्य से पृथक् मनुष्य स्वय अपने मे एक विरोध (Contradiction in himself) है। राज्यविहीन अवस्था मे अथवा राज्य की अनुपस्थिति मे न केवल समाज अव्यवस्थित एव कानूनरहित होगा बल्कि राज्यविहीन समुदाय के लोग अत्यन्त चरित्रहीन एव जघन्य आचरण करने वाले होगे। अत: आदर्शवादियो की निश्चित धारणा है कि "एक सभ्य, सुसंस्कृत, नैतिक एव परिपूर्ण रूप से विकसित समाज की सद्भावना के बिना राज्य एक विचारशून्य कल्पना है।"

राज्य सर्वशक्तिमान है—राज्य के सम्बन्ध मे आदर्शवादियो की कल्पना

सर्व-सत्तावादी है। उग्र आदर्शवादी हीगल के शब्दों में, "राज्य स्वयं ईश्वर है। वह पृथ्वी पर स्थित दैवी विचार (Divine Idea) है।" पुनः हीगल के ही कथनानुसार 'राज्य पृथ्वी पर साक्षात् ईश्वर का आगमन है। वह एक ऐसी दैवी इच्छा है जो विश्वव्यापी व्यवस्था में वास्तविक रूप में प्रकट होती है।"[1] इस प्रकार राजसत्ता की चरम सीमा की निरकुशता तथा असीमितता की समर्थक होने के कारण आदर्शवादी राज्य की कल्पना पूर्णतः एक सर्वाधिकारवादी राज्य (Totalitarian State) की कल्पना है जिसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार किसी को नहीं हो सकता। ग्रीन जैसे उदार आदर्शवादी ने व्यक्ति को कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार प्रदान किया है।

राज्य और व्यक्ति में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है—आदर्शवाद व्यक्ति और राज्य में कोई विरोध नहीं मानता। राज्य बनाम व्यक्ति (State Versus Individual) जैसे किसी भी सम्भावित विवाद को वह एक भ्रान्त धारणा मानता है। राज्य का उद्देश्य मानव-व्यक्तित्व का पूर्ण तथा स्वतन्त्र विकास करना है, अतः राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारों और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक राज्य की शक्ति के सम्पूर्ण विचार को ही त्याग देना चाहिए। आदर्शवादियों की मान्यता है कि राज्य की सच्ची जड़ें व्यक्ति के हृदय में हैं और एक असभ्य, बर्बर एवं मूर्ख पशुवत् आचरण करने वाले मनुष्य को सुसंस्कृत मानव एवं दिव्य बनाने वाली यह संस्था निश्चय ही व्यक्ति की सच्ची मित्र है। व्यक्ति का सदाचार भी इसी बात में निहित है कि वह अपने सामाजिक कर्त्तव्य के पालन से विमुख न हो। इसमें सन्देह नहीं कि दो आदर्शवादी धारणाएँ विचार जगत् में क्रान्ति की द्योतक हैं। बार्कर के कथनानुसार—"एक ऐसे केन्द्रीय व्यक्ति से आरम्भ करने के स्थान में, जिसके लिए सामाजिक संगठन ढाला हुआ माना जाता है, आदर्शवादी एक केन्द्रीय सामाजिक संगठन से आरम्भ करता है जिसमें व्यक्ति को अपना निर्धारित कर्त्तव्य-क्षेत्र खोजना चाहिए।"[2]

राज्य का अपना उद्देश्य तथा व्यक्तित्व है—व्यक्तिवादियों के विपरीत आदर्शवादियों की मान्यता है कि राज्य का अपना पृथक् एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व तथा अस्तित्व होता है। राज्य के सदस्यों से पृथक् राज्य की अपनी एक इच्छा होती है जो नागरिकों की सामूहिक इच्छा से स्वतन्त्र होते हुए भी उससे भिन्न नहीं होती। राज्य के व्यक्तित्व की धारणा की पूर्ण अभिव्यक्ति हीगल में हुई है जो राज्य को 'एक आत्म-चेतन नैतिक तत्त्व, आत्मज्ञानी और आत्मानुभवी व्यक्ति' मानता है। "राज्य अपने घटकों के योग से कुछ अधिक है और उसकी अपनी आत्मा है।" आदर्शवादी विचार की यह एक आधारभूत विशेषता है।

1 "The state is the march of God on earth. It is the Divine Will unfolding itself to the actual shape and organisation of the world."

2 *Barker* : Political Thought in England, p. 11.

राज्य मनुष्य की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है—रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त आदर्शवादी दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। आदर्शवादियों के अनुसार विभिन्न संघ, संस्थान एवं संस्थाएँ, जिनका निर्माण सामान्य रुचियों की पूर्ति हेतु किया जाता है, सामूहिक मस्तिष्क का प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु इन सबके बीच सामंजस्य राज्य द्वारा ही स्थापित किया जाता है। राज्य हमारी अन्तःचेतना अथवा वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति होने के कारण सामान्य इच्छा का प्रतीक है। राज्य वही कार्य करता है जो हमारा शुद्ध अन्तःकरण चाहता है अथवा जो हमें सामाजिक प्राणी होने के नाते करना चाहिए। व्यक्तिगत विकास की परिपक्वता एवं परिपूर्णता का ही दूसरा नाम राज्य है।

राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है—आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं। इसका अभिप्राय राज्य द्वारा बल-प्रयोग का पूर्ण निषेध नहीं है। इसका अर्थ यह है कि शक्ति-प्रयोग करने का अधिकार राज्य का मौलिक गुण है जैसी कि बेन्थम, ऑस्टिन आदि की मान्यता थी। विख्यात आदर्शवादी टी. एच. ग्रीन के अनुसार राज्य के विशाल ढाँचे को स्थिर रखने वाला स्तम्भ तथा राज्य के जीवन का सच्चा और वास्तविक आधार बल या शक्ति (Force) न होकर इच्छा (Will) है। यदि राज्य भय उत्पन्न करके अपनी आज्ञाओं का पालन कराता है तो वह राज्य कभी भी स्थायी नहीं हो सकता। राज्य की सेवा करने में हम अपनी उच्चतर आत्मा के आदेश का ही पालन करते हैं। हम राज्य की आज्ञा का पालन इसलिए करते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि राज्य हमारी सच्ची और उच्चतर आत्मा का प्रतिनिधि है और इसके द्वारा ही वह सामान्य-हित प्राप्त किया जा सकता है, हमारा स्वयं का हित जिसका एक अभिन्न अंग है।

राज्य की आज्ञा-पालन करना ही स्वतन्त्रता है—आदर्शवादी स्वतन्त्रता का रूप सकारात्मक है। राज्य के सभी कानून व्यक्ति की पूर्णता के लिए एक वातावरण का सृजन करते हैं जिसके अन्तर्गत वह स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। इसलिए राज्य के किसी भी कानून की अवज्ञा करना अपनी ही स्वतन्त्रता के मार्ग को अवरुद्ध करना है। आदर्शवादी पूर्ण स्वतन्त्रता के उपासक नहीं हैं। वे पूर्ण स्वतन्त्रता को स्वाधीनता का निषेध (Negation of Liberty) मानते हैं। बन्धनों की अनुपस्थिति में स्वतन्त्रता केवल शक्तिशाली व्यक्तियों का ही विशेषाधिकार रह जाती है। आदर्शवादियों का कहना है कि राजकीय आज्ञाओं का पालन करते समय हम किसी बाह्य का नहीं अपितु स्वयं की ही मूर्तिमान इच्छा के आदेश का पालन करते हैं। जोजफ ब्रेडले (Bradley) के शब्दों में, "मनुष्य की स्वतन्त्रता से हमारा अभिप्राय उस समाज के प्रति कर्त्तव्यों के पालन करने में है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकता है।" आदर्शवाद के अनुसार स्वतन्त्रता एक निश्चित वस्तु है। स्वयं बार्कर के मत में, "चेतना से स्वतन्त्रता उत्पन्न होती है, स्वतन्त्रता अपने उपभोग के लिए कुछ अधिकार चाहती है और अधिकार राज्य की माँग करते हैं।"

राज्य अधिकारों का जन्मदाता है—आदर्शवादी व्यक्तिवादियों एवं सामाजिक

एक साध्य है, एक सर्वोत्तम सत्ता और ईश्वर की देन है, जिसके अधिकार और उद्देश्य नागरिकों के अधिकार और उद्देश्यों से भिन्न हैं।

जर्मन आदर्शवादी कॉण्ट
(German Idealist Kant, 1724–1804)

जीवन-परिचय

जर्मन आदर्शवादी दर्शन के पिता इमेनुअल कॉण्ट का जन्म 1724 ई. में जर्मनी के कोनिग्सबर्ग प्रदेश में हुआ था और सन् 1804 में उसका देहान्त हो गया था। जीवन-पर्यन्त अविवाहित रहकर उसने अपनी आयु दर्शन, गणित और नीति-शास्त्र के गहन अनुसन्धान में व्यतीत की। उसका जीवन ऋषियों के समान था। वह प्रत्येक कार्य को निश्चित समय पर करने का अभ्यस्त था। हीन (Heine) के शब्दों में, "उनके जीवन का इतिहास लिखना बड़ा कठिन है क्योंकि न तो उसका जीवन था न इतिहास। वह जर्मनी की उत्तरी-पूर्वी सीमा पर कोनिग्सबर्ग नामक एक पुराने कस्बे की शान्त गली में एक यान्त्रिक रूप में व्यवस्थित और कौमार्य जीवन व्यतीत करता था। मुझे विश्वास नहीं कि गिरजाघर का महान् घण्टा भी अपना कार्य इमेनुअल कॉण्ट की अपेक्षा अधिक निष्काम भाव तथा नियमित रूप से करता हो। सोकर उठना, कॉफी, लिखना-पढ़ना, कॉलेज में व्याख्यान देना, खाना, पीना, घूमना सबका एक निश्चित समय था और इमेनुअल कॉण्ट जब अपना खाकी रंग का कोट पहन कर मलीका छड़ी हाथ में लिए अपने घर से लाइम ट्री नामक सड़क के लिए रवाना हो जाता था तो पड़ोसी समझ जाते थे कि इस समय ठीक साढ़े तीन बजे हैं...और जब निश्चित समय पर गुजरता था तो वे मित्रतापूर्ण भाव से उनका अभिवादन करते और उससे अपनी घड़ी मिलाते थे।"

बचपन से ही कुशाग्र-बुद्धि कॉण्ट केवल एक सैद्धान्तिक राजनीतिज्ञ था जिसने राजनीति में कभी भाग नहीं लिया। अपनी शिक्षा पूर्ण करने के उपरान्त कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय में कॉण्ट की प्राध्यापक के पद पर नियुक्ति हुई और वहीं पर बाद में उसने आचार्य का पद सम्भाला। उसने अपने जन्म-स्थान से बाहर कभी भ्रमण नहीं किया। वह 30 वर्ष से भी अधिक समय तक कोनिग्सबर्ग के विश्वविद्यालय में ही न्याय-शास्त्र और आध्यात्म-शास्त्र का शिक्षक रहा। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति तथा अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम ने कॉण्ट की विचारधारा को अत्यधिक प्रभावित किया था। तत्कालीन इंग्लैण्ड की स्थिति का भी उसे प्रचुर ज्ञान था। कॉण्ट ने मौलिकता के नाम पर अपने दर्शन में कोई नवीनता व्यक्त नहीं की। रूसो एवं मॉण्टेस्क्यू के राजनीतिक दर्शन से ही उसने प्रेरणा ग्रहण की और उनके विचारों को ही उसने अपने ढंग से क्रमबद्ध किया। प्रसिद्ध इतिहासकार डनिंग के शब्दों में—"राज्य के उद्भव और स्वरूप के सम्बन्ध में कॉण्ट का सिद्धान्त ठीक वही था कि जो रूसो का था और उसी को उसने अपनी तर्क शैली से अपने शब्दों में व्यक्त किया है। इसी प्रकार सरकार का विवेचन करने में उसने मॉण्टेस्क्यू का अनुसरण किया है।" कॉण्ट को साधारण मनुष्यों की नैतिक गरिमा का सन्देश रूसो के ग्रंथों के अध्ययन से प्राप्त

हुआ था और इस कारण उसने रूसो को 'नैतिक जगत् का न्यूटन' कहकर सम्बोधित किया। मानव स्वभाव का सम्मान करने मे वह रूसो से कितना प्रभावित था इसका आभास उसकी निम्नलिखित टिप्पणी से मिलता है जो उसने एक निबन्ध के हाशिए पर लिखी थी—

"एक समय था जब मैं यह सोचता था कि केवल यही (ज्ञान के लिए तीव्र प्यास और उसमें वृद्धि करने की अभिभ्रान्त भावना) मानव-जाति के लिए सम्मान-प्रद हो सकती है और मैं उस साधारण मनुष्य से घृणा करता था जो कुछ नही जानता। रूसो ने मुझे सही मार्ग का दर्शन कराया। मेरा यह अन्धविश्वास मिट गया। मैंने मानव-स्वभाव का सम्मान करना सीखा और यदि मुझे यह विश्वास न होता कि मानव-अधिकारो को प्रतिष्ठित करने के लिए इस विचार से दूसरो का भी मूल्य बढ सकता है तो मैं अपने आपको एक साधारण श्रमिक से भी कहीं अधिक बेकार समझता।"

कॉण्ट ने यह घोषणा की कि मानव कदापि साधन नही हो सकता, उसे सर्वथा साध्य ही रहना है। यह घोषणा प्रजातान्त्रिक आदर्शवाद की आधारशिला है। कॉण्ट ने भौतिक सुखो को मान्यता न देकर आत्मिक शान्ति की महत्ता पर बल दिया।

कॉण्ट की रचनाएँ

कॉण्ट ने सन् 1745 से अपनी मृत्यु-पर्यन्त 40 से भी अधिक ग्रन्थ और निबन्ध लिखे। यद्यपि कॉण्ट की वैधानिक रचनाएँ विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो चुकी हैं, तथापि उसकी दार्शनिक कृतियो को अब भी बडे सम्मान के साथ पढ़ा जाता है।

कॉण्ट की वे महान् कृतियाँ, जिनके कारण उसे इतनी ख्याति प्राप्त हुई, तीन हैं—

1 शुद्ध-बुद्धि मीमांसा (The Critique of Pure Reason) (1781)—इसमे कॉण्ट ने तत्त्व-ज्ञान और बौद्धिक सवित-शास्त्र की विवेचना की है। कॉण्ट की यह सम्भवत. सर्वोत्तम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। 15 वर्ष के कठोर परिश्रम से प्रस्तुत इस रचना के सन् 1781 मे प्रकाशित होने ही सम्पूर्ण दार्शनिक जगत् में हलचल मच गई। इस ग्रन्थ मे कॉण्ट ने यह सिद्ध किया कि इन्द्रियो से प्रतीत होने वाले दृश्य-जगत् (Phenomenon) के अतिरिक्त एक वास्तविक जगत् भी है जिसे इन्द्रियों से नहीं बल्कि शुद्ध-बुद्धि (Pure Reason) से ही समझा जा सकता है। मनुष्य, प्रकृति, ईश्वर, आत्मा, स्वतन्त्र इच्छा आदि सभी विचार हमारे इन्द्रिय-जनित ज्ञान का परिणाम हैं अत इन विचारो का सम्बन्ध वास्तविक जगत् से नही है। कॉण्ट ने कहा कि शुद्ध-बुद्धि द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध नही की जा सकती। उसने ईश्वर और धर्म सम्बन्धी सभी प्रचलित मान्यताओ का खण्डन किया। इससे तत्कालीन पादरी इतने रुष्ट हो गए कि वे कॉण्ट को कुत्ते की गाली देने लगे और कुत्तों का नाम भी कॉण्ट रखने लगे।

2. व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा (*The Critique of Practical Reason*) (1788)—इस ग्रन्थ मे कॉण्ट ने नीतिशास्त्र का विवेचन किया है। अपनी पहली

रचना में ईश्वर का खण्डन करने के बाद इस कृति में कॉण्ट ने ईश्वर की व्यावहारिक आवश्यकता सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ में यह प्रतिपादन किया गया है कि धर्म और ईश्वर की सत्ता का आधार नैतिक भावना (Moral) है, बुद्धि नहीं। इस जगत् में यदि कोई वास्तविक सत्ता है तो वह नैतिक भावना और नैतिक कर्त्तव्य की ही सत्ता है। कॉण्ट ने इस नैतिक भावना और नैतिक कर्त्तव्य की सत्ता को 'निरपवाद नैतिक कर्त्तव्यादेश' (Categorical Imperative) की संज्ञा दी। कॉण्ट के अनुसार यही नैतिक भावना हमें सत् और असत् का विवेक करने में समर्थ बनाती है। हमारा अन्तःकरण अथवा हमारी नैतिक भावना व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason) का विषय है, विशुद्ध बुद्धि (Pure Reason) का नहीं। हमारी नैतिक भावना हमको हमारे अन्तःकरण के पथ-प्रदर्शक भगवान् का बोध कराती है। यही भावना स्वतन्त्र इच्छा (Free Will) की सत्ता सिद्ध करती है। यदि हममें स्वतन्त्र इच्छा न हो तो नैतिक कर्त्तव्य सम्पादित करने का अर्थात् सत् का अनुसरण करते हुए असत् का परित्याग करने का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। कॉण्ट के अनुसार "व्यक्ति की नैतिक भावना यह भी सिद्ध करती है कि मृत्यु के बाद भी जीवन की सत्ता कायम रहती है। मनुष्य अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से ऐसे कार्य भी करता है जिनका फल इहलोक में पाने की आशा नहीं की जा सकती।"

3. निर्णय मीमांसा (The Critique of Judgement)—इस ग्रन्थ में कॉण्ट ने इन्द्रियजन्य शास्त्र का विश्लेषण कर प्रयोजन-ग्राह्य शक्ति का रहस्योद्घाटन किया है। अपनी प्रथम रचना शुद्ध बुद्धि की मीमांसा (Critique of Pure Reason) में कॉण्ट ने ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया था, अपनी दूसरी रचना व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा (Critique of Practical Reason) में उसने ईश्वर की सत्ता का व्यावहारिक आवश्यकता के आधार पर सिद्ध किया था और अपनी इस तीसरी रचना में उसने प्रकृति की सुन्दर योजना में ईश्वर के दर्शन किए हैं। कॉण्ट के अनुसार किसी भी कलाकृति के लिए उसके निर्माता ईश्वर की सत्ता का प्रबल प्रमाण है। कॉण्ट के मतानुसार, "ईश्वर की सत्ता दो महान् व्यावहारिक वस्तुओं से स्पष्टतः सिद्ध हो रही है—प्रथम, तारागणों से परिपूर्ण गगनमण्डल (Starry Heavens Above) है और द्वितीय, मानव अन्तःकरण के भीतर पाए जाने वाले नैतिक नियम (Moral Laws Within) है।"

कॉण्ट की दो अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ ये हैं—

4. कानून के सिद्धान्त की प्रथम तात्विक मीमांसा (Metaphysical First Principles of the Theory of Law) (1799)—इसमें कॉण्ट ने कानून तथा सरकार सम्बन्धी विचार व्यक्त किए हैं। इस ग्रन्थ की रचना उसने 70 वर्ष से भी अधिक की अवस्था में की थी।

5. अनन्त शान्ति (Eternal Peace) (1796)—इसमें कॉण्ट के शान्ति और युद्ध सम्बन्धी विचारों का सग्रह है।

कॉण्ट से पूर्ववर्ती विचारधारा

कॉण्ट के दार्शनिक और राजनीतिक विचारों के विवेचन से पूर्व उन परस्पर विरोधी विचारधाराओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना उपयुक्त होगा जो कॉण्ट से पूर्व प्रचलित थीं और दार्शनिक जगत् में बड़ी अव्यवस्था और उलझनपूर्ण स्थिति पैदा कर रही थी। इन विचारधाराओं में ये पांच प्रमुख थी—(i) लॉक का अनुभववाद (Empiricism), (ii) बर्कले का आदर्शवाद या आध्यात्मवाद (Idealism), (iii) ह्यूम का भौतिकवाद (Materialism), (iv) वाल्टेयर का बुद्धिवाद (Rationalism) एवं (v) रूसो का भावप्रवणतावाद (Emotionalism)। इन दार्शनिकों के सम्मुख विचारणीय प्रश्न थे कि—"ज्ञान का उदय किस प्रकार होता है, संसार में वास्तविक सत्ता क्या है और उसका स्वरूप कैसा है ?"

लॉक (1632-1704) अनुभववाद का समर्थक था। उसकी मान्यता थी कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले अनुभवों पर आश्रित है। प्रारम्भ में हमारा मन बिलकुल कोरी स्लेट (Tabular Raso) की भाँति होता है। इन्द्रियजन्य अनुभवों से हम इस स्लेट पर हजारों बातें लिखते चले जाते हैं। इस प्रक्रिया से स्मृति का उदय होता है और स्मृति विचारों का सूत्रपात करती है। चूंकि हमारा इन्द्रियों पर ये प्रभाव प्रकृति के पदार्थों (Matter) से पड़ते हैं, अतः मन की पट्टी अथवा स्लेट पर अंकित होने वाले सभी विचारों का मूल भौतिक पदार्थ (Matter) होते हैं। लॉक के अनुसार, इस प्रकृति द्वारा मन के भावों का विविध रूप प्राप्त होते हैं, अतः अनुभववाद के आधार पर इसी को वास्तविक समझा जाना चाहिए।

आयरलैण्ड के बिशप जॉर्ज बर्कले (1684-1753) ने आदर्शवाद या आध्यात्मवाद (Idealism) का प्रतिपादन किया। उसने लॉक के अनुभववाद को अस्वीकार करते हुए उससे भिन्न और विरोधी दार्शनिक मत प्रकट किया। बर्कले ने कहा कि ज्ञान का स्रोत बाहर का जड़-जगत् नहीं है वरन् हमारा आन्तरिक मन है। मन के बिना हम किसी भी पदार्थ को नहीं समझ सकते, अतः वास्तविक सत्ता बाह्य पदार्थ (Matter) नहीं है, बल्कि मन है।

स्कॉटिश विचारक डेविड ह्यूम (1711-76) ने भौतिकवाद (Materialism) का प्रतिपादन किया। बर्कले ने जड़-प्रकृति (Matter) का खण्डन करके मन (Mind) का समर्थन किया था। ह्यूम ने बर्कले की खण्डन प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए मन को भी खण्डन किया। ह्यूम ने कहा कि मन हमारे विचारों, स्मृतियों और अनुभवों से पृथक् कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसके विपरीत मन तो विचारवान काल्पनिक सत्ता है। वास्तव में हमारे विचार, हमारी स्मृतियां और हमारे अनुभव ही मन है। इनसे पृथक् सत्ता रखने वाली कोई आत्मा नहीं है। ह्यूम ने केवल मन का ही खण्डन नहीं किया बल्कि विज्ञान पर भी कुठाराघात किया। उसने कहा कि हम कारणों अथवा नियमों को कभी नहीं देखते। हम तो केवल घटनाओं और उनके क्रम को देखते हैं और उनसे कारण का अनुमान कर लेते हैं, अतः वैज्ञानिक

नियम कोई शाश्वत् सत्य नहीं है। वे हमारे मानसिक अनुभवों का संक्षिप्त रूप मात्र हैं। केवल गणितशास्त्रीय नियम और सूत्र ही शाश्वत् सत्य हैं। उदाहरणार्थ यह कभी असत्य नहीं हो सकता कि दो और चार होते हैं। गणितशास्त्रीय नियमों और सूत्रों के अतिरिक्त हमारा सम्पूर्ण ज्ञान अनिश्चित है। ह्यूम के इन विचारों ने दार्शनिक जगत् में भारी हलचल मचा दी। उसने धर्म और विज्ञान के मौलिक आधारों पर कुठाराघात कर उग्र संशयवाद (Agnosticism) का प्रतिपादन किया। कॉण्ट ने जब ह्यूम की पुस्तक 'Treatise on Human Nature' का जर्मन अनुवाद पढ़ा तो उसने बड़ी उत्कण्ठा से यह अनुभव किया कि ह्यूम द्वारा ध्वस्त किए गए धर्म और विज्ञान की पुनर्स्थापना की जानी चाहिए।

वाल्टेयर ने बुद्धिवाद (Rationalism) और नास्तिकता की विचारधारा प्रतिपादित की। उसने धर्म का उपहास करते हुए नास्तिकता का प्रचार किया। उसने बतलाया कि मनुष्य बुद्धि और विज्ञान द्वारा सभी समस्याओं का समाधान कर अनन्त प्रगति कर सकता है।

पाँचवीं विचारधारा रूसो के भावप्रवणतावाद (Emotionalism) की थी। रूसो ने बुद्धिवाद के प्रबल प्रवाह का तीव्र विरोध कर यह प्रतिपादित किया कि केवल बुद्धि को ही अन्तिम प्रमाण एवं पथ-प्रदर्शक मान लेना अनुचित है। मानव-जीवन में ऐसे अनेक संकट उपस्थित होते हैं जब बुद्धि कुछ नहीं कर पाती, वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाती है। ऐसे संकटों के समय मनुष्य अपनी भावनाओं से ही पथ-प्रदर्शन प्राप्त करता है। रूसो ने बुद्धिवाद और नास्तिकता का प्रबल खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि विद्या और बुद्धि की उन्नति के साथ मनुष्य का पतन होने लगता है। शिक्षा मनुष्य को नैतिक दृष्टि से उत्तम न बना कर धूर्त और चालाक बना देती है। बुद्धिवाद के आधार पर धर्म का विरोध करने वालों को चुनौती देते हुए रूसो ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'Emile' में लिखा—"चाहे बुद्धि ईश्वर और अमरता के विचारों का खण्डन करे, लेकिन अनुभूति (Feeling) इनका प्रबल समर्थन करती है। हमें इस विषय में बुद्धि पर नहीं वरन् अपनी अनुभूति पर अधिक विश्वास करना चाहिए।"

रूसो के विचारों ने कॉण्ट को प्रभावित किया। 'Emile' ग्रन्थ में उसे अपनी आशंकाओं का उत्तर मिला कि बुद्धि की अपेक्षा अनुभूति को अधिक महत्व देकर नास्तिकता के प्रवाह से धर्म की रक्षा किस प्रकार की जाए। बुद्धिवाद से धर्म को बचाने के लिए, संशयवाद से विज्ञान की रक्षा करने के लिए और बर्कले तथा ह्यूम के विचारों का रूसो के विचारों से समन्वय करने के लिए कॉण्ट ने अपने क्रान्तिकारी दार्शनिक विचार प्रकट किए।

कॉण्ट के दार्शनिक विचार
(Philosophical Ideas of Kant)

कॉण्ट ने लॉक और ह्यूम के विचारों को अपने ग्रन्थ 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' (Critique of Pure Reasons) में अमान्य ठहराया है। लॉक ने सम्पूर्ण ज्ञान

का स्रोत इन्द्रियजन्य अनुभवों को बताया और ह्यूम ने मन, आत्मा तथा विज्ञान का खण्डन किया था। कॉण्ट ने इन धारणाओं को भ्रांत कल्पनाओं पर आधारित बतलाते हुए कहा कि हमें ज्ञान-प्राप्ति के साधनों तथा स्वरूप का यथार्थ परिचय प्राप्त करना चाहिए। शुद्ध बुद्धि का परिचय उस ज्ञान से है जो मन की स्वाभाविक प्रकृति के कारण प्राप्त होता है, इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले अनुभवों से नहीं। अनुभवों से दूषित न होने के कारण ही इसे शुद्धि बुद्धि (Pure Reason) कहा जाता है। अपने ग्रन्थ में कॉण्ट ने ज्ञान प्राप्ति के दो साधनों का उल्लेख किया है—(i) इन्द्रियाँ, एवं (ii) मन (Mind) या बुद्धि। कॉण्ट के अनुसार इन्द्रियों का कार्य है विभिन्न प्रकार के संवेदन (Sensation) प्रस्तुत करना। मन का कार्य है इन संवेदनों में सम्बन्ध स्थापित करना और उन्हें व्यवस्थित करना। उसने अपनी बात को एक सेनापति के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। युद्ध-क्षेत्र में सेनापति के पास विभिन्न स्थानों से विभिन्न प्रकार के समाचार पहुँचते रहते हैं। सेनापति इन सब समाचारों को, एकत्र कर इनमें समन्वय स्थापित करता है और अपने आदेश प्रसारित करता है। ठीक यही बात इन्द्रियों और मन के साथ है। इन्द्रियाँ विभिन्न अनुभवों को प्रस्तुत करती है जिनमें मन समन्वय स्थापित करता है। दूसरे शब्दों में विभिन्न अनुभवों को विशेष उद्देश्य के साथ व्यवस्थित किया जाता है और इसी उद्देश्य के कारण अनन्त अनुभवों में व्यवस्था स्थापित होती है।

कॉण्ट की मान्यता है कि मानव-बुद्धि की कुछ मर्यादाएँ हैं। उस पर देश (Space), काल (Time) तथा कारण-कार्य सम्बन्ध (Causation) का प्रभाव पड़ता है। इन तत्त्वों की मर्यादाओं में रहते हुए ही हमको वस्तु का ज्ञान होता है। अतः ये तत्त्व (Space, Time and Causation) हमारे लिए नित्य सत्य हैं, इन्द्रियजन्य ज्ञान से इनकी पुष्टि होना आवश्यक नहीं है।[1] जिस प्रकार लोटे में भरे पानी का लोटे का आकार धारण कर लेना नितान्त स्वाभाविक है, उसी प्रकार हमारे बुद्धिजन्य विचारों में उपर्युक्त तत्त्वों (Space, Time and Causation) का समावेश अवश्यम्भावी है। यहाँ ह्यूम की संशयात्मकता की कोई गुंजाइश नहीं है। इन तत्त्वों के आधार पर हमारा ज्ञान हर प्रकार के सन्देह और अस्थिरता से मुक्त होता है। वह सत्य और नित्य बन जाता है। इन्द्रियजन्य अनुभवों के आधार पर वस्तुसत्ता का जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह 'अनुभव-सापेक्ष' (A posteriori) कहलाता है, पर दूसरे प्रकार का ज्ञान 'अनुभव-निरपेक्ष' (A priori) होता है जिसमें किसी प्रकार के अनुभव की आवश्यकता नहीं होती।

कॉण्ट के अनुसार इस दृश्य जगत् (Phenomenon) के इन्द्रियगोचर बाह्य रूप को ही जानना सम्भव है। हम मूल अथवा वास्तविक रूप (Thing in itself) का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि यह अनुभव-निरपेक्ष है और इसलिए यह हमारे अनुभव का विषय नहीं बन सकता। उदाहरणार्थ, हम यह नहीं जानते

1 *Mc Govern*: From Luther to Hitler, p 146

कि मनुष्य वास्तव में क्या है। हम मनुष्य के बारे में केवल इतना ही जानते हैं कि उसके सम्बन्ध में हमारी इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले अनुभवों के आधार पर हमारे मन ने क्या कल्पना की है। कॉण्ट ह्यूम की तरह बाह्य जगत की सत्ता को अमान्य नहीं ठहराता, वरन् यह कहता है कि हम बाह्य जगत के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ नहीं जानते कि उसकी सत्ता है। कॉण्ट के आदर्शवाद या आध्यात्मवाद का आशय यह है कि बाह्य जगत् की वास्तविक सत्ता से सब परिचित हैं। हमें तो उसका केवल वही रूप ज्ञात है जो उसके द्वारा प्राप्त अनुभवों से हमारे मन पर अंकित हुआ है। उदाहरणार्थ, एक पुस्तक का ज्ञान हमको उसकी वास्तविक बनावट से नहीं हो सकता, बल्कि उस विचार (Idea) से होता है जो हमारे मन में उस पुस्तक को देखकर बनता है।

कॉण्ट के अनुसार बुद्धि में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह इस बाह्य जगत् के मूल तत्व को प्रकट कर सके। बुद्धि तो केवल उसी बात को प्रकट करती है जिसका उसे अनुभव होता है। लेकिन ईश्वर, आत्मा, भावी जीवन आदि कुछ बातें ऐसी भी हैं जो अनुभवातीत हैं। बुद्धि केवल अनुभव-जन्य ज्ञान तक सीमित है, अतः वह अनुभवातीत पदार्थों के बारे में कुछ नहीं कह सकती। वास्तव में वाल्टेयर जैसे बुद्धिवादियों को कॉण्ट का यह अकाट्य उत्तर था। वाल्टेयर ने बुद्धिवाद के आधार पर धर्म और ईश्वर का खण्डन किया था जबकि कॉण्ट का मुँह तोड़ जवाब यह था कि ईश्वर का खण्डन बुद्धि से नहीं किया जा सकता क्योंकि ईश्वर तो बुद्धि से परे है। ईश्वर बुद्धिगम्य नहीं है, अपितु श्रद्धागम्य है। कॉण्ट ने अपने मत द्वारा उन प्रबलतम युक्तियों को खोखला सिद्ध कर दिया जो धर्मशास्त्र द्वारा ईश्वर की सिद्धि के लिए प्रस्तुत की जा रही थीं। अतः पादरी और पुरोहित उससे अत्यधिक रुष्ट हो गए और खिसिया कर उसका अपमान करने की दृष्टि से ही अपने कुत्तों का नाम कॉण्ट रखने लगे।

यद्यपि कॉण्ट ईश्वर को बुद्धिगम्य नहीं मानता, तथापि वह ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करता है। कॉण्ट का यह आधार उन नैतिक नियमों पर आश्रित है जो उसके अनुसार गणितशास्त्रीय नियमों की भाँति पूर्ण (Absolute) एवं शाश्वत् सत्य है। कॉण्ट का कहना है कि नैतिक कर्त्तव्यों की भावना मानव अन्तःकरण में जन्म से ही इतनी सुदृढ़ होती है कि इसे सिद्ध करने के लिए तर्क अथवा बुद्धि का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। सभी व्यक्तियों को इस नैतिक भावना का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यही नैतिक भावना मनुष्यों को सदैव कर्त्तव्य पालन के लिए प्रेरित करती है और उन्हें अच्छे-बुरे तथा सत्-असत् का बोध कराती है। यदि कोई व्यक्ति अन्तःकरण के आदेश की अवहेलना कर बुरा काम करता है तो उसकी अन्तरात्मा उसे धिक्कारती है और कहती है कि वह कार्य अनुचित था और उसे नहीं करना चाहिए था। नैतिक भावना तो सदैव सद्-कर्त्तव्य और सत्कार्य को प्रेरित करती है। नैतिक भावना का मानव अन्तःकरण के लिए आदेश, निरपेक्ष या परम (Absolute) होता है। मनुष्य नैतिक भावनाओं का पालन इसलिए करता

है कि यह उसके अन्त.करण की आवाज होती है । नैतिक भावना का आदेश सब परिस्थितियों के समान होता है । उदाहरणार्थ, प्रत्येक परिस्थिति में नैतिक भावना निरपवाद रूप से सत्य बोलने का आदेश देती है । हो सकता है कि व्यक्ति झूठ बोलने की इच्छा करे अथवा झूठ बोले, लेकिन वह यह कभी नहीं चाहता कि झूठ बोलना एक सार्वभौम नियम बन जाए । कहने का आशय यह है कि नैतिक नियमों का पालन न कर सकने पर भी व्यक्ति इसके अस्तित्व को स्वीकार करता है । नैतिक नियम मनुष्य के हृदय में इस रूप में अंकित रहते हैं कि इनका सभी अवस्थाओं में पूर्णतः पालन किया जाना चाहिए । इसीलिए ये नैतिक नियम निरपवाद नैतिक कर्त्तव्यादेश या 'परमादेश' (Categorical imperative) कहे जाते हैं । कॉण्ट का कहना है कि इस आदेश को और इस नैतिक भावना को मानव अन्त करण में उत्पन्न करने वाला ईश्वर है । यह आदेश ईश्वर और धर्म की सत्ता का अकाट्य प्रमाण एवं सुदृढ़ आधार है जिसमें व्यक्ति को अटूट आस्था रखनी चाहिए ।

कॉण्ट ने नैतिक भावनापरक आदेशों और कर्त्तव्यों की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया । सर्वोपरि विशेषता यह है कि कर्त्तव्य-बुद्धि से किए जाने वाले कार्य इसलिए श्रेष्ठ नहीं होते कि इनके अच्छे परिणाम निकलेंगे वरन् इसलिए कि अन्त.करण की नैतिक भावना के आदेशानुसार किए जाते हैं । इस प्रकार की नैतिक भावना किसी वैज्ञानिक अनुभव का परिणाम नहीं होती । यह तो अनुभव-निरपेक्ष (A priori) है जो सभी कालों में समान रूप से हमें आदेश प्रदान करती है और हमें हमारे कर्त्तव्यों का बोध कराती है । संसार में उत्तम बात यही है कि हम हानि अथवा लाभ की चिन्ता किए बिना सदैव नैतिक भावना का अनुसरण करें । नैतिक भावना की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह सिद्ध करने में है कि मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा (Freedom of Will) की सत्ता है । यदि हम में स्वतन्त्र इच्छा की सत्ता न होती तो हम कर्त्तव्य-भावना की कल्पना भी नहीं कर सकते थे । स्वतन्त्र इच्छा की सत्ता को बुद्धि अथवा तर्क से नहीं वरन् व्यावहारिक अनुभव से सिद्ध किया जा सकता है । जब मनुष्य किसी कार्य में किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है और यह नहीं समझ पाता कि उसे क्या करना चाहिए तो उसके सामने विभिन्न मार्ग खुले होते हैं और उसे किसी भी मार्ग को चुनने की स्वतन्त्रता होती है । ऐसे समय उसे कर्त्तव्य का ज्ञान बुद्धि अथवा मस्तिष्क द्वारा नहीं बल्कि अन्त करण में निहित नैतिक भावना से अर्थात् हृदय से प्राप्त होता है । स्पष्ट है कि कॉण्ट के अनुसार, "हृदय मस्तिष्क से ऊँचा है और वही मनुष्य का सच्चा मार्गदर्शक है ।"

कॉण्ट के मतानुसार राजनीति का अध्ययन नैतिक दृष्टिकोण से ही किया जाना चाहिए । इसलिए राजनीति का नैतिकतापूर्ण अध्ययन हो 'कॉण्ट-प्रणाली' कही जाती है । कॉण्ट के अनुसार नैतिकता मनुष्य की पूर्णता का मापदण्ड है, नैतिकता से पृथक् राजनीति - वैसा मूल्यहीन रहती है जबकि नैतिक आदेशों के आधार पर ही राजनीति का अध्ययन पूर्णतया उपयोगी एवं सार्थक होता है ।

कॉण्ट के दार्शनिक विचारों की इस पृष्ठभूमि के उपरान्त अब हम कॉण्ट के नैतिक इच्छा तथा नैनिक स्वतन्त्रता तथा राजनीतिक विचारो पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

कॉण्ट के नैतिक इच्छा तथा नैतिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार
(Kant's Conception of Moral Will and Moral Liberty)

कॉण्ट की विचारधारा मे उसकी नैतिक इच्छा तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इन्ही के आधार पर उसने अपने सभी विचारो को निरूपित किया है। वह रूसो के 'नैतिक इच्छा' तथा 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त मे पूर्ण विश्वास रखकर आगे बढ़ता है। यह सिद्धान्त ही उसके समूचे दर्शन की आधारशिला है। कॉण्ट के अनुसार सच्चे अर्थो मे केवल वही व्यक्ति स्वतन्त्र है जो नैतिक रूप से स्वाधीन है। स्वतन्त्रता का अर्थ वह मनमानी तथा अनियन्त्रित कार्य करने की स्वच्छन्दता नहीं मानता। एक व्यक्ति के उपभोग योग्य सच्ची स्वतन्त्रता वही है जो दूसरो के समान तथा सार्वदेशिक कानून द्वारा मर्यादित है। स्वतन्त्रता अधिकारो के साथ सम्बद्ध है। स्वतन्त्रता व्यक्ति की इच्छा का अधिकार है जिसे स्व-आरोपित आदेशात्मक कर्त्तव्य (A self-imposed imperative duty) भी कहा जा सकता है। इस प्रकार अधिकार और स्वतन्त्रता के मध्य एक अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित कर कॉण्ट नैतिक इच्छा की स्वतन्त्रता पर बल देता है।

कॉण्ट मानवीय इच्छाओं को दो भागो मे विभाजित करता है—(1) वे इच्छाएँ जिनके द्वारा मनुष्य वासना की प्रवृत्ति की ओर झुकता है। वे वासनापूर्ण इच्छाएँ अनैतिक होती हैं और मनुष्य की यथार्थ इच्छाओ का प्रतिनिधित्व नहीं करती, एव (2) वे इच्छाएँ जो विवेक पर आधारित होती हैं। इनका आधार नैतिकता होती है और ये मनुष्य की यथार्थ इच्छाओ का प्रतिनिधित्व करती हैं। कॉण्ट का कहना है कि स्वतन्त्रता इसी नैतिक या यथार्थ इच्छा का गुण है। रूसो ने नैतिक इच्छा को 'शुभ इच्छा' (Good Will) के नाम से पुकारा है। कॉण्ट ने 'शुभ इच्छा' का प्रयोग आचारिक (Ethical) के रूप मे किया है और बतलाया है कि नैतिक स्वतन्त्रता इसी बात मे निहित है कि मनुष्य अपनी 'शुभ इच्छा' के ही अनुकूल काय करे।

कॉण्ट नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा को स्पष्ट करते हुए बतलाता है कि मनुष्य कुछ मान्य सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है जो बुद्धि-प्रधान और सदाचरण से सम्बन्धित हैं। ये स्वतन्त्र इसलिए हैं कि इनके पालन मे व्यक्ति किसी बाहरी नियम का पालन न कर उन नियमो का पालन करता है जो स्वय उसके अन्तःकरण की आवाज है। कॉण्ट ने इस प्रकार के नियमो को 'कर्त्तव्य के अटल आदेश' (Categorical Imperative of Duty) की सज्ञा दी है। कर्त्तव्य के अटल आदेश की व्याख्या से कॉण्ट की नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा और स्पष्ट हो जाती है क्योंकि इन दोनो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

हमारे अधिकांश कार्यों मे प्रायः सदैव ही 'यदि' की शर्त लगी रहती है।

उदाहरणार्थ, हम कहते रहते हैं 'यदि मैं प्रथम श्रेणी से पास होना चाहता हूँ तो मुझे परिश्रम करना चाहिए।' यदि मैं चाहता हूँ कि मुझे प्रार्थना और व्यायाम दोनों के लिए समय मिले, तो मुझे प्रातः उठना चाहिए' आदि। स्पष्ट है कि परिश्रम करना और प्रातः उठना मेरे लिए तभी आवश्यक होंगे जब 'मैं' प्रथम श्रेणी में पास होने एवं प्रार्थना तथा व्यायाम दोनों के लिए समय चाहूँ। यदि मेरे समय में कर्त्तव्य के ये दोनों तत्त्व उपस्थित न हों तो मेरे परिश्रम करने और प्रातः उठने का कोई मूल्य नहीं होगा। चूंकि यह आदेश मेरी अन्य इच्छाओं की तृप्ति के लिए अभीष्ट है, अतः इन्हें सापेक्ष आदेश (Hypothetical Imperative) कहा जा सकता है। कॉण्ट का कथन है कि कर्त्तव्य भी एक आदेश है जो एक विशेष प्रकार के कार्य की माँग करता है, लेकिन 'सशर्त' की अपेक्षा यह 'निरपेक्ष' (Categorical) है। वास्तव में हमारा कर्त्तव्य-पालन का कर्त्तव्य न तो किसी विशेष वस्तु की इच्छा पर निर्भर करता है और न किसी 'यदि' की शर्त से ही प्रतिबन्धित होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्त्तव्य का नैतिक नियम के अनुसार पालन करे। ऐसा उसे इसलिए नहीं करना चाहिए कि वह स्वास्थ्य, धन, यश अथवा शक्ति आदि की कामना करता है, बल्कि केवल इसलिए कि यह उसके वास्तविक स्वरूप का नियम है और ऐसा करके ही वह शाश्वत् सत्य को प्राप्त कर सकता है। हमारी इच्छा उस हद तक शुभ है जहाँ तक हमारे 'कर्त्तव्य के सापेक्ष आदेश' से निर्धारित होती है, इसलिए नहीं कि वह क्या करती है या क्या प्राप्त करती है। कॉण्ट के शब्दों में, "संसार में या संसार के बाहर भी हम किसी ऐसी चीज की कल्पना नहीं कर सकते जो निरपेक्ष रूप की अपेक्षा अच्छी हो। निरपेक्ष रूप की अपेक्षा केवल सद्भावना ही शुभ होती है। बुद्धि, चातुर्य, निर्णय-शक्ति तथा मस्तिष्क के अन्य गुण निश्चित रूप से बहुत-सी बातों से शुभ और वांछनीय होते हैं, परन्तु यदि इनका प्रयोग करने वाली इच्छा अथवा चरित्र शुभ नहीं हैं तो प्रकृति के ये ही उपहार अत्यन्त अशुभ और आपत्तिजनक हो जाते हैं।"

स्पष्ट है कि कॉण्ट के अनुसार, "मनुष्य की नैतिक स्वतन्त्रता का आशय यह है कि नैतिकतापूर्ण आचरण से ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है क्योंकि नैतिकता व्यक्ति पर बाहर से थोपी गई वस्तु न होकर उसके स्वयं के अन्तःकरण का ही आदेश है।"

कॉण्ट की सम्पूर्ण धारणा का बल इस बात पर है कि मानव-जीवन का मूल-तथ्य नैतिक स्वतन्त्रता है जो नैतिक नियम का पालन करने में निहित है। अतः प्रश्न उठता है कि 'इस नैतिक नियम के अनुसार हमें क्या करना चाहिए।' कॉण्ट की मान्यतानुसार इसका निगमन विशुद्ध बुद्धि से हुआ है, इसका कोई विशिष्ट तत्त्व नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार का कोई विशिष्ट तत्त्व होता तो वह सार्वभौमिक और परमादेश नहीं हो सकता था। इसलिए नैतिक नियम की माँग केवल यही हो सकती है कि हम बिना किन्हीं बाहरी बातों पर विचार किए सदैव अपने कर्त्तव्य-पालन में मग्न रहें। हम स्वयं में एक ऐसी इच्छा उत्पन्न करें जो अपने आप में स्वयं शुभ

हो। कॉण्ट ने नैतिक नियम के पालनार्थ कुछ सूक्तियाँ निगमित की हैं जो एक बड़ी सीमा तक हमारे आचरण का पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं। ये इस प्रकार हैं—

1. व्यवहार सार्वभौमिक होना चाहिए। मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए जिसे सब कर सकें जो सबके लिए उचित हो।

2. अपने में अथवा किसी भी दूसरे व्यक्ति में-जो मानवता है, उसे सदैव साध्य समझते हुए आचरण करना चाहिए। उसे साधन कभी नहीं मानना चाहिए क्योंकि वह साधन कभी नहीं बनती। इस प्रकार के आचरण से मानवता उच्चतर बनती जाती है।

3. आचरण इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे मनुष्य साध्यों के राज्य का सदस्य बना रहे। आचरण के समय हमें मानव जाति के प्रति भ्रातृत्व की भावना रखनी चाहिए।

इन सूक्तियों का सम्मिलित भाव यही है कि वही कार्य पूर्ण शुभ है जिसका कर्त्ता (Doer) यह इच्छा प्रकट कर सके कि समस्त मनुष्य उसी सिद्धान्त पर चलें जिस पर वह आधारित है। साथ ही सभी मनुष्य इच्छाओं की तृप्ति के लिए साधन बनाने की कामना का परित्याग कर सम्पूर्ण मानव-जाति को एक महान् भ्रातृत्व के रूप में स्वीकार करें।

कॉण्ट के राजनीतिक विचार
(Political Ideas of Kant)

कॉण्ट का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण (Kant as an Individualist)—आदर्शवादी होने के साथ ही कॉण्ट व्यक्तिवादी भी था। उसने व्यक्ति के नैतिक स्वशासन पर बार-बार बल दिया। हीगल के सर्वथा विपरीत उसने व्यक्ति की गरिमा एवं महत्ता को पर्याप्त सम्मान की दृष्टि से देखा। वस्तुतः व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा ही उसके दर्शन का केन्द्र-बिन्दु तथा आरम्भ-स्थल है। कॉण्ट के अनुसार व्यक्ति अपना उद्देश्य स्वयं है और कभी भी किसी अन्य साध्य का साधन नहीं माना जा सकता। कॉण्ट ने यहाँ परम्परागत आदर्शवादी दर्शन (Classical Idealism) से कुछ असहमति प्रकट की है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ-साधन तक ही सीमित रहे। कॉण्ट ने व्यक्तिगत स्वार्थ के साथ सार्वजनिक हित का भी ध्यान रखा है। वह यह नहीं चाहता कि व्यक्ति समाज की सर्वथा उपेक्षा कर केवल निजी स्वार्थ के लिए ही कार्य करे अथवा निजी स्वार्थ ही उसका एक मात्र लक्ष्य हो। उसके अपने शब्दों में—"सदेच्छा के अतिरिक्त संसार में या उससे बाहर किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती जिसे निर्बाध इच्छा कहा जा सके।"

कॉण्ट उस युग का प्रतिनिधित्व करता है जब व्यक्तिवाद पूर्णतः लुप्त नहीं हो पाया था। वह स्वतन्त्रता को इतना बहुमूल्य समझता है कि राज्य की वेदी पर उसका बलिदान नहीं करना चाहता। व्यक्ति पर राज्य का नियन्त्रण उसे पसन्द नहीं, यद्यपि यह मानता है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामूहिक अथवा सार्वजनिक हित

के ग्रधीन माननी चाहिए, किन्तु हीगल की भाँति वह उसे निर्दयतापूर्वक कुचलने को तैयार नही है। वाहन (Vaughan) के ग्रनुसार, "न्याय तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता के बीच उसके मस्तिष्क मे स्पष्टत: एक मानसिक संघर्ष चल रहा है ग्रौर उसे दोनो में समन्वय स्थापित करने का कोई मार्ग नही सूझता। वह इतना ग्रधिक ईमानदार है कि दोनो मे से किसी एक का भी बलिदान करने को प्रस्तुत नहीं है।"

राज्य की ग्रावश्यकता के बारे में कॉण्ट के विचार (Kant's ideas about the necessity of the State)—कॉण्ट ने व्यक्ति के स्वशासन पर जो इतना बल दिया है, उसका व्यक्ति की राज्य की सदस्यता के साथ सामंजस्य स्थापित करना प्रथम दृष्टि मे विचित्र लगता है क्योंकि यदि नैतिक नियम के ग्रनुसार ग्राचरण करके ही व्यक्ति सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है तो उसके जीवन मे स्पष्ट ही राज्य के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता; तो फिर राज्य की ग्रावश्यकता क्यो है? कॉण्ट का उत्तर है कि मनुष्य मे स्वार्थ की प्रवृत्ति पाई जाती है। वह सदैव स्वय को ग्रधिकाधिक सुखी बनाना चाहता है चाहे इससे दूसरों को हानि ही क्यो न हो? बाह्य रूप से मनुष्य समान हैं किन्तु उनकी प्रवृत्तियो मे बहुत ग्रधिक ग्रसमानता है। राज्य ही एकमात्र ऐसी संस्था है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उन्नति करने की ग्रवस्थाएँ प्रदान करती है। इसके लिए राज्य प्रत्येक व्यक्ति को ग्रधिकार प्रदान करता है।

कॉण्ट के ग्रनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा के प्रस्फुटन एव कार्यरूप मे परिणत होने के लिए कुछ विशेष ग्रवस्थाग्रो की ग्रावश्यकता होती है। यह ग्रावश्यक है कि दूसरे नागरिको के कार्यों के कुप्रभाव से मनुष्यों की रक्षा की जाए। राज्य इस माँग की पूर्ति करता है। राज्य स्वतन्त्रता का पोषक है—उस स्वतन्त्रता का जो नैतिकता ग्रौर कर्त्तव्य-पालन के लिए ग्रावश्यक है। कॉण्ट राज्य के ग्रस्तित्व मे जन-इच्छा को महत्त्व देता है। जनता द्वारा राज्य को यह ग्रधिकार दिया गया है कि वह उसे नियन्त्रित ग्रौर व्यवस्थित रखे। पर जनता को विद्रोह या विरोध करने का ग्रधिकार नही है क्योंकि जनता की कोई एकीकृत इच्छा नही होती, बल्कि विभिन्न ग्रौर विरोधी इच्छाएँ होती हैं। राज्य ही वह सर्वोच्च इच्छा है जिसके समक्ष जनता को ग्रपना समर्पण करना चाहिए।

कॉण्ट की मान्यता है कि व्यक्ति जिस वस्तु की कामना करे वह यथासम्भव ऐसी होनी चाहिए जिसे सार्वभौमिक नियम का रूप दिया जा सके। बार्कर के शब्दो मे, "जब वह यह नियम प्रतिपादित करता है कि 'तू चोरी नही करेगा' तब वह वास्तव मे एक सामान्य नियम का प्रतिपादन करता है ग्रौर ग्रन्ततः सम्पूर्ण प्रणाली का निर्माण कर एक ऐसे कानून को जन्म देता है जो ग्रनिवार्यत: राज्य में प्रतिष्ठित होना चाहिए एव राज्य द्वारा लागू किया जाना चाहिए।"[1]

स्पष्ट हैं कि कॉण्ट के ग्रनुसार राज्य नैतिक जीवन के लिए एक ग्रावश्यक शर्त है। नैतिक नियम से नियमित किए जा सकने वाले सर्वव्यापक कानूनो को राज्य

1 *Barker* : Political Thought in England, p. 26.

ही भली प्रकार कार्यान्वित कर सकता है और इसीलिए वह निश्चित रूप से एक मकारात्मक अच्छाई (Positive good) है न कि एक आवश्यक बुराई (Necessary evil)। कॉण्ट ने व्यक्ति और राज्य दोनों को ही महत्त्व दिया है और वाहन का यह कथन दोहराना उपयुक्त है कि 'न्याय तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता के बीच उसके मस्तिष्क में स्पष्टतः एक मानसिक संघर्ष होता है और इन दोनों में समन्वय स्थापित करने का उसे कोई मार्ग नहीं सूझता। वह इतना ईमानदार है कि दोनों में से एक का भी बलिदान करने को तैयार नहीं।"

कॉण्ट और सामाजिक समझौता (Kant and Social Contract)—व्यक्तिवादी धारणा से प्रभावित कॉण्ट ने राज्य के सावयवी रूप (Organic Nature) पर अधिक बल नहीं दिया है। उसने राज्य की उत्पत्ति की विवेचना न कर उसका स्वरूप संविदात्मक (Contractual) माना है। संविदा अथवा सामान्य समझौते का यह विचार उसने रूसो से लिया है, क्योंकि उसके अनुसार, "न्याय की दृष्टि से राज्य किसी भी व्यक्ति को कोई भी ऐसा कानून मानने के लिए बाध्य नहीं कर सकता जिसके लिए उसने पहले सहमति (Consent) न दे दी हो।" रूसो की भाँति कॉण्ट भी संविदा की धारणा को एक विवेकसम्मत विचार के रूप में स्वीकार करता है। उसके अनुसार संविदा द्वारा ही "यह समझा जा सकता है कि मनुष्य बाह्य स्वतन्त्रता का समर्पण कर देते हैं, लेकिन राज्य के घटक अथवा सदस्य के रूप में वे उसे तुरन्त ही वापस भी प्राप्त कर लेते हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता एक ऐसी स्वतन्त्रता है जिसे प्राप्त करने के लिए वे अपनी जंगली कानूनहीन स्वतन्त्रता का परित्याग कर देते हैं। ऐसा करने से उनकी स्वतन्त्रता कम नहीं होती क्योंकि यह परिवर्तन उनकी स्वयं की इच्छानुसार होता है, वरन् यह स्वतन्त्रता एक वैधानिक परतन्त्रता का रूप ले लेती है क्योंकि यह अधिकारों तथा कानूनों के दायरे में आ जाती है।" कॉण्ट के अनुसार, "राज्य व्यक्तियों का एक समूह है जो कुछ कानूनों द्वारा एकता के सूत्र में बँध जाता है। राज्य एक प्राकृतिक अनुबन्ध है जिसमें उसका प्रत्येक सदस्य अपनी बाह्य स्वतन्त्रता त्याग देता है और तुरन्त ही सम्पूर्ण सावयवी रूप से सामूहिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है। ऐसा समुदाय 'राज्य' कहलाता है।"

कॉण्ट संविदा सिद्धान्त को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में न मानकर दार्शनिक रूप में स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि समझौते की धारणा ही व्यक्ति और राज्य को एकता के सूत्र में बाँध सकती है। कॉण्ट की सामाजिक संविदा एक संविधानिक प्रक्रिया है जिसके अनुसार शासन का स्वरूप और शासन एवं जनता के मध्य सम्बन्ध स्थापित होते हैं। यह संविदा प्राकृतिक अवस्था को संगठित राज्य में परिवर्तित नहीं करती। सामाजिक संविदा एक ऐसा नैतिक समझौता है जिससे राज्य का निर्माण नहीं होता अपितु 'सामाजिक जीवन की एक कम संगठित स्थिति से अधिक संगठित स्थिति में विकसित होना प्रकट होता है।' दूसरे शब्दों में व्यक्ति एक कानूनहीन स्वाधीनता को छोड़कर एक उच्चतर स्वाधीनता को प्राप्त करते हैं। जिस मौलिक राजनीतिक प्रश्न ने कॉण्ट को आकर्षित किया, वह यह था कि

व्यक्तिगत इच्छाओं को एक सामान्य (General Will) में किस प्रकार सगठित किया जाए, ताकि पृथक् इच्छाओं की स्वाधीनता नष्ट न होकर उसका प्रभाव पूर्वापेक्षा अधिक बढ़ जाए तथा उसे एक नए रूप मे मान्यता प्राप्त हो जाए। काण्ट के अनुसार, समस्त व्यक्तियो की इच्छा पूर्ण न्याय का स्रोत है और न्याय का अर्थ सब व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर इस सीमा तक प्रतिबन्ध है कि वह स्वतन्त्रता सामान्य नियमों के अन्तर्गत आ सके।'

सम्पत्ति पर कॉण्ट के विचार (Kant's Views on Property)—सामान्य आदर्शवादियों की भाँति कॉण्ट भी व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था स्वीकार करता है। सम्पत्ति के विषय में उसके विचार पूर्ण व्यक्तिवादी हैं। उसकी मान्यता है कि सम्पत्ति के बिना मनुष्य का पूर्ण विकास नहीं हो सकता क्योंकि सम्पत्ति उसकी इच्छा की ही अभिव्यक्ति है।' फिर भी वह सम्पत्ति का अधिकार देते समय व्यक्ति पर अपने पड़ौसी के अधिकारों के सम्मान का बन्धन अवश्य लगाता है। इस विचार के मूल मे उसकी यह मान्यता है कि सम्पत्ति का अधिकार वस्तुतः प्राकृतिक न होकर समाज-प्रदत्त है।[1] व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए किसी व्यक्ति को दूसरे के अधिकारों का हनन नहीं करना चाहिए। सम्पत्ति के अधिकार के प्रयोग के लिए उन समस्त व्यक्तियों की स्वीकृति की आवश्यकता होनी चाहिए जिनकी उसमें रुचि हो सकती है।

कॉण्ट का दण्ड सम्बन्धी विचार (Kant's Views on Punishment)—कॉण्ट समाज में शान्ति व्यवस्था स्थापित रखने और कानून के समुचित पालन के लिए दंड-व्यवस्था को आवश्यक मानता है। कानून तभी भली प्रकार लागू किए जा सकते हैं, जब उनके पीछे एक बाध्यकारी शक्ति हो। "सांविधानिक व्यवस्था (Constitution il Order) की स्थापना के लिए स्वतन्त्रता और कानून (Freedom and Law) के साथ, जो विधायन (Legislation) के दो साधन हैं, शक्ति (Porce) का सम्मिश्रण होना चाहिए। यदि कानून और शक्ति न हों तो इसका स्वाभाविक परिणाम होगा अराजकता (Anarchism) और स्वतन्त्रता के अभाव में शक्ति का फल होगा बर्बरता (Barbarism)। इसलिए शक्ति, स्वतन्त्रता और कानून का सम्मिश्रण ही समाज का आधार बन सकता है।" कॉण्ट शक्ति को राज्य का आवश्यक तत्त्व मानते हुए राज्य द्वारा अपराधियों को दंड देना उचित समझता है। उसके लिए दंड का उद्देश्य केवल दंड है। दंड अपराधी को डराने और सुधारने के लिए नहीं बल्कि अपराधी को दंडित करने के लिए दिया जाता है ताकि समाज में न्याय की महत्ता बनी रहे और नियम तथा मर्यादाओं को भग करने वालों को अपना किए का फल मिल जाए। दंड का औचित्य इस बात में नहीं है कि दंड से अपराधी में कोई सुधार हो जाएगा अथवा भविष्य में अपराधों की संख्या में कोई कमी आ जाएगी या अपराध की पुनरावृत्ति नहीं होगी। दंड तो अपराध करने वाले व्यक्ति के

1 *McGovern* : Op. cit., p. 146.

पाप का फल है। स्पष्ट है कि दण्ड सम्बन्धी सुधारवादी (Reformative) तथा निरोधात्मक (Deterrent) दोनों ही सिद्धान्त कॉण्ट को अस्वीकार हैं। उसके अनुसार तो दंड न्याय की रक्षा के लिए आवश्यक है। उसका विश्वास दंड के प्रतिशोधात्मक (Retributive) सिद्धान्त में है।

कॉण्ट के अधिकार और कर्त्तव्य सम्बन्धी विचार (Kant's Views on Rights and Duties)—कॉण्ट के अनुसार अधिकार और नैतिक स्वाधीनता दो पर्यायवाची शब्द (Synonymous terms) हैं। उसके ही शब्दों में, "मानवता के नाते जो एकमात्र मौलिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है वह है स्वाधीनता।" इसी स्वाधीनता की परिभाषा करते हुए एक अन्य स्थल पर उसने लिखा है— "स्वाधीनता का अर्थ है ऐसा कोई भी कार्य करने का अधिकार जिससे पड़ौसी को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे।"

इस तरह कॉण्ट अधिकारों को उसके अनुरूप कर्त्तव्यों से संयुक्त मानता है। अधिकारों और कर्त्तव्यों के बिना एक सुव्यवस्थित राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अधिकार व्यक्ति के विकास का एक साधन है और मूल अधिकार स्वतन्त्रता है। अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्य अधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि व्यक्ति यदि अपने कर्त्तव्यों का पालन करेंगे तो अधिकार स्वतः ही प्राप्त हो जाएँगे। अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कर्त्तव्य एक आत्मारोपित वस्तु (Self-imposed) है जिसे स्वीकार करने के लिए मनुष्य की आन्तरिक चेतना उसे विवश करती है। दूसरे शब्दों में, कर्त्तव्य उसकी आन्तरिक चेतना के फलस्वरूप अपने आप मनुष्य पर लागू होता है। कॉण्ट ने व्यक्ति के कर्त्तव्यों को तीन भागों में विभाजित किया है—स्वयं के प्रति कर्त्तव्य, अन्य नागरिकों के प्रति कर्त्तव्य, एवं राज्य के प्रति कर्त्तव्य।

कॉण्ट ने विशेष अवस्थाओं में उपलब्ध कुछ निश्चित कर्त्तव्यों का निर्देश नहीं किया है, अतः आलोचकों ने उसकी धारणा को 'एक आधारहीन धारणा' (A concept within content) बताया है। कॉण्ट ने व्यक्ति को कर्त्तव्यों के साथ अधिकार प्रदान नहीं किए हैं। केवल स्वतन्त्रता के स्वाभाविक अधिकार के अलावा उसने व्यक्ति को शासन के प्रति विद्रोह करने का भी अधिकार नहीं दिया है चाहे शासन-तन्त्र कितना ही अत्याचारी क्यों न हो।[1] विधान में परिवर्तन का एकमात्र अधिकार शासक को है[2], जनता को नहीं। वह जन-क्रान्ति द्वारा विधान परिवर्तन के प्रयास को वांछनीय नहीं मानता। व्यक्ति को राज्य का दास न बनाने का विचार प्रकट करके और व्यक्ति के स्वशासन पर बल देकर एक ओर उसने स्वयं को व्यक्तिवादियों की श्रेणी में ला खड़ा किया है और दूसरी ओर राज्य को सर्वशक्तिमान भी बना दिया है। हॉब्स एवं रूसो के इस विचार से वह सहमत है कि राज्य का निर्माण करते समय मनुष्यों ने अपने समस्त अधिकार राज्य को समर्पित कर दिए थे जिसमें

1-2 *Kant* : Philosophy of Law, p. 176.

राज्य के अधिकार निरपेक्ष एवं निरकुश बन गए थे। अपने ग्रन्थ 'Philosophy of Law' में कॉण्ट ने लिखा है कि "जनता की इच्छा स्वाभाविक रूप से अनेकीकृत होती है, अतः परिणामस्वरूप वह कानून सम्मत नहीं होती है।" कानून द्वारा समस्त विशिष्ट इच्छाओं को एकीकृत करने वाली एक सर्वोच्च इच्छा के सम्मुख उसका बिना शर्त समर्पण एक ऐसा तथ्य है जिसका जन्म केवल सर्वोच्च शक्तिपूर्ण संस्था में ही हो सकता है और इस प्रकार 'सार्वजनिक अधिकार' की नींव रखी जाती है। अतः विरोध का अधिकार प्रदान करना और उसकी शक्ति को सीमित कर देना परस्पर विरोधी बातें हैं।

एक अन्य स्थल पर कांट ने यह घोषित किया है कि नैतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए राज्य परमावश्यक है और इसलिए उसके विरुद्ध क्रान्ति का कोई अधिकार मान्य नहीं हो सकता। राज्य के आदेशों का पालन करना ही उचित है क्योंकि ऐसा करने में व्यक्ति किन्हीं दूसरे आदेशों का पालन न कर अपनी सदेच्छाओं का ही पालन करते हैं।

राज्य के कार्य-क्षेत्र के बारे में कॉण्ट के विचार (Kant's Views on the Sphere of the State)—राज्य को सर्वशक्तिमान एवं अपरिहार्य बतलाते हुए भी और राज्य के विरुद्ध क्रांति के अधिकार का निषेध करते हुए भी कॉण्ट राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत असीमित नहीं करता। अपने विचारों में कुछ व्यक्तिवादी होने के कारण वह राज्य को अधिक कार्य सौंपना नहीं चाहता। उसके अनुसार राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत संकुचित तथा निषेधात्मक (Negative) है। राज्य प्रत्यक्ष रूप से 'नैतिक स्वाधीनता के विकास तथा प्रसार' के लिए कुछ नहीं कर सकता। यह काम तो व्यक्तियों को स्वयं ही करना होगा। राज्य का कर्त्तव्य तो इतना ही है कि वह व्यक्ति की स्वाधीनता के मार्ग की बाधाओं पर रोक लगाए (To hinder the hinderances of freedom) तथा ऐसी बाह्य सामाजिक परिस्थितियों की स्थापना करे जिनमें नैतिक विकास सम्भव हो सके। नैतिकता कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित कर्म करने एवं नीति का पालन करने में निहित है, अतः प्रत्यक्ष रूप से उसकी वृद्धि राज्य द्वारा नहीं की जा सकती। इस विचार को कि राज्य का प्रमुख कार्य शुभ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है, ग्रीन एवं बोसांके ने ही अपनाया, हीगल ने नहीं।

शासनतन्त्र के विवेचन में मॉण्टेस्क्यू का अनुसरण करते हुए कॉण्ट ने शासन-कार्यों को तीन भागों में विभक्त किया है—विधायी, कार्यकारी एवं न्यायिक। व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका विभाग एक-दूसरे से पृथक् और स्वतन्त्र रहें। लॉक और मॉण्टेस्क्यू की भाँति कॉण्ट भी शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त में विश्वास करता था। वह कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीन रखने का समर्थक था। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका को वह तीन स्वतन्त्र नैतिक इकाइयाँ मानते हुए कहता था कि तीनों में कोई भी एक-दूसरे की शक्ति नहीं हड़प सकता।

शासन के विभेद (Forms of Government)—कॉण्ट ने राज्य के तीन प्रकार बतलाए है-(1) राजतन्त्र (Autocracy), (2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy), एवं (3) प्रजातन्त्र (Democracy)। इसी प्रकार वह सरकार को भी दो भागों मे विभाजित करता है—(1) गणतन्त्रात्मक (Republican), और (2) निरंकुश (Despotic)।

कॉण्ट ने सरकार के दो विभेद इस आधार पर किए थे कि सरकार में विधायिका तथा कार्यपालिका अलग-अलग हैं या नहीं। शासन के स्वरूपों के विषय में कॉण्ट के विचारों में कोई नवीनता नहीं थी। शासन के इस वर्गीकरण को अरस्तू भी बहुत पहले ही प्रकट कर चुका था।

वस्तुतः कॉण्ट को शासनतन्त्र के किसी भी स्वरूप से प्रेम नहीं था। उसका कहना था कि शासनतन्त्र का चाहे कोई भी स्वरूप हो, उसके द्वारा जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व किया जाना चाहिए। जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व राजा, सामन्त या प्रजा के प्रतिनिधि कोई भी कर सकते हैं। प्रकट है कि कॉण्ट शासनतन्त्र में अपने अभीष्ट की पूर्ति चाहता था, उसे उसके स्वरूप से कोई सरोकार नहीं था। शासन का अभीष्ट यही था कि वह व्यक्ति को राज्य में नैतिक स्वतन्त्रता प्रदान करे। कॉण्ट ने प्रतिनिध्यात्मक सरकार का समर्थन करते हुए राजा को भी जनता का प्रतिनिधि माना है। इससे उसके राजतन्त्रवादी होने का स्पष्ट आभास मिलता है। इस सम्बन्ध में प्रो. डनिंग ने लिखा है कि "प्रशिया राज्य के एक राजकीय विश्वविद्यालय में वयोवृद्ध प्रोफेसर होने के नाते वह राजतन्त्र के प्रति अपनी अन्धश्रद्धा त्यागने में असमर्थ था।"

क्रान्ति पर कॉण्ट के विचार (Kant's Views on Revolution)—क्रान्ति के बारे में कॉण्ट के विचारों पर प्रकाश 'अधिकारों एवं कर्त्तव्यों' के प्रसंग में डाला जा चुका है। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि क्रांति से उसे घृणा थी, अतः "उसने एक ऐसी परिवर्तनशीलता (Stagnation) का उपदेश दिया जिसे बर्क भी घृणा की दृष्टि से देखता था।" नैतिक विकास के लिए राज्य की अनिवार्यता होने के कारण उसके प्रति विद्रोह को वह 'धर्मशास्त्र पर आधारित पवित्र कार्य के प्रति विश्वासघात' के समान समझता था जिसके लिए इहलोक तथा परलोक दोनों में क्षमा नहीं मिल सकती। यहाँ कॉण्ट जर्मन आदर्शवादी परम्पराओं का अनुसरण करते हुए कहता है कि "यदि विधान में कोई परिवर्तन होना है तो वह केवल शासक द्वारा ही हो सकता है, जन-क्रान्तियों द्वारा नहीं।"

वास्तव में यह आश्चर्यजनक बात है कि फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति का उग्र समर्थक कॉण्ट जनता द्वनता द्वारा विद्रोह के अधिकार का इतना तीव्र विरोध करता था। डनिंग (Dunning) ने इसके मूल में दो कारणों का उल्लेख किया है। प्रथम कारण तो जर्मनी की तात्कालिक परिस्थिति थी। "वह प्रशिया में एक राजकीय विश्वविद्यालय में बूढ़ा प्रोफेसर था। महान् फ्रेडरिक और उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में कोई राजभक्त प्रजाजन जनता द्वारा विद्रोह की कल्पना भी नहीं कर सकता था। जनता और राष्ट्र या राज्य की सर्वोच्च-सत्ता का प्रबल समर्थन करने वाले दार्शनिक भी स्वयं को इस विचार से सर्वथा मुक्त नहीं कर सकते थे कि प्रभुसत्ता राजा में ही

हितनि होती है'।' दूसरा कारण यह था कि कॉण्ट में उपद्रवों और अव्यवस्था के प्रति स्वाभाविक घृणा थी।

सम्प्रभुता और कानून पर कॉण्ट के विचार (Kant's Views on Sovereignty and Law)—राज्य का अस्तित्व प्रभुसत्ता के बिना सम्भव नहीं है—इसे कॉण्ट स्वीकार करता था। वह सामान्य इच्छा द्वारा अभिव्यक्त होने वाली जनता की इच्छा की सम्प्रभुता को मान्यता देता है, पर चूँकि सामान्य इच्छा काल्पनिक होती है, अतः उसका कोई न कोई भौतिक स्वरूप अवश्य होना चाहिए। कॉण्ट के मतानुसार, "सामान्य इच्छा को एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के समूह या बहुत से व्यक्तियों द्वारा प्रकट किया जा सकता है।"[1] सामान्य इच्छा-जन्य सम्प्रभुता को वह किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं मानता।

कॉण्ट की कानून सम्बन्धी धारणा मध्यकाल की नैसर्गिक विधि की धारणा के अनुरूप है। वह इस विचार का तिरस्कार करता था कि कानून सम्प्रभु का आदेशमात्र है। वह कानून को राज्य से ऊपर मानता था, किन्तु उसे दैवी इच्छा की अभिव्यक्ति न मानकर विशुद्ध बुद्धि की उपज समझता था। उसके अनुसार केवल वही कानून सच्चे हैं और नागरिकों की भक्ति का दावा कर सकते हैं जो विशुद्ध बुद्धि के अनुकूल हों। यहाँ काण्ट अरस्तू के निकट आ जाता है। विधियों अथवा कानूनों का स्रोत जनता को मानते हुए वह कहता है कि जनता ही वस्तुतः सम्प्रभु होती है, इसलिए वही सर्वोच्च विधायिका-शक्ति का भी प्रयोग कर सकती है। सामान्यतया व्यक्तियों के किसी एक संगठन का समूह से अधिक मूल्य नहीं होता, लेकिन संविधान व्यक्ति-समूह को राष्ट्र की संज्ञा देता है। राज्य की सदस्यता प्रत्येक व्यक्ति को संविधान द्वारा ही प्राप्त होती है। कॉण्ट के अनुसार विधि का लक्ष्य राज्य के प्रत्येक सदस्य की स्वतन्त्रता के बीच समन्वय स्थापित करना है। व्यक्ति को सदैव विधि के अनुकूल ही कार्य करना चाहिए क्योंकि विधि मनुष्य की स्वतन्त्रता में सहायक होती है।

विश्व-शान्ति और प्रगति के विषय में कॉण्ट के विचार (Kant's Views on World Peace and the Law of Progress)—कॉण्ट ने स्थाई शान्ति और प्रगति के नियम को राजनीतिक रूप देते हुए उस पर विशेष प्रकाश डाला है। स्थाई शान्ति एवं प्रगति के सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले बोदाँ (Bodin) ने किया था। उसने कहा था कि "मानव-जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, पतन का नहीं।" 18वीं सदी में टर्गो एवं कांडोरे (Turgot and Condoreet) नामक दो फ्रांसीसी लेखकों ने भी इस विषय पर बल दिया था, किन्तु इसे एक निश्चित तथा बुद्धि-सम्मत रूप देने एवं राजनीतिक विचार के इतिहास में इसे एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने का श्रेय कॉण्ट को ही है। हीगल विकसित होकर यह विचार बाद में मार्क्स की शिक्षाओं की आधारशिला बन गया।

1 *Dunning* : A History of Political Theories, Vol. III, p. 133

कॉण्ट के अनुसार स्वतन्त्रता का विश्लेषण करने से उसके प्रवाह में एक नियमित धारा दृष्टिगोचर होती है। प्रगति का नियम (Law of Progress) एक ऐसी शक्ति है जो इस विश्व की समस्त घटनाओं को नियन्त्रित करता है। यह शक्ति मानव की उत्तरोत्तर प्रगति में सहायक होती है। प्राकृतिक अविकसित अवस्था में मनुष्य संघर्षरत रहता था। उस स्थिति से त्रस्त होकर उसके मानस में विवेक का विकास हुआ जिसने नैतिकता को जन्म दिया। इस विवेक और नैतिकता के कारण मनुष्य ने कानून बनाए थे और उनके अनुपालन में ही सुख-शान्ति के दर्शन किए। प्रगति के नियम का सुन्दर वर्णन कॉण्ट ने इन शब्दों में किया है—

"जब मानव-स्वतन्त्रता की क्रीडा का मानव-इतिहास में बड़े पैमाने पर परीक्षण किया जाता है तो उसकी गतियों में एक नियमित धारा के दर्शन होते हैं और इस प्रकार जो चीज व्यक्तियों की स्थिति में उलझी हुई और अनियमित दिखाई पड़ती है, वही चीज सम्पूर्ण इतिहास में अपनी मूल शक्तियों की निरन्तर प्रगति के रूप में जानी जाएगी यद्यपि इसका विकास मन्थर गति से होता है। व्यक्तिगत रूप से व्यक्ति और राष्ट्र अपने निजी उद्देश्य की प्राप्ति में संलग्न एक निश्चित दिशा में और प्रायः एक दूसरे की विरोधी दिशा में अग्रसर होते हुए यह नहीं सोचती कि वे सब अनजाने ही प्रकृति के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो रहे हैं, और एक ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य कर रहे हैं जो यदि उन्हें ज्ञात हो जाता तो भी उसका कोई विशेष महत्त्व न होता।"

कॉण्ट के प्रगति के नियम का सार रूप में अर्थ यह है कि एक ऐसी अदृश्य शक्ति विद्यमान है, चाहे उसे हम परमात्मा कहें या प्रकृति, जो इस संसार के घटना-चक्र को नियन्त्रित करती है और यह देखती है कि व्यक्तियों की विभिन्न शक्तियों का निरन्तर विकास होता रहे तथा मानव जाति उन्नति द्वारा उच्चतर-स्तर पर पहुँचती जाए। सम्पूर्ण प्रकृति मानव-शक्तियों के प्रस्फुटन की दिशा में ही अग्रसर है।

काण्ट का विश्वास था कि "प्रकृति द्वारा मानव में अन्तर्हित समस्त शक्तियाँ कालान्तर में अपने उद्देश्य के अनुसार अपना पूर्ण विकास कर लेंगी। मानव विवेकशील प्राणी है और समष्टि में ही उसका पूर्णतम विकास सम्भव है। समाज में स्वाभाविक संघर्ष की प्रतिक्रिया विद्यमान रहती है, किन्तु इस संघर्ष का अन्तिम परिणाम शुभ ही होता है क्योंकि इस कारण मानव अपनी शक्तियों का विकास करता है और अन्ततोगत्वा इस संघर्ष का दमन करने के लिए विधि द्वारा नियन्त्रित व्यवस्था की रचना होती है। मानव-जाति के सामने सबसे बड़ा और सबसे कठिन प्रश्न यही है कि ऐसे नागरिक-समाज की व्यवस्था किस प्रकार हो जिसमें विश्वस्त रूप से विधि-सम्मत अधिकारों का प्रशासन हो। किन्तु आन्तरिक दृष्टि से पूर्ण नागरिक-समाज की व्यवस्था हो ही नहीं सकती जब तक राष्ट्रों के बाह्य सम्बन्ध विधि-सम्मत नहीं होते। मानव-जाति के इतिहास पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति आन्तरिक और बाह्य दृष्टियों से पूर्ण एक राजनीतिक संविधान के निर्माण के लिए प्रयत्नशील है जिससे मनुष्य की समस्त शक्तियों का विशेष रूप से विकास हो सके।"

कॉण्ट के ग्रनुसार व्यक्ति ग्रकेला ठीक तरह नहीं रह सकता। यह प्रकृति के विरुद्ध है। ग्रकेले में वह झूठ बोलता है ग्रौर धोखा देने की कोशिश करता है। किन्तु समाज मे रहकर वह ऐसा नही करता क्योंकि उसे सामाजिक निन्दा का भय बना रहता है। मनुष्य स्वभावत: बुरा नही है, फिर भी एकाकीपन में वह बुराई की ग्रोर उन्मुख होता है। सबके बीच वह भलाई के पथ पर ग्रग्रसर होता है। इस तरह समाज मे रहकर उसमे नैतिकता का विकास हो जाता है।

कॉण्ट ने विश्व-शान्ति ग्रौर उसके मार्ग की बाधाग्रो पर भी प्रकाश डाला है। ग्रपने इतिहास-दर्शन द्वारा उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि विश्व का विकास शान्ति की दिशा मे ही हो रहा है। कॉण्ट का विचार था कि यूरोपीय राज्य-व्यवस्था शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त पर ग्राधारित है, ग्रत: इससे स्थायी शान्ति की स्थापना नही हो सकती।

कॉण्ट विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्त का उपासक था ग्रौर समूची मानवता को एक इकाई के रूप मे देखता था। उसने बहुत पहले से ही एक सघात्मक ग्रन्तर्राष्ट्रीय सस्था की कल्पना की थी जिसे वह 'ईश्वरीय इच्छा' का नाम देता था ग्रौर यह कामना करता था कि समस्त मानव-जाति इस सयुक्त विश्व-राज्य के ग्रन्तर्गत सुख-शान्ति से रहे। कॉण्ट की मान्यता थी कि जिस प्रकार ग्रनियन्त्रित स्वतन्त्रता से व्यक्तिगत जीवन मे बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार राज्यो के लिए भी ग्रनियन्त्रित स्वतन्त्रता बुराई की जड़ है। जिस प्रकार व्यक्ति मे स्वार्थी प्रवृत्ति पाई जाती है, उसी प्रकार यह भावना राज्यो मे छिपी रहती है। किसी राज्य के नागरिको का भाग्य उसके ग्रान्तरिक सगठन पर ही निर्भर नही रहता, वरन् दूसरे राज्यो के साथ पारस्परिक सम्बन्धो पर भी निर्भर करता है। जो राज्य सदैव ग्रपने राज्य की सीमाग्रो का विस्तार करने मे लगा रहता है, वहाँ नैतिकता का ग्रभाव रहता है। राज्य एक ग्रलग सावयव सस्थान नहीं है ग्रपितु उसका सम्बन्ध ग्रन्य राज्यो के साथ भी है, जो उसकी ग्रान्तरिक ग्रौर बाह्य नीति पर प्रभाव डालते हैं। कॉण्ट के ग्रनुसार सबसे शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रात्मक राज्य है। इन देशो मे युद्ध तभी हो सकता है, जब जनता उसके लिए उद्यत हो। बिना जनता की राय के युद्ध नहीं किया जा सकता।

कॉण्ट के ग्रनुसार विश्व-शान्ति तीन प्रकार से प्राप्त की जा सकती है—

(1) किसी ग्राकस्मिक घटना से, किन्तु इस प्रकार की ग्राशा दुराशा मात्र है,
(2) प्रकृति के स्वाभाविक विकास-उद्देश्य के व्यावहारिक क्रियान्वयन से, ग्रथवा
(3) यदि वर्तमान झगडो के कारण समस्त राष्ट्र एक विश्व-व्यापक निरकुश बर्बर शासन के ग्रधीन हो जाएँ।

चिरस्थायी शान्ति (Perpetual or Permanent Peace) की स्थापना के मूल स्रोतो की विवेचना करते हुए कॉण्ट का कथन है कि कोई भी सन्धि वैध (Legal) नही मानी जानी चाहिए यदि इसमे भावी युद्ध छेड़ने की सामग्री भी गुप्त रूप से सुरक्षित की जा रही हो। विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए ऐसी भी व्यवस्था

होनी चाहिए कि किसी स्वतन्त्र राज्य को कोई अन्य राज्य दायभाग, विनिमय अथवा दान के रूप में प्राप्त न कर सके क्योंकि ऐसा होने से अन्य राज्यों की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाएगी। विश्व-शान्ति को स्थाई बनाने की दिशा में यह भी आवश्यक होगा कि स्थिर सेना (Standing Army) को हटा दिया जाए। स्थिर सेना से व्यापक युद्ध को उत्तेजना मिलती है। राज्यों द्वारा बाह्य सम्बन्धों (External Affairs) के सम्बन्ध में बाहरी शक्तियों से राष्ट्रीय ऋण लेना भी कॉण्ट के अनुसार चिरस्थायी शान्ति के लिए घातक है। यह संसार सुख और शान्ति की नींद ले सके, इसके लिए आवश्यक है कि कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के मामलों में हस्तक्षेप न करे और प्रत्येक राष्ट्र के संविधान एवं शासन में हिंसात्मक हस्तक्षेप सर्वथा वर्जित कर दिया जाए। शान्ति की दिशा में यह भी एक सहयोगी कदम होगा कि युद्ध-काल में भी नृशंसता और विश्वासघात का प्रयोग न हो। ये बातें शान्ति की स्थापना में बाधा डालती हैं। शाश्वत् शान्ति का एक अन्य मूल सूत्र यह है कि प्रत्येक देश का संविधान गणतन्त्रात्मक हो और स्वतन्त्र राज्यों का एक विशाल संघ बने जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून कार्यान्वित हो।

स्पष्ट है कि कॉण्ट ने शाश्वत् शान्ति(Permanent Peace) के संवैधानिक और भावात्मक आधारों की अति सूक्ष्म और मार्मिक विवेचना प्रस्तुत की है।

कॉण्ट के दर्शन की आलोचना और उसका मूल्यांकन
(Criticism of Kantian Philosophy and his Estimate)

आलोचक कॉण्ट के आदर्श को काल्पनिक तथा अव्यावहारिक मानते हैं। केवल काल्पनिक अधिकारों और कर्त्तव्यों का जीवन में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उनसे समाज का कोई विकास नहीं होता। कॉण्ट इस बारे में कोई निश्चय नहीं कर सका कि साधारण रूप से व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान की जाए अथवा मानव को उच्च प्रवृत्तियों के विकास के लिए सुविधाएँ प्रदान की जाएँ।

कॉण्ट के विचारों में व्यक्तिवाद और आदर्शवाद दोनों का ही पुट है, अतः उसके चिन्तन में अनेक विरोधाभास प्रवेश कर गए हैं और अनेक असंगतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। कॉण्ट के दर्शन में स्थान-स्थान पर ऐसी मान्यताएँ प्रकट हुई हैं जो परस्पर विरोधी हैं और जिनमें सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, 'स्वाधीनता' की परिभाषा करते समय कभी वह व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित होता है तो कभी उसे 'उच्चतर व्यक्तियों के नैतिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ' कहने लगता है। इसी तरह एक ओर तो वह जनता की सम्प्रभुता पर विशेष बल देता है और दूसरी ओर भी ऐसे शासक को उचित मानता है जिस पर किसी भी प्रकार का वैधानिक नियन्त्रण न हो। सम्पत्ति, दण्ड, राज्य का कार्य-क्षेत्र आदि, सभी विषयों पर उसके विचार परस्पर टकराते हैं। वाहन ने ठीक लिखा है कि "कॉण्ट इसलिए असफल हुआ क्योंकि वह राज्य सम्बन्धी दो पृथक् धारणाओं के बीच चक्कर काटता रहा।" राज्य को एक नैतिक संस्था समझते हुए कॉण्ट का दृष्टिकोण उसके प्रति ईर्ष्यापूर्ण ही रहा। वह राज्य के सावयवी रूप पर पूरी तरह नहीं टिक सका।

कॉण्ट के शासन सम्बन्धी विचारो मे कोई नवीनता नही है। उसकी सामान्य भौर शुभ इच्छा का वर्णन भी भ्रमपूर्ण है। विशेष रूप से उसका यह कहना कि सामान्य इच्छा एक स्थान पर केन्द्रित हो सकती है, गलत है। कॉण्ट भ्रनुबन्ध की कल्पना को स्पष्ट करने मे भी असफल रहा। एक भ्रोर तो वह यह कहता है कि शासन जनता की सहमति पर निर्भर है भ्रौर दूसरी भ्रोर यह भी मानता है कि जो शासन जनता की भ्रनुमति के बिना चलाया जाता है उसमे जनता की नैतिक स्वतन्त्रता खतरे मे रहती है।

भ्रालोचको के भ्रनुसार कॉण्ट का दर्शन एक भ्रनुभवहीन तर्कवादी दार्शनिक का दर्शन है जिसने व्यावहारिक राजनीति का न तो भ्रध्ययन किया भ्रौर न उससे कोई लाभ उठाया। उसके दर्शन मे भ्रव्यावहारिकता है जो उसे यथार्थ से दूर कर देती है। डेवी (Dewy) के भ्रनुसार, "ऐहिक उद्देश्यो भ्रौर परिणामो से पृथक् कर्त्तव्य का उद्देश्य बुद्धि को कुण्ठित करता है।"

भ्रन्य जर्मन दार्शनिको की भाँति कॉण्ट भी राज्य को एक ऐसी सस्था मानता है जिससे जन-भावना मूर्त होती है। भ्रागे चलकर हीगल भ्रादि के दर्शन मे राज्य की यही परिभाषा उसे सर्वशक्तिमान (Omnipotent) बना देती है, भ्रत यह एक घातक परिभाषा है। पुनश्च, जो भ्रादर्शवादी विचारधारा यूरोप मे फैली वह व्यक्तिवादी दर्शन की प्रतिक्रिया थी, लेकिन 'सामूहिक जीवन' (Corporate Life) का भ्रनुभव न होने तथा स्वतन्त्रता पर बहुत भ्रधिक जोर दिए जाने के कारण कॉण्ट का दर्शन व्यक्तिवाद की तरफ ही भुक गया था।

कॉण्ट की बहुत भ्रधिक भ्रालोचना की गई है, पर उसके सिद्धान्तो मे भ्रच्छे तत्त्व भी विद्यमान है। कॉण्ट जैसे तार्किक विचारक के दर्शन मे कुछ दुर्बलताभ्रो का होना स्वाभाविक ही था, क्योकि जिस युग का वह प्रतिनिधित्व करता है वह राजनीति के युग मे एक सक्रान्ति काल (Transitional Stage) था। रसेल (Russell) जैसे विचारक कॉण्ट के उदय को चाहे 'एक दुर्भाग्य' (A more misfortune) मानें, किन्तु राजनीति का कोई भी गम्भीर विद्यार्थी यह स्वीकार नही कर सकता कि वह भ्रादर्शवाद का एक सच्चा सस्थापक था।

कॉण्ट के विचार मौलिक नही थे, परन्तु उसने जो कुछ भी किया उसके कारण उसका दर्शन मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। डॉ क्लिक (Klinke) का मत है कि "कॉण्ट ने एक नए दर्शन-शास्त्र का प्रारम्भ किया। दर्शन के इतिहास मे उसकी दार्शनिक रचनाभ्रो ने मील का पत्थर रखा। वह उन महान् एव गम्भीर विचारको म से था जिन्होंने न केवल भ्रपनी रचनाभ्रो से बल्कि भ्रपने जीवन से भी समकालीन बुद्धिजीवियो भ्रौर भावी पीढियो को प्रभावित किया।" उसकी विशुद्ध बुद्धि मीमांसा (Critique of Pure Reason) दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र मे एक महान् देन है।

कॉण्ट के दार्शनिक भ्रौर नैतिक विचारो का बहुत व्यापक प्रभाव पडा। भ्रनुभववाद भ्रौर सशयवाद का निराकरण करके उसने समीक्षावाद की पुष्टि की। दृश्य-जगत् भ्रौर वस्तु-तत्त्व मे जिस द्वैत की कॉण्ट ने कल्पना की थी उसका परिहास

कर हीगल ने विज्ञानवादी अद्वैतवाद का खण्डन किया। कॉण्ट द्वारा प्रतिपादित विश्लेषण और संश्लेषण में पार्थक्य (Separation) का फिक्टे (Fichte) की दर्शन-पद्धति पर भी प्रभाव पड़ा। शॉपनहॉवर के संकल्पवाद और लाट्ज़ के प्रयोजन मूलक विज्ञानवाद पर भी कॉण्ट के विचारों का प्रभाव है। फ्रीस ऑर्ब सिमेल भी कुछ मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों के लिए कॉण्ट का ऋणी है। सीमित अर्थ में यद्यपि कॉण्ट राजनीतिशास्त्री नहीं था, तथापि उसके व्यापक दार्शनिक सिद्धान्तों का यूरोपीय सामाजिक विज्ञान पर गहरा प्रभाव पड़ा।

कॉण्ट की राजनीतिक देन को फूँक से नहीं उड़ाया जा सकता। उसने सर्वप्रथम व्यक्तिवादी विचारधारा प्रचारित नैतिकवाद का विरोध किया और भौतिक शक्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति को अधिक महत्वपूर्ण बतलाया। उसने विवेक को अनुभूति से उच्च बतलाया और विशुद्ध विवेक को सत्य तथा असत्य अनुभूतियों को पहचानने का साधन माना। कॉण्ट ने सार्वभौमिक नैतिक विधि एवं स्वतन्त्रता की कल्पना की। आधुनिक युग का वही पहला विचारक था जिसने विश्व-राज्य की कल्पना की। कॉण्ट के राजनीतिक विचारों के कारण जर्मनी में उदारवादी विचारों की उन्नति हुई, सामन्तवाद को आघात पहुँचा और राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रोत्साहन मिला। राइट (Wright) के इस कथन में कोई अतिशयोक्ति दिखाई नहीं देती कि "सन् 1781 से अब तक प्रत्येक महत्वपूर्ण दार्शनिक किसी न किसी प्रकार स्वीकारात्मक रूप से अथवा नकारात्मक रूप से, जाने-अनजाने कॉण्ट और उसके उत्तराधिकारियों के ऋणी रहे हैं।"

20 जॉर्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिक हीगल

(George Wilhelm Friedrich Hegel, 1770–1831)

जीवन-परिचय

जर्मन आदर्शवादियों में राजनीतिक विचारधारा को सबसे अधिक प्रभावित करने वालों में हीगल का नाम सर्वोपरि है। वह राज्य के सावयव-सिद्धान्त का प्रबल समर्थक और वर्तमान इतिहास का उत्कृष्ट विद्वान् था।[1] सन् 1770 में दक्षिण जर्मनी में वर्टमबर्ग (Wurtemberg) में उसका जन्म हुआ और उसकी युवावस्था फ्रांसीसी क्रान्ति के तूफानी दौर में बीती। फ्रांस की क्रान्ति के प्रति उसमें गहरी सहानुभूति थी, किन्तु अन्त में वह उसके विरुद्ध हो गया। हीगल बचपन से ही बहुत कुशाग्र-बुद्धि था, अतः परिवार में बड़ी सावधानी से उसका पालन-पोषण हुआ। स्कूल में बालक हीगल ने अपने पारितोषिक जीते और भावी जीवन में भी वह उत्तरोत्तर प्रगति करता गया। "एक सामान्य शिक्षक, जीन-यूनिवर्सिटी का अध्यापक तथा न्यूरेमबर्ग का प्रधानाध्यापक विज्ञान तथा तर्कशास्त्र पर लिखे गए अपने तीन ग्रन्थों के प्रकाशन के बाद जर्मनी का महान् दार्शनिक समझा जाने लगा। हीडेलबर्ग में प्रोफेसर के पद पर नियुक्त होने के पश्चात् उसने अपना ग्रन्थ 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ दी फिलॉसाफिकल साइसेज' (Encyclopaedia of the Philosophical Sciences) की रचना की। इसके बाद वह बर्लिन यूनिवर्सिटी में दर्शन-विभाग का अध्यक्ष बन गया तथा प्रशिया के दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित पद पर भी उसने काम किया। प्रशिया में दर्शन की वह ऐसी महान् तथा प्रसिद्ध वाणी बन गया जैसी कि वॉन रून तथा वॉन मॉल्टे- (Moltte) सेना की वाणी थे, या बिस्मार्क (Bismarck) राजनीति की वाणी था। यहाँ उसने 'अधिकार-दर्शन' (Philosophy of Rights) तथा 'इतिहास-दर्शन (Philosophy of History) की रचना की। दूसरे ग्रन्थ में उसने राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला।"[2]

हीगल ने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को एक व्यापक दर्शन-प्रणाली के अंग के रूप में विकसित किया। उसने एक यथार्थवादी दार्शनिक के रूप में बिलकुल नवीन ढंग से विश्व इतिहास का अध्ययन किया जिसकी चरम परिणति होहनजोलर्न

1–2 वेपर : वही, पृ 178

प्रशिया मे मानी जाती है। हीगल केवल दार्शनिकों का ही राजा नहीं बल्कि राजाओं का दार्शनिक भी था और इसी कारण उसका प्रभाव व्यावहारिक राजनीति पर बहुत अधिक पड़ा। ऐसा विश्वास किया जाता है कि बिस्मार्क (Bismarck) ने हीगल के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रदान किया। मैक-गवर्न (Mc Govern) ने लिखा है—"बिस्मार्क का शक्ति पर आधारित मानव-क्रिया के उच्चतम लक्ष्य के रूप मे राष्ट्रीय-राज्य पर बल देना, उसका यह विश्वास कि राज्य केवल व्यक्तियों का एक समूह मात्र नहीं है अपितु एक सावयवी पूर्णता है, उसका लोकतन्त्र के विरुद्ध एक सर्वशक्तिमान राजतन्त्र तथा नौकरशाही का समर्थन इन सबका मूल हीगल के सिद्धान्तों मे निहित था।"[1] हीगल राष्ट्रवादी भावनाओं से ओत-प्रोत था। वह अपने समय के जर्मन एकीकरण आन्दोलन (Unification Movement) से इतना अधिक प्रभावित था कि राज्य को ईश्वरीय अर्थात् दैवी प्रतिरूप तक मान बैठा। नि.सन्देह हीगल के युग मे वास्तविक राजनीतिक समस्या एक सुदृढ एव सर्वशक्तिमान राज्य की स्थापना की थी और उसी के प्रतिपादन के लिए उसने अपने राजनीतिक दर्शन का उपयोग किया। इस प्रकार हीगल मे अपने युग का दार्शनिक प्रतिनिधि था और जर्मन राज्य की प्रतिष्ठित महत्ता तथा शक्ति को सर्वत्र प्रतिष्ठित करने के लिए उसने ऐसे दार्शनिक तर्क का आधार लिया जिसके अनुसार राज्य एक रहस्यमय उच्च शिखर पर पहुँच जाता है।

हीगल ने अपने समय की राजनीतिक वास्तविकताओं को प्रस्तुत किया, अत न केवल उसके समकालीन नेता बल्कि उसके बाद के राजनता और दार्शनिक भी उसके ऋणी रहे। वेपर के अनुसार "बिस्मार्क की शक्ति-प्रदायिनी रचनाएँ राज्य के सावयव-सिद्धान्त पर हीगल की रचनाओं से अत्यधिक प्रभावित हैं। नाजीवाद तथा उग्र राष्ट्रवाद भी हीगल से प्रभावित है। उनका अतिराष्ट्रवाद, उनकी युद्ध-प्रियता, उनकी राज्य-शक्ति की मान्यता, उनका शक्तिवाद, उनकी राजनेता या राजा को अत्यधिक मान देने की भावना, उनका समूहों तथा समुदायों को महत्त्वदान तथा उनके द्वारा हिटलर एव मुसोलिनी की प्रशसा, आदि सभी भावनाओं का जन्म प्रत्यक्ष ही हीगल के विचारों से हुआ है। हीगल का प्रभाव बिस्मार्क तथा सावयव-राष्ट्रवाद के स्रोत से नाजीवाद तथा उग्र राष्ट्रवाद की धाराओं मे होता हुआ मार्क्स तथा एंजिल्स की सहायक विचारधाराओं को अपने मे समाहित करता हुआ लेनिन, स्टालिन तथा रूस के कम्युनिज्म के सगम पर आ मिलता है। मार्क्स हीगल के दर्शन को "अत्यधिक तार्किक तथा सर्वाधिक समृद्ध मानता है। जर्मनी, इटली और जापान के बाद वर्तमान रूस हीगल के सावयव-सिद्धान्त का सजीव उदाहरण है।"

हीगल ने अपनी विधि को सदा वैज्ञानिक माना और इसीलिए यहाँ तक लिख दिया कि "यदि कोई विधि मेरी विधि नहीं है, तो वह वैज्ञानिक विधि नहीं है।" हीगल का विश्वास था कि उसने विश्व की सभी समस्याओं को सुलझा दिया है।

1 *Mc Govern*: op cit., p 265

उसकी मृत्यु के बाद उसका दर्शन महान् सिद्ध हुआ और अंग्रेजी दर्शन भी जिससे वह घृणा करता था और जिसे वह केवल दूकानदारों के राष्ट्र के लायक समझता था, उसके दर्शन से प्रभावित हुआ। ग्रीन, ब्रेडले और बोसांके सर्दैव इस कठिन समस्या में उलझे रहे कि हीगल के दर्शन को अंग्रेजी दर्शन में कैसे पिरोया जाए। वास्तव में हीगल के दर्शन के महान् प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता पर दुर्भाग्यवश वह बहुत क्लिष्ट है और उसकी भाषा भ्रामक बातों के साथ-साथ दम्भपूर्ण है। उसके विचार और भाषा दोनों ही महान् हैं। उसकी पुस्तक 'फिलॉसफी ऑफ राइट्स' अत्यन्त क्लिष्ट पुस्तकों की श्रेणी में मानी जाती है।

हीगल दार्शनिक के रूप में इतना विख्यात हो गया था कि बहुत से शासक तथा नरेश राजनीतिक मामलों में उससे परामर्श लेने आते थे। वह अब तक उत्पन्न हुए दार्शनिकों में सबसे अधिक आत्मविश्वासी था। उसने कभी भी अपने विषय में चर्चा नहीं की तथा व्यक्तिगत धारणाओं और भावनाओं को दूर रखकर निर्लेप भाव से अपने विचारानुसार सत्य का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया। उसके प्रशंसक आज भी यह विश्वास करते हैं कि वह दार्शनिक विचारों की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। मानव इतिहास में पहली बार उसने सार्वभौमिक दार्शनिकता की उपयुक्त व्याख्या की। हीगल ने प्रत्येक विषय को तर्क के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया। उसने विवेक और ज्ञान (Reason and Reality) को बहुत महत्त्व प्रदान किया। उसके दर्शन का महत्त्व दो ही बातों पर निर्भर करता है—प्रथम, द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectic Method) और द्वितीय, राज्य का आदर्शीकरण (Idealisation)। इन्हीं दो बातों को बाद के दार्शनिकों ने भी अपनाकर अपने दर्शन का आधार बनाया।

सन् 1831 में इस महान् आदर्शवादी की हैजे की बीमारी से बर्लिन में मृत्यु हो गई।

रचनाएँ

हीगल के दर्शन का ज्ञान उसके निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों से होता है—

1 The Phenomenology of Spirit, 1807.
2. Encyclopaedia of Philosophical Sciences.
3. Logic, 1816.
4 The Philosophy of Rights, 1821.
5. The Philosophy of History, 1837 (मृत्यु के बाद प्रकाशित व्याख्यान)

हीगल की राजनीतिक विचारधारा की कुञ्जी उसके ग्रन्थ 'The Phenomenology of Spirit' में है जो कोई राजनीतिक ग्रन्थ न होकर 'सार्वभौमिक सत्य की खोज' अधिक है। हीगल के विचारों की दुरूहता से आलोचकों को सन्देह है कि कदाचित् वह स्वयं भी अपने दर्शन को अच्छी तरह नहीं समझता था। हीगल ने अपनी कृतियों में अनेक वैज्ञानिक समस्याओं का विश्लेषण किया और दर्शनशास्त्र को अपने युग का "आध्यात्मिक मर्म" माना। डॉ. ई. फ्रोलोव ने हीगल की 200वीं वर्षगाँठ पर 'सोवियत पत्रिका' में लिखा था कि "हीगल ने महान् दर्शनशास्त्री होने के नाते आध्यात्मिक जगत् में अनेक प्रबल शक्तियों को उन्मुक्त किया।" पुनश्च

"आज भी हीगल की कृतियों के अध्ययन से हमें उनमें बहुत-सी वैज्ञानिक समस्याओं के प्रस्तुतीकरण की विधि, गहन और सुसंगत विश्लेषण तथा व्यापक सामान्यीकरण के उदाहरण उपलब्ध हो सकते हैं। निर्भीक, नवीनतावादी की खोज और निष्कर्ष निकालने में उसका आग्रहपूर्ण एवं सावधानीपूर्ण दृष्टिकोण, हीगल की चिन्तन क्रिया-शैली ये सब उसके (हीगल के) हरेक पाठक को आज भी मुग्ध कर लेते हैं।"

हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति
(Hegelian Dialectical Method)

द्वन्द्वात्मक प्रणाली से अभिप्राय (The Meaning of Dialectical System)—हीगल के मतानुसार मानव सभ्यता का विकास कभी भी एक सीधी रेखा में नहीं होता। जिस प्रकार एक प्रचण्ड तूफान से थपेड़े खाता हुआ एक जहाज अपना मार्ग बनाता है उसी प्रकार सभ्यता भी अनेक टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होती हुई आगे बढ़ती है।

हीगल मानता है कि यह विश्व एक स्थाई वस्तु (Static) न होकर गतिशील (Dynamic) क्रिया है, अतः उसका अध्ययन सदैव एक विकासवादी (Evolutionary) दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। विश्व के समस्त पदार्थों का विकास अविकसित तथा एकतापूर्ण स्थिति की ओर होता है जिसके कारण विरोधी वस्तुओं (Contradictory Forms) की स्थापना होती है। विकासवाद की इस क्रिया में निम्नकोटि की वस्तुओं ने उच्चकोटि की वस्तुओं में विकसित होकर पूर्णता प्राप्त करली है। इस प्रक्रिया में वस्तुओं की निम्नता नष्ट होकर उच्चता ग्रहण कर लेती है। विकसित होने के बाद कोई भी वस्तु वह नहीं रहती जो पहले थी, वह कुछ उन्नत हो जाती है। इस विकासवादी क्रिया को हीगल ने 'द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया' (Dialectic Process) का नाम दिया है। वस्तुतः इस 'द्वन्द्वात्मक' या 'द्वन्द्ववाद' शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के शब्द 'Dialego' से हुई है जिसका अर्थ वाद-विवाद करना होता है। इसमें सत्य तक पहुँचने के लिए तर्क-वितर्क की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। यूनानी लोगों ने अपने विचार-विमर्श में सर्वप्रथम इस तर्क-वितर्क प्रणाली (Dialectic) को अपनाया था। इस प्रणाली से आपसी कथोपकथन, तर्क और वितर्क द्वारा वे सत्य को केवल प्रमाणित ही नहीं करते थे बल्कि सत्य की नई खोज भी करते थे। हीगल इस प्रणाली को विचारों पर भी लागू करता है। उसके अनुसार समस्त द्वन्द्वात्मक (Dialectic) प्रणाली इस प्रकार है—"सर्वप्रथम प्रत्येक वस्तु का एक मौलिक रूप (Thesis) होता है। विकासवाद के अनुसार यह बढ़ती है और इसका विकसित रूप कालान्तर में इसके मौलिक रूप से बिल्कुल विपरीत हो जाता है जिसे विपरीत रूप (Antithesis) कहते हैं। कालान्तर में विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार ये मौलिक रूप तथा विपरीत रूप आपस में मिलते हैं और इन दोनों के मेल से वस्तु का नया सामंजस्य (Synthesis) स्थापित होता है। यह सामंजस्यपूर्ण रूप कुछ दिन में फिर मौलिक रूप बन जाता है और फिर वही क्रिया आवृत्त होने लगती है।" उदाहरण के लिए, दृश्य या बाह्य जगत् में यह विकासवादी

क्रिया एक अण्डे (Egg) में देखी जा सकती है। अण्डे में एक जीव होता है। यह जीव मौलिक रूप (Thesis) है। धीरे-धीरे गर्भाधान (Fertilization) के पश्चात् इसके निषेधात्मक गुण (Negative Property) नष्ट हो जाते हैं। यह उसका विपरीत रूप (Antithesis) है, किन्तु इन गुणों के नष्ट हो जाने से अण्डे के जीव की मृत्यु नहीं होती बल्कि एक नए प्रकार के जीव का जन्म होता है जो पहले के दोनों रूपों से भिन्न है। यह इनका सामंजस्यपूर्ण रूप (Synthesis) है।

विचार-जगत् में Thesis, Antithesis and Synthesis' को हिन्दी में वाद, प्रतिवाद और संश्लेषण या समन्वय कहा जाता है। कोई भी वस्तु जो जन्म लेती है, 'वाद' है और उसकी विरोधी बात 'प्रतिवाद' होती है। वाद तथा प्रतिवाद दोनों में ही गुण और दोष होते हैं और दोनों परस्पर-विरोधी होते हैं अतः उनमें संघर्ष होता है जिसके परिणामस्वरूप 'संश्लेषण' या 'समन्वय' के रूप में एक नई तीसरी चीज जन्म लेती है। विचार-जगत् में सत्य की खोज इस प्रक्रिया द्वारा इस तरह होती है—मान लीजिए प्रारम्भ में जीवन व्यतीत करने के कोई नियम नहीं थे। ऐसी स्थिति में मनुष्य ने यह अनुभव किया कि जीवन व्यतीत करने के लिए नियम होने चाहिए। इस अनुभूति के साथ अनेक नियम बने जैसे सत्य बोलो, दया करो, आदि। जीवन-यापन के लिए नियम होना चाहिए—यह 'वाद' (Thesis) हुआ। परन्तु कालान्तर में ये नियम अपूर्ण प्रतीत होने लगे और इनमें परस्पर विरोध दिखाई देने लगा। एक नियम का पालन करने पर स्वतः ही दूसरे नियम के उल्लंघन और दूसरे नियम का पालन करने पर स्वतः ही पहले नियम के उल्लंघन की स्थिति उत्पन्न हो गई तब लोगों में यह भावना जाग्रत हुई कि नियम आदि व्यर्थ हैं, जैसा उचित मालूम हो, वैसा करना चाहिए। यह दशा या स्थिति पहली स्थिति की ठीक उलटी हुई। अतः यह प्रतिवाद (Antithesis) है लेकिन नियमहीन (Lawless) अवस्था बड़ी भयंकर होती है जिसमें दुष्टों को मनमानी करने का अवसर मिलता है। इस परिस्थिति में प्रतिवाद की आलोचना होने लगती है और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारंभ हो जाती है। लोग सोचते हैं कि नियम होने चाहिए, लेकिन नियमों का अक्षरशः पालन करने की जगह उनकी भावना की रक्षा करनी चाहिए। यह 'संश्लेषण' या 'समन्वय' (Synthesis) हुआ। यह संश्लेषण प्रतिवाद का उलटा है और ऐसा लगता है कि हम फिर वाद पर पहुँच गए लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है इसमें वाद और प्रतिवाद दोनों का सामंजस्य हो गया है और यह उन दोनों से उच्च सत्य है। इसमें नियमों की आवश्यकता (वाद) और इसके साथ ही विवेक (प्रतिवाद) दोनों विद्यमान हैं। इस तरह हम सत्य की खोज में चक्कर काट कर वहीं नहीं पहुँच जाते जहाँ से चले थे, बल्कि वाद और प्रतिवाद में से होते हुए संश्लेषण पर पहुँचने पर हम एक उच्च स्तर पर पहुँच जाते हैं। जो संवाद या संश्लेषण है वह फिर वाद बन जाता है, उसका प्रतिवाद होता है और फिर दोनों के सत्यांशों को लेकर नया संवाद या संश्लेषण बनता है। इस प्रकार विकास-क्रम चलता रहता है और उन्नति होती रहती है। यह विकास-क्रम दृश्य या बाह्य जगत् और विचार-जगत् दोनों में चलता है।

हीगल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली को राइट (*Wright*) ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "द्वन्द्ववाद विशुद्ध तर्क की अत्यन्त निराकार धारणा से प्रारम्भ होता है और इसकी समाप्ति विचार के अत्यन्त साकार रूप अर्थात् अपनी पूर्ण व्यापकता तथा साकारता के साथ निरपेक्ष बुद्धि के दर्शन में होती है।"[1]

डॉयल ने द्वन्द्ववाद को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा हीगल ने ऐसी व्यवस्था लागू की जिसके द्वारा मस्तिष्क विकास की प्रक्रिया का अध्ययन कर सकता है। हीगल ने ही बतलाया कि किसी भी वस्तु की वास्तविकता एक वस्तु की उसकी प्रतिकूल वस्तु से तुलना द्वारा ही ज्ञात की जा सकती है अतः भलाई का अस्तित्व इसलिए है क्योंकि बुराई का अस्तित्व है, गर्मी का इसलिए क्योंकि सर्दी का अस्तित्व है, एवं माँग का अस्तित्व सतोष के कारण है। हीगल प्रथम को वाद तथा दूसरे को प्रतिवाद मानता है। यह प्रतिकूलता ही प्रकृति का नियम है। वह यह भी कहता है कि एक बार मस्तिष्क में जब वाद तथा प्रतिवाद का प्रभाव हो जाता है तो उसका भी प्रभाव अनिवार्य रूप से होता है। इन दोनों के संघर्ष के परिणामस्वरूप उसे संश्लेषण का ज्ञान होता है और फिर यह क्रिया इसी प्रकार दोहराती रहती है।"

ब्रह्माण्ड काल और स्थान में फैला हुआ है। इसी प्रकार, मानव विवेक भी विस्तृत है। हीगल के दर्शन में असख्य त्रिकोणात्मक तर्क हैं। इन्हीं के द्वारा अन्तिम सत्य तक पहुँचा जा सकता है। अन्तिम केवल एक विचार (Idea) है। ब्रह्माण्ड भी स्वतः एक विचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ब्रह्माण्ड के विकास में (In cosmic development) त्रिकार (Triads) एक सीधी दिशा में एक के बाद एक (One another in a simple linear series) के रूप में आते हैं। "ये समस्त त्रिकार अपने से बड़े त्रिकारों के अन्तर्गत होते हुए भी अपने से छोटों के अन्दर होते हैं। हीगल के अनुसार, अनेकों त्रिकार मिलकर श्रेणियों अथवा धारणाओं का एक क्षेत्र बनाते हैं। यह सम्पूर्ण क्षेत्र जिसमें बहुत से वाद-प्रतिवाद और संश्लेषण होते हैं, स्वयं एक वाद समझा जाता है। इसके प्रतिवाद तथा संश्लेषण स्वयं श्रेणियों के क्षेत्र होंगे जिनके अन्तर्गत छोटे त्रिकार होते हैं। सम्पूर्ण प्रणाली का एक त्रिकार, विचार, प्रकृति तथा आत्मा होती है। न्यायशास्त्र विचार का अपने विशुद्ध रूप में अध्ययन करता है। प्रकृति विचार का दूसरा रूप है। यही विचार के विशुद्ध रूप का विलोम है। यह प्रतिवाद है। आत्मा विचार तथा प्रकृति का संयुक्त रूप है। यह संश्लेषण है।"[2]

हीगल द्वारा समाज तथा राज्य के विकास का द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा अध्ययन (Hegelian Study of the State by Dialectical Method)—इस द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा ही हीगल समाज और राज्य के विकास का अध्ययन करता

1 *Wright* : A History of Modern Philosophy, p. 328.
2 *Stace* : The Philosophy of Hegel, p. 115.

है। हीगल की मान्यता है कि—(1) चेतन मस्तिष्क की सारी गतिविधियाँ द्वन्द्वात्मक होती है, (2) यथार्थता स्वय चेतन मस्तिष्क की एक प्रणाली है, और (3) यथार्थता केवल एक विचार है। यथार्थ सत्य की प्राप्ति केवल आत्मा (Spirit) से ही हो सकती है। आत्मा का एक बाह्य रूप भी होता है। वह बाह्य रूप भौतिक होता है, जिसका प्रतिनिधित्व राज्य करता है।[1]

हीगल द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा राज्य के विकास का अध्ययन करते समय यह मानता है कि यूनानी राज्य मौलिक रूप (Thesis) थे, धर्मराज्य उसके विपरीत रूप (Antithesis), इसलिए राष्ट्रीय राज्य उनका एक सामजस्यपूर्ण रूप (Synthesis) होगा। कला, धर्म तथा दर्शन को भी वह इसी प्रकार मूल रूप विपरीत रूप तथा सामजस्यपूर्ण रूप मानता है। इन तीनो अवस्थाओ को एक-दूसरे से सम्बद्ध होने के कारण तथा बाह्य परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होने के कारण कुछ आलोचक इस प्रणाली को सामाजिक विज्ञानो (Social Sciences) के क्षेत्र मे अनुपयुक्त समझते है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से देखने पर यह प्रणाली विकासवादी अध्ययन के लिए बहुत ठोस तथा सही प्रतीत होती है। कार्ल मार्क्स ने अपनी इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करते समय हीगल की इसी प्रणाली का अनुसरण किया है।

हीगल के समय मे जर्मनी अनेक छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त था और राष्ट्रीय भावनाओ का लोप होता जा रहा था। हीगल की कामना थी कि जर्मन जाति (जो उसके अनुसार विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति थी) एक सुदृढ राष्ट्र के रूप मे सगठित हो जाए—एक ऐसे राष्ट्र के रूप मे उसका सगठन हो, जो विश्व मे अद्वितीय हो और जिसे भगवान् की इच्छा का प्रतीक कहा जा सके। हीगल ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ससार के विकास मे जर्मनी का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है और प्रकृति की समस्त शक्तियाँ जर्मन राष्ट्र के उत्कर्ष के पक्ष मे है। पर चूँकि जर्मनी की तत्कालीन दशा शोचनीय थी, जिसके कारण उसका ऐतिहासिक दर्शन युक्तिसगत प्रतीत नही होता था, अत. उस शोचनीय परिस्थिति को विकास की धारा मे उचित स्थान देने के लिए ही सम्भवतः हीगल ने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को अपनाया। द्वन्द्वात्मक (Dialectic) द्वारा हीगल ने यह स्पष्ट करने की चेष्टा की कि जर्मनी की तात्कालिक दशा ऐतिहासिक विकास मे 'प्रतिवाद' (Antithesis) थी। वास्तव मे हीगल और उस जैसे अन्य विचारको का विश्वास था कि राष्ट्र का पुनर्निर्माण उसी समय हो सकता है जब राष्ट्रीय सस्थाओ की निरन्तरताओ को कायम रखा जाए, राष्ट्रीय सगठन के भूतकालीन ससाधनो का प्रयोग किया जाए और व्यक्ति को राष्ट्रीय सस्कृति की परम्परा पर आधारित बतलाया जाए। हीगल के दर्शन मे यह प्रवृत्ति केवल प्रतिक्रियावादी ही नही थी, अपितु क्रान्ति के बाद जो मध्ययुगीन स्वच्छन्दतावाद की लहर उठी थी उसमे इस प्रवृत्ति का स्वरूप ऐसा ही था। हीगल के दर्शन का प्रयोजन

1 *Hegel* : The Philosophy of Rights Sc. 270, note.

रचनात्मक था। वह पूर्णरूप से अनुदार था। उसे एक प्रकार से क्रान्ति-विरोधी भी कहा जा सकता है। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method) क्रान्ति और पुनरुद्धार की प्रतीक है। इस पद्धति के अनुसार समाज की जीवन शक्तियाँ पुरानी संस्थाओं को नष्ट कर देती हैं, किन्तु राष्ट्र की सृजनात्मक शक्तियाँ स्थिरता कायम रखती हैं। हीगल ने प्राचीन के विनाश और नवीन के निर्माण में व्यक्तियों को कोई महत्त्व नहीं दिया है। उसका विश्वास था कि समाज में निर्वैयक्तिक तत्त्व अपनी नियति का स्वयं ही निर्माण करते हैं।

सेबाइन के अनुसार, "हीगल ने राष्ट्रीय राज्य को बहुत महत्त्व दिया है। उसने इतिहास की जो व्याख्या की उसमें मुख्य इकाई, व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का कोई समुदाय न होकर राज्य था। हीगल के दर्शन का उद्देश्य द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से विश्व-सभ्यता के विकास में प्रत्येक राज्य की देन का मूल्यांकन प्रस्तुत करना था।"[1]

हीगल के राज-दर्शन में दो ही तत्त्व सबसे महत्त्वपूर्ण थे—एक तत्त्व द्वन्द्वात्मक पद्धति का था और दूसरा तत्त्व राष्ट्रीय राज्य का। हीगल के चिन्तन में ये दोनों सिद्धान्त अभिन्न थे। हीगल द्वन्द्वात्मक चिन्तन द्वारा राष्ट्रीय राज्य के महत्त्व का प्रतिपादन करता था लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि इन दोनों में कोई तर्कयुक्त संबंध नहीं था। यदि द्वन्द्वात्मक पद्धति को एक शक्तिशाली बौद्धिक उपकरण भी मान लिया जाए तो भी यह समझ में नहीं आता कि समस्त राजनीतिक और सामाजिक समुदायों में राष्ट्र को ही ऐसा समुदाय क्यों माना जाए जिसमें इतिहास की परिणति हुई है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक राजनीतिक इतिहास में राज्यों के पारस्परिक तनाव को ही मुख्य प्रेरक शक्ति क्यों माना जाए? हीगल के राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचारों का मुख्य कारण उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति नहीं थी, बल्कि उसकी जर्मन राष्ट्रीयता की भावना थी।

हीगल ने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का प्रयोग समाज और सामाजिक संस्थाओं के विकास में भी किया। कुटुम्ब को सामाजिक विकास का प्रारम्भिक रूप मानकर उसने राज्य को सामाजिक विकास का सर्वोच्च रूप बतलाया। उसने कहा कि जब कुटुम्ब विस्तृत होता है तो वह विकास-क्रम में आगे बढ़ता है। कुटुम्ब के सभी सदस्यों में यह भावना विद्यमान रहती है कि 'हम सब एक हैं'। व्यक्ति का नैतिक विकास कुटुम्ब से ही प्रारम्भ होता है। इस प्रकार की प्रारम्भिक स्थिति 'वाद' (Thesis) है, लेकिन यही वाद आगे चलकर 'प्रतिवाद' (Anti-thesis) की रचना कर लेता है। कोई भी मनुष्य अपने दृष्टिकोण में एक ही स्थान पर टिक कर या कुटुम्ब पर ही आश्रित होकर प्रगति नहीं कर सकता। केवल अपने ही कुटुम्ब के पोषण की भावना, जो पहले स्नेह थी, बाद में मोह बन जाती है और तेरे-मेरे का भाव उत्पन्न कर देती है। इस तरह कालान्तर में ऐसे समाज का निर्माण होता है जिसमें प्रत्येक

1 सेबाइन: राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 564.

व्यक्ति अपने जीवन के लिए संघर्ष करता है। इस सर्वांगीण संघर्ष में प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभवों को व्यापक बनाता है। यह समाज 'प्रतिवाद' का रूप लेता है, लेकिन वाद और प्रतिवाद का समन्वय होना भी अवश्यम्भावी है। समाज में अव्यवस्था, शान्ति, अनाचार आदि व्यक्तियों की नैतिकता को अस्त-व्यस्त कर देते हैं। विकास का क्रम शान्ति में ही सम्भव है। शान्ति में निर्माण होता है और संघर्ष में विनाश। अतः समाज में शान्तिमय वातावरण उत्पन्न करने के लिए राज्य की उत्पत्ति होती है अर्थात् राज्य विवेक का परिणाम है। यह राज्य कुटुम्ब और समाज का अर्थात् वाद और प्रतिवाद का सामंजस्यपूर्ण रूप या सश्लेषण (Synthesis) हुआ। राज्य के अन्दर भी मनुष्य जीवन के लिए संघर्ष करता है, लेकिन यह संघर्ष सृजनात्मक होता है। इससे उसकी शक्तियों का विकास होता है।

हीगल ने जिस द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसे शासन के स्वरूप पर भी लागू किया जा सकता है। निरंकुशतंत्र (Despotism) का वाद (Thesis) अपने प्रतिवाद (Antithesis) प्रजातंत्र को जन्म देता है। निरंकुशतंत्र और प्रजातंत्र के समन्वय से एक सांविधानिक राजतंत्र (Constitutional Monarchy) की उत्पत्ति होती है जो संवाद या सश्लेषण (Synthesis) है।

द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक आवश्यकता (Dialectical and Historical Necessity)—हीगल के राजनीतिक और सामाजिक दर्शन का केन्द्र-बिन्दु इतिहास तथा इतिहास का अन्य सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध था। हीगल ने अपने दर्शन में ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया और अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा उसे एक शक्तिशाली उपकरण का रूप दिया। हीगल ने इतिहास में 'आवश्यकता' के एक तत्त्व का समावेश कर दिया जो कार्य कारण सम्बन्ध और विकासशील प्रयोजन का सश्लेषण था। इतिहास का उचित रीति से अध्ययन करने पर उसमें वस्तुपरक आलोचना के कुछ सिद्धान्त निकलते हैं। यह वस्तुपरक समीक्षा विकास में स्वयं अन्तर्निहित है। यह सत्य को असत्य से, महत्त्वपूर्ण को महत्त्वहीन से और स्थायी को अस्थायी से पृथक् करती है। इतिहास के इस ढंग के अध्ययन के लिए एक विशेष उपकरण की आवश्यकता होती है और हीगल ने अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा इसी उपकरण की सृष्टि की है। इस सम्बन्ध में सेबाइन के निम्न विचार उल्लेखनीय हैं—

"उसके (हीगल के) दर्शन का आलोचनात्मक बोध और मूल्यांकन दो बातों पर निर्भर है। सर्वप्रथम, उसके इस दावे के बारे में निर्णय की आवश्यकता है कि द्वन्द्वात्मक पद्धति एक ऐसी नूतन पद्धति है जिससे इतिहास तथा समाज में पारस्परिक निर्भरताओं और सम्बन्धों का ज्ञान होता है जो अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है। यह इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि द्वन्द्वात्मक पद्धति को कार्ल मार्क्स ने अपनाया था। उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति के आध्यात्मिक आधार में अवश्य कुछ परिवर्तन किया था, लेकिन उसकी तर्क पद्धति को यथावत् स्वीकार किया था। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक पद्धति मार्क्सवादी समाजवाद अथवा साम्यवाद का एक अन्तर्भूत भाग बन गई। मार्क्सवादी उसके आधार पर ही अपनी वैज्ञानिक श्रेष्ठता का दावा करता है। दूसरे

हीगल के राजनीतिक दर्शन मे मार्क्सवाद को एक ऐसे रूप मे व्यक्त किया गया है जिसने व्यक्तिवाद तथा मनुष्यों के अधिकारो की सार्वभौमिकता की सदैव उपेक्षा की है। उसने राज्य की सकल्पना को एक ऐसा शिष्ट अर्थ दिया जो 19वीं शताब्दी के अन्त तक जर्मनी के राजनीतिक-दर्शन की विशेषता बना रहा।"

पुनश्च, "चूंकि द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोजन एक ऐसे तार्किक उपकरण की रचना करना था जिसके द्वारा इतिहास की 'आवश्यकता' का ज्ञान हो जाए, अत. द्वन्द्वात्मक पद्धति का अभिप्राय हीगल प्रदत्त ऐतिहासिक आवश्यकता के जटिल अर्थ पर निर्भर है। इस विषय पर उसका विचार इस विश्वास के साथ आरम्भ हुआ कि राष्ट्र के इतिहास मे एक राष्ट्रीय मनोवृत्ति के विकास का लेखा-जोखा होता है। यह उसने अपने जीवन के आरम्भ मे ही अर्जित कर लिया था। यह राष्ट्रीय मनोवृत्ति उसकी सस्कृति के समस्त पक्षो मे व्यक्त होती है। इतिहास के इस दृष्टिकोण के विरोध मे हीगल ने एक दूसरा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जो ज्ञानयुग के दृष्टिकोण के निकट था कि दर्शन धर्म और सस्थाएँ व्यावहारिक प्रयोजनो के लिए जानबूझ कर आविष्कृत की गई चीजें हैं। उसका विश्वास था कि यह भ्रम केवल इस कारण पैदा हुआ क्योकि इतिहास को राजवेत्ता की एक सहायक कला माना जाता रहा है।"[1]

"हीगल इतिहास को मूलत: रहस्यात्मक अथवा विवेक-निरपेक्ष नही मानता था। उसके विचार से इतिहास म अविवेक का नही, बल्कि विश्लेषणात्मक विवेक से ऊंचे विवेक के एक नए रूप का निवास होता है। 'वास्तविक ही विवेकसम्मत है और विवेक-सम्मत ही वास्तविक है।' इतिहास के सम्बन्ध मे हीगल की एक विशिष्ट धारणा थी। इतिहास के विकास को वह अस्त-व्यस्त खण्डो का विकास नही बल्कि एक सक्रम विकास मानता था। इस दृष्टि से इतिहास की प्रक्रिया को समझने के लिए एक भिन्न तर्क-पद्धति की आवश्यकता महसूस हुई। द्वन्द्वात्मक पद्धति इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए थी। आधुनिक दृष्टि से यह एक अत्यधिक जटिल प्रश्न का समाधान करने के लिए अत्यधिक सरल रीति थी। हीगल ने जिस विचार-सूत्र को ग्रहण किया था वह बहुत पुराना था। उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति शब्द प्लेटो से ग्रहण किया था।"

हीगल के अनुसार द्वन्द्वात्मक पद्धति केवल दर्शन के विकास पर ही लागू नही होती, बल्कि वह ऐसी प्रत्येक विषय-वस्तु पर लागू हो सकती है जिसम प्रगतिशील परिवर्तन और विकास की सकल्पनाएँ निहित होती हैं। यह पद्धति सामाजिक शास्त्रों पर बहुत अच्छी तरह लागू हो सकती है। "द्वन्द्वात्मक पद्धति को जब सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त का सूत्र माना जाता है, तब इसकी दो व्याख्याएँ निकलती है और ये व्याख्याएँ एक-दूसरे की विरोधी हो सकती हैं। द्वन्द्वात्मक पद्धति के विचार म प्रत्येक कार्य मे दो प्रवृत्तियाँ होती हैं। एक ओर तो वह नकारात्मक होता है। और प्रत्येक समय मे कुछ ऐसे अन्तर्विरोध निहित होते हैं जो स्पष्ट हो जाते है और स्पष्ट होने पर मूलवाद को नष्ट कर देते है। दूसरी ओर वह सकारात्मक और रचनात्मक

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2 पृष्ठ 599–600.

भी होती है। वह एक उच्च धरातल पर वाद का पुनर्कथन होती है—ऐसा पुनर्कथन जिसमे अन्तर्विरोधो को उदात्त रूप दे दिया जाता है और वे एक नए सश्लेषण के रूप मे प्रस्तुत होते हैं। चूंकि हीगल सम्पूर्ण सामाजिक विकास को 'विचार' का विकास समझता था, इसलिए द्वन्द्वात्मक पद्धति की यह द्विमुखी विशेषता सामाजिक सस्थाओ मे होने वाले प्रगतिशील परिवर्तनो मे भी दिखाई देती है। प्रत्येक परिवर्तन अविच्छिन्न भी है और विच्छिन्न भी। यह भूतकाल को आगे भी ले जाता है और नई चीज को बनाने के लिए उससे सम्बन्ध-विच्छेद भी करता है।...... कोई विचारक द्वन्द्वात्मक पद्धति के किस पहलू पर जोर देता है, यह उसकी सम्पूर्ण विचार-पद्धति और विशेषकर उसकी मनोवृत्ति पर निर्भर है। हीगल और उसके पुरातनवादी अनुयायियो ने अविच्छिन्नता पर जोर दिया था। हीगल का विचार था कि परिवर्तन भूतकाल मे हुए हैं। कार्ल मार्क्स ने दूसरे पहलू पर जोर दिया था। उसका विचार था कि परिवर्तन भविष्य मे होंगे।"

द्वन्द्वात्मक पद्धति का मूल्यांकन (Estimate of Dialectic Method)—हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति की परीक्षा करने पर पहली बार यही प्रकट होता है कि वह अत्यधिक अस्पष्ट है। हीगल की इस पद्धति की अस्पष्टता विशेषतः दो बातो से प्रकट होती है—

प्रथम, हीगल ने विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का बड़ी अस्पष्टता से प्रयोग किया है। इन शब्दो की परिभाषा करना कठिन है। उदाहरण के लिए दो शब्दो 'विचार' और 'अन्तर्विरोध' को लिया जा सकता है। हीगल का कहना है कि प्रत्येक प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन वैचारिक उन्नति के कारण होता है। समस्त परिवर्तन विचार की प्रेरणा के फलस्वरूप होते हैं और उनका उद्देश्य अन्तर्निहित अन्तर्विरोधो का निवारण करना होता है। यदि इन शब्दो का सही अर्थ लगाया जाए तो फिर सिद्धान्त ठीक नही बैठता। विज्ञान अथवा दर्शन मे होने वाले नित्य नए परिवर्तनो का कारण यह नही होता कि वे आरम्भिक सिद्धान्तो के अन्तर्विरोधो के कारण ही सम्भव हुए हैं। जब विज्ञान और दर्शन पर यह बात लागू होती है तो अन्य सामाजिक शास्त्रो के बारे मे क्या कहा जा सकता है। हीगल ने विचार को सार्वभौम रूप देने की जो कोशिश की उसका उसकी शैली के इतिहास-लेखन पर दो तरह से प्रभाव पड़ा—या तो असगत तथ्यो को मनमाने ढग से तर्कसम्मत माना गया या सामजस्य या सुसगत जैसे शब्दो का ऐसा अस्पष्ट अर्थ दिया गया कि उनका कोई उपयोग ही नही रहा। ठीक इसी तरह हीगल द्वारा प्रयुक्त 'अन्तर्विरोध' शब्द का भी कोई निश्चित अर्थ नही है। इस शब्द का बड़ी अस्पष्ट रीति से विरोध अथवा प्रयोग किया गया है। कभी-कभी इसका अर्थ ऐसी भौतिक शक्तियाँ हैं जो विरोधी दिशाओ अथवा कारणो की ओर सचालित होती हैं और जिनके कारण विरोधी परिणाम प्रकट होते हैं। कभी-कभी विरोध का अभिप्राय नैतिक गुणावगुण होता है। वास्तविक व्यवहार मे द्वन्द्वात्मक पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न पारिभाषिक शब्दो का मनमाने ढग से प्रयोग किया गया है। वह किसी भी प्रकार से कोई

वैज्ञानिक पद्धति नहीं है। हीगल के हाथों में पहुँच कर द्वन्द्वात्मक पद्धति ने कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले जिन तक वह उसके बिना भी पहुँच गया था। द्वन्द्वात्मक पद्धति ने उनका कोई प्रमाण नहीं दिया।[1]

द्वितीय, द्वन्द्वात्मक पद्धति को ऐतिहासिक विकास की आवश्यकताओं को स्पष्ट करने वाला उपकरण माना जाता था, लेकिन 'आवश्यकता' शब्द उतना ही अस्पष्ट बना रहा जितना कि ह्यूम ने उसे प्रमाणित कर दिया था। हीगल ने इतिहास में जिस आवश्यकता का दर्शन किया था, वह भौतिक विवशता भी थी और नैतिकता भी। जब उसने यह कहा कि जर्मनी को एक राज्य बनाना आवश्यक है तो उसका तात्पर्य यह था कि उसे ऐसा करना चाहिए। सभ्यता और उसके राष्ट्रीय जीवन के हितों की दृष्टि से यह अपेक्षित है और कुछ ऐसी आकस्मिक शक्तियाँ भी है जो उसे इस दिशा में प्रेरित कर रही हैं अतः द्वन्द्वात्मक पद्धति में नैतिक निर्णय भी सम्मिलित हैं और ऐतिहासिक विकास का एक आकस्मिक नियम भी। नैतिक निर्णय, आवश्यकता और आकस्मिक नियम का आधार अस्पष्ट है। द्वन्द्वात्मक पद्धति का एक विशिष्ट दावा यह है कि वह बुद्धि और इच्छा को एक कर देती है। इस पर टिप्पणी करते हुए जोशिया रोयेस ने ठीक ही कहा है कि यह आवेग का तर्कशास्त्र तथा विज्ञान एवं काव्य का समन्वय है। वास्तव में द्वन्द्वात्मक पद्धति को तर्कशास्त्र की अपेक्षा नीतिशास्त्र के रूप में समझना अधिक आसान था। इसमें स्पष्ट उद्देश्य की भावना नहीं थी। यह एक सूक्ष्म और प्रभावी नैतिक अपील के रूप में थी।

आलोचकों ने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को सफलताओं की सम्पूर्ण शृंखला का गौरवगान कहा है। इसका कारण यह है कि इस पद्धति में एक ऐसा नैतिक दृष्टिकोण निहित है जो बिलकुल कठोर भी है और लचीला भी। वह न्याय की केवल एक ही कसौटी प्रदान करता है और वह है सफलता।

द्वन्द्वात्मक पद्धति में कर्त्तव्य की कुछ विचित्र व्यवस्था की गई है। वाद और प्रतिवाद प्रतिकूल हितों और मूल्यों को प्रकट करते हैं। उनमें संघर्ष और विरोध का सम्बन्ध होता है। वाद तथा प्रतिवाद का चरम विकास होने पर ही अन्तर्विरोध संश्लेषण के रूप में विकसित हो सकते हैं। समाधान और समझौते निश्चित रूप से होते हैं। वे विचार के विकास के साथ ही उजागर होते है, लेकिन यदि मनुष्य उनकी कल्पना पहले से कर ले और उनके लिए प्रयत्न करे तो यह भावात्मक कमजोरी और अस्थिरता है। यह निरपेक्ष की महत्ता के विरोध में एक प्रकार का राजद्रोह है। इसके फलस्वरूप समाज को ऐसे मानव सम्बन्धों के एक समुदाय के रूप में जिनमें समाधान और समन्वय स्थापित किया जाए, ऐसी विरोधी शक्तियों को प्रकट न कर एक संगम के रूप में प्रकट किया गया है जो स्वयं ही एक अपरिहार्य परिणति में पहुँच जाती है। द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर सम्प्रेषण बहुत कठिन हो जाता

1 सबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 6९६

है क्योकि कोई भी प्रस्थापना न तो पूर्ण रूप से सही होती है और न गलत। उसका अर्थ जितना मालूम पड़ता है उससे वह सदैव ही अधिक अथवा कम होता है।

डॉ. मैकटेगर्ट (D.. McTaggart) के अनुसार, "यद्यपि द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया सिद्धान्त रूप से ठीक है, परन्तु विभिन्न प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण मे इस सिद्धान्त को लागू करने मे बहुत अनुभव की आवश्यकता होती है। इस सिद्धान्त के क्रियान्वयन मे तीन कठिनाइयां उपस्थित होती हैं—(1) वाद, प्रतिवाद और सश्लेषण एक दूसरे के सम्बन्ध के सिवाय किसी अन्य प्रकार से नही पहचाने जा सकते, (2) *धर्म, इतिहास, कानून तथा दर्शन मे द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया के बाह्य* वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है, और (3) प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञान के विषय मे द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया को लागू करने मे बड़े अव्यवस्थित और जटिल विषयो के साथ उलझना पड़ेगा। इन तीन कठिनाइयो के कारण द्वन्द्ववाद प्रक्रिया व्यवहार मे अधिक सफल सिद्ध नही होगी।"

हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति पर आलोचनात्मक टिप्पणी करते हुए सेबाइन ने लिखा है—

"हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति मे ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि और यथार्थवाद, नैतिक अपील, स्वच्छन्द आदर्श और धार्मिक रहस्यवाद का पुट था। मन्तव्य की दृष्टि से वह विवेक-सम्मत था और तार्किक पद्धति का विस्तार था, लेकिन इस मन्तव्य को ठीक से व्यक्त नही किया जा सकता था। व्यवहार मे उसने वास्तविक और आभासी, आवश्यक और आकस्मिक, स्थायी और अस्थायी शब्दो का मनमाने अर्थ मे प्रयोग किया। हीगल के ऐतिहासिक निर्णय और नैतिक मूल्यांकन भी देश, काल और पात्र की परिस्थितियो से उतने ही प्रभावित थे जितने अन्य किसी दार्शनिक के होते। द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगल के निष्कर्षों को कोई वस्तुपरक आधार नही दे सकती थी। इतने विभिन्न तत्त्वो और प्रयोजनो का एक सांगोपांग दार्शनिक पद्धति का रूप देना असम्भव कार्य था। द्वन्द्वात्मक पद्धति की उपलब्धि यह थी कि उसने ऐतिहासिक निर्णयो को एक तार्किक रूप प्रदान किया। यदि ये निर्णय सही हो, तो इन्हे व्यावहारिक लक्ष्य पर आधारित किया जा सकता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति ने नैतिक निर्णयो को भी तार्किक आधार पर प्रतिष्ठित किया। नैतिक निर्णय नैतिक अन्तर्दृष्टि पर निर्भर होते है जो हरेक के लिए खुली होती है। इन दोनो को सयुक्त करने की कोशिश मे द्वन्द्वात्मक पद्धति किसी के अर्थ को स्पष्ट न कर सकी बल्कि इन दोनो के अर्थ को उलझा दिया।"

अस्पष्टता, दुर्बोधता और दोषो से बोझिल होते हुए भी हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति का भारी प्रभाव और उच्च महत्त्व है। यह पद्धति वस्तुओ का स्वरूप स्पष्ट करने मे बहुत सहायक है। सुख की यथार्थ अनुभूति दुःख से, प्रकाश की अनुभूति अन्धकार से और समृद्धि की जानकारी गरीबी भोगने से ही हो सकती है। विरोधी तत्त्वो को जाने बिना हम सत्य को ठीक-ठीक नही पहचान सकते। जीवन सघर्षों का रगमच है और इन सघर्षों तथा विरोधों मे समन्वय का कितना महत्त्व है, यह

लिखने की आवश्यकता नहीं। हीगल का द्वन्द्ववाद इसी तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। हीगल का यह विचार भी विशेष प्रेरणादायक है कि प्रगति कठिन और जटिल होते हुए भी विकासमान है, ऊर्ध्वमुखी है। 'हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति मानव-मन की कार्य-प्रणाली को चित्रित करती है। मानव-मन विरोधी मार्ग से आगे बढ़ने को लालायित रहता है।[1]

हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति के महत्त्व और प्रभाव को उसकी 200वीं वर्षगाँठ के अवसर पर डॉ. ई. फ्रोलोव ने 'सोवियत भूमि' में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"द्वन्द्वात्मक विधि हीगल के दर्शनशास्त्र की अमूल्य उपलब्धि है। हीगल ने द्वन्द्वात्मक चिन्तन के जिन नियमों को निर्धारित किया और उन्हें सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादित किया उनसे वैज्ञानिक ज्ञान के सारे आगामी विकास पर और इसी के माध्यम से सारे व्यवहार पर, विशेषकर सामाजिक पुनर्निर्माण सम्बन्धी कार्यों पर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। खुद हीगल ने भी नहीं सोचा था कि उसकी खोजों का इतना व्यापक व्यावहारिक उपयोग हो सकता है। हीगल के द्वन्द्वात्मक नियमों की भौतिकतावादी व्याख्या के साथ-साथ उनका व्यावहारिक स्वरूप भी बरबस खुलता जा रहा था जिसका मार्क्सवाद-लेनिनवाद की कृतियों में विस्तारपूर्वक उपयोग किया गया है।"

"यह सच है कि ऐसी व्याख्या हीगल की तरह अवधारणा जगत् में नहीं, बल्कि वास्तविक जगत् में उन नियमों को खोज निकालने के समान थी। लेनिन के कथनानुसार, "हीगल ने सभी अवधारणाओं और सत्ताओं के अन्तर्परिवर्तन और उनकी अन्योन्याश्रितता में, अन्तर्विरोधों की समानता में, एक अवधारणा से दूसरी अवधारणा में परिवर्तन तथा अवधारणा के चिन्तन, परिवर्तन और उसकी गति में—वस्तुओं, प्रकृति के ऐसे ही सम्बन्धों का अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से अध्ययन किया था। द्वन्द्ववाद को वैज्ञानिक ज्ञान क्रान्तिकारी व्यवहार का वास्तविक आधार और साधन बनाने के लिए सही आधार पर खड़ा करना और भौतिक पृष्ठभूमि पर विकसित करना जरूरी था।"

हीगल का व्यक्तिवाद तथा राज्य का सिद्धान्त

(Hegelian Individualism and the Theory of the State)

हीगल ने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को एक व्यापक प्रदर्शन-प्रणाली के अंग के रूप में विकसित किया है। उसके राजनीतिक विचार मुख्यतः उसकी रचना 'Philosophy of Rights' में उपलब्ध हैं जो सन् 1821 में प्रकाशित हुई थी। राजदर्शन के विद्यार्थी के लिए उसका ग्रन्थ इतिहास-दर्शन (The Philosophy of History) भी महत्त्वपूर्ण है। 'फिलॉसॉफी ऑफ राइट्स' ग्रन्थ का यथार्थ महत्त्व 'राजनीतिक वास्तविकाओं' के निर्देश पर निर्भर है। इसमें मूल महत्त्व के दो

1 *Bertrand Russell* : Wisdom of the West, p. 251.

विषयों—व्यक्ति एवं सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं के सम्बन्ध, तथा इन सस्थाओं एव राज्य के सम्बन्ध पर विचार किया गया। हीगल राज्य को सब सस्थाओं के अनुरूप मानता है। उसके राजदर्शन का सीमित अर्थ मे प्रयोजन यह है कि वह सांविधानिक इतिहास के माध्यम से राजनीतिक सिद्धान्त की परीक्षा करना चाहता है। व्यापक अर्थ मे वह व्यक्तिवाद का दार्शनिक विश्लेषण करता है और राज्य के सिद्धान्त के रूप में उसकी वैधता की परीक्षा करता है। सामाजिक दर्शन मे जो भी मनोवैज्ञानिक और नैतिक समस्याएँ आती हैं, हीगल के दर्शन मे उन सबको शामिल करने का प्रयास किया गया है।

राज्य का उद्भव (Evolution of State)

हीगल के अनुसार सब वस्तुएँ, आत्मज्ञान की प्राप्ति के मार्ग मे अग्रसर आत्मा द्वारा धारण किए गए अनेक रूप हैं। ये अभौतिक ससार से वनस्पति और पशुओं के भौतिक ससार मे प्रगति करती हुई आती हैं और यह प्रगति उस समय तक निरन्तर चलती है जब तक आत्मा मानव-जीवन की अपूर्ण चेतना की स्थिति मे नहीं पहुँचती है। मानव-जीवन में आत्मा की शारीरिक और पाशविक शक्तियों का चरम उत्कर्ष प्राप्त होता है, बाह्य जगत् मे विकास के अनेक स्तरों को पार करते हुए आत्मा सामाजिक आचार (*Social Morality*) की सस्थाओं मे प्रकट होती है। इन सस्थाओं मे कुटुम्ब सर्वप्रथम है जिसका आधार पारस्परिक प्रेम तथा दूसरों के लिए आत्म-बलिदान की भावना है। कुटुम्ब अर्थात् वाद (Thesis) की वृद्धि के साथ समाज का प्रादुर्भाव होता है जो कुटुम्ब का प्रतिवाद (Antithesis) है। कुटुम्ब मे तो पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति आदि गुण का काम करते हैं, किन्तु समाज मे प्रतियोगिता और सघर्ष दिखाई देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने हित की बात सोचता है और इस तरह सघर्ष जन्म लेते हैं। सामाजिक सघर्ष मे व्यक्तियों को आत्म-निर्भर रहना पड़ता है जिससे व्यक्ति उन्नति करता है। लेकिन यह निरन्तर और असीमित सघर्ष अन्तत: व्यक्ति के विकास के मार्ग मे बाधक बन जाता है। ऐसी अवस्था मे यह आवश्यक प्रतीत होता है कि संघर्ष की मर्यादा स्थापित हो और पारस्परिक प्रेम एव सहानुभूति का जीवन-सग्राम मे स्थान हो। इस आवश्यकता की अनुभूति के साथ राज्य का प्रादुर्भाव होता है जो कुटुम्ब और समाज का 'सश्लेषण' (Synthesis) है। राज्य कुटुम्ब और समाज दोनो के गुणों का 'सामजस्य' है। राज्य के रूप में आत्मा का बाह्य विकास चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इसीलिए हीगल ने राज्य को अनेक विशेषणों से अलकृत किया है,—राज्य विश्वात्मा अर्थात् ईश्वर का पार्थिव रूप है, वह पृथ्वी पर विद्यमान ईश्वरीय विचार है, ससार के सगठन मे व्यक्त ईश्वरीय इच्छा है, वह पूर्ण बौद्धिकता की अभिव्यक्ति है, आदि। परिवार की पूर्ति समाज द्वारा करने और दोनो को राज्य मे समन्वित कर देने के कारण को वेपर (*Wayper*) ने निम्नलिखित शब्दों मे व्यक्त किया है—

"परिवार की विशेषता पारस्परिक प्रेम है, किन्तु पूँजीवादी अथवा बुर्जुआ

समाज की विशेषता सार्वभौमिक प्रतिस्पर्द्धा है। परिवार की तुलना न पूँजीवादी समाज चाहे कितना भी शिथिल एवं अनाकर्षक क्यों न दिखाई दे, फिर भी उसमें एवं परिवार दोनों में कुछ-न-कुछ सार अवश्य है। पूँजीवादी समाज में व्यापार एवं उद्योग की सम्पूर्ण प्रक्रिया मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए एक नवीन संगठन बन जाती है, अतः उस समाज में व्यक्ति परिवार के लिए ही उत्पादन करता है। इस प्रकार वह अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के साथ ही मानव-सेवा भी करता है जिससे पूँजीवादी समाज बुद्धि-संगत हो जाता है और उसका सार्वभौमिक महत्त्व हो जाता है। इसके अलावा पूँजीवादी समाज कानूनों का निर्माण करता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि वे न्यायसंगत ही हों। वह पुलिस का संगठन करता है और उसका रूप अधिकाधिक राज्य जैसा हो जाता है। ज्यों-ज्यों इसका विकास होता जाता है गिल्ड और निगमों की स्थापना होती है जो अपने घटकों को निजी स्वार्थों के परित्याग द्वारा उस सम्पूर्ण समुदाय के बारे में सोचना सिखाते हैं जिनके वे घटक होते हैं और जो प्रतिस्पर्द्धात्मक सामाजिक भावना को नहीं बल्कि राज्य की सहयोगी भावना को अभिव्यक्त करते हैं। प्रेम के धागे में आबद्ध और सब प्रकार के भेदों से मुक्त इस परिवार रूपी वाद (Thesis) के सम्मुख पूँजीवादी समाज का प्रतिवाद (Anti-thesis) उपस्थित हो जाता है जो अलग-अलग व्यक्तियों का योग-मात्र होता है। ये व्यक्ति प्रतिस्पर्द्धा के कारण पृथक् रहते हैं और इनमें कोई एकता नहीं होती, यद्यपि इस प्रतिवाद में अभी तक अप्राप्त एक महानतर एकता के लिए संघर्ष होता है वह संवाद या संश्लेषण (Synthesis) जो वाद और प्रतिवाद दोनों के सर्वोत्तम तत्त्वों को सुरक्षित रखता है, जो न तो परिवार को नष्ट करता है और न पूँजीवादी समाज को, बल्कि जो उन्हें एकता और सामंजस्य प्रदान करता है, वह राज्य है। यह उल्लेखनीय है कि आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए परिवार के लोग जिस विशाल समाज में सम्मिलित होते हैं उस समाज या संसार को ही हीगल ने पूँजीवादी या बुर्जुआ समाज (Bourgeois Society) कहा है।

राज्य के उद्भव विषयक हीगल के इन विचारों से स्पष्ट है कि राज्य एक उच्च प्रकार का भौतिक शरीर है जो समाज और परिवार को संगठित कर इन्हें ऐसे उच्च स्तर पर उठा देता है जिसमें प्रत्येक इकाई समूह के हित को अपना हित मानकर व्यवहार करती है। हीगल की विकासवादी प्रक्रिया में राज्य से परे तथा राज्य से उच्चतर और अधिक पूर्ण अन्य कोई वस्तु नहीं है। वह राज्य को बुद्धि के द्वन्द्वात्मक विकास (Dialectical Evolution of Mind) की चरम सीमा समझता है ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार कि भौतिक अथवा जैविक रूप में (On the Physical or Organic side) मनुष्य है। यहाँ आकार विकास समाप्त हो जाता है।

राज्य दैविक (Divine) है

हीगल के मतानुसार राज्य आत्मा के उच्चतम विकास का प्रतीक है, ईश्वर की महायात्रा का अन्तिम पड़ाव है, अब इससे आगे कोई विकास नहीं है। हीगल ने राज्य को 'पृथ्वी पर परमात्मा का अवतरण' कहा है।[1] जैसा कि गार्नर ने लिखा

1 Hegel: Philosophy of Right, p. 247.

है, "हीगल की दृष्टि में राज्य ईश्वरीय है जो कोई गलती नहीं कर सकता, जो सर्वथा शक्तिशाली और अभ्रान्त है तथा नागरिकों के अपने हित में प्रत्येक बलिदान का अधिकारी है। अपनी श्रेष्ठता के कारण और जिस त्याग एवं बलिदान के लिए राज्य अपने नागरिकों को आदेश देता है उसके फलस्वरूप वह न केवल व्यक्ति का उत्थान करता है बल्कि उसे श्रेष्ठत्व भी प्रदान करता है।" हॉबहाउस के शब्दों में, "हीगल का राज्य-सिद्धान्त राज्य को एक महानतर प्राणी, एकात्मा और एक अभिव्यक्त सत्ता मानता है जिसमें व्यक्ति, उनके अन्तःकरण, उनके दावे तथा अधिकार, उनके हर्ष और दुःख—ये सब केवल गौण तत्त्व हैं।"[1] वेपर की व्याख्या के अनुसार हीगल के राज्य की कई विशेषताएँ हैं जिनमें एक यह है कि "राज्य दैवी है। यह आत्म-विकास के उच्चतम शिखर की प्राप्ति है। यह पृथ्वी पर विद्यमान दैवी अवधारणा है।"[2] अपने इन्हीं विचारों के कारण हीगल ने रूसो के सामाजिक समझौते को कोई महत्त्व नहीं दिया।

राज्य और व्यक्ति के हितों में कोई विरोध नहीं
(No opposition between the interests of individual and those of the State)

हीगल की स्पष्ट मान्यता है कि आत्मा जिन संस्थाओं के रूप में प्रकट होती है, उनमें राज्य सर्वोच्च है और राज्य तथा व्यक्ति के हितों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। "इतिहास की दृष्टि से राज्य ही व्यक्ति है और जीवन-चरित्र में व्यक्ति का जो स्थान है, इतिहास में वही स्थान राज्य का है।" राज्य परिवार एवं समाज की सुरक्षा तथा पूर्णता के लिए अनिवार्य है। राज्य हमारी स्वाधीनता का प्रत्यक्षीकरण है, हमारी विवेकशीलता का मूर्त रूप है और हमारे पूर्ण ज्ञान की साकार प्रतिमा है, अतः स्वभावतः राज्य तथा व्यक्ति में कोई विरोध नहीं हो सकता, दोनों के हित एक हैं। राज्य हमारी सच्ची, निष्पक्ष एवं निःस्वार्थ सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति की पूर्ण आत्मानुभूति राज्य के घटक के रूप में ही सम्भव है।

चूँकि राज्य और व्यक्ति के हितों में किसी पारस्परिक विरोध की कल्पना नहीं की जा सकती, अतः व्यक्ति की सच्ची स्वतन्त्रता राज्य की आज्ञा का पालन करने में ही निहित है। 'राज्य ही स्वतन्त्रता का अभिभावक है।' राज्य के अभाव में व्यक्ति दासवत् है। जैसा कि वेपर ने लिखा है "यह राज्य जो दैवी है, जो स्वयं साध्य है, जो अपने अंशों की अपेक्षा पूर्ण रूप में महान् है तथा जो नैतिकता का नियन्ता है, हीगल के मतानुसार स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करने का नहीं बल्कि इसकी वृद्धि का साधन है। उसका कथन है कि केवल राज्य में ही मनुष्य स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। स्वतन्त्रता वर्तमान राज्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। हीगल यूनानियों की आलोचना करता है क्योंकि वे व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्त्व नहीं

1 *Hobhouse* : Metaphysical Theory of the State, p. 27.

2 वेपर : वही, पृ. 185

देते । दासता की स्वीकृति उनकी असफलता का प्रमाण है । हीगल कहता है कि आत्मा स्वतन्त्र होती है क्योंकि इसका केन्द्र-बिन्दु स्वतन्त्रता ही है । आत्मा का विकास स्वतन्त्रता का विकास है और इस प्रकार मानव-इतिहास स्वतन्त्रता का इतिहास है । अतः पूर्ण राज्य वास्तव में स्वतन्त्र राज्य ही है तथा जो नागरिक पूर्ण राज्य के पूर्ण कानूनों के पालन के इच्छुक हैं, वे स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं ।"

व्यक्ति और राज्य के हितों में किसी भी विरोध का जो निषेध हीगल ने किया है, उसे स्पष्ट करते हुए प्रो. स्टेक (Stace) का कथन है—

"इस प्रकार राज्य स्वयं एक व्यक्तित्व है जिसके . सयोगात्मक और अनित्य गुणों के स्थान पर शाश्वत गुणों का समावेश कर उसका निर्माण किया गया है । व्यक्ति मूलरूप से सर्वव्यापक है । राज्य यथार्थ रूप में सर्वव्यापक (The actual universal) है और इस प्रकार राज्य व्यक्ति का ही यथार्थ एवं साकार रूप है । यह कोई बाह्य शक्ति नहीं है जो बाहर से व्यक्ति पर थोपी गई हो और उसके व्यक्तित्व को कुचलती हो । इसके विपरीत उसके व्यक्तित्व की अनुभूति केवल राज्य में रहकर ही हो पाती है ।……राज्य द्वारा व्यक्ति अन्तिम रूप से अपनी ही आत्मा की अनुभूति प्राप्त करता है । नागरिक समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति के हित सामाजिक हित के विरुद्ध हो जाते हैं किन्तु जब व्यक्ति अपनी निम्न-आत्मा का लोप कर उच्च-आत्मा को प्राप्त करता है तो उसके और राज्य के हितों में कोई विरोध नहीं रह जाता ।"[1]

राज्य व्यक्ति से उच्च एवं सर्वोच्च नैतिक समुदाय है
(The State is higher than the Individual and is supreme ethical institution)

व्यक्ति और राज्य के हितों में किसी विरोध का अनुभव न करते हुए हीगल राज्य को सर्वोच्च नैतिक और व्यक्ति से उच्चतर मानता है । समस्त नैतिकता, कानून आदि राज्य के अन्तर्गत हैं । उस पर किसी कानून अथवा नैतिकता का नियमन नहीं हो सकता । नैतिकता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति राज्य में ही होती है और राज्य ही नैतिक मानदण्ड का संरक्षक है । वह स्वतन्त्र है, प्रतिबन्धों से पूर्णतया मुक्त है और स्वयं अपना नियामक है । वह अपने नागरिकों की सामाजिक नैतिकता को अपने में समेटे हुए है तथा उनका प्रतिनिधित्व करता है । वह दूसरों के लिए नैतिकता के मानदण्ड स्थिर करता है, स्वयं उसके कार्य उन मानदण्डों से नहीं मापे जा सकते । उसकी नैतिकता का स्वयं अपना मानदण्ड है, अर्थात् वह अपने ही सदाचार के आदर्श का पालन करता है । श्रेष्ठ या निकृष्ट—इन नैतिक शब्दों का प्रयोग साधारण अर्थ में राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में नहीं किया जा सकता । राज्य को नैतिक बन्धनों से पूर्ण मुक्त मानने में हीगल मेकियावली से भी आगे बढ़ गया है

1 *Stace*: The Philosophy of Hegel, p. 417

ग्रौर उसने शक्ति तथा नैतिकता को ग्रभिन्न बना दिया है।[1] राज्य को नैतिकता का पाठ कोई नही पढ़ा सकता। राज्य किसी नैतिक नियम या कानून से बाधित नहीं हो सकता वरन् राज्य ही नागरिको के लिए सभी प्रकार के नैतिक नियमो, सामाजिक रीति-रिवाजो, प्रथाग्रो ग्रौर परम्पराग्रो का निर्धारण करता है ग्रौर समय-समय पर उनका स्पष्टीकरण करता है।[2]

हीगल के ग्रनुसार "राज्य ग्राध्यात्मिक जगत् ग्रौर भौतिक जगत् दोनो ही का केन्द्र है" ग्रर्थात् राज्य के द्वारा व्यक्ति ग्रपने भौतिक ग्रौर ग्रभौतिक दोनों ही उद्देश्यो को प्राप्त करता है। राज्य की सदस्यता प्राप्त कर वह ग्रपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। मनुष्य के ग्रन्तर मे उसका ग्राध्यात्मिक स्वरूप विद्यमान है। इस ग्राध्यात्मिक स्वरूप का विकास ही उसका उद्देश्य है। उसकी उपलब्धि या ग्रात्मोपलब्धि के लिए मनुष्य को बाह्य कार्य करने पड़ते हैं। उसकी इस उपलब्धि मे उसकी ग्रपूर्णताएँ ग्रौर उसका ग्रज्ञान बाधक बनते हैं। ग्रान्तरिक विकास यदि 'वाद' (Thesis) है तो व्यक्ति की बाह्य सीमाएँ उसके विकास मे 'प्रतिवाद' (Antithesis) हैं। राज्य 'सवाद' या 'सश्लेषण' (Synthesis) है क्योंकि यह व्यक्ति की पाशविक चेतना, ग्रज्ञानता ग्रौर ग्रपूर्णता को नियन्त्रित कर सही रूप मे उसे स्वतत्र कर देता है। राज्य स्वतन्त्रता का प्रतीक है क्योकि व्यक्ति के लिए ग्रात्मोपलब्धि सबसे बड़ी स्वतन्त्रता है। राज्य व्यक्ति की ग्रपूर्णताग्रो ग्रौर स्वेच्छाचारिताग्रो का दमन कर उन्हे नियन्त्रित कर देता है। इस तरह वह व्यक्ति के लिए ऐसी परिस्थितियो का निर्माण करता है जिनसे उसका ग्राध्यात्मिक विकास सम्भव हो जाता है। इस तरह राज्य व्यक्ति से श्रेष्ठतर ग्रौर उच्चतर है।

हीगल की मान्यता है कि राज्य स्वय मे एक साध्य है, उसे किसी साध्य के लिए साधन मानना एक ग्राधारभूत गलती है। "वह व्यक्ति से उच्चतर है क्योकि वह व्यक्ति के विशुद्ध ग्रौर सार्वभौम तत्त्व का साकार रूप है जिससे व्यक्ति के ग्रनित्य गुण निकाल दिए गए हैं।" व्यक्ति पर राज्य का सर्वोच्च ग्रधिकार है ग्रौर व्यक्ति का सर्वोच्च कर्त्तव्य राज्य का घटक बनना है।

हीगल की दृष्टि मे एक नैतिक सस्था होने के नाते राज्य ग्रधिकारो का जन्मदाता भी है। व्यक्ति राज्य के लिए जीता है, ग्रतः वह राज्य के विरुद्ध कोई ग्रधिकार नही माँग सकता। राज्य एक स्थायी सस्था है जो ग्रपने नैतिक गुणो के कारण व्यक्तियो के भाग्य की सच्ची निर्णायक है। व्यक्ति को राज्य की ग्राज्ञाग्रों का उल्लघन करने का ग्रधिकार नही है। राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के किसी प्रकार के ग्रधिकारों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राज्य पूर्ण विकसित सामाजिक ग्राचार (Social Ethics) का मूर्तिमान रूप (Embodiment) है, वह स्वय-साध्य है, उसके ग्रपने ग्रधिकार हैं, कोई कर्त्तव्य नही। यदि व्यक्तियो के तथा उसके

1 *Spahr* : Readings in Recent Political Philosophy, p. 188.
2 *Ebenstein* : Great Political Thinkers, p. 595.

अधिकारों में संघर्ष होता हो तो वह व्यक्तियों के अधिकारों का अतिक्रमण कर सकता है, पर ऐसा संघर्ष हो ही नहीं सकता क्योंकि व्यक्ति के अधिकार वही हो सकते हैं जो राज्य उसे प्रदान करता है।

हीगल के अनुसार आत्मा जिन संस्थाओं के रूप में प्रकट होती है उनमें राज्य का स्थान सर्वोपरि है। इस आत्मा का दूसरा नाम इच्छा भी है जो स्वतन्त्र है अतः राज्य मूर्तिमान स्वतन्त्रता है। उसकी इच्छा सामान्य इच्छा है जो विवेकपूर्ण है और वह कभी भ्रान्त नहीं हो सकती। उसकी इच्छा प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। जहाँ तक व्यक्ति की इच्छा दूसरों की इच्छा के अनुरूप है वह सबके हित की इच्छा करती है। इसी कारण उसकी इच्छा का अर्थात् उसके आदेशों (कानूनों) का पालन करना व्यक्ति का कर्त्तव्य है। उसका विरोध कभी उचित नहीं हो सकता। वह हमारी परम श्रद्धा का पात्र है। यह सार्वजनिक और व्यक्तिगत इच्छा का एकीकरण है और स्वयं में ही एक स्थिर लक्ष्य है। हीगल नागरिकों को विद्रोह का अधिकार प्रदान नहीं करता, प्रत्युत् वह तो विद्रोह या क्रान्ति की निन्दा करता है। हीगल द्वारा इस प्रकार व्यक्तिगत अधिकारों और क्रान्ति के निषेध की पृष्ठभूमि को चित्रित करते हुए इस विषय में प्रो. सेबाइन का कहना है कि—

"जर्मनी की राजनीति में ऐसी चीजें बहुत कम थी जो जर्मनी को व्यक्तिगत अधिकारों के विचारों के प्रति आकृष्ट करती। एक सिद्धान्त के रूप में प्राकृतिक अधिकारों का दर्शन जर्मनी को अच्छी तरह ज्ञात था, लेकिन उनके लिए वह बुद्धि-विलास की ही वस्तु थी, प्राय उसी तरह जैसे कि सन् 1848 में जर्मन उदारवाद रहा था। फ्रांस और इंग्लैण्ड में इस सिद्धान्त का निर्माण अल्पसंख्यक वर्गों के इस दावे के आधार पर हुआ था कि बहुमत के विरोध में उन्हें भी धार्मिक सहिष्णुता प्राप्त होनी चाहिए। इसके विपरीत जर्मनी एक ऐसा देश था जिसमें धार्मिक मतभेद राजनीतिक सीमाओं के साथ-साथ चल सकते थे। फ्रांस और इंग्लैण्ड में प्राकृतिक अधिकारों के आधार पर राजतन्त्र के विरोध में राष्ट्रीय क्रान्ति का समर्थन किया गया था, लेकिन जर्मनी में कोई क्रान्ति नहीं हुई थी। जर्मनों को इस बात की कभी आवश्यकता महसूस नहीं हुई थी कि वे राज्य के विरोध में निजी निर्णय और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना पर जोर देते। इसे वे राष्ट्र के लिए कोई विशेष हितकारी नहीं समझते थे।"[1] पुनश्च, हीगल के दर्शन ने 'राज्य' शब्द को पवित्र बना दिया था। अंग्रेजों को यह बात कोरी भावुकता प्रतीत हो सकती थी, लेकिन जर्मनों की दृष्टि में यह वास्तविक और विघटनकारी राजनीतिक आकांक्षाओं को व्यक्त करने वाली थी।[2]

व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध में हीगल के विचारों से प्रो. जोड (Joad) ने अग्रलिखित निष्कर्ष निकाले हैं—

1-2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 610

1. राज्य कभी प्रतिनिधित्वरहित रूप से कार्य नही करता अर्थात् यदि पुलिस किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी करती है और न्यायाधीश उसे सजा देता है तो कारण यह है कि उस व्यक्ति की यथार्थ इच्छा यही है कि उसे सजा मिले।

2. व्यक्ति एक एकाकी इकाई नही है अर्थात् वह जिस समाज मे रहता है उसका एक अविभाज्य अग है।

3. राज्य अपने नागरिको की सामाजिक नैतिकता को अपने मे समेटे हुए है तथा उनका प्रतिनिधित्व करता है अर्थात् राज्य नैतिकता से ऊपर है।

इस प्रकार हीगल के राज्य की कल्पना एक निरकुश, सर्वशक्तिमान, चरम सत्तावादी तथा अभ्रान्त राज्य की कल्पना है जिसे उसने 'पृथ्वी पर ईश्वर का आगमन' (March of God on Earth) की सज्ञा दी है।

आलोचको का विचार है कि हीगल के सिद्धान्त मे व्यक्ति को पूर्ण रूप से राज्य के अधीन कर दिया गया है। हॉबहाउस (Hobhouse) के अनुसार हीगल का राज्य-सिद्धान्त "राज्य को एक महानतर प्राणी, एकात्मक तथा एक अतिव्यक्त सत्ता मानता है जिसमे व्यक्ति, उनके अन्त:करण, उनके दावे तथा अधिकार, उनका हर्ष, उनका दु ख मे सब गौण तत्त्व हैं।"[1] इसी तरह प्रो. जोड (Joad) ने लिखा है कि–"स्पष्टत:राज्य को एक वास्तविक व्यक्ति होने के कारण अपने मे ही एक साध्य समझा जा सकता है जिसके अपने अधिकार हैं और जो व्यक्ति के तथाकथित अधिकारो के साथ होने वाले सघर्ष मे विजयी होता है। सिद्धान्तत: हर समय और व्यवहारत: युद्ध के समय वह अपने नागरिको के जीवन पर पूर्ण अधिकार का प्रयोग कर सकता है और उसका ऐसा करना विधि-सम्मत होगा। सिद्धान्त अथवा कानूनी रूप से राज्य के आदेशो अथवा विधियो के विरोध के लिए कोई औचित्य नही हो सकता क्योकि जिनके ऊपर राजसत्ता का प्रयोग किया जाता है और जो लोग राजसत्ता का प्रयोग करते हैं, उसमे कोई भेद नही है।"[2]

प्रो. मेकगवर्न के अनुसार "पुरातन विचारवादियों का आग्रह इस बात पर कि राज्य स्वय-साध्य नही है अपितु एक साध्य के लिए साधन मात्र है, साध्य है जनता की भलाई और कल्याण। इसके विपरीत हीगल ने यह घोषित किया कि राज्य स्वय एक साध्य है और व्यक्ति इस साध्य के लिए साधन मात्र है।"[3]

स्पष्ट है कि हीगल के लिए राज्य व्यक्ति की सुरक्षा एव भलाई का केवल साधन न होकर स्वय एक साध्य है। हीगल के स्वय के शब्दो मे, "व्यक्ति अपने सत्य, अपने वास्तविक अस्तित्व और नैतिक पद की प्राप्ति राज्य का घटक होकर ही कर सकता है।" आदर्शवादी सिद्धान्त के इस उग्ररूप का स्रोत प्लेटो और अरस्तू के इस त मे है कि राज्य स्वाश्रयी सस्था है। यदि राज्य स्वाश्रयी है तो वह अपने नागरिको के लिए समस्त मानव-समाज के बराबर हो जाता है। इस मत का स्वाभाविक

1 *Hobhouse* : Metaphysical Theory of the State, p. 27.
2 *Joad* : Introduction to Modern Political Theory.
3 *Mc Govern* : From Luther to Hitler, p. 299.

परिणाम व्यक्ति के नागरिक के रूप मे राज्य के प्रति सम्बन्ध तथा व्यक्ति के रूप मे समस्त मानव-समाज के प्रति सम्बन्ध—इन दोनो प्रकार के विभिन्न सम्बन्धो को बराबर एकरूप कर देता है। व्यक्ति की समस्त आकांक्षाओ और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य पर्याप्त माना जाता है। राज्य की सहायता के अलावा और कोई वस्तु नही है जिसकी व्यक्ति आकांक्षा कर सके। इस स्थिति से निरंकुशता के सिद्धान्त पर पहुँच जाना सरल है। चूँकि राज्य व्यक्ति की समस्त सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, इसलिए वह निरपेक्ष सत्ता के प्रति नागरिको की पूर्ण भक्ति की माँग कर सकता है। राज्य सैद्धान्तिक रूप से नागरिको पर सदैव अपनी पूर्ण सत्ता का प्रयोग कर सकता है। हीगल की दृष्टि मे इस स्थिति से व्यक्ति को जितनी हानि होती है, उससे कहीं अधिक लाभ होता है क्योकि उसे केवल राज्य मे ही सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, उसी मे वह नैतिकता प्राप्त करता है और अपने अधिकारो को प्राप्त करता है।

हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारो से यह भ्रान्ति हो गई है कि वह व्यक्ति को राज्य का दास बना देना चाहता है। हीगल पर यह आरोप लगाना एक सीमा तक न्यायसंगत नहीं होगा कि वह व्यक्ति पर राज्य के सार्वभौम नियन्त्रण को लाद देता है अथवा वह व्यक्ति को पूर्णत: राज्य के अधीन कर देता है क्योंकि हीगल के मतानुसार राज्य व्यक्ति पर कोई बाहर से थोपी हुई सत्ता नही है, वह तो व्यक्ति की आत्मा है और व्यक्ति के सर्वोत्तम भाग की अभिव्यक्ति है। हीगल का कथन है कि राज्य कैसा भी अपूर्ण क्यो न हो किन्तु वह व्यक्ति की बुद्धि से श्रेष्ठ अवश्य होता है क्योकि वह व्यक्ति की बुद्धि का विकसित रूप है। इस प्रकार उसने राज्य का आदर्श रूप प्रकट किया है तथा व्यक्ति और राज्य के बीच किसी प्रकार का विरोध नहीं माना है। ऐसी दशा मे व्यक्ति को अपने विकसित रूप को राज्य के सामने आपत्ति करने मे कोई सकोच नही होना चाहिए। उसने तो राज्य मे सर्वोच्च नैतिकता को निहित किया है और यह स्पष्ट किया है कि राजाज्ञा पालन करने मे व्यक्ति स्वय अपनी आत्मा की आज्ञा का पालन करता है, वह राज्य मे और राज्य द्वारा अपनी ही आत्मा की अनुभूति करता है तथा राज्य की अधीनता स्वीकार करने मे अपनी ही आत्मा का आधिपत्य मानता है। अत: इस विचार को स्वीकार करने पर यह मानने का कोई प्रश्न नही उठना चाहिए कि हीगल व्यक्ति को दास बना देता है। राज्य को व्यक्ति से ऊँचा साध्य मान लेने का अर्थ यह नहीं हो जाता है कि व्यक्ति राज्य रूपी साध्य के लिए एक साधन-मात्र बन कर रह गया है।

हीगल का राज्य विषयक सिद्धान्त कहाँ तक उचित है और कहाँ तक नहीं, इस पर विस्तार से विवेचन अग्रिम पृष्ठो मे हीगल के राज-दर्शन की आलोचनात्मक समीक्षा के अन्तर्गत किया जाएगा।

राज्य और नागरिक समाज में अन्तर

(Distinction between Civil Society and State)

हीगल राज्य और नागरिक समाज मे अन्तर करता है। यह विभेद लेखक के

सिद्धान्त का एक मुख्य अंग है। हीगल का विचार है कि विचार-क्रम में नागरिक समाज की गणना राज्य से पहले होते हुए भी कालक्रम में उसकी गणना राज्य के बाद है।

हीगल के अनुसार नागरिक समाज की तीन अवस्थाएँ होती हैं—(क) न्याय-प्रशासन, (ख) पुलिस, एवं (ग) निगम। इनमें अन्तिम दो अर्थात् पुलिस एवं निगम का राज्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हीगल समाज को राज्य पर आधारित और निर्विकल्प तत्त्व मानता है अर्थात् उसका मत है कि नागरिक समाज राज्य के बिना जीवित नहीं रह सकता। वह एक क्षण के लिए भी यह स्वीकार नहीं करता कि न्यायालय, पुलिस, जेल और नागरिक समाज की अन्य संस्थाएँ राज्य के अस्तित्व के अभाव में सम्भव हैं। नागरिक समाज राज्य के बिना जीवित नहीं रह सकता।

नागरिक समाज चिन्तन-क्रम में राज्य से पहले प्रतीत होता है किन्तु कालक्रम में (In time) वह राज्य के बाद है। यह "राज्य का वह स्वरूप है जिसमें समाज को ऐसे स्वाधीन व्यक्तियों का समूह माना जाता है जो सम्पूर्ण समाज के अन्य घटकों की सहायता से अपने-अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में संलग्न हैं। नागरिक समाज में एक व्यक्ति दूसरों के साथ आवश्यकताओं के सूत्र में बँधा होता है। वह उद्योग तथा व्यापार प्रणाली द्वारा कार्य करता है। राज्य में उसका दूसरों से सम्बन्ध सावयवी हो जाता है। वह फिर अपने लिए कार्य नहीं करता बल्कि राज्य के सर्वव्यापी जीवन में विलीन हो जाता है। उसकी स्वार्थ-भावना का स्थान सामान्य हित ले लेता है। इस प्रकार नागरिक समाज एक पूर्ण विकसित राज्य के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।"

वास्तव में हीगल का राज्य-सिद्धान्त राज्य और नागरिक समाज के सम्बन्धों के विशिष्ट स्वरूप पर आधारित है। यह सम्बन्ध विरोध का भी है और परस्पर निर्भरता का भी। सेबाइन के अनुसार, "हीगल के विचार से राज्य कोई ऐसी उपयोगितावादी संस्था नहीं है जो सार्वजनिक सेवाओं, विधि-प्रशासन, पुलिस-कर्त्तव्यों के पालन और औद्योगिक तथा आर्थिक हितों के सामंजस्य में रत हो। ये सारे कार्य नागरिक-समाज के हैं। राज्य आवश्यकतानुसार उनका निर्देशन और नियमन कर सकता है, लेकिन वह खुद इन कार्यों को नहीं करता। नागरिक-समाज बुद्धिमत्तापूर्ण पर्यवेक्षण और नैतिक महत्त्व के लिए राज्य पर निर्भर रहता है। यदि हम समाज पर पृथक् रूप से विचार करें तो ज्ञात होगा कि समाज कुछ उन यान्त्रिक नियमों द्वारा शासित होता है जो बहुत से व्यक्तियों के अर्जनशील और स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होते हैं, लेकिन राज्य अपने नैतिक प्रयोजनों की पूर्ति के साधनों के लिए नागरिक समाज पर निर्भर रहता है। यद्यपि नागरिक समाज और राज्य दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं, फिर भी वे एक-दूसरे से भिन्न हैं। राज्य साधन न होकर साध्य है। वह विकास में विवेक-युक्त आदर्श को और सभ्यता में आध्यात्मिक तथ्य को प्रकट करता है। इस दृष्टि से वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नागरिक

समाज का प्रयोग करता है या एक विशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ में उसका निर्माण करता है।"[1]

पुनश्च, सेबाइन के ही शब्दों में, "यदि हीगल ने राज्य को नैतिक दृष्टि से अत्यन्त उच्च माना तो उसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसे नागरिक समाज अथवा उसकी संस्थाओं से घृणा थी। वस्तुस्थिति इससे उलटी थी। हीगल अपने व्यक्तिगत चरित्र और राजनीतिक चिन्तन दोनों की दृष्टि से बुर्जुआ था। स्थिरता और सुरक्षा के प्रति उसके मन में बहुत सम्मान था। उसका विचार था कि राज्य और नागरिक सत्ता के बीच पारस्परिक सम्बन्ध है। यह दूसरी बात है कि यह सम्बन्ध उच्च स्थिति और निम्न स्थिति का है और राज्य की सत्ता निरपेक्ष है। राज्य और उसका सांस्कृतिक मिशन समाज पर निर्भर है। इससे समाज के आर्थिक जीवन का नैतिक महत्व बढ़ जाता है।""हीगल ने नागरिक समाज का जो विवरण दिया है, उसमें गिल्डों और निगमों, एस्टेटों और वर्गों, संस्थाओं और स्थानीय समुदायों का विस्तार से वर्णन किया गया है। हीगल इन संस्थाओं को या इनसे मिलती-जुलती कुछ अन्य संस्थाओं को मानवीय दृष्टि से अत्यावश्यक समझता था। उसका विश्वास था कि इन संस्थाओं के बिना लोग मूक भेड़-मात्र बन जाएँगे तथा व्यक्ति की स्थिति एक एटम की भाँति होगी। इसका कारण यह है कि मनुष्य का व्यक्तित्व केवल आर्थिक और संस्थागत जीवन के संदर्भ में ही सार्थक होता है इसलिए हीगल के दृष्टिकोण से राज्य का निर्माण मुख्यतः व्यक्तिगत नागरिकों से मिलकर नहीं होता। उनको विभिन्न निगमों और समुदायों का सदस्य होना चाहिए। इसके बाद ही वह राज्य की गौरवपूर्ण नागरिकता प्राप्त कर सकता है।"[2]

राज्य में परिवार एवं समाज का विलीनीकरण किस भाँति होता है इसकी व्याख्या करते हुए प्रो. बोसांके ने लिखा है कि, "आधार के रूप में राज्य की पारिवारिक मनोवृत्ति और नैतिक प्रवृत्ति व्याप्त है जिसमें व्यापार-जगत् की स्पष्ट चेतना और उद्देश्य समाविष्ट होते हैं। राज्य के अवयव में, अर्थात् जहाँ तक हम नागरिकों की भाँति महसूस करते और सोचते हैं, भावना, स्नेहपूर्ण भक्ति और स्पष्ट चेतना राजनीतिक सूझ बन जाती है। नागरिकों के नाते हम यह अनुभव करते और देखते हैं कि राज्य हमारे स्नेहपूर्ण तथा रुचिकर पदार्थों को प्राप्त करता है और उन्हें कायम रखता है। ऐसा वह संयोग द्वारा एक जगह फेंकी हुई अलग-अलग वस्तुओं के रूप में न कर सामान्य शुभ के साथ अपने सम्बन्धों द्वारा निर्मित उद्देश्यों के रूप में करता है। यही भावना और बुद्धि देश-भक्ति का सच्चा सार है।"[3]

नागरिक समाज एवं राज्य के मूलभूत अन्तर को व्यक्त करते हुए प्रो. स्टैस (Prof. Stace) का कथन है कि "नागरिक समाज में व्यक्ति केवल अपने हित-साधन का इच्छुक होता है, अतः उसका यह हित एक विशेष हित है। इसके विपरीत राज्य

1-2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ 619
3 Bosanquet : Philosophical Theory of the State, p 261-62

के हित एवं लक्ष्य बहुत ऊँचे होते हैं और इन्हीं की प्राप्ति के लिए सब निवासी प्रयास करते हैं, अतः इसमें एक नागरिक के विशेष हित सार्वजनिक हित होते है।"[1]

हीगल के अनुसार नागरिक समाज एकपक्षीय है। राज्य में उसका समन्वय होता है। हॉब्स तथा लॉक का यह सिद्धान्त कि राज्य व्यक्ति की सबसे अधिक भलाई कर सकता है, अपूर्ण है। हीगल के सिद्धान्त द्वारा हम इसे अच्छी तरह समझ पाते हैं। हॉब्स और लॉक जिस राज्य की कल्पना करते हैं, उसे हीगल राजनीतिक समाज कहता है। हॉब्स और लॉक राज्य तथा व्यक्ति को विरोधी मानते हैं। उनके मतानुसार राज्य का कोई सामान्य हित नही होता। प्रत्येक व्यक्ति का हित पृथक्-पृथक् होता है और राज्य का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति का हित करना होता है किन्तु हीगल राज्य से अलग व्यक्ति के किसी भी हित को स्वीकार नही करता। वह व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक हितों मे किसी विरोध की कल्पना नही करता। वह तो कहता है कि राज्य के अभाव में व्यक्ति कुछ नही कर सकता।

हीगल के अनुसार राज्य ब्रह्म का विकसित रूप है जो चरम-विचार है। राज्य उसी की अभिव्यक्ति है। परिवार और नागरिक समाज राज्य में ही सफलता एवं पूर्णता प्राप्त करते हैं क्योंकि वही सब समुदायों का समुदाय (An association of associations) है।

हीगल ने नागरिक समाज का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है और राज्य के साथ उसका जो सम्बन्ध स्थापित किया है, उससे ही उसके संविधानिक शासन के स्वरूप का निर्धारण होता है। हीगल के विचार से राज्य की शक्ति-निरपेक्ष तो है, किन्तु स्वेच्छाचारी नहीं। राज्य को अपनी नियामक शक्ति का विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए। राज्य विवेक का प्रतीक है और विधि विवेकपूर्ण होती है। नागरिक समाज का नौकरशाही सगठन शीर्षस्थ होता है। इस स्तर पर समाज राज्य की उच्चतर सस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित करता है। हीगल राज्य-क्षेत्र और जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व को इसलिए एकदम निरर्थक मानता है कि व्यक्ति पहले नागरिक समाज द्वारा समर्पित एक या एक से अधिक सस्थाओं का सदस्य होता है और इसके बाद ही उसका राज्य से सम्बन्ध स्थापित होता है। विधान-मण्डल ही वह स्थल है जहाँ ये सस्थाएँ राज्य से मिलती हैं। हीगल का स्पष्ट मत था कि नागरिक समाज की ओर से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों अथवा व्यावसायिक इकाइयों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

राष्ट्रीय-राज्य, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और युद्ध
(Nations-State, Internationalism and War)

हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारों से स्पष्ट है कि वह राष्ट्रीय-राज्य (Nation-State) का समर्थन करते हुए उसे मानव-सगठन का सर्वोच्च रूप मानता है। वह किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्वव्यापी सगठन के राष्ट्रीय-राज्य के ऊपर होने

1 *Stace*: The Philosophy of Hegel, p. 414

की कल्पना नहीं करता। हीगल के इस प्रकार के विचार निश्चय ही प्रतिक्रियावादी और भयकर परिणामो को जन्म दे सकते है क्योकि इनसे राष्ट्रीय राज्य पारस्परिक सम्बन्धो मे मनचाहा आचरण कर विश्व मे अव्यवस्था और अशान्ति का प्रसार कर सकते हैं।

हीगल की दृष्टि मे, राज्य के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न आत्म-रक्षा है, अतः अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए राज्य कोई भी कार्य करने मे पूर्ण स्वतन्त्र है। इसीलिए हीगल के शब्दो मे, "राज्य स्वयं पूर्ण मस्तिष्क है जो अच्छाई और बुराई, लज्जा और तुच्छता, लम्पटता और धोखेबाजी आदि के भावात्मक नियमो को स्वीकार नही करता।"[1] राज्य को अन्य राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करने मे कोई आपत्ति नही होती बशर्ते कि उससे उसकी सुरक्षा कायम रहती हो।[2] अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ऐसे प्रभुसम्पन्न राज्यो के साथ होते हैं जो यह विश्वास करते हैं कि अपना हित ही उचित है तथा अपने हित के विरुद्ध कार्य करना पाप है, अर्थात् जब राज्यो की विशेष इच्छाएँ आपसी समझौते से पूर्ण नही हो पातीं तो विवाद को केवल युद्ध द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है।

हीगल का मत है कि युद्ध को एक पूर्ण बुराई नही मानना चाहिए। 'मानव-जाति का विश्व-व्यापी प्रेम' तो एक 'मूर्खतापूर्ण आविष्कार' है। युद्ध स्वय एक गुणात्मक कार्य है और यदि एक्टन (Acton) के उद्धरण का दुरुपयोग किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि "हीगल की शान्ति समाज को पथ-भ्रष्ट करती है तथा चिरकालिक शान्ति उसे सदा पथ-भ्रष्ट करती रहेगी।"[3] हीगल शान्तिपूर्ण उपायो और समझौतो को अस्वीकार करता है। वह युद्धवादी होकर स्थायी शान्ति का विरोधी बन गया है। दुनिया चाहे युद्ध को सदैव हेय समझती रहे, किन्तु हीगल के विचार से युद्ध के अनेक लाभदायक परिणाम होते हैं। युद्ध व्यक्ति के अहम् का नाश करता है और मानव-जाति की पतन से रक्षा कर उसमे क्रियाशीलता का सचार करता है। हीगल के अनुसार, "एक समय मे केवल एक ही जाति मे परमात्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है, इसलिए युद्ध मे किसी राज्य की सफलता दैवी योजना क व्यग (Irony of divine idea) को व्यक्त करती है।" इसका अर्थ यह है कि विजयी राष्ट्र ईश्वर का कृपापात्र सिद्ध हो जाता है। युद्ध-राज्य की शक्ति का द्योतक है।

हीगल का विश्वास है कि युद्ध को घोर दुष्कर्म नही मानना चाहिए। मानव के विश्व-प्रेम की भावना एक निर्जीव आविष्कार है। युद्ध स्वयमेव एक नैतिक कार्य है। शान्ति भ्रष्टाचार का प्रसार करती है और अनन्त शान्ति अनन्त भ्रष्टाचार फैलाएगी। युद्ध वह अवस्था है जो इहलौकिक स्वार्थों और अभिमान को व्यवस्थित

1-2 वेपर : पृष्ठ 186.

3 Op. cit., p. 186 (Lord Acton's famous aphorism was "Power corrupts, and absolute power corrupts absolutely." Here to misquote him "Peace corrupts and everlasting peace corrupts everlastingly.")

करती है। युद्ध द्वारा लोगो का धार्मिक स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है और वे इहलौकिक व्यवस्थाओं की सुरक्षा के प्रति उदासीन हो जाते हैं। जिस प्रकार वायु के प्रवाह ने समुद्र के शान्त वातावरण में उत्पन्न गन्दगी दूर होती है, उसी प्रकार गतिहीन अनन्त शान्ति से राष्ट्रों मे फैले भ्रष्टाचार को युद्ध दूर करता है। सफल युद्धो ने नागरिक विद्रोहों को रोककर राज्यों की आन्तरिक शान्ति को सगठित और बलशाली बनाया है। तोप कोई आकस्मिक आविष्कार नही है और यही तथ्य बारूद पर भी लागू होता है। "मानव-जाति को इसकी आवश्यकता थी और इसका तुरन्त प्रादुर्भाव हुआ। तोपों और बारूद पर सभ्यता की छाप है। असभ्य जातियो के अधिकार केवल औपचारिकता मात्र है। सभ्य राष्ट्र यह भली प्रकार समझते हैं कि बर्बर जातियों के अधिकार उनके समान नही हैं और वे इनकी स्वायत्तता (Autonomy) को केवल एक औपचारिकता (Formality) मानते हैं।"

हीगल अतिराष्ट्रीय होने के कारण किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एव कानून का समर्थन नही करता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून परम्परा मात्र हैं जिन्हे कोई भी प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य इच्छानुसार स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे इस बात की चिन्ता नही करनी चाहिए कि एक राज्य का दूसरे राज्य के साथ नैतिक व्यवहार हो। अपनी सुरक्षा का ध्यान रखना राज्य का सर्वोपरि दायित्व है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे नैतिकता के आधार पर राज्य पर कोई बन्धन नही लगाया जा सकता। राज्य की इच्छा को सीमित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून जैसे किसी तत्त्व का कोई अस्तित्व नही हो सकता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल उन कतिपय उत्तेजनाओं का उस समय तक प्रतिनिधित्व करते हैं जब तक कि वे राज्य की सर्व-शक्तिमत्ता (Supreme Performance) में हस्तक्षेप नहीं करते। वर्तमान विश्व-आत्मा के दावेदार राज्य के अक्षुण्ण अधिकारो के समक्ष अन्य राज्यो को कोई अधिकार प्राप्त नही होते। जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बन जाते हैं वे अल्पकालीन होते है, यहाँ तक कि सन्धियाँ भी परिवर्तनशील होती हैं।

हीगल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के विचारो पर अराजकता की छाप है। उसका स्पष्ट मत है कि राज्य की सम्पूर्णता के समक्ष (The absoluteness of the State) कोई भी अन्य वस्तु अधिक सम्पूर्ण (More absolute) नही है। स्वय उसके शब्दो मे, "राज्य कोई विशिष्ट व्यक्ति नही है वरन् स्वय मे ही पूर्ण स्वतन्त्र सम्पूर्णता है, अत राज्यो के पारस्परिक सम्बन्ध निजी अथवा नैतिकता मात्र नहीं हैं। बहुधा ऐसा सोचा जाता है कि राज्य को नैतिकता और निजी अधिकारो के दृष्टिकोण से देखा जाए पर व्यक्तियो की स्थिति कुछ इस प्रकार की है कि उनसे सम्बन्धित न्यायालय इस बात का निर्णय करता है कि उनके कौनसे कार्य यथार्थ रूप से उचित हैं। राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धों को भी यथार्थ रूप से ठीक होना चाहिए, लेकिन राज्य के सम्बन्ध मे ऐसी कोई भी शक्ति नही है जो तर्क तो इस बात का निर्णय कर सके कि यथार्थत क्या ठीक है तथा दूसरे अपने निर्णय को क्रियान्वित कर सके। अत राज्य पूर्ण अधिकार-सम्पन्न है, किसी अन्य शक्ति को राज्य पर कोई

अधिकार प्राप्त नहीं है। राज्य पारस्परिक सम्बन्धों में पूर्णतः स्वतन्त्र हैं और पारस्परिक निर्णयों को केवल सामयिक और अस्थायी मानते हैं।"

हीगल के इस कथन के सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं कि राज्य एवं जातियाँ विश्व-आत्मा (World-spirit) के हाथों में अज्ञात रूप से खिलौने और उसके अंग बने हुए हैं तथा राज्य के कार्यों का अन्तिम निर्णय केवल विश्व के न्यायालयों में ही हो सकता है।

दण्ड तथा सम्पत्ति
(Punishment and Property)

कॉण्ट की भाँति हीगल भी दण्ड के प्रश्न को नैतिक दृष्टि से देखता है। उसकी मान्यता है कि किसी भी अधिकार के उल्लंघन होने पर राज्य का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपराधी को दण्डित करे। उसकी दृष्टि में दण्ड का उद्देश्य सार्वजनिक सुरक्षा नहीं है बल्कि दण्ड का अभिप्राय केवल यही है कि जिस अधिकार की अवज्ञा द्वारा जिस व्यक्ति के प्रति तथा समाज एवं न्याय-विधान के प्रति अत्याचार हुआ है, उसका बदला लिया जा सके। दण्ड समाज और अपराधी दोनों का समान अधिकार है और इसी के द्वारा दोनों को अपना उचित न्याय मिल जाता है। हीगल के अनुसार जब किसी अधिकार का अतिक्रमण हो, तो उस अधिकार की स्थापना का एकमात्र उपाय है—"प्रथम, पीड़ित व्यक्ति पर किए गए अत्याचार का सार्वजनिक निराकरण और द्वितीय, उसके माध्यम से समाज और न्याय के नियमों पर अनाधिकार चेष्टा का निराकरण।"[1]

सम्पत्ति के विषय में हीगल की मान्यता थी कि व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए इसकी आवश्यकता है क्योंकि इसके द्वारा ही व्यक्ति की इच्छा क्रियाशील रह सकती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अभाव में व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है। हीगल के अनुसार सम्पत्ति का निर्माण राज्य अथवा समाज नहीं करता प्रत्युत् यह मानव-व्यक्तित्व की अनिवार्य अवस्था है।

संविधान पर हीगल के विचार
(Hegel on Constitution)

हीगल के अनुसार संविधान कोई आकस्मिक कृति नहीं होती, बल्कि उसका निर्माण समान सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के भीतर अनेक पीढ़ियों तक निवास करने वाले जनसमूहों की आदतों के अनुपालन से होता है। अपने पूर्ववर्तियों की भाँति राज्य की सांविधानिक शक्तियों को हीगल ने भी तीन भागों में ही विभाजित किया है, पर यह विभाजन कुछ मौलिक अन्तर लिए हुए है। प्रथम, मूलभूत अन्तर यह है कि मॉण्टेस्क्यू आदि ने राज्य की तीन शक्तियाँ—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका बताई थीं जबकि हीगल के अनुसार ये तीन शक्तियाँ हैं—विधायी

1 "Public redressal of the outrage done to the individual in the first place and, through him, to the community and the Law of Justice in the second."

(Legislative), प्रशासनिक (Executive) तथा राजतन्त्रात्मक (Monarchic)। उसने अपनी व्यवस्था में न्यायपालिका को कार्यपालिका की शाखा मानते हुए उसके स्थान पर राजतान्त्रिक शक्ति का उल्लेख किया है। दूसरा मौलिक अन्तर यह है कि हीगल ने तीनों शक्तियों को एक दूसरे से स्वतन्त्र और एक दूसरे को नियन्त्रित करने वाली न मानते हुए उन्हें परस्पर पूरक और एक महान् समष्टि के अभिन्न अंग के रूप में माना है।

हीगल ने राज्य की तीनों शक्तियों में राजतन्त्रात्मक शक्ति को प्रमुख माना है क्योंकि वह राज्य में एकता उत्पन्न करती है। फ्रांस के प्राचीन राजतन्त्र के पतन तथा राज्य-क्रान्ति का सबसे बड़ा कारण यही था कि प्रशासकीय और विधायी शक्तियाँ पृथक्-पृथक् थीं। यदि व्यवस्थापिका-शक्ति कार्यपालिका की शाखा के रूप में होती और राजतन्त्रात्मक शक्ति यथार्थ में सर्वोच्च होती तो फ्रांस राज्य-क्रान्ति के पथ पर अग्रसर न होता। हीगल का विश्वास है कि सांविधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) में ही पूर्ण विवेकशीलता (Perfect Rationality) उपलब्ध हो सकती है क्योंकि इसमें राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र तीनों के तत्त्व निहित होते हैं। इस व्यवस्था में राजा एक, प्रशासन कुछ और विधान-मण्डल बहुमत का प्रतिनिधित्व करता है।

हीगल के अनुसार प्रभुसत्ता (Sovereignty) जनसाधारण को न दी जाकर राजा के हाथों में रहनी चाहिए। विधान-मण्डल में चाहे जनता का प्रतिनिधित्व हो और उसके द्वारा निर्मित कानूनों को कार्यपालिका देश में लागू करे, लेकिन उन्हें अन्तिम रूप देने का अधिकार राजा को होना चाहिए ताकि देश में एकता कायम रह सके। दार्शनिक धारणा के अनुसार सर्वाधिकार-सम्पन्नता सम्पूर्ण राज्य की सम्पत्ति है, किन्तु कार्य-रूप में इसका आशय किसी एक व्यक्ति का दृढ़ निश्चय होता है और यह व्यक्ति राजा ही हो सकता है। विधान-मण्डल में राजा, प्रशासन और प्रजा सभी सम्मिलित हैं। राजा और प्रशासन के अभाव में राज्य की एकता नहीं रह सकती।

हीगल राज्य-क्षेत्र और जनसंख्या के आधार पर विधान-मण्डल में प्रतिनिधित्व को निरर्थक समझता है, क्योंकि व्यक्ति पहले नागरिक-समाज द्वारा समर्थित एक अथवा एक से अधिक संस्थाओं का सदस्य होता है और उसके बाद ही उसका राज्य से सम्बन्ध स्थापित हो पाता है। विधान-मण्डल ही वह स्थल है जहाँ ये संस्थाएँ राज्य में संयुक्त होती हैं। हीगल का मत है कि नागरिक समाज की ओर से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों अथवा व्यावसायिक इकाइयों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, विधान-मण्डल में जनता का प्रतिनिधित्व राज्य के विविध वर्गों एवं व्यवसायियों द्वारा होना चाहिए, सीधे व्यक्तियों द्वारा नहीं। हीगल ने अपने विधान-मण्डल के एक सदन का निर्माण जमींदारों के वर्ग से किया है और दूसरे सदन का निर्माण राजा के आदेश से विविध व्यवसायों और संगठनों द्वारा चुने हुए व्यक्तियों से किया है। लकास्टर का कथन है कि हीगल की यह व्यवस्था मध्ययुगीन ब्रिटिश संसद् की

व्यवस्था में मिलती-जुलती है क्योंकि उस समय लॉर्डसभा के सदस्य बड़े जमींदार और पादरी होते थे जबकि लोकसभा में नगरों के व्यापारी, अन्य नगर-निवासी और जिलों तथा देहातों के नाइट (Knight) सम्मिलित होते थे।[1] कार्यपालिका पर हीगल ने बहुत बल दिया है। सेबाइन के शब्दों में, "वह यह आवश्यक समझता था कि विधान-मण्डल में मन्त्रियों को राज्य कर्मचारी वर्ग का, जो नागरिक समाज का नियमन करता है, प्रतिनिधित्व करना चाहिए लेकिन उसने मन्त्रियों को विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी बिल्कुल नहीं माना है। हीगल के मत से विधान-मण्डल का कार्य मन्त्रिमण्डल को परामर्श देना होना चाहिए और मन्त्रिमण्डल राजा के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। हीगल के अनुसार राजा को कोई विशेष शक्ति प्राप्त नहीं है। उसे जो भी शक्ति प्राप्त है, वह राज्य के अध्यक्ष की अपनी वैधानिक स्थिति के कारण प्राप्त है।"[2]

यह उल्लेखनीय है कि हीगल ने नागरिक समाज का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया था और राज्य के साथ उसका जो सम्बन्ध निर्धारित किया था, उससे ही उसके सांविधानिक शासन के स्वरूप का निरूपण हुआ है। हीगल के विचार से राज्य की शक्ति निरपेक्ष अवश्य है, लेकिन स्वेच्छाचारी नहीं। राज्य को अपनी नियामक शक्ति को विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए। "राज्य विवेक का प्रतीक है और विधि विवेकपूर्ण होती है। हीगल के लिए इसका अभिप्राय यह था कि सार्वजनिक सत्ता के कार्यों के बारे में पहले से भविष्यवाणी की जा सकती है क्योंकि वे ज्ञात नियमों के अनुसार संचालित होते हैं। नियम अधिकारियों की स्वविवेकी शक्तियों को मर्यादित करते हैं और अधिकारियों के पद की सत्ता को व्यक्त करते हैं, पदाधिकारी की व्यक्तिगत इच्छा अथवा निर्णय को नहीं। विधि का व्यवहार सब व्यक्तियों के साथ समान होना चाहिए। चूंकि विधि का रूप सामान्य होता है इसलिए व्यक्तिगत विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं दे सकती। निरंकुशता का तत्त्व विधि-विहीनता है और स्वतन्त्र तथा सांविधानिक शासन का तत्त्व विधि-विहीनता को दूर करता है और सुरक्षा को जन्म देता है।"[3] हीगल के स्वयं के कथनानुसार, "निरंकुशता विधि-विहीनता की वह स्थिति है जिसमें राजा अथवा जनता की निजी इच्छा विधि का रूप धारण करती है अथवा वह विधि के बावजूद महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। यह तथ्य कि राज्य में प्रत्येक वस्तु दृढ़ और सुरक्षित है, अस्थिरता तथा राजनीतिक मत के विपरीत एक तरह की प्राचीर है।"[4]

सेबाइन ने अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "हीगल का राज्य बाद की जर्मन न्यायशास्त्र की शब्दावली में एक प्रकार का रेखटाट था। उसे अपना आन्तरिक शासन बड़ा दृढ़ और कुशल रखना था, उसकी न्याय-व्यवस्था काफी मजबूत होनी थी, उसे जीवन तथा सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा करनी थी क्योंकि

1 *Lancaster* : Master of Political Thought, Vol. III, p. 54.
2-4 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 624.

हीगल इन अधिकारों को नागरिक समाज के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक समझता था। इस प्रकार हीगल के सांविधानिक शासन में उदारवाद की भांति ही वैधानिक सत्ता तथा व्यक्तिगत सत्ता में भेद किया गया था, लेकिन उसने विधि, शासन तथा लोकतन्त्रात्मक राजनीतिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध को कोई मान्यता नही दी।"[1]

हीगल के इतिहास पर विचार
(Hegal's Ideas on History)

हीगल के शब्दों में, "इतिहास मानव-आत्मा के आत्मशोध के लिए की गई एक तीर्थयात्रा (The pilgrimage of the spirit in search of itself) है।" इतिहास का मार्ग मानव विवेक द्वारा प्रशस्त होता रहता है और "विश्व इतिहास विश्व का निर्णय है" (World History is the world judgment)। निर्णय से यहाँ अर्थ है एक जाति की दूसरी जाति पर विजय जो एक जाति से दूसरी जाति में 'विश्वचेतना' के स्थानान्तरित होने का प्रमाण है। हीगल ने विश्व-इतिहास को स्वाधीनता की अनुभूति के आधार पर चार अवस्थाओं में विभक्त किया है—

1. पौर्वात्य (Orientals)
2. यूनानी (Greeks)
3. रोमन (Romans)
4. जर्मनी (Germans)

हीगल के अनुसार इतिहास की अपनी समस्याएँ होती हैं जिनके लिए उसके अपने समाधान होते हैं। बुद्धिमान लोग न इतिहास का निर्माण करते हैं और न निर्देशन, बल्कि अवश्यम्भावी घटनाओं के औचित्य के सम्मुख उन्हे भी झुकना पड़ता है। वे केवल यह समझने का प्रयास करते हैं कि कौन-सी व्यवस्था विनाशकारी है। हीगल के ही शब्दों में, "इतिहास बुद्धिमानों का पथ-प्रदर्शन करता है तथा मूर्खों को घसीटता है।"[2] इतिहास का मार्ग तथा मानव-संस्थाओं का विकास स्थायी परिवर्तनों द्वारा निश्चित होता है। सत्य और वास्तविकता के दर्शन किसी एक निश्चित घटना में उपलब्ध नही होते वरन् घटनाओं की एक दूसरे के साथ प्रतिक्रिया तथा समन्वय में प्राप्त होते हैं। इतिहास का विकास केवल संयोग का परिणाम नही है और न ही मानव-बुद्धि द्वारा उसका मार्ग निर्देशन हुआ था, अपितु वह तो स्थायी रूप से घटना की प्रतिक्रिया तथा समन्वय का परिणाम था।

हीगल के मतानुसार इतिहास का प्रवाह और मानव-समाज की व्यवस्थाओं का विकास निश्चित नियमों के अनुसार होता है। प्रकृति में जो परिवर्तन होते हैं, चाहे उनकी संख्या कितनी ही अधिक हो, उनका भी एक चक्र (Cycle) होता है जो निरन्तर चलता रहा है कोई विकास कब पूर्ण होगा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। विकास का निर्माण अनन्त परिवर्तन और क्रम के अनुसार होता है। सत्य और तथ्य किसी वस्तु विशेष में प्राप्त नही होते, अपितु इनकी पारस्परिक

1 Philosophy of the Right, Sec. 579, note 570.
2 "History leads wise men and drags the fools."

प्रतिक्रियाओं के द्वारा क्रम, व्यतिक्रम और सम्मेलन अथवा वाद, प्रतिवाद और सवाद (Thesis, anti-thesis and synthesis) के क्रम से निर्धारित मार्ग पर अंकित होते हैं।[1]

इच्छा के विषय में हीगल की कल्पना
(Hegel's Conception of Will)

हीगल ने इच्छा-सिद्धान्त रूसो से ग्रहण किया है। वह कॉण्ट की भाँति मनुष्य की इच्छा को स्वाधीन मानता है जो शुद्ध सूक्ष्म-ज्ञान का एक पक्ष होने के कारण शाश्वत, सर्वव्यापी, स्वय-चेतन तथा आत्म-निर्णायक (Eternal, Universal, Self-conscious and Self-determining) है। यही स्वतन्त्रता तथा पूर्ण इच्छा नाना प्रकार के विचारों में अभिव्यक्त होती है। इसका प्रथम रूप कानून (Law), दूसरा आन्तरिक सदाचार (Inward Morality) है और तीसरा रूप है "उन व्यवस्थाओं और प्रभावों का समूचा-क्रम जिससे राज्य में न्याय प्रसारित होता है।"[2] हीगल कानून के अन्तर्गत व्यक्तित्व (Personality), सम्पत्ति (Property) तथा संविदा (Contract) को सम्मिलित करता है। ये समस्त संस्थाएँ स्वतन्त्र इच्छा (Free Will) के ही प्रदर्शन के प्रकट रूप है। हीगल कानूनों और अधिकारों का निर्णय किसी एक निश्चित माप या स्थिर सिद्धान्त से नहीं करता वरन् इतिहास द्वारा प्रदर्शित संस्कृति और आत्म-ज्ञान के आधार पर उनकी तुलना करता है। आन्तरिक सदाचार और नैतिकता के अन्तर्गत हीगल ने "आत्म-निर्णय के उन पहलुओं पर विचार किया है जिनमें कोई व्यक्ति अपने जैसे अन्य व्यक्तियों की जागृति से प्रभावित होता है।" इच्छा को तीसरे रूप में हीगल ने 'Sittlichkeit' के नाम में पुकारा है, जिसका अभिप्राय है सामाजिक नैतिकता (Social Ethics)। इसे धार्मिक व्यवस्था, सदाचारी जीवन, रूढ़िगत नैतिकता आदि भी कहा जा सकता है। इस पहलू के अन्तर्गत हीगल ने 'सदाचार की आन्तरिकता' (Inwardness of Morality) और 'कानून की बाह्यता' (Externality of Law) का सम्मिलन किया है। इसमें प्रचलित नैतिक प्रथाएँ, रीति-रिवाज, कानून, सामाजिक स्वतन्त्रता और नैतिक इच्छा निहित है। 'Sittlichkeit' के क्रमानुगत पहलू परिवार, नागरिक समाज और राज्य हैं।

हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा
(Hegel's Conception of Freedom)

हीगल के राजनीतिक चिन्तन का सर्वाधिक विवादास्पद विषय उसका वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार है। इसकी समीक्षा करते समय पृष्ठभूमि के रूप में यह नहीं भूलना चाहिए कि जब वह अपना राजनीतिक दर्शन का निर्माण कर रहा था तब जर्मनी अनेक भागों में विभक्त था और बिखरा हुआ था। इस कारण उसने बड़े

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 621–22.
2 "The whole system of institutions and influences that make for righteousness in the State."

दुःखपूर्ण शब्दो मे जर्मनी की राजनीतिक कमजोरी का उल्लेख किया है और इसका मस्तिष्क जर्मनी को सगठित करने की वलवती भावना से भर गया। इसी कारण उसने व्यक्ति को राज्य मे आत्मसात् कर देने मे तनिक भी सकोच नही किया। हीगल इस तथ्य से पूरी तरह अवगत था कि यद्यपि जर्मनी की जनता एक स्वतन्त्र राष्ट्र बनना चाहती थी, तथापि उसने (जनता ने) यह कभी भी अनुभव नही किया कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए राज्य का निर्माण सर्वप्रथम आवश्यकता है। आधुनिक मनुष्य के लिए स्वतन्त्रता केवल राष्ट्रीय राज्य मे ही स्थित रह सकती है और केवल राज्य ही पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए परिस्थितियो का निर्माण कर सकता है। इसीलिए हीगल ने राज्य का महत्त्व जोरदार शब्दो मे घोषित किया ताकि जर्मनी एकीकृत हो सके। उसके द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता के सिद्धान्त मे यही मूल विचार निहित था।

हीगल स्वीकार करता था कि स्वतन्त्रता का नारा आधुनिक जगत् का मूल मन्त्र है। अपनी किशोरावस्था मे वह फ्रांसीसी क्रान्ति द्वारा हुई भावनात्मक उन्नति का भी अनुभव कर चुका था, उसकी मान्यता थी कि कर्त्तव्यो का पालन किए बिना आत्मसाक्षात्कार असम्भव है। फिर भी अपने "राज्य दर्शन द्वारा उसने उस मानव स्वतन्त्रता का सर्वथा हनन ही किया जिसका प्रवर्तन मिल्टन, लॉक आदि ने किया था।"

हीगल का कहना था कि पूर्व मे एक सर्वोच्च सत्ताधारी राज्य ही स्वतन्त्र था। पूर्व के लोग इस बात से अनभिज्ञ थे कि मनुष्य या आत्मा स्वतन्त्र है। यूनान मे आत्मनिष्ठ स्वतन्त्रता का उदय हुआ और रोम मे अमूर्त मान्यता की प्रधानता हुई। यूनान और रोम मे कुछ ही व्यक्ति स्वतन्त्र थे क्योकि वहाँ दास-प्रथा विद्यमान थी; किन्तु मानव-स्वतन्त्रता का उदय जर्मनी मे ही हुआ। जर्मन राष्ट्रो ने ही सर्वप्रथम यह अनुभव किया कि मनुष्य-मनुष्य के नाते स्वतन्त्र हैं।

हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ और कॉण्ट की स्वातन्त्र्य-धारणा की आलोचना—हीगल ने स्वतन्त्रता का व्यक्ति के 'जीवन का सार' मानते हुए कहा था कि—"स्वाधीनता मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है जिसे अस्वीकार करना उसकी मनुष्यता को अस्वीकार करना है। इसलिए स्वाधीन होने का अर्थ है अपने अधिकारो और कर्त्तव्यो को तिलांजलि दे देना क्योकि राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु स्वाधीनता का प्रतीक नही हो सकती।"

हीगल के अनुसार राज्य स्वय मे एक साध्य होते हुए भी स्वतन्त्रता को प्रसारित करने का एक साधन है। विश्वात्मा का सार-तत्त्व स्वतन्त्रता ही है और स्वतन्त्र चेतना की प्रगति ही विश्व का इतिहास है। जर्मन जाति को ही सर्वप्रथम इस चेतना की अनुभूति हुई कि मनुष्य एक मनुष्य के नाते स्वतन्त्र है।

स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा को हीगल ने रूसो (Rousseau) और कॉण्ट (Kant) से ग्रहण किया था, किन्तु उसका रूप बहुत कुछ मौलिक है। उसने कॉण्ट की स्वतन्त्रता को नकारात्मक, सीमित और भ्रामक (Negative, Limited

and Subjective) मानते हुए यह भी स्वीकार किया है कि राजनीतिक क्षेत्र मे व्यक्तिवादी सिद्धान्त श्रेष्ठ है । राज्य आन्तरिक रूप से व्यक्तिवादी नही है। स्वतन्त्रता अधिक विधेयात्मक और वस्तुपरक (More positive and objective) है।

हीगल के मतानुसार कॉण्ट की स्वतन्त्रता की धारणा नकारात्मक इसलिए है, क्योंकि उसमे आचरण की स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान नहीं है । कॉण्ट के लिए स्वतन्त्रता बुद्धि के नियम का पालन करने में है । बुद्धि का नियम मनुष्य के अन्तर्जगत मे विद्यमान रहता है, अत स्वतन्त्रता एक मनोदशा है जिसकी अभिव्यक्ति यथार्थ जीवन मे नही होती । सच्ची स्वतन्त्रता विधेयात्मक होती है । सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग करते समय व्यक्ति यह अनुभव करता है कि आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो रही है ।

हीगल कॉण्ट की स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारधारा को व्यक्तिवादी एवं सीमित मानता है । कॉण्ट की स्वतन्त्रता व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धो को कोई महत्त्व नहीं देती । कॉण्ट के अनुसार व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग समाज के बाहर रहकर ही कर सकता है । वह व्यक्ति को साध्य मानता है । किन्तु हीगल इससे असहमत होते हुए कहता है कि स्वतन्त्रता एक सामाजिक तथ्य है । कॉण्ट कहीं भी जोर नही देता है कि "सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति समाज की भौतिक और कानूनी सस्थाओ मे भाग लेने से ही हो सकती है, जबकि हीगल की मान्यता है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति समाज के नैतिक जीवन मे भाग लेने से ही सम्भव है ।" वह व्यक्ति एव समाज मे समन्वय स्थापित करता है । उसकी मान्यता के अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे कोई स्वतन्त्रता नही हो सकती । इस सम्बन्ध मे सेबाइन (Sabine) का कथन है—

"हीगल की रचनाओ का थोडा बहुत अश ही इतना ज्ञानवर्द्धक है जितना उसका यह प्रमाण कि आर्थिक आवश्यकताएँ सामाजिक होती हैं, उनमे और केवल शारीरिक आवश्यकताओ मे विभेद होता है, प्रथा और कानून स्पष्ट रूप से मानवीय तथा सामाजिक होते हैं और अधिकार एव कर्त्तव्य एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध होते हैं तथा वे वैधानिक प्रणाली के अन्तर्गत हैं । हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा मे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सभ्यता व्यक्ति की आत्म-अभिव्यक्ति को दमन करने वाली नही है । सामाजिक शक्तियाँ वे माध्यम हैं जिनके द्वारा उसके व्यक्तित्व का विकास होता है । व्यक्ति के विकास के लिए किसी न किसी प्रकार के सामुदायिक जीवन मे भाग लेना आवश्यक है और शिक्षा एव सस्कृति सामान्यतया स्वतन्त्रता के साधन हैं ।"

'स्वतन्त्रता' के बारे मे हीगल और कॉण्ट की तुलना से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(क) हीगल स्वतन्त्रता की एक अधिक विधेयात्मक एव तथ्य-प्रधान परिभाषा प्रस्तुत करता है जो कॉण्ट से अधिक सामाजिक है ।

(ख) कॉण्ट के अनुसार स्वतन्त्रता एक मनोदशा है जिसका तथ्य-प्रधान सामाजिक जगत से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है । इसकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति यथार्थ

जीवन मे नहीं होती। हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता का उपभोग करते समय मनुष्य यह समझता है कि वह आत्म-ज्ञान प्राप्त कर रहा है। उसके मत मे स्वतन्त्रता का मूल तत्त्व मनुष्य के अन्त.करण मे न होकर सामाजिक सस्थाओ मे रहता है। उसकी स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति यथार्थ जगत मे होती है।

कॉण्ट के विरुद्ध हीगल इस तथ्य पर बल देता है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अनुभूति सामाजिक क्षेत्र में भाग लेने पर ही हो सकती है।

कॉण्ट और हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा मे मूलभूत अन्तर यही है कि कॉण्ट के लिए विवेक व्यक्ति के अन्त.करण मे निहित है और हीगल के लिए इसका साकार रूप राज्य है और यह उसके कानूनो के रूप मे अभिव्यक्त होता है। वैसे दोनों ही इस बात पर पूर्ण रूप से सहमत हैं कि स्वतन्त्रता केवल बन्धन का अभाव नही है अपितु स्व-निर्णय की शक्ति है और उसकी स्थिति (स्वतन्त्रता) बुद्धि अथवा उच्चतर आत्मा द्वारा नियन्त्रित होने मे है।

हीगल की स्वतन्त्रता सामाजिक जीवन में सम्भव है—हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता सामाजिक है जिसकी प्राप्ति सामाजिक कार्यों मे भाग लेने से होती है। समाज और व्यक्ति के सहयोग के बिना कोई स्वतन्त्रता सम्भव नही है। सेबाइन (Sabine) के शब्दो मे, "हीगल का विश्वास था कि स्वतन्त्रता को एक सामाजिक व्यवहार समझना चाहिए। वह उस सामाजिक व्यवस्था की एक विशेषता है जो समुदाय के नैतिक विकास के आधार पर उत्पन्न होती है। वह व्यक्तिगत प्रतिभा की चीज नहीं है। वह तो एक प्रकार की स्थिति है जो व्यक्ति को समुदाय की नैतिक और वैधानिक सस्थाओ के माध्यम से प्राप्त होती है, अतः उसे स्वेच्छा अथवा व्यक्तिगत प्रवृत्ति नही माना जा सकता। स्वतन्त्रता व्यक्तिगत इच्छा और व्यक्तिगत क्षमता को महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य के निष्पादन मे लगा देने मे है।"[1] प्लेटो और अरस्तू की भांति हीगल का भी स्वतन्त्र नागरिक विषयक सिद्धान्त व्यक्तिगत अधिकारो पर नही, बल्कि सामाजिक कार्य पर आधारित था। हीगल का विचार था कि "आधुनिक राज्य मे ईसाई आचार से नागरिकता के विकास के व्यक्तिगत अधिकार और सार्वजनिक कर्त्तव्य के बीच ऐसा पूर्ण सश्लेषण स्थापित हो जाता है जैसा दासता पर आधारित समाज मे कभी सम्भव नही था। आधुनिक राज्य मे सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं। राज्य की सेवा करके वे उच्चतम आत्मसिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं। व्यक्तिगत नकारात्मक स्वतन्त्रता के स्थान पर राज्य मे नागरिकता की वास्तविक स्वतन्त्रता स्थापित होती है।"

हीगल का मत है कि आदर्श राज्य के आदर्श कानूनों का पालन करने मे ही स्वतन्त्रता निहित है क्योकि राज्य स्वतन्त्रता की सर्वोच्च और सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। स्वतन्त्रता का विकास आत्मा का विकास है और आत्म-चेतना की प्राप्ति राज्य मे ही सम्भव है, इसीलिए राज्य स्वतन्त्रता की उच्चतम अभिव्यक्ति होना चाहिए।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 616.

राज्य पूर्णतः विवेकशील है। इसकी एकता इसकी प्रेरणा और ध्येय है। इसी ध्येय में स्वतन्त्रता उच्चतम अधिकार प्राप्त करती है। व्यक्ति पर इस ध्येय का उच्चतम अधिकार होता है और व्यक्ति का सर्वोच्च कर्त्तव्य राज्य का सदस्य होना है। व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक हितों में कोई अन्तर नहीं है। व्यक्ति स्वतन्त्रता को तभी प्राप्त करता है जब वह आदर्श राज्य के आदर्श नियमों का पालन करे। वह उसी सीमा तक स्वतन्त्रता की प्राप्ति कर सकता है जिस सीमा तक वह अपने आपको राज्य और उसकी संस्थाओं में अभिव्यक्त आत्मा के साथ एकरूप कर लेता है। इस तरह व्यक्ति की स्वतन्त्रता राज्य के उद्देश्य को ही अपना उद्देश्य समझने में है। इसी प्रकार व्यक्ति नैतिक गरिमा और स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। राज्य की सेवा में स्वयं को खपा देने पर और राज्य के उद्देश्य को अपना उद्देश्य समझने पर ही व्यक्ति को विश्वास हो सकता है कि उसकी इच्छा विवेकपूर्ण है। व्यक्ति की बुद्धि अपूर्ण और उसकी वासनाओं और भावनाओं से पराभूत हो सकती है। विवेकहीन वासनाओं और कामनाओं की दासता से स्वतन्त्रता प्राप्त करने का केवल एक ही मार्ग है और वह है राज्य के सामने स्वेच्छापूर्वक आत्म-समर्पण कर देना जिसमें विशुद्ध बुद्धि की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है।[1]

हीगल की मान्यता है कि "मानव हृदय में स्वतन्त्रता की जो सर्वोत्कृष्ट कल्पना है, उसी का साकार रूप राज्य है।" राज्य के बिना स्वतन्त्रता की भावना कभी सिद्ध नहीं होगी। हीगल का तर्क इस प्रकार है—"स्वतन्त्रता विवेकयुक्त आदेश का पालन करने में है, पर एक व्यक्ति का विवेक सदा ही विश्वसनीय नहीं होता। कभी-कभी वह तत्कालीन और अस्थाई कारणों से प्रभावित हो जाता है और किसी विशिष्ट हित की ओर झुक जाता है। किन्तु राज्य के कानूनों द्वारा व्यक्त विवेक में ये दोष नहीं होते। यह सार्वभौम होता है, विशिष्ट नहीं। अतः सच्ची स्वतन्त्रता राजकीय कानूनों का पालन करने में ही है। व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग कल्पित प्राकृतिक अवस्था की अपेक्षा राज्य के सदस्य के रूप में अधिक वास्तविक रूप में करता है।" राज्य कभी प्रतिनिध्यात्मक रूप में कार्य नहीं कर सकता। राज्य जो कुछ भी करता है, वह सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति होती है और इस प्रकार वह प्रत्येक व्यक्ति की वास्तविक इच्छा के अनुकूल होती है, यहाँ तक कि जब चोर जेल की ओर ले जाया जाता है तो राज्य का यह कार्य उसकी वास्तविक इच्छा के अनुसार ही होता है। वह जेल जाने से अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है। स्वतन्त्रता राज्य के नियमों का पालन करने में है। स्वतन्त्रता और कानून एकरूप हैं।

क्या हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा भ्रान्ति है?

हीगल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों से यह धारणा उत्पन्न हुई है कि हीगल के हाथ में पड़कर स्वतन्त्रता एक भ्रान्ति मात्र रह गई है क्योंकि उसके द्वारा प्रतिपादित राज्य में व्यक्ति वस्तुतः स्वतन्त्र नहीं, अपितु दास है। हीगल व्यक्ति पर राज्य के

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 616.

सार्वभौम नियन्त्रण को लाद देता है और अन्ततः उसका सिद्धान्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विपरीत हो जाता है। इस धारणा के पीछे, कि हीगल व्यक्ति को राज्य का दास बना देता है, निम्नलिखित कारण हैं—

1. हीगल के अनुसार राज्य एक सर्वशक्तिमान समुदाय है और कोई भी व्यवस्था राज्य की शक्ति को मर्यादित नहीं कर सकती यहाँ तक कि विधि द्वारा शासन की स्थापना करने वाला संविधान भी राज्य की सर्वोच्च शक्ति को अल्पमात्र भी सीमित नहीं कर सकता।

2. हीगल राज्य के विरुद्ध नागरिकों के किन्हीं अधिकारों की कल्पना नहीं करता और राज्य को सदैव व्यक्ति की यथार्थ इच्छाओं के ऊपर मानता है। भाषण और लेखन की स्वतन्त्रता, जनता द्वारा अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन और स्वयं विधि-निर्माण के अधिकारों का आज स्वतन्त्रता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध समझा जाता है, लेकिन हीगल इन अधिकारों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए स्वीकार नहीं करता। उसके मतानुसार तो राज्य के कानून प्रत्येक दशा, प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक रूप में वैयक्तिक बुद्धि से उच्चतर हैं तथा व्यक्तियों के सामने इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है कि वे उन कानूनों का पालन करें और राज्य के आदेश के समक्ष अपना पूर्ण आत्म-समर्पण कर दें। हीगल राज्य के विरुद्ध क्रान्ति के अधिकार को अस्वीकार करता है और ऐसी किसी भी परिस्थिति का उल्लेख नहीं करता जिसमें राज्य की अवज्ञा करना उचित हो।

3. हीगल ने राज्य और उसके सदस्यों के हितों में विरोध की किसी भी कल्पना को अपनी विचारधारा में स्थान नहीं दिया है।

4. हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा में 'व्यक्ति' शब्द के अर्थ को समझने में भूल की गई है।

5. राज्य में व्यक्ति को अत्यन्त हीन स्थान देने के आरोप के पीछे एक कारण हीगल की यह मान्यता है कि व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों के पालन में है। जनता कानूनों का निर्माण नहीं करती बल्कि उन्हें गत पीढ़ियों से प्राप्त करती है।

आलोचकों ने उपर्युक्त कारणों के आधार पर ही हीगल की स्वतन्त्रता को एक भ्रांति माना है। उनका आरोप है कि हीगल ने आदर्श एवं यथार्थ राज्यों के भेद को ठीक तरह से न समझ कर राज्य के कानूनों और स्वतन्त्रता को एक मान लिया है। हीगल कानूनों को जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं मानता जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि बलपूर्वक लादे गए कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अभिव्यक्ति नहीं कर सकते।

किन्तु ये सब आरोप लगाते समय आलोचक भूल जाते हैं कि हीगल राज्य को व्यक्ति पर ऊपर से थोपी हुई सत्ता नहीं समझता, वरन् उसका विश्वास है कि राज्य स्वयं 'व्यक्ति' के ही सर्वोत्तम रूप को व्यक्त करता है। 'व्यक्ति' की सच्ची आत्मा ही राज्य के रूप में प्रकट होती है और राज्य की अधीनता स्वीकार करने में

वह अपनी ही आत्मा की अधीनता स्वीकार करता है। हीगल ने राज्य की आत्मा में व्यक्ति की उच्चतर इच्छाओं के दर्शन किए हैं। व्यक्ति की इच्छाओं तथा राज्य की इच्छाओं में संघर्ष नहीं है क्योंकि दोनों में एक ही आत्मा का निवास है। एक का विकसित रूप दूसरे में निहित है। अतः इस दृष्टि से यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि हीगल के विरुद्ध यह आरोप कि वह व्यक्ति को राज्य का पूर्ण दास बना देता है, उचित नहीं है। उनके सिद्धान्त को समझने में भ्रांति होने के कारण ही उसके विरुद्ध ऐसा आक्षेप लगाया जाता है। लेकिन जब यह समझ लिया जाता है कि राज्य व्यक्ति के सर्वोत्तम रूप को ही अभिव्यक्त करता है और राज्य के समक्ष जिस चीज का बलिदान किया जाता है वह व्यक्ति का मात्र स्वार्थपूर्ण एवं क्षणिक तत्त्व है तो आलोचना शिथिल पड़ जाती है फिर यह भी उल्लेखनीय है कि "वह राज्य जिसे हीगल ने 'पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण' कहा है कोई यथार्थ जर्मनी या इटली का राज्य, अथवा और कोई विशिष्ट ऐतिहासिक राज्य नहीं है, बल्कि यह एक विचार-जगत् का राज्य है जिसका किसी देश और काल में कहीं अस्तित्व नहीं था। ऐसे पूर्ण राज्य में व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान किए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।" हीगल जैसा आदर्श राज्य इस यथार्थवादी विश्व में उपलब्ध नहीं है। पुनश्च, इस तथ्य को ओझल कर देना हीगल के प्रति अन्याय होगा कि राज्यविहीन दशा में स्वतन्त्रता की कल्पना करना कठिन है। राज्यविहीन दशा अराजकता की दशा होगी जिसमें स्वतन्त्रता के स्थान पर उच्छृङ्खलता का साम्राज्य होगा। व्यक्ति को सच्ची स्वतन्त्रता तो राज्य ही प्रदान करता है। हीगल के लिए राज्य का उद्देश्य मूल रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र विस्तृत करना है, न कि उसे सीमित करना।

हीगल के बचाव पक्ष में इतना कहने पर भी यह नहीं भुलाया जा सकता कि हीगल के राज्य की कल्पना एक निरंकुश, सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक राज्य की कल्पना है जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अस्तित्व तभी सम्भव होगा जब वह राज्य के आदेशों का आँख मींच कर पालन करे। हीगल व्यक्तिगत निर्णय को कोई महत्त्व नहीं देता, चाहे वह कितना ही समझ-बूझकर किया गया हो। वह कर्त्तव्य को केवल आज्ञा-पालन मात्र समझता है। उसके लिए श्रेष्ठ नागरिकता का अभिप्राय वर्तमान स्थिति को स्वीकार करना अर्थात् सरकार द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना है। अपने अधिकार-दर्शन ग्रन्थ (Philosophy of Right) की भूमिका में हीगल ने राज्य की आलोचना को राजनीतिक दर्शन का अधिकार क्षेत्र नहीं माना है। सेबाइन के मतानुसार "हीगल द्वारा प्रदत्त राज्य की आध्यात्मिक सर्वोच्चता तथा वास्तविक सरकार के राजनीतिक कार्यों में किसी प्रकार का उचित तारतम्य नहीं मालूम पड़ता। हीगल के स्वतन्त्रता-सिद्धान्त में किसी भी प्रकार की नागरिक अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रताओं का समावेश नहीं है।"[1]

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 619.

हीगल के राज्य और स्वतत्रता सम्बन्धी विचार उसके दर्शन की आलोचना के प्रसग मे और भी अधिक स्पष्ट हो सकेंगे।

हीगल के दर्शन की आलोचना
(*Criticism of Hegelian Philosophy*)

हीगल ससार का महानतम् दार्शनिक माना जाता है और कहा जाता है कि अपने दार्शनिक चिन्तन मे उसने अन्तिम सत्य को प्राप्त कर लिया था, किन्तु कुछ अन्य विचारको द्वारा उसके दर्शन की कटुतम आलोचना की गई है।

1 हीगल का द्वन्द्ववाद बहुत अस्पष्ट है। उसकी तर्क प्रणाली दूषित और अत्यन्त दुरूह है। असगत तथ्यो को मनमाने ढग से तर्क-सम्मत बताया गया है और अनेक पारिभाषिक शब्दो का ऐसा अस्पष्ट प्रयोग किया गया है कि उनका कोई उपयोग ही नही रहा है। उसकी स्वेच्छाचारिता तथा अवैज्ञानिकता ने हीगल की पद्धति को बहुत ही बोझिल और क्लिष्ट बना दिया है। उसके द्वन्द्ववाद के प्रमुख उपकरण 'ऐतिहासिक आवश्यकता' को पूर्णतः स्वीकार करना कठिन है क्योकि उसने इतिहास मे जिस आवश्यकता का दर्शन किया है, वह भौतिक व्यवस्था भी है और नैतिकता भी। जब उसने कहा कि जर्मनी के लिए एक राज्य का रूप ग्रहण करना आवश्यक है तो उसका आशय था कि सभ्यता और राष्ट्रीय जीवन के हित की दृष्टि से यह अपेक्षित है और कुछ ऐसी आकस्मिक शक्तियाँ भी हैं जो उसे इस ओर प्रेरित कर रही हैं। द्वन्द्वात्मक पद्धति मे इस प्रकार नैतिक निर्णय तथा ऐतिहासिक विकास कि आकस्मिक नियम की सम्मिलित खिचडी पकाई गई है। नैतिक निर्णय, आवश्यकता और भेद का आधार अस्पष्ट है।

2. हीगल के द्वारा समाज और उसकी व्यवस्थाओ की व्याख्या करने के लिए द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का प्रयोग अनुपयुक्त और असफल सिद्ध हुआ है। आत्मा सबधी दार्शनिक विचारधारा मे उसने कला को 'वाद', धर्म को 'प्रतिवाद' और दर्शन को 'सवाद' या 'सश्लेषण' माना है। पर धर्म को कला के विरुद्ध मानने और कला तथा दर्शन के सम्बन्ध को जीवाणु और जाति के सम्बन्ध जैसा बताने की बात समझ मे नहीं आती। केटलिन (Catlin) के अनुसार, "जीवन के अनुभवो को वाद, प्रतिवाद और सवाद के अनुसार वर्गीकृत करना एक मनोरजक मानसिक व्यायाम है। द्वन्द्ववाद मानसिक व्यायाम के रूप से महत्त्वहीन नही है, किन्तु विवेचन-सिद्धान्त (Interpretative Principles) के रूप मे अविश्वसनीय है।"[1]

3 हीगल ने अपने द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा राज्य की निरकुशता को प्रकट किया है। इस पद्धति का प्रयोग यह सिद्ध करने के लिए किया गया है कि राज्य दैविक प्रज्ञा (Divine Reason) की सर्वोच्च और सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है, अत. इसे सम्पूर्ण राष्ट्रीय विकास का उद्देश्य माना जाना चाहिए। हीगल ने तो द्वन्द्व और राज्य आदर्शीकरण मे एकरूपता लाने का प्रयत्न किया, लेकिन बाद मे कार्ल मार्क्स के दोनों

1 *George Catlin* : A History of the Political Philosophies.

को पृथक् कर दिया। उसने द्वन्द्ववाद को अपनाते हुए हीगल से एक सर्वथा भिन्न परिणाम निकाला। मार्क्स के हाथों में यह समाज के एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण और दास बनाने के यन्त्र में राष्ट्रीय राज्य के विरोध का आधार बन गया।

4 हीगल चरम राष्ट्रीयतावादी दार्शनिक था जिसने व्यक्ति तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का राज्य की वेदी पर बलिदान कर दिया। वह एक सर्वशक्तिमान निरंकुश राज्य का पुजारी था। बार्कर के शब्दों में उसने "राष्ट्रीय राज्य को एक रहस्यात्मक स्तर (To a mystical height) तक पहुँचा दिया है।"[1] सत्रहवीं शताब्दी के दार्शनिकों ने राजाओं के दैवी अधिकार की बात कही थी, लेकिन हीगल ने राज्य के दैवी अधिकार की स्थापना की। हीगल का सर्वाधिकारवादी राज्य (Totalitarian State) जनतन्त्र के साथ मेल नहीं खाता। आइवर ब्राउन (Ivor Brown) के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से हीगल के सिद्धान्त का आशय है मानसिक दासता, दैहिक अधीनता, अनिवार्य सैनिक भर्ती, राष्ट्रीय हितों के लिए युद्ध, शान्तिकाल में लेवियाथन दैत्य की और युद्ध-काल में 'मलोक' (Maloch) की उपासना।[2] आलोचकों ने हीगल को 20वीं शताब्दी की दो बड़ी सर्वाधिकारवादी विचारधाराओं-फासीवाद और साम्यवाद का मूल स्रोत माना है। ऐबेंसटीन (Ebenstein) का आरोप है कि "हीगल ने शक्ति और नैतिकता को अभिन्न बना दिया है।"[3]

5. हीगल ने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को तोड़-मरोड़ कर 'स्वतन्त्रता' को 'आज्ञाकारिता' का रूप दे दिया है और इसी प्रकार समानता के सिद्धान्त को विकृत कर 'अनुशासन' का पर्यायवाची बना दिया है। उसने व्यक्ति के व्यक्तित्व के सिद्धांत को परिवर्तित कर मनुष्यों को दैवी शक्ति की प्रवाहिका नलिका बनाकर उन्हें राज्य में आत्मसात् कर दिया है। जोड (Joad) के शब्दों में, "राज्य का निरपेक्ष सिद्धांत व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु है क्योंकि जब भी व्यक्ति और राज्य में कोई संघर्ष होता है तो इसके अनुसार राज्य ही सही होना चाहिए।" हीगल किसी भी दशा में राज्य के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार प्रदान नहीं करता।

राज्य और स्वतन्त्रता के बारे में हीगल पर आरोपों की जो बौछार की गई है, उसके बावजूद हीगल के बचाव में यह कहा जा सकता है कि उसने राज्य और व्यक्ति को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा नहीं किया है बल्कि राज्य की आत्मा में व्यक्ति की उच्चतर इच्छाओं के दर्शन किए हैं। एक का विकसित रूप दूसरे में निहित है, अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता कि व्यक्ति राज्य का दास है। हीगल के अनुसार राज्य की शक्ति निरपेक्ष तो है, लेकिन मनमानी नहीं है। राज्य विवेक का प्रतीक है। उसके कानून विवेकपूर्ण होते हैं। नियम राज्य के अधिकारियों की स्वविवेक पर आधारित शक्तियों को मर्यादित करते हैं और अधिकारियों के पद की सत्ता को व्यक्त

1 *Barker* : Political Thought in England, p. 20-21.
2 *Ivor Brown* : English Political Theory, p. 145.
3 *Ebenstein* : Great Political Thinkers, p. 595.

करते हैं, न कि उनकी व्यक्तिगत इच्छा अथवा निर्णय को। निरकुशता का तत्व विधि-विहीनता और हीगल के स्वतत्र एव सांविधानिक शासन का तत्व इस विधि-विहीनता को दूर कर सुरक्षा को जन्म देता है। हीगल की दृष्टि मे राज्य व्यक्ति पर कोई बाहर से थोपी हुई सत्ता नही है बल्कि व्यक्ति की आत्मा है। राज्य व्यक्ति के सर्वोत्तम रूप की अभिव्यक्ति है। राजाज्ञा पालन करने मे व्यक्ति स्वय अपनी ही आज्ञा का पालन करता है। हीगल की दृष्टि मे राज्य मूल रूप से व्यक्ति की स्वतत्रता का क्षेत्र विस्तृत करने के लिए है, सीमित करने के लिए नही। हीगल के सिद्धान्त के सत्य को यह कहकर ठुकरा देना उचित नही है कि यथार्थ राज्य हीगल के आदर्श राज्य से बहुत दूर है और हीगल का सिद्धान्त कल्पना-जगत् मे ही सही हो सकता है, व्यावहारिक जगत् मे उसे लागू नही किया जा सकता। हमे यह ध्यान मे रखना होगा कि किसी भी विचार अथवा नियम को इसी आधार पर गलत नही कहा जा सकता कि यथार्थ जीवन मे दिखाई नही देता। गति के प्रथम नियम को किसी ने इस आधार पर नही ठुकराया कि वास्तविक जीवन मे उसका पूर्ण रूप दृष्टिगोचर नही होता। हीगल का सिद्धान्त इस आधारभूत सत्य की ओर सकेत करता है कि मनुष्य की सामाजिक नैतिकता, जिसकी अभिव्यक्ति राज्य की विधियो द्वारा होती है, राज्य की विधि के अनुकूल आचरण मे है। यह भी स्मरणीय है कि हीगल राज्य के कानूनो का निष्कर्ष रूप से पालन करने को स्वतत्रता नही मानता बल्कि वह कहता है कि अपनी स्वतत्रता की अनुभूति के लिए उन्हे स्वेच्छा से राजाज्ञाओ का पालन करना चाहिए, अन्यथा यह आत्म-निर्णय नही होगा। हीगल का दोष यही है कि वह व्यक्ति के राज्य की अवज्ञा के अधिकार को स्वीकार नही करता और उसका सिद्धान्त जीवन के तथ्यो पर लागू नही होता।

सेबाइन ने अपने ग्रन्थ 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास' मे एक स्थान पर लिखा है कि—

"हीगल का विश्वास था (यद्यपि उसने अपने इस विश्वास को कही स्पष्ट रूप से व्यक्त नही किया है) कि आधुनिक सांविधानिक शासन भूतकाल के किसी भी शासन की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वतत्रता का अधिक आदर करता है और वह व्यक्ति के आत्म-निर्णय के अधिकार को अधिक महत्त्व देता है। इसका अभिप्राय यह भी निकलता है कि मनुष्य के अधिकारो का सम्मान किया जाना चाहिए। लेकिन यह विश्वास कि मनुष्य का मनुष्य के नाते मूल्य है, इस विश्वास से मेल नहीं खाता कि उसके नैतिक निर्णय केवल मन की तरगें हैं अथवा उस का महत्त्व समाज मे उसकी स्थिति के कारण है तथा ऐसे समाज का नैतिक साध्य राष्ट्रीय राज्य द्वारा प्राप्त किया जाता है।"

पुनश्च, "इसी प्रकार का अनिश्चय और भ्रम हीगल के इस विश्वास मे निहित है कि राज्य उच्चतम नैतिक मूल्यो को व्यक्त करता है। हीगल ने इस प्रश्न का आध्यात्मिक आधार पर समाधान करने का प्रयास किया था। यह बात आध्यात्मिक पर आधार भी स्पष्ट नही है कि एक राज्य, जो विश्वात्मा की केवल एक अभिव्यक्ति

है, कला और धर्म के समस्त मूल्यों को किस प्रकार व्यक्त कर सकता है अथवा इन मूल्यों के एक राष्ट्रीय संस्कृति से दूसरी राष्ट्रीय संस्कृति मे स्थानान्तर की किस प्रकार व्याख्या कर सकता है। हीगल के कला और धर्म के बारे मे वक्तव्य बड़े असगत थे। कभी-कभी वह उन्हें राष्ट्रीय अन्तरात्मा की सृष्टि मानता था, किन्तु वह ईसाई धर्म को न तो किसी एक राष्ट्र का परमाधिकार समझता था, न उसका यह विश्वास था कि कला और साहित्य सदैव राष्ट्रीय ही होते हैं। दूसरी ओर उसके दृष्टिकोण से ऐसा कोई सामान्य यूरोपीय या मानव समाज भी नहीं था जिससे उनका सम्बन्ध हो सकता था, क्योंकि राज्य के बिना आधुनिक संस्कृति व परम्परा विरोधाभास मात्र है। इस भ्रम का कारण शायद यह है कि हीगल के पास विशुद्ध राजनीतिक धरातल पर और चर्चों के सम्बन्धो के बारे मे अथवा अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता के बारे मे कहने के लिए कोई खास बात नही थी।"[1]

6. हीगल ने विश्व-इतिहास एवं दैवी-शक्ति दोनों की ही व्याख्याएँ किसी एक विशिष्ट उद्देश्य के समर्थन के लिए की हैं, अतः इन्हें निष्पक्ष व्याख्या नही माना जा सकता। हीगल अपनी व्याख्याओं द्वारा जर्मनी के गौरव में अभिवृद्धि करना चाहता था।

7. हीगल राज्य एव समाज मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं मानता। राज्य की निरंकुशता का प्रतिपादन करने की झोंक मे वह दोनों को एक मानने की भूल कर बैठा है। उसने यह समझने का प्रयत्न ही नही किया है कि राज्य और समाज दो भिन्न इकाइयाँ हैं और उनमे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यदि दोनों मे यह भेद न रहे तो जनता का निकृष्ट प्रकार के राज्य की स्वेच्छाचारिता से दमन हो जाना, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट हो जाना और राज्य को मानव जीवन के प्रत्येक पहलू पर नियन्त्रण प्राप्त हो जाना अवश्यम्भावी है।

8. हीगल का राष्ट्रीय-राज्य का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय आचार (International ethics) की सीमा का उल्लघन है। हीगल की दृष्टि मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल परम्परा मात्र है जिन्हे कोई प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य इच्छानुसार स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राज्य पर वह किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को अस्वीकार करता है। उसकी मान्यता है कि जो भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं वे अल्पकालीन होते हैं, यहाँ तक कि सन्धियाँ तक परिवर्तनशील होती हैं। जोड (Joad) के अनुसार, "हीगल का राज्य-सिद्धान्त सैद्धान्तिक रूप से गलत और तथ्यो के विपरीत है एव परराष्ट्र नीति के क्षेत्र मे वर्तमान राज्यो के सिद्धान्त-विहीन कार्यों को इससे मान्यता मिल सकती है।"[2]

वास्तव मे हीगल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के विचार अराजकता की सीमा को छूते हैं। हीगल की विचारधारा के आधार पर राज्य अपने अनैतिक एव सिद्धान्तहीन कार्यों को भी नैतिकता और औचित्य का बाना पहना सकते है। परराष्ट्र

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 668.
2 Joad : Modern Political Thought, p 17.

नीति के क्षेत्र मे राज्यो के सिद्धान्तहीन कार्यों को मान्यता प्राप्त होने का अनिवार्य परिणाम विश्व-शान्ति और सहयोग का गला घोंट देना है। ऐसी किसी भी धारणा को स्वीकार करने का अर्थ स्पष्ट ही विनाश और अशान्ति को निमन्त्रण देना है। यह ठीक है कि राज्य की सुरक्षा सर्वोच्च है, लेकिन इसका समर्थन करने के लिए ऐसी धारणा को जन्म देना उचित नहीं कहा जा सकता, जिससे राज्य की इच्छा को सीमित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून और सदाचार आदि के अस्तित्व का ही चुनौती दे दी जाए। हीगल युद्ध का पुजारी है और युद्ध को एक अनिवार्यता मानता है। वह युद्ध को मानव-सभ्यता के विकास एवं राज्य की सर्वोच्च शक्ति का परिचय देने के लिए एक परम उपयोगी साधन बतलाता है। उसका युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपेक्षा की शिक्षा देने वाला सिद्धान्त मृत्यु, विनाश एवं संहार की ओर ले जाने वाला है। सच्चाई तो यह है कि उसका सिद्धान्त जीवन की यथार्थताओं से बहुत दूर दार्शनिक कल्पना का एक अंश है।

9. "बोसांके तथा ब्रैडले को छोड़कर अन्य अंग्रेजो विचारकों पर हीगलवाद का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। यह वाद उनके राजचिन्तन की पद्धति का खण्डन करता है और उनके अत्यधिक प्रसिद्ध राज्य सम्बन्धी प्रयोगों को हेय दृष्टि से देखता है। वे इसे व्यर्थ तथा घातक मानते हैं। कुछ अंग्रेजों का विचार है कि इसका अन्त कर देना चाहिए। हॉबहाउस ने अपनी पुस्तक 'दी मैटाफिजिकल थ्योरी ऑफ दी स्टेट' (The Metaphysical Theory of the State) में हीगलवाद को जर्मनी का लन्दन की विजय के लिए जैपलिस (Zeppelins) द्वारा फेंका गया बम मानता है। उसके अनुसार यह कुछ ऐसी चीज है जिसका प्रभाव युद्धो से कहीं अधिक होता है।"[1]

10. "हीगल के कानून तथा तर्क सम्बन्धी विचार उलझे हुए हैं। उसका तर्क-सिद्धान्त तर्कशास्त्र का कोई नया सिद्धान्त नहीं है। उसके तर्क-सम्बन्धी मतभेद एक दूसरे के उतने ही विरोधी हैं जितने दण्ड और अपराध। जो सिद्धान्त हीगल के अनुसार राज्य को देवता बताता है, और मार्क्स के अनुसार उसी राज्य को राक्षस, वह अधिक मूल्यवान नहीं हो सकता। हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार 18वीं शताब्दी मे प्राकृतिक नियम का सिद्धान्त इसलिए प्रसिद्ध हुआ कि वह सभी मनुष्यों को प्रकृति द्वारा मनमाने न्याय के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने (Deduce) की आज्ञा देता था, उसी प्रकार 19वीं तथा 20वीं शताब्दी मे तर्कवाद या हीगलवाद इसलिए लोकप्रिय हुआ कि इसने मनुष्यों को इतिहास मे राज्य के मानव-सम्बन्धी सामान्यतया स्वीकृत सिद्धान्तों के उपकलन की अनुमति दे दी।"[2]

11. हीगल एक जादूगर की भाँति अपने जादुई डण्डे से चीजों को देखते-देखते बदल देता है। वह कहता है कि विज्ञान का उद्देश्य वस्तुपरक (Objective) है और बाद में फिर कहता है 'राज्य को बाह्य राज्य की रक्षा करनी चाहिए।' इसके अतिरिक्त वह स्वतन्त्रता तथा आज्ञा-पालन मे समानता स्थापित करता है।

1-2 वेपर : वही, पृष्ठ 190-92.

साथ ही वह समानता का तादात्म्य अनुशासन से भी करता है। व्यक्तियों को वह दैवी शक्ति के हाथ की कठपुतली मानता है। इस प्रकार स्वतन्त्रता, समानता तथा व्यक्ति, सभी का उसके जादुई डण्डे ने विलोप कर दिया।[1]

12. हीगल का राजदर्शन आवश्यकता से अधिक बुद्धिवादी है। वह एक अनुभवशून्य और शुष्क दार्शनिक के रूप में प्रकट होता है। भ्रमवश वह यह मान बैठा है कि 'विवेकशीलता ही वास्तविकता है और वास्तविकता ही विवेकशीलता है' (Rational is real and real is rational)। अति दार्शनिकता के कारण हीगल का दर्शन कल्पना मात्र रह गया है। वॉहन के मत में हीगल की इस दार्शनिकता का प्रमुख कारण स्थापित व्यवस्था के प्रति उसका एक अन्धविश्वासपूर्ण सम्मान तथा परिवर्तन अथवा संशोधन करने वाली प्रत्येक इकाई के प्रति अविश्वास था।

13. हीगल तत्कालीन अवस्था की प्रशंसा के आवेश में इतनी अधिक सीमाएँ लाँघ गया है कि उसका आदर्शवाद क्रूरतावाद या पशुवाद बन गया है। हीगल ने अपनी बर्बरता को इसीलिए दैवी रूप दिया क्योंकि वह सफल हो गई थी। जर्मन निरंकुशता एवं बर्बरतावाद हीगल के सिद्धान्त का ही एक परिणाम था—यह कहना अनुचित न होगा।

पर इन सब आलोचकों के साथ ही सेबाइन के इस सन्तुलित विचार को ध्यान में रखना चाहिए कि—"हीगल का दर्शन एक प्रकार से शक्ति के आदर्शीकरण का दर्शन था। इसमें शक्ति से पृथक् अन्य किसी भी आदर्श के प्रति एक प्रकार की अवज्ञा का भाव था। इसमें शक्ति को एक प्रकार का नैतिक और न्याययुक्त आदर्श माना गया था। उसने राष्ट्र को एक ऐसे आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियन्त्रण के परे था और जिसकी नैतिक दृष्टि से भी आलोचना नहीं हो सकती थी। राजनीतिक निष्कर्षों की दृष्टि से हीगल का राज्य-सिद्धान्त उदारता-विरोधी था। उसमें स्वतन्त्र सत्तावाद को उदात्त रूप दे दिया गया था तथा राष्ट्रवाद ने राजवंशीय और राजसत्ता का रूप धारण कर लिया था। लेकिन वह संविधान-विरोधी नहीं था। उसने संविधानवाद के बारे में एक ऐसे ढंग से विचार किया था जो उन देशों के ढंग से भिन्न था जहाँ उदारवाद तथा संविधान-वाद एक ही राजनीतिक आन्दोलन के पहलू थे। इसका अर्थ था 'मनुष्यों का नहीं, बल्कि विधि का शासन।' हीगल के संविधान में लोकतन्त्रात्मक प्रक्रियाओं के स्थान पर सुव्यवस्थित नौकरशाही-शासन का भाव निहित था। उसने जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा का आश्वासन दिया था तथा इस बात पर भी जोर दिया था कि शासन को लोक-कल्याण की व्यवस्था होनी चाहिए, लेकिन इस बात के लिए यह आवश्यक नहीं है कि शासन लोकमत के प्रति उत्तरदायी हो। यह कार्य एक ऐसा राजकर्मचारी-वर्ग कर सकता है जो सार्वजनिक भावना से अनुप्राणित हो और जो आर्थिक तथा सामाजिक हितों के संघर्ष से ऊपर हो। इसका व्यावहारिक अर्थ यह था कि राजनीति

1 वेपर : वही, पृष्ठ 192–93.

को ऐसे लोगों के हाथ से जोड़ दिया जाना चाहिए जो कुल तथा व्यावसायिक दक्षता द्वारा शासन करने योग्य है। यह प्रयत्न एक ऐसे समाज की समझ में आ सकता था जिसमें राजनीतिक एकता के निर्माण और राजनीतिक शक्ति के विस्तार की चिन्ता ने राजनीतिक स्वतन्त्रता की भावना को ग्रस्त कर रखा था।"[1]

हीगल का प्रभाव एवं मूल्यांकन
(Hegel's Influence and Estimate)

विभिन्न त्रुटियों और दुर्बलताओं के बावजूद हीगल की युग-परिवर्तनकारी विचारधारा का अग्रलिखित कारणों से विशेष महत्त्व है—

1. राजनीति तथा नीतिशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धों को हीगल ने सर्वाधिक स्पष्ट एवं सूक्ष्म रूप से समझा था।

2. 'राज्य व्यक्ति की उन्नति के लिए अनिवार्य है तथा व्यक्ति राज्य का एक अविभाज्य अंग है' हीगल ने इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करके राजदर्शन को एक महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

3. हीगल ही वह पहला विचारक था जिसने ऐतिहासिक प्रणाली को भली-भाँति समझा।

4. हीगल ने अपने दर्शन में इस अत्यन्त वैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि 'विवेक द्वारा प्रगति' (Progress by reason) होती है।

5. हीगल ने व्यक्ति की चेतना पर समाज की प्रेरणामूलक बुद्धि के ऋण को समझने और स्वीकार करने का बहुमूल्य प्रयास किया है।

6. हीगल की शिक्षा मूल्यवान् है क्योंकि इससे मानव की सामाजिक स्वतन्त्रता को विशेष बल मिलता है। व्यक्तिवाद मनुष्य के सामाजिक चरित्र का परित्याग कर देता है। व्यक्तिवादियों के लिए व्यक्तियों से बने छोटे-छोटे समुदाय रूपी उन कक्षों का महत्त्व अधिक है जो राज्यरूपी भवन का निर्माण करते हैं, परन्तु हीगल सन्तुलनवादी है। वह यह भी प्रतिपादित करता है कि मनुष्य समाज से कितना प्रभावित रहता है। उसने स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार को कहीं अधिक गौरवान्वित किया। उसका आदर्शवाद वास्तविक तथा मनोवैज्ञानिक था। उसने राजनीति को उसके हितों के समझौते से कुछ ऊँचा और कानून को आदेश मात्र से कुछ अधिक स्थान दिया। यह कोई साधारण विचार नहीं है कि पुलिस-राज्य पर्याप्त होता है और राज्य को मनुष्य के नैतिक उद्देश्य का एक अंग माना जाना चाहिए।[2]

हीगल के विचार के मूल तत्त्व तीन हैं—(1) द्वन्द्ववाद, (2) राष्ट्रीय राज्य का सिद्धान्त, (3) प्रगति की धारणा। ये तीनों बातें हीगल की विचारधारा में परस्पर-सम्बद्ध थीं, किन्तु बाद के विचारकों ने हीगल की इन तीन बातों को पृथक् कर दिया। हीगल के द्वन्द्ववाद को भौतिकवादी रूप प्रदान कर कार्ल मार्क्स ने

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 626.

2 वेपर : वही, पृष्ठ 191.

मार्क्सवादी समाजवाद के दर्शन का विकास किया और हीगल के राष्ट्रीय-राज्य के सिद्धान्त के आधार पर मुसोलिनी ने फासीवादी दर्शन को विकसित किया। हीगल के प्रभाव को इंगित करते हुए प्रो. सेबाइन ने लिखा है कि—

"हीगल के चिन्तन के आधार पर राजनीतिक सिद्धान्त में जिन विविध प्रवृत्तियों का विकास हुआ, उनमें से तीन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। विकास की सीधी रेखा असंदिग्ध रूप से हीगल से मार्क्स और बाद के साम्यवादी सिद्धान्त की थी। यही द्वन्द्वात्मक पद्धति को जोड़ने वाली कड़ी थी। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति को हीगल के दर्शन की युगान्तरकारी खोज कहा था। मार्क्स हीगल के राष्ट्रवाद और राज्य के आदर्शीकरण को केवल ऐसी 'रहस्यात्मकता' मानता था। जिसने द्वन्द्वात्मक पद्धति को अपने आध्यात्मिक आदर्शवाद से अनुप्राणित किया था। मार्क्स का विचार था कि वह द्वन्द्वात्मक पद्धति को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का रूप देकर और उसके आधार पर इतिहास की आर्थिक व्याख्या कर सामाजिक विकास की वैज्ञानिक तरीके से व्याख्या कर सकता है। नागरिक समाज राज्य से पृथक् एक संगठन है, मार्क्स यह निष्कर्ष सीधे हीगल से ग्रहण कर सकता था। दूसरे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के आदर्शवादियों ने इंगलैण्ड के उदारवाद में जो संशोधन किया था, उसमें भी हीगल की विचारधारा एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व थी। यहाँ द्वन्द्वात्मक पद्धति का कोई विशेष महत्त्व नहीं था वरन् यहाँ हीगल की जिज्ञासा और व्यक्तिवाद की आलोचना का महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। औद्योगिक उन्नति ने इस प्रश्न को आवश्यक बना दिया था। हीगल के राजनीतिक सिद्धान्त का उदारवाद-विरोधी स्वर ब्रिटिश राजनीति की वास्तविकताओं से इतना दूर था कि उसकी ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया। अन्त में इटली में फासिज्म ने अपने प्रारम्भिक चरणों में हीगलवाद से दार्शनिक आधार ग्रहण किया, यद्यपि फासिज्म ने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए हीगल के कुछ सिद्धान्तों को अपने अनुरूप ढाल दिया था।"[1]

हीगल का दर्शन बड़ा विशाल है और इसमें अनेक शास्त्रों के सामान्यीकरण और निष्कर्षों के समन्वय का विराट् प्रयत्न किया गया है। हीगल ने बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शन के प्राध्यापक के रूप में बहुत ख्याति अर्जित की थी। 19वीं शताब्दी में हीगल का नाम तत्कालीन विश्व-विख्यात् दार्शनिकों में उसी प्रकार प्रसिद्ध हो गया जिस प्रकार अरस्तू (Aristotle) तथा सन्त टॉमस एक्वीनास (St. Thomas Aquinas) के नाम उनके समय में प्रसिद्ध हो गए थे। हीगल ने अरस्तू और एक्वीनास के समान सम्पूर्ण ज्ञान का विश्लेषण करने की चेष्टा की और मौलिक नियमों की खोज की। वह बौद्धिक विषय में प्रशिया के सम्राट् का अधिकृत वक्ता रहा था और उसके शिष्यों ने जो विचार व्यक्त किए और जिस बात की माँग की उसे बिस्मार्क ने क्रियान्वित किया।[2]

हीगल के सिद्धान्तों का न केवल बिस्मार्क की नीति पर ही प्रभाव पड़ा,

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 627.
2 *McGovern* : **From Luther to Hitler, p. 265.**

बल्कि ट्रीटसके (Treitsck) तथा ड्रॉयसन (Droysen) जैसे महान् इतिहासकार भी उसके विचार-दर्शन से प्रभावित हुए, हालाँकि इतिहास की व्याख्या में वे उससे सहमत नहीं थे। विधि और विधिशास्त्र के लेखक भी हीगल से प्रभावित हुए थे। बर्लिन विश्वविद्यालय में हीगल के साथी और विधिशास्त्र की ऐतिहासिक प्रणाली के प्रवर्तक सेविग्नी (Savigny) ने अपने अनेक विचार हीगल के राज्य-सिद्धान्त से ही ग्रहण किए थे। उसके ग्रन्थों का अनेक भाषाओं में अनुवाद किया गया। उसने जिस विचार-पद्धति को अपनाया, वह उसी के नाम से 'हीगलवादी विचारधारा' कहलाई। ग्रीन, बोसांके, ब्रैडले उससे बहुत प्रभावित थे। इटली तथा यूरोप के अन्य देशों में भी हीगल का प्रभाव पड़ा था। इतना ही नहीं, महाद्वीप के बाहर भी अनेक देशों ने उसकी महत्ता को स्वीकार किया था।

यह सच है कि हीगल का दर्शन अनेक बातों में जर्मनी के द्वितीय साम्राज्य की अवस्था का आश्चर्यजनक रूप से यथातथ्य चित्रण था, तथापि अकेले जर्मनी के सन्दर्भ में हीगल के राजदर्शन पर विचार करना उसके महत्त्व को कम करके आँकना होगा। हीगल का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। उसके दर्शन में न केवल आधुनिक चिन्तन पूरी तरह ओतप्रोत था, अपितु वह आधुनिक चिन्तन का समाकलन भी था और ससिद्धि भी। सेबाइन के अनुसार, "हीगल के चिन्तन को यद्यपि स्वच्छन्द कल्पना कहकर तिरस्कृत कर देना बहुत आसान है, तथापि वह एक ऐसा बीज था जिसने आगे चलकर 19वीं शताब्दी में सामाजिक दर्शन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया अच्छे रूप में भी और बुरे रूप में भी। महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह है कि हीगल की उन्मेषकारी सार्वभौम शक्ति जिसे उसने ज्ञान-युग के दार्शनिकों की भाँति विवेक का नाम दिया था, व्यक्तियों में नहीं प्रत्युत् सामाजिक समुदायों, राष्ट्रों, राष्ट्रीय संस्कृतियों और संस्थाओं में व्यक्त होती है। यदि हीगल के 'विश्वात्मा' शब्द के स्थान पर 'उत्पादन की शक्तियाँ' शब्दों का प्रयोग किया जाए तो परिणाम वही निकलेगा। दोनों ही अवस्थाओं में समाज शक्तियों का समुदाय नहीं रहता, बल्कि वह शक्तियों की एक व्यवस्था हो जाता है। उसका इतिहास उन संस्थाओं के विकास का इतिहास बन जाता है जो सामूहिक रूप से समुदाय की संस्थाएँ होती हैं। ये शक्तियाँ और संस्थाएँ अपने स्वरूप में निहित प्रवृत्तियों का अनुसरण करती हैं। विधियों, आचारों, संविधानों, दर्शन और धर्मों का संस्थागत इतिहास सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन का एक प्रमुख और स्थायी अंग बन गया। इन सामाजिक शक्तियों के कार्य और विकार के लिए व्यक्ति के नैतिक निर्णय और व्यक्तिगत रुचियाँ बिल्कुल असम्बद्ध हो गई क्योंकि समाज में वास्तविक साधन शक्तियाँ हैं जो अपने आप में ही सार्थक हैं क्योंकि उनका मार्ग निश्चित होता है। इस तरह के विचार, जिनमें एक सच्चाई भी थी और अतिशयोक्ति भी, उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक दर्शन पर पूरी तरह छा गए। उन्होंने 'राजनीति के अध्ययन' को समृद्ध भी बनाया और दरिद्र भी। जब विधिवाद तथा व्यक्तिवाद के स्थान पर संस्थाओं का ऐतिहासिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ तथा शासन और मनोविज्ञान में निहित सामाजिक एवं आर्थिक

तत्वों का अधिक ठोस अध्ययन होने लगा, तो राजनीति समृद्ध होकर कहीं अधिक यथार्थपरक हो गई।"[1]

"हीगल की अपनी समकालीन राजनीतिक वास्तविकताओं में असाधारण अन्तर्दृष्टि थी। उसने उस समय जीवन-संघर्ष में उलझे हुए औद्योगिक और वैधानिक राज्य के भावी उद्‌भव का पहले ही अनुमान लगा लिया था। हीगल का उद्देश्य जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में आने वाली बौद्धिक बाधाओं का निराकरण करना था, लेकिन उसने इससे भी अधिक प्रभावकारी कार्य किया। उसने ऐसे दर्शन अथवा सिद्धान्त का प्रवर्तन किया जिसके द्वारा राष्ट्रवाद जर्मनी में ही नहीं बल्कि प्रत्येक दूसरे देश में भी धार्मिक स्तर तक पहुँच गया। उसके विचारों ने महान् शक्तिशाली राष्ट्रीयता की भावना को बल दिया और यह उसके दर्शन का बहुत बड़ा महत्त्व है।"[2]

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि हीगल का सिद्धान्त नि:सन्देह अत्यन्त उच्च है और अधिकतर आलोचनाएँ उसे ठीक तरह न समझने के कारण हुई हैं। उसका सिद्धान्त इतना उच्च है कि सबकी बुद्धि वहाँ तक नहीं पहुँच पाती। उसमें व्यावहारिकता की अतिशय कमी है और वह इतना क्लिष्ट एवं गूढ़ है कि जनसाधारण के लिए उसे समझना असम्भव-सा बन गया। हीगल आदर्शवाद के प्रसार में स्वयं को कल्पनावाद की चरम सीमा में भुला बैठा है।

1 बदायन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 626.
2 *Maxey* : Political Philosophies, p. 593-94.

21 टॉमस हिल ग्रीन

(Thomas Hill Green, 1836–1882)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Background)—जर्मन आदर्शवाद पर पिछले दो अध्यायों में विचार किया जा चुका है। आदर्शवाद वास्तव में राजनीति का अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है जो राज्य के नैतिक आधारों का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा जीवन की उपयोगिता के साथ समन्वय करता है। इसमें एक ओर बढ़ते हुए व्यक्तिवाद के विरुद्ध जो चरम स्वार्थ का पर्याय माना जाता है, और दूसरी ओर शुष्क उपयोगितावाद के विरुद्ध जो स्थूल सुखवाद या निकृष्ट भौतिकता का प्रतीक है, प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है।

जर्मन आदर्शवादी दर्शनशास्त्र का उदय 18वीं शताब्दी के प्रकृतिवादी बुद्धिवाद के सामान्य खण्डन के रूप में हुआ था। अंग्रेजी आदर्शवाद का उदय भी 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की अंग्रेजी कृतियों में प्रचलित आर्थिक व्यक्तिवाद तथा अनुभवपरक उपयोगितावाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ जो राज्य को एक ऐसी संस्था मानता है जिसकी सच्ची प्रकृति का ज्ञान हमें वास्तविक राजनीतिक संस्थाओं के पर्यवेक्षण द्वारा न होकर राजनीतिक विचारों के अमूर्त विश्लेषण द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।[1]

19वीं शताब्दी की अंग्रेजी आदर्शवादी विचारधारा अथवा इंग्लैण्ड के आदर्शवादी दर्शन का प्रतिपादन मुख्य रूप से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अध्यापकों और छात्रों द्वारा हुआ। इसीलिए इंग्लैण्ड की आदर्शवादी विचारधारा को ऑक्सफोर्ड-दर्शन भी कहा जाता है। विश्वविद्यालय के अध्यापकों और स्वतन्त्र दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त का इसलिए प्रतिपादन किया कि वे उपयोगितावादी अतिशय वैयक्तिकता, नास्तिकता और अनास्था, आर्थिक अराजकता, दमनकारी कानून, साध्य-साधन के सम्बन्ध में अवसरवादिता आदि परिणामों से तंग आ चुके थे। वे एक नई व्यवस्था की प्राण प्रतिष्ठा करना चाहते थे। वे सामाजिक अनुबन्ध या समझौते के सिद्धान्त का भी विरोध करते थे क्योंकि उसमें कृत्रिमता और अस्वाभाविकता थी।

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 440.

अंग्रेजी आदर्शवादी दर्शन को प्राचीन यूनानी दर्शन और जर्मनी के अभिनव आदर्शवाद से अत्यधिक प्रेरणा मिली। जब से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्लेटो और अरस्तू की पुस्तकों का पठन-पाठन आरम्भ हुआ, तभी से वहाँ आदर्शवाद के विचारों का उदय होने लगा। यूनानी दार्शनिकों के इस विचार का कि "मनुष्य स्वभावतः राजनीतिक समुदाय का सदस्य है और राज्य एक ऐसा अवयवी संस्थान है जिसमें इच्छा-शक्ति विद्यमान है और जिसका अस्तित्व श्रेष्ठ जीवन की प्रगति के लिए है" इंग्लैंड के दार्शनिकों पर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने इन्हीं विचारों को अपने सिद्धान्त का मूलभूत आधार बनाया।

ऑक्सफोर्ड में आदर्शवादी दर्शन व्यवस्थित विकास के पूर्व ही कॉलरिज और कार्लाइल द्वारा इंग्लैंड की विचारधारा पर जर्मन आदर्शवादी दर्शन का प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था। आदर्शवादी अंग्रेज विचारकों ने बाद में विस्तारपूर्वक जर्मन आदर्शवादी दर्शन का अध्ययन किया। प्राचीन यूनानी सिद्धान्त में राज्य को श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति का सर्वोच्च साधन माना गया था और उसका नैतिक महत्त्व उसके आर्थिक, कानूनी और राजनीतिक पक्षों की तुलना में बहुत अधिक दर्शाया गया था। इस सिद्धान्त ने 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में जर्मन दर्शनशास्त्र का पुनरुद्धार किया और ऑक्सफोर्ड के दार्शनिकों की शब्दावली, पद्धति और उनके विचारों में जर्मन दार्शनिक कॉण्ट और हीगल के प्रभाव की स्पष्ट छाप दिखाई दी। जर्मन आदर्शवादी सिद्धान्त में कुछ संशोधन द्वारा उसे अपने अनुकूल बनाकर अंग्रेज आदर्शवादियों ने अपने सिद्धान्त की स्थापना की। जर्मन आदर्शवादी स्वेच्छाचारी राजतन्त्र में विश्वास करते थे, लेकिन अंग्रेजी आदर्शवाद में वैधानिक राजतन्त्र पर बल दिया गया। जर्मन आदर्शवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अवहेलना की थी, किन्तु अंग्रेजी आदर्शवाद में उसे सम्मान की दृष्टि से देखा गया और अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का पालन मान्य ठहराया गया। 16वीं शताब्दी की इंग्लैंड की आर्थिक दशा और भौतिकवादी सभ्यता ने भी वहाँ के आदर्शवाद को काफी प्रभावित किया।

इन सब प्रभावों के फलस्वरूप ऑक्सफोर्ड के आदर्शवाद का सूत्रपात हुआ। उससे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक सुधार, उदारवाद, राष्ट्रीयता विधि-प्रियता, संविधानिक मर्यादा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य आदि के नूतन युग का प्रादुर्भाव हुआ जिसके प्रकाश में वहाँ की न्यायप्रिय जनता ने अपने जनतान्त्रिक स्वरूप को न केवल रक्षा की बल्कि उसे और आगे बढ़ाया।

प्लेटो और अरस्तू के राजदर्शन, कॉण्ट और हीगल के दर्शन तथा सामाजिक अनुबन्ध के विचारकों के दर्शन से इंग्लैंड में जो आदर्शवादी विचारधारा अनुप्राणित हुई, उसके दार्शनिकों की परम्परा में सबसे पहला नाम टॉमस हिल ग्रीन (Thomas Hill Green) का लिया जाता है। ब्रैडले (F. H. Bradley) तथा बोसांके (Bosanquet) उनके अनुयायी थे। आधुनिक युग में इस परम्परा का प्रतिनिधित्व ए डी लिण्डसे (A D Lindsey), अर्नेस्ट बार्कर (Ernest Barker) आदि ने

किया। ग्रीन का दर्शन अभिनव व्यक्तिवाद या नवीन आदर्शवाद के नाम से विख्यात है।

टॉमस हिल ग्रीन
(Thomas Hill Green, 1836–1882)

संक्षिप्त जीवन-परिचय

ब्रिटेन के आदर्शवादी दार्शनिक टॉमस हिल ग्रीन का जन्म यॉर्कशायर (Yorkshire) के एक मध्यवर्गीय पादरी परिवार में हुआ और सन् 1882 ई. में केवल 46 वर्ष की अल्पायु में ही वह इस संसार से चल बसा। 14 वर्ष की आयु तक ग्रीन ने घर पर ही विद्योपार्जन किया। तत्पश्चात् पाँच वर्ष उसने रग्बी (Rughby) में व्यतीत किए। सन् 1855 में ग्रीन ऑक्सफोर्ड के बेलियोल कॉलेज में भर्ती हो गया जहाँ वह महान् बेंजामिन जोवेट (Benjamin Jowett) के सम्पर्क में आया। इस महान् विद्वान् के प्रभाव से ग्रीन को बौद्धिक क्षेत्र में पदार्पण करने की प्रेरणा मिली। बेलियोल में ग्रीन सन् 1860 में फेलो (Fellow) निर्वाचित हुआ और सन् 1866 में ट्यूटर (Tutor) नियुक्त हुआ। इस पद पर उसने सन् 1878 तक कार्य किया। तत्पश्चात् ऑक्सफोर्ड में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक पद (Whyte Professor of Moral Philosophy) पर उसकी नियुक्ति हुई। इस पद पर वह मृत्युपर्यन्त रहा। सन् 1871 में ग्रीन ने प्रसिद्ध आलोचक तथा कवि जॉन ऐडिंग्टन सायमण्ड्स (John Addington Symonds) की बहन कुमारी शार्लट सायमण्ड्स (Miss Charlotte Symonds) के साथ विवाह किया। अध्यापन-कार्य में ग्रीन ने अत्यन्त ख्याति अर्जित की। उसने इतिहास, तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि विषयों का सफलता-पूर्वक अध्यापन कार्य किया।

एक प्रोफेसर का जीवन सामान्यतः सैद्धान्तिक एवं बौद्धिक जटिलताओं से आक्रान्त रहने के कारण एकांगी होता है, किन्तु ग्रीन इसका अपवाद था। विश्व-विद्यालय के स्वस्थ एवं स्वतन्त्र वातावरण में ग्रीन ने सार्वजनिक कार्यों का श्रीगणेश किया और व्यावहारिक राजनीति के कार्यों में सक्रिय भाग लिया। वह अनेक वर्ष तक ऑक्सफोर्ड टाउन-कौंसिल का सदस्य रहा। वह स्वयं संसद् के लिए चुनाव में खड़ा नहीं हुआ, किन्तु उदार दल (Liberal Party) का एक प्रभावशाली सदस्य रहा। उसने दल के निर्वाचन सम्बन्धी प्रचार-कार्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया और दल को विजयी बनाने के लिए अनेक प्रभावशाली भाषण दिए। वह कई महत्त्वपूर्ण आयोगों का सदस्य भी रहा। सन् 1876 ई. में ग्रीन को 'ऑक्सफोर्ड बैंड ऑफ टेम्परांस यूनियन' (Oxford Band of Temperance Union) के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित किया गया।

ग्रीन अपने विचारों द्वारा अपने समय की राजनीति और राजनीतिक विचारधारा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सका, पर उसकी मृत्यु के बाद यूरोप में

विशेय रूप से ब्रिटेन मे, स्पष्टत. उसका प्रभाव विस्तृत होने लगा। वर्तमान काल के अनेक विचारक भी ग्रीन के दर्शन से प्रभावित है।

रचनाएँ (*Works*)

कोकर के अनुसार "ग्रीन ऐसा दार्शनिक था जिसने अपने लेखों, ग्रंथो और व्याख्यानो द्वारा उस समाज की, जिसमें वह रहता था, निकटस्थ नैतिक तथा राजनीतिक समस्याओ मे अगाध अभिरुचि प्रदर्शित की और अस्वस्थता तथा वक्तृत्वशक्ति की सीमितता के कारण जहाँ तक सम्भव हो सका, उसने अनेक रूपों मे अपने उस लक्ष्य के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट की, जिसने उसके राजनीतिक तथा नैतिक सिद्धान्त का निर्धारण किया, अर्थात् उन समस्त बाधाओं का निवारण किया जिन्हे अंग्रेज नागरिक के स्वतन्त्र विकास के मार्ग से कानून हटा सकता है।"[1] ग्रीन के व्याख्यानो को मरणोपरान्त प्रकाशित किया गया। ग्रीन ने कोई ऐसी पुस्तक नही लिखी जिससे उसकी विचारधारा का सम्पूर्ण विवरण प्राप्त हो सके। उसने समय-समय पर जो अनेक भाषण दिए उन्ही का संग्रह तीन ग्रंथो मे किया गया। कुछ पुस्तकें भी उसने लिखी जिनमे महत्त्वपूर्ण हैं—

(1) राजनीतिक दायित्वों के सिद्धान्तो पर भाषण (Lectures on the Principles of Political Obligation, 1882)

(2) आचार शास्त्र की भूमिका (Prolegomena to Ethics, 1883) (मृत्यु के बाद प्रकाशित)

(3) उदार व्यवस्थापन और अनुबंधीय स्वतन्त्रता पर भाषण (Lectures on Liberal Legislation and Freedom of Contract)

(4) अंग्रेजी क्रान्ति पर भाषण (Lectures on the English Revolution)

(5) ह्यूम पर प्रतिबन्ध (Hume's Treatise, 1874)

ग्रीन के राजनीतिक दायित्वों के सिद्धान्त (Principles of Political Obligation) के व्याख्यानों का उद्देश्य था राज्य, समाज तथा व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए जन-स्वीकृति के सिद्धान्त का समर्थन करना। दूसरे ग्रंथ उदार व्यवस्थापन और अनुबन्धीय स्वतन्त्रता (Liberal Legislation and Freedom of Contract) मे उन व्याख्यानो का समावेश है जो ग्रीन द्वारा सन् 1881 मे दिए गए और जो उदारवादी परम्परा के अनुरूप अनुबन्ध की स्वतन्त्रता की घोषणा करते हैं। इस ग्रंथ मे यह प्रश्न उठाया गया कि वर्तमान युग मे विधि-निर्माण-प्रक्रिया से कहाँ तक अनुबन्धों की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। अपने तीसरे ग्रंथ आचार शास्त्र की भूमिका (Prolegomena to Ethics) मे, जिसका प्रकाशन सन् 1883 मे हुआ था, ग्रीन ने आचारशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त की व्याख्या की है।

1. कोकर: आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 442.

वास्तव में ग्रीन का विचार-दर्शन एक क्रमबद्ध इकाई है जिसे तीन भागो मे बाँटा जा सकता है—आध्यात्मशास्त्र, आचारशास्त्र तथा राजनीतिक दर्शन (Metaphysics, Ethics and Political Philosophy)। अपने सार्वजनिक भाषणों और शिक्षाओं के माध्यम से ग्रीन ने इग्लैण्डवासियो को अत्यधिक प्रभावित किया। हिल ग्रीन का दर्शन (Philosophy of Hill Green) के रचयिता William Henry Fairbrother के अनुसार 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ग्रीन की शिक्षाएँ इग्लैण्ड में सर्वाधिक शक्तिशाली दार्शनिक प्रभाव (Most potent philosophical influence) बन गई। यह उल्लेखनीय है कि ग्रीन के सम्पूर्ण विचारो का केन्द्र आचारशास्त्र (Ethics) वाला भाग है। उसके राजनीतिक सिद्धान्त की कुंजी उसके सामान्य नैतिक सिद्धान्तो मे मिलती है जिनकी अभिव्यक्ति उसकी उपयोगितावादी तथा परम्परागत नियतिवादी विचारो की आलोचना मे तथा नैतिक मनुष्य और नैतिक व्यवहार को प्रकृति के सम्बन्ध मे स्वय उसके विचारको की व्याख्याओ द्वारा हुई है। उसका मुख्य उद्देश्य है मनुष्य के सच्चे उद्यम की खोज करना और उसे पूरा करने के लिए सर्वोत्तम साधन का पता लगाना।

ग्रीन के विचार-दर्शन के स्रोत
(The Sources of Green's Philosophy)

1. यूनानी साहित्य—ग्रीन के दर्शन का प्रथम स्रोत यूनानी साहित्य, विशेषत प्लेटो और अरस्तू के विचार हैं। यूनानी दार्शनिको से वह इस बात पर सहमत है कि राज्य स्वाभाविक और आवश्यक है और व्यक्ति का जीवन समाज के जीवन का अभिन्न अंग है। व्यक्ति को अपना निश्चित कर्त्तव्य पूर्ण कर सामाजिक उन्नति मे योग देना चाहिए। लेकिन यूनानी दार्शनिको और ग्रीन के आदर्शवादी सिद्धान्तो मे कुछ भिन्नता भी है। यह भिन्नता यूनानियो की उस धारणा से है जो उन्होने जीवन के कुलीनतावादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे ग्रहण की थी। यूनानी विचारक आत्म-सन्तोष और आत्मानुभव का जीवन कुछ ही व्यक्तियो के लिए सम्भव मानते थे। दासो और विदेशियो (Aliens) को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे और न लोगो की बौद्धिक, शारीरिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर ही अधिक ध्यान दिया जाता था। लेकिन ग्रीन का प्रजातन्त्रीय दृष्टिकोण यह था कि नागरिकता उन सब व्यक्तियो द्वारा प्राप्त की जा सकती है जो एक सार्वजनिक हित की धारणा मे समर्थ हैं। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नति करने का अधिकार है। राज्य मे सब व्यक्ति समान हैं, उनमे किसी प्रकार का भेदभाव नही होना चाहिए। ग्रीन पर प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू का अधिक प्रभाव था। अरस्तू की भाँति उसने भी अपने नीतिशास्त्र की पूर्ति राजनीति से की। उसका विश्वास था कि "राज्य का सर्वोपरि कर्त्तव्य अपने सदस्यो के लिए ऐसे ... की सिद्धि सम्भव बनाना है जो सार्वजनिक कल्याण हो।" अपने नीतिशास्त्र मे वह 'आत्मसन्तोष' या 'आत्मानुभूति' (Self-satisfaction or self-relation) को आचरण का लक्ष्य बतलाता है और अपनी राजनीति मे सार्वजनिक (Common good) को परम कल्याण (Supreme good) की सज्ञा देता है।

2. रूसो का दर्शन—ग्रीन के लिए प्रेरणा का दूसरा बड़ा स्रोत रूसो का दर्शन था। रूसो के समान उसने भी इस बात पर बल दिया कि मनुष्य को नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। नैतिक स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार है। किन्तु ग्रीन की यह स्वीकृति कुछ दृष्टियों से सीमित है। वह नकारात्मक और सकारात्मक स्वतन्त्रता (Negative and Positive Freedom) में सामान्य और विशिष्ट स्वतन्त्रता (Freedom in the general sense and Freedom in the particular sense) में तथा न्यायिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता (Juristic Freedom and Spiritual Freedom) का भेद करता है। ग्रीन ने रूसो के इस विचार को ग्रहण किया है कि राज्य का सम्प्रभु (Sovereign) सामान्य इच्छा (General Will) का प्रतिनिधित्व करता है और इसी कारण उसे जनता से आज्ञापालन कराने की शक्ति प्राप्त है; पर साथ ही वह रूसो के उन विचारों का खण्डन करता है जो निरंकुश राज्य की स्थापना की ओर संकेत करते हैं।

3. जर्मन आदर्शवाद—तृतीय स्रोत, जिससे ग्रीन ने प्रेरणा ग्रहण की है, जर्मन आदर्शवाद है जिसका प्रतिनिधित्व कॉण्ट, फिक्टे और हीगल करते हैं। विशुद्ध आध्यात्मशास्त्रीय क्षेत्र (The purely metaphysical field) में ग्रीन ने फिक्टे और हीगल की विचारधारा को स्वीकार किया है, किन्तु आचारशास्त्रीय और राजनीतिक क्षेत्रों (The Ethical and Political Fields) में ग्रीन का मुख्य प्रेरणास्रोत कॉण्ट ही उसके विचार-दर्शन का प्रारम्भ बिन्दु है। कॉण्ट की भाँति ग्रीन का विश्वास है कि सदेच्छा ही एकमात्र भलाई है। व्यक्तिगत स्वाधीनता, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के विवेचन में भी ग्रीन हीगल की अपेक्षा कॉण्ट के अधिक निकट है। प्रतिनिधि शासन के महत्त्व, संविधान में राजा का स्थान, दण्ड की तर्कयुक्त संगति (The rational of punishment) आदि पर वह कॉण्ट और हीगल से भिन्न है लेकिन राज्य के गौरव की नैतिक महत्ता पर बल देकर वह हीगल का अनुसरण करता है। ग्रीन के दर्शन को निश्चितता प्रदान करने में हीगल का निर्णायक हाथ रहा है। उसने हीगल के इस विचार को भी स्वीकार किया है कि राज्य का उद्देश्य स्वतन्त्रता की प्राप्ति है, पर ऐसा करते समय उसने कुछ सीमाएँ लगाई हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में उसने हीगल के दर्शन को अपनाया है, लेकिन हीगल के द्वन्द्ववाद को मान्यता नहीं दी है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि ग्रीन यद्यपि कॉण्टवादी है, पर उसने कॉण्ट को हीगलवादी ऐनक से देखा है।

ग्रीन में हीगलवाद (The Hegelian Green) की स्पष्ट और मार्मिक व्याख्या करते हुए वेपर (Wayper) का कथन है कि—

"ग्रीन की रचनाएँ हीगलवाद से ओतप्रोत हैं। ग्रीन हीगल की दैवी आत्मा अथवा तर्क के अस्तित्व में पूर्णरूपेण विश्वास करता था, अतः हीगल की भाँति ग्रीन के लिए भी इतिहास एक निरन्तर विकासशील प्रक्रिया है जो 'अनन्त चेतना' को जन्म देती है। हीगल की भाँति उसने भी कहा है कि सभी समुदाय, संस्थाएँ तथा संगठन दैवी-आत्मा के ही साकार रूप हैं। वह हीगल के इस विचार को भी स्वीकार

करता है कि दैवी-आत्मा का प्रत्येक नवीन अवतार पहले अवतार की अपेक्षा अधिक पूर्ण था तथा विकास-मार्ग पर दैवी-आत्मा द्वारा उठाया गया प्रत्येक पग पहले से अधिक वास्तविक था। समिति परिवार से अधिक वास्तविक थी, परन्तु राज्य समिति से भी अधिक वास्तविक है। उसने यह भी स्वीकार किया कि मनुष्य आंशिक रूप मे इस दैवी-आत्मा का ही अवतार है। ग्रीन के मतानुसार राज्य के अभाव मे मानव वास्तविक मानव नही बन सकता। केवल राज्य म ही वह स्वय को पूरी तरह व्यक्त कर सकता है तथा अपनी प्रकृति का पूर्ण विकास करने मे समर्थ हो सकता है। अतः वह राज्य को एक आवश्यक बुराई न मानकर अच्छाई मानता है। उसके लिए राज्य राक्षस का जाल नहीं, वरन् देवता द्वारा दी गई मुक्ति है। हीगल के विचार को ही वह अपने शब्दों मे पुनः व्यक्त करते हुए कहता है कि मनुष्य का राजनीतिक जीवन दैवी विचार का प्रतिरूप है।"

ग्रीन अथवा हीगल दोनो ही राज्य की श्रेष्ठता तथा शक्ति को स्वीकार करते हैं। ग्रीन के अनुसार केवल राज्य ही वास्तविक अधिकारो का स्रोत है। राज्य से बाहर "आदर्श अधिकारो का ही चिन्तन किया जा सकता है, परन्तु राज्य मे समाविष्ट होकर वे अधिकार बन जाते हैं।" हीगल की भाँति, ग्रीन का राज्य भी समुदायो का समुदाय है तथा सभी समुदायो मे सर्वोच्च है। हीगल की भाँति स्वतन्त्रता की समस्या से ग्रीन भी अत्यधिक सम्बन्धित है। उसके स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार हीगल के विचारो के समान ही हैं। दोनो के अनुसार मनुष्य तभी अत्यधिक स्वतन्त्र होता है जब वह दैवी आत्मा से तादात्म्य स्थापित करता है। दूसरे शब्दो मे मनुष्य तभी स्वतन्त्र होता है जब वह वास्तविक-कल्याण पथ का अनुगमन करता है। वास्तविक कल्याण समाज-कल्याण है, अतः इसकी सिद्धि तभी हो सकती है जब दूसरो के कल्याण को ध्यान मे रखा जाए। इस प्रकार ग्रीन के मतानुसार स्वतन्त्रता एक सकारात्मक शक्ति है और समाज-कल्याण के लिए मनुष्यो की सभी शक्तियो की मुक्ति है।[1] परन्तु केवल दैवी-आत्मा के कारण ही मनुष्य समाज-कल्याण का अनुगमन करने मे समर्थ है। स्वतन्त्रता व्यक्ति की दैवी आत्मा से तादात्म्य स्थापित करती है। चूँकि ग्रीन यह मानता है कि दैवी-आत्मा की उच्चतम अभिव्यक्ति राज्य मे ही होती है, अत यह स्पष्ट है कि वह हीगलवाद के इस सिद्धान्त से प्रभावित है कि 'वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य मे ही प्राप्त होती है।'

ग्रीन के समाज को महत्त्व देने वाले विचार भी हीगल से मिलते-जुलते हैं। उसने लिखा है कि "समाज के बिना मनुष्य नहीं। हीगल की भाँति उसका भी विश्वास है कि प्रत्येक समाज का अपना-अपना नैतिक स्तर होता है।" एक चीनी के लिए जो कार्य नैतिक है, वही एक अंग्रेज के लिए अनैतिक हो सकता है। अत. यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि ग्रीन के समाज सम्बन्धी विचारो मे निश्चय ही हीगल के रहस्यवाद की गूँज है। ग्रीन अपने इतिहास, मानव समाज तथा राज्य

1 *Wayper*: op. cit. (Hindi ed.), p. 194.

सम्बन्धी विचारो मे हीगल से ही पूर्णतया प्रभावित नही है वरन् उसके हीगलवाद मे ऐरिस्टाटिलवाद ओत-प्रोत है।[1]

4 परम्परा विरोधियों के विचार—ग्रीन के राजनीतिक दर्शन का चौथा और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा-स्रोत परम्परा-विरोधियो (Non-conformists) के विचार हैं। यदि हीगल ने ग्रीन के दार्शनिक आदर्शवाद (Philosophical Idealism) को और कॉण्ट ने उसके नैतिक विचार (Ethical Thought) को आधार प्रदान किया है तो परम्परा-विरोधियो ने उसके राजनीतिक विचार पर गहरा प्रभाव डाला है। 'स्वतन्त्रता' (Freedom) तथा 'नैतिकता' (Morality), इन दो शब्दो के लिए ग्रीन के हृदय मे प्रेम परम्परावादियो ने ही जाग्रत किया था। ये लोग अपने चर्चों को स्वतन्त्र चर्च (The Free Churches) कहते थे और इस प्रकार मानते थे कि आध्यात्मिक एवं राजनीतिक जीवन मे स्वतन्त्रता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चीज है। परम्परावादियों ने शासन से यह माँग की थी कि शराब, जुआ घुड़दौड़ आदि व्यसनो पर रोक लगाई जानी चाहिए। पक्का परम्परावादी होने और नैतिकता को बहुत महत्त्व देने के कारण ग्रीन चाहता था कि राज्य को उन सस्थाओ और दशाओं को समाप्त कर देना चाहिए जो अनैतिकता को बढावा देती हैं। उसका कहना था कि राज्य चाहे किसी व्यक्ति पर नैतिकता लाद न सके, किन्तु वह उन दशाओ को मिटा सकता है जो व्यक्तियो को अनैतिक बनने के लिए आकर्षित करती हैं। परम्परावादी भू-सम्पत्ति पर विश्वास नहीं करते थे पर व्यक्तिगत पूँजी एकत्र करने के भी विरोधी नहीं थे। ग्रीन ने भी भू-सम्पत्ति का विरोध किया यद्यपि उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति प्राप्त करने के सिद्धान्त को भी मान्यता दी है।

5. ग्रीन पर बर्क, कॉलरिज, ऑक्सफोर्ड के बौद्धिक आन्दोलन, टापर्मन, मैकियावली आदि का भी प्रभाव था।

ग्रीन का आध्यात्मिक सिद्धान्त
(Green's Metaphysical Theory)

ग्रीन के आध्यात्मिक विचारो पर कॉण्ट की स्पष्ट छाप है। उसके इस सिद्धान्त का *प्रारम्भ-बिन्दु ही कॉण्ट का यह विश्वास था कि* विशुद्ध बुद्धि (*Pure reason*) एव यदाकदा आत्मानुभूति (Occasional flashes of intuition) द्वारा अन्तिम अथवा चरम सत्य (Ultimate truth) को जाना जा सकता है। अनुभव प्रधान अथवा आगमनात्मक पद्धति (Empirical or Inductive Method) द्वारा इस सत्य का पता नहीं लगाया जा सकता। ग्रीन ह्यूम के अनुभववादी (Empirical) और स्पेंसर के विकासवादी सिद्धान्त (Spencerian Evolutionary Approach) का विरोधी है। हम मनुष्य को भौतिक प्रकृति (Physical Nature) का एक अंश मानकर तथा उसकी अन्य क्रियाओ को केवल प्राकृतिक घटनाएँ (Natural Phenomena) मानकर उसके विश्व (जिसका वह एक अंश है) के वास्तविक स्वरूप

1 *Mc Govern*: From Luther to Hitler, p 158-59.

(True Nature) को नही जान सकते। वह आधारभूत बिन्दु जिससे ग्रीन मानव-स्वभाव का विश्लेषण आरम्भ करता है, मनुष्य की आत्म-चेतना (Self-consciousness) है। मनुष्य मे आत्म-चेतना विद्यमान है जबकि निम्नकोटि के प्राणियो मे केवल 'चेतना' (Consciousness) ही होती है। मनुष्य मे विचार-शक्ति होती है। वह सोचने और अनुभव करने के समय यह बात जानता है कि वह कुछ सोच रहा है और अनुभव कर रहा है। निम्न कोटि के प्राणी जिनमे केवल चेतना होती है, दुःख, सुख, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि का अनुभव तो करते हैं और उन पर इन बाहरी बातो की प्रतिक्रिया भी होती है, लेकिन इस तथ्य से वे अपरिचित ही रहते हैं कि वे सुखी हैं अथवा दुःखी। उन्हें अपने सुख, दुःख, भूख आदि का विचारात्मक ज्ञान नही होता। इस सृष्टि मे आत्म-चेतना प्राप्त करने का गौरव केवल मनुष्य को ही प्राप्त है। हमारी मानव आत्मा इसी गुण की सहायता से दूसरों के अनुभवो और विचारो को अपने अनुभवो और विचारो से सयुक्त करती है। "आत्म-चेतना मे यह बात निहित है कि मानव-अनुभव मे एक आत्मा होती है जिसे चेतना की क्षणिक स्थितियो से एकाकार नही किया जा सकता। यह वह केन्द्र है जो चेतना की प्रत्येक स्थिति का आधार है। मैं सोचता हूँ, मैं अनुभव करता हूँ, मैं निर्णय करता हूँ, आदि वाक्यो मे 'मैं' का अभिप्रायः इसी केन्द्र से होता है। यही वह तत्त्व है जो सोचता है, अनुभव करता है, निर्णय करता है और इन सब मे विद्यमान रहते हुए इन सबको एक इकाई के रूप मे एकीकृत करता है। इस 'मैं' की सश्लेषणात्मक क्रिया (Synthesising Activity) के अभाव मे किसी भी वस्तु का एक एकीकृत सम्पूर्ण इकाई (A Unified Whole) के रूप मे, जिसका कि ज्ञान-आत्मा तथा ज्ञान-जगत् (The Knowing self and the Known world) की अन्य वस्तुओ के साथ सम्बन्ध है, कोई ज्ञान नही हो सकता है। हमारे अनुभवो को एक-दूसरे म आत्मसात् कर सगठित करने का श्रेय आत्मा को ही है। जिस प्रकार एक धागे मे अनेक गुरियाँ पिरोयी होती हैं उसी प्रकार आत्मा मे भी अनेक अनुभव होते हैं। इस सश्लेषणात्मक सिद्धान्त (Synthesising Principle) को ग्रीन आध्यात्मिक (Spiritual) बतलाता है क्योंकि यह सम्बन्ध हमारे विचारो को पारस्परिक सम्बन्धो से जोड देता है।" इससे स्पष्ट है कि अनुभवकर्ता के रूप मे ग्रीन की आत्मा की कल्पना कॉण्ट की ज्ञानमय आत्मा की धारणा से मूलत. भिन्न नही है।

हीगल तथा फिक्टे की भाँति ग्रीन भी यह मानता है कि ससार और आत्मा मे एक ही तत्त्व व्याप्त है। यह तत्त्व बुद्धिगम्य होता है। इस बुद्धिगम्यता के कारण ही ज्ञान हो पाता है। यदि ससार की कोई वस्तु बुद्धिगम्य नहीं होगी तो उसे नही जाना जा सकता। इसलिए ग्रीन मानता है कि ससार की सभी वस्तुएँ तथा आत्मा बुद्धिगम्य होती हैं अथवा दूसरे शब्दो मे हमारे चारो ओर का ब्रह्माण्ड (The cosmos or the real universe around us) एक बुद्धिगम्य (Intelligible) अथवा आदर्श तथ्य (Ideal Reality) है, इसीलिए इसका स्वरूप (Nature) आध्यात्मिक (Spiritual) होना चाहिए। ब्रह्माण्ड का ज्ञान बुद्धि द्वारा हो सकता

है। मनुष्य विशेष का मस्तिष्क इस कार्य में समर्थ नहीं है, लेकिन जिस परम बुद्धि ने संसार की वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया है, वह मानव-बुद्धि के अनुरूप होती है। तभी तो हम वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को समझ पाने में समर्थ होते हैं।

इस परम विवेक या बुद्धि (The supreme intelligence) को ही जिसके द्वारा सांसारिक वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित होता है, परमात्मा का नाम दिया जाता है। ग्रीन ने इसे शाश्वत् चेतना (Eternal Consciousness) की संज्ञा दी है। चूंकि यह ब्रह्माण्ड की सत्ता है और इसको जाना जा सकता है, इसीलिए यह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त और इसकी चेतना सबमें विद्यमान रहती है। एकता और व्यवस्था स्थापित करने वाला यह एक क्रमबद्ध सिद्धान्त है। संसार की प्रत्येक वस्तु इसी शाश्वत् चेतना की ओर बढ़ने का प्रयास करती है। इस विषय में मेज (Metz) ने लिखा है—

"यह वह क्रमबद्ध सिद्धान्त है जो एकता और व्यवस्था स्थापित करता है, यह वह सम्पूर्णता है जिसमें प्रत्येक भाग को अपना युक्तियुक्त स्थान प्राप्त होता है। यह सार्वभौम अथवा विश्वव्यापी है जिसकी ओर बढ़ने का प्रत्येक विशिष्ट वस्तु प्रयास करती है, जिसकी उसे स्वयं को पूर्ण बनाने के लिए आवश्यकता है और जिसके अभाव में वह कुछ नहीं है। यह एक ऐसी दैविक सत्ता है जिसमें प्रत्येक वस्तु का निवास तथा अपनी सत्ता है।"[1]

ग्रीन की आत्मचेतना का कॉम्ट के आत्मज्ञान से पर्याप्त साम्य है तो उसकी शाश्वत् चेतना हीगल के परम विवेक (Absolute Reasons or Ideal) से मेल खाती है। हीगल के समान ग्रीन का विश्वास विवेक और आदर्श में ही है। हीगल के इस मत से भी ग्रीन सहमत है कि विश्व में समस्त समुदायों और संस्थाओं में आत्मा की अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ग्रीन के अनुसार संसार में तीन तत्त्वों की महत्ता है, मनुष्य तत्त्व या मानव-आत्मा (The Human Self), जगत्-तत्त्व (The World) और परम तत्त्व (The God)। इन तीनों तत्त्वों से मिलकर एक इकाई बनती है। इनका सम्बन्ध यौगिक न होकर सावयविक होता है, बल्कि इससे भी बढ़कर होता है। इसको स्पष्ट करते हुए मेज (Metz) का कथन है कि—

"वैयक्तिक अन्तरात्मा को सार्वभौमिक अन्तरात्मा का माध्यम बताया गया है और वह इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान करती है, पर यह योगदान किस प्रकार का होता है (अर्थात् दोनों के बीच में यह सम्पर्क कैसे स्थापित होता है) इस बारे में हमें केवल इतना ही ज्ञात है कि प्रत्येक शरीर के अन्तर्गत शाश्वत् अन्तरात्मा या चेतना विद्यमान रहती है।"

1 *Metz* : A Hundred Years of British Philosophy, p. 276-77.

ग्रीन का पूर्ण विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य मे शाश्वत् चेतना का निवास रहता है। यही विश्वास उसके राजनीतिक एव नैतिक विचारो का जन्मदाता है। मनुष्य की अपनी बुद्धि तथा चेतना भी होती है जो विश्व-चेतना के साथ मिलकर कार्य करती है। मनुष्य शाश्वत् चेतना मे विचरण करना और दैवी तत्त्वो का साक्षात्कार करना चाहता है। ग्रीन के अनुसार मनुष्य का कल्याण केवल सुखदायी विचारधारा को अपनाने से ही नही होता। वह केवल सुख की कामना नही करता, बल्कि वह परम सुख का इच्छुक होता है। वह नैतिक जीवन मे अनेक सघर्षो को पार करते हुए एक पूर्णता की ओर अग्रसर होता है और इस पूर्णता को प्राप्त करने की धुन मे भौतिक सुख को भी भूल जाता है। मनुष्य यदि अपने जीवन को वास्तव मे सुखी बनाना चाहता है तो उसे पूर्णता की प्राप्ति का लक्ष्य स्थिर करना चाहिए। स्पष्ट है कि ग्रीन सुखवाद (Hedonism) की धारणा का खण्डन कर नैतिकता का समर्थन करता है।

ग्रीन के अनुसार मनुष्य स्वतत्र शाश्वत् चेतना का अश है, अतः स्वाभाविक रूप से वह भी स्वतत्र है। शाश्वत् चेतना के कारण ही वह सामाजिक कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होता है। यह चेतना ही मानव-आत्मा मे पर-हित और सामाजिक कल्याण की भावना जाग्रत करती है। लेकिन मनुष्य का स्वय के प्रति भी कुछ कर्त्तव्य है। मानव-जीवन का एक लक्ष्य यह भी है कि वह अपना कल्याण करे। ग्रीन यह बतलाना चाहता है कि मनुष्य के अपने कल्याण मे समाज का कल्याण भी निहित है। यही धारणा ग्रीन और हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारो मे भिन्नता उत्पन्न करती है। ग्रीन के अनुसार राज्य साध्य (End) न होकर साधन (Means) है जबकि हीगल की दृष्टि मे राज्य स्वय मे एक साध्य है। ग्रीन ने व्यक्ति के मूल्य को स्वीकार करते हुए राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का विकास माना है। व्यक्ति को गौरवान्वित करने के कारण उसके विचार कॉण्ट और अरस्तू से मिलते हैं। ग्रीन मनुष्य का यह नैतिक कर्त्तव्य मानता है कि वह दूसरो के व्यक्तित्व को सम्मान दे अर्थात् स्वय के हित के लिए दूसरो के हितो पर कुठाराघात न करे। शाश्वत् चेतना का अश होने के कारण उसे कभी अनैतिक कार्यों मे प्रवृत्त नही होना चाहिए। उसके निजी मूल्य की माँग है कि वह समता और भ्रातृत्व की भावना का अनुसरण करे। इन्ही विचारो से प्रभावित होकर ग्रीन ने राज्य के कार्यों को नकारात्मक रूप में स्वीकार किया है। वह चाहता है कि राज्य मनुष्य के नैतिक जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओ को दूर कर उसे उचित और श्रेष्ठ कार्यों के लिए अवसर प्रदान करे। राज्य कानूनो के बल पर मनुष्यो को नैतिक नही बना सकता। उसका कार्य तो नैतिक जीवन के लिए आवश्यक वातावरण तैयार करना है अर्थात् ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न करना है जिनके अन्तर्गत नागरिक अपने नैतिक विकास के लिए अग्रसर हो सकें।

ग्रीन के उपर्युक्त विचार का आशय राज्य को व्यक्ति के लिए अनावश्यक ठहराना नही है, प्रत्युत् वह तो राज्य को व्यक्ति के लिए आवश्यक मानता है क्योंकि

उनके अभाव मे व्यक्ति उच्च नैतिकता प्राप्त नही कर सकता। राज्य अन्य सभी संस्थाओं मे श्रेष्ठतम है और नैतिक जीवनयापन के लिए समुचित परिस्थितियाँ उत्पन्न करने मे परम सहायक है। ग्रीन के ये विचार हीगल के समान हैं। लेकिन व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्त्व देने वाली उसकी धारणा अवश्य ही हीगल के विपरीत है। यह विचार इंग्लैण्ड के प्रभाव के कारण बन गया प्रतीत होता है। ग्रीन के नैतिक आदर्श के सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि नैतिक आदर्श आत्मानुभूति का विषय होने पर भी सामाजिक होता है। उसकी यही धारणा आचारशास्त्र को राजनीतिशास्त्र में समाविष्ट करती है।

ग्रीन का स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त
(Green's Theory of Freedom)

ग्रीन ने भी रूसो एव काँण्ट की भाँति अपने सम्पूर्ण व्यावहारिक दर्शन को 'स्वतन्त्र नैतिक इच्छा' पर आधारित किया है। उसने स्वतन्त्रता को महानतम् वरदान माना है जिसकी प्राप्ति एव अनुभूति ही नागरिको के सम्पूर्ण प्रयत्नो का अन्तिम ध्येय होना चाहिए। ग्रीन के अनुसार मानव का चरम लक्ष्य परमात्मा मे आत्म-दर्शन करना है। जब मनुष्य अपनी आत्मा को पहचानने का प्रयत्न करते हैं तो वे परमात्म चेतना की अवस्था मे प्रवेश करते हैं और इस अवस्था मे उनको यह बोध होता है कि हम सब समान स्वभाव वाले हैं, हमारी सबकी समान शुभेच्छाएँ हैं और सबका एक ही लक्ष्य है, परमात्मा मे आत्म-दर्शन। इस प्रकार मानव-चेतना अर्थात् आत्मा को सामाजिक कल्याण का बोध होता है जिसमे स्वय उसका भी कल्याण निहित है। जब वह इस सामाजिक-कल्याण की पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो उसको आत्म-बोध हो जाता है। इस आत्म-बोध के निमित्त मानव-चेतना स्वतन्त्रता चाहती है। यह स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है—प्रथम, आन्तरिक स्वतन्त्रता जिसका अर्थ है अपनी मनोवृत्तियो का वश मे रखना जो आचारशास्त्र का विषय है; द्वितीय, बाह्य स्वतन्त्रता जिसका अर्थ ऐसी बाह्य परिस्थितियो का होना जिनमे व्यक्ति निर्बाध रूप से अपने वास्तविक हित के निमित्त क्रियाशील हो सकें। यह राज्य शास्त्र का विषय है। ग्रीन के मानव-चेतना सम्बन्धी विचार नैतिक और आध्यात्मिक हैं। स्वतन्त्रता सिद्धान्त राजनीतिक होने के कारण हमारे अध्ययन का विषय है।

ग्रीन से पूर्व की व्यवस्था कॉण्ट और हीगल द्वारा की जा चुकी स्वतन्त्रता थी। कॉण्ट ने स्वतन्त्रता को स्वय निर्मित सर्वमान्य कर्त्तव्यो का पालन बताया था और कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा के सर्वमान्य आदेशो का पालन करते हुए स्वय को साध्य बना लेना चाहिए। हीगल ने इस व्याख्या को नकारात्मक, सीमित और आत्मगत माना क्योंकि उसके अनुसार कर्त्तव्य का पालन किए बिना व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त नही हो सकती। यह स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति को अपने-आप मे साध्य बनाने के कारण सीमित है, चेतना मे निहित होने के कारण आत्मगत है। हीगल ने स्वतन्त्रता को सकारात्मक और बाह्य बतलाया जिसे राज्य मे रहकर और उसके साथ पूर्ण एकता स्थापित करके ही प्राप्त किया जा सकता है, जबकि ग्रीन ने यहा

कि "स्वतन्त्रता किसी कार्य के करने या उपभोग करने की क्षमता की शक्ति (A passive power of capacity of doing or enjoying something) है।" ग्रीन के अनुसार व्यक्ति के नैतिक जीवन का लक्ष्य नैतिक कार्यों को सम्पन्न करना है और राज्य का कर्त्तव्य व्यक्ति के आत्मनिर्णय की स्वतन्त्रता तथा आदर्श चरित्र के निर्माण के मार्ग मे बाधा उत्पन्न न कर उसके व्यक्तित्व के विकास की बाधाओं को दूर करना है।

ग्रीन ने जिस स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है उसके प्रधान लक्षण ये है—

1. स्वतन्त्रता करने योग्य कार्यों की ही होती है—ग्रीन के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए बार्कर का कथन है कि "मानव-चेतना मे स्वतन्त्रता निहित है, स्वतन्त्रता मे अधिकार निहित हैं और अधिकारो के लिए राज्य आवश्यक है।"[1] ग्रीन का विश्वास है कि स्वतन्त्रता का अर्थ केवल शुभ इच्छा की स्वतन्त्रता ही हो सकती है। वह केवल उन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की स्वतन्त्रता हो सकती है जो स्वय ऐसी इच्छा प्रस्तुत करती है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वतन्त्रता न तो केवल प्रतिबन्धो का अभाव ही है और न ही इसका अर्थ नियन्त्रण अथवा अनुशासन से मुक्ति प्राप्त करना मात्र माना जा सकता है। जिस तरह कुरूपता का अभाव सौंदर्य नही होता, उसी तरह प्रतिबन्धो का अभाव स्वतन्त्रता नही कहा जा सकता। हम उसे भी स्वतन्त्रता नही कह सकते जब कोई व्यक्ति अथवा वर्ग दूसरो की स्वतन्त्रता की कीमत पर खुद की स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जिसके कार्य समाज के दूसरे लोगों से सम्बन्धित है। अत स्वतन्त्रता इसी बात मे निहित है कि हमे उन्हीं कार्यों को करने की छूट हो जिनके द्वारा हम उस सुख अथवा वस्तु को प्राप्त कर सकें जो सामाजिक और नैतिक दृष्टि-कोण से प्राप्त करने योग्य हो तथा जिसकी प्राप्ति हम समाज के अन्य व्यक्तियो के साथ मिलकर करें। हमे कुछ बुरे कार्य करने से भी क्षणिक सुख मिल सकता है, लेकिन इन कार्यों को करने की छूट देना स्वतन्त्रता नही कही जा सकती। ये कार्य आत्मा के विकास मे बाधक होते हैं क्योकि ये शुभ-इच्छा से उत्पन्न नही होते। अत ऐसे कार्यों को न करने देना स्वतन्त्रता है जबकि करने देना परतन्त्रता होगी। वास्तविक स्वतन्त्रता तो उन कार्यों को करने या आनन्द प्राप्त करने की सकारात्मक शक्ति है जो किए जाने अथवा आनन्द-लाभ करने योग्य हो।

बार्कर ने ग्रीन द्वारा अभिव्यक्त इस स्वतन्त्रता के दो लक्षणों का उल्लेख किया है—

(क) सकारात्मक या यथार्थ स्वतन्त्रता (Positive Liberty)—सर्वप्रथम स्वतन्त्रता सकारात्मक होती है। यह हस्तक्षेप का अभाव मात्र नहीं है। इसका सच्चा अर्थ है वांछित कार्यों को करने की सुविधा ताकि व्यक्ति अपना नैतिक विकास कर सकने मे सक्षम हो। ग्रीन से पूर्व उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी विचारक राज्य के कानूनो

1 *Barker*: Political Thought in England, p. 33

तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को परस्पर विरोधी मानते थे। उनका कहना था कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने वाले राजकीय कानून समाप्त कर दिए जाने चाहिए। चूंकि इन विचारों का बल प्रतिबन्धों अथवा कानूनों के अभाव को दूर करने पर था, अतः ऐसी स्वतन्त्रता को 'नकारात्मक स्वतन्त्रता' कहा गया। ग्रीन ने स्वतन्त्रता की इस धारणा को स्वीकार न कर यह स्वीकार किया कि राज्य की शक्ति का प्रयोग व्यक्तियों की योग्यता और उनके गुणों के विकास के लिए किया जा सकता है, अतः व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य में कोई विरोध नहीं होता। राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पोषक मानना चाहिए। यदि प्रत्येक कार्य को करने की छूट दे दी जाए तो स्वतन्त्रता उच्छृंखलता और स्वच्छन्दता में परिणत हो जाएगी। स्वतन्त्रता आत्म-सन्तुष्टि में ही निहित नहीं है। स्वतन्त्रता और आत्म-सन्तुष्टि दोनों एकदम भिन्न हैं। स्वतन्त्रता बन्धन का अभाव नहीं है, वह तो राज्य के नियन्त्रण में ही कायम रह सकती है। कानून व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का भक्षक नहीं बल्कि रक्षक है, *केवल वांछनीय यह है कि इस दृष्टि से राज्य का हस्तक्षेप कम से कम हो।* स्पष्ट है कि ग्रीन की स्वतन्त्रता आत्मपरक एवं आन्तरिक होने के साथ-साथ वास्तविक और सकारात्मक भी है। स्वतन्त्रता एक साधन है और सामाजिक कल्याण में योग देने वाली सबकी शक्तियों को मुक्त करना साध्य है। राज्य की उचित सामाजिक विधियाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करती बल्कि उसे अपनी शक्ति के प्रयोग की सुविधा देकर स्वतन्त्रता प्रदान करती है। ग्रीन के ही शब्दों में, "हमारा आधुनिक कानून, जो श्रम, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से सम्बन्ध रखता है और जिसके कारण हमारी स्वतन्त्रता में अधिकाधिक हस्तक्षेप प्रतीत होता है, इस आधार पर न्यायोचित है कि राज्य का कार्य यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से नैतिक भलाई में वृद्धि करना नहीं है, तथापि उन परिस्थितियों का निर्माण करना है जिनके बिना मानव-शक्तियों का स्वतन्त्र रूप से कार्य करना असम्भव है।" राज्य को चाहिए कि वह उत्तम जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करे, (Hindering hinderances to good life)।

(ख) निश्चयात्मक स्वतन्त्रता (Determinate Liberty)—स्वतन्त्रता कार्य करने का अवसर प्रदान करती है, लेकिन इन कार्यों का स्वरूप निश्चयात्मक होता है अर्थात् निश्चित कार्य करने की स्वतन्त्रता—ऐसे कार्य जो किए जाने योग्य हैं, न कि प्रत्येक कार्य। कार्यों का अभिप्राय यह नहीं होता कि व्यक्ति अच्छे-बुरे सभी कार्य करने के लिए स्वतन्त्र हैं। जुआ खेलना, शराब पीना, चोरी करना आदि के लिए छूट देना स्वतन्त्रता नहीं है। एक व्यक्ति को पतन की ओर ले जाने वाले कार्यों को करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। केवल उचित कार्यों को, ऐसे कार्यों का जो हमारे आत्म-बोध में सहायक हों, करने की स्वतन्त्रता हो सकती है। ऐसे कार्य करने की एक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दूसरे किसी व्यक्ति की ऐसी ही स्वतन्त्रता से कोई विरोध नहीं हो सकता क्योंकि सबका लक्ष्य एक ही है। अतः यह स्वतन्त्रता दूसरों के साथ

Lancaster. Masters of Political Thought, p. 205.

मिलकर कार्य करने की स्वतन्त्रता है। इस प्रकार ग्रीन के अनुसार—"स्वतन्त्रता दूसरो के साथ मिलकर करने योग्य कामो को करने का निश्चयात्मक अधिकार है।"[9]

2. स्वतन्त्रता मानव-चेतना की एक विशेषता—ग्रीन के अनुसार मनुष्य की आत्म-चेतना के विकास के लिए स्वतन्त्रता का होना अनिवार्य है। मानव-चेतना विश्व-चेतना का एक अंश है और विश्व चेतना का सार स्वतन्त्रता है, इसलिए आत्म-चेतना भी स्वतन्त्र होती है। यह मानव-चेतना स्वतन्त्रता के लिए राज्य की मांग करती है। बार्कर के शब्दो मे "मानव-चेतना स्वतन्त्रता चाहती है। स्वतन्त्रता में अधिकार निहित और अधिकार राज्य की माँग करते हैं।"[1]

3. स्वतन्त्रता मे अधिकार निहित हैं—स्वतन्त्रता की भावना स्वय अधिकार युक्त होती है। एक व्यक्ति जिस कार्य को अपने लिए अच्छा समझता है, अन्य मनुष्य भी उसे अपनी पूर्णता के लिए उपयोगी समझते हैं और इस तरह सम्पूर्ण समाज ही उन्हे अपने विकास मे सहायक समझने लगता है जिसका परिणाम यह होता है कि सामाजिकता की भावना पैदा होती है। "एक व्यक्ति का अपनी भलाई की आकांक्षा के साथ अन्य व्यक्तियो की भलाई की कामना करना समाज की भलाई की इच्छा होती है। ऐसा सम्बन्ध समाज की रचना करता है जिसका अर्थ अधिकार होता है।" इस तरह स्वतन्त्रता मे अधिकार निहित होते हैं।

स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह कदापि नही होता कि कोई व्यक्ति प्राप्त अधिकारो का दुरुपयोग करे। स्वतन्त्रता शब्द अपने आप मे भी स्वतन्त्र है और दूसरो को भी उतनी स्वतन्त्रता प्रदान करता है जितना वह स्वय स्वतन्त्र है स्वतन्त्रता का वास्तविक उपभोग तभी किया जा सकता है जब वह अधिकारयुक्त हो। अधिकार विहीन स्वतन्त्रता उच्छृखलता मे परिणत हो जाती है। यदि हमे व्यक्तित्व की उन्नति के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की अपेक्षा है तो यह स्वाभाविक है कि हमे जीवन का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, स्वतन्त्रतापूर्वक भ्रमण का अधिकार, व्यवसाय, शिक्षा एव कार्य का अधिकार आदि प्राप्त हो, किन्तु इसका अर्थ यह नही होता कि हम अपने मार्ग मे आने वाली बाधाओ को इस रूप मे हटाने को प्रयत्नशील हो जाएँ जिससे दूसरे लोगो के अधिकारो का हनन हो। इस प्रकार स्वतन्त्रता के साथ अधिकार जुडा होता है। स्वतन्त्रता शब्द मे ही अधिकार निहित होते हैं। अधिकार रहित स्वतन्त्रता की कल्पना करना मूर्खो के ससार मे रहना है।

कॉण्ट, हीगल और ग्रीन

कॉण्ट की भाँति ग्रीन की मान्यता है कि ससार मे निरपेक्ष सद्भावना ही श्रेष्ठ होती है। मनुष्य के दैनिक जीवन का लक्ष्य नैतिक कार्य करना है, न कि सांसारिक भोग-विलास मे फँसना। व्यक्तित्व का विकास नैतिक कार्यों के करने से ही हो सकता है, अत: स्वतन्त्रता केवल नैतिक कार्यों के सपादन मे ही निहित हो सकती है। अनैतिक कार्य करने की छूट स्वतन्त्रता न होकर स्वेच्छाचारिता है। ग्रीन की नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा कॉण्ट से मिलती-जुलती अवश्य है, किन्तु एक बात

1-2 *Barker*: op cit., p 24

में उससे बहुत भिन्न है। कॉण्ट ने कहा था कि नैतिक स्वतन्त्रता मनुष्य के अन्तर्जगत में ही निवास करती है जबकि ग्रीन की मान्यता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अनुभूति बाह्य जगत में ही हो सकती है। कॉण्ट का विश्वास था कि राज्य से पृथक् रहकर अन्तःकरण के आदेशों के अनुसार कार्य करने में ही मनुष्य स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है जबकि ग्रीन के अनुसार राज्य के अभाव में स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है, क्योंकि नैतिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण राज्य के कानूनों द्वारा ही सम्भव है। स्पष्ट है कि कॉण्ट की स्वतन्त्रता सीमित और भावुकतापूर्ण है जबकि ग्रीन की स्वतन्त्रता वस्तु-प्रधान और विधेयात्मक है।

हीगल और ग्रीन में भी इस विषय में समानता और विभिन्नता दोनों हैं। ग्रीन हीगल से सहमति प्रकट कर कहता है कि स्वतन्त्रता राज्य में ही सम्भव है और व्यक्ति के हित तथा समाज के हित में परस्पर कोई विरोध नहीं है पर हीगल का कहना है कि स्वतन्त्रता तथा राजाज्ञा को पर्यायवाची नहीं माना जाना चाहिए। राज्य का प्रत्येक कार्य और कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अनिवार्यतः वृद्धि करने वाला नहीं होता। ग्रीन का विचार है कि हीगल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी आदर्श की पूर्ति केवल आदर्श-राज्य में ही हो सकती है, यथार्थ राज्य में नहीं। ग्रीन की मान्यता है कि आत्मानुभूति के सिद्धान्त और राज्य द्वारा विवेक के आधार पर निर्मित कानून समान होते हैं, क्योंकि दोनों की विश्व-चेतना के अंग हैं। व्यक्ति और राज्य में मूलतः कोई विरोध नहीं है किन्तु राज्य यदि अपने कर्त्तव्यों से भ्रष्ट हो जाता है तो व्यक्ति को अधिकार है कि वह उसकी आज्ञा का उल्लंघन कर दे। हीगल ग्रीन के इस विचार से सहमत नहीं है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता तथा राजाज्ञा का चुपचाप पालन एकरूप समझा जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में ग्रीन ने हीगल और कॉण्ट दोनों के बीच का मार्ग अपनाया है। ग्रीन ने एक ओर तो कॉण्ट के औपचारिकतावाद एवं भावुकतावाद को छोड़ा है तथा दूसरी ओर हीगल पर लगाए जाने वाले इस आरोप से स्वयं को बचाया है कि उसने स्वतन्त्रता को राजाज्ञा-पालन से संयुक्त करके उसे निरर्थक बना दिया है।

ग्रीन की अधिकार सम्बन्धी धारणा
(Green's Conception of Rights)

ग्रीन का विश्वास है कि राज्य द्वारा व्यक्तिगत सदस्यों को आत्मानुभूति (Self-realization) में सहायता पहुँचाने का सर्वोत्तम साधन यह है कि उनके लिए वह निष्पक्ष और सार्वभौम अधिकारों की व्यवस्था करे। अधिकार मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियाँ हैं। प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का सर्वोच्च अधिकार यह है कि वह स्वयं वैसा बन सके जैसा मनुष्य को होना चाहिए, अपने अस्तित्व के विधान को पूरा करते हुए उसे जो कुछ बनना है, वह बन सके। अन्य सभी अधिकार इसी अधिकार से प्राप्त होते हैं। समाज के पूर्व व्यवस्थित अधिकारों के अर्थ में प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना एक अर्थहीन धारणा है, पर नैतिक अथवा

आदर्श अधिकारों के रूप में प्राकृतिक अधिकार सारपूर्ण हैं। 'जिस उद्देश्य की पूर्ति मानव-समाज का लक्ष्य है, उसके लिए यह आवश्यक है। अधिकारों का आधार केवल वैधानिक स्वीकृति नहीं है। यह सार्वजनिक नैतिक चेतना है। अधिकार विधान सापेक्ष न होकर नैतिकता से सम्बद्ध होते हैं। मनुष्य के नैतिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए अधिकार आवश्यक शर्त है।"[1]

ग्रीन की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उचित कार्य करने की स्वतन्त्रता चाहता है और इस दृष्टि से उसे कुछ अवस्थाओं की अपेक्षा होती है। इन अवस्थाओं और सुविधाओं के द्वारा ही यह आत्मानुभूति प्राप्त कर सकता है, आत्मबोध की अवस्था में पहुँच सकता है। ये परिस्थितियाँ और सुविधाएँ ही अधिकार हैं। इन अधिकारों की सृष्टि तब होती है जब प्रथम तो व्यक्ति एक नैतिक प्राणी होने के नाते अपना नैतिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए सुविधाओं की माँग करता है और साथ ही विवेकशील होने के कारण यह भी स्वीकार करता है कि जिस तरह उसे इन सुविधाओं की आवश्यकता है, उसी तरह दूसरे लोगों को भी उनकी आवश्यकता है और उन्हें भी वे प्राप्त होनी चाहिए, तथा द्वितीय, जब समाज इन माँगों को स्वीकार कर लेता है। इस तरह अधिकार का निर्माण दो तत्त्वों से मिलकर होता है—(1) व्यक्ति की माँग, और (2) समाज की स्वीकृति। इनमें से किसी भी एक तत्त्व के न होने पर अधिकार का अस्तित्व नहीं हो सकता। सेबाइन ने ग्रीन के इस विचार को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—

"उसका (ग्रीन का) कहना था कि अधिकार में दो तत्त्व होते हैं। सर्वप्रथम; यह कार्य की स्वतन्त्रता के प्रति एक प्रकार का दावा होता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह व्यक्ति की इस प्रवृत्ति का आग्रह होता है कि व्यक्ति अपनी आन्तरिक शक्तियों और क्षमताओं का विकास करना चाहता है। उसका तर्क था कि सुखवादी दर्शन मूलतः झूठा होता है क्योंकि मानव-प्रकृति ऐसी इच्छाओं और प्रवृत्तियों की प्रतीक होती है जो सुख की भावना से प्रेरित न होकर ठोस तुष्टि की भावना से कार्य की ओर उन्मुख होती है, किन्तु यह दावा नैतिक रूप से केवल इच्छा के आधार पर ही सार्थक नहीं है। यह तो विवेकपूर्ण इच्छा के आधार पर ही सार्थक होता है। यह विवेकपूर्ण इच्छा दूसरे व्यक्तियों के दावों को भी अपने ध्यान में रखती है। उसकी सार्थकता को प्रमाणित करने वाला तत्त्व यह तथ्य है कि सामान्य हित इस प्रकार की कार्य-स्वतन्त्रता की अनुमति देता है। यह भाग लेने और अंशदान देने का दावा है। परिणामतः अधिकार में दूसरा तत्त्व वह सामान्य स्वीकृति है कि यह दावा आवश्यक होता है तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता वास्तव में समान हित के प्रति योगदान करती है। इसलिए ग्रीन के अनुसार नैतिक समुदाय वह है जिसमें व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता के दावे को सामाजिक हितों को ध्यान में रखकर दायित्वपूर्ण ढंग से सीमित

1 *Barker* : op. cit., p. 17.

कर देता है और जिसमे समुदाय उसके दावे का इसलिए समर्थन करता है कि उसके प्रयास और स्वतन्त्रता के द्वारा ही सामान्य हित की सिद्धि हो सकती है।"[1]

स्वय ग्रीन के शब्दो मे—

"किसी भी व्यक्ति को समाज-कल्याण को महत्त्वपूर्ण मानने वाले समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त अधिकारो के अलावा दूसरे कोई अधिकार प्राप्त नहीं हैं। प्राकृतिक अधिकार अर्थात् प्राकृतिक स्थिति मे अधिकार, व्यवस्थित अधिकारो के विपरीत हैं क्योकि प्राकृतिक स्थिति व्यवस्थित समाज की स्थिति नही है। समाज के सदस्यो द्वारा सार्वजनिक कल्याण की भावना के अभाव मे अधिकार का अस्तित्व नही हो सकता।"

"प्रत्येक सदाचारी व्यक्ति अधिकार प्राप्त करने का अधिकारी है अर्थात् समाज के दूसरे सदस्य उसके अधिकारो को मान्यता देते हैं क्योकि एक सदस्य द्वारा प्राप्त अधिकारो के समान ही अन्य सदस्यो को भी वे अधिकार प्राप्त होते हैं। व्यक्ति अधिकार प्राप्ति के योग्य है—इस कथन का आशय यह है कि उसे अनिवार्य रूप से अधिकार मिलने चाहिए। अधिकारो के कारण ही व्यक्तियों की शक्तियो का इस प्रकार विकास सम्भव है कि वे जन-साधारण के हित को अपना हित समझें।"

वास्तव मे ग्रीन के नीतिशास्त्र का मूल उदारवादी तत्त्व यह है कि वह ऐसे किसी भी सामाजिक हित को अस्वीकार कर देता है जो उसका समर्थन करने वाले व्यक्तियो से आत्म-त्याग की माँग करता है। समुदाय का दायित्व और अधिकार व्यक्ति के दायित्व और अधिकार से सम्बन्धित होता है।

ग्रीन की अधिकार सम्बन्धी धारणा से स्पष्ट है कि "केवल ऐसे मनुष्यो के लिए ही अधिकारो की स्वीकृति हो सकती है जो नैतिक दृष्टि से मनुष्य हो। एक सच्चा नैतिक व्यक्ति अधिकार प्राप्त करके सार्वजनिक कल्याण को अपना कल्याण बना लेता है। अधिकारो का नियम पारस्परिक स्वीकृति द्वारा होना चाहिए।"

जब ग्रीन समाज की स्वीकृति की चर्चा करता है तो उसका अर्थ समाज की नैतिक चेतना की स्वीकृति होना है, राज्य या कानून की स्वीकृति नहीं। ऐसे अधिकार जिन्हें समाज की नैतिक चेतना स्वीकार करती है, लेकिन जिन्हे राज्य की स्वीकृति प्राप्त नही है, प्राकृतिक अधिकार कहलाते हैं। वे प्राकृतिक इस अर्थ मे नहीं हैं कि मनुष्य को वे प्राकृतिक अवस्था मे प्राप्त थे जैसा कि अनुबन्ध-सिद्धान्त के प्रतिपादकों का मत है। सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त (Socal Contract Theory) की प्राकृतिक अधिकारो की धारणा ग्रीन के लिए एक निरर्थक प्रलाप है। कोकर के अनुसार "ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त का अर्थात् इस कल्पना का खण्डन किया है कि मनुष्य कार्य की कुछ स्वतन्त्रताओ तथा अपने उपयोग की वस्तुओ मे कुछ स्थापित स्वार्थों को लेकर जन्म लेता है अथवा 'समाज' मे प्रवेश करने से पूर्व की अवस्था मे उसकी कुछ ऐसी स्वतन्त्रताएँ और कुछ ऐसे दावे थे जो संगठित समाज मे प्रवेश करने के बाद भी कानूनी नैतिक अधिकारो के रूप मे कायम हैं तथा

1 सेबाइन . राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 685.

समाज मे मनुष्य के अधिकार उसी सीमा तक वैध या उचित हैं जिस सीमा तक वे समाज से पूर्व की अवस्था मे प्राकृतिक अधिकारो के अनुकूल समझे जाते थे। ग्रीन इस बात को स्वीकार नही करता कि समाज से पूर्व के और समाज से स्वतन्त्र कोई अधिकार हैं।"[1]

ग्रीन के मतानुसार अधिकार प्राकृतिक इस अर्थ मे हैं कि उनके बिना मनुष्य की पूर्ण उन्नति अर्थात् आत्मानुभूति, जो उसकी नैतिक प्रकृति की अनिवार्य माँग है, सम्भव नहीं है। ये अधिकार नैतिक हैं क्योकि इनकी आवश्यकता नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए होती है। जब इन अधिकारो को राज्य की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उन्हें कानून का सरक्षण मिल जाता है तो वे कानूनी अधिकारो का रूप ग्रहण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, हमारा समाज यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन के लिए काम मिलना चाहिए, लेकिन जब तक यह माँग राज्य द्वारा स्वीकार नहीं की जाती तब तक वह हमारा प्राकृतिक अर्थात् नैतिक अधिकार ही रहेगा, कानूनी अधिकार नही कहला सकता। इस तरह ग्रीन 'प्राकृतिक अधिकार' शब्दो की दूसरी व्याख्या देता है। ये अधिकार (स्वाभाविक) इसलिए हैं क्योकि वे उस उद्देश्य के लिए आवश्यक तथा अपरिहार्य हैं जो मनुष्य के लिए स्वाभाविक हैं।

प्रो सेबाइन का कथन है कि "ग्रीन के लिए व्यक्तिगत दावे और सामाजिक स्वीकृति की यह पारस्परिक अन्तर्निर्भरता एक न्यायिक सकल्पना नही, प्रत्युत् नैतिक धारणा थी। वह अधिकारो के सम्बन्ध मे बेन्थम की इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करता कि वे 'विधि' (कानून) की सृष्टि हैं।" इसका कारण ग्रीन का यह विश्वास था कि "उदारवादी शासन केवल ऐसे समाज मे ही सम्भव हो सकता है जहाँ विधान और सार्वजनिक नैतिकता लोकमत के प्रति निरन्तर सजग हो। यह लोकमत प्रबुद्ध भी होना चाहिए और नैतिक दृष्टि से सम्वेदनपूर्ण भी। उसके विचार से प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त मे यही यथार्थ थी।"[2]

ग्रीन के मतानुसार अधिकार स्वाभाविक (Natural) उस अर्थ मे हैं जिस अर्थ मे अरस्तू राज्य को स्वाभाविक समझता था। उन्हे आदर्श अधिकार कहना अधिक श्रेष्ठ होगा। इन अधिकारो को सद्भावना के आधार पर सुसगठित समाज द्वारा अपने सदस्यो को प्रदान करना चाहिए और वह प्रदान करेगा भी। ये आदर्श अधिकार समय विशेष पर राज्य द्वारा स्वीकृत यथार्थ अधिकारो (Actual Rights) की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक व्यापक और विशद् हैं क्योकि वे यथार्थ अधिकारो के अग्रगामी हैं। बार्कर (Barker) के अनुसार, "किसी समाज के वास्तविक कानून द्वारा प्रतिष्ठित यथार्थ अधिकार एक आदर्श प्रणाली के कभी अनुकूल नहीं होते।"[3] स्वाभाविक या आदर्श अधिकार (Natural or Ideal Rights) हमारे

1 *Coker*: Recent Political Thought, p. 429.
2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 687.
3 *Barker* : Political Thought in England.

समक्ष वह मापदण्ड प्रस्तुत करते है जिसकी कसौटी पर यथार्थ अधिकारो को परखा जा सकता है। वे एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करते हैं कि यथार्थ अधिकार उनके अनुकूल हों। आदर्श अधिकार कानूनी अधिकारो से इसलिए भी भिन्न हैं कि उनका नैतिकता से निकट सम्बन्ध होता है। ग्रीन जब समाज द्वारा अधिकारो की मान्यता की बात करता है तो उसका अभिप्राय समाज की नैतिक भावना द्वारा मान्यता से है, न कि कानून द्वारा मान्यता से।

ग्रीन यह नही कहता कि अधिकार का कानून से कोई सम्बन्ध नही है। "समाज द्वारा क्रियान्वित होने के लिए उसका कानूनी रूप ग्रहण करना आवश्यक है। प्रत्येक समाज को अपने कानूनो को अधिकाधिक आदर्श अधिकारो के अनुकूल बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। एक समाज की प्रगति का मापदण्ड यह है कि उसके कानून आदर्श अधिकारो के कहां तक अनुकूल हैं।" अधिकारो की प्राप्ति के लिए राज्य की आवश्यकता है। कुछ सामाजिक बन्धन स्वीकार करने पर ही अधिकार प्राप्त होते हैं। अधिकारो के दुरुपयोग के लिए एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जो यह देखे कि कही व्यक्ति अपने अधिकारो की आड मे दूसरो के अधिकारो का अतिक्रमण तो नही कर रहे हैं। इसीलिए अधिकारो की प्राप्ति के साथ ही राज्य की आवश्यकता भी हमारे सामने उपस्थित है जिसके बिना अधिकारो का मूल्य नही रह जाता। अधिकारो का उपभोग तभी हो सकता है जब राज्य उनकी रक्षा करे और उनका उल्लंघन करने वालो को दण्ड दे। व्यक्ति प्राय: अपनी अविवेकपूर्ण तात्कालिक इच्छा के प्रभाव मे काम करते हैं और उचित-अनुचित का ध्यान न रखकर दूसरो का अहित करने लगते हैं। ऐसी अवस्था मे किसी ऐसी निष्पक्ष सस्था का होना आवश्यक है जो सबके अधिकारो की रक्षा का दायित्व वहन करे। ऐसी सस्था राज्य है जो सबके लिए निष्पक्षता के साथ समान अधिकारो की व्यवस्था करके और उनको कार्यरूप मे परिणत कर व्यक्तियो को अपने लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायता करता है। समाज द्वारा व्यक्ति की माग को मान्यता प्रदान करने के बाद उसे क्रियान्वित कराने वाली एक शक्ति की आवश्यकता को राज्य पूरा करता है। यह नही भूलना चाहिए कि जब हम अधिकारो की बात करते है तो 'कर्त्तव्य' शब्द स्वत. ही सम्मिलित हो जाता है। अधिकार और कर्त्तव्य एक नदी के दो किनारे है। जो एक व्यक्ति का अधिकार है वही दूसरे का कर्त्तव्य है। दोनो परस्पर अन्योन्याश्रित तथा एक दूसरे के पूरक हैं। यदि हम समाज के दूसरे सदस्यो से इस बात की आशा करते हैं कि हमे अपने अधिकारो का उपभोग शान्तिपूर्वक करने दें तो हमारा भी कर्त्तव्य है कि उन व्यक्तियो के अधिकारो की रक्षा मे हम सहायक सिद्ध हों। किन्तु अधिकारो और कर्त्तव्यो की यह व्यवस्था तभी चल सकती है जब उन पर नियन्त्रण रखने वाली एक सर्वोपरि शक्ति विद्यमान हो। इस प्रकार की व्यवस्था ही हमारा सही पथ-प्रदर्शन कर सकती है और हमे आपसी टकराव से बचा सकती है। यह शक्ति स्वभावतः राज्य ही हो सकता है। बिना सगठित समाज और राज्य के हम अपने अधिकारो की कल्पना भी नहीं कर सकते। स्वतन्त्रता को

अधिकारविहीन होकर उच्छृंखलता मे परिणत होने से रोकने वाली शक्ति राज्य ही है।

ग्रीन जहाँ अधिकारो की क्रियान्विति के लिए राज्य के उचित हस्तक्षेप की बात करता है, वहाँ व्यक्तियो को कुछ दशाओ मे राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार भी देता है। यदि राज्य उस उच्च नैतिक उद्देश्य (अपने नागरिको की आत्मोन्नति को सम्भव बनाना) की पूर्ति नही करता जिसके लिए वह विद्यमान है, तो वह नागरिकों की राज्य-भक्ति का दावा नही कर सकता। ऐसी दशा मे नागरिको को राज्य का विरोध या कम से कम उस सरकार के आदेशो का विरोध करने का अधिकार है किन्तु "ग्रीन ने यह चेतावनी दी है कि राज्य के विरुद्ध अधिकारो का दावा बहुत सोच-विचार के बाद किया जाना चाहिए। नागरिक उसके विरुद्ध ऐसे किन्ही अधिकारों का दावा नहीं कर सकते जो कल्पित राज्य-हीन प्रकृति की अवस्था या किसी दूसरी कल्पित अवस्था मे विद्यमान थे जिसमे ऐसा माना जाता था कि व्यक्ति एक दूसरे का विचार किए बिना काम कर सकते थे; और न वह प्रत्येक परम्परागत विशेषाधिकार या सत्ता को ही ऐसा अधिकार या ऐसी स्वतन्त्रता मान सकते हैं जिसे वे भोगते आ रहे हैं और आगे भी भोगते रहना चाहते हैं। जहाँ नवीन अवस्थाएँ उसके कार्यों के नियमन के लिए नूतन आवश्यकताओ को जन्म देती हैं, वहाँ इस प्रकार के नियमन के विरुद्ध परम्परागत अधिकार का तर्क नहीं दिया जा सकता और न इसका निर्णय करने के लिए अपने व्यक्तिगत विचार को ही सर्वोच्च महत्त्व दिया जा सकता है कि किस मामले मे आदेश-पालन उसका कर्त्तव्य है और किस मामले मे उसको उल्लघन करने का अधिकार है। किसी को कानून का प्रतिरोध करने का इस आधार पर अधिकार नही है कि वह कानून उसे कोई ऐसा काम करने के लिए बाध्य करता है जो उसकी इच्छा या बुद्धि के विरुद्ध है।"[1] स्पष्ट है कि एक व्यक्ति को सामान्यतया राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं है क्योकि उसके सभी अधिकारों का स्रोत राज्य है। राज्य के कानून समाज की नैतिक चेतना (Moral consciousness of the community) का प्रतिनिधित्व करते हैं। "जब कानून कहीं भी और किसी भी समय राज्य के सही विचार की पूर्ति करते हैं उनकी अवज्ञा करने का अधिकार नही मिल सकता।" व्यक्ति का राज्य के प्रति विरोध उसी दशा मे न्यायोचित हो सकता है जब किसी कानून का उल्लघन करने से सार्वजनिक कल्याण की अभिवृद्धि अथवा पूर्ति होती हो। इस प्रकार ग्रीन के आदर्श अधिकारो के सिद्धान्त का अन्तिम सार इस कथन मे है कि "समाज मे एक ऐसी नैतिक प्रणाली विद्यमान रहती है जो राज्य से स्वतन्त्र होती है और जो व्यक्ति को एक ऐसा मापदण्ड प्रदान करती है जिसके द्वारा वह राज्य को भी परख सकता है।"[2]

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 451-452.
2 *Wayper* : Political Thought, p. 185.

प्राकृतिक कानून पर ग्रीन के विचार
(Green on Natural Law)

ग्रीन के राज्य-सिद्धान्त पर चर्चा से पहले प्राकृतिक कानून के प्रति उसके दृष्टिकोण को जान लेना आवश्यक है। अब तक प्राकृतिक कानून की जो व्याख्या की गई थी ग्रीन ने उसकी आलोचना की। पहले प्राकृतिक कानून ऐसे माने जाते थे जिनके द्वारा अन्य कानूनों की परीक्षा की जाती थी। लेकिन ग्रीन ने प्राकृतिक कानूनों को उस अर्थ में ग्रहण नहीं किया जिसमें हाब्स, लॉक आदि समझौतावादियों ने किया था। उसने 17वीं शताब्दी के प्राकृतिक कानून के इस सिद्धान्त का खण्डन किया कि प्राकृतिक कानून का सामाजिक चेतना से स्वतन्त्र अस्तित्व है। ग्रीन ने 'प्राकृतिक कानून' शब्दों को पुनः परिभाषा करते हुए कहा कि "यह वह कानून है जिसका पालन मनुष्य को एक नैतिक प्राणी होने के नाते करना चाहिए चाहे वह राज्य के यथार्थ कानून के अनुकूल हो या न हो।" प्राकृतिक कानून विवेक पर आधारित होते हैं। इनकी खोज अनुभव द्वारा नहीं की जा सकती। ग्रीन के अनुसार कानून इस दृष्टि से प्राकृतिक कहे जाते हैं कि वे सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। समाज की नैतिक भावना के विकास के साथ प्राकृतिक कानूनों में भी परिवर्तन हुआ करता है। प्राकृतिक न्याय शास्त्र (Natural Jurisprudence) को ही इस बात का निर्णय करना चाहिए कि किन कानूनों को प्राकृतिक समझा जाए। तभी वे मान्य होंगे और लागू करने योग्य होंगे, फिर चाहे वे राज्य द्वारा निर्मित कानूनों का अंग हों अथवा न हों।

ग्रीन का यह भी कथन है कि नैतिकता या आध्यात्मिकता आन्तरिक मानसिक अवस्था है और स्वतन्त्रता उसका मुख्य लक्षण है। नैतिकता को बाह्य दबाव द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। शक्ति का प्रयोग करते ही इसका मुख्य लक्षण 'सदाचार' नष्ट हो जाता है और यह (नैतिकता) उस प्राकृतिक कानून की श्रेणी में आ जाती है जिससे मनुष्य के बाह्य कार्य नियन्त्रित होते हैं। वास्तविक कानून से यह ज्ञात होता है कि कौन से कार्यों पर राज्य का नियन्त्रण है। अतः आध्यात्मिक कर्त्तव्य हैं जो 'होने चाहिए', किन्तु उनमें बाहरी दबाव नहीं होता। प्राकृतिक कानून में 'जो कार्य होने चाहिए' सम्मिलित हैं, किन्तु इन्हें शक्ति द्वारा लागू किया जाता है तथा वास्तविक कानून से उसके अस्तित्व और उनकी क्रियान्विति का पता लगता है।

ग्रीन ने स्वयं प्राकृतिक कानून और नैतिक कर्त्तव्य का भेद इन शब्दों में प्रकट किया है—"प्राकृतिक कानून और नैतिक कर्त्तव्य में अन्तर है क्योंकि प्राकृतिक कानून और विधिपारित कानून में शक्ति-तत्त्व निहित है तथा नैतिक कर्त्तव्यों में किसी बाह्य शक्ति का दबाव नहीं होता।" कभी-कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या नैतिकता को कानून द्वारा लागू किया जाना चाहिए। ऐसा प्रश्न निरर्थक है क्योंकि इनको वास्तव में बलपूर्वक लागू नहीं किया जा सकता। नैतिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए बाहरी दबाव, जिसकी नींव कतिपय लक्ष्यों की पूर्ति पर निर्भर है, उन

लक्ष्यों की पूर्ति असम्भव कर देता है और इसी कारण राज्य द्वारा लागू किए गए कानूनों की सीमा निर्धारित होती है। अतः प्राकृतिक कानून, अधिकार और कर्त्तव्यों का अनुबन्ध वास्तविक नैतिकता से भिन्न है, किन्तु यह इससे सम्बन्धित अवश्य है।[1] इस सम्बन्ध में प्रो. सेबाइन के विचार विषय की स्पष्टता की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं—

"ग्रीन द्वारा प्राकृतिक विधि की पुनर्व्याख्या का अभिप्राय यह नहीं था कि वह विधि के दो भेदों पर जोर देना चाहता था। उसका अभिप्राय सिर्फ यह था कि वह विधि की प्रकृति-सापेक्षता पर, उसके सामाजिक महत्त्व पर तथा आचारों के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्धों पर जोर देना चाहता था। बेन्थम के समान ग्रीन का यह विचार भी नहीं था कि विधि को सुख-दुःख की कसौटी पर कसा जा सकता है अथवा विधि तथा आचारों के बीच मूल भेद यह है कि विधि के उल्लंघन पर दण्ड मिलता है और आचारों के उल्लंघन पर कोई दण्ड नहीं मिलता। ग्रीन के विचार से विधि तथा आचारों का अन्तर दो ऐसी सामाजिक संस्थाओं का अन्तर है जो एक-दूसरे से मूलतः भिन्न हैं। एक ओर तो चरित्र, नैतिक भावना और सामाजिक दृष्टिकोण है जो शिक्षित और सभ्य मानव प्रकृति का अंग है, दूसरी ओर व्यवहार के कुछ निश्चित और स्थिर पहलू हैं। इस व्यवहार को लागू किया जा सकता है और वह व्यक्तिगत अभिरुचि की सीमाएँ निर्धारित करता है। ग्रीन की सकारात्मक स्वतन्त्रता में ये दोनों चीजें निहित हैं।"

सम्प्रभुता पर ग्रीन के विचार
(Green on Sovereignty)

राज्य अधिकारों को क्रियान्वित करने वाली सर्वोच्च संस्था है। इसके पास बाध्यकारी शक्ति है जिसके माध्यम से राज्य समाज में अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की व्यवस्था कायम रखता है। इस बाध्यकारी शक्ति को राज-दर्शन में राज्य की 'सर्वोच्च सत्ता', 'परम सत्ता', 'सम्प्रभुता', 'राजसत्ता' आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। यही सम्प्रभुता राज्य का वह गुण है जो उसे अन्य मानव-समुदायों से पृथक् करता है और उच्चतर स्थान प्रदान करता है।

ग्रीन से पूर्व रूसो एवं ऑस्टिन द्वारा सम्प्रभुता की विशद् व्याख्या की गई थी। रूसो ने सम्प्रभुता का निवास 'सामान्य इच्छा' (General Will) में बतलाया था। ऑस्टिन की सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति 'किसी ऐसे निश्चित मानव श्रेष्ठ' (Determinate Human Superior) में की थी जिसकी आज्ञा का पालन समाज में अधिकांश व्यक्ति स्वाभाविक रूप से करते हैं और जिसे किसी अन्य श्रेष्ठ मानव की आज्ञापालन की आदत नहीं होती। यद्यपि ये दोनों धारणाएँ एक दूसरे से विपरीत हैं, किन्तु ग्रीन के अनुसार ये दोनों ही विचार सम्प्रभुता की पूर्ण धारणा को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक हैं। ग्रीन का विश्वास है कि दोनों धारणाएँ एक

1 : Lectures on the Principles of Political Obligation p. 34.

दूसरे की पूरक हैं। समाज की सामूहिक नैतिक चेतना अधिकारों को स्वीकार करती है और इन्हीं अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च शक्तिसम्पन्न राज्य का निर्माण होता है। इस तरह राज्य का निर्माण ही सामान्य हित की अभिव्यक्ति करने वाली सामान्य इच्छा पर आधारित है। साथ ही कानून यदि सच्चा कानून है तो उसे एक विधिवत् निर्मित एवं सामान्य मान्यता प्राप्त सरकार के किसी अंग द्वारा निर्मित और क्रियान्वित किया जाना चाहिए। ग्रीन ऑस्टिन के सिद्धान्त के इस सत्य को स्वीकार करता है कि एक पूर्ण रूप से विकसित समाज में कोई ऐसा निश्चित मानव या मानव-समूह होना चाहिए जिसके पास अन्ततोगत्वा कानूनों को लागू करने और मनवाने की शक्ति हो। उस पर किसी तरह का कानूनी नियन्त्रण स्थापित नहीं हो सकता।

राज्य की सम्प्रभुता के तत्त्व में ग्रीन के विश्वास की सीमा और राज्य का आधार—ग्रीन यह स्वीकार करता है कि सम्प्रभुता राज्य का एक आवश्यक तत्व एवं गुण है, यह उसकी सर्वोच्च दमनकारी सत्ता है। सामान्य अधिकारों की रक्षा समुचित रूप से तभी सम्भव है जब राज्य शक्ति का आश्रय ले और कुछ कार्यों में हस्तक्षेप करे। प्रत्येक समाज में ऐसी शक्ति होनी चाहिए जो ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध अधिकारों को लागू कर सके जो अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को मानने से न केवल इन्कार ही करते हैं बल्कि उनके उपभोग के मार्ग में बाधाएँ भी उत्पन्न करते हैं। यदि अधिकार को क्रियान्वित न किया जा सके तो वह अधिकार नहीं है, वह तो केवल एक नैतिक दावा मात्र है। इस विचार का यह स्वाभाविक अभिप्राय है कि अधिकार राज्य की माँग करते हैं—उस राज्य की जो इन्हें मनवाने का एकमात्र सर्वोच्च अधिकारी है। बार्कर (Barker) के अनुसार, "यहीं वह विरोधाभास उत्पन्न होता है जिसे हम टाल नहीं सकते। यह विरोधाभास है राज्य का कार्य। यह स्वतन्त्रता के लिए शक्ति का प्रयोग करता है। इस विरोधाभास का सामना करने के लिए पहले तो हमें यह जानना चाहिए कि शक्ति का प्रयोग करने वाली संस्था क्या है और दूसरे यह कि उसके कार्य को समाज के सदस्यों की सक्रिय इच्छा का समर्थन कहाँ तक प्राप्त है।"[1] इन विरोधाभासों का जो स्तर ग्रीन प्रस्तुत करता है, वह उसके राजदर्शन का केन्द्र बिन्दु है।

ग्रीन का मत है कि राज्य की बाध्यकारी शक्ति उन नागरिकों को संयत रखने के लिए आवश्यक हो सकती है जिनमें किसी कारणवश नागरिक भावना का समुचित विकास नहीं हुआ है। इसी भाँति कभी-कभी दूसरों में कानून पालन की भावना को दृढ़ बनाने के लिए भी यह आवश्यक हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह दूसरों के अधिकारों की रक्षा के लिए तत्पर रहे और उनमें बाधक न बने। किन्तु क्षणिक भावनाओं के आवेश में आकर कुछ व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को भूल बैठते हैं। ऐसे व्यक्तियों को राज्य अपनी सम्प्रभु शक्ति द्वारा ही नियन्त्रण में

[1] *Barker*: Political Thought in England, p. 37.

रखता है। ग्रतः सम्प्रभुता वह शक्ति है जो कानूनों का निर्माण करती है और उनके पालन के लिए जनता को बाध्य करती है।

जब ग्रीन यह स्वीकार करता है कि राज्य का यह ग्रावश्यक गुण उसकी सर्वोच्च दमनकारी सत्ता है और सामान्य ग्रधिकारों की रक्षा हेतु राज्य द्वारा बल-प्रयोग जरूरी है तो उसके सिद्धान्त के ग्रनुसार दमन राज्य का रचनात्मक तत्त्व नहीं है और न ही राज्य प्राथमिक रूप से उस पर निर्भर है। बल ग्रधिकारों का समर्थन करता है, उनकी सृष्टि नहीं। सर्वोच्च दमनकारी सत्ता का होना इसलिए ग्रनिवार्य है कि वह राज्य के ग्रस्तित्व को कायम रखने वाला ग्राधार-स्तम्भ है और उसके कर्त्तव्यों के प्रभावकारी पालन के लिए ग्रत्याज्य तत्त्व है। लेकिन इससे राज्य का निर्माण नहीं होता। "सगठित बल ग्रपनी प्रकृति में उसी समय राजनीतिक होता है जब उसका प्रयोग कानून के ग्रनुसार ग्रधिकारों की रक्षा के लिए किया जाता है और जनता सामान्यतया यह समझती है कि उसका प्रयोग उचित है। राज्य ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिसमें सामान्य हितों तथा ग्रधिकारों को लोग परस्पर स्वीकार करते हैं। समाज एक राजनीतिक समाज के रूप में उस समय तक ग्रपना ग्रस्तित्व कायम नहीं रख सकता, जब तक ये ग्रधिकार एव हित बिना राज्य के बलपूर्वक हस्तक्षेप के स्वभावतः स्वीकार नहीं किए जाते। राज्य में भय उन ग्रल्पसख्यक नागरिकों के नियन्त्रण के लिए, जिनमें नागरिक भावना का ग्रभाव है, और कभी-कभी दूसरे व्यक्तियों में कानून के पालन की भावना को दृढ बनाने के लिए ग्रावश्यक होता है। इस प्रकार ग्रीन के ग्रनुसार शासन का ग्रौचित्य उन प्रयोजनों में खोजना चाहिए जो लोगों को उसके प्रति सामान्य ग्राज्ञा-पालन की ओर प्रेरित करते हैं।"[1]

स्पष्ट है कि राज्य के बल-प्रयोग की वकालत करते हुए ग्रीन यह नहीं कहता कि बल ही राज्य का ग्राधार है। "जब एक बार बाध्यकारी शक्ति जो सम्प्रभुता का एक प्रत्यय मात्र है, नागरिकों के साथ ग्रपने ग्राचरण में राज्य की एक विशेषता बन जाती है तो समझना चाहिए कि राज्य ने जनता के हृदय पर से ग्रपना ग्रधिकार खो दिया है और उनका ग्रन्त निकट है।" सारांश यह है कि ग्रीन के ग्रनुसार सम्प्रभुता एव सर्वोपरि बाध्यकारी शक्ति को तद्रूप समझना एक बुनियादी भूल है। सम्प्रभुता का मूल तो सामान्य इच्छा है। ग्रीन लिखता है कि—"हमें सम्प्रभु को बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग करने वाली एक ग्रमूर्त वस्तु नहीं समझना चाहिए, बल्कि राजनीतिक समाज की सस्थाओं की सम्पूर्ण जटिलता के सम्बन्ध में ही उस पर विचार किया जाना चाहिए। यह उनका पोषक है और इस प्रकार सामान्य इच्छा का ग्रभिकर्त्ता है।" स्वभावत. बलात् ग्राज्ञाकारिता प्राप्त करने के लिए सम्प्रभु-शक्ति का जनता के हृदयों पर ग्रधिकार होना चाहिए। ग्राज्ञाकारिता यदि निष्ठा न होकर बलपूर्वक लादी गई है तो वह स्वाभाविक नहीं हो सकती। राज्य की बल-प्रयोग की शक्ति का मूलभाव प्रकट करते हुए ग्रीन पुनः कहता है कि

1 कोकर: ग्राधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 447.

"स्वेच्छापूर्वक आज्ञापालन होने पर भी यदि राज्य नागरिकों पर बल-प्रयोग करता है तो केवल इसलिए कि वे अपने पड़ोसियों के अधिकारों तथा हितों के लिए आवश्यक अवस्थाओं को, जिन्हें राज्य भली-भांति समझता है, बनाए रखना नहीं चाहते।"

इस तरह हम देखते हैं कि ग्रीन के अनुसार राज्य का मूल उसकी बाध्यकारी शक्ति नहीं है। उसकी वास्तविक मूल-शक्ति तो सामान्य इच्छा है—वह सामान्य इच्छा जिसके द्वारा अधिकार उत्पन्न होते हैं और जो 'सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना है जिससे समाज का निर्माण होता है।' शक्ति राज्य का मूल तत्त्व नहीं हो सकती। 'राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है'[1] (Will, not force, is the basis of the State)। राज्य का कार्य आवश्यक रूप से नैतिक कार्य ही है। उसके कानूनों और उसकी संस्थाओं का सतत् उद्देश्य व्यक्ति को ऐसे समुदाय के सदस्य की हैसियत से, जिसका प्रत्येक सदस्य दूसरे समस्त सदस्यों के अच्छे जीवन में सहायक होता है, अपनी आत्मपूर्णता की सिद्धि में सहायता देना है। राज्य का कार्य उसी सीमा तक उचित है जिस सीमा तक वह विवेकपूर्ण लक्ष्यों की ओर प्रेरित स्व-निर्धारित आचरण के अर्थ में वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अभिवृद्धि करता है। जो कार्य किसी प्रकार के बाहरी दबाव के वशीभूत किए जाते हैं उनमें नैतिक कार्यों के गुणों का अभाव होता है।

ग्रीन का मत है कि निरंकुश शासन का आधार भी अन्ततः सामान्य इच्छा होती है। जब राज्य या सम्प्रभु का आधार सामान्य इच्छा न होकर शक्ति हो जाता है तो उस राज्य का अन्त निकट आ जाता है। शक्ति के आधार पर कोई भी राज्य स्थायी नहीं हो सकता। सम्प्रभु की आज्ञा व्यक्ति उसकी बाध्यकारी शक्ति मात्र के कारण नहीं मानता। वह सम्प्रभु की आज्ञा का पालन क्यों करता है अथवा उसे सम्प्रभु की आज्ञापालन क्यों करनी चाहिए, इसका कारण बतलाते हुए ग्रीन का कथन है कि—"यह पूछना कि मैं राज्य की शक्ति के सामने क्यों झुकूं, यह पूछना है कि मैं अपने जीवन को उन संस्थाओं द्वारा विनियमित क्यों होने देता हूँ जिनके बिना अपना कहने के लिए मेरा अस्तित्व ही न होता और न ही जो कुछ मुझसे करने के लिए कहा जाता है उसका मैं औचित्य पूछ सकता। इस बात के लिए कि मेरा एक जीवन हो जिसे मैं अपना कह सकूं, मुझे न केवल अपनी और अपने उद्देश्य की चेतना होनी चाहिए बल्कि उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मुझे कर्म और सक्षम की स्वतन्त्रता भी होनी चाहिए और उसकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब समाज के सदस्य एक दूसरे की स्वतन्त्रता को मान्यता दें क्योंकि यह सामान्य हित के लिए आवश्यक है।"

प्रतिरोध का अधिकार
(Right of Resistance)

राज्य के प्रतिरोध के अधिकार की चर्चा 'राज्य का अधिकार शक्ति नहीं, इच्छा है'—शीर्षक के अन्तर्गत प्रासंगिक रूप से की जा चुकी है। ग्रीन के अनुसार

[1] Principles of Political Obligation (Hindi ed.), p. 116.

नागरिकों द्वारा राज्य के कानूनों का विरोध करने का अवसर इसलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि कभी-कभी समाज और राज्य द्वारा स्वीकृत अधिकारों में कुछ असंगति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए एक नागरिक दास-प्रथा का विरोधी है, वह यह अनुभव करता है कि यद्यपि राज्य के कानूनों के अन्तर्गत दास-प्रथा वैधानिक है, तथापि समाज की चेतना इसे स्वीकार नहीं करती। इसी असंगति के कारण राज्य और नागरिकों में विरोध उत्पन्न होता है। ग्रीन की मान्यता है कि समाज की सच्ची चेतना यदि राज्य द्वारा मान्य किसी कानून अथवा प्रथा को अनुचित एवं हानिकारक समझती है तो नागरिकों को राज्य के विरुद्ध आवाज उठाने का अधिकार है। कोकर के शब्दों में, "यदि राज्य उस उच्च नैतिक उद्देश्य (अपने नागरिकों की आत्मोन्नति को सम्भव बनाना) की पूर्ति नहीं करता जिसके लिए वह अस्तित्व में है तो वह नागरिकों की राजभक्ति का दावा नहीं कर सकता। ऐसी दशा में नागरिकों को राज्य या कम से कम उस सरकार के आदेशों की अवज्ञा या विरोध करने का अधिकार है जिसमें राज्य का अपूर्ण रूप प्रकट होता है। अपनी इस विचारधारा में ग्रीन हीगेलियन न होकर कुछ व्यक्तिवादी है तथा उसके दर्शन पर इंगलिश उदारवाद (English Liberalism) की छाप स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।"

ग्रीन राज्य का विरोध करने के विपक्ष में नागरिकों को कई प्रकार की चेतावनी देता है। वह इस बात पर बल देता है कि राज्य का विरोध करने का अधिकार किसी को नहीं है क्योंकि राज्य स्वयं अधिकारों का स्रोत है। वह इस सम्बन्ध में भी दृढ़ निश्चयी है कि विरोध केवल इस बात पर नहीं किया जा सकता कि राज्य की विधियाँ किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं हैं। राज्य की आज्ञा न मानने या विधि का उल्लंघन करने का अधिकार केवल इस आधार पर प्राप्त नहीं हो सकता कि उससे किसी व्यक्ति के कार्य करने की स्वतन्त्रता में या उसके बच्चों की व्यवस्था करने के अधिकार में हस्तक्षेप होता है। समाज में नवीन परिस्थितियों के उत्पन्न होने के कारण या समाज-हित की आवश्यकता के कारण, यदि राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण कड़ा कर दे तब भी व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता क्योंकि जितने भी अधिकार प्रदान किए गए हैं वे इस सामाजिक निर्णय पर आधारित है कि वे सामान्य हित के लिए उपयोगी हैं। ग्रीन सावधान करता है कि राज्य का विरोध करने वाला व्यक्ति गलत हो सकता है क्योंकि राज्य युगान्तर के अनुभव और बुद्धिमत्ता के द्वारा ही कार्य करता है। राज्य की बुद्धि कुछ व्यक्तियों की बुद्धि से निश्चय ही अच्छी है। विरोध के एक अन्य खतरे से भी ग्रीन हमें सचेत कर देता है कि राज्य के विरोध का परिणाम अराजकता की वृद्धि हो सकता है। कोकर के शब्दों में, "कानून के राज्य के स्थान पर अराजकता की स्थापना से अनुचित कानूनों को मानने की अपेक्षा अधिक अन्याय होंगे।" ग्रीन की मान्यता है कि सांविधानिक शासन वाले राज्यों की बुरी विधियों का विरोध यथासम्भव सांविधानिक उपायों द्वारा ही होना चाहिए और यह विरोध तब तक रहना चाहिए जब तक कि राज्य उन अवांछित विधियों को रद्द न कर दे।

सांविधानिक शासन विहीन राज्यों में भी विरोध केवल विशिष्ट परिस्थितियों में ही होना चाहिए।

ग्रीन ने कुछ ऐसी अवस्थाओं का उल्लेख किया है जिनमें नागरिकों का राज्य के प्रति प्रतिरोध उचित हो सकता है। इन अवस्थाओं को कोकर (Coker) ने व्यवस्थित रूप से इस प्रकार व्यक्त किया है—

जिन अवस्थाओं में नागरिकों की ओर से प्रतिवाद या विरोध नैतिक दृष्टि से उचित कहा जा सकता है, ग्रीन के अनुसार वे ये हैं—"उसे यह विश्वास होना चाहिए कि सफल विरोध द्वारा एक निश्चित हित की प्राप्ति सम्भव है और उसे यह भी विश्वास होना चाहिए कि समाज के एक काफी बड़े भाग का वैसा ही विचार है। दूसरे शब्दों में शासन-सत्ता के प्रतिरोध का अधिकार तभी उचित हो सकता है जब सामान्यतया यह स्वीकार कर लिया जाए कि इस प्रकार के प्रतिरोध से सार्वजनिक हित की वृद्धि होगी। इसके साथ ही सफल प्रतिरोध के जो सामान्य परिणाम होंगे, उन पर व्यावहारिक दृष्टि से भी विचार करना चाहिए। यदि लक्ष्य ऐसे हों कि कानून की अवज्ञा अथवा शासन के विरुद्ध विद्रोह का परिणाम सामान्य अव्यवस्था होती हो तो प्रतिरोध उचित नहीं हो सकता। कानून के राज्य के स्थान पर अराजकता की स्थापना से अनुचित कानूनों को मानने की अपेक्षा अधिक अन्याय होंगे।"[1]

"ग्रीन राज्य के प्रतिरोध को कोई साधारण बात नहीं समझता। वह यह अपेक्षा करता है कि नागरिक किसी कानून का प्रतिवाद नैतिक आधारों पर करने की इच्छा करते समय अनेक प्रश्नों पर विचार करे—क्या कानून के विरुद्ध उसकी जो आपत्ति है वह जन-कल्याण की चिन्ता पर आधारित है या स्वयं अपनी ही सुख-सुविधा पर? क्या कानून में परिवर्तन शान्तिमय या वैधानिक उपाय से किया जा सकता है? यदि नहीं तो इस बात की कितनी सम्भावना है कि बलपूर्वक विरोध से कानून में उचित परिवर्तन हो सकेगा? क्या समाज की सामाजिक विवेक-बुद्धि उस स्थिति को उसी रूप में देखती है जिसमें वह स्वयं उसे देखता है? यदि मामला इतना महत्त्वपूर्ण हो कि वर्तमान शासन को उलटना ही उचित प्रतीत हो तो यह देखना चाहिए कि क्या जनता की मनोवृत्ति एवं योग्यता ऐसी है जिससे यह विश्वास हो सके कि अराजकता नहीं होगी अथवा क्या बुराई इतनी बड़ी है कि अराजकता का खतरा उठाना ही चाहिए। स्वयं राज्य के हित को छोड़ किसी अन्य हित के लिए राज्य की अवज्ञा का अधिकार नहीं हो सकता अर्थात् राज्य को उसके वास्तविक कानूनों के सम्बन्ध में स्वयं उसकी प्रवृत्ति या कल्पना के अनुरूप बनाने अर्थात् मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों से जो अधिकार उत्पन्न होते हैं उनमें सामंजस्य स्थापित करने तथा उनका पोषक बनाने के लिए ही यह अधिकार हो सकता है।"

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 452

ग्रीन के अनुसार साधारणतः विरोध का आधार जनता में व्याप्त असन्तोष होना चाहिए। परन्तु कभी-कभी व्यक्ति अपने स्वयं के इस ठोस निर्णय के आधार पर कि राज्य सामान्य हित के विरोध में कार्य कर रहा है, राज्य का विरोध कर सकता है। ग्रीन के मतानुसार यद्यपि विरोध का अधिकार नहीं है, परन्तु यह हो सकता है कि विरोध सही हो। ऐसी स्थिति में राज्य का विरोध करना एक कर्त्तव्य हो जाता है। वेपर के कथनानुसार, "विरोध या प्रतिवाद के विरुद्ध कही जाने वाली सब बातों को जानते हुए ग्रीन कहता है कि यदि तुम्हें प्रतिरोध करना ही है तो तुम करो और इस सम्बन्ध में अपनी पसन्द के निर्णायक तुम स्वयं होगे। तुम्हें प्रतिरोध का अधिकार कभी नहीं है, परन्तु यह हो सकता है कि प्रतिरोध करते समय तुम सही हो और यदि तुम सही हो तो प्रतिरोध करना तुम्हारा कर्त्तव्य होगा और यदि तुम इस स्थिति में प्रतिरोध नहीं करोगे तो तुम सच्चे नागरिक नहीं होगे।"

'सामान्य इच्छा' पर ग्रीन के विचार
(Green on General Will)

सामान्य इच्छा की धारणा के सम्बन्ध में ग्रीन हॉब्स, लॉक तथा रूसो से बहुत प्रभावित है तथापि उसके मतानुसार इनके सिद्धान्तों में एक गम्भीर दोष यह है कि वे सम्प्रभु और प्रजा को अमूर्त मानने के कारण यथार्थता से दूर चले जाते हैं। प्रजा के सम्बन्ध में प्राकृतिक अधिकारों की उनकी धारणा दोषपूर्ण है क्योंकि प्राकृतिक अधिकारों का अस्तित्व समाज के अभाव में नहीं रह सकता। सर्वोच्च अधिकारी शक्ति को समझौते की बाह्य वस्तु बतलाते हैं। सम्प्रभु और प्रजा के मध्य सामंजस्य स्थापित करने के लिए अथवा दूसरे शब्दों में, "राज्य के अपने प्रति आज्ञाकारिता के अधिकार और प्रजा के आज्ञाकारिता के कर्त्तव्य को उचित सिद्ध करने" की समस्या को सुलझाने के प्रयत्नस्वरूप उन्होंने संविदा सिद्धान्त (Contract Theory) की रचना की है, पर उनकी मान्यताएँ एवं प्रणालियाँ भ्रमपूर्ण हैं क्योंकि समाज के बिना अधिकार की धारणा निराधार है।

ग्रीन का विश्वास है कि सामान्य हित की चेतना समाज को जन्म देती है। सामान्य हित की जो सामान्य चेतना होती है, उसको ग्रीन 'सामान्य इच्छा' (General Will) की संज्ञा देता है। सामान्य चेतना अधिकारों और कर्त्तव्यों को जन्म देकर उनकी संरक्षक संस्थाओं की भी स्थापना करती है। राज्य मनुष्य के लिए एक स्वाभाविक संस्था है और सामान्य इच्छा के प्रतीक के रूप में कार्य करता है। सामान्य इच्छा ही राज्य की सत्ता का प्राण है। यही उस सम्प्रभुता की सृष्टि करती है जिसका ध्येय अधिकारों को क्रियान्वित करना एवं उन संस्थाओं को पूर्ण स्वस्थ अवस्था में रखना है जो अधिकारों और कानूनों के मूर्तरूप हैं। ग्रीन के अनुसार राज्य का जन्म सामाजिक समझौते द्वारा न होकर मनुष्यों के सामान्य हित की सिद्धि के लिए होता है। राज्य के बिना सामान्य हित की प्राप्ति नहीं की जा सकती और रूसो के सिद्धान्त में सत्य का इतना ही अंश है कि राज्य का आधार शक्ति नहीं, बल्कि सामान्य इच्छा है।

ग्रीन ने भी इच्छा के दो रूप माने हैं —(1) वास्तविक इच्छा (Actual Will), एवं (2) यथार्थ इच्छा (Real Will)। वास्तविक इच्छा स्वार्थपूर्ण होती है। इसका निर्माण मनुष्य की काम, क्रोध, मद, मोह आदि भावनाओं के वशीभूत होता है। यह इच्छा विवेकहीन होती है और यथार्थ इच्छा अर्थात् सदेच्छा (Real Will or Good Will) के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न करती है। इसके विपरीत यथार्थ इच्छा अथवा सदेच्छा व्यक्ति के अन्त:करण की ध्वनि को प्रकट करती है। इन सदेच्छाओं के सामूहिक रूप को ही ग्रीन ने 'सामान्य इच्छा' की संज्ञा दी है। ये सदेच्छाएँ ही राज्य का वास्तविक आधार हैं और राज्य इनका प्रतिनिधित्व करता है। यदि वास्तविक इच्छाओं (Actual Wills) अर्थात् भावनात्मक इच्छाओं के अनुसार मनुष्य को आचरण करने दिया जाए तो *मानव के नैतिक विकास के* वातावरण का निर्माण कभी नहीं होगा। यही कारण है कि सामान्य चेतना (Common Consciousness) *किसी ऐसी नैतिक संस्था को आवश्यक समझती है जो स्वतन्त्र कार्यों के लिए आवश्यक अधिकारों की रक्षा कर सके। इस नैतिक संस्था का नाम ही राज्य है। ग्रीन लिखता है कि—'नागरिक जीवन के सहवास का मूल्य* इस बात में निहित है कि मानवीय इच्छा और विवेक की नैतिक संस्थाओं को यथार्थ *रूप दे दिया जाए।"*

'राज्य सामान्य इच्छा का अभिव्यक्तिकरण है'—इस परिणाम पर ग्रीन जिस तरह पहुँचा उस पर पूर्ववर्ती पृष्ठों में काफी कुछ कहा जा चुका है। उसे दुहराते हुए संक्षेप में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि ग्रीन का यह मूल विश्वास है कि संसार में एक चेतना व्याप्त है जिसका लक्ष्य स्वतन्त्रता है। मानव-चेतना इस चेतना का ही एक अंश है। मानव-चेतना का लक्ष्य है कि आत्म-विकास द्वारा विश्व-चेतना के साथ एकाकार हो जाना चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जब मानव का नैतिक विकास हो क्योंकि मानव-चेतना बुद्धि के आधार पर ही विश्व-चेतना का एक अंग बन सकती है। मानव-चेतना विश्व-चेतना का ही एक अंश होने के कारण यह अनुभव करती है कि वह दूसरों के साथ रहकर ही अपना विकास करती है। इस भावना के वशीभूत होकर व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं। व्यक्तियों के विकास के लिए कुछ सुविधाओं की आवश्यकता होती है जिन्हें प्रदान करने के लिए और उनकी दुष्ट व्यक्तियों से रक्षा करने के लिए विधि-प्रणाली की जरूरत पड़ती है। इस प्रकार की विधि-प्रणाली राज्य ही प्रदान कर सकता है। अत: यह सिद्ध होता है कि राज्य मनुष्य की यथार्थ इच्छा के कारण ही अस्तित्व में आता है।

प्रश्न उठता है कि व्यक्ति राजाज्ञा का पालन क्यों करते हैं—शक्ति से भयभीत होकर अथवा सामान्य हित की आकांक्षा से। ग्रीन का उत्तर है कि व्यक्ति राजाज्ञा का पालन सामान्य हित की आकांक्षा से ही करते हैं। *राज्य व्यक्तियों की सामान्य* हित-कामना का ही फल है। राज्य के कानून भी सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनता उनका पालन इसलिए नहीं करती कि उल्लंघन करने पर दण्ड का भय होता है वरन् इस अनुभूति के फलस्वरूप करती है कि राज्य और उसके कानून

सामान्य हित को सामान्य इच्छा पर आधारित है। प्रत्येक कानून अधिकारों की रक्षा से एक कड़ी का कार्य करता है। अतः राज्य शक्ति का नहीं, इच्छा का प्रतीक है। ग्रीन राज्य को बल-प्रयोग का अधिकार इसलिए देता है कि राज्य में सामान्य इच्छा का निवास होता है। ग्रीन की सामान्य इच्छा 'राज्य की इच्छा' नहीं अपितु 'राज्य के लिए इच्छा' है। सामान्य इच्छा वह इच्छा नहीं है जिसके नाम पर शासक जनता पर अत्याचार करते आए हैं। बार्कर के शब्दों में—"सामान्य इच्छा का दावा है कि राजनीतिक कार्य को प्रेरित एवं नियन्त्रित करने वाली शक्ति अन्तिम रूप में एक आत्मिक शक्ति है। वह एक सामान्य विश्वास है जिससे सदाचरण का उदय होता है। वह एक सामान्य अन्तःकरण है जो समाज के मन्त्रियों एवं अभिकर्त्ताओं को शक्ति प्रदान कर सकता है...... वह उस सम्प्रभु की सृष्टि करता है जिसका कार्य उन सब संस्थाओं को पूर्ण स्फूर्ति एवं सामञ्जस्य के साथ कायम रखना है जो अधिकारों और विधियों के साकार रूप हैं।"[1]

ग्रीन का यद्यपि यह विश्वास है कि इच्छा ही राज्य का आधार है, बल नहीं; तथापि उसके समक्ष ऐसे भी राज्य थे जहाँ पर इच्छा के स्थान पर बल प्रयोग को अधिक महत्त्व दिया जाता था और इसी कारण ग्रीन "राज्य को ईश्वरीय आत्मा (Divine Spirit) की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति मानते हुए भी यह स्वीकार करता है कि राज्य वास्तविक रूप में अपने निर्दिष्ट आदर्शों का केवल आंशिक रूप से ही पूर्ण करते हैं।"

'सामान्य इच्छा' पर विचार करते समय एक प्रश्न यह उठता है कि क्या निरंकुश एवं अत्याचारी राज्यों का आधार भी सामान्य इच्छा ही होती है। ग्रीन इसके उत्तर में तीन बातें प्रस्तुत करता है—(i) इन राज्यों को विकृत राज्य की संज्ञा देनी चाहिए, (ii) इन राज्यों को जो कुछ भी सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त है, उसे जनता के आलस्य के कारण प्राप्त हुआ समझा जाना चाहिए, एवं (iii) व्यक्ति स्वयं ईश्वरीय आत्मा के प्रतिरूप होते हैं, अतः बुराइयों के होते हुए भी उनमें विद्यमान ईश्वरीय आत्मा उनकी बुराइयों में से अच्छाइयाँ निकाल लेती है। उदाहरणार्थ सीजर ने संसार को रोमन विधि (Roman Law) की महान् देन दी चाहे वह शक्ति का प्रदर्शक और आकांक्षी ही क्यों न रहा हो। ग्रीन की इस धारणा से यही प्रतीत होता है कि प्रत्येक प्रकार के राज्य अथवा शासन में किसी न किसी अंश में सामान्य इच्छा का निवास अवश्य रहता है। वेपर (Wayper) के अनुसार, "ग्रीन जब रूसो के इस विचार का खण्डन करता है कि विद्यमान राज्यों में सामान्य इच्छा पूर्णतया लुप्त है तो साथ ही हीगल के इस विचार का भी खण्डन करता है कि विद्यमान राज्यों में विधियाँ सामान्य इच्छा की पर्यायवाची हैं।" पुनश्च, वेपर ही के शब्दों में, "इस प्रकार हम हीगल की तरह ग्रीन पर व्यक्ति को राज्य पर बलिदान कर देने का आरोप नहीं लगा सकते।"

1 *Barker*, Political Thought in England, p 38

सामान्य इच्छा पर विचार करते समय एक अन्य प्रश्न यह भी उठता है कि सामान्य हित की चेतना क्या समाज के प्रत्येक सदस्य में विद्यमान रहती है। ग्रीन के अनुसार सामान्य हित की सामान्य चेतना गरीबों, अशिक्षितों और दैनिक कार्यों में फँसे हुए व्यक्तियों में प्रायः नहीं पाई जाती जबकि, शिक्षितों, वकीलों, डॉक्टरों और राजकीय कार्यकर्त्ताओं में सामान्य हित का आंशिक ज्ञान पाया जाता है। सामान्य हित की पूर्ण चेतना का पाया जाना व्यक्तियों में दुर्लभ है, पर इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि सामान्य हित का व्यक्ति को कोई आभास ही नहीं होता। यह अपने प्रारम्भिक रूप में सभी नागरिकों में पाया जाता है और इसलिए राज्य का अस्तित्व कायम रहता है। यदि इसका सर्वथा अभाव होता तो राज्य का अस्तित्व ही सम्भव न होता। यह कहा जाता है कि सामान्य हित की भावना नैतिक कर्त्तव्य के विचार के समान ही लोगों में क्रियाशील रहती है यद्यपि इसकी पूर्ण चेतना अथवा अभिव्यक्ति केवल कुछ ही व्यक्तियों में यदाकदा देखी जाती है।

राज्य के कार्यों पर ग्रीन के विचार
(Green on the Functions of the State)

ग्रीन के राज्य सम्बन्धी विचार पूर्णतया मौलिक हैं। उसने राज्य के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए रचनात्मक तथ्यों पर बल दिया है। उसने यद्यपि एक आदर्श राज्य की कल्पना की है पर राज्य के जिन कार्यों का उल्लेख किया है वे यथार्थ राज्यों के ही कार्य हैं। हीगल का एक बड़ा दोष यह था कि वह यथार्थ राज्य के विवेचन से दूर रहा। ग्रीन का विश्वास था कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास है, अतः उसके कार्य इसी उद्देश्य से प्रेरित होने चाहिए। प्रो. बार्कर के शब्दों में—"राज्य का अन्तिम लक्ष्य नैतिक मूल्य होता है और यह एक अत्यन्त गौरवपूर्ण मूल्य है। यह एक नैतिक प्राणी है जिसे इसके नैतिक उद्देश्य ही जीवित रखते हैं।"

ग्रीन चरमतावादी राज्य (Absolute State) का चित्र नहीं खींचता। वह राज्य को बाह्य तथा आन्तरिक दोनों दृष्टियों से सीमित मानता है। राज्य के कार्य सकारात्मक (Positive) तथा नकारात्मक (Negative) दोनों प्रकार के होने चाहिए। सकारात्मक दृष्टि से वह चाहता है कि राज्य व्यक्ति को वह कार्य करने दे जो कार्य करने योग्य हैं और इनके करने में जहाँ वह बाधाओं के कारण असमर्थ हो, उन बाधाओं को दूर करे। ग्रीन राज्य को अधिकार देता है कि नैतिकता के विकास के लिए उचित होने पर वह नागरिकों के कार्य में हस्तक्षेप करे तथा आवश्यक होने पर बल-प्रयोग से भी न हिचके।

नकारात्मक दृष्टिकोण के अनुसार ग्रीन के मत से राज्य का यह कर्त्तव्य किसी भी व्यक्ति को आन्तरिक अथवा नैतिक सहायता प्रदान करना नहीं है, अपितु उसका कार्य तो बाह्य हस्तक्षेप द्वारा ऐसा वातावरण उत्पन्न करना है जिसमें व्यक्ति में अधिक से अधिक सामाजिक अथवा नैतिक चेतना उत्पन्न हो। राज्य ऐसे व्यक्तियों के लिए दण्ड की व्यवस्था करे जो सामाजिक उन्नति के मार्ग में बाधक हों। राज्य उन सब स्थितियों को दूर करने हेतु प्रयत्नशील हो, जो नैतिकता के विकास में बाधक हों। राज्य का कार्य श्रेष्ठ जीवन-निर्वाह की बाधाओं को दूर करना है।

ग्रीन की मान्यता है कि राज्य नैतिकता को लागू नहीं कर सकता। वह तो व्यक्ति के अन्तःकरण से सम्बन्धित वस्तु है जो व्यक्ति द्वारा आत्मारोपित कर्त्तव्यों के निष्पक्ष सम्पादन में ही निहित है। नैतिकता का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे बाह्य साधनों द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता। राज्य व्यक्तियों को कानून द्वारा अथवा बलपूर्वक नैतिक नहीं बना सकता। सामान्य हित की सामान्य चेतना को विधि के द्वारा प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता। राज्य के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में ग्रीन शक्ति प्रदर्शन का विरोधी है। शक्ति के प्रयोग से धार्मिक और नैतिक भावनाओं की अभिवृद्धि में कोई सहायता नहीं मिलती, उलटे हानि ही होती है। कोकर के अनुसार, "ग्रीन बड़ी दृढ़ता के साथ इस सिद्धान्त को मानता था कि राज्य का कार्य व्यक्ति के लिए यह सम्भव कर देना है कि वह स्वयं श्रेष्ठ जीवन प्राप्त सके, परन्तु शासन किसी व्यक्ति को जीवन यापन के निकृष्ट ढंगों की अपेक्षा श्रेष्ठ ढंगों को पसन्द करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता।" ग्रीन के शब्दों में, "व्यक्ति के बाहरी आचार-व्यवहार पर प्रत्यक्ष रूप से किसी प्रकार के दण्ड की धमकी देकर कोई प्रतिबन्ध लगाना सामान्य हित के विरुद्ध है। व्यक्ति के आचरण की सारी क्रियाएँ सामान्य हित की दृष्टि से स्वाभाविक रूप से चलनी चाहिए। सरकारी प्रतिबन्ध सामान्य हित के स्वाभाविक संचालन में हस्तक्षेप है और उस क्षमता के विकास में रुकावट है जो अधिकारों के लाभकारी प्रयोग की आवश्यक शर्त है।........अतः राज्य का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप रुकावटें दूर करने तक ही सीमित रहना चाहिए।" कोकर का मत है कि "ग्रीन के विचार से इस सिद्धान्त के निर्हस्तक्षेप के पक्ष में कोई तर्क नहीं मिलता। ऐसी भी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें बहुत से व्यक्ति राज्य के हस्तक्षेप के बिना कोई विवेकपूर्ण लक्ष्य नहीं चुन सकते, जिससे ऐसा वातावरण उत्पन्न हो सके जिसमें उन्हें बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से अधिकतम उन्नति करने का अवसर प्राप्त हो सके। एक ऐसे व्यक्ति के सामने जिसमें उच्चकोटि की सहज प्रतिभा है, उसकी पूर्ण आत्मोन्नति के मार्ग में अनेक प्रकार की ऐसी बाधाएँ आ सकती हैं जो उसकी अज्ञानता तथा उसके निवारण के साधनों के अभाव के कारण या दूसरों के छल या लापरवाही के कारण उत्पन्न होती हैं। सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था, कारखानों का निर्माण तथा प्रबन्ध का नियमन मालगुजारी की शर्तों की परिभाषा करने में तथा खाद्य-पदार्थों में मिलावट पर प्रतिबन्ध लगाने में राज्य माता-पिताओं, कारखानों के मालिकों, जमींदारों तथा भोजन-सामग्री का प्रबन्ध करने वालों में बलपूर्वक नागरिक चेतना उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करता, वह तो बालकों, कारखानों के मजदूरों, किसानों तथा उपभोक्ताओं में नागरिक चेतना की सम्भावनाओं को उन्मुक्त करने की चेष्टा करता है।"[1]

राज्य का हस्तक्षेप व्यक्ति के जीवन में कहाँ तक होगा तथा बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य क्या-क्या करेगा, ग्रीन ने इसकी कोई निश्चित सीमाएँ निर्धारित नहीं की हैं, किन्तु उसने अपनी समकालीन व्यावहारिक परिस्थितियों को देखते

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 448-49.

हुए कुछ उदाहरणों द्वारा इस ओर संकेत अवश्य किया है। नकारात्मक दृष्टि से वह मानता है कि अज्ञानता, बर्बरता आदि के निराकरण द्वारा राज्य को व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए उचित शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए, राज्य को भूमि-व्यवस्था का कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए, व्यक्तियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति की देखभाल करनी चाहिए, मद्यपान का निषेध करना चाहिए, भिक्षावृत्ति को मिटाना चाहिए, आदि। ग्रीन इन्हें मानव-विकास के मार्ग की बाधाएँ मानता है और इसलिए इन्हें दूर करने के लिए राज्य के प्रयत्नों की वकालत करता है। बार्कर के अनुसार, "ग्रीन स्वाधीनता की सृष्टि के लिए बल का प्रयोग करता है।"

ग्रीन का यह दृष्टिकोण कि राज्य का कार्य श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को प्रतिबन्धित करना है, नकारात्मक प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में बार्कर का मत है कि "ग्रीन की धारणा के अनुसार राज्य का कार्य आवश्यक रूप से नकारात्मक है। वह उन बाधाओं को हटाने तक ही सीमित है जो मानवीय क्षमता को करणीय कार्य करने से रोकती हैं। राज्य का अपने सदस्यों को श्रेष्ठतर बनाने का कोई सकारात्मक नैतिक कार्य नहीं है। उसका कार्य तो उन बाधाओं को दूर करना है जो व्यक्ति को श्रेष्ठतर बनने से रोकती हैं और यह एक नकारात्मक कार्य है।"[1] ग्रीन के विचारों से प्रकट है कि "राज्य अपने किसी कार्य द्वारा यह निश्चित नहीं कर सकता कि कार्य कर्त्तव्य की भावना से किए जाएँ। वह केवल कर्त्तव्यशील कार्यों को सुनिश्चित करने का प्रयास करता है। फलत. वह कर्त्तव्य की भावना से किए जाने वाले कार्यों का क्षेत्र सीमित कर देता है। इसलिए नैतिक कार्य के क्षेत्र को सुरक्षित छोड़ देने तथा उसकी वृद्धि करने के लिए राज्य को स्वतन्त्र इच्छा में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, वरन् उसके मार्ग को सरल बनाना चाहिए।"

चाहे बाह्य रूप से देखने पर राज्य के ये कार्य नकारात्मक प्रतीत हों, लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं। ऐसा करने के लिए राज्य को सकारात्मक कार्य करने ही पड़ते हैं। बार्कर के अनुसार राज्य के कार्यों का उपर्युक्त दृष्टिकोण दो कारणों से सकारात्मक है—"प्रथम, परिस्थितियों के निर्माण और बाधाओं को दूर करने के लिए। इनके मार्ग में आने वाली प्रत्येक बात के सम्बन्ध में राज्य का सक्रिय हस्तक्षेप आवश्यक है तथा राज्य को बल-प्रयोग द्वारा स्वतन्त्रता विरोधी शक्ति का प्रतिकार करना चाहिए। दूसरे राज्य का सर्वोपरि उद्देश्य सदा सकारात्मक होता है। जो सामान्य हित की प्राप्ति हेतु आत्मा)र्णय करने के लिए मानव-प्रतिभा को. स्वतन्त्र करना है इससे बढ़कर और कोई सकारात्मक लक्ष्य नहीं हो सकता।"

बार्कर की मीमांसा का सार यह है कि नैतिकता के सम्बन्ध में राज्य का कार्य केवल इतना ही है कि वह नैतिकता के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करे, बलात् नैतिकता किसी पर लादी नहीं जा सकती। ग्रीन के अनुसार शासन को ऐसी व्यवस्था करनी है जिसमें मनुष्य नैतिकता के सिद्धान्तों पर चलता हुआ अपने

1 *Barker*: op cit., p. 36.

कर्त्तव्यों का निष्काम भावना से पालन कर सके। इन कर्त्तव्यों को निभाने के लिए उपयुक्त अवस्था का निर्माण ही अधिकार है। राज्य के इस प्रकार के हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता मे कमी न होकर वृद्धि होती है क्योंकि इस हस्तक्षेप मे ही समाज का हित निहित है—"स्वतन्त्रता-विरोधी शक्तियो को दबाने के लिए राज्य को बल-प्रयोग अवश्य करना होगा।"

ग्रीन के अनुसार राज्य का कार्य विभिन्न सघो के पारस्परिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित करना भी है। वह प्रत्येक संघ की आन्तरिक अधिकार-व्यवस्था का सन्तुलन करता है और ऐसी प्रत्येक अधिकार-व्यवस्था का शेष अन्य व्यवस्थाओ के साथ बाह्य समन्वय करता है। समन्वय स्थापित करने के अधिकार के कारण राज्य को अन्तिम सत्ता प्राप्त है। बहुलवादी सिद्धान्त को पूर्णरूप से न अपनाने के कारण मैकाइवर ने ग्रीन की आलोचना करते हुए लिखा है—

"प्रारम्भ से अन्त तक वह इसी बात का विवेचन करता है कि जिन परिस्थितयो मे व्यक्ति एक स्वतन्त्र नैतिक प्राणी के रूप मे कार्य कर सकता है उन परिस्थितियों को सुलभ बनाने के लिए राज्य क्या कर सकता है और इसके लिए उसे क्या करना चाहिए। पर उसके चिन्तन के आधार-स्तम्भ फिर भी राज्य और व्यक्ति ही बने रहते हैं। वह इस बात पर विचार नही करता कि राजनीतिक विधान से भिन्न अन्य साधन-सम्पन्न सघो के अस्तित्व का व्यक्ति और राज्य पर कैसा प्रभाव पड़ता है। यदि उसने इसका विचार किया होता तो उसे यह स्पष्ट हो गया होता कि प्रश्न केवल यही नही है कि राज्य को क्या करना चाहिए, बल्कि यह भी है कि राज्य को क्या करने की अनुमति है; क्योंकि राज्य अन्य शक्तियो से परावृत है, दूसरी कोटि के सगठनो से सीमित है जो अपने ढंग से अपने उद्देश्यो को पूरा कर रहे है। ग्रीन प्रभुसत्ता की आधुनिक समस्या के किनारे तक पहुँचकर उसे छूकर ही रह जाता है, उसका हल नही दे पाता।"[1]

ग्रीन द्वारा निर्धारित राज्य के कार्य निष्कर्ष रूप मे इस प्रकार हैं—

1. नैतिकता मे बाधा उपस्थित करने वाली परिस्थितियो का दमन करना।

2. सदाचरण, पवित्रता तथा सयम को प्रोत्साहित करना।

3. उन साधनो की व्यवस्था करना जिनसे नागरिकों मे अधिकाधिक नैतिक भावनाओ एव चरित्र का विकास हो।

4. ऐसे लोगो के लिए दण्ड की व्यवस्था करना जो नैतिक नियमो मे बाधक हो।

5 शिक्षा-प्रसार द्वारा अज्ञानता रूपी सामाजिक अभिशाप को समाप्त करना।

6. सामान्य इच्छा एव जन-कल्याण मे प्रतिरोध उपस्थित करने वाले मद्य-निषेध हेतु कानून लागू करना। राज्य को यह अधिकार है कि वह अपने नागरिको की मादक वस्तुओ के क्रय-विक्रय की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करदे अथवा पूर्णरूप से समाप्त करदे।

1 *Mciver*: The Modern State, p 47

7 व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा करना एवं भूमि-नियन्त्रण लागू करना।

8 विभिन्न वर्गों एवं स्वार्थों में सामंजस्य स्थापित करना और बहुसंख्यक वर्ग के लाभ के कार्य करना।

9 नैतिकता की अभिवृद्धि के लिए प्रत्यक्ष रूप में बल-प्रयोग न करना।

10. अन्तर्राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित कर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना में सहायक बनना। युद्ध का विरोध करना राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य है।

राज्य के ये कार्य केवल निषेधात्मक ही प्रतीत नहीं होते, अपितु व्यावहारिक रूप में ग्रीन ने राज्य के विधेयात्मक कार्यों पर भी बहुत बल दिया है। अपने सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों के कारण वह पूँजीवाद और समाजवाद के मध्यवर्ती काल का विचारक सिद्ध होता है।

राज्य और समाज
(State and Society)

ग्रीन ने राज्य को समाजों का समाज माना है। इन समाजों का निर्माणकर्ता राज्य नहीं है किन्तु इन सबके बीच एक निश्चित समन्वय स्थापित करने का राज्य को अधिकार (Right of Adjustment) है। बार्कर के शब्दों में, "राज्य प्रत्येक संघ की आन्तरिक अधिकार-व्यवस्था का सन्तुलन और ऐसी प्रत्येक अधिकार-व्यवस्था का शेष अन्य व्यवस्थाओं के साथ समन्वय करता है।" इसी समन्वय स्थापित करने के अपने अधिकार के कारण राज्य एक अन्तिम राजसत्ता प्राप्त संस्था है। स्पष्ट है कि ग्रीन का सिद्धान्त बहुत कुछ बहुलवादी (Pluralistic) है। लेकिन बहुलवादी सिद्धान्त को पूर्णतः न अपना सकने के कारण ही वह मैकाइवर की उस आलोचना का शिकार बना है जिसका पूर्व पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है।

प्राचीन काल में अरस्तू ने राज्य को अनिवार्य एवं स्वाभाविक बतलाते हुए उसे 'समुदायों का समुदाय' (Association of Associations) कहा था। ये समुदाय जिनसे अभिप्राय है विशिष्ट उद्देश्य तथा लक्ष्य के आधार पर व्यक्ति का क्रमबद्ध रीति से चलने वाला सामूहीकरण—राज्य के पूर्व बने थे। चाहे ये राज्य के कारण न बने हों, लेकिन इनके संरक्षण में राज्य का योगदान अवश्य रहा था और रहता है। कॉण्ट ने राज्य को आवश्यक, लाभदायक तथा नैतिकता एवं सुरक्षा में सहायक संस्था माना था। कॉण्ट के विचारों के आधार पर ग्रीन ने भी राज्य को लोकमत पर आधारित मौलिक समुदाय माना है और उसे व्यक्ति एवं समाज के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकार किया है।

ग्रीन ने अन्य अनेक विचारकों की भाँति राज्य और समाज के बीच भ्रांति उत्पन्न नहीं की है, प्रत्युत् दोनों को भिन्न-भिन्न स्वरूपों में ग्रहण किया है। उसने यह प्रस्थापित करने की चेष्टा की है कि राज्य और समाज परस्पर-विरोधी न होकर भी एक दूसरे से भिन्न हैं—

(i) राज्य सगठित शक्ति (चाहे वह समाज या बहुसख्यक समाज की हो) का प्रतीक है, शक्तिसम्पन्न होने से वह शक्ति का प्रयोग भी कर सकता है। इसके विपरीत समाज शक्तिहीनता का द्योतक है क्योंकि समाज की रचना विविध और विभिन्न वर्गों, तत्त्वो, स्वार्थों और व्यक्ति (Heterogeneous Elements) से होती है।

(ii) समाज में व्यक्ति और राज्य के मध्य परिवार, धर्म-सघ, आर्थिक-सघ, आध्यात्मिक एव औद्योगिक सघ, शिक्षण सघ आदि अनेक उपयोगी समुदाय होते हैं जिनकी सदस्यता व्यक्ति ग्रहण करता है, लेकिन राज्य की सदस्यता सर्वोच्च मानी जाती है। राज्य का कार्य इन सब समुदायों में नियन्त्रण तथा सामजस्य कायम रखना है, इन्हे मिटाना या छीनना राज्य का उद्देश्य नही होता।

(iii) समाज के सम्मुख एक व्यापक उद्देश्य होता है। यह उद्देश्य सदस्यो का सामाजिक जीवन मे आत्म-विकास के लिए पूरी तरह से नैतिक भाग लेना है किन्तु इस उद्देश्य की घोषणा मात्र ही काफी नही होती। इसके अनुकूल वातावरण एव साधनो का निर्माण करना राज्य का ही काम है, इसलिए समुदायो की तुलना मे राज्य को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(iv) समाज मे बाध्यकारी शक्ति नही होती। समाज व्यक्ति के मार्ग के अवरोधो को दूर करने मे भी अक्षम है। उसमे यह कार्य करने के लिए आन्तरिक शक्ति स्वतः नहीं है। राज्य के माध्यम से ही समाज के उद्देश्यो की पूर्ति होती है। राज्य ही सब तरह के अधिकारो, विधियो, नियमो आदि का स्रोत है।

ग्रीन राज्य और समाज का भेद करते समय भी यह मान कर चलता है कि वे व्यक्ति की नैतिक और भौतिक समृद्धि मे सहायक होते हैं। समुदाय महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वे मानव को पूर्णता प्रदान करते हैं।

विश्व-बन्धुत्व एवं युद्ध पर ग्रीन के विचार
(Green on Universal Brotherhood and War)

ग्रीन विश्व-बन्धुत्व एव विश्व-शान्ति के समर्थकों मे है। उनकी विश्व-भ्रातृत्व की धारणा इस विचार पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है। वह युद्ध की निन्दा और विश्व-शान्ति की प्रशसा करता है क्योंकि युद्ध एव सघर्ष जीवन के अधिकार मे बाधक हैं। जीवन के अधिकार पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय जागृति ही विश्व-समाज का निर्माण करती है। ग्रीन के अनुसार मानवता के सामूहिक हित में ही व्यक्ति का हित निहित है और इसलिए कॉण्ट की भाँति वह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना का समर्थक है और चाहता है कि वह समाज स्वतत्र राष्ट्रों की ऐच्छिक स्वीकृति पर आधारित हो। हीगल के सर्वथा विपरीत ग्रीन का विश्वास है कि राज्यो के बीच अन्तर्राष्ट्रीय आचार सहिता (International Code of Morality) सम्भव है और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की धारणा कोरी कल्पना नहीं है। राष्ट्रीय ईर्ष्याओं में कमी और युद्ध के गम्भीर कारणो के दूर हो जाने से ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्वप्न साकार हो सकता है जिसकी शक्ति

स्वतन्त्र राज्यो की स्वीकृति पर निर्भर हो। वर्ण या रंग-भेद की नीति विश्व-शान्ति के लिए घातक सिद्ध होती है। ग्रीन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व का आशय है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो को पूरी मान्यता दी जाए और क्षेत्रीय सम्प्रभुता (Territorial Sovereignty) की सीमा स्वीकार की जाए। दूसरे शब्दो मे, बाह्य रूप मे (Externally) राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधान के क्षेत्र मे मर्यादित रहे। यहाँ ग्रीन स्पष्टतः हीगल से सर्वथा भिन्न है और मानव-जाति के सार्वभौम बन्धुत्व पर विश्वास करने के कारण कॉण्ट के निकट है। वेपर के शब्दो मे ग्रीन के सार्वभौम बन्धुत्व का अभिप्राय यह है कि "यदि ग्रीन का राज्य अपने अन्तर्गत कम बड़े समाजो के अधिकारो की रक्षा करता है तो इसे अपने से बाहर के बड़े समाजो के अधिकारों का सम्मान करना चाहिए।"[1] अर्थात् ग्रीन के अनुसार राज्य न तो पूर्ण है और न सर्वशक्तिमान। वह बाह्य तथा आन्तरिक दोनो रूप मे सीमित है।

इस दृष्टिकोण मे आस्था के कारण ही युद्ध के प्रति ग्रीन के विचार हीगल और उसके जर्मन शिष्यो की धारणा से बिलकुल भिन्न हैं। ग्रीन के मतानुसार "युद्ध कभी भी पूर्ण अधिकार (Absolute Right) नही हो सकता, अधिक से अधिक वह एक सापेक्ष अधिकार(Relative Right)हो सकता है। युद्ध मनुष्य के स्वाधीन जीवन-यापन के अधिकार का अतिक्रमण करता है। पहले की (Previous) किसी बुराई या अपराध को सुधारने के लिए एक दूसरी बुराई के रूप मे उसका औचित्य माना जा सकता है, अर्थात् युद्ध एक निर्दय आवश्यकता(Cruel necessity) के रूप मे ही उचित माना जा सकता है, तथापि वह एक अपराध ही है।"

ग्रीन के अनुसार युद्ध एक नैतिक अपराध है। युद्ध कभी भी एक सही नहीं हो सकता। वह अपूर्ण राज्य(Imperfect State)का प्रतीक है। "हमारा निष्कर्ष यह है कि युद्ध मे जीवन का विनाश सदैव निन्दनीय कार्य है (अनेक अन्य अनिष्टो से जो युद्ध के प्रसग मे होते हैं, यहाँ उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नही है), इसका दोषी चाहे जो कोई हो। इस बुराई मे भागीदारी से युद्ध के केवल वे ही पक्ष मुक्त कहे जा सकते हैं जो सच्चाई से यह महसूस करते हो कि उनके लिए मनुष्य के नैतिक विकास की सामाजिक स्थितियो को कायम रखने का एकमात्र साधन युद्ध है। परन्तु ऐसी बहुत कम स्थितियाँ सामने आई हैं जिनमे यह धारणा सत्य सिद्ध हुई हो। इस धारणा मे यह नही भुलाया गया है कि केवल युद्ध के कारण अनेक सद्गुणो का प्रयोग होता है, अर्थात् युद्धो के कारण वे साधन प्राप्त होते हैं जिनसे मानव का विकास होता है, जो उत्तम हित के प्रति उन्नति का कारण माना जा सकता है। ये तथ्य उस कार्य की बुराई को कम नही करते जो युद्ध मे निहित है।"[2]

ग्रीन का विश्वास है कि सभ्यता के विकास के साथ युद्ध जैसी घृणित वस्तु स्वतः ही लुप्त हो जाएगी। वह हीगल की युद्ध सम्बन्धी धारणा का कटु आलोचक

1 *Wayper* : Political Thought, p. 186.
2 *Green* Principles of Political Obligation (Hindi ed) p. 160

है और युद्ध की आवश्यकता के प्रतिपादन में वह उसके (हीगल के) एक-एक तर्क का उत्तर देता हुआ यह निष्कर्ष निकालता है कि युद्ध प्रत्येक व्यक्ति के जीवित रहने के मूल्यवान अधिकार पर आघात है, अत वह किसी भी दृष्टि से न्यायसगत नही है। युद्ध के लाभो के खण्डन मे ग्रीन ने हीगल के तर्कों का इस प्रकार उत्तर दिया है—

1. यद्यपि हीगल के कथनानुसार सिपाही हत्यारे से भिन्न है, फिर भी युद्ध एक सामूहिक हत्या के अतिरिक्त और कुछ नही कहा जा सकता।

2 यद्यपि युद्ध-भूमि मे कोई व्यक्ति किसी विशेष व्यक्ति को मारने के लिए सामान्यय. शस्त्र नही चलाता, फिर भी युद्ध-क्षेत्र की हत्याओं का जिम्मेदार कोई न कोई व्यक्ति ही होता है।

3 हीगल का यह कथन असत्य है कि युद्ध मे सिपाही स्वेच्छा से स्वय सेवक की भांति प्राणो का बलिदान करते हैं। यह हो सकता है कि लोग सेना मे स्वेच्छा से भर्ती होते हों, किन्तु इसका यह अर्थ नही होता कि उन्होने मरने के लिए ही सेना मे प्रवेश लिया है। राज्य तो सभी की भलाई चाहता है। सैनिको को भी स्वतन्त्र जीवन का अधिकार है। अत यदि राज्य सैनिको को खतरे मे डालता है तो वह उनके जीवित रहने के अधिकार का उल्लघन करता है। इस दृष्टि से युद्ध मे मृत्यु हत्या के ही समान है, क्योकि यह कोई आकस्मिक दुर्घटना नही होती, बल्कि इसमे तो जानबूझ कर व्यक्तियो को मृत्यु के मुख मे ढकेला जाता है।

4. युद्ध के समर्थन मे यह तर्क खोखला है कि इसके द्वारा मनुष्यो मे वीरता और आत्म-बलिदान जैसे कुछ विशिष्ट गुणो का विकास होता है तथा यह मनुष्य के नैतिक विकास के उपयुक्त सामाजिक परिस्थितियो के कायम रखने का (युद्ध) एकमात्र साधन है। युद्ध प्राय उच्च आदर्शों की अपेक्षा तुच्छ स्वार्थों के लिए ही लडे जाते हैं और युद्ध मे जीवन का सहार सदा ही एक अपराध-कार्य है। मानव-जीवन को नष्ट करना सब परिस्थितियो म दुष्कर्म है। यह सच है कि फ्रांस मे सीजर के विजय-अभियानो और भारत मे अग्रेजी-युद्धो के बाद निश्चय ही लाभदायक परिवर्तन हुए, लेकिन ग्रीन का तर्क है कि ये परिवर्तन अन्य साधनो से भी ठीक उसी रूप मे लाए जा सकते थे। युद्ध तो मनुष्य की दुष्ट-प्रकृति की उपज है। मानव-स्वार्थ की वृद्धि ही युद्ध का उद्गम स्थान है।

5. युद्ध कभी अपरिहार्य नही हो सकते। अत युद्ध इसलिए हुआ कि सरकारो न अपने कर्त्तव्यो का पालन ठीक ढग से नही किया।

6. हीगल के अनुसार एक राज्य को विजय अनिवार्य रूप से दूसरे राज्य की हानि नहीं होती। युद्धो का अस्तित्व तो इसलिए है कि इनसे राज्यो का अस्तित्व स्थिर रहता है। युद्धो का अस्तित्व इसलिए है कि राज्य सर्वसाधारण के अधिकारो की सुरक्षा नहीं करते। कोई भी राज्य युद्ध द्वारा मानवता के साथ बुराई करने मे न्याययुक्त नही कहा जा सकता। किन्ही विशेष परिस्थितियो मे ही किसी राज्य विशेष का यह कार्य न्यायपूर्ण भले ही माना जा सके।

7. "युद्ध की स्थिति राज्य की सर्व-शक्तिमानता की द्योतक नहीं है" वरन् वह उग्र राष्ट्रीयता और निकृष्ट कोटि की देशभक्ति (Chauvanism) को प्रोत्साहित करती है। वास्तविक राष्ट्रीयता 'विश्व-व्यापक राष्ट्रीयता' है। विश्व-बन्धुत्व के भाव जाग्रत होने पर ही उचित राष्ट्रीय उन्नति हो सकती है। देश-भक्ति अन्य राज्यों के प्रति ईर्ष्या-भावना या उनके विरुद्ध लड़ने की भावना नहीं होती। देश भक्ति को सैनिक रूप देने की कोई आवश्यकता नहीं है। युद्धों से कुछ भी प्राप्त नहीं होता, इनसे केवल विनाश और दैन्य की ही वृद्धि होती है।

ग्रीन के विचारों का सार यही है कि यदि राज्य अपने सिद्धान्त के प्रति निष्ठावान है तो वह दूसरे राज्यों के साथ संघर्ष कर मनुष्य के मानवीय अधिकारों का उल्लंघन नहीं कर सकता। राज्य की पूर्ण स्थिति में युद्ध उसका आवश्यक गुण नहीं है।

निःसन्देह ग्रीन के युद्ध-विरोधी विचार अत्यन्त श्रेष्ठ एवं पूर्ण तर्क-सम्मत हैं। बार्कर ने ठीक ही कहा है कि ग्रीन द्वारा युद्ध की निन्दा उसके व्याख्यानों का सर्व-श्रेष्ठ और ओजपूर्ण अंश है।[1]

दण्ड पर ग्रीन के विचार
(Green on Punishment)

ग्रीन का दण्ड सम्बन्धी विचार उसके राज्य के कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त का एक अभिन्न अंग है। अपराधी की समाज-विरोधी इच्छा स्वतन्त्रता-विरोधी शक्ति है। ऐसी स्थिति में दण्ड उस शक्ति का विरोध करने वाली शक्ति बन जाता है। अधिकारों का उपयुक्त प्रयोग सम्भव बनाने के लिए ही दण्ड-विधान आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य अन्य मनुष्यों के उचित अधिकारों पर आघात करता है तो राज्य को दण्ड द्वारा ऐसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का अधिकार है। वस्तुतः "समूह में रहने का अधिकार इस योग्यता पर प्राप्त होता है कि मनुष्य सामान्य हित के लिए कार्य करेगा तथा इसमें यह अधिकार निहित है कि विघ्नों और बाधाओं से उसकी रक्षा की जाएगी।"[2] ग्रीन के अनुसार दण्ड-विधान का महत्त्व यह है कि यदि व्यक्ति स्वेच्छा से कभी समाज के विनाश पर उतारू हो जाए तो समाज का अन्त करने से पूर्व ही उस व्यक्ति को फाँसी पर चढ़ा देना चाहिए।

दण्ड आवश्यक है, इस बात से तो कोई इन्कार नहीं करता, किन्तु दण्ड के स्वरूप और उद्देश्य के बारे में राजदर्शन-वेत्ताओं में मतभेद है। कुछ दण्ड को प्रतिशोधात्मक (Retributive) मानते हैं, तो कुछ प्रतिरोधात्मक (Deterrent or Preventive) और कुछ सुधारात्मक (Reformative) मानते हैं। ग्रीन के दण्ड-सिद्धान्त में प्रतिशोधात्मक, प्रतिरोधात्मक और सुधारात्मक तीनों ही तत्त्वों का समावेश है। प्रतिशोधात्मक तत्त्व इस रूप में विद्यमान है कि दण्ड द्वारा अपराधी

1 *Barker* : Political Thought in England, p. 26
2 *Green* : op. cit., p. 172

के मन मे यह भावना उत्पन्न होती है कि दण्ड उसके किए हुए कर्म का ही प्रतिफल है। प्रतिरोधात्मक तत्त्व का समावेश इस रूप मे है कि दण्ड का उद्देश्य समाज मे अपराध के प्रति भय का सचार करता है ताकि मनुष्य अपराधी मनोवृत्ति का परित्याग कर दे। सुधारात्मक तत्त्व का उद्देश्य है कि दण्ड द्वारा अपराधी मे आन्तरिक सुधार की भावना जाग्रत होनी चाहिए। ग्रीन ने इन तीनो ही तत्त्वों पर न्यूनाधिक बल दिया है, किन्तु सर्वाधिक मान्यता प्रतिरोधात्मक अथवा निवारणात्मक (Deterrent or Preventive) सिद्धान्त को ही दी गई है।

(i) प्रतिशोधात्मक तत्त्व—इस सिद्धान्त का अभिप्राय अपराधी से अपराध का बदला लेना है, किन्तु ग्रीन के अनुसार यह विचार त्रुटिपूर्ण है। बदला एक विशेष स्थिति है जबकि विधि एक सार्वजनिक वस्तु है। जब व्यक्ति अपराध करता है तो उसके प्रति प्रतिशोध जैसे निम्न स्तर की भावना उचित नही है। प्रतिशोध मे वैर-भाव निहित है, किन्तु जब राज्य दण्ड की व्यवस्था करता है तो उसने अपराधी के प्रति कोई वैर-भावना निहित नही होती। राज्य वैर-भाव मे कभी दण्ड नही देता। राज्य का उद्देश्य प्रतिशोधात्मक न होकर केवल अधिकारो को भग होने से रोकना है। "दण्ड-विधान का न्यायपूर्ण दृष्टिकोण यह है कि दण्ड द्वारा अपराधी को इस बात का भान होता है कि अधिकार क्या है और उसने कौनसे अधिकार का उल्लघन किया है जिसके कारण उसे दण्ड मिला है।" आवश्यक केवल यह है कि अधिकार सामान्य हित पर आधारित हो। यदि ऐसा है तो अपराधी को स्वय ही यह भान हो जाएगा कि दण्ड उसके कार्यों का ही प्रतिफल है और इस रूप मे दण्ड प्रतिशोधात्मक कहा जा सकता है, न कि इस बदले के विचार से कि 'आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत' (An eye for an eye and a tooth for a tooth) निकाल लो। दण्ड का यह तरीका एकदम असभ्य और जगली है। दण्ड के इस तरीके का प्रतिपादन इसलिए किया जाता है कि अपराधी को अपराध की तीव्रता के अनुपात मे पीडा देनी चाहिए। लेकिन इस दृष्टिकोण से भी यह बात गलत है। दण्ड की नाप-तौल नैतिक अपराध के अनुसार करना एक असम्भव कार्य है। विभिन्न व्यक्तियो मे पीडा का परिमाण नापा नही जा सकता। उदाहरणार्थ, एक पहलवान को घूँसा मारने से उतनी पीडा नही होती जितनी एक साधारण व्यक्ति को। राज्य न तो दण्ड द्वारा होने वाले कष्ट को माप सकता है और न अपराध के नैतिक दोष को ही। यदि दण्ड से होने वाली पीडा और अपराध के नैतिक दोष के मध्य कोई अनुपात स्थिर करना राज्य के लिए सम्भव भी हो तो प्रत्येक अपराध के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्डो की व्यवस्था करनी होगी और इसका स्वाभाविक अर्थ होगा दण्ड सम्बन्धी सभी सामान्य नियमो की समाप्ति।

(ii) प्रतिरोधात्मक या निवारणात्मक तत्त्व—ग्रीन ने इसी तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व दिया है क्योंकि इस सिद्धान्त के आधार पर दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराधी को पीडा के लिए पीडा देना नहीं है और न ही मुख्यतः भविष्य मे उसको फिर से अपराध करने से रोकना है, वरन् उन व्यक्तियो के मस्तिष्क मे भय का

सचार करना है जो अपराध के लिए उद्यत हैं। दण्ड का उद्देश्य उन बाह्य स्थितियो को सुरक्षित रखना है जो स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित कार्यों के लिए आवश्यक हैं। ग्रीन के अनुसार दण्ड की धारणा मे निहित बात यह है कि दण्डित व्यक्ति मे अपने कार्यों को सामान्य हित की भावना पर निर्धारित करने की सामर्थ्य है और दण्ड देने वाले अधिकारी के चित्त मे जनहित पर आधारित अधिकार का विचार है। उस स्थिति मे भी दण्डित करना न्यायोचित नही हो सकता जब व्यक्ति किसी मान्य अधिकार को भग न करता हो। दण्ड का मुख्य रूप तो प्रतिरोधात्मक अथवा निवारणात्मक है, अर्थात् समाज मे दण्ड से भय का ऐसा सचार कर देना है कि दूसरे व्यक्ति जो अपराध करने को उद्यत हो, रुक जाएँ। दण्ड प्रतिशोधात्मक केवल इसी अर्थ मे है कि अपराधी को यह अनुभव हो जाए कि उसे दण्ड के रूप मे जो कष्ट मिला है उसका वह पात्र है और दण्ड उसके ही कर्म का प्रतिफल है।

ग्रीन के मतानुसार प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त मे एक बुराई है। इससे किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्तियो को शिक्षा देने का साधन बना लिया जाता है जबकि वास्तव मे व्यक्ति स्वय साध्य है, साधन नही। पर इस कमी के बावजूद प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त का महत्त्व कम नही है। दण्ड-विधान के इस सिद्धान्त को न्यायपूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि अपराधी को जिस अधिकार के उल्लघन करने के लिए दण्डित किया जा रहा है वह काल्पनिक न होकर वास्तविक हो। यह भी आवश्यक है कि केवल उतना ही दण्ड दिया जाए जितना पर्याप्त हो। उदाहरण के लिए एक बकरी चुराने के अपराध मे मृत्यु-दण्ड देना न्यायपूर्ण नही है। प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त के अनुसार कठोर दण्ड का अर्थ ऐसा दण्ड होगा जिससे अन्य लोगो के मन मे अधिक भय उत्पन्न हो। अपराध की गम्भीरता इस बात पर निर्भर होगी कि जिस अधिकार का उल्लघन किया गया है वह कितना महत्त्वपूर्ण है। इसी अनुपात मे भय का सचार किया जाना चाहिए। दण्ड देने का और उसके द्वारा भय उत्पन्न करने का उद्देश्य अपराध को सार्वजनिक बनाने से रोकना है। राज्य का कार्य नकारात्मक है, अतः दण्ड का प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त ही सबसे अधिक उपयुक्त है।

(iii) सुधारात्मक तत्त्व—सुधारात्मक सिद्धान्त का उद्देश्य अपराधो मे सुधार करना होता है, क्योकि सुधार भी अपराधो को रोकने मे अत्यधिक सहायक होता है, अतः इस सिद्धान्त का प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त के साथ सम्बन्ध है। जहाँ तक दण्डित व्यक्ति यह अनुभव करता है कि जो दण्ड उसे दिया गया है उसका वह पात्र था और वह अपने कार्य से समाज-विरोधी रूप को समझकर तदनुसार पश्चाताप करता है, वहाँ तक दण्ड का प्रभाव सुधारात्मक हो जाता है। दूसरे शब्दो मे, "वह सुधारात्मक उसी सीमा तक होता है जहाँ तक वह वास्तव मे प्रतिरोधात्मक होता है।" स्पष्ट है कि दण्ड का सुधारात्मक प्रभाव उसके प्रतिरोधात्मक कार्य का ही सुफल है। इस प्रकार अपराधी अपराध करने की अपनी आदत से मुक्त हो जाता है अपराधी मे भी सुधार की क्षमता होती है, इसीलिए ग्रीन मृत्यु-दण्ड या आजीवन कारावास को उचित नही मानता। मृत्यु-दण्ड केवल उन्हीं परिस्थितियो मे दिया

जाना चाहिए जब राज्य यह निश्चय करले कि अमुक व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड देना समाज हित की दृष्टि से उचित है और उस अपराधी मे सुधार की कोई सम्भावना नहीं है।

दण्ड सुधारात्मक इस अर्थ मे नही होता कि इसका प्रत्यक्ष उद्देश्य अपराधी का नैतिक सुधार करना हो। दण्ड का उद्देश्य अप्रत्यक्ष रूप से नैतिक होता है क्योकि यह अप्रत्यक्ष रूप से अपराधी की इच्छा मे सुधार करता है। दण्ड के पीछे राज्य का पशुबल नही, अपितु समाज का नैतिक बल होता है। राज्य का न्यायिक कार्य अपराधी के नैतिक पतन को न तो देखना है और न देख ही सकता है। "अपराध मे निहित नैतिक पतन की मात्रा का सम्बन्ध अपराधी के ध्येय और चरित्र से होता है जिसे न्यायकर्त्ता नही जान सकता।" राज्य को अपराधी के नैतिक पतन पर ध्यान भी नही देना चाहिए क्योकि उसका कार्य दुष्टता को दण्डित करना नही है, अपितु अधिकारो के उल्लंघन को रोकना है, एव उन स्वस्थ बाह्य स्थितियो को सुरक्षित रखना है जो स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित कार्य के लिए आवश्यक हैं। ग्रीन ही के शब्दों मे—

"राज्य की दृष्टि पुण्य और पाप पर नहीं, बल्कि अधिकारो और अपराधो पर रहती है। जिस अपराध के लिए वह दण्ड देता है वह उसमे निहित गलती को देखता है, किन्तु बदला लेने के लिए नही अपितु भविष्य मे अधिकारो की रक्षा करने के लिए तथा गलती करने की भावना के साथ आवश्यक भय को सम्बद्ध करने के लिए।"

सारांशत ग्रीन के अनुसार दण्ड का प्रधान उद्देश्य भविष्य मे अपराध का निवारण है और इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए साधन यह है कि सार्वजनिक जनता मे अपराध के साथ इतना भय स्थापित कर दिया जाए जितना कि उस अपराध-निवारण के लिए आवश्यक हो। दण्ड के प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष प्रभाव होते हैं जो अपने आप मे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। बार्कर के कथनानुसार—"प्रत्यक्ष दण्ड अधिकार-विरोधी शक्ति को रोकने वाली एक ऐसी शक्ति है जिसकी मात्रा दूसरी शक्ति के अनुपात मे होनी चाहिए जिसका मापदण्ड उन अधिकारो का विनाश है जिन्हें वह सुरक्षित रखता है और जिसका उद्देश्य उसका अन्त करना तथा उसके अन्त द्वारा उस अधिकार-योजना को पुनः प्रतिष्ठित करना होना चाहिए जिसका विरोध किया गया हो। अप्रत्यक्ष रूप से दण्ड इच्छा मे सुधार है और प्रभावशाली रूप से प्रतिरोधात्मक होने के लिए उसे ऐसा होना भी चाहिए, अथवा क्योकि इच्छा मे सुधार अभ्यन्तर से ही किया जा सकता है वह एक ऐसा आघात है जो अपराधी की इच्छा मे सुधार करना सम्भव बनाता है। अपने एक दूसरे रूप मे भी दण्ड बाधाओ को दूर करता है क्योकि वह बाधा, जिसका अपराधी विरोध करता है, केवल शक्ति ही नहीं, इच्छा भी है।"[1]

सम्पत्ति पर ग्रीन के विचार
(Green on Property)

सम्पत्ति पर भी ग्रीन ने अपने युग की तुलना मे एक उदारवादी दृष्टिकोण

1 *Barker* : Political Thought in England, p. 50.

प्रस्तुत किया है। न तो वह व्यक्तिगत सम्पत्ति का पूर्ण रूप से समर्थन करता है और न ही प्रारम्भ से अन्त तक उसकी आलोचना करता है। इस प्रकार न तो वह व्यक्तिवादी है और न समाजवादी। उसने सामान्यतः सम्पत्ति का समर्थन इस आधार पर किया है कि वह मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए अनिवार्य है। सम्पत्ति मनुष्य के स्वाधीन जीवन के अधिकार की एक उपसिद्धि (Corollary) है अर्थात् सम्पत्ति का अधिकार स्वतन्त्र जीवन के अधिकार का ही एक उपसिद्धान्त है जो अवश्य ही उससे उत्पन्न होता है। सम्पत्ति के स्वामित्व से नैतिक व्यक्ति की सामान्य हित के लिए जीवित रहने की और अपने सामाजिक कार्यों को पूरा करने की शक्ति बढ़ती है। सम्पत्ति-अर्जन को व्यक्तिगत विकास का आधार मानते हुए भी एक सच्चे आदर्शवादी की भाँति ग्रीन ने इस सम्बन्ध में सामाजिक हित पर आघात नहीं किया है। उसके मत से सम्पत्ति की सर्वोत्तम परिभाषा यह होगी कि "सम्पत्ति उन समस्त साधनों का योग है जो मनुष्य में आत्मानुभूति के सिद्धान्त को स्वतन्त्र विकास और सामान्य हित में योग देने के लिए आवश्यक है। स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की माँग करते हुए चिरस्थायी आत्मा ने जिन वस्तुओं को प्राप्त कर लिया है, वह उसी का फल है।"

ग्रीन की सम्पत्ति-विषयक धारणा के बारे में तीन बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(1) ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति पर इसलिए बल नहीं देता कि उसका प्रयोग सदैव सामान्य हित के लिए ही किया जाए, (2) वह सम्पत्ति की असमानता को स्वीकार करता है एवं (3) सम्पत्ति की असमानता को अस्वीकार करते हुए भी वह अनिश्चित धन-संचय को उचित नहीं समझता।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन करते हुए ग्रीन यह स्वीकार करता है कि सम्पत्ति मानव-योग्यता की सिद्धि का प्राकृतिक साधन है, स्वतन्त्र जीवन का एक आवश्यक आवश्यक है और यह अनिवार्य नहीं है कि व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को सदैव ही सामान्य हित के लिए प्रयुक्त करे। ग्रीन केवल इस बात पर बल देता है कि सम्पत्ति का सम्भावित लक्ष्य सामाजिक हित होना चाहिए। उसका विश्वास था कि सम्पत्ति के माध्यम से वस्तुओं को अपने अधिकार में कर एवं उन्हें मानव की आवश्यकताओं के अनुकूल रूप देकर मनुष्य जहाँ एक ओर अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान् उत्तम मनोभावों को भी व्यक्त कर सकता है। "सम्पत्ति का औचित्य इस बात में है कि प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा-पूर्ति के लिए आवश्यक साधनों को प्राप्त करने और उन्हें अपने अधिकार में रखने की शक्ति जिससे सामाजिक हित-साधन की सम्भावना हो समाज द्वारा सुरक्षित होनी चाहिए। व्यक्ति की इच्छा निश्चित रूप से इस लक्ष्य की ओर उन्मुख होती है या नहीं—इससे उसके अधिकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रत्येक व्यक्ति की यह शक्ति तो उस समय तक सुरक्षित होनी ही चाहिए जब तक वह अन्य व्यक्तियों द्वारा इसी प्रकार शक्ति के प्रयोग में हस्तक्षेप न करे चाहे व्यवहार में वह उसका कुछ भी प्रयोग क्यों न करे। इसका आधार यह है कि इसका अनियन्त्रित

प्रयोग मनुष्य द्वारा उस स्वतन्त्र नैतिकता की प्राप्ति की शर्त है जो कि सर्वोच्च शुभ है।"[1]

इस बात पर विचार व्यक्त करते हुए कि सम्पत्ति की असमानता सम्भव और उचित है, ग्रीन ने लिखा है कि—"सामाजिक हित के लिए यह आवश्यक है कि समाज मे भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न स्थितियों मे रहे। विभिन्न स्थितियो के लिए विभिन्न साधन आवश्यक हैं। इस प्रकार सम्पत्ति सम्बन्धी असमानताएँ सामान्य रूप से समाज के हित मे हैं चाहे वास्तविक रूप से ऐसा न हो।"[2]

ग्रीन की मान्यता है कि सामाजिक हित की पूर्ति के लिए विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है, सामाजिक हित का पूर्ण सम्पादन कोई अकेला व्यक्ति नही कर सकता। यह भी सर्वथा स्वाभाविक है कि विभिन्न व्यक्ति किसी एक ही परिस्थिति मे न रहकर भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे रहते हैं और इसीलिए उनके साधन भी भिन्न-भिन्न होते हैं। वे अपने विभिन्न साधनो के अनुरूप ही सामाजिक हित की क्षमता रख सकते हैं। अतः सम्पत्ति की विषमता उचित ही है। इस विषय मे प्रो. बार्कर का कथन है कि—'सम्पत्तिवान् स्वतन्त्र एवं बुद्धिमान नागरिको की सहायता से हम प्रकृति पर भी विजय पा सकते हैं। ऐसी परिस्थितियो मे विभिन्न नागरिको के पास विभिन्न मात्रा मे सम्पत्ति होनी चाहिए, किन्तु यह इतनी अवश्य होनी चाहिए जिससे इसका स्वामी राज्य मे अपने कर्त्तव्यों का पालन भली-भाँति कर सके।"[3]

ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति का आदर करते हुए और सम्पत्ति की असमानता को व्यक्ति एवं समाज-हित की दृष्टि मे उचित बनाते हुए भी किसी भी स्थिति मे अनियन्त्रित धन-सचय को उचित नहीं ठहराता। उसका यह मत है कि यदि समाज के व्यक्तियो की स्वतन्त्र-इच्छा की पूर्ति मे बाधा पहुँचे, तो व्यक्तियो द्वारा धन-सचय पर रोक लगनी चाहिए। यदि कोई किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार मे बाधा पहुँचाता है तो उसे ऐसा करने से रोकना उचित ही है। "राज्य का यह निश्चित कर्त्तव्य है कि वह यथासम्भव उसके दुरुपयोग को रोके। जहाँ कुछ स्वामी अपनी सम्पत्ति का निरन्तर ऐसा उपयोग करते हैं जिससे दूसरो की सम्पत्ति के स्वामित्व मे हस्तक्षेप होता है, वहाँ सम्पत्ति की प्राप्ति तथा उसके वितरण अथवा परित्याग पर सरकार मर्यादाएँ स्थापित कर सकती है।"

ग्रीन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोषों के प्रति उदासीनता नहीं दिखाई। उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोषो का मुख्य स्रोत भूमि-स्वामित्व की उत्पत्ति तथा भू-स्वामियों को प्राप्त स्वतन्त्रताओं मे देखा। ग्रीन ने यद्यपि भूमि-सुधारो के लिए कोई पूर्ण एवं विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया और न ही भूमि की आय मे अनार्जित वृद्धि की जब्ती का ही समर्थन किया, तथापि उसने अग्रलिखित प्रकार के कानूनो के निर्माण का प्रस्ताव किया—

1 *Green* : Lectures on the Principles of Political Obligation, p. 220.
2 *Barker* : Political Thought in England, p. 55.
3 *Green* : Lectures on Political Obligation, p. 221.

(i) "जमींदारों तथा किसानों के ऐसे समझौतों पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए जिससे जमींदारों के लिए शिकार करने का अधिकार सुरक्षित रहे।

(ii) ऐसे बन्दोबस्तों (Settlements) को कानूनी स्वीकृति नहीं देनी चाहिए जो भविष्य में भूमि-वितरण या भूमि-सुधार में बाधक हों या जो किसान को अपनी भूमि को धन के रूप में परिवर्तित करने या अपनी सन्तान में वितरण करने से रोके।

(iii) जो किसान अपनी भूमि का परित्याग करें, उन्हें उनके द्वारा किए गए भूमि के उन सुधारों के मूल्य की गारण्टी मिलनी चाहिए जिनका लाभ उनके भूमि-त्याग तक समाप्त न हुआ हो।"

"यदि मनुष्य को नैतिक बनाने के लिए स्वामित्व की आवश्यकता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि राज्य को सम्पत्ति के ऐसे उपयोगों को बर्दाश्त करना चाहिए जिससे एक बड़ा भूमिहीन सर्वहारा-वर्ग उत्पन्न होता हो ? इस वर्ग की वृद्धि तथा दुर्दशा के कारण उत्पादनकारी सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को समाजवादी मान्यता नहीं देते, किन्तु ग्रीन के विचार में उसका कारण स्वामित्व का दुरुपयोग है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त किए बिना ही सरकारी नियमन द्वारा दूर हो सकता है।"[1]

ग्रीन सम्पत्ति विषयक अपनी धारणा में वास्तव में उदार था।

ग्रीन के दर्शन का मूल्यांकन
(Estimate of Green's Philosophy)

1. जिन लोगों ने आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया है, ग्रीन उन सबमें सर्वाधिक गम्भीर है। उसका दर्शन भी गुणों और दोषों का सम्मिश्रण है क्योंकि वह हीगलवाद, व्यक्तिवाद एवं उदारवाद का मिश्रित रूप है। अपने सामान्य दर्शन में वह हीगलवादी है तो राजनीति में उदारवादी। एक ओर तो संसार में एक दैविक आत्मा अथवा बुद्धि (Divine Spirit or Reason) के अस्तित्व की हीगलवादी कल्पना में उसका विश्वास है, दूसरी ओर उसमें "सभी अंग्रेजों में पाया जाने वाला प्रजा की स्वतन्त्रता के प्रति तीव्र अनुराग एवं राज्य के विवेक के प्रति गहन विश्वास" विद्यमान है। एक आदर्शवादी के रूप में वह राज्य की संविदा व यान्त्रिक एवं शक्ति-सिद्धान्तों को अमान्य ठहराते हुए राज्य के सावयव सिद्धान्त (Organic Theory) को स्वीकार करता है, लेकिन साथ ही राज्य को स्वयं साध्य मानने से इन्कार करता है। व्यक्तिवादी धारणा का कारण उसके लिए राज्य एक साध्य की प्राप्ति का साधन है और साध्य उस राज्य के रचयिता व्यक्तियों का पूर्ण नैतिक विकास है। उसका यह कथन कि अपने घटकों के जीवन के अतिरिक्त राष्ट्र के जीवन का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं हो सकता, उसे हीगल की अपेक्षा कॉण्ट के अधिक निकट ला देता है। एक तरफ राज्य के सावयव सिद्धान्त में विश्वास एवं दूसरी तरफ व्यक्ति के मूल्य तथा सम्मान के प्रति गहरी श्रद्धा—ग्रीन के दर्शन में ये दोनों ही

1 कोकर: आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 449–51.

विपरीत बातें देखने को मिलती हैं जिनमें समन्वय करना बड़ा कठिन है। इन विचारों के कारण ही ग्रीन जहाँ राज्य को एक निश्चित शुभ (A positive good) मानते हुए उसके कार्य-क्षेत्र के विस्तार का पक्षपाती है, वहाँ राज्य के कार्यों का निषेधात्मक रूप का वर्णन करते हुए कहता है कि राज्य का कार्य शुभ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निषेध करना है। पर वास्तविकता यह है कि बाधाओं को दूर करने में राज्य को सकारात्मक रूप में ही सब कुछ करना पड़ता है। अशिक्षा की बाधा को दूर करने के लिए राज्य विद्यालय खोलता है, अपराध की बाधा को दूर करने के लिए राज्य न्यायालयों और जेलों की व्यवस्था करता है तथा अरक्षा की बाधा दूर करने के लिए उसे पुलिस एवं अन्य सेवाओं की व्यवस्था करनी पड़ती है। ये सभी कार्य सकारात्मक हैं, फिर राज्य के कार्य निषेधात्मक कैसे माने जाएँ? राज्य की महान् देन को देखते हुए और उसके वर्तमान कल्याणकारी स्वरूप को ध्यान में रखते हुए बड़ा असंगत प्रतीत होता है कि राज्य के कार्यों को सकारात्मक माना जाए। ज्ञान, स्वास्थ्य, भौतिक सम्पन्नता आदि तो शुभ एवं नैतिक जीवन की अनिवार्यताएँ हैं। चूँकि राज्य इनकी व्यवस्था में योग देता है, अतः उसका योगदान वास्तव में सकारात्मक है। लेकिन यह ध्यान देने योग्य बात है कि ग्रीन ने केवल 'निषेधात्मक' शब्द का नहीं अपितु 'निषेधात्मक नैतिक कार्य' (Negative Moral Functions) शब्दों का प्रयोग किया है। राज्य सकारात्मक कार्य करेगा, किन्तु नैतिक क्षेत्र में वह सकारात्मक दृष्टि से कुछ भी करने का अधिकारी है। यह व्यक्ति या समाज का अपना क्षेत्र है। एक बार यह निश्चित हो जाने पर कि नैतिक कार्य क्या हैं, राज्य उनकी क्रियान्विति में सकारात्मक रूप से बहुत कुछ करता है और उसके लिए ऐसा करना अपेक्षित भी है।

2. ग्रीन राज्य के कार्य सम्बन्धी विचारों में स्वयं के तत्कालीन विचारों के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका और इसी कारण वह उस समय के प्रचलित विचारों के अनेक दोषों पर ध्यान नहीं दे पाया है। इसके विपरीत उसने इन दोषों को अपने दर्शन द्वारा उचित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अरस्तू दास-प्रथा में कोई अनौचित्य इसलिए नहीं देख पाया था क्योंकि वह उस समय प्रचलित थी। इसी प्रकार ग्रीन ने भी पूँजीवाद को केवल इसीलिए समर्थन दिया प्रतीत होता है कि उसके समय में वह प्रचलित था। प्रथम तो समकालीन प्रभाव के कारण और द्वितीय अपने उदारवादी दृष्टिकोण एवं व्यक्ति के गौरव में विश्वास के कारण वह इन खतरों को नहीं भाँप सका है जो कुछ व्यक्तियों के हाथों में पूँजी के एकत्रीकरण से उत्पन्न हो सकते हैं उसके आर्थिक विचार अपूर्ण एवं असन्तोषजनक हैं क्योंकि वह कृषि-भूमि के सुधारों से ही सन्तुष्ट हो गया और पूँजी के कुछ मुट्ठी भर हाथों में संग्रह होने में उसे किसी विशेष खतरे का आभास नहीं हुआ। उसने भूमि-अधिकरण व्यवस्था में सुधार की माँग तो अवश्य की, लेकिन उसने पूँजीवाद को नियन्त्रित करने का कोई प्रस्ताव नहीं किया। उसने भूमि-सुधार के लिए भी कोई पूर्ण एवं विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया और न ही भूमि की आय से अनार्जित वृद्धि की जब्ती का समर्थन किया। वह यह मानकर ही सन्तुष्ट हो गया कि यह मामला इतना

जटिल था कि उसकी व्यवस्था इस प्रकार के व्यापक ढग से नही हो सकती थी। ग्रीन ने केवल पूँजीवाद का समर्थन ही नही किया, बल्कि अपनी नैतिक धारणा का पुट देकर यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया कि पूँजीवाद एक आदर्श स्थिति है। इस सम्बन्ध मे ग्रीन के बचाव मे यह कहा जा सकता है कि उसके अनुसार राज्य का यह निश्चित कर्त्तव्य है कि वह यथासम्भव सम्पत्ति के स्वामित्व के दुरुपयोग को रोके या उसे समाप्त कर दे। लेकिन बचाव का यह एक निरर्थक तर्क है जिसके पीछे यथार्थ का बल नही है।

3. मानव प्रकृति के सम्बन्ध मे ग्रीन अतिशय आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार मनुष्य विवेकशील एव सदेच्छा से विभूषित प्राणी है। ग्रीन का यह विचार एकांगी है। मनुष्य मे यदि बौद्धिक तत्त्व विद्यमान हैं तो साथ ही मानव-मस्तिष्क काम, क्रोध, घृणा, छल-कपट आदि अबौद्धिक तत्त्वो की भी रग-स्थली है। यदि मनुष्य के राजनीतिक कार्य-कलापों पर दृष्टि डालें तो अबौद्धिक तत्त्वो का ताण्डव नृत्य स्वयसिद्ध है। वेपर (Wayper) के अनुसार, "ग्रीन द्वारा चित्रित प्राय: विशुद्ध चेतना के रूप मे मनुष्य उतना ही स्वाभाविक है जितना उपयोगितावादियो का सुखाभिलाषी मनुष्य अथवा पुराने अर्थशास्त्रियों का आर्थिक मनुष्य।" डॉ. लकास्टर (Dr. Lancaster) ने इस सम्बन्ध मे बड़ी ही तार्किक आलोचना प्रस्तुत की है। उनके शब्दों मे—"ग्रीन की यह धारणा कि मनुष्य एक ऐसा नैतिक प्राणी है जो हमेशा आध्यात्मिक पूर्णता की खोज में व्यस्त रहता है, एक ऐसा भ्रामक विचार है जिसके लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है और जिसका वर्णन इस तरह किया गया है कि हम इसे अस्पष्ट एव अवास्तविक कह सकते है। उसके विचारो को यदि अनुभव सिद्ध तत्त्वो की कसौटी पर परखा जाता तो तथ्य आसानी से उजागर हो सकता था। प्रत्येक परिस्थिति मे यदि कोई मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रति ऐसी भावना रखता है तो स्पष्ट है कि उसे इस मत से पर्याप्त सहानुभूति है कि राज्य (या समाज या जाति) ही व्यक्ति की सच्ची इच्छा व्यक्त करता है। ग्रीन किन्हीं अशो मे यह विचार स्वीकार करता है, लेकिन वह ऐसे तर्क के परिणामो से यह कहकर बच निकलना चाहता है कि व्यक्ति की वास्तविक एव सच्ची इच्छा प्राय: एक ही होती है। उसका विश्वास है कि आध्यात्मिक पूर्णता का प्रयास करने वाले व्यक्ति 'समाज' के सदस्य होने के नाते यह प्रयास करते हैं। अनेक युगो के बाद समाज ने एक जटिल सम्बन्ध का निर्माण किया है जो समष्टि रूप मे 'सुखद जीवन' का परिचायक है और इस प्रकार के व्यावहारिक आदेशो का निर्माता है कि व्यक्तियो की इच्छा स्वयमेव इनके अनुकूल बन जाती है।"[1]

पुनश्च, डॉ. लकास्टर के अनुसार ही "वास्तविक सत्य यह है कि मानव प्रकृति के बारे मे ग्रीन की आशावादी धारणा ठीक वैसी ही कठिनाइयो मे से निकलने का एक मार्ग है जैसी जॉन स्टुअर्ट मिल ने अनुभव की थी कि यदि मनुष्य वस्तुत: स्वतन्त्र हो जाएँ तो वे दुष्कर्म करने लग जाएँगे। इस प्रकार की परिस्थितियो मे थोड़ी-सी

1 Masters of Political Thought, Vol III, p. 219–20.

स्वतन्त्रता और सदाचार के मेल के रूप में समाज-विरोधी कार्यों को रोकने के अधिकारों को सम्मिलित करके कोई उपाय खोजना चाहिए। ग्रीन की तुलना में मिल मानव-स्वभाव के बारे में अधिक निराशावादी था जिसके फलस्वरूप उसने कुछ परिस्थितियों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप के विषय में आपत्ति नहीं की। उसने वास्तविक इच्छा और सच्ची इच्छा के बारे में भी कल्पना नहीं की। ग्रीन ने तो यह कल्पना की है कि मनुष्य आध्यात्मिक पूर्णता की खोज करता है और यह भी माना है कि व्यक्ति की आध्यात्मिक पूर्णता का आशय अन्य लोगों की आध्यात्मिक पूर्णता भी है। इस प्रकार उसके लिए सर्वसाधारण की और व्यक्ति की इच्छा का एकीकरण शासन की शक्ति का समर्थन किए बिना ही सरल हो गया है।"

4. ग्रीन के विचारों में तार्किक असंगतियाँ हैं। वह मनोवैज्ञानिक सत्य और यथार्थवाद से दूर है। उसे समाज की वास्तविक स्थिति का व्यावहारिक ज्ञान नहीं है और अपनी समकालीन अवस्था को ही वह कुछ संशोधन के साथ स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार यह यथास्थितिवादी है। आध्यात्मिक तत्त्वों की खोज में नैतिकता के मायाजाल में भटकता हुआ ग्रीन भौतिक समृद्धि की पूरी विवेचना नहीं कर पाता। हीगल के समान ही उसका दर्शन भी सूक्ष्म और क्लिष्ट है। उसके 'सदेच्छा', 'शाश्वत् आत्म-चेतना', 'सामान्य इच्छा की सामान्य चेतना' आदि के विचार इतने अधिक कल्पनात्मक हैं कि उन्हें ठीक प्रकार समझना कठिन है। इनके कारण ग्रीन का दर्शन बहुत बोझिल बन गया है। इच्छा सम्बन्धी ग्रीन के विचार की आलोचना में हॉबहाउस (Hobhouse) का कथन है कि जहाँ तक इच्छा का सम्बन्ध है, यह सार्वजनिक नहीं होती, और जहाँ तक सार्वजनिक होती है वह इच्छा नहीं रह जाती।"[1] ग्रीन ने रूसो और ऑस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों में सुधारात्मक संशोधन करने का प्रयत्न तो किया है किन्तु 'सामान्य इच्छा' सम्बन्धी व्यावहारिक समस्याओं का वह कोई समाधान नहीं कर सका है। पुनः सामान्य इच्छा को इतना अधिक महत्त्व देने के बाद ग्रीन यह कह कर कि "महान् व्यक्तियों में बुराइयों के होते हुए भी ईश्वरीय आत्मा उनके कुकृत्यों से भी अच्छाई निकलवा लेती है" सामान्य इच्छा का महत्त्व नगण्य कर देता है। ग्रीन की इस धारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि महापुरुषों के गुणों के सामने उनके अवगुणों को भूल जाना चाहिए। यह तो फ्रेडरिक महान् के इन वचनों की पुनरावृत्ति है कि किसी लक्ष्य की प्राप्ति अथवा किसी कार्य की पूर्ति के लिए चाहे कितने भी अनैतिक साधनों का उपयोग क्यों न किया जाए, लेकिन कोई न कोई ऐसा दार्शनिक अवश्य पैदा होगा जो इन पर पर्दा डाल देगा।

5. ग्रीन शासन में जनता के सक्रिय रूप से भाग लेने का समर्थक है, तथापि हॉबहाउस जैसे आलोचकों के अनुसार उसके सिद्धान्त में निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन के बीज विद्यमान हैं। ग्रीन के दर्शन में ऐसा कोई मौलिक क्रान्तिकारी तत्त्व नहीं है

1 *Hobhouse* : The Metaphysical Theory of the State

जो राज्य की बढ़ती हुई स्वेच्छाचारिता को रोकने का प्रभावकारी साधन प्रस्तुत कर सके। ग्रीन यह आवश्यक नहीं समझता कि उत्तम शासन के लिए लोकशासन होना चाहिए। इसके विपरीत उसे यह मान्य है कि निरंकुश शासन भी सामान्य इच्छा के अनुसार कार्य कर सकता है क्योंकि राज्य का उद्देश्य तो 'सामान्य हित' की प्राप्ति है और इस उद्देश्य की सिद्धि निरंकुश या सांविधानिक दोनों ही प्रकार के शासनों द्वारा की जा सकती है।

6. ग्रीन के प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त ने उसे कठिनाइयों में फँसा दिया है। उसने एक हाथ से अधिकार देकर दूसरे हाथ से वापस ले लिए हैं। उसने केवल यह स्वीकार नहीं किया है कि आत्मा द्वारा किया हुआ न्याय ही नैतिक रूप से कानून का न्यायालय है, वरन् इस बात पर भी बल दिया है कि व्यक्ति को समाज के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं है और व्यक्ति का कर्तव्य समाज की उन्नति करना है। वह एक तरफ तो कहता है कि अधिकार स्वीकृति द्वारा निर्मित हैं और दूसरी तरफ मानता है कि ऐसे भी कुछ अधिकार हैं जिनकी स्वीकृति अवश्य ही मिलनी चाहिए। ये दोनों ही कथन परस्पर असंगत हैं। यदि अधिकारों के पीछे आधारभूत तत्त्व राज्य की स्वीकृति है तो व्यक्तियों के समाज के ऐसे दावे को अधिकार कहना भ्रमात्मक है जिसको राज्य की स्वीकृति प्राप्त नहीं है।

7. दण्ड का सिद्धान्त प्रस्तुत करते समय भी ग्रीन मानव-भावनाओं की अवहेलना करता है। मनुष्य का यह चित्रण अवास्तविक है कि वह लगभग पवित्र चेतना का स्वरूप है।

8. ग्रीन विशेष परिस्थिति में व्यक्तियों द्वारा राज्य का प्रतिरोध करने के अधिकार को मान्य ठहराता है, पर साथ ही इसमें इतने प्रतिबन्ध लगा देता है कि व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिरोध का यह अधिकार व्यर्थ-सा हो गया है। ग्रीन हमें कोई ऐसा स्पष्ट आधार नहीं बतलाता जिससे यह स्पष्ट किया जा सके कि अमुक स्थिति में राज्य का विरोध करने में कार्य सामान्य हित के निमित्त होते हैं।

9. ग्रीन के अनुसार राज्य सर्वशक्तिमान न होकर आन्तरिक और बाह्य दोनों रूप से सीमित है। समाज के भीतर विभिन्न स्थायी संघों की अपनी एक आन्तरिक अधिकार व्यवस्था होती है और राज्य का अधिकार उनमें केवल समन्वय स्थापित करने का है। अपने इसी अधिकार के फलस्वरूप राज्य को अन्तिम सत्ता प्राप्त है। बहुलवादी सिद्धान्त को पूर्ण रूप से न अपनाने के कारण मैकाइवर ने ग्रीन की आलोचना करते हुए कहा है कि "प्रारम्भ से अन्त तक ग्रीन यही विवेचना करता है कि किन परिस्थितियों में व्यक्ति एक स्वतन्त्र नैतिक प्राणी के रूप में कार्य कर सकता है, उन परिस्थितियों को सुलभ बनाने के लिए राज्य क्या कर सकता है और इसलिए उसे क्या करना चाहिए। पर उसके चिन्तन के आधार स्तम्भ फिर भी राज्य और व्यक्ति ही बने रहते हैं। वह इस बात पर विचार नहीं करता कि राजनीतिक विधान से भिन्न अन्य साधनों से सम्बद्ध दूसरे संघों के अस्तित्व का व्यक्ति और समाज पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है। यदि वह इस पर विचार करता तो उसे स्पष्ट हो

जाता कि प्रश्न केवल यही नही है कि राज्य को क्या करना चाहिए बल्कि यह भी है कि राज्य को क्या करने की अनुमति है, क्योंकि राज्य दूसरी शक्तियों से घिरा हुआ है तथा दूसरी श्रेणी के सगठनो से सीमित है, जो अपने ढग से अपने उद्देश्यों की पूर्ति मे सलग्न हैं। ग्रीन प्रभुसत्ता की आधुनिक समस्या के छोर तक पहुँच कर उसे छू कर ही रह जाता है, उसका हल नही दे पाता।"[1]

10. ग्रीन अत्यधिक बुद्धिवादी दृष्टि से सब समस्याओ का समाधान करता है। वह भूल जाता है कि व्यक्ति अपने अधिकांश कार्य अचेतन मन और मनोभावनाओ के प्रबल आवेगो मे बहकर करता है।

ग्रीन का दर्शन यद्यपि गम्भीर दोषो से ग्रस्त है, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि मूल रूप से उसके सिद्धान्त आज भी ठीक मालूम पड़ते हैं। उदारवादी सिद्धान्त का जो सशोधन ऑक्सफोर्ड के आदर्शवादियो ने किया था उनमे ग्रीन सबसे प्रमुख था—कम से कम राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र मे।[2] हम इससे इंकार नही कर सकते कि व्यक्ति के मूल्य, समाज के महत्त्व, स्वाधीनता के सम्मान और अन्तर्राष्ट्रीयता की उपयोगिता को ग्रीन ने शुष्क काल्पनिक दार्शनिक दृष्टि से नही बल्कि एक अनुभवी, व्यावहारिक तथा गम्भीर विचारक की सूक्ष्म दृष्टि से देखा है। उसके सम्पत्ति के अधिकार तथा निरकुश राज्य विरोधी विचार भी उदार और ठोस हैं। पूँजीवादी सम्पत्ति के समर्थन राज्य द्वारा अनार्जित वृद्धि के विनियोग का विरोध, दण्ड के प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त आदि पर आग्रह आज भी सम्भव है। बार्कर के अनुसार, "चाहे हमें उचित प्रतीत न हो, पर किन्ही विशेष परिस्थितियो का जो विश्लेषण उसने किया अथवा किसी नीति-विशेष के जो सुझाव उसने दिए, उन सबकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण वे सिद्धान्त हैं जिनकी उसने स्थापना की। यदि उसके सिद्धान्त सत्य हैं तो प्रत्येक युग अपनी आवश्यकताओ के अनुकूल उनकी प्रगतिशील व्याख्या कर सकता है। व्यक्ति के महत्त्व पर उसका दृढ विश्वास, व्यक्ति की स्वाधीनता पर उसकी गहरी आस्था, उसका यह विश्वास कि व्यक्ति का कल्याण सामाजिक कल्याण का एक अग है, राज्य को रहस्यवादी शिखर पर पहुँचाने की उसकी अस्वीकृति, एक सार्वभौम भ्रातृत्व और अन्तर्राष्ट्रीय विधान की स्वीकृति, नैतिक कार्यों की आत्म-प्रेरणा को जीवित रखने के उद्देश्य से राज्य की शक्ति का परिसीमन करने की उसकी उत्सुकता, अधिकारो पर उसका बल, उसका यह विचार कि व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है और उसकी यह मान्यता है कि कठिन परिस्थितियों मे व्यक्ति को राज्य की शक्ति का प्रतिरोध करने का अधिकार है—यह सब आज भी उतने ही सही हैं जितने सन् 1879–80 मे उस समय थे जब ग्रीन ने इनका प्रतिपादन किया था।" डॉ सेबाइन के अनुसार ग्रीन ने इस तत्त्व का दर्शन किया है कि "राजनीतिक प्रजातत्र के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक प्रजातत्र का होना भी उसी प्रकार अत्यावश्यक है जिस प्रकार राजनीतिक प्रजातन्त्र-

1 *McIver* : The Modern State, p. 471.
2 सबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 680.

पद्धति में सर्वसाधारण के लिए समान अवसर की प्राप्ति एक प्रमुख सिद्धान्त है। राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की भावनाओं के आधार पर हल करने के प्रयत्न में ग्रीन ने कम से कम उस प्रकार की बातों का भी अनुभव किया है जिनका प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्र समाज की दृढ़ता के लिए ध्यान रखना चाहिए।"[1]

राजदर्शन को ग्रीन को महत्त्वपूर्ण देन सक्षेप में निम्नानुसार प्रस्तुत की जा सकती है—

प्रथम, ग्रीन ने उपयोगितावाद और उदारवाद में समयानुकूल सशोधन कर उसमें नवजीवन का सचार किया और जो उपयोगितावाद मिल के समय तक निष्प्राण हो चुका था, उसे अपने नवीन सिद्धान्तों द्वारा शक्तिशाली बनाया। उसने इस उपयोगी धारणा की पुष्टि की कि मनुष्य कोरे भौतिक सुख का अन्वेषणकर्ता नहीं बल्कि अपनी आत्मा के विकास का इच्छुक और समाज का हितैषी है।

दूसरे, ग्रीन ने बहुत ही सुन्दर ढंग से जर्मन आदर्शवाद को व्यक्तिवाद के साथ सम्बद्ध किया। हीगल ने व्यक्ति को साधन बनाकर उसके हितों को राज्य की बलिवेदी पर चढा दिया था जबकि ग्रीन ने राज्य को आदर्श बतलाते हुए भी व्यक्ति की गरिमा को महत्त्व दिया और उसे व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए एक साधन माना। हीगल ने युद्ध का समर्थन किया और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों पर कोई नैतिक बन्धन न मानकर उन्हें मनमाना कार्य करने की छूट दे दी थी। ग्रीन ने इन दूषित विचारों में सशोधन किया। उसने इस बात पर बल दिया कि राज्यों को परस्पर युद्धों में नहीं उलझना चाहिए। उसने युद्ध को प्रत्येक दशा में अनैतिक माना और अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों के सघर्षों का अन्त करने की आशा की।

तीसरे, ग्रीन ने राज्य के कार्यों का निर्धारण उपयोगितावादियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से किया। राज्य के कार्यों को नैतिक आधार प्रदान कर उसने उदारवाद को नैतिकता और सामाजिकता का बाना पहना दिया और नैतिकता को इतना व्यापक बना दिया कि सामाजिक सद्भावना सभी युगों के व्यक्तियों के लिए उपयोगी हो सकती है। वेपर के शब्दों में—"ग्रीन ने उदारवाद को एक रुचिकर विषय की अपेक्षा एक विश्वास में परिवर्तित कर दिया। उसने व्यक्तिवाद को मानसिक तथा सामाजिक रूप प्रदान किया और आदर्शवाद को सभ्य एवं सुरक्षित समाज में परिवर्तित कर दिया। कम से कम अंग्रेज उसकी इस देन को तुच्छ नहीं समझ सकते।" पुनश्च "ग्रीन की महानता इसमें है कि उसने अंग्रेजों को एक ऐसी वस्तु प्रदान की जो बेन्थमवाद से अधिक सन्तोषप्रद है। उसने उदारवाद (Liberalism) को एक हित के बजाय एक विश्वास का रूप दिया है। उसने व्यक्तिवाद को नैतिक तथा सामाजिक एवं आदर्शवाद को सभ्य तथा सुरक्षित बनाया है। अंग्रेजों के लिए उसके कार्य का बड़ा महत्त्व है।"[2]

1 Masters of Political Thought, Vol. III, p. 228.
2 कोकर · आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 453.

अन्त मे हम ग्रीन के मूल्यांकन मे मैकन (Macunn) के इस विचार से सहमत हैं कि "यदि प्रत्येक राजनीतिक आन्दोलन मे मानव-हित को महत्व देना और सस्थाओ सम्बन्धी वाद-विवाद मे नागरिको के सुख-दुःख के आधार पर निर्णय करना ही व्यक्तिवाद है तो राजनीतिक दर्शन मे बहुत कम व्यक्तिवादी ऐसे होगे जो ग्रीन से अधिक प्रसिद्ध हो।" कोकर के शब्दो मे, "ग्रीन के अधिक मर्यादित विचारो का अनेक वर्तमानकालीन प्रसिद्ध लेखको, मुख्यतया इटली मे बेनेदेतो क्रोच (Benedetto Croce), इग्लैण्ड मे सर हेनरी जोन्स, जॉन वाटसन, जे.एम. मैकेंजी, अर्नेस्ट बार्कर, हैदरिगटन, हर्नले तथा फिशर और सयुक्तराज्य अमेरिका मे प्रो. विलियम, ई. हाकिंग तथा नार्मन वाइल्ड (Norman Wilde) ने अनुसरण किया है। ये विद्वान् ग्रीन के समान साधारणतया यह मानते हैं कि—(i) मनुष्य केवल राजनीतिक समाज का सदस्य होने के कारण ही सबसे सच्चे अर्थ मे मनुष्य अर्थात् ऐसा प्राणी है जिसका आचरण, पशु-जगत् के आचरण को निर्धारित करने वाली शारीरिक प्रवृत्तियो या इच्छाओ से भिन्न विवेकपूर्ण तथा नैतिक आदर्शों पर निर्धारित होता है, (ii) वे साधारणतया इस बात से भी सहमत है कि यद्यपि राज्य के लक्ष्य केवल नैतिक हैं और अपनी शक्ति के लिए वह अपने सदस्यो मे नैतिक आदर्शों की किसी प्रकार की एकता पर निर्भर रहता है, तथापि उसे सब अनेक, विशेषकर आर्थिक, कार्य भी करने होते हैं—उसे अनियन्त्रित प्रतियोगिता के कारण उत्पन्न भयकर आर्थिक असमानताओ को दूर कर स्वतन्त्र नैतिक जीवन को सम्भव बनाना है, एव (iii) वे यह मानते हैं कि राज्य का लक्ष्य ऐसी सामाजिक अवस्थाओ को कायम रखना है जिनमे अच्छे स्वभाव वाले व्यक्ति तथा बौद्धिक उन्नति मे कम से कम बाधाएँ उपस्थित हो।"

22 ब्रैडले एवं बोसाँके

(Bradley and Bosanquet)

टॉमस हिल ग्रीन ने आदर्शवाद एवं उदारवाद में जो समन्वय स्थापित किया, वह अधिक समय तक नहीं चल सका क्योंकि ग्रीन के परवर्ती आदर्शवादी विचारकों ने उसके दर्शन के उदारवादी तत्त्व को पृष्ठभूमि में डाल दिया एवं आदर्शवादी तत्त्व को अग्रसर कर वे हीगलवाद की दशा में अग्रसर हुए। फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले तथा बर्नार्ड बोसांके नामक दो प्रमुख अंग्रेज विचारकों ने इस दिशा में उल्लेखनीय योग दिया। मेज (Matz) के कथनानुसार—"ब्रैडले के साथ ब्रिटिश हीगलवाद पूर्णतः पुष्ट हुआ और उसमें स्वतंत्र उड़ान के लिए पंख उड़ गए।"

फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले
(Francis Herbert Bradley, 1846–1924)

ब्रैडले वैस्ट मिनस्टर के एक उच्च पादरी (Dean) का पुत्र था। उसका जन्म सन् 1846 में हुआ था। तत्पश्चात् वह मेरटन कॉलेज, ऑक्सफोर्ड का फैलो निर्वाचित हुआ। उसका दर्शन ग्रन्थ 'आचारिक अध्ययन' (Ethical Studies) सन् 1876 में प्रकाशित हुआ था। अपने इस ग्रन्थ 'My Station and its Duties' के अध्याय में ब्रैडले ने राज्य-सिद्धान्त का विवेचन किया है।

ब्रैडले ने राज्य की धारणा को एक नैतिक सावयवी के रूप में विकसित किया है। यही राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसकी प्रमुख देन है। राज्य नैतिक प्राणी अथवा सावयवी (Moral organism) है क्योंकि प्रथम तो वह नैतिक उन्नति के आकांक्षी व्यक्तियों का समुदाय है और दूसरे, व्यक्तियों के नैतिक विकास का मुख्य साधन है। ब्रैडले पर हीगल का बहुत अधिक प्रभाव है, किन्तु उसने अपने दर्शन की व्याख्या बहुत ही अव्यवस्थित ढंग से की है। प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त भी उसके दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

ब्रैडले के राजनीतिक विचार

ब्रैडले के अनुसार मनुष्य समाज के सन्दर्भ में ही नैतिक है। नैतिक बनने के लिए आवश्यक है कि हम अपने देश और समाज की नैतिक परम्पराओं का अनुकरण

करें। समाज के कर्त्तव्यों को पूरा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य-पालन में वह अपने अस्तित्व के विधान का ही पालन करता है। कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता। वह समाज के एक सदस्य के रूप में जन्म लेता है और पग-पग पर समाज उसे प्रभावित करता है। "जिस वातावरण में व्यक्ति सांस लेता है, वह आदि से अन्त तक सर्वथा सामाजिक है।" व्यक्ति के आचरण के प्रत्येक अंश में समाज का सम्बन्ध निहित है। वह जो कुछ भी है, स्वयं में सामाजिक तत्त्व के समावेश के कारण ही है और यदि नैतिकता का अभिप्राय आत्मा की पूर्णता है तो उस सामाजिक सम्बन्धों की पूर्णता ही नैतिकता है। ब्रैडले की मान्यता है कि "व्यक्ति जन्म से ही किसी राष्ट्र का सदस्य होता है अर्थात् एक अंग्रेज के घर पैदा होने वाला बच्चा परिवार के साथ ब्रिटिश राष्ट्र का एक जन्मजात सदस्य होता है।"

ब्रैडले का विश्वास है कि व्यक्ति के विकास के लिए यह अपरिहार्य है कि व्यक्ति राज्य के प्रति पूर्ण श्रद्धा और भक्ति रखे। राज्य एक नैतिक प्राणी (Moral organism) है जिसमें समाज की दूसरी सभी इकाइयाँ अथवा संस्थाएँ सम्मिलित है। राज्य एक व्यवस्थित समष्टि है जो समान उद्देश्य और कर्त्तव्य से अनुप्राणित है। ब्रैडले ने राज्य के बाह्य और आन्तरिक दो रूपों की कल्पना की है। बाह्य रूप से राज्य संस्थाओं का निकाय (Body of Institutions) है, किन्तु आन्तरिक रूप से उसकी एक आत्मा है जो उस निकाय को जीवित रखती है। इस नैतिक संगठन के प्रत्येक अंग की अपनी पृथक् आत्मा और चेतना है। राज्य की भी अपनी इच्छा और चेतना है जो उसके अंगों की इच्छाओं तथा चेतनाओं को धारण करती हैं। इस दृष्टि से राज्य का अपना जीवन है, अपना प्रवाह है। इस नैतिक संगठन में विशेष स्थान प्राप्त करने पर ही व्यक्ति पूर्णता का जीवन बिता सकता है। पूर्णता का यह जीवन उसी सीमा तक बिताया जा सकता है जिस सीमा तक व्यक्ति राज्य रूपी नैतिक संगठन में अपना विशिष्ट क्षेत्र तैयार कर लेता है।

ब्रैडले के अनुसार पुलिस, न्याय आदि विभाग राज्य के विभिन्न अंग हैं जो पूर्ण रूप से जानते है कि उन्हें क्या कार्य करना है, ज्ञान और इच्छा से सम्पन्न इन अंगों के कारण ही राज्य 'चेतनायुक्त और स्वेच्छापूर्वक' कार्य करने वाली संस्था है। राज्य की इच्छा सामाजिक नैतिकता का प्रतिनिधित्व करती है। नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास उन समुदायों और वातावरण की उन वस्तुओं पर निर्भर करता है जो राज्य अपने सदस्यों को प्रदान करता है। ब्रैडले पर हीगल की छाप स्पष्ट है। हीगल का विचार था कि राज्य एक 'आत्मचेतना-सम्पन्न नैतिक पदार्थ तथा आत्मज्ञानी (Self-knowing) और आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करने वाला व्यक्ति' (Self-actualising Individual) है जिसकी इच्छा और ज्ञान उसके (राज्य के) निवासियों की इच्छा और ज्ञान हैं। व्यक्ति सदैव यही अनुभव करता है कि राज्य का सब कार्य वह स्वयं कर रहा है। वह राज्य को ही अपना लक्ष्य मान लेता है और करने में उसे किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होती। ब्रैडले ने हीगल के इन्हीं विचारों का अनुमोदन किया है। उसका विश्वास है कि राष्ट्र की आत्मा को

स्पष्ट करने के लिए हमें सावयवी यथार्थता को किसी नैतिक व्यवस्था को अवश्य स्वीकार करना होगा। इसी नैतिक व्यवस्था को वह राज्य की नैतिक सावयवता (Moral organism) मानता है। हीगल की भाँति उसकी निष्ठा राज्य के सर्वशक्तिमान स्वरूप में है। जीवन के सभी पहलुओं और समाज की सभी संस्थाओं पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होता है। ब्रैडले हीगल का कट्टर अनुयायी था और उसने अपने ग्रन्थ 'Ethical Studies' में हीगल की पुस्तकों से लम्बे-लम्बे उद्धरण दिए हैं।

ब्रैडले यह भी अनुभव करता है कि जिस आदर्श की रूपरेखा उसने बनाई है उसको उसके आदर्श का पूर्ण मूर्तरूप नहीं कहा जा सकता। किसी भी निश्चित समय में राज्य की नैतिकता लोगों की जन-चेतना अथवा आदर्श नैतिकता की अपेक्षा एक निम्नस्तर पर हो सकती है। फिर भी सम्भवतः व्यक्ति समाज में अपनी संकीर्ण स्थिति से ऊपर उठकर विश्व-बन्धुत्व की नैतिक भावना प्राप्त करने की इच्छा करता है। इसका यह परिणाम हो सकता है कि "सम्पूर्ण मानवता एक समग्र 'दैवी' संगठन का रूप प्राप्त करले।"

ब्रैडले के विचारों की आलोचना

ब्रैडले मूल रूप से एक राजनीतिक विचारक न होकर एक आचारशास्त्री और आध्यात्मवादी था, अतः कोई आश्चर्य नहीं कि उसके राजनीतिक चिन्तन में परिपक्वता नहीं थी। आलोचकों ने ब्रैडले के राजनीतिक विचारों पर मुख्यतः निम्नलिखित आक्षेप किए हैं—

1 सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि ब्रैडले राज्य और समाज में कोई भेद नहीं करता। इस तरह उसने हीगलवादी परम्परा को अपनाकर राज्य को सर्वोच्च स्थिति में रख दिया है। राज्य को समाज से पृथक् न करने का परिणाम यह होगा कि राज्य का व्यक्ति पर असीमित नियन्त्रण हो जाएगा, वह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का नियामक बन जाएगा। बार्कर का कहना है कि ब्रैडले की धारणा जर्मन दार्शनिकों को मान्य हो सकती है, किन्तु इंग्लैंड को मान्य नहीं हो सकती जहाँ राज्य और समाज के बीच सदैव अन्तर किया जाता रहा है। ब्रिटिश मान्यता के अनुसार समाज की अपनी 'सामाजिक संस्थाएँ' होती हैं, उसका अपना 'सामाजिक वातावरण' होता है जबकि राज्य की अपनी 'राजनीतिक संस्थाएँ' होती हैं और इसी तरह उसके अपने कानून तथा अधिकार' होते हैं। राज्य और समाज दोनों बहुत कुछ समान नैतिक उद्देश्य रखते हुए और परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होते हुए भी एक दूसरे से पृथक् हैं। बार्कर के ही शब्दों में, "मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि समाज का क्षेत्र ऐच्छिक सहयोग है, जबकि राज्य का क्षेत्र यान्त्रिक कार्यवाही है। इसी प्रकार समाज की शक्ति सद्भावना और पद्धति लचीली है जबकि राज्य की शक्ति बल प्रयोग की और पद्धति कठोरता की है।"[1] ब्रैडले ने दोनों के बीच के अन्तर पर ध्यान न देकर राज्य को इतनी सर्वोच्च स्थिति प्रदान करदी है कि वह राजनीतिक

1 *Barker* : op. cit., p. 24.

सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में सर्वोपरि स्थिति प्राप्त कर जीवन के सभी व्यापारों अथवा कार्य-कलापों का नियामक बन जाता है।

2. ब्रैडले ने व्यक्तिगत और सामाजिक नैतिकता का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह भी भ्रामक है। उसने व्यक्तिगत नैतिकता को राज्य की नैतिकता में विलीन कर दिया है और इस तरह समाज से पृथक् व्यक्ति का कोई व्यक्तित्व नहीं रहता। यद्यपि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है जिससे सदैव यह अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक नैतिकता की अवहेलना नहीं करेगा तथापि 'सामाजिक' होने के साथ वह 'व्यक्ति' भी है। व्यक्ति को हम जैसा भी पाते हैं उसके मूल में केवल समाज का ही हाथ नहीं है, अपितु जन्मजात वैयक्तिक मौलिक शक्तियों का भी हाथ है, अत सामाजिक राज्य के अन्तर्गत व्यक्तित्व को इस तरह विलीन कर देना कि उसका कोई पृथक् अस्तित्व ही न रहे, अनुचित है।

3 ब्रैडले का यह वाक्य कि "सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए मुझे अपना स्थान और इसके कर्त्तव्यों (My station and its duties) का ध्यान रखना चाहिए" बड़ा अस्पष्ट है। इसकी ठीक-ठीक व्याख्या करना बड़ा कठिन है। यह एक ऐसा अस्पष्ट वाक्य है जिसकी अनेक व्याख्याएँ हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, इसका अर्थ 'व्यक्ति की अपने भाग्य से सन्तुष्टि' भी लिया जा सकता है और ऐसी कोई भी व्याख्या आदर्शवाद को 'अवरोधक रूढ़िवाद' (Hide-bound Conservatism) का समानार्थक बना देगी।

4 ब्रैडले का यह विचार भी उपयुक्त नहीं है कि समाज सदैव सही होता है, व्यक्ति गलत हो सकता है। ब्रैडले का आग्रह है कि व्यक्ति यदि पूरी तरह नैतिक और विकसित बन जाए तो उसकी इच्छा समाज की इच्छा के साथ एकाकार हो जाएगी। इस आग्रह की मान्यता का अर्थ है कि व्यक्ति सदैव समाज की इच्छानुसार कार्य करे क्योंकि समाज की इच्छा के समक्ष व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व और उसकी अपनी इच्छा अपूर्ण है। व्यक्ति को इतना गौण स्थान देना सर्वथा अनुपयुक्त है क्योंकि अन्ततोगत्वा व्यक्ति ही वह शक्ति है जिससे समाज का निर्माण होता है। स्वयं राज्य की अपनी कोई पृथक् चेतना अथवा इच्छा नहीं हो सकती। उसकी चेतना और इच्छा तो उसके निर्माणक अंगों की चेतना और इच्छाओं का ही योग है। दूसरे शब्दों में, यदि हम राज्य को नैतिक कहते हैं तो इसका स्वाभाविक अर्थ है कि उसकी यह नैतिकता उसके निर्माणक अंगों अर्थात् व्यक्तियों की नैतिकता का ही योग है।

अपरिपक्व विचारों के कारण ही ब्रैडले ग्रीन और बोसांके की तुलना में ब्रिटिश जनता पर बहुत कम प्रभाव डाल सका। विचारों में मौलिकता और प्रौढ़ता के न होने से ही सम्भवतः उसने अपनी पुस्तक (Ethical Studies) को सन् 1876 के बाद पुन. प्रकाशित नहीं कराया। उसके विचारों का प्रचार इतना कम हुआ कि 76 वर्ष की आयु होने पर जब उसका नाम लॉर्ड हाल्डेन द्वारा इस बात के लिए प्रस्तावित किया गया कि उसे ब्रिटिश सम्राट् 'Order of Merit' की उपाधि में

सम्मानित करें तो प्रधान मन्त्री और सम्राट् ने आश्चर्य प्रकट किया और कहा कि उन्होने ब्रैडले का नाम पहली बार सुना है।[1]

बर्नार्ड बोसांके
(Bernard Bosanquet, 1848-1933)

संक्षिप्त जीवन-परिचय और रचनाएँ

जून, 1848 मे इग्लैंड मे उत्पन्न बोसांके ने ऑक्सफोर्ड और हैरो मे शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् सन् 1871 से 1881 तक वह विश्वविद्यालय कॉलेज में फैलो और शिक्षक रहा। इसके बाद वह सेंट एन्ड्रूज कॉलेज, लन्दन में दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक बन गया और सन् 1908 तक इसी पद पर रहा। उपन्यासो के शौकीन दार्शनिक बोसांके ने सन् 1911 और 1912 मे एडिनबरा विश्वविद्यालय में 'Principles of Individuality and Value' तथा 'Value and Destiny of the Individual' नामक दो प्रसिद्ध भाषण दिए।

बोसांके रूसो, कॉण्ट, हीगल और ग्रीन से बहुत प्रभावित था। उसने प्लेटो के दर्शन का भी गम्भीर अध्ययन किया था। यह कहा जाता है कि उसके दर्शन का प्रारम्भ ग्रीन और रूसो से हुआ तथा परिणति हीगल मे हुई। अपने जटिल और शुष्क दार्शनिक सिद्धान्तो को उसने उपन्यासो और काव्यो के उदाहरणो से सरस बनाया तथा सामाजिक अनुभूतियों और मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानो का पर्याप्त आश्रय लिया। आदर्शवादी होने के नाते इसने ग्रीन के सिद्धान्तो को ग्रहण किया, लेकिन वह उसके उदारवाद से दूर रहा। ग्रीन ने राज्य पर जो सीमाएँ लगादी थी उन्हे बोसांके ने एकदम हटा दिया। उसने ग्रीन के दर्शन को ऐसे स्थल पर ला पटका जहाँ वह राज्य की हीगलवादी धारणा के सन्निकट आ गया।

बोसांके की लन्दन मे सन् 1933 मे मृत्यु हो गई, किन्तु न्यायशास्त्र सौन्दर्यशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि पर लिखित उसके ग्रन्थ आज भी उसे अमर बनाए हुए हैं। उसकी कुछ प्रमुख रचनाएँ ये हैं—

(1) ज्ञान और वास्तविकता (Knowledge and Reality) (1885),
(2) तर्कशास्त्र (Logic) (1888),
(3) सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास (History of Asthetics) (1892)
(4) राज्य के दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory of the State) (1899),
(5) वैयक्तिता का मूल्य सिद्धान्त (Principles of Individuality and Value) (1911),
(6) व्यक्ति का मूल्य तथा उसकी नियति (Value and Destiny of the Individual) (1912),
(7) सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श (Social and International Ideals) (1917).

1 *Catlin* : A History of the Political Philosophies, p. 514.

बोसांके के राजनीतिक विचार उसके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'Philosophical Theory of the State' में मिलते हैं। उसने अपने 'राज्य-सिद्धान्त' को 'दार्शनिक' (Philosophical) कहा है। यहाँ हम उसके विशिष्ट सिद्धान्तों का परिचय देंगे।

बोसांके का इच्छा सिद्धान्त
(Bosanquet's Doctrine of Will)

बोसांके के आदर्शवादी सिद्धान्त का आधार रूसो का 'इच्छा सिद्धान्त' है। उसने अपने सिद्धान्त में रूसो की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा की व्याख्या की है और इसी आधार पर अपने आदर्शवादी सिद्धान्त की स्थापना की है। बोसांके के आदर्शवादी दर्शन को भली प्रकार समझने के लिए उसके 'इच्छा सिद्धान्त' को समझना आवश्यक है।

बोसांके के अनुसार अन्य संस्थाओं की भाँति राज्य भी एक संस्था है, अतः इसका एक मौलिक विचार अवश्य होना चाहिए। यह विचार सब लोगों की वास्तविक इच्छा (Real Will) अथवा सामान्य इच्छा (General Will) का साकार रूप है। रूसो के अनुसार ही बोसांके का भी विश्वास है कि हमारी इच्छाएँ दो प्रकार की हैं—यथार्थ इच्छा (Actual Will) तथा वास्तविक इच्छा (Real Will)। यथार्थ इच्छा (Actual Will) स्वार्थपूर्ण और क्षणिक होती है जो हमारे स्थायी हितों की अभिव्यक्ति नहीं करती। लोगों की यथार्थ अथवा स्वार्थपूर्ण इच्छाओं में समानता नहीं होती। ये इच्छाएँ वैयक्तिक हितों और सामाजिक हितों में संघर्ष उत्पन्न करती हैं। यथार्थ इच्छा व्यक्ति की अविचारित और दुराग्रहपूर्ण इच्छा है जिससे उसका और समाज का कल्याण नहीं हो सकता। इसके विपरीत वास्तविक इच्छा (Real Will) व्यक्ति के स्थायी हितों की द्योतक होती है। वह समाज-कल्याण की भावना प्रेरित करती है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति की वास्तविक इच्छाओं में समानता होती है। यह सामाजिक इच्छा है जो विवेक पर आधारित होती है और जिसमें अन्तर्द्वन्द्व विरोध और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं होती।

यथार्थ इच्छा (Actual Will) और वास्तविक इच्छा (Real Will) में संघर्ष चलता रहता है। यथार्थ इच्छा छात्रों को प्रेरित करती है कि वे पढ़ना-लिखना छोड़कर मटरगश्ती करें जबकि वास्तविक इच्छा पढ़ाई-लिखाई का प्रतिपादन करती है। दोनों इच्छाओं के इस संघर्ष में व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वास्तविक इच्छा के अनुसार आचरण करे।[1] वास्तविक इच्छा के अनुरूप कार्य करके ही व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग और नैतिक-अभिवृद्धि कर सकता है। हम एक चोर को नैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं कह सकते क्योंकि चोरी करना वास्तविक इच्छा के अनुकूल नहीं है। यह तो उसकी यथार्थ अथवा स्वार्थपूर्ण इच्छा है। व्यक्तियों की वास्तविक इच्छाओं का योग ही समाज की सामान्य इच्छा है, अतः स्वाभाविक है कि समाज के प्रतिकूल चलने पर वह कभी भी सन्तोषपूर्ण जीवन व्यतीत नहीं कर सकता।

1 *Bosanquet*: Social and International Ideals, p. 135.

बासांके के अनुसार व्यक्ति की वास्तविक इच्छा एकाकी नहीं होती। वह समाज के अन्य व्यक्तियों की वास्तविक इच्छा से सम्बद्ध होती है और सार्वजनिक इच्छा बन जाती है इसलिए व्यक्ति केवल समाज में रहकर ही अपना सर्वोत्तम रूप प्राप्त कर सकता है। यथार्थ और वास्तविक इच्छा के संघर्ष में यथार्थ इच्छा नष्ट हो जाती है और वास्तविक इच्छा शेष रह जाती है जिसके द्वारा सामाजिक कल्याण का चिन्तन होता है। स्मरणीय है कि 'सामान्य इच्छा' और समाज की इच्छा' में भेद है। समाज की इच्छा में यथार्थ इच्छा भी सम्मिलित रहती है। इसी प्रकार इच्छा और जनमत में अन्तर है। जहाँ सामान्य इच्छा में सामान्य हित पर बल दिया जाता है जिसमें बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक दोनों ही वर्गों के हित सम्मिलित होते हैं वहाँ जनमत में संख्या को महत्त्व दिया जाता है। सामान्य इच्छा में अहित की गुंजाइश नहीं होती वह तो श्रेष्ठ, शुभ और आदर्श इच्छाओं का सार है।

बोसांके की मान्यता है कि राज्य इसी सामान्य इच्छा का साकार रूप है। वह सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। उसका संचालन सामान्य इच्छा द्वारा ही होता है अतः व्यक्ति को राज्य के नियमों का निस्संकोच पालन करना चाहिए। राजाज्ञा-पालन में परोक्ष रूप से व्यक्ति की अपनी ही आज्ञा का पालन निहित है।

राज्य को सामान्य इच्छा का साकार रूप स्वीकार करने के फलस्वरूप बोसांके ने उसे एक 'नैतिक विचार' (Ethical Idea) माना है और निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाले हैं—

1 राज्य का शासन सच्चा स्वशासन (Self-Government) है क्योंकि राज्य के सभी कार्यों का संचालन सामान्य इच्छा द्वारा होता है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि हम किसी दूसरे व्यक्ति की इच्छा से नहीं वरन् अपनी ही इच्छा से शासित होते हैं।

2 राज्य और समाज का गहरा सम्बन्ध है। राज्य शक्ति पर आधारित एक राजनीतिक संगठन है जिस समाज की सभी संस्थाएँ विभिन्न कार्यों में पूर्ण सहयोग देती हैं। राज्य को यदि समाज के विराट रूप में देखा जाए तो कहना होगा कि वह अनेक समूहों का समूह (Group of Groups) और समुदायों का समुदाय (A Community of Communities) है जिसका क्षेत्र सम्पूर्ण मानव-समाज में व्याप्त है।

3. राज्य सर्वोच्च अथवा एकमात्र नैतिक विचार और सार्वभौम संस्था है जिसमें समाज की विभिन्न संस्थाओं के नैतिक विचारों का समन्वय होता है। समाज की विभिन्न संस्थाओं के नैतिक विचार एकांगी अथवा विरोधी हो सकते हैं, लेकिन राज्य सब प्रकार के विरोधों को दूर कर उनमें सामञ्जस्य स्थापित करता है। राज्य का दृष्टिकोण एकांगी नहीं होता।

बासांके ने राज्य की इच्छा के पालन में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को निहित माना है। इस प्रकार ग्रीन के समान वह भी इस सिद्धान्त पर पहुँच गया कि व्यक्ति पूरा रूप से सामान्य इच्छा से ओतप्रोत है और अपने सच्चे व्यक्तित्व की पूर्ति समाज

का अंग बनकर ही कर सकता है जो सावयवी सम्पूर्ण (Organic Whole) है। बोसांके ने सामान्य इच्छा को अधिनायकवादी रूप दे दिया है। उसके अनुसार अधिनायक भी सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है, अतः उसकी इच्छा के अनुकूल जीवनयापन करने के लिए नागरिकों को बाध्य किया जा सकता है ताकि वे वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें। अपने इस अर्थ में बोसांके ने सामान्य इच्छा को विकृत रूप में प्रस्तुत किया है और इसी आधार पर उग्र आदर्शवाद की रचना की है।

कोकर ने बोसांके के सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि "बोसांके का तर्क कुछ इस प्रकार है कि मनुष्य के सच्चे व्यक्तित्व की सिद्धि उसकी वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति द्वारा ही होती है और उसकी वास्तविक इच्छा आवश्यक रूप में सामान्य इच्छा से भिन्न है जिसकी सिद्धि केवल राज्य द्वारा ही होती है। दूसरे शब्दों में मनुष्य मनुष्य के रूप में नैतिक प्राणी है और नैतिक प्राणी के रूप में उसे ऐसी अवस्थाओं की इच्छा करनी चाहिए जिनमें उसका नैतिक जीवन सम्भव हो सके, किन्तु समाज से पृथक् व्यक्ति के लिए नैतिक आचार नाम की कोई चीज नहीं है। अतः राज्य श्रेष्ठ जीवन के लिए आवश्यक सामाजिक अवस्थाओं को कायम रखकर प्रत्येक नैतिक व्यक्ति की इच्छा की पूर्ति करता है अतः बोसांके के विचारों के अनुसार मनुष्य का सर्वोच्च कर्त्तव्य अपनी सामाजिक योग्यताओं का विकास करना है। किसी व्यक्ति के जीवन या राज्य से छोटी संस्था के कार्य का मूल्य उसमें सामान्य हित के कुछ तत्त्व होने के कारण ही है।"[1]

बोसांके का संस्था-सिद्धान्त
(Bosanquet's Theory of Institution)

बोसांके ने संस्थाओं के नैतिक विचारों का मूर्तरूप (Embodiment) माना है। इस मान्यता के पीछे समाज के सार्वजनिक जीवन की कल्पना निहित है। मानव-जीवन प्रारम्भ से अन्त तक सामाजिक है। समाज व्यक्तियों का ऐसा समुदाय है जो किसी सार्वजनिक सामान्य उद्देश्य से सम्बद्ध रहता है। इन सबका अर्थ यह है कि सामान्य चेतना अथवा सार्वजनिक इच्छा का आदर्श एक जीवित यथार्थ है। उदाहरणार्थ, हम किसी स्कूल या सेना या क्रिकेट के खेल को लें तो उनमें से प्रत्येक एक अथवा अनेक मस्तिष्कों की क्रिया का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार संस्थाएँ नैतिक विचारों का ही साकार रूप हैं। स्वयं बोसांके के शब्दों में, "एक संस्था में एक से अधिक मस्तिष्कों का उद्देश्य या उनकी भावना निहित रहती है और वह उस भावना या उद्देश्य का न्यूनाधिक एक स्थाई मूर्तरूप होती है। संस्थाओं में व्यक्तिगत मस्तिष्कों का वह सम्मिलन होता है जिसे हम सामाजिक मस्तिष्क (Social Mind) की संज्ञा देते हैं अथवा यह कहना चाहिए कि संस्थाओं में हमें

1 कोकर: आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 458.

आदर्श तत्त्व मिलता है जो अपनी व्यापक संघटना में सामाजिक है, लेकिन विभक्त रूप में व्यक्तिगत मस्तिष्क (Individual Mind) है।"[1]

बोसांके के इस कथन से उसके संस्था सम्बन्धी निम्नलिखित सिद्धान्त स्पष्ट होते हैं—

(i) प्रत्येक सामाजिक संस्था या समुदाय मानव-मस्तिष्क की एक जटिल मिश्रित क्रियाशीलता (Complicated inter-working of the mind of the individual) है।

(ii) समुदाय की सामूहिकता (The totality of the group) व्यक्ति के मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होती है।

(iii) प्रत्येक सदस्य में अन्य सदस्यों पर अपने विचारों को लादने की प्रवृत्ति होती हैं।

बोसांके के अनुसार परिवार, पड़ोसी, समुदाय, राष्ट्रीय राज्य आदि समाज की विभिन्न नैतिक संस्थाएँ हैं। इनमें राज्य सर्वश्रेष्ठ है। यही संस्था वास्तव में नैतिक आदर्श है। राज्य सब प्रकार के समुदाय का सन्तुलन-स्रोत है और सभी संस्थाओं की एक प्रभावकारी आलोचना है। यह अन्य सब संस्थाओं का सचालन करता है और शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखता है। सकीर्ण अर्थ में राज्य एक राजनीतिक सगठन है जो शक्ति का प्रयोग करता है एव लाभकारी सामाजिक उद्योगों पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाता है। व्यापक अर्थ में राज्य का उद्देश्य जीवन का सार्वजनिक सगठन एवं समन्वय है। राज्य व्यावहारिक रूप में समाज का पर्याय है।

बोसांके का राज्य-सिद्धान्त
(Bosanquet's Theory of State)

बोसांके ने राज्य-सिद्धान्त को 'दार्शनिक' (Philosophical) कहा है। उसके राज्य का अपना निजी स्वरूप है जो स्वय अपने लिए ही विचार का पात्र है। बोसांके का उद्देश्य राज्य का उसके वास्तविक स्वरूप में अध्ययन करना है, एक आदर्श समाज की रचना करना नहीं। राज्य की उत्पत्ति और इसके इतिहास की खोज करने से दार्शनिक सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्य आदर्शवादियों के समान वह भी राज्य को नैतिक एव प्राकृतिक समुदाय मानता है। राज्य एक सर्वोच्च नैतिक संस्था है, एक नैतिक कल्पना का प्रतीक है। "राज्य एक नैतिक सिद्धान्त है, क्योंकि इसी में मनुष्य व्यावहारिक रूप में स्वय को उत्थान एव नैतिकता की अन्तिम स्थिति में पाता है।" बोसांके के अनुसार प्रत्येक संस्था एक निश्चित विचार और उद्देश्य को प्रकट करती है जिसमें उसका सार निहित होता है। उदाहरण के लिए कालेज का सार इमारत और फर्नीचर में नहीं अपितु एक सामान्य विचार में होता है। कालेज की स्थापना से पूर्व एक निश्चित उद्देश्य का सूत्रपात होता है जिसका मूर्तरूप हमें कॉलेज में देखने को मिलता है। इसी प्रकार मकान बनाने से पूर्व कारीगर के

1 *Bosanquet* : The Philosophical Theory of the State, p. 277.

मस्तिष्क में एक भावना होती है जिसका मूर्तरूप मकान है। इस विचार को सामान्य भावना या सामान्य मस्तिष्क कहा जा सकता है। इन उदाहरणों से बोसांके स्पष्ट करता है कि राज्य का व्यक्तित्व एक विचार के रूप में ही होता है।

बोसांके का मत है कि राज्य एक भावना है अथवा समस्त नागरिकों के मस्तिष्क का समन्वित रूप है। प्रत्येक संस्था सामूहिक मस्तिष्क (Group Mind) पर आधारित होती है। *राज्य सबसे बड़ी संस्था है अतः उसके सामूहिक मस्तिष्क* का क्षेत्र भी अन्य संस्थाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक है। राज्य में रहने वाले सभी नागरिक उसके सदस्य होते हैं। राज्य एक सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ संगठन है जो अन्य सभी समुदायों से उच्च है। राज्य के अन्तर्गत अन्य सभी संस्थाएँ समाविष्ट हो जाती हैं। राज्य का सामूहिक मन सभी संस्थाओं से अधिक व्यापक होता है। राज्य सर्वाङ्गीण है। संकुचित दृष्टि से राज्य ऐसा राजनीतिक संगठन है जो शक्ति का प्रयोग करता है। यह समस्त सामाजिक प्रयत्नों को मान्यता प्रदान करता है जो समाज के लिए लाभदायक है। विस्तृत रूप में राज्य "एक सामान्य संगठन तथा जीवन का संश्लेषण (Synthesis) है जिसमें परिवार से लेकर व्यापार तक और व्यापार से लेकर चर्च तथा विश्वविद्यालय तक वे सभी संस्थाएँ सम्मिलित हैं जो जीवन को निर्धारित करती हैं। इसमें इन सबका संग्रह (Mere Collection) मात्र ही नहीं होता बल्कि यह एक ऐसी संरचना होती है जो राजनीतिक संगठन को जीवन और अर्थ प्रदान करती है जबकि वह स्वयं इसमें पारस्परिक सामञ्जस्य प्राप्त करता है जिनका परिणाम होता है प्रसरण तथा एक अधिक उदार अभिव्यक्ति।'[1] स्पष्ट है कि सम्पूर्ण मानव-जीवन राज्य के अन्तर्गत है। राज्य मानव-जीवन का पूर्ण अभिव्यक्तिकरण है। सभ्य जीवन के लिए वह नितान्त आवश्यक है। स्वयं बोसांके के कथनानुसार—

"राज्य से हमारा अभिप्राय समाज की एक ऐसी इकाई से है जो अपने सदस्यों पर निरकुश भौतिक शक्ति द्वारा नियन्त्रण रखती हो। जैसा कि पहले हम कह चुके हैं राष्ट्रीय राज्य एक वृहत् संगठन है जो सामान्य जीवन के लिए आवश्यक है। एक बड़े समाज के प्रति इसका कोई निश्चित कर्त्तव्य नहीं है। यह स्वयं एक सर्वोच्च समाज है। यह समस्त नैतिक विश्व का रक्षक है, परन्तु एक संगठन नैतिक विश्व का एक अंश नहीं है। नैतिक सम्बन्धों के एक संगठित जीवन की आवश्यकता है। ऐसा जीवन केवल राज्य में ही सम्भव है, दूसरे समाजों में नहीं।"

बोसांके राज्य को जीवन का व्यावहारिक दर्शन मानता है। राज्य समस्त समुदायों के पारस्परिक सम्बन्धों का पर्यवेक्षण कर उसमें सुधार करता है। वह समुदायों के बीच समन्वय स्थापित करता है और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करता है। "राज्य समुदायों का समुदाय, संस्थाओं की संस्था तथा संघों का संघ है" इसलिए वह बल-प्रयोग भी कर सकता है। राज्य संगठित शक्ति का प्रतीक है जो सुन्दर जीवन को प्रोत्साहन देता है, किन्तु बुरे एवं असद् मार्ग पर

1 *Bosanquet* : op. cit., p. 139.

चलने वाले व्यक्तियो को बल-प्रयोग द्वारा सन्मार्ग पर चलने के लिए बाध्य करता है। राज्य सर्वव्यापक सस्था है। इसका कार्यक्षेत्र सर्वव्यापी है। राज्य शक्तियो की स्वतन्त्रता के लिए अनिवार्य है। उसकी उपस्थिति मे ही व्यक्ति सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। राज्य के आदेशो का पालन करने से ही व्यक्ति का कल्याण सम्भव है। राज्य की आज्ञाएँ व्यक्ति की सामान्य इच्छा की प्रतीक होती हैं जिनसे व्यक्तियो की वास्तविक इच्छाएँ व्यक्त होती हैं।

बोसांके राज्य को सर्वोच्च नैतिकता का मूर्तिमान स्वरूप मानकर राज्य की तुलना मे व्यक्ति को कम महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। उसने हीगल के समान ही राज्य का आदर्शीकरण किया है। व्यक्ति को राज्य की दया पर छोड दिया गया है। राज्य किसी एक व्यक्ति या सस्था का प्रतिनिधित्व न कर समान रूप से सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व करता है। हीगल की भाँति राज्य को सर्वव्यापी एव सार्वभौम मानते हुए बोसांके राज्य के विरुद्ध व्यक्ति को कोई अधिकार नही देता क्योकि राज्य के अस्तित्व मे ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अस्तित्व है। बोसांके के मतानुसार ऐसे किसी भी नैतिक विधान की कल्पना नही की जा सकती जो राज्य के ऊपर हो। ग्रीन इस बात को नही मानता। ग्रीन का राज्य की अवज्ञा करने का व्यक्ति का अधिकार प्राकृतिक कानून की कल्पना पर आधारित था। बोसांके इस विचार के विपरीत हीगल से सहमत है कि राज्य के कार्यों को किसी प्रकार की नैतिकता की कसौटी पर नही कसा जा सकता। "नैतिक सगठनो के लिए एक सगठित जीवन पूर्ण आवश्यक है, किन्तु इस प्रकार का जीवन केवल राज्य के अन्दर ही सम्भव हो सकता है, उसके और अन्य समुदायो के बीच सम्बन्धो के रूप मे नही।" मूरे (Murray) का कथन है कि "राज्य एक प्रकार का मनुष्यो का चर्च बन जाता है और इसकी सदस्यता एक महान् आध्यात्मिक अनुभव के अतिरिक्त और कुछ नही है। सक्षेप मे हीगल की भाँति बोसांके के लिए भी राज्य नागरिक के लिए अन्तिम नैतिक शक्ति है और वह नागरिको के अन्त करण का सरक्षक है।" इस तरह राज्य बोसांके के लिए एक आतकपूर्ण एव रहस्यमयी वस्तु है जिसके प्रति हमे निष्ठा रखनी चाहिए फिर भी वह हीगल की आलोचना इस आधार पर करता है कि उसका राज्य सिद्धान्त यथार्थ जीवन के तथ्यो के सर्वथा अनुरूप नही है। उसका तर्क था कि यदि कोई व्यक्ति एथेन्स के दास से कहता है कि एथेन्स राज्य स्वतन्त्रता की अनुभूति है तो यह एक निर्मम उपहास होता। ठीक इसी भाँति आधुनिक नगरो की नरक-बस्तियो (Slums) मे रहने वाले निरक्षर एव भूख से पीड़ित मजदूरो को भी राज्य को स्वतन्त्रता की प्रतिमूर्ति मानने के लिए सहमत नही किया जा सकता।

बोसांके के राज्य-सिद्धान्त और उसमे निहित उसके वास्तविक मन्तव्य की समीक्षा करते हुए कोकर लिखता है कि—

"बोसांके ने उस सस्था के महत्त्व पर अधिक जोर देने की आवश्यकता अनुभव की 'जिसमे अन्य सब हितो एव सस्थाओ का समावेश है और जो उन्हे सम्भव बनाती है।' छोटी सस्थाएँ आंशिक हैं जो हमारे जीवन के समूचे क्षेत्रो और हमारे

नागरिकों के समूचे समूह को समावृत नही करते। राज्य अपनी सदस्यता तथा योग्यता की दृष्टि से अधिक सर्वाङ्गीण होने के कारण इन छोटी संस्थाओं की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ है, वह 'सर्वोच्च समाज' (Supreme Community) है। वह समस्त सामाजिक संस्थाओं के ऊपर है और वह केवल भौतिक शक्ति द्वारा ही नियन्त्रण के लिए ही नही वरन् नैतिक दृष्टि से भी सर्वोच्च है। राज्य तथा नागरिकों के बीच मतभेद की स्थिति मे राज्य को ही आवश्यक रूप से सही माना जाता है। मनुष्य की सच्ची नैतिकता तथा उसका सच्चा सुख मुख्यत संगठित समाज मे अपने नियत कर्त्तव्यो का सन्तोषजनक रूप से पालन करने मे ही है। मानवीय श्रेष्ठता इसी मे है कि प्रत्येक व्यक्ति एक नागरिक होने के नाते अपना कर्त्तव्य पालन करे। उसकी सफलता नागरिक कर्त्तव्यो के पालन के साथ जुडी हुई है और उसका सबसे महत्वपूर्ण कर्त्तव्य राज्य द्वारा स्वीकृत आचार-पद्धति (Modes of Conduct) के अनुरूप अपना जीवन ढालना है। अत राज्य समाज के संगठित जीवन की रक्षा एव सुधार के लिए जो कुछ भी आवश्यक समझे कर सकता है और वही इसकी आवश्यकताओ का एकमात्र निर्णायक है। यह आवश्यकता (जिसका वह स्वय ही निर्णायक है) पड़ने पर उस समय के प्रति भक्ति के अतिरिक्त, जिसका वह प्रतिनिधि है, किसी भी बाह्य निष्ठा की अभिव्यक्ति पर रोक लगाकर उसका निषेध कर सकता है और वह ऐसा अवश्य करेगा।'[1]

राज्य एव व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक कार्यों पर बोसांके के विचार (Bosanquet on State Action and Public and Private Acts)

बोसांके ग्रीन के इस विचार से सहमत है कि राज्य का कार्य शुभ जीवन के मार्ग मे आने वाली बाधाओ को हटाने तक सीमित है। उनके ही कथनानुसार—"तब हम कह सकते है कि सर्वोत्तम जीवन के लिए राज्य स्वय कुछ नही कर सकता, प्रत्युत् केवल उसके मार्ग की बाधाओ को दूर करता है।"[2] ग्रीन की भांति ही बोसांके भी आग्रहपूर्वक कहता है कि यद्यपि राज्य के कार्य का तात्कालिक रूप नकारात्मक होता है, तथापि अपनी वास्तविक क्रियाओ एव अपने अन्तिम उद्देश्यों मे वह सकारात्मक होता है। अनिवार्य शिक्षा द्वारा निरक्षरता को समाप्त करना, मदिरा के क्रय-विक्रय को नियन्त्रित कर नशेबाजी को रोकना आदि राज्य के सकारात्मक कार्य हैं क्योंकि इनका उद्देश्य अन्तिम रूप मे नैतिक है। इनका ध्येय मूलतः चरित्र के उन गुणों को उन्मुक्त करना है जो बाधाओं की अपेक्षा निश्चय ही महानतर हैं। राज्य द्वारा ऐसे कार्यों पर किसी भी उद्देश्य से नियन्त्रण करना बिलकुल न करने की अपेक्षा तो अच्छा ही है तथापि राज्य द्वारा ऐसे कार्य किए जाना उपयुक्त नहीं है जिनका मूल्य स्वतन्त्र इच्छा द्वारा निर्धारित होने पर ही होता है। इस तरह

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 459–60.

2 *Bosanquet* : op. cit., p. 183.

राज्य के कार्य-सिद्धान्त में बोसांके ग्रीन से भिन्न नहीं है। वह ग्रीन की तरह स्वीकार करता है कि "राज्य के कार्यों का केवल वाह्य पक्ष होता है। वह अपने कार्यों द्वारा मनुष्य के अन्त:स्थल को प्रभावित कर प्रत्यक्ष रूप से उसको नैतिक नहीं बना सकता अपितु अप्रत्यक्ष रूप से ही नैतिकता की वृद्धि के लिए कार्य कर सकता है।"

राज्य के कार्य सम्बन्धी विचार में ग्रीन से काफी सहमत होते हुए भी बोसांके राज्य के कार्यों की नैतिकता का मूल्यांकन करते समय हीगल के निकट जा पहुँचता है। वह किसी ऐसी नैतिक प्रणाली की सत्ता में विश्वास नहीं करता जिसका समाज में राज्य से स्वतन्त्र अस्तित्व हो क्योंकि राज्य तो एक सम्पूर्ण नैतिक जगत् का सरंक्षक है, किसी सगठित नैतिक जगत् का तत्त्व नहीं है। ग्रीन एक नैसर्गिक कानून की सत्ता में विश्वास करता था जो उसकी दृष्टि में एक ऐसा आदर्श अथवा कसौटी थी जिसके आधार पर नागरिकों द्वारा राज्य की आलोचना की जा सकती है और निर्णय लिया जा सकता है। उसकी मान्यता थी कि समाज में राज्य से स्वतन्त्र एक नैतिक प्रणाली का अस्तित्व होता है जिसके आधार पर व्यक्ति राज्य के कार्यों की समीक्षा कर सकता है। साथ ही वह राष्ट्रीय विद्वेष से पूर्ण तथा यौद्धिक सेवाओं से सुसज्जित यूरोपीय राज्यों की तुलना में एक श्रेष्ठतर व्यवस्था का स्वप्न देखता था और राज्यों की अनुमति पर आधारित अधिकारों से सम्पन्न एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की कल्पना करता था। विश्व-भ्रातृत्व की धारणा ग्रीन के मन में स्वतन्त्र जीवन के अधिकार का उपसिद्धान्त और उसके विचारों का सैद्धान्तिक आधार था। लेकिन बोसांके इस विषय में ग्रीन से सहमत नहीं था। वह इस बात पर बल देता था कि "नैतिक सम्बन्धों के लिए एक सगठित जीवन की पूर्ण आवश्यकता है, लेकिन ऐसा जीवन केवल राज्य के अन्तर्गत ही उपलब्ध हो सकता है, राज्य तथा अन्य समुदायों के बीच सम्बन्धों में नहीं।"[1] उसके विचारों की आधारभूमि तो यही थी कि बड़े समुदाय में राज्य के कोई निश्चित कृत्य नहीं है। राज्य स्वय सर्वोच्च समुदाय है जो नैतिकता का परम सरक्षक है, किन्तु स्वय सगठित नैतिक विश्व का अग नहीं है।

इन्हीं विचारों के परिणामस्वरूप बोसांके ने सार्वजनिक और निजी कार्यों (Public and Private Acts) में अन्तर स्पष्ट किया है। यदि व्यक्ति हत्या करता है तो यह एक व्यक्तिगत कार्य है। यदि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से युद्ध छेड़ देता है या ऋण लौटाने से इन्कार कर देता है तो यह सार्वजनिक कार्य है। इन दोनों स्थितियों में किए गए अपराधों की मात्रा में अन्तर है। बोसांके का तर्क है कि व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत होकर नीचे कार्य करता है, किन्तु राज्य व्यक्तियों के नैतिक हित के उच्चादर्श को ध्यान में रखकर कार्य करता है, अतः वह युद्ध भी लड़ता है तो अपराध नहीं करता। इसी आधार पर बोसांके युद्ध का समर्थन करता है और हीगेलियन विचार-धारा के बहुत समीप पहुँच जाता है। बोसांके के व्यक्तिगत और सार्वजनिक कार्यों के इस अन्तर से स्पष्ट है कि चोरी करना, हत्या करना, झूठ बोलना, व्यक्तिगत द्वेष

1 *Bosanquet : op. cit., p. 302.*

रखना ग्रादि सार्वजनिक कार्य नहीं हो सकते क्योकि ऐसे कार्यों मे समाज की कोई रुचि नही हो सकती और न ही ऐसे कार्य करने वाला व्यक्ति इस आधार पर उनको ठीक बता सकता है कि वे उसके कार्य न होकर राज्य के कार्य हैं किन्तु युद्ध, ऋण के भुगतान से इन्कार आदि सार्वजनिक कार्य हैं जो चोरी तथा हत्या से सर्वथा भिन्न हैं। ये कार्य व्यक्तिगत द्वेष के कारण नही किए जाते। इन कार्यों मे नैतिक व्यवस्था को किसी एक व्यक्ति के द्वारा, जो अपने जीवन तथा रक्षा के लिए राज्य पर निर्भर होता है, भग नही किया जाता। सार्वजनिक कार्य राज्य द्वारा होते हैं जो जनता का रक्षक होता है। राज्य के कार्यों का इस तरह नैतिक निर्णय नही हो सकता जिस तरह व्यक्तिगत कार्यों का होता है। राज्य को व्यक्तिगत अनैतिकता का अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। व्यक्तिगत आधार पर राज्य के कार्यों की आलोचना करना त्रुटिपूर्ण है। यह अवश्य है कि अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के लिए राज्य जो कार्य करता है, उनकी आलोचना की जा सकती है। सार्वजनिक कार्य को अनैतिक कार्य तब कहा जा सकता है जब राज्य के अग अपने सार्वजनिक कार्यो मे स्वार्थ तथा बर्बरता की भावनाएं प्रदर्शित करें। यदि सार्वजनिक कार्य "समाज के सक्रिय समर्थन के साथ किए जाते हैं और वे अनैतिक होने के कारण निंद्य हैं तो इसका निर्णय मानवता तथा इतिहास के न्यायालय के सामने होगा।" राज्य के कार्यों का निर्णय व्यक्तिगत न्यायालय में नही हो सकता। राज्य के कार्यों की आलोचना हो सकती है, लेकिन यह स्वीकार्य नही है कि उनका भी उसी प्रकार निर्णय किया जाएगा जिस तरह नागरिको के व्यक्तिगत कार्यों का। सक्षेप मे राज्यो के अधिकारियो या अभिकर्ताओ के अनैतिक कृत्यो के लिए राज्य को दोषी नही ठहराया जा सकता।

बोसांके के दण्ड सम्बन्धी विचार
(Bosanquet on Punishment)

दण्ड-नीति के सिद्धान्त मे बोसांके का दृष्टिकोण ग्रीन की अपेक्षा अधिक सकारात्मक (Positive) है। ग्रीन के अनुसार दण्ड का मूल स्वरूप प्रतिरोधात्मक *(Deterrent)* होने के साथ ही *प्रतिकारात्मक (Retributive) तथा सुधारात्मक* (Reformative) भी है जबकि बोसांके के मतानुसार दण्ड के प्रतिकारात्मक, प्रतिरोधात्मक तथा सुधारात्मक सिद्धान्तो मे भेद करना और उसमे से किसी एक को ही सही मान लेना निरर्थक है। "दण्ड आक्रमण के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। आक्रमण एक आघात है और साथ ही एक खतरा भी है तथा आचरण का द्योतक भी है, इसलिए उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया, अर्थात् दण्ड द्वारा अपराध का प्रतिकार, खतरे का प्रतिरोध तथा आचरण को सुधारने का प्रयास एक ही साथ होना चाहिए।"

बोसांके की मान्यता है कि संस्थाओ द्वारा आलोचना का मार्ग ग्रहण करने की स्थिति मे राज्य के पास प्रचुर शक्ति होती है। यह पहले चेतावनी और समझौते की नीति का आश्रय लेता है किन्तु सफल न होने पर दमन का प्रयोग करता है। दमन और नियन्त्रण अन्तिम अस्त्र हैं जिनका प्रयोग अन्य साधनों की विफलता के

बाद ही किया जाता है। बोसांके के अनुसार ऑस्टिन ने सम्प्रभुता को दण्ड-शक्ति के तद्‌रूप बना दिया है जबकि वास्तव में यह समस्त संस्थाओं की क्रियात्मकता में ही निवास करती है।

बोसांके का विश्वास है कि समाज-विरोधी तत्त्व दण्ड द्वारा ही नियन्त्रित किए जा सकते हैं। दण्ड से अपराधी का सुधार होना चाहिए। वह उसके निषेधात्मक पक्ष से सहमत नहीं है। वह दण्ड के उद्देश्य तथा स्वरूप को सकारात्मक मानता है। उसका दण्ड-सिद्धान्त एक मनोवैज्ञानिक धारणा पर आधारित है। व्यक्ति के शरीर के भीतर एक सूक्ष्म गतिशीलता का अस्तित्व होता है। व्यक्ति के शरीर में जो कार्य अर्द्ध-चेतनावस्था में हुआ करते हैं उनकी अभिव्यक्ति बाह्य क्षेत्र में होती है। मान लीजिए कि आप विचारों में निमग्न किसी रास्ते पर चले जा रहे हैं तभी आपको एक ठोकर लगती है। इस घटना का प्रभाव आपके मस्तिष्क के चेतन भाग पर पड़ता है। परिणामस्वरूप आप पुनः उस रास्ते पर जाने के पूर्व सावधान हो जाते हैं। दण्ड की भी यही प्रवृत्ति है। वह भी इसी प्रक्रिया को जाग्रत करता है। जब कोई व्यक्ति अपराध करता है या किसी के साथ कोई दुर्व्यवहार करता है तो उसके परिणामस्वरूप जो दण्ड उसे मिलता है उससे उसके चेतन मस्तिष्क पर एक प्रकार का धक्का लगता है। इस धक्के के लगने से अपराधी का मस्तिष्क ठिकाने पर आ जाता है और वह अपराध की पुनरावृत्ति न करने का निश्चय कर लेता है। स्पष्ट है कि बोसांके के मतानुसार दण्ड इसलिए नहीं दिया जाता कि दण्डित मनुष्य भविष्य में वैसी त्रुटियाँ नहीं करेगा, बल्कि इसलिए कि चेतना के जागरण के कारण मनुष्य पुनः वैसी गलती करने के प्रति सावधान रहेगा।

इस तरह बोसांके ने दण्ड में विलक्षण रूप से एक सकारात्मक गुण के दर्शन किए हैं, लेकिन इसका कोई कारण नहीं हो सकता कि राज्य द्वारा किए गए अन्य बाध्यकारी कार्यों में यह गुण मौजूद न हो। बोसांके के कथनानुसार, "यह सोचना भारी भूल है कि राज्य द्वारा प्रयुक्त शक्ति केवल अपराधियों को सख्त रखने तक ही सीमित है। इसका उसके घटकों के मन पर स्फूर्तिजनक प्रभाव पड़ता है।" इस भाँति बोसांके राज्य-काल के उस नकारात्मक स्वरूप में संशोधन करता है जिस पर ग्रीन ने इतना बल दिया है।

बोसांके के दर्शन की आलोचना और मूल्यांकन
(Criticism and Estimate of Bosanquet's Thought)

हॉबहाउस के अनुसार बोसांके की यथार्थ इच्छा एवं वास्तविक इच्छा में कोई स्पष्ट अन्तर दिखाई नहीं देता।[1] वह यथार्थ को वास्तविक तथा वास्तविक को यथार्थ मानने का दोषी है। बोसांके के अनुसार वैयक्तिक वास्तविक इच्छा सामाजिक इच्छाओं एवं शक्ति की एकता में व्यक्त होती है, किन्तु हॉबहाउस इस मत से सहमत नहीं है। उसे बोसांके का यह कथन बड़ा उपहासजनक लगता है कि एक चोर की वास्तविक इच्छा (Actual Will) राज्य-कर्मचारियों के हाथों जेल में बन्द

1 *Hobhouse* : Metaphysical Theory of the State, p. 48.

होने की है और उसकी यथार्थ इच्छा (Actual Will) उसे चोरी के लिए प्रेरित करती है। हॉबहाउस के अनुसार स्थिति इसके बिलकुल उलटी है। चोर की जो इच्छा उसे चोरी करने के लिए प्रेरित करती है वही उसकी पूर्ण इच्छा है, फिर चाहे उसे यथार्थ इच्छा कहा जाए या वास्तविक। इन दोनो इच्छाओं मे कोई भी स्पष्ट विभाजन नही किया जा सकता। इच्छा को 'यथार्थ' और 'वास्तविक' दो भिन्न-भिन्न रूपो मे मानना शब्दो के साथ खिलवाड करना है। हॉबहाउस की आलोचना मे बल है पर यह पूर्णत. न्यायसगत नही मानी जा सकती। बोसांके ने इन शब्दो का प्रयोग परिभाषित अर्थ मे किया है। हम जीवन मे यह अनुभव करते हैं कि हमारा कोई एक कार्य ठीक वैसा हो नही होता जैसा दूसरा होता है अत. बोसांके का भेद उचित ही कहा जा सकता है। अपनी पुस्तक 'The Metaphysical Theory of the State' मे स्वय हॉबहाउस ने अपनी आलोचना मे सशोधन कर बोसांके द्वारा किए गए अन्तर को स्वीकार किया है यद्यपि 'यथार्थ' और 'वास्तविक' के स्थान पर 'अस्थायी' और 'स्थायी' (Transitory and Permanent) शब्दो का प्रयोग किया गया है।

बोसांके ने राज्य को सर्वोच्च समुदाय और नैतिकता का पूर्ण सरक्षक मानकर उसे अनुत्तरदायी बना दिया है। उसने राज्य की महत्ता पर इतना बल दिया है कि व्यक्ति एव उसकी स्वतन्त्रता कुचल दी गई है। बोसांके के अनुसार राज्य के अधिकारियो या अभिकर्त्ताओ द्वारा किए गए अनैतिक कार्यों के लिए राज्य को दोषी नही ठहराया जा सकता, पर वास्तव मे राज्य के कार्यों और राज्य के अभिकर्त्ताओ के कार्यों के मध्य भेद करना कठिन और अस्वाभाविक है। नि सन्देह शासन राज्य का अभिकर्त्ता है, किन्तु राज्य अमूर्त सस्था है जबकि शासन वास्तविक सत्य है। इस तरह शासन के कृत्य वस्तुतः राज्य के ही कृत्य हैं। अत यदि कोई नागरिक अपने राज्य को व्यक्तिगत हानियो के लिए उत्तरदायी ठहरा सकता है, तो फिर ऐसा राज्य जिस पर वैधिक उत्तरदायित्व प्रभावी है, नैतिक उत्तरदायित्वो से स्वय को अछूता नही रख सकता, बशर्ते कि राज्य के नैतिक उत्तरदायित्व स्थापित किए जा सकते हो।[1] बोसांके का राज्य यदि अपने अभिकर्त्ताओ के कृत्यो के लिए उत्तरदायी नही है, तो वह अनुत्तरदायी और अत्याचारी हो जाएगा, विशेषकर इसलिए कि बोसांके ने राज्य और समाज के बीच भेद नही किया है। बोसांके के एक ऐसे चरमतावादी राज्य की कल्पना करता है जो व्यक्ति के नैतिक उत्थान के बदले उसके विकास को कुण्ठित कर देता है।

हॉबहाउस के अनुसार बोसांके का यह मत असगत है कि राज्य सामान्य इच्छा (General Will) का प्रतिरूप है। राज्य व्यक्तियो के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिनिधि कभी नही हो सकता। ऐसा समय आ सकता है जबकि वास्तविक इच्छा (Real Will) ही विरोधी बन जाए। बोसांके राज्य और समाज के अन्तर को स्वीकार नही करता तथा उसने व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति को राज्य मे विलीन कर

1 *Barker* : op. cit., p. 65.

दिया है। यह विचार प्रतिक्रियावादी है और मानव स्वतन्त्रता एव प्रगति-विरोधी हैं। राज्य और समाज दो भिन्न सस्थाएँ हैं जिन्हे समानार्थक मानना गलत है।

बोसांके के सामाजिक बुद्धि अथवा सगठन सम्बन्धी विचारों पर आक्षेप करते हुए आइवर ब्राउन (Ivor Brown) का कथन है कि "राज्य को ऐसे सामाजिक सगठन का स्थान देना जो उसका निर्माण करने वाली व्यक्तिगत सस्थाओ से उच्चतर स्थिति मे हो मूलरूप मे एक अप्रजातन्त्रवादी धारणा है।" इसी लेखक के शब्दों मे "यदि सामाजिक सगठन के सिद्धान्त का दृढतापूर्वक प्रयोग किया जाए तो उसका परिणाम होगा राज्य की अभूतपूर्व दासता।" यद्यपि आइवर ब्राउन की आलोचना मे पर्याप्त बल है, तथापि बोसांके के विचार इस दृष्टि से अधिक परिपक्व प्रतीत होते हैं कि समाज के व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से पृथक् हैं। वे एक दूसरे से पृथक् हैं, लेकिन बुद्धि की धारणा को स्वीकार कर लिया प्रतीत होता है। उसका यह विचार ठीक है कि समाज के बिना मनुष्य महत्तर जीवन प्राप्त नहीं कर सकता मानव प्रकृति का निर्माण समाज के अन्तर्गत ही सम्भव है।

बोसांके अन्तर्राष्ट्रीयवाद मे विश्वास व्यक्त नही करता। वह केवल राष्ट्रीय राज्य की कल्पना को अपना उद्देश्य मानकर आगे बढता है जो अनुचित है। राष्ट्रीय राज्य को मानवता का अन्तिम ध्येय (Final Goal of Humanity) नही माना जा सकता। बोसांके भूल जाता है कि सभ्यता के विकास के साथ मानवता को एक दिन अन्तर्राष्ट्रीयता को अपना उद्देश्य बनाना होगा। राष्ट्रसंघ, सयुक्त राष्ट्रसघ मानवता के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के प्रमाण हैं।

इन आलोचनाओ के बावजूद बोसांके का आदर्शवादी दार्शनिक मे अपना विशिष्ट स्थान है। उसके ग्रन्थ पाण्डित्य और समन्वयकारी प्रतिभा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। अपने ग्रन्थ (The Philosophical Theory of the State) के तृतीय सस्करण मे उसने लीग ऑफ नेशन्स का महत्त्व स्वीकार कर इस बात का परिचय दिया कि उसका मस्तिष्क नूतन विकासो का महत्त्व समझ सकता था।

बोसांके की सबसे बडी देन एव उसका महत्त्व यह है कि वह काफी हद तक इस बात को स्पष्ट करने मे सफल हो गया कि व्यावहारिक मामलों मे राज्य सामाजिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है और सामाजिक चेतना केवल व्यक्ति की नैतिक चेतनाओं का सामूहिक स्वरूप है और कुछ नहीं। बोसांके ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि राज्य एक ऐसा सवास है जो हमको अधिकतम सुरक्षा प्रदान कर सकता है और आदर्शवादी विचारधारा ऐसी मानसिक अभिरुचि है जिसमे हम यह विचार नहीं करते कि वर्तमान परिस्थितियाँ और सवास क्या हैं, बल्कि यह विचार नहीं करते कि उन्हें कैसा होना चाहिए। आदर्शवादियों के नेता प्लेटो ने यही किया, अरस्तू ने यही किया, हीगल और कॉण्ट ने यही किया तथा ग्रीन, ब्रैडले और बोसांके ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया। बोसांके के दर्शन का महत्त्व

1 *Ivor Brown* : English Political Theory, p. 144-45.

इसलिए भी है कि उसने राज्य और समाज मे एक वृहद् अन्तर की स्थापना की है। उसके दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए बार्कर ने लिखा है कि "राज्य का क्षेत्र यांत्रिक क्रिया है, उसकी स्फूर्ति का आधार बल है, उसकी कार्य-पद्धति मे कठोरता है; जबकि समाज का क्षेत्र स्वेच्छापूर्ण सहयोग है, उसकी स्फूर्ति का आधार सद्भावना है और उसकी कार्य-पद्धति मे लचीलापन।"[1] राज्य और समाज को सामान्यतया पर्यायवाची समझते हुए भी बोसांके इन दोनो मे विभेद स्थापित करते हुए हीगल आदि विचारकों की तरह इधर-उधर भटका नही है। वस्तुत, ब्रिटिश आदर्शवादी विचारधारा के विकास मे बोसांके का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह ग्रीन के सिद्धान्तो से प्रारम्भ करता है और उन्हे अधिक पूर्ण हीगलवाद की दिशा मे विकसित करता है। उसका यह प्रयत्न हॉब्स, लॉक, बेन्थम, मिल तथा स्पेंसर के व्यक्तिवाद और उदारवाद के विरुद्ध राज्य की धारणा को पुनर्जीवित करने का एक सकल्पबद्ध प्रयास है।

ग्रीन और बोसांके
(Green and Bosanquet)

ग्रीन और बोसांके ये दो अग्रेज विचारक आदर्शवाद के दो छोरो का प्रतिनिधित्व करते हैं। समय की दृष्टि से यद्यपि ग्रीन पहले आता है, पर विचारो की क्रमबद्धता के अनुसार उसका दर्शन बोसांके के हीगलवादी दर्शन से अधिक स्पष्ट, सुन्दर तथा आधुनिकता के अधिक निकट है। इन दोनो आदर्शवादियो मे अनेक स्थानो पर कुछ विचार-साम्य है, किन्तु ऐसे स्थानों की भी कमी है जहाँ इनमे तीव्र विरोध दिखाई देता है।

दोनो विचारो मे मुख्य समानताएँ सक्षेप मे ये हैं—

1 दोनो ही विचारको ने ग्रीन के दर्शन से प्रेरणा ली है तथा रूसो, कॉम्ट, हीगल आदि आदर्शवादी पूर्वजो से भी दोनो ही काफी प्रभावित हैं।

2. दोनो ही राज्य को अनिवार्य और स्वाभाविक मानते हैं जिसका उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास करना है।

3. राज्य को एक नैतिक सस्था मानने के अतिरिक्त दोनो ही राज्य के निषेधात्मक कार्यों को मान्यता देते हैं जिसके फलस्वरूप दोनो के राज्य का स्वरूप तथा कार्यक्षेत्र बहुत कुछ भिन्न होते हुए भी काफी समान है।

4. ये दोनो ही जर्मन आदर्शवादियो द्वारा समर्थित निरकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) के विरोधी है। स्वभावत. अग्रेज होने के नाते दोनो को ही अपनी प्रतिनिध्यात्मक सस्थाओ से प्रेम है।

दोनो के विचारो मे मुख्य अन्तर ये हैं—

1. ग्रीन राज्य के अत्याचारी तथा पथ-भ्रष्ट होने पर नागरिको को उसके विरुद्ध विद्रोह करन का अधिकार देता है जिससे उसका राज्य निरकुश अथवा सर्वसत्तावादी नही कहा जा सकता जबकि बोसांके हीगेलियन विचारधारा मे विश्वास करते हुए राज्य को अनियन्त्रित अधिकारो का स्वामी बताता है।

1 *Barker* : op. cit , p. 67.

2. दोनों दण्ड के निरोधात्मक सिद्धान्त (Deterrent Theory) मे विश्वास करते हैं, किन्तु बोसांके दण्ड के मनोवैज्ञानिक पक्ष (Psychological Aspect) पर अधिक बल देता है।

3. युद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विषय में ग्रीन उदारवादी तथा विश्व-सस्थाओं के अस्तित्व मे विश्वास करने वाला है, किन्तु बोसांके हीगल से प्रभावित होने के कारण राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय सघ मे शामिल होने की आज्ञा नही देता।

4. बोसांके का मत है कि जीवन तथा महत्तर जीवन के मध्य सदैव सघर्ष की भावना विद्यमान रहती है और इस सघर्ष को टालना कोई सरल कार्य नही है। मनुष्य किसी निश्चित व्यवस्था मे सुगठित होने की अपेक्षा विशृंखलित अधिक है, अतः वे किसी विश्व-सघ की स्थापना नहीं कर सकते। ग्रीन का विचार इसके विपरीत है।

5. बोसांके राज्य को समस्त नैतिक विश्व का सरक्षक मानते हुए कहता है कि वह नागरिकों के प्रति नैतिक रूप से उत्तरदायी है अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के न होने पर भी नागरिकों की रक्षा करना उसका कर्त्तव्य है, किन्तु ग्रीन राज्य को समस्त नैतिक विश्व का एक तत्त्व मात्र मानता है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को निष्ठा के साथ पालन करना चाहिए।

बोसांके तथा हीगल
(Bosanquet & Hegal)

बोसांके कई बातों मे अपने गुरु ग्रीन की अपेक्षा हीगल के अधिक निकट है। वह हीगल की भांति राज्य को अत्यधिक महत्व प्रदान करता है और उसे सर्वथा निरकुश बना देता है। वह वैयक्तिक हितों को राज्य के लिए बलिदान कर देता है। युद्ध एव अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध मे भी उसके विचार हीगल की ओर अधिक झुके हुए प्रतीत होते हैं फिर भी इगलिश वातावरण और परम्परा का उस पर स्पष्ट और व्यापक प्रभाव है, इसीलिए वह युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का उग्रवादी अन्धानुकरण नही हीगल की तरह करता। उसने राज्य के दार्शनिक सिद्धान्त के दूसरे सस्करण की भूमिका मे राष्ट्रसघ के प्रति विश्वास व्यक्त किया है।

23 कार्ल मार्क्स और वैज्ञानिक समाजवाद
(Karl Marx and Scientific Socialism)

कार्ल मार्क्स
(Karl Marx, 1818–1893)

जीवन-परिचय—आधुनिक समाजवादी विचारधारा के उन्नायक कार्ल मार्क्स का जन्म एक सुखी मध्यवर्गीय यहूदी परिवार में पश्चिमी एशिया के ट्रीविज (Treves) नगर में 5 मई, 1818 को हुआ था। उसका पिता एक साधारण वकील और देशभक्त प्रशियन था और माता एक यहूदी महिला थी। मार्क्स जब केवल 6 वर्ष का था, उसके पिता ने कुछ तो फ्रांसीसी प्रचेतनावादी दार्शनिकों के प्रभाव में और कुछ तत्कालीन जर्मनी की असहिष्णुता से बचने के लिए यहूदी मत का परित्याग कर ईसाई धर्म में दीक्षा ले ली। इस धर्म-परिवर्तन ने मार्क्स के भाव-जगत् में एक क्रान्ति का बीज बो दिया। उसने, जो पहले से ही धार्मिक चेतना का विरोधी था, यहूदियों की कटु आलोचना की और अन्ततः धर्म को अफीम और उत्पादन शक्तियों के अनुरूप 'मतवाद' की संज्ञा दे डाली।

मार्क्स बाल्यावस्था से ही बड़ा प्रतिभाशाली और गहन अध्येता था। सन् 1835 में मार्क्स को बोन विश्वविद्यालय में न्यायशास्त्र का अध्ययन करने के लिए भेजा गया। वहाँ एक मेधावी छात्र के रूप में उसने बहुत ख्याति प्राप्त की। लेकिन होनहार विद्यार्थी होते हुए भी वहाँ वह किसी विषय में मन लगाकर नहीं जुट पाया। उसने अध्ययन की अपेक्षा एक उच्च परिवार की लड़की जेनी वान वेस्टफेलेन (Janny Von Westphalen) के साथ प्रेमालाप पर अधिक ध्यान दिया। जेनी के माता-पिता अपनी लड़की का विवाह मार्क्स से करने के पक्ष में नहीं थे, लेकिन दोनों के दृढ़ निश्चय के सम्मुख उन्हें झुकना पड़ा। 7 वर्ष की आशा-निराशा की लहरों को पार करने के पश्चात् उसका विवाह हो गया। सन् 1836 में मार्क्स ने अपने माता-पिता की इच्छानुसार न्यायशास्त्र के अध्ययन के लिए बर्लिन के विश्वविद्यालय में प्रवेश ले लिया। इस विषय में उसका मन नहीं लगा, अतः उसने इतिहास और अर्थशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। यहाँ पर मार्क्स हीगल के दर्शनशास्त्र की ओर आकर्षित हुआ। उन दिनों जर्मनी के विश्वविद्यालयों में हीगल के दर्शन का बहुत प्रचार था और जगह-जगह उसके नाम की गोष्ठियाँ (Hegelian Circle) होती थीं। मार्क्स विश्वविद्यालय की 'यंग हिगेलियंस' (Young Hegelians) नामक गोष्ठी का प्रमुख सदस्य बन गया। सन् 1841 में जेना विश्वविद्यालय (Jena University) से उसने डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। उसने यहाँ प्राध्यापक बनने का असफल प्रयत्न किया। यदि उसे वह काम मिल जाता तो यह निश्चित था कि मार्क्स एक अत्यन्त मेधावी प्राध्यापक सिद्ध होता और दर्शनशास्त्र पर उच्चतम ग्रन्थों की रचना करता। लेकिन यह भी सत्य है कि तब वह श्रमजीवी समाजवाद के जनक (Father of Proletarian Socialism) के रूप में उस ऐतिहासिक अमरता को सम्भवतः प्राप्त न कर पाता जो आज उसे निर्विवाद रूप

से प्राप्त है और न वह सम्भवत: 'Communist Manifesto' एवं 'Das Capital' जैसे ग्रन्थों की रचना भी न कर पाता। प्राध्यापक पद प्राप्त करने में असफल रहने पर मार्क्स ने एक पत्रकार के रूप में जर्मनी के सार्वजनिक उदार आन्दोलनों में भाग लेना आरम्भ कर दिया। अपने सक्रिय जीवन के प्रभातकाल में ही मार्क्स इस निश्चय पर पहुँच चुका था कि सामाजिक तथा राजनीतिक दूषणों का उपाय न तो कोरे तार्किक वाद-विवाद से होता है और न सुन्दर सामाजिक आदर्शों का काल्पनिक योजनाओं से ही, क्योंकि किसी भी समय में उनका समुचित उपाय प्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था की विशिष्ट एवं आधारभूत अवस्थाओं पर निर्भर रहता है। तदनुसार उसने आधुनिक औद्योगिक समाज का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। उसने यान्त्रिक अन्वेषणों की प्रगति का, उसके फलस्वरूप हुई पूँजीवादी व्यवस्था के विकास का तथा उसके मूल्य और वेतन निर्धारित करने के विशेष नियमों का अध्ययन किया तथा इस व्यवस्था के कारण समस्त जनता दो विरोधी वर्गों में विभाजित हो गई थी—उस स्थिति का भी अध्ययन किया। एक ओर तो यन्त्रों तथा उत्पादन के कच्चे माल के मालिक थे और दूसरी ओर जनता थी जो केवल इन यन्त्रों एवं वस्तुओं की सहायता से मालिकों द्वारा निर्धारित अवस्था में कार्य करके अपना जीवन निर्वाह करती थी। उसने शीघ्र ही समाजवाद के मुख्य सिद्धान्त ढूँढ निकाले और अपना शेष जीवन उनकी सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक मीमांसा करने तथा उसका यूरोप के श्रमिकों में प्रचार करने में बिताया।

मार्क्स 'रेहनिश टाइम्स' का अग्र लेख लिखने वाला सम्पादक बन गया और बाद में उसका मुख्य सम्पादक हो गया, किन्तु मालिकों की प्रशियन-सरकार के साथ समझौता-नीति से वह सहमत न हो सका और उसने उस पत्र से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। उसने 6 वर्ष तक कोलोन, पेरिस, ब्रूसेल्स में अपने पत्र के सम्पादन और व्यवस्था का कार्य किया। उसे अपना स्थान परिवर्तन इसलिए करना पड़ता था कि वह राजकीय नीतियों की तीव्र आलोचना करने के कारण राज्य की ओर से निर्वासित कर दिया जाता था।

पेरिस और ब्रूसेल्स में अपने प्रवास-काल से मार्क्स का अनेक प्रसिद्ध समाजवादियों एवं उग्र सुधारवादियों से निकट सम्पर्क स्थापित हुआ जिनमें आदर्श साम्यवादी केबेट (Cabet), दार्शनिक अराजकतावादी प्रोधों (Proudhon), साम्यवादी अराजकतावादी बैकुनिन (Bakunin), क्रान्तिकारी कवि हीन (Heine), क्रान्तिकारी देशभक्त मैजिनी (Mazzini) का मन्त्री वुल्फ (Wolff) और फ्रेडरिक ऐंजिल्स (Freidrich Engels) मुख्य थे। ऐंजिल्स कपड़े के एक धनी उद्योगपति का पुत्र था जिसके इंग्लैण्ड और जर्मनी दोनों में कारखाने थे। मार्क्स और ऐंजिल्स की भेंट सन् 1844 में पेरिस में हुई और शीघ्र ही यह प्रगाढ़ मित्रता में परिवर्तित हो गई। यह 19वीं शताब्दी की सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण साहित्यिक मित्रता कही जाती है। इसमें मार्क्स सिद्धान्त-निर्माता था और ऐंजिल्स उनका प्रचारक तथा संगठनकर्त्ता था। ऐंजिल्स के प्रभाव के कारण ही मार्क्स वामपक्ष की ओर झुकता गया। ऐंजिल्स ने मार्क्स का ध्यान जर्मनी पर ही केन्द्रित न कर इंगलैण्ड की ओर भी आकृष्ट किया तथा पूँजीवादी व्यवस्था के विनाश में दोनों ने मिलकर कार्य किया। उदारचित्त ऐंजिल्स ने मार्क्स की आर्थिक कठिनाइयों का सदैव समाधान किया जिसके बिना वह ब्रिटिश म्यूजियम और पुस्तकालयों में अध्ययन करके अपने अमर ग्रन्थ 'Das Capital' के लिए सामग्री एकत्रित नहीं कर सकता था। मार्क्स

दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति में यह परिवर्तन द्वन्द्व के कारण होता है तथा मात्रा से गुण की ओर परिवर्तन आकस्मिक होता है। मार्क्स के द्वन्द्ववाद की चौथी विशेषता प्रत्येक वस्तु का आन्तरिक विरोध है। प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष होते हैं—उनका सकारात्मक (Positive) तथा नकारात्मक (Negative) स्वरूप, जिनमें निरन्तर द्वन्द्व या संघर्ष चलता रहता है। पुराना तत्त्व नष्ट होकर नवीन उत्पन्न होता जाता है। इन दोनों का निरन्तर संघर्ष ही विकास का क्रम है। कार्ल मार्क्स अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त से ही यह प्रमाणित करना चाहता है कि पूँजीवाद के शोषक स्वरूप के स्थान पर साम्यवादी समाज की स्थापना किस प्रकार होगी। उसके लिए पदार्थ (Matter) अन्तिम वास्तविकता थी और एक ऐसे समाजवादी समाज की स्थापना जिसमें एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण न हो, विकास की प्रक्रिया का लक्ष्य था। मार्क्स की धारणा थी कि वह हीगल की विश्वात्मा को एक आत्मिक शक्ति मानकर अपने द्वन्द्ववाद सम्बन्धी विश्वास और अपना भौतिकवाद से संयुक्त कर सकता है। इसके द्वारा उसने केवल उस महान् शक्ति की ही खोज निकाला जो मानवता को निरंतर तक संचालित करती रहती है, बल्कि हीगल के द्वन्द्ववाद का भी उलटा खड़ा कर दिया जिसके परिणामस्वरूप उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का आविर्भाव हुआ। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक युग में दो या दो से अधिक आर्थिक शक्तियों में विरोध रहा है और इस विरोध के कारण विकास होता रहा है। इस तरह द्वन्द्ववाद के पीछे आर्थिक शक्तियाँ रही हैं। अब वर्तमान युग में पूँजीवाद और सर्वहारा वर्ग के संघर्ष के फलस्वरूप पूँजीवाद का अन्त होगा और साम्यवाद की स्थापना होगी। द्वन्द्ववाद में अपने विश्वास के कारण ही मार्क्स ने यह परिणाम निकाला कि समाजवाद अथवा साम्यवाद का भवन केवल पूँजीवाद की भस्म पर ही बन सकता है। कोल (Cole) के अनुसार मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद का आधार निम्नलिखित है—

इतिहास की प्रत्येक मंजिल अर्थात् युग में उत्पादन-शक्तियों से मनुष्यों में इस प्रकार के आर्थिक सम्बन्ध पैदा होते हैं। मार्क्स का कहना है कि सम्पूर्ण मानव इतिहास में इन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप मनुष्य आर्थिक वर्गों में विभक्त रहे हैं—प्राचीन ग्रीस में स्वतन्त्र नागरिक एवं दास, रोम में पेट्रीशियन तथा प्लीबियन, मध्ययुग में भूमिपति और दास-किसान तथा वर्तमान युग में पूँजीपति और मजदूर वर्ग; और इनके बीच संघर्ष से ही मानव-इतिहास की प्रगति हुई। अस्तु मार्क्स के अनुसार ये वर्ग ही विचार और विरोधी विचार (Thesis and Antithesis) थे और नए वर्ग संश्लेषण (Synthesis) हैं। इस वर्ग-संघर्ष का अन्त वर्गहीन समाज में होगा। मार्क्स की धारणा थी कि पूँजीवाद में पतन के बीज इसी प्रकार निहित हैं जिस प्रकार हीगल के अस्तित्व (Being) के 'वाद' में उसका 'प्रतिवाद'—अस्तित्व-हीनता (Non-Being)। द्वन्द्ववाद की गतिशीलता के माध्यम से पूँजीवाद के विनाश के इस विचार के पीछे मार्क्स की यही धारणा काम करती रही है कि उत्पादन प्रणाली से जीवन की सामाजिक एवं राजनीतिक प्रक्रिया का साधारण स्वरूप निर्धारित होता है। इतिहास का विकास एक के बाद दूसरी मंजिल से होकर गुजरा

है और प्रत्येक मन्जिल अथवा युग में एक विशेष प्रकार की उत्पादन-व्यवस्था रही है। यह सभी प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है; परन्तु द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के पीछे जो आर्थिक शक्तियां रही हैं वे ही वास्तविक हैं और विचारात्मक सम्बन्ध (Ideological Relations) केवल ऊपरी अथवा दिखावटी है।

मार्क्स ने अपने द्वन्द्ववाद में तीव्र गुणात्मक परिवर्तन द्वारा क्रान्ति का औचित्य सिद्ध किया था। मार्क्स ने बतलाया कि मन्द गति मात्रात्मक परिवर्तन के स्थान पर तीव्रगति से गुणात्मक परिवर्तन द्वन्द्ववाद की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। शोषित वर्ग शनै-शनै उन्नति न कर क्रान्ति के रूप में तीव्रगति से परिवर्तन करेगा। क्रान्ति इस प्रकार पूर्णतया उचित और न्यायसंगत हो जाती है। मार्क्स पूँजीवाद से मुक्ति पाने और शोषित वर्ग को उन्नति की ओर बढ़ने के लिए क्रान्ति को अनिवार्य ठहराता है। इसलिए प्रत्येक को नीति में त्रुटि किए ,बिना सुधारक न होकर क्रान्तिकारी होना चाहिए।

द्वन्द्ववाद द्वारा मार्क्स वर्ग-संघर्ष को अवश्यम्भावी मानता है। द्वन्द्ववाद प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ को आन्तरिक विरोधयुक्त मानता है। आन्तरिक विरोध ही संघर्ष का कारण और उन्नति का मूलमन्त्र है। मार्क्स इसी सिद्धान्त के आधार पर वर्ग-संघर्ष को उचित ठहराता है। पूँजीवाद में अन्तर्निहित विरोध सर्वहारा वर्ग को पूँजीपति वर्ग के साथ संघर्षरत रखता है। सेबाइन के अनुसार, "मार्क्स की ज्यादा दिलचस्पी इस बात में थी कि वह द्वन्द्वात्मक पद्धति को ठोस परिस्थितियों में लागू कर, विशेषकर इस उद्देश्य से कि उसके आधार पर क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के लिए किसी कार्यक्रम की खोज की जा सके, सन् 1848 में उसने और ऐंजिल्स ने कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो में, जो समस्त युगों की एक बड़ी क्रान्तिकारी पुस्तिका बन गई है, वर्ग-संघर्ष को अब तक के समस्त समाजों का मूल मन्त्र माना।"

सार रूप में कहा जा सकता है कि मार्क्स के अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का वाद, प्रतिवाद और संश्लेषण आर्थिक वर्ग है, विचार नहीं। जिस लक्ष्य की ओर मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अग्रसर हो रहा है वह ऐसे समाज की स्थापना का लक्ष्य है जिसमें न कोई वर्ग-भेद होगा और न कोई शोषण। यह अन्तिम संश्लेषण (Synthesis) होगा जिसमें 'प्रतिवाद' (Antithesis) का जन्म नहीं होगा। वर्गहीन समाज की स्थापना के साथ वर्ग-संघर्ष की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया रुक जाएगी।

हीगल और मार्क्स

मार्क्स के द्वन्द्ववाद का वर्णन समाप्त करने से पहले हीगल और मार्क्स के द्वन्द्व के अन्तर और साम्य पर कुछ और विचार कर लेना उचित होगा। यद्यपि हीगल की भाँति मार्क्स का दर्शन भी सामाजिक दर्शन था और इसमें विकास की उन प्राकृतिक अवस्थाओं का उल्लेख कर दिया गया था जो द्वन्द्वात्मक पद्धति के आन्तरिक घात-प्रतिघात के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं, तथापि दोनों के विचारों में बहुत अन्तर था। सेबाइन के शब्दों में—

"हीगल का यह विचार था कि यूरोपीय इतिहास की चरम परिणति जर्मन राष्ट्रों के विकास में हुई है और जर्मनी यूरोप का आध्यात्मिक नेतृत्व सम्भालेगा। इसके विपरीत मार्क्स का यह विश्वास था कि सामाजिक इतिहास की चरम परिणति सर्वहारा-वर्ग के उत्थान के रूप में हुई और यह वर्ग समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा। हीगल के समाज-दर्शन में प्रेरक शक्ति एक स्वविकासशील आध्यात्मिक सिद्धान्त है जो बारी-बारी से इतिहास-प्रसिद्ध राष्ट्रों के रूप में व्यक्त होता है। इसके विपरीत मार्क्स के दर्शन में यह प्रेरक तत्त्व वे स्वविकासशील शक्तियाँ हैं जो आर्थिक वितरण के बुनियादी ढंगों में तथा उनसे सम्बद्ध सामाजिक वर्गों में व्यक्त होती हैं। हीगल के लिए प्रगति का तत्त्व राष्ट्रों के संघर्ष में निहित था मार्क्स के लिए वह तत्त्व सामाजिक वर्ग-संघर्ष में निहित था। दोनों व्यक्ति इतिहास के प्रवाह को तर्कसम्मत ढंग से आवश्यक मानते थे। उनका विचार था कि यह प्रवाह एक सुनिश्चित योजना के अनुसार संचालित होता है और एक सुनिर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ता है।" हीगल के दर्शन की अपेक्षा मार्क्स के दर्शन के विकास-क्रम में हस्तक्षेप का अधिक भाव था। "मार्क्स के दर्शन में कार्य-क्रम की अपनी प्रेरणा थी। जहाँ हीगल देशभक्ति के भाव के प्रति अपील करता था, वहाँ मार्क्स मजदूरों की वर्ग-निष्ठा के प्रति अपील करता था। दोनों ही अवस्थाओं में अपील सामुदायिक थी जो स्वार्थ के प्रति न होकर कर्त्तव्यों के प्रति होती थी, तथापि वह व्यक्तियों को अपनी भावनाओं और कर्त्तव्यों की ओर आकर्षित कर सकती थी। इस अपील में मनुष्यों से प्रार्थना की जाती थी कि वे अपनी इच्छा अर्थात् अपने स्वार्थ को दबा कर सभ्यता की दुर्निवार यात्रा में अपना उचित स्थान ग्रहण करें। मार्क्स के दर्शन में इस अपील का उद्देश्य मजदूरों को सामाजिक क्रान्ति की योजना समझा कर इसके लिए तैयार करना था।"

मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद के महत्त्व को भली-भाँति समझा था। सेबाइन के शब्दों में, 'मार्क्स का मत था कि यद्यपि अनुदार हीगलवादियों ने हीगल के दर्शन का प्रतिक्रियावादी ढंग से प्रयोग किया है, फिर भी वास्तव में हीगल का दर्शन क्रान्तिकारी है। हीगल के दर्शन को वास्तविक महत्त्व देने का एकमात्र उपाय यह है कि उसे क्रान्तिकारी दल का बौद्धिक उपकरण बना दिया जाए। हीगल के दर्शन की सबसे क्रान्तिकारी विशेषता यह है कि उसमें धर्म की आलोचना की गई है। द्वन्द्वात्मक पद्धति यह सिद्ध करती है कि समस्त कथित निरपेक्ष सत्य और परात्पर धार्मिक मूल्य सापेक्ष होते हैं। ये कुछ सामाजिक परिणाम के रूप में होते हैं जो किसी समुदाय के लौकिक तथा ऐतिहासिक विकास के दौरान उत्पन्न हो जाते हैं।"[1]

मार्क्स की दृष्टि से द्वन्द्वात्मक पद्धति का पहला उपयोग तो यह था कि उसके आधार पर रूढ़िवादी तथाकथित निरपेक्ष मूल्यों का खण्डन किया जा सकता था और वास्तविक तथा सम्भावित के बीच हीगल द्वारा प्रतिपादित भेद को स्पष्ट रूप से

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 709

प्रस्तुत किया जा सकता था । द्वन्द्वात्मक पद्धति की भौतिकवादी व्याख्या का यह अभिप्राय था कि धार्मिक रूढियो और धार्मिक सत्ता के प्रतीकात्मक अर्थों से मुक्त होकर यह समझा जाए कि धर्म समाज की एक बहुत बडी प्रतिक्रियावादी तथा अनुदार शक्ति रही है।

'मार्क्स ने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति के व्यावहारिक प्रयोग का केवल यही एक निष्कर्ष नही निकाला कि धर्म को त्याग दिया जाए, उसका यह भी विश्वास था कि हीगल ने फ्रांसीसी क्रान्ति और मनुष्य के क्रान्तिकारी अधिकारो का जिस ढग से निषेध किया था वह भी द्वन्द्वात्मक पद्धति को ध्यान मे रखते हुए सच्चा प्रमाणित होगा क्योकि ये चीजें भी उसी तरह निरपेक्ष नही हो सकती जिस प्रकार धार्मिक विश्वास निरपेक्ष नही होते। ये चीजे भी विकास की किसी विशिष्ट अवस्था की अभिव्यक्ति होती हैं। *मार्क्स द्वन्द्वात्मक पद्धति को क्रान्तिकारी मानता था,* इसलिए उसके लिए हीगल की आलोचना की पुनर्व्याख्या करना जरूरी था। आध्यात्मिक राज्य अन्तिम रूप अथवा अन्तिम सश्लेषण नही हो सकता। द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार यह आवश्यक है कि एक उच्चतर स्तर पर राजनीतिक क्रान्ति के विरोध मे सामाजिक क्रान्ति हो।"[1]

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का मार्क्स का सारांश
(Marx's Summary of his Dialectical Materialism)

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त उसकी अनेक रचनाओ मे बिखरा हुआ मिलता है। मार्क्स ने एक अवतरण मे अपने निष्कर्षों का साराश दिया है जो स्पष्टता और शक्ति की दृष्टि से बेजोड है। इस प्रो सेबाइन ने अपने ग्रन्थ 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास' मे न केवल उद्धृत ही किया है प्रत्युत् उसकी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या भी की है। यहाँ मार्क्स के अवतरण और सेबाइन की व्याख्या, दोनो का ही ज्यो का त्यो प्रस्तुत किया जा रहा है—

अवतरण—"मनुष्य सामाजिक उत्पादन-कार्यों के दौरान आपस मे एक निश्चित प्रकार के सम्बन्ध कायम कर लेते है। इन सम्बन्धो के बिना उनका काम नही चल सकता, अत वे अपरिहार्य और मनुष्यो की इच्छा पर निर्भर होते है। *उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादनो के भौतिक तत्वो के विकास की विशिष्ट अवस्था के* अनुरूप हुआ करते हैं। इन उत्पादनो के सम्बन्धो के सम्पूर्ण योग से ही समाज का आर्थिक ढाँचा खडा होता है और वही असली नीव होता है जिस पर विधायी और राजनीतिक व्यवस्थाओ का निर्माण होता है और इसी ढाँचे के अनुरूप मनुष्यो की सामाजिक चेतना निश्चित रूप धारण करती है। भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति से ही जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओ का सामान्य रूप निर्धारित होता है। मनुष्यो का जीवन उनकी चेतना मे निर्धारित न होकर उनके सामाजिक जीवन मे उनकी चेतना का निर्माण होता है। समाज के विकास मे एक

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 709

ऐसी अवस्था आती है जब उत्पादन के भौतिक तत्वों और तत्कालीन उत्पादन के सम्बन्धों में अर्थात् सम्पत्ति विषयक सम्बन्धों के बीच जिनके अन्तर्गत वे तत्त्व पहले से कार्यशील रहते आए हैं, संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में ये सम्बन्ध उत्पादन के तत्त्वों के विकास में बाधा उत्पन्न करने लगते हैं। तब सामाजिक क्रान्ति का युग प्रारम्भ होता है। इस प्रकार, आर्थिक नींव के बदलने से सम्पूर्ण व्यवस्था शीघ्र ही बदल जाती है। इस परिवर्तन पर विचार करते समय उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों का भौतिक परिवर्तन जो प्राकृतिक विज्ञान की शुद्धता के साथ निर्धारित हो सकता है और विधायी राजनीतिक, धार्मिक, सौन्दर्य सम्बन्धी तथा दार्शनिक रूपों के परिवर्तन के बीच सदैव ही भेद रखना चाहिए जिनमें आदमी इस संघर्ष को समझने लगता है और उनसे संघर्ष करता है। ''' '''*किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि कोई सामाजिक व्यवस्था तब तक विलुप्त नहीं होती जब तक उत्पादन के तत्त्व, जिनके लिए उसमें गुंजाइश होती है, पूर्णतया विकसित नहीं हो जाते, और उत्पादन के नए उच्चतर सम्बन्ध तब तक प्रकट नहीं होते जब तक पुराने समाज की कोख में ही उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ परिपक्व नहीं हो जाती।* इसलिए मनुष्य जाति उन्हीं समस्याओं को अपने हाथों में लेती है जिन्हें वह हल कर सकती है, बल्कि अधिक ध्यान से देखने पर विदित होगा कि कोई समस्या उठती ही तब है जब उनके हल के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकती हैं अथवा उत्पन्न होने लगती हैं।''

मार्क्स के इस अवतरण की व्याख्या सेबाइन ने इन शब्दों में की है—

''मार्क्स ने उपर्युक्त अवतरण में सांस्कृतिक विकास के विषय में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया है उसमें चार मुख्य बातें हैं। प्रथम, यह विभिन्न अवस्थाओं का अनुक्रम है। प्रत्येक अवस्था में वस्तुओं के उत्पादन और विनिमय की एक विशिष्ट व्यवस्था हुआ करती है। उत्पादन शक्तियों की यह व्यवस्था अपनी विशिष्ट और उपयुक्त विचारधारा का निर्माण करती है। इस विचारधारा में विधि और राजनीति तो शामिल है ही, 'सभ्यता' के तथाकथित आध्यात्मिक तत्त्व भी शामिल होते हैं जैसे आचार, धर्म, कला और दर्शन। एक आदर्श प्रतिमा के रूप में प्रत्येक अवस्था पूर्ण और व्यवस्थित होती है। वह एक समन्वित इकाई होती है जिसमें वैचारिक तत्त्व उत्पादन की शक्तियों के साथ घुलमिल जाते हैं। *वास्तविक व्यवहार में उदाहरण के लिए 'कैपिटल' के विवरणात्मक और ऐतिहासिक अध्यायों में मार्क्स ने अपने सिद्धान्त की तार्किक कठोरता को कम कर दिया है। उत्पादन की शक्तियाँ एक ही समय में विभिन्न देशों में विभिन्न तरीके से कार्य करती हैं।* ये एक ही देश के विभिन्न उद्योगों में विभिन्न रूपों में होती हैं। उनमें पुरानी व्यवस्था के स्मारक और नई के अंकुर होते हैं। फलतः एक ही जनसंख्या के विभिन्न स्तरों की विभिन्न विचारधाराएँ होती हैं। दूसरे, सम्पूर्ण प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है। उत्पादन की नव-विकसित प्रक्रिया तथा पुरानी प्रक्रिया के बीच जो आन्तरिक संघर्ष होते हैं, वही इसकी प्रेरक शक्ति होती है। उत्पादन की नई पद्धति स्वयं को एक विपरीत वैचारिक वातावरण में पाती है

नई उत्पादन पद्धति के विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि पुरानी वैचारिक पद्धति नष्ट हो जाए। पुरानी पद्धति की विचारधारा नई पद्धति का अधिकाधिक बहिष्कार करती है। इसके परिणामस्वरूप आन्तरिक खिचाव और तनाव यहाँ तक बढ़ जाते हैं कि वे टूटने लगते हैं। उत्पादन की नई व्यवस्था के अनुरूप ही एक नया सामाजिक वर्ग पैदा हो जाता है और उसकी अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार अपनी एक नई विचारधारा बन जाती है। इस नई विचारधारा का पुरानी विचारधारा के साथ संघर्ष होता है। विकास का सामान्य क्रम यही रहता है। उत्पादन की नई व्यवस्था के अनुरूप ही एक नवीन विचारधारा बनती है जिसका पुरानी विचारधारा के साथ संघर्ष होता है। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप एक अन्य विचारधारा का उदय होता है और यह क्रम चालू रहता है। तीसरे, वस्तुओं के उत्पादन और उनके वितरण की पद्धति वैचारिक निष्कर्षों की तुलना में सदैव महत्त्वपूर्ण होती है। भौतिक अथवा आर्थिक शक्तियाँ सदैव वास्तविक अथवा सार्थक होती हैं। इनके विपरीत वैचारिक सम्बन्ध सदैव प्रतीयमान अथवा सपष्टतापरक होते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि वैचारिक सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं होता अथवा वे वास्तविकता पर कोई प्रभाव नहीं डालते, उनका पारस्परिक सम्बन्ध आध्यात्मिक होता है, केवल कार्य-कारण सम्बन्धी नहीं। यह भेद ही हीगल की शब्दावली में वास्तविकता अथवा महत्ता की श्रेणियों के बीच है। अन्तर सिर्फ यह है कि मार्क्स वैचारिक तत्वों के स्थान पर भौतिक तत्वों को सार्थक मानता है। चौथे, द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया प्रस्फुटित होने की आन्तरिक प्रक्रिया है। समाज की उत्पादक शक्तियाँ पहले पूरी तरह विकसित हो जाती हैं। इसके बाद उनमें द्वन्द्वात्मक परिवर्तन होता है। चूँकि विचार सम्बन्धी ऊपरी रचना अन्तरंग आध्यात्मिक तत्व के आन्तरिक विकास को ही प्रकट करती है, अतः चेतना के ऊपरी धरातल पर जो समस्या दिखाई देती है उसकी चेतना की और परतें खुलने पर सदैव ही उसका समाधान सम्भव है। इस आध्यात्मिक निष्कर्ष का कोई व्यावहारिक प्रमाण नहीं मिलता।"

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना
(Criticism of Dialectical Materialism)

मार्क्स का सम्पूर्ण दर्शन यद्यपि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद रूपी स्तम्भ पर टिका हुआ है, तथापि मार्क्स ने इस सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट रूप से कहीं भी व्यक्त नहीं किया है। मार्क्स के द्वन्द्ववाद की आलोचना में प्रायः निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

1. वेपर के अनुसार—"द्वन्द्वात्मक की धारणा अत्यन्त गूढ़ एवं अस्पष्ट है। इसको मार्क्स ने कहीं भी स्पष्ट नहीं किया है।"[1] उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया है कि पदार्थ किस प्रकार गतिशील होता है। लेनिन ने इस सम्बन्ध में कहा है कि हीगल के आदर्शवाद का अध्ययन किए बिना मार्क्स के द्वन्द्वात्मक

1 Wayper: Political Thought, p. 201

भौतिकवाद को नही समझा जा सकता। वस्तुत. मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है। ऐंजिल्स तथा अन्य बडे मार्क्सवादी लेखक अपनी रचनाओं म इसे अत्यधिक महत्त्व देते है तथा सभी स्थानो पर इसे नियन्त्रित करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन विस्तृत रूप से वे कही उसकी विवेचना नही करत।

2. सामान्य रूप से यह माना जा सकता है कि सघर्ष मानवीय विषयो म महत्त्वपूर्ण भाग अदा करता है, किन्तु उसे एक विश्व-व्यापी नियम मानना अथवा ऐतिहासिक विकास मे उस चालक-शक्ति का श्रेय देना न उपयुक्त है और न आवश्यक ही। केर्यूहण्ट के अनुसार, "द्वन्द्ववाद यद्यपि हमे मानव विकास के इतिहास मे मूल्यवान् क्रान्तियो का दिग्दर्शन कराता है, तथापि मार्क्स का यह दावा स्वीकार नही किया जा सकता कि सत्य का अनुसधान करने के लिए यही एकमात्र पद्धति है।"[1] केवल एक पक्का मार्क्सवादी ही गेहूँ के दाने के प्रस्फुटित होने, उसमे डण्ठल उगाने और अन्त मे गेहूँ पैदा होने मे द्वन्द्ववाद की क्रीडा के दर्शन कर सकता है तथा प्रस्फुटन को वह दाने का निषेध और दाने की उत्पत्ति को वह 'निषेध का निषेध' समझ सकता है। लेकिन एक सामान्य व्यक्ति के लिए गेहूँ के पौधे के विकास मे अथवा ऐसी ही किसी अन्य क्रिया मे न तो सघर्ष है और न कोई विरोध इसलिए कोई द्वन्द्व नही है। ऐसी घटनाओं को बिना द्वन्द्व की सहायता के भी भली प्रकार समझा जा सकता है।

3 मार्क्स ने भौतिकवाद को अपनी शक्तियो का आधार माना है; किन्तु ससार का विकास उत्पादन शक्तियाँ (Productive Forces) ही हैं, यह कैसे मान लिया जाए ? यह सही है कि आधुनिक युग मे विकास की गति भौतिकता की ओर उन्मुख है, लेकिन सर्वकालिक विकास को ध्यान मे रखने से विदित होगा कि मनुष्य का उद्देश्य सदैव केवल मात्र भौतिक समृद्धि ही नही रहा है। हीगल ने इन शक्तियो को आध्यात्मिक माना था और यह कहा था कि द्वन्द्ववाद द्वारा ससार का विकास भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर हो रहा है। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को अपनाते हुए आध्यात्मिकता के स्थान पर उसको भौतिकता मे परिवर्तित कर दिया है, किन्तु यह स्पष्ट नही किया है कि 'आध्यात्मिक शक्तियो' (Spiritual Forces) के स्थान पर उत्पादन शक्तियाँ (Productive Forces) कैसे अधिक सही हैं। केवल यह कह देने मात्र से तार्किक सगति नही हो जाती कि हीगल गलत था, उसका सिद्धान्त सिर के बल खडा था। इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विश्व के भौतिकवादी विकास का रुख एक बार पुन: आदर्शवाद अथवा आध्यात्मवाद की ओर उन्मुख हो सकता है। वर्तमान इतिहास के विद्वान् इस सम्भावना से सहमत हैं।

"टायनबी, स्पेंगलर, सोरोकिन और भारत के श्री अरविंद ने द्वन्द्ववाद मे आगे खोज की और ये चारो ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ससार का आधुनिक भौतिकवाद उन तीन या चार तत्त्वो मे से एक है जो एक वृत्त मे घूमते हैं। सोरोकिन इन्हें 'Super System' कहता है जिसके अनुसार विचारवाद (Ideative),

1 *Carew Hunt* : Theory and Practice of Communism, p. 23

आदर्शवाद (Idealistic) और विलासितावाद (Sensate) के युग मे लगातार एक वृत्त मे घूमते रहते है। जब एक तत्त्व सामने आता है तो बाकी के दो पीछे चले जाते हैं पर अस्तित्व तीनो का रहता है। बारी-बारी से प्रत्येक की प्रधानता का युग आता है और विकास तीनो के योग का परिणाम होता है। प्राचीन भारत के सॉख्य-दर्शन द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्ववाद का सबसे प्राचीन सिद्धान्त इन तीनो को सत्, रज, तम के रूप मे व्यक्त करता है और इन्ही के आधार पर भारतीय दर्शन मे अभी तक चतुर्युग सिद्धान्त को मान्यता है। श्री अरविंद की सृष्टि के विकास मे चार तत्त्वो की खोज इसी आधार पर है। ये है आत्मिक तत्त्व, मानसिक तत्त्व, जीवन तत्त्व और भौतिक तत्त्व (Spirit, Mind, Life and Matter)। ये चारो तत्त्व पुनरावृत्ति करते हुए द्वन्द्वात्मक गति से अग्रसर होते हैं और विकास की गति एक रेल के पहिए की भाँति हो जाती है जो अपने स्थान पर चक्कर काटती हुई आगे बढती है। जिस प्रकार मार्क्स ने ससार के विकास हेतु भौतिकता का विकास और हीगल ने आध्यात्मिकता का विकास आवश्यक माना है, उसी प्रकार श्री अरविंद ने चारों तत्त्वो का विकास मूल-प्रकृति का उद्देश्य माना है। ये चारो ही तत्त्व भागवत् तत्त्व हैं और पूर्णत्व की अवस्था वह है जिसमे इन चारो का सामजस्य होगा जिसमे आत्मिक तत्त्व की प्रधानता होगी। भौतिकता तो केवल एक अस्थायी अवस्था है जिसमे उसका अधिक विकास हो रहा है। इसके बाद आत्मिक युग का प्रादुर्भाव होगा और तब उसका अधिक विकास दृष्टिगोचर होगा।"

4. मार्क्स की मान्यता है कि पदार्थ चेतनायुक्त नहीं होता, अपितु एक आन्तरिक आवश्यकता के कारण उसका विकास स्वय ही होता है और वह अपने विरोधी को जन्म देता है, किन्तु मार्क्स की यह मान्यता ठीक नही है। यह नही कहा जा सकता है कि पदार्थ अपनी चेतना के कारण अपने विरोधी तत्त्व को जन्म दे सकता है। वास्तविकता यह है कि पदार्थ मे परिवर्तन बाह्य शक्तियो द्वारा होते हैं। एक विशेष परिस्थिति के अभाव मे न तो गेहूँ का बीज पौधे के रूप मे परिवर्तित हो सकता है और न पौधा अन्य बीजो मे। इसके अतिरिक्त एक पत्थर सदा पत्थर ही रहता है। अन्तर्निहित गतिशीलता के कारण उसका परिवर्तन क्यो नहीं होता और यदि एक मिनिट के लिए यह मान भी लिया जाए कि पदार्थों मे परिवर्तन आन्तरिक गतिशीलता के कारण होता है तो यह मानने का कोई कारण नही दिखाई देता कि यह विकास विरोधी तत्त्वो मे सघर्ष के द्वारा होता है।[1]

5. फ्यूअरबेक का कथन है कि भौतिकवादी सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य परिस्थिति और शिक्षा के अनुसार ढलता है। इस प्रकार मनुष्य मे परिवर्तन परिस्थितियो मे परिवर्तन के कारण होते हैं, किन्तु इस कथन की आलोचना करते हुए मार्क्स लिखता है कि फ्यूअरबेक यह भूल जाता है कि परिस्थितियो मे परिवर्तन मनुष्य के द्वारा ही होता है। आगे मार्क्स कहता है कि "मनुष्य अपने इतिहास का स्वय निर्माण करता है यद्यपि वह ऐसा स्वय की चुनी हुई परिस्थितियो के द्वारा नही करता।" इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स ने यद्यपि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का

1 *Carew Hunt : op. cit., p. 33.*

ने ऐंजिल्स के ऋण को स्वीकार करते हुए अपने समाजवादी सिद्धान्त को 'हमारा सिद्धान्त' (Our Theory) की संज्ञा दी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐंजिल्स की सहायता के अभाव में मार्क्स का जीवन सम्भवत अपनी आजीविका की समस्याओं में ही बीत जाता और वह अपने वर्तमान रूप में संसार के सामने कभी न आ पाता।

पेरिस में रहकर मार्क्स ने हीगल के विधिशास्त्र के विरोध में रचित अपने आलोचनात्मक निबन्ध में लिखा कि जर्मनी की मुक्ति में सर्वहारावर्ग जीवन-रक्त का कार्य करेगा। इससे प्रशिया की सरकार बडी क्रुद्ध हुई। फ्रांस की सरकार को एक कठोर विरोध-पत्र भेजा गया जिसके परिणामस्वरूप मार्क्स को पेरिस से निष्कासित कर दिया गया। यहाँ से वह ब्रूसेल्स गया जहाँ वह साम्यवादी लीग (Communist League) का सदस्य बन गया। यहीं पर मार्क्स और ऐंजिल्स ने मिलकर सन् 1847–48 में साम्यवादी लीग के कार्य के प्रचार के लिए सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'Communist Manifesto' तैयार किया। उसने कल्पनात्मक आलोचनात्मक, सामन्तवादी, पुरोहितवादी और पूँजीवाद की भिन्न-भिन्न शाखाओं की आलोचना कर वर्ग-संघर्ष के सन्दर्भ में इतिहास की व्याख्या द्वारा क्रान्ति का नारा बुलन्द किया और यूरोप में साम्यवादी दलों को हिंसात्मक क्रान्ति के लिए प्रोत्साहित किया। सन् 1848 की क्रान्ति में मार्क्स ने अपने पत्र के माध्यम से तत्कालीन मध्यवर्गीय राजनीति की आलोचना की और करबन्दी तथा सैनिक प्रतिरोध का समर्थन किया। वह क्रान्ति में भाग लेने के लिए स्वयं भी पेरिस गया, लेकिन वह वहाँ देर से पहुँचा और तब तक क्रान्ति विरोधी प्रतिक्रिया आरम्भ हो चुकी थी। फ्रांस का राजनीतिक वातावरण अपने सिद्धान्तों के प्रतिकूल पाकर वह जर्मनी पहुँचा क्योंकि उसका विचार था कि जर्मनी में क्रान्ति के लिए अधिक अनुकूल वातावरण है। वहाँ उसने एक अत्यन्त क्रान्तिकारी पत्र 'The New Rhenish Times' प्रकाशित किया जो केवल 6 मास ही चल पाया। राजद्रोह के अपराध में मार्क्स पकड़ा गया और निर्वासित अवस्था में पश्चिमी यूरोप में घूमता हुआ अन्तत: सन् 1849 में लन्दन में बस गया। उसने अपने जीवन के शेष 34 वर्ष वहीं बिताए जिसमें उसका अधिकांश समय बडी दरिद्रता में बीता। "उसका जीवन अधिकांशत. एक शान्तिप्रिय विद्वान् के समान व्यतीत हुआ यद्यपि सन् 1864 में जो प्रथम समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित हुआ उसकी प्रमुख प्रेरणा मार्क्स से ही मिली और तब से समाजवादी आन्दोलन का वही प्रमुख नेता रहा। लन्दन स्थित एकान्त निवास-स्थान से उसने अपने शेष जीवन में सैद्धान्तिक लेखन, व्यावहारिक मार्गदर्शन, सभा-सम्मेलन एवं पत्र-व्यवहार द्वारा पश्चिमी यूरोप में समाजवादी आन्दोलन तथा समाजवादी विचारधारा के अद्वितीय नेता के रूप में अपनी स्थिति कायम रखी।"[1] लन्दन रहकर ही ब्रिटिश म्यूजियम के अनेक ग्रन्थों का गहन अनुशीलन कर उसने 'Das Capital' के तीन खण्डों और 'अतिरिक्त मूल्य के इतिहास' के तीन खण्डों की सामग्री एकत्र की।

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 41.

मार्क्स समाजवाद पर कार्य करता हुआ लन्दन में ही सन् 1883 में देवलोक सिधार गया। उनका व्यापक प्रभाव उसकी मृत्यु के बाद भी कायम रहा। यह निर्विवाद है कि आज भी जहां करोड़ो व्यक्ति उसे देवता की तरह पूजते हैं वहां करोड़ों मनुष्य उसे दानव कहकर उसकी निन्दा करते हैं। प्रथम विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप समाजवाद में अनेक स्थायी मतभेदों के उत्पन्न हो जाने पर भी मार्क्सवाद का प्रभाव अक्षुण्ण रहा। आधुनिक समाजवाद तथा साम्यवाद दोनों का अभ्युदय एक ही मूल स्रोत से हुआ।

रचनाएं (Works)—मार्क्स ने अपने जीवनकाल में प्रचुर समाजवादी साहित्य की रचना की। उसकी महत्त्वपूर्ण रचनाएं ये है—

1. The Poverty of Philosophy (1847)
2. The Communist Manifesto (1848)
3. The Critique of Political Economy (1859)
4. Inaugural Address to the International Working Men's Association (1864)
5. Value, Price and Profit (1865)
6. Das Capital (1867)
7. The Civil War in France (1870-71)
8. The Gotha Programme
9. Class Struggle in France.

मार्क्स के ग्रन्थों में सर्वाधिक विख्यात 'कैपिटल' है जो पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली तथा उत्पादन-व्यवस्था का विस्तृत विश्लेषण करते हुए उसकी अनिवार्य परिणति की ओर संकेत करता है। मार्क्सवाद का पूरा परिचय इसी ग्रन्थ में मिलता है। इस पुस्तक को समाजवादी साहित्य पर सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ, साम्यवादी सिद्धान्तों की आधारशिला, श्रमिकों का धर्म-ग्रन्थ (Bible of the Working Class) तथा धनिकों का दिमाग ठण्डा करने वाला नुस्खा (Prescription for Transquillisation of the Bourgeois Mind) कहा जाता है। इस ग्रन्थ का मूल विचार है कि "उत्पादन के साधनों के केन्द्रीकरण के फलस्वरूप मजदूरों का समाजीकरण उस स्थिति पर पहुँच जाता है कि पूँजीवादी ढाँचे से उसका मेल नहीं बैठता। यह ढाँचा या आवरण तोड़ दिया जाता है जिससे व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति हो जाती है, शोषण करने वाले खत्म कर दिए जाते हैं, पूंजीवादी युग की जगह औद्योगिक समाज का निर्माण होता है जिसमें भूमि और उत्पत्ति के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व रहता है।"

मार्क्स का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'Communist Manifesto' साम्यवादी दर्शन और क्रान्ति प्रक्रिया का मूलाधार है जिसमें 'सर्वहारा क्रान्ति' (Proletarian Revolution) की भविष्यवाणी की गई है। इस इतिहास-प्रसिद्ध ग्रन्थ का पहला वाक्य ही यूरोप के शासकों में भय का संचार कर देता है—"साम्यवाद का भूत यूरोप भर में व्याप्त हो रहा है। इस भूत को भगाने के लिए पोप और ज़ार, मटरनिख और गीज़ाट, फ्रांस के क्रान्तिकारी और जासूस सब मिल गए हैं, लेकिन

यह बढ़ता ही आ रहा है।" उसके अन्तिम शब्द तो अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए अमर है—"दुनिया के मजदूरो, संगठित हो जाओ। अपनी बेड़ियों और दासता के सिवाय तुम कुछ नहीं खोओगे। एक नई दुनिया प्राप्त करोगे।" यह ग्रन्थ साम्यवादियों के लिए आज भी प्रामाणिक बना हुआ है।

मार्क्स का 'Critique of Political Economy' आर्थिक सिद्धान्तों का दूसरा ग्रन्थ है। यूरोपीय इतिहास तथा क्रान्ति-प्रसंगों पर 'Civil War in France', 'Class Struggle in France', 'Revolution and Counter-Revolution' आदि ग्रन्थ हैं। कार्यक्रम सम्बन्धी ग्रन्थ 'Critique of the Gotha Programme' में मार्क्स ने यह स्पष्ट लिखा है कि एक दर्जन कार्यक्रम और रूपरेखा रखने की अपेक्षा वास्तविक रूप में आन्दोलन को बढ़ाना अधिक हितकर है।

मार्क्स ने अनेक लेख, संस्मरण, गुप्तपत्र, संवाद, [illegible], निबन्ध आदि भी लिखे।

मार्क्स के प्रेरणा-स्रोत (The Sources of Marx's Thought)—मार्क्स के दार्शनिक तथा सैद्धान्तिक मूलाधार तीन प्रकार के माने गए हैं—एक तो इतिहास की भौतिकवादी या आर्थिक व्याख्या (Materialistic or Economic Interpretation of History) जिसके लिए उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) का प्रयोग किया; दूसरा वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त (Theory of Class Struggle) जो मानव इतिहास का एकमात्र शाश्वत् नियम तथा अनिवार्य परिणाम है, एवं तीसरा अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) जो पूँजीवाद की कटुतम आलोचना करते हुए श्रमिकों को उनके वास्तविक अधिकारों से परिचित कराता है। मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तथा नियन्त्रण का लक्ष्य सम्मुख रखते हुए राज्य के लोप का काल्पनिक आदर्श प्रस्तुत किया है। अपने निष्कर्षों में वह मौलिक तथा प्रभावशाली है, लेकिन आर्थिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक विचारों में वह अपने युग के अनुकूल दूसरों से प्रभावित हुआ है।

मार्क्स पर सर्वप्रथम दो जर्मन दार्शनिक हीगल और फ्यूअरबेक (Feurbach) का प्रभाव पड़ा। हीगल से मार्क्स ने यह विचार ग्रहण किया कि इतिहास का निरन्तर और युक्तियुक्त विकास हो रहा है, किन्तु उसने इसे एक नया निर्वचन दिया जो हीगल से भिन्न था। हीगल के अनुसार इतिहास 'पूर्ण विचार का ही प्रत्यक्षीकरण' (Realisation of the Absolute Idea) है और इसके विकास में विवेक, स्वतन्त्रता, ईश्वर तथा विश्वात्मा सम्बन्धी विचार प्रधान रहे हैं जिनका वास्तविकता और अनुभव से पृथक् अस्तित्व है। हीगल ने द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method) द्वारा इतिहास का निर्वचन किया है। मार्क्स ने भी इतिहास का निर्वचन किया है और द्वन्द्वात्मक पद्धति को अपनाया है, किन्तु दोनों के निर्वचन में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। हीगल ने इतिहास का आदर्शात्मक निर्वचन किया है जबकि मार्क्स का निर्वचन भौतिक है अर्थात् आर्थिक शक्तियों द्वारा हुआ है। इस कार्य में उसे मानववादी

(Humanist) फ्यूअरबेक के दर्शन से बहुत सहायता मिली जहाँ हीगल के अनुयायी अमूर्त विचारों (Abstract Ideas as Subject and Object) का प्रतिपादन करते थे, वहाँ उसने 'मैं' और 'तुम' स्थूल प्राणियों का अर्थात् हीगल के आदर्शवाद के स्थान पर मानववाद का प्रतिपादन किया, किन्तु फ्यूअरबेक ने अपनी विचारधारा को क्रियान्वित नहीं किया। वास्तव में यह कार्ल मार्क्स द्वारा पूरा हुआ जिसने दर्शन के स्थान पर व्यवहार को प्रधानता दी। मार्क्स के सामाजिक सिद्धान्तों में दो प्रयोजन स्पष्ट हैं —प्रथम, मार्क्स का दर्शन हीगल के दर्शन की तरह इतिहास का दर्शन है। हीगल यह मानता था कि यूरोपीय इतिहास जर्मन राष्ट्र के उदय द्वारा पराकाष्ठा तक पहुँचेगा। मार्क्स का विश्वास था कि सामाजिक इतिहास सर्वहारा वर्ग के उदय में पराकाष्ठा तक पहुँचेगा। द्वितीय, हीगल के अनुसार उन्नति का साधन राष्ट्रों के बीच युद्ध था, किन्तु मार्क्स के अनुसार यह वर्ग-संघर्ष था। मार्क्स पर हीगल के प्रभाव को जॉर्ज एच. सेबाइन (Sabine) ने इन शब्दों में प्रकट किया है—

"मार्क्स का दर्शन दो दृष्टियों से हीगल के दर्शन से मिलता था। मार्क्स ने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को कायम रखा और उसकी आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism) के रूप में व्याख्या की। विचार सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं, हीगल के चिन्तन में यह धारणा कुछ बिखरे हुए रूप में मिलती है। मार्क्स ने इस धारणा को क्रमबद्ध किया और उसे आधुनिक चिन्तन में प्रतिष्ठित स्थान दिया। हीगल के दर्शन के उदारतावाद विरोधी तत्त्व मार्क्स के उग्रवाद में समाविष्ट हो गए।"[1]

सेबाइन ने ही एक अन्य स्थल पर लिखा है, "हीगल के विचारों में द्वन्द्वात्मक चिन्तन शीर्षासन कर रहा था, मार्क्स ने आदर्शवादी भ्रान्तियाँ दूर करके उसे प्राकृतिक स्थिति में पैरों के बल पर खड़ा किया। मार्क्स ने अपने ग्रंथ 'Das Capital' के प्रथम भाग की भूमिका में स्वीकार किया है कि उसका अपना द्वन्द्ववाद 'हीगल से न केवल भिन्न है, बल्कि उसका ठीक उलटा है।' मार्क्स ने निःसन्देह हीगल के चिन्तन से लाभ उठाया, किन्तु हीगल की बातों को उसने ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया। उसने हीगल के चिन्तन का कायाकल्प कर उसके सिद्धान्त से इस धारणा को निकाल दिया कि राष्ट्र के सामाजिक इतिहास की कारगर इकाइयाँ होती हैं, उसने राष्ट्रों के संघर्ष के स्थान पर वर्ग-संघर्ष की धारणा को प्रस्तुत किया। इस प्रकार मार्क्स ने हीगलवाद की विशेषताओं का अपहरण कर लिया। ये विशेषताएँ थीं—राष्ट्रवाद, अनुदारवाद तथा क्रान्ति-विरोधी स्वर। उसने हीगलवाद को क्रान्तिकारी उग्रवाद का एक नया और शक्तिशाली दर्शन बना दिया। मार्क्सवाद 19वीं शताब्दी के दलगत समाजवाद का और फिर कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों सहित आधुनिक साम्यवाद का प्रवर्तक बन गया।"[2]

मार्क्स पर फ्रांसीसी समाजवाद का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। वह सेंट साइमन,

1-2 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृ. 703.

चार्ल्स फोरियर, प्रूधाँ आदि की विचारधारा से पूर्ण परिचित था। यद्यपि मार्क्स की भाँति ही सेंट साइमन भी यह अनुभव करता था कि भावी औद्योगिक युग के महत्त्व और उसकी सम्भावनाओं को केवल उनके आर्थिक विश्लेषण द्वारा ही सही रूप में समझा जा सकता है, और यद्यपि चार्ल्स फोरियर का विश्वास था कि एक नवीन समाज की रचना के लिए मानव स्वभाव में परिवर्तन के बजाय मनुष्य की आवासीय स्थितियों में सुधार की आवश्यकता है, तथापि मार्क्स कल्पनावादियों की अपेक्षा 18वीं शताब्दी के फ्रांस की साम्यवादी परम्परा और केबेट (Cabet) के साम्यवाद की ओर अधिक आकर्षित हुआ। वह कैबेट के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण था। यह इस बात से स्पष्ट है कि ब्रूसल्स में स्थापित 'Communist League' को मार्क्स और ऐंजिल्स ने 'समाजवादी' की अपेक्षा 'साम्यवादी' कहना अधिक उपयुक्त समझा। केबेट के अनुरूप ही मार्क्स का भी विश्वास था कि उत्पादन के साधनों पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। सेंट साइमन ने श्रम के महत्त्व को स्पष्ट किया था और बतलाया था कि श्रम करने वाले का ही जीवित रहने का अधिकार है और जो श्रम नहीं करते तथा दूसरों के श्रम पर निर्भर रहते हैं उनका विनाश होना चाहिए। वर्गहीन समाज की स्थापना का सिद्धान्त मार्क्स ने इन्हीं विचारों के अध्ययन द्वारा प्रतिपादित किया। प्रूधाँ और विटलिंग इन दो सर्वहारावर्ग के विचारकों ने भी मार्क्स को काफी प्रभावित किया था। प्रूधाँ के ग्रन्थ 'Philosophy of Poverty' के प्रत्युत्तर में मार्क्स ने 'Poverty of Philosophy' ग्रन्थ की रचना की जिसका उद्देश्य तत्कालीन जर्मन विचारधारा को क्रान्तिकारी स्वरूप देना था। मार्क्स पर ब्रिटिश समाजवादियों और अर्थशास्त्रियों ने भी बड़ी सीमा तक अपना प्रभाव डाला। थॉम्पसन, हॉग्सकिन तथा अन्य ब्रिटिश समाजवादियों ने श्रम को मूल्य का एकमात्र स्रोत बताया। इस धारणा का प्रभाव मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) के सिद्धान्त पर स्पष्ट दिखाई देता है। ग्रे (Gray) के अनुसार सामान्य व्यक्ति के लिए मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त रेकार्डो के मूल्य-सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ओवन (Owen) की यह धारणा कि चरित्र पर्यावरण (Environment) की सृष्टि है, मार्क्सवादी सिद्धान्त की एक सुनिश्चित पूर्वसूचना है।

इस प्रकार यह कहना उपयुक्त होगा कि पूँजीवाद की विषम शोषक अवस्था का लोप कर औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणामों को दूर करने के लिए मार्क्स ने जिन सिद्धान्तों को साम्यवाद' के नए नाम से प्रस्तुत किया, वे हीगल, फ्यूअरबेक, एडम स्मिथ, रिकार्डो, सेंट साइमन आदि के विचारों से प्रभावित हैं। मार्क्स ने अपने मत की पुष्टि के लिए इन विचारों का सार ग्रहण किया और अन्धानुकरण करने के बजाय अपने विचारों को तार्किक दृष्टि से सिद्ध करने के लिए उनका प्रयोग किया। इन बिखरे हुए विचारों को एकत्रित कर उनमें तर्कसंगतता (Logical Coherence) उत्पन्न की। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मार्क्स ने अपने सिद्धान्त को आक्रामक और यौद्धिक बनाया। प्रो. लास्की के शब्दों में "मार्क्स ने साम्यवाद को अस्त-व्यस्त स्थिति में पाया और उसे एक आन्दोलन का रूप दे दिया। उसके द्वारा

उसे एक दर्शन मिला और एक दिशा मिली।" निःसन्देह मार्क्स के विचारों को एकदम मौलिक नही कहा जा सकता क्योंकि "उसके विचारो का आधार बहुत से स्रोतो से खोजा जा सकता है। उसने अपनी ईंटो को अनेक स्थानों से एकत्र किया था।"[1] किन्तु इससे "हम उसे द्वितीय श्रेणी का दार्शनिक नही कह सकते और न ही इससे उसका महत्त्व कम होता है।" मार्क्स की कृतियों का महत्त्व उनकी मौलिकता नही बल्कि सश्लेषणात्मकता है।

मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद
(The Scientific Socialism of Marx)

मार्क्सवादी समाजवाद को प्रायः सर्वहारा समाजवाद (Proletarian Socialism) तथा वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। मार्क्स अपने समाजवाद को इसलिए वैज्ञानिक कहता है कि यह इतिहास के अध्ययन पर आधारित है। उसके पहले साइमन, फोरियर तथा ओवन का समाजवाद वैज्ञानिक इसलिए नही था क्योंकि वह इतिहास पर आधारित न होकर केवल कल्पना पर आधारित था। वेपर के शब्दो मे, "उन्होंने केवल सुन्दर गुलाब के नजारे लिए थे, गुलाब के पौधो के लिए जमीन तैयार नही की थी।"

मार्क्स का दर्शन बड़ा विराट् तथा सुसम्बद्ध है। केटलिन (Catlin) के अनुसार उसका क्रान्तिकारी कदम वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त पर स्थित है; वर्ग-संघर्ष अतिरिक्त मूल्य के आर्थिक सिद्धान्त पर, आर्थिक सिद्धान्त इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर, व्याख्या मार्क्स-हीगल के द्वन्द्वात्मक पर और द्वन्द्ववाद भौतिकवादी आध्यात्मिक विद्या पर स्थित है। इस तरह स्पष्टतः मार्क्स की विचारधारा के आधार-स्तम्भ चार हैं—

(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)
(2) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (Materialistic Interpretation of History)
(3) वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त (Theory of Class Struggle)
(4) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value)

ये चारों स्तम्भ, जिन पर मार्क्स ने अपने दर्शन का भवन निर्मित किया है, एक दूसरे से गुँथे हुए हैं तथा उसकी विचारधारा को एक अविभाज्य इकाई है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
(Dialectical Materialism)

कार्ल मार्क्स का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन द्वन्द्वात्मक के सिद्धान्त पर आधारित है। इसी सिद्धान्त के आधार पर उसने इतिहास के परिवर्तन और अध्ययन का भौतिकवादी दर्शन, वर्ग-संघर्ष और साम्यवाद की स्थापना आदि के विचार निर्धारित किए हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के दर्शन की वह आधारशिला है जिसका

1 *Alexander Gray*: The Socialist Tradition, p. 299.

आश्रय समस्त साम्यवादी लेते हैं। 'Short History of the Communist Party of the Soviet Union' में अधिकृत रूप से कहा गया है कि "द्वन्द्ववाद की सहायता से दल प्रत्येक स्थिति के प्रति नहीं दृष्टिकोण बना सकता है, सामयिक घटनाओं के आन्तरिक सम्बन्धों को समझ सकता है, उनकी दिशा को जान सकता है और वह न केवल यह जान सकता है कि वे वर्तमान में किस प्रकार और किस दशा में चल रही हैं, अपितु वह यह भी देख सकता है कि भविष्य में उनकी दिशा क्या होगी ?"[1]

यह दोहराना अप्रासंगिक न होगा कि मार्क्स का द्वन्द्ववाद अथवा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हीगल के द्वन्द्ववाद पर आधारित है यद्यपि हीगल के द्वन्द्ववाद को मार्क्स ने बिलकुल उलटा कर दिया है। हीगल ने समाज को गतिमय तथा परिवर्तनशील बतलाते हुए विश्वात्मा (World Spirit) या सूक्ष्मतम आत्म-तत्त्व को उसका नियामक कारण माना था। उसके अनुसार सृष्टि के विभिन्न स्थूल पदार्थों का ज्ञान या आभास उस प्रच्छन्न आत्म-शक्ति द्वारा ही सम्भव था। हीगल बुद्धिवादी था और आध्यात्मिक आदर्श उसका लक्ष्य था। परिवर्तन का कारण ढूँढने में उसने प्रकृति के निरन्तर परिवर्तन का उदाहरण लिया। पुरानी चीजें समय पाकर नष्ट होती हैं और उनकी जगह नई चीजें उत्पन्न होती है, यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। हीगल ने द्वन्द्वात्मकता के अन्तर्गत होने वाले बौद्धिक क्रम को 'अस्तित्व में होना' (Being), 'अस्तित्व में न होना' (Non-being) और 'अस्तित्व में आना' (Becoming) के रूप में 'वाद' (Thesis), 'प्रतिवाद' (Antithesis) और 'सश्लेषण' (Synthesis) की संज्ञा दी। हम किसी भी अमूर्त (Abstract) विचार को 'वाद' से प्रारम्भ करते हैं। स्वाभाविक रूप से विचार में विरोध (Contradiction) उत्पन्न होता है जिसे हम 'प्रतिवाद' कहते हैं। वाद और प्रतिवाद में द्वन्द्व के फलस्वरूप समन्वय हो जाता है जिससे एक नवीन विचार की उत्पत्ति होती है। इसे हीगल समन्वयवाद अथवा सश्लेषण (Synthesis) का नाम देता है—यही सश्लेषण आगे चलकर एक 'वाद' हो जाता है जो फिर 'प्रतिवाद' का रूप ग्रहण करता है तथा उससे सश्लेषण द्वारा पुन. एक नया विचार उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस प्रक्रिया में पहले किसी वस्तु का निषेध (Negation), तत्पश्चात् निषेध का निषेध (Negation of Negation) होता है जिसके द्वारा एक उच्चतर वस्तु अस्तित्व में आती है। "सही अर्थों में द्वन्द्वात्मकता विरोधी तत्त्वों का अध्ययन है। विकास विरोधी तत्त्वों के बीच संघर्ष का परिणाम है।"—हीगल ने ऐतिहासिक और सामाजिक परिवर्तनों के प्रति अपने इस नवीन दृष्टिकोण के कारण यह निष्कर्ष निकाला कि इतिहास घटनाओं की केवल शृंखला मात्र नहीं है प्रत्युत् विकास की एक प्रक्रिया है और विरोध उसका मुख्य प्रेरक सिद्धान्त है।

मार्क्स हीगल के द्वन्द्ववाद से प्रभावित अवश्य हुआ, लेकिन उसने हीगल के आदर्शवाद को उपेक्षा की दृष्टि से देखा। मार्क्स कट्टर भौतिकवादी था, इसीलिए

1 Quoted in *Carew Hunt*: Theory and Practice of Communism, p. 28.

उसका भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहलाता है। जहाँ हीगल के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का आधार विचार (Idea) है और समस्त जगत् एक निरपेक्ष विचार (Absolute Idea) की अभिव्यक्ति है, वहाँ मार्क्स के अनुसार विचार नहीं, बल्कि भौतिक पदार्थ ही इस जगत् का आधार है। भौतिक जगत् की वस्तुएँ तथा घटनाएँ परस्पर अवलम्बित हैं। भौतिक जगत् में परिवर्तन होता रहता है—कुछ प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं, कुछ नष्ट होती हैं तो कुछ की पुनरावृत्ति होती है। यह विकास-क्रम निरन्तर चलता रहता है। मार्क्स यह भी कहता है कि विकास की पृष्ठभूमि में समस्त प्राकृतिक पदार्थों में एक आभ्यान्तरिक विरोध रहता है जिसमें भौतिक जगत् का विकास होता है। इसके तीन क्रम होते हैं—वाद, प्रतिवाद और संश्लेषण या समवाद। इस प्रकार मार्क्स का भौतिक द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त विकासवाद का सिद्धान्त है। उदाहरणार्थ, यदि गेहूँ के दाने (पदार्थ) के द्वन्द्व का अध्ययन करें तो विदित होगा कि उसका विकास हो रहा है। उसे जमीन में गाढ़ देने से उसका वह रूप नष्ट हो जाता है वह अंकुर के रूप में प्रकट होती है, अंकुर भी अपनी स्थिति पर स्थाई नहीं रहता, उसका विकास एक लहलहाते पौधे के रूप में होता है। इस संघर्षपूर्ण स्थिति का परिणाम यह होता है कि एक गेहूँ के दाने के विकास के द्वारा अनेक दाने उग आते हैं। विकास का यही द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त भौतिकवादी है। यदि गेहूँ का बीज 'वाद' है तो पौधा उसका 'प्रतिवाद' है और पौधे का नष्ट होकर नए दानों का जन्म 'संश्लेषण' है। यहाँ तो संघर्ष विकास के सोपान के रूप में क्रमशः चलता रहता है वह बाह्य न होकर आन्तरिक है।

विशेषताएँ

मार्क्स के भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

प्रथम विशेषता यह है कि वह प्रकृति को अचानक एकत्रित की हुई वस्तुओं का संग्रह नहीं मानता। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से सम्बद्ध तथा परस्पर निर्भर है। इस प्रकार *द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त विश्व में प्राकृतिक सावयविक एकता व्यक्त* करता है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की दूसरी विशेषता वस्तुओं की गतिशीलता है। भौतिक पदार्थ गतिहीन नहीं हैं। प्रकृति के प्रत्येक कण, यहाँ तक कि रेत के छोटे से छोटे कण से लेकर सूर्य पिण्ड तक गतिशील है और उनमें परिवर्तन होता रहता है। प्रकृति में नित्य प्रति द्वन्द्व के आधार पर परिवर्तन होते रहते हैं और ये परिवर्तन नीचे से ऊपर की ओर ऊर्ध्वगामी होते हैं। प्रकृति के द्वन्द्व के आधार पर पदार्थ विकासोन्मुख है। नवीन पदार्थों का निर्माण और प्राचीन का विनाश विकास-क्रम है। अतः मार्क्स का द्वन्द्ववाद चराचर जगत् के सावयवी अध्ययन के साथ जीवन की गतिशीलता का अध्ययन भी है। द्वन्द्ववाद की तीसरी विशेषता यह है कि परिवर्तन मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। गेहूँ के एक अंकुर का कई दानों में परिणत हो जाना यदि मात्रात्मक परिवर्तन है तो निषेध के निषेध (Negation of Negation) द्वारा पानी का बर्फ में परिणत होना गुणात्मक परिवर्तन है। प्रकृति में जीवशास्त्रीय, रसायनशास्त्रीय एवं भौतिकशास्त्रीय क्षेत्र में यह परिवर्तन

प्रतिपादन किया है, तथापि वह स्वय इन विरोधी विचारो मे भटक गया है कि मनुष्य परिस्थितियो का निर्माण करता है अथवा परिस्थितियाँ मनुष्य का निर्माण करती है ।

8. मार्क्स के द्वन्द्ववाद म विकास की शक्ति पशुबल है और क्रान्ति ही विकास का हेतु है । क्रान्ति यदि कृत्रिम तरीको से भी लाई जाए तो भी समाज अपनी उच्चावस्था को प्राप्त करेगा । लेनिन के अनुसार सघर्ष की शक्तियो को एक बार पहचान लेने के बाद उसे तीव्र करके उस क्रान्ति को जिसे आने मे हजारो वर्ष लग जाते हैं, कुछ ही वर्षों मे लाया जा सकता है । इस तरह समाज की उच्चतर अवस्था के लिए क्रान्ति की चरम सीमा को आवश्यक मानने का परिणाम शक्ति और हिंसा का अनिवार्य प्रयोग हुआ है । किन्तु क्रान्ति अनिवार्य हो, ऐसी बात नही है । श्री अरविंद का विचार है 'प्रतिवाद' (Antithesis) की शक्ति पहचान कर उसका निराकरण करते रहना और 'वाद' (Thesis) की शक्ति का बराबर आह्वान करते रहने से 'सश्लेषण' (Synthesis) की अवस्था स्वत. आ सकती है । उन्होने ससार के विकास को दो भागो मे बांटा है—अचेतन और सचेतन । मनुष्य के नीचे तक का विकास अचेतन है क्योकि अन्य प्राणी आत्मा के रहस्य से अपरिचित होते हैं । "इसलिए वे अचेतनावस्था मे प्रकृति की द्वन्द्वात्मक परिधि मे अनजाने घूमते हैं ।" किन्तु मनुष्य अपनी आत्मा और विकास के रहस्य से परिचित है, अत उसके विकास के लिए क्रान्ति जरूरी नही है । उसके लिए तो आवश्यक यह है कि वह इस क्रान्ति का निराकरण कर स्वय मे आत्मिक शक्ति को परिमार्जित करे । "इसी प्रकार सामाजिक जीवन मे 'एकता मे अनेकता' और 'अनेकता मे एकता' के सिद्धान्त के अनुसार इस क्रान्ति को टालकर समाज सचेतन अवस्था मे आगे बढ सकता है । क्रान्ति विकास का साधन नही है, बल्कि प्राणी की अचेतन अवस्था के कारण वह प्रकृति की 'निर्दय आवश्यकता' (Cruel Necessity) है और उससे बचा जा सकता है ।"

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना के प्रसग मे यह नही भूल जाना चाहिए कि मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मे अनुराग दर्शन-प्रणाली के रूप मे नही था । उसने उसका केवल इसलिए उपयोग किया क्योकि उसे अपने कार्यक्रम को प्रस्तुत करने के लिए यह सुविधाजनक मालूम हुआ । उसने इसे अपनाया, लेकिन हीगल की प्रणाली मे विद्यमान आदर्शवाद के रूप का परित्याग कर दिया क्योकि आदर्शवाद के प्रति उसे कोई आस्था नही थी ।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या
(Materialistic Interpretation of History)

मार्क्स का द्वितीय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या है । मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की सहायता से अपने समाजवाद को एक वैज्ञानिक निश्चयात्मकता प्रदान की और उसका प्रयोग ऐतिहासिक तथा सामाजिक विकास की व्याख्या करने मे किया । इतिहास की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या को उसने ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) या 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' (Materialistic Interpretation of History) की सज्ञा दी ।

इस सिद्धान्त के नामकरण पर विचार करते हुए प्रो. वेपर ने कहा है कि "इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्क्स ने जो कुछ कहा है उसके लिए यह नाम भ्रमपूर्ण है। इस सिद्धान्त को भौतिकवाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि भौतिक शब्द का अर्थ अचेतन पदार्थ होता है जबकि इस सिद्धान्त में मार्क्स अचेतन पदार्थ की कोई बात नहीं करता। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में कहा है कि यह परिवर्तन आर्थिक कारणों से होता है। अत. मार्क्स के सिद्धान्त का नाम इतिहास की आर्थिक व्याख्या (Economic Interpretation of History) होना चाहिए था।" वस्तुतः इतिहास की आर्थिक व्याख्या नामकरण ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि मार्क्स के अनुसार भौतिक वस्तुएँ जो इतिहास के विकास में निर्णायक तत्त्व हैं, वे वास्तव में उत्पादन शक्तियाँ हैं। मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का मुख्य तत्त्व है, 'आर्थिक नियतिवाद' (Economic Determinism) अर्थात् मनुष्य जो कुछ करता है उसका निर्माण आर्थिक या भौतिक कार्यों द्वारा होता है। मनुष्य पूर्ण रूप से आर्थिक शक्तियों का दास है। उत्पादन की शक्तियों में तीन चीजें सम्मिलित हैं—(1) प्राकृतिक साधन अर्थात् भूमि, जलवायु, भूमि की उर्वरा शक्ति, खनिज पदार्थ, जल, विद्युत शक्ति आदि, (2) मशीन, यन्त्र एवं अतीत से विरासत में मिली हुई उत्पादन कला, तथा (3) युग विशेष में मनुष्यों के मानसिक तथा नैतिक गुण। सभ्यता के विकास के साथ मानव-बुद्धि से उत्पन्न मशीन, यन्त्र और उत्पादन-कला मनुष्य को प्रकृति पर विजय प्राप्त कराने में अधिकाधिक भाग लेते हैं। इन्हें भौतिक वस्तुओं के नाम से सम्बोधित करना और यह कहना कि ऐतिहासिक प्रवाह की नियति में मनुष्य का कोई भाग नहीं होता, भाषा का अनुचित प्रयोग है। सम्भवतः मार्क्स ने 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' नाम इसीलिए दिया होगा क्योंकि वह ऐतिहासिक विकास की अपनी धारणा को हीगेलियन धारणा से अधिकाधिक भिन्न रखना चाहता था। हीगेलियन व्याख्या 'आदर्शवादी' थी, जबकि मार्क्स अपनी व्याख्या को 'भौतिकवादी' सिद्ध करना चाहता था। इसी कारण जबकि मार्क्स अपने सिद्धान्त को इस द्वैतवादी (Dualistic) आधार पर अवलम्बित करना चाहता था कि ऐतिहासिक विकास मानव-बुद्धि और भौतिक पर्यावरण की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है, उसने ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया जिससे यह भ्रम पैदा हो गया कि उसके अनुसार मानव इतिहास की रूपरेखा को केवल भौतिक पर्यावरण ही निर्धारित करता है। एंजिल्स ने इस स्थिति को यह कहकर और भी विकृत कर दिया कि मानव-मानस (The mind of man) भौतिक विश्व का ही एक भाग है क्योंकि वह भौतिक वस्तुओं पर केवल शरीर द्वारा ही क्रिया कर सकता है।

सिद्धान्त की व्याख्या

पूँजीवादी समाज कैसे संगठित हुआ—इसका स्पष्टीकरण मार्क्स ने इतिहास में खोजा। इसीलिए उसने इस सिद्धान्त को इतिहास की भौतिकवादी धारणा या व्याख्या का नाम दिया है जिसके अनुसार समस्त ऐतिहासिक घटनाओं को, जीवन की

भौतिक अवस्थाओं के सन्दर्भ में व्याख्या की जा सकती है। मार्क्स कहता है—'वैध सम्बन्धों और साथ ही राज्य के रूपों को न स्वत. उनके द्वारा समझा जा सकता है, न ही मानव-मस्तिष्क की सामान्य प्रगति द्वारा उनकी व्याख्या की जा सकती है, बल्कि वह तो जीवन की भौतिक अवस्थाओं के मूल में स्थिर होती है। . भौतिक जीवन में उत्पादन की विधि जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक विधियों के सामान्य स्वरूप का निश्चय करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व का निश्चय नहीं करती, प्रत्युत् उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निश्चय करता है।" प्रत्येक देश की राजनीतिक संस्थाएँ उसकी सामाजिक व्यवस्था, उसके व्यापार, उद्योग और कला दर्शन और रीतियाँ, आचरण, परम्पराएँ, नियम, धर्म और नैतिकता, मार्क्स के अनुसार जीवन की भौतिक अवस्थाओं द्वारा प्रभावी रूप ग्रहण करती हैं। जीवन की भौतिक अवस्थाओं से उसका आशय वातावरण, उत्पादन, वितरण और विनिमय से है और उसमें भी उत्पादन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त के अनुसार, "सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ जीवन की भौतिक अवस्थाओं के कारण अर्थात् उत्पादन तथा वितरण के तरीकों में परिवर्तन के कारण होती हैं, सत्य तथा न्याय के अमूर्त विचारों या भगवान की इच्छा के कारण नहीं। उनके कारण उनके युग की आर्थिक व्यवस्था में पाए जा सकते हैं, उनके दर्शन में नहीं। वस्तुत: आर्थिक उत्पादन के प्रत्येक चरण के अनुक्रम में एक समुचित राजनीतिक स्वरूप और समुचित वर्ग का आकार है।" इसलिए मार्क्स का दर्शन वह ऐतिहासिक सिद्धान्त है जो विकास के स्वाभाविक रूप को उपस्थित करता है।

मार्क्स अपने सिद्धान्त को विशेषत. दो क्रान्तियों पर लागू करता है, एक तो भूतकाल की और दूसरी भविष्य की। भूतकाल की क्रान्ति सामन्तवादियों के विरुद्ध बुर्जुआ वर्ग की थी। मार्क्स के अनुसार यह फ्रांस की क्रान्ति में दृष्टिगोचर हुई। मार्क्स ने जिस भावी क्रान्ति की भविष्यवाणी की है, वह बुर्जुओं के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग की होगी। "यह क्रान्ति समाजवादी कॉमनवेल्थ (Socialist Commonwealth) की स्थापना करेगी।" मार्क्स के अनुसार जिन शस्त्रों से बुर्जुआ वर्ग ने सामन्तवाद को धराशायी किया था, वही अब बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध प्रयुक्त होने लग गए हैं।

मार्क्स के सिद्धान्त का विश्लेषण निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाना उपयोगी होगा—

(i) भोजन की आवश्यकता—मार्क्स अपने ऐतिहासिक भौतिकवाद का आरम्भ इस सामान्य तथ्य से करता है कि 'मनुष्य को जीवित रहने के लिए भोजन की आवश्यकता है।' मार्क्स यह मानकर चलता है कि व्यक्ति को जीवित रहने के लिए भोजन प्राप्त करना चाहिए और इसीलिए मनुष्य का जीवन बहुत कुछ इस तथ्य पर निर्भर है कि वह किस प्रकार उन वस्तुओं का उत्पादन करे जिन्हें वह प्रकृति से चाहता है। इसी तरह समस्त मानव क्रिया-कलापों की आधारशिला उत्पादन प्रणाली है। मनुष्य का अस्तित्व इस बात पर निर्भर करता है कि वह प्रकृति से अपने लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन कर पाने में कहाँ तक सफल होता है?

(ii) उत्पादन की शक्तियाँ—प्रश्न यह है कि जब मनुष्य को सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनो के निर्णायक कारको की खोज जीवन की भौतिक स्थितियो मे करनी चाहिए न कि परमात्मा या विश्वात्मा की क्रीड़ाओ अथवा शाश्वत् सत्य और न्याय की अमूर्त धारणाओ मे, तो फिर जीवन की भौतिक वस्तुओ मे मार्क्स का आशय क्या है ? वे भौतिक वस्तुएँ जिन्हे मार्क्स ऐतिहासिक विकास के लिए निर्णायक मानता है, उत्पादन की शक्तियां है। मार्क्स के अनुसार मानव और सामाजिक इतिहास को निर्धारित करने वाली ये शक्तियाँ आर्थिक हैं, सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक नही। किसी युग की वैधानिक और राजनीतिक सस्थाएँ तथा सस्कृति उत्पादन के साधनो की उत्पत्ति होती है। मार्क्स के ये शब्द कि "जीवन के भौतिक साधनो के उत्पादन की पद्धति सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया की स्थिति निर्धारित करती है, मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व को निर्धारित नही करती बल्कि उनकी सामाजिक चेतना को निर्धारित करती है," इस बात को व्यक्त करते है कि आर्थिक कारक अर्थात् उत्पादन की शक्तियां अन्ततः समस्त वस्तुओ का निर्धारण करती हैं। इन्ही से न केवल सामाजिक ढांचा बल्कि धार्मिक विश्वासो और दर्शन की रूपरेखा का भी निश्चय होता है। मार्क्स के अनुसार यह विश्वास भ्रामक है कि शाश्वत् सत्य, न्याय, प्रेम, मानवता, दानशीलता आदि अमूर्त धारणाएँ सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। सत्यता केवल यह है कि उत्पादन की शक्तियां उत्पादन के सम्बन्धो को स्वरूप प्रदान करती है और उत्पादन के सम्बन्धो पर सामाजिक सस्थाओ तथा दर्शन का ढाँचा खडा होता है। फ्रेडरिक ऐंजिल्स के शब्दो मे, "इतिहास के प्रत्येक काल मे आर्थिक उत्पादन और वितरण की पद्धति तथा तद्जनित सामाजिक सगठन वह आधार स्थापित करते हैं जिस पर उसका निर्माण होता है और केवल इसके द्वारा ही उस युग के राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की व्याख्या की जा सकती है।" इतिहास मे ऐसे उदाहरणों की कमी नही है जिससे यह सिद्ध होता है कि एक युग मे उत्पादन और वितरण की प्रणाली मे परिवर्तन के अनुरूप सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक सस्थाओ मे भी परिवर्तन हुए हैं।

आर्थिक कारणो मे 'सामाजिक परिवर्तन का चालक सिद्धान्त' बतलाते हुए मार्क्स उत्पादन की शक्तियो (Productive Forces) और उत्पादन के सम्बन्धो (Relations of Productions) मे विभेद करता है। उत्पादन की शक्तियो मे प्राकृतिक साधन, मशीन तथा औजार, उत्पादन कला और मनुष्यो की मानसिक तथा नैतिक आदतें सम्मिलित हैं जिन्हे आधुनिक भाषा मे यान्त्रिक तथा वैधानिक ज्ञान कहा जा सकता है। इन 'उत्पादन की शक्तियो' के आधार पर सामाजिक और राजनीतिक ढाँचा खडा किया जाता है। यह सामाजिक और राजनीतिक ढाँचा मनुष्यो के पारस्परिक सम्बन्धो को निश्चित करता है और इन्हीं पारस्परिक सम्बन्धो को मार्क्स ने 'उत्पादन के सम्बन्ध' कह कर पुकारा है। प्रो एबेंसटाइन (P.of. Ebenstein) ने अपने ग्रन्थ 'आज का वाद' (Today's Ism) मे यह सुझाव दिया

है कि इन उत्पादन के सम्बन्धो को 'सामाजिक संस्थाएँ' (Social Institutions) कहा जाना चाहिए।

(iii) परिवर्तनशील उत्पादन-शक्तियो का सामाजिक सम्बन्धो पर प्रभाव—मार्क्स के शब्दो मे, "जीवन के भौतिक साधनो की उत्पादन-पद्धति सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन की सम्पूर्ण क्रिया निर्धारित करती है।" निरन्तर परिवर्तित होती रहने वाली उत्पादन और उत्पादन-शक्तियाँ सामाजिक सम्बन्धो मे भी परिवर्तन करती हैं। यही कारण है कि "हस्तचालित यन्त्रो के युग मे हमे सामन्तवादी समाज दिखाई देता है और वाष्पचालित यन्त्रो के युग मे औद्योगिक पूँजीवादी समाज की स्थापना होती है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ हीगल प्रकृति मे समस्त परिवर्तनो के पीछे आत्मा को ही प्रमुख शक्ति मानता था वहाँ मार्क्स के अनुसार सामाजिक सगठन का एक रूप से दूसरे रूप मे परिवर्तन उत्पादन के साधनो के अनुसार होता है।

मार्क्स का विश्वास है कि उत्पादन एव उत्पादन-शक्तियो का विकास समानान्तर चलता है और कृत्रिम साधनो द्वारा इस विकास को रोकने का प्रयत्न करने पर स्वाभाविक रूप से सकट उत्पन्न हो जाने का भय रहता है। इस प्रकार का सकट पूँजीवाद से उत्पन्न होता है क्योंकि उत्पादन जब लोगो की क्रय-शक्ति से अधिक हो जाता है तो लाभ की कोई आशा न रहने के कारण पूँजीपति उत्पादित माल को नष्ट कर देते हैं और मजदूरो को पैसा देकर पुन तैयार करवाते है तथा उसे काफी अधिक दामो पर बेचते हैं। मार्क्स की मान्यता है कि ऐसा सकट समाजवादी व्यवस्था मे उत्पन्न नही होता क्योकि इस व्यवस्था मे उत्पादन लाभ के लिए नही बल्कि सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए होता है।

(iv) उत्पादन एवं उत्पादन-शक्ति के विकास की द्वन्द्वात्मक भावना—मार्क्स कहता है कि उत्पादन और उत्पादन-शक्ति के विकास का एक निश्चित नियम है जिसकी प्राप्ति द्वन्द्ववाद से हो सकती है। उत्पादन की अवस्थाओ मे परिवर्तन तब तक चलता रहता है जब तक उत्पादन की सर्वश्रेष्ठ अवस्था नही आ जाती। द्वन्द्ववाद के आधार पर मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इतिहास के विकास की दशा निश्चयात्मक रूप से समाजवाद की ओर उन्मुख है। इस तरह मार्क्स का यह ऐतिहासिक भौतिकवाद वेपर (Wayper) के शब्दो मे, "एक आशावादी सिद्धान्त है जो मानव की उत्तरोत्तर प्रगति मे विश्वास रखता है जिसमे अन्तिम रूप से मानव की विजय होती है।"

(v) आर्थिक व्यवस्था और धर्म—मार्क्स के अनुसार, "धर्म दोषपूर्ण आर्थिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब मात्र है और यह अफीम के नशे के समान है।" इसका अभिप्राय है कि ऐसे समाज मे जहाँ मनुष्यो की आवश्यकताएँ पूर्ण नही होती और सर्वत्र असन्तोष व्याप्त रहता है वहाँ धर्म ही अन्तिम आश्रय होता है। धर्म के नशे मे वे अपना दुख-दर्द भूल जाते हैं और सुखी ससार की कल्पना करने लगते हैं। मार्क्स धर्म का पूर्णतया खण्डन करते हुए केवल उत्पादन पर ही अत्यधिक बल देता है।

(vi) इतिहास की अनिवार्यता में विश्वास—हीगल और मार्क्स दोनों ही का इतिहास की अनिवार्यता मे विश्वास है। दोनों ही की मान्यता है कि इतिहास का निर्माण मनुष्यो के प्रयत्नो मे सर्वथा स्वतन्त्र रूप होता है। इतिहास के प्रवाह को मानव-प्रयत्नों द्वारा रोका नही जा सकता। दूसरे शब्दो मे मार्क्स इस बात पर विश्वास करता है कि "उत्पादन की शक्तियो के अनुकूल जिस प्रकार के उत्पादन-सम्बन्धों की आवश्यकता होगी, वे अवश्य ही पैदा होगे। मनुष्य के वश मे केवल इतना ही है कि वह उनके आने मे कुछ विलम्ब कर दे या अपने प्रयत्नो से उन्हें कुछ शीघ्र ले आए।"

(vii) इतिहास का काल-विभाजन—मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार इतिहास की प्राय: प्रत्येक अवस्था वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। इतिहास की प्रत्येक घटना, प्रत्येक परिवर्तन आर्थिक शक्तियो का परिणाम है। मार्क्स उत्पादनात्मक सम्बन्धो अथवा आर्थिक दशाओं के आधार पर इतिहास को अधोलिखित पाँच युगों में विभाजित करता है—

(1) आदिम साम्यवाद का युग या प्राचीन साम्यवाद (Primitive Communism)
(2) दास युग (Slave Society)
(3) सामन्तवादी युग (Feudal Society)
(4) पूंजीवादी युग (Capitalistic Society)
(5) समाजवादी युग (Socialistic Society)

आदिम युग को मार्क्स आदिम साम्यवाद की सज्ञा देता है जिसमे मनुष्य कदमूल, फल या शिकार आदि के द्वारा जीवन-निर्वाह करता था। मनुष्य तब कृषि, पशुपालन आदि से परिचित नहीं था। समाज मे वर्ग-चेतना नहीं थी। दूसरे शब्दों में, आदिम समाज वर्ग-संघर्ष से रहित था क्योकि इसमे प्रत्येक व्यक्ति स्वयं उत्पादन और स्वय उपभोग करता था।

दास-युग में कृषि मे अनेक अनुसधान हुए और कृषि-यन्त्रो का विकास होने के कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति विकसित होने लगी। कृषि-भूमि के स्वामित्व की समस्या से सामन्ती वर्ग का जन्म हुआ। इस तरह अब समाज दो वर्गों मे विभाजित हो गया। एक वर्ग जो भूमि और सम्पत्ति का स्वामी था और दूसरा जिसे उसने अपना दास बना लिया था। दास-वर्ग के श्रम द्वारा जो उत्पादन होता था उसका उपभोग शक्तिशाली वर्ग करने लगा। इस तरह समाज मे स्पष्टत: धनी-निर्धन का शोषक और शोषित, अधिकारयुक्त और अधिकारविहीन का वर्ग-भेद सामने आया। वर्गों के अस्तित्व में आते ही संघर्ष प्रारम्भ हो गया।

संघर्ष के फलस्वरूप एक नवीन सामाजिक व्यवस्था के सामन्तवादी युग का जन्म हुआ। अब राजाओ के हाथ मे शासन आ गया। उन्होंने अपने अधीनस्थ सामन्तो को भूमि प्रदान की, बदले मे सामन्त राजा को आर्थिक एवं सैनिक सहायता देने लगे। छोटे-छोटे किसान सामन्तो से भूमि लेकर खेती करते थे और बदले मे

उनको लगान देते थे। सामन्त-वर्ग स्वयं भी कृषकों से अपनी भूमि पर काम लेता था और बदले में उन्हें कुछ वेतन दे देता था। उत्पादन के साधनों का स्वामित्व सामन्तों के हाथ में था, लेकिन उत्पादन-क्रिया में दासों पर उनका पहले जैसा आधिपत्य नहीं रहा। वे उन्हें खरीद या बेच सकते थे, किन्तु उनका वध नहीं कर सकते थे। सामन्तवादी युग के समाज में शीर्ष पर राजा का स्थान था, उनके नीचे घटते हुए क्रम से सामन्त होते थे और सबसे नीचे किसान होते थे जिन्हें 'सर्फ' कहा जाता था और जिनकी दशा दासों से कोई विशेष अच्छी नहीं थी। इस अवस्था में भी स्थूल रूप से सामन्त और कृषक ये दो वर्ग थे और दोनों का संघर्ष स्वाभाविक था।

सामन्तवादी भग्नावशेषों पर पूँजीवाद का विशाल भवन निर्मित हुआ। यह औद्योगिक युग था। हस्तचालित यन्त्रों का स्थान वाष्पचालित यन्त्रों ने ले लिया। नवीन यन्त्रों के निर्माण के साथ बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों का विकास हुआ और उत्पादन अनेक गुणा बढ़ गया। विशालकाय यन्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा से न टिक पाने के कारण लघु उद्योग नष्ट हो गए। ये उद्योग-धन्धे धीरे-धीरे उन व्यक्तियों के नियन्त्रण में आने लगे जिनके पास यन्त्र खरीदने के लिए पूंजी थी। इस प्रकार उत्पादन के साधन पूँजीपति वर्ग के हाथ में चले गए और समाज दो भागों में विभक्त हो गया—(1) सम्पत्तिशाली व्यक्तियों का पूँजीगत वर्ग, और (2) सम्पत्तिविहीन श्रमजीवियों का श्रमिक वर्ग। पूँजीवादी वर्ग ने श्रमिकों की अवस्था का अनुचित लाभ उठाया और उनका भरपूर शोषण किया जिसके फलस्वरूप पूँजीपति दिन प्रतिदिन अधिक सम्पत्तिशाली बनते गए और श्रमिक दिन-प्रतिदिन निर्धन होते गए। जीपूँजीपतियों द्वारा श्रमिक वर्ग का यह शोषण ही एक नवीन क्रान्ति का आह्वान करता है।

मार्क्स का विश्वास है कि पूँजीपतियों के अत्यधिक शोषण के फलस्वरूप श्रमिकों में जागरुकता उत्पन्न होगी और तब दोनों वर्गों के बीच संघर्ष एक ऐसी क्रान्ति को जन्म देगा जिसमें पूँजीपति वर्ग की निश्चित रूप से हार होगी और विजयश्री श्रमिक वर्ग का वरण करेगी। इस संघर्ष में पूँजीवाद 'वाद' (Thesis) है और संगठित श्रमजीवी वर्ग 'प्रतिवाद' (Antithesis)। इनके 'संश्लेषण' (Synthesis) से एक 'वर्ग-विहीन समाज' (Classless Society) अस्तित्व में आएगा किन्तु इस आदर्श स्थिति के आगमन से पूर्व, एक संक्रमणकालीन युग आएगा जिसमें 'श्रमजीवी वर्ग' का अधिनायकत्व (Dictatorship of the Proletariat) स्थापित होगा। उत्पादन के समस्त साधनों का सामाजीकरण कर दिया जाएगा। श्रमजीवी वर्ग का अधिनायकत्व और निरंकुश शासन तब तक स्थापित रहेगा जब तक छिपे हुए पूँजीपति तत्त्वों का पूर्ण विनाश नहीं हो जाएगा। इनके विनाश के बाद श्रमिक वर्ग का अधिनायकत्व समाप्त हो जाएगा और वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी। इस आदर्श समाज में राज्य का लोप हो जाएगा क्योंकि वर्ग-संघर्ष के मिटने के साथ ही राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। इस 'राज्यविहीन और वर्गविहीन समाज' (Stateless and Classless Society) में 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा और अपनी आवश्यकतानुसार प्राप्त करेगा।' यह अवस्था सोवियत रूस और चीन में अभी तक नहीं आ सकी है।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के इस काल-विभाजन के मूल में मार्क्स की यह धारणा निहित है कि जब तक पूर्ण उत्पादन की स्थिति नहीं आती, सभी समाज बदलते रहेंगे। प्रत्येक स्थिति पूर्णता के लिए एक कदम है। प्रत्येक समाज को ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है जिनके कारण या तो वे समस्याएँ सुलझ जाती हैं अथवा वे समाज हारकर घुटने टेक देते हैं। प्रत्येक स्थिति वर्गहीन समाज के लिए एक आवश्यक कदम है। मार्क्स के शब्दों में—

"यह चित्र का बुरा पहलू है जिसके कारण आन्दोलन गतिशील होता है तथा जिससे इतिहास का निर्माण होता है। इसके कारण संघर्ष तीव्रता प्राप्त करता है। किन्तु यदि जागीरदारी के प्रभुत्व के समय में अपने शूरवीरतापूर्ण गुणों के उत्साह में अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के मध्य सुन्दर एकता के लिए; नगरों के विशेष जीवन के लिए; देश में समृद्धिशाली घरेलू उद्योगों के लिए; निगमों, कम्पनियों तथा मण्डलों के रूप में संगठित उद्योगों के विकास के लिए; एक शब्द में प्रत्येक उस वस्तु के लिए जो जागीरदारी का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है, अर्थशास्त्रियों ने अपने आपको उन सब वस्तुओं के हटाने में प्रवृत्त किया होता, जो उस चित्र पर किसी प्रकार की छाया फेंक सकते—दासवृत्ति, रियायतें, अराजकता तब इन सब की समाप्ति कहाँ होती? उन लोगों ने उन सभी तत्त्वों को नष्ट कर दिया होता जिनके कारण संघर्ष समुपस्थित हुआ। उन लोगों ने मध्य श्रेणी के विकास का मूल में ही उच्छेदन कर दिया होता। उन्होंने अपने आपको हमारे इतिहास को कलंकित करने व्यर्थ की समस्याओं में प्रवृत्त किया होता। कोई भी स्थिति समाप्त नहीं होगी, जब तक यह उत्पादन की शक्ति के लिए ऐडी (उत्साह) की अपेक्षा बाधा न बन गया हो। व्यक्ति इतिहास में रुकावट नहीं उत्पन्न कर सकते तथा न ही वे विकास की स्वाभाविक स्थितियों का उल्लंघन कर सकते हैं।"

(iii) **मानव इतिहास की कुञ्जी वर्ग-संघर्ष**—मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इतिहास के काल-विभाजन से ही यह स्पष्ट है कि समाज का इतिहास वर्ग-युद्ध का इतिहास है। यद्यपि वर्ग-युद्ध का यह विचार मौलिक नहीं है तथापि कार्ल मार्क्स ने ही इस वर्ग-युद्ध अथवा वर्ग संघर्ष के विचार को तर्कसंगत रूप में प्रस्तुत किया। हर युग में दो परस्पर विरोधी वर्ग विद्यमान रहे हैं और उनके पारस्परिक संघर्ष से ही उस युग के इतिहास का निर्माण हुआ है। इतिहास के इस प्रेरक तत्त्व के कारण ही समाज में परिवर्तन और विकास होता है। सबसे अन्त में पूँजीपति और निम्न मजदूर वर्ग में संघर्ष उत्पन्न होता है। पूँजीवाद पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत होता है तथा संगठित श्रम उत्तरपक्ष का रूप धारण करता है। इन दोनों के मध्य संघर्ष के परिणामस्वरूप वर्गहीन समाज के रूप में एक समन्वय अथवा एक नई रचना होती है।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(A Critical Estimate of Historical Materialism)

मार्क्स ने इतिहास की जो भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की है, उसमें उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी वर्ग-संघर्ष एवं अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक

सत्य पाया जाता है। यदि इस सिद्धान्त का यह अर्थ निकाला जाए कि आर्थिक तथ्य सामाजिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण कारण है तो इसका खण्डन नहीं किया जा सकता। यह वास्तव में सत्य है कि देश में प्रचलित आर्थिक व्यवस्था एक बड़ी सीमा तक सामाजिक, वैधानिक एवं राजनीतिक संस्थाओं को प्रभावित करती है। जलवायु का प्रभाव, मिट्टी, देश की भौगोलिक अवस्था आदि का प्रभाव किसी भी देश की राजनीतिक अवस्था पर पड़ता है। अरस्तू के समय से आज तक राजनीतिक लेखक यह बात स्वीकार करते आ रहे हैं। समाज की आर्थिक स्थिति की पृष्ठभूमि में इतिहास का अध्ययन किया जाना सभी सामाजिक शास्त्रों के लिए उपादेय है। किसी जाति की सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक समस्याओं के समझने और निराकरण करने में उस जाति की आर्थिक स्थिति का ज्ञान विशेष रूप से सहायक होता है। इतिहास के एक बड़े भाग को हम अर्थशास्त्र की सहायता से ही समझ सकते हैं। यदि मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का यही अभिप्राय लिया जाए तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि समाजशास्त्रीय पद्धतियों में वह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रगति का सूचक है। किन्तु यह कहना अन्याय होगा कि इतिहास में आर्थिक तथ्य ही एकमात्र निर्णायक तथ्य है। आर्थिक स्थितियों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे देना बड़ा सरल है। मार्क्स इतिहास की अपनी भौतिकवादी व्याख्या करते समय यही गलती कर बैठा है।

1. यह कहना वस्तुतः अतिशयोक्ति है कि परिवर्तन केवल आर्थिक तथ्यों के कारण ही होते हैं और कानून, सदाचार, धर्म आदि जो समाज के सांस्कृतिक जीवन तथा उसकी संस्थाओं का निर्माण करते हैं, समाज के आधारभूत आर्थिक ढांचे के ही परिणाम हैं। मानव-कार्य इतने सरल नहीं हैं कि उनके क्रियान्वयन में कोई एक ही प्रयोजन हो। उन पर मनुष्यों के अच्छे-बुरे विचारों, मनोविकारों तथा सामाजिक वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। जैसा कि रसल ने कहा है, "हमारे राजनीतिक जीवन की बड़ी घटनाएँ भौतिक अवस्थाओं तथा मानवीय मनोभावों के घात-प्रतिघात द्वारा निर्धारित होती हैं। राजप्रासादों में होने वाले षड्यन्त्र, प्रपंच, व्यक्तिगत राग-द्वेष तथा धार्मिक विद्वेष ने अतीत में इतिहास में महान् परिवर्तन किए हैं। मानव-इतिहास में ऐसी असंख्य घटनाएँ हैं जिनकी कोई आर्थिक व्याख्या नहीं की जा सकती।" इतिहास की भौतिक धारणा बुद्ध, लूथर, टॉलस्टाय, ईसा अथवा मुहम्मद की व्याख्या नहीं कर सकती। इतिहास की आर्थिक व्याख्या के साथ-साथ इतिहास की अन्य व्याख्याएँ भी हैं। नीतिशास्त्र सम्बन्धी, राजनीतिक, भाषा-विज्ञान सम्बन्धी, धार्मिक, वैज्ञानिक, कानून सम्बन्धी तथा सौन्दर्य सम्बन्धी—ये सभी ऐतिहासिक व्याख्याएँ हैं। आर्थिक व्याख्या से जातिगत पक्षपात, अन्धविश्वास, महत्त्वाकांक्षा, लैंगिक आकर्षण तथा अधिकार, नाम और प्रसिद्धि की आकांक्षा पर प्रकाश नहीं पड़ता। इसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि किसी आर्थिक कारण से प्रेरित होकर ही अशोक ने युद्ध का परित्याग किया था। भारत के विभाजन का प्रमुख कारण आर्थिक न होकर धार्मिक ही था। द्वितीय महायुद्ध के अनेक कारणों में एक

उग्र राष्ट्रवाद था। मार्क्स इतिहास में केवल ग्रार्थिक तथ्य को ही निर्णायक मानने की धुन मे यह भूल बैठा था कि प्रत्येक परिवर्तन मे कोई एक कारण कार्य नही करता। अनेको कारणों के योग से एक कारण चिनगारी बन जाता है और व्यवस्था बदल जाती है। उसे इतिहास के निर्माण मे अर्थेतर कारणों को भी उचित स्थान देना चाहिए था।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद पर इस आपत्ति के उत्तर मे मार्क्सवादी यही कह सकता है कि सिद्धान्त वास्तव मे इतना एकांगी नही है जितना इसे बतलाया जाता है। आर्थिक कारणो मे विचारो का योग भी सम्मिलित है। वैज्ञानिक और प्राविधिक ज्ञान उत्पादन के साधनो का महत्वपूर्ण भाग है। सन् 1890 मे ऐंजिल्स ने स्वय एक पत्र मे स्पष्टीकरण करते हुए लिखा था कि मैं और मार्क्स आंशिक रूप से इस बात के लिए उत्तरदायी हैं कि कभी-कभी "हमारे शिष्यो ने आर्थिक कारक पर उचित से अधिक बल दिया है। हमारे जो विरोधी उससे इकार करते थे, उनके विरोध मे हम उनके आधारभूत चरित्र पर बल देने को विवश हो और ऐतिहासिक प्रक्रिया मे अन्य तत्वो की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया की समुचित व्याख्या करने के लिए हमारे पास सदैव न तो समय था, न स्थान और न कोई अवसर ही।"[1]

ऐंजिल्स ने जिन अन्य कारको का उल्लेख किया है यदि मार्क्सवादी उनमे विविध मानवीय भावनाओ को, चाहे वे निकृष्ट ही हो, सम्मिलित करने के लिए सहमत हो तो मार्क्स की धारणा का विरोध पर्याप्त सीमित हो जाता है। लेकिन जब ऐंजिल्स अपने पत्र मे यह दावा करता है कि 'आर्थिक स्थिति आधार है और अन्य तत्त्व सतही है' तो महत्वपूर्ण मतभेद यथावद् विद्यमान रहता है। यह नही माना जा सकता कि मूलशक्ति केवल आर्थिक तत्त्व है और शेष सब तत्त्व निस्रोतात्मक (Derivative) हैं तथा महत्व की दृष्टि से द्वितीय श्रेणी के हैं और आर्थिक सम्बन्धो के आधार पर आश्रित ऊपरी ढाँचे के भाग हैं। आलोचको की यह मान्यता बहुत कुछ सही है कि धर्म, नीति, दर्शन, मानवीय भावनाएँ, व्यक्तिगत प्रतिस्पर्द्धाएँ आदि भी स्वतन्त्र और समान तत्त्व हैं। यह अवश्य है कि विभिन्न कालो मे उनका प्रभाव एक-दूसरे से घटता बढता रहा है। जहाँ आर्थिक प्रणालियाँ विचारधाराओ की जनक हैं, वहाँ विचारधाराएँ भी आर्थिक प्रणालियो की उत्पत्ति कारण है। उदाहरणार्थ, सन् 1917 की क्रान्ति के बाद रूस मे जन्म लेने वाली सोवियत पद्धति साम्यवादी विचारधारा की सृष्टि थी तो इटली मे जन्म लेने वाली फासिस्ट प्रणाली फासिज्म की उपज थी।

2. मार्क्स का यह कथन कि उत्पादन-शक्तियो से उत्पादन-सम्बन्ध निर्धारित होते हैं, सही नहीं है। आज इस वैज्ञानिक युग मे अमेरिका और रूस मे लगभग एक समान उत्पादन यन्त्र और प्राविधिक आधार होने पर भी उत्पादन के सम्बन्धो मे काफी अन्तर है। अमेरिका मे जहाँ बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे पूँजीपतियो के हाथ मे हैं वहाँ रूस मे इन पर राज्य का स्वामित्व है।

1 Quoted by *Wayper* : Political Thought, p. 202.

3. मार्क्स का यह कहना भी सत्य नहीं है कि जिसके पास आर्थिक शक्ति होती है, वही राजनीतिक शक्ति का उपभोग करता है। शक्ति प्राप्त करने का साधन केवल आर्थिक नहीं होता। प्राचीन काल में भारत में ब्राह्मणों और मध्यकालीन यूरोप में पोप ने अर्थेतर कारणों से शक्ति प्राप्त की थी तो वर्तमान युग में अधिनायकवाद की स्थापना मुख्यतः सैन्य-शक्ति द्वारा होती है। बुद्धिमत्ता, साहस, छलछद्म आदि तत्व भी सत्ता प्राप्त करने में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं।

4. मार्क्स ने यूरोप के लगभग 2000 वर्षों के इतिहास को ही अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाया था। सम्भवतः भारत, चीन और मिस्र की प्राचीन सभ्यताओं पर उसकी दृष्टि नहीं गई। आदिम साम्यवाद आदि का वर्णन उसकी एक कल्पना है जिसके पक्ष में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

5. मार्क्स द्वारा इतिहास का मुख्य चार युगों (अर्थात् आदिम युग, दास-युग, सामन्त युग और पूंजीवादी युग) में विभाजन त्रुटिपूर्ण है। अपने ऐतिहासिक विकास की व्याख्या को युक्तिसंगत बनाने के लिए उसने शताब्दियों के इतिहास को तोड़-मरोड़ दिया जो उसके द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के प्रतिकूल दिखायी देता है। मानव-शास्त्र (Anthropology) मार्क्स के आदिम साम्यवाद (Prim't ve Communism) की व्याख्या से सहमत नहीं है। यदि ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार ऐतिहासिक विकास की अवस्थाओं में पूंजीवादी अवस्था भी निश्चित है तो इतिहास की भौतिक व्याख्या करने वालों से पूछा जा सकता है कि "पूंजीवाद का विकास विशेष रूप से पश्चिमी देशों में ही क्यों हुआ ?"

6. मार्क्स ने इतिहास की 'आर्थिक व्याख्या' में 'धर्म' को बड़ा निम्न स्तर प्रदान किया है। मार्क्स ने धर्म को नशा और एक झूठी सांत्वना माना है और इस प्रकार धर्म के प्रति अविश्वास एवं अज्ञान प्रकट किया है। वह भूल जाता है कि मानव में उच्चतम आध्यात्मिक मूल्यों के विकास के लिए धर्म ही एकमात्र आधार है और स्वयं सोवियत रूस में भी आज तक धर्म का अन्त नहीं हो पाया है।

7. मार्क्स की ऐतिहासिक व्याख्या उसने अपने विचारों की पुष्टि का इतिहास है। "जिस प्रकार हीगल ने ऐतिहासिक विकास की मानसिक पूर्णता अपने ही समय की जर्मन परिस्थितियों में सीमित कर देने के लिए प्रकृति को बाध्य किया है उसी प्रकार मार्क्स ने भी अपने समय की परिस्थितियों में जर्मनी में ही प्रकृति के भौतिक विकास को पूर्णता देखने के लिए प्राकृतिक शक्तियों को बाध्य करने की चेष्टा की है।" मार्क्स ने अपनी उत्पादन-शक्तियों का अन्तिम उद्देश्य साम्यवाद को माना है जिसके प्राप्त होते ही विकास का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। लेकिन सृष्टि का विकास न रुकने वाला है और न किसी एक ओर मुड़ने वाला है। सार्वजनिक विकास का भारतीय चतुर्युग दर्शन अभी तक भी ऐतिहासिक व्याख्या में सर्वाधिक प्रमाणित मालूम होता है।

8. मार्क्स के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के सिद्धान्त में अन्तर्विरोध भी है। एक स्थान पर वह कहता है कि इतिहास का क्रम एक आन्तरिक आवश्यकता

के कारण स्वतः ही निश्चित होता है और अपने प्रयत्नों से मनुष्य उसे प्रभावित नहीं कर सकता, तो दूसरी ओर उसका यह भी कहना है कि श्रमिक क्रान्ति से ही समाजवाद की स्थापना सम्भव है।

9. मार्क्स का मत है कि इतिहास की धारा राज्यविहीन समाज पर जाकर रुक जाएगी, किन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि समाज की अन्तिम साम्यवादी व्यवस्था में क्या पदार्थ में अन्तर्निहित गुण 'गतिशीलता' बदल जाएगा? यदि पदार्थ की 'गतिशीलता' एक स्वाभाविक कारण है तो आवश्यक है कि वाद, प्रतिवाद और सश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा उसमें उस समय भी परिवर्तन होगा, उत्पादन के साधन बदलेंगे, सामाजिक परिस्थितियाँ बदलेंगी, फिर वर्गहीन समाज का 'प्रतिवाद' (Antithesis) उत्पन्न होगा और फिर साम्यवाद अस्त-व्यस्त हो जाएगा। मार्क्स इस सम्बन्ध में मौन है।

10 इतिहास की आर्थिक व्याख्या में मार्क्स का यह कथन कि ऐतिहासिक विकास के पूँजीवादी युग में बुर्जुआ और श्रमिक वर्ग के बीच कटुता में निरन्तर वृद्धि होगी, पूँजीवादी अधिक धनी और श्रमिक अधिक निर्धन होते जाएँगे—वर्तमान तथ्यों की कसौटी पर सही नहीं उतरता। अमेरिका जैसे पूँजीवादी देश में पूँजीपतियों और श्रमिकों के मध्य कटुता में वृद्धि नहीं हुई है और श्रमिक वर्ग निर्धन होने की अपेक्षा अधिक धन कमाने लगा है।

11 मार्क्स का यह कहना है कि समाज के कानून, उसकी राजनीतिक और सामाजिक प्रणालियाँ उसकी आर्थिक प्रणाली से ही निर्धारित होती हैं तथा उसमें परिवर्तन आने पर शेष सभी परिवर्तित हो जाते हैं। पर सम्भवतः इस प्रश्न का उत्तर देने में मार्क्स गम्भीर कठिनाई का अनुभव करेगा कि "ईसाई धर्म को एक दूसरे से इतनी भिन्न जातियों ने क्यों स्वीकार कर लिया जैसे कि एक ओर तो सभ्य रोमन तथा दूसरी ओर अर्द्ध-बर्बर स्लाव तथा आयरिश जातियाँ?" मार्क्सवाद इस बात का भी कोई उत्तर नहीं देता कि "एक ही आर्थिक पृष्ठभूमि के लोग सर्वथा भिन्न विचारधाराओं को क्यों स्वीकार कर लेते हैं, और समाज के प्रवर्तकों का, जिनमें स्वयं मार्क्स और ऐंजिल्स तथा उन्नीसवीं शताब्दी के श्रम-आन्दोलन के अधिकांश नेता सम्मिलित हैं, आविर्भाव सम्पत्तिशाली वर्ग में क्यों हुआ?" वास्तव में इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या मनुष्य के समस्त तथ्यों की व्याख्या की दृष्टि से काफी अपूर्ण है।

12. मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या अर्थेतर तत्त्वों की उपेक्षा तो करती ही है, वह इतिहास में आकस्मिक तत्त्वों (Contingent Elements) के लिए भी कोई स्थान नहीं छोड़ती। इतिहास ऐसे सैकड़ों उदाहरणों से भरा पड़ा है जहाँ अनेक लघु अर्थेतर आकस्मिक तत्त्वों के प्रभाव के कारण महत्त्वपूर्ण परिणाम घटित हुए हैं। एक रुग्ण व्यक्ति और श्मशान भूमि को ले जाते हुए एक शव के दृश्य ने गौतमबुद्ध का जीवन-प्रवाह ही बदल दिया था। यदि सन् 1917 में जर्मन सरकार लेनिन को रूस लौट जाने की अनुमति न देती तो रूस के इतिहास की उसके

बाद की पूर्ण दिशा ही कुछ और होती। इसी तरह यदि इंग्लैण्ड की रानी ऐलिजाबेथ प्रथम विवाह कर लेती और उससे कोई सन्तान उत्पन्न होती तो इंग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड के मध्य सम्बन्ध उनसे अवश्य ही भिन्न होते जो इन दोनो के एकीकरण के फलस्वरूप हुए।

स्पष्ट है कि मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद पर्याप्त त्रुटिपूर्ण है। किन्तु इतिहास की इस आर्थिक व्याख्या से सहमत होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि मार्क्स ने सामाजिक संस्थाओ मे आर्थिक कारको पर बल देकर समाजशास्त्र की महान् सेवा की है। इतिहास को बदलने मे आर्थिक शक्तियां एकमात्र कारण चाहे न रही हो, परन्तु इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि इतिहास को बदलने मे आर्थिक शक्तियो का योग सर्वाधिक रहा है। सेबाइन के अनुसार, "मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इतिहास की आर्थिक व्याख्या के महत्त्व के सन्दर्भ मे यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि इसने टेक्नॉलॉजी, आवागमन के साधन, कच्ची सामग्री के वितरण, सम्पत्ति के वितरण, सामाजिक वर्गों के निर्माण, प्राचीन और वर्तमान राजनीति, विधि और नैतिकता तथा सामाजिक आदर्शों के निर्माण मे आर्थिक शक्तियो के प्रबल प्रभाव पर प्रकाश डाला है।"

वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त

(The Theory of Class Struggle)

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त ऐतिहासिक भौतिकवाद की ही उपसिद्धि (Corollary) है और साथ ही यह अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) के भी अनुकूल है। मार्क्स ने आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism) की सबसे महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति इस बात मे देखी कि समाज मे सदैव ही विरोधी आर्थिक वर्गों का अस्तित्व रहा है। एक वर्ग वह है जिसके पास उत्पादन के साधनो का स्वामित्व है और दूसरा वह जो केवल शारीरिक श्रम करता है। पहला वर्ग सदैव ही दूसरे वर्ग का शोषण करता है। समाज के शोषक और शोषित—ये दो वर्ग सदा ही आपस मे संघर्षरत रहे हैं और इनमे समझौता कभी सम्भव नही है।

समाज की मीमांसा म मार्क्स वर्ग को ही मुख्य इकाई मानता है। विभिन्न वर्गों की जीवन-शैली, उनके स्वार्थ तथा सांस्कृतिक आदर्श भिन्न होते हैं। वर्ग-सगठन का आधार है उत्पादन-प्रक्रिया मे व्यक्ति का स्थान। वर्ग-सगठन के अपने सिद्धान्त मे 'मार्क्स मुख्य रूप से दो ऐसे वर्गों की कल्पना करता है जो आधुनिक समाज में सक्रिय राजनीतिक इकाई हैं। इनमे से एक मध्य-वर्ग है जो नगरो मे रहता है और व्यापार मे लगा होता है। यह नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताओ मे विशेष रुचि लेता है। दूसरा वर्ग औद्योगिक सर्वहारा-वर्ग है। यह भी नगरो मे रहता है लेकिन यह वर्ग राजनीतिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा आर्थिक सुरक्षा को ज्यादा महत्व देता है। आधुनिक समाज मे इन दोनो वर्गों के बीच सघर्ष होता रहता है।" मार्क्स की मान्यता है कि अन्ततः इस सघर्ष मे सर्वहारा वर्ग की विजय होगी और उसी वर्ग का आधिपत्य स्थापित होगा।

मार्क्स के अनुसार वर्ग-युद्ध का सिद्धान्त विश्व-इतिहास की व्याख्या के लिए अचूक औषधि है। वर्ग-संघर्ष का इतिहास ही मानव-जाति का इतिहास है। विश्व-इतिहास आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के लिए विरोधी वर्गों में संघर्षों की श्रृंखला है। इतिहास का निर्माण करने वाले सामाजिक आन्दोलन वर्ग-आन्दोलन होते हैं। प्रत्येक काल में और प्रत्येक देश में आर्थिक और राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए निरन्तर महान् आन्दोलनों को जन्म देते रहे हैं। "प्राचीन रोम में कुलीन सरदार, साधारण मनुष्य तथा दास होते थे। मध्य-युग में सामन्त, सरदार, जागीरदार, संघस्वामी, कामदार, अपरेंटिस तथा सेवक होते थे। प्रायः इन समस्त वर्गों में इनकी उपश्रेणियाँ होती थीं। ये समूह अर्थात् दमन करने वाले तथा दलित, निरन्तर एक दूसरे का विरोध करते थे। इनमें कभी खुलकर और कभी छिपकर निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। प्रत्येक समय इस युद्ध के परिणामस्वरूप या तो समाज की क्रान्तिकारी पुनर्रचना होती थी या संघर्षरत दोनों वर्ग नष्ट हो जाते थे।"

मार्क्स ने सामाजिक वर्गों के संघर्षों तथा विरोधों में इतिहास की व्याख्या की कुन्जी खोजकर कोई विशिष्ट कार्य नहीं किया है। उसकी विशेषता तो इस बात में है कि उसने वर्ग-विरोध के केवल एक ही कारण—आर्थिक भेद—पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है। स्वयं मार्क्स ने यह स्वीकार किया है कि समाज का भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजन का सिद्धान्त उसके पूर्ववर्ती पूँजीवादी इतिहासवेत्ताओं को विदित था, किन्तु उसने सामाजिक वर्ग-विभाजन को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अर्थात् बदलती हुई उत्पादन-क्रिया की पृष्ठभूमि में देखा और यह भी विशेष रूप में कहा कि सर्वहारा का अधिनायकत्व पूँजीवादी समाज का नाश करेगा। वर्ग-विभाजन के सिद्धान्त का बीज प्लेटो और अरस्तू में विद्यमान है तथा थिमटानले, उब्रियन और सन्त साइमन के अनुयायियों में भी पाया जाता है, किन्तु ऐतिहासिक द्वन्द्ववादी दृष्टिकोण अपना कर मार्क्सवादियों द्वारा उत्पादन-क्रिया पर आश्रित वर्गों के समस्त इतिहास की व्याख्या का प्रयास व्यापक है। उनकी दृष्टि में समाजवाद का लक्ष्य वर्गों के सिर्फ विशेषाधिकारों को ही नहीं अपितु समस्त वर्गों का ही मूलोच्छेद करना है।

वर्गों के विरोध आधुनिक समाज में भी विद्यमान हैं। विशेष बात केवल यह है कि इस युग में नवीन वर्ग है, दमन के नवीन रूप हैं और उनकी नवीन प्रणालियाँ हैं तथा संघर्ष के नवीन रूप हैं। प्राचीन और नवीन वर्गों में मुख्य अन्तर यह है कि आधुनिक युग में वर्ग-विरोध पूर्वापेक्षा बहुत सरल हो गया है। आधुनिक समाज दो बड़े गुटों—पूँजीवाद और श्रमिकवाद में विभाजित है और ये गुट एक दूसरे के आमने-सामने पूरी शक्ति से डटे हुए हैं। यह आधुनिकतम संघर्ष अर्थात् शोषक पूँजीपतियों और शोषित श्रमिकों के बीच संघर्ष पाश्चात्य सभ्यता की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस संघर्ष का मार्क्स ने बड़ा गहन विश्लेषण किया।

मार्क्स का कहना है कि पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता है। श्रमिकों के अभाव में पूँजीपतियों के कारखाने बेकार पड़े रहेंगे

और यदि पूँजीपति श्रमिकों को कारखानों मे नियुक्त नही करेंगे तो वे बेरोजगार हो जाएंगे और भूखो मरने लगेंगे। लेकिन चाहे दोनो को एक दूसरे की कितनी भी आवश्यकता हो, दोनो के हितो मे सघर्ष अनिवार्य है जिसमे अन्तिम विजय श्रमजीवी वर्ग की ही होती है। मार्क्स के अनुसार, "जिन शस्त्रो से बुर्जुआ ने सामन्तवाद का अन्त किया, वे ही शस्त्र अब सम्पत्तिशाली वर्ग के विरुद्ध प्रयुक्त हो रहे हैं।"

यह उल्लेखनीय है कि मार्क्स ने बुर्जुआ (Bourgeois) तथा श्रमजीवी (Proletariat) शब्दो की स्पष्ट रूप से कही भी व्याख्या नही की है। श्रमजीवी वर्ग की केवल एक परिभाषा उपलब्ध है जो ऐंजिल्स की दी हुई है। इसके अनुसार, "श्रमजीवी वर्ग समाज का वह वर्ग है जो अपने जीविकोपार्जन के लिए पूर्ण रूप से अपने श्रम के विक्रय पर निर्भर होता है न कि पूँजी के द्वारा प्राप्त लाभ पर। उसका सुख-दुख, जीवन-मरण और उसका सम्पूर्ण अस्तित्व उसके श्रम की माँग पर निर्भर होता है।" जहाँ तक 'बुर्जुआ' का प्रश्न है, सम्भवतया लेनिन ने भी कहा था कि बुर्जुआ उस सम्पत्ति का स्वामी है जिसका उपयोग वह श्रमजीवी के श्रम से प्रबंध लाभ प्राप्त करने के लिए करता है अर्थात् वह श्रमिको से काम लेने के लिए उन्हें अपनी सम्पत्ति पर नियुक्त करता है किन्तु उन्हे उनके श्रम के अनुपात मे मजदूरी नहीं देता। मार्क्स कहता है कि पूँजीपति स्वाभाविक रूप से मजदूरो को कम से कम वेतन देना और उनसे अधिक से अधिक काम लेना चाहते हैं जबकि श्रमिक अपने श्रम का अधिकतम मूल्य प्राप्त करना चाहते हैं। दुर्भाग्यवश इस द्वन्द्व मे श्रमिक ही घाटे मे रहते हैं। श्रम नाशवान् होता है, अत उनके श्रम का क्रेता शीघ्रता से मिलना चाहिए, अन्यथा उस श्रम का सग्रह नहीं किया जा सकता। क्षुधा और अभाव की स्थिति मे श्रमिक लम्बी प्रतीक्षा नही कर सकता और फलत पूँजीपति के सामने झुकने को विवश हो जाता है। इस तरह की स्थिति पूँजीपतियो और मालिको के हाथो मे शोषण का एक महान् अस्त्र सौंप देती है जिसे श्रमिक कभी पसन्द नहीं करते। शोषण के विरुद्ध चेतना जाग्रत होने पर श्रमिको द्वारा शोषण पूँजीपतियो के विरुद्ध विद्रोह होते हैं और उनके विनाश के निरन्तर प्रयत्न किए जाते हैं। इस तरह उत्पादन की प्रत्येक प्रणाली मे इन दोनो वर्गों मे एक स्थायी विरोध उत्पन्न हो जाता है। मार्क्स के अनुसार कुछ ऐसे और भी कारण हैं जो इन दोनो वर्गों मे सघर्ष को बढावा देते हैं। पूँजीपति जो उत्पादन के साधनो के स्वामी होते हैं, समाज के आर्थिक जीवन पर तो नियन्त्रण रखते ही हैं, वे सामाजिक, वैधानिक और राजनीतिक सस्थाओ को भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के अनुकूल बना लेते हैं। शासन-सत्ता उन्ही के हाथ मे होती है जिसका वे ऐसे कानून बनाने मे अनुचित प्रयोग करते हैं जिनमे उनकी स्वार्थ-सिद्धि होती हो।

मार्क्स की निश्चित धारणा है कि "इस सघर्ष का अनिवार्य परिणाम पूँजीवाद का विनाश और सर्वहारा वर्ग की विजय के रूप मे होगा।" पूँजीवाद के अन्दर ही उसके विनाश के बीज छिपे होते हैं। मार्क्स पूँजीवाद के अवश्यम्भावी विनाश के अनेक अन्य कारणो पर विस्तार से प्रकाश डालता है जो सक्षेप मे ये हैं —

(i) पूँजीवाद मे व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से ही उत्पादन—पूँजीवादी व्यवस्था मे उत्पादन समाज के हित और उपभोग को ध्यान में न रख कर विशेष रूप से व्यक्तिगत लाभ के लिए होता है जिसके फलस्वरूप समाज की मांग और उत्पादित माल में सामञ्जस्य स्थापित नही हो पाता।

(ii) पूँजीवाद में विशाल उत्पादन तथा एकाधिकार की ओर प्रवृत्ति—पूँजीवादी व्यवस्था मे बड़े पैमाने पर उत्पादन एव एकाधिकार की प्रवृत्ति होती है जिसके परिणामस्वरूप थोड़े से व्यक्तियो के हाथो मे पूँजी एकत्र हो जाती है और श्रमिको की सख्या बढ़ती जाती है। इस तरह पूँजीवादी वर्ग अपने विनाश के लिए स्वय श्रमजीवी वर्ग को शक्ति प्रदान करता है।

(iii) पूँजीवाद आर्थिक सकटों का जन्मदाता—पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली समय-समय पर आर्थिक सकट उत्पन्न करती है। बहुधा उत्पादन श्रमिक वर्ग की क्रय-शक्ति से अधिक हो जाता है, तब लाभ की कोई आशा न रहने से पूँजीपति उत्पादित माल को नष्ट करके माल का कृत्रिम अभाव पैदा करते है और इस तरह अस्थायी आर्थिक सकटो को जन्म देते हैं। पूँजीवाद की इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग एव सामान्य जनता मे घोर असन्तोष व्याप्त होता है जो पूँजीवाद द्वारा अपनी मौत को स्वय आमन्त्रित करता है।

(iv) पूँजीवाद में अतिरिक्त मूल्य पर पूँजीपतियो का अधिकार—पूँजीवाद मे उत्पादन वैयक्तिक लाभ के लिए किया जाता है, अत पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य को अपने पास रख लेता है जबकि न्याय की दृष्टि से यह मूल्य श्रमिक को मिलना चाहिए। अतिरिक्त मूल्य वह मूल्य है जो श्रमिक द्वारा उत्पादित माल की वास्तविक कीमत और उस वस्तु की बाजार कीमत का अन्तर होता है। पूँजीपति इसे श्रमिकों से छीनकर उनका शोषण करता है।

(v) पूँजीवाद में व्यक्तिगत तत्त्व की समाप्ति—पूँजीवादी प्रणाली मे श्रमिक के वैयक्तिक चरित्र का लोप होकर उसका यन्त्रीकरण हो जाता है। इस प्रणाली मे श्रमिक स्वाभिमान खोकर यन्त्रो का केवल दास मात्र बन जाता है और इससे उसकी सृजनात्मक शक्ति को भी धक्का लगता है। इस पतनावस्था से अन्तत. श्रमिक वर्ग मे चेतना का उदय होता है और पूँजीवाद के विनाश के लिए कटिबद्ध हो जाता है।

(vi) पूँजीवाद श्रमिको की एकता मे सहायक—पूँजीवाद श्रमिको मे असन्तोष फैलाकर उन्हे एकता की ओर अग्रसर करता है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी प्रणाली मे अनेक उद्योग एक स्थान पर एकत्र हो जाते हैं जिनमे लाखो श्रमिक काम करते है। ये श्रमिक परस्पर मिलते-जुलते हैं जिससे उन्हे पारस्परिक कष्टो को समझने व अपने सगठन को सुदृढ बनाने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इस तरह पूँजीवादी विकेन्द्रीकरण सुदृढ श्रमिक सगठन को जन्म देता है जो पूँजीवाद का प्रबल विरोध करता है।

(vii) पूँजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक आन्दोलन का जन्मदाता—पूँजीवाद मे होने वाला तीव्र विकास विश्व के अनेक देशों को एक दूसरे के समीप लाता है। जब पूँजीपति उत्पादित माल को अपने देश मे नही खपा पाते तो वे दूसरे देशो मे मण्डियो की खोज करते है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न देशो के श्रमिकों को परस्पर सम्पर्क मे आने का अवसर मिलता है। इस तरह राष्ट्रीय सीमाओ को तोड कर श्रमिक-आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लेता है और तब श्रमिक मार्क्स के साथ विश्व के सभी श्रमिक मिलकर पूँजीवाद के विरुद्ध एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति का सूत्रपात करेंगे जो पूँजीवाद की जड़ें खोखली कर समाजवाद की स्थापना करेगी।

मार्क्स के अनुसार इन सभी कारणो से पूँजीवाद स्वत अपने विनाश की ओर बढ़ता जाता है। मार्क्स का विश्वास था कि श्रमजीवी वर्ग की क्रान्ति के बाद श्रमजीवी वर्ग का अधिनायक-तन्त्र स्थापित हो जाएगा जिसमे शनै-शनै सम्पत्तिशाली वर्ग के अन्तिम अवशेष भी समाप्त कर दिए जाएँगे और उसके पश्चात् एक वर्गहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी। पूँजीवाद के विनाश के लिए श्रमिक वर्ग किस प्रकार तैयार होगा और किस तरह समाजवाद की स्थापना होगी—इन सब बातो का उल्लेख मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' मे किया है। लास्की (Laski) के मतानुसार 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' एक सर्वकालिक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अभिलेख है। लास्की ने इसकी तुलना सन् 1776 के 'अमेरिकी स्वातन्त्र्य घोषणा' (American Declaration of Independence) और सन् 1789 के फ्रांसीसी अधिकारों की घोषणा' (French Declaration of Rights) से की है। 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' मे मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना आधुनिक रूप मे की है, अतः इस पर पृथक् से कुछ लिखना आवश्यक है।

मैनीफेस्टो (Manifesto)

मैनीफेस्टो का आरम्भ ही इस सामान्य कथन से होता है कि "आज तक के सम्पूर्ण समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।" मार्क्स और ऐंजिल्स ने इस घोषणा-पत्र मे वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त का प्रयोग वर्तमान समाज के समस्त नियमो को समझने की कुञ्जी के रूप मे किया है। इसमे पूँजीपति वर्ग (Bourgeois) तथा सर्वहारा वर्ग (Proletariat) के बीच 19वी शताब्दी के संघर्ष का सर्वोत्तम वर्णन है। इसमे केवल इस संघर्ष का ही वर्णन नही है, वरन् क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के लिए एक कार्यक्रम की रूपरेखा भी प्रस्तुत की गई है और उन्हे पूँजीवादी वर्ग पर अन्तिम विजय का आश्वासन दिया गया है। मैनीफेस्टो मे यह घोषणा की गई है कि वर्तमान युग मे वर्ग-संघर्ष बहुत ही सरल हो गया है। हमारा समाज दो विशाल विरोधी वर्गों मे विभक्त होता जा रहा है—पूँजीवादी वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग। दोनो वर्ग विकास की विविध अवस्थाओं मे से गुजरते हैं। पूँजीपति वर्ग के उत्थान और पूँजीवादी प्रणाली की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए मार्क्स कहता है कि—

1. पूँजीवादी वर्ग उत्पादन-यन्त्रो मे क्रान्ति लाए बिना और इसके द्वारा उत्पादन के सम्बन्धो व साथ ही समस्त ही सामाजिक सम्बन्धो मे परिवर्तन लाए बिना जीवित नहीं रह सकता।

2. उत्पादन के यन्त्रो मे निरन्तर परिवर्तन लाभ की दृष्टि से किया जाता है। 'लाभ के लिए उत्पादन' पूँजीवादी पद्धति की आधारभूत विशेषता है।

3 अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए पूँजीपति वर्ग बाजारो का विस्तार करने की ओर प्रवृत्त होता है। पूँजीवाद ने दूसरो से कच्चा माल खरीदने और उन्हे तैयार माल बेचन के कारण एक विश्व-व्यापी स्वरूप धारण कर लिया है। "प्रतिगामियो के हृदय मे तीव्र रोष उत्पन्न करते हुए इसने उद्योग के नीचे से वह राष्ट्रीय आधार निकाल लिया है जिस पर वह खड़ा हुआ था। समस्त प्राचीन राष्ट्रीय उद्योग नष्ट कर दिए गए है अथवा नित्य-प्रति नष्ट किए जा रहे हैं।"

4. पूँजीपतियो के उत्पादन के ढग का एक अन्य लक्षण उनकी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति है। व्यवसाय की अधिकाधिक वृद्धि के साथ ऐसे व्यक्तियो की सख्या कम होती जाती है जो कारोबार मे काफी पूँजी लगा सकें। इस प्रकार बडे पूँजीपति छोटे पूँजीपतियो को बाहर निकाल फेंकते हैं। फलस्वरूप पूँजी थोडे से बडे पूँजीपतियो के हाथो मे एकत्र हो जाती है और उद्योग एकाधिपत्य का रूप धारण कर लेते हैं। "पूँजीवादी व्यवस्था के कारण ही बडे नगरो मे जनसख्या का केन्द्रीकरण हुआ है, उद्योगो का केन्द्रीकरण हुआ है तथा सम्पत्ति का पूर्वापेक्षा कुछ व्यक्तियो के हाथो मे एकत्रीकरण हुआ है।"

5 उत्पादन-साधनो मे द्रुत सुधारो एव सन्देशवाहन और यातायात की सुविधाओ के विकास द्वारा पूँजीवाद ने पिछडे राष्ट्रों को सभ्यता की परिधि मे ला दिया है और उन्हे पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति अपनाने को विवश कर दिया है।

6 महान् उत्पादन-शक्ति तथा यान्त्रिक एव वैज्ञानिक विकास को जन्म देने के बावजूद पूँजीवादी प्रणाली की उपयोगिता अब समाप्त हो चुकी है। पूँजीवादी समाज की स्थिति आज उस जादूगर के समान है जो उस मायावी ससार की शक्तियो पर नियन्त्रण करन मे स्वय असमर्थ है जिन्हे उसने स्वय के जादू द्वारा उत्पन्न किया है। पूँजीवादी समाज अब पतनोन्मुख है, स्वय द्वारा उत्पन्न किए हुए विशाल धन को अपने मे समेट सकने मे असमर्थ है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन के कारण बार-बार नवीन सकट उत्पन्न होते है। स्वय ही अपने अर्जित धन को विशाल मात्रा में नष्ट करके इन सकटो को दूर करने के प्रयत्न किए जाते हैं। लेकिन इन बार-बार आने वाले सकटो का सामना करने के लिए जो भी साधन अपनाए जाते हैं, वे उन सकटो को और भी अधिक तीव्र तथा भीषण बना देते है। ये लक्षण पूँजीवादी की आन्तरिक अस्थिरता को प्रकट करते हैं। वास्तव मे स्थिति यह है कि पूँजीवाद वर्ग ने जिन शस्त्रों का निर्माण किया है उन्हीं से उसका विनाश होगा। "पूँजीवाद ने ऐसे मनुष्यो को जन्म दिया है जो उन शस्त्रो का उपयोग करेंगे और वे मनुष्य है आधुनिक श्रमिक।" प्रारम्भ मे सघर्ष व्यक्तिगत पूँजीपतियो तथा व्यक्तिगत मजदूरो के बीच होता है। परन्तु शीघ्र ही यह दोनो वर्गों के बीच सगठित सघर्ष का रूप धारण कर लेता है।

7. श्रमिक वर्ग भी उसी अनुपात से बढ़ता है जिस अनुपात से पूँजीवादी वर्ग का विकास होता है। पूँजीवादी प्रणाली के प्रसार के साथ-साथ श्रमिक वर्ग भी संख्या, शक्ति और संगठन की दृष्टि से बलशाली हो जाता है क्योंकि—

(i) पूँजीवादी पद्धति में यन्त्रीकरण की वृद्धि होती है, यन्त्रीकरण में वृद्धि से कार्यकुशलता की उपेक्षा होती है तथा श्रमिक एक यन्त्र मात्र बन जाता है। शिल्पकार, छोटे दूकानदार एवं निम्नतर श्रेणी के मध्य वर्ग के लोग यन्त्रीकरण से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण अपने व्यवसाय छोड़ने के लिए बाध्य हो जाते हैं और श्रमजीवी वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं। खेतिहर श्रमिक भी, जिन्हें भूमि से विलग होना पड़ता है, श्रमजीवी वर्ग की संख्या बढ़ाते हैं।

(ii) अपनी बढ़ती हुई सभ्यता एवं व्यक्तिगत चरित्र के कारण श्रमिकों में वर्ग-चेतना का उदय होता है जिसके परिणामस्वरूप उनकी शक्ति का विकास होता है।

(iii) पूँजीवादी पद्धति में उत्पादन का केन्द्रीकरण होता है, अत हजारों श्रमिक छोटे-छोटे क्षेत्रों में एकत्र हो जाते हैं और इस स्थिति में उन्हें अपनी कठिनाइयों और आवश्यकताओं का पूर्वापेक्षा अधिक ज्ञान होता है, वे पारस्परिक सहयोग की ओर अग्रसर होते हैं, उनकी वर्ग-चेतना बलवती होती है और इन सब बातों का पूँजीपति-स्वामियों के साथ संघर्ष में प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। श्रमिक संगठित होकर अपने लिए अधिक सुविधाओं और अधिक वेतन की माँग करते हैं। उनके संगठनों का स्वरूप राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हो जाता है। अब संघर्ष व्यक्तिगत पूँजीपतियों के विरुद्ध न रह कर सम्पूर्ण पूँजीवादी प्रणाली के विरुद्ध हो जाता है। वर्ग-चेतना जिस गति से अथवा जिस अनुपात से विकसित होती है उसी अनुपात में श्रमिक वर्ग की शक्ति में भी वृद्धि होती है। उद्योगों के केन्द्रीकरण श्रमिक वर्ग में आम हड़ताल द्वारा समाज के सम्पूर्ण ढाँचे को अस्त-व्यस्त करने की सामर्थ्य पैदा हो जाती है।

(iv) निरन्तर बढ़ते हुए बाजारों, सन्देशवाहन और यातायात के साधनों की पूँजीवादी व्यवस्था सम्पूर्ण विश्व के श्रमिकों में विचार-विनिमय सम्भव बना देती है और श्रमिक-आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय रूप प्रदान करती है। जब श्रमिक-आन्दोलन पहले राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय राज्य के विधान के अन्तर्गत होता है तो उसका अभिप्राय यही होता है कि यह संघर्ष एक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय नाटक की भूमिका मात्र है। जो क्रान्ति पहले राष्ट्रीय होती है वही बाद में अन्तर्राष्ट्रीय बन जाती है।

'मैनीफेस्टो' उपर्युक्त क्रान्ति के परिणामों की भविष्यवाणी करते हुए उद्घोष करता है कि अन्त में पूँजीपति वर्ग अपने विनाश को प्राप्त होगा तथा सर्वहारा वर्ग का अस्थायी अधिनायकत्व स्थापित होगा जिसका प्रमुख कार्य शेष पूँजीपतियों को उत्पादन के साधनों से वंचित कर उन्हें बलपूर्वक सम्पत्ति-विहीन कर देना होगा। तब उत्पादन के सम्पूर्ण साधन राज्य के नियन्त्रण में आ जाएँगे और राज्य पर नियन्त्रण केवल एक वर्ग अर्थात् श्रमिक वर्ग का होगा। यह कहना अधिक सत्य होगा कि सर्वहारा क्रान्ति के बाद जिस समाज की स्थापना होगी वह वर्ग-रहित समाज होगा।

उस समय समस्त वर्गीय संघर्ष का अन्त हो जाएगा और इसके साथ ही उस दमनकारी राज्य की भी समाप्ति हो जाएगी जिसका हमें अनुभव है।

पूँजीवाद जिस प्रकार उन परिस्थितियों का सृष्टा होता है जो स्वयं उसी का विनाश कर देती हैं इसका सारांश कोकर ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"इस तरह पूँजीवादी व्यवस्था श्रमिकों की संख्या में वृद्धि करती है, उन्हें समूहों में संगठित करती है, उनमें वर्ग-चेतना उत्पन्न करती है, उन्हें विश्व-व्यापी स्तर पर सहयोग करने तथा परस्पर मिलने-जुलने के साधन प्रदान करती है तथा उनकी क्रिया-शक्ति को कम कर और उनका अधिकाधिक शोषण कर उन्हें संगठित विरोध करने के लिए प्रेरित करती है। पूँजीपति, जो अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं के अनुसार तथा उस लाभ पर आधारित प्रणाली को कायम रखने के लिए प्रतिक्षण ऐसी परिस्थितियों को जन्म दे रहे हैं जिनसे एक ऐसे समाज का निर्माण करने के अस्वाभाविक प्रयत्नों को (श्रमिकों के) स्फूर्ति तथा बल मिलता है जो एक श्रमिक समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल होगा।"

'मैनीफेस्टो' में समाज के भावी रूप का विस्तृत वर्णन नहीं है। केवल इतना ही कहा गया है कि समाज में कोई भेदभाव नहीं होगा न कोई केन्द्रीय दमनकारी सत्ता ही होगी। उनमें वस्तुओं का उत्पादन उपभोग के लिए किया जाएगा, मुनाफे के लिए नहीं। दूसरे शब्दों में उसमें सर्वाधिक सामाजिक उपयोगिता की वस्तुओं के उत्पादन पर जोर दिया गया है। घोषणा-पत्र में भावी राज्य के विषय में कहा गया है कि "जब विकास-क्रम में वर्गीय भेद-भाव समाप्त हो जाएँगे और समस्त उत्पादन सम्पूर्ण राष्ट्र की विशाल संस्था के हाथों में केन्द्रित हो जाएगा, तो लोकसत्ता राजनीतिक नहीं रहेगी। राजसत्ता एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर अत्याचार करने की संगठित सत्ता का ही नाम है। यदि सर्वहारा वर्ग पूँजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष-काल में परिस्थितिवश अपने वर्ग का संगठन करने के लिए बाध्य होता है और यदि क्रान्ति के साधन द्वारा वह शासक वर्ग बन कर पुरातन उत्पादन-व्यवस्था का बलपूर्वक अन्त कर देता है, तो इस प्रकार वह इसके साथ ही वर्ग-विरोध के अस्तित्व के लिए आवश्यक अवस्थाओं का तथा सामान्यतया वर्गों का ही विनाश कर देता है और स्वयं अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। पुराने पूँजीवादी समाज के स्थान पर (जिसमें वर्ग-भेद तथा वर्ग-द्वेष विद्यमान होते हैं) हम एक ऐसी संस्था स्थापित कर लेते हैं जिसमें सबके स्वतन्त्र विकास का आधार प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास होता है।"

मार्क्स का कार्यक्रम (Marx's Programme of Action)

"मार्क्स के आर्थिक नियतिवाद अतिरिक्त मूल्य, वर्ग-युद्ध अधीन तथा भविष्य के सामाजिक विकास एवं क्रान्ति की प्रक्रिया सम्बन्धी विचारों से उसको व्यावहारिक समाजवाद की प्रणाली अर्थात् उसके कार्यक्रम के लिए तार्किक आधार प्राप्त होता है। यदि समस्त सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण उत्पादन के सम्बन्धों से होता है, तो प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के दोषों का निवारण इन सम्बन्धों में परिवर्तन द्वारा ही हो सकता है। यदि प्रचलित व्यवस्था में पूँजीपति ब्याज-भाड़े तथा मुनाफे के

रूप मे मजदूरो के श्रम के उत्पादन का अधिकांश भाग प्राप्त करते हैं, तो व्यक्तिगत
सम्पत्ति के स्वामित्व की प्रणाली का अन्त कर उत्पादन की ऐसी व्यवस्था स्थापित
करना उचित है जिसमें भाड़े, मुनाफे तथा ब्याजखोरी के लिए कोई स्थान ही न रह
यदि पूँजीवादी व्यवस्था मे विकास की अनिवार्य प्रवृत्ति ऐसी है जिससे स्वय वह
व्यवस्था निर्बल होगी और उसका विनाश होगा तो जब मजदूर उपलब्ध साधनो का
उपयोग ऐसी स्थिति प्राप्त करने मे करते हैं जिसमे उत्पादन के साधनो पर से
पूँजीपतियो का नियन्त्रण हटाकर उन्हे अपने नियन्त्रण मे ले लें, तब वे केवल
घटनाओ की स्वाभाविक प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हो रहे हैं—वे सामाजिक विकास
के पथ पर हैं, उसके विरुद्ध नहीं। इस प्रकार तर्क और तथ्यों तथा घटनाओ की
प्रगति से मजदूरो को अपना कार्यक्रम ज्ञात होता है।"

मार्क्स के इस राजनीतिक कार्यक्रम का स्पष्टतम विवरण 'मैनीफेस्टो' मे दिया
गया है। इसके द्वितीय भाग मे समाजवाद की स्थापना के लिए मार्क्स ने एक निश्चित
कार्यक्रम प्रस्तुत किया है जिसे अपनाकर श्रमिक अपनी सम्भावित श्रेष्ठता को
वास्तविक श्रेष्ठता मे परिवर्तित कर सकते हैं, अपने आत्मप्रेरित आर्थिक संघर्ष को
जानबूझ कर नियोजित राजनीतिक संघर्ष के रूप में बदलने के लिए अपने आपको
तैयार कर सकते हैं और अन्ततः पूँजीवादी वर्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर
सकते हैं।

मार्क्स के कार्यक्रम का पहला चरण है श्रमजीवी वर्ग को शासक वर्ग के पद
पर प्रतिष्ठित करना अर्थात् 'प्रजातन्त्र-संग्राम मे विजयी होना।' अपने उद्देश्य की
प्राप्ति के लिए श्रमिको को अपना संगठन एक उत्पीड़ित वर्ग के रूप मे करना चाहिए
और स्वय को ऊँचा उठाकर 'शासक वर्ग' की स्थिति मे ले जाना चाहिए। हर देश
के श्रमिको को चाहिए कि वे प्रजातन्त्र के विरुद्ध संघर्ष मे विजय प्राप्त करने के
लिए स्वय को शासक वर्ग की स्थिति मे पहुँचाने के लिए स्वय को एक राजनीतिक
दल मे संगठित करें और सामान्य निर्वाचन-पद्धति द्वारा निर्वाचक-मण्डल एव राष्ट्रीय
संसद मे बहुमत प्राप्त करने का प्रयत्न करें। यदि किसी देश मे शासक वर्ग सैनिक
बल के आधार पर बहुमत प्राप्त सर्वहारा वर्ग को राजनीतिक नियन्त्रण का वैध
अधिकार प्राप्त करने से वंचित करने का प्रयत्न करे तो श्रमिको को चाहिए कि वे
अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए संगठित होकर बल प्रयोग करें। "इस प्रकार
शासन-तन्त्र पर शान्तिपूर्वक या बल-प्रयोग द्वारा नियन्त्रण प्राप्त करने पर उन्हे
अपनी सर्वोच्चता को सुरक्षित करना चाहिए और यह कार्य उन्नत जनतन्त्र के
परिचित उपायो द्वारा होना चाहिए जैसे सार्वभौमिक मताधिकार (Universal
Sufferage), प्रत्यक्ष लोक निर्वाचन (Direct Popular Election) और प्रमुख
अधिकारियो (विधानसभा, प्रशासन तथा न्याय विभाग सम्बन्धी) का जनता द्वारा
प्रत्याह्वान (Recall) की प्रस्थापना, स्थायी सेना के स्थान पर 'सशस्त्र जनता का
संगठन, स्वतन्त्र सार्वजनिक शिक्षा, राज्याधिकारियो को श्रमिकों के समान ही वेतन
देना' आदि राजनीतिक योजना की यही समाजवादी विशेषता है।"[1]

1 कोकर: आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 58.

अपनी राजनीतिक सर्वोच्चता सुरक्षित कर लेने के उपरान्त श्रमिकों को अपने प्रमुख कार्य पूँजी के सामाजीकरण (Socialization) की ओर उन्मुख होना चाहिए। पूँजी के सामाजीकरण की यह प्रक्रिया क्रमिक होगी क्योंकि पूँजीवाद इतना क्षीण नहीं है कि उसे एक ही चोट में समाप्त किया जा सके। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत पूँजीवादी राज्यों में मान्यता प्राप्त एवं संरक्षित सम्पत्ति के अधिकारों तथा उत्पादन की पूँजीवादी स्थितियों पर शनैः-शनैः नियन्त्रण करना होगा। इसके लिए किए जाने वाले उपाय सभी राज्यों में समान नहीं हो सकते। 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' के अनुसार 'अत्यन्त उन्नतिशील देशों' के लिए तात्कालिक उपाय ये हैं—(1) भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त एवं भूमि के सभी प्रकार के लगान का सार्वजनिक उद्देश्य के लिए प्रयोग, (2) यातायात तथा सचार-साधनों का राज्य द्वारा केन्द्रीकरण, (3) साख (Credit) तथा बैंकों पर राज्य का एकाधिकार और एक राष्ट्रीय बैंक की स्थापना, (4) उत्तराधिकार के अधिकारों का अन्त, (5) उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ भारी आयकर, (6) देश से भागे हुए और देशद्रोहियों की सम्पत्ति की जब्ती, (7) कारखानों में बालकों को काम में लगाने पर प्रतिबन्ध एवं सब बालकों के लिए निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था, (8) सबके लिए समान रूप से काम की व्यवस्था, औद्योगिक सेवाओं विशेषकर कृषि सेनाओं की स्थापना, (9) कृषि का उद्योग के साथ सम्मिश्रण, एवं (10) राज्य के कारखानों और उत्पादन के साधनों का विस्तार।

'घोषणा-पत्र' में कहा गया है कि क्रमिक सामाजिक सुधार का यह कार्यक्रम तभी प्रारम्भ होगा जब श्रमिकों का राज्य पर अधिकार स्थापित हो जाएगा। किन्तु मार्क्स के भाषणों से प्रतीत होता है कि यदि किसी समाजवादी शासन में सरकार उपर्युक्त कार्यक्रम लागू करे तो उसमें श्रमिक वर्ग सरकार को योग दे सकता है। सन् 1847 के 10 घण्टे काम का ब्रिटिश कानून (British Ten Hours Act) को मार्क्स ने श्रमिकों के लिए नैतिकतापूर्ण और आर्थिक रूप से लाभप्रद बतलाया था।

मार्क्स सामान्यतया नीति के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक वक्तव्य देने के विरुद्ध था। उसका विचार था कि इनमें आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिए मजदूरों के व्यापक सहयोग में बाधा पड़ती है। सन् 1871 में उसने कहा था कि "मजदूरों के पास कोई ऐसे तैयार आदर्श नहीं हैं जिन्हें वे जनता की आज्ञा पर प्रयोग में ला सकें। वे यह जानते हैं कि उन्हें अपनी मुक्ति प्राप्त करने और इसके साथ समाज को उच्च स्थिति में लाने के लिए, जिसकी ओर वह दुर्निवार रीति से अपने ही आर्थिक साधनों द्वारा बढ़ रहा है, दीर्घकालीन संघर्षों, परिस्थितियों एवं मनुष्यों को अनेक परिवर्तनशील ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में से गुजरना होगा।" चार वर्ष बाद गोथा-प्रोग्राम की आलोचना करते हुए उसने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "दर्जनों कार्यक्रमों की अपेक्षा यथार्थ आन्दोलन का एक कदम कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।"

मार्क्स ने अपना कार्यक्रम प्रस्तावित करते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि समाजवादी क्रान्ति तभी हो सकती है जब उत्पादन की आधुनिक शक्तियों और पूँजीपतियों की उत्पादन-शक्तियों में विरोधी हो अथवा बहुसंख्यक सर्वहारा वर्ग के

संकटों एवं कष्टों के कारण उनमें विरोध उत्पन्न हो जाए। कोकर के अनुसार "मार्क्स के अनेक उत्तरकालीन भाषणों में गुप्त षड्यन्त्रकारी कार्यों के प्रति सन्देह तथा शिक्षा, आन्दोलन, सहकारिता संगठन और राजनीतिक दलगत कार्यों की सफलता में आस्था एवं विश्वास की भावना प्रकट होती है। इनको वह श्रमजीवियों के लिए राजनीतिक परिपक्वता एवं शक्ति प्राप्त कर सकने के श्रेष्ठतर साधन समझने लगा था जिनकी सहायता से वे उपयुक्त समय पर शासनतन्त्र को हस्तगत कर सकेंगे।"

मजदूरों द्वारा सर्वोच्चता प्राप्त करने के सम्बन्ध में मार्क्स ने अपने वक्तव्यों, लेखों और ग्रन्थों में विभिन्न और कहीं-कहीं अस्पष्ट विचार व्यक्त किए हैं, अतः उसके विचारों की एकदम सही अभिव्यक्ति करना कठिन है। वैसे मार्क्स ने साधारणतया यह स्वीकार किया था कि राजसत्ता प्राप्त करने के साधन विभिन्न देशों और विभिन्न समयों में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। किसी काल और स्थान में सीधी आर्थिक कार्यवाही तो किसी स्थान में क्रान्ति और कहीं राजनीतिक आधिपत्य की शनैः-शनैः प्राप्ति ही ठीक तरीका हो सकता है। मार्क्स का दृष्टिकोण अनुभव-मूलक था। वह संगठित हिंसा का समर्थन उस स्थिति में करता था जब समाजवादी लोग हिंसात्मक ढंग से राजसत्ता प्राप्त कर सकने हों किन्तु समस्त प्रचलित सामाजिक अवस्थाओं में परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक होने पर ही शारीरिक बल प्रयोग द्वारा न होकर वैध साधनों द्वारा राजनीतिक बहुमत की प्राप्ति से होगा जिसके पश्चात् राजनीतिक (किन्तु आवश्यक रूप से वैध या कानूनी) साधनों द्वारा पूँजीपति धीरे-धीरे सम्पत्ति से वंचित कर दिए जाएँगे। मार्क्स की मान्यता थी कि सशस्त्र विद्रोह उसी दिशा में करना चाहिए जबकि स्थिति उसके अनुकूल हो और उसकी सफलता की सम्भावना हो। मार्क्स जब क्रान्ति तथा पूँजीवाद का 'बलपूर्वक विनाश' शब्दों का प्रयोग करता था तब उसका हत्याओं तथा अग्निकाण्ड से आशय कदापि नहीं था। एक ओर उसने समय से पूर्व क्रान्ति का विरोध किया और दूसरी ओर जब तक परिस्थिति अनुकूल न हो तब तक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का विरोध किया, चाहे वह वैध उपायों से ही क्यों न की जा सकती। उसने कहा, "यदि अपने विकास के स्वाभाविक नियमों का आविष्कार करने के लिए समाज बड़े साहसिक कदम उठा कर एक उचित मार्ग पर अग्रसर हो भी गया हो तो भी वह कानूनों द्वारा स्वाभाविक विकास की अवस्थाओं में उत्पन्न बाधाओं को दूर नहीं कर सकता।"[1]

मार्क्स यद्यपि सिद्धान्तवाद का विरोधी था और अपनी व्यूह-रचना में अनेक प्रकार के समझौते करने के लिए भी तैयार था तथापि उसके सिद्धान्त के विकासवादी और क्रान्तिकारी दोनों पक्षों में वर्ग-संघर्ष मूलभूत है। यह वास्तव में उसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षाओं का केन्द्र-बिन्दु है। अन्त में, यद्यपि मार्क्स का विश्वास था कि श्रमिकों को राज्य पर अपना आधिपत्य जमा लेना चाहिए और 'सर्वहारा वर्ग का क्रान्तिकारी या वर्गीय अधिनायकत्व' (*Revolutionary or Class*

[1] कोकर: आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 63

Dictatorship of the Proletariat) स्थापित कर लेना चाहिए तथापि वह यह भी मानता था कि अन्ततोगत्वा यह राज्य भी विलुप्त हो जाएगा क्योंकि जब उसके द्वारा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लक्ष्य की प्राप्ति हो जाएगी तो उसकी सत्ता एवं शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। यह स्मरणीय है कि 'सर्वहारा-वर्ग का क्रान्तिकारी या वर्गीय अधिनायकत्व' शब्दों के प्रयोग से मार्क्स का यह अभिप्राय नहीं था कि निरंकुश राजकीय सत्ता का एक अथवा अधिक व्यक्तियों द्वारा प्रयोग होगा और उसका आधार इतना बल-प्रयोग होगा जो सब प्रकार से कानूनों की परिधि के बाहर हो। मार्क्स का अभिप्राय केवल यह था कि नवीन राजनीतिक सत्ता-सम्पन्न वर्ग द्वारा पूर्व सत्ताधारी सम्पन्न वर्ग पर अधिकार करने पर पदच्युत सत्ता के समय के कानून बाध्यकारी नहीं होंगे।

यह कहा जा सकता है कि मार्क्स का कार्यक्रम कुल मिलाकर विकासवादी और क्रान्तिकारी दोनों है। यह विकासवादी इस रूप में है कि मार्क्स के अनुसार 'पूँजीवादी समाज में से समाजवादी समाज का आविर्भाव क्रमिक रूप से और पूँजीवादी समाज के उत्तरोत्तर तथा स्वाभाविक ह्रास के फलस्वरूप होगा।" यह इस सीमा तक भी विकासवादी है कि मार्क्स के अनुसार प्रजातान्त्रिक परम्पराओं वाले देशों में भी श्रमिक अपने उद्देश्यों की पूर्ति शान्तिमय उपायों से कर सकते हैं। मार्क्स का कार्यक्रम निश्चित रूप से क्रान्तिकारी इस रूप में है कि वह वर्तमान प्रणाली के शव पर नवीन प्रणाली की स्थापना के लिए हिंसा और क्रान्ति को आवश्यक समझता है। उसका विश्वास था कि जिन देशों में परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हैं, वहाँ वर्ग-युद्ध, हिंसा और क्रान्ति के बिना आधारभूत सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन होना असम्भव है। मार्क्स का कार्यक्रम क्रान्तिकारी इसलिए भी था क्योंकि वह यह बलपूर्वक प्रस्थापित करता है कि पूँजी और श्रम के हितों में शाश्वत विरोध है तथा वर्ग-संघर्ष एक अटल ऐतिहासिक आवश्यकता है। इस दृष्टिकोण से भी यह क्रान्तिकारी है कि यह "अपने आदर्श के विरुद्ध विशिष्ट हितों के लिए कोई सम्मान नहीं रखता और परिस्थिति अनुकूल होने पर अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोई भी कदम उठाने को तत्पर रहता है। औपचारिक अथवा परम्परावादी औचित्य की धारणाएँ इसे नहीं रोक सकतीं।" 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' में मार्क्स की यह घोषणा भी इसके क्रान्तिकारी होने की पुष्टि करती है—

"साम्यवादी स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि उनका लक्ष्य समस्त प्रचलित अवस्थाओं को बलपूर्वक उलट देने से ही प्राप्त हो सकेगा। शासक वर्ग साम्यवादी क्रान्ति से कम्पायमान हों। श्रमजीवी वर्ग के पास शृंखलाओं के अतिरिक्त खोने को और कुछ भी नहीं है। सारा विश्व उनकी विजय के लिए है।"

वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त काफी वजनदार है। समाज में सामाजिक वर्गों के अस्तित्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता। प्रायः प्रत्येक सभ्य समाज में धन, सम्पत्ति, पद, वर्ण, प्रतिभा आदि के आधार पर भेद विद्यमान रहे हैं। यह भी सत्य

है कि राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के लिए विभिन्न वर्ग-संघर्ष ऐतिहासिक घटनाओं के निर्धारण में योग देते रहे हैं। प्राचीन भारत में राजनीतिक प्रभुता की प्राप्ति के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विभिन्न वंशों में संघर्ष होता रहता था; प्राचीन यूनान में धनतन्त्रवादियों और जनतन्त्रवादियों में शक्ति के लिए संघर्ष चलता रहता था और प्राचीन रोम तथा अन्य देशों में भी बहुत कुछ ऐसी ही परिस्थितियाँ थीं। मार्क्स ने इतिहास में सामाजिक वर्गों के महत्त्व पर बल देकर समाजशास्त्र की एक बहुत बड़ी सेवा की है। वही प्रथम विचारक है जिसने ऐतिहासिक घटनाओं की वर्ग-हित और वर्ग-प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में व्याख्या की है। मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के पक्ष में यह एक बड़ा प्रमाण है कि इतिहास में सम्भवतः ऐसे उदाहरण बहुत कम होंगे जब समाज के शोषित वर्ग की ओर से संघर्ष हुए बिना ही शासक वर्ग ने अपने अधिकारों का परित्याग कर दिया हो। जो कुछ भी अधिकार शोषित वर्ग ने प्राप्त किए हैं वे उसे कठिन संघर्ष के फलस्वरूप ही मिल पाए हैं।

लेकिन यह सब होते हुए भी मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त कटुतम आलोचना का विषय रहा है। इस सिद्धान्त के विपक्ष में दिए जाने वाले तर्क मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

1. समाज में केवल दो ही वर्ग नहीं हैं। आधुनिक युग में एक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण मध्यमवर्ग का भी विकास हुआ है। इस वर्ग में प्रबन्धक, कुशल कारीगर, अफसर, वकील, डॉक्टर, इन्जीनियर आदि सम्मिलित हैं। इस तरह मार्क्स की यह घोषणा कि समाज में सदा ही दो वर्ग रहेंगे, गलत सिद्ध हो रही है। सेबाइन ने ठीक ही लिखा है कि—"यदि मार्क्स इंग्लैण्ड को अपना आदर्श मानना (इंग्लैण्ड में पूँजीवादी कृषि-व्यवस्था और मध्यम वर्ग की प्रधानता रही है) तो सम्भवतः उसका वर्गों का विश्लेषण यह न होता।"[1] चूँकि मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को विरोधी तत्त्वों के द्वन्द्वात्मक विरोध में देखा, इस कारण वह केवल दो मुख्य विरोधी वर्गों की स्थिति के लिए बाध्य था परन्तु इसके परिणामस्वरूप उसकी कई भविष्यवाणियाँ गलत सिद्ध हुईं। मार्क्स ने जिन दो वर्गों की चर्चा की है, उनकी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं दी है, अतः फ्रांसीसी श्रमिक संघवादी सोरल (Sorel) ने तो मार्क्सवादी वर्ग को 'एक अमूर्त कल्पना' तक की संज्ञा दे दी है।

2. मार्क्स का यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से गलत सिद्ध होता है कि निम्न मध्यम वर्गीय और छोटे-छोटे बुर्जुआ अन्त में श्रमजीवी वर्ग के साथ मिल जाएँगे। उद्योग-प्रधान समाजों में वेतनभोगी कर्मचारियों, बिचौलियों, व्यावसायिक लोगों और छोटे दुकानदारों की वृद्धि हुई है जिन्हें मार्क्स की योजना में छोटे बुर्जुआ ही कहा जा सकता है। लेकिन फासिज्म ने यह प्रमाणित कर दिया है कि इस प्रकार के लोग सर्वहारा वर्ग में शामिल होने का इतना तीव्र विरोध करते हैं जिसकी मार्क्स कल्पना भी नहीं कर सकता था।

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृ. 719.

3. मार्क्स ने यह भूल की है कि उसने सामाजिक वर्गों और आर्थिक वर्गों को एक ही समझा तथा वर्ग-संघर्ष को शोषक एवं शोषित वर्गों के बीच युद्ध बताया ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों या धनतन्त्रवादियों या पेट्रीशियनों और प्लीबियनों को आर्थिक वर्ग मान लेने से पहले वर्ग एवं वर्ग-चेतना की धारणाओं का उससे अधिक स्पष्ट एवं निश्चित विश्लेषण आवश्यक है जितना मार्क्स ने किया है। वास्तव में वर्ग-संघर्ष की धारणा में एकदम लिप्त होने के कारण और अपने क्रान्तिकारी उद्देश्य के लिए उसका प्रयोग करने की अधीर उत्सुकता के कारण मार्क्स ने वांछित गम्भीर विश्लेषण नहीं किया बल्कि इसका अत्यधिक सरलीकरण कर दिया। यह नहीं भूलना चाहिए कि इतिहास में किसी भी समय सामाजिक वर्गों में वह दृढ़ता और उद्देश्य की एकता नहीं रहती जो वर्ग-संघर्ष के लिए आवश्यक है, उनमें आन्तरिक विरोध रहते हैं। पोपर के शब्दों में—

"वास्तव में शासक और शासित वर्गों के हित में आन्तरिक विरोध इतना गहरा है कि मार्क्स के वर्ग-सिद्धान्त को एक खतरनाक एवं अत्यधिक सरलीकरण समझा जाना चाहिए चाहे हम यह मान लें कि अमीर और गरीब के मध्य संघर्ष का हमेशा आधारभूत महत्त्व है। मध्यकालीन इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण विषय पोप और सम्राटों के बीच युद्ध शासक वर्ग के आन्तरिक विरोधों का एक उदाहरण है। उस संघर्ष को शोषक और शोषित के बीच संघर्ष की संज्ञा देना गलत होगा।"[1]

4. वस्तुतः मानवता का संचालक तत्त्व वर्ग-संघर्ष न होकर सामञ्जस्य की भावना है। समाज के अनेक वर्ग विभिन्नताओं के होते हुए भी एकता के सूत्र में बँधे रहते हैं। हर वर्ग में सामाजिकता की भावना निहित होती है और सभी वर्ग समाज के हित के लिए कुछ न कुछ कार्य करते हैं। मनुष्य में सहयोग, त्याग एवं सहानुभूति आदि के श्रेष्ठ गुण भी विद्यमान होते हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः समाज का विकास वर्ग-संघर्ष न होकर सामाजिकता, सामञ्जस्य एवं एकता की भावना से होता है। मार्क्स ने इस विश्वास की उपेक्षा कर निःसन्देह मानवता के प्रति एक अक्षम्य अपराध किया है।

5. मार्क्स की मान्यता है कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ श्रमिक वर्ग दीन हीन होते जाएँगे जिसके परिणामस्वरूप उनमें चेतना का प्रादुर्भाव होगा। किन्तु इतिहास ने मार्क्स की इस मान्यता को गलत सिद्ध कर दिया है। वास्तविकता यह है कि प्रथम महायुद्ध के बाद से इंग्लैण्ड में पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ श्रमिकों की समृद्धि में भी इतनी तेजी से वृद्धि हुई है कि वे आज पूँजीपतियों की समृद्धि में साझीदार बने हुए हैं। साथ ही मार्क्स की यह धारणा भी सत्य सिद्ध नहीं हुई है कि श्रमिक वर्ग में भी चेतना दृढ़तर होती जाएगी और समस्त कार्यकारी लोग एक हो जाएँगे। हम स्पष्ट देखते हैं कि समस्त वेतनभोगी व्यक्तियों में न तो श्रमिकवर्गीय चेतना ही आई है और न उनमें श्रमिक वर्ग के प्रति कोई सहानुभूति ही उत्पन्न हुई है।

1 *Poper :* The Open Society and its Enemies, p. 307.

6. वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय मार्क्स सम्भवतः यह कल्पना नहीं कर सका था कि पूँजीवाद स्वयं को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप ढाल सकेगा। इस भूल के कारण आज मार्क्स की पूँजीवाद के विनाश की धारणा केवल एक मृगतृष्णा बनकर रह गई है। आज पूँजीवाद ने उत्पादन-पद्धति में सुधार कर स्वयं को संकटों से मुक्त कर लिया है और परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढालकर श्रमिकों का बहुत कुछ समर्थन प्राप्त कर लिया है।

7. मार्क्स और ऐंजिल्स ने यह विचार प्रकट किया था कि श्रमिक वर्ग की क्रान्ति सन्निकट आ चुकी है क्योंकि पूँजीवाद अपने विनाश के लिए पक चुका है। मार्क्स ने यह भी कहा था कि क्रान्ति सर्वप्रथम सर्वाधिक औद्योगिक-प्रधान देशों में होगी। किन्तु मार्क्स का यह विश्वास अभी तक तो गलत ही प्रमाणित हुआ है। औद्योगिक दृष्टि से विकसित किसी भी देश में अभी तक कोई श्रमिक क्रान्ति नहीं हुई है।

8. मार्क्स ने यह भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवादी उत्पादन की विधि से धीरे-धीरे व्यवसायों का रूप विशाल हो जाएगा और अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्ट तथा कार्टेल (Cartel) बन जाएँगे। इस प्रकार पूँजी उत्तरोत्तर थोड़े से व्यक्तियों के पास संचित होती जाएगी। इस सिद्धान्त के विरोधियों का कहना है कि इस भविष्यवाणी का प्रथम भाग तो सिद्ध हो चुका है क्योंकि आजकल बड़े विशाल औद्योगिक एवं व्यापारिक संगठनों का निर्माण हो गया है तथापि पूँजी थोड़े व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित नहीं हो रही है। बड़े पूँजीपतियों के साथ-साथ छोटे पूँजीपति भी बने हुए हैं। मध्यम वर्ग का अन्त नहीं हो रहा है और इस मध्यम वर्ग के लोग सर्वहारा वर्ग में शामिल कर उसका विस्तार नहीं कर रहे हैं, जैसा कि मैनीफेस्टो में उल्लेख है। आधुनिक काल में मध्यम वर्ग सर्वहारा वर्ग की अपेक्षा पूँजीवादी वर्ग की ओर अधिक सहानुभूतिपूर्ण है।

9 मार्क्स की यह धारणा कि समस्त संसार के पूँजीपतियों का समान उद्देश्यों एवं हितों से संचालित होने वाला एक ही वर्ग है, सही नहीं है। सारे विश्व की बात तो छोड़िए, एक ही देश के असंख्य भूमिपतियों, कारखानों के स्वामियों और उद्योगपतियों को एक ऐसा सफल पूँजीवादी वर्ग नहीं समझा जा सकता जो वर्ग-चेतना से पूर्णतः प्रेरित हो और जिसमें वर्ग की एकता की भावना विद्यमान हो। यदि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से देखा जाए तो ब्रिटेन के पूँजीपतियों और भारत तथा जापान के पूँजीपतियों के कुछ भी हितों की समानता नहीं है, बल्कि यह कहना अधिक सत्य होगा कि उनके हितों में संघर्ष है। पूँजीपतियों की एकता तो सन्देहास्पद है ही, विभिन्न देशों के श्रमिकों के हितों में और भी कम एकता है। एक देश में पुरुष और स्त्री श्रमिकों, कुशल तथा अकुशल श्रमिकों और श्वेत तथा काले श्रमिकों या वर्णभेद के आधार पर श्रमिकों में जो सम्बन्ध पाए जाते हैं वे कार्ल मार्क्स की श्रमिक-एकता की धारणा को गलत सिद्ध करते हैं। स्वयं मार्क्स और ऐंजिल्स और नके आधुनिक अनुयायियों की श्रमिकों को संगठित होने की बार-बार अपीलें यह

सिद्ध करती है कि श्रमिको मे कोई स्वाभाविक एकता नही है। विश्व के श्रमिको मे अन्तर्राष्ट्रीय एकता की धारणा और 'श्रमिको का कोई राष्ट्र नही होता' की विचारधारा दोनो ही कल्पनाएँ मात्र ही सिद्ध हुई हैं। विगत दोनों विश्व-युद्धो में विश्व के सारे श्रमिक तथाकथित वर्ग-चेतना की उपेक्षा कर अपने-अपने राष्ट्रो की रक्षा करने मे तत्पर रहे हैं और आज भी वे राष्ट्र की सीमाएँ तोड नही पा रहे हैं। ये सब कारण हमे मानव-इतिहास को समझने की एक कुन्जी का काम कर वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त को ठुकराने को विवश करते हैं।

10. मार्क्स की इस मान्यता के विरुद्ध गम्भीरतम आक्षेप किया जाता है कि अन्त मे श्रमिक वर्ग की पूँजीवादी वर्ग पर विजय होगी और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो जाएगा। वर्ग-सघर्ष का अन्त निश्चित रूप से पूँजीवाद के विनाश और समाजवाद की स्थापना मे होगा। इसका कोई वैज्ञानिक आधार नही है। यह धारणा केवल आकांक्षा और आशा की अभिव्यक्ति है, तथ्यो पर आधारित तर्कसम्मत परिणाम नही। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि श्रमिको और पूँजीपतियो के बीच वर्ग-सघर्ष होगा और उसकी अन्तिम परिणति पूँजीवाद के उन्मूलन मे होगी, तो यह आवश्यक नही है कि सत्ता औद्योगिक श्रमिको के हाथ मे पहुँचेगी, फासिस्ट अधिनायकशाही जैसे अन्य विकल्प भी हैं। यह भी हो सकता है कि "पूँजीवाद के विनाश का परिणाम साम्यवाद न होकर अराजकता हो जिसमे से एक ऐसी तानाशाही का जन्म हो जाए जिसमे सैद्धान्तिक रूप मे साम्यवादी आदर्शों से कोई सम्बन्ध न हो।"[1] यह मानने के लिए भी कोई आधार नही है कि समस्त देशो मे वर्ग-युद्ध के एक से परिणाम ही होते हैं। जो कुछ रूस मे सम्भव हुआ वह इग्लैण्ड या फ्रांस मे सम्भव नही हो सका है। फासिज्म तथा नात्सीवाद का जन्म मार्क्स और ऐंजिल्स की शिक्षा के विरुद्ध हुआ। साम्यवाद की विजय उतनी निश्चित नही है जितनी मार्क्स और उसके साथी सोचते थे। इसके अतिरिक्त मार्क्स यह कही भी सिद्ध नहीं करता कि श्रमिक निश्चित रूप से प्रशासन चलाने की योग्यता से सम्पन्न होंगे।

11. वर्ग-सघर्ष का सिद्धान्त एक दूषित और हानिकारक सिद्धान्त है जो सहानुभूति, सहयोग एव भ्रातृत्व के स्थान पर घृणा के प्रचार की शिक्षा देता है। घृणा विश्व की उन्नायक कभी नही बन सकती। केटलिन का तो यहाँ तक कहना है कि "मार्क्स का वर्ग-सघर्ष का सिद्धान्त ही आधुनिक कष्टो, रोगो, यहाँ तक कि फासीवाद का भी जन्मदाता है।" सघर्ष विनाश का लक्षण है, निर्माण का नहीं। वह युद्ध का एक ऐसा नारा है जो एकदम 'निरुद्देश्य' है। यह सिद्धान्त अवश्य आत्महत्या के समान प्रमाणित होगा जैसा कि प्राचीन ग्रीस और साम्यवादी रोम मे प्रमाणित हुआ। यह सिद्धान्त रूप में मध्यवर्ग की सार्वजनिक हत्याओ तथा उनकी सम्पत्ति के पूर्ण अपहरण के लिए उत्तरदायी है।

1 *Laski* : Communism, p. 87-88.

प्रो. कोल (Cole) का विचार है कि 'मैनीफेस्टो' में श्रमिक वर्ग की क्रान्ति का मार्ग निर्धारित करते समय मार्क्स पर इंग्लैण्ड की तत्कालीन परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। उस समय इंग्लैण्ड में उत्पादन-वृद्धि के कारण पूँजीपति वर्ग समृद्धिशाली और श्रमिक वर्ग दरिद्र होता जा रहा था। औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन-शक्ति का विस्तार कर दिया था, तथापि धन की इस वृद्धि ने श्रमिकों को सुख-सुविधा देने की अपेक्षा उनके दुःख और उनकी अरक्षा को ही अधिक बढ़ाया था। फलतः श्रमिक अपने संघों का निर्माण करके संकटमुक्त होने का प्रयत्न करने लगे थे। सन् 1845 में रॉबर्ट ओवन के नेतृत्व में निर्मित 'Grand National Consolidated Trade Union' की विफलता के बाद उदित होने वाले 'चार्टिस्ट' आन्दोलन में घोर संकट के कारण भुखमरी के समस्त लक्षण मौजूद थे। ऐसी परिस्थितियों में मार्क्स की इस धारणा को बल मिलना अथवा उसका इस परिणाम पर पहुँचना स्वाभाविक था कि पूँजीवाद का विकास श्रमिकों की दशा को निरन्तर पतनोन्मुख करता है और पूर्णतया असन्तुष्ट श्रमिक कभी न कभी एक ऐसा शक्तिशाली राजनीतिक जन-आन्दोलन करेंगे जो पूँजीवाद को नष्ट कर देगा। यदि 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' दस वर्ष बाद की बदली हुई परिस्थितियों में तैयार, किया जाता अथवा संशोधित हो जाता तो सम्भवतः मार्क्स की धारणा कुछ भिन्न होती।

मार्क्स का मूल्य एवं अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
(Marx's Theory of Value and Surplus Value)

'अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त' (Theory of Surplus Value) का प्रतिपादन मार्क्स ने यह दिखाने के लिए किया है कि पूँजीवादी प्रणाली में पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों का किस प्रकार शोषण किया जाता है। इस सिद्धान्त का विवेचन 'दास केपिटल' में है। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस सिद्धान्त में मार्क्स यह वर्णन नहीं करता कि वस्तुओं की कीमत क्या होती या उसमें उतार-चढ़ाव आदि क्या होते हैं। मार्क्स का मूल्य-सिद्धान्त कीमतों का सिद्धान्त नहीं है। इस सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य तो यह प्रकट करना है कि पूँजीपति श्रमिक को यथायोग्य पारिश्रमिक नहीं देते। वे श्रमिकों में श्रम का मनमाना मूल्य अंकित कर उनका शोषण करते हैं और स्वयं ऐसा करते हैं।

मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त पर रिकार्डो के सिद्धान्त का प्रभाव है। अपने अर्थशास्त्र की मीमांसा की अमूर्त पद्धति उसने (मार्क्स) रिकार्डो से ग्रहण की। मूल्य का श्रम-सिद्धान्त (Labour Theory of Value) भी रिकार्डो से लेकर उसने उसे समाजवादी रूप दिया। फिर भी अपनी मौलिकता-प्रदर्शित करने के लिए मार्क्स कहता था कि रिकार्डो को श्रम के मूल्य के बदले श्रम-शक्ति (Labour Power) के विषय में विचार करना चाहिए। कोकर ने लिखा है कि, "मार्क्स ने पूँजीवाद के विकास और सामाजिक परिणामों की जो व्याख्या की है, उसका मुख्य तत्त्व उसका अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) का सिद्धान्त है जिसे उसके मूल्य के श्रम-सिद्धान्त (Labour Theory of Value) के आधार पर स्थिर किया था। मूल्य

के श्रम-सिद्धान्त का मन्तव्य यह है कि अन्त में किसी वस्तु का विनिमय-मूल्य उसके उत्पादन पर श्रम की मात्रा पर निर्भर है। यह सिद्धान्त मार्क्स से बहुत पहले अनुदार तथा उग्र सुधारवादी सिद्धान्त-शास्त्रियों में प्रचलित था। यह वास्तव में एक अंग्रेजी सिद्धान्त था जिसका प्रतिपादन 17वीं शताब्दी में सर विलियम पेरी ने किया था। उसके बाद अन्य ख्याति प्राप्त अर्थशास्त्रियों—मुख्यकर एडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो ने भी इस पर अनेक प्रकार से जोर दिया और इसमें संशोधन किया।" मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त पर रिकार्डो के प्रभाव को दर्शाते हुए प्रो. वेपर (Wayper) का कथन है कि "मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त रिकार्डो के सिद्धान्त का ही व्यापक रूप है जिसके अनुसार किसी भी वस्तु का मूल्य उसमें निहित श्रम की मात्रा के अनुपात में होता है, बशर्ते कि यह श्रम-उत्पादन की क्षमता के वर्तमान स्तर के तुल्य हो।"

मार्क्स के मूल्य के सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए सर्वप्रथम दो शब्दों—प्रयोग-मूल्य (Use Value) तथा विनिमय-मूल्य (Exchange Value) का अर्थ जान लेना चाहिए। प्रयोग-मूल्य का अर्थ वस्तु की उपयोगिता से है। किसी वस्तु में विनिमय-मूल्य तब होता है जब उसमें मानव-श्रम की कुछ मात्रा लग जाती है।

मार्क्स का मत है कि प्रत्येक वस्तु का प्रयोग-मूल्य (Use Value) इस बात पर निर्भर नहीं होता कि उस पर कितना मानव-श्रम व्यय होना है। उदाहरण के लिए वायु और जल पर कोई मानव-श्रम खर्च नहीं किया जाता, अतः उनका प्रयोग अथवा उपयोग-मूल्य होता है। किन्तु किसी वस्तु का विनिमय-मूल्य (Exchange Value) इसलिए होता है क्योंकि उस वस्तु के उत्पादन में मानव-श्रम व्यय होता है। उदाहरण के लिए एक घड़ी बनाने के लिए एक मजदूर को काफी श्रम करना पड़ता है, अतः उसका विनिमय-मूल्य होता है। इन दोनों को स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने लिखा है कि—"एक वस्तु का मूल्य इसलिए होता है कि उसमें मानव-श्रम का उपयोग हुआ है। तब इस मूल्य की मात्रा को कैसे मापा जाए? स्पष्टतः मूल्य की सृष्टि करने वाले तत्त्व की मात्रा वस्तुओं में निहित श्रम में है। श्रम की मात्रा का माप उसकी अवधि से होता है और श्रम-काल का माप सप्ताहों, दिवसों और घण्टों में होता है। अब यह स्पष्ट है कि जिसके द्वारा किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है, वह श्रम-काल या श्रम की मात्रा है जो उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक वस्तु को उसकी अपनी श्रेणी का औसत नमूना चाहिए। दो वस्तुओं के मूल्य का अनुपात उस पर खर्च श्रम-काल के अनुसार होता है।"

मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त के अनुसार श्रम ही वस्तुओं के वास्तविक मूल्य का सृष्टा है।

मार्क्स ने पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग में चलने वाले सतत् संघर्ष का मूल कारण अपने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को माना है। उसका तर्क है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस पर किए गए श्रम के अनुसार होता है। जिस वस्तु पर हम जितना

कम श्रम करना पडता है, वह उतनी ही सस्ती होती है। उदाहरण के लिए एक घडी को बनाने मे एक मजदूर काफी परिश्रम करता है, इसलिए उसका मूल्य सस्ता नहीं है जबकि एक फाउण्टेन पेन को बनाने मे उससे कम मेहनत करनी पडती है, अतः उसका मूल्य घडी से सस्ता होता है। हवा को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कोई मेहनत नही करनी पडती, अतः वह मुफ्त मे मिलती है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु के मूल्य का निर्धारक श्रमिक का श्रम है तथा जिस कीमत पर वह बाजार मे बिकती है, इसमे बहुत अन्तर होता है। मार्क्स इस अन्तर को वस्तु का अतिरिक्त मूल्य (*Surplus Value*) मानता है *जिसे बिना कुछ किए ही पूँजीपति बीच मे ही* हड़प जाता है। उदाहरण के लिए फ्लेक्स फैक्ट्री मे यदि एक मजदूर एक जूता-जोड़ा बनाता है तो उसे 8 मिलते हैं, और मान लो उस जूते-जोड़े मे लगने वाली सामग्री की कीमत 10 रुपया है, किन्तु वह जूता बाजार मे 25 रुपये का बिकता है, तो इस प्रकार 18 रुपये निकाल देने के बाद 7 रुपये उस जूते का अतिरिक्त मूल्य है *जिसे फैक्ट्री का मालिक बिना हाथ-पैर हिलाए हड़प जाता है।* ईमानदारी से यह मजदूरो को ही मिलना चाहिए था, किन्तु पूँजीपति मजदूरो की दरिद्रता का अनुचित लाभ उठाकर इस अतिरिक्त मूल्य से अपनी जेबें भरता है और उन्हे दरिद्रता तथा भूख से मुक्ति नही पाने देता। यही कारण है कि मालिक और श्रमिक के बीच की खाई बढती जा रही है और निरन्तर वर्ग-युद्ध चलता रहता है। अतिरिक्त मूल्य की *परिभाषा मे मार्क्स ने लिखा है कि "यह उन दो मूल्यो का अन्तर है जिन्हे एक* मजदूर पैदा करता है जो वह वास्तव मे पाता है।"

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का सार यह है कि प्रत्येक वस्तु का असली मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि उसके उत्पादन मे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी कितना श्रम व्यय हुआ है और "मार्क्स का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि इन अवस्थाओ (श्रमिको का शोषण आदि) को समाप्त करने का एकमात्र उपाय व्यक्तिगत भाडे, ब्याज और मुनाफे के सभी सुयोगो का विनाश है। यह परिणाम केवल समाजवादी *व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव है जिसमे व्यक्तिगत पूँजी का स्थान सामूहिक पूँजी* ले लेगी और तब न कोई पूँजीपति रहेगा और न मजदूर। सब व्यक्ति सहकारी उत्पादक बन जाएँगे।"[1]

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स ने इसके द्वारा तीन नियमो का प्रतिपादन किया था—

(i) पूंजी का सचय सिद्धान्त (The Law of Capitalist Accumulation) *अर्थात् पूँजीपति सदैव इस बात की ओर प्रयत्नशील रहते हैं कि मशीनों के* अधिकाधिक प्रयोग द्वारा श्रम की बचत और उत्पादन मे वृद्धि हो।

(ii) पूंजी के केन्द्रीकरण का सिद्धान्त (The Law of Concentration of Capital) जिसका आशय है कि प्रतियोगिता द्वारा पूँजीपतियो की सख्या मे कमी होगी, पूँजी का केन्द्रीकरण होगा जिस पर केवल कुछ व्यक्तियो का एकाधिकार स्थापित हो जाएगा और इस तरह से पूँजीपतियो का अन्त हो जाएगा।

1 कोकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 48–49.

(iii) कष्टों की वृद्धि का सिद्धान्त (The Law of Increasing Mise.y) जिसके अनुसार प्रतियोगिता के कारण पूँजीपति श्रमिकों का अत्यधिक शोषण करेंगे जिससे कष्टों में बहुत अधिक वृद्धि हो जाएगी, किन्तु इसके साथ-साथ श्रमिक वर्ग की क्रान्ति होगी। पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों की दशा शोचनीय होगी और वे अपनी सुरक्षा के लिए संगठित होकर क्रान्ति द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त करने में सफल होंगे।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

मार्क्स के मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का महत्त्व आर्थिक सत्य की अपेक्षा एक राजनीतिक तथा सामाजिक नारे के रूप में अधिक है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से यह सिद्धान्त गलत मान्यताओं पर आधारित है। यदि यह सत्य है कि श्रम के बिना पूँजी का उत्पादन नहीं हो सकता, तो यह बात भी उतनी ही सत्य है कि बिना पूँजी के श्रम भी उत्पादन नहीं कर सकता। उत्पादन में श्रम को ही एकमात्र सक्रिय और आवश्यक तत्त्व मानना तथा श्रम की मजदूरी को ही उत्पादन का मूल्य निश्चय करने में न्यायोचित अंग समझना गलत धारणा है। श्रम के अतिरिक्त बहुत से ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण एक वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है जैसे भूमि, पूँजी तथा संगठन अथवा संस्था। मार्क्स की यह भी गम्भीर भूल है कि उसने केवल शारीरिक श्रम को ही श्रम माना है और मानसिक श्रम की उपेक्षा की है। गुणात्मक ढंग से उत्कृष्ट बौद्धिक श्रम को शारीरिक श्रम का गुणनफल मानना हास्यास्पद है। पुनश्च, जब पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव हो तब यह श्रम-मूलक सिद्धान्त क्रियान्वित नहीं हो सकता। मूल्य के सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार उपयोग-मूल्य को ध्यान में रखना होगा।

अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त की आलोचना

1. यह सिद्धान्त सभी वस्तुओं पर लागू नहीं होता। यह यथार्थ और वास्तविक नहीं है और न ही तथ्यों पर आधारित है। पूँजीवाद में श्रमिकों के शोषण को प्रदर्शित करने के सिवाय इसकी और कोई उपयोगिता नहीं है।

2. मार्क्स के सिद्धान्त का यह मौलिक विचार ही गलत है कि वस्तु के मूल्य में श्रमिक को दी जाने वाली मजदूरी के सिवाय सम्पूर्ण अतिरिक्त मूल्य पूँजीपति द्वारा की जाने वाली चोरी है। मार्क्स भूल जाता है कि श्रम मूल्य को निर्धारित करने वाले अनेक तत्त्वों में से एक है। बिना पूँजी के श्रम व्यर्थ ही रहता है। श्रम की अपेक्षा यन्त्रों में पूँजी लगाने से अधिक लाभ होता है। वस्तुओं के उत्पादन के लिए पूँजी, मशीन, कच्चा माल, वैज्ञानिक ज्ञान, प्रबन्ध-कौशल, संगठन-क्षमता आदि आवश्यक रूप से अपेक्षित हैं क्योंकि इन सबके सहयोग के अभाव में श्रमिक केवल अपने श्रम से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं कर सकता। वस्तु के मूल्य-निर्धारण में श्रम के अलावा ये तत्त्व भी अपना निश्चित प्रभाव डालते हैं।

3. मार्क्स ने केवल शारीरिक श्रम को ही श्रम माना है, मानसिक श्रम की उपेक्षा

4. वस्तुओं के उत्पादन में श्रमिकों को उनका पारिश्रमिक देने के अतिरिक्त पूँजीपति को अन्य बहुत-सी बातों के लिए भी पर्याप्त धनराशि व्यय करनी पड़ती है जिसकी मार्क्स ने उपेक्षा की है। मार्क्स ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है कि कारखाने के सुधार, मशीनों की घिसावट, श्रमिकों को सुविधाएँ आदि पर पूँजीपतियों को बहुत कुछ व्यय करना पड़ता है और वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण करते समय इस व्यय को भी ध्यान में रखना पड़ता है। यह सारा व्यय मार्क्स के तथाकथित अतिरिक्त मूल्य से ही होता है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि अतिरिक्त मूल्य से स्वयमेव नई पूँजी का निर्माण होता है। यदि ऐसा होता तो पूँजीपति अपनी पूँजी उधार के लिए नित नई जोखिम उठाने और ब्याज, शेयर आदि के आधार पर पूँजी प्राप्त करने का प्रयत्न न करते।

5. मार्क्स की एक ओर तो यह मान्यता है कि पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य अथवा मुनाफा बढ़ाने के लालच में नई मशीनें लगाता है और दूसरी ओर यह भी कहता है कि मशीनों, कच्चे माल, आदि से कोई अतिरिक्त मूल्य प्राप्त नहीं होता। अतिरिक्त मूल्य तो केवल परिवर्तनशील पूँजी अथवा श्रमिकों से ही मिलता है। मार्क्स के ये दोनों ही कथन परस्पर-विरोधी हैं। इसके अलावा यदि अतिरिक्त मूल्य श्रमिकों से ही मिलता है तो पूँजीपतियों द्वारा मशीनें लगाकर श्रम को कम करने का प्रयत्न करना मूर्खता हो कहा जाएगा। वस्तुतः मार्क्स अपने परस्पर-विरोधी कथनों से स्वयं ही असंगतियों के जाल में फँस जाता है।

6. मार्क्स ने अपने ग्रन्थ 'कैपिटल' के प्रथम और तृतीय खण्ड में अतिरिक्त मूल्य के सम्बन्ध में विरोधी विचार प्रकट किए हैं। प्रथम खण्ड में उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि जिस उद्योग में श्रमिकों की संख्या अधिक होगी उसमें कम श्रमिकों वाले उद्योग की अपेक्षा अधिक लाभ होगा, पर वास्तव में ऐसा नहीं होता। सभी उद्योगों में लाभ की दर लगभग समान होती है। मार्क्स ने अपने ग्रन्थ के तीसरे खण्ड (अध्याय 9) में इस आपत्ति का उत्तर दिया है जो इतना अस्पष्ट है कि उसे पूरी तरह समझना कठिन है। प्रथम खण्ड में मार्क्स पदार्थों के विनिमय-मूल्य का प्रतिपादन किया है जबकि तीसरे खण्ड में वह कहता है कि वस्तुओं का विनिमय-मूल्य उत्पादन के दामों के आधार पर निश्चित होता है। ये दोनों ही विरोधी कथन बहुत असंगति पैदा करते हैं। इन असंगतियों के फलस्वरूप मार्क्स का मौलिक सिद्धान्त दूषित हो गया है।

7. मार्क्स ने अपने सिद्धान्त में मूल्य (Value), दाम (Price) आदि शब्दों का अस्पष्ट और अनिश्चित ढंग से प्रयोग किया है। उसने सामान्य मजदूरों और मिलमालिकों के बिच द्वन्द्व का वर्णन किया है वह भी काल्पनिक है। उसने सभी महत्त्वपूर्ण आर्थिक शब्दों की मनमानी व्याख्या की है जिससे उसका वास्तविक अभिप्राय समझना कठिन हो गया है।

8. इन आलोचनाओं के प्रकाश में यद्यपि मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त ग्राह्य नहीं है, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि यह सिद्धान्त एक ऐसा मूल्य तत्त्व है जो पूँजीवाद का हृदय हिला देने वाली विसंगतियों का उद्घाटन करता है। इस बात से इन्कार करना कठिन है कि पूँजीपतियों ने श्रमिकों की मेहनत पर अपनी विलासिता के महल खड़े किए हैं। चाहे उन्हें प्राप्त होने वाला सम्पूर्ण लाभ अतिरिक्त मूल्य न हो, परन्तु उनके लाभ का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा होता है जिसके वे किसी भी प्रकार के अधिकारी नहीं हैं। श्रमिकों और दरिद्रों की दयनीय अवस्था देखते हुए कहा जा सकता है कि उनकी इस अवस्था का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व पूँजीपतियों पर है। मार्क्स का अतिरिक्त-मूल्य का सिद्धान्त इस सत्य की पुष्टि करता है। कतिपय आलोचक यह मानते हैं कि मजदूर श्रम करते समय तो शोषित भले ही होता है, लेकिन बाद में स्वतन्त्र हो जाता है। इसके उत्तर में मार्क्स ने कहा है कि शोषण की गति नहीं रुकती। श्रमिकों का शोषण उपभोक्ता के रूप में भी होता है क्योंकि पूँजीपति द्वारा अधिक मूल्य पर बाजारों में विक्रय की हुई वस्तुएँ मजदूरों को भी खरीदनी पड़ती हैं। इस तरह कारखाने, बाजार आदि सब जगह शोषण-क्रम चलता रहता है। मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त को ठुकराते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिक को अपने श्रम का समुचित मूल्य नहीं मिल पाता।

मार्क्स का राज्य-सिद्धान्त
(The Marxian Theory of State)

मार्क्स के दर्शन पर अब तक जो कुछ कहा गया है उसमें मार्क्स का राज्य-सिद्धान्त बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। मार्क्स का राज्य-सिद्धान्त उसके इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की एक उपसिद्धि (Corollary) मात्र है। इस सिद्धान्त द्वारा पूँजीवाद के साम्यवादी व्यवस्था में आने के मूलतः क्रान्तिकारी स्वरूप पर और भी अधिक प्रकाश पड़ता है। मार्क्स इस बारे में मौन है कि क्रान्ति के बाद समाज की क्या रचना होगी और राज्य के क्या कार्य होंगे, तथापि उसकी और ऐंजिल्स की रचनाएँ राज्य-सिद्धान्त को अवश्य ही स्पष्ट करती हैं।

राज्य का परम्परागत अथवा प्राचीन सिद्धान्त राज्य को एक निगमात्मक समूह (A Corporate Group) मानता है जिसमें विभिन्न समूह अथवा वर्ग सबके सामान्य कल्याण के लिए परस्पर सहयोग करते हैं। अरस्तू के बहुचर्चित शब्दों में, "राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ है और शुभ जीवन के लिए उसका अस्तित्व है।" राज्य उन परिस्थितियों को जन्म देता है जिनमें रह कर प्रत्येक नागरिक अपने व्यक्तित्व का पूर्ण और स्वतन्त्र विकास करता है। राज्य एक ऐसा धरातल प्रदान करता है जिस पर मनुष्य नागरिकों के रूप में सामान्य कल्याण की वृद्धि के लिए पारस्परिक सहयोग की ओर उन्मुख होते हैं तथा जाति, वर्ण, धर्म, वर्ग आदि की संकुचित भावनाओं से ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं। सारांश में, राज्य एक 'सार्वभौमिक समुदाय अथवा सर्वव्यापी समूह' (A Universal Association) है जो

'समाज के विभिन्न तत्वों में उचित सन्तुलन कायम रखने' का प्रयास करता है। लॉस्की (Laski) के शब्दों में, "राज्य अपनी नीति से नागरिकों के सम्बन्धों को इस भाँति सन्तुलित करने का प्रयत्न करता है कि प्रत्येक नागरिक यदि चाहे तो मानव-व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास कर सके।"[1]

किन्तु मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य के इस परम्परावादी सिद्धान्त से असहमत है। मार्क्स के अनुसार राज्य सर्व-कल्याण को अपना उद्देश्य समझने वाला समुदाय न कभी रहा है और न कभी हो सकता है। 'यह तो सदैव एक ऐसा संगठन रहा है और सदैव ऐसा ही रहेगा जिसके द्वारा प्रधान आर्थिक वर्ग दूसरे आर्थिक वर्गों पर शासन करता है और उनका शोषण करता है।" पूँजीवादी युग के प्रारम्भ से पूँजीवादी वर्ग ने वर्तमान प्रतिनिधि-राज्यों में राजनीतिक शक्ति पर अपना अनन्य अधिकार (Exclusive Sway) स्थापित किया हुआ है। 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' में यह उल्लेख है कि आधुनिक राज्य की कार्यपालिका सभी पूँजीवादियों के सामान्य मामलों के प्रबन्धक के लिए एक समिति मात्र है। ऐंजिल्स के अनुसार राज्य "एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के दमन के लिए एक यन्त्र मात्र" है। मार्क्स और ऐंजिल्स राज्य को प्लेटो और अरस्तू के समान स्वाभाविक समुदाय (Natural Association) नहीं मानते। उनके मत में राज्य का जन्म इतिहास की प्रक्रिया में उस समय होता है जब समाज ऐसे दो विरोधी गुटों में विभक्त हो जाता है जिनके हित परस्पर टकराते हैं और उनमें कोई सामञ्जस्य स्थापित नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में राज्य 'वर्ग-संघर्ष' की उत्पत्ति है। यह "आधारभूत आर्थिक ढाँचे अर्थात् उत्पादन के सम्बन्धों पर उत्पादन के भौतिक साधनों के स्वामियों द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए खड़ा किया हुआ ऊपरी ढाँचा है।" राज्य के उद्देश्य 'प्रधान वर्ग को अधीनस्थ वर्गों का शोषण करने, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने और उसे चुनौती देने वाले समस्त विचारों को कुचलने की शक्ति प्रदान करता है। कानून और पुलिस की सारी मशीन और अन्त में राज्य की सैनिक शक्ति, पूँजीवादी वर्ग के उत्पादन-साधनों पर नियन्त्रण को सुरक्षित रखने के लिए ही है।"

मार्क्स की धारणा है कि शासन द्वारा शासक वर्ग अपनी इच्छाओं को शासितों पर थोपते हैं। शासन का प्रयोग बुर्जुआ लोग निम्न वर्ग के शोषण के लिए करते आ रहे हैं। राज्य एक ऐसी संस्था है जो श्रमिकों के अतिरिक्त मूल्य को छीनने में पूँजीपतियों की सहायक है। पूँजीवाद के हितों की रक्षा के लिए राज्य न केवल पुलिस और सैनिक शक्ति की व्यवस्था करता है बल्कि राज्य की न्याय-प्रणाली भी इसमें सहायक होती है। राज्य के राजद्रोह विषयक कानून ऐसे बनाए जाते हैं जिनमें श्रमिकों का पूँजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह करना कठिन हो जाता है। और तो और, शिक्षा एवं धर्म जैसी सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रयोग भी श्रमिकों के दमन हेतु किया जाता है। आधुनिक पूँजीवादी राज्य धर्म-संस्थाओं के माध्यम से

1 *Laski*, Communism, p. 124.

श्रमिकों की चेतना को दबाते हैं और उनके मन में यह भावना भरने की चेष्टा करते हैं कि राज्य के विरुद्ध विद्रोह ईश्वर के प्रति पाप है। पूँजीवादी राज्य की शैक्षणिक संस्थाएँ श्रमिकों में आज्ञापालन और समर्पण की भावना भरने का कार्य करती हैं।

मार्क्स के इस राज्य-सिद्धान्त के कुछ निम्नलिखित निहितार्थ (Implications) प्रकट होते हैं—

1. राज्य वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति है। यह सदैव ऐसा समुदाय रहा है और रहेगा जिसके द्वारा एक आर्थिक वर्ग का नियन्त्रण और शोषण होता है। "कहाँ, कब और किस हद तक राज्य का जन्म होता है यह प्रत्यक्ष रूप से इस बात पर निर्भर करता है कि कब, कहाँ और किस हद तक एक राज्य, विशेष के विरोधों में सामञ्जस्य स्थापित नहीं हो सका, और इसी के व्यतिक्रम से राज्य का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि वर्ग सम्बन्धी विरोधों में कभी सामञ्जस्य स्थापित नहीं हो सकता।"[1]

2. वर्तमान पूँजीवादी राज्य में श्रमजीवी वर्ग कभी आस्था नहीं रख सकता क्योंकि उसमें पूँजीपतियों द्वारा उसका शोषण होता है। संसद गप्प मारने की दुकान है और संसद-सदस्य पूँजीवाद के वकील। ऐसी स्थिति में श्रमिक तो राज्य के प्रति केवल निरन्तर विरोध का रवैया ही अपना सकते हैं।

3. राज्य एक दमनकारी समुदाय है जो वर्ग-भेदों को कायम रखकर वर्ग-विशेषाधिकारों का पोषण करता है। वर्तमान पूँजीवादी राज्य में जनहितकारी प्रतीत होने वाले कार्य, जैसे यातायात, संचार-व्यवस्था में उन्नति वास्तव में अप्रत्यक्ष रूप से श्रमिकों के दमन के लिए ही हैं। राज्य का यह दमनकारी स्वरूप तब पूर्णतः प्रकट हो जाता है जब वह राजद्रोह का आरोप लगाकर श्रमिकों की हड़ताल आदि का कुचलता है।

4. द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने बतलाया है कि भविष्य में राज्य नहीं रहेगा और एक वर्ग विहीन, राज्य-विहीन समाज की स्थापना होगी। जब श्रमजीवी वर्ग की विजय के परिणामस्वरूप पूँजीवादी संस्था के रूप में राज्य नष्ट हो जाएगा तो सार्वजनिक कार्यों का 'राजनीतिक स्वरूप जाता रहेगा और सच्चे सामाजिक हितों की देखभाल करने के लिए साधारण प्रशासकीय कारण बन जाएँगे।"

5 पूँजीवादी समाज वर्ग संघर्ष एवं श्रमिकों के शोषण का शीघ्रातिशीघ्र अन्त करने के लिए एकमात्र उपाय क्रान्ति है और क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था में राज्य शोषक वर्ग की सहायता करता है और इसके लिए वह भरपूर बल-प्रयोग करता है, इसलिए राज्य का अन्त उससे अधिक बल प्रयोग द्वारा किया जा सकता है। मार्क्स के अनुसार राज्य को समाप्त करने के लिए पहले उस पर से क्रान्ति द्वारा पूँजीपतियों का आधिपत्य समाप्त किया जाए और फिर जब तक पूँजीवाद तत्वों

1 *Lenin* : Quoted by Laski in his Communism' p 12

का पूर्णतया विनाश न हो जाए, राज्य पर श्रमिकों का अधिनायकत्व रहे क्योंकि शक्ति की रक्षा के लिए शक्ति का प्रयोग आवश्यक है।

6. श्रमिकों का अधिनायकत्व वर्गविहीन समाज की स्थापना से पूर्व की सक्रान्तिकालीन (*Transitional*) अवस्था है। मार्क्स ने अपने '*Criticism of the* **Gotha Programme**' में लिखा है, "पूँजीवादी और साम्यवादी समाज के बीच एक का दूसरे में परिवर्तित होने का क्रान्तिकारी काल रहता है। इसी के अनुरूप एक राजनीतिक सक्रान्तिकाल भी होता है जो केवल क्रान्तिकारी श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही ही हो सकता है।"

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतत्व के अन्तर्गत राज्य में वर्ग-संघर्ष का अन्त हो जाएगा और समाज में सभी के स्वतन्त्र विकास के लिए शर्त होगी प्रत्येक व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास'। इस श्रमजीवी अधिनायकत्व के पक्ष में मार्क्स यह तर्क देता है कि राजनीतिक प्रजातन्त्र के अन्तर्गत भी जब तक उत्पादन के साधनों पर थोड़े से ही व्यक्तियों का स्वामित्व रहता है, व्यवहार में एक प्रकार का (वर्गीय) अधिनायकत्व कायम रहता है। मार्क्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व एक प्रकार से मजदूरों के प्रजातन्त्र का रूप धारण कर लेता है। जहाँ पहले प्रकार के राज्य में वर्ग-भेद कायम रहते हैं और पूँजीवादी शासन का स्वामित्व ऐसे ही भेदों पर निर्भर रहता है, वहाँ दूसरे प्रकार के अधिनायकत्व का उद्देश्य सभी वर्गों का उन्मूलन कर अपने अन्त के लिए मार्ग प्रशस्त करना होगा। सर्वहारा-वर्गीय अधिनायकवाद के बारे में सबाइन के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—

"*वर्गविहीन समाज से भी ज्यादा महत्त्व का परन्तु सर्वहारा-वर्ग का* अधिनायकवाद है जो मार्क्स और ऐंजिल्स के अनुसार सर्वहारा-वर्ग की क्रान्ति के तुरन्त बाद स्थापित होता है। इस अवस्था में यह कल्पना की जाती है कि सर्वहारा-वर्ग शक्ति हस्तगत कर एक ऐसे राज्य का निर्माण करता है जो बल का प्रयोग करता है। इसलिए *सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद भी बुर्जुआ राज्य की भाँति ही वर्ग-*सत्ता का साधन होता है। उसका कार्य यह होता है कि वह विस्थापित पूँजीवादी राज्य की नौकरशाही को नष्ट करे, उत्पादन के साधनों को सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित करे और यदि पूँजीपति वर्ग प्रतिक्रान्ति का प्रयत्न करे तो उसे दबा दे। जब ये कार्य हो चुकेंगे तभी सम्भवतः राज्य के लोप होने की प्रक्रिया प्रारम्भ होगी। सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद कितने समय तक कायम रहेगा, यह बात पूरी तरह से कल्पना पर छोड़ दी गई है। मार्क्स तथा ऐंजिल्स ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का अपने सामाजिक सिद्धान्त के एक महत्त्वपूर्ण भाग के रूप में विकास नहीं किया। तत्सम्बन्धी मुख्य बातें सन् 1848–50 के फ्रांस के क्रान्तिकारी उपद्रवों से सम्बन्ध रखती हैं तथापि यह बात निश्चित थी कि यदि वर्गविहीन समाज को एक वास्तविकता बनना है, तो वह एक दिन में नहीं हो जाएगा। इसके लिए एक सक्रमण काल की आवश्यकता होगी। सन् 1850 के बाद यूरोप की राजनीति में क्रान्ति का महत्त्व कम हो गया था और वह शान्तिपूर्ण-पथ पर अग्रसर होने लगी

थी। फलत. इस विषय का आगे विवेचन आवश्यक हो गया था। इस संकल्पना को सन् 1917 में लेनिन ने ग्रहण किया और उसे क्रांतिकारी मार्क्सवाद के पुनरुत्थान का एक साधन बनाया। लेनिन की क्रांति की सफलता ने इसे आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के लिए एक महत्त्वपूर्ण विषय बना दिया है।"[1]

जब राज्य वास्तव में सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधि बन जाएगा और वर्ग-भेद न रहेंगे, तो राज्य अनावश्यक हो जाएगा। इस व्यवस्था में 'वाद' और 'प्रतिवाद' का अन्तिम 'समन्वय' और 'आवश्यकता' के राज्य से उठकर मनुष्य समाजवादी स्वतन्त्रता के राज्य में प्रवेश कर जाएगा।

राज्य-सिद्धान्त की आलोचना

मार्क्स के राज्य-सिद्धान्त का खण्डन उसके वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के खण्डन में ही निहित है अत. इतना ही लिखना पर्याप्त है कि राज्य-सिद्धान्त की इस मार्क्सवादी धारणा को मान्य नहीं ठहराया जा सकता कि राज्य वर्ग-प्रभुत्व और दमन का यन्त्र है। मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य के अधिक पूर्ण और अधिक सच्चे स्वरूप की उपेक्षा कर केवल एक रोग-ग्रस्त राज्य का अध्ययन करता है। यद्यपि यह सत्य है कि शासक वर्ग सदैव ही संकीर्ण स्वार्थों से मुक्त नहीं रहा है और अनेक अवसरों पर उसने वर्ग विशेष के हितों की सिद्धि का प्रयास किया है, तथापि इन्हीं उदाहरणों का आश्रय लेकर राज्य के सम्पूर्ण सिद्धान्त का निर्माण कर देना एक ऐसी ही बात है जैसी चोरों, डाकुओं, हत्यारों आदि की अपराधी वृत्ति के आधार पर मानव स्वभाव के सिद्धान्त की रचना करना। अनेक शासक अपनी न्यायप्रियता और उदारता के लिए विश्व में प्रशंसित हुए हैं। उन्होंने अपना समग्र जीवन मानव-समाज के कल्याण में लगा दिया था।

मार्क्स का मूल्यांकन
(An Estimate of Marx)

मार्क्स की प्रशंसा और आलोचना के पुल बाँधे गए हैं। साम्यवादियों ने उसे एक अवतार जैसी प्रतिष्ठा दी है तो पूँजीपति गुट ने उसे सभ्यता और मैत्री का शत्रु तक कहा है। लेकिन उसके आलोचक भी यह स्वीकार करते हैं कि मार्क्स एक ऐसी दार्शनिक विचारधारा का जनक था जिसने आधुनिक विश्व के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वरूप पर क्रांतिकारी प्रभाव डाला है; जिसका नाम संसार के करोड़ों लोगों की जबान पर है, जो संसार की एक बड़ी जनसंख्या का मसीहा है और जिसकी रचनाओं को करोड़ों लोग श्रद्धा और सुमन से पढ़ते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अपने सिद्धान्तों की अस्पष्टताओं और अन्तर्विरोधों के बावजूद मार्क्स 19वीं शताब्दी का सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति था। हम अतीत को लें या वर्तमान को, यह स्वीकार करना होगा कि मार्क्स को विश्व के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दार्शनिकों की पंक्ति में स्थान प्राप्त है जिसने विश्व को न केवल एक नवीन क्रान्तिकारी विचारधारा

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृ. 746.

के द्वारा विश्व इतिहास की दशा ही बदल दी। मार्क्स को प्रथम वैज्ञानिक समाजवादी होने का श्रेय प्राप्त है। इस सम्बन्ध मे मार्क्स की दूरदर्शिता और सफलता तथा प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए वेपर के ये विचार उल्लेखनीय हैं—

'मार्क्स, वास्तव मे 19वी शताब्दी का सर्वप्रथम समाजवादी लेखक नही था। उससे पूर्व भी सामाजिक विचारो की प्रचुर फसल उग चुकी थी। सेंट साइमन तथा ग्युज़ोर (Guizor) वर्गयुद्ध के विचार का प्रचार कर रहे थे। प्रोधाँ (Proudhan) यह बता रहा था कि सम्पत्ति का अतिशय सचय चोरी है। ओवन (Owen) का विश्वास था कि नवीन औद्योगिक युग प्रतियोगिता का नही, सहयोग का युग होगा। मार्क्स इन व्यक्तियो को पुण्यपूर्ण दृष्टि से देखना था वह उन्हे स्वप्नलोकीय (Utopian) समाजवादी कहता था। उन्होने सुन्दर गुलाबो से सुनहरे सपने तो देखे, परन्तु गुलाब के पौधे उगाने के लिए मिट्टी तैयार नही की। उन्होने पूँजीवाद की त्रुटियो पर ही ध्यान दिया, पूँजीवाद पर नही। उनकी दृष्टि तर्कहीन थी। जो भी हो, इन समाजवादियो ने समाजवाद के भवन-निर्माण के लिए ईंट तथा गारा जुटाया। उन्होने ही समाजवादी-समाज के विचार को मान्यता दिलवाई। उन्होने मूल्य के श्रमिक सिद्धान्त को विस्तृत किया परन्तु कुल मिलाकर वे असफल रहे, जबकि मार्क्स अपने समाजवाद मे सफल रहा। मार्क्स की सफलता का कारण उसका एक ही साथ हिब्रू-भविष्यद्रष्टा तथा राजनीतिक एव अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो का वैज्ञानिक-प्रवक्ता होना है। किसी भी हिब्रू की भाँति उसका दर्शन पाश्चात्य सभ्यता के धार्मिक अपराधो को बुरा ठहराता है। राजनीतिक एव अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो के प्रवक्ता के रूप मे वह सामाजिक विकास का दार्शनिक विचार प्रस्तुत करता है। कभी-कभी उसके अन्दर हिब्रू-भविष्यद्रष्टा तथा वैज्ञानिक एक-दूसरे का समर्थन करते मिलते हैं और कभी विरोध।'[1]

'तर्कहीनता सदा ही निर्बलता का स्रोत नही होती। मार्क्स ने धर्म और विज्ञान के सयोग से युग की महान् सेवा की है। पुरातन के प्रेमियो के लिए उसके पास धर्म की तथा नवीनता के पुजारियो के लिए उसके पास विज्ञान की पिटारी है। उसका समाजवाद प्रकाश की नवीन किरण है। अपने अनुयायियो के लिए उसने धर्म का नवीन स्तर तथा मुक्ति का आनन्दमय मार्ग सुस्थिर किया है। उसने एक ऐसे स्वर्ग का सृजन किया है जो हमारी पृथ्वी पर ही है।'[2]

मार्क्स यद्यपि पूर्वाग्रहो और पूर्व-धारणाओ से पूर्णत. मुक्त था, तथापि उसने वैज्ञानिक ढग से अपने विचारो का प्रतिपादन कर आधुनिक जगत् को एक अमूल्य देन दी। जो समाजवाद मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारो के हाथो मे एक उपहास की वस्तु बन गया था उसे मार्क्स ने एक गम्भीर और सारपूर्ण विषय बनाकर विद्वत् समाज मे प्रस्थापित किया। मार्क्स के अध्ययन मे हमे एक क्रमबद्धता के दर्शन होते हैं और हम इस बात को झुठला नही सकते कि उसने तथ्य को इतिहास से एकत्र कर अध्ययन को एक तर्कसगत, वैज्ञानिक और साथ ही नूतन दिशा प्रदान की। मार्क्स ने

1-2 *Wayper*: Political Thought (Hindi ed.), p. 207.

भौतिकवाद को चिन्तन का आधार बनाकर सामाजिक जीवन के यथार्थवादी अध्ययन को सामने ला पटका, सामाजिक संस्थाओं के संचालन में आर्थिक कारकों को वास्तविक शक्ति प्रदान कर सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन को सशक्त बना दिया। मार्क्स ने वैधानिक और राजनीतिक संस्थाओं तथा आर्थिक प्रणाली की अन्योन्याश्रितता सिद्ध की और इस तरह स्वयं को प्रभावशाली सामाजिक दार्शनिकों की अग्रिम पंक्ति में ला बैठाया।

मार्क्स के प्रभाव और प्रसार के बारे में विद्वानों ने शक्तिशाली शब्दों को खोज-खोजकर अपनी सम्मतियाँ प्रकट की हैं। लॉस्की ने लिखा है कि मार्क्स ने साम्यवाद को कोलाहल में उठाकर एक सशक्त आन्दोलन का रूप दिया—ऐसे आन्दोलन का जो कि सिद्धान्त पर आधारित है। मार्क्स ने श्रमिकों को जो असंगठित और बिखरे हुए थे, एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में परिवर्तित कर दिया। हम मार्क्स के कार्यों का सार किसी विशिष्ट आर्थिक सिद्धान्त के रूप में न लेकर भावात्मक मानना चाहिए जो उसके जीवन के ध्येय को संजोए हुए है। मार्क्स निस्सन्देह वह प्रथम समाजवादी था जिसने स्वप्नलोकीय संसार को ठुकरा कर यथार्थ के दर्शन किए, जिसने केवल मंजिल के ही दर्शन नहीं कराए बल्कि मंजिल तक पहुँचने का मार्ग भी दिखाया। उसने क्रान्ति का सन्देश देकर, एक कार्यक्रम रखकर और लक्ष्य दिखाकर दलित, पीड़ित, शोषित तथा अभिशप्त जनता में आशा का नया मन्त्र फूँका और उन्हें गतिशील बनाया।

मार्क्स के दर्शन का विश्लेषण यह प्रस्थापित करता है कि उसके विचारों में वैज्ञानिकता और तार्किक विवेचन के समन्वय के साथ-साथ जीवित जागृति और मूर्त विश्वास भी है जो जीवन में स्पन्दन, चेतना व उत्साह भरता है। इसी विश्वास के कारण मार्क्सवाद दुनिया में सफल तथा प्रेरक विचारधारा का रूप ग्रहण कर सका है। मार्क्स के पहले राजनीतिक दर्शन अस्पष्ट, अमूर्त था और उपदेश व सुधारवाद की गलियों में चक्कर काटता था। मार्क्स के अनुसन्धान के फलस्वरूप यह सक्रिय रूप से जनता में प्रभावशाली बन गया। इतिहास की गति को समझने और उसे बदल देने के कष्टसाध्य प्रयास का श्रेय मार्क्स को ही है और इसी ने आज उसे करोड़ों व्यक्तियों का हृदय-सम्राट बना दिया है। मार्क्स ने अपनी ऐतिहासिक अमरता उस अथक संघर्ष से प्राप्त की है जो उसने पूँजीवाद के अन्याय और शोषण के विरुद्ध लिया था। मार्क्स के हृदय को दलितों, पीड़ितों और शोषितों की सहायता करने की तीव्र इच्छा उद्वेलित कर रही थी और वह केवल बातों से ही नहीं बल्कि व्यावहारिक रूप में उनके लिए कुछ करना चाहता था। अतः उसने अपनी विलक्षण प्रतिभा को उन कोरे सिद्धान्तों की रचना के बजाय ऐसी वस्तु की रचना में लगाया जो उसकी दृष्टि में एक ऐसा वैज्ञानिक शस्त्र था जिसकी सहायता से दलित एवं शोषित वर्ग पूँजीवाद को ललकार सकता था, उसके विरुद्ध खम ठोक कर खड़ा रह सकता था और इस आशा से लड़ सकता था कि अन्त में निश्चित रूप से पूँजीवाद के शव पर उसका भव्य महल खड़ा होगा।

मार्क्स की इस भविष्यवाणी से चाहे कोई सहमत भले ही न हो कि पूंजीवाद के विनाश से निश्चित रूप से समाजवाद का प्रादुर्भाव होगा, तथापि यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि उसने अपने पूर्ववर्तियों और समकालीनों की अपेक्षा पूंजीवाद के सम्भावित भविष्य और गति का अधिक सही अनुमान लगाया था। उसकी यह धारणा सही थी कि यद्यपि पूंजीवाद में उत्पादन की प्रवृत्ति जारी रहेगी, तथापि वह अपने उस रूप में अधिक समय तक नहीं ठहर सकेगा जिसमें कि वह उस समय था। आज यह स्पष्ट है कि उन्नसवीं शताब्दी का निर्बाध पूंजीवाद अब इतिहास की स्मृति रह गया है। आज बीसवीं शताब्दी का पूंजीवाद प्राचीन उग्र शोषक पूंजीवाद से बहुत भिन्न है और आज का कल्याणकारी राज्य श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए हस्तक्षेप करता है। मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त ने मजदूरों में वह चेतना, एकता और शक्ति भर दी जिसका सम्मान आज पूंजीवाद को और राज्य को करना पड़ रहा है। आज के मजदूर में उत्साह है, आत्म-ग्लानि नहीं। आज इंग्लैण्ड और अमेरिका जैसे देशों में श्रमिकों का जीवन-स्तर दिन प्रतिदिन ऊँचा होता जा रहा है और इसके लिए वे काफी हद तक मार्क्स के ऋणी हैं। पूंजीपति इस डर से कि मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुसार कहीं उनकी दुर्दशा न हो जाए, श्रमिकों को यथासम्भव असन्तुष्ट नहीं होने देते। वर्तमान युग के अविकसित और कम विकसित राष्ट्र, जिनको आर्थिक सहायता के रूप में पूंजीवादी राष्ट्रों से करोड़ों डॉलर प्राप्त हो रहे हैं, अप्रत्यक्ष रूप से मार्क्स के प्रति कृतज्ञ हैं। इंग्लैण्ड अमेरिका आदि पूंजीवादी राष्ट्रों की दृष्टि में मार्क्सवाद किसी बाढ़ से कम नहीं है। यह दरिद्रता, निरक्षरता और पिछड़ेपन के वातावरण में द्रुतगति से अपना विस्तार कर लेता है और पहले से ही भयग्रस्त पूंजीवादी राष्ट्र जानते हैं कि यदि उस बाढ़ को समय रहते न रोका गया तो विश्व के अधिकांश नंगे-भूखे व्यक्ति अवश्य ही इसके शिकार हो जाएँगे और अन्त में पूंजीवादी समाज भी उस महान् शक्ति का सामना नहीं कर सकेगा तथा उसका महल लड़खड़ा कर ढह जाएगा। ऐसे अवसर को टालने के लिए पूंजीवादी राष्ट्र अपनी सुरक्षा इसी में समझते हैं कि विश्व के अविकसित राष्ट्रों का शीघ्रातिशीघ्र आर्थिक विकास हो। श्रमिक वर्ग और समाजवाद को इतना महत्त्व एवं सम्मान दिला देना मार्क्स की कम सफलता नहीं है।

मार्क्स का महत्त्व इसलिए भी है कि उसने समस्त सामाजिक संस्थाओं में आर्थिक कारकों पर बल देकर समाजशास्त्र की महान् सेवा की है। उसका सामाजिक शास्त्रों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि मार्क्स पूर्व सामाजिक सिद्धान्त पर लौटने का अब प्रश्न ही नहीं उठता। एक वाक्य में, "उसका अर्थवाद, अत्युक्ति के बावजूद सामाजिक विज्ञान प्रणाली में एक मूल्यवान् प्रगति का सूचक है।" कोकर के मूल्यांकन के अनुसार, 'मार्क्स के लेखों तथा पुस्तकों में मुख्यतः आर्थिक तथा ऐतिहासिक सिद्धान्तों के प्रश्नों पर तथा आर्थिक और राजनीतिक व्यूह-रचना की व्यावहारिक समस्याओं पर विचार किया गया है, किन्तु उसकी अन्तिम अभिरुचि उन्मुक्त तथा सुसंस्कृत व्यक्तियों में थी। उसके विचार में समुचित और न्यायपूर्ण उत्पादन तथा आर्थिक व्यवस्था इसलिए परम आवश्यक है ताकि प्रत्येक को अपने

स्वतन्त्र बौद्धिक एवं सामाजिक विकास के लिए समय और सुयोग मिल सके। मार्क्स के समाजवाद का लक्ष्य अन्य अनेकों क्रान्तिवादी राजनीतिक सिद्धान्तों की भाँति एक ऐसे समाज की रचना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण एवं स्वतन्त्र विकास ही प्रमुख लक्ष्य होगा।"[1]

मार्क्स की एक महत्त्वपूर्ण देन उनकी विश्लेषणात्मक पद्धति का विज्ञान (Analytical Methodology) है जिसके बल पर राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता की समस्त व्याख्या सम्भव है। मार्क्स ने सांस्कृतिक स्वाधीनता, राष्ट्रीयता आदि का समर्थन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीयता के साथ उनका सामञ्जस्य बैठाया था। इस पक्ष की तर्कपूर्ण व्याख्या स्टालिन ने अपने सिद्धान्तों में की और राष्ट्रीयता को ऐतिहासिक स्वरूप प्रदान कर उसका भाषा, क्षेत्र, आर्थिक जीवन, संस्कृति आदि के साथ स्थाई समन्वय किया। आत्म-निर्णय का सिद्धान्त (Right of Self-determination) इसका स्वाभाविक परिणाम था। मार्क्सवादी व्याख्या के फलस्वरूप संसार की राजनीतिक स्थिति का पर्यालोचन करने में आर्थिक तथा अन्य तत्त्वों का विचार शुरू हो गया।

साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाकर मार्क्स ने संसार का सबसे बड़ा उपकार किया। मार्क्स को इस दृष्टि से युद्ध-समर्थक नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह युद्ध को प्रचलित प्रणाली का अनिवार्य अभिशाप मानता था और इसलिए उन कारणों को ही समूल नष्ट करना चाहता था जिनमें युद्ध की सम्भावना बनी रहती है। मार्क्स की नई साम्यवादी व्यवस्था जनता के सामने जन-कल्याणकारी रूप में प्रस्तुत होती है इसलिए प्रगति का साथ देने वाले लोग विकासोन्मुख होकर 'पुराने का बहिष्कार और नए का स्वागत करते हैं।"

मार्क्स ने श्रमिक वर्ग के महान् योद्धा के रूप में लोकप्रियता इसलिए भी अर्जित की कि उसमें उत्तेजक वाक्य गढ़ने की विलक्षण शक्ति थी जिनका उसके अनुयायियों ने चतुरता से प्रयोग किया। दीन के प्रति दया और धनाढ्य की निर्दयता पर अपने नैतिक विक्षोभ के कारण उसने पूँजीपतियों के विरुद्ध आरोप की अग्नि-वर्षा की और दलित वर्ग को पूँजीवाद के विनाश तथा समाजवाद की स्थापना के प्रति धार्मिक विश्वास के समान अटल विश्वास से ओत-प्रोत कर दिया। मार्क्सवाद प्राय: एक धर्म ही बन गया और उसमें दीक्षित हो जाना एक धर्म-दीक्षा सी हो गई।

पूँजीवाद और सामाजिक प्रक्रियाओं के विश्लेषण ने ऐतिहासिक विकास के नियमों के रहस्योद्घाटन ने तथा समाजवाद के उपदेश ने मार्क्स को उतनी महान् सामाजिक शक्ति नहीं बनाया जितना सामाजिक, वैज्ञानिक तथा उपदेशक के सम्मिलित रूप ने।

ए. लैंडी (A. Landy) नामक लेखक ने तो यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मार्क्सवाद और प्रजातन्त्र की परम्परा में अन्तर नहीं है। उसके मतानुसार प्रजातन्त्रात्मक परम्परा का जन्म क्रान्ति में हुआ (जैसे फ्रांस की क्रान्ति) और इसका विकास जनसाधारण के संघर्षों द्वारा हुआ। प्रजातन्त्रात्मक परम्परा की कुछ विशेषताएँ रही हैं—स्वभाव में मानववादी गणतन्त्रात्मक, दृष्टिकोण में अन्तर्राष्ट्रीय और इससे भी ऊपर प्रगति एवं स्वतन्त्रता तथा प्रत्येक मनुष्य के लिए कार्य और सुख

1 शंकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 57-58.

की परम्परा। लैण्डी की दृष्टि में, "मार्क्सवाद 17वीं और 18वीं शताब्दी में हुए प्रजातन्त्रात्मक• प्रयत्नों का ही ऐतिहासिक क्रम है। वह क्रम स्वप्नलोकीय एवं समाजवादियों के मानवतावादी प्रयत्नों को और भी विस्तृत पैमाने पर अग्रसर करता है।"[1]

मार्क्स की महान् देन और उसके विलक्षण प्रभाव के विवेचन के अतिरिक्त चित्र का दूसरा पहलू भी है। मार्क्स के विचारों में अस्पष्टता, विरोधाभास उलझनें, भटकाव, अतिरंजना और गलत तथा भ्रामक भविष्यवाणियाँ हैं। मार्क्स के विभिन्न विचारों का विवेचन के प्रसंग में आलोचना पक्ष पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, तथापि संक्षेप में [2]—(क) मार्क्स का भौतिकवाद शक्तिशाली नहीं है। आर्थिक शक्तियों का विचार ही उनकी शिक्षा का सार है। जहाँ भी वह उत्पादन की शक्तियों अथवा सामाजिक चेतना की बातें करता है, उसकी भाषा निश्चयवादी हो जाती है, और, जब वह मनुष्यों और विशेष घटनाओं की चर्चा करता है, तब वह सजग मार्ग-प्रदर्शक हो जाता है। अन्त में वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मनुष्य के विकास के लिए भौतिकवादी तथा अभौतिक दोनों ही विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। (ख) मार्क्स का वर्ग-सिद्धान्त यद्यपि रुचिकर है, तथा पाश्चात्य सभ्यता इस मत का समर्थन नहीं करेगी कि आर्थिक दशा ही सर्वत्र सामाजिक स्तर का निर्धारण करती है। मार्क्स के वर्ग-सम्बन्धी स्थायी विचार भी मिथ्यापूर्ण हैं। वर्ग स्थाई नहीं, परिवर्तनशील होता है। एक वर्ग का दूसरे वर्ग से परिवर्तन-सम्बन्ध बना रहता है, अतः सामाजिक वर्गों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि व्यक्तिगत रूप से परिवारों का उत्थान-पतन होता रहता है। (ग) मार्क्स ने वैज्ञानिक तरीके से सिद्ध कर दिया है कि पूँजीवाद के विकास के परिणामस्वरूप दो वर्ग ही शेष रहेंगे। परन्तु यह बात सच नहीं है। उसने प्रबन्धक तथा प्रशिक्षण-सलाहकारों के वर्ग को स्वीकार नहीं किया। इसमें उसका कोई दोष नहीं, क्योंकि उसने यह निर्णय अपने अतीतकालीन अनुभवों के आधार पर ही लिया था। उसका यह कथन कि श्रमिक विकास के अन्तिम दिन तक निर्धनतर होते जाएँगे, सत्य नहीं है। आज की मजदूरी की असली दरें एक शताब्दी पूर्व की मजदूरी दरों से ऊँची ही हैं। उसने कहा था कि शक्ति का संचय कम हाथों में हो। मार्क्स ने व्यापारिक-संघ तथा समाज-सेवा-राज्य के विकास के विषय की ओर ध्यान नहीं दिया। उसने लिखा है कि अंग्रेज-श्रमिक वर्ग दिन-प्रतिदिन प्रजातन्त्रवादी होता जा रहा है, और श्रमिक इतनी तेजी से पूँजीवादी होते जा रहे हैं कि एक दिन कुलीनतन्त्री पूँजीपति वर्ग और श्रमिक पूँजीपति वर्ग की स्थापना हो जाएगी। गलती करना शायद अर्थशास्त्रियों के भाग्य में ही लिख गया है। इसके विषय में 'न्यू यार्कर' ने लिखा है—'ये लोग पूर्ण वस्तु को गलत विज्ञान में रखते हैं।' परन्तु मार्क्स की गलतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। उसका विश्वास था कि भविष्य में एक वर्गहीन समाज की स्थापना होगी क्योंकि वर्गों के पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप हुई क्रान्ति में पूर्व-वर्गीय समाज नष्ट हो जाएगा और चूँकि वर्गों का

1 *A. Landy*: Marxism and the Democratic Tradition, pp 24 29.
2 *Harper*: *op cit*, pp. 220-222

विनाश कभी नहीं हुआ है, अतः वर्गहीन समाज की कल्पना करना मात्र आशारहित धारणा है। (घ) इसके अतिरिक्त मार्क्सवाद में कुछ ऐतिहासिक दोष भी हैं। मार्क्स के इतिहास को चार भागों में बाँट देना उचित नहीं है। उसके प्राचीन इतिहास सम्बन्धी विचारों के लिए उसे क्षमा नहीं किया जा सकता। एन्टोनाइन्स युग की महान् उपलब्धियों का ज्ञान मार्क्स के समय प्रत्येक व्यक्ति को था। अतः यह *कहना विवेकहीन ही था कि ईसाई मत दुखी और पददलित श्रमिक की आशाओं की* अभिव्यक्ति थी। ऐश्टन के मतानुसार इतिहास का यह दर्शन सन्तोषजनक नहीं हो सकता जो केवल 100 वर्षों के अनुभव पर आधारित है तथा, 100 वर्षों की दिशाओं की ओर कोई ध्यान नहीं देता। यह उक्ति मार्क्स पर भी चरितार्थ होती है। मार्क्स ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया कि पूँजीवाद का विकास केवल पश्चिमी यूरोप में ही क्यों हुआ। यदि इतिहास का निर्माण केवल भौतिक कारणों से ही होता है तो पूँजीवाद का यह विकास सम्पूर्ण विश्व की सभी सभ्यताओं में होना चाहिए। परन्तु, वास्तविकता यह है कि पूँजीवाद सम्पूर्ण विश्व में विकसित नहीं है। (ङ) मार्क्स द्वारा राजनीति के मनोवैज्ञानिक पक्ष की अवहेलना भी उचित प्रतीत नहीं होती। मार्क्स राज्य की व्याख्या शक्ति के रूप में करता है, परन्तु शक्ति की समस्या का पर्याप्त समाधान नहीं करता। उसकी रचनाओं में यह कभी भी अनुभव नहीं किया गया कि मनुष्य अपने अभिमान और आत्म-सन्तुष्टि के लिए शक्ति की अभिलाषा करते हैं और कुछ मनुष्यों के लिए शक्ति स्वयं एक साध्य मानी ही जानी चाहिए। वह मानव-प्रकृति के वास्तविक दोषों को कभी भी प्रदर्शित नहीं करता। उसके सबसे पठन योग्य पृष्ठ वे हैं जिनमें वह भावनापूर्ण भविष्यदृष्टा बन जाता है, परन्तु वह मनुष्य की स्वार्थान्धता की ओर कोई ध्यान नहीं देता। लेनिन ने एक बार लिखा था कि वर्गरहित समाज की कल्पना करने वाले समाजवादी साधारण मनुष्य की ओर ध्यान नहीं देते। मार्क्स द्वारा मानव-प्रकृति की अवहेलना इस बात का प्रमाण है कि यद्यपि वह एक महान् व्यक्ति था, तो भी उसे सभी वस्तुओं का ज्ञान नहीं था।

समापन के रूप में, सत्य और असत्य दोनों मिश्रित होकर मार्क्स को वर्तमान इतिहास की एक अद्भुत तथा प्रबल शक्ति प्रमाणित करते हैं। "अपने युग की घृणा और प्रताड़ना मार्क्स को मिली; निरंकुश और प्रजातन्त्रीय दोनों सरकारों ने उसे अपनी भूमि से निर्वासित किया, उच्च वर्ग, अनुदार दल, उग्र जनतन्त्रवादी सबने उसके विरुद्ध जहर उगलने में प्रतिस्पर्धा की। उसने इन सबको मकड़ी के जालों की तरह झाड़ कर साफ कर दिया, उनकी उपेक्षा की और उत्तर उन्हें तभी दिया जब जरूरी हो गया। जब वह मरा करोड़ों क्रांतिकारी श्रमिकों ने अपना प्रेम, सम्मान, संवेदना सब कुछ उसे लुटाया। साइबेरिया की खदानों से लेकर केलिफोर्निया के तट तक सभी उसके मातम में दुःखी हुए और मैं साहसपूर्वक कह सकता हूँ कि उसके सैद्धान्तिक प्रतिद्वन्द्वी चाहे अनेक रहे, लेकिन व्यक्तिगत शत्रु शायद ही कोई था। उसका नाम और काम सदियों तक अमर रहेगा"—फ्रेज मेहरिंग के इन शब्दों में मार्क्स की महानता मुखरित हो उठी है।

M.A. (Pr.)

1 Pol. Sc. I (P)

M A. (Previous) EXAMINATION, 1980

POLITICAL SCIENCE

First Paper—History of Political Theory from Plato to Marx

Time allowed : Three hours

Maximum marks—100

Answer only five questions. All questions carry equal marks.

केवल पांच प्रश्नों के उत्तर दीजिये। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

1. On what grounds did Aristotle object to the Communism of Plato ? Is Platonic Communism consistent with human freedom and individuality or is it destructive of them ?

   अरस्तू प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना किन आधारों पर करता था ? क्या अरस्तू का साम्यवाद मानवीय स्वतन्त्रता तथा वैयक्तिकता का परिपोषक है या उनका विनाशक है ?

2. Why is Aristotle and not Plato, regarded as the father

PTO

of Political Science ? What is the fundamental difference between the political thought of Plato and that of Aristotle ?

अरस्तू को राजनीति शास्त्र का जनक क्यों माना जाता है और प्लेटो को क्यों स्वीकार नहीं किया जाता है ? प्लेटो तथा अरस्तू के राजनीतिक दर्शन के बीच क्या आधारभूत अन्तर है ?

3. Examine critically the views of St. Thomas Aquinas on the nature and functions of Government and the relation between the State and the Church.

सरकार की प्रकृति तथा कार्य और राज्य तथा चर्च के सम्बन्धो के प्रति सेन्ट टॉमस एक्विनास के विचारो की समीक्षा कीजिये।

4. Estimate the importance of the political ideas of the Conciliar Movement How far was Marsilio of Padua responsible for shaping these ideas ?

कन्सीलियर मूवमेन्ट के प्रमुख राजनीतिक विचारो की समीक्षा कीजिये। इन विचारो के निर्माण मे मारसीलियो ऑफ पेडुआ कहाँ तक उत्तरदायी थे ?

5. "Machiavelli was the father of Modern Political Thought" Discuss. Also describe briefly the contribution of Machiavelli to political thought.

'मेकियावली आधुनिक राजदर्शन का जनक था।" इस कथन की व्याख्या कीजिये। राजदर्शन को मेकियावली की देन के विषय मे भी बताइये।

6. "Rousseau's political theory aimed at reconciling the sovereign individual of Locke with sovereign state of

Hobbes." Explain and examine the statement.

"रूसो के राजदर्शन का उद्देश्य हॉब्स के सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य तथा लॉक के सप्रभु व्यक्ति मे सामञ्जस्य स्थापित करना था।" इस कथन की समीक्षा कीजिये।

7. "Benthamism shorn of crudities is simply humanism."
—Ivor Brown

Examine this statement critically

"यदि बेन्थम को विचारधारा से उसके असस्कृत सिद्धान्त (Crudities) निकाल दिये जाये तो यह मानवतावाद की उज्ज्वल परिचायिका सिद्ध होती है।"
—आइवर ब्राउन

इस कथन की विवेचना कीजिये।

8. John Stuart Mill has been described by C. L. Wayper as a 'Reluctant Democrat'. Do you agree with this estimate. Give reasons in support of your answer.

सी०एल० वेपर ने मिल को 'एक असन्तुष्ट प्रजातन्त्रवादी' के रूप मे मूल्याकन प्रस्तुत किया है। क्या आप इस मूल्याकन मे सहमत हैं ? कारण सहित उत्तर दीजिये।

9. "Burke is both liberal and conservative." Examine this statement.

"बर्क उदारवादी तथा रूढिवादी दोनों है।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

10. "Will, not force is the basis of state." Explain this statement and discuss under what conditions does Green justify rebellion against the state ?

"राज्य का आधार शक्ति नही, इच्छा है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये और बताइये कि ग्रीन किन दशाओं मे राज्य विद्रोह न्याय-संगत समझता है ?

11. "Hegel is the father of totalitarian ideologies." Examine and discuss this statement carefully.

"हीगल सर्वाधिकारवादी सिद्धान्तों का पिता है।" इस कथन की परीक्षा और समीक्षा सावधानी से कीजिये।

12. "Until Marx, it is true to say that most political Speculation was indequate because it failed to understand the dominating influence of the property relation in determining the purpose of the state."

Discuss and in the light of this statement assess the importance of Marx.

"यह कहना वास्तव मे सत्य है कि मार्क्स तथा अधिकांश राजनीतिक चिन्तन, क्योंकि यह राज्य के उद्देश्यो के निश्चयीकरण मे साम्पत्तिक सम्बन्ध के प्रमुख महत्त्व को नही समझ पाया, अपर्याप्त था।"

इस कथन की विवेचना कीजिये और इसके आधार पर मार्क्स के महत्त्व को बताइये।

M.A. (Pr.)
1

Pol. Sc 1 (P)

M.A. (PREVIOUS) EXAMINATION, 1981

POLITICAL SCIENCE

First Paper

History of Political Theory from Plato to Marx

Time : Three Hours

Maximum Marks 100

Answer any *five* questions

All questions carry equal marks

किन्ही पांच प्रश्नो का उत्तर दीजिये ।

सभी प्रश्नो के अंक समान है ।

1. Critically discuss Plato's *Republic* as a solution of the contemporary Greek predicament

प्लेटो के 'रिपब्लिक' का समकालीन यूनानी द्वन्द के हल के रूप में आलोचनात्मक विवेचन कीजिये ।

2. Critically examine Plato's criticism of contemporary theories of Justice.

प्लेटो की समकालीन न्याय के सिद्धान्तों की आलोचना का आलोचनात्मक विश्लेपण कीजिये ।

3. "The *Politics*, taken as a whole, is disappointing—that is, disappointing from Aristotle. The fact is, he was not politically minded. Plato was, and it makes all the difference "—(Thomson) Do you agree with the view ?

Turn over

"पोलिटिक्स को समग्र रूप से देखा जाय तो निराशाजनक हो है, इसका अर्थ है, अरस्तू से निराशाजनक है। वास्तविकता यह है कि अरस्तू की मानसिक संरचना राजनीतिक किस्म की नहो थी, जबकि प्लेटो की थी, और इसी से दोनों में सारा अन्तर प्रगट हो जाता है।" (थामसन)

क्या आप इस बात से सहमत हैं ?

4. Discuss St. Thomas Aquinas as a representative medieval thinker.

सन्त थामस एक्वीनास का मध्यकालीन प्रतिनिधिक विचारक के रूप में विवेचन कीजिये।

5. How far do you agree with the view that Hobbe's model of Society was that of bourgeois market society ?

आप इस विचार से कहाँ तक सहमत है कि हाब्स का माडल बुर्जुआ विपणन समाज का था ?

6. Bring out the individualist and the collectivist elements in Rousseau's political philosophy.

रूसो के राजदर्शन में व्यक्तिवादी तथा समाजवादी तत्वों का निरूपण कीजिये।

7. "Mill and Green, between them, *set the pattern of* English liberal democratic political theory from their time on." (Macpherson). Discuss.

"मिल और ग्रीन आपस में अपने समय से आगे अंग्रेजी उदारवादी प्रजातान्त्रिक राजनीतिक चिन्तन का नमूना बनाते हैं।" (मैकफरसन) विवेचन कीजिये।

8. Do you agree with the view of Popper that Heagel represents a missing link as it were between Plato and modern forms of totalitarianism.

क्या आप पापर के इस विचार से सहमत है कि हीगल प्लेटो और आज के विभिन्न सर्वाधिकारवादियों के बीच खोई हुई कड़ी है ?

9. Critically examine Machiavelli's statecraft.

मैकियावेली के राजतन्त्र का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

10. "Marx's theory of the state, inspite of its abstract and philosophical character, undoubtedly furnishes an enlightening interpretation of his own historical period." (Popper). Discuss.

"मार्क्स का राज्य सिद्धान्त, अमूर्त और दार्शनिक होने के बावजूद भी, समकालीन ऐतिहासिक युग की प्रबुद्ध व्याख्या करता है।" (पापर) विवेचन कीजिये।

11. Bring out the liberal elements in Locke's political philosophy.

लॉक के राजदर्शन में उदारवादी तत्वों का निरूपण कीजिये।

12. Discuss the contribution of Bentham to the development of liberal political theory.

उदारवादी राजनीतिक चिन्तन को बेन्थम के योगदान का मूल्यांकन कीजिये।

M.A. (PREVIOUS) EXAMINATION, 1982

POLITICAL SCIENCE

First Paper

History of Political Theory from Plato to Marx

Time : Three Hours

Maximum Marks : 100

Attempt any *five* questions.

All questions carry equal marks

किन्ही पाच प्रश्नो के उत्तर दीजिये ।

सभी प्रश्नो के अक समान है ।

1. In what grounds Plato is called the first fascist? Evaluate those arguments.

प्लेटो को किन आधारो पर प्रथम फासीवादी कहा जाता है ? उन तर्कों का परीक्षण कीजिये ।

Or

अथवा

Examine Plato's philosophy and scheme of education.

10+10

प्लेटो के शिक्षा दर्शन और योजना का परीक्षण कीजिये ।

2. Discuss Aristotles "best practicable State" 20

अरस्तू के "सर्वोत्कृष्ट सम्भव राज्य" का विवेचना कीजिये।

Or

अथवा

What are the causes and cures of revolution according to Aristotle ? 12+8

अरस्तू के अनुसार क्रान्तियों के क्या कारण और उनसे बचने के क्या उपाय है ?

3. What is Augustine's doctrine of the "Two Cities" ? What relationship does he establish between Church and the State on this basis. 10+10

आगस्टिन का "दो नगरो" का क्या सिद्धान्त है ? इसके आधार पर वह चर्च और राज्य के बीच क्या सम्बन्ध स्थापित करता है ?

4. Discuss Marsiglio's political ideas and show the place of Church according to him.

मार्सीलियो के राजनीतिक विचारो की विवेचना कीजिये और यह दिखाइये कि उसके अनुसार चर्च का क्या स्थान था ?

5. What was Conciliar Movement ? What was its contribution to political thought ? 12+8

परिषदीय आन्दोलन क्या था ? राजनीतिक विचारों को इसका क्या योगदान रहा ?

6. "Machiavelli more than any other political thinker created the meaning that has been attached to the State in modern political stage" (Sabine).

Discuss the modern elements in Machiavelli's thought.

"किसी भी अन्य राजनीतिक विचारक की अपेक्षा मैकियावेली ने राज्य को वह अर्थ दिया है जिस अर्थ में उसका प्रयोग आधुनिक राजनीतिक व्यवहार में होता है।" (सेवाइन)।

मैकियावेली के विचारों में आधुनिक तत्वों की व्याख्या कीजिये

Or

अथवा

"His (Hobbes) work is the first statement of complete Sovereignty in the history of political thought." (Wayper)

Discuss Hobbes Sovereign. 20

"हाब्स की कृति राजनीतिक विचारों के इतिहास में सम्पूर्ण सम्प्रभुता की प्रथम व्याख्या है।" (वेपर)

हाब्स के सम्प्रभु की व्याख्या कीजिये।

7. Discuss the features of the limited government in Locke. 20

लॉक के विचारों में सीमित सरकार की विशेषताओं की व्याख्या कीजिये।

8. Show how and to what extend does General Will solve the problem of authority and liberty to which Rousseau had addressed himself.

यह दिखाइये कि सामान्य इच्छा ने कैसे और कहां तक शक्ति और स्वतन्त्रता की समस्या, जिसका समाधान करने रूसो चला था, का समाधान किया ?

Or

अथवा

"Rousseau's General Will is Hobbes Leviathan with its head chopped off" Discuss. 16+4

"रूसो की सामान्य इच्छा हाब्स का सिरकटा लेवायथन है।" व्याख्या कीजिये।

9. What modifications did Mill make in Bentham's utilitarianism and with what results ? 12+8

मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद में क्या संशोधन किये और उसका क्या परिणाम निकला ?

10. Discuss the Marxian concept of the State. 20

राज्य की परिकल्पना की मार्क्सवादी व्याख्या दीजिये।

Or

अथवा

Write essays on any *two* of the following :—

(i) Liberty in Mill and Green

(ii) "Will not force is the basis of the State" (Green)

(iii) The Dialectics in Hegel

(iv) Conservation of Burke. 10+10

निम्न में से किन्ही दो पर निबन्ध लिखिये :—

(i) मिल और ग्रीन मे स्वतंत्रता की अवधारणा

(ii) "राज्य का आधार शक्ति नही अपितु इच्छा है" (ग्रीन)

(iii) हेगेल की द्वन्दात्मिकता

(iv) बर्क की रुढ़िवादिता।

M A (PREVIOUS) EXAMINATION, 1983

POLITICAL SCIENCE

First Paper

History of Political Theory from Plato to Marx

Time : Three Hours

Maximum Marks · 100

Attempt any five questions

All questions carry equal marks.

किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिये।

सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

1. Comment on any *two* of the following statements :—

   (a) "State is the individual Writ large" (Plato)

   (b) "Man by nature is a political animal." (Aristotle)

   (c) "Man can forget the murder of his father but he can never forget the confiscation of his patrimony." (Machiavelli)

   (d) "Capitalism digs its own grave." (Marx). 10,10

   निम्न कथनों में से किन्हीं दो की व्याख्या कीजिये —

   (अ) "राज्य व्यक्ति का विराट् रूप है।" (प्लेटो)

   (ब) "मनुष्य स्वभावत: एक राजनीतिक प्राणी है।" (अरस्तु)

(स) "मनुष्य अपने पिता की हत्या को भूल सकता है परन्तु वह पैतृक सम्पत्ति का छीना जाना कभी नहीं भूल सकता है।" (मेकियावली)

(द) "पूंजीवाद स्वयं की कब्र खोदता है।" (मार्क्स)

2. "Aristotle's best State is the Plato's Second best State." Comment. 20

"अरस्तु का आदर्श राज्य प्लेटो का उप-आदर्श राज्य है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।

Or

अथवा

Why is Aristotle and not Plato, regarded the father of Political Science? What is the fundamental difference between the Political thought of Plato and that of Aristotle? 8,12

अरस्तु को राजनीतिक विज्ञान का जनक क्यों माना जाता है जब कि प्लेटो को नहीं माना जाता? प्लेटो तथा अरस्तु के राजनीतिक चिन्तन के बीच क्या आधारभूत अन्तर है?

3. "St. Thomas Aquinas represents the totality of the Medieval Thought." Comment. 20

"सन्त टॉमस एक्विनास समग्र मध्ययुगीन चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता है।" उपर्युक्त कथन की समीक्षा कीजिये।

4. Discuss the Political ideas of Conciliar movement. How far was this movement a success? 12,8

कन्सीलियर आन्दोलन के राजनीतिक विचारों की व्याख्या कीजिये। यह आन्दोलन कहाँ तक सफल रहा?

5. How far do you agree with this view that Jean Bodin, not Machiavelli is the pioneer of modernity? 20

ग्राप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं कि जीन बोदें न कि मेकियावली ग्राधुनिकता का ग्रग्रदूत था ?

6. "Being an absolutist, Hobbes was the first individualist." Examine the statement. 20

"हाब्स निरकुशतावादी होते हुए भी, प्रथम व्यक्तिवादी था।" इस कथन की समीक्षा कीजिये।

7. "Rousseau's Political theory aimed at reconciling the sovereign individual of Locke with sovereign state of Hobbes." Explain and examine the statement 20

"रूसो के राजनीतिक दर्शन का उद्देश्य हाब्स के सप्रभुता सम्पन्न राज्य तथा लाक के सम्प्रभू व्यक्ति में सामञ्जस्य स्थापित करना था।" इस कथन की जाँच कीजिये।

8. Estimate Burke as a Political thinker Was he consistent in his views ? 12,8

राजनीतिक विचारक के रूप में बर्क का मूल्यांकन कीजिये। क्या उसके विचार ग्रात्मसंगत थे ?

9. "T.H. Green's political philosophy is a unique combination of idealism and liberalism." Examine the statement. 20

"टी०एच० ग्रीन का राजनीतिक दर्शन ग्रादर्शवाद ग्रौर उदारवाद का ग्रद्‌भुत मिश्रण है।" इस कथन की जाँच कीजिये।

Or

ग्रथवा

Discuss the contribution of Bentham to the development of Liberal Political theory. 20

उदारवादी राजनीतिक चिन्तन के विकास में बेन्थम के योगदान का मूल्यांकन कीजिये।

10. "Marx found Communism a chaos and left it a movement." Assess the contribution of Marx in the light of this statement.

"मार्क्स ने साम्यवाद को अस्त-व्यस्त स्थिति में पाया तथा उसे एक आन्दोलन का रूप दिया।" उपर्युक्त कथन के सन्दर्भ में मार्क्स के योगदान का मूल्यांकन कीजिये।

M.A. (PREVIOUS) EXAMINATION, 1984

POLITICAL SCIENCE

FIRST PAPER

History of Political Theory from Plato to Marx

TIME THREE HOURS

Maximum Marks—100

Attempt any FIVE *questions*

All questions are of equal marks

कोई से पाँच प्रश्न कीजिये ।

सबके अंक समान हैं ।

1. Comment on any *two* of the following statements —

   (*a*) ' History leads the wise and drags the fool '—(Hegel)

   (*b*) ' Green is more of an Aristotelian than a Platonist, and more a Kantian than a Hegelian '—(Barker)

   (*c*) ' Marx found Communism a chaos and left it a movement '—(Laski)

   (*d*) ' Mill had diversed fundamentally from Bentham's premises and his theory of the state '—(Doyle)

[Turn over

निम्न कथनो मे से किन्ही दो की व्याख्या कीजिये :—

(अ) 'इतिहास बुद्धिमानो का पथप्रदर्शन करता है तथा मूर्खों को घसीटता है'—हीगल ।

(ब) 'ग्रीन प्लेटोवादी होने की अपेक्षा अरस्तूवादी अधिक है और हीगलवादी होने की अपेक्षा काण्टवादी अधिक है'— बार्कर ।

(स) 'मार्क्स ने साम्यवाद को अस्तव्यस्थ स्थिति में पाया तथा उसे एक आन्दोलन का रूप प्रदान किया'—लास्की ।

(द) 'मिल मौलिक रूप से बेन्थम के गृहोपान्त (Premises) और उसके राज्य के सिद्धान्त से विचलित हो गया था'—डायल ।

2. 'Hobbes begins as an individualist but ends as an absolutist'—Discuss

'हाब्स एक व्यक्तिवादी के रूप मे आरम्भ करता है किन्तु निरंकुशवादी के रूप मे समाप्त करता है।'—विवेचना कीजिये ।

3. 'Burke's political philosophy is a unique combination of liberalism and conservatism'—Discuss.

'बर्क का राजनीतिक दर्शन उदारवाद तथा रूढिवाद का विचित्र मिश्रण है।'—विवेचना कीजिये ।

4. What did Montesquieu mean by the 'Spirit of the Laws'? Why is he known as Aristotle of 18th century?

मांटेस्क्यू का 'स्पिरिट ऑफ लॉज' से क्या आशय था? उसे 18 वी शताब्दी का अरस्तू क्यो कहा जाता है?

5. 'In all the philosophical writings of Plato none of his ideas is so profoundly original and exceedingly interesting as his doctrine of philosopher-king.'—Discuss

'प्लेटो की समस्त दार्शनिक रचनाओ मे इतना अधिक गहन मौलिक तथा अत्यधिक सुरुचिपूर्ण अन्य कोई सिद्धान्त नही है जितना कि दार्शनिक राजा का।'—विवेचना कीजिये ।

6. ' Bodin represents the beginning of modern political thought much better than does Machiavelli '—(W T Jones) Justify the truth of the statement

' आधुनिक राजनीतिक चिंतन की शुरुआत का प्रतिनिधित्व मैकियावेली की अपेक्षा बोदाँ द्वारा अधिक सुन्दर रूप में हुआ है '—(डब्लू टी जोन्स)। इस कथन की सत्यता स्पष्ट कीजिये ।

7. Why is Marsilio of Padua regarded as the greatest political thinker in Europe after the death of Aristotle?

मार्सीलियो आफ पैडुआ को अरस्तू की मृत्यु के पश्चात यूरोप का सबसे बड़ा राजनीतिक चिन्तक क्यों कहा जाता है ?

8. ' Marxism has gone out of date '—Discuss

' मार्क्सवाद अब पुराना पड़ चुका है । '—विवेचना कीजिये ।

9. ' Green (T H) is an idealist but he can also be hailed as an individualist '—Examine the veracity of the statement

10. Explain in brief the following statements —

(a) ' Hegel is the father of totaliterian ideologies '

(b) ' Aristotle's best state is Plato's second best state '

निम्न कथनों की व्याख्या कीजिये :—

(अ) ' हीगल सर्वाधिकारवादी सिद्धान्तों का पिता है । '

(ब) ' अरस्तू का आदर्श राज्य प्लेटो का उप आदर्श राज्य है । '